भक्तिप्रियो माधवः
कल्याण
भक्ति-अङ्क
वर्ष ३२
अङ्क १

श्रीहरिः

कल्याणके प्रेमी पाठकों एवं ग्राहक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

१. इस अङ्कमें भक्तिका स्वरूप एवं महिमा, शक्ति एवं फल, भक्तिका ज्ञान, कर्म एवं योग आदिसे सम्बन्ध, भक्तिकी सुलभता एवं दुर्लभता, भक्तिके लक्षण, प्रकार एवं विशेषताएँ, भक्तिकी अनादिता, भक्तिका वेद आदि विविध शास्त्रोंमें स्थान, भक्तिकी आस्वाद्यता, भक्तिके महान् आचार्य, भक्तिके साधन, भक्तिका मनोविज्ञान, भक्तिके सम्बन्धमें कुछ वेतुकी आलोचनाएँ और उनका उत्तर, भक्तिके विविध भाव, भक्तिके विभिन्न सम्प्रदायोंकी उपासना-पद्धति, शिवभक्ति, विष्णुभक्ति, शक्तिभक्ति, सूर्यभक्ति, विश्वभक्ति, देशभक्ति, समाज-सेवा, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, ब्राह्मणभक्ति आदि भक्तिके विविध रूप, विभिन्न धर्मोंमें भक्तिका स्थान, भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी भक्ति-धारा, प्रार्थनाका स्वरूप एवं महत्त्व, भगवन्नाम-महिमा, वैष्णवका स्वरूप आदि-आदि भक्ति-सम्बन्धी प्रायः सभी विषयोंपर आचार्यों, संत-महात्माओं तथा अधिकारी विद्वानोंद्वारा सरल, विशद एवं रोचक ढंगसे प्रकाश डाला गया है। कविताओंका संग्रह भी इस बार सुन्दर हुआ है। इसके अतिरिक्त एक सुनहरा, चौदह तिरंगे चित्र तथा छियालीस सादे चित्र एवं भक्तिविषयक मार्मिक सूक्तियोंसे इस अङ्ककी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क सबके लिये संग्रहणीय बन गया है। भक्ति ही जगत्को दुःख, कलह, अशान्ति एवं संकटोंसे बचाकर सुख-शान्तिका संचार कर सकती है। इस दृष्टिसे इस अङ्कका जितना ही अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही विश्वका एवं देशका मङ्गल होगा। अतएव प्रत्येक कल्याण-प्रेमी महोदय विशेष प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें।

२. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

३ मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

४. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'भक्ति-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक'

बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'भक्ति-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग एक-डेढ़ महीना तो लग ही सकता है; इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' नंबरवार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७. 'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'-सम्पादन-विभाग, गीताप्रेस, महाभारत-विभाग, साधक-सङ्घ और गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. सजिल्द विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा नहीं भेजे जायँगे। सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक १।) जिल्दखर्चसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें। सजिल्द अङ्क देरसे जायँगे।

९. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य अलग ७।।) है।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरे, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।।)।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।।)।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क, मूल्य ७।।)।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

भक्ति-अङ्ककी विषय-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य

संकलित गद्य

चित्र-सूची

सुनहरा

तिरंगे

दुरंगा

इकरंगे

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थान-पर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर कुल ३०० केन्द्र हैं। विशेष जानकारीके लिये नीचेके पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० ऋषिकेश (देहरादून)

The Kalyana-Kalpataru

(English Edition of the 'Kalyan')

After a suspended existence of five months the "Kalyana-Kalpataru" has resumed its publication, by the grace of God, from this month. The first number, which is an ordinary issue, is appearing along with this and will soon reach the hands of its erstwhile subscribe by V. P. P. for Rs. 4/8/- (its annual subscription). It is hoped the lovers of the "Kalyana-Kalpataru", who have sorely missed it all these months and have been pressing us to renew its publication ever since it was stopped, will gladly welcome its reappearance and honour the V. P. P. Bhāgavata Number—V, which will contain an English rendering of Book Ten (Part II) of Śrīmad Bhāgavata, is expected to come out in December as it did in July last year.

The Manager,—"Kalyana-Kalpataru", (P. O.) Gita Press (Gorakhpur)

सचित्र महाभारत (मासिकरूपमें)

गत दो वर्षोंसे सचित्र महाभारत मूल, सरल हिंदी अनुवादसहित, मासिकरूपमें गीताप्रेससे छप रहा है। प्रत्येक अङ्कमें दो रंगीन एवं छः सादे चित्रोंके साथ कम-से-कम दो सौ पृष्ठकी ठोस सामग्री रहती है। वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित केवल २०) (बीस रुपये मात्र) है। दो वर्षोंके चौबीस अङ्क निकल चुके हैं। गत नवम्बरसे तीसरा वर्ष प्रारम्भ हुआ है, जिसके दो अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा (जनवरीका अङ्क) शीघ्र ही निकलने जा रहा है। संस्कृत जाननेवालोंके लिये केवल मूलमात्र भी क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है, जिसकी दो जिल्दें निकल चुकी हैं। प्रत्येक जिल्दका (जिसमें लगभग आठ सौ पृष्ठ हैं) मूल्य केवल ६) (छः रुपये मात्र) रखा गया है। हिंदीमें मूलसहित अथवा केवल मूलका इतना सुन्दर एवं सस्ता संस्करण अबतक कहींसे नहीं निकला है। खरीदनेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—महाभारत (मासिक), पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श, सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रचार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' नौ वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या करीब ३२,००० हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मगवा सकते हैं।

साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये। और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मगवाइये डायरीके लिये बीस नये पैसेके टिकट भेजें—संयोजक 'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक 'कल्याण'

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमे ७ रुपया ५० नया पैसा और भारत-वर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) **इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती-पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≠) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देने चाहिये।

(१२) **ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये।** वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) **प्रेस-विभाग, कल्याण-विभाग तथा महाभारत-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।** 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) **मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका प्रयोजन, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें) पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।**

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—**'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

भक्तोंके सर्वस्व—श्रीराधा-गोविन्द

नवजलधरविद्युद्द्योतवर्णौ प्रसन्नौ वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
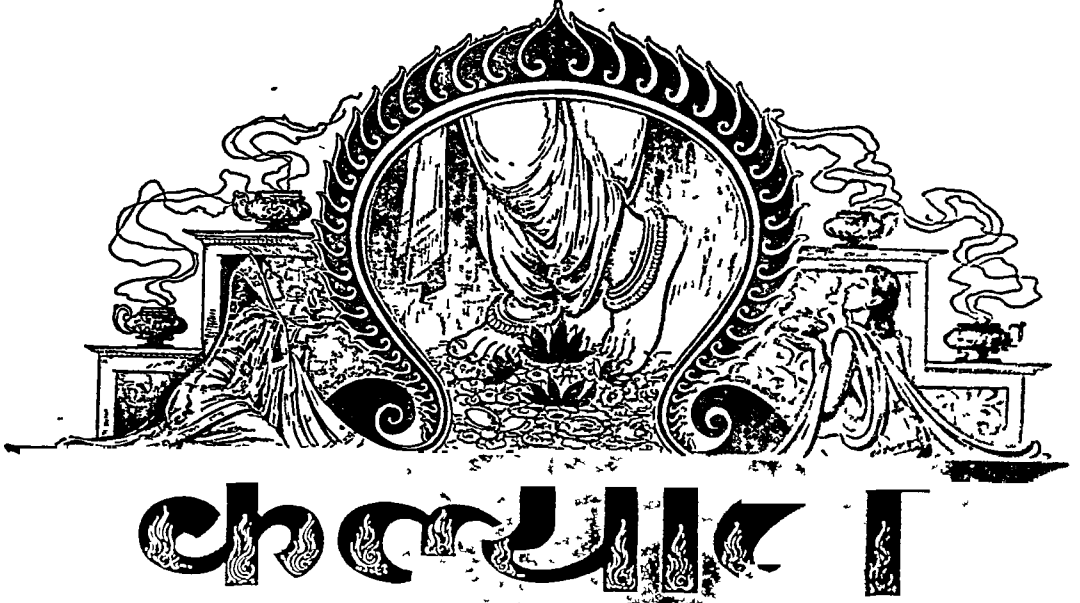
ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर माघ २०१४, जनवरी १९५८ { संख्या १
पूर्ण संख्या ३७४

भक्तकी भावना

वसौ मेरे नैननिमें दोउ चंद ।
गौर बरनि वृषभानु नंदनी स्याम बरन नँद नंद ॥
गोलक रहे लुभाय रूपमें, निरखत आनँद कंद ।
जै 'श्रीभट्ट' प्रेम रस बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद ॥

भावित चित्तका नाम उन्हीं-उन्हीं शब्दोंद्वारा कहा जाता है। जैसे द्वेषकी सामग्री उपस्थित होनेसे चित्तकी तदाकारता-वृत्तिका नाम द्वेष होगा, उसी प्रकार भगवान्‌के दिव्य-मङ्गल-विग्रहके दर्शनसे, उनकी लोकातीत लीलाओंके श्रवणसे तथा परम-प्रेमास्पद भक्त-जनाह्लादिनी उनकी कथाओंके कथोपकथनसे द्रवीकृत चित्तवृत्तिका नाम 'भक्ति' है। पुनः-पुनः भगवद्दर्शन, श्रवण और मननसे द्रुत चित्तवृत्ति ही भक्तिका आविर्भाव है।

पुण्यसे भक्तिका आविर्भाव

यह ध्रुव सत्य है कि कोई भी प्राणी अपनी हानि और तिरस्कृति नहीं चाहता। सभी उत्कर्षकी ओर अनवरत प्रयत्न करते देखे गये हैं। इसपर भी कभी-कभी अपकर्षका सामना करना पड़ता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पुण्यवान् व्यक्तिके पुण्योंका प्रभाव उसे उत्कर्षकी ओर ले जाता है। भगवत्-प्रसादसे पहले पुण्यार्जनमे प्रवृत्ति होती है। पश्चात् भक्त-वत्सल भगवान् स्वयं दयार्द्रभावसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं। अतएव—

यमुन्निनीषति तं साधु कर्म कारयति यमधोनिनीषति तमसाधु कर्म कारयति। (उपनिषद्)

—भगवान् जिसको उन्नतिके मार्गपर ले जाना चाहते हैं, उसे उत्तम शास्त्रीय कर्मोंमें प्रेरित करते हैं तथा जिसकी अधोगति करना चाहते हैं, उसे निन्दित अशास्त्रीय कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं। इसलिये सन्मार्गकी ओर जानेके लिये पहले भगवान्‌की कृपाकी आवश्यकता है और वह कृपा सत्कर्मानुष्ठान-जन्य पुण्यद्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

श्रीशंकराचार्यजी

जब भारतवर्षमें धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व हो रहा था, बौद्ध तथा अन्य अवैदिक मतावलम्बियोंने वैदिक कर्म और उपासनापर प्रहार किया। चारों ओर देहात्मवादका ही प्रचण्ड वातावरण फैल गया। 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यादि शास्त्रीय अबाध्य सिद्धान्तोंको भी जनताके सामने अनाचार और आडम्बरका पुट देकर लाया गया। वेदके सिद्धान्तोंको हेय और अनुपादेय समझा जाने लगा। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सुस्पष्ट वेदान्तवाक्योंको शून्यवादकी ओर लगाया जाने लगा। जब सौत्रान्तिक, योगाचार एवं वैभाषिक मत अपने-अपने सिद्धान्तोंका चारों ओर बहुत सफलतापूर्वक प्रचार कर रहे थे, वैदिक सिद्धान्त इनकी घनघोर घटाओंमें आच्छादित हो रहा था, ठीक उसी समय श्रीशंकराचार्यजीका प्रादुर्भाव हुआ। आप भगवान् शंकरके अवतार थे। एकमात्र वैदिक-धर्मका प्रतिष्ठापन करना आपके अवतारका प्रयोजन था। वैसा ही हुआ भी। सात वर्षकी आयुमें आपने घरका परित्याग करके बौद्धोंके तर्कोंको खोखलाकर धराशायी कर दिया और सनातन वैदिक धर्मके प्रतिष्ठापनके साथ-साथ भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका विजयस्तम्भ पृथ्वीपर स्थापित कर दिया।

भक्ति और शंकराचार्य

भगवान् शंकराचार्यने अपनी अद्भुत प्रतिभाद्वारा भारतीय दर्शनशास्त्रके चरम सिद्धान्त वेदान्तके अद्वैतवादका विजय-स्तम्भ आरोपण किया तथा 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्मेति'—इन चार महावाक्योंका अर्थ प्रत्यक्ष कर दिखाया। अन्तःकरणके मलापकर्षणके लिये कर्मकाण्डको और उसकी स्थिरताके लिये उपासनाकाण्डको भी आपने उतना ही आवश्यक और उपादेय बताया जितना कि वेदान्तवाक्योंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

पूज्यवर्गमें अनुराग करना भक्ति है, यहाँसे आरम्भ-कर देवादिविषयिणी रतिरूपा भक्तिका प्रतिपादन करते हुए स्वरूपानुसंधान भक्ति है—यों कहकर अधिकारी-भेदसे भक्ति-निरूपणको चरम सीमातक पहुँचा दिया गया। परब्रह्म परमात्मामें मन निश्चलरूपसे न लगे तो उसके लिये उपायान्तर बताते हैं—

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरञ्जन्म कर्म चाभिनयन् मुहुः॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥

—परब्रह्म परमात्मामें निश्चलरूपसे चित्त न लगे तो साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण कर्मोंको भगवदर्पणके भावसे करता हुआ भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मोंका श्रवण करे। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये धर्म, अर्थ और कामकी उपासना करे। इससे भगवान्‌में निश्चल भक्ति होती है। इससे आगे—

इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः।
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च॥

—भगवदर्थ निष्काम कर्म करना चाहिये तथा अपने

भोग और सुख भी भगवत्तुष्ट्यर्थ उन्हींके समर्पण कर देने चाहिये । यों करनेपर परमात्माके चरणारविन्दोंमें अनुराग उत्पन्न होता है । श्रीभगवान्‌के चरणारविन्दोंमें रति होनेपर—

> तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
> शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

वेदरूप शब्दब्रह्म एव परब्रह्ममें निष्णात गुरुके चरणारविन्दोंमें बैठकर आत्मश्रेयका श्रवण करे । भागवतधर्मोंका श्रवण अत्यन्त भक्तिसे करता हुआ, अमायासे गुरुकी सेवा करता हुआ मनको सांसारिक पुरुषोंके सङ्गसे बचाते हुए आत्मनिष्ठ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें लगाना चाहिये । शनैः-शनैः दया, मित्रता, शौच, तप, तितिक्षा, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा एवं सत्यका अभ्यास करता हुआ सर्वप्राणिमात्रमें आत्मदर्शनका अभ्यास करे । साथ ही एकान्त-सेवन तथा थोड़ेसे निर्वाह करनेका अभ्यास करता हुआ अद्वैत-भाव-निष्ठाकी ओर प्रगति करे । इस प्रकार भगवत्-प्रेमोत्थित भक्तिसे भागवतधर्मोंका श्रवण करता हुआ नारायण-परायण पुरुष अनायास ही मायासे पार हो जाता है ।

माया-प्रपञ्चसे पार होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है । पुरुषार्थ-चतुष्टयकी क्रमिक प्राप्ति करते हुए पुनः-पुनः जननी-जठरानलसे दग्ध न होनेका उपाय भक्ति है । इस भक्ति-रसका पान करता हुआ—

> साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम्

—यह एकतान प्रत्यय होने लगना ही भक्तिकी चरम सीमा है । अतएव—

> मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।

—अर्थात् मोक्षकी कारण-सामग्रीमें भक्तिको सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । वह भक्ति कौन-सी है ? इसके उत्तरमें—

> स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।

—अपने स्वरूपका अनुसंधान (खोज) ही भक्ति है, यह श्रीशंकराचार्यजीका डिण्डिमघोष है । इसीको भक्तलोग 'पराभक्ति' कहते हैं । देवादिविषयक भक्ति अपरा भक्ति है । यद्यपि अपरा भक्ति भी अधिकारीकी अपेक्षासे अपना स्थान उच्च ही रखती है, फिर भी कुछ कालमें देवाराधनसे शुद्ध-स्वान्त होकर 'परा-भक्ति'—स्वरूपानुसंधानकी ओर अवश्य आना होगा । स्वरूपावगति ही अन्ततोगत्वा 'भक्ति' का चरम फल है । इसीलिये वेदमें *'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'* (अयनाय मोक्षाय अन्यः पन्था, स्वरूपानुसंधानातिरिक्त न विद्यते)—यह कहा गया है । मोक्षके लिये स्वरूपानुसंधान-रूप भक्ति ही एकमात्र मार्ग है ।

इस प्रकार दृढनिष्ठ तत्त्ववेत्ता सर्वत्र आत्मदर्शन करता है । उसे मैं-मेरा, तू और तेरा कहीं नहीं दीखता । वह सर्वत्र आत्मदर्शन करता है । अतएव भगवान् शंकराचार्यने देवी, विष्णु, गङ्गा आदिके सुन्दर स्तोत्रोंमें एकात्म प्रत्यय-निष्ठाका ही गान किया है । वे आत्मातिरिक्त किसी भी देवता अथवा चराचर पदार्थोंमें प्रत्यय नहीं करते थे । सर्वत्र आत्म-दर्शन ही उनकी एकतान निष्ठा थी । यही भक्तिका परम-प्रयोजन है और इसीसे जीवनकी सार्थकता है ।

रामका भजन क्यों नहीं करते ?

नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
'सेनापति' चेत कछू, पाहन अचेत है ।
करम करम करि करम न कर, पाप-
करम न कर मूढ़, सीस भयो सेत है ॥
आवै वनि जतन ज्यौं, रहै वनि जतनन,
पुन्न के वनिज तन मन किन देत है ।
आवत विराम ! वैस वीती अभिराम, तातैं
करि विसराम भजि रामै किन लेत है ॥

—महाकवि 'सेनापति'

द्वारकापीठके श्रीशंकराचार्यजीकी शुभ-कामना

श्रीद्वारका-शारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामिचरणोंके शुभाशीर्वाद ।

'कल्याण'का नया विशिष्टाङ्क 'भक्ति-अङ्क' प्रकट हो रहा है, यह सुनकर बड़ा आनन्द होता है ।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥

अर्थात् मनुष्यकी कल्याण-प्राप्तिके लिये ये तीन साधन भगवान्ने बताये हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान । दूसरा कोई साधन नहीं है ।

इन तीनोंमें भक्तिमार्ग सरल है तथा सर्वोपयोगी है । अतः इस भक्तिको अपनाकर मनुष्य आत्मकल्याण प्राप्त करे ।

इस भक्तिका सर्वविध विवरण प्रस्तुत करनेवाले इस विशिष्टाङ्कका भगवान्की कृपासे सर्वत्र प्रचार हो, उससे देशमें भक्तिका विशिष्ट प्रसार हो एवं तद्द्वारा सात्त्विक भावनाकी वृद्धि हो—यही हमारी शुभ-कामना है ।

भक्ति-रसामृतास्वादन

(लेखक— अनन्त श्रीस्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

श्रीभगवद्धर्मसे द्रुत शुद्ध हृदयमें अभिव्यक्त निरुपम सुखसंविद्रूप, दुःखकी छायासे विनिर्मुक्त श्रीभक्तिका सर्वातिशायी माहात्म्य शास्त्रोंमें तत्तत् स्थानोंमें स्पष्ट ही है । सर्वाधिष्ठान, परमानन्दस्वरूप, औपनिषद परम पुरुषकी रसस्वरूपता 'रसो वै सः' (तै० उप० २ । ७) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है । लौकिक आनन्दोंमें भी उन्हीं रसस्वरूप भगवान्की आंशिक अभिव्यक्ति होती है । रसके विषय एवं आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसमें भी मालिन्यकी प्रतीति होती है । 'भक्तिरसायन'कारने (१ । १३ में) कहा है—

किंचिन्न्यूनां च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात् ।

अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरणकी वृत्तिपर उपारूढ़ होकर भावरूपताको प्राप्तकर पीछे रसस्वरूप हो जाता है । लौकिक रस परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता; किंतु भक्तिरसमें अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्की स्फूर्ति होती है, अतः वह परमानन्दस्वरूप है । इसलिये जो लोग श्रीकृष्णविषयक रतिको रसरूप न मानकर भावरूप ही मानते हैं (क्योंकि देवताविषयक रति भावस्वरूपा ही होती है), उनका मत ठीक नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण-भिन्न-देवताविषयक रति भावरूपा होती है । भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्दस्वरूप हैं; अतः कृष्णविषयक रति रसरूपा ही होगी, भावरूपा नहीं । बल्कि कान्तादिविषयक रतिकी रसता वैसी पुष्ट नहीं होती, जैसी भगवद्विषयक रतिकी होती है । श्रीमधुसूदनसरस्वतीने कहा है कि भगवद्विषयिणी रति परिपूर्ण रसस्वरूप होनेके कारण क्षुद्र कान्तादिविषयक रतिसे उसी प्रकार बलवती है, जैसे खद्योतोंसे आदित्यप्रभा—

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा । (२ । ७६)

विषय और आश्रय दोनों या दोनोंमेंसे एक यदि रसात्मक हो तो रति भी विशुद्ध-रसस्वरूपा होती है । विशेषतः समुद्वेलित एवं उद्बुद्ध सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार-रसके सार-सर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्तिमें विशिष्ट रसभावको प्राप्त करते हैं । जैसे रसमें रसोद्रेककी कल्पना होती है, वैसे ही यहाँ भी कल्पना की गयी है । भगवद्-हृदयस्थ पूर्णानुराग-रस-सार-सागरसे समुद्भूत निर्मल निष्कलङ्क चन्द्रस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी एवं श्रीराधारानीके हृदयमें विराजमान श्रीकृष्णविषयक प्रेम-रस-सार-सागर-समुद्भूत चन्द्ररूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं । अतः यहाँ प्रेम सदानन्दैकरसस्वरूप है; क्योंकि विषय-आश्रय दोनों ही रसस्वरूप हैं, जब कि अन्यत्र विषयाश्रयादि विजातीय होते हैं, रसस्वरूप नहीं । इसी तरह भगवान्की लीला, लीलाका स्थान, लीला-परिकर और उद्दीपनादि-सामग्री भी रसस्वरूप ही होते हैं । सच्चिदानन्द-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत सरोज, केसर, पराग एवं मकरन्दस्वरूप व्रज, व्रज-सीमन्तिनी-वृन्द, श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी—सभी रसात्मक ही सिद्ध होते हैं ।

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनतामुपैति ।'
'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः'—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं ।

भक्तिरसके रसिकोंका कहना है कि मुक्त मुनि जिस फलको ढूँढनेमें व्यग्र रहते हैं, उसीको देवकीरूप वृक्षने प्रकट किया, यशोदाने पकाया तथा गोपियोंने उसका यथेष्ट उपभोग किया । यशोदाकी मङ्गलमयी गोदमें चिदानन्द-सरोवरसे नीलकमलके समान श्याम तेज प्रकट हुआ । अन्य भक्त कहते हैं—वह ऐसा फल था, जिसका भृङ्गोंने आघ्राण नहीं किया,

वायुने जिसका सौरभ नहीं उड़ाया, जो जलमें उत्पन्न नहीं हुआ, लहरियोंके कणोंसे जो टकराया नहीं और कभी किसीने जिसे कहीं देखा नहीं। एक भक्त कहता है—निगमवनमें फल ढूँढते-ढूँढते यदि नितान्त खेदयुक्त—श्रान्त हो गये हों तो इस उपदेशको सुनें—उपनिषदोंके परम तात्पर्यका विषय प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म गोपियोंके घरमें उलूखलसे बँधा पड़ा है। दूसरा भक्त कहता है—सखि! एक कौतुककी बात सुनो, वेदान्त-सिद्धान्तको मूर्तरूप धारण किये श्रीमन्नन्दरायके प्राङ्गणमें धूलि-धूसरित होकर थेई-थेई करके नृत्य करते हुए मैंने देखा है। एक अन्य भक्तकविने कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण श्यामरूपमें प्रकट साक्षात् ब्रह्म ही तो हैं; ऐसा लगता है मानो गोपाङ्गनाओंका प्रेम ही एकत्र पुञ्जीभूत हो गया हो या श्रुतियोंका गुप्तवित्त ही प्रकाशमें आ गया हो अथवा यदुवंशियोंका सौभाग्य ही मूर्ति धारणकर सामने आ गया हो—

'मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत् पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥'
'अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥'
'परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥'
'शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥'
'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानामेकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम्।
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे संनिधत्ताम्॥'

निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्‌की अलकारादि-सामग्री भी सब रसस्वरूप ही है। सौरभ्यसे उनका उद्वर्त्तन (उबटन), स्नेहसे अभ्यञ्जन (मालिश), माधुर्य अथवा स्वाङ्गतेजसे स्नान, लावण्यसे मार्जन, सौन्दर्यसे अनुलेपन और त्रैलोक्यलक्ष्मी (शोभा) से शृङ्गार होता है। श्रीवृषभानुनन्दिनी भी महाभावस्वरूपा हैं। सखियोंके प्रणयरूप सद्‌गन्धसे उनका उबटन, तथा कारुण्यामृतधारा-लावण्यामृतधारा-तारुण्यामृतधारासे स्नान होता है; लज्जारूप श्याम पट्टवस्त्र वे परिधान किये रहती हैं; और उज्ज्वल-कस्तूरीविरचित उनकी देह है एव कम्प-अश्रु-पुलक-स्तम्भादि उनके अलंकारस्वरूप रत्न हैं। श्रीकृष्ण और राधारानीके वसन, भूषण, अलकारादि भी परस्परात्मक ही हैं। श्रीकृष्णका परिधानरूप पीताम्बर श्रीराधारानी एवं श्रीराधारानीके कज्जल, मृगमद, कर्णोत्पल, नीलाम्बर आदि श्रीकृष्ण ही हैं—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥

श्रीव्रज-सीमन्तिनियोंकी श्रीकृष्णविषयक स्पृहा भी अद्भुत है। इनमें मुख्या श्रीराधाके उद्गार हैं—

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीवदौस्थ्यं गता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः॥

श्रीकृष्णकी निष्ठुरतासे उनके विरहमें मरनेकी आशङ्का होनेपर वे श्रीकृष्णके ही धाम वृन्दावनमें श्रीकृष्णके तुल्य-वर्ण तमालसे ही अपने शरीरको लटका देनेकी सम्मति देती हैं—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठतु तनुः॥

शृङ्गार-रसकी अङ्गिता और उज्ज्वलता अनौपचारिकरूपसे राधा-कृष्णमें ही बनती है। कृष्णविषयक काम-क्रोध-भयादिका भी पर्यवसान कृष्णप्राप्तिमें ही होता है। जैसे कोई दीप-बुद्धिसे चिन्तामणि ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है, तो उसे चिन्तामणिकी ही प्राप्ति होती है, वैसे ही जारादि-भावनासे भी जो भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवृत्ति होती है, उससे भगवत्प्राप्ति ही होती है। लौकिक जार-धर्म परलोकादिको नष्ट करता है और भगवान् पञ्चकोश, अविद्या एवं काम कर्मादिको नष्ट करते हैं—इस रूपमें वे 'जार' हैं। श्रीमद्भागवतमें—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। वस्तुतः तो अनिमित्ता भक्ति ही कोशको जीर्ण करती है, परन्तु सनिमित्ता भक्तिका पर्यवसान भी अनिमित्ता भक्तिमें ही होता है। यद्यपि अनिमित्ता पराभक्ति स्वतःसिद्ध है, तो भी जैसे कच्चा आम पके हुए आमका कारण होता है, वैसे ही अपराभक्ति पराभक्तिका कारण होती है। ऐसा माननेपर ही भागवतके—

'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।'
'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥'
'भक्त्या संजातया भक्त्या ....'

—इत्यादि वचनोंकी संगति लगती है। रसात्मक प्रेम

रसस्वरूप ही है। कहा भी गया है कि प्रादुर्भावके समय जिसने जरा भी हेतुकी अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूपमें अपराध-परम्परासे हानि एवं प्रणाम-परम्परासे वृद्धि नहीं होती, अपने रसास्वादके सामने अमृतस्वादको भी तुच्छ करनेवाले, तीनों लोकोंके दुःखका विनाश करनेवाले उस महान् प्रेमको वाणीका विषय बनाकर ओछा क्यों किया जाय—

प्रादुर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवैवाङ्निष्ठतालाघवम्॥

वाणीका विषय बनाते ही प्रेम या तो हल्का हो जाता है या अस्त हो जाता है। दो रसिकोंका प्रेम एक दीपकके समान है, जो उनके हृदयरूप गृहोंको निश्चलरूपसे प्रकाशित करता रहता है। यदि इसे वाणीरूप द्वारसे बाहर कर दिया जाय, तो या तो वह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

मुक्ति चाहनेवाले परमविरक्त भी इस भक्तिकी कामना करते हैं—

'न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।'
'कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ता-
च्चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।'

इसीलिये भक्ति स्वतन्त्ररूपसे पञ्चम पुरुषार्थ मानी गयी है। भक्ति-रसायनकारके सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मके समान निर्गुण ब्रह्मकी भी भक्ति मानी गयी है। इसमें—

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥'
'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'

—श्रीमद्भागवतके ये वचन प्रमाण हैं। यद्यपि वेद एवं तदनुकूल शास्त्रोंने भगवान्के राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिन स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है, उन सबकी भक्ति रसस्वरूप ही है, तथापि सभी रस सरलतासे साक्षात् श्रीकृष्णमें ही संगत होते हैं। इसीलिये भक्ति-रसायनकारने (भक्ति-रसायन १।१ में) विशेषतया 'मुकुन्द' पद ग्रहण किया है—

परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।

भक्ति-रसके आलम्बन-विभाव सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् ही हैं—यह आगे स्पष्ट किया जायगा। प्रेम-निरूपणके प्रसङ्गमें वहीं (२।१ में) बताया गया है कि भगवद्धर्मसे द्रुत चित्तमें प्रविष्ट स्थिर गोविन्दाकारता ही भक्ति है—

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता·········· · ······॥

कर्म, उपासना, ज्ञानका अवगम करानेवाले सभी शास्त्रोंका तात्पर्य मल-निवारणपूर्वक अन्तःकरणको शुद्ध करने और विक्षेप दूर करनेके लिये भगवदुपासना एवं भगवत्स्वरूप-ज्ञान-द्वारा परम पुरुषार्थरूप भक्तिमें ही है। भक्ति-रसायनकारने कहा भी है कि यदि द्रवावस्थापन्न चित्त नित्यबोधसुखात्मा विभु भगवान्को ग्रहण कर ले तो क्या अवशेष रह जायगा?—

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥

विषयके प्रति चित्तकी कठोरता एवं भगवान्के लिये द्रवता होनी चाहिये—

काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।

आनन्दसे ही अखिल भूतनिकायका प्रादुर्भाव, आनन्दसे ही जीवन एवं आनन्दमें ही लय होता है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० उ०)

अतः समस्त प्रपञ्च परमानन्द रसस्वरूप ही है; किंतु स्वप्नादि प्रपञ्चके समान बाध्य होनेके कारण भगवत्स्फूर्ति होनेपर जब प्रपञ्च निवृत्त होता है, तब भगवद्रूप ही अवशेष रहता है। अध्यस्त पदार्थकी अधिष्ठान-ज्ञानसे निवृत्ति होती है।

भगवत्-प्रेम प्राप्त करनेके लिये साधकको क्रमशः महापुरुषोंकी सेवा, उनके धर्ममें श्रद्धा, भगवद्गुण-श्रवणमें रति, स्वरूपप्राप्ति, प्रेमवृद्धि, भगवत्-स्फूर्ति, भगवद्धर्मनिष्ठा अपेक्षित होती है। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम महामुनीन्द्र भी भगवान्को भजते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

कहा जा सकता है कि 'सर्वाधिष्ठान प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कारद्वारा सभी प्रकारके भेदोंके मिट जानेपर जिनका चित्त आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण है, उन्हें अपनेसे भिन्न भगवान्की स्फूर्ति नहीं हो सकती। रागकी तो उनमें सम्भावना ही नहीं, फिर भक्ति तो अत्यन्त ही असम्भव है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि उन्हें स्वारसिक प्रेमसे भेदका आहार्य ज्ञान होता है। (बाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान आहार्य ज्ञान कहा जाता है।) आहार्य ज्ञानद्वारा राग एवं भक्ति हो सकती है। 'त्रिपुरसुन्दरी-रहस्य' (ज्ञानखण्ड) में बतलाया गया है कि भक्तलोग प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मको जानकर अतिशय प्रीतिसे अभिसंधिविहीन होकर आहार्य ज्ञानद्वारा भेदभावकी कल्पना करके अत्यन्त तत्परतासे स्वभावतः भगवान्में स्वारसिकी भक्ति करते हैं—

यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥

आहार्य ज्ञानद्वारा व्यामोहप्रसक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि भगवान् सत्यके भी सत्य हैं। जैसे अराजाको राजा बनानेवाला राजराज कहा जाता है, वैसे ही भगवान् असत्यको सत्य बनाते हैं। अर्थात् पारमार्थिक सत्यकी अपेक्षा किंचिन्न्यून सत्ताका एक और सत्य माना जाता है, जो भजनोपयोगी है। अतः पारमार्थिक अद्वैत-सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों रहता है। कहा भी गया है कि पारमार्थिक अद्वैतज्ञान होनेपर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान्में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियोंसे भी कहीं बढ़कर है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका विज्ञान होनेके पहले द्वैत बन्धन-का कारण होता है; किंतु विज्ञानके बाद भेद-मोहके निवृत्त हो जानेपर भक्तिके लिये भावित द्वैत अद्वैतसे भी उत्तम है—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥
द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

चित्तद्रुतिके कारण अनेक हैं। उन्हींके भेदसे भक्तिमें भेद होता है—

चित्तद्रुतेः कारणानां भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते।

शरीरसम्बन्धविशेषकी स्पृहा होनेपर सनिधान-असनिधान-भेदसे काम दो प्रकारका होता है। उससे द्रुतचित्तमें श्रीकृष्ण-निष्ठता ही सम्भोग-विप्रलम्भाख्य रति है। इसी तरह क्रोध-स्नेह-हर्षादिजन्य चित्तद्रुतिमें भी रति जाननी चाहिये—

कामजे द्वे रती शोकहासभीविस्मयास्तथा।
उत्साहो युधि दाने च भगवद्विषया अमी॥

शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीति, भयानक, अद्भुत, युद्ध-वीर, दानवीर—ये सब व्यामिश्रणसे होते हैं। राजसी, तामसी, भक्ति अदृष्ट फलमात्रवाली होती है। मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट उभय फलवाली होती है। इसी तरह साधकोंकी विशेषतासे भक्ति शुद्धसत्त्वोद्भवा भी होती है।

सनकादि सिद्धोंमें भक्ति दृष्टफल होती है। जैसे ग्रीष्म-संतप्त पुरुषका गङ्गास्नान दृष्टादृष्टफलक होता है, वैसे ही वैधी भक्तिमें भी सुखव्यक्ति होती है, अतः वह दृष्टादृष्टफलक है। शीत-वातातुर पुरुष यदि गङ्गास्नान करे तो उससे जैसे अदृष्ट-मात्र ही फल होता है, उसका दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है, वैसे ही राजसी, तामसी भक्तिका सुखरूप दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है। गङ्गास्नान कर लेनेपर पुनः गङ्गामें क्रीडा करनेवालोंको जैसे दृष्टमात्र फल होता है, वैसे ही जीवन्मुक्तोंकी भक्ति दृष्टमात्र-फलपर्यवसायिनी होती है—

राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक्।
दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिता भक्तिरिष्यते॥
शुद्धसत्त्वोद्भवाप्येवं साधकेष्वस्मदादिषु।
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु॥
दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते।
शीतवातातुरस्येव नादृष्टांशस्तु हीयते॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते।
स्नात्वा मुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा॥

तीव्र वातस्थित प्रदीपज्वालाके समान रजस्तमोऽभिभूत शिशुपाल आदिकी स्वप्रकाशानन्दाकार भी मतिरति सुखा-भिव्यक्ति करानेवाली न हुई। प्रतिबन्धके नष्ट होनेपर सुखाभि-व्यक्ति होती है। चित्तद्रुति होनेपर ही भक्ति होती है। उसके न होनेके कारण ही वेन न तो भक्त ही ठहरा, न उसे कुछ फल ही प्राप्त हुआ। शिशुपाल भगवान्की सत्ता मानता था, परन्तु वेन भगवान्की सत्ता ही नहीं मानता था। वह नास्तिक था, इसलिये उसका भगवत्सम्बन्ध ही नहीं हुआ, फिर चित्तद्रवता और भक्ति तो बहुत दूरकी बात है। सुखाभिव्यञ्जक होनेसे रजस्तमोविहीन भगवद्विषयक मति ही रति है। भगवद्विषयक मतिकी रजस्तमोविहीनताके तारतम्यसे ही रति-तारतम्य होता है—

विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः।

मृदु, मध्य और अधिमात्रभेदसे इसके भी अनेक भेद होते हैं। उसमें भी वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन आदिके भेदसे तथा व्रज-वन-निकुञ्जादिके भेदसे प्रकारभेद भी माना जाता है। पुनः शुद्ध, मिश्रित आदि भेदसे अनेक भेद होते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदिमें ये विस्तारसे कहे गये हैं।

आत्मासे भिन्न पदार्थकी सिद्धि प्रमाणके अधीन ही होती है। स्वतः भासमान स्वारसिक अनतिशय प्रेमास्पद ही भगवान् हैं; इसीलिये शुकाचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको सबका अन्तरात्मा बतलाया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

इसीलिये ब्रह्मविद्वरिष्ठोंको भी निरन्तर उनकी स्फूर्ति होती है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकलं जगति स्फुरन्तम्।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥

श्रीमधुसूदनसरस्वतीके भी निम्नलिखित वचन हैं—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयंगते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम् ।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति ॥
अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

इसी तरह श्रीशुक, सनकादि, शंकर, सुरेश्वर, पद्मपाद, चित्सुख, सर्वज्ञात्म, श्रीधरस्वामी आदि सहस्रों ब्रह्मविद्वरिष्ठोंका भी वैसा ही अकैतव प्रेम था। भगवान्‌ने स्वयं ही श्रीमुखसे 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इन शब्दोंसे उपर्युक्त अर्थोंका समर्थन किया है—

सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ।

—इत्यादि श्रुतियोंने किसीको भी अनात्मा समझना अनर्थकारक माना है, फिर भगवान्‌को अनात्मा समझनेकी तो बात ही क्या है। प्रेममें व्यवधान-सहनकी क्षमता नहीं होती, इसीलिये दूरस्थितमें या व्यवहितमें स्वाभाविक स्वारसिक अकैतव प्रेम नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌को सर्वान्तर परमसन्निहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है।

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके ।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥

—यह प्रसिद्ध ही है।

इसी तरह कहा जाता है कि 'भगवान् निर्गुण हैं।' इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌में प्राकृत गुणगण नहीं हैं। जैसे 'अकाय' का अभिप्राय प्राकृत-काय-राहित्यमात्र है, अप्राकृत काय तो उनके है ही, वैसे ही 'निर्गुण' शब्द अप्राकृत गुणगणका निषेधक नहीं है।' यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो निष्क्रियत्व, अव्रणत्व आदि शब्दोंका भी ऐसा ही अर्थ किया जायगा। फिर तो भगवान्‌में अप्राकृत क्रिया एव अप्राकृत व्रण मानना पड़ेगा। इसलिये सिद्धान्त तो यह है कि वस्तुतः निर्गुण ही भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे अप्राकृत गुणगणोंको स्वीकार करते हैं, अतः वे सगुण कहे जाते हैं—

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम् ।

सर्वशास्त्र-तात्पर्य-विषय कर्म-उपासना-तत्त्वज्ञानादि-समाराध्य भगवान् ही मुक्तोपसृप्य है, यह तत्तत्स्थलोंमें कहा ही गया है। 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेताश्व०), 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (मुण्डक०), 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता), 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' (बृहदा०) इत्यादि श्रुति-स्मृतिवाक्योंसे मुमुक्षु और मुक्तोंके लिये भगवच्छरणागति ही बतलायी गयी है। उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गोंद्वारा 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य रसात्मक, प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्ममें ही पर्यवसित होता है। अन्यविषयक-अनुरागाधीनविषयता प्रेमकी गौणता तथा अन्यविषयक-अनुरागानधीनविषयता ही प्रेमकी मुख्यता है। ऐसी मुख्यता आत्मामें ही हो सकती है; क्योंकि वहाँ प्रेम अन्यार्थ नहीं है, अतः आत्मा सुखरूप है। 'सुख आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तु है, इसीलिये आत्मसम्बन्धसे ही सुखकी कामना होती है' यह कहना ठीक नहीं। भ्रान्तिवशात् वैषयिक सुख ऐसा प्रतीत भी हो, तो भी परमार्थतया सुख आत्मरूप ही है। वैषयिक सुखको ही लक्ष्य करके 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० द० २ । १५) यह श्रीमहर्षि पतञ्जलिका और 'विषमिश्रित, मधुर, मनोहर पक्वान्नके समान दुःखमिश्रित सुख हेय है' यह नैयायिकोंका कहना है। 'एष ह्येवानन्दयाति', 'मात्रामुपजीवन्ति', 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक वैषयिक सुखको उसी सुखस्वरूप आत्माका अंश बतला रही हैं। स्वानुकूल विषयकी प्राप्तिमें अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तर्मुख, शान्त, अचञ्चल होती है। सत्त्वोद्रेक होनेसे प्रतिबिम्बतया वहाँ स्वात्मानन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषय-निबन्धन एव वृत्तिरोधके क्षणिक होनेसे उस सुखको वैषयिक, क्षणिक आदि कहा जाता है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा तत्त्व-साक्षात्कार-मूलक परिणामके कारण दुःखसे अमिश्रित सुख होनेसे ब्रह्मात्म-सुखप्राप्ति कही गयी है। इसीलिये 'आत्मा ही रस है' ऐसा सिद्धान्त है। यहाँपर आत्मशब्दसे प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मका ही लक्ष्य कराया जाना अभिप्रेत है; क्योंकि उसीमें उपक्रमोपसंहारादिद्वारा रसात्मबोधक वचनोंका तात्पर्य निश्चय होता है। अग्निके अंश विस्फुलिङ्गके समान या सिन्धुके अंश बिन्दुके समान विशिष्ट, सोपाधिक, चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब, चित्कण या समवच्छिन्न जीव निरतिशय रसरूप नहीं; क्योंकि वहाँ पूर्णानन्दता तिरोहित है। तटस्थ परब्रह्म परमात्मा भी निरतिशय सुखरूप नहीं; क्योंकि यदि वह प्रत्यक्‌चैतन्यस्वरूप न हुआ तो साक्षादपरोक्ष भी न रहेगा, फिर उसकी स्वप्रकाशानन्द-रसरूपता तो अत्यन्त दूर है। इसलिये न चाहनेपर भी प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परब्रह्मकी ही रसरूपता माननी पड़ेगी।

वेदान्तवेद्य, निर्विशेष भगवद्रूप ही रस है; वही रसशास्त्रमें स्थायिभावसे विशिष्ट रूपमें वर्णित होता है। भगवद्-गुण-गण-श्रवण-जन्य मानस वृत्तिकी द्रवतामें भगवदाकारता प्रविष्ट होनेपर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीके संयोगसे रसरूपता होती है। यहाँ भगवान् ही आलम्बन-विभाव, तुलसी-चन्दनादि उद्दीपन-विभाव, नेत्र-विक्रियादि अनुभाव और निर्वेदादि व्यभिचारी भावसे व्यज्यमान भगवदाकारतारूप रस ही स्थायी है। भाव तथा परमानन्द-साक्षात्कारात्मक दुःखासंस्पृष्ट-सुखरूप भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ है। यदि स्वभावतः कठिन लाक्षा तापक अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलके समान द्रुत हो जाय और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे छान ली जाय, फिर उसमें हिंगुल आदि कोई रंग छोड़ दिया जाय, तो वह रंग उस लाक्षाके सर्वांगमें प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। फिर कठोर या द्रुत होनेपर कभी भी रंग लाक्षासे पृथक् नहीं होता, भले ही लाख या रंग पृथक् होना चाहे। यदि पुनः अन्तःकरणकी द्रवावस्था हुई और दूसरी वस्तु उसमें प्रवेश पाने लगी, तो भी पहली वस्तु उसमेंसे नहीं निकलती। इसी प्रकार भगवद्भावनासे भावित द्रवावस्था अन्तःकरणमें भगवान्‌के प्रविष्ट होनेपर अन्यवस्तुग्रहणकालमें भी भगवान्‌का ही भान होता है।

प्रपञ्च-भानसहित भगवद्भानका उदाहरण है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
　ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
　यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

प्रपञ्च मिथ्यात्व-भानसहित भगवद्भानके उदाहरण 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्' आदि हैं। प्रपञ्च-भान-रहित भगवद्भानका उदाहरण है—

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गारमें द्रवावस्थाप्रविष्ट आलम्बनमय ही समस्त वस्तुओंका भान होता है। इसका उदाहरण है—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
　पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
　सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

इसी तरह भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि तापक भावोंमेंसे किसीके भी सम्पर्कसे चित्तरूप लाक्षा गङ्गा-जल प्रवाहके समान द्रुत हो और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे वह क्षालित हो (छान ली जाय), फिर उसमें सर्वांशप्रविष्ट परमानन्दस्वरूप भगवान् स्थायीभाव बनकर रसस्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्था प्रविष्ट [illegible] (भगवदाकारता) के कभी पृथक् न होनेके कारण यहाँ मुख्य स्थायी शब्दका प्रयोग होता है। ऐसा होनेपर ही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थ भगवान् भी यदि स्वयं वहाँसे हटना चाहें तो नहीं हट सकते, उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी कुण्ठित हो जाती है। इसीलिये कहा गया है—

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
　द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
　स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

यहाँ 'प्रणय' शब्दसे द्रवावस्था ही विवक्षित है। ऐसे अन्तःकरणसे चाहनेपर भी भगवान् नहीं निकल सकते। इसीको लक्ष्य करके भक्त उनसे कहता है कि यदि हृदयसे निकल जायँ तो आपका पुरुषार्थ जानूँ—

हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

व्रज-सीमन्तिनीजन अपने हृदयसे भगवान्‌को निकालना चाहती हैं, पर सफल नहीं होतीं। निश्चित करती हैं कि अब उनसे सख्य नहीं करेंगी, फिर भी उनकी चर्चाको दुस्त्यज समझती हैं। किसी सखीने भगवान्‌की चर्चा छेड़ दी, तो दूसरी सखीने तत्काल रोककर कहा—

संत्यज सखि तदुदन्तं
　यदि सुखलवमपि समीहसे मत्तः।
स्मारय किमपि तदितरद्
　विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

अर्थात् 'यदि हमारी प्यारी सखी (राधा) को क्षणभर भी सुखी देखना चाहती हो तो मोहनकी चर्चा न करके कोई और बात सुनाओ।' यह देखकर किसी मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने मनको धारणा ध्यानादिके द्वारा विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाना चाहते हैं किंतु फिर भी उनका मन हट-हटकर विषयोंमें चला जाता है, किंतु यह मुग्धा मनको भगवान्‌से हटाकर विषयोंमें लगाना चाहती है। जिसकी क्षणिक स्फूर्तिके लिये योगी सदा उत्कण्ठित रहा करते हैं, यह मुग्धा उसको हृदयसे निकाल बाहर करना चाहती है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं बत पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥'

यदि कहा जाय कि फिर तो आलम्बन और स्थायीभाव एक ही हो गया, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि [illegible] ईश-जीवके भेदके समान ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावका भेद

यहाँ भी है। बिम्ब ही मनकी द्रवावस्थामें पडकर प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० उ०)

—इत्यादि श्रुतियोंसे प्रपञ्चके प्रति आनन्दात्मक ब्रह्मकी ही अभिन्न-निमित्तोपादानता सिद्ध होती है। कान्तादि विषय भी कारणानन्द-रूप ही हैं, मायाकृत आवरण और विक्षेपके कारण उनकी अखण्डानन्दरूपसे प्रतीति नहीं होती। अकार्योंका भी कार्याकाररूपसे भान होता है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो तथा तमः॥

अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणोंका प्रामाण्य है। स्वप्रकाश-स्वरूपसे भासमान चैतन्य ही अज्ञात है, जड नहीं। जडके स्वतः अभासमान होनेसे वहाँ आवरणकी कोई अपेक्षा ही नहीं है। कान्तादिविषयक भानोंके प्रामाण्यके लिये अज्ञात कान्ताद्यवच्छिन्न चैतन्यपरसे आवरणके हट जानेपर कान्ताद्यवच्छिन्नरूपसे परमानन्दरूप उपादानचैतन्यका ही भान होता है, किंतु अनवच्छिन्न स्वरूपका भान नहीं हुआ; इसीलिये सद्योमुक्ति या स्वप्रकाशत्वभङ्गकी प्रसक्ति नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रुत अन्तःकरण-की वृत्तिमें उपारूढ होकर स्थायीभाव और रसस्वरूप हो जाता है। कान्तादि विषयक लौकिक रस भी परमानन्दरूप ही है। फिर भी जडके सम्पर्कसे उसमें न्यूनता है। भक्तिमें अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्‌का स्फुरण होनेसे उसकी परमानन्द-रूपता स्फुट ही है। —'सिद्धान्त'से

वैष्णव-सदाचार

(लेखक—आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराघवाचार्यजी महाराज)

भगवती श्रुतिने 'विष्णुर्वै यज्ञः' तथा 'यज्ञो वै विष्णुः' कहकर यज्ञको विष्णु और विष्णुको यज्ञ बताया है। महर्षि जैमिनिकी कर्म-मीमांसाके बाद जब महर्षि काशकृत्स्नने दैवत-मीमासाकी रचना की, तब उन्होंने 'स विष्णुराह हि' लिखकर विष्णुको परमदेवता बताया। अनन्त अपौरुषेय वेद-वाङ्मय-के आधारपर यज्ञकी साधना करते हुए वैदिक ऋषियोंने जब परम तत्त्वका अनुशीलन किया, तब उन्होंने देखा कि विश्वके कण-कणमें परम तत्त्व समाया हुआ है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि परम तत्त्वका प्रकाश सर्वत्र है तथा उसका संकल्प महान् है। परम तत्त्वका यह सम्पूर्ण वैशिष्ट्य 'विष्णु' शब्दसे प्रकट होता है। अहिर्बुध्न्यसंहितामें कहा गया है—

व्याप्तिकान्तिप्रवेशेच्छास्तत्तद्धातुनिबन्धनाः।
परस्त्वेऽभ्यधिका विष्णोर्देवस्य परमात्मनः॥ (५२।३८)

आशय यह है कि 'विष्लृ व्याप्तौ', 'वश कान्तौ', 'विश प्रवेशने' तथा 'इषु इच्छायाम्' इन धातुओंसे निष्पन्न हुआ 'विष्णु' शब्द तत्तद्धातुके अनुसार परम तत्त्वकी व्याप्ति, कमनीयता, प्रवेश तथा इच्छाको प्रमाणित करता है।

धर्मशास्त्रकारोंने यज्ञको धर्मके अन्तर्गत माना है। महाभारतका वचन है—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।

अर्थात् 'धर्म आचारमूलक है और इस धर्मके प्रभु विष्णु हैं।' पुराणोंने भगवान् विष्णुके अवतारोंका वर्णन करते हुए उनके द्वारा किये गये धर्म-संस्थापनकी चर्चा की है। अवतार-भूत भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

...मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

अर्थात् 'धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें अवतार लेता हूँ।' यही कारण है कि विष्णु-तत्त्वके साक्षात्कारके निमित्त अग्रसर होनेवाला साधक निरन्तर धर्मका अनुष्ठान करता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यने धर्मके प्रमाणोंकी गणना करते समय श्रुति और स्मृतिके साथ 'सदाचार'का नाम लिया है। धर्म-शास्त्रकार मनुने 'आचारश्चैव साधूनाम्' कहकर इसका उल्लेख किया है। 'वैष्णव' विशेषण लगनेपर यह आचार 'विष्णु'से सम्बद्ध हो जाता है। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' के अनुसार विष्णुभगवान् सृष्टिके आरम्भमें पितामह ब्रह्माको प्रकटकर उन्हें वेदका उपदेश देते हैं। वेदोपदेशके द्वारा प्रवृत्ति-धर्मका प्रवर्तन करनेके पश्चात् विष्णु भगवान् स्वयमेव निवृत्तिधर्मका भी प्रवर्तन करते हैं। महाभारतके शान्तिपर्व (३४८ वें अध्याय) में सात कल्पोंकी जो सात परम्पराएँ मिलती हैं, उनका प्रवर्तन विष्णुभगवान्‌के द्वारा ही हुआ है। ये निवृत्तिधर्मकी परम्पराएँ हैं। शान्तिपर्वमें इनका उल्लेख नारायणीयधर्मके नामसे हुआ है, जो वैष्णव-धर्मका ही दूसरा नाम है। इसके अतिरिक्त पाञ्चरात्र-आगमका भी प्रवर्तन विष्णुभगवान्‌के ही द्वारा हुआ है। पाञ्चरात्रकी संहिताएँ वैष्णवधर्मका ही प्रतिपादन करती हैं। वैष्णव-सदाचार इसी वैष्णवधर्मके अन्तर्गत आता है।

प्रवर्तक होनेके साथ-ही-साथ श्रीविष्णुभगवान् वैष्णवधर्मके आराध्य एवं उपास्य भी हैं। वैष्णवधर्मके अनुसार उनकी उपासना अथवा शरणागति ही परमपुरुषार्थभूत मोक्षका साधन

है। वैष्णवधर्मके अनुसार मुक्ति प्राप्त होनेपर विष्णुका परम पद प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रवर्तन, साधन एवं लक्ष्य—तीनों ही दृष्टियोंसे वैष्णवधर्मका जो विष्णुसम्बन्ध प्रकट होता है, वह वैष्णव-सदाचारमें ओतप्रोत है। ध्यान रहे कि आचार-शास्त्रकी वैष्णवता ही वैष्णव-सदाचारमें अभिप्रेत है। इसीका यहाँ अनुशीलन करना है।

वैष्णव-आचारशास्त्रके अनुसार वैष्णव कहलानेके लिये वैष्णव-संस्कार चाहिये। वृद्धहारीतस्मृतिका वचन है—

तापादिपञ्चसंस्कारी मन्त्ररत्नार्थतत्त्ववित्।
वैष्णवः स जगत्पूज्यो याति विष्णोः परं पदम्॥

(८। २६)

आशय यह है कि 'जो ताप आदि पाँच संस्कारोंसे संस्कृत है तथा मन्त्ररत्नके तत्त्वका ज्ञाता है, वह वैष्णव है। वह जगत्‌में पूजनीय है। वह विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है।'

ताप आदि संस्कारोंको महर्षि भरद्वाजने इस प्रकार गिनाया है—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी परमसंस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः॥

(भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट २। २)

अर्थात् ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग—ये पाँच वे परम संस्कार हैं, जिनसे परम ऐकान्तिक भाव प्राप्त होता है।

ताप-संस्कारके द्वारा सुदर्शन-चक्र और पाञ्चजन्य-शङ्खको धारण किया जाता है। पुण्ड्र-संस्कारसे ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किया जाता है। नाम-संस्कार होनेपर भगवद्दास्य-सूचक नाम प्राप्त होता है। मन्त्र-संस्कारमें मन्त्रका उपदेश मिलता है। याग-संस्कारके द्वारा यजनकी योग्यता प्राप्त होती है। इन संस्कारोंकी महनीयता बताते हुए महर्षि भरद्वाजने कहा है—

तापस्तपांसि तीर्थानि पुण्ड्रं नाम नमस्क्रिया।
आम्नायाः सकला मन्त्राः क्रतवः पूजनं हरेः॥

(भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट २। ५७)

इस कथनके अनुसार ताप-संस्कार सम्पूर्ण तपस्याओंका प्रतीक है। ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारणमें समस्त तीर्थोंका सेवन आ जाता है। भगवान्‌का दास्य-सूचक नाम मिला कि नमस्कारकी प्रक्रिया सर्वाङ्गपूर्ण हो जाती है। अनन्त अपौरुषेय वेद-वाङ्मय मन्त्रोंमें विद्यमान है तथा समस्त यज्ञ यागमें समा जाते हैं।

इन संस्कारोंका विधान पाञ्चरात्र-आगमकी संहिताओं तथा वैष्णव-स्मृतियोंने किया है। वेद-वाङ्मयमें इनका निर्देश मिलता है तथा पुराण-वाङ्मयमें इनका वर्णन है। वैष्णवाचार्योंने अपने निबन्धोंमें इन प्रमाणोंका संकलन किया है।

वैष्णवका लक्ष्य त्रिवर्गपर नहीं होता। अर्थ और कामके साथ-साथ पुण्य-प्रदाता धर्मसे भी ऊपर उठकर उसकी दृष्टि परमपुरुषार्थ मोक्षपर होती है। मोक्षका भाव उसके लिये प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारामात्र नहीं होता। मोक्षको वह परिपूर्ण ब्रह्मानन्दानुभवकी स्थिति मानता है। कर्मकाण्डके परमदेवता विष्णु ही परब्रह्म हैं, यह उसकी मान्यता होती है। आत्मदर्शनको सम्पन्न करनेवाले कर्म और ज्ञानके आगे वह उपासनामें प्रवृत्त होकर परमात्मदर्शनकी साधना करता है।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥

—के अनुसार वह 'विष्णु'शब्दवाच्य नारायणको परब्रह्म, परम तत्त्व, परम ज्योति एवं परमात्मा मानता है। उपनिषदोंमें वर्णित किसी एक ब्रह्मविद्याके सहारे उसकी साधना चलती है। वह आहार-शुद्धिका ध्यान रखता है। मानसिक दोषोंमें आसक्ति नहीं रखता। अभ्यास करता है। पञ्चमहायज्ञ आदि शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है। दया, नम्रता आदि गुणोंका व्यवहार करता है। दुःखोंसे विचलित नहीं होता। सुखमें आपेसे बाहर नहीं हो जाता। इस प्रकार साधन करते हुए वह अपनी भक्ति-भावनाको दृढ करता है।

किंतु यदि वह अपने-आपको उन ब्रह्मविद्याओंके योग्य नहीं पाता, जिनके लिये विशेष वैदिक नियमोंकी आवश्यकता होती है, तो वह न्यास-विद्याका आश्रय ग्रहण करता है। जिस प्रकार उपासनाका दूसरा नाम भक्ति है, उसी प्रकार न्यास-विद्याका दूसरा नाम 'शरणागति' है। इसकी साधनाके निमित्त वह शरण्य भगवान्‌के अनुकूल रहनेका संकल्प करता है, प्रतिकूल न चलनेकी प्रतिज्ञा करता है। विश्वास करता है कि भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, उनको ही अपने सर्वस्वके रूपमें वरण करता है, कार्पण्य (दैन्य) भावको ग्रहण कर वह शरण्यके चरणोंमें अपना आत्म-समर्पण कर देता है।

वैष्णव चाहे भक्तिकी साधना करनेवाला हो अथवा शरणागतिकी साधना करनेवाला श्रुति-स्मृतिके आदेशोंके पालन करनेका उसपर उत्तरदायित्व होता है। स्वयं भगवान्‌ने कहा भी है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् 'श्रुति-स्मृति मेरी आज्ञाएँ हैं, जो उनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरी आज्ञाको भङ्ग करनेवाला मेरा द्रोही है। मेरी भक्ति करनेपर भी वह वैष्णव नहीं हो सकता।'

वैष्णव जो कुछ धर्मानुष्ठान करता है, करता है भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, धर्मको भगवान्‌की आज्ञा मानकर।

भगवान्‌को प्रसन्न करना, भगवान्‌का आज्ञा-पालन करना, भगवान्‌का कैंकर्य करना उसकी साधना होती है। प्रत्येक धार्मिक कृत्यके आरम्भमें वह सकल्प करता है—

श्रीभगवदाज्ञया भगवत्प्रीत्यर्थं भगवत्कैंकर्यरूपम्।

अर्थात् भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवत्कैंकर्यरूप (यह कृत्य करता हूँ)।

वैष्णवकी मान्यता होती है कि परब्रह्म चराचर विश्वके आधार, नियन्ता और शेषी हैं; अन्य समस्त पदार्थ उन परब्रह्मके आधेय, नियाम्य और शेषभूत हैं। फिर भला, भगवान्‌का सहारा लिये विना वह कर्मानुष्ठान कैसे कर सकता है? इसलिये वह जो कुछ करता है, भगवान्‌के बलपर करता है। सकल्पके साथ-साथ वह इस बल-मन्त्रका भी चिन्तन करता है—

भगवतो बलेन, भगवतो वीर्येण, भगवतस्तेजसा भगवतः कर्म करिष्यामि।

अर्थात् मैं भगवान्‌के ही बल, वीर्य एवं तेजकी सहायतासे भगवान्‌का कर्म करूँगा।

वैष्णव कर्मका त्याग नहीं करता, सात्त्विक त्यागका चिन्तन अवश्य करता है। कर्मानुष्ठानके पहले वह सोचता है—

भगवानेव ''स्वस्मै स्वप्रीतये स्वयमेव कारयति।

अर्थात् भगवान् ही अपने लिये, अपनी प्रसन्नताके लिये स्वयमेव इस कर्मको करा रहे हैं। और कर्मकी पूर्ति हो जानेपर वह सोचता है—

भगवानेव स्वस्मै स्वप्रीतये स्वयमेव कारितवान्।

अर्थात् भगवान्‌ने ही अपने लिये, अपनी प्रसन्नताके लिये स्वय ही यह कर्म करा लिया।

वैष्णव वर्णाश्रमधर्मका अनुष्ठान करता है—इसलिये नहीं कि उसको अपने वर्ण या आश्रमका अभिमान है। वह तो मानता है कि वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादा उसके इष्टदेवने ही बनायी है। अतः जिस प्रकार एक पतिव्रता नारी अपने सौभाग्य-सूत्रकी रक्षा करती है, उसी प्रकार वैष्णव वैदिक मर्यादाकी रक्षा करता है। वह जानता है—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

अर्थात् वर्णाश्रमके आचारका पालन करनेवाले पुरुषको ही परमपुरुष विष्णुके आराधनका अधिकार है। अन्य कोई मार्ग विष्णुको प्रसन्न करनेका नहीं है।

नित्य-कर्म वैष्णव करता है भगवान्‌की आराधना समझकर। उसकी दिनचर्याके पाँच विभाग होते हैं—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग—

> अभिगच्छन् हरिं प्रातः पश्चाद् द्रव्याणि चार्जयन्।
> अर्चयंश्च ततो देवं ततो मन्त्रान्जपन्नपि॥
> ध्यायन्नपि परं देवं कालेपूक्तेपु पञ्चसु।
> वर्तमानः सदा चैवं पाञ्चकालिकवर्त्मना॥

आशय यह है कि प्रातःकालमें भगवान्‌का अभिगमन करे। दोपहरतक उपादान अर्थात् भगवदाराधनके लिये उपयोगी सामग्रीका संग्रह करे। इसके बाद इज्या अर्थात् भगवान्‌का आराधन करे। तीसरे पहर स्वाध्याय अर्थात् मन्त्रजप आदि करे। रात्रिको योग अर्थात् भगवान्‌का ध्यान करे। यह पाञ्चकालिक पूजाका क्रम है। प्रातःस्मरणसे लेकर ब्रह्मयज्ञपर्यन्त अनुष्ठान अभिगमनके अन्तर्गत आ जाता है। मध्याह्नस्नानसे लेकर वैश्वदेव-पञ्चमहायज्ञ-भोजनपर्यन्त इज्यामें आ जाता है। साय-संध्यासे लेकर शयनपर्यन्त सारा विधान योगके अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय विधानकी पाञ्चकालिक पद्धतिके साथ इसकी सगति बैठ जाती है।

भगवान्‌की पूजा वैष्णवकी अपनी विशेषता है। पूजाके प्रसङ्गमें वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंको पार करता हुआ तुरीय-अवस्थातक पहुँच जाता है। भूतशुद्धिमें जाग्रत्-अवस्था, मन्त्रजपमे स्वप्नावस्था तथा मानसिक आराधनमें सुषुप्ति-अवस्थाका अनुभव करते हुए भगवान्‌के उपचारोंमें वह तुरीयावस्थाका अनुभव करता है। गुरु-परम्पराके सोपानके द्वारा वैष्णव अपने ध्यानको भगवान्‌तक ले जाता है, धर्म-वाङ्मयद्वारा उनको पुष्पाञ्जलि समर्पित करता है तथा अन्तमें विजयगान एवं मङ्गलाशासन करता है।

भगवदाराधन और पुष्पाञ्जलिके सम्बन्धमें वैष्णवकी मान्यता यह भी है—

> रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
> हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥
> × × × ×
> अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
> तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
> शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः।
> सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥

आशय यह है कि राग आदिसे रहित हृदय, असत्य आदिरहित वाणी तथा हिंसा आदिसे रहित शरीर—ये भगवान्‌के तीन आराधन हैं। अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूत-दया, क्षमा, मनका सयम, ध्यान, ज्ञान, और सत्य—ऐसे पुष्प हैं, जिनको समर्पित करनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं।

यहाँपर यह बता देना अनुचित न होगा कि आत्म-दर्शनका साधक जिन नैतिक गुणोंसे अपनी साधना आरम्भ करता है, वे नैतिक गुण परमात्मदर्शनके साधकके लिये अपेक्षित अवश्य होते हैं; किंतु आत्मदर्शनके साधकके लिये कठिनाई यह है कि जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता, नैतिक गुणों-की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाती और जबतक नैतिक गुणोंकी परिपूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती, आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। परमात्म-दर्शनके पथिक वैष्णवके सामने यह कठिनाई नहीं होती। वह अपने कर्मोंका न्यास भगवान्‌में कर देता है तथा अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं शरीर भगवान्‌की सेवामें लगा देता है। साधनाकी दृष्टिसे वह भगवान्‌को कर्ता और कारयिता मान लेता है। इस मान्यताके साथ जहाँ उसके आत्मसमर्पणकी प्रक्रिया आरम्भ हुई, सच्चिदानन्द भगवान् अपने सङ्कल्पका बल उसको प्रदान करने लगते हैं। फल-स्वरूप उसके नैतिक गुण विकसित हो जाते हैं, यहाँतक कि उसका जीवन नैतिकताका आदर्श बन जाता है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणोंके लिये उसे कोई श्रम नहीं करना पड़ता।

वैष्णवका जीवन भगवदीय होता है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते और सोते-जागते वह भगवान्‌का स्मरण करता है। उसके प्रत्येक कार्यमें भगवदाराधना चलती रहती है। उसके हर श्वासमें भगवान्‌का विश्वास बढ़ता है। वह भगवान्‌से कुछ याचना नहीं करता। प्रारब्धको वह भोगता है भगवान्‌का प्रसाद समझकर। विषयोंमें उसे राग नहीं होता। अनुराग होता है भगवान्‌से और भागवतोंसे। मृत्युको वह अपना प्रिय अतिथि मानता है। भगवान् उसका योग-क्षेम वहन करते हैं, उसका स्मरण रखते हैं और उसको परम पद प्रदान करते हैं।

भक्ति

(लेखक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिविलासतीर्थजी महाराज)

कविराज कृष्णदासजीके 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में श्री-चैतन्यमहाप्रभुके जीवनके द्वितीय और तृतीय भागपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। वास्तवमें यह ग्रन्थ श्री-महाप्रभुके जीवनके अत्याकर्षक युगका, दार्शनिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोणसे, श्रेष्ठ प्रतिपादन प्रस्तुत करता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मतमें वेद आध्यात्मिक ज्ञानके एक-मात्र मूल स्रोत हैं। वैसे तो वेदोंमें यथार्थरूपसे सब प्रकारके कर्म, अकर्म और विकर्मकी परिभाषा दी गयी है; किंतु हैं वे भगवद्भक्तिपरक ही। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्मोंकी तत्तद्-विषयक प्ररोचक फलश्रुतियाँ भी हैं, किंतु वे फलश्रुतियाँ केवल बाल-बुद्धिवाले व्यक्तियोंको ही लुभा सकती हैं। वेदोंका सच्चा उपदेश तो यह है कि मानव ईश्वरीय आराधनाके द्वारा कर्मोंके फलसे सर्वथा अनासक्त रहकर नैष्कर्म्यकी स्थितिको प्राप्त कर ले—यही भक्ति है।

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने स्वतः अपने मुखारविन्द-से जिस गीताका गान किया है, वह भी यही कहती है कि शरणागतिमें ही उसका तात्पर्य है। इस शरणागति-का अर्थ है—सम्पूर्ण परिच्छिन्न व्यक्तित्वका, अपनी प्रत्येक प्रिय वस्तुका, अपने सामान्य-असामान्य गुण-दोषों एवं न्यूनताओं और निपुणताओंका, उस अपरिच्छिन्न प्रभुके प्रति सर्वात्मना सर्वाङ्गीण समर्पण। यह सर्वातिगामी मनोरम सिद्धान्त है; और इस प्रकारका आत्मसमर्पण आत्मोत्सर्गका अत्यन्त विशुद्ध रूप है।

अपनेको असहाय जानकर परिच्छिन्न जीव जब प्रेम और दयाके सिन्धु अपरिच्छिन्न ईश्वरके पाद-पद्मोंमें सर्वभावेन अपने व्यक्तित्वका समर्पण करके भगवत्सङ्कल्पानुगामी बन जाता है, तब वह स्थिति भक्ति कहलाती है। शरणागति स्वतः भक्तिका पूर्वरूप है।

'भक्ति' पद संस्कृतके 'भज' धातु में 'क्तिन्' प्रत्ययके योगसे बना है। प्रत्ययका अर्थ प्रेम है और धातुका अर्थ है सेवा करना। सामान्य नियम यह है कि धातु और प्रत्यय के योगसे एक सम्पूर्ण अर्थकी अभिव्यक्ति होती है और उस अर्थमें प्रत्ययका अर्थ ही प्रधान रहता है। अतः भक्तिका अर्थ हुआ सेवा करना। सेवा शारीरिक क्रिया है। सच्ची सेवामें प्रेमका भाव निहित रहता है और बिना प्रेमभावके सेवा-कार्य क्लेशप्रद हो जाता है तथा स्वाभाविक भी नहीं रहता। प्रेमकी पूर्णता सेवा-भावमें ही है। नारदपञ्चरात्र-के अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मायाके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त करके अनन्यमनसा हृषीकेश भगवान्‌का आराधन करना ही भक्ति है। भक्तिके साम्राज्यमें भोक्ता और भोग्य—दोनों ही पारस्परिक साहचर्य-जन्य आनन्दका उपभोग करनेके लिये चिन्मयदेहेन्द्रियविशिष्ट होते हैं।

शाण्डिल्यसूत्रमें ईश्वरके प्रति परानुरक्तिको ही भक्ति कहा गया है। अनुरक्ति और अनुराग पर्याय हैं। अतः 'परानुरक्तिरीश्वरे' इस सूत्रका अर्थ हुआ कि भगवान्‌के प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है। यह राग आनन्दसे परिपूर्ण है।

श्रीरूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिकी व्याख्या इस प्रकार की है—अध्यात्म-ज्ञानकी प्राप्तिकी अभिलाषा न करते हुए, कर्म अथवा वैराग्यका भी मोह न रखते हुए और अपने भी किसी स्वार्थकी भावनाको स्थान न देते हुए, केवल श्रीकृष्णकी संतुष्टिके लिये उनका प्रेम-भावसे चिन्तन करना ही उत्तम भक्ति है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

भक्ति स्वतः ही पूर्ण है। वह कर्म, ज्ञान अथवा अन्य किसी प्रकारकी साधनकी अपेक्षा नहीं रखती। कर्मका उद्देश्य वैयक्तिक सुख है और ज्ञानका लक्ष्य है उस निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्ति, जो द्वैत-भावनासे रहित है, अर्थात् जहाँ उपास्य-उपासकका भेद ही नहीं है। अतः भक्ति मूलतः उन दोनोंसे भिन्न है। सम्पूर्ण गौडीय वैष्णव-साहित्यमें कर्म और ज्ञानका अत्यन्त ही तीव्र विरोध किया गया है। श्रीरूपगोस्वामीने इस विषयपर अपने विचार बड़ी ही दृढ़तासे व्यक्त किये हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जबतक साधकके हृदयमें कर्मसे प्राप्य भोगोंके प्रति और ज्ञानसे प्राप्य मोक्षके प्रति अंशतः भी रुचि बनी रहेगी, तबतक उसमें भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वलहरी २ । ११)

श्रीकविराज कृष्णदासने कर्म और ज्ञानकी तुलना घास-फूससे की है और अपने पाठकोंको स्पष्ट आदेश दिया है कि वे उन्हें अपने हृदयसे सर्वथा निर्मूल कर दें, जिससे कि भक्ति-वल्लरीके लहलहानेमें कोई बाधा न पड़े।

श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके प्रभावकी चर्चा करते हुए उसके छः लक्षण बताये हैं—

१. भक्ति सब प्रकारके दुःखोंका नाश करती है।
२. यह सम्पूर्ण कल्याणको देनेवाली है।
३. यह मोक्षको भी हेय समझती है।
४. यह अत्यन्त ही दुर्लभ है।
५. यह घनीभूत आनन्द है।
६. यह श्रीकृष्ण भगवान्‌को आकर्षित करनेवाली है।

शास्त्रका वचन है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

शुद्ध भक्तिपर आत्मज्ञानका कोई विरोधी प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। ज्ञान और शुष्क वैराग्य भक्तिके विकासमें बाधा डालते हैं। ईश्वरका क्या स्वरूप है और जीवका ईश्वरके साथ कैसा निकट सम्बन्ध है, इस विषयकी जानकारी भक्ति-विरोधी नहीं है। भक्ति स्वतः साधन भी है और साध्य भी। भक्ति अपनी चरमावस्थामें मुक्तिका भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम-नामसे अभिहित होती है। किंतु इस अवस्थामें भी भक्तिके क्रिया-कलापोंका विराम नहीं होता। ईश्वरके प्रति मनुष्यकी स्वतःस्फूर्त एवं स्वाभाविक अनुरक्तिका नाम ही भक्ति है।

भक्तिको स्वयंमोक्षरूपा कहा गया है। सच्चा अध्यात्म-ज्ञान भी भक्तिका आनुषङ्गिक फल है। स्वरूपा-शक्ति, तटस्था-शक्ति और माया-शक्तिसे उपलक्षित ईश्वरके तीनों रूपों—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌का साक्षात्कार ही सच्चा तत्त्व-ज्ञान है। ईश्वर इन शक्तियोंसे भिन्न और अभिन्न दोनों है। भक्तिद्वारा ही ईश्वरके इस स्वरूपकी अनुभूति और साक्षात्कार सम्भव हैं। केवल ज्ञानसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता जब कि भक्तिद्वारा केवल ज्ञान ही नहीं अपितु साक्षात्कार भी हो जाता है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मतसे भक्ति दो प्रकारकी है—वैधी और रागानुगा। पहले प्रकारको वैधी इसलिये कहा गया है कि इसमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा शास्त्रसे प्राप्त होती है, जिसे विधि भी कहते हैं। जिसकी बुद्धि तर्कशील है, जिसे शास्त्रका ज्ञान है, जिसका विश्वास दृढ़ है और जिसकी वैष्णवधर्ममें परम निष्ठा है, केवल वही साधक वैधी-भक्तिका अधिकारी है। रागानुगा-भक्ति वैधी-भक्तिसे भिन्न है। राधाजीका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इस दूसरे प्रकारकी भक्तिके सर्वोत्कृष्ट एवं गाढतम रूपका निदर्शन है। भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके रचयिता श्रीरूपगोस्वामीने तीन प्रकारकी भक्ति बतायी है—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। भाव-भक्ति अथवा साध्य-भक्ति, जो नैसर्गिक और भावावेशकी अवस्था है, किसी प्रकारके साधन अथवा प्रयत्नके द्वारा साध्य नहीं है। सच्चा भावावेश उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वह तो पहलेसे ही हृदयमे विद्यमान रहता है। आवश्यकता होती है उसे व्यक्त करनेकी।

रागात्मिका भक्ति स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। उसे आदर्श मानकर जो भक्ति की जाती है, उसीका नाम रागानुगा है। रागका अर्थ ही है आसक्ति। भाव गाढ़ हो जानेपर प्रेम

कहलाता है। भक्तिद्वारा भक्त किसी भी बाह्य उद्देश्यको न रखकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है। भक्ति वह शक्ति मानी गयी है, जो ईश्वरका हमारे साथ गठबन्धन कर देती है।

भक्ति कर्म और ज्ञानसे मूलतः भिन्न है। प्रेमके शाश्वत बन्धनद्वारा भक्त आदिसे अन्ततक अपने व्यक्तित्वको स्थायीरूपसे स्वतन्त्र बनाये रखता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह ईश्वरको आराध्यरूपमें अपनेसे सदा भिन्नरूपमे देखता है और फलस्वरूप अपने आराध्यके साथ एकात्मताकी कल्पनासे ही कॉप उठता है। प्राकृत गुण-धर्मोंसे छुटकारा पा लेनेपर तो उसकी भक्ति उल्टे विशुद्धरूपमें अनन्त कालतक प्रवाहित होती रहती है।

ईश्वरके प्रति हमारे मनकी अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेम-भक्ति कहलाती है। यह पॉच प्रकारकी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। वृन्दावन-की गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इस प्रेम-भक्तिका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। सच्ची भक्ति-भावनाका उदय होनेपर भक्त सब प्रकारकी इच्छाओं और कामनाओंको, सब प्रकारकी बाह्य पूजाको तथा सारे ज्ञान और कर्मको त्यागकर बस, एक-मात्र श्रीकृष्णमें ही अनुरक्त हो जाता है। भक्तिकी पूर्णताके लिये यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रकारके विधि-विधानका अनुष्ठान किया जाय। भक्ति-मार्गमें तो भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण और सकीर्तन ही एकमात्र कर्तव्य बताया गया है। भक्ति तो स्पष्टतः अतीन्द्रिय व्यापार है। ईश्वरके शाश्वत साहचर्यमें रहना ही भक्ति है, क्योंकि ईश्वर स्वय गुण-धर्मोंसे परे है, अतः ईश्वरके साहचर्य अथवा ईश्वरमें स्थितिका अर्थ भी अनिवार्यतः गुणातीत स्थिति ही है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके धार्मिक जीवनमें भक्तिके वे असाधारण लक्षण प्रकट हुए, जिनका प्राकट्य, जहॉतक हमें ज्ञात है, अन्य किसी भी सतमें नहीं हुआ। अपने जीवनके अन्तिम बारह वर्षोंमें नीलाचलपर निवास करते हुए श्रीमहाप्रभु-ने जिस प्रेमोन्मादका परिचय दिया, उसका कोई दूसरा उदाहरण पौराणिक साहित्य, गीता अथवा भारतके किसी भी अन्य धर्मग्रन्थमें अप्राप्य है।

भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति और गुरु-तत्त्व

(लेखक—परम सम्मान्य श्री १०८ श्रीहरिबाबाजी महाराज)

भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥

कुछ बड़ा होनेपर अपनी माके मुखसे सुना कि 'तुम्हारे जन्मपर ऑगनमें आकाशसे कोई खड़खड़ाती हुई वस्तु गिरी। बाहर देखनेपर ज्ञात हुआ कि श्रीरामजीकी मूर्ति है।' विद्याध्ययन-समयतक इसकी स्मृति नहीं हुई। घर छोड़ने-पर इसके अर्थकी ओर ध्यान हुआ। उन दिनों वेदान्त-संस्कार विशेष होनेसे निजात्म-स्वरूपकी ओर ही लक्ष्य प्रतीत हुआ। अतः इससे प्रसन्नता और शान्ति हुई।

श्रीगङ्गातटपर परमपूज्य श्रीअच्युतमुनिजीके दर्शन हुए। वे कृपया वेदान्त-शास्त्र पढ़ानेके लिये अपने साथ वर्धा ले गये। वहॉ बस्तीके बाहर श्रीपराजपेजी महाराजका हनुमानगढ़ीनामक आश्रम था। अवकाशके समय सायंकाल वहॉ जाने लगा। श्रीपराजपेजी मौन थे। हरिकीर्तनके समय बोलते और नाचते थे। मैं चुपचाप आसनपर बैठा सुनता रहता। एकादशीकी रात आयी। उस रात आश्रममें सबका जागरण और कीर्तन होता था। मैं भी सम्मिलित हुआ। श्रीहरि-सकीर्तन आरम्भ हुआ। पहला पद श्रीगुरु-महिमा-सम्बन्धी था। सुनकर श्रीगुरुस्मृति जागरित हुई। श्रीगुरुदेवकी पूर्ण सामर्थ्य और कृपाके होते हुए भी अपनेमें अभावकी प्रतीति हुई। वह अभाव कैसे जाय ? उस समय श्रीगुरुदेव परमपद प्राप्त कर चुके थे। किसी भी दूसरेमें वह गुरु-बुद्धि असम्भव मालूम हुई। इससे परम व्याकुलता हुई। अब क्या किया जाय ? हृदयमें उत्तर मिला—'प्राणिमात्रमें गुरुबुद्धि करो।' व्याकुलता बढ़ती ही गयी। पद-संकीर्तन चल रहा था। दूसरा पद भगवान् श्रीरामजीके सम्बन्धका आरम्भ हुआ। जन्मकी घटना याद आयी। 'कहॉ समस्त विश्वमें परम श्रेष्ठ श्रीराम ! और कहॉ सर्वनिकृष्ट तुम !' व्याकुलता अत्यन्त बढ गयी। धैर्य जाता रहा, पॉवोंसे धरती पीटते-पीटते गाढ़ मूर्च्छा हो गयी। मन, अहंभावका अभाव। सबका अत्यन्त अभाव। कबतक ऐसा रहा कुछ पता नहीं। जब होश हुआ, तब श्रीपराजपेजी ऑखोंके अश्रु पोंछ रहे थे। अपूर्व असीम आनन्द और मस्तीका प्रवाह बह निकला, जिसका सँभालना शक्तिके बाहर था। उन्मत्त इधर-उधर भागता हुआ श्रीभगवद्विग्रहोंके सामने उधरको ही पॉव किये गिर पडा। बाहरकी कुछ भी खबर नहीं थी। उसी समय श्रीपरांजपेजी मण्डलीसहित—

राधा-कृष्ण जय कुञ्जविहारी। मुरलीधर गोवर्धनधारी॥

—की ध्वनि करते हुए इस शरीरकी परिक्रमा देने लगे और प्रेममें मत्त हो नाचते रहे। उस समय प्रतीत हुआ कि 'सारा विश्व कृष्णमय है और कृष्ण-आराधनमें तत्पर है।' इस शरीरने भी पड़े-पड़े ही हाथसे ताली देते हुए किसीके चरण पकड़ लिये। वे पराजपेजी ही थे। होश आनेपर वे मुझे अपनी एकान्त कुटियामें ले गये। कारण पूछनेपर जन्मके समयकी घटना कहते हुए सब बात कही। जन्मकी घटनाका अर्थ पूछनेपर उन्होंने कहा—'इसका यही अर्थ है—राम-भक्तका जन्म हुआ है।' सुनकर दिलमें कुछ दुःखकी छाया प्रतीत हुई। कारण, उस समयतक अपनेमें ब्रह्म-भावना ही थी। मस्ती और परम आनन्दका विचित्र भाव बना ही रहता था, केवल वेदान्त-शास्त्र पढनेके समय दब जाता था।

एक दिन अनध्यायको मुझे नियत पाठमें जाना नहीं था। इससे एकान्त जगलमें नदीस्नानके लिये चला गया। नहाते-नहाते अत्यन्त आश्चर्य और आनन्दभरा अनुभव हुआ कि 'दास्यभाव तो ब्रह्मभावसे उच्च है।' विशेष आनन्द और मस्तीसे जल उछालने लगा। इसके बाद कितने महीनोंतक यही भाव बना रहा और भक्तिमार्गमें प्रवृत्ति आरम्भ हुई।

(२)

गुरुभक्तकी श्रद्धाका चमत्कार

परमहसंसहिता श्रीमद्भागवतमे जहाँ एक-एक दोष जीतनेका एक-एक साधन बताया है, उसी प्रसङ्गमें सर्वदोष-विजयका केवल एक साधन भी कहा है। वह है श्रीगुरुचरणोंमें दृढभक्ति—

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।
(श्रीमद्भा० ७। १५। २५)

परम पूज्य श्रीउड़ियास्वामीजीसे सुनी घटना

किसी नगरमें एक बड़े धनी साहूकार रहते थे। उनके यहाँ एक बार एक महात्मा पधारे। सेठजीकी महात्माजीमें श्रद्धा हुई और उन्होंने उनका गुरुरूपमें वरण किया। महात्माजी वहीं उनके मकानके ऊपर चौबारेमें रहने लगे। एक दिन सेठजीका एक बालक खेलता हुआ महात्माजीके पास पहुँच गया। उसके बहुमूल्य वस्त्राभूषण देखकर महात्माजीका मन ललचा गया। लालचका कारण उस दिन प्रमादसे प्राप्त दूषित अन्न ही था। अन्ततः उन्होंने अपने कर्कश कराङ्गुष्ठसे उस सुकुमार अङ्कुरका अन्त करके, उसके भूषण उतार, उसे सदूकमें बद कर दिया। मध्याह्न-भोजनके समय जब सेठजीका बालक नहीं आया, तब लोगोंने उसे पास-पडोसमें खोजा; पर वह मिला नहीं। किसीके कहनेसे सेठजीके साथ दो-चार पुरुष महात्माजीके पास भी गये। पूछनेपर महात्माने कहा—'यहीं तुम्हारा लड़का आया था, मैंने तो उसे मार डाला।' सेठ बोले—'महाराज! आप क्या कह रहे हैं? वह तो आपका ही था; भला, आप उसे क्यों मारने लगे?' महात्माने कहा—'भाई! तुम्हें विश्वास न हो तो वह संदूकमें पड़ा है, देख लो।' सेठने कहा—'महाराज! आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं? आप कभी नहीं मार सकते। ज्ञात होता है आपने उसे मेरी परीक्षाके लिये अपनी शक्तिसे मूर्च्छित कर दिया है।' संदूक खोलकर सेठने देखा और कहा—'यदि यह मर भी गया है, तो भी आपकी चरण-रजमें तो मृत-सजीवनी शक्ति है।' यों कहकर सेठजीने महात्माजीकी चरण-रज ज्यों ही बालकके सिरपर छोड़ी त्यों ही वह उठ बैठा। सेठजीके मनमे कोई विस्मय अथवा मान नहीं हुआ। परतु महात्माजीको अपनी छिपी हुई सिद्धिका चमत्कार जानकर बड़ा अहकार हुआ।

कुछ दिन बाद किसी अन्य सेठका लड़का भी खेलता हुआ वहीं पहुँचा। उसके भी बहुमूल्य आभूषण थे। उस दिन भी महात्माजीकी बुद्धि पलटी। वही करतूत उसके साथ की। दूषित अन्नका विपाक कितना भयंकर होता है! दूसरे सेठ भी तलाश करते वहीं आये। वे बड़े अश्रद्धालु नास्तिक थे। पूछनेपर महात्माने वही उत्तर दिया। सेठ बोले—'महाराज! कहीं महात्मा भी ऐसा घोर कर्म करते हैं?' महात्माने कहा—'भाई! विश्वास न हो तो सदूक खोलकर देख लो।' सेठने देखा तो बालक सचमुच प्राणहीन पड़ा था। उसने क्रोधसे आँखें लालकर डाँटते हुए कहा—'अरे! तू महात्मा है या राक्षस? अभी तुझे इसका फल चखाता हूँ। पुलिसके हवाले कर फाँसी दिलाऊँगा।' महात्मा बोले—'अरे! तुझे हमारी चरण-रजका प्रभाव नहीं ज्ञात है, जो मुर्देको जिला सकती है?' 'तुम महात्मा ही नहीं तो चरण-रजमें क्या पड़ा है।'—सेठने कहा। 'अरे, तू देख तो सही; पता चल जायगा, क्या पड़ा है।' सेठके मनमें तो लेशमात्र भी विश्वास न था। कई बार कहनेसे बालकके शरीरपर रज छोड़ी तो क्या होना था उससे। झल्लाकर बोला—'देख ले, तेरी रजमें क्या है।' इतनेमें हल्ला सुनकर वे गुरुभक्त सेठ भी आ गये। देखते ही महात्माजी उछलकर फिर बोले—

'क्यों भाई ! क्या हमारी चरण-रज मृतकको नहीं जिला सकती ?' हाथ जोड़कर सेठ बोले—'कौन कहता है ?' महात्मा बोले—'यही सेठ कह रहा है।' उन्होंने कहा—'महाराज! आपकी चरण-रजमें तो विश्वको जिलानेकी शक्ति है, एक बालककी तो बात ही क्या।' यह कहकर उसने श्रद्धासे प्रणाम करके चरण-रज ली और बालकके भालपर डालते हुए कहा—'हे गुरु-चरण-रज ! तुझमें अनन्त शक्ति है, तू इस बालकको प्राण-दान कर।' यों कहते ही बालक जी उठा। सबने यह देख उसकी भक्तिकी प्रशंसा की और 'धन्य-धन्य' कहकर श्रद्धासे उसके सम्मुख अवनत हुए।

नामप्रेमी भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९)

छप्पय

कृष्न कलित कल करीं ललित लीला भयहारी।
अति अनुपम सब सरस सदय सुंदर सुखकारी॥
तिन जे गावैं, सुनैं, मुदित मन में अति होवैं।
लै लै सुखप्रद नाम हँसैं गावैं नित रोवैं॥
ते छिन छिन अनुभव करहिं, जाहिं हाय छन नाम बिनु।
बिलखैं बिलपैं सिर धुनैं, गिरैं परैं छत होहिं तनु॥

'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादकने मुझे आदेश दिया है कि 'नामप्रेमी भक्तोंके भाव' पर एक लेख लिखकर भेजो। उन्होंने यह भी लिखा है कि आप इस विषयपर साधिकार सुन्दर लेख लिख सकते हैं। लिख सकते हैं, यह बात तो उनकी सर्वथा सत्य है; क्योंकि लिखनेका मुझे व्यसन है। सुन्दर लिख सकते हैं, यह संदेहास्पद बात है; क्योंकि सुन्दरताका कोई नाप-तौल नहीं। एक लेख मुझे सुन्दर लगता है, दूसरेको वही असुन्दर प्रतीत होता है। किंतु साधिकार लिख सकता हूँ, यह सत्य नहीं।

नाम-प्रेमी भक्तोंके भावोंपर साधिकार वही लिख सकता है, जिसका नाममें पूर्ण अनुराग हो, जो नामामृत-सागरमें निमग्न न भी हो, किंतु जिसे उसका रस मिल गया हो—एक बार ही सही, उसके मधुरातिमधुर रसका जिसने आस्वादन किया हो। जीवनमें मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। कभी जीवनमें एक बार—प्रतिबिम्ब भी कहना उचित नहीं, झलक-सी दिखायी दी थी। शीशेमें मुगल बादशाहने एक बार चित्तौड़की महारानी पद्मावतीका प्रतिबिम्बमात्र देखा था। वह कामी नरपति उस ललना-ललामके प्रतिबिम्बको ही देखकर इतना पागल हो गया कि उसे पानेके लिये उसने अपनी समस्त सेना, राजकोष तथा सर्वस्व उसके लिये निछावर कर दिया। जब संसारी अनित्य नाशवान् तुच्छ वस्तुके प्रतिबिम्बमें इतना आकर्षण है, तब कहीं मुझे चैतन्य अविनाशी नाम-नरेशका प्रतिबिम्ब दीख जाता तो ऐसे व्यापारमें थोड़े ही प्रवृत्त बना रहता। इस प्रकार सफेद कागजोंको काला थोड़े ही करता रहता। आज मेरी दशा उस चित्रकारकी-सी है, जो भगवान्के चित्र तो एक-से-एक सुन्दर बनाता है, किंतु स्वयं उसके हृदयमें अनुराग नहीं। अथवा उस स्टेशनमास्टरकी-सी है, जो निरन्तर टिकट तो बंबई, कलकत्तेके बाँटता रहता है; किंतु स्वयं जिसने बंबई, कलकत्तेको देखा नहीं। अथवा उस वैद्यकी-सी है, जो साधिकार नीरोगताकी ओषधियाँ तो बेचता रहता है, किंतु स्वयं सदा रोगी बना रहता है।

नामका रस जिसने एक बार भी चख लिया, वह भला फिर उसे कभी छोड़ सकता है? एक दृष्टान्त देता हूँ; उसका पूर्ण स्वारस्य हृदयंगम वे ही कर सकेंगे, जिन्हें कभी संग्रहणीका रोग हुआ हो। संग्रहणी रोगमें जिह्वा अपने अधिकारमें नहीं रहती। यह भी रोगका ही एक लक्षण है। जिस रोगीने एक बार जलेबीका स्वाद ले लिया, उसकी जिह्वाने उसके स्वादको आत्मसात् कर लिया। अब वैद्यने मना कर दिया—'देखो, जलेबी मत खाना।' उसने भी निश्चय कर लिया—'इस संग्रहणी रोगने मेरा सारा सुख नष्ट कर दिया, अब संयमसे

* नौ योगीश्वरोंमेंसे कवि नामक योगीश्वर भक्तके भावोंका वर्णन करते हुए कह रहे हैं—'चक्रपाणि भगवान् वासुदेवके जो कल्याणकारी जन्म और कर्म लोकमें प्रसिद्ध हैं और उन लीलाओंके अनुसार रखे गये उनके गिरिधारी, वंशीविहारी आदि नाम प्रसिद्ध हैं, उन्हें सुनता हुआ तथा निस्संकोच गाता हुआ नामप्रेमी भक्त संसारमें असङ्ग होकर स्वच्छन्द विचरण करे।'

रहूँगा, जलेबी नहीं खाऊँगा ।' किंतु जब किसी कामसे दुकानकी ओरसे निकले, उस समय विशुद्ध घीकी सुन्दर लाल-लाल कुरकुरी जलेबियोंको देखा। नाकमें उनकी गन्ध गयी तो पैर चिपक जाते हैं, आगे बढते ही नहीं। मन मानता नहीं, जिह्वामें बार-बार पानी भर आता है; मनको समझाते हैं—'अच्छा छटाँक-भर क्या हानि करेगी, अधिक न खायँगे ।' कब छटाँकभरका दोना हाथमें आ गया, कुछ पता ही नहीं चला। खरी सिकी हुई गरमागरम लाल-लाल जलेबी जब दाँतोंके बीच दबकर कुर्र-से बोलती है और जिह्वा उसमें भरे गरम रससे संसिक्त हो जाती है, उस समय अन्तःकरणकी क्या दशा होती है, इसे तो अनुभवी ही अनुभव करता है। दोना रिक्त हो गया। 'आध पाव और ले लो।' वह भी समाप्त। बुद्धि बार-बार कहती है—'अपथ्य कर रहे हो;' किंतु मन कहता है—'आज भरपेट खा ही लो। होगा सो देखा जायगा। मरना तो एक दिन है ही।' ऐसा एक बार नहीं, बार-बार होता है। बार-बार पश्चात्ताप भी होता है, किंतु रहा नहीं जाता। जिह्वाको उसका स्वाद जो लग गया है।

दृष्टान्त अधूरा है। वह वस्तु हानिकारक है; किंतु स्वादके पीछे उसे खाये बिना रहा नहीं जाता। उससे रोग बढ़ता है, रुचि बिगड़ती है; किंतु इस नामामृतसे तो सब रोग नाश होते हैं, किसी भी दशामें यह हानि नहीं करता और दिनोदिन रुचि बढती ही जाती है। एक बार जिसने उस रसको चख लिया, फिर वह लोकबाह्य हो ही जाता है। फिर वह लोक-चातुरीसे सर्वथा शून्य बन जाता है। ऐसी स्थितिमें लेख कौन लिखे। नमककी पुतरी समुद्रमें थाह लेने गयी। भीतर जाते-जाते गल गयी, घुल-मिलकर एकाकार हो गयी। फिर बाहर आकर कौन बताये कि समुद्र इतना गहरा है।

नामप्रेमी भक्तोंके शास्त्रीय भावोंकी विवेचना तो मैंने 'चैतन्यचरितावली' तथा 'भागवती कथा'के विविध खण्डोंमें विस्तारसे की ही है। इस छोटे-से लेखमे उनका वर्णन हो नहीं सकता, आवश्यक भी नहीं है। यहाँ तो मैं अत्यन्त ही संक्षेपमें यह बतानेका प्रयत्न करूँगा कि भक्तोंके ऐसे भाव हो क्यों जाते हैं, वे इस प्रकार लोकबाह्य बन कैसे जाते हैं।

भगवन्नाम एक प्रकारका अत्यन्त सुस्वादु सुमधुर रस है। वह रस भीतर न भी जाय, केवल ओष्ठोंसे स्पर्श ही हो जाय तो फिर उसके प्रति इतना आकर्षण बढ़ जाता है कि प्राणी छोड़ना भी चाहे तो उसे नहीं छोड़ सकता। वृन्दावनमे मुझे एक भक्त मिले। उन्होंने अपना अनुभव इस प्रकार बताया कि 'महाराज! पहले हम सुना करते थे—

ऐसो राम नाम रस खान।
ब्रह्माने पीयो, विष्णुने पीयो, सिव ने पियो वाकूँ छान॥

—उस समय हम सोचते थे राम-नाममें ऐसा क्या स्वाद है। एक बार कुछ दिन निरन्तर भगवान्‌का नाम लेते रहे। लेते-लेते जिह्वामें इतना अपूर्व स्वाद आया कि संसारमें उसकी किसी स्वादसे तुलना ही नहीं की जा सकती। कई दिनोंतक न भूख लगी न प्यास; वह स्वाद निरन्तर बना ही रहा। एक अपूर्व मादकता-सी छायी रहती। कई दिनोंके पश्चात् प्रकृतिस्थ हुए। अब भी उस स्थितिका स्मरण करके रोमाञ्च हो आता है।'

बात यह है कि हमारा मन सदा प्राकृत वस्तुओंमें फँसा रहता है। माता-पिता, भाई-बन्धु, स्वजन-परिजन, स्त्री-बच्चे, शत्रु-मित्र, धन-धाम, वाहन, भोग-पदार्थ—ये ही सब हमारे अन्तःकरणमें बैठे रहते हैं। मन तो एक क्षणको भी विराम नहीं लेता, उसकी मशीन तो सदा चालू रहती है। घड़ी तो कभी-कभी बिगड़ भी जाती है; उसमें चाभी न दें, तो बंद भी हो जाती है। किंतु मैंने एक ऐसी भी हाथकी घड़ी देखी है, जिसमें चाभी दी ही नहीं जाती। वह हाथमें बँधी रहती है; हाथ इधर-उधर हिलता-डुलता है तो उसी हिलन-डुलनसे उसमें चाभी अपने-आप लग जाती है। फिर भी वह कभी तो रुकती ही होगी; किंतु यह मनकी मशीन तो गाढ़ निद्राकी स्थितिको छोड़कर निरन्तर चालू रहती है। ग्रामोफोनके रेकर्डमे जैसे गीत भरे हुए होंगे, मशीन चलनेपर उसमेसे वे ही गीत निकलेंगे। रेकर्ड तो हों गजलों और ठुमरी-टप्पोंके; किंतु आप चाहें कि उसमेंसे भक्तिभावपूर्ण शास्त्रीय सगीतयुक्त पद बजें तो यह असम्भव है। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरणमें तो भरे हों संसारी सम्बन्ध एवं विषय-भोगकी वस्तुएँ और हम चाहें कि हम चिन्तन करें, प्रकृतिसे परे परमात्माका भाव हमारे भक्ति-मय हों—यह असम्भव है। माला जपने बैठेंगे तो बाजार, रुपया-पैसा, सगे-सम्बन्धी, मामला-मुकदमा, प्रेस-प्रूफ—ये ही स्मरण होंगे। वैसे चाहे ये सब दृश्य कम याद आयें; किंतु माला लेकर जहाँ भजन करने बैठे कि वह मशीन जोरोंसे चालू हो जाती है। मेरे एक बड़े व्यापारी स्नेही बन्धु हैं। उनका नियम है कि वे अपने व्यवसायसे घंटे-आध-घंटेका समय निकालकर माला लेकर जप करने अवश्य बैठते हैं। वे उस दिन बता रहे थे—'महाराज! क्या बतायें, भजनके ही समय दुनियाभरकी याद आती है। जो हिसाब हम दिनमे नहीं जोड़ पाते, जपके समय उसे ठीक जोड़ लेते हैं। इसलिये दिनमें यदि भूल-चूक रही, हिसाब ठीक न बैठा, तो सोच लेते हैं, जपके समय यह

ठीक हो जायगा। और आश्चर्यकी बात है, जहाँ कोठरी बंद करके माला लेकर बैठे कि मन उसी हिसाबको लगाने लगता है और वह ठीक बैठ जाता है।'

बात यह है कि दिनमें काम-काजके समय तो मन पचास कामोंमें फँसा रहता है, इसलिये कुछ पता नहीं चलता। माला लेकर जप करने बैठते हैं, उस समय उसका स्वरूप प्रकट होता है—जितना ही उसे रोकते हैं, उतना ही भागता है; जिसमें अधिक लगाव होता है, एकाग्रताके समय उसीमें तन्मय हो जाता है। इसीलिये दिनमें जिस हिसाबकी चिन्ता रहती है, उसीको यह करने लगता है; जिस स्त्री या पुरुषसे हमारा अधिक प्रेम होता है, जपके समय वही अधिक याद आता या आती है, उसीकी स्मृति हमें अधिक विह्वल बनाती है। दिनके भूले काम याद आने लगते हैं; जिस बातको बार-बार कहते हैं, बार-बार जिसका स्मरण-चिन्तन-मनन करते हैं, उसमें मन एकाग्रताके समय फँस जाता है। जब मनमें संसारी जंजाल फँसे हों, तब भगवान् कैसे याद आयें? इसीलिये महात्मा कबीरदासजीने गाया है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

अब नाम-स्मरण-साधनपर विचार कीजिये। नाम-स्मरण-साधन पठित-अपठित, स्त्री, बालक, वृद्ध—सबके लिये समान है। इसमें विद्या, बुद्धि, पात्रता, जाति, वर्ण, कुल, आश्रम तथा अन्य किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं; कहना चाहिये यह सर्व-साधारणके लिये समानरूपसे सरल-सुगम साधन है। एक ही पात्रता चाहिये। मनसे-बेमनसे, इच्छासे-अनिच्छासे, श्रद्धासे-अश्रद्धासे, भावसे-कुभावसे, सोते-जागते, उठते-बैठते, जिह्वासे नामका उच्चारण होता रहे। बस, इतना ही पर्याप्त है।

आप कहेंगे—'अश्रद्धासे, बेमनसे, अनिच्छासे नाम लेनेसे लाभ क्या? चीनी-चीनी कहते रहनेसे मुख मीठा थोड़े ही होता है।' इसपर मेरा कहना यह है कि चीनी तो जड है, भगवान् तो चैतन्य हैं। नाममें और नामीमें कोई भेद नहीं। देवदत्त और देवदत्तके नाममें क्या आप एकसे दूसरेको पृथक् कर सकते हैं। आप अनिच्छासे भी देवदत्त पुकार दें, तो पासमे बैठा देवदत्त मुड़कर आपकी ओर देखेगा ही, चाहे आपने उसे न भी बुलाया हो। फिर भगवान् तो घट-घटव्यापी हैं, उनके नामकी आप जड चीनीसे तुलना क्यों करते हैं? जडका भी नाम पुकारनेसे आकर्षण होता है। आप नीबू-नीबू कहिये, देखिये, आपकी जिह्वामें पानी आता है या नहीं। जडका नाम अनिच्छासे लेनेपर भी आकर्षण होता है, फिर भगवन्नाम तो चैतन्यघन है।

अब रही अनिच्छा और अश्रद्धाकी बात। सो, भैया, पहले-पहल तो सभी काम अनिच्छासे ही होते हैं। लड़का पढ़ने पहले अपनी इच्छासे थोड़े ही जाता है। वहाँ जाते-जाते पढ़ने लगता है। पहले-पहले माँ बच्चेको अन्न खिलाने लगती है, तो बच्चा इच्छासे नहीं खाता; माता बलपूर्वक उसके मुँहमें ठूँस देती है। वह मुँह बनाता है, उगल देता है; किंतु माँ देना बंद नहीं करती, देती ही जाती है। थोड़ा अपने स्तनोंका दूध—जो उसे बहुत ही प्रिय है—पिलाती है बीचमें एक-दो ग्रास दाल-भात देती है। अब वह निगलने लगता है। कुछ कालमें उसकी रुचि होने लगती है। रुचि होनेसे आसक्ति बढती जाती है; अब माता नहीं देती तो 'अम्मा! हप्पा' कहकर माँगता भी है। आसक्ति होनेसे बलवती इच्छा होती है; माँ नहीं खिलाती तो स्वयं ही खाने लगता है, फिर तन्मयता हो जाती है। माताका दुग्ध, जो पहले उसे अमृतके समान लगता था, जिसके छोड़नेकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था, अब उसे विषवत् लगता है। कोई पिला दे तो वमन हो जाय। जिस अन्नके दिये जानेपर पहले वह मुँह बनाता था, अनिच्छासे कण्ठके नीचे उतारता था, अब उसके बिना वह रह नहीं सकता। स्वयं थाली लेकर चौकेमें बैठ जाता है। तनिक भी भोजनमें देरी हुई तो घरको सिरपर उठा लेता है—सबपर क्रोध करने लगता है।

यही दशा नाम-स्मरणकी है। पहले अनिच्छासे नाम लिया जाता है, लेते-लेते उसमें रुचि होती है; फिर आसक्ति, तब श्रद्धा, तदनन्तर तन्मयता। 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।' पहले जो संसारी विषय अमृतके समान लगते थे, सोते-जागते, जपमें, पूजामें भी जिनका चिन्तन होता था, अब वे विषवत् प्रतीत होने लगते हैं। पहले मन लोकमें रहता था, अब लोकसे बाहर हो गया। अर्थात् मनमें संसारी विषयोंकी शृङ्खला बाँधनेकी शक्ति ही नहीं, जैसी पागलोंकी—विक्षिप्तों-की दशा होती है।

मेरे यहाँ पागल बहुत आते हैं। मुझे कुछ पागलोंसे प्रेम भी है। मुझे कोई पागल मिल जाय तो मैं बड़ी देर-तक उससे बेसिर-पैरकी बातें करता रहूँगा। लोग कहते भी हैं, 'महाराज तो पागलोंको देखते ही स्वयं पागल हो जाते हैं।' मैंने पागलोंकी स्थितिका अध्ययन किया है। उनमें अनेक प्रकारके होते हैं। वे बातोंकी शृङ्खला नहीं बाँध सकते।

एक बात कह दी, उसे भूल गये; अब थोड़ी देरमें उनसे पूछो तो वे बता नहीं सकते। जो बात उनके मनमें बैठी होगी, जिसे लेकर वे पागल हुए होंगे, उस बातको बार-बार कहेंगे। यही दशा नाम-स्मरणवालोंकी अन्तमें हो जाती है; क्योंकि नाम लेते-लेते उनके अन्तःकरणपर उसकी उसी प्रकार रेखा-सी खिंचती जाती है, जैसे रेकर्ड भरते समय तवेपर गानेकी रेखाकृति उभरती रहती है। मनमें जाने कितने जन्मोंका कचरा भरा है। पहले तो नामका प्रभाव उस कचरेको दूर करता है।

जैसे समझिये—दो घर हैं। एक घर तो टूटा-फूटा ऐसा पड़ा है कि उसमें वर्षोंसे कोई नहीं रहा, कभी झाड़ू नहीं लगी; दूसरा ऐसा है जो लिपा-पुता एवं स्वच्छ है। एक आदमी उसमें रहने जाता है, जो लिपा-पुता एवं स्वच्छ है। उसमें तो जाते ही वह अपना सामान जमा लेता और आनन्दसे रहने लगता है। दूसरेमें, जो वर्षोंसे उपेक्षित पड़ा है, उसमें रहने जाओगे तो महीनों तो उसे रहनेयोग्य बनानेमें लग जायँगे। पहले राज लगाकर टूटे-फूटेको जोड़ना होगा, फिर लिपाई-पुताई करके उसे स्वच्छ करना होगा; इस प्रकार बहुत दिनोंमें वह रहनेयोग्य बनेगा। रहने लग जानेपर तो अधिकाधिक नित्य-नित्य उसकी स्वच्छता होती जायगी। इसी प्रकार जिनका अन्तःकरण स्वच्छ है, उनपर तो नामस्मरणका प्रभाव तत्काल पड़ता है; किंतु जो मलिन हृदयके लोग हैं, नाम पहले उनके मलको धोता है, तब अपना आसन जमाता है; नाम-स्मरण कभी व्यर्थ तो जाता ही नहीं, आप चाहे जैसे लें, चाहे जैसे सेवन करें। इसका जहाँ रस मिल गया, चसका लग गया, फिर यह छोड़नेसे भी नहीं छूटता। ठीक उसी प्रकार, जैसे भँगेड़ी-गँजेड़ीका व्यसन नहीं छूटता। आप सुनकर आश्चर्य करेंगे, एक महात्मा मैंने ऐसे देखे, जो छः मासे संखिया नित्य खाते थे। कोई भी छः मासे संखिया खा ले तो तुरंत मर जाय, किंतु वे डेढ़ सौ वर्षके थे। मैंने अपनी आँखों उन्हें देखा है। केदारनाथके पास जहाँ ऊखीमठ है, वहीं मन्दाकिनी-के उस पार शोणितपुर गाँव है, जिसे बाणासुरकी राजधानी बताते हैं। उसीके समीप वे रहते थे। मैं वहाँ गया। मैंने कहा—'महाराज! मेरे योग्य सेवा बताइये।' वे बोले—'हमें आधा सेर मिठा (संखिया) भेज देना। उधर संखिया-के बहुत पेड़ होते हैं।' मैंने कहा—'महाराज! मेरे वशकी यह बात नहीं, कोई दूसरी सेवा बताइये।'

उनसे मैंने पूछा—'आप कैसे इतना संखिया पचा लेते हैं?' उन्होंने कहा—'भाई! इसमें कोई विशेष बात नहीं। अभ्यासके ऊपर निर्भर है, नित्यके अभ्याससे सब सम्भव है। पहले हम लोहेकी एक सलाईको संखियेमें डालकर उसकी पत्थरपर लकीर खींचते और उसे चाटते, फिर दो लकीर चाटने लगे। फिर थोड़ा-थोड़ा खाने लगे। अब हमपर छः मासेका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। हमारी प्रकृतिने उसे आत्मसात् कर लिया है।

जब नाम साधकको आत्मसात् कर ले, जब नामके बिना एक क्षण भी उससे रहा न जाय, तभी समझना चाहिये कि नामनरेशने उसके अन्तःकरणमें अपना प्रभाव जमा लिया, वे हृदयदेशमें आकर जमकर बैठ गये। उस समय दो प्रकारकी स्थिति होती है—या तो उसका शरीर छूट जायगा या वह लोकबाह्य बन जायगा। शरीर छूटनेका कारण तो यह होता है कि वह एक लव भी नाम-स्मरणके बिना रह नहीं सकता। अन्न-जलको भीतर ले जानेके लिये मुँह चलाना पड़ता है, इतनी देर उसे नाम-स्मरणसे वञ्चित रहना पड़ता है, इससे वह खाता नहीं। अच्छा, यदि वह न भी खाय तो दूध आदि ही पी ले; किंतु दूधको भी तो निगलना होता है, इतने समयतक वह नाम-स्मरणसे विमुख कैसे रहे। इससे प्रारब्धवश जबतक शरीर चलनेको होता है, चलता रहता है; अन्ततोगत्वा अन्न-जलके अभावमें गिर जाता है। श्रीमद्भागवतने ऐसे भक्तको 'वैष्णवाग्र्य' कहा है। उनका लक्षण बताते हुए भागवतकार कहते हैं—कोई उनसे आकर कहे कि 'हम आपको त्रिभुवनका राज्य देते हैं अर्थात् इन्द्र बनाये देते हैं, आप एक काम कीजिये—आधे क्षणके लिये, आधे पलके लिये भी भगवत्-चिन्तन—नाम-स्मरणसे चित्तको हटाकर यह केसर-इलायचीसे युक्त मिश्रीमिश्रित दूध पी लीजिये, इसका स्वाद चख लीजिये,' तथापि जो आधे लवके लिये भी अपने मनको भगवान्‌की ओरसे हटा नहीं सकता, उन्हींके स्मरण-चिन्तनमें तैलधारावत् विभोर रहता है, वही वैष्णवाग्र्य है।*

ऐसे वैष्णवाग्र्यके लक्षण और भाव तो कहे ही नहीं जा सकते। इनसे भिन्न एक दूसरे प्रकारके भी नामानुरागी होते हैं। उन्हें लोकबाह्य कहना चाहिये। वे साधारणतया शरीर-सम्बन्धी सभी कार्य करते हैं। खिलानेपर खा लेते हैं, बात पूछनेपर बातका उत्तर भी दे देते हैं; किंतु उनकी वृत्ति संसारसे—लौकिक व्यापारोंसे सदा ऊँची उठी रहती है।

---

* त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

इनका कहना-सुनना, लिखना-पढ़ना—सब कुछ भगवान्‌के सम्बन्धमें होता है, वैसे देखनेमें वे विक्षिप्त-से दिखायी देते हैं। महात्मा कबीरदासने ऐसे ही दो प्रकारके नामानुरागियोंके सम्बन्धमें कहा है—

> बिरह भुवंगम तन डसा, मंत्र न लागै कोय।
> नाम बियोगी ना जियै, जियै तो बाउर होय॥

नाम-वियोगी या तो जीवित नहीं रहता; यदि जीवित रहता भी है, तो उसकी सारी चेष्टाएँ पागल-विक्षिप्तोंकी-सी हो जाती हैं।

अपने बाल्यकालमें हम वृन्दावनके सम्बन्धमें सुना करते थे कि वहाँ सेवाकुञ्जमें नित्य रात्रिमें दिव्य रास होता है; जो रात्रिमें वहाँ रह जाता है, उसे भगवान्‌की रासलीलाके दर्शन हो जाते हैं; तदनन्तर या तो वह मर जाता है या पागल अथवा गूँगा हो जाता है। यह निरी जनश्रुति नहीं थी। बहुत-से आदमी वास्तवमें मर गये, कुछ पागल भी हो गये। तब इसका रहस्य समझमें नहीं आता था। अब भी इसे पूरा समझ गये हों ऐसी बात तो नहीं है; किंतु कुछ पढ़ने-लिखनेसे, साधु-महात्माओंके सत्सङ्गसे अब कुछ-कुछ समझमें आने लगा है कि यह बात सोलहों आने सत्य है।

सबने ही अपने जीवनमें अनुभव किया होगा कि जो कोई अपना अत्यन्त स्नेही होता है, जिसके प्रति अपना अत्यन्त अनुराग होता है, उसका यदि वियोग हो जाय तो मन कैसा खोया-खोया-सा रहता है, सब शून्य-सा दिखायी देने लगता है, निरन्तर उसीकी स्मृति हृदय-पटलपर खेलती रहती है। अन्न-पानीमें रुचि नहीं रह जाती। जी चाहता है, दौड़कर उसके पास पहुँच जायँ; उस समय हम सोचते हैं कि यदि हमारे पंख लग जाते तो हम उड़कर उसे पकड़ लेते। जिनका हृदय बहुत कठोर हो, उनकी बात तो मैं कहता नहीं; किंतु न्यूनाधिकरूपसे अपने स्नेहीके वियोगमें सभीकी ऐसी दशा होती है। हृदय गीला-गीला-सा हो जाता है, उसमें इस प्रकार ऐंठन होने लगती है, जैसे कोई गीले कपड़ेको निचोड़ रहा हो।

जिसे एक बार भगवान्‌की रूप-माधुरीके दर्शन हो गये, अथवा जिसे एक बार भगवन्नाम-स्मरणका स्वाद मिल गया, फिर किसी कारणवश दर्शन या नामस्मरण छूट गया तो उसके मनमें जो टीस होती है, उसीको भाव कहते हैं। उस भावावेशमें भक्त नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगता है। उच्च स्थिति हो जानेसे उसे बाह्य प्रकृतिका तो ध्यान रहता नहीं। दर्शन या नाममें अत्यधिक अनुराग हो [illegible] लोभ बढ़ता जाता है। लाभसे लोभ बढ़ता ही है। [illegible] पति लोग होते हैं, करोड़ रुपये व्यय थोड़े ही करते हैं, न उन्हें खाने-पहननेमें ही हमारी अपेक्षा अधिक सुख मिलता है। उन्हें सुख इसी भावनासे मिलता है कि हमारा धन और बढ़े, और बढ़े, बैंकमें हमारा द्रव्य और अधिक हो। बैंकमें करोड़ों रुपये पहलेसे ही जमा रहते ही हैं; किंतु धनका प्रेमी चाहता है कि सारा रुपया मेरे नामसे ही जमा हो, मेरा ही हिसाब सबसे बढ़े। धन चाहे कितना ही बढ़ता जाय, उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती, दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

यही दशा नामप्रेमीकी है; वह चाहता है मुझसे नाम-स्मरण छूटे ही नहीं—निरन्तर नाम-स्मरण होता रहे। वह भविष्यकी बात नहीं सोचता। भूतकालकी भी सारी बातें भूल जाता है, याद तो तब आये, जब उसमें आसक्ति हो। आप नित्य ही स्वप्न देखते हैं, किंतु बता नहीं सकते चार दिन पहले आपने क्या स्वप्न देखा था; क्योंकि सामान्यतया नित्य देखे हुए स्वप्नोंको हम उसी दिन भूल जाते हैं। हाँ, कोई विलक्षण स्वप्न हुआ तो उसकी स्मृति सदा बनी रहती है। इसी प्रकार नामानुरागीको जो एक बार भगवत्-दर्शन हुआ हो या नाम-स्मरणमें रस आया हो, उसकी स्मृति तो उसे निरन्तर बनी रहेगी; किंतु अन्य सभी बातोंको वह दूसरे-तीसरे दिन नहीं, क्षण-क्षणपर भूलता जाता है। उसने भोजन कर लिया है या नहीं, इसकी भी उसे स्मृति नहीं रहती। उसका यह आग्रह दृढ़तर होता जाता है कि नाम-स्मरणके बिना हमारा एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। यद्यपि वह निरन्तर नाम-स्मरण करता रहता है, फिर भी निरन्तर उसे यह भ्रम होने लगता है कि हाय ! मेरा यह क्षण व्यर्थ बीत गया, यह मेरा पल बिना स्मरणके चला गया इसके लिये वह रोता है, चिल्लाता है, बिलबिलाता है और जोर-जोरसे कहता है—'इन अधन्य क्षणोंको हे प्रभो! तुम्हारे देखे बिना मैं कैसे बिताऊँ ? हे अनाथबन्धो ! करुणैकसिन्धो ! मैं इस इतने भारी समयको कैसे काटूँ ?'*

उस समयकी उसकी चेष्टाएँ विलक्षण होती हैं। कभी स्वेद, पुलक, अश्रु, गद्गद स्वर आदि अष्ट सात्त्विक [illegible]

* अमूल्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो ! करुणैकसिन्धो ! हा हन्त हा हन्त कथं नयामि

उसके शरीरमे प्रकट होते हैं; कभी वह रोता है, कभी नाचता है, कभी गाता है, कभी पूरी शक्ति लगाकर भगवन्नामोंका उच्चारण करने लगता है, कभी सोत्साह हुंकार करने लगता है, कभी-कभी भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगता है। जबतक उसकी दृष्टि बाह्य रहती है, तबतक वह लोक-विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता, सबके साथ शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार करता है, सचेष्ट रहता है कि कोई ऐसा कार्य उसके द्वारा न हो जाय, जिसके कारण लोग उसे असभ्य, दुश्शील, अशिष्ट अथवा पागल कहने लगें। किंतु जब उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, मन भगवान्‌के नाममें या रूपमें फँस जाता है, तब फिर लोक-लाजकी उसे परवा नहीं होती। लोग कुछ कहते रहें, कुछ सोचते रहें, उस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता; वह अपनी ही धुनमें मस्त रहता है।

स्तम्भ, कम्प, स्वेद, अश्रु, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य, पुलक और प्रलय—ये अष्ट सात्त्विक भाव तो केवल अपने प्रिय विषय नामके स्मरणमात्रसे ही होते हैं। स्मरण करते-करते विरह होता है। प्रेमरूप दूधका विरह मक्खन है, प्रेमका परिपाक विरह ही है। विरहकी चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये दस दशाएँ हैं। इन दशाओंमें पड़नेपर ही भक्तके द्वारा नाना लोकबाह्य चेष्टाएँ होती हैं।

वह रोनेका, गानेका, नाचनेका अथवा चिल्लानेका प्रयत्न नहीं करता; आप-से-आप ये चेष्टाएँ उससे होने लगती हैं। नाम-स्मरण उसका अबाधितरूपमें सोते-जागते चलता ही रहता है; उस नामकी रेखाकृति शरीरमें पहले तो अप्रत्यक्ष और पीछे प्रत्यक्ष बनने लगती है। श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें कथा है कि जब उन्हें माता जानकीकी ओरसे बहुमूल्य मणियोंका हार पारितोषिकरूपमें दिया गया, तब वे मणियोंको दाँतोंसे फोड़कर देखने लगे। किसीने पूछा—क्या देखते हो? सरलतासे वे बोले—'देख रहा हूँ इनमें राम-नाम लिखा है या नहीं।' उसने हँसकर कहा—'तुम इतने भारी शरीरको लिये फिरते हो, इसमें राम-नाम कहाँ है?' हनुमान्‌जीने कहा—'यदि मेरे इस शरीरमें राम-नाम न होता तो मैं इसे एक क्षण भी न रखता।' यह कहकर उन्होंने अपने नखोंसे हृदय चीरकर दिखा दिया। सभीने देखा हनुमान्‌जीके शरीरमें सर्वत्र दिव्य तेजसे राम-नाम लिखा है।

हनुमान्‌जीकी बात तो बहुत पुरानी है, अभी-अभी तेरह-चौदह वर्ष पूर्व ही काशीमें एक सिद्धिमाता नामकी भक्त-महिला हो गयी हैं, जिनके सम्पूर्ण शरीरपर दिव्यतेजयुक्त ॐ प्रत्यक्ष दिखायी देता और फिर विलीन हो जाता था। जो लोग निरन्तर नाम जपते रहते हैं, उनका सोते समय भी नाम-जप निरन्तर चलता ही रहता है; क्योंकि मन तो सोता नहीं, प्राण सोते नहीं, इन्द्रियाँ भी पूरी सोतीं नहीं। यदि इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे सो जायँ तब तो आदमी कभी सुने ही नहीं, कभी जगे ही नहीं। सोते समय भी हम सुनते हैं, किंतु ऊँचा सुनते हैं। यदि सर्वथा न सुनें तो आदमी बोलनेसे जगे ही नहीं। हमें कोई जोरसे पुकारता है, हम झट उठकर खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार सोते समय जब हम स्वप्न देखते हैं, तब स्वप्न-जगत्‌के सुख-दुःखका अनुभव हमारा मन करता है, कभी-कभी इन्द्रियाँ भी करती हैं; स्वप्न-दोष होनेपर प्रत्यक्ष वीर्यपात हो जाता है, स्वप्नमें दुर्घटना होनेसे प्रत्यक्ष आँखोंसे अश्रु बहने लगते हैं। इसी प्रकार जिसे निरन्तर जपका अभ्यास हो गया है, उसका स्वप्नावस्थामें भी जप अपने-आप चलता रहता है।

रोना, हँसना, गाना, चिल्लाना, हुंकार देना—सब बातें सबमें नहीं होतीं। जो गम्भीर हैं, वे अपने भावोंका संवरण कर लेते हैं। संवरण करनेमें भी यत्किंचित् अभिमान तो रहता ही है। वह कारक पुरुषोंके लिये लोक-संग्रहके निमित्त आवश्यक होता है।

एक बार श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे कुलीन ग्रामके एक भक्तने वैष्णवके लक्षण पूछे। श्रीचैतन्यने कहा—'जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नाम निकल जाय, वही वैष्णव है।' द्वितीय वर्ष उन्होंने ही पुनः वैष्णवके लक्षण पूछे, तब महाप्रभुने कहा—'जो अहर्निश निरन्तर भगवन्नाम लेता रहे, वही वैष्णव है।' तीसरे वर्ष पूछनेपर उन्होंने कहा—'जिसे देखते ही लोगोंके मुखोंसे स्वतः ही भगवन्नामोंका उच्चारण होने लगे, वही वैष्णव है।' वास्तवमें नाम-प्रेमी वही है, जिसके संसर्गमे आनेवाले सभी नाम-प्रेमी बन जायँ। ऐसे नाम-निष्ठ संतोंके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं। उनके चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। ऐसे संतोंके सम्बन्धमें महात्मा कबीरदास लिखते हैं—

जो जन बिरही नामका, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदडी, अंग न जामै मासु॥
नाम वियोगी विकल तन, ताहि न चीन्है कोय।
तंबोलीका पान ज्यों, दिन-दिन पीला होय॥

नाम-वियोगीकी तो बहुत उच्च दशा है, नाम-प्रेमी भी आज-कल नहीं मिलते—समयकी बलिहारी है। इतने सरल, सुगम

वेणुधर

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्ति गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ४२)

नटवर-नागर

वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २१ । ५)

गोपियोंके ध्येय श्याम-बलराम

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । २१ । ८)

सखाका सहारा लिये हुए श्यामसुन्दर

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । २२)

साधनमें लोगोंकी अभिरुचि नहीं होती । उन नामी श्रीहरिके पादपद्मोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि उनके कलि-कल्मष-हारी, सर्वसुखकारी, त्रितापहारी नामोंमें हमारा अनुराग हो । लेख लिखना दूसरी बात है, नाममें प्रेम होना दूसरी बात है । वास्तविक बात तो यह है कि जिसका नाममें अनुराग हो गया हो, वह लेख लिखने-छपाने-जैसा ससारी कार्य कर ही नहीं सकता । उसे इतना अवसर ही कहाँ, यह तो हम-जैसे व्यवहारी-व्यवसायी व्यक्तियोंका काम है । कबीरदासजीने मानो हम-जैसोंको ही लक्ष्य करके यह लिखा हो—

कागद लिखै सो कागदी, कै ब्योहारी जीव ।
आतम अच्छर का लिखै जित देखूँ तित पीव ॥

अहा ! इधर-उधर—जहाँ दृष्टि जाय वहीं 'पीव' दिखायी देने लगे, उसीकी माधुरी मूर्ति संसारमें सर्वत्र दृष्टिगोचर हो, मन नाम-संकीर्तनमें निरत रहे, तन विह्वल होकर तालपर थिरकता रहे, लोक-लाज, ससारी व्यवहारकी तनिक भी परवा न हो—ऐसी लोकवाह्य वृत्ति हमारी कब होगी ? हे नन्दनन्दन ! ऐसा वरदान दे क्यों नहीं देते ?

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥

मुखसे अहर्निश निरन्तर ये ही नाम स्वतः निकलते रहें, यही गान सोते-जागते होता रहे—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !

छप्पय

कबहूँ नाचै ठुमुकि कबहुँ हँसि ध्यान लगावैं ।
कृष्ण ! मुरारी ! श्याम ! नाथ ! नामनि नित गावैं ॥
कबहूँ करि हुकार प्रानप्रिय पकरन धावैं ।
करि लीला अनुकरन भाव अद्भुत दरसावैं ॥
इत तित चितचोरहि लखहि, करहि दडवत सबनि कूँ ।
नामप्रेम भावुक भगत करत कृतारथ धरनि कूँ ॥

अभक्त कोई नहीं

(लेखक—स्वामीजी श्री १०८ श्रीमखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पहली बात—सभी जीव सहज स्वभावसे बिना किसी विकार-सस्कारके सुख चाहते हैं—वह भी ऐसा, जो हमेशा रहे, हर जगह मिले और वही-वही हो । अर्थात् सुखमें देश, काल और वस्तुका परिच्छेद किसीको सहन नहीं है । उसकी उपलब्धि किसी दूसरेके अधीन न हो—न व्यक्तिके न साधनके । उसका स्फुरण भी होता रहे; क्योंकि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती । यही सम्पूर्ण जीवोंका इष्ट है । चाहे कोई आस्तिक हो, नास्तिक हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, कीट-पतग हो, देवता हो—उसकी इच्छाका विषय यही सुख है । इसी सुखको कोई सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं; कोई ईश्वर, राम, कृष्ण । नाम कोई भी क्यों न हो, उससे लक्ष्यमें भेद नहीं होता । इस दृष्टिसे देखें तो संसारके सभी प्राणी ईश्वरकी प्राप्तिके इच्छुक हैं, इसलिये किसीको नवीनरूपसे इष्टका निश्चय करनेकी आवश्यकता नहीं है । इष्ट तो स्वतः सिद्ध ही है । अतः सब भक्त-ही-भक्त हैं ।

दूसरी बात—कोई भी परमाणु, वह आज भले ही जडरूपसे भास रहा हो, अपनी सूक्ष्मदशामें चिदणु ही है और कभी-न-कभी उसको अपने चित्स्वरूपका अनुभव करना है । इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् जीवमय ही है । क्या चर, क्या अचर, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी—सब अपने प्रतीयमान परिच्छिन्नरूपमें जीव ही हैं । बिना उपाधिके व्यवहार सम्भव नहीं है । उपाधियाँ सब-की-सब व्यक्त हैं और वे एक अव्यक्त सत्तामें अव्यक्त ज्ञानके द्वारा प्रकाशित और सचालित हो रही हैं । कहनेका अभिप्राय यह है कि सब-के-सब उपाधिसे तादात्म्यापन्न जीव एक ही ईश्वरकी गोदमें स्थित हैं । उसीके ज्ञानसे आभासित हैं और उसीसे नियन्त्रित भी । उसीमें सबका सोना और जागना होता है । चलना एवं बैठना भी । उसीकी आँखसे सब देखते हैं, उसीके कानसे सुनते हैं और उसीकी बुद्धिसे विचार करते हैं । उसके बिना वे जी नहीं सकते । उसके बिना जान नहीं सकते । उस परम प्रेमास्पद रसके बिना रह नहीं सकते । इसमें भी आस्तिक-नास्तिक, ज्ञानी-अज्ञानीका कोई भेद नहीं है । स्थितिकी दृष्टिसे सब ईश्वरमें, ईश्वरसे, ईश्वरके लिये और ईश्वररूप ही हैं । जिसके द्वारा भक्त प्रेरित, पालित, चालित एव निरुद्ध होते हैं, उसीके द्वारा अभक्त भी । जो स्मृति देता है, वही विस्मृति भी । जो सुख देता है, वही दुःख भी ।

क्या किसी व्यक्तिकी स्थिति-गति इस वस्तुस्थितिका अतिक्रमण कर सकती है?

पचीस वर्ष पूर्वकी बात है—मैं गङ्गातटवर्ती एक प्रसिद्ध सिद्ध महापुरुषके पास गया। उनसे प्रार्थना की—'गुरुदेव, आप मुझे भगवान्‌का शरणागत बना दीजिये।' महात्माजीने कहा—'शांतनु, तुम कल आना और पूर्णरूपसे विचार कर आना। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और सूर्य-चन्द्रमा क्या भगवान्‌की शरणमें नहीं हैं? ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्या उसीके जिलाये नहीं जी रहे हैं? क्या ऐसी कोई कणिका है, जो उसीसे सत्ता-स्फूर्ति नहीं प्राप्त कर रही है? तुम कल आकर बताना कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है; मैं उसीको शरणागत कर दूँगा।' ईश्वर और जीवकी चाल अलग-अलग नहीं हो सकती। ईश्वरका स्वरूप और जीवका स्वरूप, उसकी शक्ति और प्रकृति, महत्तत्त्व और बुद्धि—ये क्या भिन्न-भिन्न होने सम्भव हैं? जिसके पञ्चभूत हैं, उसीके शरीर हैं। यह शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार—हम जो कुछ अपनेको मानते-जानते हैं, वह सब, तथा जीव जो कुछ पहले था, अब है और आगे होगा, ईश्वरका है और उसीकी शरणमें है। क्या कोई भी अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दसे पृथक् अपनेको स्थापित कर सकता है? अशरणपना एक भ्रमजन्य भाव है। स्थितिकी दृष्टिसे भी समाधि और व्यवहार, सुषुप्ति और जाग्रत्, ज्ञान और अज्ञान—सब-के-सब एक ही कक्षामें निक्षिप्त हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई अभक्त नहीं है।

तीसरी बात—वर्तमानमें ही हमारा इष्ट उपस्थित है और उसीमें हमारी स्थिति है। गम्भीरतासे विचार करके देखें तो हम जिस इष्टको चाहते हैं और जिस स्थितिमें पहुँचना चाहते हैं, उस इष्ट और स्थिति दोनोंको ही हम अप्राप्त मानकर चाहते हैं; परंतु अनजानमें ही अपनी गहरी अन्तश्चेतनामें उन्हें अविनाशी, पूर्ण और सर्वात्मक भी मानते हैं। यह एक विचित्र बात है। किसी भी वस्तुको सदाके लिये चाहना और उसे वर्तमान कालमें न मानना, सर्वत्र मिले—यह चाहना और विद्यमान देशमें न मानना, सर्वरूपमें पानेकी इच्छा करना और प्रतीयमान विषयमें न मानना एक बौद्धिक असंगति है। वर्तमानसे पृथक् कर देनेपर तो हमारा इष्ट ही देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न न रहेगा। न वह पूर्ण होगा और न तो सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण ही। फिर तो उसे एक अतीतकी वस्तु समझकर रोयें या भविष्यकी कोई मनःकल्पित वस्तु मानकर बार-बार उसके बारेमें मानसिक कल्पना करते रहे। केवल अतीतकी स्मृति और भविष्यकी कल्पना करना वस्तुस्थितिसे आँख मूँदना है। हमारा प्यारा-प्यारा इष्ट अभी है, यहीं है और यही है। पहले भी यही और भविष्यमें भी यही। जन्म और मृत्युकी परम्पराने, जाति और भावके परिवर्तनोंने उसमें कोई अन्तर नहीं डाला है। वह अविनाशी है और ज्यों-का-त्यों है। साथ ही हम अभी, यहीं और उसीमें स्थित हैं। देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण करते हुए 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस सूत्रमें 'अस्मिन्' शब्दका प्रयोग करके यही अभिप्राय व्यक्त किया है। 'इस' शब्दके द्वारा सामने विद्यमान वर्तमान भगवान्‌की ओर ही संकेत है। अन्यथा बादके सूत्रमें—

यज्ज्ञात्वा स्तब्धो भवति मत्तो भवति आत्मारामो भवति।

—जिसके ज्ञानसे ही जीव स्तब्ध, मत्त और आत्माराम हो जाता है—यह न कहते।

अबतककी बातोंका निष्कर्ष यह निकला कि हमारा इष्ट दूर नहीं है और उसमें स्थिति भी अप्राप्त नहीं है। भक्तिके आचार्योंने यह नहीं माना है कि भक्ति किसी नवीन भावका उन्मेष है और इष्ट कोई सर्वथा अप्राप्त वस्तु। वे अपने इष्टको 'जन्माद्यस्य यतः' आदिके द्वारा जगत्‌का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ही मानते हैं और भक्तिको भी स्वतः-सिद्ध भावका प्रादुर्भावमात्र। जीवमात्रको भगवान्‌का नित्य दास अथवा नित्य कान्ता ही वे स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थितिमें वह कौन-सी वस्तु है, जिससे रहित मानकर हम जीवको अभक्त मानें? भक्तिसिद्धान्तमें भी नित्यप्राप्तकी प्राप्ति और नित्यनिवृत्तिकी निवृत्ति ही इष्ट है। जैसे देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न प्राकृत पदार्थ अप्राप्त होते हैं, भगवान् और भक्ति वैसे अप्राप्त नहीं हैं। क्या भगवान् और भक्तिकी प्रतीयमान अप्राप्ति भगवान्, उनकी कृपा और भक्तिका ही कोई विशेष भाव और आकार नहीं है? अवश्य है; क्योंकि वही तो भगवत्प्राप्ति, प्रेम और कृपाकी प्यास अथवा लालसाकी जननी है।

चौथी बात—यह प्रत्यक्ष है कि मृत्तिका, स्वर्ण, लौह आदि धातुएँ एक होनेपर भी अनेक नाम-रूपोंसे व्यवहारका विषय बनती हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी उन नाम-रूपोंमें अपनी प्रियता और रुचिकी पृथक्‌ता भी देखनेमें आती है; परंतु केवल इसी

कारणसे धातुभेद कोई स्वीकार नहीं करता । यदि रुचि और प्रियताके भेदसे ही अपने अन्तःकरणमें सघर्षकी सृष्टि कर ली जाय तो वही धातु दुःखका कारण बन जाती है । एक ही भगवान् मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आकारोंमें प्रकट होते हैं । ऐसी स्थितिमें एक आकारसे प्रेम करके क्या उनके दूसरे आकारोंसे द्वेष किया जाय ? नहीं-नहीं, वे सभी परस्पर विलक्षण होनेपर भी अपने इष्टके ही आकार हैं । इसी प्रकार हमारे हृदयमें स्थित प्रीति भी समय-समयपर परस्पर विलक्षण आकारोंमें प्रकट होती है । बच्चेको दुलारना-चूमना और चपत लगाना क्या दोनों ही माँके वात्सल्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं ? पति-पत्नीका परस्पर मान करना भी तो प्रेम ही है। इसी प्रकार भक्तिके भी अनन्त रूप और अनन्त नाम हैं। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुसे अधिक भगवान्‌का विरोधी और कौन होगा? परतु वे दोनों भी जय-विजयके ही, जो कि भगवान्‌के नित्य पार्षद हैं, मूर्तरूप थे । कथा है कि एक बार भगवान्‌के मनमें किसीसे द्वन्द्वयुद्ध करनेकी इच्छा हुई; परंतु उनसे युद्ध कर सके, ऐसा संसारमें कोई नहीं था । जय-विजयने अपने स्वामीका सकल्प देखा और अनुभव किया कि हमारे सर्वशक्तिमान् प्रभुमें अपनी इस इच्छाको पूर्ण करनेकी सामर्थ्य नहीं है । अपने प्रभुकी इस शक्ति न्यूनतासे उन्हें दुःख हुआ । इसीलिये वे भगवान्‌का सकल्प पूर्ण करनेके लिये और उनकी प्रतीयमान अपूर्णताका कलङ्क-मार्जन करनेके लिये तथा इस रूपमें एक विशेष प्रकारकी सेवा करनेके लिये प्रेमसे ही असुरके रूपमें प्रकट हुए । भक्तिका यह उत्कृष्ट रूप अपनी प्रियता और रुचिका त्याग करके प्रभुकी प्रियता और रुचिके प्रति आत्मबलिके बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता । यह बात भी तो प्रसिद्ध है कि कैकेयीने रामकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही दशरथसे उनके वनवासका वरदान माँगा था । श्रीमद्भागवतमें ही भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय आदिको भी तन्मयता और कल्याणका हेतु बताया गया है । किस जीवके हृदयमें भगवान्‌ने अपना कौन-सा आकार प्रकट कर रखा है और स्वयप्रकाश, स्वच्छन्द-प्रकृति भक्ति-महारानी कौन-सी वेष-भूषा धारण करके किस भाव, आकार और क्रियाके रूपमें अपनी उच्छृङ्खल लीला कर रही हैं—इसको पहचाननेका कौन दावा कर सकता है ?

पाँचवीं बात—सत्ययुग आदि कालभेद, पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर आदि देशभेद, भिन्न-भिन्न आचार्योंके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायभेद भी भक्तिको छिन्न-भिन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि भक्ति सर्वकालमें, सर्वदेशमें और सर्वसम्प्रदायमें केवल मनुष्योंके ही नहीं, सम्पूर्ण जीवोंके हृदयमें उनके अभीष्ट परमानन्दकी प्रकट अभिव्यक्ति है । वह महाविश्वास, परम-प्रेममय दिव्यरसके रूपमें अव्यावृत्त अमृतस्वरूपसे प्रवाहित रहती है । कभी कहीं किन्हीं लोगोंमें श्रमके रूपमे तो कहीं बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग पूजा-उपासनाके रूपमें तो दूसरी जगह योगाभ्यास एवं गौरवमयी, सम्बन्धमयी भावधाराके रूपमे, अन्यत्र व्याकुलता, तत्त्वजिज्ञासा और तत्त्वानुभूतिके रूपमे भी वही अपना मधुर-मधुर नृत्य-सगीतमय पाद-विन्यास कर रही है । समाधि और विक्षेपका भेद होनेपर भी वह दोनोंमे ही एकरस अनुस्यूत रहती है । उसे ज्ञानी और अज्ञानीकी भी पहचान नहीं है । सृष्टि और प्रलय दोनों ही उसके विलास हैं । जो बालक अपने पिताकी गोदमें बैठकर स्वीकार करता है कि तुम मेरे पिता हो, वह तो पुत्र है ही; जो उसकी दाढ़ी मूँछ पकड़कर खींचता है, नाकमें अँगुली डालता है, अपने पिताको पिता न मानकर उसके मित्रको पिता बतलाता है या भोलेपनसे किसीको पिता स्वीकार ही नहीं करता, वह भी पुत्र ही है । इसमें देश-विदेश, जाति, कुल-परम्परा आदिके भेद क्या बिगाड़ सकते हैं ?

जैसे भिन्न-भिन्न बीज अथवा शरीर पञ्चभूतोंमे अन्न, रस, उष्णता, प्रकाश, प्राण और अवकाश लेकर जीवन धारण करते हैं, बिना समष्टिकी सत्ता और शक्तिके कोई व्यष्टि जीवित रह ही नहीं सकती, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके रूपमें व्यवहार करनेवाले जीव भी अनन्त सत्ता, शक्ति, चेतन और आनन्दसे सम्बद्ध हुए बिना—उससे जीवन, प्रेम और प्रकाश प्राप्त किये बिना रह ही नहीं सकते । यह जो उपजीव्य-उपजीवक अथवा आश्रय-आश्रित भाव है, इतना प्रत्यक्ष है कि खुली आँखसे और बिना आँखके भी देखा जा सकता है । इसलिये भगवान्‌से कोई विभक्त है अथवा वस्तुतः उनका कोई अभक्त है; यह कल्पना भूलसे ही है और यही अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी सृष्टि करके दुःख देती रहती है । अवश्य ही यह दुःख भी, यह दोष-दर्शन भी एक दिन वैराग्यका हेतु बनकर ऐसा अनुभव कराये बिना नहीं रहेगा कि मैं भी भक्तिकी ही एक अनिर्वचनीय लीला हूँ ।

छठी बात—जीवके मनमें विषयभोग, कर्म और अभिमानकी वृद्धिके लिये अनेकों इच्छाएँ होती रहती हैं । कभी-कभी उनसे बचनेकी भी इच्छा होती है; परतु ससारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अपनी सब इच्छाओंको युगपत्

या क्रमसे पूर्ण कर सके। उसमें उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक, पहले-पीछे आदिका भेद करके काट-छाँट करनी पड़ती है। विवेकपूर्वक की हुई इच्छापूर्तिमें त्याग उपस्थित रहता है, इसलिये सुख भी। अविवेकपूर्वक की हुई इच्छा-पूर्तिमें नियन्त्रणका अभाव उपस्थित रहता है, अतएव दुःख भी। जीवको कभी आत्मतुष्टि होती है और कभी आत्मग्लानि। भूल सहजरूपसे जीवके मनको अभिभूत कर देती है। वह दुखी होता है अपनी वर्तमान रहनीको देखकर। यह ठीक भी है; परंतु ईश्वर उसकी भूल नहीं, उसके इष्ट और भावको देखता है। ईश्वर जानता है कि यह सच्चे सुखकी अर्थात् मेरी प्राप्तिके लिये ही व्याकुल हो रहा है और पथभ्रष्ट हो गया है। यदि प्रेमसे अपने पास आनेवाला कोई व्यक्ति मार्ग भूल जाता है, उद्देश्य और अभिप्राय पवित्र होनेपर भी कोई ग़लत कदम उठा लेता है, तो क्या केवल इसी अपराधसे ईश्वर रुष्ट हो जायगा? जीवोंके अपराधसे यदि इस प्रकार ईश्वर रुष्ट होने लगे तो ईश्वर केवल रोषमय-ही-रोषमय रहेगा। अनन्त जीव, एक-एक जीवके अनन्त-अनन्त अपराध। प्रेममय ईश्वर अपनेको उनकी स्मृतियोंमें उलझाकर कौन-सी सुख-समाधि उपलब्ध करेगा? एक सज्जनने किसी महात्मासे पूछा—'ईश्वर मुझपर रुष्ट है या तुष्ट?' महात्माने कहा—'तुम स्वयं अपने ऊपर रुष्ट हो या तुष्ट?' वस्तुतः ईश्वर कहीं अलग बैठकर रोष-तोष नहीं करता। वह तो जीवकी आत्मानुभूतिके साथ ही एक हो रहा है। जब मयूर अपने रूप-सौन्दर्यसे आह्लादित न होकर शारिकाकी वाङ्माधुरीके लिये लालायित होता है और शारिका अपनी कोमल वाणीसे आह्लादित न होकर मयूरके रूप-सौन्दर्यके लिये अभिलाषा करती है, तब ईश्वर दोनोंके मनोभावको ही देखता और समझता है कि ये दोनों ही अपने-अपनेमें अपूर्णता अनुभव करके मेरी पूर्णता प्राप्त करने-के इच्छुक हैं और मेरे भक्त हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी दृष्टिसे भी सब जीव उसीके स्वरूप तथा उसीके प्रेमी भक्त हैं। ये किसी भी अवस्थामें उसके वात्सल्यभरे उत्सङ्ग और प्रेममयी कृपासे वञ्चित नहीं हैं। वह अपने ही प्राणोंसे इन्हे प्राण देता है और अपनी ही आँखोंकी रोशनी। अपने ही रससे तृप्त करता है और अपनी ही आत्माके रूपमे अनुभव करता है। कहीं किसीको अपने ही अङ्गोंमे पक्षपात या निर्दयताका भाव होता है? आजतक ईश्वरने किसीको अभक्त समझकर अपनी दी हुई सुख-सुविधाओंसे वञ्चित किया है?

सातवीं बात—यह देखनेमे आता है कि भक्तोंके साधन, अभ्यास, मन्त्र, नाम, रूप, भाव आदि अलग-अलग होते हैं। परतु इस भेदसे भक्तिभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। किसी एक महाराजाके अनेक सेवक हों तो यह आग्रह करना कि सब एक ही पद्धतिसे एक ही प्रकारकी सेवा करें—व्यर्थ ही नहीं अनुचित भी है; क्योंकि समय, स्थान, रुचि, वस्तु, शक्ति, व्यक्ति, अवस्था आदिके भेदसे सेवाके अनेकों रूप अपेक्षित होते हैं। भोजनकी सेवा अलग और चरणकी सेवा अलग। यदि सभी सेवक यह आग्रह करने लग जायँ कि जिस भावकी जैसी सेवा मैं करता हूँ, वैसी ही सेवा सब करें तो केवल सेवकोंको ही नहीं, सेव्यको भी उद्वेग होगा। कर्ता, करण, उपकरण, सम्बन्ध, भावना, बुद्धि और स्थिति—ये सब सबके एक-से नहीं हो सकते। वेष-भूषा, माला-चन्दन सबके एक-से हों, सब प्रभु-प्रभु या प्यारे-प्यारे ही पुकारते रहें, सब राम-राम या श्याम-श्याम अथवा शिवोऽहम्, शिवोऽहम् ही रटा करें—इन सब छोटे-मोटे आग्रहोंसे भक्ति-भाव आबद्ध नहीं है। वह तो विदूषक या उद्धत वेषकी, जटी या मुण्डीकी, स्तुति या जनकपुर-बरसानेवालोंकी अटपटी गालीकी, चरणोंमें पड़ने या श्रीदामाकी भाँति अपना वाहन बनानेकी विलक्षण क्रियाओंकी परवा किये बिना सर्वत्र अपने अखण्ड साम्राज्यपदपर ही आरूढ़ रहता है। हम किसीको अभक्त तो तब मान बैठते हैं जब हमारा चित्त पूर्वाग्रहके भारसे जर्जर, कुछ सीमित संस्कारोंसे आक्रान्त अथवा सूक्ष्मग्राहिणी बुद्धिसे परित्यक्त होता है; परंतु इस दशामें भी अपनी निष्ठामें अनन्यताका रूप ग्रहण करके भक्ति विद्यमान रहती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सिद्धान्तरूपसे भगवान्‌को सर्वात्मा स्वीकार करनेके बाद भी कोई भगवान्‌का विरोधी या अभक्त कैसे मालूम पड़ता है?

आठवीं बात—मूर्च्छा-सुषुप्ति, मृत्यु-प्रलय, निःसंकल्पता, समाधि—इनमेंसे कोई भी अवस्था भक्तिरहित नहीं होती। एक तो इनमें जाग्रत् और स्वप्नके प्रपञ्चका भान न होनेपर भी अनजानमे ही चित्तवृत्ति अपने आश्रयभूत सत्स्वरूप परमात्माका आलिङ्गन करके उसीमें स्थित रहती है, दूसरे इन स्थितियोंसे किसी भी बीजका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जैसे वटके नन्हे-से बीजमें विशाल वृक्षकी छोटी-मोटी शाखाएँ, पल्लव, पुष्प, फल आदि सभी विशेषताएँ समायी रहती हैं, उसी प्रकार इन अवस्थाओंमें भी सभी पदार्थ बीजरूपसे विद्यमान रहते हैं। न केवल इसी जन्मके संस्कार प्रत्युत अनादि कालसे अबतक सभी अतीत जन्मोंके संस्कार और आगामी

असंख्य जन्मोंके बीज-संस्कार भी उनमें ही सिमटे रहते हैं; क्योंकि वे सभी अवस्थाएँ कारणरूप ही हैं। न ऐसा कह सकते हैं कि किसी जीवके अन्तःकरणमें अनादि कालसे अनुवृत्त जन्म-मृत्यु-परम्परामें कभी भक्तिभावका आविर्भाव नहीं हुआ और न तो ऐसा ही कह सकते हैं कि आगे भी नहीं होगा। इसलिये वर्तमानमे किसीको भी भक्ति-सस्कारसे शून्य कहना या समझना कैसे उचित हो सकता है ? यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्तिके वर्तमान जीवनमें अपनी निष्ठा, मान्यता, रुचि एव ग्रन्थविशेषके अनुसार भक्तिकी वेष-भूषा और रंग-रूप प्रकट करनेके लिये वैसा कह रहे हों। अपनेमें भक्तिके अभावका अनुभव करना भक्तिकी प्यास है और दूसरोंमें भक्तिके अभावका अनुभव करना उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार भक्तिसे युक्त देखनेका संकल्प है। इस दृष्टिसे भी ससारका कोई भी जीव वस्तुतः अभक्त नहीं है।

नवीं बात—ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानसे भी भक्तिकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे केवल अविद्याकी ही निवृत्ति होती है, भान अथवा व्यवहारकी नहीं। जिस उपाधिके कारण भेदकी प्रतीति अथवा व्यवहार हो रहे हैं, वह उपाधि जबतक प्रतीत होती रहेगी, जबतक रहेगी, तबतक उसके गुणधर्म भी रहेंगे ही। उपाधि जब निस्सकल्प होकर अपने आश्रयमें स्थित रहती है, तब शान्त-रस है। जब वह कर्म-परायण है, तब दास्य-रस है। जब वह सम्पूर्ण जीवोंके प्रति सद्भावसे युक्त है, तब सख्य-रस है। जब वह ध्येयरूपसे अपने उत्सङ्गमें ही केवल चेतनको विषय करती है, तब वत्सल-रस होता है और जब वह आश्रय और विषयके रूपमें स्थित अद्वितीय चैतन्यका आलिङ्गन करती और उससे आलिङ्गित होती है, तब मधुर-रस होता है। उपाधि चाहे ज्ञानीकी हो या अज्ञानीकी, उसके सारे खेल ही परब्रह्म परमात्मामें हो रहे हैं। वह जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त है और जिस स्वयप्रकाश सर्वावभासक चेतनके द्वारा प्रकाशित हो रही है, वे दोनों अधिष्ठान और प्रकाशक वस्तुतः दो नहीं हैं, अद्वितीय ब्रह्म ही हैं। यह अद्वितीयता भी विलक्षण है। एक-एकका योग दो हो जाता है, परंतु अद्वितीय-अद्वितीय मिलकर दो नहीं होते। भाव-अभाव आदिके द्वन्द्वमें प्रतियोगी रहता है, परंतु ब्रह्मका कोई प्रतियोगी नहीं है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें द्रष्टा और अधिष्ठानमें भेद-बुद्धि रहनेतक ही उपाधि सत्य जान पड़ती है। भेद-बुद्धिके निवृत्त होते ही उपाधि भी ब्रह्म-रूप ही है; क्योंकि अधिष्ठानसे अध्यस्त और प्रकाशकसे प्रकाश्य भिन्न नहीं होता। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि भक्ति ब्रह्मरूप ही है।

अद्वैत-वेदान्तमें साधनका विचार करते समय यह स्पष्ट-रूपसे स्वीकार किया गया है कि ईश्वर-कृपासे ही अद्वैतमें रुचि होती है। ईश्वरमे रागात्मिका भक्तिका उदय होनेसे ससारके राग-द्वेष निवृत्त हो जाते हैं। राग होनेसे वस्तुके दोषका पता नहीं चलता, द्वेष होनेसे गुणका ज्ञान नहीं होता। इसलिये अन्तःकरण-को राग-द्वेषशून्य करनेके लिये भगवद्भक्तिकी आवश्यकता सर्वमान्य है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब पदार्थका तात्त्विक अनुसधान प्रारम्भ होता है, तब तत्-पदार्थके शोधनमे जो विशेष रुचि है, उसे ही भगवद्भक्ति कहते हैं। त्व-पदार्थके अनुसंधानमें जो रुचि है, उसे आत्मरति कहते हैं। प्रधान-तया उपाधिके विवेकमें न्याय-मीमासा, तत्-पदार्थके विवेकमें भक्तिशास्त्र और त्वं-पदार्थके विवेकमे साख्य-योग अत्यन्त उपयोगी हैं। किसी-न-किसी कक्षामें सभी सम्प्रदाय और शास्त्रोंका उपयोग है। जिनके विचारसे तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ अलग-अलग रहते हैं, उनके लिये भगवद्भक्ति और आत्मरतिमें भेद रहता है। जब दोनों पदार्थोंके ऐक्यका बोध होता है, तब आत्मा और परमात्माके एक होनेके कारण आत्मरति और भगवद्भक्ति भी एक ही स्थितिकी वाचक हो जाती हैं। उसे ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इस प्रकार बहिरङ्ग साधनसे लेकर ब्राह्मी स्थितिपर्यन्त एक ही भक्तिदेवी अपनी साज-सज्जा, आकार-प्रकार अदल-बदलकर अनेक नाम-रूपोंमें प्रकट होती रहती हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंके रूपमें विवर्तमान होती रहती है। चित्त-वृत्तिका सत्य, ज्ञाय-मान, सुखरूप तत्त्वमें जो सहज पक्षपात है, उसीका नाम भक्ति है और वह किसी भी जीवको किसी भी अवस्थामें कभी प्रकट और कभी गुप्त रहकर अपनी उपस्थितिसे वञ्चित नहीं करती। और तत्त्व-दृष्टिसे तो सब ब्रह्म ही है। इसलिये भक्ति भी असदिग्ध और अविनर्यस्तरूपसे ब्रह्म ही है।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
(रामचरित० बाल०)

प्रार्थनाका महत्त्व

(लेखक—श्री १०८ श्रीस्वामी नारदानन्दजी सरस्वती महाराज)

सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।

(ऋग्वेद)

प्रार्थनासे बुद्धि शुद्ध होती है। देवताओंकी प्रार्थनासे दैवीशक्ति प्राप्त होती है। द्रौपदीकी प्रार्थनासे सूर्य-भगवान्ने दिव्य बटलोई दी थी। नल-नीलको प्रार्थनासे पत्थर तैरानेकी शक्ति प्राप्त हुई थी। महात्मा तुलसीदासजीको श्रीपवन-सुत हनुमान्‌जीसे प्रार्थना करनेपर भगवान् रामके दर्शन हुए, भगवान्‌से प्रार्थना करनेपर डाकू रत्नाकरकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध हो गयी। वे वाल्मीकि ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हुए और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। वर्तमान समयमें भी प्रार्थनासे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हो चुके हैं और अब भी हैं।

प्रार्थना करनेसे शारीरिक क्लेशोंका भी शमन होता है। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीकी बाँहमें असहनीय पीड़ा हो रही थी, श्रीहनुमान्‌जीसे प्रार्थना करनेपर अर्थात् उन्हें 'हनुमान-बाहुक' सुनाते ही सारी पीड़ा शान्त हो गयी। प्रार्थनासे कामनाकी पूर्ति होती है। राजा मनुकी प्रार्थनापर भगवान्ने पुत्ररूपसे उनके गृहमें अवतार लेनेकी स्वीकृति दी। सत्यनारायणकी कथामें लिखा है कि दरिद्र लकड़-हारेकी प्रार्थनापर भगवान्ने उसे सम्पत्तिशाली बना दिया। प्रार्थनाके द्वारा मनुष्योंमें परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रार्थना एकताके लिये सुदृढ़ सूत्र है। ईंटके टुकड़ों तथा बालूसे मन्दिर बनाना असम्भव-सा है। पर यदि उसमें सीमेंट मिला दी जाय तो सभी बालूके कण एवं ईंटे एक शिलाके समान जुड़ जाती हैं। वर्तमान समयमें देखा गया है कि मनुष्योंके जिन समुदायोंमें निश्चित प्रार्थना निश्चित समय और निश्चित स्थानपर होती है, ऐसे समुदायोंको तोड़नेके लिये बड़ी-बड़ी प्रबल शक्तियाँ जुटीं, परंतु उन्हें भिन्न करनेमें असमर्थ सिद्ध हुईं। वर्तमान युगमें भी ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं, प्राचीन-कालमें भी हुई हैं।

एक समय रावणादि राक्षसोंके घोर उपद्रवसे त्रस्त होकर दैवी स्वभावके प्राणी—सुर, मुनि, गन्धर्व आदि हिमालयकी कन्दराओंमें छिप रहे थे—

रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥

रावणकी योजना थी—'हमरे बैरी बिबुध बरूथा।' 'तिन्ह कर मरन एक बिधि होई।'

'द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥'

'छुधा हीन बलहीन रिपु सहजेहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ भली भाँति अपनाइ॥'

इस श्रुति-सत-विरोधी योजनाको सुनकर ऋषि, मुनि, देवता घबराये और उन्होंने एक सभाका आयोजन किया, जिसमें आशुतोष भगवान् शंकर भी पधारे थे।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥

वे सोचने लगे—'आसुरी समुदाय दैवी समुदायको विनष्ट करनेपर तुला हुआ है। उससे त्राण पानेके लिये किस साधन-को अपनाया जाय? हम सब दीन, हीन, असहाय दीनबन्धु भगवान्‌को कहाँ ढूँढें?'

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

परिणाम यह हुआ कि सभामें कई भिन्न मत हो गये। इस विघटनकी दशाको देखकर अहेतुकी कृपा करने-वाले भगवान् शंकर बोले—

तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

शंकरजीने बताया कि 'ऐसे विकट समयमें भगवान्‌को ढूँढ़ने कोई कहीं न जाय। सब सम्मिलित होकर आर्त हृदय-से भाव-पूर्ण एक ही प्रार्थना एक साथ करें। भक्तवत्सल भगवान् तुरत ही आश्वासन देंगे। यह मत सभीको अच्छा लगा और सभी नेत्रोंमें जल भरे हुए तथा अश्रुबिन्दु गिराते हुए गद्गद कण्ठसे करबद्ध होकर 'जय जय सुरनायक' आदि प्रार्थना करने लगे—

'जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विजहितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥
जय जय अबिनासी सब घटबासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा॥

जेहिं लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा ।
निसि बासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा ॥
जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा ।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिअ भगति न पूजा ॥
जो भव भय भंजन मुनिमन रंजन गंजन बिपति बरूथा ।
मन बच क्रम बानी छाँडि सयानी सरन सकल सुर जूथा ॥
सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना ।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥
भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुख पुंजा ।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा ॥'

वह शक्ति हमें दो दयानिधे ! कर्तव्य-मार्गपर डट जावें ।
पर-सेवा पर-उपकारमें हम जग जीवन सफल बना जावें ॥
हम दीन-दुखी, निबलों-बिकलों के सेवक बन संताप हरें ।
जो हैं अटके, भूले-भटके, उनको तारें, हम तर जावें ॥
छल-दम्भ, द्वेष-पाखंड, झूठ, अन्यायसे निशदिन दूर रहें ।
जीवन हो शुद्ध-सरल अपना, शुचि प्रेम-सुधा-रस बरसावें ॥
निज आन-कान-मर्यादाका प्रभु ! ध्यान रहे, अभिमान रहे ।
जिस देश-जातिमें जन्म लिया बलिदान उसी पर हो जावें ॥

प्रार्थना समाप्त हुई कि तुरंत आकाशवाणी हुई ।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥

ब्रह्माजी सबको शिक्षा तथा आश्वासन देकर तथा देवताओं-से यह कहकर ब्रह्मलोकको चले गये कि 'तुमलोग वानररूप धारणकर सुसंगठित हो भगवान्‌का भजन करते हुए पृथ्वीपर रहो ।' प्रार्थना सफल हुई, मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्री-रामचन्द्रजीका अवतार हुआ । देवता, गौएँ, ऋषि, मुनि, पृथ्वी, भक्त-समाज—सब सुखी और परमधामके अधिकारी हुए—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढहिं असुर अधम अभिमानी ॥

और ऐसे समयमें जब-जब देव-समाजने भगवान्‌से प्रार्थना की, तब-तब भगवान्‌ने अवतार लेकर विश्वमें शान्ति स्थापित की । भूतकालके इतिहासमें प्रार्थना सफल हुई, तब वर्तमानमें भी सफल हो सकती है—ऐसा विश्वास सबको रखना चाहिये ।

प्रार्थनासे कितना लाभ हो सकता है, प्रार्थनाका कितना महत्त्व है—यह लिखा नहीं जा सकता । प्रार्थनाके द्वारा मृत आत्माओंको शान्ति मिलती है; जिसकी प्रथा आज भी बड़ी-बड़ी सभाओंमें देख पड़ती है । किसी महापुरुषके देहावसान हो जानेपर दो-चार मिनट मृतात्माकी शान्तिके लिये सभाओंमें सामूहिक प्रार्थना की जाती है । प्रार्थनाके उपासक महात्मा गांधी, महामना मालवीयजी आदि धार्मिक-राजनीतिक नेताओंका अधिक स्वास्थ्य बिगड़नेपर जब-जब समाजमें प्रार्थना की गयी, तब-तब लाभ प्रतीत हुआ । और भी अनेकों उदाहरण हैं । प्रार्थनामें विश्वासकी प्रधानता है । प्रार्थना हृदयसे होनी चाहिये। निरन्तर, आदरपूर्वक, दीर्घकालतक होनेसे वह सफल होती है—

दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

इष्टदेवको सुनानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये, जनताको सुनानेकी दृष्टिसे नहीं । प्रार्थनासे आस्तिकता बढती है । आस्तिकतासे मनुष्योंकी पापमें प्रवृत्ति नहीं होती । दुराचार-के नाश और सदाचारकी वृद्धिसे समाजमें दरिद्रता, कलह, शारीरिक रोग, चरित्र-पतनकी निवृत्ति होकर परस्पर प्रेम, आरोग्य, सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि होती है ।

ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि समुदायोंमें प्रार्थनाका प्रमुख स्थान है । वे किसी भी दलमें हों, किसी भी देश या स्थानमें हों, उन लोगोंकी प्रार्थना एक है । यही कारण है कि वे धार्मिक सूत्रमें आबद्ध होनेके कारण सुव्यवस्थित हैं । हमारे यहाँ त्रिकाल संध्याका नियम था ।

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

लगातार तीन दिनोंतक संध्या न करनेवाला अपने वर्णसे च्युत कर दिया जाता था । परंतु आजकल दो प्रतिशत द्विजाति भी संध्या नहीं करते, कितने खेदका विषय है ! संध्या कामधेनु गौ है, तो प्रार्थना उसकी बछिया है । यदि गौ कहीं चली जाय और आप बछियाको ही अपने पास बाँध लें तो गौ भी इधर-उधर घूमकर उस स्थानपर आ जायगी । स्वार्थके कारण विघटित हुए समाजके अनेकों दल रूपी मनकोंको संगठित बनानेके लिये प्रार्थना एक सूत्र है । अतएव समाजको सुव्यवस्थित बनानेके लिये प्रार्थनाको मुख्य स्थान देना ही चाहिये । प्रार्थनाकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय—

सब पर्वत स्याही करूँ, घोरूँ सागर माहिं ।
पृथ्वी का कागज करूँ, महिमा लिखी न जाहिं ॥

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

बोझ प्रभुके कंधेपर

(संत विनोबा)

प्रभुको चिन्ता सबकी रहती है, पर विशेष चिन्ता उसे दीनोंकी होती है। और लोग भी प्रभुके हैं, पर दीन तो प्रभुके ही हैं। औरोंका आधार और भी होता है, पर दीनोंका आधार तो दीनदयाल ही होता है। समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलसे उड़े हुए पंछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहाँ हो सकता है? उससे हटकर वह कहाँ रह सकता है? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे? इसीलिये दीन प्रभुके कहलाते हैं, प्रभु दीनोंका कहलाता है। दीनताका यही वैशिष्ट्य देखकर कुन्तीने उस समय, जब उसे प्रभुने वर माँगनेको कहा, दीनता माँगी। कोई कह सकता है कि प्रभु तो देता था कटोरीमें, पर अभागिनीने माँगा दोनेमें! फूटी कटोरीसे साबित दोना सौ दर्जे अच्छा।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमें ही पूछ बैठे—'तो फूटी कटोरीकी बात ही क्यों?' मैं स्पष्ट कहूँगा—"नहीं, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान है; पर अंदर पैठकर देखें तो वह धातकी कटोरी घातकी वस्तु बन जाती है। कटोरीकी छातीमें एक बड़ी धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नहीं ले जायगा?' दोनेके लिये यह भय असम्भव है, अतः वह निर्भय है।"

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोंमें—'जो बड़ा, सो चोर।' ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं कि आदमी बड़ा हो और प्रभु उसपर न्योछावर हो। ऐसे उदाहरणोंका प्रायः अभाव ही है; और जो कहीं और कभी दीख पड़ा, तो इस रूपमें कि जन्मका बड़ा, किंतु बड़प्पन खोकर—अत्यन्त दीन होकर—भगवान्‌के शरण आया, उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खींच लिया। राजा बलिने जब राजत्वका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तब प्रभुने उसके आँगनमें खड़े रहना अङ्गीकार किया। गजेन्द्रको जबतक अपने बलका घमंड रहा, तबतक उसने सब कुछ करके देख लिया और जब गर्व गला, तब उसे दीनबन्धुकी याद आयी। उसी दिनकी घटनाका नाम तो 'गजेन्द्रमोक्ष' है। और अर्जुन? जिस दिन वह अपनी जानकारीके ज्वरसे जीवित छूटा, प्रभुने उसे गीता सुनायी। पार्थका प्रभुसे ही मतभेद हो गया। बड़ा आदमी जो ठहरा! प्रभुके मतसे उसके मतका सौतियाडाह क्यों न हो? किंतु बारह वर्षके वनवासने उसे 'महत्ता' से उतारकर 'सतता' की सेवा करनेका अवसर दिया। जब जानकारीपर अधिष्ठित मतके पाँव डगमगाने लगे, तब उसने निकटस्थ प्रभुके पाँव पकड़े। "मैं तो इन्द्रियोंका गुलाम हूँ, और मेरा 'मत' क्या? मेरी तो इन्द्रियाँ चाहे जैसा निश्चय करती हैं और मनरूपी मल्ल उसपर अपनी सही कर देता है। वहाँ धर्मको देख सकनेवाली दृष्टिका गुजर कहाँ? प्यारे, मैं तुम्हारे द्वारका सेवक हूँ। मुझे तुम्हीं बचाओ।" तब भगवान्‌की वाणी प्रस्फुटित हुई। गीता कही जाने लगी। परंतु गीता कहते-कहते भी श्रीकृष्णने एक बात तो कह ही डाली—'बड़प्पनकी बात तो खूब करते हो!' गर्ज यह कि बड़े लोगोंमें यदि किसीके प्रभुका प्यारा होनेकी बात सुनी जाती है तो वह उसीकी, जो अपना बड़प्पन खोकर, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा, दीन, निराधार बन गया। तब वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जिसे जगत्‌का आधार है, उसकी जगदाधारसे कैसी रिश्तेदारी? जिसके खातेमें जगत्‌का आधार जमा नहीं रह गया, उसीका बोझ प्रभु अपने कधोंपर ढोते हैं।

(प्रेषक—श्रीप्यारेलाल साह)

भगवान्‌के बन्धनका सरल साधन

भगवान् राम कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(रामचरित० सुन्दर०)

वेदोंकी संहिताओंमें भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्य स्वामीजी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर)

मङ्गलाचरणम्

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ।
नमः शंकराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥
(शु० यजुर्वेदसंहिता १६ । ४१)

ॐ शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु,
शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपांनपात् पेरुरस्तु,
शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥
(ऋ० सं० ७ । ३५ । १३, अथर्व० सं० १९ । ११ । ३)

'जिससे मोक्ष-सुख प्राप्त होता है एवं जिससे इस लोक तथा परलोकके विविध सुख प्राप्त होते हैं, उस भगवान्‌को नमस्कार है। जो पारमार्थिक अनन्त सुखको प्राप्त कराता है तथा जो सर्व प्रकारके सुखोंका दाता है, उस परमात्माको नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याणस्वरूप है तथा स्वभक्तोंका भी कल्याणकर होनेसे परमकल्याणरूप है, उसे नमस्कार है। (इस मन्त्रमें 'मयः' सुखका नाम है।) विश्वरूप अविनाशी देव हमारे 'शम्' (शाश्वतशान्ति-सुख) के लिये प्रसन्न हो। प्राणोंका प्रेरक एवं शरीरोंका अन्तर्यामी महादेव हमारे 'शम्'के लिये अनुकूल हो। समस्त विश्वका उत्पादक, संरक्षक एवं उपसंहारक विश्वाधिष्ठान परमात्मा हमारे 'शम्'के लिये सहायक हो। क्षीरसमुद्रशायी विश्वप्रणम्य भगवान् श्रीनारायणदेव—जो भक्तोंको संसारके समस्त दुःखोंसे पार कर देता है—हमारे 'शम्'के लिये प्रसन्न हो। देवोंकी रक्षा करनेवाली विश्वव्यापिनी भगवान्‌की चिति-शक्ति हमारे 'शम्'-लाभके लिये तत्पर हो।'

वेदोंका महत्त्व

यद्यपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः' अर्थात् मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग दोनोंका नाम वेद है, यों वैदिक सनातन धर्मानुयायी विद्वान् मानते हैं, तथापि मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागका मूल-मूलीभाव तथा व्याख्येय-व्याख्यानभाव होनेके कारण अर्थात् मन्त्रभाग (संहिताएँ) मूल एवं व्याख्येय तथा ब्राह्मणभाग मूली एवं व्याख्यान होनेके कारण ब्राह्मणभागकी अपेक्षा मन्त्रभागमें मुख्य निरपेक्ष वेदत्व है। अतः उसकी संहिताओंमें ही अभिवर्णित भक्तितत्त्वका यहाँ कल्याण-प्रेमियोंके लिये यथामति प्रदर्शन किया जाता है। मनुमहाराजने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।
(मनुस्मृति २ । १३)

अर्थात् धार्यमाण भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोंके लिये मुख्य—स्वतः-प्रमाण एकमात्र श्रुति है। अतः श्रुतिके अनुकूल ही इतर स्मृति-पुराणादिके वचन प्रामाणिक एवं ग्राह्य माने जाते हैं। श्रुतिविरुद्ध कोई भी वचन प्रामाणिक नहीं माना जाता। अतएव वेदोंके महत्त्वके विषयमें महाभारतमें यह कहा गया है—

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
वेदे निष्ठा हि सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च ॥
(म० भा० शा० २७० । ४३)

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥
(म० भा० १२ । २३३ । २४)

अर्थात् वेदोंके ज्ञाता सब कुछ जानते हैं; क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो ज्ञातव्य अर्थ अन्यत्र है या नहीं है, उस साध्य-साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थोंकी निष्ठा वेदोंमें है। अतः वेदवाणी दिव्य है, नित्य है एवं आदि-अन्त-रहित है; सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं। इसलिये—

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम ।

—कहकर हमारे पूज्य महर्षियोंने वेदोंकी अपार महिमा अभिव्यक्त की है।

भक्तिका स्वरूप

जिसके अनन्त महत्त्वका हम श्रवण करते हैं, जो हमारा वास्तविक सम्बन्धी होता है, जिसके द्वारा हमारा हित सम्पादित

होता है एवं शाश्वत शान्ति तथा अनन्त सुखका लाभ होता है, उसमें विवेकीकी अविचल प्रीति स्वभावतः हो ही जाती है। इसलिये भगवत्प्रार्थनाके रूपमें अथर्वसंहितामें कहा गया है—

देव ! संस्फान ! सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥

(अथर्व० सं० ६ । ७९ । ३)

'हे अभ्युदय-निःश्रेयसप्रदाता देव ! तू आध्यात्मिकादि असंख्य शाश्वत पुष्टियोंका स्वामी है, इसलिये हमें उन पुष्टियोंका तू दान कर, उनको हमारेमें स्थापन कर। अतः उस महान् अनन्त पुष्टिपति प्रभुकी भक्तिसे युक्त हम हों, अर्थात् तेरी पावन भक्तिद्वारा ही हमें अभीष्ट पुष्टियोंका लाभ होगा—ऐसा विश्वास हम करें।'

श्रीभगवान्के दिव्यतम गुणोंके श्रवणसे द्रवीभूत हुए चित्तकी वृत्तियाँ उस सर्वेश्वर प्रभुकी ओर जब धाराप्रवाहरूपसे सतत बहने लग जाती हैं, तब यही भक्तिका स्वरूप बन जाता है। अतएव ऋग्वेदसंहितामें कहा है—

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते,
समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः ॥

(ऋ० १ । ७१ । ७)

'जैसे गङ्गा आदि बड़ी सात नदियाँ समुद्रकी ओर ही दौड़ती हुई उसीमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही भगवद्भक्तोंके मनकी सभी वृत्तियाँ अनन्त दिव्यगुणकर्मवान् परमेश्वरकी ओर जाती हुई—तदाकार होती हुई—उसीमें विलीन हो जाती हैं।' (इस मन्त्रमे पृक्ष अन्नका नाम है, वह अन्नमय मनको लक्षित करता है।)*

इसलिये हे प्रभो !—

यस्य ते स्वादु सख्यं, स्वाद्वी प्रणीतिः ।

(ऋ० ८ । ६८ । ११)

'तुझ परमात्माका सख्य (मित्रता) स्वादु है, अर्थात् मधुर आह्लादक आनन्दकर है; और तुझ परमेश्वरकी प्रणीति (अनन्यभक्ति) स्वाद्वी है, समस्त संतापोंका निवारण करके परमानन्द प्रदान करनेवाली है, अर्थात् 'भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख-खानि', है। प्रणीति, प्रणय, प्रेम, प्रीति, भक्ति—ये सब पर्याय-वाचक हैं—एकार्थके बोधक हैं।

वास्तविक सम्बन्धी भगवान्

जिसके साथ हमारा कोई-न-कोई सम्बन्ध होता है, उसे देखकर या उसका नाम सुनकर उसके प्रति स्नेहका प्रादुर्भाव हो ही जाता है। संसारके माता-पिता आदि सम्बन्धी आगन्तुक हैं—आज हैं और कल सम्बन्धी नहीं रहते; इसलिये वे कच्चे नकली स्वार्थी सम्बन्धी माने गये हैं। परंतु परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् हम सब जीवात्माओंका माता-पिता आदि वास्तविक शाश्वत निःस्वार्थ दुःख-निवारक एवं हित-सुखकर सम्बन्धी है। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोंने उस परमात्मामें परम प्रीति उत्पन्न करनेके लिये कहा है—

त्वं त्राता तरणे ! चेत्यो भूः, पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ।

(ऋ० ६ । १ । ५)

'हे तरणे—तारनहार यानी संसारके त्रिविध दुःखोंसे तारनेवाले भगवन् ! तू हमारा त्राता रक्षक है, इसलिये तू चेत्य यानी जानने योग्य है कि तू हमारा कौन है। तू हम मनुष्योंका सदा रहनेवाला सच्चा माता एवं पिता है।'

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।

(ऋ० ६ । ३६ । ४)

'हे प्रभो ! हम (सब) जनोंका तू ही एकमात्र उपमारहित—असाधारण पति—स्वामी है तथा समस्त भुवनोंका राजा—ईश्वर है।'

स न इन्द्रः शिवः सखा । (ऋ० ८ । ९३ । ३)

'वह इन्द्र परमात्मा हमारा कल्याणकारी सखा है।'

इसलिये हे भगवन् !

त्वमस्माकं तव स्मसि । (ऋ० ८ । ८१ । ३२)

'तू हमारा है और हम तेरे हैं।' यह भाव भगवच्छरणागतिका भी है।

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।

(ऋ० १० । ७ । ३)

'अर्थात् अग्नि परमात्माको ही मैं सदैव अपना पिता मानता हूँ, अग्निको ही आपि यानी अपना बन्धु मानता हूँ एवं अग्निको ही मैं भाई तथा सखा मानता हूँ।' यहाँ यह

---

* श्रीमद्भागवतमें भी इसी मन्त्रका छायानुवाद इस प्रकार किया गया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १२)

याद रखना चाहिये कि वेदोंमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक नामोंके द्वारा एक परमात्माका ही वर्णन किया गया है।

भजनीय परमेश्वरका स्तुत्य महत्त्व

संहिताओंमें परमेश्वरके भक्ति-वर्धक स्तुत्य महत्त्वका अनेक प्रकारसे वर्णन मिलता है। जैसे—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि
त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते
त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या॥
(ऋ० २।१।३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! तू इन्द्र अर्थात् अनन्त ऐश्वर्योंसे सम्पन्न है; इसलिये तू सज्जनोंके लिये वृषभ अर्थात् उनकी समस्त कामनाओंका पूरक है। तू विष्णु है—विभु, व्यापक है; इसलिये तू उरुगाय है—बहुतोंसे गानेके द्वारा स्तुति करने योग्य है एवं नमस्कार्य है। हे ब्रह्म अर्थात् वेदके पति! तू ब्रह्मा है और रयि अर्थात् समस्त कर्मफलोंका ज्ञाता एवं दाता है। हे विधारक—सर्वाधार! तू पुरन्धि अर्थात् पवित्र एकाग्र बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होता है।'

ॐ अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥
(ऋ० ७।३२।२२; यजु० २७।३५; साम० २३३। ६८०; अथर्व० २०।१२१।१)

'हे शूर—अनन्त-बल-पराक्रमनिधे! हे इन्द्र—परमात्मन्! जिस प्रकार पयःपानके इच्छुक क्षुधार्त बछड़े अपनी माताका चिन्तन करते हुए उसे पुकारते हैं, उसी प्रकार हम स्थावर एवं जङ्गम समग्र विश्वके नियामक निरतिशय-सुखपूर्ण एवं सौन्दर्यनिधि दर्शनीय तुझ परमेश्वरकी स्तुति एवं चिन्तन करते हुए भक्तिपूर्ण हृदयसे तुझे पुकारते हैं।'

ॐ इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः
इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा-
मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥
(ऋ० १०।८९।१०)

'इन्द्र परमात्मा स्वर्गलोक तथा पृथिवी-लोकका भी नियन्ता है तथा इन्द्र भगवान् जलोंका या पाताल-लोकका तथा पर्वतोंका भी नियन्ता है। इन्द्र परमेश्वर स्थावर जगत्का तथा मेधा (बुद्धि) वाले चेतन जगत्का भी नियन्ता—शासक है। वह सर्वेश्वर इन्द्र हमारे योग एवं क्षेमके सम्पादनमें समर्थ है, इसलिये वही हमारे द्वारा आह्वान या आराधना करने योग्य है।'

भगवान्की कृपालुता

श्रीभगवान्की भक्तवत्सलताका अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इस प्रकार वर्णन मिलता है—

ॐ गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्
वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता
दिवः सविता विश्ववारः॥
(ऋ० १०।१४९।४)

'जैसे गायें ग्रामके प्रति शीघ्र ही जाती हैं, जैसे शूरवीर योद्धा अपने प्रिय अश्वपर बैठनेके लिये जाता है, जैसे स्नेह-पूरित मनवाली बहुत दूध देनेवाली हम्मा-रव करती हुई गाय अपने प्रिय बछड़ेके प्रति शीघ्रतासे जाती है एवं जैसे पति अपनी प्रियतमा सुन्दरी पत्नीसे मिलनेके लिये शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्वद्वारा वरण करने योग्य निरतिशय-शाश्वत-आनन्दनिधि सविता भगवान् हम शरणागत भक्तोंके सम्मुख आता है।' इस मन्त्रमें यह रहस्य बतलाया गया है कि गौकी भाँति मातारूप परमस्नेहामृतका भंडार श्रीभगवान् ग्रामकी तरह भक्तके गृहमें या उसके हृदयमें निवास करनेके लिये, वत्सस्थानापन्न अपने स्नेह एवं कृपाके भाजन भक्तको स्नेहामृत पिलानेके लिये; या योद्धा वीरकी भाँति निरतिशय बल पराक्रमनिधि महाप्रभु भक्तके अन्तःकरण एवं बाह्यकरणरूप अश्वोंका नियमन करनेके लिये, या उन्हें उनके वशमें स्थापन करनेके लिये तथा पतिकी भाँति विश्वपति सर्वेश्वर प्रभु प्रियतम जायाके स्थानापन्न भक्तका परिरम्भण (आलिङ्गन) करनेके लिये, या उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये, या उसे सर्वप्रकारसे संतुष्ट करनेके लिये, या अपने अलौकिक साक्षात्कार-द्वारा कृतार्थ—धन्य बनानेके लिये शीघ्र ही भक्तकी प्रार्थनामात्रसे आ जाता है। यह भगवान्की भक्तपर स्वाभाविकी कृपालुता है। ऐसे कृपालु भगवान्के प्रति भक्ति या उत्कट स्नेह स्वभावतः हो ही जाता है।

एकेश्वरवाद

वह सर्वेश्वर भगवान् एक ही है, वह एक ही अनेक

नामोंके द्वारा स्तूयमान होता है एवं विविध साकार विग्रहोंके द्वारा समुपास्य बनता है। उस एकके अनेक नाम एवं भक्त-भावना-समुद्भासित विविध विग्रह होनेपर भी उसकी एकता अक्षुण्ण ही रहती है। यह सिद्धान्त हमारी अतिधन्य संहिताओंमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित है। जैसे—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः ....

(ऋ० १। १६४। ४६)

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

(अथर्व० ९। १०। २८)

अर्थात् तत्त्वदर्शी मेधावी विद्वान् उस एक सर्वेश्वरको ही इन्द्र, मित्र, वरुण एव अग्नि आदि विविध नामोंसे पुकारते हैं। एक ही सद्ब्रह्मको साकार-निराकारादि अनेक प्रकारसे कहते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋ० १०। ११४। ५)

'तत्त्वविद् विद्वान् शोभन—पूर्ण लक्षणोंसे युक्त उस एक सत्य ब्रह्मकी अनेक वचनोंके द्वारा बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं।'

सर्वदेवमय इन्द्र परमात्मा

यो देवानां नामधा एक एव। (ऋ० १०। ८२। ३; शु० य० १७। २७)

यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। (ऋ० १०। ८२। ६)

'जो एक ही परमात्मा देवोंके अनेक नामोंको धारण करता है, जिस एक परब्रह्ममें सभी देव आत्मभावसे संगत हो जाते हैं।' अतएव शुक्ल यजुर्वेदसंहितामें भी एक इन्द्र-परमात्मा ही सर्वदेवमय है एवं समस्त देव एक—इन्द्रस्वरूप ही हैं, इसका स्पष्टतः इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे, सोमश्च म इन्द्रश्च मे, सविता च म इन्द्रश्च मे, सरस्वती च म इन्द्रश्च मे, पूषा च म इन्द्रश्च मे, बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ मित्रश्च म इन्द्रश्च मे, वरुणश्च म इन्द्रश्च मे, धाता च म इन्द्रश्च मे, त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे, मरुतश्च म इन्द्रश्च मे, विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ पृथिवी च म इन्द्रश्च मे, अन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे, द्यौश्च म इन्द्रश्च मे, समाश्च म इन्द्रश्च मे, नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे, दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

(शु० य० १८। १६-१८)

'अग्नि भी इन्द्र है, सोम भी इन्द्र है, सविता भी इन्द्र है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है; वे सब इन्द्र-परमात्मस्वरूप अग्नि आदि देव जपादि विविध यज्ञोंके द्वारा मेरे अनुकूल—सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है, त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र हैं, विश्वेदेव भी इन्द्र हैं; वे सब इन्द्रस्वरूप देव यज्ञके द्वारा हमपर प्रसन्न हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है, द्यौ—स्वर्ग भी इन्द्र है, समा—संवत्सरकी अधिष्ठात्री देवता भी इन्द्र हैं, नक्षत्र भी इन्द्र हैं, दिशाएँ भी इन्द्र हैं; वे सब इन्द्राभिन्न देव यज्ञके द्वारा मेरे रक्षक हों।'

समस्त देवता उस एक इन्द्र-परमात्माकी ही शक्ति एवं विभूतिविशेषरूप है। अतः वे उससे वस्तुतः पृथक् नहीं हो सकते। इसलिये इस देवसमुदायमें सर्वात्मत्व-ब्रह्मत्वरूप लक्षणवाले इन्द्रत्वका प्रतिपादन करनेके लिये अग्नि आदि प्रत्येक पदके साथ इन्द्रपदका प्रयोग किया गया है और 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इस न्यायसे अर्थात् जैसे घटसे अभिन्न मृत्तिकासे अभिन्न शरावका घटसे भी अभिन्नत्व हो जाता है, वैसे ही अग्निसे अभिन्न इन्द्र परमात्मासे अभिन्न सोमका भी अग्निसे अभिन्नत्व हो जाता है—इस न्यायसे अग्नि, सोम आदि देवोंमें भी परस्पर भेदका अभाव ज्ञापित होता है और इन्द्र-परमात्माका अनन्यत्व सिद्ध हो जाता है, जो भक्तिका खास विशेषण है।

नामभक्ति और रूपभक्ति

यह जीव अनादिकालसे संसारके कल्पित नाम-रूपोंमें आसक्त होकर विविध प्रकारके दुःखोंको भोग रहा है। अतः इस दुःखजनक आसक्तिसे छूटनेके लिये हमारे स्वतःप्रमाण वेदोंने 'विषस्यौषधं विषम्,' 'कण्टकस्य निवृत्तिः कण्टकेन' की भाँति श्रीभगवान्‌के पावन मधुरतम मङ्गलमय नामोंकी एवं दिव्यतम साकार रूपोंकी भक्तिका उपदेश दिया है। जैसे—

नामानि ते शतक्रतो! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।

(ऋ० ३। ३७। ३; अथर्व० २०। १९। ३)

'हे अनन्तज्ञाननिधि भगवन्! आपके पावन नामोंका वैखरी आदि चार वाणियोंके द्वारा भक्तिके साथ हम उच्चारण करते रहते हैं।'

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे।

(ऋ० ८। ११। ५)

'अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्‌के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।'

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्यरूपवान् साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है। जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् अपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।

(ऋ० २।३५।१०)

'हिरण्य यानी सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं, वर्ण यानी वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरोदधि-जलशायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है।'

अर्हन् ! बिभर्षि सायकानि,
धन्वार्हन् ! निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम्,
न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति॥

(ऋ० २।३३।१०)

'हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न ! विश्वमान्य ! परमपूज्य ! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है। हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो ! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्यविविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है। हे अर्हन्—विश्वस्तुत्य ! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अमोघ एवं अचिन्त्य शक्तिद्वारा रक्षा करता है। हे रुद्र—दुःखद्रावक देव ! तुझसे अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्त-वीर्यवान् एवं अमित-पराक्रमवान् नहीं है।'

अजायमानो बहुधा विजायते।

(शु० यजु० ३१।१८)

'वह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा जायमान होता है।'

पूर्वोक्त मन्त्रोंमे वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एवं हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं; क्योंकि उसमें पूर्वोक्त वर्णन कभी संगत नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्त-रूपसे यह माना गया है कि सगुण साकार ब्रह्म उपास्य होता है एवं निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय।

परम प्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि भगवान्

वेदभगवान् कहते है कि वह सर्वात्मा भगवान्—

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि।　　(ऋ० ८।१०३।१०)

—धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोंसे भी निरतिशय प्रेमका आस्पद है, इसलिये तू उसकी स्तुति कर यानी आत्मा-रूपसे—परमप्रिय रूपसे उसका निरन्तर अनुसंधान करता रह।

प्रियाणां त्वां प्रियपतिं हवामहे।　(शु० य० २३।१९)

'अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोंके मध्यमें एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तेरी ही चाहना रखते हुए आराधना करते रहते हैं।'

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

(ऋ० १०।४३।१)

'हे प्रभो ! एकमात्र तू ही निरतिशय-अखण्ड-आनन्द-निधि है, यह मैं जानता हूँ; इसलिये मेरी ये सभी बुद्धि-वृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्‌से सम्बद्ध हुई तेरी ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई—जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं, वैसे तेरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं। या जैसे स्वरक्षणके लिये दरिद्रजन दयालु धनवान्‌का अवलम्बन करके दरिद्रताके दुःखसे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही मेरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्‌का ध्यान करती हुई समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाती हैं।' इसलिये हे भगवन् ! तू—

यच्छा नः शर्म सप्रथः।　(ऋ० १।२२।१५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु।　(ऋ० १।११४।१०)

'हमें अनन्त अखण्डैकरसपूर्ण सुखका प्रदान कर। हे परमात्मन् ! हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो।' ('शर्म' एवं 'सुम्न' सुखके पर्याय हैं।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌से कहते हैं—

कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।······

कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् ।

(ऋ० ७ । ८६ । २)

'हे विभो ! कब मैं पवित्र एवं एकाग्र मनवाला होकर सत्य आनन्दमय आपका साक्षात् दर्शन करूँगा ? और कब मैं सर्वजन-वरणीय अनन्तानन्दनिधिरूप आप वरुणदेवमें अन्तर्भूत—तदात्मभूत हो जाऊँगा ।' हे भगवन् ! तेरे पावन अनुग्रहसे ही मेरी यह अभिलाषा पूर्ण सफल हो सकती है, इसलिये मैं तेरी ही भक्तिमयी प्रार्थना करता हूँ ।'

एकात्मभाव

वह एक ही सर्वेश्वर भगवान् समस्त विश्वके अन्तर्बहिः पूर्ण है; व्याप्त है, अतएव वह निखिल चराचर विश्वका आत्मा है; अभिन्नस्वरूप है । इस एकात्मभावका वेदमन्त्र स्पष्टतः प्रतिपादन करते हैं—

आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

(ऋ० १ । ११५ । १, शु० य० ७ । ४२; अथर्व० १ । ३२ । ५)

'वह परमेश्वर स्वर्ग, पृथिवी एवं अन्तरिक्षरूप निखिल विश्वमें पूर्णरूपसे व्याप्त है; वह सम्पूर्ण जगत्का सूर्य यानी प्रकाशक है तथा वह स्थावर-जङ्गमका आत्मा है ।'

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश

तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।

(शु० य० २३ । ५२)

'शरीरादिरूपसे परिणत पाँच पृथिव्यादि भूतोंके भीतर पुरुष यानी पूर्ण परमात्मा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेके लिये प्रविष्ट हुआ है तथा उस अधिष्ठान-पुरुषके भीतर वह भूत-भौतिक जगत् अर्पित है यानी अध्यारोपित है ।' जैसे आभूषणोंमें सुवर्ण प्रविष्ट है एवं सुवर्णमें आभूषण आरोपित हैं, वैसे ही वह सर्वेश्वर भगवान् सबसे अनन्य है, सबका अभिन्नस्वरूप आत्मा है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(शु० य० ४० । ७)

'जिस ज्ञानके समय समस्त भूतप्राणी एक आत्मा ही हो जाते हैं, अर्थात् नाम-रूपात्मक आरोपित जगत्का अधिष्ठान आत्मामें बाध हो जाता है, केवल आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है, ऐसे विज्ञानवाले एवं सर्वत्र एक आत्मभावका ही अनुदर्शन करनेवालेको उस समय मोह क्या एवं शोक क्या । अर्थात् अद्वय-आत्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानके शक्ति-द्वयरूप आवरणात्मक मोह एवं विक्षेपात्मक शोककी भी सुतरां निवृत्ति हो जाती है ।'

ज्ञानवान् भक्तकी यही एकभक्ति है, वह उस एकको ही सर्वत्र देखता है और तदन्यभावका बाध करके उस एकमें ही वह तन्मय बना रहता है । वह एक अपना अभिन्नस्वरूप आत्मा ही है । अतएव जो यथार्थमें ज्ञानवान् है, वह भक्ति-शून्य भी नहीं रह सकता । एवं जो सच्चा भक्त है, वह अज्ञानी भी नहीं हो सकता । ज्ञानीके हृदयमें अनन्य भक्तिकी निर्मल मधुर गङ्गा प्रवाहित रहती है और भक्तका हृदय अद्वय-ज्ञानके विमल प्रकाशसे देदीप्यमान रहता है । इस प्रकार ज्ञान एवं भक्तिका सामञ्जस्य ही साधक—कल्याण-पथिकको निःश्रेयसके शिखरपर पहुँचा देता है ।

पराभक्ति

पराभक्तिके ही पर्याय हैं—अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तभक्ति एवं फलभक्ति । अतएव भजनीय भगवान्के अनन्य—अभिन्न स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।

(शु० य० ४० । ५)

'वह समस्त प्राणियोंके भीतर परमप्रिय आत्मारूपसे अवस्थित है एवं सबके बाहर भी अधिष्ठानरूपसे अनुगत है ।'

अतएव वह मुझसे भी अन्य नहीं है—अनन्य है, अभिन्न है, इस भावको दिखानेके लिये श्रुति भावुक भक्तकी प्रार्थनाके रूपमें कहती है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८ । ४४ । २३)

'हे अग्ने ! परमात्मन् ! मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जाय—इस प्रकार तेरा एवं मेरा अभेदभाव हो जाय तो बड़ा अच्छा रहे । ऐसे अनन्य-प्रेम विषयके तेरे सदुपदेश मेरे लिये सत्य अनुभवके सम्पादक हों । या तेरे शुभाशीर्वाद सत्य—इष्ट सिद्धिके समर्पक हों, यही मेरी प्रेममयी प्रार्थना है ।' जीवात्माके साथ ईश्वरात्माका अभेदभाव हो जानेपर ईश्वरात्मामें

परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है और ईश्वरात्माके साथ जीवात्माका अभेदभाव हो जानेपर जीवात्मामें संसारित्वकी एवं सद्वितीयत्वकी निवृत्ति होती है।

उस प्रियतम आत्मस्वरूप इष्टदेवसे भिन्न बाहर एवं भीतर अन्य कोई भी पदार्थ द्रष्टव्य एवं चिन्तनीय न रहे, यही भक्तिमें अनन्यत्व है। आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। वे आँखें ही न रहें, जो तदन्यको देखना चाहें; वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय, जिसमें तदन्यका भाव हो, चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है, जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्यदेव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्य की नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ भी तो नहीं है। अतः—

विश्वरूपमुपह्वये, अस्माकमस्तु केवलः।
(ऋ० १। १४। १०)

'मैं सर्वत्र विश्वरूप तुझ सर्वात्माका ही अनन्यभावसे अनुसंधान करता रहता हूँ, हमारे लिये तू ही एकमात्र द्रष्टव्य बना रहे।' तू ही एकमात्र सत्यं शिवं सुन्दरम् है, अन्य नहीं; इसलिये मैं तुझे ही चाहता एवं रटता हुआ तुझमें ही लीन होना चाहता हूँ। मुझमें तेरी तन्मयता इतनी अधिक बढ़ जाय कि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं बन जाय। तुझसे मैं अन्य न रहूँ एवं तू मुझसे अन्य न रहे। तुझमे एवं मुझमें अभेदभावकी प्रतिष्ठा हो जाय। मेरा यह तुच्छ 'मैं' उस महान् 'तू'में जलमें बरफकी भाँति' गल-मिल जाय। यही अनन्य पराभक्तिका स्वरूप है। अन्तमे एकमात्र वही रह जानेसे यह एकान्त भक्ति भी कहलाती है।

अतएव उस प्रियतम परमात्माके साथ अभेदभावके बोधक इस प्रकारके अनेक वेदमन्त्र उपलब्ध हैं। जैसे—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनम्, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
(ऋ० १०। ४८। ५)

'मैं स्वयं इन्द्र-परमात्मा हूँ, अतः मैं किसीसे भी पराजित नहीं हो सकता। परमानन्दनिधिरूप मेरे धनको कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। अतः मैं कभी भी मृत्युके समक्ष अवस्थित नहीं रह सकता; क्योंकि मैं स्वयं अमृत—अभयरूप इन्द्र हूँ।'

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
(ऋ० ३। २६। ७)

'मैं स्वभावसे ही अनन्तज्ञाननिधि अग्नि-परमात्मा हूँ, मेरा चैतन्यप्रकाश सर्वत्र विभासित है, मेरे मुखमें सदा कल्याणमय अमृत अवस्थित है।'

इस प्रकार ज्ञान अद्वैतरूप है तो भक्ति अनन्यरूपा है। दोनोंका लक्ष्य एक ही है। अतएव सिद्धान्तमें दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। अतः ज्ञानके बिना भक्तिकी सिद्धि नहीं और भक्तिके बिना ज्ञानकी निष्ठा नहीं। भक्ति तथा ज्ञान एक ही कल्याण प्रेमी साधकमें मिश्री और दूधकी भाँति घुले-मिले हैं।

भक्तिके साधन

वेदोंकी संहिताओंमें सत्सङ्ग, श्रद्धा, अद्रोह दान, ब्रह्मचर्य, कामादि-दोष-निवारण आदि अनेक भक्तिके साधनोंका वर्णन मिलता है। उन्हें यहाँ क्रमशः संक्षेपमें प्रदर्शित किया जाता है—

(१) सत्सङ्ग

पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि।
(ऋ० ५। ५१। १५)

'दानशील—उदार स्वभाववाले, विश्वासघातादि-दोषरहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्तकी हम बार-बार संगति करते रहें।' इस मन्त्रमें भक्तिके हेतुभूत सत्सङ्गका स्पष्ट वर्णन है।

(२) श्रद्धा

श्रद्धया सत्यमाप्यते।
(शु० यजु० १९। ३०)

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।
(ऋ० १०। १५१। ५)

'श्रद्धा-विश्वासद्वारा सत्य-परमात्माकी प्राप्ति होती है।' 'हे श्रद्धादेवी! हमारे हृदयमें रहकर तू हमें श्रद्धालु—आस्तिक बना।'

(३) अद्रोह

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
(शु० यजु० ३६। १८)

'मित्रभावकी (हितकर, मधुर) दृष्टिसे मैं समस्त भूत प्राणियोंको देखता हूँ, अर्थात् मैं किसीसे कभी भी द्वेष एवं द्रोह नहीं करूँगा।' किंतु शक्तिके अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा। भला चाहूँगा, भला कहूँगा एवं भला ही

करूँगा। (इस मन्त्रमें सर्वभूतहितेरतत्वका स्पष्ट उपदेश दिया गया है।)

(४) दान—उदारता

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।

(अथर्व० ३।२४।५)

'सौ हाथके उत्साह एवं प्रयत्नद्वारा तू हे मानव! धन-धान्यादिको सम्पादन कर और हजार हाथकी उदारताद्वारा तू उसका दान कर—योग्य अधिकारियोंमें वितरण कर।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्।

(ऋ० १०।११७।५)

'धनवान् सत्कार्यके लिये याचना करनेवाले सत्पात्रको धनादिका अवश्य दान करे।'

केवलाघो भवति केवलादी।

(ऋ० १०।११७।६)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदिको न देकर केवल आप अकेला ही जो अन्नादि खाता है, वह अन्न नहीं, किंतु पाप ही खाता है।' इसलिये शक्तिके अनुसार अन्योंको कुछ देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिये।

(५) ब्रह्मचर्य—संयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व० ११।७।१९)

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके लाभद्वारा ही मानव दैवीसम्पत्तिसम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्तिका सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्युका विध्वंस कर देते हैं।'

माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

(ऋ० १।९०।६; शु० य० १३।२७)

हे प्रभो! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम-सदाचारद्वारा प्रसन्नतायुक्त बनी रहें—इनमें असयमरूपी कटुता—विक्षेप न रहे, ऐसी कृपा करें।

(६) मोहादि षड् दोष-निवारणका उपदेश

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र!॥

(ऋ० ९।७।६; अथर्व० ८।४२।२२)

'हे इन्द्रस्वरूप जीवात्मन्! दिवान्ध उलूकके समान आचरण करनेवाले मोहरूपी राक्षसका, शुशुलूक (भेड़िये) के समान आचरण करनेवाले क्रोधरूपी राक्षसका, श्वा (कुत्ता) के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षसका तथा कोक (चकवा-चकवी) पक्षीके समान आचरण करनेवाले कामरूपी राक्षसका, सुपर्ण (गरुड़) के समान आचरण करनेवाले मदरूपी राक्षसका तथा गृध्र (गीध) के समान आचरण करनेवाले लोभरूपी राक्षसका सदुपायोंके द्वारा विध्वंस कर और जैसे पत्थरसे मिट्टीके ढेलेको पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छः मोहादि दोषरूपी राक्षस शत्रुओंको पीस डाल।'

इस प्रकार वेदोंकी परम प्रामाणिक संहिताओंमें भगवद्भक्तिके अनेक साधनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनोंमें सत्सङ्ग नन्दनवन है, संयम कल्पवृक्ष है और श्रद्धा कामधेनु है। जब साधक इस दिव्य नन्दनवनके कल्प-वृक्षकी शीतल मधुमयी छायामें बैठकर कामधेनुका अनुग्रह प्राप्त करता है, तब उसी समय आनन्दमयी, अमृतमयी, शान्तिमयी भक्तिमाताका प्राकट्य हो जाता है और साधकका जीवन कल्याणमय, धन्य एवं कृतार्थ हो जाता है।

उपसंहार

अन्तमें वैदिक स्तुति-प्रार्थना-नमस्कारादि—जो भक्तिके खास अङ्ग हैं—मन्त्रोंद्वारा प्रदर्शन करके अपने लेखका उपसंहार करता हूँ—

ॐ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्व० १०।८।१)

ॐ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥

(अथर्व० ११।२।१६)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥

(ऋ० ५।८२।५; शु० य० ३०।२)

'जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालिक समस्त जगत्का अधिष्ठाता—नियन्ता है एवं केवल स्वः (विशुद्ध अनन्त आनन्द) ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ (अतिप्रशस्त—महान्) ब्रह्मको नमस्कार है। उसे सायंकाल नमस्कार हो, प्रातःकाल नमस्कार हो। रात्रिमें नमस्कार हो एवं दिवसमें नमस्कार हो। अर्थात् सर्वदा उसीकी ओर हमारी भक्ति-भावसे भरी बुद्धिवृत्तियाँ झुकी रहा करें उस विश्व-उत्पादक एवं

विश्व-उपसंहारक भगवान्‌को मै दोनों हाथ जोडकर नमस्कार करता हूँ । हे सविता देव ! 'भगवन् ! हमारे समस्त दुःख-प्रद कश्मलोंको तू दूर कर और जो कल्याणकर सुखप्रद भद्र है, उसे हमें समर्पण कर । (यहाँ नास्तिकता, अश्रद्धा, अविवेक, दारिद्रय, कार्पण्य, असंयम, दुराचार आदि अनेक दोषोंका नाम दुरित है और तद्विपरीत आस्तिकता, श्रद्धा, विवेक, उदारता, नम्रता, संयम, सदाचार आदि सद्गुणोंका नाम भद्र है । हरिः ॐ तत्सत्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्* ।)

वेदोंमें भक्ति

(लेखक—याज्ञिक-सम्राट् प० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

'भज सेवायाम्' धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३ । ३ । ९४) इस सूत्रके अनुसार 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। वस्तुतः 'क्तिन्' प्रत्यय भाव-अर्थमें होता है—'भजनं भक्तिः।' परंतु वैयाकरणोंके यहाँ कृदन्तीय प्रत्ययों-के अर्थ-परिवर्तन एक प्रक्रियाके अङ्ग हैं। अतः वही 'क्तिन्' प्रत्यय अर्थान्तरमें भी हो सकता है ।

'भजनं भक्तिः', 'भज्यते अनया इति भक्तिः', 'भजन्ति अनया इति भक्तिः'—इत्यादि 'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं ।

'भक्ति' शब्दका वास्तविक अर्थ 'सेवा' है । वह सेवा अनेक प्रकारसे सम्पन्न होती है । जिसमें किसी भी प्रकारकी भक्ति है, उसे 'भक्त' कहते हैं। भक्ति तथा भक्तके अनेक भेदोपभेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं ।

भक्तिके विना किसी भी मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह सर्वानुभवसिद्ध है । भगवत्प्राप्ति-जैसा परम कल्याणकारक विषय भी भक्तिके विना सम्भव नहीं। विशेषता यह है कि भगवान् भी अपने भक्तका भजन करते हैं और भक्त भगवान्‌का ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११)

—के अनुसार भगवान् भी भक्तका भजन करते हैं।

न मे भक्तः प्रणश्यति । (गीता ९ । ३१)

—इस वचनके अनुसार भगवान् स्वयं अपने भक्तका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं ।

भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः ।

अर्थात् भगवान्‌में चित्तकी स्थिरताको भक्ति कहते हैं।

अद्वैतसिद्धिकार परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्प-वृत्तिर्भक्तिः ।

"भगवद्भावसे द्रवित होकर भगवान्‌के साथ चित्तके सविकल्प तदाकारभावको 'भक्ति' कहते हैं।"

भक्तिरसायन (१ । ३) में श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'भक्ति'का लक्षण यों किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

साराश यह है कि भगवद्गुणके श्रवणसे प्रवाहित होनेवाली भगवद्विषयिणी धारावाहिक वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं ।

देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च ।
(नारदभक्तिसूत्र २)

'परमेश्वरके प्रति होनेवाले परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं ।'

महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे । (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १ । १ । २)

'ईश्वरके प्रति परमानुरागको ही भक्ति कहते हैं ।'

साधारणतया वेदके कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन

---

* इस लेखके लेखक पूज्य महामण्डलेश्वर महाराजद्वारा संस्कृतमें लिखित तथा 'अध्यात्मज्योत्स्नाविवृति' नामक 'ऋग्वेद-सहितोपनिषच्छतकम्', 'यजुर्वेदसहितोपनिषच्छतकम्' तथा 'अथर्ववेदसहितोपनिषच्छतकम्'—ये तीन पुस्तकें [illegible] एवं वेद-सहिताओंके आध्यात्मिक ज्ञानरहस्यके जिज्ञासुओंको केवल डाकव्यय भेजनेपर विना मूल्य दी जाती हैं। पता—स्वामी कैवल्यानन्दजी कोठारीजी महाराज, ठि० सुरतगिरिका बँगला, मु० कनखल (हरिद्वार), जि० सहारनपुर, उ० प्र० ।

काण्ड माने जाते हैं। इनमें कर्मकाण्डका सम्बन्ध संहिता-ब्राह्मणभागसे और उपासना तथा ज्ञानकाण्डका सम्बन्ध आरण्यक-उपनिषद्भागसे है। फिर भी—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति (कठोपनिषद् १।२।२५)

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (गीता १५।१५)

—आदि वचनोंके आधारपर यह निश्चित होता है कि समस्त वेदोंका परम तात्पर्य परमेश्वरके ही प्रतिपादनमें है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, सोम आदि विभिन्न नाम-रूपोंसे एक ही परमेश्वर समस्त विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका कार्य कर रहे हैं; क्योंकि—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव…………… ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥
(ऋग्वेद ६।४७।१८)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

—इत्यादि मन्त्रोंसे यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि एक ही परमेश्वर इन्द्रादि विविध नामोंसे कहा गया है। इससे साराश यह निकला कि वेदोंमें इन्द्रादि विविध नामोंसे जो भी स्तुति आदि की गयी है, वह वस्तुतः परमेश्वरकी ही है।

'भक्ति' शब्दका अर्थ परमेश्वर-विषयक अनुराग है। उस अनुरागको* भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि विविध शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओंसे चरितार्थ करता है। इसीलिये भक्तिके अवान्तर अनेक भेदोंका वर्णन समय-समयपर महापुरुषोंने किया है।

वेदोंमे भी अनेक स्थलोंमें 'नवधा-भक्ति'का निरूपण है।

अब हम कतिपय उन वेदमन्त्रोंको उद्धृत करते हैं, जिनमें नवधा-भक्तिका वर्णन मिलता है; किंतु यह ध्यान रहे कि वेदोंमे भक्तिका स्वरूप बीजरूपमे ही मिलता है। इतिहास-पुराणादिमें इसीका महर्षियोंने उपबृंहण किया है।

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७।५)

१—श्रवण

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। (शु० यजुर्वेद २५।२१)

यह मन्त्र वेदत्रयीमें मिलता है। इसमें देवताओंसे प्रार्थना की गयी है कि 'हम भद्रपदवाच्य परमेश्वरके नाम, गुण, चरित्रोंका श्रवण करें।' 'भद्र' शब्दका अर्थ कल्याण, मङ्गल आदि है। 'कल्याणाना निधानम्', 'मङ्गलाना च मङ्गलम्' आदि वचनोंसे परमेश्वर ही परम मङ्गलस्वरूप हैं। भक्त उन्हीं मङ्गलमय परमेश्वरके (नाम-गुण-कथा-) श्रवणकी प्रार्थना करके अपनी 'श्रवण-भक्ति' व्यक्त करता है। उपर्युक्त 'भद्रं कर्णेभिः' इस मन्त्रके अन्तमे भक्त यहाँतक प्रार्थना करता है कि 'मैं दृढ़ अवयवयुक्त शरीरसे उसी प्रभुका स्तवन करता हुआ उस देव (परमेश्वर) के हितार्थ—प्रसन्नतार्थ—अपनी समस्त आयु व्यतीत करूँ'—

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा५ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।

२—कीर्तन

सुष्टुतिमीरयामि। (ऋग्वेद २।३३।८)

प्र सम्राजम्। (ऋग्वेद ८।१६।१; सामवेद पूर्वा० २।१।५।१०; अथर्ववेद २०।४४।१)

'इमा उ त्वा' (सामवेद पूर्वार्चिक २।२।१।२)

—इन मन्त्रोंमे कीर्तनरूप भक्तिका सकेत है।

३—स्मरण

स्तवाम त्वा स्वाध्यः। (ऋग्वेद १।१६।९)

भर्गो देवस्य धीमहि। (ऋग्वेद ३।६२।१०; शुक्ल-यजुर्वेद ३।३५)

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु (सामवेदीय मैत्रेय्युपनिषद् १।४।८)

—इन मन्त्रोंमें परमेश्वरकी स्मरणरूपा भक्ति तथा भजनीय तत्त्वके स्वरूपका वर्णन है।

४—पादसेवन

पदं देवस्य। (ऋग्वेद ८।१०२।१५; सामवेद उत्त० ७।२।१४।३)

इदं विष्णुः। (ऋग्वेद १।२२।१७; शुक्लयजुर्वेद ५।१५; सामवेद पूर्वा० ३।१।३।९)

—इन मन्त्रोंमें पादसेवनात्मिका भक्तिका सकेत मिलता है।

५—अर्चन

इन्द्राय मद्वने । (ऋग्वेद ८ । ९२ । १९; सामवेद पूर्वा० २ । २ । २ । ४)

अर्चत प्रार्चत । (सामवेद पूर्वा० ४ । २ । ३ । ३)

—इन मन्त्रोंमें अर्चन-भक्तिका उल्लेख मिलता है ।

६—वन्दन

अभि त्वा शूर नोनुमः । (ऋग्वेद ७ । ३२ । २२; शुक्लयजुर्वेद २७ । ३५; सामवेद पूर्वा० ३ । १ । ५ । १; अथर्ववेद २० । १२१ । १)

समस्य मन्यवे । (सामवेद पूर्वा० २ । १ । ५ । ३)

—इन मन्त्रोंमें वन्दनात्मक भक्ति दिखलायी गयी है ।

७—दास्य

यद्द्य कच्च । (ऋग्वेद ८ । ९३ । ४; शुक्लयजुर्वेद ३३ । ३५; सामवेद पूर्वा० २ । १ । ४ । २; अथर्ववेद २० । ११२ । १)

आ घा ये । (शुक्लयजुर्वेद ७ । ३२; सामवेद पूर्वा० २ । १ । ४ । ९)

—इन मन्त्रोंमें दास्य-भक्ति प्रदर्शित की गयी है ।

८—सख्य

स नः पितेव सूनवे । (ऋग्वेद १ । १ । ९)

अस्य प्रियासः सख्ये स्याम । (ऋग्वेद ४ । १७ । ९)

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम् (ऋग्वेद १ । ८९ । २; शुक्लयजुर्वेद २५ । १५)

य आम यत् परावतः । (साम० पूर्वा० २ । १ । ४ । ३)

—इन मन्त्रोंमें सख्य-भक्तिका बोधन कराया गया है ।

९—आत्मनिवेदन

उत वात पितासि नः । (ऋग्वेद १० । १८६ । २; सामवेद उत्त० ९ । २ । ११ । २)

यं रक्षन्ति । (सामवेद पूर्वा० ३ । २ । १० । १)

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । (श्वेता० उ० ६ । १८)

—इन मन्त्रोंमें आत्मनिवेदनका भाव अभिव्यक्त होता है ।

छान्दोग्योपनिषद्में सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत्में परम पुरुष परमेश्वरकी उपासनाके प्रकरणमे बतलाया गया है कि जो व्यक्ति यह जानता हुआ कि सूर्य आदिमें विद्यमान जो परमेश्वर है, वह मैं ही हूँ, इस प्रकार अभेद-भावनासे उन्हीं परमेश्वरकी उपासना करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह इहलोकमें सम्मानित होता है तथा दीर्घायुको प्राप्त करता है और उसके वंशका कभी क्षय नहीं होता । इससे स्पष्ट है कि परमेश्वरकी भक्ति (उपासना) ही मनुष्यके कल्याणका एकमात्र मार्ग है । अतः मनुष्यके लिये सर्वात्मना भक्तिका अवलम्बन करना परमावश्यक है; क्योंकि भक्तिका अन्तिम फल भगवत्स्वरूप-ज्ञान है । भगवत्स्वरूप (ब्रह्म) के ज्ञानसे ही प्राणी मुक्त होता है अर्थात् वह बारबार जन्म-मृत्युरूप महाभयंकर बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है, जिससे मुक्त होनेका अन्य कोई भी उपाय नहीं है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।
(शुक्लयजुर्वेद ३१ । १८)

य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः । (ऋग्वेद १ । १६४ । २३; अथर्ववेद ९ । १० । १)

'जो उस प्रभु (ब्रह्म) को जान लेते हैं, वे मोक्ष-पदको प्राप्त करते हैं ।'

वेदोंमें साध्य-भक्तिका भी सफल निर्देश है । वेदने ब्रह्मको 'रस' कहा है—'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७) । भक्तोंके लिये स्थाणु ब्रह्म 'मधु ब्रह्म' बन जाता है—

'मधु क्षरति तद् ब्रह्म ।'

सर्वविध रसोंके उज्ज्वल प्रस्रवणके रूपमे भी उसका वर्णन आता है—'सर्वगन्धः सर्वरसः' (छान्दो० उ० ३ । १४ । २) ।

अन्तमें हम अथर्ववेद (६ । ७९ । ३) के—

'तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ।'

(हे प्रभो ! हम तेरे भक्त बनें) इस मन्त्रांशका स्मरण करते हुए लेख समाप्त करते हैं ।

लेख-विस्तारके भयसे इस लेखमें नवधा भक्तिविषयक चारों वेदोंके मन्त्र पूर्ण न लिखकर केवल मन्त्रोंका प्रतीक मात्र दिया गया है और उनका अर्थ भी नहीं दिया गया है । अतः विशेष जिज्ञासुओंको ऋग्वेदादिके पूरे मन्त्रोंके परिज्ञानार्थ निर्दिष्ट मन्त्र-संकेतानुसार मन्त्र और ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदके मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये 'सायण-भाष्य' और शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये 'महीधर-भाष्य' देखना चाहिये ।

वेदोंमें भक्तिका स्वरूप

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

वेदोंके सम्बन्धमे कई प्रकारकी मिथ्या और भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। इनमे एक यह भी है कि वेदोंमें भक्ति-प्रेरक भावनाएँ उतनी विशद नहीं हैं, जितनी अन्य ग्रन्थोंमें—विशेषतः मध्यकालीन भक्तोंकी वाणीमें हैं। एक धारणा यह भी है कि वेद मन्त्र इतने क्लिष्ट हैं कि सामान्य जनके लिये उनका समझना कठिन होता है। इस सम्बन्धमें हमारा निवेदन यह है कि यदि संस्कृत भाषाका और विशेषतः वैदिक संस्कृतका तनिक भी ज्ञान हो तो वेदके अधिकाश मन्त्र सहज ही समझमें आ जाते हैं। वास्तविक तथ्य यह है कि वेद स्वयं इतने कठिन नहीं हैं, जितना भाष्यकारोंने उन्हे कठिन बना दिया है। वेदोंकी संस्कृत भाषा उस संस्कृतसे कई अंशोंमें भिन्न है, जिसे हम वाल्मीकि रामायण, महाभारत और गीतामें पढ़ते हं। उदाहरणके लिये 'देव' शब्दका तृतीया विभक्तिका बहुवचन प्रचलित संस्कृतमे 'देवैः' होता है; पर वेदमें प्रायः 'देवेभिः' का प्रयोग आता है। वेदको वेदसे समझनेका और पूर्ण श्रद्धाके साथ उसका अध्ययन करनेका यदि प्रयत्न किया जाय तो निज अनुभवके आधारपर हम कह सकते हैं कि सारी दिक्कतें दूर हो जाती हैं। गुरुजनों और विद्वत्पुरुषोंसे नम्रतापूर्वक शङ्का-निवारण तो करते ही रहना चाहिये।

भक्तिका स्वरूप

वेद वस्तुतः भक्तिके आदिस्रोत हैं। यदि हम भक्तिका स्वरूप समझ ले तो वेदोंमें वर्णित भक्तितत्त्वको समझनेमें सुगमता होगी। भक्तिका लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार किया गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् परमेश्वरमे अविचल और ऐकान्तिक भावना और आत्मसमर्पणकी उत्कट आकाङ्क्षाको 'भक्ति' कहा गया है। हमे यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'भक्ति' शब्द 'भज् सेवायाम्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति हृदयकी उस भावनाका नाम है, जिसमें साधक जहाँ एक ओर पूर्णभावसे ब्रह्ममें अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपनेको ब्रह्मार्पण करनेवाला हो, वहाँ साथ ही ब्रह्मद्वारा रचित इस सारी सृष्टिके प्रति सेवाकी भावना रखनेवाला भी हो। ऋग्वेदके शब्दोंमें—

> मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
> मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्॥

वेदका भक्त कहता है—'मैं सब प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ और सब प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखनेवाले हों।'

भक्ति और शक्तिका अटूट सम्बन्ध

वैदिक भक्तिकी एक और विशेषता है, आगे चलकर जिसका मध्यकालमें लोप हो गया। वह यह कि वेदमें आपको ऐसा कोई मन्त्र नहीं मिलेगा, जिसमें उपासक, साधक अथवा भक्त अपनेको अधम, नीच, पापी, खल, दुष्ट, पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभुको किसी प्रकारका उपालम्भ दे। इसका कारण यह है कि वेदमें 'भक्ति'के साथ 'शक्ति'का सतत और अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है। वेदके द्वारा प्रभु यह आदेश देते हैं कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये वेदमे भक्त—

> **तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, सहोऽसि सहो मयि धेहि॥** (यजुर्वेद)

प्रभुको तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिका अजस्र भंडार मानता हुआ उससे तेज, वीर्य (शक्ति), बल, ओज और सहनशक्तिकी कामना करता है। वेदका भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है—यह इस मन्त्रके एक अंशमें देखिये—

> कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः॥
> (अथर्व० ७। ४०। ८)

'मेरे दायें हाथमें कार्यशक्ति है और बायें हाथमें विजय है।'

प्रभुके प्रति प्रणमनकी भावना

पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेदमें ब्रह्मके प्रति साधककी प्रणमन, विनम्रता और आत्मलघुताकी भावनाका निराकरण है। निम्नलिखित उदाहरणस्वरूप मन्त्रोंमें भक्त कितनी तन्मयताके साथ विशाल प्रभु-चरणोंमें अपनेको नतमस्तक हो उपस्थित करता है—

> (१) यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
> स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
> (अथर्व० १०। ८। १)

भूत-भविष्यत्-वर्तमानका जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योममें व्याप्त हो रहा जो त्रिकालका है स्वामी॥
निर्विकार आनन्द-कन्द है जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

(२)यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व १० । ७ । ३२)

सत्य ज्ञानकी परिचायक यह पृथ्वी जिसके चरण महान।
जो इस विस्तृत अन्तरिक्षको रखता है निज उदर समान॥
शीर्षतुल्य है जिसके शोभित यह नक्षत्रलोक द्युतिमान।
उस महान जगदीश्वरको है अर्पित मेरा नम्र प्रणाम॥

प्रभुसे हम क्या माँगें, यह निम्न मन्त्रमें देखिये—

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि॥
(ऋग्० १ । ८६ । १०)

'हे प्रियतम! हृदय-गुहाके अन्धकारको विलीन कर दो, नाशक पापको भगा दो और हे ज्योतिर्मय! हम जिस ज्योतिको चाहते हैं वह हमें दो।'

शरणागतकी भावना

भगवान् अशरणोंके शरण हैं। उन्हींकी कृपासे मेरा उद्धार हो सकता है—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेषु ईड्यः॥
(ऋग्० ८ । ११ । १०; यजु० ४ । १६; अथर्व १९ । ५९ । १)

चतुर्दिक् तुम्हीं नाथ छाये हुए हो,
मधुर रूप अपना बिछाये हुए हो।
तुम्हीं व्रत-विधाता, नियन्ता जगतके,
स्वयं भी नियम सब निभाये हुए हो।
प्रभो! शक्तियाँ दिव्य अनुपम तुम्हारी,
तुम्हीं दूर, तुम पास आये हुए हो।
करें हम यजन, पुण्य शुभकर्म जितने,
सभीमें प्रथम स्थान पाये हुए हो।
तुम्हारी करें वन्दना देव! निशिदिन,
तुम्हीं इस हृदयमें समाये हुए हो॥

निराश मत हो, मानव!

जिस समय मानवकी जीवन-नैया इस भवसागरमें डाँवाडोल होती है और वह निराश हो जाता है, उस समय करुणागार भगवान् आशाकी प्रेरणा देते हैं—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं
ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथम्
अथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥
(अथर्व ८ । १ । ६)

किसलिये नैराश्य छाया?
किसलिये कुम्हला रहा यह फूल-सा चेहरा तुम्हारा।
तुम स्वयं आदित्य! दुर्दिनका न गाओ गान रोकर।
हे सुदिव्य महारथी! संकल्प एक महान होकर।
फिर बढ़ो, फिर-फिर बढ़ो, चिरतक बढ़ो, अभिमान खोकर।
फिर तुम्हारी हार भी विख्यात होगी जीत बनकर।
फिर तुम्हारी मृत्यु गूँजेगी अमर संगीत होकर।
काल यह संदेश लाया, किसलिये नैराश्य छाया॥

प्रभुका यह विश्व रमणीक है

वेदका भक्त इस विश्वको दुःखदायक और भ्रमपूर्ण नहीं समझता। वह इसे 'रमणीय' समझता है और वास्तविक समझता है। वह प्रभुसे प्रार्थना करता है—

वसन्त इन्नु रन्त्यः, ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनुशरदो हेमन्तः, शिशिर इन्नु रन्त्यः॥
(साम ६ । ३ । ११ । २)

वसन्त रमणीय सखे, ग्रीष्म रमणीय है।
वर्षा रमणीय सखे, शरद रमणीय है।
हिमान्त रमणीय सखे, शिशिर रमणीय है।
मन स्वय भक्त बने, विश्व तो रमणीय है।

वेदोंमें भक्तिके उदात्त और पुनीत उद्गार अनेक स्थलों पर अङ्कित हैं। हमने यहाँपर कुछ उदाहरण ही उपस्थित किये हैं। इन्हें पढ़कर यदि हमारी वेदोंमें श्रद्धा बढ़े, उनके स्वाध्यायकी ओर प्रवृत्ति हो और वेदोंकी रक्षा और उनके प्रचारकी ओर हम लग सकें तो निश्चय ही हमारा अपने देशका और विश्वका कल्याण होगा। मङ्गलमय भगवान् ऐसी कृपा करें।

वेदोंमें ईश्वर-भक्ति

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसाद सिंह)

कुछ लोगोंका कहना है कि वेदोंमें ईश्वर-भक्तिका समावेश नहीं; परंतु विचार करनेसे पता लगता है कि वेदोंमें ईश्वर-भक्तिके विषयमें जो मन्त्र विद्यमान हैं, वे इतने सारगर्भित तथा रससे भरे पड़े हैं कि उनसे बढ़कर भक्तिका सोपान अन्यत्र मिलना कठिन है । ईश्वर-भक्तिके सुगन्धित पुष्प वेदके प्रत्येक मन्त्रमें विराजमान हैं, जो अपने प्राणकी सुगन्धसे स्वाध्यायशील व्यक्तियोंके हृदयोंको सुवासित कर देते हैं । वेदमें एक मन्त्र आता है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमा दिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(यजु० २५ । १२)

'जिसकी महिमाका गान हिमसे ढके हुए पहाड़ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग समुद्र अपनी सहायक नदियोंके साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएँ जिसके बाहुओंके सदृश हैं, उस आनन्दस्वरूप प्रभुको मेरा नमस्कार है ।'

प्रभुकी महिमा महान् है । अणु-अणुमें उसकी सत्ता विद्यमान है । ये सूर्य, चन्द्र, तारे तथा संसारके सारे पदार्थ उसकी सर्वव्यापकताके साक्षी हैं । उषाकी लालिमा जब चहुँदिक् छा जाती है, भाँति-भाँतिके पक्षी अपने विविध कलरवोंसे उसीकी भक्तिके गीत गाते हैं । पहाड़ी झरनोंमे उसीका सगीत है । जिस प्रकार समाधिकी अवस्थामें एक योगी बिल्कुल निश्चेष्ट होकर ईश्वरके ध्यानमें लवलीन हो जाता है, उसी प्रकार ये ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अपने सिरोंको हिमकी सफेद चादरसे ढककर ध्यानावस्थित होकर अपने निर्माताकी भक्तिमें मौन भावसे खड़े हैं । कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि भक्तिके आवेशमें ईश्वर-भक्तकी ऑखोंसे प्रेमके अश्रु छलक पड़ते हैं । उसी प्रकार पर्वतोंके अंदरसे जो नदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, वे ऐसी लगती हैं मानो उन पर्वतोंके हृदयसे जल-धाराएँ भक्तिके रूपमें निकल पड़ी हैं । जैसे ईश्वर-भक्तके हृदयमें लहराते हुए परमात्मप्रेमके अगाध सिन्धुमें नाना प्रकारकी तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार आकर्षण-शक्तिके द्वारा जिसे प्रभुने समुद्रके हृदयमें डाल रखा है, उस प्रेमकी ज्वार-भाटाके रूपमें विशाल लहरें समुद्रमें पैदा होती हैं । यह प्रेम समुद्रके हृदयमें किसने पैदा किया ? समुद्र और चन्द्रमाके बीच जो आकर्षण-शक्ति है, यह कहाँसे आयी ? किस महान् शक्तिकी प्रेरणासे पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाके पूर्ण विकसित चेहरेको देखकर समुद्र अपने प्राणप्रिय चन्द्रदेवसे मिलनेके लिये बाँसों उछलता है ? ठीक इसी प्रकार जब ईश्वर-भक्त परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, उसका हृदय भी गद्गद होकर उसकी ओर आकर्षित हो जाता है । यह सच है कि प्रकृति देवी धानी साड़ी पहने हुए अपने पतिदेव परमात्माकी भक्तिमें दिन-रात लगी रहती है । एक वाटिकाके खिले फूल अपनी आकर्षक सुरभिके साथ मूक स्वरसे अपने निर्माताका स्तवन करते रहते हैं । सूर्यकी प्रचण्डता, चन्द्रकी शीतल ज्योत्स्ना, ताराओंका झिलमिल प्रकाश, अरोरा बोरियालिसका उत्तरी ध्रुवमें प्रकाशित होना तथा ऑस्ट्रेलिसका दक्षिणी ध्रुवमें उदय होना, हिमाच्छादित पर्वत-मालाएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, झरझर झरते हुए झरने मानो अपने निर्माताकी भक्तिके गीत सदा गाते रहते हैं । वेद-भगवान् हमें आदेश देते हैं कि वह ईश्वर जिसकी महिमाका वर्णन ये सब पदार्थ कर रहे हैं, जिसकी भक्तिका राग यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है—हे मनुष्य ! यदि दुःखोंसे छूटना चाहता है तो तू भी उसीकी भक्ति कर । इसके अतिरिक्त दुःखोंसे छूटनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

दर्शनोंमें भक्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी०लिट्)

भारतीय दर्शनोंका एकमात्र लक्ष्य है 'आत्मदर्शन'। जितने दर्शन हैं, वे सब इसी आत्मदर्शनके लिये हमे उपाय दिखाते हैं। यही बात श्रुतिमे भी कही गयी है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।' ये तीनों प्रक्रियाएँ प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक अनुभवके लिये एवं आत्मसाक्षात्कारके निमित्त अत्यावश्यक हैं।

यह सभी जानते हैं कि 'दर्शन' (देखना) 'ज्ञान' की एक विशेष अवस्था है।

यही बात गीतामें भगवान्‌ने कही है—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
(१३। ११)

उसके लिये 'निदिध्यासन' की आवश्यकता होती है। एकाग्रचित्तसे तन्मय होकर 'आत्मा' को या किसी भी वस्तुको देखना, अर्थात् चित्तका दृश्य वस्तुके आकारका हो जाना ही 'निदिध्यासन' है। इस एकाग्रताके लिये 'अभ्यास' और 'वैराग्य'की सहायतासे चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंको रोककर समाधिमे स्थिर हो जाना पड़ता है।

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि किसी वस्तुके साथ तन्मय होनेके लिये उस वस्तुमें अनन्यभक्ति रखना तथा उस वस्तुको छोड़कर अन्य सभी वस्तुओंके प्रति सर्वथा वैराग्य प्राप्त करना आवश्यक है। अतएव 'आत्मदर्शन' के लिये आत्माके प्रति अनन्यभक्ति एव आत्मासे इतर वस्तुओंके प्रति वैराग्यका होना आवश्यक है। यद्यपि प्रत्येक भारतीय दर्शन उसी 'आत्मदर्शन' का साधन है, तथापि सर्वतोभावेन 'आत्म-साक्षात्कार' प्रत्येक स्तरपर नहीं होता। प्रत्येक 'दर्शन' तो आत्म-दर्शनमार्गकी एक-एक सीढ़ी है, अतएव हरेक सीढीपर आंशिकरूपमें आत्मदर्शनके आभासका केवल भानमात्र होता है। सर्वतोभावेन साक्षात्कार तो 'काश्मीर-शैव-दर्शन' के द्वारा ही प्राप्त होता है; परंतु भक्ति और वैराग्यकी आवश्यकता हरेक स्तरपर रहती है।

'भक्ति' शब्द सेवा करनेके अर्थमें 'भज्' धातुसे बना है। परमतत्त्व 'आत्मा' या भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये 'भक्ति' का स्थान बहुत ही ऊँचा है। नारदने 'भक्तिसूत्र' में इसीलिये कहा है—

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।

'देवीभागवत' में भी कहा गया है—

मत्सेवातोऽधिकं किंचित् नैव जानाति कर्हिचित्।

'नारदपाञ्चरात्र' मे तो 'मुक्ति' से भी अधिक महत्त्व 'भक्ति' को दिया गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥
तस्मात सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः।

श्रीरामानुजाचार्यने अपने गीताभाष्यमें कहा है—

पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन परमपुरुषार्थलक्षण-मोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीत भक्तियोगम् अवतारयामास।

न केवल भगवान्‌का साक्षात्कार करनेके लिये ही 'भक्ति' की आवश्यकता है; अपितु किसी भी वस्तुके यथार्थ ज्ञानके लिये उस वस्तुके प्रति जबतक अनन्यभक्ति न होगी, तबतक उसका पूर्ण ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इसीलिये प्रत्येक 'दर्शन' में निदिध्यासन आवश्यक माना गया है।

साधारणरूपसे आत्मदर्शन या ईश्वरदर्शनके लिये दो भिन्न मार्ग हैं—ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य आदि द्वारा प्रचारित दर्शन तो भक्तिप्रधान मार्ग हैं और न्याय आदि दर्शन ज्ञानप्रधान शास्त्र हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियाँ दोनों मार्गोंका समर्थन करती हैं। रामानुजके मतमें भगवान्‌की उपासना ही निदिध्यासन या भक्ति है। ध्यान आदिके द्वारा साधक भक्तिमार्गमें अग्रसर होता है, उसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इनका 'प्रसाद' ही मोक्षका श्रेष्ठ द्वार है। भक्तिका पूर्ण स्वरूप 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' में ही दीख पड़ता है। प्रपत्तिके द्वारा ही ज्ञान तथा कर्म भी मोक्ष-की प्राप्तिमें सहायक होते हैं। ईश्वरको उपासनाके द्वारा प्रसन्न करनेसे ही 'जीव' मुक्त होता है। यह निम्बार्कका भी मत है। मध्व तथा वल्लभ आदि सभी वैष्णव दर्शनोंका इसमें मतैक्य है।

यह सभीको ज्ञात है कि उपनिषद्‌के आधारपर ही सभी भारतीय दर्शन रचे गये हैं। उपनिषदोंमें 'उपासना' का एक विशेष स्थान है। वास्तवमें 'उपासना'के द्वारा ही आत्मदर्शन

हो सकता है । अतएव भारतीय दर्शनोंमें भी 'उपासना' का एक प्रमुख स्थान है । श्रीशंकराचार्यने भी ब्रह्मसूत्रभाष्यमे तथा अन्यत्र भी उपासनाको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये बहुत ऊँचा स्थान दिया है । उन्होंने स्पष्ट कहा है—'महते हि फलाय ब्रह्मोपासनमिष्यते ।' (शांकरभाष्य १।१।२४) बौद्धदर्शनमे भी 'शमथ' अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिकी 'प्रज्ञा' के उदयके लिये आवश्यकता मानी गयी है। 'ध्यान' पारमिताके अनन्तर ही 'प्रज्ञा' का उदय तथा उसीसे परम तत्त्वकी अनुभूति होती है । 'शमथ' तथा 'ध्यान' में तो 'प्रपत्ति' रूप भक्ति ही प्रधान है । इसी प्रकार अन्य सभी दर्शनोंमें भक्तिका बहुत बड़ा महत्त्व है ।

वस्तुतः परम तत्त्वको जाननेके लिये जिज्ञासुको आत्म-समर्पण करना पड़ता है । आत्मसमर्पणके बिना ज्ञानका उदय नहीं हो सकता । जबतक अन्तःकरणसे 'अभिमान' का नाश नहीं होगा, तबतक ज्ञानका उदय किसी प्रकार न होगा और अभिमानका नाश केवल आत्मसमर्पण अर्थात् प्रपत्तिरूपा भक्तिसे ही होता है । दर्शनोंका चरम लक्ष्य तो आत्म-साक्षात्कार ही है। इसकी प्राप्तिके लिये अभिमानका नाश होना परमावश्यक है । यही बात—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इस कथनसे स्पष्ट होती है । तभी तो भगवान्ने उसी क्षण एवं उसी अवस्थामें अर्जुनको तत्त्व-ज्ञानका उपदेश दिया और अर्जुनका मोह दूर हो गया । यही तो अहंकारकी पराजय तथा पराभक्तिकी महिमा है । इसके बिना दर्शनोंके क्षेत्रमें परमतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यही बात गीतामें भिन्न शब्दोंके द्वारा भी कही गयी है—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् ।'

'श्रद्धा' भी तो 'भक्ति' का ही एक स्वरूप है ।

उपनिषद्में भक्ति

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

बहुतोंकी यह धारणा है कि उपनिषद्में केवल ज्ञानकी चर्चा है, भक्ति या कर्मकी चर्चा नहीं है; परंतु यह यथार्थ नहीं है । उपनिषद्में ज्ञान, भक्ति और कर्म—सबकी चर्चा है । यह तो सभी जानते हैं कि गीतामे ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनोंकी चर्चा है और यह भी सब लोग जानते हैं कि गीता उपनिषदोंका सार है । उपनिषद् गौके समान है और गीता दुग्धके समान । अतएव यदि उपनिषद्में ज्ञान, भक्ति और कर्मकी चर्चा न हो तो गीतामें किस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्मकी चर्चा हो सकती है । इस प्रबन्धमे हम यह विचार करेंगे कि उपनिषद्में भक्तिकी चर्चा किस रूपमें है ।

उपनिषद्में कहा गया है कि ब्रह्मकी उपासना करना उचित है तथा ब्रह्मकी कृपा होनेपर उसको प्राप्त कर सकते हैं । 'केन' उपनिषद्में कहा है—

तद्वनमित्युपासितव्यम् ॥ (४।६)

तद् (ब्रह्म) वनम् (भजनीयम्) इति उपासितव्यम्।

'भजनीय वस्तु होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये ।'

कठोपनिषद् कहता है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥

(२।२।३)

'ब्रह्म प्राणवायुको ऊर्ध्व दिशामें प्रेरित करता है, अपान वायुको निम्न दिशामें प्रेरित करता है । वह स्वयं भजनीयरूपमें हृदयके भीतर अवस्थान करता है, उसकी सारे देवता उपासना करते हैं ।'

यदि देवतागण ब्रह्मकी उपासना करते हैं तो मनुष्योंको उसकी उपासना करनी चाहिये, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

मुण्डकोपनिषद् कहता है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं संधयीत ।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

(२।२।३)

'उपनिषदुक्त धनुष ग्रहण करके उसपर शरको योजित करे । पहलेसे ही उपासनाके द्वारा उस शरको तेज धारवाला बना ले । ब्रह्ममें तन्मयतायुक्त अन्तःकरणके द्वारा उस धनुष-को आकर्षित करे और उसका लक्ष्य अक्षर ब्रह्मको ही जाने ।'

यह धनुष क्या है ? यह बात अगले श्लोकमें कही गयी है । प्रणव (ॐकार) ही वह धनुष है, आत्मा (जीवात्मा) शर है तथा ब्रह्म उसका लक्ष्य है ।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ४)

'प्रणव (ॐकार) धनुष है, आत्मा शर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। यत्नपूर्वक लक्ष्य-भेद करे। शरके समान तन्मय हो जाय।'

कठोपनिषद्में निम्नाङ्कित श्लोक पाया जाता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
(१ । २ । २३)

इसका सरल अर्थ इस प्रकार है—

'यह आत्मा उत्कृष्ट शास्त्रीय व्याख्यानके द्वारा उपलब्ध नहीं किया जाता, मेधाके द्वारा नहीं प्राप्त होता, बहुत पाण्डित्यके द्वारा (भी) नहीं प्राप्त होता। यह जिसको वरण करता है, उसीको प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको व्यक्त करता है।'

यह भक्तिकी चर्चा है। ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मकी कृपा अर्जन करनी पड़ती है। जो मनुष्य ब्रह्मकी उपासना करता है, उसीपर ब्रह्मकी कृपा होती है। बहुत विद्या-बुद्धि होनेसे ही ब्रह्मकी कृपा होगी, ऐसी बात नहीं है। इसके लिये भक्तिका होना आवश्यक है।

श्रीरामानुज-मतके अनुयायी श्रीरङ्ग रामानुजने उपर्युक्त मन्त्रकी इस प्रकारसे व्याख्या की है। परंतु श्रीशंकराचार्य इस प्रकारकी व्याख्या नहीं करते। ऐसी व्याख्या करनेमें उनको दो आपत्तियाँ हो सकती हैं। पहले तो उनके मतसे ज्ञानके द्वारा मोक्ष होता है, मोक्षकी प्राप्ति ब्रह्मकी कृपाकी अपेक्षा नहीं करती। दूसरी बात यह है कि उनके मतसे ब्रह्म और जीवात्मा अभिन्न हैं। इसलिये वे यह नहीं कहते कि जीवात्मा ब्रह्मको प्राप्त करेगा। अतएव उन्होंने दूसरे प्रकारसे व्याख्या की है। वे कहते हैं—

यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानमेव प्रार्थयत। आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः ॥

इसका अर्थ यह है कि 'वह साधक जो अपने आत्माको वरण करता है, वही वरणकारी है। उस वरणकारी आत्माके द्वारा स्वयं आत्मा ज्ञात होता है। जो निष्काम है, वह केवल आत्माकी ही प्रार्थना करता है। आत्मा ही आत्माको जानता है।' यह व्याख्या अस्पष्ट तथा क्लिष्ट कल्पना-सी जान पड़ती है। मूलमें है कि आत्मा जिसको वरण करता है, वही उसे प्राप्त करता है। परंतु इस व्याख्यामें कहा गया है कि जो आत्मा वरण करता है, वह प्राप्त करता है। यह श्लोक मुण्डक उपनिषद् (३ । २ । ३) में भी है। यहाँ शंकरने कुछ भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। जैसे—

यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान् वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण नित्यलब्धस्वभावत्वात् ॥

इसका अर्थ यह है कि 'यह विद्वान् जिस परमात्माको वरण करता है, उसी वरणद्वारा उस परमात्माकी प्राप्ति होती है, किसी दूसरे साधनका प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि वह नित्य निज स्वभावको प्राप्त हुआ रहता है।'

जान पड़ता है कि मुण्डकोपनिषद्के इस श्लोककी व्याख्या करते समय आचार्य शंकरने यह व्यक्त कर दिया है कि पहले कठोपनिषद्में इसकी जैसी व्याख्या हुई है, वह ठीक नहीं हुई है। इसी कारण यहाँ और ही ढंगसे व्याख्या की गयी है। परंतु इस व्याख्यामें भी 'यम्' तथा 'तेन' इन दो शब्दोंके बीच संगतिकी रक्षा नहीं हुई है। रामानुज-मतके अनुसार जो व्याख्या की गयी है, वह खूब सरल और संतोषजनक है—इसमें संदेह नहीं।

कठोपनिषद्में एक और श्लोकमें भक्तिकी चर्चा है—

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥
(१ । २ । २०)

'आत्मा अणुसे भी अणु है, महान्से भी महान् है। यह प्राणीकी हृदय-गुहामें अवस्थान करता है। निष्काम साधक ईश्वरकी कृपासे उसका दर्शन करता है। उसका दर्शन करनेपर साधकमें सर्वज्ञता आदि महिमाका आविर्भाव होता है तथा वह शोकसे उत्तीर्ण हो जाता है।'

यह व्याख्या रामानुजके मतके अनुसार की गयी है। परंतु आचार्य शंकरने इस श्लोकमें 'धातुः प्रसादात्'के स्थानमें

'धातुप्रसादात्' पाठ ग्रहण करके इसकी व्याख्या की है। धातु अर्थात् मन आदि इन्द्रियाँ, उनके प्रसाद अर्थात् निर्मलताके प्राप्त होनेपर आत्मदर्शन होता है। इस प्रकार व्याख्या करनेसे यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग नहीं रह जाता। 'धातुः प्रसादात्'—यह पाठ मध्वाचार्यने भी ग्रहण किया है।

इस प्रवन्धके अन्तिम भागमे हमने श्वेताश्वतर-उपनिषद्से एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि श्वेताश्वतर ऋषिने तपस्याके प्रभावसे तथा 'देवप्रसादात्' अर्थात् ईश्वरकी कृपासे ईश्वरको प्राप्त किया था। कठोपनिषद्के इस श्लोकमें 'धातुः प्रसादात्' पाठ लेनेपर श्वेताश्वतर-उपनिषद्की उक्तिके साथ उसकी एकवाक्यता हो जाती है।

श्रीचैतन्यके द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्ममें पाँच प्रकारकी भक्तिकी बात कही गयी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। ऋषि-मुनि लोग चित्त स्थिर करके भगवान्का चिन्तन करते हैं; इसको शान्तभावकी उपासना कहा है। ईश्वरको प्रभु तथा अपनेको उसका दास मानकर साधक जो उपासना करता है, वह दास्यभावकी उपासना है। ईश्वरको सखाके रूपमें चिन्तन करनेपर सख्यभावकी उपासना होती है। पुत्रके रूपमें चिन्तन करनेपर वात्सल्य-भावकी उपासना होती है तथा पतिके रूपमें चिन्तन करनेपर मधुरभावकी उपासना होती है। इन पाँचों भावोंमें पूर्वकी अपेक्षा परभाव उच्चतर होते है। पहले जो उपनिषद्वाक्य उद्धृत किये गये है, उन स्थानोंमें किस भावकी उपासना है—इसका स्पष्ट उल्लेख न होनेपर भी इतना कह सकते हैं कि उक्त सभी स्थलोंमें शान्त और दास्यभावकी उपासनाकी चर्चा की गयी है। सख्य-भावकी उपासनाका उल्लेख उपनिषद्मे एक जगह पाया जाता है। मुण्डक-उपनिषद् कहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥
(३।१।१)

'एक वृक्षपर दो पक्षी सखाके समान एकत्र रहते हैं। उनमेंसे एक पक्षी स्वादु फल (कर्मफल) खाता है। दूसरा पक्षी आहार नहीं करता, केवल देखता रहता है।'

ऋग्वेद-संहिता १।१६४।२५ में भी यह मन्त्र पाया जाता है।

मधुर और वात्सल्यभावकी उपासना दस प्रधान उपनिषदोंमें नहीं प्राप्त होती। कृष्णोपनिषद्, गोपालपूर्वतापनी-उपनिषद् आदिमें देखी जाती है।

कुछ लोगोंकी मान्यता है कि उपनिषद् जब ब्रह्मको निराकार कहते हैं, तब आकारयुक्त किसी वस्तुकी ब्रह्मरूपमे उपासना उपनिषद्-मतके विरुद्ध है। केनोपनिषद्मे कहा गया है कि "चक्षु जिसको देख नहीं सकता, जिसकी शक्तिसे चक्षुको देखा जाता है, उसको ब्रह्म जानो। जिसकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं।' जो लोग साकार पूजाके विरोधी हैं, वे इस वाक्यको अपने मतका समर्थक मानते हैं। परंतु इस वाक्यका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी भी आकारयुक्त वस्तुकी ब्रह्मरूपमें उपासना करना उचित नहीं। जिस प्रकार ब्रह्मको चक्षुके द्वारा नहीं देख सकते, उसी प्रकार मनके द्वारा भी उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतएव यदि कोई मनसे निराकार ब्रह्मका चिन्तन करनेकी चेष्टा करता हुआ उपासना करता है तो वह जिसकी उपासना करेगा, वह वस्तु ब्रह्मसे भिन्न होगी। साकार या निराकार जिस किसी भी वस्तुकी उपासना की जायगी, वह ब्रह्मसे भिन्न वस्तु ही होगी। अतएव जिस प्रकार किसी निराकार वस्तुकी (जो ब्रह्म नहीं है) उपासना की जाती है, उसी प्रकार किसी साकार वस्तुकी भी (जो ब्रह्म नहीं है) उपासना की जाती है। उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें ब्रह्म-भिन्न वस्तुकी ब्रह्मके रूपमें उपासना करनेकी बात आती है। इस प्रकारकी उपासनाको प्रतीक-उपासना कहते हैं। यह भी ध्यानमे रखनेकी बात है कि सारे पदार्थ ब्रह्मके ही अंश हैं, अतएव वस्तुतः ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

तैत्तिरीय-उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्लीके दूसरे, तीसरे और चौथे अनुवाकोंमें अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी ब्रह्मरूपमे उपासना करनेकी बात आती है। तैत्तिरीय-उपनिषद् ३।१० में दूसरे ही प्रकारसे प्रतीक-उपासनाका उल्लेख है। छान्दोग्य-उपनिषद्में ब्रह्मोपासनाकी चर्चा है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
(३।१४।१)

अर्थात् जगत्की सभी वस्तुएँ ब्रह्म हैं; क्योंकि सभी वस्तुएँ ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती हैं, ब्रह्ममें ही अवस्थान करती है तथा ब्रह्ममें ही विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए मनको शान्त रखकर उपासना करनी चाहिये।

हम यह भूल गये हैं कि सारी वस्तुएँ ब्रह्मका अंश हैं। समझते हैं कि कोई मेरा मित्र है, कोई मेरा शत्रु है; किसीके प्रति प्रेम होता है, किसीके प्रति द्वेष होता है, मन अशान्त हो उठता है। परंतु यदि हम विचार करें कि सारी वस्तुएँ ही ब्रह्मका अंश हैं, तो इससे मन शान्त हो जाय और उपासना करनेकी सुविधा मिले। यह है वैष्णवधर्मोक्त शान्त-भावकी उपासना।

छान्दोग्य-उपनिषद्में प्रतीक-उपासनाका भी उल्लेख मिलता है—**मनो ब्रह्मेत्युपासीत।** (छा० ३। १८। १) 'मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे।' जैसे ब्रह्मको इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत नहीं होता। इसी सादृश्यके कारण मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी बात कही गयी है। सूर्य जैसे ज्योतिर्मय है, ब्रह्म भी उसी प्रकार ज्योतिर्मय है। इस सादृश्यको लेकर सूर्यकी भी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेके लिये कहा गया है—

आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत। (छा० उ० ३। १९। १)

छान्दोग्य-उपनिषद्में निम्नलिखित वस्तुओंकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात आयी है—(१) पूर्व, पश्चिम आदि चारों दिशाएँ; (२) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा समुद्र, (३) अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत्; (४) प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन। (देखिये ४। ५–८)

कठोपनिषद्के निम्नलिखित वाक्यमें ॐकारकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात कही गयी है। यह भी प्रतीक-उपासना ही है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१। २। १६)

'यह प्रणव (ॐकार) ही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है, इसकी अक्षररूपमें उपासना करनेपर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसको वह प्राप्त होती है।'

शंकर और रामानुज दोनोंके ही मतसे एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा—इसका अर्थ प्रणवकी ब्रह्मरूपमें उपासना करना है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में ब्रह्मके प्रति सम्पूर्ण भावसे आत्म-समर्पण करनेकी बात आती है—

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। (६। १८)

'हे भगवन्! मैं मोक्षकी प्राप्तिके लिये आपकी शरण लेता हूँ।' श्वेताश्वतर ऋषिने तपस्याके प्रभावसे तथा 'ईश्वरके अनुग्रह'से ब्रह्मको जान लिया था—

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च
ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
(६। २१)

पूर्व-उद्धृत कठोपनिषद्के वाक्य (१। २। २१) में 'धातुः प्रसादात्' पद है और यहाँ श्वेताश्वतर-उपनिषद्में 'देवप्रसादात्' पद आया है। दोनोंका अर्थ एक ही है। पूर्वोद्धृत कठोपनिषद्के (१। २। २३) मन्त्रकी भक्ति-मार्गानुसारी व्याख्या ही समीचीन है, यह श्वेताश्वतर उपनिषद्के इन वाक्योंद्वारा स्पष्ट हो जाता है। पुनः श्वेताश्वतर-उपनिषद्में कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६। २३)

'जिसकी ईश्वरमें परा भक्ति है और ईश्वरमें जैसी भक्ति है, वैसी ही गुरुमें भी है, उसके सामने ये बातें कहनेपर वह सब कुछ उपलब्ध कर सकता है।'

भक्तिमार्गकी साधनामें गुरुभक्तिकी जो उच्च प्रशंसा है, उसका भी मूल उपनिषद्में है। अतएव देखा जाता है कि उपनिषद्में भक्तिकी चर्चा अनेक स्थलोंपर की गयी है। यह भी कहा गया है कि ब्रह्मकी कृपाके बिना ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ब्रह्मकी भक्ति करना ही ब्रह्मकी कृपा-प्राप्तिका उपाय है। उपनिषद्में जहाँ कहा गया है कि ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वहाँ भी समझना चाहिये कि उपनिषद्का उद्देश्य भक्तिके द्वारा ज्ञानकी तथा ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति करना ही है। यदि ऐसी व्याख्या न करें तो 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठ० १। २। २३ तथा मुण्डक ३। २। ३) अर्थात् जिसपर ब्रह्मकी कृपा होती है, केवल वही उसको पा सकता है—इस वाक्यकी संगति नहीं लगेगी। गीतामें भी स्पष्टरूपसे कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
(१८। ५५)

अर्थात् भक्तिके द्वारा मनुष्य मुझको जान सकता है कि मैं क्या वस्तु (सच्चिदानन्दस्वरूप) हूँ तथा मेरा परिमाण क्या है (मैं सर्वव्यापी हूँ)।

एकादश अध्यायमें भी भगवान्ने कहा है कि वेद पाठ

करके अथवा वेदोंका अर्थ ग्रहण करके मुझे कोई नहीं जान सकता—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः—(गीता ११ । ४८)

—केवल अनन्य भक्तिके द्वारा ही मुझको प्राप्त किया जा सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

अर्थात् अनन्य भक्तिके द्वारा मुझको इस प्रकार जाना जा सकता है, मेरा दर्शन किया जा सकता है तथा मेरे भीतर प्रवेश किया जा सकता है । यहाँ याद रखनेकी बात है कि गीता उपनिषदोंका सार है । अतएव जो गीतामें कहा गया है, वह उपनिषद्की ही बात है । गीतामें जब कहा गया है कि भक्तिहीन ज्ञानके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती; भक्तिके द्वारा ही उसको जान सकते हैं (ब्रह्मज्ञान होता है)—तभी उसकी प्राप्ति होती है, तब समझना चाहिये कि उपनिषदोंका भी यही तात्पर्य है कि भक्तिके द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ।

उपनिषदोंमें ईश्वर-भक्ति

(लेखिका—श्रीरामकिशोरी देवी)

उपनिषद् वह विद्या है, जो मनुष्यको प्रभुके निकट बिठला देती है । उपनिषदोंके कण-कणसे प्रभु-भक्तिका रस टपकता रहता है । उपनिषद्रूपी मानसरोवरमें भक्तिरूपी कमल चारों ओर खिले पड़े हैं । उपनिषदोंके अनुसार परमात्मा तर्कका विषय नहीं; वह केवल भक्तिके द्वारा ही जाना जाता है । परमात्माको कोई बहुश्रुत होने, अधिक प्रवचन करने अथवा मेधा-बुद्धिसे नहीं जान सकता । जो मनुष्य अपने मनको शुद्ध और पवित्र करके प्रभुकी भक्ति करता है, उसीपर प्रभु अपने-आपको प्रकट कर देते हैं । उपनिषद् परमात्माको हमसे कहीं दूर नहीं बिठलाता । वे हमारे हृदयके अदर विराजमान है । वे स्थिर होनेपर भी दूर-से-दूर चले जाते हैं । वे हमारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं । वे सोये हुओंमें सदा जागते रहते हैं । हमारी इन्द्रियाँ उन्हींसे शक्ति प्राप्त करके अपना कार्य करती हैं । वे आँखकी आँख, कानका कान और मनका मन है । सूर्यमे जो हम तेज देखते हैं, वह उन प्रभुका दिया हुआ है । यदि वे अपना तेज हटा लें तो सूर्यकी हस्ती एक मुट्ठी राखसे अधिक नहीं । उपनिषद् भक्ति-रससे सराबोर हैं । जैसे शीतसे आतुर मनुष्यका अग्निके पास जानेसे शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रभुकी भक्ति करनेसे सब दोष-दुःख दूर होकर परमेश्वरके गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार जीवात्माके गुण, कर्म और स्वभाव हो जाते हैं । प्रभुकी भक्ति करनेसे हमारे आत्माका बल इतना अधिक बढ जायगा कि हमारा मन पर्वतके समान दुःख प्राप्त होनेपर भी नहीं घबरायेगा । जैसे गर्मीके दिनोंमें हिमालयके निकट जानेपर शरीरको ठंडी वायु आनन्द देने लगती है, उसी प्रकार ईश्वरकी भक्ति करनेसे ब्रह्मानन्द और शान्तिकी शीतल वायु हृदयको स्पर्श करने लगती है । प्रभुकी भक्तिमें बड़ा रस है । छान्दोग्य-उपनिषद्में आया है—

स एव रसानां रसतमः परमः परार्धे ।

अर्थात् प्रभु-भक्ति सबसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम रस है । यह वह रस है, जो अपने माधुर्यसे मनरूपी चातकको मतवाला कर देता है ।

उपनिषदोंके अनुसार हमारा शरीर ही भगवान्का मन्दिर है । यही वह स्थान है, जहाँ हमारे देवताके दर्शन होते हैं । यों तो परमात्मा जर्रे-जर्रेमे रमा हुआ है । सभी जगहोंमे वह अग्निके समान विद्यमान है, किंतु परमात्माका दर्शन केवल इसी देव-मन्दिरमें होता है । यही वह मन्दिर है, जिसके बाहरके सब दरवाजे बंद हो जानेपर जब भक्तिका भीतरी पट खुल जाता है, तब वह ज्योति अपने-आप प्रकट होती है, जिसे देखनेके लिये आत्माकी हार्दिक इच्छा होती है ।

जिस प्रकार एक बालक अपने माता-पिताकी गोदमें बैठता है, उनसे मीठी-मीठी बातें करता है, उसी प्रकार हम अनुभव करें कि हम परमात्माकी अमृतमयी गोदमें बैठे हैं, उनकी दयाका हाथ हमारे सिरके ऊपर है । भक्त सोचता है कि चाहे मैं हिंसक पशुओंके बीच निर्जन वनमें होऊँ अथवा महासागरके अगम्य जलके ऊपर, जब मेरे पिता मेरे साथ हैं और उनका पावन हाथ मेरे सिरके ऊपर है, तब भय किस बातका । मेरे प्रभु किसी ऐसे स्थानमें नहीं हैं, जो मुझसे दूर हो और जहाँसे वे मुझे देख न रहे हों । मेरे प्रभु तो मेरे

रोम-रोममें समाये हुए है और इतने महान् हैं कि मैं जहाँ जाता हूँ, उनकी उज्ज्वल ज्योति वहीं छिटकी हुई पाता हूँ। उनकी दयाका हाथ सदा मेरे सिरपर है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

हमारे प्रभु निराश्रयोंके आश्रय हैं, वे बहुत बड़े अवलम्ब हैं; उन्हींका सहारा पाकर हम भवसागरसे पार उतर सकते हैं। उपनिषदोंमें प्रभुको 'भूमा' कहा गया है। जिस प्रकार समुद्रमें गोता लगानेसे सारे शरीरका मैल धुल जाता है, उसी प्रकार भक्तिरूपी मानसरोवरमें गोता लगानेसे मनके समस्त कल्मष दूर हो जाते हैं।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

वे परमात्मा एक हैं और सारे संसारको वशमें रखते हैं। वे एक जड प्रकृतिसे नाना प्रकारके रूपोंको बनाते हैं। आत्माके अंदर रहनेवाले उन प्रभुको जो धीर पुरुष भक्तिरूपी नेत्रसे देखता है, केवल उसीको शाश्वत सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं। जिस शक्तिने सारे ब्रह्माण्डको एक नियममें बाँध रखा है, वह अति महान् और चैतन्य शक्ति है। उन महान् प्रभुकी कीर्ति यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है, पृथिवी विनम्र-भावसे उनके चरणोंमें लवलीन है, सूर्य अपने तेजोमय रूपसे उनकी महानताको प्रकट कर रहा है और चन्द्रमा अपनी शीतल ज्योत्स्नासे उन सौम्य परमेश्वरका स्तवन कर रहा है। हमें भी उसीकी भक्ति करनी चाहिये। यही उपनिषदोंकी शिक्षा है।

पुराणोंमें भक्ति

(लेखक—श्रीराममोहन चक्रवर्ती एम्० ए०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

(१)

हिंदूधर्मके क्रमविकासका इतिहास स्थूलरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) कर्मप्रधान वैदिक युग, (२) ज्ञानप्रधान औपनिषद युग तथा (३) भक्तिप्रधान पौराणिक युग।

वैदिक साहित्य चार भागोंमें विभक्त है—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकमें कर्ममार्ग तथा उपनिषद्में ज्ञानमार्गकी विवेचना की गयी है। वेदोंके संहिताभागके मन्त्रसमूह इन्द्र, अग्नि, वरुण सविता, रुद्र आदि देवताओंके स्तोत्र-स्तुतिसे पूर्ण हैं। इन सब मन्त्रोंके द्वारा प्राचीन आर्यलोग देवताओंके उद्देश्यसे याग-यज्ञ करके अभीष्ट-प्रार्थना करते थे। एक ही मूल, ऐशी शक्ति विभिन्न देवताओंके नामसे अभिव्यक्त है। परमेश्वर एक और अद्वितीय है—यह रहस्य वैदिक आर्योंको ज्ञात था। ऋग्वेदने अनेकों मन्त्रोंमें इस तत्त्वको घोषित किया है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

'तत्त्वदर्शीलोग एक ही सद् वस्तुका विभिन्न नामोंसे निर्देश करते हैं, वे उस एक ही सत्ताको अग्नि, यम और मातरिश्वाके नामसे पुकारते हैं।'

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति॥
(ऐतरेय उपनिषद् १०।११४।५)

'सुपर्ण या परमात्मा एक सत्तामात्र है। इस एक ही सत्ताकी तत्त्वदर्शीलोग अनेक नामोंसे कल्पना करते हैं।'

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः
सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
(ऐतरे० ८।५८।२)

'बुद्धिमान् ऋत्विक्गण एक ही वस्तुकी अनेक प्रकारसे बहुत-से नामोंद्वारा कल्पना करके यज्ञ-सम्पादन किया करते हैं।'

उसी एक अद्वितीय सत्ताको ऋग्वेदने स्थान-स्थानपर हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष इत्यादि नामोंसे अभिहित किया गया है। इस प्रसङ्गमें ऋग्वेदके हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) तथा पुरुषसूक्त (१०।९०) आदि प्रसङ्ग आलोचनीय हैं। प्राचीन आर्योंका प्रधान अनुष्ठेय धर्म था 'यज्ञ'। अभीष्ट देवताके उद्देश्यसे वे यज्ञादि कर्म श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित होते थे तथा इनमें अर्चना, वन्दना, नमस्कार आदि भक्तिके अङ्ग समन्वित थे। वेदोंमें

संहिताभागमें 'भक्ति' शब्दका सुस्पष्ट प्रयोग न दीखनेपर भी इस अर्थमें 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग प्रायः देखनेमें आता है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥
(ऋग्वेद १० । १५१ । १)

'श्रद्धाके द्वारा ही यज्ञकी अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धाद्वारा ही हविकी आहुति दी जाती है । समस्त आराध्यकी प्रधानभूता श्रद्धाका हम स्तवन करते हैं ।'

वेदोंके संहिता-युगमें देव-विषयक भक्तिमूलक जो सहज सरल धर्म देखनेमें आता है, वह वेदोंके ब्राह्मणयुगमें आकर जटिल, क्रियाविशेषबहुल यज्ञानुष्ठानमें पर्यवसित होता है । कालक्रमसे एक ऐसा मत प्रबल हो उठा कि 'यज्ञकर्म ही एकमात्र धर्म है, उसीके द्वारा जीव स्वर्ग प्राप्त करता है, इसके सिवा और कुछ नहीं है ।' यद्यपि यज्ञका अनुष्ठान इन्द्रादि देवताओंके उद्देश्यसे किया जाता है, फिर भी मुख्यता यज्ञकी ही है । देवता गौण हैं, प्रयोजक नहीं हैं । अतएव यजेत स्वर्गकामः—स्वर्ग-कामनासे यज्ञ करे, इसीका नाम 'वेदवाद' है ।

उपनिषद्-युगमे इस प्राणहीन बाह्यिकताके विरुद्ध प्रतिवादकी सूचना मिलती है । उपनिषदोंमें वेदोंके कर्मकाण्डको संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये 'अदृढ प्लव (बेड़ा)' कहकर उसकी निन्दा की गयी है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः । (मुण्डक उप० १।२।७)

उपनिषद्-युगमे साधककी दृष्टि बहिर्जगत्से लौटकर अन्तर्जगत्में केन्द्रीभूत हो जाती है । चरमतत्त्वका स्वरूप-निर्णय करनेके लिये उपनिषदोंके ऋषियोंने समाहित होकर यह उपलब्धि की कि इस नाम-रूपात्मक दृश्य-प्रपञ्चके अन्तरालमें एक नित्य, शाश्वत, सत् पदार्थ है; ज्ञानयोगसे उसको जानना चाहिये; वही 'ब्रह्म' है । तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म । यह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् या वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय है । उपनिषद् कहते हैं कि 'वेदवाद' स्वर्गसाधक होनेपर भी मोक्षसाधक नहीं है, एकमात्र ब्रह्मवादके अवलम्बनसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है ।

उपनिषदोंके निर्गुण ब्रह्मवादमें भक्तिका स्थान नहीं है । जो निर्गुण, निर्विशेष, 'अवाङ्मनसगोचर' है, उसके साथ भाव-भक्तिका कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं बनता, वह आत्मबोधरूप है । सगुण ब्रह्मके बिना भक्तिमूलक उपासना सम्भव नहीं । उपनिषदोंमें ब्रह्मके सगुण-निर्गुण, सविशेष-निर्विशेष दोनों प्रकारके विभावोंका विवरण दृष्टिगोचर होता है । ब्रह्मस्वरूपके सगुण-सविशेष विभावके वर्णनके प्रसङ्गमें उपनिषदोंमें अनेकों स्थलोंपर देव, ईश्वर, महेश्वर आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं तथा उसी प्रसङ्गमें 'भक्ति' शब्दका उल्लेख भी श्वेताश्वतर-उपनिषद्में दृष्ट होता है—यस्य देवे परा भक्तिः (६ । २३) । केनोपनिषद्में कहा है—तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् (४।६) । ब्रह्म सम्यक् रूपसे भजने योग्य है, इस दृष्टिसे उसकी उपासना करनी चाहिये । कठोपनिषद्में कृपावादका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥
(१ । २ । २३)

'इस आत्माको शास्त्रकी व्याख्याके द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, मेधाके द्वारा भी नहीं, अनेक प्रकारके पाण्डित्यके द्वारा भी नहीं । यह जिसको वरण अर्थात् जिसपर कृपा करता है, केवल वही इसको प्राप्त कर सकता है । उसीके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है ।'

भक्तिसाधनाके आश्रय हैं प्रेमस्वरूप, करुणामय भगवान् । बृहदारण्यक-उपनिषद्में परमात्माके सम्बन्धमें कहा गया है—

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पद् एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः । (४ । ३ । ३२)

'ये ही परम गति, ये ही परम सम्पद्, ये ही परम धाम तथा ये ही परम आनन्द हैं ।' तैत्तिरीय-उपनिषद्में घोषित हुआ है—

रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । (२ । ७ । १)

'वही रस (प्रेम) स्वरूप है । यह जीव रस-स्वरूपको प्राप्त करके सुखी होता है । यदि हृदयाकाशमें यह आनन्द-स्वरूप न होता तो कौन अपान-चेष्टा करता, कौन प्राण-कार्य करता ? अर्थात् कोई निश्वास-प्रश्वासद्वारा प्राण धारण नहीं कर सकता । एकमात्र यही जीवको आनन्ददान करता है ।'

अतएव देखा जाता है कि भक्तिसाधनाका जो बीज

वेदोंके संहिता-भागमें ही निहित है, वही क्रमविकासके पथमें उपनिषद्में आकर अङ्कुरित और पल्लवित हुआ है। पुराणोंमें वह किस प्रकार शाखा-प्रशाखायुक्त, फूल-फलसे समृद्ध महावृक्षके रूपमें परिणत होता है—इस विषयकी आलोचना की जाती है।

(२)

'पुराण' पञ्चम वेदके नामसे शास्त्रोंमे कीर्तित हुए हैं। वेदोंके निगूढ अर्थको समझनेके लिये पुराणोंकी सहायता लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी कारण शास्त्रकारोंने पुराणोंके अध्ययनके ऊपर विशेष जोर दिया है और कहा है कि पुराणोंका अनुशीलन किये बिना विद्या कभी पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। वायुपुराणमें लिखा है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'यदि कोई छः वेदाङ्गों एवं समस्त उपनिषदोंसहित चारों वेदोंसे अवगत हो और पुराण-शास्त्रमें पारदर्शी न हो तो वह विचक्षण नहीं कहला सकता। इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराणोंके पाठके द्वारा वेदज्ञानकी पूर्ति करनी चाहिये। जो मनुष्य पुराण-शास्त्रका पण्डित न होकर वेदोंकी चर्चा करता है, उसको देखकर वेद मानो भयभीत हो सोचता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा।'

दुर्गम वेद-शास्त्रके तात्पर्यको ग्रहण करके उसीके आदर्शपर जीवनका गठन करना जनसाधारणके लिये सम्भव नहीं।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

'स्त्री, शूद्र और वर्णाधम लोगोंका वेद-श्रवणमें अधिकार नहीं है।' इसी कारण महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने जनताके कल्याण-साधनके लिये वेदमे निहित आध्यात्मिक निगूढ तत्त्वराशिको पुराणोंमें विस्तृतरूपसे नाना प्रकारके आख्यान-उपाख्यानोंकी सहायतासे प्रकाशित किया है। पद्मपुराणमें यही बात कही गयी है—

वेदेभ्य उद्धृत्य समस्तधर्मान्
योऽयं पुराणेषु जगाद देवः।
व्यासस्वरूपेण जगद्धिताय
वन्दे तमेनं कमलासमेतम्॥
(पद्मपुराण, क्रियायोगसार १ । ३)

'जिन्होंने व्यासरूपमें वेदोंसे समस्त धर्मोंको उद्धृत करके जगत्के कल्याणके निमित्त निखिल पुराणोंमें परिव्यक्त किया है, कमलासहित उस नारायणकी हम वन्दना करते हैं।'

पुराणमें भक्तिकी महिमा

भारतीय आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें कर्म, ज्ञान और भक्ति मुक्तिके त्रिविध साधनके रूपमें स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। साधकगण अपनी-अपनी रुचि और अधिकारके भेदसे इनमेंसे किसी एक या इनकी समन्वित साधनाका अवलम्बन करके निःश्रेयसके पथपर अग्रसर होते हैं। पुराण-शास्त्रमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों विषयोंकी शिक्षा होनेपर भी भक्तियोगके ऊपर विशेष जोर दिया गया है; क्योंकि यह मनुष्यके लिये तत्काल कल्याणकारक है तथा भक्तिमार्गका अनुसरण ब्राह्मण-शूद्र, नर-नारी सभी निर्विशेष रूपसे सहज ही कर सकते हैं।

मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥
त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात्॥
(देवीभागवत ७ । ३७ । २-३)

देवी भगवती कहती हैं—'हे नगेन्द्र! मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीनों ही मार्ग विख्यात हैं। इन तीनों प्रकारके योगोंमें भक्तियोग ही अनायास प्राप्त होनेवाला है; क्योंकि यह योग काय-चित्त आदिको पीड़ा दिये बिना ही केवल मनोवृत्तिके द्वारा सम्पादित हो सकता है। अतः इस योगको ही सुलभ जानना चाहिये।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने परम भागवत उद्धव-जीको उपदेश देते हुए कहा है—

यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा॥
(११ । २० । ३३)

'कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा तीर्थयात्रा, व्रत आदि अन्य साधनोंके द्वारा जो प्राप्त होता है, मेरा भक्त भक्तियोगके द्वारा वह सब अनायास प्राप्त कर लेता है।'

पुराणशास्त्रने भक्तिमार्गको सबके लिये खोलकर पूर्ण गणतान्त्रिक धर्म (Democratic Religion)का प्रचार किया है। पुराणोंमें पुनः-पुनः घोषित किया गया है कि

ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मणसे बढ़कर हो सकता है और ईश्वरभक्तिविहीन होनेपर ब्राह्मण भी चाण्डालाधम हो सकता है ।

चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः ।
विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः ॥
(बृहन्नारदीयपुराण ३२ । ३९)

श्रीमद्भागवत उच्च स्वरसे घोषित करता है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥
(३ । ३३ । ७)

'जिनके जिह्वाग्रपर तुम्हारा नाम रहता है, वे चाण्डाल होनेपर भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। जो तुम्हारा नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, अग्निमें यथार्थ हवन कर लिया। उन्होंने तीर्थमें स्नान कर लिया, वे ही आर्य (सदाचारी) हैं, उन्होंने ही यथार्थतः वेदाध्ययन किया है।'

वेदका ब्रह्म और पुराणोंके भगवान्

पुराणशास्त्रका प्रधान गौरव यही है कि वेदने 'नेति नेति' कहकर तथा—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

—कहकर जिस परतत्त्वको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगम्य देशमें रख दिया है तथा जो केवल उच्चाधिकारी ज्ञानी साधकोंके ही ध्यानगम्य है, पुराणने उसी दुर्विज्ञेय चरम तत्त्वको भक्तिमार्गकी साधनाके द्वारा भक्तजनोंकी सारी इन्द्रियोंके गोचरीभूत कर दिया है । पुराणोंके भगवान् केवल ज्ञेय ब्रह्म ही नहीं हैं, केवल निर्गुण निर्विकार अद्वितीय चित्स्वरूप ही नहीं हैं, वे केवल जीव-जगत्के मूल कारण और अधिष्ठान ही नहीं हैं; सुतरा वे प्रत्यक्ष उपास्य, भक्तके आराध्य, प्रेमघनमूर्ति, सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन तथा अशेष कल्याणगुणोंके आकर हैं । वे परमेश्वर होते हुए भी करुणावरुणालय, पतितपावन तथा शरणागत, दीन और आर्त्तजनोंके परित्राणपरायण हैं। पुराण घोषणा करते हैं कि ज्ञानमार्गमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना, अक्षर अव्यक्तकी आराधना देहाभिमानी जीवके लिये अत्यन्त कष्टसाध्य है। जबतक देहात्मबोध दूर नहीं हो जाता, निर्गुण ब्रह्ममें स्थिति प्राप्त नहीं होती। भक्तियोगमें सगुण ईश्वरकी उपासना साधारण जीवके लिये सहजसाध्य है। इसी कारण पुराण इस प्रकारकी उपासनाके ऊपर ही विशेष जोर देते हैं। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें कही गयी शिवगीतामें यही तत्त्व परिस्फुटित हुआ है ।

भगवान् श्रीराम शंकरजीसे कहते हैं—'भगवन् शंकर! आप यदि सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, अवयवरहित हैं, निष्क्रिय हैं, निस्तरङ्ग समुद्रके समान प्रशान्त हैं, निर्दोष, निःशङ्क, सर्वधर्मविहीन, मन-वाणीसे अगोचर, सर्वत्र अनुस्यूत होकर प्रकाशमान रूपमें अवस्थित, आत्मविद्या और तपस्याके द्वारा गम्य, उपनिषद्वाक्योंके तात्पर्यविषयीभूत, अपरिच्छिन्न, सर्वभूतात्मस्वरूप, अदृश्य तथा दुर्विज्ञेयस्वरूप हैं तो आप किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं—यह निश्चय न होनेके कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ।' भगवान् शंकरने उत्तर दिया—

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तत्रोपायं महाभुज ।
सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्यं विधाय च ।
स्थूलसौराम्भिकान्यायात् तत्र चित्तं प्रवर्त्तयेत् ॥
(पद्मपुराण, शिवगीता १४ । ५)

'हे महाबाहो ! राम ! तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित विषयका उपाय कहता हूँ, सुनो। पहले सगुण उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रताका साधन करके स्थूलसौराम्भिका-न्यायके अनुसार मेरे निर्गुण स्वरूपमें चित्तको लगाये।'

जलाशयतक जानेमें असमर्थ प्यासे आदमीको मरीचिका खींचकर दूर ले जाती है, तत्पश्चात् जलाशय निकट होनेपर प्रकृत जलका दर्शन और आस्वादन करा सकती है। इसको 'स्थूलसौराम्भिका-न्याय' कहते हैं । इसी प्रकार मुमुक्षु साधकको पहले सगुण-उपासनामें आरूढ़ कराके चित्त-शुद्धि होनेपर निर्गुणोपासनामें प्रवृत्त कराये। अग्निपुराणमें आता है—

साधूनामप्रमत्तानां भक्तानां भक्तवत्सलः ।
उपकर्त्ता निराकारस्तदाकारेण जायते ।
कार्यार्थं साधकानां च चतुर्वर्गफलप्रदः ॥

'भक्तवत्सल भगवान् साधु और भक्त साधकोंकी उपासनाके निमित्त निराकार होकर भी उनके उपास्य देवताके आकारमें आविर्भूत होते हैं तथा उनके लिये उपकारक होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गरूप फलको प्रदान करते हैं।'

पुराणमें प्रतीकोपासना और क्रियायोग

वैदिक युगके याग-यज्ञ और उपनिषद्के अरूपकी

प्रणवस्वरूप भगवान् गजानन

ध्यान-धारणाके स्थानमें पौराणिक युगमें सर्वसाधारणके लिये उपयोगी एक नवीन उपासना-पद्धति प्रचलित हुई। मृत्तिका, प्रस्तर या धातुसे निर्मित प्रतिमामें देवताके आविर्भावकी भावना करके उस विग्रहको पाद्य, अर्घ्य, धूप, दीप, गन्ध, पुष्प और नैवेद्य आदिके द्वारा अर्चना करनेकी विधि प्रवर्तित हुई।

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥
लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन संदर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः॥

(श्रीमद्भा० ११।३।४७-४८)

'जो साधक जीवात्माकी हृदयग्रन्थिका शीघ्र छेदन करनेकी इच्छा करते हैं, वे वैदिक और तान्त्रिक विधिके अनुसार अभीष्ट देवताकी पूजा करें। आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करके तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अर्चना-विधिको जानकर अपनी अभिमत मूर्तिके द्वारा परम पुरुषकी पूजा करें।'

पुराण-शास्त्रमें भक्तिमार्गकी साधनाके अन्तर्गत अभीष्ट देवताके उपासनामूलक जो 'क्रियायोग' प्रवर्त्तित हुआ है, तदनुसार भक्त प्रतिमाके माध्यमसे भगवान्‌की सेवा कर सकता है उनको स्पर्श कर सकता है, उनको भोग लगा सकता है, उनका प्रसाद ग्रहण कर सकता है, उनके साथ वार्तालाप कर सकता है तथा सब प्रकारकी आपद्-विपद्‌में उनके ऊपर निर्भर रह सकता है। इस क्रियायोगके विधानके अनुसार देवताका मन्दिर-निर्माण, विग्रह-स्थापना, पूजा-अर्चना आदि करनेपर साधक भुक्ति-मुक्ति दोनोंको ही प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है।

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२७।५२-५३)

'मेरा भक्त विग्रह-प्रतिष्ठाके द्वारा सार्वभौमपद, मन्दिर-निर्माणके द्वारा त्रिभुवनका स्वामित्व, पूजा आदिके द्वारा ब्रह्मलोक तथा उपर्युक्त तीनों कार्योंके द्वारा मेरी समता प्राप्त करता है और निष्काम भक्तियोगके द्वारा मुझको ही प्राप्त करता है। जो उपर्युक्त रीतिसे मेरी पूजा करता है, वह भक्तियोगको प्राप्त करता है।'

पुराणमें अवतारवाद

अवतारवाद पुराणोंका एक प्रधान अङ्ग है। इस अवतारवादको केन्द्र बनाकर भक्तिधर्म और भक्तिसाधनाने विशाल परिपुष्टि प्राप्त की है। पुराण विश्वातीत ब्रह्मको मर्त्यलोककी भूमिकापर खींच लाये हैं और सच्चिदानन्दमय भगवान्‌को उन्होंने मनुष्योंके बीचमें पुत्र, भ्राता, सखा, प्रभु और गुरुरूपमें अवतारित कर भगवान् और मनुष्यके बीचके दुर्लङ्घ्य व्यवधानको अद्भुत कौशलके साथ दूर कर दिया है और इसके द्वारा मनुष्यके भीतर भगवत्ता-बोधको जाग्रत् करके मानव-संस्कृतिको एक उच्चतर भूमिकामें प्रतिष्ठित कर दिया है। यह विश्वमानव-संस्कृतिमें पुराणोंकी एक चिरस्थायी और अविस्मरणीय देन है।

अवतारवादकी सूचना वैदिक ग्रन्थोंमें ही दीख पड़ती है। पुराणोंमें विष्णुके वामन-अवतारका वृत्तान्त है। ऋग्वेदमें भी देखा जाता है कि विष्णुने तीन पद प्रक्षेप करके पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको परिव्याप्त कर लिया।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

(ऋग्वेद १।२२।१७)

इसके सिवा शतपथब्राह्मण (१।२।५।१—७) में भी वामन-अवतारका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। शतपथब्राह्मण (१।८।१।२—१०) में मत्स्यावतार, तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।१) और शतपथब्राह्मण (७।४।३।५) में कूर्मावतारका प्रसङ्ग तथा तैत्तिरीयसंहिता (७।१।५।१), तैत्तिरीयब्राह्मण (१।१।३।५) और शतपथब्राह्मण (१४।१।२।११) में वराह-अवतारका उल्लेख है।

पुराण-शास्त्रके मतसे भगवान् भक्तोंके प्रति अनुग्रह प्रकट करनेके लिये ही मनुष्यके रूपमें अवतीर्ण होते हैं तथा इस प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, जिनका श्रवण और कीर्तन करके जीव सहज ही भगवत्परायण हो सकता है। यह लीलारस-आस्वादन ही भक्तिका प्रकृष्ट साधन है।

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।३७)

इस प्रसङ्गमें भागवतमें कुन्तीदेवीकी उक्ति विशेषरूपसे स्मरणीय है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(१।८।३६)

'हे श्रीकृष्ण ! जो भक्तजन तुम्हारे चरित्रका श्रवण, गान, उच्चारण या सदा स्मरण करते हैं तथा दूसरोंके कीर्तन करनेपर जिनको आनन्द प्राप्त होता है, वे शीघ्र ही तुम्हारे चरणारविन्दका दर्शन करनेमे समर्थ होते हैं, जिसके द्वारा शीघ्र उनकी जन्म-परम्परा सदाके लिये समाप्त हो जाती है।'

पुराणोंमें देवतत्त्व और एकेश्वरवाद

पुराण शिक्षा देते है कि एक अद्वितीय परिपूर्ण भगवान् विभिन्न विचित्र लीलाओंके कारण तथा विभिन्न रुचि, स्वभाव और अधिकार-सम्पन्न साधकोंके कल्याणके लिये अनेकों विचित्र रूपोंमें प्रकट हैं। अपनी-अपनी रुचि और निष्ठाके अनुसार जो साधक जिस नाम और रूपको इष्ट मानकर भजन करता है, वह उसी दिव्य नाम और रूपका अवलम्बन करके समस्तरूपमय एकमात्र भगवान्को प्राप्त होता है। एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व ही गुण और क्रियाभेदसे अनन्त नाम और अनन्त रूप धारण करके विराजित हो रहा है। यही तत्त्व देवीपुराणमें दृष्टान्तकी सहायतासे इस प्रकार समझाया गया है—

यथा तु व्यज्यते वर्णैर्विचित्रैः स्फटिको मणिः।
तथा गुणवशाद् देवी नानाभावेपु वर्ण्यते॥
एको भूत्वा यथा मेघः पृथक्त्वेनावतिष्ठते।
वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशाज्जया॥

(देवीपुराण ३७। ९४-९५)

'एक स्फटिक मणि जैसे नाना प्रकारके वर्णोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देवी भगवती भी सत्त्वादि गुणोंके तारतम्यके कारण नाना भावोंमें वर्णित होती हैं। एक ही मेघ जिस प्रकार वर्ण और आकृतिके अनुसार पृथक्-पृथक् रूपोंमें अवस्थित होता है, उसी प्रकार देवी एक होकर भी गुणोंके वशसे पृथक्-पृथक् रूपोंमें अवस्थित होती हैं।'

विभिन्न पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी महिमाका वर्णन है; परंतु पुराणशास्त्रमें यह भी पुनः-पुनः घोषित किया गया है कि वे एक ही परमतत्त्वके त्रिविध प्रकाश हैं तथा स्वरूपतः अभिन्न हैं।

रजः सत्त्वं तमश्चेति पुरुषं त्रिगुणात्मकम्।
वदन्ति केचिद् ब्रह्माणं विष्णुं केचिच्च शंकरम्॥
एको विष्णुस्त्रिधा भूत्वा सृजत्यत्ति च पाति च।
तस्माद् भेदो न कर्तव्यस्त्रिपु देवेषु सत्तमैः॥

(पद्म० क्रिया० २। ५-६)

'सत्त्व, रज और तम—इन त्रिगुणोंको ही शरीररूपमें धारण करनेवाले पुरुषका कोई ब्रह्मा, कोई विष्णु तथा कोई-कोई शंकरके नामसे निर्देश करते हैं। फलतः एक ही सर्वव्यापी पुरुष त्रिविधरूपमें सृष्टि, स्थिति और संहार करता है। अतएव ज्ञानी पुरुष उपर्युक्त देवत्रयमें भेदबुद्धि नहीं करते।'

विष्णुपुराणमें लिखा है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

(१।२।६२)

'एकमात्र भगवान् जनार्दन ही सृष्टि, स्थिति और संहाररूप क्रियाके भेदसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञाको प्राप्त होते हैं।'

पौराणिक भक्तिसाधनामें सम्प्रदाय-भेद

औपनिषद ब्रह्मवादमें देवताओंका कोई स्थान न था। ज्ञानमार्गकी साधनामें एक अद्वितीय ब्रह्मका ध्यान और धारणा ही विहित थी। पौराणिक युगमें भक्तिमार्गका प्रवर्तन होनेसे प्राचीन वैदिक देवताओंका पुनरभ्युदय हुआ तथा विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपतिको केन्द्र करके क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य—ये पाँच उपासक-सम्प्रदाय गठित हुए तथा उनके मतोंके परिपोषणके लिये विभिन्न पुराण, उपपुराण आदि प्रणीत हुए। इन पाँच उपासक-सम्प्रदायोंमें वैष्णव, शैव और शाक्त—इन तीन सम्प्रदायोंने विशेष प्राधान्य प्राप्त किया तथा प्रत्येकने भक्ति-मार्गकी साधनाके ऊपर जोर दिया और अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार भक्तिमार्गकी साधनाकी विशेष-विशेष प्रणाली और पद्धति बनायी। पुराणशास्त्रने साधकोंकी उपासनामें सुविधाके लिये इष्टमें निष्ठा तथा साम्प्रदायिक साधन-पद्धतिके ऊपर विशेष जोर देते हुए भी सब सम्प्रदायोंकी मौलिक एकता और उपास्य देवताओंकी स्वरूपतः अभिन्नताके विषयमें दृढ़ताकी शिक्षा दी है। स्कन्दपुराणकी गणना शैव पुराणोंमें की जाती है। इसमें शिवजीने अपने श्रीमुखसे घोषणा की है कि शिव और विष्णु स्वरूपतः अभिन्न हैं—

यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।
अन्तरं शिवविष्णोश्च मनागपि न विद्यते॥

(काशीखण्ड २३। ४१)

(क) वैष्णव भक्तिमार्ग

ऋग्वेदमें विष्णुसम्बन्धी सूक्तोंकी सख्या पाँच-छःसे अधिक न होगी। समस्त ऋग्वेदमें प्रायः एक सौ विभिन्न स्थलोंमें

विष्णुदेवताका उल्लेख मिलता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि अन्यान्य प्रधान देवताओंसे सम्बद्ध मन्त्रोंकी अपेक्षा विष्णुकी मन्त्र-संख्या कम होनेपर भी भावगाम्भीर्य और तात्त्विक दृष्टिसे ये सब मन्त्र विशेष गुरुत्वपूर्ण हैं। वेदोंके संहिता-युगमें इन्द्रदेवताकी विशेष प्रधानता थी, परंतु कालक्रमसे इन्द्रकी प्रधानता घटती गयी और विष्णुकी प्रधानता बढ़ गयी। ऋग्वेदके किसी-किसी मन्त्रमें विष्णुको इन्द्रका योग्य सखा बतलाया है—इन्द्रस्य युज्यः सखा (१।२।२१९)। पुराणमें इन्द्रके स्थानमें विष्णु ही सुप्रतिष्ठित होते हैं तथा वैष्णव पुराणोंमें परमेश्वररूपमें पूजित होते हैं। विष्णुपुराण, नारदीय, गरुड, पद्म, ब्रह्मवैवर्त्त, भागवत आदि पुराणोंमें विष्णुकी महिमा विशेषरूपसे व्यक्त हुई है। इन सब पुराणोंमें विष्णु ही परतत्त्वके रूपमें ग्रहण किये गये हैं तथा राम-कृष्णादि विष्णुके अवतारके रूपमें पूजित हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णको अवलम्बन करके भक्ति-साधनाकी धारा विशेष परिपुष्ट हुई है तथा प्राचीन कालसे आजतक यह साधनाकी धारा अव्याहत भावसे प्रवाहित होती हुई चली आ रही है। श्रीमद्भागवतमें भक्ति-साधनाके चरमोत्कर्षका परिचय प्राप्त होता है। इसमें भक्ति केवल मुक्तिकी प्राप्तिका साधनमात्र नहीं है, बल्कि भक्तिके चरम परिणामस्वरूप प्रेमको ही भक्तके परम साध्यके रूपमें निर्णीत किया गया है। जिस भक्तके जीवनमें इस प्रेमका विकास हुआ है, वह कभी मुक्तिकी इच्छा नहीं करता, सदा भगवत्सेवाके परमानन्दमें रत रहनेकी ही प्रार्थना करता है।

> न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
> दकिंचनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
> (श्रीमद्भा० १०।५१।५६)

'हे विभो! अकिंचन भक्तका उच्चतम प्रार्थ्य तुम्हारे श्रीचरणोंकी सेवा है, मैं वही चाहता हूँ, उसके सिवा अन्य वरकी प्रार्थना नहीं करता।'

भक्तिका स्वरूप

भक्तिके स्वरूपका वर्णन करते समय महामुनि शाण्डिल्य कहते हैं—सा परानुरक्तिरीश्वरे, ईश्वरमें निरतिशय अनुरागका नाम ही 'भक्ति' है। देवर्षि नारदने भी अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी इसी प्रकारकी परिभाषा की है—सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। भगवान्‌के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही 'भक्ति' है। भक्ति अमृतस्वरूपा है। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' इस (भक्ति) को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध होता है, अमर होता है और परितृप्त हो जाता है।

ईश्वरमें यह 'परानुरक्ति' कैसी होती है, इसको भलीभाँति विष्णुपुराणमें प्रह्लादकी प्रार्थनामें व्यक्त किया गया है—

> नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
> तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
> या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
> (१।२०।१९-२०)

'हे नाथ! मैं कर्मफलके वश होकर जिन-जिन सहस्रों योनियोंमें परिभ्रमण करूँ, उन सभी योनियोंमें तुम्हारे प्रति मेरी सदा निश्चल भक्ति बनी रहे। अविवेकी मनुष्यकी विषयोंमें जैसी अविचल आसक्ति रहती है, तुम्हारा अनुस्मरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

विषयीकी विषयोंके प्रति जो निरतिशय आसक्ति होती है, उसीको लौटाकर यदि ईश्वरमें लगा दिया जाय तो वह अहैतुकी या शुद्ध भक्ति हो जाती है। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि 'भक्तगण प्रह्लादने भक्तिकी जो परिभाषा की है, वही सर्वापेक्षा समीचीन जान पड़ती है।'

भक्तिमार्गका साधन

भागवतमें भक्तिके नौ प्रकारके साधनोंका उल्लेख है—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चना, (६) वन्दना, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन या शरणागति।

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा॥
> (श्रीमद्भा० ७।५।२३-२४)

भागवतमें ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्तिकी प्रशंसा की गयी है। भक्ति ज्ञानके द्वारा दीप्त होती है और वैराग्यसे [illegible] आत्मप्रकाश करती है।

> तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
> पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥
> (श्रीमद्भा० १।२।१२)

'श्रद्धाशील मुनिलोग वेद-शास्त्रसे उत्पन्न ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्ति प्राप्तकर उसके द्वारा अपने भीतर ही आत्माका दर्शन करते है।' भक्ति-धर्मका आचरण करते समय साधकको शास्त्रविहित धर्मानुष्ठान, नैतिक अनुशासन और सामाजिक कर्तव्योंका यथावत् पालन करना चाहिये। वैष्णवके लक्षणके प्रसङ्गमें पद्मपुराणमें लिखा है—

अभयं ये च यच्छन्ति भीरुभ्यश्चतुरानन।
विद्यादानं च विप्रेभ्यो विज्ञेयास्ते च वैष्णवाः॥
क्षुत्तृट् प्रपीडितेभ्यश्च ये यच्छन्त्यन्नमम्बु च।
कुर्युर्ये रोगिशुश्रूषां ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः॥
आरामकारिणो ये च पिप्पलारोपिणोऽपि ये।
गोसेवां ये च कुर्वन्ति ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः॥

(पद्म० क्रिया० अध्याय २)

'जो भीरु मनुष्यको अभय देते है तथा विप्रों (विद्यार्थियों) को विद्यादान करते हैं, उन्हें 'वैष्णव' समझना चाहिये। जो भूख-प्याससे पीड़ित मनुष्योंको अन्न-जल प्रदान करते हैं तथा रोगियोंकी शुश्रूषा करते हैं, उनको 'वैष्णव' जानना चाहिये। जो जनसेवाके लिये उद्यान-निर्माण करते है तथा अश्वत्थ आदि वृक्ष लगाते हैं और गो-सेवा करते हैं, उनको 'वैष्णव' कहना चाहिये।'

भक्तिके प्रकार-भेद

भागवतमे सगुणा और निर्गुणा भेदसे भक्तिके दो विभाग किये गये हैं। सगुणा भक्ति तामस, राजस और सात्त्विक भेदसे तीन प्रकारकी होती है। दूसरेकी हिंसा करनेके अभिप्रायसे अथवा दम्भवश, मात्सर्यवश या क्रोधवश भेददर्शी लोग जो ईश्वरकी पूजा-अर्चना करते हैं, वह 'तामसी' भक्ति है। विषय-भोग, यश या धन-ऐश्वर्यादिकी कामना करके भेददर्शी लोग प्रतिमा आदिमें जो ईश्वरकी अर्चना करते हैं, वह 'राजसी' भक्ति है। पापक्षयकी इच्छासे या भगवान्‌के प्रति कर्म-समर्पणके उद्देश्यसे अथवा यज्ञादि अनुष्ठानमें कर्तव्यबुद्धिसे भेददर्शी लोग जो पूजा-अर्चना आदि करते हैं, वह 'सात्त्विकी' भक्ति है। (भागवत ३ । २९ । ७–१०) उपर्युक्त तीनों प्रकारकी भक्ति गौणी भक्ति है; क्योंकि ये तीनों ही प्रकार भेदज्ञानद्वारा प्रभावित तथा स्वभावज प्रवृत्तिद्वारा अनुप्राणित है। सात्त्विकी भक्ति उत्तमा होनेपर भी सर्वोत्तमा नहीं होती। इसमें भी मोक्ष आदिकी इच्छा रह सकती है और भेददर्शन भी रह सकता है। मोक्षकी कामना भी जब त्याग दी जाती है और केवल भगवान् ही जब साधककी एकमात्र काम्य वस्तु बन जाते हैं, तब उस अवस्थामें भक्तिको 'निर्गुणा' या 'अहैतुकी भक्ति' अथवा 'प्रेम' कहते हैं।

निर्गुणा या अहैतुकी भक्ति (प्रेम)

भागवत निर्गुण भक्तियोगका वर्णन इस प्रकार करता है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

(३ । २९ । ११-१२)

'सागरमे स्वतः प्रवाहित गङ्गाके जलकी धाराके समान जो मनोगति मेरे गुण-श्रवणमात्रसे फलानुसंधानरहित तथा भेददर्शन-विहीन होकर सर्वान्तर्यामी मुझ पुरुषोत्तममें अविच्छिन्नभावसे निहित होती है, वह मनोगतिरूपा भक्ति ही निर्गुण भक्तियोगका स्वरूप है।'

यह अहैतुकी निष्कामा भक्ति ही 'प्रेम' है। इसको प्राप्त करनेपर साधक भगवत्सेवा छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता। यहाँतक कि मुक्तिकी भी प्रार्थना नहीं करता—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३ । २९ । १३)

'जिनको इस प्रकारकी निर्गुणा भक्ति प्राप्त हो गयी है, उनको सालोक्य, सार्ष्टि (ईश्वरके समान ऐश्वर्यसम्पन्नता), सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य—यह पाँच प्रकारकी मुक्ति देनेपर भी वे मेरी सेवाके सिवा और कुछ भी नहीं ग्रहण करते।'

जब साधक भक्तिके इस उच्चतर सोपानमें आरोहण करता है, तब वह सर्वभूतोंके साथ एकात्मताका अनुभव करता है। भगवान् ही सब जीवोंके आत्मस्वरूप होकर विराजमान हैं, अतएव वह साधक अपना-पराया, शत्रु-मित्र आदि किसी प्रकारका भेद-भाव किसीके साथ नहीं रखता। सर्वोत्तम भक्तका लक्षण वर्णन करते हुए भागवत कहता है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(११ । २ । ४५)

'जो सर्वभूतोंमें आत्मारूपी भगवान्‌का दर्शन करता है तथा आत्मारूपी भगवान्‌के भीतर सर्वभूतोंको देखता है, वही श्रेष्ठ भागवत है।'

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥
(११ । २ । ५२)

'जिसका धन आदिके विषयमें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं है, समस्त भूतोंमें जिसका समान भाव है, जिसकी इन्द्रियाँ और मन संयत हैं, वही श्रेष्ठ भागवत है ।'

(ख) शैव भक्तिमार्ग

वेदोंमें रुद्र देवताका विशेष प्रभाव था । यजुर्वेदके रुद्रसूक्तमें रुद्र पशुपति परमेश्वररूपमें वर्णित हुए हैं—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीति ॥
(यजु० १६ । २)

'हे रुद्र ! हे गिरिशन्त ! तुम्हारा जो मङ्गलमय, प्रसन्न और पापविनाशक तनु है, उस सुखमय तनुके साथ हमारे सामने प्रकट हो जाओ ।'

रुद्रका जो यह मङ्गलमय, अभय, पुण्यप्रकाशक, सुखतम स्वरूप है, वही 'शिव' नामसे प्रसिद्ध है । श्वेताश्वतर-उपनिषद्में रुद्र या शिवकी प्रधानता सुप्रतिष्ठित हुई है तथा परतत्त्वके रूपमें उसीकी स्तुति की गयी है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । २)

'रुद्र एक है, जो लोकोंको अपनी शक्तियोंके द्वारा नियमित कर रहा है; अतएव ब्रह्मवेत्ता लोग दूसरे किसी तत्त्वको नहीं मानते । वे सभी जनोंके पीछे स्थित हैं, वे सारे भुवनोंकी सृष्टि करके उनका पालन करते हैं और अन्तकालमें संहार करते हैं ।'

वेद और उपनिषदोंके इन सारे भावोंका अवलम्बन करके ही शैवपुराणमें शिवको स्रष्टा, पाता और संहर्ता परमेश्वरके रूपमें स्थापित किया गया है । वायु, शिव, लिङ्ग, स्कन्द, ब्रह्माण्ड, कूर्म आदि पुराणोंमें विशेषरूपसे शिवका माहात्म्य वर्णित है । पद्मपुराणके उत्तरखण्डके अन्तर्गत 'शिव-गीता' में तथा कूर्मपुराणके अन्तर्गत 'ईश्वर-गीता' में शैव-भक्तिमार्गके सम्बन्धमें बहुमूल्य तथ्य प्राप्त होते हैं ।

शिवपुराणके मतसे ज्ञान ही मुक्ति-प्राप्तिका मुख्य कारण है । भक्ति ज्ञानकी प्राप्तिका साधन है । शिव-तादात्म्यकी प्राप्ति ही मुक्ति है ।

अज्ञानाद् दूरतो भूत्वा ज्ञानवाञ्जायते यदा ।
तदहंकारनिर्मुक्तो याति शंकरतां नु स ॥

'जीव जब अज्ञानसे मुक्त होकर उत्तम ज्ञानी बनता है, तब वह तत्काल ही अहंकारसे मुक्त होकर शिव-तादात्म्यरूप मुक्ति प्राप्त करता है ।'

मुक्तिकी साधन-परम्परा

मुक्तिकी साधन-परम्पराके सम्बन्धमें कहा गया है—

ज्ञानमूलं तथाध्यात्मं तस्य भक्तिः शिवस्य च ।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्तं प्रेम्णस्तु श्रवणं मतम् ॥
श्रवणस्य सतां सङ्गः सङ्गस्य सद्गुरुः स्मृतः ।
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवति निश्चितम् ॥
(शिवपुराण, ज्ञानसंहिता ७८ । ३०-३१)

'आत्मयोग ही शिव-तत्त्व ज्ञानका मूल है । शिवभक्ति आत्मयोगका मूल है । भक्तिका मूल प्रेम है, प्रेमका मूल शिव-महिमा-श्रवण, श्रवणका मूल सत्सङ्ग और सत्सङ्गका मूल है सद्गुरु । साधक जब ज्ञानसम्पन्न होता है, तब उसकी निश्चय ही मुक्ति हो जाती है ।'

कूर्मपुराणके अन्तर्गत ईश्वर-गीतामें ज्ञानी भक्तको ही सर्वोत्तम कहा गया है—

सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतमो मम ।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा ॥
(कूर्मपुराण, उत्तरार्द्ध ४ । [illegible])

'सारे भक्तोंमें वही मेरा प्रियतम भक्त है, जो सदा ज्ञानके द्वारा मेरी आराधना करता है, अन्य प्रकारसे नहीं ।'

शिव-भक्तिके त्रिविध साधन

शैव-भक्ति-योगके साधन तीन हैं—श्रवण, कीर्तन और मनन ।

श्रोत्रेण तस्य श्रवणं वचसा कीर्तनं तथा ।
मनसा मननं तस्य महासाधनमुच्यते ॥
(शिवपुराण, विद्येश्वरसंहिता [illegible])

'श्रोत्रके द्वारा शिवकी महिमाका श्रवण और वाणीके द्वारा उनका गुण-कीर्तन तथा मनके द्वारा उनका निरन्तर चिन्तन—यह महासाधन कहलाता है ।' विद्येश्वरसंहिताके

दूसरे अध्यायमें श्रवण, कीर्तन और मनन—इस त्रिविध साधनका विस्तृत वर्णन मिलता है—

येनापि केन करणेन च शब्दपुञ्जं
यत्र क्वचिच्छिवपरं श्रवणेन्द्रियेण।
स्त्रीकेलिवद् दृढतरं प्रणिधीयते यत्
तद् वै बुधाः श्रवणमत्र जगत्प्रसिद्धम्॥

'स्त्री-केलिमें जिस प्रकार मनकी स्वाभाविक आसक्ति होती है, वैसी ही दृढ़ आसक्ति जिस किसी कारणसे जिस किसी स्थानमें उद्धृत शिवविषयक वचनोंमें श्रवणेन्द्रियकी होती है, उसीको ही शैव-साधनामें 'श्रवण' कहते हैं।'

गीतात्मना श्रुतिपदेन च भाषया वा
शम्भुप्रतापगुणरूपविलासनाम्नाम्।
वाचा स्फुटं तु रसवत् स्तवनं यदस्य
तत्कीर्तनं भवति साधनमत्र मध्यम्॥

''शंकरके प्रताप, गुण, रूप, विलास (लीला) और नामके प्रकाशक संगीत, वेद-मन्त्र या भाषाद्वारा मधुर रागमें उनकी स्तुति ही मध्यम साधन 'कीर्तन' के नामसे प्रसिद्ध है।''

पूजाजपेशगुणरूपविलासनाम्नां
युक्तिप्रियेण मनसा परिशोधनं यत्।
तत् संततं मननमीश्वरदृष्टिलभ्यं
सर्वेषु साधनपरेष्वपि मुख्यमुक्तम्॥

'युक्तियुक्त मनके द्वारा शंकरकी पूजा, जप, गुण, रूप, विलास और नामोंके तात्पर्यको सदा गम्भीरभावसे चिन्तन करना ही साधनोंमें श्रेष्ठ साधन 'मनन' नामसे प्रसिद्ध है। यह शिवकी कृपासे ही प्राप्त होता है।'

एवं मननपर्यन्ते साधनेऽस्मिन् सुसाधिते।
शिवयोगो भवेत् तेन सालोक्यादिक्रमाच्छनैः॥
(शि० पु०, वि० स० १।२६)

'इस प्रकार क्रमशः मननपर्यन्त साधन सुसाधित होनेपर शिवयोग निष्पन्न होता है। पश्चात् क्रमशः उसी शिवयोगके बलसे साधक सालोक्य आदि मुक्ति-पदको प्राप्त होता है।'

शिवदृष्टि या कृपावाद

शैवभक्ति-साधनामें शिवदृष्टि या शिवकी कृपाके ऊपर विशेष जोर दिया गया है। शिवकी कृपासे ही भक्ति प्राप्त होती है तथा उस भक्तिके द्वारा ही वे प्रसन्न होते हैं।

प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः।
यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः॥
(शि० पु०, वि० सं० १।१४)

'जिस प्रकार अङ्कुरसे बीज तथा बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार देवताके प्रसादसे देवभक्ति तथा देवभक्तिके द्वारा देवताकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।'

शिवकी कृपादृष्टि असाध्य-साधनमें समर्थ है। उनकी करुणासे महापापी भी पुण्यात्मा होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है—

पतितो वापि धर्मात्मा पण्डितो मूढ एव वा।
प्रसादे तत्क्षणादेव मुच्यते नात्र संशयः॥
अयोग्यानां च कारुण्याद् भक्तानां परमेश्वरः।
प्रसीदति न संदेहो निगृह्य विविधान् मलान्॥
(शिवपुराण, वायवीयसंहिता, उत्तरभाग ८।२५, २६)

'पतित हो या धर्मात्मा, पण्डित हो या मूर्ख—सभी उनके प्रसादसे तत्क्षण मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। शिवभक्तोंके अयोग्य होनेपर भी करुणावश परमेश्वर उनके विविध पापोंका नाश करके प्रसन्न होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है।'

(ग) शाक्त भक्तिमार्ग

परतत्त्वकी मातृरूपमें उपासना करनेकी पद्धति वैदिक-युगमें ही बीजाकारमें प्रचलित थी। शाक्त-पुराणोंमें मातृ-ब्रह्मकी उपासनाने प्रधानता प्राप्तकर पौराणिक भक्ति-मार्गकी साधना-धारामें विशेष वेग-संचार कर दिया। ऋग्वेदमें मातृ-ब्रह्मका सुस्पष्ट परिचय मिलता है 'अदिति' नाममें। 'अदिति' है सर्वलोकजननी, विश्वधात्री, मुक्तिप्रदायिनी, आत्मस्वरूपिणी इत्यादि। ऋग्वेदके वाक्सूक्त या देवीसूक्त (१०।१२५) में आद्याशक्ति जगज्जननी देवी भगवतीके स्वरूप और महिमाका वर्णन है। इसमें देवी स्वमुखसे कह रही है—'ब्रह्मस्वरूपा मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवाके रूपमें विचरण करती हूँ। मैं ही मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि तथा अश्विनीकुमारद्वयको धारण करती हूँ।' वही देवी जनकल्याणके लिये असुरोंके दलनमें निरत रहती है (अहं जनाय समदं कृणोमि), वही जगत्‌की एकमात्र अधीश्वरी है (अहं राष्ट्री) तथा भक्तोंको भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है (संगमनी वसूनाम्)। जीवके अभ्युदय और निःश्रेयस—सब उनकी कृपापर निर्भर करते हैं।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।
(ऋग्वेद १० । १२५ । ५)

'मैं जिसको-जिसको चाहती हूँ, उसको-उसको श्रेष्ठ बना देती हूँ। उसको ब्रह्मा, ऋषि या उत्तम प्रज्ञाशाली बना डालती हूँ।'

कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकमें जगज्जननी भगवती दुर्गाके स्वरूप और महिमाको प्रकाशित करनेवाला निम्नाङ्कित स्तुति-मन्त्र दृष्टिगोचर होता है—

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं
वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये
सुतरसि तरसे नमः॥
(तैत्तिरीय आरण्यक १० । १)

'जिनका वर्ण अग्निके समान है, जो तपःशक्तिके द्वारा जाज्वल्यमान हो रही हैं, जो स्वयं प्रकाशमाना हैं, जो ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलकी प्राप्तिके लिये साधकोंके द्वारा उपासित होती हैं, मैं उन्हीं दुर्गादेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। हे देवि ! तुम संसार-सागरको पार करनेवालोंके लिये श्रेष्ठ सेतु-रूपा हो, तुम्हीं परित्राणकारिणी हो, मैं तुमको प्रणाम करता हूँ।'

केनोपनिषद्में ब्रह्मविद्या और ब्रह्मशक्तिस्वरूपिणी हैमवती उमाका प्रसङ्ग है। उससे ज्ञात होता है कि आद्याशक्ति ही सर्वभूतोंमें शक्तिरूपसे अवस्थित हैं। उनकी शक्तिके बिना अग्नि एक तृणको भी नहीं जला सकता, वायु एक छोटे-से तृणको भी स्थानसे हटा नहीं सकता।

वेद और उपनिषदोंमें निहित आद्याशक्तिके इन सब तत्त्वोंका आश्रय लेकर शाक्त पुराणोंमें देवीके स्वरूप, महिमा और उपासना-प्रणालीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण, कालिकापुराण, देवीपुराण, महाभागवत आदि पुराणों तथा उपपुराणोंमें देवीका माहात्म्य वर्णित है। मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत 'सप्तशती चण्डी' देवीमाहात्म्यसे सम्बन्ध रखनेवाले श्रेष्ठ और नित्य पाठ्य-ग्रन्थके रूपमें हिंदू-समाजमें प्रचलित है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणके अन्तर्गत प्रकृतिखण्डमें, शिवपुराणके अन्तर्गत उमासंहिता-प्रकरणमें तथा ब्रह्माण्डपुराणके अन्तर्गत ललितोपाख्यान-प्रकरणमें भी शक्तिके माहात्म्य और साधन-पद्धतिका वर्णन पाया जाता है।

महाभागवतके अन्तर्गत भगवती-गीतामें देवीके परमेश्वरीत्व-भावका वर्णन प्राप्त होता है—

सृजामि ब्रह्मरूपेण जगदेतच्चराचरम्।
संहरामि महारुद्ररूपेणान्ते निजेच्छया॥
दुर्वृत्तशमनार्थाय विष्णुः परमपूरुषः।
भूत्वा जगदिदं कृत्स्नं पालयामि महामते॥
(भगवती-गीता ४ । १२-१३)

देवी हिमालयसे कहती हैं—'मैं ही ब्रह्मारूपसे जगत्‌की सृष्टि करती हूँ तथा अपनी इच्छाके वश महारुद्ररूपसे अन्तमें संहार करती हूँ। हे महामते ! मैं ही पुरुषोत्तम विष्णुरूप धारण करके दुष्टोंका नाश करते हुए समस्त जगत्‌का पालन करती हूँ।'

सप्तशती चण्डीमें ब्रह्माकृत देवी-स्तुतिमें कहा गया है —

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्॥
(चण्डी १ । ८४)

'हे जगन्मातः ! तुमने मुझ (ब्रह्मा) को, विष्णु और रुद्रको शरीर ग्रहण कराया है। अतः तुम्हारी स्तुति करनेमें कौन समर्थ हो सकता है।'

शाक्तपुराणोंमें मातृभाव अवलम्बन करके पराशक्ति भगवतीकी आराधनाके द्वारा होनेवाली विशेष फल प्राप्तिका पुनः-पुनः उद्घोष किया गया है। शैव श्रीनीलकण्ठजीने अपनी देवी-भागवतकी टीकाकी उपक्रमणिकामें इस प्रसङ्गमें बहुत-से प्रमाण उद्धृत किये हैं—

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
मातुः परतरं किंचिदधिकं भुवनत्रये॥

'वह पराशक्ति भगवती सभी देव दानवोंके द्वारा आराधनीया हैं। त्रिभुवनमें क्या मातासे भी बढ़कर पूजनीय और कोई है?'

धिग् धिग् धिग् धिक् च तज्जन्म यो न पूजयते शिवाम्।
जननीं सर्वजगतः करुणारससागराम्॥

'जो सारे जगत्‌की जननी हैं, करुणारसके समुद्र स्वरूप हैं, उन मङ्गलमयी जननीकी जो पूजा नहीं करता, उसके जन्मको सौ बार धिक्कार है।'

शरणागति

पौराणिक शाक्त उपासना-प्रणालीमें भक्तिमार्गकी महिमा विशेषरूपसे घोषित की गयी है तथा अनन्यशरणागतिका

ही जगज्जननीकी कृपा-प्राप्तिका श्रेष्ठ मार्ग निर्देश किया गया है। देवीभागवतके अन्तर्गत 'देवीगीता' में कहा गया है—

अपराधो भवत्येव तनयस्य पदे पदे ।
कोऽपरः सहते लोके केवलं मातरं विना ॥
तस्माद् यूयं परामम्बां तां शरणं यात मातरम् ।
निर्व्याजया चित्तवृत्त्या सा वः कार्यं विधास्यति ॥
(देवीभागवत ७ । ३१ । १८-१९)

'संतानसे पद-पदपर अपराध हो जाता है, त्रिलोकमें एकमात्र जननीके सिवा दूसरा कौन उसे सहन कर सकता है। अतएव तुमलोग तत्काल ही ऐकान्तिक भक्तिके साथ उस परम जननीके शरणापन्न हो जाओ, वही तुम्हारे कार्यको पूरा करेगी।'

सप्तशती चण्डीमें महर्षि मेधस्ने महाराज सुरथको ऐसा ही उपदेश दिया है—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥
(चण्डी १३ । ५)

'हे महाराज ! उसी भगवती परमेश्वरीकी शरणमें जाओ। उसकी आराधना करनेसे ही वह मनुष्योंको भोग, स्वर्ग और अपवर्ग प्रदान करती है।'

गुण-भेदसे भक्तिके तीन प्रकार

देवीभागवतके अन्तर्गत देवीगीतामें शाक्त-भक्तिमार्गके साधन-तत्त्वपर विस्तृतरूपसे आलोचना की गयी है (देवी-भागवत ७ । ३७)। गुणभेदसे भक्ति तामसी, राजसी और सात्त्विकी—तीन प्रकारकी है। तामसी भक्तिसे क्रमशः राजसी भक्तिका और राजसी भक्तिसे सात्त्विकी भक्तिका उदय होता है। अन्तमें सात्त्विकी भक्ति पराभक्तिमें परिणत हो जाती है।

पराभक्तिका लक्षण

सात्त्विकी भक्तिकी साधना करते-करते साधक क्रमसे परम प्रेमरूपा पराभक्तिको प्राप्त करता है। जो उस पराभक्ति-को प्राप्त करके धन्य हो गया है, देवीभागवतमें उसके लक्षणका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

अधुना तु पराभक्तिं प्रोच्यमानां निबोध मे ।
मद्गुणश्रवणं नित्यं मम नामानुकीर्तनम् ॥
कल्याणगुणरत्नानामाकरायां मयि स्थिरम् ।
चेतसो वर्तनं चैव तैलधारासमं सदा ॥
(देवीभागवत ७ । ३७ । ११-१२)

देवी हिमालयसे कहती हैं—'हे नगेन्द्र ! अब मैं परा-भक्तिके विषयमें कह रही हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। जिसको पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, वह साधक सदा-सर्वदा मेरा गुण-श्रवण तथा मेरा नाम-कीर्तन करता है। कल्याणरूप गुणरत्नोंकी खानि-सदृश मुझमें ही उसका मन तैलधाराके समान सदा अविच्छिन्नभावसे स्थित रहता है।'

पराभक्ति और अद्वैतज्ञान

भक्ति-भूमिकामें द्वैतरूपमें उपास्य-उपासकभाव विद्यमान रहता है; इसीसे अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। परंतु यह पराभक्ति अद्वैत-ज्ञानकी जननी है। पराभक्तिकी परिणतिमें उपास्य-उपासकभाव दूर हो जाता है, सर्वत्र अद्वैत-अनुभूति होती है। देवीगीतामें भगवती कहती हैं—

भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम् ।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः ॥
(देवीभागवत ७ । ३७ । २८)

'पण्डितलोग भक्ति और वैराग्यकी चरम सीमाको 'ज्ञान' कहते हैं; क्योंकि ज्ञानके उदय होनेपर भक्ति और वैराग्यकी सम्पूर्णता सिद्ध हो जाती है।'

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः ।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः ॥
(७ । ३७ । १५)

स्वाभेदेनैवेति। अहमेव सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती अस्मीति भावनया इत्यर्थः। (शैवनीलकण्ठः)

'जिसको पराभक्ति प्राप्त हो गयी है, वह साधक अतन्द्रित होकर परम अनुरागपूर्वक मेरा ही चिन्तन करता रहता है और इस प्रकार चिन्तन करते-करते अन्तमें मुझको अपनेसे भिन्न न समझकर 'मैं ही सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती हूँ'—इस प्रकारका अभिन्न ज्ञान प्राप्त करता है।'

इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः ।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत् ॥
(७ । ३७ । २७)

'हे भूधर ! जिसमें यथार्थरूपसे इस प्रकारकी पराभक्तिका उदय हो गया है, वह मनुष्य तत्काल ही मेरे चिन्मात्ररूपमें विलीन हो जाता है।'

प्रश्न हो सकता है कि 'चरमावस्थामें यदि अद्वैतानुभूति होती है तो श्रीरामप्रसाद आदि भक्तगण जो यह प्रार्थना करते हैं कि 'चिनि हते चाइ ना मा, चिनि खेते भालबासि' (अर्थात् माँ ! मैं चीनी बनना नहीं चाहता, चीनीका आस्वाद लेना

मुझे पसंद है)—इसकी संगति कैसे लगेगी ?' वस्तुतः 'चीनी बनने' और 'चीनी खाने' का विवाद 'वाचारम्भण' मात्र है। शब्दगत पार्थक्यको छोड़कर दोनोंमें तात्पर्यगत पार्थक्य नहीं है। विचारदृष्टिसे या ज्ञानकी दृष्टिसे मोक्ष है—'चीनी हो जाना' और भावदृष्टिसे या भक्तिकी दृष्टिसे मोक्ष है—'चीनी खाना'। दृष्टिभेदसे शब्दगत पार्थक्य दीख पड़नेपर भी परमार्थतः दोनों अवस्थाएँ एक और अभिन्न हैं। व्यावहारिक जगत्में 'होने' तथा 'खाने' में जो पार्थक्य दीख पड़ता है, पारमार्थिक क्षेत्रमे वह पार्थक्य नहीं है। जैसे एक ही ब्रह्मरूप वस्तु एक साथ ही सविशेष-निर्विशेष तथा सगुण और निर्गुण दोनों ही है, उसी प्रकार मुक्तिकी अवस्थामे 'होना' और 'खाना' दोनों एक साथ ही सम्पादित होते है। जिनको मुक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, उनके लिये ब्रह्म होना या ब्रह्मका आस्वादन करना एक ही बात है। भेद-बोध यदि लेशमात्र भी रहे तो परिपूर्ण आस्वादन सम्भव नहीं है। रसस्वरूपसे तनिक भी विच्छिन्न होनेपर, उसमें एकबारगी निरतिशयभावमें डूबे बिना परिपूर्ण आस्वादन सम्भव नहीं है। विद्वद्वर श्रीनरहरिने 'बोधसार' ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है—

> अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
> प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणाम स एव हि॥
>
> (बोधसार ३०।१०)

"वेदान्तमें जो अपरोक्षानुभूतिके नामसे निरूपित हुआ है, वही 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' या 'पराभक्ति' की परिणति है।"

श्रीमद्भागवतमें प्रतिपाद्य भक्ति

(लेखक—ह० भ० प० श्रीचातुर्मास्ये महाराज)

श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्रका अद्वितीय ग्रन्थ है, यह समस्त विद्वानोंको मान्य है। इस ग्रन्थराजका मुख्य सिद्धान्त यह है कि भक्तिप्राप्त पुरुषके लिये कोई भी साधन और साध्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। यह बात भक्तप्रिय श्रीउद्धवजीके प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे कही है—

> भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते।

'हे साधो ! जिसको भक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, उसके लिये क्या अवशिष्ट रह जाता है ?' साधनकालमें भी भक्तियोग स्वतन्त्र होनेके कारण भक्तियोगीके लिये अन्य साधनोकी अपेक्षा नहीं होती, न उससे अधिक किसी साधनसे लाभ ही मिलता है।

> तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
> न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥

अर्थात् भक्तियोगीके लिये ज्ञान-वैराग्यादि श्रेयस्कर नहीं होते। भक्तियोगी अन्य-निरपेक्ष होता है और अन्य योगी भक्तिसापेक्ष होते हैं। इस श्लोकमें जो 'प्रायः' शब्द है, वह प्रायोऽधिक्येऽवधारणे इस कोष-वाक्यके अनुसार निश्चयताका ही बोधक है। भक्ति स्वतन्त्र होनेके कारण ज्ञानकी चरम भूमिकासे अपना पृथक् स्वरूप रखती है। इसी कारणसे ज्ञानी और भक्तकी भूमिका विभिन्न होती है। 'भक्तिरसायन' ग्रन्थमे श्रीमधुसूदन सरस्वती स्वामीजीने स्वरूप, साधन, फल और अधिकारके भेदसे ज्ञानी और भक्तकी विभिन्नताका बडा सुन्दर विवेचन किया है; परंतु विस्तारभयसे यहाँ वह नहीं दिया गया। श्रीभागवत, एकादश स्कन्ध २। ८५ में यह महत्त्वपूर्ण विषय आया है।

उपर्युक्त श्लोकमें 'आत्मा' शब्दका 'हरि' अर्थ करके श्रीधरस्वामीने श्लोकके भावका पूर्णतया भक्तिमें पर्यवसान कर दिया है। शास्त्रीय ग्रन्थोंमे प्रायः प्रथम अर्थके प्रति अरुचि होनेसे ही 'यद्वा'से प्रारम्भ करके दूसरा अर्थ लिखनेकी प्रथा रूढ़ है। यहाँ भी ऐसा होना सम्भव है। पर वह कौन-सा कारण है, जिससे श्रीधर स्वामीको प्रथम अर्थ-से संतोष नहीं हुआ ? इस असंतोषका कारण बतलाते हुए एक टीकाकार कहते हैं—

समन्वयं व्याहि एतत् त्वद्वैतनिष्ठानां भवति। भक्तास्तु सगुणनिष्ठामेवाद्रियन्त इत्यत आह॥

'यद्वेति' अर्थात् यह समन्वय अद्वैत-निष्ठाका बोधक है। पर भक्त तो सगुण-निष्ठाका ही आदर करते हैं। अतः इसी अरुचिके कारण 'यद्वा' इत्यादि आगेका प्रकरण लिखा गया। इस अरुचिका महत्त्वपूर्ण कारण बतलाते हुए दूसरे टीकाकार लिखते हैं—'यद्वा'पर्यन्त जो व्याख्यान है,

एतत्तु ज्ञानिनां लक्षणं न तु भागवतलक्षणमिति आम्र-निम्बोत्तरन्यायापत्तिरित्यरुच्याह यद्वेति।

अर्थात् यह तो ज्ञानियोंका लक्षण है, न कि भागवतोंका। इससे 'आम्रनिम्बोत्तरन्याय'की प्राप्ति हुई। इस न्यायका स्वरूप यह है। किसीने पूछा कि 'आपके यहाँ कितने आमके

वृक्ष हैं ?' इसके उत्तरमें कहा गया कि 'हमारे यहाँ सौ नीमके पेड़ हैं।' यह जैसे प्रश्नके अनुरूप उत्तर नहीं है, वैसे ही यहाँ पूछे गये थे भागवतोंके लक्षण और बतलाया गया ज्ञानीका लक्षण। अतएव प्रश्नानुरूप उत्तर न होनेके कारण प्रथम अर्थसे अरुचि हुई। इसीलिये 'यद्वा'से प्रारम्भ करके भागवतोंके लक्षण बतलानेवाला दूसरा यथार्थ अर्थ लिखा। निष्कर्ष यह कि ज्ञानी और भक्तके स्वरूपमे भिन्नता है और द्वितीय अर्थका भाव ही भगवद्भक्तोंकी भक्ति है और 'भक्ति' का अर्थ है 'भागवत'-प्रतिपाद्य भक्ति।

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥

योगेश्वर हरिने भागवतका स्वरूप जाननेकी इच्छासे राजाके द्वारा उपर्युक्त प्रश्न किये जानेपर उत्तर दिया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

इसका साधारणतया भाव बतलानेवाला एक श्लोक श्री गीतामे भी मिलता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

इस श्लोकमें आत्माका और सर्वभूतोंका आधार-आधेय-भाव प्रतिपादन किया गया है। सामान्यतया आधार-आधेय-भावकी प्रतीति जड वस्तुमे ही होती है, अतः इससे आत्मामें जडत्वकी कल्पना हो सकती है। परंतु यहाँका आधार-आधेय-भाव जड वस्तुओंके आधाराधेय-भावसे सर्वथा विलक्षण है, यही दिखलानेके लिये 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' श्लोकके आरम्भमें ही यह प्रतिपादन किया गया है। यहाँ आधारभूत आत्माकी आधेय वस्तुमें जैसी व्याप्ति दिखायी, वैसी जड आधारकी नहीं होती। फलतः 'योगयुक्तात्मा' दोनोंकी एकता देखता है, यही भाव उपरिनिर्दिष्ट भागवतके श्लोकमें भी है।

भक्ति-भागीरथीकी अजस्र भावधारा

(लेखक—पण्डित श्रीदेवदत्तजी शास्त्री)

वेदोंमें भक्ति

भक्तिका उद्भव और विकास अधिकांश चिन्तकोंकी दृष्टिसे विवादास्पद है। उनका मत है कि वेदोंमें 'भक्ति' का कोई उल्लेख नहीं है। ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीन काण्डोंसे युक्त वेदमें 'भज्' धातुसे निष्पन्न 'भक्त' या 'भक्ति' शब्दको ढूँढना भाषा-प्रवाह या भाषा-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी अवहेलना करना है। वेदोंके अध्ययनसे पता चलता है कि उपनिषद्-कालके बाद उपासनाका जो भावार्थ 'भक्ति' निर्धारित किया गया, उसका मूल स्रोत वेद है।

ऋग्वेदका एक मन्त्र है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित् सोमस्यापामिति।

अर्थात् मेरे मनमें तो यह आता है कि अपनी गौओं और घोड़ोंको उनको दे डालूँ, जिन्हें इनकी आवश्यकता है; क्योंकि मैंने बहुत बार सोमका पान किया है।

यहाँ 'सोम' शब्दका अर्थ सोमलता नहीं बल्कि आनन्द-रससे परिपूर्ण भगवान् है। वेद स्वयं इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहता है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्सम्पिषन्त्योषधिम्, सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन।'

अर्थात् कोई पिसी हुई सोम ओषधिको ही पीकर यह न समझ ले कि मैंने सोमपान किया है। जिस 'सोम' का पान ब्राह्मणलोग करते हैं, उसे सांसारिक भोगोंमे आसक्त आदमी नहीं पी सकता।

वह 'सोम' कौन-सा है, जिसे ब्राह्मणलोग पीते हैं—इस प्रश्नके उत्तरमे बताया गया है—

उदीचीदिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता।

अर्थात् वह 'सोम' सबकी रक्षा करनेवाला भगवान् है, जो 'स्वजः'—अपने भक्तके हृदयमें प्रकट होता है। इस प्रकार सोमका भावार्थ हुआ प्रभुके भक्तका भक्तिरसमें भीग जाना—डूब जाना। तात्पर्य यह कि वेदोंमें भक्तिका 'सोम' वाचकशब्द है।

और 'भक्त' शब्दके वाचक 'अथर्वा,' 'स्तोता,' 'वसिष्ठ', 'तुष्टुवासः' आदि अनेक शब्द मिलते हैं—

१—आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्।

(ऋग्वेद)

२—न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया।

(ऋग्वेद)

३—एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ।

(ऋग्वेद)

४—प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।

यही नहीं, बल्कि पौराणिक कालसे प्रचलित मानी जानेवाली 'स्मरणं कीर्तनं' आदि नवधा भक्तिका मूल उद्गम वेद ही है ।

वेदका ऋषि भगवान्‌का स्मरण करता है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

अर्थात् हे प्रजापते ! (त्वत्) तुझसे (अन्यः) भिन्न कोई दूसरा (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (जातानि) उत्पन्न पदार्थोंमें (न) नहीं (परि बभूव) अंदर-बाहर व्याप्त हो सकता । इसलिये तेरे समान शक्ति किसीमें नहीं है । (यत्कामाः) जिस-जिस कामनाके लिये हम (ते) तुझे (जुहुमः) बुलायें, (नः) हमारी (तत्) वह कामना (अस्तु) पूरी हो जाय । (वयं) हम सब (रयीणाम्) भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्योंके (पतयः) स्वामी हो जायँ ।

आजकलकी भाँति सामूहिक कीर्तनद्वारा भगवद्भक्तिकी पद्धति वेदोंमें भी पायी जाती है । वैदिककालके 'तुष्टुवासः' के लिये सामूहिक कीर्तनका विधान निम्नाङ्कित मन्त्रमें मिलता है—

सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः ।
दाता राधांसि शुम्भति ।

(ऋग्वेद)

अर्थात् (सखायः) मित्रो ! (आ नि षीदत) आओ, मिलकर बैठो । (सविता) सबको उत्पन्न करनेवाले—सबको गति देनेवाले भगवान्‌की (नः) हमको (नु) निश्चयपूर्वक (स्तोम्यः) सामूहिक कीर्तनद्वारा उपासना करनी है । वह भगवान् (राधांसि दाता) सब सिद्धियोंको देनेवाले पदार्थोंका दाता है । (शुम्भति) वह भगवान् हमें पवित्र बनाता है ।

सख्यभावकी भक्ति वेदोंमें बहुत ही मार्मिक है । एक भक्त भगवान्‌की उपासना करता है, उसे प्रभुका साक्षात्कार नहीं होता; वह निराश होकर भगवान्‌से मन-ही-मन कहता है—

'प्रभो ! मुझे दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ? मेरी भक्तिसे तुम प्रसन्न क्यों नहीं होते ? तुम किसे अपना बन्धु बनाते हो ? तुम किसके ब्रह्मयज्ञमें प्रसन्न होते हो ? किसके हृदयमें तुम अपना निवास बनाते हो ?'

भक्तके इन भावोंसे भगवान् संतुष्ट होते हैं, उसे अपनी कृपाका साक्षात्कार कराते हुए भगवान् भक्तसे कहते हैं—

'भक्त ! तुम्हीं मेरे बन्धु हो । अपने ब्रह्मयज्ञसे तुम्हीं मुझे प्राप्त करते हो । मैं तुम्हारा ही सखा हूँ और सखाओंके हृदयमें मैं सहायक होकर बैठता हूँ । मित्र ! निराश मत हो । चलते चलो, जिस राहपर चल रहे हो । वह दिन दूर नहीं, जब तुम मुझे प्रतिक्षण देखा करोगे ।'

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः ।
को ह कस्मिन्नसि श्रितः ।

(ऋग्वेद १ । ७५ । ३)

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ।

(ऋग्वेद १ । ७५ । ४)

इसी प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल नित्य भगवद्भक्ति करनेका जो विधान आजकल प्रचलित है, वह वेदोंमें भी है । ऋग्वेदके सातवें मण्डलके ४१ वें सूक्तमें जो ऋचाएँ हैं, उनमें प्रातःकालकी उपासना है—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजाचिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥

अथर्ववेदके १९ । ५५ सूक्तमें ६ मन्त्र हैं, जिनमें भक्त भगवान्‌की प्रार्थना सोते समय और जागते समय करता है । उसकी इस प्रार्थनामें मङ्गलदाता भगवान्‌के प्रति जो भावनाएँ व्यक्त की गयी हैं, वे सजीव और साकार हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥

देवता-विज्ञान

वेदोंमें ईश्वरके अतिरिक्त देवताओंकी भक्ति प्रचुर मात्रामें उपलब्ध है । निरुक्तकार यास्कमुनिने निरुक्त (७ । ४ । ८–९) में लिखा है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

अर्थात् एक परमात्माकी विभिन्न शक्तियाँ ही देवता हैं । दूसरे शब्दोंमें परमात्माकी मुख्य-मुख्य शक्तियोंके प्रतीक देवगण हैं ।

वेदोंके युगमें अग्नि, वायु, सूर्य मुख्य देवता थे। निरुक्तकारने देवताका अर्थ 'प्राण-शक्ति-सम्पन्न' लिखा है। अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि जितने देवता हैं, सब बलरूप हैं। इन सभी देवताओंके कार्योंके अन्तरमें ऋत (कारणसत्ता) विद्यमान रहता है। ईश्वर ऋत-सत्यमय है। ऋत और सत्य—ये सूक्ष्म तत्त्व हैं। इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वोंको (मूर्तिपूजाका) स्थूल रूप देकर भारतीय संस्कृतिमें देवताओंकी पूजा, भक्ति, उपासनाका विकास हुआ है।

वेदान्तकी दृष्टिसे विश्व ब्रह्माण्डकी परम शक्तिको ब्रह्म, चैतन्य, आत्मा, सत्-चित्-आनन्द आदि कहा जाता है; किंतु इन सबके अन्तरमें जो मूल वस्तु है, वह शक्ति है। उसी शक्तिको देवी-देवताके रूपमें पूजा जाता है। यही परम शक्ति सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कार्य करती है। इन तीन कार्योंके लिये उस परम शक्तिकी तीन शक्तियाँ हैं, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा जाता है। वेदोंमें आकाशको ब्रह्म (ख ब्रह्म) कहा गया है। उस आकाशमें स्थित उसकी अवान्तर शक्तियोंको पुराणोंमें इन्द्र (मेघशक्ति), वरुण (जलशक्ति), अग्नि (विद्युत्-शक्ति) और वायु (पवनशक्ति) कहा गया है।

शिव-विष्णुप्रभृति देवताओंकी भक्ति और पूजा वैदिक-कालसे ही चली आ रही है। तैत्तिरीय-उपनिषद्में **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।** कहकर शिक्षा दी गयी है कि जिस तरह शिव, विष्णु आदि देवोंकी उपासना की जाती है, उसी प्रकार माता-पिता, आचार्य और अतिथिकी भी उपासना करनी चाहिये। भगवान् शंकराचार्यने अर्थको स्पष्ट करते हुए लिखा है—**देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः।** तात्पर्य यह कि पितृदेव, श्रद्धादेव, शिश्नदेव आदि देवान्त शब्द प्रसङ्गतः भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं; किंतु कतिपय विद्वान् इनका अर्थ करनेमें भूल करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और तैत्तरीयसंहितामें 'श्रद्धादेव' शब्दका उल्लेख है। जर्मन भाषामें प्रकाशित संस्कृतकोषके सम्पादकोंने 'श्रद्धादेव' का अर्थ देवविश्वासी किया है। एग्गेलिंग महोदयने अपने शतपथ-ब्राह्मणके अंग्रेजी अनुवादमें इसका अर्थ 'देवभीरु' किया है। हमारे यहाँके भाष्यकारोंने 'श्रद्धावान्' अर्थ किया है, जिसका तात्पर्यार्थ होता है—जिस प्रकार देवतामें आदर होता है, उसी प्रकार श्रद्धामें हो।

किंतु शिश्नदेव, स्त्रीदेव-जैसे शब्दोंका अर्थ देवता कभी नहीं हो सकता। तथापि कतिपय विद्वान् शिवलिङ्ग-पूजाका उदाहरण देकर शिश्न (पुरुष-जननेन्द्रिय) को देवता मानकर सनातनधर्मकी आलोचना करते हैं।

ब्रह्माण्डपुराण (उत्तरखण्ड १।९।११) में घोर कलियुगके व्याप्त होनेपर बढ़ते हुए पापाचारका वर्णन करते हुए अन्तमें लिखा गया है—

मातृपितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिंकराः।

यहाँ 'स्त्रीदेव'का अर्थ कामुक है, न कि स्त्रीदेवता। इसी तरह शिश्नदेवका अर्थ भी कामुक ही अभिप्रेत है। कहीं-कहीं कामुकोंको शिश्नपरायण भी लिखा हुआ है, जिसका अर्थ न समझनेवाले आलोचक शिश्नभक्त करते हैं।

भक्तिका उद्भव और विकास

भक्तिका उद्भव और उसका इतिहास इतना पुराना है कि इतिहास इसके प्रारम्भकी देहलीतक भी नहीं पहुँच पाता। इसकी असीम व्यापकताको कालकी सीमा—अवधि सीमित नहीं कर सकी। उपलब्ध ग्रन्थों और पुरातात्त्विक सामग्रीसे यह निश्चित अनुमान किया जा सकता है कि परमात्माकी दिव्य-शक्तिकी भक्ति (साकार-उपासना) उपनिषद्-कालसे पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। उस समयका जनसमाज 'महामायी' पर विश्वास रखता था। यह कहना भूल है कि वृक्षों और नदियोंकी पूजा अनार्य-पद्धति है और आर्योंने अनार्योंसे सीखी है। वस्तुतः वृक्षों और नदियोंकी पूजा-भक्ति उस समय भी थी, जिसे आजकलके ऐतिहासिक प्रागैतिहासिककाल कहते हैं। यजुर्वेदमें वृक्षों, नदियों और विभिन्न अनार्जोतककी स्तुतियाँ मिलती हैं। वृक्षों और नदियोंकी पूजा प्रकृतिमूलक है। यह भक्ति अन्धपरम्परा या अन्धविश्वासपर आधारित नहीं है। यह सौन्दर्यशक्तिकी भावानुभूतिका प्रतीक है। यही प्रकृतिमूलक उपासना देवी—शक्तिकी उपासनामें परिवर्तित हुई है।

वेदों, उपनिषदों और पुराणोंने ब्रह्मकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको शक्ति माना है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्का कहना है कि सत्त्व, रज, तम—यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति कहलाती है। इसीका मूल स्रोत हमें ऋग्वेदमें मिलता है—

अग्ने यत्ते दिवि वर्च्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥

इसके अतिरिक्त ऋग्वेदके रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्तमें एवं अथर्ववेदके देव्यथर्वशीर्षमें भगवतीकी भक्ति और पूजाका विकसित रूप स्पष्ट लक्षित होता है।

दुर्गोपनिषद् शक्तिको दुर्गादेवी—कालरात्रि स्वीकार करता है। मार्कण्डेय, पद्म, कूर्म, भागवत, नारद आदि पुराणों तथा बुद्धचरित, रामायण, महाभारत आदि इतिहासमें एवं योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, पूर्वमीमासा, उत्तर-मीमासा, न्यायकुसुमाञ्जलि, वाक्यपदीय आदि दर्शन-ग्रन्थोंमें एव मालतीमाधव, कुमारसम्भव, दशकुमारचरित, नागानन्द, कर्पूरमञ्जरी, कादम्बरी आदि काव्योंमें शक्ति उपासनाके अनेक बीज और विधान हैं।

हिंदू-धर्मग्रन्थोंके अतिरिक्त जैन, बौद्ध सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी शक्ति-उपासनाके अनेक विधान और प्रमाण उल्लिखित हैं। जैनधर्मके ज्ञानधर्मकथाकोष-जैसे प्रबन्धात्मक साहित्यमें प्रकृति (शक्ति) सम्बन्धी प्रचुर लेख-सामग्री है। बौद्ध-साहित्यमें शक्तिके रूपमें 'तारा', 'धारिणी' और 'मणिमेखला' का विशद वर्णन है। बौद्धोंकी महायान शाखाद्वारा शाक्तमत और सहजयान शाखाद्वारा वैष्णवमतको पर्याप्त बल मिला है। उनकी वज्रयान शाखामें विभिन्न मन्त्रों, यन्त्रों, टोने टोटकोंका आविर्भाव हुआ है। उपलब्ध पुरातत्त्व-सामग्री और साहित्यसे स्पष्ट बोध होता है कि भारतीय देवी-देवताओंकी उपासनाका क्षेत्र क्रमशः बढते-बढते भारतकी सीमा पार करके तिब्बत और समस्त पूर्वी एशियाई देशोंतक विस्तृत हो गया था।

इस तरह भक्ति-भागीरथीका अजस्र प्रवाह आदिकालसे जन-मनको आसिञ्चित करता हुआ प्रवाहित है, जिसके अनेक स्रोत सम्प्रदाय, मतके नामसे प्रवहमाण हैं।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी)

बहुधा न समझनेके कारण ज्ञान और भक्ति विभिन्न-से दीख पड़ते हैं; और कभी-कभी तो दोनोंको परस्पर-विरोधी मानकर, एकको माननेवाले मनुष्य दूसरेकी निन्दा तक करते देखे जाते हैं।

तात्त्विक दृष्टिसे भक्ति और ज्ञान उसी प्रकार परस्पर उपकारक हैं, जैसे वैराग्य और तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञानसे वैराग्य प्रबल होता है तथा प्रखर वैराग्यसे ज्ञान-निष्ठा बढती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे भगवान्में भक्तिभाव बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे ज्ञानमें निष्ठा बढती जाती है; और जैसे-जैसे ज्ञान परिपक्व होता जाता है, वैसे-वैसे भगवत्प्रेम उमड़ता जाता है।

एक लौकिक दृष्टान्त लीजिये। जिस मनुष्यके विषयमें आप कुछ नहीं जानते, केवल उसका नाम आपने सुना है, उसके प्रति आपके हृदयमें भक्ति या भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि आप उसका भाषण सुनें या लेख पढ़ें और उससे यदि आप प्रभावित हों, तभी उसके प्रति आपके हृदयमें भाव जाग्रत् होगा; और एक बार भाव जाग्रत् होनेपर उसके विषयमें अधिकाधिक जाननेकी इच्छा उत्पन्न होगी तथा उसके दर्शनकी भी इच्छा होगी। इसी प्रकार ज्ञानसे भक्तिका उदय होता है और भक्तिसे पीछे जिज्ञासा बढती है तथा ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों ही परस्पर उपकारक हैं; एक दूसरेके विरोधी हैं ही नहीं।

अब इस विषयमें आगे विचार करनेसे पहले एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातपर ध्यान दीजिये। साधक भक्तियोग, ज्ञान-योग या अष्टाङ्गयोगमेंसे किसीकी भी साधना करता हो, तीनोंका लक्ष्य तो एक ही है—भले ही वह विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता हो। साधन-प्रणालीकी विभिन्नताके कारण तीनों मार्गोंमें विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंका होना स्वाभाविक है—एक ही फलको जैसे कोई 'अमरूद' कहता है तो कोई 'जाम-फल' और कोई 'प्यारा'।

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

तात्पर्य यह है कि जिस चेतन सत्ताको भक्त 'भगवान्' कहता है, उसी चेतन सत्ताको अष्टाङ्गयोगी 'परमात्मा' कहते हैं और उसी परम सत्ताको वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं और सांख्ययोगवाले अर्थात् ज्ञानी 'ज्ञान' या 'ज्ञानस्वरूप' कहते हैं। भक्त जिसको 'भगवत्प्राप्ति' कहता है, उसको योगी 'आत्मा-परमात्माका मिलन' कहते हैं, वेदान्ती उसी स्थितिको ब्राह्मी स्थिति या 'ब्रह्मभूत' होना कहते हैं और ज्ञानी 'स्वरूपमें स्थिति' कहते हैं। भक्त साधन कालमें 'दासोऽहम्' कहता है और जब पराभक्तिका उदय होता है, तब उसमेंसे 'दा' उड़ जाता है, केवल 'सोऽहम्' रह जाता है। तब भक्त भगवान्के साथ एकीभावको प्राप्त होता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

(गीता १४।२)

'तत्त्वज्ञानका आश्रय लेकर साधक मेरे समान धर्मवाला बन जाता है अर्थात् मेरे साथ उसका अभेद हो जाता है— मैं और वह भिन्न नहीं रह जाते।'

गीता भी कहती है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और एकके बिना दूसरा नहीं रह सकता। परतु परिपाकके समय दोनों अभिन्न हो जाते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'हे शत्रुको तपानेवाले अर्जुन! केवल अनन्यभक्तिके द्वारा—मुझमें एक निष्ठावाली भक्तिके द्वारा मेरा तत्त्व-ज्ञान—मेरे सम्पूर्ण स्वरूपका ज्ञान होता है, मेरे सगुण स्वरूपका दर्शन भी हो जाता है तथा भक्त मुझमें सर्वतोभावेन मिलकर मेरा रूप बन जाता है।' *इस प्रकार यहाँ यह बतलाया गया कि भक्तिसे ज्ञान और ज्ञानसे मुक्ति होती है। पुनः गीताका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

'इस प्रकार ब्रह्मरूप हुए ज्ञानीका चित्त निरन्तर प्रसन्न रहता है और इस कारणसे वह किसी भी सासारिक घटनासे उद्विग्न नहीं होता अर्थात् वह किसीके लिये शोक नहीं करता, न किसी पदार्थकी इच्छा ही करता है।† वह सब भूतोंमें समभाववाला होकर मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है अर्थात् मेरे साथ उसका अभेद हो जाता है। बल्कि ऐसा भक्त मेरे समग्र स्वरूपको यथार्थतः जान लेता है और इस तत्त्वज्ञानके द्वारा वह अविलम्ब मुझमें प्रवेश कर जाता है, 'मद्रूप' बन जाता है।' यहाँ 'विशते तदनन्तरम्'का भाव यह है कि ज्ञान और मुक्ति अथवा पराभक्ति और भगवत्प्राप्ति दोनों एककालमें होते हैं।* बल्कि यहाँतक कह सकते हैं कि परा-भक्तिका ही दूसरा नाम मुक्ति है अथवा ज्ञानका ही दूसरा नाम मुक्ति है; क्योंकि पराभक्तिके उदयके बाद, अथवा तत्त्व-ज्ञानके उदयके बाद मुक्तिके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता, दोनों साथ ही होते हैं।

बिजलीके दीपमें जैसे बटन दबाते ही प्रकाश तत्क्षण होता है, उसी प्रकार ज्ञान और मुक्ति एक ही साथ होते हैं। इसलिये यहाँ बहुत ही विस्तारपूर्वक और स्पष्टरूपसे भगवान्ने कह दिया कि भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और दोनोंका एक ही फल है—'मेरी प्राप्ति'।

दूसरी रीतिसे देखिये तो ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों ही भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं। साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण दोनों विभिन्न नामोंसे बोले जाते हैं। जिसको हम 'ज्ञानयोग' कहते हैं, वह 'अभेद-भक्ति' कहलाती है; और जिसको हम 'भक्तियोग' कहते है, वह 'भेद-भक्ति' कहलाती है। भेद-भक्तिमें साधक प्रारम्भमे अपनेको भगवान्से पृथक् मानता है और तीन सीढ़ियाँ पार करके एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

प्रारम्भमें जब उसको भगवान्के सम्बन्धमे कोई ज्ञान नहीं रहता, तब वह ऐसा निश्चय करता है कि मैं भगवान्का हूँ— 'तस्यैवाहम्।' उसके बाद जब वह अनुभव करता है कि भगवान् तो सर्वव्यापक है और चराचर भूतमात्रमे उनका निवास है, तब वह भगवान्को अपने सम्मुख मानता है और कहता है—'हे भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'— 'तवैवाहम्'। तत्पश्चात् भाव-परिपाकके समय जब पराभक्तिका उदय होता है, तब तो वह भगवद्-रूप ही हो जाता है और कहता है—'त्वमेवाहम्'। हे भगवन्! मै तुमसे पृथक् कहाँसे होऊँ?

* श्रुति भी कहती है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।' जो साधक ईश्वरके प्रति सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण कर देता है, उसके ऊपर ईश्वर प्रसन्न होते हैं और अपने समग्र स्वरूपको उसके सामने प्रकट कर देते हैं।

† श्रुति भी कहती है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु-पश्यतः।' जिसकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो गयी है, उसको किसका मोह हो और किसका शोक हो तथा किस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा हो।

* ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (गीता ४। ३९) ज्ञान हो जानेपर साधक तत्काल परम शान्तिको—मुक्तिको प्राप्त करता है। यहाँ भगवान्ने 'अचिरेण' शब्दका प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान और मुक्ति साथ-साथ होते हैं। अतएव ज्ञान होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं रह जाता।

क्योंकि तुम्हीं सर्वरूप हो ।*' इस प्रकार भेद-भक्तिकी साधनासे भक्त भगवान्‌के साथ अपना अभेद अनुभव करने लगता है।

ज्ञानमार्गमें तो प्रारम्भ ही अभेदसे होता है । इस कारण इस साधनाको अभेद-भक्ति कहते हैं । इस मार्गमें साधक पहले, 'सब ब्रह्मरूप है' यह निश्चय करता है, तत्पश्चात् 'स्वयं भी ब्रह्मरूप हूँ'—ऐसा निश्चय होता है । इसको 'स्वस्वरूपस्थिति' या 'ब्रह्मनिष्ठा' कहते हैं। श्रुतिमें अभेद-भक्तिका एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है—

> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादौ प्रपञ्चो यः प्रकाशते ।
> तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते ॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जो प्रपञ्चका अनुभव होता है, वह सभी ब्रह्मरूप है । पहले साधकको इतना निश्चय करना चाहिये । यह निश्चय परिपक्व होनेपर, वह अपने-आपको ब्रह्मरूप ही देखता है; क्योंकि जहाँ सब ब्रह्मरूप हो गया, वहाँ वह स्वयं ब्रह्मसे पृथक् कैसे रह सकता है । इस प्रकार इस अभेद-भक्तिका फल भी ब्रह्मकी प्राप्ति या मुक्ति अथवा ईश्वरके साथ अभेद—जो भी कहो, वह है ।

अब भक्ति और ज्ञानका स्वरूप समझिये । अभेद-भक्तिकी साधनामें अर्थात् ज्ञानयोगकी साधनामें साधक विचारका आश्रय लेता है और विचारसे अपने-आपको परमात्मासे अभिन्न निश्चय करता है । वह विचार करता है कि 'मैं सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ । मैं सत् हूँ, इसलिये त्रिकालाबाधित होनेके कारण मेरा जन्म-मरण नहीं होता । मैं चित् हूँ, इसलिये चैतन्यस्वरूप होनेके कारण मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और इस कारण ज्ञान-प्राप्तिके लिये मुझे यत्न नहीं करना है । फिर मैं आनन्दस्वरूप हूँ, अतः सुख पानेके लिये मुझको जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है ।'

पुनः, मैं शरीर नहीं हूँ । इसलिये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि शरीरके धर्म मुझको पीड़ा नहीं दे सकते । मैं प्राण नहीं, इसलिये भूख-प्यास आदि प्राणके धर्म मुझको व्याकुल नहीं कर सकते । इसी प्रकार मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, इसलिये इन्द्रियों तथा उनके विषयोंके संयोग-वियोगमें उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख मुझको स्पर्श भी नहीं कर सकते । फिर, मैं अन्तःकरण नहीं हूँ; इसलिये शोक-मोह, राग-द्वेष, कर्ता-भोक्ता आदि अन्तःकरणके धर्म मेरे पास पहुँच नहीं सकते ।

जैसे सूर्यके प्रकाशके द्वारा प्राणिमात्र अपने अपने शुभाशुभ व्यवहारोंमें लग जाते हैं, परंतु इससे सूर्यनारायणको कोई सुख-दुःख या हर्ष-शोक नहीं होता, उसी प्रकार मेरे चैतन्यके प्रकाशके द्वारा देह, इन्द्रियाँ, प्राण तथा अन्तःकरण अपने अपने शुभाशुभ व्यवहारमें लग जाते हैं । परन्तु उन व्यवहारोंसे प्राप्त होनेवाले उनके सुख-दुःख मुझमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ।

इस प्रकार दीर्घ समयतक शान्त चित्तसे, भाव और प्रेमसे विचार करते-करते साधक कृतकृत्य हो जाता है ।

भेदभक्तिकी साधनामें अर्थात् भक्तियोगकी साधनामें भक्त इस प्रकार विचार करता है—इस जगत्‌में जो जो रूप दीखते हैं, वे सब भगवान्‌ने स्वयं ही धारण कर रखे हैं अर्थात् एक ही भगवान् अनन्त रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं । जो-जो शब्द सुननेमें आते हैं, वे सभी भगवान्‌के नाम हैं । और जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल अथवा शुभाशुभ व्यवहार होता दीखता है, वह सब भगवान्‌की ही लीला है । इससे भगवान्‌के प्रति अनुराग बढ़ता जाता है और वह 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।' का अनुभव करता जाता है । इस प्रकार साधन करते-करते भक्त [illegible] भगवान्‌के साथ अपना अभेद अनुभव करता है ।

यहाँ इन दोनों साधनोंमें ही [illegible] यह है कि साधक साधन-चतुष्टय-सम्पन्न [illegible], इसके बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं हो सकती ।

---

* अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ (गीता ११ । ४०)

'हे अनन्त सामर्थ्य एवं अतुल पराक्रमवाले भगवान्! आप सबमें व्याप्त हो रहे हैं, इस हेतु [illegible] ।'

श्रुति भी कहती है—

'एकं रूपं बहुधा यः करोति ।'

'परमात्मा स्वरूपसे तो एक है, परंतु वही अनन्तरूपोंको धारण किये हुए है ।

भक्तिका स्वरूप

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्री १०८ श्रीशरणानन्दजी महाराज)

भक्त स्वभावसे ही रसरूप, दिव्य एवं चिन्मय है। अथवा यों कहो कि वह तत्त्वज्ञानरूपी फलका अनुपम रस है। रसकी माँग प्राणिमात्रमे स्वाभाविक है। रसकी प्राप्तिमें ही कामका अत्यन्त अभाव है; क्योंकि नीरसतामे ही कामकी उत्पत्ति होती है। भक्ति-रसके समान अन्य कोई रस नहीं है। यदि यह कहा जाय कि भक्तिमे ही रस है तो कोई अत्युक्ति नहीं है। रस उसे नहीं कहते, जिसमें क्षति हो अथवा तृप्ति हो। जो तत्त्व क्षति और तृप्तिसे रहित है, वह स्वरूपसे ही अगाध तथा अनन्त है। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक अपनी रसकी स्वाभाविक माँगसे निराश नहीं होता, अपितु उसके लिये नित्य नव-उत्कण्ठापूर्वक लालायित रहता है। भक्ति वह प्यास है, जो कभी बुझती नहीं और न कभी उसका नाश ही होता है, अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

भक्ति जिसके प्रति होती है, उसे भी नित्य-नव रस मिलता है और जिसको होती है, उसे भी रस मिलता है; क्योंकि भक्ति 'भक्तका जीवन' और 'उनका स्वभाव' है, जिनकी वह भक्ति है। इतना ही नहीं, भक्तका अस्तित्व भक्ति होकर ही उनसे अभिन्न होता है, जिनके प्रति भक्ति उदय होती है।

भक्ति उन्हींके प्रति होती है, जिनके होनेमें सदेह नहीं है। यह नियम है कि निस्संदेहतापूर्वक जिसकी सत्ता स्वीकार कर ली जाती है, उसमें विश्वास अपने-आप हो जाता है। जिसमे विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वाभाविक है। नित्य सम्बन्ध होते ही सभी अनित्य सम्बन्ध स्वतः मिट जाते हैं और उनके मिटते ही अखण्ड स्मृति अपने-आप होती है।

स्मृति स्वभावसे ही दूरी, भेद और विस्मृतिके नाश करनेमें समर्थ है। दूरीके नाश होनेमे योग, भेदके नाश होनेमें बोध तथा विस्मृतिके नाशमे आत्मीयता स्वतःसिद्ध है। आत्मीयता अखण्ड, अनन्तप्रियताकी जननी है। प्रियता स्वभावसे ही रसरूप है। इस दृष्टिसे भक्ति अनन्त रसकी प्रतीक है। आत्मीयता अभ्यास नहीं है, अपितु जीवन है। इसी कारण आत्मीयतासे उदित रस कभी नाश नहीं होता और न उसकी कभी पूर्ति होती है। वह रस अविनाशी होनेसे अखण्ड और कभी उसकी पूर्त्ति न होनेके कारण अनन्त है।

आत्मीयता वर्तमानकी वस्तु है। जो वर्तमानकी वस्तु है, उसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है; जिसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है, वह सभीके लिये साध्य है। जो सभीके लिये साध्य है, वही अनन्त है। अतः भक्तिरस अनन्तका ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। भक्ति-रससे शून्य जीवन जीवन ही नहीं है; क्योंकि भक्ति-रसके बिना नीरसताका अन्त नहीं हो सकता। उसका अन्त हुए बिना कामका नाश नहीं हो सकता। कामके रहते हुए जीवन ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि काम समस्त विकारों तथा पराधीनताका प्रतीक है। पराधीनता जडता तथा अभावकी जननी है। जडता तथा अभावके रहते हुए भी यदि जीवन है तो मृत्यु क्या है? इतना ही नहीं, ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं, जो किसी-न-किसीका भक्त न हो; क्योंकि सम्बन्धशून्य कोई व्यक्ति नहीं है। जिसका किसीसे सम्बन्ध नहीं है, उसका सभीसे सम्बन्ध है। जिसका सभीसे सम्बन्ध है, वह किसीसे विभक्त नहीं हो सकता। जो विभक्त नहीं हो सकता, वह भक्त है और उसीका जीवन भक्ति है।

जबतक साधकके जीवनमें एकसे अधिककी स्वीकृति रहती है, तबतक उसे विकल्परहित विश्वास प्राप्त नहीं होता। उसके प्राप्त हुए बिना शरणागत होना सम्भव नहीं है। शरणागत हुए बिना 'अहं' और 'मम' का नाश नहीं हो सकता और उसके हुए बिना भक्ति-रसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अतः अनेक अस्वीकृतियोंमे ही एक स्वीकृति निहित है। एक स्वीकृतिमें ही अविचल विश्वास तथा श्रद्धा विद्यमान है। विद्यमान विश्वास तथा श्रद्धाकी जागृतिमें ही शरणागति सजीव होती है।

शरणागतिकी सजीवतामें ही निश्चिन्तता, निर्भयता और आत्मीयता निहित है। निश्चिन्तता सामर्थ्यकी, निर्भयता स्वाधीनताकी तथा आत्मीयता प्रीतिकी प्रतीक है। सामर्थ्यकी अभिव्यक्तिमे ही अकर्त्तव्यका अभाव और कर्तव्यपरायणता निहित है अर्थात् जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है। यह नियम है कि दोषोंका अभाव होते ही गुणोंका अभिमान स्वतः गल जाता है। गुण-दोषरहित जीवनमें अहंकी गन्ध भी नहीं है। अहंके नाशमें ही भेद तथा भिन्नताका नाश है, जो ज्ञान तथा प्रेमका प्रतीक है। इस दृष्टिसे शरणागति कामनाओंकी निवृत्ति, जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रेमकी प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन है। पर शरणागत वही हो सकता है, जो अपनी निर्बलताओंसे अपरिचित नहीं है और अनन्तकी अहैतुकी कृपामें जिसकी अविचल श्रद्धा है।

भक्ति और ज्ञानकी एकता

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज)

भक्ति और ज्ञानको लेकर प्रायः बहुत चर्चा चलती है, शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर ज्ञान और भक्तिकी महिमा वर्णित है। कहीं तो ज्ञानकी सर्वाधिक प्रशंसा की गयी है और कहीं भक्तिकी। महात्माओंके सत्सङ्गमें भी कभी भक्तिको ही सर्वोपरि बताया जाता है और कभी ज्ञानको ही कल्याणका अन्तिम साधन। इन दोनोंमेंसे किसी एकमें बिना निष्ठा हुए साधक अपनी साधनाको यथेष्ट विकसित करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। किंतु जबतक यह निश्चय न हो जाय कि इन दोनोंका यथार्थ स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध क्या है, तबतक किसीमें भी निष्ठा होना कठिन है।

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें भक्ति माता और ज्ञान-वैराग्य पुत्र बतलाये गये हैं। यह भी कहा गया है कि ज्ञान-वैराग्यके अचेत होनेपर भक्ति भी दुर्बल और दुःख-विह्वल हो गयी थी। श्रीमद्भागवतके भी अनेक स्थल ज्ञान-वैराग्यकी उत्पत्तिके हेतुरूपमें भक्तिका प्रतिपादन करते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहेतुकम्॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥
विबुद्ध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्।
—इत्यादि।

रामचरितमानसमें श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने काकभुशुण्डि-गरुड़-संवादके द्वारा इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्मोंकी कथा सुनाते हुए कहते हैं कि "मैंने एक बार अवधपुरीमें जन्म लिया और वहाँ अकाल पड़ जानेके कारण मैं उज्जैन चला गया। मेरे पास बहुत धन हो गया, जिससे मेरा अभिमान बढ़ गया। मेरे एक शिव-भक्तिपरायण वैदिक द्विजवर गुरु थे। मैं उनकी सकपट सेवा किया करता था। फिर भी वे मुझे पुत्रके समान पढ़ाते थे। उन्होंने मुझे शम्भु-मन्त्र दिया और विविध प्रकारसे शुभ उपदेश किया। मैं शिवमन्दिर जाकर अत्यधिक अहंकार और दम्भ-युक्त हृदयसे मन्त्र-जप करता था। मैं मोहवश विष्णुभक्तोंसे मात्सर्य और भगवान् विष्णुसे द्रोह करने लगा। गुरु मुझे बहुत समझाते थे, वे मेरे आचरणोंको देखकर दुःखित थे; पर उससे मेरा क्रोध ही बढ़ता था। एक बार जब उन्होंने कहा—

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥

—तब मेरा हृदय जल गया, मैं उनकी भी उपेक्षा करने लगा। एक बार मैं शिवमन्दिरमें बैठकर नाम-जप कर रहा था। मन अहंकारसे भरपूर तो था ही, गुरुके आनेपर भी उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरु दयालु थे, उनमें रोषका लवलेश भी नहीं था। वे तो कुछ न बोले, पर भगवान् शंकर गुरुका अपमान-रूप पाप न सह सके। उन्होंने रुष्ट होकर सहस्र जन्मोंतक अजगर हो जानेका शाप दे दिया। गुरुकी प्रार्थनापर भगवान् शंकरका अनुग्रह हुआ। उन्होंने कहा, 'द्विज! यद्यपि मेरा शाप व्यर्थ नहीं होगा, इसे सहस्र जन्म लेना ही पड़ेगा, फिर भी मेरे अनुग्रहसे इसे जन्म-मरणमें जो दुःसह दुःख होता है, वह न होगा।' फिर मुझसे कहा—'तेरा जन्म भगवान्‌की पुरीमें हुआ है, साथ ही तूने मेरी सेवामें भी मन दिया है; इसलिये पुरीके प्रभाव और मेरे अनुग्रहसे तेरे हृदयमें रामभक्ति उपजेगी।' थोड़े ही कालमें शापकी अवधि समाप्त हो गयी, तदनन्तर मुझे द्विजकी चरम देह प्राप्त हुई। पूर्व जन्मकी शिव-सेवाके फलस्वरूप भगवान् रामके चरणोंमें रुचि उत्पन्न हुई—

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

"मेरी अप्रतिहत गति तो थी ही, इससे निरन्तर मैं अनेकों मुनियोंके आश्रमोंमें गया और उनसे मैंने सगुणोपासनाका मार्ग पूछा; पर सभीने निर्गुण ब्रह्मका ही उपदेश दिया—

'जेहि पूँछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूतमय अहई॥'

"मुझे निर्गुण-मत सुहाता नहीं था, सगुण ब्रह्ममें ही विशेष रति थी। गुरुके वचनोंका स्मरण करके मन रामचरणोंमें लग गया और मैं क्षण-क्षण नवानुरागसे युक्त होकर रघुपति चरित्रोंका गान करता भ्रमण करने लगा। अन्तमें मुझे सुमेरु पर्वतके शिखरपर एक दिव्य वटकी छायामें आसीन लोमशजीके दर्शन हुए। उनसे भी मैंने सगुण ब्रह्मकी आराधनाका मार्ग पूछा। मुनीशने आदरपूर्वक कुछ रघुनाथजीकी गुणगाथा सुनायी और मुझे परम अधिकारी समझकर वे ब्रह्मका उपदेश करने

लगे। ब्रह्म अज, अद्वैत, निर्गुण, हृदयेश, अकल, अनीह, अनाम, अरूप, अनुभवगम्य, अखण्ड, अनुपमेय, अवाङ्मनसगोचर, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि सुखराशि है। वही तू है; तुझमे और उसमे उसी प्रकार भेद नहीं, जैसे जल-तरङ्गमें।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

"यद्यपि मुनि लोमशजीने मुझे अनेक प्रकारसे समझाया, किंतु निर्गुण मत मेरे हृदयमें उतरा नहीं। मैंने पुनः उनके चरणोंमें मस्तक रखकर सगुणोपासनका ही उपदेश देनेके लिये अनुरोध किया और कहा—

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥

"इसपर फिर उन्होंने भगवान्‌की कुछ अनुपम कथाएँ सुनाकर सगुण मतका खण्डन करके निर्गुणका ही निरूपण किया। तब मैंने भी निर्गुण मतका निराकरण करते हुए अत्यधिक हठके साथ सगुणका निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया। बहुत उत्तर-प्रत्युत्तरसे लोमशजीको रोष आ गया और उन्होंने मुझे तुरंत काक-पक्षी हो जानेका शाप दे दिया। मैं तत्क्षण काक-के रूपमें परिवर्तित हो गया। फिर भी मैं अपने सिद्धान्तपर अटल रहा।

लीन्ह श्राप मैं सीस चढाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥

"मेरा शील और श्रीरामचरणोंमें विश्वास देखकर लोमशजीके हृदयमें परिवर्तन हुआ। उन्होंने पश्चात्ताप-युक्त होकर मुझे बुलाया, मेरा परितोष किया और हर्षित हृदयसे राममन्त्र प्रदान किया। मुनिने बालकरूप भगवान् रामका ध्यान बताया। वह मुझे बहुत अच्छा लगा। कुछ काल अपने समीप रखकर रामचरितमानस भी सुनाया और आशीर्वाद दिया—

सदा राम प्रिय होहु तुम्ह सुभ गुन भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन ग्यान बिराग निधान॥

"तत्पश्चात् मैं इस शैलपर निवास करने लगा। यहाँ रहते मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये। जब-जब भगवान् रामका अवधपुरीमें जन्म होता, मैं जाकर जन्म-महोत्सव देखता और पाँच वर्षतक भगवान्‌की बाललीलाके दर्शनके लोभसे वहीं रहता। एक बार भगवान्‌की बालोचित लीलाओंको देखकर कुछ संशय होने लगा। इतना मनमें आते ही प्रभुने अपनी मायाका प्रसार किया। उन्होंने मुझे पकडनेके लिये हाथ बढ़ाया, मैं भागा; भागते हुए मैंने सात आवरणों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व-को पार किया। पर मुझमें और रामकी भुजामें सर्वत्र दो ही अंगुलका अन्तर रहा। विवश होकर मैं लौटकर अवधपुरी आया और भगवान्‌के मुखमे प्रविष्ट हो गया। मैंने अनेकों ब्रह्माण्ड उनके उदरमें देखे। वहाँ सब कुछ विलक्षण-विलक्षण दिखलायी पड़ा; किंतु राम सर्वत्र एकरस ही रहे—

राम न देखेउँ आन।

"सब कुछ देखनेके पश्चात् भगवत्प्रेरणासे मैं बाहर आया। भगवान् रामका यह ऐश्वर्य देखकर मेरा हृदय प्रेममग्न हो गया। प्रभु मुझे प्रेमाकुल देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझसे वरदान माँगनेको कहा—

काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

"मैं मनमें विचार करने लगा कि भगवान् सब कुछ देनेके लिये कह रहे हैं, पर अपनी भक्ति देनेकी बात नहीं कहते। सभी सुखोंका मूल भक्ति समझकर मैंने भगवान्‌से भक्तिकी याचना की। भगवान्‌ने भक्ति तो दी ही, साथ ही ज्ञान-वैराग्य आदि भी दे दिये।"

आगे चलकर वे कहते हैं—"अब मैं बिना पक्षपातके वेद, पुराण और संतोंका मत बतलाता हूँ। जीवके बन्धनका हेतु माया है, माया एक सुन्दरी स्त्री है। कोई मतिधीर पुरुष ही ऐसी स्त्रीका त्याग कर सकता है। साधारणतः जो श्रीरघुवीरपदसे विमुख हैं, वे कामी तो विषयवश रहते ही हैं; परंतु स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती। माया और भक्ति नारिवर्गमें हैं, इस कारण भक्तिके लिये मायामें मोहकता नहीं है और फिर 'भक्ति' भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। माया बेचारी उनकी नर्त्तकी है, इसलिये भक्तिको देखकर माया सकुचाती है। भक्तके सम्मुख मायाका ऐश्वर्य प्रतिहत हो जाता है। किंतु ज्ञानरूपी पुरुषकी ऐसी स्थिति नहीं है।

"जो लोग ऐसी भक्तिको जानकर भी छोड़ देते हैं और श्रम करते हैं केवल ज्ञानके लिये, वे उसी प्रकार जड हैं, जैसे वह दुग्धार्थी, जो दुग्धकी प्राप्तिके एकमात्र स्थान घरकी कामधेनुको छोड़कर आककी खोज करने चले।"

तात्पर्य यह कि यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति भक्तिसे ही हो सकती है। भक्तिहीनके लिये ज्ञान-प्राप्तिकी आशा आकसे दुग्ध

प्राप्त करनेकी आशाके समान है और जैसे आकसे दुग्धके रगका विष निकलता है, उसी प्रकार भक्तिहीन यदि श्रम करके यथा-कथञ्चित् वाक्य-ज्ञान प्राप्त भी कर ले तो वह मुमुक्षुके लिये विषवत् ही होता है।

इसके पश्चात् उन्होंने क्रमशः 'ज्ञानदीपक' और 'भक्ति-मणि' के उपायोंका निदर्शन कराके दोनोंमें भगवत्-कृपाकी अनिवार्यता बतलायी और भक्तिमणिकी सुलभता एवं अव्यर्थताका प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आकके दुग्ध और ज्ञानदीपकके ज्ञानमें वैलक्षण्य है। आकका दुग्ध नेत्र-ज्योतिका नाशक है, किंतु हरिकृपासे हृदयमें बसनेवाली सात्त्विक श्रद्धारूपी गौका परमधर्ममय दुग्ध आत्मानुभवरूप प्रकाश प्रदान करनेवाले दीपकके लिये विज्ञान-निरूपिणी बुद्धिरूप घृतका कारण है।

यद्यपि आपाततः इस प्रसङ्गको देखनेपर ज्ञानकी अन-पेक्ष्यता और भक्तिकी उपादेयता प्रतीत होती है, तथापि सूक्ष्म विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जी *भगवद्भक्तिसे ही सरलतापूर्वक यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव* मानते हैं। औपनिषद ज्ञानके स्वरूप एवं फलके विषयमें उन्हें कोई विवाद नहीं।

उन्होंने स्थान-स्थानपर ज्ञान और ज्ञानीकी महत्ता स्वीकार की है—

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
भएँ ग्यान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥
—आदि।

काकजीकी कथामें भी हम इसी तत्त्वको पाते हैं। वे कोरा ज्ञान लेना अस्वीकार करके भक्तिनिष्ठ हो जाते हैं। उस निष्ठाके प्रभावसे ही उन्हें मुनिका आशीर्वाद, भगवल्लीलाका दर्शन और लीलाके द्वारा ही भगवान्की सर्वव्यापकता और सर्वाधिष्ठानरूपताका अनुभव एवं दृढ़ ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

इस कथासे यह भी विदित हो जाता है कि लोमशजी अभेदवादी होते हुए भी परमभगवद्भक्त और शिवप्रोक्त रामचरितमानसके ज्ञाता थे।

श्रीमद्भागवतकी ब्रह्मस्तुतिमें इस विषयका सुन्दर विवेचन है—

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

तात्पर्य यह कि भक्त और ज्ञानी दोनों भगवान्को प्राप्त करते हैं; पर ज्ञानीको श्रम होता है, सेवकको नहीं। यहाँ भगवत्प्राप्ति और भगवत्तत्त्व-विज्ञान साध्यरूपमें एक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भक्तिसे ज्ञानप्राप्तिके द्योतक बहुत-से वचन हैं—

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥'
'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'
'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥'
'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'

यही नहीं,

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—इस प्रकारकी श्रुतियोंका भी यही आशय है।

इसी प्रकार ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्तिके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। रामचरितमानस-सरका वर्णन करते समय—

संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
संजम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

—यहाँपर संयम-नियमको फूल, ज्ञानको फल और हरि-पद-रतिको उस ज्ञानरूपी फलका रस बतलाया गया है।

भगवान् शंकरके मुखसे भगवान् रामकी स्वरूपकथा सुननेके अनन्तर भगवती पार्वतीका कथन—

भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥

—भी इसका एक उदाहरण है।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

इसमें ज्ञानसे प्रतीति, प्रतीतिसे प्रीति और प्रीतिसे भक्ति-की दृढ़ताका कारण-कार्यभाव दिखलाया गया है। भक्ति-मणिकी प्राप्तिके लिये यत्न करते समय—

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥

—में रामकथारूपी रुचिराकरसे भक्तिमणि निकालनेके लिये ज्ञान-वैराग्यरूप दो नेत्रोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है।

गीतामें भी कहा है—

'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।'
'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥'
'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥'

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतमें तत्त्वज्ञोंद्वारा भक्तिके अनुष्ठानके भी अनेक उदाहरण हैं। कुन्तीने भगवान्के अवतारोंके अनेक प्रयोजनोंमें एक मुख्य प्रयोजन अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंके लिये भक्तियोगका विधान करना बतलाया है। एक प्रसङ्गमे कहा गया है कि—

'भगवान् उरुक्रममें ऐसे गुण ही हैं, जिनसे आकृष्ट होकर आत्माराम निर्ग्रन्थ महामुनि भी उनमें अहैतुकी भक्ति करते हैं।' श्रीशुकदेवजीने पारमहंस्य-संहिताके अध्ययनमें प्रवृत्तिका हेतु बतलाते हुए कहा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥

अर्थात् निर्गुण ब्रह्ममे परिनिष्ठित होनेपर भी उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीलासे चित्तके आकृष्ट हो जानेके कारण हमने इस महान् आख्यानका अध्ययन किया।

इन स्थलोंसे ज्ञानके द्वारा भक्तिकी उत्कृष्टता पूर्णता और दृढ़ता सूचित होती है।

कहीं-कहीं ज्ञानमिश्रा, कर्ममिश्रा भक्तिसे विलक्षण भक्तिका एक स्वतन्त्र ही रूप दृष्टिगोचर होता है—

सर्वाभिलापिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् सर्वेशके प्रति सर्वाभिलाषशून्य ज्ञान-कर्मसे अनावृत मनोवृत्ति भक्ति है। यहाँ ज्ञानकर्माद्यनावृतम् से भक्तिकी स्वतन्त्रता और ज्ञान-कर्म-निरपेक्षता प्रतीत होती है; किंतु चित्तमें सर्वाभिलापिता-शून्य भावके अनुकूल संस्कार निष्कामभावसे अनुष्ठित श्रौत-स्मार्त कर्म एवं वैधी भक्तिसे होते हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार भजनीयका स्वरूप-बोध जो भक्तिका मुख्य आधार एवं अङ्ग है, उसकी भी आवश्यकता माननी ही पड़ेगी। अतएव ज्ञानकर्माद्यनावृतम् का अर्थ भक्तिके ऊपर ज्ञान-कर्म छा न जायँ—इतना ही हो सकता है, सर्वथा असम्बद्धता नहीं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'ज्ञान' और 'भक्ति' में विरोध और असम्बद्धता नहीं, प्रत्युत अविरोध और पूरकता है। कहा जा सकता है कि भक्तिके लिये उपास्य-उपासकका भेद अपेक्षित है और ज्ञानमें अभेद; फिर विरोध क्यों नहीं ? किंतु यह विरोधका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि व्यावहारिक भेद और तात्त्विक अभेदसे उपासना सम्भव है। परस्पर विलक्षण नाम-रूप-लीला-धामकी सच्चिदानन्दरूपता इसी प्रकार है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीशंकराचार्यकी षट्पदीका निम्न पद्य कितना हृदयाकर्षक है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

अर्थात् भेद न होनेपर भी नाथ ! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं; क्योंकि तरङ्ग समुद्रका होता है, तरङ्गका समुद्र नहीं।

ज्ञानिनामग्रगण्य श्रीहनुमान्‌जीका यह वचन—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः ॥

—भी इसका एक सुन्दर प्रमाण है।

विचार करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और भक्तिके अनुष्ठान-प्रकारमें भेद होनेपर भी दोनों ही भगवत्प्राप्तिके उत्तम साधन हैं। हृदय-प्रधान अधिकारीके लिये भक्ति और मस्तिष्क-प्रधान अधिकारीके लिये ज्ञान मुख्यरूपमें अनुकूल होता है, यद्यपि दोनोंका दोनोंमें किसी-न-किसी रूपमें समावेश रहता ही है।

ज्ञान-कर्मके स्वाभाविक विरोधके समान ज्ञान और भक्तिका विरोध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि गीताके अनुसार ज्ञानी एक विशिष्ट भक्त ही है—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

उपासना और ज्ञानमें क्या वैलक्षण्य है, इसपर यही कहा जाता है—

वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।

अर्थात् बोध वस्तुतन्त्र होता है और उपासना कर्तृतन्त्र। उपासना उपासकके अधीन रहती है, वह उसे करे-न-करे या अन्यथा करे। किंतु बोध तो प्रमाणद्वारा जैसा अनुभूत होता है, बोद्धा उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता; क्योंकि बोध वस्तुतन्त्र है।

ऐसी स्थितिमें विरोध तब हो सकता है, जब 'ज्ञेय' और 'उपास्य' में भेद हो—ज्ञेय परब्रह्म परमात्मा हो और उपास्य कोई अपर देवता। किंतु यदि दोनोंका विषय परब्रह्म ही हो तो इसमें कोई विरोध नहीं बन सकता।

निर्गुणोपासनामें उपासनाका अधिकारी उपनिषदोंके तात्पर्यभूत प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वको ही अपना लक्ष्य

भक्तोंके परम आदर्श—श्रीमारुति

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥
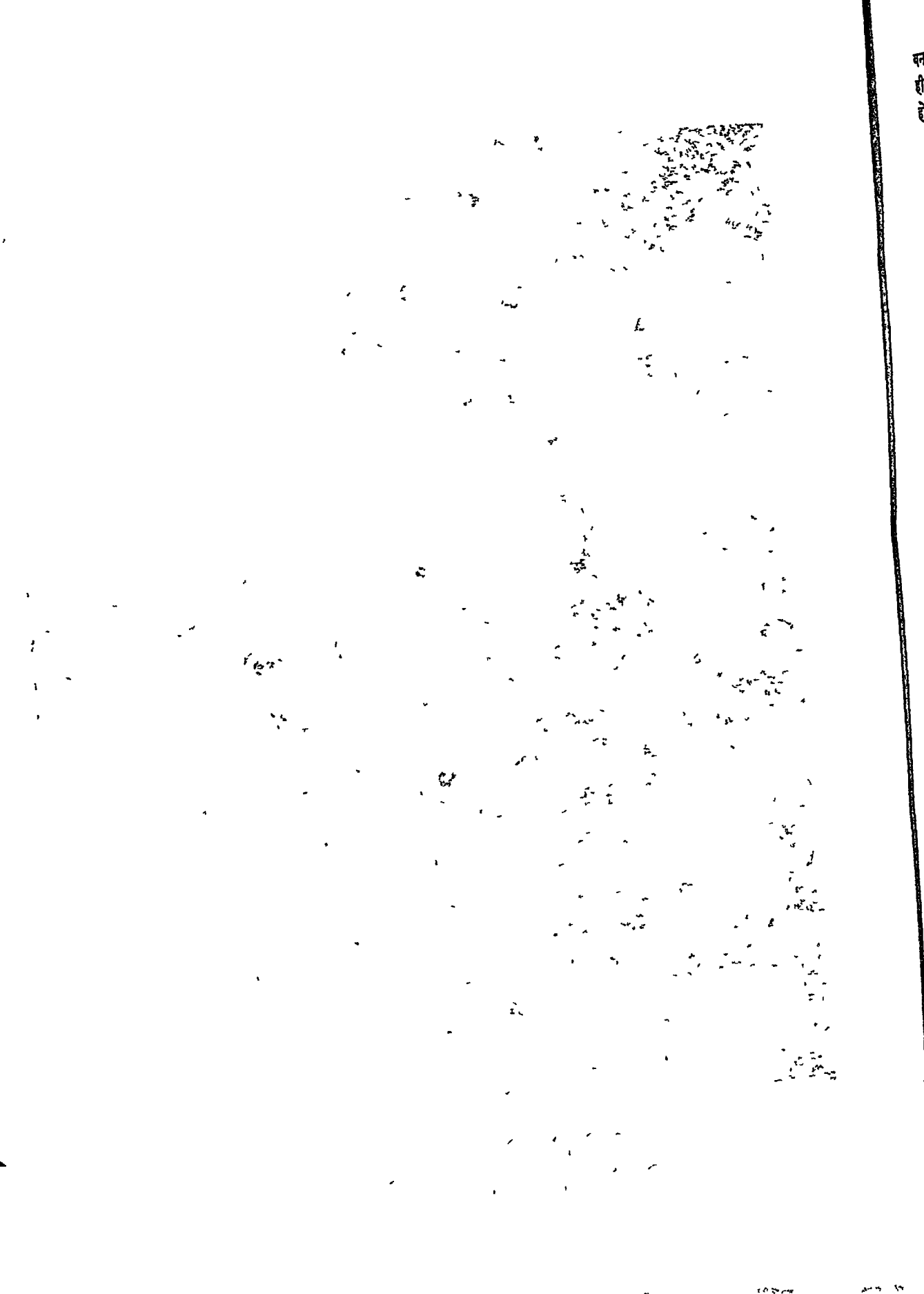
बनाता है। उसमें निर्गुण ब्रह्मविचार उपासनाका उपोद्बलक ही होता है, विरोधी नहीं। वैसे ही सगुणोपासनामें भी लक्ष्यैक्य होनेसे अविरोध है।

विरोध तब प्रतीत होने लगता है, जब उपनिषत्तात्पर्यगोचर ब्रह्मसे सगुण साकारका तत्त्व भिन्न समझा जाता है। इसी कारण सगुण-निर्गुणको तात्त्विक दृष्टिसे एक जानना आवश्यक समझा गया है। उपनिषदोंसे लेकर तुलसीकृत रामायणतक सर्वत्र इस एकताका प्रतिपादन है। श्रीमद्भागवतके इन वचनोंको इस विषयमें उद्धृत किया जा सकता है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

गीताकी भाष्यभूमिकामें भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य अवतार-तत्त्वका निदर्शन कराते हुए कहते हैं—

भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य च रक्षणार्थं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि भगवान् वसुदेवाद् देवक्यामवततार।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका रामचरितमानस तो, ऐसा प्रतीत होता है, इसी विषयका प्रतिपादन करनेके लिये लिखा गया है। मानसके चार संवादरूप चार घाटोंमेंसे किसी भी घाटमें उतरकर अवगाहन किया जाय—

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥

—का ही अनुभव होता है।

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज भगत प्रेम बस कौसल्या कें गोद॥

—में तो यह सर्वथा सुस्पष्ट है।

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि भक्ति-ज्ञान परस्पर समन्वित और भगवत्प्राप्तिके अव्यर्थ साधन हैं। अतः विवादमें न पड़कर जिस मार्गमें स्वाभाविक श्रद्धा, उत्साह और शास्त्रानुसार अधिकार हो, उसी एक साधनका दृढतासे आलम्बन करके साधकको अपने कल्याणके लिये यत्न करना चाहिये।

भक्तिवादका गूढ़ मर्म

(लेखक—श्रीमत् स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी अवधूत)

भक्त-चूडामणि प्रह्लादको गोदमें बैठाकर, मस्तक सूँघते हुए, अश्रुजलसे अभिषेक करते-करते पिता हिरण्यकशिपुने प्रफुल्ल चित्तसे पूछा—

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किंचिदुत्तमम्।
कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २२)

'आयुष्मन्! तात प्रह्लाद! इतने दिनोंतक गुरु-गृहमें रहकर जो कोई अच्छी बात तुमने सीखी है, उसमें जो सु-अधीत—सु-अधिगत हो, वह मुझसे कहो।'

इसके उत्तरमें प्रह्लादने जो वचन कहे थे, उनमें भक्तिवादका निगूढ़ मर्म निहित है, उस मर्मको अनुसरण करनेकी आज विशेष आवश्यकता आ पड़ी है।

प्रह्लाद कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४)

'भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद[illegible], अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नौ लक्षणोंवाली भक्ति यदि पुरुषोत्तम विष्णुके अर्पणपूर्वक [illegible] जाय तो मैं समझता हूँ कि वही सु-अधीत है।'

इन दोनों श्लोकोंके अन्तर्गत—

अर्पिता विष्णौ भक्तिः चेन्नवलक्षणा [illegible]

—इस अंशको अधिक स्पष्ट करते हुए [illegible] लिखते हैं—

सा च अर्पितैव सती यदि क्रियेत, न तु कृता सती पश्चादर्प्येत।

अर्थात् श्रवण-कीर्तन यदि 'अर्पित' होकर [illegible] है (किये जानेके पश्चात् अर्पित नहीं होता), [illegible] कीर्तनादि भक्ति-पद-वाच्य होंगे।

प्रह्लादकी उक्तिका गूढ़ मर्म [illegible] सुस्पष्ट होता है कि श्रवण-कीर्तन आदि [illegible] कर्म पहले भगवान् विष्णुके अर्पण होकर [illegible]

ही भक्तिरूपमें परिणत होंगे। नहीं तो वे 'कर्म' ही रह जायँगे। जो कुछ कर्तृ-तन्त्र है अर्थात् कर्ता जिसे कर सकता है, नहीं कर सकता या अन्यथा कर सकता है, वही 'कर्म' है। श्रवण-कीर्तनादि भी 'कर्म' ही रह जायँगे, यदि वे वस्तु-तन्त्र या पुरुषोत्तम-तन्त्र न होकर कर्तृ-तन्त्र होते हैं। भक्ति-साधनामें श्रवणादि कर्मोंको पहले भगवान् विष्णुमें अर्पण करे, पश्चात् उनके प्रसाद-स्वरूप उन कर्मोंको स्वयं करे। जिस कर्म या ज्ञानका 'आरम्भ' भगवान् विष्णुसे होता है, वही भक्ति है और जो कुछ कर्म या ज्ञान जीवके अहके द्वारा आरम्भ होता है, वह कर्म है।

वस्तुतन्त्रं भवेज्ज्ञानम्। (पञ्चदशी)

वस्त्वधीना भवेद् विद्या। (आचार्य शकर)

भक्ति भी भगवान् विष्णुके अधीन है; न तुम्हारे अधीन है न हमारे। भक्ति-गङ्गा विष्णु-पाद-पद्मसे प्रवाहित होती है।

इसको और भी स्पष्ट करते हुए श्रीरूपगोस्वामी अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में लिखते हैं—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

'अतएव श्रीकृष्ण-नाम-रूप-लीला इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होते, अपितु सेवोन्मुख जिह्वा आदिमें ही नाम-रूप-लीला स्वयं स्फुरित होते हैं।'

कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ स्वय कर्ता बनकर श्रीकृष्णके नाम-रूप-लीला आदिका दर्शन, श्रवण या मनन करेंगी—यह कभी सम्भव नहीं। इन्द्रियाँ 'कर्त्ता' होकर भगवान्‌के नाम-रूप-लीलाको ग्रह-धातुका 'कर्म' यदि बनाने जायँगी तो नाम-रूप-लीलाका अप्राकृतत्व विलुप्त हो जायगा; क्योंकि सारे भक्तिशास्त्र कहते हैं—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

'श्रीकृष्णका नाम चिन्तामणि है, नाम ही कृष्ण है, नाम ही चैतन्यरसविग्रह है। नाम पूर्ण, शुद्ध और नित्यमुक्त है; क्योंकि नाम और नामी अभिन्न हैं।'

'स्वतन्त्र' नाम-रूप-लीलाको 'कर्तुः ईप्सिततमम्' कर्म-कारकमें परिणत करनेपर वस्तुके ऊपर परिच्छिन्न 'मैं'की छाप डालनी पड़ेगी, ऐसी स्थितिमें वह कभी चिन्तामणि नहीं हो सकता, उसमें जडत्व आ जायगा, उसका चिन्मयत्व और शुद्धत्व मिट जायगा, एवं उसके पूर्ण शुद्ध, नित्यमुक्त स्वरूपमें बाधा आयेगी। पहले अपने 'अहं'को और अहंका अनुसरण करनेवाले कर्म-बुद्धि-मन और इन्द्रियोंको भगवान् विष्णुके अर्पण करनेपर, उस अर्पित अहं और बुद्धि-मन-इन्द्रियोंसे जो कर्म स्फुरित होगा, वही होगी 'भक्ति'। साराश यह है कि भगवान्‌मे मनोलय, बुद्धिलय और अहंलयके बाद ही भक्तिका आस्वादन होने लगेगा और निर्गुणा भक्तिमे कर्म-ज्ञान होगा 'भक्तिका घन आस्वादन'। इसीलिये गीता ऊर्ध्वमूल होनेकी बात कहती है। विश्वका मूल हैं पुरुषोत्तम। उस मूलको पकड़-कर ही विश्वमें ऊपर उठना होगा या नीचे गिरना होगा। यदि मूल ऊपर है तो विश्व मूलके नीचेकी ओर ही होगा। अतएव भक्ति-साधकको कर्तृतन्त्र साधनाके विपरीत दिशामें चलना पड़ता है। वशीके स्वरसे यमुना अपने उद्गमकी ओर बहने लगती थी। वर्णाश्रमका आरम्भ है जीवके अहंसे; और भक्ति-साधनाका आरम्भ इसके उद्गमकी ओरसे—भगवान्‌से, 'पुरुषोत्तमोऽहम्' से होता है। वर्णाश्रम विश्वसे विश्वनाथकी ओर पहुँचनेकी बात कहता है और भागवतने सुनायी है विश्वनाथसे विश्वमें आनेकी बात। इसीलिये भक्ति-साधनामें भगवान् जिस प्रकार सत्य हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी सत्य है, रूप भी सत्य है, लीला भी सत्य है और उनका ही निर्गुण लीलाक्षेत्र यह विश्व भी सत्य है। देवगण कसके कारागारमें श्रीकृष्णके इसी सत्य स्वरूपका स्तवन करते हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२।२६

'हे भगवन्! तुम सत्यव्रत हो, सत्य तुम्हारा संकल्प (प्रयोजन या उद्देश्य) है, सत्य तुम्हारी प्राप्तिका साधन है। तुम रूप और स्वरूप दोनों दृष्टियोंसे त्रिकालमें अबाधित सत्य हो। तुम सत्यकी योनि हो और ऋत-सत्यसे दोनों दृष्टियोंमें अवस्थित हो। सत् और त्यत् (सत्य)-वाच्य यह भूतसमूह सत्य है। तुम इस सत्य भूतसमूहको पारमार्थिक सत्यमें परिणत करके ही फिर सत्यरूपमें अवतीर्ण हो। तुम्हारा शरीर सूनृता वाणी और समदर्शनका प्रवर्त्तक (नेत्र) है। तुम सर्वार्थमें, सर्वकालमें, सर्वक्षेत्रमे सत्य हो, अतएव सत्यात्मक हो। हम तुम्हारी शरण लेते हैं।'

भक्तिवाद कभी भगवान्‌को विश्वके उस पार निर्वासित नहीं करता। भगवान् इस विश्वको 'सर्वतो वृत्वा' अतिक्रम किये हुए हैं। (अत्यतिष्ठत्) जगत्+

नाथ=जगन्नाथ। योगमाया-स्थानीया सुभद्रा (+) जगत् और नाथको एक दूसरे साथ युक्त किये हुए हैं। पुरुषोत्तमके इस निगूढ़ तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के साथ अनन्य भक्तिद्वारा युक्त होकर बुद्धिका लय करना पड़ेगा।

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्।

—अनन्य भक्तिके द्वारा अत्यन्त बुद्धिलय होनेपर भक्तिके साधक 'तद्बुद्धि' होते हैं। तद्बुद्धि होनेपर ही भक्त भगवान्‌को, वे जैसे जो कुछ हैं, तत्त्वसे जानता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

(गीता)

भक्तिसाधनामें 'प्राप्ति' दो प्रकारकी होती है। पहली प्राप्ति 'स्वरूप'में होती है और दूसरी प्राप्ति 'रूप'में। द्वितीय प्राप्तिको ही 'अभिज्ञान' पदद्वारा भगवान्‌ने व्यक्त किया है। भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता)

'सततयुक्त, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त होते हैं।' बुद्धियोगके उदय होनेके पहले सततयुक्त, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालेकी 'प्राप्ति' को महाकवि कालिदासके द्वारा चित्रित कण्व-मुनिके आश्रममें दुष्यन्त-शकुन्तलाकी पारस्परिक, संसारके लौकिक नेत्रोंके अन्तरालमें होनेवाली प्राप्तिके समान समझना चाहिये। बुद्धियोग प्राप्त होनेके बाद जो प्राप्ति होती है, उसकी तुलना, दूसरी बार जो दुष्यन्त-शकुन्तलाकी प्राप्ति सबकी आँखोंके सामने होती है, उसके साथ की जा सकती है। इस दोनों प्राप्तियोंके बीचमें अँगूठी खो जानेके प्रसङ्गका एक अध्याय है। प्रथम प्राप्तिका नाम है ज्ञान, दूसरी बारकी प्राप्तिका नाम है विज्ञान—मन-बुद्धिके क्षेत्रमें वास्तविक रूपसे प्राप्ति। पहलेसे जानी हुई वस्तुको पुनः प्राप्त करनेका नाम ही 'अभिज्ञान' है।

'पूर्वज्ञातस्य ज्ञानमभिज्ञा' (शाण्डिल्यसूत्रका स्वप्नेश्वर-भाष्य)

श्रीनित्यगोपालने भी ठीक यही बात कही है—'एक मनुष्यको हीरा मिला है, परंतु वह हीरेको पहचानता नहीं। अतएव वह हीरेका मर्म भी नहीं समझता। छद्मवेशी भगवान्‌को तुमने पा लिया है, पहले उनको पहचानो, तब उनके माहात्म्यको समझोगे।' भगवान्‌को तो हम पाये ही हुए हैं, यह हमारी स्वतःसिद्ध 'प्राप्ति' है; परन्तु केवल प्राप्तिसे ही वे प्राप्त नहीं होते। अन्धकारमें पाये हुए धनको बिना पहचाने, बिना जाँचे लेनेपर वह हाथसे चला भी जाता है। जो बच्चा हीरेको नहीं पहचानता, उसको एक लड्डू देकर उसके हाथसे आसानीसे हीरा छीन लिया जा सकता है। सर्वविशेष-शून्य बुद्धि-लयके भीतर पहले जिसका परिचय प्राप्त होता है, उसको जाग्रत्-अवस्थामें मन-बुद्धिके प्रकाशमें प्राप्त करनेका नाम ही अभिज्ञान है। 'प्राप्ति' हमारे जीवनमें तथ्य (fact) होकर भी कर्म (task) हो जाती है। 'Spiritual life is at the same time a fact and a task'—Eucken.

भगवान् तो प्राप्त ही हैं, यह सवाद दिया अद्वैतवादने और उस बिना जाने-बूझे प्राप्त धनको जान सुनकर पानेका समाचार दिया भक्तिवादने। अद्वैतका आस्वादन पहले न होनेपर भक्तिवादकी आधारभूमि खिसक जाती है और भक्तिवादके न होनेपर अद्वैतवादमें हमारे जीवनकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती, यह आत्माकी अवास्तविक कल्पना बन जाता है और अद्वैतवाद बिना भक्तिवाद भी अन्ततक भावविलासीके भक्तिवादमें परिणत हो जाता है। भक्तिवाद और अद्वैतवाद दोनों ही परस्पर परिपूरक (comlpementary) हैं। श्रीनित्यगोपालने लिखा है—'शिवके प्रति जीवकी अपनी अद्वैतताका बोध होनेपर शिवके प्रति जीवकी जो भक्ति होती है, [illegible] विवेचनामें उसीको पराभक्ति कहा जा सकता है।' 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्—शिव बने बिना कभी कोई शिवकी सच्ची पूजा नहीं कर सकता। यह श्रीनित्यगोपालकी [illegible] पुस्तक 'भक्तियोगदर्शन'का पाठ करनेमात्रसे स्पष्ट हो जाता है। तथापि अबतक हम अद्वैतवादको [illegible] ही देखा है। अद्वैतवादने भी भक्तिको [illegible] रूपमें देखकर भक्तिकी प्रधानताको ही मिटा दिया है। श्रीनित्यगोपालने शिशुके साथ माँके प्रेम [illegible] सम्बन्ध' ही कहा है। शिशुकी मातृभक्तिको [illegible] लिये हम उसीको सुनाते हैं—

दश मास दश दिन धरिला जठरे।

जिस माताने दस महीने दस दिन तुमको पेटमें धारण करके कितना कष्ट उठाया है, तुम उसकी भक्ति करो।

दस मास दस दिन मातृगर्भमें रहनेका अर्थ ही यह है, कि मैं एक दिन मातृगर्भमें माँ बना हुआ था—"I was one with my mother." माँसे पृथक् कोई मेरी सत्ता न थी। माँके साथ संतानकी यह अद्वैतानुभूति जितनी स्पष्ट होगी, उतनी ही मातृभक्ति सुदृढ़ होगी। भक्ति अद्वैत-ज्ञानपूर्वा होनेपर ही निर्गुणा होती है। इस निर्गुणा भक्तिको प्राप्त करनेके पहले चाहिये ज्ञान और कर्मका अर्पण। अर्पणके बाद अनुष्ठित भक्ति ही निर्गुणा भक्ति है। यही 'अर्पितैव क्रियते'का गूढ़ तात्पर्य है। भागवत ग्रन्थमें भगवान् कपिलने माता देवहूतिको इसी निर्गुणा भक्तिकी बात सुनायी है। विश्वके वक्षःस्थलपर इस निर्गुणा भक्तिका अवतरण आज वास्तविक रूप धारण कर रहा है। इसका लक्षण चारों ओर दिखलायी दे रहा है। मेरे द्वारा सम्पादित (बँगला) 'उज्ज्वल-भारत' मासिक पत्रिका इस निर्गुणा भक्तिके स्वरूप और वास्तविक क्षेत्रमें उसके प्रयोग-कौशलकी सूचना देनेके उद्देश्यसे ही प्रकाशित हो रही है। पुरुषोत्तमकी जय हो!

भक्ति अर्थात् सेवा

(लेखक—स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

यों तो ईश्वरविषयक परानुरक्ति (परम प्रेम) को 'भक्ति' कहा गया है; फिर भी जिससे प्रेम होगा, उसकी सेवाका होना स्वभावतः अनिवार्य है; अतएव 'भक्ति' शब्दका धात्वर्थ है 'सेवा'। किसी भी कर्मका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ हो जानेपर वह कर्मयोग बन जाता है और इसीका दूसरा नाम है—'भक्ति'। इसे स्पष्ट करनेके लिये एक लोकगाथाको उद्धृत किया जाता है। एक देहाती किसानने उस समयके एक प्रसिद्ध संतके समीप विधिवत् जाकर जिज्ञासा की कि 'भगवन्! मुझ दीन, हीन, अकिंचन-पर दया कीजिये और मुझे आनन्दकन्द प्रभुकी प्राप्तिका उपाय बताइये।' नवप्रसूता गाय बछड़ेको देखकर जैसे पिन्हा जाती है, वैसे ही संत भी भोले-भाले जिज्ञासुको देखकर प्रसन्न हो गये और सुधा-सनी वाणीमें बोले—'प्रभुके प्यारे, जगत्‌के अन्नदाता कृषकदेव! मन, वाणी तथा कायासे जो कुछ करें, प्रभुके लिये ही करें। आपके अधिकारानुसार आपके हिस्सेमें आया हुआ कृषिकर्म आपके लिये अवश्यकर्तव्य है। आपके स्वभावा-नुसार आपके लिये नियत इस कर्मको प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेकी नीयतसे करते रहनेपर पाप, अपराध एवं रोगादिके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती, यद्यपि इस कार्यको वर्षा, शीत-आतप आदिमें खुले आकाशके नीचे, खड़े पैर, घोर परिश्रमके साथ करना होता है। इतनेपर भी सफलताकी कोई गारंटी नहीं, मेघ-देवताका मुख ताकना पड़ता है; इस प्रकार यह कर्म अनेक दोषोंसे युक्त है। तथापि आपके लिये यह सहज कर्म है, अतः इसे न करनेके संकल्पको मनमें स्थान न देना। अपने सहज कर्मका त्याग करनेसे प्रभुकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप अपराध होता है और करनेका अभ्यास छूट जाता है, आलस्यादि भयंकर रोग शरीरमें घर कर लेते हैं। इस तरहके अनेक दोष कर्म न करनेमें भी हैं ही। अतएव न करनेसे करना ही श्रेष्ठ है। फिर कौन-सा कर्म ऐसा है, जो सर्वथा निर्दोष है; सभी तो धूमसे अग्निकी भाँति दोषोंसे घिरे ही रहते हैं। सारांश यह कि प्रभुके आदेशका पालन करनेकी भावनासे अपने हिस्सेके कर्मको पूर्ण प्रामाणिकता, परिपक्व विश्वास एवं परम प्रेमके साथ तन, मन, धन, जनसे साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करके परम दयानिधान प्रभुको सादर समर्पित करते रहना ही प्रभुकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है।'

जिस गाँवमें वह किसान रहता था, उसमें किसी ज्योतिषीने भविष्यवाणी कर दी थी कि यहाँ बारह वर्षतक वृष्टि होनेका योग बिलकुल नहीं है। ज्योतिषी महाराजकी बात सुनकर लोगोंमे हाहाकार मच गया। उस कृषकने सोचा कि 'सबकी तरह रोने-चिल्लानेसे तो अपना काम चलेगा नहीं, यह तो गुरुदेवके उपदेशको आचरणमे उतारनेका अमूल्य अवसर प्रभुकृपासे हाथ लगा है; इसे सार्थक कर लेना ही बुद्धिमानी है। कसौटी बार-बार थोड़े ही हुआ करती है, इसमें कसे जाकर पार होना ही सार है।' ऐसा निर्णय करके वह अपने हल, बैल आदि लेकर खेतपर पहुँचा और लोग क्या कहेंगे—इसकी कुछ भी परवा न करके सूखे खेतको बीजारोपणके लिये तैयार करनेमें तत्पर हो गया। आकाशमार्गसे जाते हुए मेघ-देवताओंको उसे वैसा व्यर्थ श्रम करते देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, अपितु उसकी नादानीपर उन्हे तरस भी आया। कुतूहलवश एक मेघ-देवताने नीचे उतरकर कृषकसे पूछा—'इस व्यर्थके परिश्रमसे क्या अभिप्राय है?' कृषक बोला—'प्रभुकी आज्ञाका पालन, काम

करनेकी बानको बनाये रखना, आलसी न बन जाना इत्यादि अनेक अभिप्राय इस व्यर्थ व्यवसायके हो सकते हैं।' किसानकी बात बादलोंको लग गयी कि कहीं हम भी अपनी बरसनेकी आदतको भूल न जायँ। फिर क्या था ? फिर तो सारे-के-सारे बादल कड़ाकेकी गर्जनाके साथ बरस पड़े और मूसलाधार वृष्टि होने लगी, जिससे देखते-ही-देखते सारे देहातकी भूमि सुजला, सुफला एवं शस्यश्यामला हो गयी।

कृषककी भाँति जीव भी अपने अन्तःकरणके सूखे खेतमें भगवद्भक्तिके बीजको उगानेकी तैयारीमें तन-मनसे संलग्न हो जाय—पक्का निश्चय कर ले कि 'मुझे प्रभुने अपने ही लिये उत्पन्न किया और मैं भी प्रभुके लिये ही पैदा हुआ हूँ; अतः मेरा सर्वस्व प्रभुको समर्पित होना ही चाहिये, मेरा जीवन प्रभुमय होना ही चाहिये, मेरी प्रत्येक हलचलका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परया प्रभुके साथ ही होना चाहिये। मैं अपने निश्चयमें दृढ हूँ, अपनी धुनका पक्का हूँ, अपनी आदतसे लाचार हूँ। मुझे कोई भी आलसी नहीं बना सकता; स्वयं प्रभु छुड़ाना चाहें, तब भी मैं प्रभुके लिये कर्म करनेकी अपनी आदतको छोड़ नहीं सकता।' ऐसा निश्चय होनेपर जीवकी यह बात भी प्रभुको लगे बिना रह नहीं सकती। प्रभु भी सोचने लग जायँगे कि 'कहीं मैं भी कृपामृतवर्षणकी अपनी सनातनी बानको भूल गया तो ?' और वे तत्काल पिघल पड़ेंगे। प्रभुको तो कृपामृतवर्षणकी आदत ही नहीं, किंतु चस्का पड़ गया है। वे दयामय देव अपने स्वभावसे बाज नहीं रह सकते, सुतरां शीघ्र ही बरस पड़ेंगे और बात-की-बातमें उसकी शुष्क हृदय-भूमिको अनुग्रहामृतसे सुजला, अपनी प्राप्तिरूप फलसे सुफला एवं दिव्य प्रेमरूप शस्यके प्रदानसे श्यामला बना देंगे।

तात्पर्य यह कि हम जो कुछ करें, सभी नीयतसे, ईमानदारीके साथ, श्रद्धापूर्वक, प्रभुको समर्पण करनेकी विशुद्ध भावनासे ही करें, तो हमारी सभी चेष्टाएँ भगवद्भक्ति बन जायँगी और भक्तिका अर्थ भी तो यही है कि मैं जो कुछ करूँ, सो आपकी सेवा हो। दयालु प्रभु हमें शक्ति दें कि हम इन विचारोंका आचरणोंके साथ समन्वय कर सकें। ॐ शम्।

भक्तिकी सुलभता

(लेखक—स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामसुखदासजी महाराज)

विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आजके मनुष्यका जीवन स्वकीय शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके परित्यागके कारण विलासयुक्त होनेसे अत्यधिक खर्चीला हो गया है। जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंका मूल्य भी अधिक बढ़ गया है। व्यापार तथा नौकरी आदिके द्वारा उपार्जन भी बहुत कम होता है। इन कारणोंसे मनुष्योंको परमार्थ-साधनके लिये समयका मिलना बहुत ही कठिन हो रहा है और साथ-ही-साथ केवल भौतिक उद्देश्य हो जानेके कारण जीवन भी अनेक चिन्ताओंसे घिरकर दुःखमय हो गया है। ऐसी अवस्थामें कृपालु ऋषि, मुनि एवं संत-महात्माओंद्वारा त्रिताप-संतप्त प्राणियोंको शीतलता तथा शान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग आदि अनेक साधन कहे गये हैं; और वे सभी साधन वास्तवमें यथाधिकार मनुष्योंको परमात्माकी प्राप्ति कराकर परम शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। परंतु इस समय कलि-मल-ग्रसित विषय-वारि-मनोमीन प्राणियोंके लिये—जो अल्प आयु, अल्प शक्ति तथा अल्प बुद्धिवाले हैं—परम शान्ति तथा परमानन्दप्राप्तिका अत्यन्त सुलभ तथा महत्त्वपूर्ण साधन एकमात्र भक्ति ही है। उस भक्तिका स्वरूप प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का भजन ही है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीकपिलदेवजी अपनी मातासे कहते हैं—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
> स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
> येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥
>
> (३।२९।११—१४)

अर्थात् जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें निष्काम

और अनन्य प्रेम—यह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है। ऐसे निष्काम भक्त दिये जानेपर भी मेरे भजनको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्षतक नहीं लेते। भगवत्सेवाके लिये मुक्तिका भी तिरस्कार करनेवाला यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको—मेरे प्रेमरूप अप्राकृत स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकारसे श्रीमधुसूदनाचार्यने भी भक्तिरसायनमें लिखा है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् भागवत-धर्मोंका सेवन करनेसे द्रवित हुए चित्तकी भगवान् सर्वेश्वरके प्रति जो अविच्छिन्न (तैलधारावत्) वृत्ति है, उसीको भक्ति कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणोंसे सिद्ध होता है कि अनन्य भावयुक्त भगवत्स्मृति ही भगवद्भक्ति है।

भगवद्वचनामृतस्वरूप परम गोपनीय एवं रहस्यपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताके आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनद्वारा किये हुए सात प्रश्नोंमेंसे अन्तिम प्रश्न यह है कि 'हे भगवन्! आप अन्त समय जाननेमें कैसे आते हैं! अर्थात् मृत्युकालमें आप प्राणियोंद्वारा कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं?' इसका उत्तर देते हुए उसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा गया है कि 'अन्तकालमें भी जो केवल मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होता है। अतः हे अर्जुन! तू सभी समयोंमें मेरा ही स्मरण कर तथा युद्ध (कर्तव्य कर्म) भी कर। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धिको लगाये हुए तू निस्संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।' (गीता ८।७) ऐसे ही सगुण निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें भगवान् कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
(गीता ८।८)

अर्थात् हे पृथानन्दन! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ प्राणी परमप्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है। फिर आगेके श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
(गीता ८।९)

अर्थात् जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियामक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप एवं अविद्यासे अति परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको स्मरण करता है, वह परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार इसी अध्यायके ग्यारहवे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके विषयमें उस परब्रह्मकी प्रशंसा तथा बतलानेकी प्रतिज्ञा करके बारहवें श्लोकमें उस परमात्माकी प्राप्तिकी विधि बतलाते हुए आगेके श्लोकमें कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
(गीता ८।१३)

अर्थात् जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और (उसके अर्थस्वरूप) मेरा चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है।

इसी प्रकार भगवान्ने सगुणस्वरूप तथा निर्गुण-स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके उपाय बतलाये। परतु यहाँ योगके अभ्यासकी अपेक्षा होनेके कारण साधनमें कठिनता है, अतः अब आगे अपनी प्राप्तिकी सुलभता बताते हुए भगवान् अपने प्रिय सखा कुन्तीनन्दन अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८।१४)

'हे पृथापुत्र अर्जुन! जो भी प्राणी नित्य-निरन्तर अनन्य चित्तसे मुझ परमेश्वरका स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं (प्राप्त होनेमें) सुलभ हूँ।'

अब आप देखेंगे कि गीताभरमें 'सुलभ' पद केवल इसी स्थानपर इसी श्लोकमें आया है। इस सौलभ्यका एकमात्र कारण अनन्य भावसे नित्य निरन्तर भगवान्का स्मरण ही है। आप कह सकते हैं कि जो प्रभु अपने स्मरणमात्रसे इतने सुलभ है, उनका स्मरण बिना उनके स्वरूप-ज्ञानके क्योंकर किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि आजतक आपने भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें जैसा कुछ शास्त्रोंमें

पढ़ा, सुना और समझा है, तदनुरूप ही उस भगवत्स्वरूपमें अटल श्रद्धा रखते हुए भगवान्‌के शरण होकर उनके महामहिमाशाली परमपावन नामके जपमें तथा उनके मङ्गलमय दिव्य स्वरूपके चिन्तनमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये और यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि उनके स्वरूपविषयक हमारी जानकारीमें जो कुछ भी त्रुटि है, उसे वे करुणामय परमहितैषी प्रभु अवश्य ही अपना सम्यग्ज्ञान देकर पूर्ण कर देंगे, जैसा कि भगवान्‌ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
> (१०। ११)

'हे पृथापुत्र! उनके ऊपर अनुकम्पा करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इस प्रकार प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे वे परमप्रभु हमारे योग-क्षेम अर्थात् अप्राप्तकी प्राप्ति तथा प्राप्तकी रक्षा स्वयं करते हैं।

भजन उसीको कहते हैं, जिसमें भगवान्‌का सेवन हो। तथा सेवन भी वही श्रेष्ठ है, जो प्रेमपूर्वक मनसे किया जाय। मनसे प्रभुका सेवन तभी समुचितरूपसे प्रेमपूर्वक होना सम्भव है, जब हमारा उनके साथ घनिष्ठ अपनापन हो और प्रभुसे हमारा अपनापन तभी हो सकता है, जब संसारके अन्य पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध और अपनापन न हो।

वास्तवमें विचार करके देखें तो यहाँ प्रभुके सिवा अन्य कोई अपना है भी नहीं; क्योंकि प्रभुके अतिरिक्त अन्य जितनी भी प्राकृत वस्तुएँ हमारे देखने, सुनने एवं समझनेमें आती हैं, वे सभी निरन्तर हमारा परित्याग करती जा रही हैं अर्थात् नष्ट होती जा रही हैं।

इसीलिये संत कबीरजी महाराज कहते हैं—

> दिन दिन छाँड्या जात है, तासों किसा सनेह।
> कह कबीर डहक्या बहुत गुणमय गंदी देह॥

अतः अन्य किसीको भी अपना न समझकर केवल प्रभुका प्रेमपूर्वक अनन्य भावसे स्मरण करना ही उनकी प्राप्तिका महत्त्वपूर्ण तथा सुलभ साधन है।

इस अनन्य भावको प्राप्त करनेके लिये यह समझनेकी परम आवश्यकता है कि यह जीवात्मा परमात्मा और प्रकृतिके मध्यमें है और जबतक इसकी उन्मुखता प्रकृतिके कार्यस्वरूप बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर तथा तत्सम्बन्धी धन — आदिकी ओर रहती है, तबतक यह प्राणी अनन्य भावसे छोडकर केवल परमात्माका आश्रय नहीं ले सकता। [illegible] मेरा कोई नहीं है तथा मैं सेवा करनेके लिये समस्त [illegible]का होते हुए भी वास्तवमें एक परमात्माके सिवा अन्य किसीका नहीं हूँ—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ही प्राणीको अनन्य चित्तवाला बनानेमें परम समर्थ है। इस प्रकार अनन्य चित्तसे भगवत्स्मरण-भजन आदि करनेकी 'चेतसा नान्यगामिना' (८। ८); 'अनन्येनैव योगेन' (१२।६), 'मां च योऽव्यभिचारेण' (१४।२६), 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९। २२); 'मच्चित्ताः (१०। ९), 'मन्मना भव' (९। ३४), (१८। ६५); 'मच्चित्तः सततं भव'(१८। ५७); 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि'(१८। ५८), 'मय्येव मन आधत्स्व'(१२। ८) तथा 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'(८। ७)— आदि-आदि महत्त्वपूर्ण वाक्योंद्वारा परमात्माकी प्राप्तिरूप फल बतलाकर अत्यधिक महिमा गायी गयी है। अस्तु, जिसकी धारणामें श्रीभगवान्‌के सिवा अन्य किसीके प्रति महत्त्वबुद्धि नहीं है, वही अनन्यचित्तवाला अर्थात् अनन्य भावसे स्मरण करनेवाला है। अब रहा 'सततम्' पद, सो निरन्तर चिन्तन तो प्रभुके साथ अखण्ड नित्य सम्बन्धका ज्ञान होनेसे ही हो सकता है।

इसपर श्रीकबीरदासजीकी निम्नाङ्कित उक्तिपर ध्यान दें। वे कहते हैं—

> जहँ जहँ चालूँ करूँ परिकमा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
> जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, जानूँ देव न दूजा॥

इस प्रकार उस नित्ययुक्त योगीके लिये भगवान् स्वतः ही सुलभ हैं। दुर्लभता तो हमने भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य सदा न रहनेवाली अस्थायी वस्तुओंसे सम्बन्ध जोड़कर पैदा कर ली है। इसके दूर होते ही भगवान्‌के साथ तो हमारा नित्य निरन्तर अखण्ड सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है ही। अतः हमें अपना सम्बन्ध अन्य किसीसे न जोड़कर नित्य निरन्तर एकमात्र अपने उन परमहितैषी प्रभुके साथ ही जोड़ना चाहिये, जो प्राणिमात्रके परम सुहृद् एवं अकारण कारुणिक हैं, तथा उन्हींसे ममता करनी चाहिये। फिर तो वे दयामय प्रीतिसे हमें आप ही अपना लेंगे, जैसा कि उन्होंने अपने परम प्रिय सखा अर्जुनको अपनाते हुए कहा था—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
> (१८। ६६)

'(हे अर्जुन !) सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर तू एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

यह नियम है कि स्वरचित वस्तु चाहे कैसी ही क्यों न हो, हमको प्रिय लगती ही है। ऐसे ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रभुका रचा हुआ तथा अपना होनेके नाते स्वाभाविक ही उन्हें प्रिय है ही । यथा—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया ।
सब पर मोरि बराबरि दाया ॥

फिर उसके लिये तो कहना ही क्या है, जो सब ओरसे मुख मोड़कर एकमात्र उन प्रभुका हो जाता है । वह तो उन्हें परम प्रिय है ही । यथा—

तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया ।
भजै मोहि मन बच अरु काया ॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

इसी प्रकार मानसमें सुतीक्ष्णजी भी कहते हैं—

एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाकें गति न आन की ॥

अतः जिसको स्वयं भगवान् अपनी ओरसे प्रिय मानें, उसे भगवान् सुलभ हो जायँ—इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता; जैसा कि श्रीभगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे अर्जुनके प्रति कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ६, ७)

'जो मेरे ही परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे पार्थ ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

निष्काम भक्तिकी सफलता

(लेखक—ब्रह्मलीन परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीस्वामीजी श्रीयोगेश्वरानन्दजी सरस्वती)

धर्मो मे चतुरङ्घ्रिकः सुचरितः पापं विनाशं गतं
कामक्रोधमदादयो विगलिताः कालाः सुखाविष्कृताः ।
ज्ञानानन्दमहौषधिः सुफलिता कैवल्यनाथे सदा
मान्ये मानसपुण्डरीकनगरे राजावतंसे स्थिते ॥

तात्पर्य—सम्पूर्ण शुभगुणसंयुक्त दैवी स्वभावको धारणकर स्नान-जप-पूजादि वैदिक शुभाचारसम्पन्न पवित्र हृदयवाला निष्काम भगवद्भक्त जब अपनी भक्तिकी पूर्ण परिपाकावस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब स्वाभाविक—अनायास ही इसका हृदय अत्यन्त शुद्ध, परम शुभ सात्त्विक गुणसम्पन्न हो जाता है । पश्चात् परम दयासागर, इन्द्रादि समस्त देवताओंके संरक्षक, कैवल्य मोक्षके साक्षात् धाम स्वरूप, परम गुरु स्वयं साक्षात् महादेव शंकर भक्तवत्सलताके कारण जब इस पूर्ण परिपक्व और परम शुद्ध सच्चे भक्तके सर्वथा शुद्ध हृदयरूपी मध्य कर्णिका (केन्द्र, मुख्य मध्यस्थान)में प्रत्यक्ष आविर्भूत होकर उसमें डेरा जमा लेते हैं, उसी महाशुभ परम पवित्र कालसे उस भक्तकी समस्त धर्मोंमें निष्ठापूर्वक शुभ और श्रेय प्रवृत्ति नित्य उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है । इस प्रकार समस्त पवित्र शिष्टाचारोंकी सहसा पूर्ण वृद्धिके फलस्वरूप उसके सकल पापोंकी अत्यन्त निवृत्ति, काम-क्रोध-मद-मात्सर्यादि सकल दोषोंका सम्यक् समूल विनाश इत्यादिके निश्चय सिद्ध होनेसे तथा स्वयं ही नानाविध अलौकिक शुभ फलों, शुभ लक्षणों तथा शुभ दशाकी सहसा प्राप्तिसे, वह महासौभाग्यवान् भक्त अनायास ही अत्यन्त प्रसन्नता, शान्ति और निर्विघ्नतासहित पूर्ण दृढ़ और निश्चयात्मक शुद्ध आनन्दमयी कृतार्थ बुद्धिसे तथा अपने सहज आनन्द-स्वभावमें ही अचल स्थित होकर शेष कालको व्यतीत करता है । साथ-ही-साथ परमेश्वरका अत्यन्ताधिक अनुराग स्वयं अनायास ही उत्तरोत्तर सर्वदा वृद्धिको ही प्राप्त होता जाता है । तात्पर्य कहनेका यह है कि ऐसे शुद्ध सच्चे पूर्ण भक्तको विना ही प्रयास कल्याणकारक नाना प्रकारके समस्त शुभ लक्षण तथा प्रभाव स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । जैसे सूर्यके आविर्भूत होनेपर भुवन-कोषोंका महान्धकार स्वयं अनायास ही अत्यन्त निवृत्त हो जाता है और साथ-ही साथ मनुष्योंको अपने सुकृतोंमें प्रवृत्त होनेके लिये सुदिनकी अनुकूलतापूर्वक प्राप्ति होती है, इसी प्रकार जब पूर्ण

ज्ञानस्वरूप साक्षात् शंकर महादेव अत्यन्त कृपायुक्त होकर भगवद्भक्तोंके सम्यक् पवित्र सुयोग्य हृदय-मन्दिरोंमें स्वयं आकर निवास करते है, तब एकाएक इन भक्तोंके हृदयान्तःकरणके समस्त अनाद्यविद्यान्धकार सर्वदाके लिये सम्यक् समूलनिवृत्त हो जाते हैं। पश्चात् ईश्वरीय सम्पूर्ण स्वाभाविक दिव्य गुणोंसे स्वयं सहजमें ही सम्यक् सुभूषित होकर ये भक्त जीते ही इस भूतलमें इन्द्रादि महान् देवताओंसे अनन्तगुणाधिक योग्यता और अलौकिक महामहिमाओंको बिना इच्छाके ही प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—भक्त अपनी शुद्ध और दृढभक्तिके प्रभावसे ईश्वरके प्रसन्नतापूर्वक कृपा-माहात्म्य पाकर, अपने [illegible] स्वभावसे सम्यक् निवृत्त होकर, दैवी महाशुभ [illegible] प्राप्त करनेके लिये अपने इष्टदेव निज आत्मस्वरूप [illegible] परमेश्वररूपी साक्षात् परमात्माका अपनी [illegible] अनन्य भक्तिद्वारा अपने हृदय मन्दिरमें पूर्ण उल्लाससे [illegible] करके, अपनी संस्कार की हुई पवित्र बुद्धिरूपी [illegible] उन्हें सादर दृढ निश्चयपूर्वक स्थापितकर पुनः [illegible]— स्वाभाविक ही निरन्तर केवल उनके ही अनन्य [illegible] निमग्न रहता है।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीकाशिकानन्दजी महाराज, न्याय-वेदान्ताचार्य)

शिक्ये पिधाय निहितं विमथाकलशं प्रभिद्य नवनीतम्।
हस्ते पतितं कुतुकात् पश्यन् स श्यामलो जयति ॥

(भक्तिमकरन्द १ । १)

इस विषयमें प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं कि भक्ति और ज्ञान भगवत्प्राप्तिके मुख्य दो साधन हैं। ये स्वतन्त्ररूपसे दो साधन हैं या परस्पर साकाङ्क्षरूपसे अथवा साध्य-साधनरूपसे ? इस विषयमें आचार्योंका मतभेद अवश्य है और उन-उन मतोंके अनुकूल शास्त्र-वाक्य भी अनेकानेक उपलब्ध होते हैं; किंतु इस बातमें वैमत्य किसीको नहीं है कि भक्ति और ज्ञान दोनोंमें किसीकी भी दूसरेके लिये अनुपयोगिता नहीं है। स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः इस प्रकार भक्तिको स्वयंफलस्वरूप स्वीकार करनेपर भी भगवान् नारद ऋषिने तत्रापि नमाहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः कहते हुए ज्ञानकी आवश्यकता अङ्गीकार की है। इसकी व्याख्या करते हुए एक भक्ति-ग्रन्थमें बताया गया है—

महान् स चात्मा च तदीयभावो
माहात्म्यमेतत् खलु पारमात्म्यम्।
तद्बोधपूर्वः परमात्मनिष्ठः
प्रेमा भवेद् भक्तिपदाभिधेयः ॥

जिसकी आत्मा महान् है, इस प्रकार बहुव्रीहि-समास न करके महान् अर्थात् परम+आत्मा महात्मा—इस प्रकार सूत्रस्थ 'माहात्म्य' शब्द कर्मधारयघटित माना गया है। अतएव देवर्षि नारदजीने भी ज्ञानकी अवहेलना नहीं की है, यही प्रतीत होता है। आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने यद्यपि—

'नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।'

इस प्रकार मङ्गलाचरणमें भक्तिको स्वतन्त्र पुरुषार्थ स्वरूप बतलाकर उसकी व्याख्यामें ज्ञान और भक्तिका परस्पर भेद सिद्ध करते हुए साधन-साध्य [illegible] आदि भिन्न बताया है; किंतु आगे चलकर साधनोंका वर्णन करते हुए उनमें [illegible] भी परिगणन किया है।

ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः ॥

आचार्योंके मतभेदपर विचार करनेसे पूर्व [illegible] वेदान्तकी प्रक्रियाओंपर भी एक विहङ्गावलोकन [illegible] हमें एक संतोषप्रद मार्ग निकालनेमें सहायता [illegible]। वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और परमात्ममय होनेसे जगत् भी पारमार्थिक दृष्टिसे [illegible] स्वरूप है। सत्-चित्-आनन्द—इन तीनोंको [illegible] 'भाति' और 'प्रिय' से माना गया है। [illegible] घटो मे प्रियः' इस प्रकार उदाहरण भी दिये [illegible] हैं। [illegible] तीन बहुत जगह आवृत रहते हैं। [illegible] रहता है। अन्धकारके कारण घटके होते हुए भी [illegible] कह देते हैं और [illegible] हैं। कदाचित् 'ईश्वरोऽस्ति किंतु न भाति' [illegible] ढका रहता है। आचार्योंने [illegible] तीन [illegible]

माने हैं—असत्त्वापादक आवरण, अभानापादक आवरण और अनानन्दापादक* आवरण। असत्त्वापादक आवरण वस्तुकी सत्ताको आवृत करता है, अभानापादक आवरण वस्तुके चित्त्वको आवृत करता है और अनानन्दापादक आवरण आनन्दत्वको आवृत करता है।

वेदान्तके प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें बताया गया है कि इन तीन आवरणोंमें असत्त्वापादक आवरणको केवल परोक्षज्ञान नष्ट कर देता है। शास्त्र तथा आचार्यसे ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें परोक्षज्ञान प्राप्त करनेपर 'ईश्वरो नास्ति' इस प्रकारकी भावना नष्ट होती है; किंतु अभानापादक आवरण परोक्षज्ञानसे नष्ट नहीं होता, उसे अपरोक्ष ज्ञान ही नष्ट कर सकता है। घटका जब अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब 'घटो नास्ति' 'घटो न भाति' ये दोनों प्रकारके आवरण नष्ट हो जाते हैं; परंतु इन प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें इस बातका स्पष्टीकरण नहीं है कि उस तृतीय अनानन्दापादक आवरणका विनाश किससे और किस प्रकार होता है। उसका कारण यह हो सकता है कि बहुत-से आचार्योंने इस आवरणको माना ही नहीं। परंतु यह बात विचारदृष्टिसे सर्वथा संगत नहीं प्रतीत होती। इसपर यहाँ चर्चा विशेष न करनेपर भी अपने प्रकृत विषयके विचारसे वह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आचार्य अपरोक्ष-ज्ञानसे ही अनानन्दापादक-आवरणका नाश मान लेते हैं, परंतु यह भी अनुभवविरुद्ध है। कारण, घटके अपरोक्ष ज्ञानमात्रसे हमें किसी विशिष्ट आनन्दकी प्रतीति नहीं होती। हम हजारों वस्तुओंको देखते रहते हैं; परंतु उससे उन वस्तुओंमें स्थित आनन्दांशकी भी स्फुरणा होती हो, ऐसी बात देखी नहीं जाती। अतः यह बात निर्विवादरूपसे माननी होगी कि अनानन्दापादक आवरणका भङ्ग किसी औरसे ही होता है। यहाँपर हमारा भक्तिशास्त्र उपस्थित होता है। प्रेम-वृत्तिसे अनानन्दापादक आवरणका भङ्ग होता है। यही भक्ति-सिद्धान्त है। दूसरा कोई उसका उपाय नहीं हो सकता। भक्ति-मकरन्द†में बताया गया है—

यामभानापादिकां तामपहरति परामावृतिं ज्ञानवृत्ति-
र्या चानानन्दमापादयति हरति तामावृतिं प्रेमवृत्तिः॥
(म० २।२)

दूसरा आवरण जो अभानापादक है, उसे ज्ञानवृत्ति नष्ट करती है और अनानन्दापादक आवरण जो तीसरा है, उसे प्रेमवृत्ति नष्ट करती है।

यह तो सर्वजनानुभवसिद्ध है कि जिसके ऊपर हमारा प्रेम होता है, उसे देखते ही हमें आनन्दकी अनुभूति होने लगती है और यदि प्रेम न हो तो पुत्र-पत्नी आदिको देखने-पर भी आनन्दानुभूति नहीं होती। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें भी है; भगवत्साक्षात्कार होनेपर भी भगवान्‌में भक्ति—प्रेम न हो तो भगवत्स्थित आनन्दांशकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। भक्ति-मकरन्दमें लिखा है—

ज्ञानेनाभानहेतावपि समधिगतेऽपत्यपत्यादिभूमौ
नैवानन्दस्य मन्दस्फुरणमपि भवेत् प्रेम नो चेद्भवेऽस्मिन्।
(बिन्दु ३, श्लोक ३)

'ज्ञानसे—साक्षात्कारसे अभानहेतु आवरणका विलय होनेपर भी यदि प्रेम न हो तो पुत्र-पति आदि ही क्यों न हों, उनमें भी आनन्दका मन्द स्फुरण भी नहीं हो सकता।' इसी कारण ज्ञानी भी भगवान्‌में भक्ति—प्रेम रखते हैं।

गीतामें भगवान् कहते हैं—ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ज्ञानी मेरी भक्ति करता है। यहाँ 'प्रपद्यते' इसका अर्थ शरणागति-लक्षणा भक्ति है। यह तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्—इस शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें तथा उसकी व्याख्याओंमें स्पष्ट है।

चतुर्विधा भजन्ते मां············ज्ञानी च'
(गीता ७।१६)

इस गीता-वाक्यसे तो स्पष्ट ही पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है। और भागवतमें भी—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं················॥
(१।७।१०)

—इस श्लोकमें जीवन्मुक्त पुरुष भी भगवान्‌में अहैतुकी भक्ति करते हैं—कहते हुए उक्त बातका समर्थन किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भक्तिके बिना ज्ञान अकिंचित्कर है, भक्ति भगवत्प्राप्तिमें—अनावृत भगवत्स्वरूपाभिव्यक्तिमें परम साधन है।

* अनानन्दापादक आवरण प्राचीन आचार्य मानते रहे। देखिये अद्वैतसिद्धिकी टीका गौडब्रह्मानन्दी (निर्णयसागर-मुद्रित पुस्तक पृ० ३१०, अन्तिम पंक्ति)।

† यह लेखकका ही एक अमुद्रित भक्तिग्रन्थ है, जिसमें भक्तिका स्वरूप शास्त्र-समन्वयके साथ नवीन रीतिसे समझाया गया है और भक्तिविषयक अनेक ललित पद्य भी हैं।

परंतु कुछ आचार्य भक्तिकी प्रशंसा करते हुए ज्ञानकी अत्यन्त अवहेलना करते हैं; उनका ऐसा करना केवल अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये। कारण, वेद बतलाता है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'। और यह बात भी लोकसिद्ध है कि हमारा प्रेम पुत्र-पति आदिमें अत्यधिक हो, किंतु उनका साक्षात्कार नहीं हो रहा हो तो पूर्णतया आनन्दाभिव्यक्ति नहीं होती। पुत्रादिके दूरस्थित होनेपर अतीव व्याकुलता ही होती है। भक्तिमकरन्दमें बताया है—

> प्रेम्णानानन्दहेतौ विलयमुपगतेऽपि स्फुटं नैव शर्म
> प्रेयांसो यद्यपीमेऽनयनविषयतां यान्ति पुत्रादयश्चेत्।
> (वि २ श्लो. ३)

अर्थात् प्रेम-वृत्तिसे अनानन्दापादक आवरण नष्ट होनेपर भी आनन्दका स्फुटरूपसे स्फुरण नहीं होता, यदि प्रियतर भी पुत्रादि प्रत्यक्ष न हों। इसलिये भक्तिके समान ही साक्षात्कारात्मक ज्ञानकी भी उपयोगिता है। इसीलिये—

> ज्ञानाख्याना महेशं प्रथयति हरतेऽभानबीजावृतिं कि-
> न्त्वानन्दाकारवर्जं न हरति तदनानन्दबीजावृतिं सा।
> प्रेमाख्याना तु वृत्तिः प्रथयति नितरां न स्वयं किंतु सैषा-
> नानन्दापादकाख्याऽऽवरणहरणतोऽज्ञानवृत्तिं भुनक्ति॥
> (वि० २ श्लो० ४)

इस प्रकार दोनोंको सम कक्षामे रखते हुए भक्ति-मकरन्दमें दोनोंकी उपयोगिता स्पष्ट की गयी है।

इस प्रकार भक्ति तथा ज्ञानकी समप्रधानता सिद्ध होनेपर शास्त्रीय वचनोंपर अर्थसंदेह उपस्थित हो सकता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—'भक्त्या मामभिजानाति'[1] अर्थात् भक्तिसे मेरा साक्षात्कार होता है। 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्…।' अर्थात् निरन्तर प्रेमपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूँ……। इससे भक्ति साधन और ज्ञान साध्य प्रतीत होता है। और 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते', 'चतुर्विधा भजन्ते मां……ज्ञानी च' इत्यादि गीतावाक्योंसे प्रतीत होता है कि ज्ञानसे भक्ति होती है—ज्ञान साधन है, भक्ति साध्य है। इस प्रकारके अनेकानेक शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं, जो भक्तिको ज्ञानका साधन और ज्ञानको भक्तिका साधन बताते हैं। भगवान् नारदऋषि इनका अनुवाद करते हुए कहते हैं—तस्य ज्ञानमेव साधनमित्येके, अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये। इस संदेहका निवारण करते हुए भक्ताचार्य कहते हैं कि अपरा भक्ति ज्ञानका साधन है, परा भक्ति फलरूपा है, और ज्ञानपक्षपाती कहते हैं कि अपरज्ञान अर्थात् शास्त्रादि [illegible] उत्पन्न परोक्षज्ञान भक्तिमें हेतु है, ब्रह्मज्ञान तो [illegible] है।

हम इसपर सूक्ष्मरूपसे एक बार दृष्टिपात करें तो भक्ति और ज्ञानमें एकको हीन [illegible] दूसरेको उत्तम कहनेकी आवश्यकता न रहेगी। [illegible] बात तो यह है कि अपनी आत्मामें प्रेम सबके लिये स्वतःसिद्ध है। [illegible] और परमात्मामें भेदज्ञान होनेके कारण वह प्रेम [illegible] विषयक होकर परमात्मामें नहीं हो पाता। जब [illegible] 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक साक्षात्कार होता है, तब [illegible] च्छिन्न-विषयक प्रेम अपरिच्छिन्न होकर [illegible] विषयक हो जाता है। अतएव ज्ञानी [illegible] एव परमात्मामें प्रेम हो जाता है। भक्तिमकरन्द[illegible]—

> अनुपाधि सदैव देहिनां परमप्रेम निजात्म[illegible]।
> अबुधस्य निजेन किंतु तदुपपरि[illegible]॥
> विघटय्य परिच्छिदाभ्रम मदहं [illegible]।
> इति बोद्धुरदः स्फुटं भवत्यपरिच्छि[illegible]॥
> तदिदं विदुषां स्वत. परे भवति प्रेम [illegible]।
> विदुषः परमप्रियोऽस्म्यमी भजते [illegible]॥
> मयि भक्तिमियन्त्यहैतुकीमपि निर्ग्रन्थ[illegible]।
> इति भागवतेऽपि च स्वतोभवनीं [illegible]॥
> ([illegible] १५—१८)

इससे हमें यह स्पष्ट हो गया कि वेदान्तके [illegible] निदिध्यासनसे जिसे 'अहं [illegible]' [illegible] साक्षात्कार होता है, [illegible] उत्पन्न हो [illegible] है, अर्थात् [illegible]। [illegible] श्रवण-कीर्तन-स्मरणादि [illegible]

1\. यद्यपि शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें 'अभिजानाति' का अर्थ अनुरागसहित अनुभव किया गया है, फिर भी वह अनुभवघटित होनेसे और 'तेषां सततयुक्तानां' इस वाक्यसे भक्तिमें साधनता सिद्ध होती है।

2\. 'असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यत्व विधेयांशे भासते'—इस प्रकार अनुमान-गादाधरीमें सव्यभिचार-प्रकरणमें बताया गया है। [illegible] होती है, [illegible] प्रतीत होती है।

है, उन्हें ज्ञान भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसमें युक्ति बतलाते हुए भक्ति-मकरन्दमें आता है—

द्रुतचेतसि भक्तितो हरेर्जतुनीवाङ्कति पादपङ्कजम्।
सकलेषु विलोकते पुनर्भगवद्भावमसौ रसात्मकम्॥

भगवच्चरणाङ्कलक्षणां सचिवीकृत्य मनश्च वासनाम्।
प्रभवत्यवलोकितुं प्रभुं सकलात्मानमपीह नान्यथा॥
(बिन्दु० २ श्लो० ७, १०)

अर्थात् भक्तिसे जो चित्त पिघल जाता है, उस पिघले हुए चित्तमें भगवान्‌का चरण-कमल अर्थात् स्वरूप अङ्कित हो जाता है, जैसे पिघली हुई लाखमें वस्तुकी छाप पड़ती है। उसके बाद वह सभी वस्तुओंको भगवत्स्वरूप देखने लगता है। भगवत्स्वरूपकी छापरूपी वासनाको सहकारी बनाकर मन सम्पूर्ण जगत्‌को भगवत्स्वरूप देख पाता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्यार्थ यह है कि जैसे पीला चश्मा लगानेपर सारा जगत् पीला दीख पड़ता है, वैसे ही हृदयमें भगवान्‌की छाप पड़ जानेसे सारे जगत्‌को भक्त भगवन्मय देखने लगता है। अन्तर इतना ही है कि पीले चश्मेसे भ्रमात्मक पीतज्ञान होता है, किंतु भगवन्मयरूपसे जगत्‌को देखना भ्रम नहीं है। कारण, सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है। श्रुति कहती है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इसी आशयसे भक्तिमकरन्दमें कहा गया—

द्रुतचेतसि कामवेगतो निहितेऽकिंचनकामिनीपदे।
अवलोकयते पुमानसौ जगतीमेव हि कामिनीमयीम्॥
असतो ललनादिवर्ष्मणोऽव्यगतस्य क्वचनापबाधनम्
न सतः परमात्मनो जगत्परिपूर्णस्य कदापि बाधनम्॥'
(बिन्दु० २ श्लो० ८-९)

चित्तके पिघलनेके बारेमें आचार्य मधुसूदन सरस्वती भक्तिरसायनमें कहते हैं—

चित्तद्रव्यं तु जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
(१।४)

'चित्तरूपी द्रव्य जतु अर्थात् लाखके समान कठिन-स्वरूप है, वह तापक विषयोंके संयोगसे द्रवीभावको प्राप्त होता है।' इस पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि पूर्णभक्ति होनेपर समग्र जगत्‌को भक्त परमात्मस्वरूप देखने लगता है। यही तो वेदान्तप्रतिपादित ज्ञान है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सकलमिदमहं च वासुदेवः' इस प्रकारका साक्षात्कार ही तत्त्वसाक्षात्कार कहलाता है।

इति भक्तिमतां महात्मनां भवति ज्ञानमनन्यसाधनम्।
हरिभक्तिरनन्यसाधना भवति ज्ञानवतां तथा सताम्॥
(भक्ति-मकरन्द बि० २ श्लो० १९)

कतिपय आचार्योंने भक्तिको स्वयं पुरुषार्थ बताया है। भगवान् नारदऋषि भी कहते हैं—स्वयं फलरूपतेति ब्रह्म-कुमाराः। और ज्ञानपक्षपातियोंने ज्ञानको ही परम पुरुषार्थ बताया है। हमें तो दोनोंसे अविरोध है। वास्तवमें तो परमात्मा-का चिदंश ही ज्ञान है और आनन्दांश ही प्रेम है। भक्ति-मकरन्दमें कहा गया है—

ज्ञानं चैतन्यमात्रं व्यवहरति जनो ज्ञानवृत्तौ तु भक्त्या
प्रेमाप्यानन्दमात्रं व्यवहरति तथा प्रेमवृत्तौ च भक्त्या॥

अर्थात् ज्ञान केवल चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानवृत्ति—चित्त-वृत्तिविशेषमें लक्षणासे ज्ञान-शब्द-व्यवहार है। इसी प्रकार प्रेम भी केवल आनन्दस्वरूप है, प्रेमवृत्ति—चित्तवृत्तिविशेषमें भक्तिसे अर्थात् लक्षणासे प्रेम-शब्द-व्यवहार है। भक्तोंने भी भगवान्‌को प्रेमस्वरूप कहकर स्तुति की है। उसका भी तात्पर्य यही है। इसी बातको लेकर भक्तोंने भक्तिको, ज्ञानियों-ने ज्ञानको परम पुरुषार्थ बताया है। चैतन्य और आनन्द वास्तवमें दो वस्तु नहीं, किंतु परमात्मस्वरूप ही हैं; अतएव भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा—इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है। पूर्ववाक्यमें अभेद कहकर—उभय हरहिं भव संभव खेदा—यहाँपर भेदबोधक 'उभय' शब्द-का प्रयोग गोस्वामीजीने किया है। अतएव वहाँपर ज्ञानवृत्ति-प्रेमवृत्ति 'उभय' शब्दका अर्थ समझना चाहिये। वृत्तियोंमें भेद तथा उनका कार्यभेद पूर्व ही बता आये हैं। ग्यान पंथ कृपान कै धारा—गोस्वामीजी इस वाक्यसे ज्ञानको अति कठिन बताकर त्याज्य नहीं बताते; कारण, ज्ञान बिना भक्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती। यह बात शास्त्रयुक्तिसिद्ध है, पूर्वमें हम बता भी चुके हैं। किंतु 'पंथ' शब्द जोड़कर ज्ञान-साधन—विवेक-वैराग्यादि एवं निदिध्यासनादिको कठिन बता रहे हैं। जैसे कैलासका रास्ता कठिन है, इसका अर्थ 'कैलास कठिन है' नहीं होता; किंतु कैलास पहुँचनेका मार्ग कठिन है, यही अर्थ होता है। गोस्वामीजीका तात्पर्य यही है कि भक्तिमार्गसे, जो अति सरल है, चलते हुए पराभक्ति तथा तद्द्वारा परज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये सुगम है; ज्ञान-

मार्गसे चलते हुए ज्ञानके द्वारा पराभक्ति प्राप्त करना अति दुर्गम है ।

निष्कर्ष यह है कि भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही पक्षीके दो पंखोंके समान भगवत्प्राप्तिरूपी परम पुरुषार्थमें साक्षात् अनन्यथासिद्ध साधन है । दूसरे शब्दोंमें दोनों ही समप्रधान भावसे परम पुरुषार्थ हैं । अतः भक्ति और ज्ञान दोनोंमें [illegible] भी अवहेलनीय नहीं है । साधक पुरुष यथाभिरुचि [illegible] भी मार्गका अवलम्बन कर सकता है । इस प्रकार [illegible] सामञ्जस्य होनेपर किसी भी शास्त्रवाक्यका वैयर्थ्य अथवा [illegible] अर्थ स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

ज्ञान-कर्म-सहित भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ, सर्वदर्शनाचार्य)

भारतीय सनातन जीवन-दर्शनके दो विचार ही भारतके विचारकोंको प्रभावित करते चले आये हैं—प्रवृत्ति-मूलक कर्ममार्ग तथा निवृत्ति-मूलक ज्ञानमार्ग । प्रथम मार्गके अनुसार ब्रह्मचर्य-आश्रमके अनन्तर गृहस्थ-आश्रममें प्रविष्ट होकर वेद-विहित यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है । द्वितीय मार्गके अनुसार परम सत्यके अन्वेषणकी वृत्तिसे सम्पूर्ण ऐहिक कर्मका त्याग करके साधना और तपस्या करना ही श्रेयस्कर माना गया है; क्योंकि इस मार्गवाले कर्मको ज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें प्रतिबन्धक मानते हैं । कर्मवादियोंके अनुसार वेद-विहित कर्मोंके अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे ही परमगति प्राप्त हो जाती है । परंतु ज्ञानवादियोंके अनुसार कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिये कर्मके द्वारा किसी प्रकार भी मोक्ष नहीं मिल सकता । उनके मतसे कर्म चाहे जैसा भी हो, बन्धनका कारण ही है । प्रथम मतके समर्थक हैं कर्मकाण्डी मीमांसक तथा दूसरे मतके समर्थक हैं वेदान्ती ।

जैसे-जैसे आर्य-संस्कृतिका ह्रास होने लगा, वैसे-वैसे कर्मकाण्डका भी लोप होने लगा । साधारण मनुष्योंके लिये यज्ञ आदिका अनुष्ठान तो दुष्कर हो ही गया, ज्ञानमार्ग भी अति गूढ होनेके कारण क्लेशकर प्रतीत होने लगा । इस प्रकार जब दोनों मार्ग अत्यन्त गहन और अगम्य प्रतीत होने लगे, तब एक ऐसे मार्गकी आवश्यकता आ पड़ी, जिससे इन दोनों मार्गोंका सामञ्जस्य हो जाय और जो इन दोनोंसे सरल हो । इस समस्याका समाधान किया भक्तों तथा संतोंने, जिनके अनुसार 'ईश्वरकी भक्ति'से ही मनुष्योंको सब कुछ प्राप्त हो सकता है ।

'भक्ति' शब्दकी निष्पत्ति 'भज्' धातुसे हुई है, जिसका अर्थ तो है 'सेवा करना' परंतु तात्पर्य है—भजन, अर्पण, पूजा या प्रीति करना । शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरमें परा (उत्कट) अनुरक्ति ही भक्ति है । भक्तिकी इस परिभाषामें 'परा' शब्द अत्यन्त महत्त्वका है; इसमें 'निर्हेतुक', 'निष्काम' तथा 'निरन्तर' प्रेमका भाव टपकता है । भागवतमें भी कहा गया है—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।

ईश्वरसे कुछ पानेकी इच्छासे की गयी भक्ति [illegible] जाती है । यह सकाम भक्ति अत्यन्त निकृष्ट [illegible] मानी गयी है । भक्तिका सच्चा स्वरूप तो [illegible] कि उसमें कुछ लेनेका भाव ही नहीं होना चाहिये, [illegible] अपने प्राणतक अर्पण करनेका भाव होना चाहिये । [illegible] भक्तोंको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—आर्त, [illegible], अर्थार्थी और ज्ञानी ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च ···

इनमें प्रथम तीन प्रकारके भक्त तो सकाम होनेसे [illegible] निकृष्ट हैं, किंतु चौथे प्रकारका बिना किसी [illegible] भगवान्‌से स्वाभाविक निरन्तर प्रीति करनेवाला भक्त [illegible] होता है ।

किंतु भक्ति-मार्गमें ज्ञान तथा कर्मका [illegible] है या नहीं, इस सम्बन्धमें आचार्य एकमत नहीं हैं । कुछ [illegible] का मत है कि भक्तिके लिये ज्ञान और कर्म दोनों ही [illegible] है । परंतु कुछ कहते हैं कि ज्ञान कभी [illegible] नहीं हो सकता, वह तो मोक्षका स्वतन्त्र तथा [illegible] है । [illegible] विचार करनेपर प्रतीत होता है कि भक्तिके [illegible] दोनोंकी आवश्यकता पड़ती है । [illegible] अभिन्नता है, आत्मीयता है । [illegible] समन्वय और अभेदका [illegible] करनेवाला ग्रन्थ है गीता, जिसमें भगवान्‌ने [illegible] भक्तोंसे ज्ञानीको ही सर्वश्रेष्ठ भक्त [illegible]

निष्काम होता है। यहींतक नहीं, उन्होंने ज्ञानीको अपना आत्मा ही मान लिया है—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

भक्तिमें ज्ञान तथा कर्म दोनोंकी आवश्यकता इसलिये होती है कि कर्म तथा ज्ञानके बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये कर्म आवश्यक ही है और इस विनश्वर शरीर और अविनश्वर आत्माके भेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञान भी अपरिहार्य है।

शास्त्रोंमें दो प्रकारकी भक्तिका वर्णन मिलता है—'परा' तथा 'अपरा'। अपरा भक्तिमें कर्मकी आवश्यकता रहती है। यह भक्ति सर्वसाधारणके लिये है, अतएव सरल भी है। अपरा भक्तिमें भक्त सदा भगवान्के गुणोंका श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरणोंकी सेवा, उनकी अर्चना तथा वन्दना करता है, अपनेको भगवान्का दास समझता है, उनसे प्रीति स्थापित करता है और अन्तमें अपने आपको उनके चरणोंमें अर्पण कर देता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७। ५। २३)

यह है कर्मप्रधान अपरा भक्ति। इस प्रकारकी भक्ति-द्वारा भक्तका अन्तःकरण शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है।

परा भक्ति इसकी अपेक्षा सूक्ष्म तथा गहन है। यह भक्ति बुद्धिजन्य होती है तथा इसमें जो प्रीति होती है, वह स्वाभाविक होती है। यह केवल ज्ञानवान्को ही आनन्दित कर सकती है। इसका अधिकारी सर्वसाधारण न होकर केवल ज्ञानी ही होता है, जिसका उल्लेख गीतामें कई स्थानोंपर किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपरा तथा परा भक्ति क्रमशः कर्मप्रधान तथा ज्ञानप्रधान हैं और इनमें किसी प्रकारका कोई विरोध नहीं है; ये दोनों एक दूसरेके पूरक हैं।

ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति

(लेखक—श्रीस्वामी भागवताचार्यजी)

आत्माका अपृथक्-सिद्ध प्रधान गुण ज्ञान है। जबतक सात्त्विक ज्ञानका उदय नहीं होता, तबतक अनेक मलिन कर्मोंसे दबा हुआ आत्मा मुक्त नहीं होता। इसीलिये श्रुतियोंमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि बिना ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। शास्त्रोंमे मुक्तिके द्वार कर्म, भक्ति, ज्ञान और प्रपत्ति बतलाये गये हैं। इन सभी उपायोंसे अन्ततोगत्वा ज्ञानका उदय होता ही है; इसलिये ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः यह श्रुति सर्वत्र चरितार्थ होती है। यहाँपर यह विचारणीय है कि कर्म और ज्ञानका कितना सम्बन्ध भक्ति-पदार्थसे है। कर्म तथा ज्ञानका मध्यवर्ती पदार्थ भक्ति है। कर्मका प्रधान सम्बन्ध शरीरसे है, सम्पूर्ण कर्म शरीरसे ही किये जाते हैं। कर्म शरीरजन्य होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म शरीरतक ही सीमित रहते हैं। इसलिये कर्मजन्य पुण्यकी भी सीमा बतलायी गयी है। विनाशी होनेके कारण शाश्वतिक मुक्ति-पदार्थका उपादान कर्म नहीं बन सकता। ज्ञानका प्रधान सम्बन्ध आत्मासे है। शुद्ध सात्त्विक ज्ञानके उदय होनेपर आत्मा शाश्वतिक सुख प्राप्त कर सकता है।

सात्त्विक ज्ञानके उदय होनेमें विहित-कर्मानुष्ठान कारण बनता है। सत्कर्मोंके पवित्र अनुष्ठानसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमे पवित्रता आती है, जिससे सात्त्विक ज्ञानका उदय होने लगता है। भक्तिमार्गमें सत्कर्म और ज्ञान दोनोंका दृढ़ सम्बन्ध है। जब परमाराध्य भगवान्की सेवामें प्राणियोंकी प्रवृत्ति कर्मके द्वारा होती है और आचार्योपदिष्ट अनन्य-शेषत्व, अनन्य-भोग्यत्व आदि पारमार्थिक स्वरूप-ज्ञान होता है, तब उसी अवस्थामें भगवत्कृपासे अपनाये हुए प्राणियोंको सार्वदिश सुख प्राप्त होता है।

अतः शरीरकृत कर्म तथा आत्मसम्बन्धित ज्ञान दोनोंका समन्वय भक्ति-पदार्थसे है। 'भक्ति' शब्दका अर्थ भी व्याकरण-प्रदर्शित प्रकृति-प्रत्ययके अनुसार यही होता है। 'भज्' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'भाग' शब्द बनता है। उसी धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। 'भाग' शब्दका अर्थ होता है हिस्सा। वही अर्थ 'भक्ति' शब्दका भी होना चाहिये। प्रकृतमें कर्म और ज्ञानके हिस्सेका नाम 'भक्ति' है।

शरीरकृत सत्कर्मोंसे परमाराध्य भगवच्चरणोंकी आराधना तथा आत्मसम्बन्धी विशिष्ट ज्ञानके द्वारा अनन्य-शेषत्वादि स्वरूप-परिचय एवं शेषित्वादि आवश्यक भगवद्-विषयक ज्ञानका उदय होता है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए प्राणियोंको श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्की निर्हेतुक कृपासे नित्य-कैंकर्य मिलता है। निष्कर्षतः भक्तिमार्गको ज्ञान और कर्म दोनोंके अंशोंसे संवलित कहा जाता है।

हरिः शरणम्

अहल्या-उद्धार

रामपद-पदुम-पराग परी ।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी ॥

([illegible])

भक्त-वत्सल श्रीराम

राखौ गीध गोद करि लीन्हों ।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघजल दीन्हों ॥
(गीतावली ३ । १३)

भक्ति और भक्तिके नौ भेद

(लेखक—श्रीसुतीक्ष्णमुनिजी उदासीन)

भगवान्‌में अनन्य प्रेमका नाम ही भक्ति है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्तिका पूर्णरूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जायँ और भक्तकी सारी द्वैतभावना लुप्त हो जाय, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते—सारी क्रियाएँ करते हुए सभी अवस्थाओंमें भक्त जब भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ न देखे, तब वही तन्मयता परा भक्ति बन जाती है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यसूत्र)।

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥

इसी सिद्धान्तको भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (१० । १३)
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (१४ । २६)

भगवान्‌की भक्तिके लिये ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाका कोई भेद नहीं है (नारदसूत्र ७२)। सभी देश, युग, जाति और अवस्थाके मनुष्योंको भगवान्‌की भक्तिका अधिकार है; क्योंकि भगवान् सबके हैं। (पद्मपुराण अ० ४२, श्लोक १०)

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

स्वपच सबर खस जमन जड पावँर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥

श्रीग्रन्थसाहबमें भी कहा गया है—

ब्राह्मण, बैस्य सूद्र अरु खत्री, डोम, चँडाल, म्लेच्छ मनसोय।
होय पुनीत भगवंत भजन तें, आप तार तारैं कुल दोय॥
धन्य सो गाँव, धन्य सो ठाँव, धन्य पुनीत कुटुँब सब लोय।
पंडित सूर छत्रपति राजा भक्त बराबर अवर न कोय॥

रामायण और गीतामें भक्तिके चार भेद कहे गयेहैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७ । १६-१७)

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥

श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें प्रह्लादने भक्तिके नौ अङ्ग बताते हुए कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७ । ५ । २३)

१—जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥

कथा सुननेमें राजा परीक्षित्, पृथु, उद्धव, [illegible] आदि उदाहरणरूप हैं।

२—कीर्तनमें नारद, सरस्वती, शङ्कर, शेष आदि [illegible]।

३—स्मरणमें ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर आदि [illegible]।

४—पादसेवनमें सीताको देखिये—

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहि हउँ [illegible]॥

फिर निषादराजकी चतुराई देखिये—

पद पखारि [illegible]।

अंगद-हनुमान्‌की सेवाका अवलोकन कीजिये—

बडभागी अंगद हनुमाना। चरन [illegible]॥

अहल्याकी भक्ति देखिये—

चरन कमल [illegible]॥

जटायुका प्रेम देखिये—

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत [illegible]॥

वालीकी गूढ भक्ति परखिये—

राम चरन दृढ प्रीति करि [illegible]

और लक्ष्मीजीकी पाद-सेवा तो [illegible]

संचिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुश[illegible]।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहत[illegible]॥
([illegible])

५—अपने मनकी भावनाके [illegible] करना अर्चन (पूजन) कहलाता है। [illegible] प्रकारकी प्रतिमाएँ बतायी गयी हैं—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमा [illegible]॥
([illegible])

इस परिपाटीमें धन्ना, मीरा, नामदेव आदिकी गणना की जा सकती है।

६—वन्दनकी महत्ता देखिये—

तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किएँ अपनाए॥'

ते सिर कटु तूमरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥'

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।

(गीता ११। ३९)

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।

दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(भीष्मस्तवराज ९१)

७—दास्य भक्तिमें हनुमान्, विदुर और भरत प्रसिद्ध हैं।

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

८—सख्यभावमें अर्जुन, उद्धव, सुग्रीव और गुह आदि-की गणना की जाती है।

९—आत्मनिवेदनके अन्तर्गत गोपियाँ और ग्वाले आते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

यह नौ प्रकारकी भक्ति तीन विभागोंमें विभक्त है—१—श्रवण, कीर्तन, स्मरण (नाम-महिमा)। २—पादसेवन, अर्चन, वन्दन (मूर्ति-उपासना)। ३—दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन (श्रद्धा-विशेष)।

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजीने मानसमें श्रीरामजीके मुख-कमलसे शबरीको नवधा भक्ति इस प्रकार सुनायी है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

× × ×

'अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥'

'कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सुहाती॥'

'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कहँ सतसंगति अति प्यारी॥'

'मन कामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा सुनै अरु गावा॥'

× × ×

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

हिंदू-धर्ममें गुरुसेवा परम कर्तव्य माना गया है—

गुर बिन भव निधि तरै न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई॥

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

गुरुने जो मन्त्र दिया हो, उसका जप करना और मुझमें अचल विश्वास रखना।

'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।'

'महामंत्र जेहि जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥'

जपको भगवान् अपना महान् यज्ञरूप बता रहे हैं—

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। (गीता १०। २५)

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥

इन्द्रीगनको रोकना दम भाषत बुधवीर। (विचारसागर)

हिंदू-धर्मके प्रत्येक क्षेत्रमें धर्मका अस्तित्व भरा हुआ है। इसलिये व्यर्थके कामोंसे विरत होकर सज्जनोंका धर्म है कि रात-दिन अखण्ड रूपसे भगवान्‌के भजनमें लगे रहें।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

जड चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।

बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

'ईशावास्यमिदꣳसर्वम्','सर्वं खल्विदं ब्रह्म','वासुदेवः सर्वमिति'

भगवान् श्रीरामने अपनेसे अधिक संतोंको बताया है। यह उनके अपने कृपालु स्वभावका परिचय है—

आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥

× × ×

जथा लाभ संतोष सदाई। 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः'

स्वप्नमें भी पराये दोषको नहीं देखना चाहिये।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

नवम भक्ति श्रीरामचन्द्रजी सबसे छलरहित—सीधा रहना बताते हैं और कहते हैं कि मेरा भरोसा रखकर हर्ष, शोक या दीनता मनमें नहीं लानी चाहिये।

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥

राम भक्ति तजि चह कल्याना। सो नर अधम सृगाल समाना॥

राम भक्ति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही भगवान्‌की भक्तिका भी अन्त नहीं है। वेद भी नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, तब मनुष्यमें क्या शक्ति है भक्ति-तत्त्वपर कलम चलानेकी—

जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

भक्ति-संजीवनी

(लेखक—गङ्गोत्री निवासी साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

भगवान्‌के साथ मिलन ही जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके अनेक साधन हैं। उनमें भक्ति ही वर्तमान युगका मुख्य साधन है। भक्तिका अर्थ है—जिस किसी उपायसे भगवान्‌की सेवा करना। भगवान्‌की उपासना, भगवान्‌की सेवा, भगवान्‌की शरणागति—सभी भक्तिके अन्तर्गत हैं। साधारणतया भगवान्‌के साथ मिलनके लिये चार मार्गोंका शास्त्रमें उल्लेख है—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा प्रपत्तियोग। वेदोंका पूर्वभाग कर्मकाण्ड तथा उत्तर-भाग ज्ञानकाण्ड है। भक्ति कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समन्वय करती है। कर्म और ज्ञान परस्पर भिन्न होनेपर भी एक दूसरेके अङ्ग बन जाते हैं। ज्ञानहीन कर्म केवल कृत्रिम और यन्त्रकी क्रियाके समान प्राणहीन होता है। उसमें शक्ति नहीं रह सकती। अतएव वह कर्म अध्यात्मजगत्‌में सहायक नहीं हो सकता। और कर्महीन ज्ञान भी अधिक महत्त्वपूर्ण देखनेमें नहीं आता। कर्महीन ज्ञानमें सामर्थ्य न होनेके कारण वह केवल शास्त्रार्थ या वक्तृतामात्रका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ कर लेने या ज्ञानविषयक वक्तृता दे लेनेमें ही ज्ञानकी सार्थकता नहीं होती। समस्त क्रियाओंका ज्ञानानुवर्तिनी होना आवश्यक है। क्रियात्मक ज्ञान न होनेके कारण आजकलके ज्ञानियोंमें ज्ञानकी कोई शक्ति देखनेमें नहीं आती। जहाँ क्रिया ज्ञानके विपरीत होती हुई देखी जाती है, वहाँ समझना चाहिये कि उक्त ज्ञानमें वक्ताका विश्वास नहीं है। भक्ति कर्म और ज्ञान दोनोंकी सहायक बनकर दोनोंमें ही सरसताकी वृद्धि करती है। उपासनाके साथ ज्ञान और कर्मका विरोध नहीं है। कर्म और ज्ञान दोनों मार्ग अनादि कालसे उपनिषद् और पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही भक्तियोगके सहकारी हैं। ज्ञान-निरपेक्ष कर्म स्वर्ग-प्राप्तिका हेतु बनता है। कर्म निरपेक्ष ज्ञान कैवल्यकी ओर अग्रसर होनेका निर्देश करता है। परंतु भक्तियोग कर्म और ज्ञानका सहायक बनकर मोक्षका सहकारी होता है। कर्म और ज्ञानका जहाँ मिलन होता है, वहाँ भक्ति उद्‌बुद्ध होती है। तब ज्ञान, कर्म और भक्तिका एक ही लक्ष्य मुक्ति होता है। भक्त 'कर्मकाण्डी' नहीं होता, 'कर्मयोगी' होता है। कर्मकाण्डके सारे कर्म सकाम होते हैं और कर्मयोगके सब कर्म निष्काम होते हैं। जिस कर्ममें कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान रहता है, वह कर्म मोक्षका साधक न होकर बाधक ही होता है। भक्त [illegible] या निर्लिप्त होकर जीवनके समस्त कर्मोंको केवल [illegible] प्रेरणासे या भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। इससे उसकी [illegible] बुद्धि या भोगबुद्धि नहीं रह सकती। [illegible] प्रवृत्ति या वासना उसके कर्मकी प्रेरक नहीं होती। [illegible] अथवा सेवा-बुद्धि ही उसके कर्मकी नियामिका होती है। भक्ति-योगके बिना कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध हो जाती है। कर्म-संस्कार ही जीवात्माके बन्धन हैं। उन कर्म-संस्कारों [illegible] अविद्यारूपी कारण शरीरका निर्माण करते हैं। परन्तु कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना असम्भव है। जीवन धारण करनेके लिये पद-पदपर कर्मका प्रयोजन होता है। कर्म स्वभावतः अच्छे या बुरे नहीं होते। जिस उद्देश्य या बुद्धिसे कर्म किया जाता है, उसीकी एक लहर अन्तःकरणमें उठकर एक तरङ्ग उत्पन्न करती है और उस तरङ्गके ऊपर ही कर्मका अच्छा बुरा होना निर्भर करता है। कर्म किया तो जाता है स्थूल शरीरके द्वारा, परंतु स्थूल शरीरको प्रेरणा मनसे प्राप्त होती है। अतएव शुभाशुभ कर्मोंका कारण मन है। मन यदि मन्द कर्मोंको भी अच्छा बनाकर ग्रहण कर सके तो वह मन्द कर्म भी अच्छा बन जा सकता है। बन्ध और मुक्तिका कारण मन ही है। यदि दृष्टिकोण बदल जाय तो कोई भी कर्म बन्धनका कारण नहीं हो सकता।

कर्मयोग

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण रूपमें कर्म तीन प्रकारके होते हैं। इस जीवनका प्रत्येक क्रियमाण कर्म [illegible] संचितके स्तरमें इकट्ठा होता रहता है। संचित कर्मोंमें जो भोगोन्मुख होते हैं, वे कर्म प्रारब्ध हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्मोंका भोग अवश्यम्भावी है। प्रारब्ध कर्म भोगके [illegible] स्तरको बढ़ाते हैं। वासनासे प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिसे [illegible] चक्र दिन-रात चलता रहता है। प्रवृत्ति ही [illegible] पथ-प्रदर्शिका होती है। अतएव [illegible] अतीत जीवनका फल है तथा भावी [illegible]। स्थूलशरीरके नष्ट हो जानेपर भी सूक्ष्मशरीर [illegible] हुआ क्रियमाण कर्म नष्ट नहीं होता; क्योंकि कर्म [illegible] मानसिक जगत्‌में उसकी एक प्रतिक्रिया होती है और [illegible]

अन्तःकरणमें सुख या दुःखकी लहर उत्पन्न होती है। सूक्ष्म-शरीरमें उसकी एक छाप पड़ती है। उस छापके साथ सूक्ष्म-शरीर भोगके लिये एक दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करता है। उक्त कर्म या संस्कार ही वासना या प्रवृत्तिके हेतु बनते हैं। सत्कर्मके संस्कारके द्वारा प्रवृत्ति भी मार्जित हो सकती है तथा असत्कर्मके संस्कारके द्वारा प्रवृत्ति कलुषित हो सकती है। सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके अनुकूल योनि-निर्वाचन करता है। जैसे नीमके वृक्षमें कटहल नहीं होते, उसी प्रकार यदि संयोग-वश प्रवृत्तिके प्रतिकूल योनिमें कोई सूक्ष्म शरीर जा पड़ता है, तो वह माताके गर्भमें या वीर्यकीटरूपमें ही नष्ट हो जाता है। सत्कर्मका फल स्वर्ग और असत्कर्मका फल नरक है। दोनों ही बन्धनरूप हैं। कर्मयोग हमको एक सुगम उपाय सिखलाता है। यदि अहंकाररहित होकर अनासक्त या निर्लिप्त भावसे हम कर्म कर सकें और उसके द्वारा यदि अन्तःकरणमें कोई सुख या दुःखकी लहर उत्पन्न न हो तो उक्त कर्मके द्वारा संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता, अथवा सूक्ष्मशरीरपर उसकी छाप नहीं पड़ सकती। इस प्रकारके कर्म जीवात्माके लिये बन्धनके कारण नहीं बन सकते। फलासक्ति-रहित होकर तथा निर्लिप्त होकर कर्म करनेका नाम ही 'कर्मयोग' है। परंतु अनासक्त या निर्लिप्त होना किसीके वशकी बात नहीं है। अन्तःकरणमें छिपी वासना-सर्पिणी कर्मके रसका पान करती हुई हृष्ट-पुष्ट होती रहती है। वासना असंख्य जन्मका परिणाम है। उसको केवल उपदेशमात्रके द्वारा त्याग करना सहज नहीं है। प्रवृत्ति प्रकृतिका स्थूल रूप है, उसको नष्ट करनेके लिये चेष्टा करना प्रकृतिके साथ दारुण संग्राम मात्र है, इसमें सफलता प्राप्त करना प्रायः असम्भव है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करनेपर कर्मका संस्कार अन्तःकरणके ऊपर नहीं पड़ता; परंतु अनासक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? यहीं भक्तियोग आकर हमारी समस्याका समाधान कर देता है। भक्तियोग हमें उपदेश देता है कि यदि तुम कर्म किये बिना नहीं रह सकते तो अवश्य कर्म करो; परंतु कर्म भगवान्‌के लिये करो, कर्तव्य-बुद्धिसे कर्म करो। भोग-वासनाद्वारा प्रेरित होकर कर्म मत करो। यदि हम सब कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण कर सकें तो नये कर्मोंके संस्कार न पड़नेके कारण नये कर्म उत्पन्न नहीं होंगे। कर्तृत्वबुद्धि न रहनेके कारण क्रियमाण कर्म फल नहीं देंगे। ज्ञानके द्वारा संचित कर्म नष्ट हो जानेपर कर्मका बीज न रहनेके कारण फिर जन्म नहीं होगा। भक्तिके द्वारा जबतक भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक इस कर्मचक्रको कोई कदापि निवृत्त नहीं कर सकता। भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी ग्रन्थि छिन्न हो जाती है, संशय नष्ट हो जाते हैं, कर्मका क्षय हो जाता है। इसलिये भक्तिके द्वारा भगवत्-साक्षात्कार करना आवश्यक है। बलपूर्वक इन्द्रियोंको रोकने अथवा आहार न करनेसे वासनाका बीज नष्ट नहीं होता। भगवद्-दर्शनके द्वारा विषयका रस नष्ट हो जाता है। भगवान्‌के ध्यान, चिन्तन और स्मरणके द्वारा हृदयके समस्त विकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। जहाँ ज्ञानका आलोक है, वहाँ अज्ञानका अन्धकार नहीं रह सकता। भगवान्‌के चिन्मय रूपका दर्शन हो जानेपर अविद्या तत्काल नष्ट हो जाती है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोगकी सफलता भक्तियोगके ऊपर ही निर्भर करती है। वाचिक (पुस्तकीय) ज्ञान केवल शास्त्रार्थका ही विषय होता है। उससे उदरपूर्ति या वक्तृताके द्वारा लोगोंका मनोरञ्जन होनेके सिवा और कोई लाभ नहीं होता। घरके भीतर बैठकर दीपककी आलोचना करनेसे जैसे घरका अन्धकार नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार वाचिक ज्ञानके द्वारा भव-सागरसे पार नहीं हुआ जा सकता। ज्ञानयोगकी सफलताके लिये वासनाका क्षय करना पड़ता है; परंतु अनन्त जन्मोंकी वासना अन्तःकरणमें रहकर जबतक कर्मके रसका पान करती रहेगी, तबतक इसको शान्त करना एक प्रकारसे असम्भव ही है। सम्पूर्ण कामनाओंको शान्त करके साधक जब केवल आत्मामें ही संतुष्ट होता है, तब उसको 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। मनोनाश, वासनाक्षय तथा तत्त्वज्ञान—इन तीनोंका जब एक साथ अभ्यास किया जाता है, तब ज्ञानयोगकी प्राप्ति होती है। जबतक हृदय वासनाके द्वारा संतप्त रहता है, तबतक मनुष्य निष्काम नहीं हो सकता। परंतु भक्तियोगकी सहायतासे हृदय अपने-आप ही शान्त हो जाता है। परमात्माके साक्षात्कारके द्वारा मायाका बन्धन छिन्न हो जाता है, मन शान्त हो जाता है और कर्मबन्धन शिथिल हो जाता है। भक्तिविहीन ज्ञानमार्ग केवल प्रयासका कारण बनता है। अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति करना सबके लिये सहज है। भक्तिकी सहायताके बिना ज्ञानमार्ग विघ्नमय हो जाता है तथा पद-पदपर पतनकी आशङ्का बनी रहती है। ज्ञान भक्तिका पूरक और प्रकाशक है। ज्ञानहीन भक्ति अन्धविश्वास-की जननी होती है। यह बात भी ध्रुव सत्य है कि ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। उपासनात्मक ज्ञानको ही मुक्तिका कारण मानना पड़ता है। निष्काम कर्मद्वारा चित्त-

शुद्धि हो जानेपर ज्ञानद्वारा मुक्ति हो सकती है। उपासनात्मक ज्ञान और भक्तियोग दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। उपासना और सेवाके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी होती है। सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन, ध्यान, स्मरण, भगवान्‌में अनन्य विश्वास और तत्परायण भजनका नाम उपासना है। अनवरत तैलधाराके समान हृदयकी अविच्छिन्न गति जब भगवान्‌के नाम-गान या ध्यानमें लग जाती है, तब परमात्मा प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं तथा जीवात्मा अपने पृथक् अस्तित्वको खो देता है और परमात्माके साथ एक हो जाता है। इसीको ज्ञानयोग या उपासना कहते हैं। उपासनाकी सफलताके लिये भगवान्‌के प्रति असीम प्रेम होना आवश्यक है। हृदयके अनुरागके बिना केवल योग, जप, तप, ध्यान आदिके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान्‌के चरणोंमें अन्तःकरणको लगा देनेका नाम ही योग है। जबतक मन बन्धु-बान्धवादिके मोहमें आबद्ध रहता है, तबतक चित्तको भगवान्‌के चरणोंमें कदापि नहीं लगाया जा सकता। इसीलिये ममताका त्याग करके मनको भगवान्‌के चरणोंमें लगाना पड़ता है। उपासनामें भगवत्प्रेमकी अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि हम जिससे सर्वापेक्षा अधिक प्यार करते हैं, रात-दिन जिसका ध्यान-स्मरण हमको अच्छा लगता है, उसीमें हमको आनन्दकी अनुभूति होती है।

भगवान्‌के साथ यदि हम हृदयसे प्रेम करेंगे तो उनका ध्यान हमारे मनसे कभी नहीं छूटेगा। भगवान्‌के ध्यान और स्मरणमें हमको आनन्दकी प्राप्ति होगी। भगवान्‌के चिन्तनमें सर्वदा मत्त होकर हम मतवालेके समान नशेमें चूर रहेंगे। भगवान्‌के चिन्तनको त्यागकर एक क्षणके लिये भी जीवित रहना हमारे लिये असम्भव हो जायगा। अन्तःकरणका सर्वापेक्षा बड़ा आकर्षण प्रेम हुआ करता है। सांसारिक लोगोंका जब यही प्रेम स्त्री-पुत्रादिके प्रति होता है, तब इसको 'काम' तथा भगवान्‌की प्रीतिके लिये होनेपर इसको 'प्रेम' कहते हैं। इस प्रेमको संसारकी वस्तुओंसे उठाकर परमात्मामें लगानेसे यह उसमें लग सकता है। प्रेमके बिना मन भगवान्‌के चिन्तनमें क्षणभर भी नहीं टिक सकता; क्योंकि मनका स्वभाव ही चञ्चल है। अवलम्बन-शून्य रहनेपर मन स्वभावतः विषयोंकी ओर चला जायगा। विषय-लोलुप चञ्चल मनको भगवान्‌में लगानेके लिये दो साधनाएँ आवश्यक हैं—अभ्यास और वैराग्य। अभ्यासके द्वारा मन धीरे-धीरे भगवान्‌में स्थिर होने लगता है और प्रेम करनेका उत्साह बढ़ता है। वैराग्यके द्वारा सांसारिक भोगोंमें विरक्ति बढ़ती है और भगवान्‌में अनुराग होता है। भगवान्‌के प्रति अविच्छिन्न प्रेम होनेका नाम ही 'परा भक्ति' है।—सा परानुरक्तिरीश्वरे—यह शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र भी इसीकी पुष्टि करता है। भक्तिका दूसरा रूप है सेवा। सेवाके बिना केवल ध्यान, जप, स्मरण आदिके द्वारा भी कार्य सिद्ध नहीं होता। उपासना आदि मानसिक सेवा है। शारीरिक और मानसिक भेदसे सेवा दो प्रकारकी होती है। भगवान्‌के पाँच रूप शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। शरीरके द्वारा केवल अर्चावतारकी ही सेवा हो सकती है। उपर्युक्त पाँच रूपोंमें प्रत्येककी सेवा करना आवश्यक है। भगवान्‌के अर्चावतारके सिवा जो चार और रूप हैं, उनकी सेवा शरीर या वाणीद्वारा नहीं हो सकती। मन-मन्दिरसे वासनाकी धूलि झाड़कर, भक्तिजलसे प्रक्षालित करके, ज्ञानालोकका दीपक जलाकर, प्रेम-सिंहासनपर भगवान्‌की मानस मूर्ति स्थापित करना परब्रह्मकी सेवा है। इससे मन परब्रह्मके आलोकसे आलोकित हो जायगा, हृदय परमात्माके चरणोंमें तन्मय हो जायगा। प्रेम एवं ध्यानकी प्रगाढ़तासे भगवान् मानस चक्षुके सामने प्रत्यक्षवत् हो जायँगे। यही परब्रह्मकी मानस सेवा है। व्यूहरूप भगवान् सृष्टि या मायाके नियामक हैं। शेषशायी वासुदेव भगवान्‌की—जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके या लीला-विभूतिके स्वामी हैं, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अथवा ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिनकी विभूति हैं—शुद्ध आचरणके द्वारा, शारीरिक और मानसिक पवित्रताके द्वारा मानसिक सेवा करते हुए [illegible] प्रकाशकी ओर तथा असत्‌से सत्‌की ओर [illegible] करनी पड़ती है। श्रीराम कृष्ण आदिको 'विभव'-रूप कहते हैं। इनकी सेवा पुराणश्रवण, प्रार्थना, जप, स्तोत्रपाठ, नाम-कीर्तन आदिके द्वारा करे। अन्तर्यामी भगवान् सर्वप्राणियोंमें वर्तमान हैं। इस प्रकारके सूक्ष्म, व्यापक और घट-घटवासी भगवान्‌की सेवा तीन प्रकारसे हो सकती है— (१) जहाँ भगवान् अन्तर्यामीरूपसे न हों, ऐसा कोई स्थान नहीं है। अतएव ऐसा कोई गुप्त स्थान नहीं है, जहाँ मनुष्य छिपकर कोई दुष्कर्म कर सके। गुप्त [illegible] धोखा देकर कोई कर्म न करना ही अन्तर्यामीकी [illegible] सेवा है। (२) सब प्राणियोंका शरीर [illegible] है। अतएव किसीके साथ राग-द्वेष न करके दीन-दुखियोंकी दुःख-मोचनकी चेष्टा करना अन्तर्यामी [illegible]

सेवा है। (३) अपना शरीर भी अन्तर्यामी भगवान्का मन्दिर है। *अतएव भगवान्के मन्दिरको स्वच्छ और पवित्र* रखना अन्तर्यामी भगवान्की तृतीय सेवा है। काम-क्रोध आदिका त्याग करके संध्या, पूजा, आरती, भोग, पुष्प-चयन, धूप-दीप-दान आदि अर्चावतारकी सेवा है। यह सेवा प्रतिमा या मूर्तिमें की जाती है। अपना भोजन जब भगवान्के भोग-के लिये तैयार करोगे, तब अमेध्य भोजन-भक्षण करना तुम्हारे लिये भगवत्सेवा न होगी; क्योंकि अमेध्य भोजन भगवान्को अर्पण नहीं किया जाता। भोजन-कर्म, पूजा, दान और तपस्या—जो कुछ करो, सब भगवान्को अर्पण कर दो। इस प्रकार करनेसे कर्मका लेप तुमको स्पर्श न कर सकेगा।

भक्ति और भक्तके प्रकार-भेद

सर्वसुहृद्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्के ऊपर निर्भर करके जो भक्ति करते हैं, वे ही भक्त हैं। ज्ञानयोगके अधिकारी-को पहले साधन-चतुष्टय (विचार, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता) से सम्पन्न होना पड़ता है। विरक्ति हुए बिना ज्ञानयोगका अधिकारी कोई नहीं हो सकता और अनधिकारी चेष्टा करनेपर भी ज्ञानके मुख्य फलको प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु भक्तिके अधिकारी सभी हो सकते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पाप-योनि, स्त्री—यहाँतक कि दुराचारी पुरुष भी भक्तिका अधिकारी है। भगवान्का भजन करनेमें जातिका कोई विचार नहीं है। भक्तिके अधीन होकर भगवान् नीच-से-नीच—यहाँतक कि अस्पृश्य मेहतर अथवा चमारके घरमें भी पदार्पण करते हैं। भगवान् कहते हैं—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
> (गी० ७। १६)

'हे अर्जुन! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त मेरा भजन किया करते हैं। इनमेंसे सबसे निम्न श्रेणीका भक्त अर्थार्थी है। उससे श्रेष्ठ आर्त्त, आर्त्तसे श्रेष्ठ जिज्ञासु और जिज्ञासुसे भी श्रेष्ठ ज्ञानी है। भोग तथा ऐश्वर्यादि पदार्थोंकी इच्छा लेकर जो भगवान्की भक्तिमें प्रवृत्त होता है, उसके लिये भजन गौण तथा पदार्थकी प्राप्ति ही मुख्य होती है; क्योंकि वह पदार्थ-प्राप्तिके लिये ही भगवान्का भजन करता है, भगवान्के लिये नहीं। अपने बल-बुद्धिके ऊपर भरोसा न करके वह भगवान्पर भरोसा करता हुआ धनके लिये भक्ति करता है, अतएव उसको भी भक्त कहते हैं। जिसको स्वाभाविक ही भगवान्के ऊपर विश्वास होता है तथा जो भजन भी करता है, परंतु अपने पासके धन-विभव-के नाश होनेपर, अथवा शारीरिक कष्ट आ पड़नेपर उस कष्टको दूर करनेके लिये जो भगवान्को पुकारता है, वह भक्त आर्त्त-भक्त कहलाता है। आर्त्त-भक्त अर्थार्थीके समान वैभव या भोगका संग्रह करना नहीं चाहता, परंतु प्राप्त वस्तुके नाश और शरीरके कष्टको सहनेमें असमर्थ होकर भगवान्की शरण ग्रहण करता है। अतएव अर्थार्थीकी अपेक्षा उसकी कामना कम होती है। जिज्ञासु भक्त अपने शरीरके पोषणके लिये भी कोई याचना नहीं करता, वह केवल भगवान्का तत्त्व जाननेके लिये ही भगवान्के ऊपर निर्भर करता है। जिज्ञासु भक्तको जन्म-मरणरूप सांसारिक दुःखोंसे परित्राण पानेकी इच्छाके द्वारा परमात्म-तत्त्व-प्राप्तिकी इच्छा होती है। परंतु ज्ञानी भक्त सर्वदा निष्काम होता है। इसीलिये भगवान्ने ज्ञानीको अपना आत्मा ही कहा है। चित्-जड-ग्रन्थिरहित आत्माराम मुनिगण भी ज्ञानके द्वारा भगवान्की अहैतुकी भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान् इस प्रकारके दिव्य गुणोंके आधार हैं। भगवान्ने अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें कहा है कि 'मैं भक्तकी पद-रजकी इच्छासे सदा उसके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ, जिससे उसकी चरण-धूलि उड़कर मेरे शरीरपर पड़े तथा मैं उसके द्वारा पवित्र हो जाऊँ।' हे ब्राह्मण! मैं सर्वदा भक्तके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है।' भगवान् जिसके पीछे-पीछे घूमते हों, भला उसको किस बातकी चिन्ता। ज्ञानी भक्तके योग-क्षेमका भगवान् स्वयं वहन करते हैं। इसका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है—

माधवदासजी एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। गृहस्थ-आश्रममें उन्होंने बहुत धन-सम्पत्ति उपार्जन की थी। वे बड़े ही धार्मिक और विद्वान् थे। स्त्रीकी मृत्युके बाद वे संसारसे विरक्त हो गये और संसारको निःसार समझ घर त्यागकर जगन्नाथपुरीमें चले गये। वहाँ जाकर समुद्रके किनारे एकान्त स्थानमें ध्यानमग्न हो गये। उस ध्यानावस्थामें उनको शरीरतकका भान न रहा। इस प्रकार बिना अन्न-जलके जब उन्हें कई दिन बीत गये, तब दयालु भगवान्ने भक्तके अनशनको सहन करनेमें असमर्थ होकर सुभद्राजीको आदेश दिया—'हे सुभद्रे! तुम उत्तमोत्तम भोजन-सामग्री सोनेके थालमें रखकर मेरे भक्तके पास

पहुँचा आओ।' सुभद्राजी आज्ञा प्राप्त करके सोनेके थालमें अन्न-व्यञ्जन सजाकर माधवदासके पास गयीं; उन्होंने देखा कि वह ध्यान-मग्न हो रहा है। सुभद्राजी उसके ध्यानको भङ्ग करना उचित न समझकर वहीं थाल रखकर लौट गयीं। भक्त माधवदासका जब ध्यान हटा, तब सामने सोनेका थाल देखकर वे सोचने लगे—'यह सब भगवान्‌की ही कृपा है।' यह विचार मनमें आते ही वे आनन्दाश्रुसे विगलित हो गये। कुछ देरके बाद भोजन करके उन्होंने थालीको एक ओर रख दिया और पुनः ध्यान-मग्न हो गये। प्रातःकाल जब मन्दिरका द्वार खोलनेपर ब्राह्मणोंने देखा कि भीतरसे एक सोनेकी थाली चोरी चली गयी है, तब वे चोरका पता लगाते-लगाते भक्त माधवदासके पास पहुँचे। वहाँ सोनेकी थाली पड़ी देख उन्होंने माधवदासको चोर समझा। फलतः उनको पुलिसने बेंतोंसे मारना शुरू किया। भक्त माधवदासने हँसते-हँसते बेंतोंकी चोट सह ली। वस्तुतः सारी बेंतोंकी चोट तो भगवान् जगन्नाथजी स्वय सह रहे थे। भगवान्‌ने रातमें पुजारीको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'मेरे भक्त माधवदासके ऊपर जो बेंतकी मार पड़ी है, उसे मैंने अपने ही ऊपर ले लिया है। अब तुमलोगोंका सर्वनाश करूँगा। यदि बचना चाहते हो तो मेरे भक्त माधवदासके चरणोंमें पड़कर क्षमा-प्रार्थना करो।' पुजारी उठते ही माधवदासके पास गया और उनके चरणोंपर गिरकर उसने कातर स्वरसे क्षमा-याचना की। माधवदासने तुरंत उसको क्षमा कर दिया।

एक बार माधवदासजीको अतिसारका रोग हो गया, वे बहुत दूर समुद्रके किनारे जाकर पड़ गये। वे इतने दुर्बल हो गये कि उठनेकी भी शक्ति न रही। ऐसी अवस्थामें जगन्नाथजीने स्वय ही सेवक बनकर उनकी सेवा-शुश्रूषा की। जब माधवदासजीको कुछ होश आया, तब उन्होंने तत्काल पहचान लिया कि हो-न-हो ये भगवान् जगन्नाथ ही हैं। ऐसा विचार करके उन्होंने अचानक प्रभुके चरण पकड़ लिये तथा विनीन भावसे कहा—'हे नाथ! मुझ-जैसे अधमके लिये आपने इतना कष्ट क्यों उठाया? प्रभो! आप तो सर्वशक्तिमान् हैं, आप चाहनेपर अपनी शक्तिसे ही मेरे सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर सकते थे। इस प्रकार कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता थी?' श्रीभगवान् बोले—'माधव! मैं भक्तोंके कष्टको सहन नहीं कर सकता। अपने सिवा मैं और किसीको भक्तकी सेवाके उपयुक्त नहीं समझता। इसीलिये मैंने तुम्हारी सेवा की है। तुम जानते हो कि प्रारब्ध कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते। यह मेरा दुर्लङ्घय नियम है। इसी कारण मैं केवल सेवा करके भक्तको प्रारब्ध भोग कराता हूँ और [illegible] शिक्षा देता हूँ कि भगवान् भक्ताधीन हैं।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

उपर्युक्त चतुर्विध भक्तोंमें प्रथम तीन प्रकारके भक्त सकाम होते हैं और अन्तिम ज्ञानी भक्त निष्काम होता है। आर्त्त भक्तका दृष्टान्त है द्रौपदी, जिज्ञासु भक्तका दृष्टान्त उद्धव तथा अर्थार्थी भक्तका दृष्टान्त ध्रुव हैं। इनकी कथा इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध है। यहाँ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनन्य भक्तके उदाहरण हैं उपमन्यु। जब उपमन्युकी उग्र तपस्याकी बात देवताओंके मुखसे सुनकर भक्तवत्सल भगवान् शंकर भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये तथा उसके अनन्य भावकी परीक्षा करनेके लिये इन्द्रका रूप धारण करके ऐरावतपर सवार होकर उपमन्युके सामने उपस्थित हुए। उपमन्युने इन्द्रको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए कहा—'देवराज! आप कृपा करके मेरे सामने उपस्थित हुए हैं, आइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इन्द्ररूपी शंकर बोले—'मैं तुम्हारी तपस्यासे प्रसन्न होकर तुम्हें वर देने आया हूँ, तुम मुझसे वर माँगो। जो कुछ तुम चाहोगे, वही मैं तुमको देनेके लिये तैयार हूँ।' इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्यु बोले—'देवराज! मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझको स्वर्गादिकी इच्छा नहीं है। मैं भगवान् शंकरका भक्त हूँ, अतएव भगवान् शंकरका दासानुदास होना चाहता हूँ। जबतक भगवान् शंकर मुझको दर्शन न देंगे, तबतक मैं तपस्या ही करता रहूँगा। त्रिभुवनके सार, आदिपुरुष, [illegible], अविनाशी भगवान् शंकरको प्रसन्न किये बिना किसीको शान्ति नहीं मिल सकती। अपने किसी दोषके कारण इस जन्ममें चाहे भगवान् शंकरका दर्शन मुझे न हो, परंतु आगामी जन्ममें जिससे भगवान् शंकरमें मेरी अनन्य भक्ति हो, वही मैं भगवान् शंकरसे प्रार्थना करूँगा।'

इन्द्ररूपधारी शंकरजी उपमन्युकी बात सुनकर उनके सामने ही शिवकी नाना प्रकारसे निन्दा करने लगे। उपमन्युने शिव-निन्दा सुनकर इन्द्रका वध करनेके लिये भस्म उठायी और उसे अघोरास्त्रसे अभिमन्त्रित करके इन्द्रके ऊपर फेंका; साथ ही शिव-निन्दा सुननेके प्रायश्चित्तस्वरूप अपने देहको भस्म करनेके लिये उन्होंने धारणाका प्रयोग किया। भगवान् शंकर भक्तकी अनन्य भक्ति देखकर प्रसन्न हो उठे; उन्होंने अघोरास्त्रको शान्त कर दिया तथा नन्दीने धारणाका निवारण किया। इसी बीचमें उपमन्युने देखा कि भगवान् शंकर वृषभके ऊपर आरूढ़ हो जगज्जननी उमाके साथ उपस्थित हो गये। उपमन्यु

गद्गद कण्ठसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान् शंकर बोले—'वत्स उपमन्यु! मैं तुम्हारी अनन्य भक्ति देखकर प्रसन्न हो गया हूँ। अब वर माँगो।' भगवान्‌के वचन सुनकर उपमन्यु बोले—'भगवन्! क्या मुझको और कोई वस्तु मिलना शेष रह गया है? मेरा जन्म सफल हो गया। यदि आप मुझको वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।' भगवान् शंकरने उनको देवीके हाथमें समर्पण कर दिया। देवी उनको अविनाशी कुमार-पद प्रदान करके अन्तर्हित हो गयीं। इन्हीं उपमन्युने श्रीकृष्णको शिवमन्त्रकी दीक्षा दी थी।

गुण-भेदसे भक्तोंके पुनः तीन भेद होते हैं। सत्त्वगुणी भक्त देवताकी पूजा करता है, रजोगुणी भक्त यक्ष-राक्षसादिकी तथा तमोगुणी भक्त भूत-प्रेतादिकी पूजा करता है। श्रद्धा और रुचि देखकर भक्तको पहचाना जाता है। अनन्य भक्त चातकके समान अपने अभीष्ट देवताके ध्यानमें तन्मय रहते हैं। जो लोग विभिन्न कामनाओंको लेकर विभिन्न देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भक्त नहीं; उनको स्वार्थी, व्यवसायी कह सकते हैं। चातक पिपासासे कातर होकर भी नदी-नालेके जलको नहीं पीता, मेघकी ओर देखता रहता है। इसी प्रकार अनन्य भक्त प्रारब्धवश शरीरमें नाना प्रकारके कष्ट होनेपर भी अपने इष्टदेवके सिवा अन्य किसीकी आराधना नहीं करता। सब कर्मोंके फलदाता भगवान् हैं। देवतासे फल तो शीघ्र मिलता है, परंतु भक्तको उससे देवलोककी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवतमें नवधा-भक्तिका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्‌की कथा सुनना, नाम-कीर्तन, स्मरण, चरण-वन्दन, सेवा, पूजा, प्रणाम, सखाभाव और आत्मसमर्पण—इस नवधा भक्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। गरुडपुराणमें आठ प्रकारकी भक्तिका उल्लेख है—जैसे (१) भगवान् विष्णुके नाम एवं लीलाओंका कीर्तन करते-करते अश्रुपात; (२) भगवान्‌के युगल चरणोंको ही एकमात्र आश्रय समझकर तदनुसार अनुष्ठान; (३) भक्तिपूर्वक भगवत्-कथित शास्त्रका पठन-पाठन। (४) भगवान्‌के भक्तवात्सल्य भावका अनुमोदन; (५) भगवत्-लीला और कथा सुननेमें रुचि; (६) भगवद्भावविशिष्टता; (७) भगवत्पूजा; (८) भगवान् ही मेरे उपजीव्य हैं, यह ज्ञान। रामचरितमानसमें नवधा-भक्ति तथा नारदीय भक्ति-सूत्रमें भक्तिके ११ भेद पाये जाते हैं। प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थोंमें शान्त, सख्य, दास्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच प्रकारकी भक्तिके भावोंका सविस्तर वर्णन प्राप्त होता है। इन पाँचों भक्ति-भावोंके और भी अवान्तर भेद देखनेमें आते हैं। शान्तभावके अनेक भेद हैं। दास भक्त चार प्रकारके होते हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग। इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं। इसी प्रकार सख्य, वात्सल्य और मधुर भावके भी अनन्त भेद हैं। सामान्य भक्ति, साधन-भक्ति, गौणी-भक्ति, वैधी भक्ति, प्रेमा-भक्ति, परा भक्ति, रागात्मिका भक्ति, रागानुगा भक्ति, मिश्रा भक्ति, विहिता भक्ति, अविहिता भक्ति, उत्तमा भक्ति इत्यादि भक्तिके अनेक प्रकारोंका उल्लेख देखनेमें आता है। विस्तारभयसे उसे यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया है। इसके लिये वैष्णव-ग्रन्थ देखने चाहिये। दो विभाव—आलम्बन और उद्दीपन; आठ सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय; तथा निर्वेद, विषाद आदि तैंतीस संचारी भाव ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। अधिकारीभेदसे रतिमें भी विभिन्नता होती है। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और संचारी भावके द्वारा कृष्णविषयक स्थायी भाव उत्पन्न होता है। आस्वादनके कारणको विभाव कहते हैं; यह आलम्बन और उद्दीपन भेदसे दो प्रकारका होता है। इनमें श्रीकृष्ण और उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं। जिसके द्वारा भाव प्रकाशित होता है, उसको उद्दीपन विभाव कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके गुण, चेष्टा, हँसी, अङ्ग-सौरभ, वशी, शृङ्ग, नूपुर, शङ्ख, पदचिह्न, क्षेत्र, तुलसी तथा भक्त आदि उद्दीपन विभाव हैं। भगवान्‌के चित्तगत भावोंका बोध जिसके द्वारा होता है, उसको अनुभाव कहते हैं। आवेशवश नाचना-गाना, भूमिपर पड़ जाना, अँगड़ाई लेना, हुंकारादि अनुभावके अन्तर्गत हैं। भागवतमें लिखा है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११।१४।२४)

भक्ति भाव-प्रधान होती है, अतएव भगवच्चिन्तन करते-करते भगवान्‌में रति उत्पन्न होती है। तब उपर्युक्त भावोंकी स्वतः स्फूर्ति होती है। बलात् इन भावोंको लानेसे ये

भावुकतामें परिणत हो जाते हैं और रोग उत्पन्न करके साधकको भक्ति-भावसे वञ्चित कर देते हैं। अतएव अतिसावधान होकर परीक्षा करनी पड़ती है कि भक्तका भाव सत्य है या मिथ्या। भावके राज्यमें कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं, यह भक्तके सिवा दूसरोंके लिये समझना कठिन है। भावके घरमें चोरी करनेपर वह भाव नष्ट हो जाता है। भक्ति, विरक्ति और ईश्वरानुभूति—ये तीनों एक ही समय होते हैं। एकको छोड़कर दूसरे नहीं रह सकते। भक्ति होनेपर विषयोंमें विरक्ति अवश्य होगी तथा विषयोंमें विरक्ति होनेपर भगवान्का अनुभव अवश्य होगा। जिस भक्तमें इनका विपर्यय या व्यतिक्रम देखा जाता है, वह भक्त भक्तिका केवल अनुकरण मात्र करता है, यह जानना चाहिये। भक्तिका अभिनय भक्ति नहीं है।

प्रपत्ति

भक्तिका ही एक सुगम उपाय प्रपत्ति है। भगवान्से मिलनेके लिये प्रबल व्यग्रताको 'प्रपत्ति' कहते हैं। भक्त सोचता है कि भगवान् मेरे हैं, अतएव भगवान्की सेवाका भार मेरे ऊपर अर्पित है। मेरे सिवा दूसरा कोई सेवा नहीं कर सकेगा। प्रपन्न समझता है कि मैं भगवान्का हूँ, अतएव मेरी और मेरी भक्तिकी रक्षाका भार भगवान्के ऊपर है। भक्तकी उपमा बंदरके बच्चेसे तथा प्रपन्नकी उपमा बिल्लीके बच्चेसे दी जाती है। बंदरका बच्चा स्वयं माको पकड़े हुए रहता है, उसके लिये माको कोई चिन्ता नहीं होती। वह केवल एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदती रहती है। बिल्लीका बच्चा अपने स्थानपर बैठकर म्याऊँ-म्याऊँ करता रहता है, उसमें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेकी शक्ति नहीं होती। जब आवश्यकता होती है, तब बिल्ली उसको दाँतोंसे पकड़कर दूसरे स्थानपर ले जाती है। प्रपन्नकी भक्तिके निर्वाहका भार भगवान्के ऊपर होता है। मृत्युके समय मूर्च्छित अवस्थामें प्रपन्न जब भगवान्का ध्यान करनेमें असमर्थ होता है, तब प्रपन्नका कार्य भगवान् ही सम्पन्न करते हैं। प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण। भक्ति करना भक्तके अधीन है, किंतु प्रपत्तिका होना ईश्वरके अधीन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने कहा है कि केवल एक बार यदि कोई मन-प्राणसे कह सके कि 'मैं तुम्हारा हूँ' तो मैं उसको सभी भूतोंसे अभय करता हूँ—

> सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
> अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
> (वाल्मीकिरामायण)

शरणागति

परिणीता पत्नीके समान प्रपन्नका एक ही कर्तव्य होता है—पतिके अनुकूल चलनेका सङ्कल्प और प्रतिकूल [illegible]का वर्जन। स्वामीके लिये अनुकूल कार्य करनेका दृढ़ सङ्कल्प तथा प्रतिकूल कार्य त्याग करनेका दृढ़ सङ्कल्प शरणागतिका प्रथम सोपान है। पत्नीकी रक्षाका भार पतिके ऊपर रहता है। पत्नीको सावधान होकर पतिके अनुकूल आचरण करना होता है। जो कर्म पतिको अप्रिय हो, उसे पत्नीको नहीं करना चाहिये। अतएव भक्तको भी वही कर्म करना चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न हों। जिस कर्मके करनेसे भगवान् [illegible] होते हैं, उस कर्मको त्याग देना चाहिये। शास्त्र ही भगवान्की आज्ञा है। अतएव शास्त्रमें जिस कर्मके करनेका आदेश दिया गया है, वह कर्म भगवान्को प्रिय है और जिस कर्मके करनेका निषेध किया गया है, वह त्याग करने योग्य है। जिन्होंने शास्त्रोंको पढ़ा नहीं है, उनके लिये जो कर्म अपने समाजके तथा राष्ट्रके लिये कल्याणकर जान पड़े, उसका ही अनुसरण करना चाहिये। जिस कर्मके द्वारा अपना या दूसरोंका अनिष्ट होता हो, उसका त्याग करना चाहिये। प्रपन्न भक्तका एक विशेष गुण यह है कि भगवान् जो कुछ करते हैं, उसीको वह अपने लिये कल्याणमय समझता है। यहाँ तक कि स्त्री-पुत्रादिके वियोगमें भी प्रपन्न समझता है कि जिनकी वस्तु थी, वह ले गया। इसलिये जिसने भगवान्के हाथोंमें अपना सर्वस्व दान कर दिया है, वह यदि प्रिय वस्तुके वियोगसे कातर हो तो समझना चाहिये कि उसका दान केवल कथनमात्र है, वास्तविक नहीं है। गीतामें भगवान्का अन्तिम उपदेश शरणागति है—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

शरणागतिमें अनन्य भाव और अकिञ्चन [illegible] आवश्यक है। शरणागतिमें यदि दूसरेका [illegible] है तो वह शरणागति भक्तिमें सहायक नहीं होती। दुर्वासा ऋषि अम्बरीषके प्रति दुर्व्यवहार करके विपद्ग्रस्त होकर भगवान्के शरणागत हुए थे। परंतु भगवान्ने कहा कि 'आप मेरे भक्तकी शरण जाइये। मैं भक्तके अधीन हूँ, [illegible] शरण देनेमें असमर्थ हूँ।' दुर्वासा ऋषि अम्बरीषके पास जाकर शरणागत हुए, तब कहीं सुदर्शनचक्रसे उन्हें त्राण मिला। अतएव शरणागत होनेमें अभिमानका त्याग करना

आवश्यक है। जो शरीर, मन और प्राण—अपना सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर सकता है, वही प्रपन्न भक्त है।

आत्मसमर्पण

जिस वस्तुको हम किसीको स्वेच्छापूर्वक दे देते हैं, उस वस्तुपर जैसे अपना कोई ममत्व नहीं रहता, उस वस्तुके नाश होनेपर हम दुःखी नहीं होते, इसी प्रकार जो भक्त अपना शरीर, वाणी, मन और अहंकार—सब कुछ भगवान्‌को अर्पण करके प्रपन्न हो गया है, उसके लिये भगवत्सेवाके सिवा और क्या बाकी रह जायगा। आत्मसमर्पणके बाद भी यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगाते हैं तो हम दत्तापहारी (देकर वापस छीन लेनेवाले) होते हैं। शरीर और मन तो हमारे रहे ही नहीं, जो हम उनपर ममता करें। जिसकी वस्तु ये हैं, वह चाहे इनकी रक्षा करे या इनको नष्ट कर दे, इसमें हम कौन बोलनेवाले होते हैं। किसी वासना-द्वारा प्रेरित होकर हम उस समर्पित शरीर और मनको भोग्य पदार्थोंमें नहीं लगा सकते। भगवान्‌के आज्ञानुसार उनको सत्कर्म या भगवान्‌की सेवामें ही लगा सकते हैं। भगवान्‌ने कहा है—'सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ।' अतः यदि सब धर्मोंका त्याग करके हम भगवान्‌के शरण नहीं हो जाते तो हम शरणागत न होकर यथेच्छाचारी ही होंगे और इससे अनर्थकी ही प्राप्ति होगी। प्रपन्नके लिये समय और शक्तिका अपव्यय सर्वथा वर्जनीय है। प्रपन्न एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता। भक्त हरिदासजी एक प्रपन्न भक्त थे। वे प्रतिदिन तीन लाख भगवन्नाम लिया करते थे। भावका अङ्कुर मात्र उत्पन्न होनेपर क्षमा स्वयं उपस्थित होती है। चैतन्य महाप्रभुने कहा है कि जो अपनेको तृणसे भी अधिक नीच मानता है, जो वृक्षके समान सहिष्णु है तथा अमानी होकर सबको मान देनेवाला है, उसीको भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेका अधिकार है। क्षमा न रहनेपर अथवा क्रोध आनेपर अति कष्टसे उपार्जित तपोधन नष्ट हो जाता है। जिसको क्षणमात्रके लिये भी वैराग्य नहीं होता, उसे भक्ति या ज्ञान कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव अरति (वैराग्य) भक्तिके लिये आवश्यक है। भक्त पद्मनाभ मन-ही-मन सदा सोचते रहते थे कि "भगवान् अवश्य ही मुझे दर्शन देंगे। दर्शन पाते ही मैं उनके श्रीचरणोंमें लोट-पोट हो जाऊँगा। भगवान् मुझको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे। तब मैं भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करके आनन्दसागरमें निमग्न हो जाऊँगा। भगवान् मुझसे कहेंगे—'तुम वर माँगो।' मैं कहूँगा कि 'आपकी सेवाके सिवा मैं दूसरा कोई वर नहीं चाहता।'" इस प्रकार चिन्तन करते हुए पद्मनाभ समाधिस्थ होकर बहुत देरतक पड़े रहते। प्रपन्न भक्तमें नामगानमें रुचि और अव्यर्थकालत्व—ये दो गुण होने आवश्यक हैं।

प्रार्थना

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो!
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो!
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव!

विहारीका मुख

आठैं के सुधाधर सौ लसत विसाल-भाल,
मंगल सौ लाल तामैं टीकौ छवि भारी कौ।
चाप सी कुटिल भौंह, नैन पैने सायक से,
सुक सी उतंग नासा मोहै मन प्यारी कौ॥
विंब से अरुन ओठ, रद छद सोहत हैं,
पेखि प्रेम पास पर्‍यौ चित्त ब्रजनारी कौ।
चंद सौ प्रकासकारी, कंज सौ सुवास धारी,
सब दुख त्रास हारी आनन विहारी को॥ १॥

भारतमें भक्ति-रसका प्रवाह

(लेखक—श्रीकन्हैयालाल माणेकलाल मुन्शी, भू० पू० राज्यपाल उत्तरप्रदेश)

ईसाकी चौदहवीं शताब्दीमें भारतके श्रेष्ठ ग्रन्थ और दर्शन-शास्त्र पृष्ठभूमिमें विलीयमान-से हो गये। यहाँतक कि पुराण भी लोगोंकी आवश्यकता पूर्ति न कर सके। ऐसी दशामें भक्तिका प्रभाव बढना स्वाभाविक था। भक्ति-रसके इस प्रवाहसे भगवान्‌के—विशेषकर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति-भाव विशेषरूपमें विकसित होने लगा।

(१)

इस प्रकार भक्ति-भावका जो विकास हुआ, उसके केन्द्र श्रीकृष्ण बने। भारतीय संस्कृतिमें उन्हें उच्चतम स्थान प्राप्त हुआ—काव्यमें, श्रेष्ठतम प्रेममें, धर्ममें वे स्वतः भगवान् हो गये, तत्त्वज्ञानके सर्वव्यापक परब्रह्म हो गये। उन्होंने भगवद्गीताका संदेश दिया, जिसने इस विभिन्न मतोंके देशमें शंकरसे तिलकतक, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधीतक सभी महान् भारतीयोंको प्रभावित किया। मनुष्यके आकारमें मानवताकी विजयके रूपमें श्रीकृष्णने कोटि-कोटि जनोंको प्रेरणा और प्रबोध प्रदान किया।

ऋग्वेदमें विष्णु सर्वज्ञ माने गये हैं–त्रिविक्रमो विश्वस्य और वरुण आकाशके देवता–भुवनस्य राजा। कालान्तरमें ऐतरेय-ब्राह्मणने विष्णुको देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ पदपर रखा और वेदोंमें जिन गाथाओंका सम्बन्ध अन्य देवताओंसे था, वे सब भगवान् विष्णुके नामसे प्रचलित हुईं। तैत्तिरीय-आरण्यकने उन्हें प्राचीन ऋषि नारायणका नाम दिया, जिन्हें विष्णुके अवतार-रूपमें पाञ्चरात्र सम्प्रदायवाले पूजने लगे। जब भगवद्गीताके मौलिक संस्करणकी रचना हुई, तब यदुकुलभूषण श्रीकृष्णको भगवान् विष्णुके उस अवतारके रूपमें स्वीकार किया जा चुका था, जिसने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखाया था। ये सभी कथन भगवान् वासुदेवके नामसे प्रचलित हुए, जिनकी पूजा विख्यात वैयाकरण पाणिनिके समय (ईसासे ५० वर्ष पूर्व) से ही चल रही थी। भगवान् वासुदेवके भक्त 'भागवत' कहलाये। ऐसे भक्तोंमें ग्रीक सम्राट्‌का भारतस्थित राजदूत हेलियोडोरस भी था, जो ईसासे २०० वर्ष पहले भारत आया था। गुप्त सम्राट् 'महाभागवत' कहलाते थे और गुप्तकालमें विष्णु और उनकी प्रिया लक्ष्मीकी पूजा व्यापक थी।

शंकरके उत्थानके पूर्व आळवारोंके नामसे प्र[illegible] रहस्यवादी और मत ही नहीं, भक्तिके उपदेशक भी थे। [illegible] परब्रह्मकी पूजा भगवान् वासुदेवके रूपमें करनेका [illegible] है। विष्णुपुराणकी रचना भगवान् विष्णुको वासुदेवके [illegible] कीर्तिमान् करनेके ध्येयसे हुई। भगवान् [illegible] दुर्बल और असहाय थे, इसलिये उन्होंने उनसे [illegible] प्रार्थना की।

भक्तिको सांसारिक प्रेमका प्रशंसित पद प्राप्त हुआ। नारदने भक्तिसूत्रमें उसकी व्याख्या करते हुए उसे [illegible] प्रेमकी प्रकृति कहा है। शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें इसे 'भगवान्‌के प्रति संलग्नता' की संज्ञा दी है। बादके [illegible] कारोंने इसे 'सांसारिक प्रेममें पुलकित होने [illegible]' (जैसा कि शकुन्तलाको दुष्यन्तके प्रति हुआ था) [illegible] बताया। नयी भक्ति एक ऐसी भावना थी, [illegible] प्रेरितकर भगवान्‌की पूजा करायी। उन्हें [illegible] लिये व्याकुल होनेको—यही नहीं, उनसे [illegible] बीचका व्यवधान दूर करनेको [illegible] भगवान्‌से उतनी ही अनुरक्तिसे प्रेम करे, जितनी [illegible] मानवीय सांसारिक प्रेम किया जाता है। ईसासे ८०० [illegible] पहले ही इस नये भावावेशने साहित्य [illegible] राधाकी सृष्टि करायी, जो पुराणोंकी [illegible] अपेक्षा अधिक मानवीय रूपमें भगवान् [illegible] बनायी गयीं। वे 'ध्वन्यालोक' (८५० ई०) [illegible] देवार्चन प्राप्त करनेवाली कही गयी। [illegible] (९८० ई०) के एक [illegible] अङ्कित किया गया है।

भागवतपुराणमें श्रीकृष्णको [illegible] युवक, राजनीतिज्ञ और [illegible] माना गया है। यह एक पुराण है। [illegible] ऐसा सुन्दर प्रभाव [illegible] नयी भावनाका [illegible] आकर्षण भी था। उसकी [illegible] सभी प्रदेशोंके [illegible] है। [illegible]

शुद्ध भक्तिकी अभिव्यञ्जना अद्भुत सुन्दरताके साथ की गयी है —

'जिस प्रकार पंखहीन पक्षिशावक माकी प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार क्षुधित बछड़े अपनी माताके स्तनपानके लिये,आतुर रहते हैं, हे कमलाक्ष! उसी प्रकार मेरा मन तुम्हारे लिये आकुल रहता है।'······· विष्णुके चरित्र सुनना, उनके गुणगान करना, उनका स्मरण करना, उनके चरणोंमें गिरना, उनकी पूजा करना, उनको नमन करना, उनकी सेवा करना, उन्हें मित्र-भावसे ग्रहण करना, उन्हें आत्मसमर्पण करना नवधा भक्ति मानी जाती है।

गोपियोंके प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं—'वे रातें' जब मैंने उनके प्रेमीके रूपमें वृन्दावनमें विहार किया, क्षणभरमें व्यतीत हो गयीं; पर जब मैं उनसे अलग हो गया, तब उनकी रातें अनन्त चक्रके समान हो गयीं।'·······इस प्रकार सैकड़ों लोग जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते, मुझे केवल प्रेमीके रूपमें मानते हैं और मुझको परब्रह्म-रूपसे प्राप्त करते हैं।'

(२)

ईसाकी दसवीं शताब्दीसे बहुत पहले ही दक्षिण भारतमें भक्तिने व्यापक स्थान प्राप्त कर लिया था। विष्णु और संकर्षण-के मन्दिर निर्मित हुए थे। अज्ञेयवादी एवं साधु, जो आळवार-नामसे प्रसिद्ध थे, घूम-घूमकर भजन गाते थे। वे भगवान्के पीछे पागल हो गये थे। उनमेंसे एक तो भिक्षुक था, दूसरा राजा, तीसरी थी एक भक्त स्त्री और चौथा अस्पृश्य। उन्होंने जिस नारायण-भक्तिका अनुसरण किया, शिक्षा दी, वह प्रगाढ़ प्रेम और आत्मसमर्पणके द्वारा ही प्राप्य थी और उसमें मनुष्यके दर्जा, रुचि और संस्कृतिका सवाल नहीं था। उनके भक्तिपूर्ण गान सर्वप्रिय हो गये और उन गानोंका नाम ही 'वैष्णववेद' पड़ गया।

आळवारोंके जानेके पश्चात् आचार्योंका उद्भव हुआ, जिन्होंने भक्तिको तत्त्वज्ञानका रूप दिया। १००० ई० में यामुनाचार्यने प्रपत्तिके सिद्धान्तको प्रस्तुत किया, जिसका अर्थ है—भगवान्को आत्मसमर्पण कर देना। यामुनाचार्यके प्रपौत्र-शिष्य रामानुज उनके उत्तराधिकारी बने। उन्होंने भक्ति-आन्दोलनको दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की और इसे एकेश्वरवादी धर्मके स्तरतक पहुँचा दिया। रामायण और महाभारतके बाद भागवतका प्रभाव भारतमें अत्यन्त शक्तिशाली प्रेरणाका साधन बन गया, जिससे पाँच महान् संतोंद्वारा अनेक विभिन्न मत प्रचारित हुए। ये महान् दार्शनिक संत अपनी विद्या, भक्ति और तर्कबलद्वारा नयी विचारधाराओंके संस्थापक बन गये। संस्कृतने जो भाषागत एकता और बौद्धिक एकता स्थापित की, उससे भारतके धार्मिक और नैतिक जीवनमें नया दृष्टिकोण लाना उनके लिये सरल हो गया। उनके कारण ही देशमें श्रीकृष्णके प्रति चेतनता और भावना जाग्रत् हुई। लगभग ११५० ई० में निम्बार्कने तिलंगानामें एक नये सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसमें श्रीकृष्ण और राधाकी शुद्ध भक्तिपर अधिक जोर दिया गया। उन्होंने कहा—'हम वृषभानुसुता राधाकी पूजा करते हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके वामाङ्गकी शोभा बढ़ाने-वाली देवी हैं और जो वैसी ही सुन्दरी हैं जैसे स्वयं श्रीकृष्ण हैं। राधाके साथ उनकी सहस्रों सखियाँ हैं। राधा एक ऐसी देवी हैं, जो सम्पूर्ण आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति करती हैं।' मध्व (११९२ से १२७० ई०) ने इससे भी अधिक सबल वैष्णव-सिद्धान्तकी स्थापना की।

ज्ञानेश्वरके गुरु कहे जानेवाले विष्णुस्वामी, जिनको वल्लभने भी गुरु स्वीकार किया है, एक शक्तिशाली उपदेशक साधु हो गये हैं, जिन्होंने राधाकृष्ण-सम्प्रदाय चलाया। यद्यपि उनके सम्बन्धमें बहुत कम बातें ज्ञात हो सकी हैं, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि भक्तिकी महाराष्ट्रीय विचारधाराके प्रमुख ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और बादमें तुकाराम हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण और उनकी पटरानी रुक्मिणीकी उपासना की। उनकी भक्तिमें विशुद्ध और निर्मल पति-पत्नीप्रेमका प्रतीक कान्ता-भावको माना गया है, जब कि श्रीकृष्ण और राधाके प्रेम (मधुर भाव) का उसमें अभाव है। इसी प्रकार श्रीचैतन्यने भी बंगालमें इस भक्तिके विकास और प्रचारमें बहुत काम किया।

ईसाकी दसवीं शताब्दीमें काह्नभट्टके प्रभावान्तर्गत बंगालमें बौद्धधर्मका आविर्भाव हुआ। काह्नभट्ट वैसे बहुत बड़े विद्वान् और कवि थे और बंगालमें उनका बड़ा नाम था, परंतु उन्होंने अवैध प्रेमका उपदेश दिया और यह भी कहा कि गुरुके प्रति शारीरिक और मानसिक दोनों ही रीतियोंसे पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देना मुक्तिमार्ग है। लोकगीतों और त्यौहारोंके द्वारा राधा-कृष्ण-प्रेमकी गाथाएँ पहले ही स्थान पा चुकी थीं। इन दोनोंकी संयुक्तशक्तिसे श्रीकृष्ण-भक्तिका मार्ग अधिकाधिक रूपमें प्रशस्त होता गया। ११ वीं शताब्दीमें उमापतिने और १२ वीं शताब्दीमें

गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवने उच्च कोटिकी कलात्मक इन्द्रियासक्ति-सूचक कृष्ण-सम्बन्धी कविताएँ लिखीं। गीत-गोविन्दकी भाषा, उसके भावात्मक लावण्य और छन्दप्रवाहने सारे देशके भक्तोंका ध्यान आकर्षित कर दिया और रचनाकालके १०० वर्षके अंदर ही यह काव्य उच्च श्रेणीका बन गया।

चौदहवीं शताब्दीमें बंगालस्थित विद्याके प्राचीन केन्द्र नवद्वीप (नदिया) में, जहाँ बौद्ध संन्यासियोंने प्रेमको ही निर्वाणका एकमात्र मार्ग बताते हुए उपदेश दिये थे, महान् भारतीय कवि चण्डीदासके भावावेगपूर्ण प्रेम-गीत गूँज उठे। यह विद्वान् विशुद्ध ब्राह्मण सहजिया-सम्प्रदायसे सम्बद्ध थे, जिसके अनुसार अपने मतका अवलम्बन करनेके लिये उनका किसी नीच जातिकी विवाहिता स्त्रीसे प्रेम करना आवश्यक था और उन्होंने अपना हृदय 'रामी' धोबिनको दे दिया। इस प्रेमके कारण चण्डीदासको प्रपीडित किया गया; पर जिस स्त्रीके प्रति उन्होंने अपने अमरगीतका गान किया था, उसके लिये उन्होंने सभी कष्ट सहे। 'तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं पिता। तुम्हीं वेद हो, गायत्री हो, तुम्हीं सरस्वती हो और तुम्हीं पार्वती भी' कहकर चण्डीदासने रामीके लिये आकुलता प्रकट की थी। उन्होंने प्रकटतया ऐसे धार्मिक कीर्तनोंकी रचना की, जो उनके अमर अनुरागके परि-चायक थे।

चण्डीदासके ये गान बंगालके संन्यासी और मध्वाचार्यके शिष्य माधवेन्द्रपुरीके कानोंमें तब भी गूँज रहे थे, जब वे मथुराके निकट वृन्दावन पहुँच गये थे। उन पवित्र कुञ्जोंमें, जहाँ श्रीकृष्णने राधासे प्रेम किया था, भक्ति-पक्षके सक्रिय केन्द्र बन गये। यमुना-तटके उन कुञ्जोंमें, जहाँ पवित्र प्रेमोत्सर्ग हुआ था, ये विद्वान् साधु इस तरह भटकते रहे, जैसे प्रेमविह्वला कुमारी गाती-बजाती अपने प्रेमीको ढूँढ़ रही हो। उन्होंने एक ऐसे मन्दिरकी स्थापना की, जिसने बंगाली भक्तोंको आकर्षित किया। १४८५ में उनका देहावसान हो गया; पर वे अपने पीछे कई नामी भक्त छोड़ गये, जिनमें ईश्वरपुरी भी थे।

ईश्वरपुरीने निमाईको अपना शिष्य बनाया। निमाई माधवेन्द्रके उपदेशसे श्रीकृष्ण-भक्त बन गये। 'मुझे छोड़ दो, मैं इस संसारका नहीं हूँ—मैं वृन्दावन जाकर अपने भगवान्से मिलूँगा' कहते हुए वे संसार छोड़कर संन्यासी हो गये और पागलकी तरह भगवान्को पुकारते हुए घूमने लगे। वे न केवल पूर्ण विद्वान् और संन्यासी थे, प्रत्युत उनमें ऐसी भावुकता भरी थी, जिसे वे इस प्रकार [illegible] थे जैसे किसी कन्याका प्रेमकी अमरतामें [illegible] हो। वे अपने प्रेमी भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति [illegible] प्रेमातिरेकसे सिहर उठते थे। उनका नाम [illegible] चैतन्य या गौराङ्ग पड़ गया। वे भक्तिकी [illegible] बन गये, उन्होंने वैष्णववादमें क्रान्ति उपस्थित कर दी।

चैतन्यने वृन्दावनको भक्तिका केन्द्र बना देनेकी [illegible] की थी। १५१० ई०में उनके शिष्य [illegible] सम्प्रदायकी स्थापना उन्हीं पवित्र कुञ्जोंमें की, जहाँ उनके गुरु रहते थे। १५१६ ई० में नवाबके दो मन्त्रियोंने [illegible] ग्रहण किया और मन्दिरका कार्यभार भी उन्होंने [illegible] लिया—इन दोनोंके नाम थे रूप और सनातन। उनके चचेरे भाई जीव गोस्वामीने वृन्दावनको भक्ति और [illegible] सजीव केन्द्र बना दिया। श्रीकृष्णके प्रति [illegible] अनुरागकी तरह प्रेम करना एक गरीब धर्म बन गया।

इस प्रकार इस देशमें भक्ति एक [illegible] शक्ति बन गयी, जिससे घर-घरमें प्रेम और [illegible] उठने लगीं और आर्य-संस्कृतिमें पुनर्जीवन [illegible]।

सोलहवीं शताब्दीमें भक्तिकी यह प्रेरणा [illegible] गुजरातमें फैल गयी और गुजरातके दो [illegible] कवि—मीराँबाई और नरसिंह (मेहता) [illegible] सम्प्रदायके साधुओं और भक्तोंसे प्रभावित हुए थे।

(२)

मीराँबाई मेड़ता (राजस्थान) के [illegible] थीं। इनका जन्म १५०० ई० के लगभग हुआ था। [illegible] सुदृढ वैष्णव भक्त थे और उनका प्रभाव [illegible] जीवनपर पड़ा। इनका विवाह चित्तौड़के [illegible] भोजराजके साथ हुआ था।* [illegible] १५१३ ई० [illegible] पतिका देहान्त हो गया। १५३२ में [illegible] विक्रम गद्दीपर बैठे। उस समय [illegible] डोल-सी थी; क्योंकि [illegible] पूर्ण युद्ध किया था, उसका [illegible] दे रहा था।

मीराँबाईको अपने वैधव्यका [illegible]

* एक दूसरी प्रचलित कथा यह है [illegible] कुम्भाकी रानी थीं और १४०३ ई० से १४७० [illegible] है।

भूल गया। वह भक्तों और साधुओंसे सदैव घिरी रहती थीं और स्वरचित भक्ति-रसके गान गानेमें मग्न रहतीं। राणाने साधुओंके साथ उनकी घनिष्ठतापर क्रोध किया और उनपर अत्याचार भी किये; पर मीराँ अडिग बनी रहीं। इसी समय उन्होंने 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई' पदकी रचना की और उसे गाया। राणाने इसे अपना अपमान समझा और मीराँको विष देकर मार डालनेको तैयार हो गये; परंतु मीराँकी दृढ़ता कम न हुई। उलटे उन्होंने वृन्दावन जानेकी ठान ली। भगवान् श्रीकृष्ण उनके लिये जीवित प्रेमीके समान थे। वे उनके दर्शन करने, उनकी वंशी सुननेके लिये विह्वल होकर चल पड़ीं। उन्होंने एक गोपिकाके रूपमें श्रीकृष्णकी समस्त लीलाओंका आनन्द लेनेका संकल्प किया। वे कृष्ण-विरहमें तड़पती हुई वृन्दावनकी ओर चल पड़ीं और उसी समय उन्होंने 'म्हारो दरद न जाणे कोय' की रचना की।

इसी तरङ्गमें मीराँ द्वारकावासके लिये गयीं। मीराँके चित्तौड़-त्यागसे राज्यपर दुर्भाग्यके बादल छा गये और सिंहासन-अधिकारी बदलते गये। अन्तमें राणाने चित्तौड़के इस दुर्भाग्यका कारण मीराँका विक्षोभ समझा और उसने प्रार्थना करके मीराँसे लौटनेका अनुरोध किया। मीराँने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तब राणाने ब्राह्मणोंसे अनुरोध किया, तो उन्होंने मीराँबाईके पास जाकर अनशन आरम्भ कर दिया और उनसे चित्तौड़ लौट चलनेका आग्रह करने लगे। इसपर मीराँ द्रवित हो गयीं और भगवान्से आज्ञा लेनेके लिये वे आँखोंमें आँसू भरकर भजन गुनगुनाते हुए मन्दिरमें गयीं और फिर बाहर नहीं निकलीं—भगवान्की मूर्तिमें ही लीन हो गयीं। यह घटना १५४७ की है।

(४)

मीराँको गुजरात और राजस्थान दोनोंके ही निवासी अपने यहाँकी होनेका दावा करते हैं। वैसे तो उनके गान सर्वत्र प्रचलित हैं। पर मथुरा-क्षेत्रके पार्श्ववर्ती भागमें उनका विशेष प्रचार है। हिंदी-जगत् इधर उन्हें हिंदी-कवि कहने लगा है; किंतु जिस शताब्दीमें मीराँबाई हुई थीं, उन दिनों इन सभी भागों—गुजरात, राजस्थान और व्रज-क्षेत्रकी भाषा एक ही-सी थी—पुरानी गुजराती, पश्चिमी राजस्थानी लगभग एक थीं। मीराँके पद आज भी इन दोनों क्षेत्रों—गुजरात और राजस्थानमें अधिक प्रचलित हैं।

(५)

भक्तिधाराके प्रवाहकोंमें रुद्र-सम्प्रदाय या पुष्टिमार्गके वल्लभाचार्यका नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जन्म १४७९ में हुआ। बचपनमें ये विष्णुस्वामीके अनुयायी थे। बादमें इन्होंने उन्हींके सिद्धान्तोंके आधारपर अपने सम्प्रदायकी स्थापना की। इन्होंने समग्र भारतकी यात्रा कई बार की। व्रजमें इन्होंने श्रीनाथजीकी स्थापना १५०६ ई० में की। १५३१ ई० में इनका शरीरान्त हो गया। वल्लभस्वामी भक्त तो थे ही, पर उससे भी अधिक छाप उनकी विद्वत्ताकी थी। उन्होंने अपना शरीर, इन्द्रियाँ, परिवार, धन-सम्पत्ति आदि सभी कुछ भगवान् श्रीकृष्णके अर्पण कर देनेकी प्रतिज्ञाको भक्तिका पूर्णाङ्ग माना और इसे कार्यरूपमें परिणत करनेका आदर्श सामने रखा। वल्लभस्वामीके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीने पिताकी परम्पराको और भी आगे बढ़ाया और श्रीकृष्णकी अष्टयाम सेवाका क्रम स्थिर किया।

विट्ठलनाथजीके वंशजोंने गुजरातमें जाकर अनेक मन्दिरोंकी स्थापना की और वहाँ उनके शिष्योंकी संख्या बहुत बढ़ी। सूरदास तथा अष्टछापके अन्य कवि, जिन्होंने अपनी सुमधुर रचनाओंसे मध्ययुगीय हिंदी—व्रजभाषाके साहित्यकी समृद्धि की, श्रीवल्लभाचार्य अथवा उनके सुपुत्रके ही शिष्य थे।

ईसाकी सोलहवीं शताब्दीमें गुजरातमें भक्तिको नयी प्रेरणा देनेवाले नरसिंह मेहताका आविर्भाव हुआ। सत्रहवीं शताब्दीमें नरसी भक्तके नामसे उनकी ख्याति सारे भारतमें हो गयी। भक्त नरसीको भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार समय-समयपर सहायता दी—यहाँतक कि उनकी हुंडीतक सिकार दी, यह कथा सारे देशमें प्रसिद्ध हो गयी। इनके पिता वड़नगरके नागर ब्राह्मण थे, परंतु इनका जन्म जूनागढके निकट तलाजा गाँवमें हुआ था। इनके पिताका देहान्त इनकी बाल्यावस्थामें ही हो गया था। बालक नरसिंह साधुओंकी संगतिमें आये और वे वृन्दावनसे प्रसारित भक्तिके रहस्योंसे परिचित हो गये। वे गोपियोंकी तरह नाचने-गाने लगे और श्रीकृष्णको अपना प्रेमी मानने लगे। उनके कृत्यसे उनकी जातिवाले चौंके और उनकी लगी हुई सगाई भी टूट गयी।

नरसीकी भौजाई जरा कर्कश स्वभावकी थी और नरसी कोई कमाई नहीं करते थे। इसलिये उन्हें उसकी बातें सहकर अपमानका जीवन व्यतीत करना पड़ता था। एक दिन उनकी भौजाईने बातों-ही-बातोंमें उन्हें मूर्ख कह दिया। बालक नरसीको बात लग गयी। वे जंगलमें चले गये और वहाँ एक परित्यक्त शिवलिङ्गकी पूजा करने लगे। एक मन्दिरमें उन्होंने सात दिनतक

२९— 'छाँड़ि दई कुल की कान, कहा करिहै कोई। संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥'

३०—

रासलीलामें नरसी मेहता
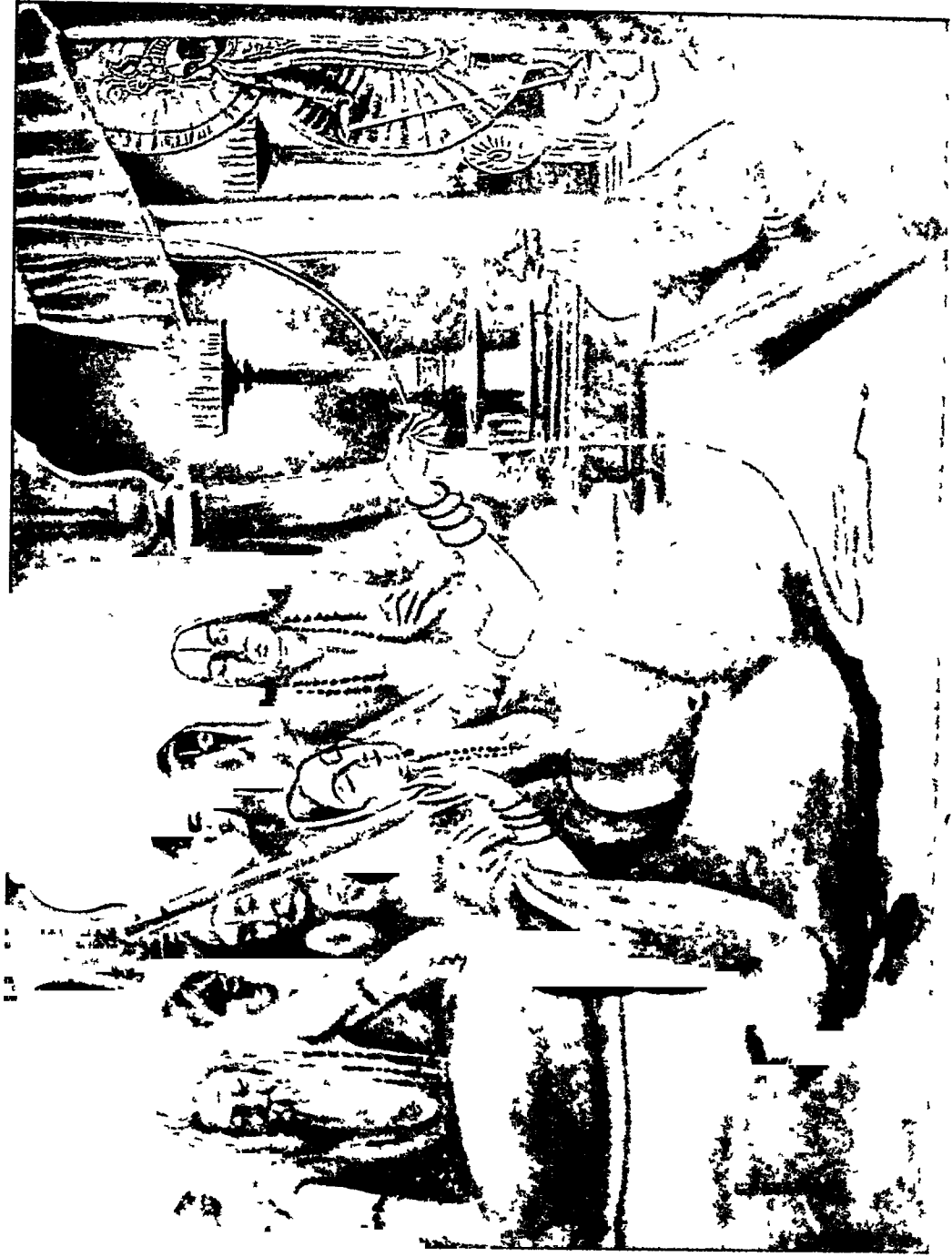
गोपनाथकी पूजा की। उनके ही शब्दोंमें भगवान् उन्हें गोलोकमें ले गये, जहाँ पहुँचकर उन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीला देखी और उनका भगवान् श्रीकृष्णसे जीवित सम्पर्क हो गया। उन्होंने अपनी भौजाईके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक गानकी रचना की, जिसका आशय यह था कि 'तुमने मुझे जो कटु शब्द कहे, उनके कारण ही मैंने गोलोकमें गोपीनाथका नृत्य देखा और धरतीके भगवान्ने मेरा आलिङ्गन किया।'

नरसिंह मेहताने अपना घर जूनागढमें बनाया और वहीं उनकी पत्नी माणिकबाईसे उन्हें कुअँरबाई नामकी कन्या और सामल नामक पुत्र हुआ।

नरसिंह कवि अवश्य थे; पर जैसा कि घर और गाँववालोंने समझ रखा था, वे मूर्ख नहीं थे। वे जातिवालोंके कृत्योंमें और विशेषकर सामाजिक अवसरों और रस्म-रिवाजोंमें सम्मिलित नहीं हो पाते थे; क्योंकि उनके पास एक करतालके सिवा और कुछ नहीं था। फिर भी उन्हें विश्वास था कि भगवान् श्रीकृष्ण उन्हे मदद देंगे। वे एक सच्चे भक्तके रूपमें सबको समान मानते थे। वे निम्न समझे जानेवालोंको आश्वासन देते, उनके प्रति सहानुभूति दिखाते और भगवान् श्रीकृष्णका यशोगान करनेमें मग्न रहते थे।

एक बार वे भजन गानेके लिये एक ढेड़ (चमार) के घर गये। यह बात जब उनके जातिवालों (नागरब्राह्मणों) को मालूम हुई तो उन्होंने नरसिंहको जाति-बाहर कर दिया। इस तरह सामाजिक तिरस्कारका शिकार बनकर ही उन्होंने यह पद गाया—

'निरधन ने नात नागरी, हरि न आपीश अवतार रे।'

अर्थात् हे भगवन्! अगले जन्मोंमें मुझे न तो निर्धन बनाना और न नागर जातिमें जन्म देना।

नरसिंहके पद सदियोंतक जन-जनकी जिह्वापर चढ़े रहे। वल्लभाचार्यके अनुयायियोंने नरसिंहको भगवान्का दूत कहा। इनके पदोंकी संख्या ७४० है, जो शृङ्गारमालाके नामसे संगृहीत और प्रकाशित हो चुके हैं। चैतन्य और मीराँकी तरह नरसिंह भी श्रीकृष्णको अपना जीवित स्वामी मानते थे। उनका विश्वास था कि वे भगवान् शंकरके साथ गोलोक गये थे और वहाँ राधा-कृष्णके नृत्यके समय उन्होंने मशाल दिखानेका काम किया था।

उनके अधिकाश पद श्रीकृष्ण और गोपियोंके विरह और मिलनसे सम्बन्धित है।

'मेरे प्रेमीने बाँसुरी बजा दी। [illegible] घरमें नहीं रह सकती, मैं ऐसी व्याकुल हूँ। [illegible] देखनेका क्या उपाय करूँ।'*

श्रीकृष्ण गोपीके साथ हैं और वह (गोपी) [illegible] सम्बोधन करके कहती है—

'दीपककी तरह न जलो। हे चन्द्र! आज [illegible] जाओ। आज रात मेरा प्रेमी मेरे साथ है, [illegible] हो चुकी है ··· तुम अपनी किरणें [illegible] न करो। [illegible] मेरा प्रेमी मुझे देखकर मुस्कराता है।··· [illegible] प्राण आज मुझे मिले हैं।'†

नरसिंहकी अन्य रचनाएँ श्रीकृष्ण-जन्म, [illegible], कालियदमन, दानलीला, मानलीला, सुदामा[illegible] [illegible] गमन आदि विषयोंपर हैं। उनकी सभी रचनाएँ [illegible] गेय पदोंमें विभाजित हैं; किंतु उनके [illegible] बहुत प्रचलित हैं, जो नरसिंहको वास्तविक [illegible] हैं। उनका वेदान्त पूर्णतः व्यावहारिक है। [illegible] है—

"तुम्हें जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद [illegible] उपलब्ध होगा। जब तुम 'मैं' और 'तुम' [illegible] जाओगे, तभी गुरु तुम्हारी मदद करेंगे।"‡

नरसीके कथनानुसार वैष्णव केवल [illegible] वाला नहीं होता—वह तो [illegible] है। [illegible] उदाहरणस्वरूप उन्होंने उस पदकी रचना की, [illegible] दिनों महात्मा गांधीने अपने जीवनका [illegible] था और जो इस प्रकार है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ [illegible]
परदुःखे उपकार करे तोये, मन [illegible]।

---

* वासळडी [illegible]
व्याकुल थई ने [illegible]

† दीपकनी [illegible]
वहालोजी [illegible]
[illegible]
प्राण नो [illegible]

‡ जीव ईश्वर अने [illegible]
[illegible]
हुं अने तुं [illegible]
गुरु [illegible]

सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि तेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे;
राम नाम शुं ताळी रे लागी, सकळ तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैंयो तेनुं दरसण करतां, कुळ एकोतेर तार्या रे।

नरसी भक्तने अपनी साहित्य-सृजन-शक्तिके द्वारा गुजरातीमें न केवल भक्ति-रसका अपूर्व प्रवाह बहाया प्रत्युत उसे महती शक्ति प्रदानकर इस योग्य बना दिया कि उसका प्रभाव बादके साहित्यकारोंपर भी पड़ा। इनकी रचना विशेषकर 'प्रभातिया' छन्दोंमें है, जो प्रातःकालीन प्रार्थनाओंमें गाये जाते है।

नरसिंह मेहताका स्वर्गवास परिपक्व अवस्थामें हुआ; इसलिये उन्हें अपनी अपूर्व रचनाओंद्वारा गुजराती साहित्यकी सेवा और ऐसी भक्ति-रस-पूर्ण काव्य-सृष्टि करनेका सुअवसर मिला, जिसका प्रभाव आजतक है और आगे भी रहेगा।

इस प्रकार भारतके महान् भक्ति-साहित्यमें इन दो भक्त कवियों, मीराँ और नरसिंह मेहताने भी पर्याप्त योगदान देकर अपने नाम अमर कर दिये और सदियाँ बीत जानेपर भी उनकी रचनाओंका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है।*

(अनुवादक—श्रीराजबहादुर सिंह)

गृहस्थ और भक्ति

(लेखक—बा० श्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, बंबई प्रदेश)

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः॥

शास्त्रोंमें कहा है कि जिस प्रकार वायुका आश्रय लेकर सारे जन्तु संसारमें जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थका ही आश्रय लेकर अन्य सब आश्रमों अर्थात् वर्गोंके नर-नारी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। अपने देशमें ऐसी अद्भुत विचारशैली कुछ दिनोंसे चली आ रही है, जिसके कारण गृहस्थको वह महत्त्व नहीं दिया जाता जो उसे देना चाहिये; और ऐसे लोगोंकी बड़ी प्रशंसा की जाती है, जो गार्हस्थ्य-जीवनसे परहेज करते हैं—उसमें या तो जाते ही नहीं या उससे विमुख होकर—उसे छोड़कर बाहर चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उचित है कि हम गृहस्थको उसका उपयुक्त स्थान दें, उसका महत्त्व पहचानें और उसको अपनी शक्ति और बुद्धिभर काम करनेमें उत्साहित करें और सहायता दें।

जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, वह स्थितिको थोड़ेमें बहुत सुन्दर प्रकारसे रख देता है। हमारे पूर्वपुरुषोंने जिस प्रकार मनुष्य-समाजको चार वर्णोंमें विभक्त किया था, उसी प्रकार उसके व्यक्तिगत जीवनको चार आश्रमोंमें विभाजित किया। प्रथम आश्रमका नाम 'ब्रह्मचर्य' बतलाया गया है। यह प्रत्येक व्यक्तिके जीवनका प्रथम खण्ड है। इसमें उसे अपने शरीर, अपने आत्मा, अपने मस्तिष्कको इस प्रकारसे सुशिक्षित और सुपरिष्कृत करनेका आदेश दिया गया है, जिससे कि वह संसारमें अपने कार्यके लिये सुचारुरूपसे प्रस्तुत हो सके। इसके बाद दूसरा आश्रम 'गार्हस्थ्य' का है। ब्रह्मचर्यके बाद व्यक्ति संसारमें प्रवेश करता है अर्थात् विवाह करके अपनी गृहस्थी स्थापित करता है और उसको समुचित रूपसे चलानेके लिये कोई उद्योग-धंधा करता है। जिस प्रकारकी शिक्षा उसने अपने प्रथमाश्रममें पायी है, उसीके अनुरूप वह संसारमें अपना काम भी निर्धारित करेगा।

सभी कार्य आवश्यक हैं, इसलिये सभी कार्योंका मान भी आवश्यक है। किसी पेशेको छोटा, किसीको बड़ा बतलाना या समझना अनुचित है। जहाँतक समझमें आता है, हमारे शास्त्रोंने ऊँच-नीचका भेद नहीं माना है, सबको अपना-अपना कार्य ठीक प्रकारसे करनेका उपदेश दिया है। भगवद्गीतामें लिखा है—योगः कर्मसु कौशलम्—जो कोई कार्य-कुशल है, वही योगी है। साथ ही यह भी कहा है—श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः—अपना धर्म अर्थात् अपना कर्तव्य-कार्य साधारण दृष्टिसे यदि गुणहीन भी प्रतीत हो, तो भी वही अपने लिये सर्वोत्तम है। ब्रह्मचर्याश्रममें व्यक्ति अपनेको संसारके लिये तैयार करता है और गृहस्थाश्रम-

* 'Gujarat and Its Literature' से संकलित।

में उस तैयारीका उपयोग करके उसे पूरा करता है। उसके अनुसार कार्य करके वह संसारकी गतिको बनाये रखनेमें सहायक होता है। श्रीकृष्णने उचित ही कहा है—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य.।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

ठीक ही है कि जो इस समाजरूपी चक्रको चलानेमें सहायता नहीं देता, उसका जीवन व्यर्थ है—वह आलसी और स्वार्थी है। संसारके चक्रको चलाते रहनेका कार्य गृहस्थोंके ही सुपुर्द किया गया है।

तीसरा आश्रम 'वानप्रस्थ' का बतलाया गया है। शब्दका अर्थ यह होता है कि इस आश्रममें गृहस्थीसे निकलकर वनकी ओर व्यक्ति जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संसारसे पूर्णरूपसे पृथक् हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि ससारमें रहकर भी वह ससारका नहीं रहता। वह किसी प्रकारसे किसी दूसरेके साथ जीविकाके लिये संघर्ष नहीं करता, जैसा कि गृहस्थोंको अनिवार्यरूपसे कभी-कभी करना ही पड़ता है। वह इस संग्रामसे अलग हो जाता है; तथापि यदि कोई दूसरे लोग—ब्रह्मचारी या गृहस्थ—उसके अनुभव, विद्या आदिसे लाभ उठाना चाहें तो वह बराबर उनकी सेवा-सहायता करनेको तैयार रहता है। यदि किसी व्यक्तिको और भी आयु मिली तो वानप्रस्थके बाद वह चतुर्थाश्रम अर्थात् 'सन्यास' भी ग्रहण कर सकता है, जब कि वह पूर्णरूपसे ससारसे पृथक् हो जाता है।

आरम्भमें उद्धृत श्लोकमें कहा गया है कि जिस प्रकार बिना वायुके कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिना गृहस्थके दूसरे आश्रमके लोग अपना निर्वाह ही नहीं कर सकते। ब्रह्मचारियोंकी शिक्षा-दीक्षाका सारा व्यय और उत्तरदायित्व गृहस्थको ही उठाना पड़ता है। आजीविकारहित असहाय ब्रह्मचारी अपना खर्च कहाँसे लावे, यदि गृहस्थ उसे न दे। जो माता-पिता इसकी सामर्थ्य रखते हैं, वे अपने बालक-बालिकाओंका व्यय-भार स्वयं उठाते हैं। कितने ही विद्यार्थी अन्य गृहस्थोंसे सहायता पाकर अपने अध्ययनका काम चलाते हैं। यदि बहुतोंको शासनकी ओरसे सहायता मिलती है तो शासन भी गृहस्थोंसे ही कर लेकर यह सहायता दे सकता है। वानप्रस्थ और संन्यासी भी अन्य गृहस्थोंपर ही भरोसा करके अपनी गृहस्थी छोड़नेका साहस करते हैं और यदि उन्हें अन्य गृहस्थोंकी सहायता न मिले तो उनका जीवन ही सम्भव न होगा। ऐसी अवस्थामें ठीक ही [illegible] सबसे श्रेष्ठ आश्रम है। [illegible] अवलम्बित है।

खेद है कि इस बड़े गौरवपूर्ण आश्रमका [illegible] देशमें वह आदर नहीं है, जो होना चाहिये [illegible] ऐसे लोगोंका ही आदर होता है, जो [illegible] छोड़ देते हैं और इस प्रकार वास्तवमें [illegible] अन्य लोगोंपर आश्रित हो जाते हैं। [illegible] गया है कि गृहस्थ स्वार्थी है। उसके मकान है, [illegible] उसे स्त्री और बच्चे हैं, उसका रोजगार है—[illegible] स्वार्थी समझा जाने लगा है। पर वास्तवमें [illegible] निःस्वार्थ दूसरा कोई नहीं है। गृहस्थ दिन-रात [illegible] करता है, अपनी स्त्री-बच्चोंको पालता है। [illegible] वानप्रस्थियों, सन्यासियोंको सहायता पहुँचाता है। [illegible] स्वय बहुत कम सुख उठाता है। अपने [illegible] बात उसे सहते रहना पड़ता है। [illegible] आवे डरते, निखट्टू [illegible] लड़ते।' [illegible] यह अनुभव होगा, विशेषकर सयुक्त हिंदू कुटुम्बोंके [illegible] का। उसीके पास सब लोग चंदेके लिये [illegible]। [illegible] प्रकारकी सहायताकी लोग आशा रखते हैं। [illegible] न दे सके तो उसे कटु वचन भी सुनने पड़ते हैं। [illegible] काम करता रहता है और अपना जीवन [illegible] व्यतीत करता है। [illegible] सो भी उन लोगोंके मुँहसे, जिनकी [illegible] करता रहता है, अवश्य ही बड़े दुःखकी बात है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मोह-माया [illegible] घेरे हुए रहती है कि वह छोड़ भी नहीं [illegible]। [illegible] अच्छा ही है कि अधिकतर लोग इसे नहीं छोड़ [illegible] सकते तो संसार ही अस्त-व्यस्त हो जाय। [illegible] जो गार्हस्थ्य-जीवनके गौरवको न समझते [illegible] है, उसके कुछ भयावह परिणाम [illegible]। [illegible] कोई संदेह नहीं कि जो [illegible] उनमें प्रवृत्ति तो स्वाभाविक [illegible] लोग स्वीकार करते ही हैं। इसमें कोई बुराई नहीं [illegible] जाती। पर [illegible] अनिवार्य रूपसे [illegible] कल्याणके लिये [illegible]। [illegible] वे [illegible]

की सम्भावना है। पर हम देख रहे हैं कि बहुत से उपयुक्त लोग पदोंको अस्वीकृत कर देते हैं, जिससे कोई उन्हें यह न कह सके कि वे स्वार्थी या लोभी हैं।

कामका बोझा उठानेकी अपेक्षा काम छोड़नेका अधिक गौरव माना जाने लगा है। अवस्था यह है कि ऐसे लोग कामकी झंझटसे भी बचते हैं और प्रशंसाके भी पात्र बन जाते हैं। जो झंझटमें पड़ते हैं, बड़े परिश्रमसे और प्रतिकूल स्थितियोंमें अपना कर्तव्यकर्म करते हैं, उनकी भर्त्सना होती रहती है। हमारे लिये उचित है कि ऐसे लोगोंका, जो कठिन कार्यको उठाते हैं, उसे समुचित रूपसे सम्पन्न करते हैं और उसके कारण हर प्रकारका कष्ट सहते हैं, हम उपयुक्त रूपसे आदर-सत्कार करें। संसारके जो देश इस समय समृद्धिशाली हैं, जो समाज इस समय पुष्ट और वैभवयुक्त हैं, वहाँ यही प्रथा है। हमें भी इसे स्वीकार करना चाहिये। तभी हम अच्छे लोगोंको सार्वजनिक कार्यकी तरफ आकृष्ट कर सकेंगे और इस प्रकार अपने देश और समाजको दृढ़ और पुष्ट करनेमें सहायक हो सकेंगे।

हमारी प्रचलित मनोवृत्तिका दूसरा दुःखद परिणाम यह हुआ है कि जब गार्हस्थ्य-जीवन और विविध जीविकाके साधनोंके प्रति सम्मानकी भावना नहीं है तो गृहस्थोंका मन छोटा हो जाता है और वे अपने कार्योंकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, जितना उन्हें देना चाहिये और अनुकूल परिस्थिति होनेपर देते भी। यह देखा जाता है कि हमारे घर प्रायः अव्यवस्थित रहते हैं और जबतक हमारी अपने घरके प्रति गौरव-बुद्धि न होगी, तबतक हम उनकी व्यवस्था ठीक नहीं कर सकेंगे। हम अपने पेशेके काम भी ठीक प्रकारसे नहीं करते और अन्य लोगोंको, जो हमारी सचाई और सफाईमें विश्वास होना चाहिये, वह नहीं होता। इस सबका एकमात्र कारण यह है कि हम गृहस्थको वह आदरका स्थान नहीं दे रहे हैं, जो उसे पानेका पूरा अधिकार है। वह आधे मनसे ही काम करता है। प्राकृतिक प्रेरणाओं और लौकिक आवश्यकताओंके ही कारण वह गृहस्थी और पेशेका बोझ उठाता है। उसके हृदयमें एक प्रकारकी विवशताकी भावना बनी रहती है।

आज हमारा गृहस्थ यह समझता है कि जो कुछ हम करते हैं, अपने दिन-प्रतिदिनके जीवन-निर्वाहमात्रके लिये अनिवार्य है। इस कारण हमको इसके लिये कोई मान और आदर नहीं मिलता। यदि हमें यह न करना पड़ता तो ही अच्छा होता। जब ऐसी भावना है, तब कोई भी अपना पूरा मन लगाकर काम नहीं कर सकता। यदि हम गृहस्थका आदर करना सीखें अर्थात् यदि हम एक दूसरेको समुचित मान प्रदान करें—क्योंकि हम सभी गृहस्थ हैं—और उन लोगोंका उतना अधिक सम्मान न करें, जो संसारकी जिम्मेदारियोंसे भागते हैं, तो हम अपने जीवनको ही बदल देंगे। और हममे एक नयी स्फूर्ति, जागृति, शक्ति और आत्म-सम्मानकी भावना पैदा हो जायगी, जिससे हम भी लौकिक बातोंमें समुचित उन्नति कर सकेंगे और अपनी गृहस्थीको सुखी बनाकर और अपने पेशेको ठीक तरह चलाकर एक नये समृद्धिशाली समाजकी सृष्टि कर सकेंगे और दूसरे देशोंकी केवल नकल न करके और उनसे ही सब वस्तुएँ न लेकर हम भी उन्हें कुछ दे सकेंगे। हमें याद रखना चाहिये कि हरेक व्यक्तिका यह धर्म है कि वह दूसरोंको कुछ अपने आचार-विचारसे सिखला सके और प्रत्येक राष्ट्रका भी यह कर्तव्य है कि वह दूसरोंको कुछ विशेष बातें बतलाकर सारे मनुष्य-समाजकी उन्नतिमें सहायक हो।

गृहस्थीसे ऊबकर उससे समयसे पहले भागना उचित नहीं है। साथ ही समयके बाद उसमें फँसे रहना भी शोभा नहीं देता। कथा है कि अपनी स्त्रीसे किसी कारण अप्रसन्न होकर कोई गृहस्थ घरसे जाने लगे। स्त्रीने ठीक ही कहा—

घर छोड़े गर हर मिले, तो आज हि छोड़ो कंत।
घर छोड़े घर घर फिरो, तो घर ही रहो वसंत॥

सब कार्यको समयसे करना चाहिये, इसीमें कल्याण है। इसीमें आत्मसम्मान है। इसीमें शोभा और श्रेय है, तथा इसीमें वास्तवमें सच्ची भक्ति भी है। जिस कामको हम उठाते हैं, उसे यदि हम ठीक प्रकारसे करते हैं तो हम सच्चे भक्त हैं।

हम अपनी वास्तविक भक्तिका परिचय इस प्रकार दे सकते हैं कि हमपर सब लोगोंको विश्वास रहे और किसीको भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे हमारे कारण धोखा न हो। हमारे देशमें कितने ही नकली भक्त पैदा हो गये हैं, जिनके वचन और कर्ममें बहुत अन्तर हो गया है। इसमें किसीका दोष नहीं है। वातावरण ही ऐसा हो गया है कि अनिवार्य-रूपसे बहुत लोगोंको इच्छा न होते हुए भी इस प्रकारसे अपने जीवनको परस्पर-विरोधी अङ्गोंमें विभक्त करना पड़ता है। अब समय आ गया है जब हमें सब बातों और स्थितियों-का समन्वय करना चाहिये। भगवान्‌की सेवा ही सच्ची भक्ति है और भगवान् सब समय सर्वत्र व्याप्त हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८ । ४६)

'जिस परमात्मासे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो सारे जगत्में सदा व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजकर—उसकी सेवा करके मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अतएव गृहस्थ अपनी स्वाभाविक प्रत्येक क्रियासे भगवान्की यथार्थ भक्ति कर सकता है और अपनी कमाईके द्वारा समाजके सब लोगोंकी सेवा करके अवशेष अमृतान्नसे अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ अन्तमें मानव-जीवनकी परम सफलतारूप परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है। सबकी सेवा ही यथार्थ यज्ञ है। गीतामें ही भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते [illegible]।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये [illegible]॥
([illegible])

'(सबको सबका हिस्सा देना [illegible]) [illegible] बचे हुए अन्नको खानेवाले सत्पुरुष [illegible] पापोंसे [illegible] हैं और जो पापीलोग केवल अपने लिये ही [illegible] कमाते-खाते हैं, वे पाप ही खाते हैं।'

यह महत्त्वकार्य सद्गृहस्थ ही भलीभाँति [illegible] है। जो इस कार्यमें अच्छी तरह [illegible] हमें ऐसे सद्गृहस्थोंकी प्रचुर संख्यामें आवश्यकता है। [illegible] है ऐसे सद्गृहस्थ बनते रहेंगे और [illegible] साथ ही मानवजीवनके परम [illegible] पालन [illegible] जीवन होंगे।

भक्ति

(लेखक—डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी, मुख्यमन्त्री, उत्तरप्रदेश)

मैं 'कल्याण'के सम्पादक महोदयके अनुरोधका समादर करके भक्तिके सम्बन्धमें कुछ लिख रहा हूँ; परंतु मुझे यह आशङ्का है कि इस अङ्कमें जितने भी लेख होंगे, उनके लेखकोंमेंसे स्यात् ही किसीकी सम्मति मेरा समर्थन करेगी।

मेरी कठिनाई यह है कि परमार्थ-सम्बन्धी किसी विषयकी चर्चा करते समय मैं इस बातको आँखोंसे ओझल नहीं कर सकता कि अभ्युदय और निःश्रेयसके सम्बन्धमें हमारे लिये श्रुति एकमात्र स्वतःसिद्ध प्रमाण है। अभ्युदयकी बात जाने दीजिये; निःश्रेयसके विषयमें कोई दूसरा ग्रन्थ, किसी महापुरुषका कथन, श्रुतिका समकक्ष नहीं माना जा सकता। यदि भक्ति श्रेयस्कर है तो उसका पोषण श्रुतिसे होना चाहिये। यहाँ 'पोषण' शब्दसे मेरा तात्पर्य स्पष्ट आदेशसे है। यदि भक्तिका विवेचन कहीं असंदिग्ध शब्दोंमें श्रौतवाङ्मयमें मिल जाय, तब तो किसी ऊहापोहके लिये जगह रहती ही नहीं। यदि ऐसा न हो तो फिर तर्कके लिये जगह निकलती है। वेद-मन्त्रोंकी मीमांसाके लिये सर्वसम्मत नियम बने हुए हैं। यास्क, जैमिनि और व्यास—इस क्षेत्रके अधिकृत नेता हैं। यदि कहीं वेद-वाक्योंकी शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार मीमांसा करनेसे भक्तिकी पुष्टि होती हो, तब तो किसी आपत्तिके लिये कोई स्थल नहीं रह जाता। अन्यथा खींचातानी करके वेदार्थका तोड़-मरोड़ करना और उससे मनमाने अर्थ निकालना [illegible] है और श्रुति-मर्यादाके सर्वथा विरुद्ध है।

मैं यह दावा नहीं कर सकता कि [illegible] उपलक्षित सारे वाङ्मयका अध्ययन किया है। [illegible] कहना यथार्थ न होगा कि मेरे द्वारा [illegible] पन्नोंपर दृष्टिपात नहीं हुआ है। [illegible] लीजिये। जहाँतक मैं देख पाया हूँ, [illegible] किसी भी प्रसिद्ध [illegible] यह शब्द नहीं [illegible] कहीं आ भी गया होगा तो उसका [illegible] नहीं होगा, जिस अर्थमें हम उसका [illegible] करते हैं। अब 'ब्राह्मण'को लीजिये। [illegible] छोड़कर ब्राह्मणोंका शेष [illegible] उसमें भक्तिकी बात ही नहीं [illegible]। [illegible] भाग बच रहता है। इस [illegible] पुस्तकें पुरानी [illegible] हैं। [illegible] तत्तत्सम्प्रदाय [illegible] है। [illegible] तापनी, [illegible] इस कोटिमें आते हैं। [illegible] कुछ नहीं कहता कि [illegible] प्रामाणिकता कहाँतक है; परंतु [illegible] सहमत होंगे कि जिन [illegible] उपनिषदोंपर [illegible]

आचार्योंने भाष्य किये हैं, वे निश्चय ही प्रामाणिकरूपसे उपनिषद् नामभाक् कृतियाँ हैं। शंकरने श्वेताश्वतरपर भी भाष्य किया है। परंतु इस पुस्तककी गणना 'ईशावास्य' आदि दस उपनिषदोंके बराबर नहीं होती। अब यदि इन दस ग्रन्थोंको देखा जाय तो इनमें भी भक्तिका कहीं पता नहीं चलता।

मोक्षके उपाय सभी उपनिषदोंमें बताये गये हैं, परंतु कहीं भी इस प्रसङ्गमें भक्तिकी चर्चा नहीं आती। नचिकेता-को यमने—

विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
(कठ० २।३।१८)

—इस ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधिकी दीक्षा दी, जिससे नचिकेताको मोक्षकी प्राप्ति हुई। वहीं यह भी लिखा है कि जो दूसरा कोई भी इस मार्गका अवलम्बन करेगा, वह मुक्त होगा। छान्दोग्यमें कई विद्याओंका उपदेश है, परतु उनमें भक्तिकी गणना नहीं है। इसका तात्पर्य क्या है? क्या वैदिक कालमें कोई मुक्त नहीं हुआ? क्या जिसको वे लोग मुक्ति मानते थे, वह कोई दूसरी चीज थी? क्या वेद मोक्षके विषयमें प्रमाण नहीं हैं? यदि यह बात हो तो फिर हिंदुओंके पास कोई भी धार्मिक आधार नहीं रह जायगा; क्योंकि श्रुतिको छोड़कर ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है, जो सर्वमान्य हो।

बहुधा यह कहा जाता है कि कलियुगमें मोक्षका भक्ति ही एकमात्र साधन है। दूसरे युगोंके मनुष्य आजकी अपेक्षा अधिक समर्थ होते थे। अतः उनका काम दूसरे साधनोंसे चल जाता था। मैं ऐसा समझता हूँ कि यह कथन निराधार है। यह माननेका कोई भी आधार नहीं है कि प्राचीन कालमें लोग आजकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते थे। किसी-किसी पौराणिक ग्रन्थमें भले ही लोगोंकी आयु सहस्रों वर्षकी बतायी गयी हो, परंतु सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद पुकार-पुकारकर कहता है—शतायुर्वै पुरुषः, पुरुषकी आयु सौ वर्षकी है। वेद आजसे कितने वर्ष पहलेकी बात कहता है, यह भले ही विवादास्पद हो; परंतु बुद्धदेवके समयके, जिसको २५०० वर्ष हो गये, लिखित प्रमाण तो मिलते ही हैं। उस समय भी पूर्णायु लगभग १०० वर्षकी थी। मिश्रसे ५००० वर्ष पूर्वके जो लेख उपलब्ध होते हैं, उनसे भी इससे अधिक आयुका पता नहीं चलता। दीर्घायु ही नहीं, पुराने समयमें अल्पायु व्यक्ति भी होते थे। भगवान् शंकराचार्यने ३२ वर्षकी आयुमें ही अपनी इहलीला समाप्त कर दी। जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे यह भी सिद्ध नहीं होता कि पहलेके लोग आजकी अपेक्षा अधिक डील-डौलवाले होते थे। जिन ग्रन्थोंका निर्माण उन लोगोंने किया है, आजका मनुष्य उनको भी पढता है और उनसे कहीं अधिक और जटिल ग्रन्थोंको भी पढता है। उसने भले ही अपनी प्रतिभाका कुछ दिशाओंमें दुरुपयोग किया हो, परंतु प्रतिभाके अस्तित्वमें संदेह नहीं किया जा सकता। अतः आजके मनुष्यको किसी भी पहले समयके मनुष्यसे हीन मानना असिद्ध है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि जो उपाय प्राचीन समयके लोगोंके लिये सुसाध्य थे, वे आजकलके मनुष्यके लिये दुस्साध्य हैं। फिर इस काल-के लिये नये और सरल उपायोंकी आवश्यकता क्यों पड़ी? क्या सचमुच कोई सरल उपाय निकला है और यदि निकला है तो क्या वह वेदोक्त प्राचीन उपायोंसे भिन्न है, अथवा किसी प्राचीन परिपाटीको ही नया नाम दे दिया गया है? शाण्डिल्य-सूत्रके अनुसार भक्तिकी परिभाषा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यजुर्वेद-कालके पहले वेदमें 'ईश्वर' शब्दका व्यवहार नहीं आता। शुक्ल-यजुर्वेदके अवतरणकी कथा स्वयं यह बतलाती है कि वह सबके पीछे प्रकट हुआ। उसमें भी 'ईश्वर' शब्द रुद्रके लिये ही आया है। इसको जाने दिया जाय। मान लिया जाय कि ईश्वरका वहाँ भी वही अर्थ है, जो आज साधारण बोलचालमें आता है। यदि यह माना जाय कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' है तो बहुत अंधेर हो जायगा। पुण्य और अपुण्यके लिये कोई आधार नहीं रह जायगा। ऐसी कल्पनाका साधारण लोगोंपर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसा माना जाने लगा है कि मनुष्य चाहे कितने भी दुष्कर्म करे, भगवान्‌का नाम स्मरण करनेसे सब पापोंसे छूट जाता है! कहाँ तो श्रुतिकी यह शिक्षा थी—

'नाविरतो दुश्चरितात्' आदि।

—दुश्चरित्रसे विरत हुए बिना कोई मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता और कहाँ यह धारणा कि किसी भी प्रकारकी पूजा-अर्चना मोक्षका द्वार खोल देती है। उसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ा है कि सच्चरित्रताका मोक्षकी प्राप्तिमें कोई स्थान ही नहीं रह गया। लाखों मनुष्य सत्यनारायणकी कथा पढवाते हैं, जिसमें कहीं भी सत्यनिष्ठाका उपदेश नहीं है। भगवान्

मानो उत्कोचके भूखे हैं। 'भक्तमाल' प्रसिद्ध भक्त नाभाजीकी कृति है। उसमें बहुत-से भक्तोंकी कथाएँ हैं। ऐसे भी भक्तोंका उल्लेख है, जो चोरी करके मन्दिर बनवाते हैं और भगवान् उनसे प्रसन्न होते हैं। तोतेको पढ़ानेवाली गणिका और पुत्रको नारायण नामसे पुकारनेवाला अजामिल दोनों गोलोकगामी होते हैं। कोई भी सिद्धान्त हो, उसके लिये फलेन परिचीयते का तर्क लागू होता है। जिस किसी सिद्धान्तकी शिक्षा मनुष्यमें इस प्रकारकी प्रवृत्ति उत्पन्न करती हो, वह निश्चय ही दूषित है। भक्तिका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु बारम्बार यह कहना कि वह बड़ा सरल मार्ग है, भ्रामक है। मोक्षका उपाय कदापि सरल नहीं हो सकता। उसके लिये कठोर व्रतकी आवश्यकता होगी और उस मार्गपर चरित्रहीन व्यक्तिके लिये कदापि स्थान नहीं हो सकता। भगवान्के नामपर दम्भ और दुराचार उसी प्रकार अक्षम्य हैं, जैसे किसी देवी और देवताका नाम लेकर जिह्वाके स्वादके लिये निरीह पशुकी बलि देना। प्राचीन कालमें मनुष्यको कर्मपर भरोसा था और वह आत्मनिर्भर होता था। उसके लिये उपनिषद्का यह उपदेश था—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः; परंतु जबसे उसको सरल मार्गका प्रलोभन मिला और ऐसे ईश्वरका परिचय बताया गया, जो कर्मको अपनी इच्छासे काट सकता है, तबसे वह पथभ्रष्ट हो गया।

'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'
'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावइ साखा॥'

'सुने री मैंने निर्बलके बल राम।'

—ऐसे उपदेशोंका प्रचार निश्चय ही मनुष्यकी आत्मनिर्भरताको कम करता है और वह इस बातको भूलकर कि मोक्षका मार्ग—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

—छूरेकी तीखी धारके समान दुर्गम है, उसपर चलना कठिन है, सीधे-सादे रास्तोंके भ्रमजालमें पड़ जाता है और यह समझता है कि ईश्वर उसको अवश्य ही भवसमुद्रके पार कर देगा। जिस अगाध समुद्रको पार करनेकी बात सोचकर महातपस्वियोंके हृदय काँपते हैं, उसको वह गोष्पदके समान लाँघ जाना चाहता है! यह ठीक है कि यो यच्छ्रद्धः स एव सः—जो जिसका निरन्तर ध्यान करता है, वह तद्रूप हो जाता है; जिसका चित्त [illegible] भगवद्रूपके चिन्तनमें लगा रहेगा, वह [illegible] हो जायगा। परन्तु चित्त लगना हँसी-खेल नहीं [illegible]। [illegible] कितनी शक्ति है, इसका कुछ प्रत्यक्षमें अनुभव [illegible]। किसीसे संकल्प करके प्रेम करना बड़ा कठिन [illegible]। यह निश्चय करके कि अब मैं भगवान्का भक्त हूँ [illegible] करूँगा, और लोगोंकी ओरसे चित्तको हटा लूँगा—[illegible] कहनेमें सरल प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः बहुत कठिन चीज है। जब किसी दृश्य व्यक्तिके साथ प्रेम करना कठिन होता है, तब अदृश्य व्यक्तिके प्रति—ऐसी सत्ताके प्रति जो अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् है, [illegible] अनुरक्ति [illegible] होगी। अनुरक्तिका आभास हो सकता है, [illegible] चित्तको एक प्रकारके आनन्दकी अनुभूति भी [illegible] है; परंतु 'परानुरक्ति' बहुत कठिन है। यह कहना [illegible] है कि भक्तिका मार्ग सरल है।

जब भक्ति सरल नहीं है और [illegible] है, तब फिर वह है क्या? मेरी निजी सम्मतिमें इस प्रश्नका उत्तर 'पातञ्जलयोग-दर्शन' में मिलता है। जो [illegible] की बात कही जाती है, उसका [illegible] सूत्र हैं—

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।' 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'
'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें कहा है, [illegible] अर्थात् जो योगमें ऊँची गति प्राप्त कर [illegible] पराकाष्ठातक पहुँचनेके पहले ही [illegible] पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेना है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे [illegible]।
अथवा योगिनामेव कुले [illegible]।

अथवा जन्मसे ही उसकी प्रवृत्ति [illegible] या तो अपने [illegible] होकर वह शीघ्र ही अपना [illegible] है। [illegible] जो नित्य [illegible]

[illegible] करते हैं, परन्तु वे [illegible] होते हैं। [illegible] सिवा दूसरी गति नहीं है। [illegible] सत्सङ्ग है। [illegible]

होते हैं, साधारण साधकको इनके लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह आगे बढ़ता है, परंतु फिर कोई त्रुटि उसको पीछे खींच लेती है। कबीरके शब्दोंमें—

कहत कबीर टुक बाग ढीली करें,
उलटि मन गगनसे जमीं आयौ।

उसको नियमोंका भी बहुत अभ्यास करना पड़ता है और नियमोंमें 'ईश्वर-प्रणिधान' की भी गिनती है। अकेला 'ईश्वर-प्रणिधान' पर्याप्त नहीं है। जब वह यमों और दूसरे नियमोंके साथ अभ्यासका विषय बनाया जाता है, तभी वह कल्याणकारी होता है। 'ईश्वर-प्रणिधान' के बिना भी योगका अभ्यास हो सकता है, परंतु उसमें कभी-कभी स्खलनकी आशङ्का होती है और आत्मनिर्भरता दुरभिमानमें बदल सकती है। ईश्वर-प्रणिधान इस दोषका परिहार कर देता है। इसीलिये श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि 'भक्ति' नामका मोक्षके लिये कोई स्वतन्त्र साधन नहीं है। वह या तो 'ईश्वर-प्रणिधान'का नाम है और या योगाभ्यासकी क्रियाका। धारणाके लिये अनेक अवलम्बन हो सकते हैं, जिनमेंसे कुछका उल्लेख विभिन्न विद्याओंके नामसे उपनिषदोंमें आया है; और भी अनेक प्रकारके अवलम्ब हो सकते हैं। वीतराग-पुरुषके रूपमें साधक अपने उपास्य या गुरुको धारणाका सहारा बना सकता है। किसी भी अभीष्ट मन्त्रका जप कर सकता है अथवा उन उपायोंसे काम ले सकता है, जिनकी दीक्षा सुरत-शब्द-योगके आचार्योंने दी है। किसी भी अवलम्बनका सहारा लिया जाय, परिणाम एक ही होगा, अनुभूति एक ही होगी। यदि भक्ति योगाभ्यासका दूसरा नाम नहीं है और योग-दर्शनोक्त ईश्वर-प्रणिधानका भी अपर नाम नहीं है तो वह मृग-मरीचिका है। प्राचीन बातोंको असाध्य बताने और आजकलके मनुष्योंको दुर्बलताका पाठ पढ़ानेका पिछले कुछ सौ वर्षोंमें इस देशमें पर्यावरण छा गया है। दुर्बलको लकड़ीका सहारा चाहिये ही। मार्ग तो वही प्रशस्त योग-मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है, परंतु जिसको बार-बार दुर्बल कहा गया, उससे इस कठिन मार्गपर चलनेके लिये कैसे कहा जाय। इसलिये 'भक्ति' नाम प्रचलित हुआ। जो सच्चे साधक थे, उनकी तो कोई क्षति नहीं हुई। नाम भले ही नया हो, किंतु वस्तु वही पुरानी थी, वही चिर-अभ्यस्त सनातन कालसे परीक्षित 'राम-बाणवत्'—मूल ओषधि थी। उन्होंने उसीको ग्रहण किया और निःश्रेयस-पदको प्राप्त किया। परंतु साधारण साधक धोखेमें पड़ा रह गया। उसका अकल्याण हुआ। दुर्बल बताकर सन्मार्गसे तो वह हटा दिया गया और दूसरा कोई मार्ग है नहीं, इसलिये भटकता रह गया।

विचित्र तमाशा देखनेमें आता है। कबीर, नानक-जैसे संत स्वयं योगी थे, योगके ही उपदेष्टा थे, परंतु अपनी रचनाओंमें योगका खण्डन करते थे। इन महात्माओंके नामपर प्रचलित पंथोंमें योगक्रियाओंको 'भजन' कहा जाता है। अच्छे योगाभ्यासीको भजनानन्दी कहा जाता है।

मेरा यह दृढ़ मत है कि मोक्षके लिये केवल वही एक मार्ग है, जिसका उपदेश यमने नचिकेताको दिया था। नचिकेताने श्रवण और मननद्वारा वेदोंके सिद्धान्तोंका ग्रहण किया और निदिध्यासनकी अवस्थामें योगका अभ्यास किया। भले ही किसी आग्रहके कारण 'योग' शब्दका बहिष्कार करके इसको भक्ति नामसे कहा जाय, परंतु योगसे भिन्न भक्ति नामका कोई दूसरा साधन नहीं है। किसी दूसरे साधनपर विश्वास करना जन्म-जन्मान्तरके लिये अपनेको दुःखमे डालना है। योगके द्वारा ही चित्तके मल, विक्षेप और आवरण दूर हो सकते हैं और जीव अपनी शुद्ध-बुद्धिस्वरूपमें स्थित हो सकता है। एक और बात है, जबतक 'अहमन्यः, अयमन्यः' का भाव बना रहेगा, कितनी ही झीनी क्यों न हो जाय द्वैत-प्रतीति बनी ही रहेगी, तबतक मोक्ष नहीं हो सकता। जहाँतक भक्तिकी बात है, उसमें द्वैतभाव निश्चयरूपसे निहित है; बहुत-से भक्तोंने किसी-न-किसी रूपमें यह कहा है कि हम मोक्ष नहीं चाहते, अनन्त कालतक भगवान्के सौन्दर्यके आनन्दका अनुभव करते रहना चाहते हैं। यह अनुभव कितना भी सुखद क्यों न हो, द्वैतमूलक है और यत्र द्वैतं तत्र भयम्। उपनिषत्-प्रोक्त साधन ही जीवके लिये पूर्ण कल्याणका देनेवाला है, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहता हूँ कि जिन लोगोंको ईश्वरके प्रति परानुरक्ति प्राप्त हो भी जायगी, उनको जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। गीताके अनुसार जीव शरीर-त्यागके समय जिस भावका स्मरण करता है, उसीको प्राप्त होता है। भगवान्की भावना करनेवाला भगवान्को तो प्राप्त होगा, मोक्षको नहीं। कितना ही हलका क्यों न हो, जीव और ईशके बीचमें परदा रहेगा। यह

ध्यान देनेकी बात है कि भक्तिमार्गके पोषक द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या द्वैताद्वैतवादी रहे हैं। शुद्धाद्वैतवादीका ब्रह्म अपनी लीलासे जगत्‌रूपमें आता है और अपनी इच्छा-मात्रसे इस लीलाका संवरण करता है। प्रपन्न जीव उसके साथ अपनी तात्त्विक अभिन्नताको जानते हुए भी इस लीलाका आनन्द लेना चाहता है। लीलामय भगवान्‌के साक्षात्कार-से उसमें अपूर्व रसकी निष्पत्ति होती है। 'रसो वै सः' इस न्याय-के अनुसार रसानुभूति भी भगवत्साक्षात्कार ही है। अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार—और मेरी बुद्धि इसीको स्वीकार करती है—ये सारी बातें मोक्षके नीचेकी कोटिकी हैं। ईश्वर या परमात्मा—चाहे जिस नामका प्रयोग किया जाय, वह माया-शवल ब्रह्म है, शुद्ध ब्रह्म नहीं। शुद्ध मोक्षकी अवस्थामें जीव और ईश्वर दोनोंकी समाप्ति हो जाती है। रसका प्रश्न नहीं उठता। जहाँ द्वैत नहीं है, वहाँ कौन किसको देखे, कौन किसके साक्षात्कारका आनन्द ले। शंकरके कथनानुसार 'परमात्मपद' तक पहुँचे हुए जीव सुदीर्घ कालतक उस अवस्थामें रहते हैं, जिसको ब्रह्मलोक कहते हैं। कालान्तरमें उनके मायारूपी आवरणका क्षय हो जाता है और तब उनको पूर्ण मोक्षकी प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गपर चलनेवाला अपने-को योगी कहे या न कहे, परंतु वह योगपथपर ही चल रहा है। अतः उसको वे सब अनुभूतियाँ होती हैं, जो योगीको होती हैं। यहाँतक कि सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं; परतु वह ऐसा नहीं कहता और उसको ऐसा प्रतीत भी नहीं होता कि [illegible] सिद्धि है। उसको तो ऐसा लगता है कि वह स्वयं निमित्तमात्र है। जो कुछ करता है, उसकी आड़में उसका उपास्य [illegible] है।

> ना कुछ किया, न कर [illegible], [illegible] [illegible] ।
> जो कुछ किया सो हरि किया, [illegible] ॥

योगीको विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। जिस [illegible] वह इस भूमिकामें प्रवेश करता है, उस समय एक डर [illegible] है। पतञ्जलिने कहा है कि न तो सङ्ग करना चाहिये और न स्मय। दोनों अवस्थाओंमें पतनकी आशङ्का है। तात्पर्य यह है कि न तो [illegible] शक्तियोंसे काम लेना चाहिये और न यह अभिमान [illegible] ही आना चाहिये कि मैं इतना बड़ा हो गया कि ऊँचे [illegible] दैवी शक्तियाँ मेरे चरणोंपर लोट रही हैं। भक्त इस [illegible] स्थलको सुकरतासे पार कर जाता है, क्योंकि उसको [illegible] अभिमान होने ही नहीं पाता कि मैंने कोई बड़ा [illegible] है। इस दृष्टिसे भक्तिमार्गमें थोड़ी अच्छाई है, [illegible] योगियोंका इस जगह स्खलन नहीं होता। [illegible] भी पार कर जाता है और उसको [illegible] होता है, वह आगेके मार्गको और भी प्रशस्त [illegible] है। [illegible] मार्ग कुछ हदतक कष्टकारीर्ण होते हुए भी [illegible] योगका ही अवलम्बन करना [illegible]*।

---

* विद्वान् लेखकके कथनानुसार अवश्य ही यह लेख इस अङ्कमें प्रकाशित अन्यान्य लेखोंमें [illegible] 'कल्याण' की नीतिकी दृष्टिसे भी इस लेखकी बहुत-सी बातोंके साथ निश्चित मतभेद है। [illegible] परखा है, उसको देखनेके दूसरे भी दृष्टिकोण हैं। तथापि 'किसी प्रश्नपर विचार करनेमें सभी पक्षोंको [illegible]—इस नीतिके अनुसार यह लेख अक्षरशः आदरपूर्वक प्रकाशित किया जाता है। इसमें तर्कबुद्धिके आधारपर विचार [illegible] अनुगामी एक विचारशील और ईमानदार विद्वान् महानुभावका मत है, जो विचार करने योग्य है और दूसरे दृष्टिकोणसे इस लेखपर [illegible] करनेपर, सम्भव है, किन्हींका अपना दूसरे दृष्टिकोणसे दिखनेवाला सिद्धान्त और भी परिपुष्ट हो जाय।

हाँ, जहाँतक भक्तिकी सरलताका सम्बन्ध है, वहाँतक यह निर्विवाद है कि ज्ञान तथा योगकी अपेक्षा [illegible] बारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने सुस्पष्ट कर दिया है—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। [illegible]

इस लेखके आदरणीय विद्वान् लेखकने भी 'भक्त अपने उपास्यके आश्रित होनेसे अभिमान [illegible] जाता है, क्योंकि उसको यह अभिमान होने ही नहीं पाता कि मैंने कोई बड़ा काम कर लिया है।—[illegible] थोड़ी अच्छाई है'—यह स्वीकार किया है।

पर इस सरलताका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भक्तको सच्चरित्र होनेकी आवश्यकता नहीं है [illegible] निश्चित साधनोंका आचरण निष्प्रयोजनीय है। बल्कि गीतामें भक्त या भक्तिमान् पुरुषके [illegible] श्लोकतक बतलाये हैं, वे ऐसे हैं जो चरित्रशुद्धि या यम-नियमके बिना [illegible] भक्त हो ही नहीं सकता। जिसने अपनी सारी ममता, आसक्ति अपने उपास्य भगवान्‌को [illegible] और संयमी होगा। जो कुछ भी हो, इन विद्वान् लेखकके हम कृतज्ञ हैं, जो इन्होंने स्पष्टरूपसे अपने [illegible] सुअवसर दिया है और मतभेदकी बातोंको छोड़कर प्रशंसा करने [illegible]

यह लेख खण्डन-मण्डनपरक लेखोंकी परम्परा चलानेके लिये नहीं [illegible] रूपमें आये हुए लेखोंको प्रकाशित करनेका विचार नहीं है।

[illegible]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोग

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका और विशेषकर उपनिषदोंका सार है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः ॥
(४३ । १-२)

'केवल गीताका ही भलीभाँति गान (श्रवण, कीर्तन, पठन, पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ-भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं। श्रीगङ्गा सर्वतीर्थमयी है और मनुस्मृति सर्ववेदमयी है।'

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी यह कहा है कि सब शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ तू मुझसे सुन—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥
(गीता १३ । ४)

'यह तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक निरूपित है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

अतएव हमलोगोंको गीताका भलीभाँति अध्ययन और मनन करना चाहिये; क्योंकि मनन करनेपर उसमें भरे हुए गोपनीय तत्त्वका पता लगता है। अब यहाँ गीतामें वर्णित भक्तिके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

गीता भक्तिसे ओत-प्रोत है। गीतामें कहीं तो भेदोपासनाका वर्णन है और कहीं अभेदोपासनाका। कितने ही सज्जन कहते हैं कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगकी, बीचके छः अध्यायोंमें भक्तियोगकी और अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता है। पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता तो मानी जा सकती है; किंतु सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक तो भक्ति ही भक्ति भरी है; अतः इन सभी अध्यायोंको भक्तियोग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि इनमेंसे अधिकांशमें तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारका ही वर्णन है, किसी-किसी स्थलमें निर्गुण-निराकारकी उपासनाका भी उल्लेख है। इन छहों अध्यायोंमें कुल २०९ श्लोक हैं। इनमें जो एक गोपनीय रहस्यकी बात है, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

इन सभी श्लोकोंपर भलीभाँति ध्यान देकर देखनेसे पता लगता है कि प्रायः प्रत्येक श्लोकमें ही किसी-न-किसी रूपमें भगवद्वाचक पद आया है। जहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं, वहाँ तो अहम्, माम्, मया, मत्तः, मम, मे, मयि और अस्मि आदि पदोंका प्रयोग है एवं अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, त्वया, त्वत्तः, तव, ते, भवान् और असि तथा जनार्दन, पुरुषोत्तम, देव, देवेश, जगन्निवास आदि पदोंका प्रयोग है। इसी प्रकार संजयके वचनोंमें भी स्पष्ट ही हरि, देव, देवदेव, केशव, कृष्ण, वासुदेव आदि भगवद्वाचक शब्द आये हैं। अधिकांश शब्द तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारके ही वाचक हैं, पर कितने ही शब्द निर्गुण-निराकारके वाचक भी हैं—जैसे ॐ, अक्षर, अव्यक्त, ब्रह्म आदि।

इन २०९ श्लोकोंमेंसे अधिकांशमें भगवान्‌के द्योतक शब्द ही हैं, केवल इनका दसवाँ अंश अर्थात् २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं। किंतु वे भी भाव और प्रकरणके अनुसार भक्तिसे पृथक् नहीं हैं। इनमेंसे आठवें अध्यायमें ऐसे ९ श्लोक हैं, शेष पाँच अध्यायोंमेंसे प्रत्येकमें दो या तीन श्लोकसे अधिक ऐसे नहीं हैं। पाँचों अध्यायोंमें कुल मिलाकर १२ श्लोक ही ऐसे आये हैं, जिनमें प्रकटरूपसे भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं—जैसे सातवें अध्यायका २०वाँ और २७वाँ; नवें अध्यायका २रा, १२वाँ और २१वाँ; दसवेंका ४था और २६वाँ; ग्यारहवेंका ६ठा और १०वाँ एवं बारहवेंका १२वाँ, १३वाँ और १८वाँ।

जिनमें कर्मयोगकी प्रधानता मानी गयी है, उन अध्यायों (१ से ६ तक) में भी कोई भी अध्याय भक्तिके वर्णनसे

खाली नहीं है। पहले अध्यायमें संजय और अर्जुनके वचनोंमें माधव, हृषीकेश, अच्युत, कृष्ण, केशव, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय आदि भक्तिभावसे ओतप्रोत भगवद्वाचक शब्द आये हैं। दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो भगवत्-शरणागतिका भाव स्पष्ट ही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण (शरण) होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सब कर्म भगवान्‌के समर्पण करनेका भाव है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

चौथे अध्यायमें तो स्वय भगवान् कहते हैं कि 'मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ और श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिये समय-समयपर अवतार लेता हूँ।'

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

इसके बाद भगवान्‌ने अपने जन्म और कर्मकी दिव्यता जाननेका महत्त्व बतलाया है। जन्मकी दिव्यता यह कि भगवान्‌का जन्म अलौकिक है, मनुष्योंकी भाँति पुण्य-पापके फलस्वरूप उत्पन्न नहीं है तथा न वे मनुष्योंके परतन्त्र ही हैं। वे केवल उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले दिखायी पड़ते हैं, मनुष्योंकी भाँति जन्मते-मरते नहीं; वास्तवमें उनका जन्म-मरण नहीं होता, केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है। उनका विग्रह रोगमुक्त, दोषरहित और चिन्मय होता है (गीता ४।६)। वे अपनेपर मायाका पर्दा डाल लेते हैं, इसलिये उनको कोई पहचान नहीं सकता (गीता ७।२५)। जो भक्त भगवान्‌के शरण होकर उनको श्रद्धा-प्रेमसे भजता है, वही उनको यथार्थरूपसे जानता है। वे अपनी इच्छासे प्रकृतिको वशमें करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषोंके रक्षार्थ और धर्मके प्रचारके लिये अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं (गीता ४।८)। यह उनके जन्मकी दिव्यता है। उनके कर्मकी दिव्यता यह है कि उनकी सारी चेष्टाएँ अभिमान, आसक्ति और कामनासे रहित एवं केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं (गीता ४।१३-१४)। इसलिये उनके कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार समझकर इन सबको मानना ही भगवान्‌के जन्म और कर्मकी दिव्यताका तत्त्व जानना है।

इस चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिकी महिमामें यहाँतक कह दिया कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४।११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

पाँचवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तो भगवान्‌के तत्त्व, स्वरूप, प्रभाव और गुणोंका तत्त्व जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाया ही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५।२९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार के भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके महेश्वर तथा सम्पूर्ण

प्राणियोंका सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌को उपर्युक्त लक्षणोंमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त जाननेवालेको भी शान्ति मिल जाती है; फिर तीनों लक्षणोंसे युक्त जाननेवालेको शान्ति मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

यहाँ भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता कहनेका अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबका पर्यवसान परमात्मामें ही होता है। जैसे आकाशसे बरसा हुआ जल समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, वैसे ही सारे कर्म परमात्मामें ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर नवें अध्यायके २७ वें, २८ वें श्लोकोंमें वर्णित भगवदर्पण-बुद्धिसे कर्म करनेवाला पुरुष शान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। भाव यह है कि पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता आदि सभी प्राणियोंमें भगवान् विराजमान हैं; अतः उनकी सेवा-पूजा ही भगवान्‌की सेवा-पूजा है (गीता १८।४६)—यों समझकर सबकी भगवद्भावसे सेवा करनी चाहिये। जो इस प्रकार सबकी सेवा करता है, वह सेवा करते समय अर्थात् अतिथिको भोजन, गायको घास, कौए आदिको अन्न एवं वृक्षोंको जल प्रदान करते समय यही समझता है कि भगवान् ही अतिथिके रूपमें भोजन कर रहे हैं, वे ही गायके रूपमें घास खा रहे हैं, वे ही कौए आदिके रूपमें अन्न ग्रहण कर रहे हैं और वे ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं। इस प्रकारके भावसे भावित होकर सबकी निष्काम सेवा करना ही तत्त्वसे भगवान्‌को यज्ञ-तपोंका भोक्ता जानना है और ऐसा जाननेवाला मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सर्वलोकमहेश्वर जाननेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं। वे ही समस्त संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको नियन्त्रणमें रखते हैं; इसलिये उनको परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १५।१७-१८)। जो उन परमात्माको क्षर-अक्षरसे तथा सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंसे श्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वर समझ लेता है, वह फिर उन परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी कैसे भज सकता है। स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंसे न तो वह प्रेम करता है और न उनका चिन्तन ही करता है। वह तो सब प्रकारसे श्रद्धा, भक्ति और निष्कामभावपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही भजन-ध्यान करता है (गीता १५।१९)। अतः उपर्युक्त प्रकारसे समझना ही भगवान्‌को तत्त्वसे सर्वलोकमहेश्वर जानना है और इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।

भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् जाननेका भाव यह है कि भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित और प्रेम भरा रहता है। उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे शून्य नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। जो पुरुष इस रहस्यको जान लेता है, वह फिर प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको परम दयालु परम प्रेमी परमेश्वरका दया और प्रेमसे ओत-प्रोत मङ्गलमय विधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है तथा भगवान्‌का अनुयायी और परम प्रेमी बन जाता है। उसमें भी सुहृदताका भाव आ जाता है अर्थात् वह भी सबपर हेतुरहित दया करनेवाला और सबका प्रेमी हो जाता है। उसमें द्वेष-भावका नाश होकर क्षमा और समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं तथा उसके मन और बुद्धिका स्वाभाविक ही भगवान्‌में समावेश हो जाता है। इस प्रकार उसमें गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक वर्णित भक्तके सभी लक्षण आ जाते हैं। इसलिये वह परम शान्तिको पा लेता है।

छठे अध्यायमें ११वेंसे १३वें श्लोकतक आसनकी विधि बतलाकर १४वें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने सगुण स्वरूपका ध्यान[1] करते हुए शरण होनेके लिये कहा है। वे कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे।'

तथा इसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें सर्वत्र भगवान्‌को देखनेका यह माहात्म्य बतलाया गया है कि सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं होता है और मैं उसकी दृष्टिसे ओझल नहीं होता हूँ।

इसी प्रकार इस अध्यायके ३१वें और ४७वें श्लोकोंमें

---

१. सगुण-साकारके ध्यानके विषयमें विस्तारसे जानना हो तो इस श्लोककी गीताप्रेससे प्रकाशित तत्त्व-विवेचनी टीका देख सकते हैं।

भी भक्तिका भाव सर्वथा ओत-प्रोत है। अतः समझना चाहिये कि कर्मयोगप्रधान कहे जानेवाले अध्यायोंमें भी कोई भी अध्याय भक्तिसे शून्य नहीं है।

इसी तरह जिन (१३वेंसे १८वें तक) छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता बतलायी जाती है, उनमें भी कोई-सा भी अध्याय भक्तियोगके वर्णनसे खाली नहीं है। उदाहरणके लिये तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
(गीता १३। १०)

'मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति भी (ज्ञानका साधन) है।'

चौदहवें अध्यायमें गुणातीत होनेका उपाय बतलाते हुए भी स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १४। २६)

'जो पुरुष अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य बन जाता है।'

यहाँ अनन्यभक्तिको गुणोंसे अतीत होनेका उपाय बतलाया गया है।

पंद्रहवें अध्यायमें परम पदकी प्राप्तिका उपाय तीव्र वैराग्यके द्वारा संसाररूप वृक्षको काटकर भगवान्के शरण होना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥
(गीता १५। ४)

'दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा संसार-वृक्षका छेदन करनेके पश्चात् उस परमपदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।'

तथा १६वें श्लोकसे क्षर और अक्षरका वर्णन करके जिसे परमात्मा, ईश्वर और पुरुषोत्तम आदि नामोंसे निरूपित किया गया है, उस परमतत्त्वको वास्तविक रूपमें [illegible] कसौटी 'सब प्रकारसे भजना' ही बताया गया है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गीता १५। १९)

'हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार [illegible] पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें दैवी सम्पदाके [illegible] बतलाते हुए कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

'निर्भयता और अन्तःकरणकी शुद्धिके [illegible] ज्ञानयोगमें स्थित होना चाहिये।'

यहाँ 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' का अर्थ [illegible] ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति किया गया है, जो [illegible] भावका ही द्योतक है।

सत्रहवें अध्यायमें २३वेंसे २६वें श्लोकतक [illegible] ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम [illegible] प्रयोग करनेसे कल्याण होता है, इसका [illegible] वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायकी तो बात ही क्या है! [illegible] भगवान्ने शरणागतिमें ही उपसंहार किया है। यहाँ [illegible] के प्रकरणमें भी भक्तिका वर्णन है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी [illegible] स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तथा ज्ञानयोगके प्रकरणमें भी [illegible] (उपासना) की आवश्यकता बतलायी है।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।
(गीता १८। ५२ [illegible])

'दृढ़ वैराग्यका आश्रय [illegible] निरन्तर [illegible] योगके परायण रहनेवाला पुरुष ([illegible]) [illegible]

एकान्तवास और [illegible]

परम पदकी प्राप्ति होती है; उसी परम पदकी प्राप्ति मनुष्यको गोपियोंकी भाँति * सदा-सर्वदा भगवान्‌के शरण होकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भी होती है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी शरणागतिरूप भक्तिका माहात्म्य बतलाकर अर्जुनको सब प्रकारसे अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
(गीता १८। ५७; ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्तको लगाये रह। इस प्रकार मुझमें चित्त लगाये रहकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने सगुण-साकार स्वरूपकी भक्तिके लक्षणोंका वर्णन करके, अर्जुनको अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देकर उसका महत्त्व बतलाया है। यद्यपि सगुण-निराकारकी शरणका भी फल परम शान्ति और शाश्वत पदकी प्राप्ति है; किंतु उसे गुह्यतर ही कहा गया है, गुह्यतम नहीं। भगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
(गीता १८। ६२; ६३ का पूर्वार्ध)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस सर्वव्यापी परमेश्वरकी शरणमें चला जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया।'

भगवान्‌ने गुह्यतम तो अपनी शरणागतिरूप भक्तिको ही बतलाया है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६४—६६)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू मुझमें मन लगा दे, मेरा भक्त बन जा, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग करके यानी अर्पण करके तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इसे सर्वगुह्यतम कहनेका अभिप्राय यह है कि ६२वें और ६३वें श्लोकोंमें तो सर्वव्यापी निराकार परमात्माके शरण जानेको गुह्यतर ही कहा है, किंतु यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होकर अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तू मेरी शरणमें आ जा।' इस प्रकार प्रकट होकर अपना परिचय देना अर्जुन-जैसे अपने अत्यन्त प्रेमी भक्तके

---

* भक्तिमती गोपियाँ किस प्रकार भक्ति करती हुई सब कार्य किया करती थीं, इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४४वें अध्यायके १५वें श्लोकमें इस प्रकार मिलता है —

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देना आदि काम-काज करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं। इस प्रकार सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें ही चित्त लगाये रखनेवाली व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

सामने ही सम्भव है। दूसरोंसे यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तुम मेरी शरणमें आ जाओ।'

यहाँ ६४वें श्लोकमें 'तू मेरा सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर भी सुन' कहकर भगवान्‌ने पहले नवें अध्यायके ३४ वें श्लोकमें कहे हुए वचनकी ओर संकेत किया है। वहाँ ३२वें श्लोकमें तो शरणागतिका माहात्म्य है और ३४ वें श्लोकमें उसका स्वरूप है। उसे भी गुह्यतम कहा है। नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'अनसूयवे' पदसे अर्जुनको उसका परम अधिकारी मानकर और गुह्यतम रहस्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके गुह्यतम, राजगुह्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए जिस शरणागतिरूप भक्तिकी बात कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीका पूरे अध्यायमें वर्णन करते हुए अन्तमें ३४ वें श्लोकमें शरणागतिका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति की गयी है। भगवान् कहते हैं—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
> (गीता ९। ३४)

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यहाँ बतलाये हुए शरणागतिरूप भक्तिके चारों साधनोंमेंसे एक साधनके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है या चारोंके। इसका उत्तर यह है कि एकके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है; फिर चारोंके अनुष्ठानसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

केवल 'मन्मना भव'—भगवान्‌में मन लगानेके साधनसे भगवत्प्राप्ति इसी अध्यायके २२ वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

यहाँ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न बाधाओंसे बचाकर उनकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना ही उन प्रेमी भक्तोंका [illegible] वहन करना है।

भक्तिमार्गमें यह एक विशेषता है कि [illegible] भक्तके किये हुए साधनकी रक्षा और उसके साधनकी [illegible] की पूर्ति भी भगवान् कर देते हैं। यहाँ रक्षा [illegible] अभिप्राय है कि यदि कोई भक्त भगवान्‌से कोई [illegible] माँगता है तो भगवान् उसके माँगनेपर भी यदि उसमें उसका अहित समझते हैं तो वह वस्तु उसे नहीं देते। जैसे [illegible]ने भगवान्‌से हरिका रूप माँगा था, किंतु उसमें उनका [illegible] समझकर 'हरि' शब्दका अर्थ बंदर भी होनेके कारण भगवान्‌ने उनको बंदरका रूप दे दिया और इसके [illegible] उनके शापको भी भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया। [illegible] भक्तको कञ्चन और कामिनीसे उसी प्रकार बचा [illegible] प्रकार एक हितैषी सद्वैद्य रोगीको कुपथ्यसे बचा [illegible] है।

केवल 'मद्भक्तो भव'—भगवान्‌की भक्ति [illegible] भगवान्‌की प्राप्ति इसी अध्यायके ३०वें और ३१वें श्लोकमें बतलायी गयी है।

केवल 'मद्याजी भव'—भगवान्‌की पूजा [illegible] बात इसी अध्यायके २६ वें श्लोकसे समझनी चाहिये। [illegible] कहते हैं—

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या [illegible]।
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि [illegible]॥

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, [illegible] आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम [illegible] प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं [illegible] प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

यहाँ भी यह जिज्ञासा होती है कि [illegible] फल, जल—इन चार पदार्थोंके [illegible] इन चारोंके समर्पणसे भगवान् प्रकट होकर [illegible] करते हैं या एकके समर्पणसे भी। [illegible] एकके समर्पणसे भी भगवान् [illegible] इनमें [illegible] है। प्रेम होनेसे [illegible] स्वीकार कर लेते हैं। [illegible]

---

१. [illegible] बतलाये गये हैं।

गजेन्द्रके[1] केवल पुष्प भेंट करनेसे, भीलनीके[2] केवल फल अर्पण करनेसे और राजा रन्तिदेवके[3] केवल जल अर्पण करनेसे ही भगवान्‌ने प्रकट होकर उनके दिये हुए पदार्थको ग्रहण किया था। इस प्रकार ये सभी एक-एक पदार्थके अर्पण करनेसे ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये। तब फिर सब प्रकारसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवालेको भगवान् मिल जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!

इसी प्रकार केवल 'नमस्कुरु'—नमस्कार करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु गीतामें भगवान्‌ने नमस्कारके साथ कीर्तन आदि भक्तिके अन्य अङ्गोंका भी समावेश कर दिया है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(गीता ९।१४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें तो केवल नमस्कारमात्रसे भी संसारसे उद्धार होना बतलाया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
(महा० शान्ति० ४७।९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये जानेवाले अवभृथस्नानके समान होता है। इतना ही नहीं, दस अश्वमेधयज्ञ करनेवाला तो उनके फलको भोगकर पुनः संसारमें जन्म लेता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता।'

ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिको सबसे गुह्यतम, राजगुह्य और विज्ञानसहित ज्ञान बतलाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसको बहुत ही उत्तम और सुगम बतलाया है। ऐसा सुगम साधन होनेपर भी सभी मनुष्य उसमें नहीं लगते, इसमें श्रद्धाका न होना ही कारण है। भगवान् कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
(गीता ९।३)

'हे परंतप! उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसकी भक्तिके साधनमें श्रद्धा नहीं, उसका संसारमें यानी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना तो सर्वथा सम्भव है, पर यहाँ उसके साथ ही 'मुझे न प्राप्त होकर' कहनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि उसे भगवान्‌के प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि 'मुझे न प्राप्त होकर' कथनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रका परमात्माकी प्राप्तिमें जन्मसिद्ध अधिकार है; किंतु जैसे राजाके पुत्रका उस राज्यपर जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी पितामें श्रद्धा-भक्ति न होनेके कारण वह उस राज्यसे वञ्चित किया जाय तो कोई दोषकी बात नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम न होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्तिमें उसका जन्मसिद्ध अधिकार होते हुए भी कोई उससे वञ्चित रह जाय तो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये; क्योंकि उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय भगवान्‌का स्मरण करना सर्वोत्तम है। हर समय भगवान्‌का स्मरण करनेसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण स्वाभाविक ही हो जाता है और अन्तकालके स्मरणका बड़ा भारी महत्त्व है। भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर यहाँसे जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

१. गजेन्द्रकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके २रे, ३रे अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. भीलनीकी कथा श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देख सकते हैं।

३. महाराज रन्तिदेवकी कथा श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके २१वें अध्यायमें देख सकते हैं।

यदि कहें कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवालेका तो भगवान् उद्धार कर देते हैं और जो उन्हें स्मरण नहीं करता, उसका उद्धार नहीं करते, तो क्या भगवान् भी अपना मान और बड़ाई करनेवालेका ही पक्ष रखते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने यह नियम बनाया है कि मृत्युके समय जो मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता, पितर आदि किसी भी स्वरूपका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसी-उसीको प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । इस न्यायसे भगवान्‌को स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को प्राप्त होता है । अतः उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌में पक्षपात या विषमताका कोई दोष नहीं आता । भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

> समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
> ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
>
> (गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी भक्त हनुमान्‌के प्रति कहा है—

> समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान् जब समदर्शी होकर भी अपना भजन करनेवालेके लिये ही यह कहते हैं कि वह मेरे हृदयमें है और मैं उसके हृदयमें हूँ, तब क्या यह विषमता नहीं है ।' इसका उत्तर यह है कि सूर्य सबके ऊपर समानभावसे प्रकाश डालते हैं, पर दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, काष्ठ आदिमें नहीं; और सूर्यमुखी शीशा तो सूर्यकी किरणोंको खींचकर रुई, कपड़ा आदिको भस्म भी कर डालता है । यह उस पदार्थकी ही विशेषता है, इसमें सूर्यकी कोई विषमता नहीं है । वैसे ही भगवान्‌के भक्तके प्रेमकी ही उपर्युक्त विशेषता है, उससे भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता ।

इसलिये हर समय भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करना चाहिये; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है; पता नहीं, कब प्राण चले जायँ । हर समय स्मरण करनेवाले भक्तको अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति स्वाभाविक ही हो जाती है । जो पुरुष नित्य-निरन्तर परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता रहता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करता हुआ [illegible] पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है तथा [illegible] मनको सब ओरसे रोककर भक्तिपूर्वक [illegible] उच्चारण और उनके स्वरूपका ध्यान करता हुआ [illegible] छोड़कर जाता है, वह निश्चय ही परम गतिको प्राप्त होता है (गीता ८ । ८—१३) ।*

अतएव ज्ञानयोग, ध्यानयोग, [illegible] आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, [illegible] भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है । भगवान्‌ने [illegible] श्लोकमें बतलाया है—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो [illegible] हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह [illegible] परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार अर्जुनके पूछनेपर [illegible] श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपने भक्तोंको [illegible] भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर [illegible] लगे हुए जो भक्तजन [illegible] मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, [illegible] अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

भक्ति सुगम होनेके [illegible] भक्तिके मार्गमें यह विशेषता है कि [illegible] भगवान्‌को देख सकता है ([illegible]) [illegible] भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए [illegible] भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर [illegible] यह बात ज्ञानयोग, [illegible] इसलिये भक्तिको सर्वोत्तम [illegible] युक्त है ।

इसके सिवा, [illegible] वालेको भगवान् [illegible]

---

* [illegible]

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमे युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्य-चिन्तन करनेवाले भक्तको सहज ही भगवान् मिल जाते हैं—इतना ही नहीं; उसका भगवान् संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार भी कर देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमे अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ ।'

अतएव हमलोगोंको अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये । संसारमे एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई परम हितैषी नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—यह समझकर जो भगवान्के प्रति अत्यन्त श्रद्धासे युक्त प्रेम किया जाता है—जिस प्रेममें स्वार्थ और अभिमानका जरा भी दोष नहीं है, जो सर्वथा पूर्ण और अटल है, जिसका जरा-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुमे नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रके लिये भी भगवान्का विस्मरण असह्य हो जाता है—उसे 'अनन्य भक्ति' कहते हैं । ऐसे अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्का चिन्तन करते हुए उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोका श्रवण-कीर्तन करना एवं उनके परम पावन नामोंका उच्चारण और जप करना ही अनन्य भक्तियोग-के द्वारा भगवान्का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है । इस प्रकारके अनन्य भक्तका भगवान् तत्काल ही उद्धार कर देते हैं ।

चाहे मनुष्य कितना भी पापी क्यों न हो, भक्तिके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश ही नहीं हो जाता अपितु वह परम धर्मात्मा बन जाता है और फिर उसे परम शान्ति मिल जाती है । गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३१वें श्लोकोमें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

संसार-सागरसे जीवका उद्धार होना बहुत ही कठिन है, किंतु भगवान्की शरणसे यह कठिन कार्य भी सुसाध्य हो जाता है । भगवान्ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ।'

भगवान्की भक्तिके प्रभावसे भगवान्का यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है और ज्ञानके साथ ही भगवान् भी उसे मिल जाते हैं । भगवान् स्वयं अपने उस अनन्यभक्तको वह ज्ञान प्रदान कर देते हैं, जिससे उसे उनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है । भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । ८—१०)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं। वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

बात यह है कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १० । ३, ८)। भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके ७वेंसे १२वें श्लोकतक, नवें अध्यायके १७वें, १८वें और १९वेंमें एवं पद्रहवें अध्यायके १२वेंसे १५वें श्लोकतक तथा और भी अनेक स्थलोंमें किया गया है। उन सबका सार भगवान्‌ने दसवें अध्यायके ४१ वें, ४२वें श्लोकोंमें बतलाया है। वे कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके एक अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्राकट्य) जान।'

भाव यह है कि दसवें अध्यायके ४थे श्लोकसे ६ठेतक तथा १९वें श्लोकसे ४०वेंतक तथा गीताके अन्यान्य स्थलोंमें जो कुछ भी विभूतियाँ बतलायी गयी हैं एवं समस्त संसारके जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो भी बल, बुद्धि, तेज, गुण, प्रभाव आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी भगवान्‌के प्रभावके एक अंशमात्रका ही प्रादुर्भाव हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है! मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जैसे जलका बुद्बुदा समुद्रका एक [illegible] ही सम्पूर्ण गुण और प्रभावसहित [illegible] किसी एक अंशमें है—इस प्रकार समझकर [illegible] उपर्युक्त ८वें, ९वें और १०वें श्लोकोंके [illegible] उपासना करता है, वह अनायास ही परमात्माको [illegible]

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि [illegible] भक्ति ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी [illegible] अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है। इतना ही नहीं [illegible] शीघ्र ही सारे पापोंका नाश होकर भगवान्‌के [illegible] हो जाता है और मनुष्य इस [illegible] भगवान्‌का दर्शन पा लेता है एवं भगवान्‌को [illegible] उनमें प्रवेश भी कर सकता है। भगवान्‌ने कहा है

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
([illegible] ११ । [illegible])

'हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा [illegible] रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे [illegible] तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे [illegible] लिये भी शक्य हूँ।'

यों तो ज्ञानयोगके द्वारा भी [illegible] परमात्माका ज्ञान और परम शान्तिकी प्राप्ति होती [illegible] (गीता ४ । ३४—३६, ३९), किंतु [illegible] भगवान्‌का साक्षात् दर्शन नहीं होता। [illegible] भक्तिसे परमात्माका ज्ञान और [illegible] परमात्मामें एकीभावसे प्रवेश होनेके [illegible] दर्शन भी सम्भव है। [illegible] मार्ग सर्वोत्तम है।

यहाँ उस अनन्यभक्ति [illegible] भक्तके लक्षण बतलाते हैं

मत्कर्मकृन्मत्परमो [illegible]।
निर्वैरः सर्वभूतेषु [illegible]॥

[illegible]

[illegible] लिये ही [illegible] रहित है और [illegible] अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको [illegible]

[illegible]

होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं, इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी', तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त होनेकी बात भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।

'हे अर्जुन ! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

तथा केवल भगवान्‌के परायण होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(गीता ९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

एव केवल भगवान्‌की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(गीता ७ । २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त्त, आर्त्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है। अर्थार्थी भक्तसे आर्त्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्यभोग भी भगवान्‌से नहीं चाहता—जैसे ध्रुवने[1] चाहा था; परंतु द्रौपदीकी[2] भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये याचना करता है। पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, वरं भक्त उद्धवकी[3] भाँति संसार-सागरसे आत्माका उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है। इसलिये आर्त्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है; किंतु भक्त प्रह्लादकी[4] भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी याचना नहीं करता। इसलिये भगवान्‌ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं। सातवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, अतः वह ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४। ११)।

इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होता ?' तो ऐसी बात नहीं है। ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है; किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम

---

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८वें, ९वें अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. द्रौपदीका यह प्रसङ्ग महाभारत, सभापर्वके ६८वें अध्यायमें पढ सकते हैं।

३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धके सातवेंसे उन्तीसवें अध्यायतक देख सकते हैं।

४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ४थे से १०वें अध्यायतक देख सकते हैं।

भक्तिमें सबका अधिकार

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (गीता ९।३२)

भक्तोद्धारक भगवान्

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (गीता १२ । ७)

है। ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है—

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
> आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
>
> (गीता ७। १८)

'ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

उदारका अर्थ है श्रेष्ठ। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि 'वे भक्त मुझे पहले भजते हैं, तब फिर उसके बाद मैं उनको भजता हूँ तथा वे अपने अमूल्य समयको मुझपर श्रद्धा-विश्वास करके न्योछावर कर देते हैं, यह उनकी उदारता है; इसलिये वे श्रेष्ठ हैं; और मेरी भक्ति सकाम, निष्काम या अन्य किसी भी भावसे क्यों न की जाय, मेरे भक्तका उद्धार हो ही जाता है (गीता ७। २३); किंतु प्रेम और निष्काम-भावकी उनमें कमी होनेके कारण उनको मेरी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है। मेरी उपासनाकी तो बात ही क्या है, जो दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; किंतु वे मुझको तत्त्वसे न जाननेके कारण इस लोक या स्वर्ग आदि परलोकरूप नाशवान् फलको ही पाते हैं।'

> अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
>
> (गीता ७। २३का पूर्वार्ध)

'क्योंकि उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है।'

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें [illegible] जाननेकी बात कही गयी है, उसका भगवान्‌ने [illegible] बतलाया कि जो कुछ है वह मुझसे अन्य [illegible] ७। ७) और सब कुछ मेरा ही स्वरूप है (गीता [illegible]) एवं इस तत्त्वको जाननेवाला [illegible] मोहसे मुक्त भगवद्भक्त भगवान्‌के [illegible] समग्र रूपको जान जाता है (गीता ७। [illegible])।

ऐसे ज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मा भक्तकी [illegible] उसकी भगवान्‌ने बड़ी प्रशंसा की है (गीता १२। [illegible] १९)। भगवान्‌ने उसको अपना प्रिय [illegible] किंतु जो साधक इस ज्ञानी भक्तके लक्षणोंको [illegible] उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक साधन करता है, [illegible] भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है; क्योंकि [illegible] भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करके अपने जीवनको [illegible] लिये ही न्योछावर कर दिया है। भगवान् [illegible]—

> ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
> श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
>
> ([illegible] १२। [illegible])

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे [illegible] करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

जब केवल मन-बुद्धिको भगवान्‌में [illegible] भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है (गीता ८। [illegible]) तब फिर जो सर्वस्व भगवान्‌के [illegible] भगवान्‌को भजता है, उसके [illegible]

काकभुशुण्डिकी कामना

> जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥
> मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥
> अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
> जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
> भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
> सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥
>
> (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

(लेखक—आचार्यवर श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

(१)

श्रीकृष्णकी जो जीवन-कथा महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण तथा अन्यान्य पुराणों एवं उत्तरकालीन चिरस्मरणीय धार्मिक ग्रन्थों और काव्योंमें प्राप्त होती है, उससे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णका व्यक्तित्व जितना महान् और जटिल था, उतने महान् व्यक्तित्वका कोई पुरुष न तो इस धराधाममें उत्पन्न हुआ और न किसी ऐसे पुरुषकी कल्पना ही कभी मानव-मस्तिष्कमें आयी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुद्ध, ईसा, चैतन्य आदि सभी विश्ववन्द्य महात्माओंके समान श्रीकृष्णके जीवन और चरित्रका चित्रण करनेमें भी इतिहास एवं प्रामाणिक परम्पराओंके साथ उत्कृष्टतम धार्मिक मनोभावोंसे उत्पन्न कल्पनाएँ भी जुड़ गयी हैं। परंतु ऐसी सारी स्थितियोंमें इन यथार्थ और आदर्श पुरुषोंके विषयमें जो सर्वसाधारणकी धारणाएँ हैं तथा हमारे लिये और समस्त मानव-जातिके कल्याणके लिये जो उदाहरण और उपदेश आर्षग्रन्थोंमें वर्णनानुसार वे छोड़ गये हैं, उनका हमसे जीवनदायक सम्बन्ध है तथा सभी देशों और समस्त युगोंके नर-नारियोंके जीवनपर वे स्थायीरूपसे स्वस्थ, संयतशील और उत्साहोत्पादक प्रभाव डालते हैं।

इस दृष्टिकोणसे श्रीकृष्ण हमारे सामने पूर्ण भगवत्ताके सर्वोच्च आदर्शकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ सर्वथा पूर्ण तथा मानवताके सर्वोच्च आदर्शसे पूर्ण सर्वाङ्गसुन्दर विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। उनके भीतर मनुष्य और ईश्वर 'नर' और 'नारायण'के भाव पूर्णतया समन्वित हैं, कोई भी पक्ष न्यूनताको नहीं प्राप्त होता। इसीसे उनको 'नरोत्तम' या 'पुरुषोत्तम' अथवा 'नर-नारायण' कहते हैं। इस नरोत्तम, पुरुषोत्तम, नर-नारायण अथवा मानव-भगवान्‌की महान् और सुन्दर भावनामें आध्यात्मिक ज्ञानकी प्रथम श्रेणीमें अवस्थित भारतीय ऋषियों और भक्तोंने ईश्वर और मनुष्यके मिलनकी आध्यात्मिक विशद भूमिका अन्वेषण किया है। यहाँ भगवान् अपने सारे ऐश्वर्य और सौन्दर्यको लेकर मानव रूपमें अपने आपको प्रकट करते हैं और मनुष्य उनमें अपनी भगवत्ताका पूर्णरूपमें अनुभव करता है। मनुष्य और ईश्वरके बीच, सान्त और अनन्तके बीच, सांसारिक अपूर्णत्व और दिव्य पूर्णत्वके बीच तथा जीव और स्रष्टाके बीचकी खाई इन अवतारी पुरुषके द्वारा अद्भुत रीतिसे पाट दी जाती है। भगवान् यहाँ मानव-शरीरमें मानवी व्यापारों और भावनाओंको लेकर प्रकट होते हैं तथा मनुष्य जीवनके सर्वोच्च आध्यात्मिक लक्ष्यको अभिव्यक्त करते हैं।

(२)

ऐतिहासिक पुरुषके रूपमें श्रीकृष्ण संसारके सर्वश्रेष्ठ गुरु थे। उन्होंने जो नैतिक और आध्यात्मिक साधनाकी प्रणाली बतायी, उसमें साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और कट्टरताका सर्वथा अभाव है और वैसी प्रणाली जगत्‌में पहले किसी धर्मगुरुके मस्तिष्कमें कभी नहीं आयी। वह सर्वथा अकाट्य दार्शनिक भित्ति तथा परम गम्भीर अध्यात्म-दृष्टिकी आधार-शिलापर अवस्थित है।

वह सार्वभौम—सर्वव्यापी है और सभी देशों और युगोंके नर-नारियोंके उपयुक्त तथा सभ्यता और संस्कृतिके सभी स्तरोंके लोगोंके लिये अनुकूल है। उनके सिद्धान्तकी अत्यन्त सारगर्भित, अत्यन्त विशद तथा अत्यन्त युक्तिपूर्ण व्याख्याका शुभदर्शन हमें गीतामें प्राप्त होता है, जिसको समस्त सत्यान्वेषी पुरुषोंने विश्वके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक संगीतके रूपमें स्वीकार किया है। महाभारत, भागवत तथा दूसरे पुराणोंमें जो उनका सारा जीवन-ऐतिह्य वर्णित है, वह उनके द्वारा प्रचारित दर्शन, आचार-शास्त्र तथा धर्मका अत्यन्त उज्ज्वल और सुन्दर दृष्टान्त है। उन्होंने भगवत्ताके अधिकारपूर्ण स्वरमें उपदेश किया है और जिन सत्योंका प्रतिपादन किया है, उनको मानवताके साधारण स्तरपर स्वयं आचरणमें लाकर प्रदर्शित भी कर दिया है। उन्होंने दिखला दिया है कि किस प्रकार भौतिक जीवनके साधारण कर्तव्योंका ईमानदारीसे पालन करते हुए मानव-आत्मा अपने भीतर स्थित ईश्वरत्वकी अनुभूति कर सकता है, किस प्रकार जीवन और उसके कर्तव्यके प्रति अपनी अन्तःप्रवृत्तिको बदलकर प्रतिदिनके साधारण-से-साधारण कर्मको भागवत कर्मके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। श्रीकृष्णने सदा अपनी अन्तश्चेतनामें अपने आनन्दमय दिव्य स्वरूपमें निवास करते हुए ही इस जटिल जगत्‌के मनुष्यके रूपमें अपने कर्तव्यका पूर्णतः पालन किया है।

श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट धर्म एक ही साथ 'मानव

धर्म' भी है और 'भागवतधर्म' भी। वह मानवत्व और ईश्वरत्वका सफल तथा महान् सम्मिलन है। अपने धार्मिक उपदेशोंमें श्रीकृष्णने विश्वके लोगोंकी अन्तर्दृष्टिके समक्ष मानवताकी एक अत्यन्त विशद और गौरवमयी धारणा प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि मनुष्य अपनेको केवल एक तुच्छ साधक ही न माने—जो बन्धन और दुःखसे संतप्त होकर मुक्तिकी चिन्तामें है और इस आपाततः असुन्दर मानव जीवनसे छुटकारा पानेके लिये तड़प रहा है; बल्कि मनुष्यको चाहिये कि वह अपने सच्चे स्वरूपकी प्राप्तिको ही आदर्श माने। मनुष्य केवल कर्ता और उपासक ही नहीं है, वह स्वयं ही वह सत्य है जिसकी अनुभूति उसे इस जटिल जगत्में अपने व्यावहारिक जीवनमें ही करनी है। जीव, जैसा वह अपने आपको साधारणतया देखता है, आत्म तत्त्वकी केवल एक आंशिक और अपूर्ण अभिव्यक्ति है।

श्रीकृष्णने मनुष्यके सामने मुक्ति या निर्वाणके आदर्शको अथवा मनुष्यत्वके पूर्ण उच्छेद, या जीवत्वसे पूर्णरूपसे छुटकारा पा जानेको मानव-जीवनके अन्तिम लक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत नहीं किया है। जगत् पापमय है, लौकिक जीवन दुःखमय है, सुव्यवस्थित आध्यात्मिक साधनाके द्वारा मनुष्यकी अहं-चेतनाको नष्ट कर देना है अथवा उसे किसी निर्विशेष, निष्क्रिय सत् या असत् सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्वमें विलीन कर देना है—इन विचारोंको वे प्रोत्साहित नहीं करते। उनके विचारसे प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण ज्ञान, पूर्ण कर्म, पूर्ण शान्ति और पूर्ण सौख्य तथा पूर्ण प्रेम और पूर्ण आनन्दसे युक्त मानवताको अपने जीवनका लक्ष्य बनानेकी विशद भावना धारण करनी चाहिये। प्रत्येक व्यष्टि-मानवको समष्टि मानव बनना है। उसे अपनी ही आत्मचेतनामें सार्वभौमता और निरपेक्षता, असीमता और चिरंतनता, सर्वव्यापी आनन्दमय सत् और सबको माधुर्यसे भर देनेवाले सौन्दर्य, पवित्रता तथा प्रेमकी अनुभूति करनी है; क्योंकि ये उसके सच्चे स्वरूपके प्रमुख गुण हैं। श्रीकृष्ण प्रत्येक मनुष्यसे कहते हैं—'अपने आपको जानो, अपने स्वरूपमें स्थित होओ और अपने व्यावहारिक जीवनमें ही अपने आपको पहचानो।'

जब मनुष्य इस जगत्में अपने यथार्थ 'मनुष्यत्व'का अनुभव कर लेता है, तब वह आत्म-अनात्मके भेदको लाँघ जाता है, वह सीमित अहंकी भावनासे ऊपर उठ जाता है और फलतः वह बन्धन और दुःखकी भावनासे मुक्त हो जाता है। वह तब सबमें अपनेको और अपनेमें [illegible] देखता है। अपनी आलोकित चेतनामें [illegible] भयसे रहित हो जाता है; विश्वात्मा [illegible] का अनुभव करता है और विश्व उसके [illegible] प्रकृतिके प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द और [illegible] आत्माभिव्यक्तिके लिये एक विशाल [illegible] रूपमें उपस्थित होता है। उसके [illegible] जीवनके सारे कर्म लीलारूपमें परिवर्तित हो [illegible] लाभ और हानि, सफलता और विफलता, [illegible] यहाँतक कि जीवन और मृत्यु भी उसकी [illegible] लगते हैं। सारे जीवोंके साथ एकात्मता [illegible] चेतनाके लिये सहज स्वभाव बन जाता है। [illegible] कर्म स्वभावतः समस्त जीवोंकी [illegible] कर लेते हैं और उनके [illegible] होते हैं। इस प्रकारके [illegible] अनिवार्यरूपसे लुप्त नहीं हो [illegible] भागवती शक्तिके आत्माभि[illegible] और ऐसी दशामें वह स्वयं किसी [illegible] अभिलाषा, चिन्ता या आवेगसे पूर्ण [illegible] अपने इस दिव्य [illegible] श्रीकृष्ण अपने [illegible] अभिव्यक्त होते हैं और [illegible] सामने इसको आदर्शरूपमें [illegible] करते हैं।

(२)

श्रीकृष्ण जहाँ एक ओर अपने [illegible] उपदेशोंमें सांसारिक पुरुषोंके [illegible] एक उन्नत और उत्साहप्रद [illegible] दूसरी ओर वे ईश्वरको मनुष्यके [illegible] इस [illegible] अप्राकृत रूपमें अलौकिक [illegible] हुए ही [illegible] प्रकारसे [illegible] भौतिक [illegible] [illegible] इनकी [illegible]

क्रीडाके साधन हैं। जड प्रकृतिके नियम, प्राणि विज्ञान और मानस विज्ञानके नियम, नीति और धर्मके नियम, जो दृश्य जगत्के विभिन्न व्यापारोंका मार्ग-संचालन एवं निर्धारण करते हुए पाये जाते हैं, वे अन्ततः उनकी पूर्णतया आध्यात्मिक और पूर्णतया मुक्त, पूर्णतया शुभ, पूर्णतया सौन्दर्यमय तथा श्रेष्ठ, पूर्णतया शुद्ध प्रेम और आनन्दमय प्रकृतिके लीलामय आत्माभिव्यञ्जनके नाना रूपोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनका अपना पूर्णतया स्वच्छन्द और अचिन्त्य संकल्प ही उनके काल-देश और सापेक्षताके अपने लोकमें, सान्त और परिवर्तनशील जीवोंके असंख्य प्रकारके रूपोंमें आत्मास्वादन और आत्मप्रकाशनके प्रयोजनसे उनके पारमार्थिक स्वयं प्रकाशित अलौकिक स्वरूपके ऊपर विभिन्न क्रमके आवरण और विक्षेप डाल देता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ईश्वरीय आत्माभिव्यक्ति, आत्मास्वादन और आत्मक्रीडाको सारे जागतिक कर्मोंमें, विश्व-विधानमें देखनेकी शिक्षा हमको देते हैं। वे सबमें परमात्माको और सबको परमात्मामें देखनेका उपदेश देते हैं। वे विभिन्न प्रकृतिके तथा विभिन्न श्रेणीके भौतिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकासवाले असंख्य मनुष्योंमें हमें यह देखनेकी शिक्षा देते हैं कि वे भगवान् ही विभिन्न उपयुक्त रूप धारण करके स्वरचित विश्व-ब्रह्माण्डके भीतर नाना प्रकारसे अभिनय कर रहे हैं। मनुष्यके विचार, संकल्प और क्रिया-सम्बन्धी स्वच्छन्दताकी अनुभूति, उसकी कर्तव्य और उत्तरदायित्वकी भावना, उसका सदसद्-विवेक, धर्माधर्म तथा उचित-अनुचितका विचार, उसकी अपूर्णताकी भावना तथा पूर्णताकी अभिलाषा —ये भी भगवान्के आत्मरसास्वादन और क्रीडामयी आत्माभिव्यक्तिके रूप-विशेष हैं। विभु, शाश्वत, आनन्दमय तथा लीलामय परमात्माकी अपने भीतर तथा अपने समस्त लौकिक अनुभवके विषयोंमें प्रत्यक्ष अनुभूति करनेसे ही मनुष्य पूर्णत्वको प्राप्त होता है।

समस्त मानव-जातिके, समस्त पशु-जीवनके तथा जगत्के ईश्वरत्वको श्रीकृष्णने प्रकट कर दिया और यह दिखला दिया कि मनुष्यके लिये अपनी बौद्धिक तथा भावात्मक चेतनाको विशुद्ध एवं आध्यात्मिक बनाकर, एवं पारिवारिक तथा सामाजिक जीवनमें अपने संकल्प और आचारको समुचित संयममें रखकर अपने तथा दृश्य जगत्के दिव्यत्वका साक्षात् अनुभव करना सम्भव है। उनके दार्शनिक, नैतिक तथा धार्मिक उपदेशोंमें कहीं नैराश्यको स्थान नहीं मिला है, आत्मग्लानिको प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, निराश होनेकी सम्मति नहीं दी गयी है तथा मनुष्यमें दुर्बलताकी भावना और सांसारिक शक्तियों तथा किसी सर्वशक्तिसम्पन्नके भी सामने असहाय होकर आत्मसमर्पण करनेकी प्रवृत्तिको कहीं समर्थन नहीं प्राप्त है। उनके कथनानुसार नैतिक और आध्यात्मिक आत्मसंयमकी साधनाका प्रथम सोपान है शक्ति तथा आत्मविश्वासका विकास; और अपनेको तुच्छ समझनेकी भावना, दुर्बलता और नपुंसकताकी भावनासे मनको मुक्त करनेका प्रयास।

प्रत्येक मनुष्यमें—चाहे वह बाहरसे कितना ही बड़ा या छोटा हो, विद्वान् या मूर्ख हो, बलवान् या दुर्बल हो—उन्होंने दीप्त गौरवकी भावनाको जाग्रत् करनेकी चेष्टा की। यह गौरवका भाव जीवके ईश्वरत्वकी सतत स्मृति तथा गम्भीर अनुभूतिके ऊपर और उस जगत्के दिव्यत्वपर जिसमें प्रत्येक मनुष्यको परमात्माके द्वारा निर्दिष्ट अपना-अपना अभिनय करना है, आधारित है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने साधारण-से-साधारण कर्तव्यका पालन करता हुआ अपने तथा जिनसे उसका काम पड़ता है, उन सभी मनुष्यों एवं अन्य जीवोंके आत्माकी स्वरूपगत पवित्रता, कल्याणमयता, अमरत्व, अनन्तत्व और सर्वशक्तिमत्ताको सदा स्मरण रखे। इस प्रकार अपने ईश्वरत्व तथा सबके ईश्वरत्वकी अनुभूतिकी साधना सब प्रकारके नैतिक गुणोंका प्रबल स्रोत बन जाती है और अपार शक्ति, निर्भयता तथा निश्चिन्त एवं आनन्दमय जीवनका उद्गम बनती है। जीव और जगत्के दिव्यत्वकी इस भावनाका अभ्यासी किसी मनुष्यके विरुद्ध किसी पापमय और दुष्ट प्रवृत्ति तथा भावना, किसी दूषित वासना और प्रवृत्ति अथवा किसी द्वेष या दुर्भावनाको मनमें स्थान नहीं दे सकता। वह किसी भी मनुष्य अथवा जीवकी हिंसा या हानि नहीं कर सकता तथा सम्पर्कमें आनेवाले किसी प्राणीकी अवज्ञा नहीं कर सकता। उसका चित्त तथा बाह्य व्यवहार स्वभावतः सभी मनुष्यों और सभी जीवोंके प्रति प्रेम और सहानुभूति, सद्भाव और सम्मानपूर्ण होता है। मानव जातिकी बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृतिके लिये जगद्गुरुरूपमें श्रीकृष्णकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है—अपने इस विश्वमें ईश्वरत्वके ऊपर पड़े हुए पर्देको हटाना।

(४)

वैदिक ऋषियोंने भोगके आदर्शके ठीक विपरीत जीवन-को नियमन करनेवाले शाश्वत सिद्धान्तके रूपमें यज्ञके आदर्श

निर्दिष्ट मानव-जीवनका आध्यात्मिक आदर्श है—आत्माके दिव्य स्वरूपकी तथा जगत्की प्रत्येक घटनामें प्रभुकी लीलाकी व्यावहारिक अनुभूति—इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत प्रत्येक जीवकी अर्थात् प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक देवता तथा प्रत्येक निम्नस्तरके प्राणीकी आत्मा और विश्वात्माके साथ अपने आत्माकी एकताकी अनुभूति।

विश्वके रूपमें भगवान्के इस आत्माभिव्यञ्जनकी योजनामें मनुष्यको यह योग्यता प्राप्त है कि वह प्रयोजनके अनुसार स्वेच्छापूर्वक काम कर सके और अपने जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिके उपायों और युक्तियोंका निर्माण करे तथा अपने विवेक और इच्छा शक्तिके अनुसार अपने कर्तव्योंका पालन करे। इस प्रकार कर्म करना उसके लिये स्वाभाविक है। वह बिना कर्म किये मनुष्यरूपमें रह नहीं सकता। कर्मके रूप विभिन्न हो सकते हैं, विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न प्रकारके कर्म अनुकूल हो सकते हैं; क्योंकि उनकी शक्ति, स्वभाव तथा सामाजिक स्थिति विभिन्न प्रकारकी होती है। परंतु प्रत्येक मनुष्यको प्रभुके इस संसारमें अपने धर्मके अनुसार कर्म करना चाहिये, जो धर्म मनुष्यको परमेश्वरने अपनी इस लीला-भूमिके लिये प्रदान किया है। जो काम उसके लिये विहित है, उसको खेल समझते हुए विशुद्ध बुद्धि एवं उदात्त उद्देश्यसे दृढ़ निश्चयपूर्वक करना चाहिये। परंतु उसकी कोई स्वार्थयुक्त कामना नहीं होनी चाहिये, न किसी दुर्वासनासे ही प्रभावित होना चाहिये और न अपने भोगके लिये कर्मफलमें अनुचित आसक्ति ही होनी चाहिये। उसको भगवान्के लीला-क्षेत्रमें भगवान्के निर्देशानुसार एक कर्त्तव्य-परायण खिलाड़ी बनना चाहिये और अपनी क्रीडाके सारे फलोंको सूत्रधार प्रभुके चरणोंमें अर्पण करते रहना चाहिये। उसको अपने कर्मोंकी सफलता-विफलतासे विचलित नहीं होना चाहिये; क्योंकि सारे कर्म और उनके फलके अधिकारी वस्तुतः विश्व ब्रह्माण्डके एकमात्र सूत्रधार भगवान् हैं।

अपने कर्त्तव्योंका परम तत्परता और श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए, बिना किसी कामना या अहंकारके केवल प्रभुकी पूजाकी भावनासे कर्म करे। मन ईश्वरमें लगा रहे, अपने दैनन्दिन कर्मक्षेत्रमें वह सर्वत्र भगवान्की संनिधिका अनुभव करनेकी चेष्टा करे। मनुष्य निरन्तर याद रखे कि उसके अपने आत्मा और विश्वात्मामें अन्ततः कोई भेद नहीं है। उसे चाहिये कि वह ईमानदारीके साथ अपने बाह्य-जीवनमें भगवान्के लीलाक्षेत्रमें भगवान्के लिये अपने स्वाँगके अनुसार खेल खेले, उसमें यही माने कि भगवान्की ओरसे उसके लिये यही भगवत्पूजाका विधान बना है। स्पष्ट है कि इस प्रकारसे अनुष्ठित कर्म बन्धन या दुःखका हेतु नहीं बन सकता। वह तो भगवान्के लिये, भगवान्के जगत्में भगवद्धनके द्वारा सम्पादित भगवान्का ही कर्म होता है। फिर भला, वह मनुष्यको कामोपभोगके ससीम और क्षणिक विषयोंमें कैसे बाँध सकेगा। कर्म नहीं, बल्कि अहङ्कारमूलक आकाङ्क्षाएँ तथा कामनाएँ और कर्मोंके अल्प तथा अनित्य फलोंकी आसक्ति और लोलुपता ही बन्धन और शोकका वास्तविक कारण है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिये कहा है, उनमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव पाया जाता है। यहाँ कर्मको उदात्त बनाकर आध्यात्मिक स्तरपर ले आया जाता है और कर्मकी भावनामें ही योग और ज्ञानके साधनका अन्तर्भाव हो जाता है। इस भावसे सम्पादित कर्म सहज ही लोक-कल्याणके हेतु बनते हैं। उनमें सारे समाजके कल्याणकी दृष्टिसे वैयक्तिक तथा वर्गगत स्वार्थोंका बलिदान तो अपने-आप होता है। कर्म यदि विश्वात्मा भगवान्की आराधनाके भावसे किये जाते हैं तो उससे विश्वका कल्याण ही होगा। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट 'यज्ञ' का यही वास्तविक अर्थ है। इसमें कर्म, ज्ञान और योगका—प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्गका व्यावहारिक समन्वय निष्पन्न होता है।

श्रीकृष्णने अपने जीवनमें तथा अपने उपदेशोंके द्वारा नारायणको नरका तथा नरको नारायणका रूप प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण जिन भगवान्के स्वयं मूर्त्तरूप हैं तथा जिनका निरूपण उन्होंने मानव-समाजके सामने किया है, वे निरे गुणातीत एवं देश-कालातीत ब्रह्म नहीं हैं, जो मानवीय भावनाओंसे सर्वथा परे तथा सम्पूर्ण जागतिक व्यापारों एवं मनुष्यकी आवश्यकताओंसे उदासीन है। उन्होंने मनुष्यके सामने एक ऐसे भगवान्को उपस्थित किया है, जो अनादि, अनन्त, अपरिच्छिन्न एवं निर्गुण ब्रह्म होते हुए भी सतत क्रियाशील, सतत जागरूक, सतत आनन्दमय साकार-विग्रह हैं, जिनमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, उत्तम-से-उत्तम, मानवीय वेदनाएँ और भावनाएँ निहित हैं, जो मनुष्योंके साथ मधुर-सम्बन्धका निर्वाह करते हुए नाना प्रकारकी लीला करते हैं तथा जिनके भीतर वे स्वयं विभिन्न, ससीम एवं अपूर्ण रूपोंमें प्रकट होते हैं। वे ईश्वर सबमें व्याप्त होते हुए भी सबसे परे

है, एक ही साथ सगुण और निर्गुण दोनों है तथा पूर्ण शान्त, आत्मलीन और अविकारी होते हुए भी सदा कर्मरत, सतत लीलामय तथा ब्रह्माण्डमें सतत अपनेको व्यक्त करके विभिन्न रूपोंमें सदा अपना रसास्वादन करनेवाले हैं। वे महायोगेश्वर, महाज्ञानेश्वर, महाकर्मेश्वर तथा महाप्रेमेश्वर हैं। वे वेदनाओ एवं भावनाओंसे सदा परे होते हुए भी नित्य मधुरतम प्रेमी हैं, परम मनोहारी मित्र हैं, असीम करुणा और कृपासे पूर्ण प्रभु है। वे सबके मनोभावोंका समुचितरूपसे उत्तर देते हैं। मनुष्यको वे सर्वाधिक स्नेह करनेवाले माता-पिताके, परम अनुरागी सखा एव क्रीड़ा-सहचरके, आवश्यकताके समय सहायताके लिये आतुर मित्रके तथा विपत्तिकालमें अत्यन्त कृपालु तथा समर्थ सरक्षकके रूपमें प्राप्त होते हैं। वे सबके स्नेहभाजन, सबके प्रशंसापात्र, सबके श्रद्धास्पद तथा सबके सम्मानके केन्द्र बनते हैं और सबके विभिन्न मनोभावोंका बिना चूके उत्तर देते हैं, उन्हें आध्यात्मिक रग देते और पूर्णता प्रदान करते हैं। वस्तुतः उनका चरित्र वह अक्षय स्रोत है, जहाँसे सब मनुष्योंको अपनी परम विशुद्ध, परम सुन्दर, परम उन्नत तथा परम प्रभावोत्पादक भावनाएँ और उच्चाभिलाषाएँ प्राप्त होती हैं और इन्हीं भावनाओं एवं आकाङ्क्षाओंका ठीक-ठीक अनुशीलन करनेपर मानव-जीवन क्रमशः उन्नत होकर इसी दिव्य विश्व-विधानमें भगवत्ताको प्राप्त होता है।

श्रीकृष्णने ईश्वरको मनुष्यके समक्ष एक आदर्श मानव—पुराण पुरुषोत्तमके रूपमें प्रस्तुत किया है और अपने जीवनके द्वारा यह दिखला दिया है कि प्रत्येक मनुष्य इस परम आदर्शको, इस पूर्ण मानवताको, जो भगवत्तासे अभिन्न है, यम-नियमके पालन तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रकृतिकी शुद्धिके द्वारा प्राप्त कर सकता है। उसकी यह प्रकृति आपाततः सीमित तथा पार्थिव आवरणोंसे आवृत होते हुए भी वस्तुतः दिव्य है। मानव-जीवनमे यह क्षमता है कि वह इस जगत्में ही अपना उत्थान करके उसे भागवत जीवनके रूपमें बदल सकता है। भागवत मानव-शरीरमें जीवनकी अनुभूति प्रत्येक स्त्री-पुरुषकी समस्त सक्रिय चेष्टाओंका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने अनन्त दयामय ईश्वरको दीन और दुर्बलोंके सामने कर दिया, अनन्त करुणामय भगवान्को दलितो और दुखियोंके सामने; असीम क्षमावान् परमेश्वरको पापियों, भूल करनेवालों तथा अपराधियोंके सामने, मधुरतम प्रेममय प्रभुको कोमल-हृदय भक्तों तथा प्रेमियोंके सामने और पवित्रतम, कल्याणमय तथा आचारवान् ईश्वरको आचार-वादियोंके सामने लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने ईश्वरको सत्यान्वेषियोंके सामने आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाले शाश्वत गुरुके रूपमें, अध्यात्मवादियोंके सामने मायातीत सच्चिदानन्द-घनरूपमें तथा योगियोंके सामने विश्वात्माके रूपमें उपस्थित कर दिया। भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको यह शिक्षा दी है कि वे जगत्के सत्पुरुषों और महापुरुषोंके चरित्र तथा कर्मोंमें एवं प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियों और दृश्योंमें अभिव्यक्त होनेवाले भगवान्के अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य और ज्ञानको देखें, उसकी सराहना करें तथा उनसे प्रेम करें। संसारमें मनुष्यों अथवा प्रकृतिके अंदर जो भी शक्तियाँ हमें प्रकट हुई दीखती हैं, वे सब ईश्वरीय शक्तिकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। सारा सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्यका ही प्रकट रूप है, सारे गुण ईश्वरीय शीलके प्रतिरूप हैं तथा मानव-समाज और बाह्य जगत्के सारे दृश्य ईश्वरीय लीला हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वरको सभी मनुष्योंके मन और हृदयके अत्यन्त समीप पहुँचा दिया।

सभी युगों और समस्त देशोंमें ईश्वरको अगणित प्रकारके सीमाबद्ध मरणशील जीवोंसे पूर्ण इस विस्तृत जगत्के सर्व-शक्तिमान् एवं सर्वज्ञ स्रष्टा, शास्ता और संहर्ताके रूपमें स्वीकार किया गया है। उनकी असीम शक्ति और बुद्धिमत्ता मनको चकरा देनेवाले इस जटिल और नाना रूपोंसे पूर्ण जगत्के अद्भुत सामञ्जस्य और नियमानुकूलतामें बहुत स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त हो रही है। परंतु श्रीकृष्णके विचारसे जीवनकी चरितार्थताके लिये साधना करनेवाले तत्पर साधकको भगवान्का ध्यान करते समय उनकी असीम शक्ति और बुद्धिमत्ताको बहुत अधिक महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं है। बल्कि उसको चाहिये कि वह भगवान्के असीम सौन्दर्य, माधुर्य तथा सर्वाङ्गपूर्ण नैतिक गुणोंपर मनको स्थिर करे तथा उनको अपने व्यावहारिक जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करे, जिससे इसी मानव-शरीरमें वह दिव्य जीवनकी अनुभूति कर सके। पवित्रता, भलाई, माधुर्य, सत्यभाषण, प्रेम, दया, करुणा, अहंकारशून्यता, प्रसन्नता, लीलाप्रियता आदि स्वतः ईश्वरीय गुण हैं। ये भागवती प्रकृतिमें पूर्णरूपमें सदा बने रहते हैं। जगत्के बखेड़ोंके बीच रहते हुए भी मनुष्यको इन गुणोंको जानना और अपनाना चाहिये। आध्यात्मिक साधनाका साधक निरन्तर भगवान्का मधुर चिन्तन करके अपने अहंभावको भगवत्समर्पण करता रहे, भगवान्की स्तुति

तथा उनसे अनुराग करके, उनका आदेश समझकर भगवत्प्रेमसे प्रेरित होकर भगवान्‌के लिये आनन्द और लगनके साथ अपने कर्त्तव्य-कर्मोंका सम्पादन करता रहे और बाह्य जगत्‌के द्रव्यों तथा मानव-समाजके क्रिया-कलापोंपर भगवान्‌की अलौकिक सुन्दरता, कल्याणप्रियता तथा आनन्दमयता और ज्ञानके प्रकाशमें विचार करते हुए अपने जीवनमें इन दैवी गुणोंका अनुभव निरन्तर बढ़ाता रहे।

भगवान् श्रीकृष्णने परम शक्तिशाली एवं तेजस्वी वैदिक देवताओंकी अपेक्षा मानव-वेषधारी भगवान्‌की महिमाको बहुत बढ़ा दिया है तथा ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु तथा दूसरे महान् वेदोक्त देवताओंको पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके रूपमें अभिव्यक्त लीलामय नररूप नारायणके सम्मुख नतमस्तक किया है। उन्होंने यह दिखला दिया कि मानवीय गुण और भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे दैवी शक्ति और ऐश्वर्यसे कहीं बढ़कर हैं तथा बल और प्रतापके प्रदर्शनकी अपेक्षा मनुष्यत्वकी पूर्णतामें ईश्वरत्व अधिक दीप्त होकर प्रकाशित होता है। ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट तथा श्रीकृष्णके द्वारा निरूपित लीलामय नराकृति भगवान्‌में शक्ति और ऐश्वर्यका अभाव था। उनकी शक्ति असीम थी, उनका ज्ञान असीम था और उनमें तेज भी असीम था। ये सब गुण इस विशाल एवं जटिल विश्व-विधानकी रचना और शासनमें सहज ही अभिव्यक्त होते हैं। परंतु अपने परतर स्वरूपमें तथा मनुष्यके साथ अपने सम्बन्धमें वे अपनी असीम शक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्यको पीछे रखकर सर्वोच्च, सुन्दरतम और मधुरतम मानवीय गुणों और आध्यात्मिक महत्ताओंको सामने लाते हैं। भागवत चरित्रकी सुन्दरता इसीमें है कि वह अपनी अनन्त शक्ति और महत्ताको छिपाकर अपने आपको अपनी मानव प्रतिमूर्तियोंके सम्मुख शाश्वत पूर्णपुरुषके रूपमें व्यक्त करता है और इस प्रकार मनुष्यको अपनी ओर आकर्षित करता है तथा पूर्ण परमात्माकी स्थितिपर पहुँचनेमें उसकी सहायता करता है।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इस बातके भूखे नहीं हैं कि मनुष्य—जिसको उन्होंने विचार, संकल्प और कर्मकी स्वतन्त्रता प्रदान की है तथा जिसको अपना स्वभाव सुधारने, उन्नत करने और उसे नियन्त्रणमें रखनेकी शक्ति दी है,—उस एक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ गुणातीत ब्रह्म अथवा सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक तत्त्वमें दृढ़ श्रद्धा रखे, उसका आदर और उसकी भक्ति करे। बल्कि वे मायातीत चेतन यह चाहते हैं कि मनुष्य अपने साधारण व्यावहारिक जीवनमें सदा अपने ही नहीं, अपितु प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणीके आत्माके रूपमें तथा अपने सबसे प्यारे मित्रके रूपमें, अपने अत्यन्त स्नेह करनेवाले माता-पिता तथा पति-पुत्र और अत्यन्त उदार संरक्षकके रूपमें, अत्यन्त करुणामय परोपकारी और अत्यन्त प्रसन्न साथ खेलनेवाले खिलाड़ीके रूपमें प्रभुको देखे। मनुष्य प्रभुके साथ सब प्रकारसे मधुर, उत्साहप्रद तथा उन्नायक सम्बन्ध स्थापित करके अपने जीवनके सभी छोटे-बड़े कामोंमें प्रभुके सर्वप्रकाशक अस्तित्वका अनुभव कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वरके लिये जिये और ईश्वरके लिये काम करे, प्रभुके प्रति अनुरागवश तथा प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति करे और अन्तमें अपने आपको भगवान्‌के चरणोंमें पूर्ण समर्पित कर दे तथा उनके साथ पूर्णतया युक्त हो जाय। श्रीकृष्णने जिस धर्मकी शिक्षा दी है, वह न तो कर्मकाण्डप्रचुर है, न निरा आध्यात्मिक है, बल्कि उसका स्वरूप है—अपने व्यावहारिक जीवनके प्रत्येक विभागमें, दृश्य जगत्‌के कण-कणमें ईश्वरका साक्षात्कार करना तथा प्रभुके साथ अखिल विश्वकी तथा अपनी एकताकी आनन्दमय अनुभूति करना।

श्रीराधाजीसे प्रार्थना

स्वामिनी हे वृषभानुदुलारि!
कृष्णप्रिया कृष्णगतप्राणा कृष्णा कीर्तिकुमारि॥
नित्य निकुंजेश्वरि रासेश्वरि रसमयि रस-आधार।
परम रसिक रसराजाकर्षिणि उज्ज्वल-रसकी धार॥
हरिप्रिया आह्लादिनि हरि-लीला-जीवन की मूल।
मोहि बनाय राखु निसिदिन निज पावन पदकी धूल॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

(लेखक—स्व० राजा श्रीदुर्जनसिंहजी)

श्रीअवधेश-कुमार, कौसल्या-प्राणाधार, जानकी-जीवन, दैत्यदर्प-दलन, हतारि-गति-दायक, भक्त-जन-रञ्जन, दुष्ट-निकन्दन, जग-हितकारी, शरणागत-भय-हारी, भगवान् श्रीरामचन्द्र महाराजके परममङ्गलमय, श्रीजनकदुलारी-हृदय-कञ्ज-भृङ्ग, श्रीसौमित्रि-कर-सरोज-लालित, पतितपावनी-श्रीसुरधुनी-प्रसूति-धाम पाद-पद्मोंसे जो इस देव-दुर्लभ वसुन्धराको पावन होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसका मुख्य प्रयोजन मर्यादा-स्थापनद्वारा कर्तव्याकर्तव्य-विमूढ संसारको पथ-प्रदर्शन कराना था और इसी कारण श्रीभगवान् 'मर्यादा-पुरुषोत्तम'के शुभ नामसे अलंकृत किये जाते हैं।

इस महत्त्वपूर्ण और आदर्श अवतारका यह निमित्त प्रसिद्ध है और इसके मुख्य-मुख्य कल्याणप्रद चरित्रोंमें भी, जो मर्यादा-प्रतिष्ठार्थ उदाहरणीय समझे जाते हैं—जैसे साधुओंके परित्राण और दुष्टोंके विनाशद्वारा धर्मकी संस्थापना, गुरु-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, एकपत्नीव्रत, वर्णाश्रम-धर्म-पालन, राजनीति और प्रजारक्षा इत्यादि—उपर्युक्त प्रयोजन स्पष्ट प्रकट है। परंतु प्रत्येक चरित्रका क्या रहस्य है और उसके भावोंकी सीमा कहाँतक है, जो आदर्शरूपसे मर्यादा-प्रतिष्ठार्थ ग्रहण किये जा सकें—इसका परिचय बहुत थोड़े लोगोंको है; अतः यहाँ मुख्य-मुख्य चरित्रोंपर अनुक्रमसे किंचित् विचार किया जाता है।

(१) ऐसे उदाहरणीय पावन चरित्रोंका श्रीगणेश उस लोक-हित-शीला लीलासे होता है, जिसमें निम्नाङ्कित प्रतिज्ञाकी पूर्तिका आरम्भ हुआ है, जो आपके प्रत्येक अवतारके लिये अनादि-कालसे चली आ रही है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इसीके साथ इससे प्रजारक्षाका आदर्श भी प्रकट होगा। जब श्रीविश्वामित्रजी अपने यज्ञकी रक्षाके लिये दोनों मधुरमूर्ति भ्राताओंको साथ लिये आश्रमकी ओर यात्रा कर रहे थे, तब मार्गमें ताड़का नामकी विकराल राक्षसी अपने घोर रौद्र-नादसे समस्त वनप्रान्तको प्रकम्पित करती हुई इनकी ओर झपटी। उस समय श्रीभगवान्‌के सम्मुख धर्म-संकट उत्पन्न हो गया। एक ओर अपने उपास्य साधु-महात्माओंका निर्दय भक्षण और प्रजाका चर्वण करनेवाली आततायिनी पिशाचिनीके—जिसके द्वारा देशके चौपट होनेकी कथा श्रीविश्वामित्रजीसे अभी सुन चुके हैं—वधका प्रसङ्ग और दूसरी ओर स्त्री-जातिपर हाथ उठानेके लिये दोष मानेका प्रतिबन्ध, जिसका आज भी पूर्ण प्रचार देखनेमें आ रहा है। किंतु साधु-महात्माओंके परित्राण और प्रजाकी रक्षाके भावका उस समय भगवान्‌के हृदयमें इतना उद्रेक हुआ कि उन्होंने उसी क्षण उस दुष्टाके संहारका कर्तव्य अभ्रान्तरूपसे निश्चित कर लिया। श्रीविश्वामित्रजी महाराजके निम्नलिखित उपदेशसे भगवान्‌के निश्चयकी पुष्टि भी हो गयी—

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥
(वा० रा० १। २५। १७)

'हे नरोत्तम! तुमको स्त्रीवध करनेमें ग्लानि करना उचित नहीं। राजपुत्रको चारों वर्णोंके कल्याणके लिये समयपर (आततायिनी) स्त्रीका वध भी करना चाहिये।'

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा॥
(वा० रा० १। २५। १८)

'प्रजा-रक्षणके लिये क्रूर, सौम्य, पातकयुक्त और दोषयुक्त कर्म भी प्रजारक्षकको सदा करने चाहिये।'

जब साधु-महात्मा सताये जायँ और प्रजा पीड़ित की जाय, तब उस सतानेवाली और पीड़ा देनेवाली स्त्रीका वध भी अवश्य-कर्तव्य हो जाता है। पुरुष आततायी हो तो उसके लिये तो किसी विचारकी भी आवश्यकता नहीं।

इस चरित्रमें एक और गहरा रहस्य भरा हुआ है। श्रीभगवान्‌ने जो प्रथम ही स्त्रीका वध किया, इससे उन्होंने संसारको यही शिक्षा दी कि जो कोई भी प्राणी मनुष्य-जन्म धारण करके जगत्‌में धार्मिक जीवन-निर्वाह करनेका संकल्प करे, उसके लिये प्रथम और प्रधान कर्तव्य यही है कि वह स्वबुद्धिके सत्प्रयोगद्वारा यथाशक्य मायाका दमन करे; क्यों-कि मायाके जालमें फँस जानेके बाद धर्मकी वेदीपर अपने जीवनकी आहुति दे सकना मनुष्यके लिये असम्भव-सा है।

(२) क्षात्र-धर्मका क्या रहस्य है, यह इस विचित्र चरित्रसे प्रकट होगा। परम माङ्गलिक विवाहोत्सवके पश्चात् जब

श्रीविदेहराजसे विदा लेकर श्रीकोसल-नरेश अपने दल-बल-सहित अपनी राजधानी जगत्-पावनी अयोध्यापुरीको पधार रहे हैं, तब रास्तेमें क्या देखते हैं कि प्रज्वलित नेत्र और फड़कते हुए होठोंवाले भयङ्कर वीरवेषधारी ब्रह्मकुलविख्यात श्रीपरशुरामजी उग्ररूप धारण किये श्रीरामके शिव-धनुष भङ्ग करनेपर अपना तीव्र क्रोध प्रकट करते हुए श्रीरामसे कह रहे हैं कि 'यदि तुम इस वैष्णव धनुषपर शर-संधान कर सको तो तुमसे मैं द्वन्द्वयुद्ध करूँगा।'

यहाँ भी विकट परिस्थिति उपस्थित है। एक ओर तो ऐसे पुरुषकी ओरसे, जिसने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रिय-हीन कर दिया था और इस समय भी वैसे ही उग्र कर्मके लिये तैयार था,—इस प्रकारका युद्धाह्वान जिसे तनिक भी क्षात्र तेजवाला पुरुष एक क्षण भी सहन नहीं कर सकता और दूसरी ओर ब्राह्मणवंशके प्रति हृदयमें पूज्यभाव। अब यहाँ यदि एक भाव दूसरेको दबाता है अर्थात् यदि युद्धाह्वानको स्वीकार करके उनसे द्वन्द्वयुद्ध अथवा उनपर प्रहार करके उनके प्राण लिये जाते हैं तो पूज्य-भाव नष्ट होता है; और यदि पूज्यभावके विचारसे युद्धाह्वानके उत्तरमें उनके चरणोंपर मस्तक रखा जाता है तो क्षात्र तेजकी हानि होती है। अतः यहाँ ऐसी विचित्र क्रिया होनी चाहिये, जिससे दोनों भावोंकी रक्षा होकर दोनों पक्षोंका महत्त्व स्थिर रहे और एक भावका इतना आवेश न हो जाय कि वह दूसरेको दबा दे। अतः सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्ने इस जटिल समस्याके समाधानरूपमें कहा—

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम्॥
(वा० रा० १। ७६। २)

'हे भृगुवंशशिरोमणि! आपने एक वीर्यहीन और क्षात्रधर्म-के पालनमें असमर्थ मनुष्यकी तरह जो मेरे तेजकी अवज्ञा की है, इसके लिये आज मेरा पराक्रम देखिये।'

इतना कहकर श्रीरामने उनसे धनुष लेकर उसी क्षण चढ़ा दिया। तदनन्तर क्रोधयुक्त होकर कहा—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥
इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः॥
(वा० रा० १। ७६। ६-७)

'आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं, विश्वामित्रजीकी बहिन सत्यवतीके पौत्र हैं; इसलिये मैं आपके प्राण हरण करनेवाला बाण नहीं छोड़ सकता। किंतु मैं आपकी गतिका अथवा तपोबलसे प्राप्त होनेवाले अनुपम लोकोंका विनाश करूँगा।'

इस अमितप्रभावान्वित चरित्रका मुख्य उद्देश्य यही है कि जब हृदयमें दो भावोंका एक ही साथ संघर्ष हो, तब दोनोंको इस प्रकारसे सम्हालनेमें ही बुद्धिमानी है, जिसमें एक-का दूसरेके द्वारा पराभव न हो जाय, दोनोंकी रक्षा हो। साथ ही धर्मका भी नाश न होने पाये। यहाँ सामान्यतया सभी वर्णोंके लिये और विशेषतया क्षत्रियोंके लिये इस मर्यादाकी रक्षाका उपदेश है। वह यह है कि चित्तमें कितने भी उग्र भाव उत्पन्न हों, कितनी ही क्रोधाग्नि धधके, किंतु इससे जिनमें पूज्य या आदर-बुद्धि है, वह नष्ट नहीं होनी चाहिये, साथ ही अपना क्षात्र तेज भी सुरक्षित रहना चाहिये। इस मर्यादाका अनुकरण किसी अंशमें महाभारत-युद्धमें भी हुआ था। यहाँ शङ्का उत्पन्न होती है कि 'रावण भी तो ब्राह्मण ही था, फिर श्रीभगवान्ने उसको कुलसहित क्यों मार डाला? उसने तो केवल धर्मपत्नीका ही हरण किया था, श्रीपरशुरामजीने तो इक्कीस बार सजातियोंका विनाश किया और इस समय भी वे स्वयं भगवान्का संहार करनेकी बुद्धिसे ही वहाँ आये थे। द्वन्द्वयुद्धका यही तो प्रयोजन था।'

इस शङ्काका समाधान करनेके लिये श्रीपरशुरामजीके चरित्रका कुछ परिचय आवश्यक है। एक बार श्रीपरशुरामजी-के पिता अरण्यसेवी ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी श्रीजमदग्निजीकी सर्व-स्वरूपा हविर्धानी गौको सहस्रबाहु अर्जुन जबर्दस्ती छीनकर ले गया। परशुरामजीने युद्धमें उसका वध करके अपनी गौ छुड़ा ली। तदनन्तर सहस्रार्जुनके पुत्रोंने एकान्त पाकर जमदग्निका वध कर डाला। पूज्य पिताकी इस प्रकार हत्या होनेपर परशुरामजीकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका संकल्प कर लिया।

परशुरामजी भी श्रीभगवान्के ही अवतार थे। अतएव इस कार्यको करके उन्होंने दुष्कृतियोंको ही दण्ड दिया था, अतः दुष्कृति रावणके साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती। इन दोनोंके आचरण परस्पर सर्वथा विपरीत थे। हाँ, यह अवश्य है कि श्रीपरशुरामजीका संकल्प क्रोधावेशमें सीमासे बाहर चला गया था; परंतु इस प्रकारके आवेशके निरोधकी शक्ति केवल श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तममें ही थी, जिन्होंने किसी भी भाव या आवेशको मर्यादासे बाहर नहीं जाने दिया।

(३) धर्मयुक्त शुद्ध राजनीति क्या है, इसका चित्र भी श्रीभगवान्‌की इस धर्मशीला लीलाके द्वारा पूर्णरूपसे प्रकट होता है।

जब महारानी श्रीकैकेयीने कोपभवनमें प्रवेश करके श्रीदशरथ महाराजको दो वरदानरूपी वज्रोंसे छेदकर मूर्च्छित कर दिया, तब भगवान्‌ने वहाँ उपस्थित होकर इसका कारण पूछा। उस समय कैकेयीने यह सदेह करके कि श्रीराम इतना स्वार्थत्याग सहज-में ही कैसे करेंगे, उन्हे कोई स्पष्ट उत्तर न देकर पहले उनसे प्रतिज्ञा करवानेका प्रयत्न किया। उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने ये सतत-स्मरणीय आदर्श वचन कहे—

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥
(वा० रा० २। १८। ३०)

'माता! महाराजसे तुमने जो कुछ माँगा है, वह मुझे बतला दो। मै उसे सम्पादन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ। रामका यह सिद्वान्त स्मरण रखो, राम दो बात नहीं कहता। अर्थात् उसने जो कुछ कह दिया सो कह दिया; फिर वह उसके विरुद्ध नहीं करता।'

कैसी महत्त्वपूर्ण वचन-पालनकी प्रतिज्ञा है! विचारिये—एक ओर अनेक भोग-विलासोंसे पूर्ण विस्तृत विशाल राज्यके सिंहासनकी अभिरुचि और दूसरी ओर शीत, आतप, अवघट मार्ग, राक्षस, हिंसक पशु आदि अनेक विघ्न-बाधाओंसे युक्त, कल्पनातीत क्लेश सहन करते हुए, एकाकी अरण्य-सेवन! इस जटिल समस्यामें जिस राजनीतिके बलपर अनेक रचनाएँ रची गयीं और आजकल भी जिसे कहीं पालिसी (Policy) और कहीं डिप्लोमेसी (Diplomacy) कहते हैं, जो केवल छल-प्रधान होती है और जिसमें प्रकट कुछ और ही किया जाता है तथा भीतर कुछ और ही रहता है, यहाँ उसके द्वारा साम, दान, दण्ड और भेदरूप चतुर्विध नीतिका प्रयोग करके युक्ति और चतुराईसे काम लेनेका प्रयोजन कोई ऐसा उपाय सोच निकालना ही होता, जिससे सिंहासनका स्वार्थ हाथसे न जाता। किंतु श्रीरामके परम पवित्र हृदयमें राजनीति और धर्म दो रूपमें नहीं थे। वहाँ तो राजनीतिका अर्थ ही 'धर्मसे अविरुद्ध' निश्चित था और धर्मकी दृष्टिसे एक अयोध्याका तो क्या; चौदह भुवनका साम्राज्य भी मृग-मरीचिका ही है। इससे सिद्ध होता है कि स्वधर्मका लोप करके स्वार्थ-साधन करना मनुष्यमात्रके लिये निषिद्ध है; फिर राजापर तो नरा-धिपति होनेके नाते उसकी सब प्रकारकी रक्षा करनेका दायित्व है। धर्मात्मा राजा कभी स्वार्थमें लिप्त नहीं हो सकता। यथार्थ राजनीति वही है, जिससे धार्मिक सिद्धान्तोंका खण्डन न होकर व्यवहारकी सुकरता हो जाय। अर्थात् साम, दान, दण्ड और भेदरूप नीतिके द्वारा ऐसी युक्ति और निपुणतासे काम लिया जाय, जिससे व्यवहार भी न बिगड़ने पाये और धर्मका विरोध भी न हो। छल प्रतारणादि-प्रधान दुष्ट-बुद्धिसे किसी व्यवहारको सिद्ध भी कर लिया, तो वह वस्तुतः कूटनीतिका कार्य पापमें परिणत होकर मनुष्यको नरकमें ले जाता है। इसके लिये श्रीयुधिष्ठिर महाराजका उदाहरण प्रसिद्ध है। जिनकी आजन्म दृढ सत्यनिष्ठा रही, उन्हें युद्धके अवसरपर दूसरोंके अनुरोधसे केवल एक बार और वह भी दबे हुए शब्दोंमें अन्यथा बोलनेके कारण दुःखप्रद नरकका द्वार देखना पड़ा।

(४) भ्रातृप्रेमकी पराकाष्ठा देखना चाहें तो इस कथा-मृतका पान कीजिये—

जब चित्रकूटमें यह सूचना पहुँची कि श्रीभरतजी चतु-रङ्गिणी सेना लिये धूमधामसे चले आ रहे हैं, तब लक्ष्मणजीने क्रोधावेशमें भरतजीको युद्धमे पराजित करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली। भगवान् श्रीराम तो उसको सुनते ही सन्न हो गये। बड़ी विकट परिस्थिति है। एक ओर वह प्यारा सरल भाई है, जो सर्वस्व त्यागकर अनन्यभावसे सेवामें तत्पर है और इस क्षण भी सानिध्यमें ही उपस्थित है, एवं दूसरी ओर वह प्रिय भ्राता है, जो समीप नहीं है और जिसको माताकी क्रूरताके कारण ही आज वनवासका दारुण दुःख सहना पड़ रहा है, परंतु जिनके साथ परस्पर परम गूढ़ और अनिर्वचनीय प्रेम है। सामान्यरूपसे जगद्-व्यवहारानुकूल अपरोक्षपर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। किंतु श्रीभगवान्‌का हृदय ऐसी मुँहदेखी बातोंको कब स्पर्श कर सकता था। वहाँ तो परोक्ष अपरोक्ष दोनों ही समान हैं। ऐसी दशामें अपने प्रेमीके विरुद्ध श्रीरामको एक शब्द भी कैसे सहन हो सकता था? विरुद्ध शब्दोंके कानमें पड़ते ही प्रेमावेशसे तत्काल उत्तेजित होकर श्रीरामने प्यारे भाई श्रीलक्ष्मणके खिन्न होनेकी कुछ भी परवा न करके ये वचन कह ही डाले—

'भाई लक्ष्मण! धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी—जो कुछ भी मैं चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये। तब तुमसे मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। भरतने तुम्हारा क्या अहित किया है, जो तुम आज ऐसे भयाकुल होकर भरतपर [illegible] रहे हो? तुमको भरतके प्रति कोई अप्रिय या क्रूर वचन नहीं

कहना चाहिये। यदि तुम भरतका अपकार करोगे तो वह मेरा ही अपकार होगा। यदि तुम राज्यके लिये ऐसा कह रहे हो तो भरतको आने दो; मैं उससे कह दूँगा कि तुम लक्ष्मणको राज्य दे दो। भरत मेरी बातको अवश्य ही मान लेंगे।'

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि श्रीभगवान्‌का श्रीलक्ष्मणजीके प्रति उतना प्रेम नहीं था; उनका तो प्राणिमात्रमें प्रेम है, फिर अपने अनन्य सेवक प्यारे कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मणके लिये तो कहना ही क्या है। यहाँ जो क्षोभ हुआ है, वह वास्तवमें लक्ष्मणजीपर नहीं है। उनके हृदयमें जो विकृति उत्पन्न हो गयी थी, उसीको निकालनेके लिये श्रीभगवान्‌का यह कठोर यत्न है। भगवान्‌के वचन सुनते ही श्रीलक्ष्मणजीका मनोविकार नष्ट हो गया। इस प्रकार अन्य प्राणियोंके साथ भी किया जाता है। श्रीभगवान्‌को किसीसे तनिक भी द्वेष नहीं है। सबके आत्मा होनेके कारण वे तो सबके आत्मरूप हैं। केवल अङ्कुरित विकृतियोंको ही वे यथोचित दण्डादि विधियोंके द्वारा नष्ट किया करते हैं।

(५) अब नास्तिकवादको किसी प्रकार भी न सह सकनेका एक अभ्रान्त दृष्टान्त सुनिये। श्रीभरतजीने जब चित्रकूट पहुँचकर श्रीभगवान्‌को अवधपुरी लौटाकर राज्याभिषिक्त करनेके अनेक यत्न किये, अनेक प्रार्थनाएँ कीं और श्रीवसिष्ठजी आदि ऋषियोंने भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार परामर्श दिया, तब उन ऋषियोंमें जाबालि ऋषिका मत सनातनधर्मसे नितान्त विरुद्ध प्रकट हुआ। नमूनेके लिये एक श्लोक लीजिये—

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित्॥
(वा० रा० २। १०८। ४)

'हे राम! अतएव यह माता है, यह पिता है—यों समझकर जो इन सम्बन्धोंमें लिप्त होता है, उसे उन्मत्त-जैसा जानना चाहिये; क्योंकि कोई किसीका नहीं है।' ऐसे ही और भी धर्मविरुद्ध बातें थीं। श्रीभगवान्‌के लिये यह अतिशय जटिल प्रसङ्ग था। एक पक्षमें था घोर नास्तिकवाद और दूसरेमें उसको प्रकट करनेवाले अपने कुलपूज्य ऋषि। श्रीभगवान् बड़े ही ब्रह्मण्य थे। फिर जाबालि ऋषि तो कुलके आदरणीय एवं उपास्य हैं। ऐसे महानुभावके प्रति श्रीरामके अगाध हृदयमें विकृत भाव कब उत्पन्न हो सकते थे। परंतु धर्मके नितान्त विरुद्ध शब्दोंने—जिनका आशय श्रीभगवान्‌को सत्यसे विचलित करना था—हृदयमें परिवर्तन कर दिया। श्रीभगवान्‌ने उस समय मर्यादा-रक्षार्थ नास्तिकवादका तीव्र विरोध करना ही उचित समझा और तिरस्कारपूर्वक ऋषिके प्रति जो कुछ कहा, उसका एक वचन यह है—

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवं विधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥
(वा० रा० २। १०९। ३३)

'इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा परम नास्तिक और धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिताजीने याजक बनाया, मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप अवैदिक दुर्मार्गस्थित बुद्धिवाले हैं।'

आखिर, जाबालिके यह कहनेपर कि 'मैं नास्तिक नहीं हूँ, केवल आपको लौटानेके लिये ऐसा कह रहा था' और वशिष्ठजीके द्वारा इसका समर्थन किये जानेपर भगवान् शान्त हुए। धर्म और सत्यके उत्कट भावोंके आवेशमें नास्तिकवादकी अवज्ञाकी सीमा यहाँतक पहुँची कि पितृभक्तिमें बँधे हुए श्रीरामने, जो पूज्य पिताके सत्यकी रक्षाके लिये आज अनेक संकट सहन कर रहे हैं, पिताके कार्यके प्रति भी अश्रद्धा प्रकट की। इससे जो मर्यादा स्थिर की गयी, उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य यही है कि मनुष्यको अन्य सब विचार त्यागकर नास्तिकभावोंका उग्र विरोध करना चाहिये।

(६) अब गुरुभक्तिके गङ्गातरङ्गवत् पावन प्रसङ्गपर विचार कीजिये।

यों तो कुल-उपास्य श्रीवशिष्ठ महाराजका महत्त्व स्थान-स्थानपर प्रकट है ही। प्रत्येक धार्मिक और व्यावहारिक कार्यमें उनकी प्रधानता रही है, जो गुरुभक्तिका पूर्ण प्रमाण है। परंतु देखना तो यह है कि विकट समस्या उपस्थित होनेपर अन्य उदाहरणीय चरित्रोंकी तरह गुरुभक्तिके प्रबल भावोंका ही हृदयमें साम्राज्य होकर उसकी अनन्यता किस विशेष चरित्रके द्वारा सिद्ध हो सकती है।

खेदसे कहना पड़ता है कि श्रीवाल्मीकि-रामायण मर्यादा-रक्षाके इस एक मुख्य अङ्गकी पूर्तिमें असमर्थ रही। उसमें कहीं भी ऐसा प्रसङ्ग नहीं है, जिसके द्वारा इसको सिद्ध किया जा सके। प्रत्युत चित्रकूटमें तो उपर्युक्त प्रसङ्गमें जब श्रीगुरु महाराजने बड़े प्रबल हेतुवादके द्वारा श्रीभरतजीके पक्ष-समर्थनकी चेष्टा की, तब दूसरोंकी भाँति उनका कथन भी भगवान्‌ने स्वीकार नहीं किया।

श्रीरामचरितमानसने अपनी सर्वाङ्गपूर्णता सिद्ध करते हुए चित्रकूटकी लीलामें ही इस मर्यादाकी भी यथेष्ट रक्षा की है।

श्रीवशिष्ठजी महाराज भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्से कहते हैं—

सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ ॥

इसपर भगवान्ने जो उत्तर दिया, वह गुरुभक्तिकी पराकाष्ठा है—

सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहिं हाथ उपाऊ ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें ॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई ॥

विचारिये—कहाँ तो पितृभक्तिके निर्वाहार्थ वनवासके लिये आप इतने दृढ़ हो रहे थे कि यदि कोई उसके विरुद्ध कहता था तो उसे तुरत उचित उत्तर दे दिया जाता था; परंतु आज गुरुदेवकी आज्ञाके सम्मुख श्रीभगवान्ने अपना वह सकल्प सर्वथा ढीला कर दिया। गुरुभक्तिकी इससे अधिक क्या मर्यादा हो सकती है।

(७) मातृभक्तिकी परम सीमाका यह उच्च उदाहरण सुनने योग्य ही है—

पञ्चवटीमें श्रीजानकीजीसहित दोनों भ्राता सुखपूर्वक बैठे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे हैं। जब श्रीलक्ष्मणजीने श्रीभरतजीकी श्लाघा करते हुए कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी ॥
(वा० रा० ३। १६। ३५)

'जिसके पति श्रीदशरथजी महाराज और पुत्र साधुस्वभाव भरतजी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी क्रूर स्वभाववाली कैसे हुई?'

यहाँ भी एक ओर वही प्राणपणसे सेवामें तत्पर 'अलीक वचन बोलनेवाले' कनिष्ठ भ्राता हैं और दूसरी ओर वही विमाता, जिसके कारण यह सारा उत्पात और विघ्न हुआ। परंतु जो कुछ भी हो, मातृभक्तिके भावोंने हृदयमें इतना उत्कट रूप धारण किया कि माताके विरुद्ध एक भी वचन उन्हें सहन नहीं हुआ। श्रीभगवान्ने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥
(वा० रा० ३। १६। ३७)

'हे भाई! तुमको मँझली माताकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये। इक्ष्वाकुकुलश्रेष्ठ भरतजीकी ही बात कहनी चाहिये।'

इससे अधिक मातृभक्तिकी मर्यादा और क्या हो सकती है।

(८) मित्रधर्म और स्वामिधर्म दोनोंकी पराकाष्ठाके विचित्र चित्रके दर्शन निम्नाङ्कित एक ही मर्मस्पर्शी लीलामें हो जाते हैं।

भगवान्के निर्मल, विशिष्ट और मर्यादापूर्ण चरित्रोंमें तीन ऐसे हैं, जिनके विषयमें उनके यथार्थ स्वरूपकी अनभिज्ञता के कारण अबोध मनुष्य प्रायः आक्षेप किया करते हैं। इन तीनोंमें एक वालि-वधकी लीला है।

अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या, स्वयं वालीने भी श्री भगवान्को उलाहना दिया है। उसके आक्षेपोंके उत्तरमें अनेक प्रकारसे समाधान किया गया है। किंतु इनमें सबसे मुख्य समाधान निम्नाङ्कित है।

जिस समय सुग्रीवसे मित्रता करके श्रीभगवान्ने प्रतिज्ञा की थी, उसी समयके वचन हैं—

प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥
(वा० रा० ४। १८। २८)

'मैंने सुग्रीवको जो वचन दिया था, उस प्रतिज्ञाको अब कैसे टाल सकता हूँ।'

विचारिये—वालीने साक्षात् श्रीभगवान्का कोई अपराध नहीं किया था, किंतु वह उनके मित्र सुग्रीवका शत्रु था। अतः उसको अपना भी शत्रु समझकर उसके वधकी तत्काल प्रतिज्ञा की गयी। यही तो मित्र-धर्मकी पराकाष्ठा है। मित्रका कार्य उपस्थित होनेपर अपने निजके हानि-लाभका सारा विचार छोड़ उसका कार्य जिस प्रकार भी सम्भव हो, साधना चाहिये। इसीलिये मित्रके सुख-सम्पादनार्थ उनके शत्रुरूप भ्राताका वध किया गया। इस बातके समझनेमें तो अधिक कठिनता नहीं है, किंतु जिस बातपर मुख्य आक्षेप होता है, वह यह है कि 'वालीको युद्धाह्वानद्वारा सम्मुख होकर धर्मपूर्वक क्यों नहीं मारा?' इस शङ्काका समाधान श्रीवाल्मीकीय या मानस दोनों रामायणोंके मूलसे नहीं होता। टीकाकारोंके निर्णयानुसार यथार्थ बात यह थी कि वालीको एक मुनिका वरदान था कि सम्मुख युद्ध करनेवालेका बल उसमें आ जायगा, जिससे उसके बलकी वृद्धि हो जायगी। इस दशामें भगवान्के लिये एक जटिल समस्या आ खड़ी हुई। वालीको प्रतिज्ञा-पालनार्थ अवश्य मारना है। यदि अपनी ऐश्वर्यशक्ति-

से काम लेते हैं तो उस वरदानकी महिमा घटती है, जो उन्हींकी भक्तिके बलपर मुनिने दिया था और यदि वरदानकी रक्षा की जाती है तो धर्मपूर्वक युद्ध न होनेसे पापकी प्राप्ति और जगत्‌में निन्दा होती है। इस समस्याके उपस्थित होते ही स्वामिधर्मके भाव हृदयमें इतने प्रबल हो गये कि भगवान्‌ने अपने धर्माधर्म और निन्दा-स्तुतिके विचारको हृदयसे तत्काल निकाल, अपने जनका मुख ऊँचा करना ही मुख्य समझ, उस सुग्रीवसे लड़ते हुए वालीको बाणसे मारकर गिरा ही तो दिया।

इससे यही मर्यादा निश्चित हुई कि स्वामीको कोई ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, जिससे अपनी स्वार्थ-सिद्धिके द्वारा अपने दास या सेवकका महत्त्व घटे। इस विषयपर सत्य हृदय और निष्पक्ष बुद्धिसे विचार करना चाहिये कि श्रीभगवान्‌का धर्मयुक्त कार्य वरदानकी महिमाको क्षीण करते हुए सम्मुख धर्मयुद्ध करना होता या अब हुआ है, जिसमें अपने निजका विचार हृदयसे निकालकर केवल अपने जनके वरकी प्रतिष्ठा रखी गयी ?

(९) अब शरणागत-वत्सलताके महत्त्व-निरूपणका प्रसङ्ग देखिये।

जिस समय विभीषणजी अपने भ्राता रावणसे तिरस्कृत होकर श्रीरामदलमें आये, उस समय श्रीभगवान्‌ने अपने सभी समीपस्थोंसे सम्मति ली। उनमे हनुमान्‌को छोड़कर अन्य किसीका मत विभीषणके अनुकूल नहीं हुआ। बात भी ऐसी ही थी। अकस्मात् आये हुए साक्षात् शत्रुके भाईका सहसा कैसे विश्वास हो। किंतु इन सब विचारोंको हृदयमें किंचित् भी स्थान न दे शरणागत-वत्सलताके भावके वशीभूत हो श्रीरामने सहसा अपना निश्चय इस वचनके द्वारा प्रकट कर दिया, जो शरणागतिका महावाक्य समझा जाता है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी शरण होकर तथा यह कहकर कि मैं तुम्हारा हूँ, मुझसे रक्षा चाहे, उसे मै समस्त भूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

(१०) लोकमतका क्या मूल्य है और राजाको लोकहितकी कितनी आवश्यकता है, इस प्रमुख विषयपर यह दृढहृदयशीला लीला पूर्ण प्रकाश डालेगी; इसी चरित्रसे पातिव्रत-धर्म और एकपत्नीव्रतका आदर्श भी सिद्ध होगा। वालि-वध-लीलामें कहा गया था कि भगवान्‌की तीन लीलाओंपर आक्षेप होता है। उनमें दूसरी यह है। किंतु यह आक्षेप ऐसे मनुष्योंके द्वारा होते हैं, जिनमें इस कराल कालके कारण पूर्ण विकृतियाँ आ गयी हैं। इस परम संकीर्णताके युगमें ऐसे राजाओंके दर्शन तो हों ही कहाँसे, जो प्रजाके आन्तरिक भाव जाननेका यत्न करके उनके कष्ट, क्लेश या अपवादोंको यथाशक्य दूर करनेकी चेष्टा करें; ऐसे भी तो नहीं हैं, जो खुले रूपसे धर्मपूर्वक आन्दोलनके द्वारा प्रकट होनेवाले लोकमतका भी आदर करें। आजकल तो ऐसे प्रयासोंका उलटा दमन होता है। आजकलकी नीतिके अनुसार तो न्यायका पात्र वही समझा जाता है, जो अपने प्रबल सगठनद्वारा राज्यको बाध्य करे। बस, ऐसी ही क्षुद्र नीतियोंका अनुभव करके लोग इन उदार चरित्रोंपर तुरंत कुतर्क करनेको सन्नद्ध हो जाते हैं और यह नहीं सोचते कि उस रामराज्यमें लोकमतके आदरकी सीमा इतनी ऊँची थी कि वह आजकलके संकीर्ण विचारवालोंकी कल्पनातकमें नहीं आ सकती। प्रत्युत वे तो उसमें उलटे दूषण लगाते हैं। उस समय प्रजाके सच्चे हितके लिये कैसा भी कठिन साधन बचाकर नहीं रखा जाता था। इसका एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यह है। एक दिवस कुछ हास्यकार पुरुष हास्यादिद्वारा श्रीभगवान्‌को रिझा रहे थे। उसी प्रसङ्गमें श्रीभगवान्‌ने उनसे पूछा कि 'नगरमे हमारे सम्बन्धकी क्या बातें हुआ करती हैं ?' उत्तरमे निवेदन किया गया कि 'सेतुबन्धन, रावण-वधादि अद्भुत कार्योंकी पूर्ण प्रशंसा है; किंतु इस प्रकारकी चर्चा भी नगरमें हो रही है कि रावणने जिन श्रीसीताजीको अङ्कमें लेकर उनका हरण किया और जिन्होंने उसके घरमें निवास किया, उनको जब महाराजने स्वीकार कर लिया, तब अब हम भी अपनी स्त्रियोंके ऐसे कार्योंको सहन करेंगे।'

श्रीभगवान्‌को यह सुनकर परम खेद हुआ। उन्हें अपनी आदर्श पतिव्रता सहधर्मिणीकी पूर्ण पवित्रताका अटल निश्चय था। बल्कि रावण-विजयके अनन्तर उसको अपने समीप बुलाकर कठिन अग्निपरीक्षा भी करा ली गयी थी और उसमें वह सबके समक्ष डंकेकी चोट उत्तीर्ण हुई थी। इस प्रकार अपनी पत्नीके सूर्यवत् निष्कलङ्क सिद्ध होते हुए भी केवल लोकमतका महत्त्व बढानेके लिये मर्यादा-पुरुषोत्तमने अपनी उस प्राणप्रियाके—जिसका वनवासमे किंचित्-कालीन

वियोग ही सर्वथा असह्य हो गया था—परित्यागका ही पूर्ण निश्चय कर लिया।

कहिये, लोकमतका इससे अधिक आदर क्या हो सकता है। और इसी कारण ऐसा त्याग किया गया, जिससे अधिक सम्भव ही नहीं। परतु इसमें मुख्य तथा विचारणीय बात यह है कि यहाँ निरे थोथे लोकमतका ही आदर नहीं किया गया है, इसमें परम लोकहित भी अभिमत था; क्योंकि संसारकी दृष्टि अन्तर्वर्ती हेतुओंके तलतक न पहुँच केवल परिणामपर रहती है। अतः श्रीजानकीजीका जैसा शुद्ध चरित्र था, उसकी सर्वथा उपेक्षा करके स्थूलदृष्टिके द्वारा यही प्रसिद्ध हो गया कि जब राजाने राक्षसोंके वशमें प्राप्त हुई पत्नीको ग्रहण कर लिया, तब प्रजा भी राजाका ही अनुकरण करेगी। विचारिये, यदि श्रीभगवान् अपने हृदयको पाषाण बनाकर श्रीजानकीजीका त्यागरूप उग्र कार्य न करते तो सदाचारको कितना भयानक धक्का पहुँचता? सभी स्त्रियाँ श्रीजानकीजीके तुल्य ऐसे कठिन पातिव्रतधर्ममें दृढ नहीं रह सकतीं। विशेष-कर कलियुग-सरीखे समयमें। सच पूछा जाय तो यह आदर्श आजके-से समयके लिये नहीं था, क्योंकि आज तो सदाचारका सर्वथा लोप होकर संसारमें धर्मविरुद्ध विचारोंकी यहाँतक प्रबलता है कि लोग विवाह-संस्काररूप मुख्य संस्कारके बन्धनोंको भी छिन्न-भिन्न करवानेके लिये राजासे कानून बनवा रहे हैं। इस कराल कालमें योनि-पवित्रता तो कोई वस्तु ही नहीं रही। इसके कारण देश थोड़े ही समयमें वर्णसंकर-सृष्टिसे व्याप्त हो जायगा। श्रीभगवान्‌के इस दूरदर्शितापूर्ण चरित्रसे पातिव्रतधर्म और एकपत्नीव्रतकी भी पूर्ण पराकाष्ठा प्रमाणित हुई। श्रीजानकीजीकी, जबतक वे श्रीभगवान्‌के साथ रहीं, पूर्ण अनुरक्तता प्रकट ही है और अन्तमें भी उन्होंने स्वामीकी आज्ञाका पालन करते हुए ही घोर यातना सहकर शरीर-त्याग किया। साथ ही श्रीभगवान्‌ने भी कभी अन्य स्त्रीका संकल्प भी हृदयमें नहीं किया और वियोगके पश्चात् ब्रह्मचर्यमें ही अपनी लीला सम्पन्न की।

उपर्युक्त दस पवित्र चरित्रोंसे जो मर्यादा स्थिर की गयी है, उसका यथामति दिग्दर्शन कराया गया।

अन्तमें इतनी बात और प्रदर्शित करनी आवश्यक है कि सामूहिक रूपसे इस लेखमें प्रतिपादित समस्त चरित्रोंसे या अन्योंसे भी, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है, यह परम अनुकरणीय मर्यादा और निश्चित होती है कि प्रारब्ध-वशात् कितनी भी आपत्तियोंके आनेपर भी मनुष्यको पुरुषार्थ-हीन होकर कभी भी लक्ष्यच्युत नहीं होना चाहिये। विचारिये, श्रीरामकी परम दारुण आपत्तियाँ राज्यसिंहासनके त्याग या वनवासमें ही समाप्त नहीं हुईं, किंतु यहाँतक पीछे पड़ीं कि प्राणसे प्यारी धर्मपत्नीका भी वियोग हो गया और वह भी सामान्यरूपसे नहीं, एक विकट और प्रबल राक्षसके हरण-द्वारा। परंतु जितनी जितनी अधिक भीषण आपत्तियाँ आयीं, उतने-ही-उतने अधिक पुरुषार्थके लिये उनका उत्साह होता गया। अतः प्राणीमात्रके जीवनकी सफलताके लिये श्रीभगवान्‌के द्वारा यह सर्वोच्च शिक्षारूप मर्यादा स्थिर की गयी है कि जितनी अधिक आपत्तियाँ आयें, उतना ही अधिक पुरुषार्थ किया जाना चाहिये।

भगवान्‌को भक्त सबसे अधिक प्रिय हैं

भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(रामचरित० उत्तर०)

श्रीभगवान्का रूप चिन्मय है

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जिस प्रकार ज्ञान और आनन्द आदि श्रीभगवान्के स्वरूपभूत गुण हैं, उसी प्रकार कर-चरण-नयन-वदनादिमान् रूप भी उनका स्वरूप ही है; क्योंकि श्रुतिने इसे भी उनका स्वरूप ही बताया है।

भगवद्विग्रह स्वाभाविक है—स्वसत्तात्मक है; आगन्तुक, परकीय, प्राकृत, त्रिगुणमय नहीं है। साम्प्रदायिक विद्वत्समाजमें यह प्रश्नोत्तर प्रचलित है—'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः? यदात्मको भगवान्। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मको भगवान्।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि भगवद्-व्यक्ति भगवत्-स्वरूप ही है।

श्रीभगवान्का सौन्दर्य-सार-सर्वस्व, अवाङ्मनस-गोचर दिव्य रूप श्रुति-शास्त्रोंका एकमात्र लक्ष्य है। परमहंस महामुनिजन उसी श्रीविग्रहके चरणोंके चिन्तनमें लीन रहा करते हैं। वह श्रीविग्रह अत्यन्त विनिर्मल है। यदि वहाँ भी दोष-धातु-मलका सन्निवेश होता तो सोरोंके संत गोस्वामी तुलसीदासजी एक बार रामा-विरक्त होकर दुबारा रामानुरक्त क्यों होते?

जिस प्रकार पाषाण-प्रतिमाका उपादान पाषाण है, उस प्रतिमाके चरण-वदनादि अवयव पाषाणमय हैं, उसी प्रकार ईश्वरके चिद्घन-विग्रहका उपादान चैतन्य है, उसके चरण-वदनादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी चैतन्यमय हैं।

जिस प्रकार लोकमें जाया-पतिसे 'अपरस्परसम्भूत' सृष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीमन्नारायण-भगवान्से ब्रह्मदेवका जन्म नहीं होता। उनके तो नाभि-सरोरुहसे ही चतुरानन ब्रह्मदेवका आविर्भाव शास्त्रमें वर्णित है। ईश्वर-विग्रहमें इन्द्रियचिह्न भक्त-जन-ध्येय होनेके कारण, लौकिक पुरुषके स्तनके समान, केवल सौन्दर्य-विधायी होते हैं। लोकमें देखा जाता है कि जन्म-समयमें बालक-बालिकाओंके स्तनचिह्न एक-से होते हैं। बालिकाओंके स्तन, उनके प्राप्तवयस्क होनेपर स्तनधयोंके पोषक होते हैं; किंतु बालकोंके स्तन, उनके प्राप्तवयस्क होनेपर, स्तनन्धयोंके पोषक न होकर केवल सौन्दर्य-विधायी ही होते हैं। श्रीभगवान्के श्रीविग्रहमें भी उपस्थोपस्थिति भक्तजनोपस्थेय होनेके कारण केवल सौन्दर्य-निमित्तक है।

भगवान्के विख्यात 'सच्चिदानन्द' नामका प्रथमांश 'सत्' है। इसी सत्को 'शुद्ध तत्त्व', 'शुद्ध सत्त्व', 'विशुद्ध तत्त्व', अथवा 'विशुद्ध सत्त्व' कहा जाता है; न कि प्राकृत सत्त्वगुणके किसी अंश-विशेषको। शास्त्रने भगवान्में प्राकृत गुणोंका निषेध किया है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।

कर-चरणादिमान् भगवद्-रूपके भगवत्-स्वरूप होनेके कारण उस रूपका सत्, सत्स्वरूप आदि शब्दोंसे निर्देश करना उचित ही है। इसी प्रकार उसको चित्, चिन्मय, संवित्, ज्ञानमय, आनन्दमय आदि शब्दोंसे अभिहित करना भी शास्त्रीय ही है। ऐसे सभी शब्दोंके भावको सूचित करनेके लिये भक्तजन 'सच्चिदानन्दघन' शब्दका प्रयोग किया करते हैं, जिसका अर्थ है—सच्चिदानन्दकी मूर्त्ति। घन शब्दका अर्थ है मूर्ति—

घनो मूर्त्तौ। (अष्टाध्यायी ३। ३। ७७)

भक्तिमें अपार शक्ति

(रचयिता—साहित्य-वाचस्पति दीनानाथ चतुर्वेदी, शास्त्री 'सुमनेश')

ज्ञान तौ प्रान कौ सोसक है, पुनि पोसक मानहु चित्त कौ भार है।
प्यार असार है जीवकी हार, समाधिमें स्वासन कौ निरहार है॥
वासना सिंधु महा 'सुमनेश', ताकी सजोर विसैली बयार है।
उक्ति सजुक्ति विमुक्ति औ भुक्ति, विरक्ति ते भक्तिमें सक्ति अपार है॥

भक्तिके परम लक्ष्य—भगवान् नारायण

भगवान्‌की दिव्य गुणावली

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भगवान्‌की दिव्य गुणावलीका वर्णन यथार्थतः कौन कर सकता है ? वही, जिसको भगवान्‌के असीम अनुग्रहसे उनके विमल निरञ्जन रूपकी एक भव्य झाँकी प्राप्त हो गयी हो। इस प्रत्यक्ष अनुभवके अभावमें शास्त्र ही हमारे एकमात्र सहायक हैं। शास्त्र भी तो महर्षियोंके प्रातिभ चक्षुके द्वारा निर्ध्यात तथा अनुभूत तथ्योंके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं और उनका महत्त्व भी इसी बातमें है कि वे ऋषियोंकी विविध अनुभूतियोंके तात्त्विक परिचायक हैं। शास्त्रके वचनोंका ही सम्बल लेकर यह दीन लेखक इस महनीय प्रयासके लिये यहाँ तत्पर है।

दिव्यगुणौघनिकेतन सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌के गुणोंकी इयत्ता नहीं—अवधि नहीं। उनके गुणोंकी गणना न तो कोई कर सका है और न भविष्यमें ही उसे करनेकी किसीमें क्षमता हो सकती है। श्रीमद्भागवतका स्पष्ट कथन है कि लगातार अनेक कल्पोंतक प्रयत्न करनेसे भूमिके कणोंको कोई गिननेमें भले ही समर्थ हो जाय, परंतु उस अखिलशक्तिधामके गुणोंको गिन डालना एकदम असम्भव है। बात यह है कि भगवान् स्वयं अनन्त हैं और उनके गुण भी उसी प्रकार अनन्त हैं—

> यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
> नुनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
> रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्
> कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥
> (श्रीमद्भा० ११। ४। २)

भागवतके एक दूसरे स्थल (१० । १४ । ७) मे भी इसी विशिष्टताका निर्देश अन्य उदाहरणोंकी सहायतासे किया गया है।

भगवान्‌का बहिरङ्ग कितना सुन्दर तथा मधुर है ! उनके शरीरसे निकलनेवाली प्रभाकी तुलना एक साथ उगनेवाले करोड़ों सूर्योंकी चमकके साथ दी जाती है—'कोटिसूर्यसमप्रभः।' गीतामें भी इस विशिष्टताका उल्लेख है—

> दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
> यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥
> (११ । १२)

इस पद्यका 'सहस्र' शब्द भी अनन्त संख्याका ही बोधक माना जाना चाहिये। आकाशमें यदि हजारों सूर्य एक साथ उदय हो जायँ तो वह प्रकाश भी भगवान्‌के प्रकाशकी समता किसी प्रकार नहीं पा सकेगा। हमारी भौतिक आँखें इस एक कलाधारी सूर्यको एकटक देखनेमें चौंधिया जाती हैं, तो उस दिव्य रूपका दर्शन क्यों कर सकती हैं। इसीलिये तो भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्यको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्य नेत्र प्रदान किये थे—

> दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
> (गीता ११ । ८)

भगवान् करोड़ों चन्द्रमाके समान शीतल हैं (कोटिचन्द्रसुसीतलः) तथा वे करोड़ों वायुके समान् महान् बलशाली हैं (वायुकोटिमहाबलः)। भगवान् सौन्दर्य तथा माधुर्यके निकेतन हैं। उस पुरुषकी अलौकिक शोभा क्या कही जाय, जिसे लक्ष्मी अपने हाथमें कमल धारणकर स्वयं खोजती फिरती है। कौन लक्ष्मी ? वही लक्ष्मी, जिसे संसार पागल होकर ढूँढ़ता फिरता है। आशय यह है कि विश्वके प्राणियोंके द्वारा खोजी जानेवाली लक्ष्मी भी जिसके पीछे पागल होकर भटकती फिरती है, भला, उस व्यक्तिके रूप-सौन्दर्यकी, आकर्षणकी सीमा कहाँ। उसके अलौकिक माधुर्यकी इयत्ता कहाँ। वह स्वयं सौन्दर्य-सुधा-सागर चन्द्रमा अपनी रूपसुधाको छिटकाता हुआ जब मस्तीमें आकर झूमता निकलता है, तब भला, उसके अलभ्य सौन्दर्यकी कहीं तुलना है। भागवतकार अपनी मस्तीमें बोल उठते हैं—

> नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
> दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन।
> यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
> श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥

इसीलिये वे 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' की उपाधिसे विभूषित किये जाते हैं। तुलसीदासके शब्दोंमें वे 'कोटि मनोज लजावनिहारे' हैं। एक कामदेव नहीं, करोड़ों कामदेव जिनकी सुन्दरता देखकर लज्जित हो जाते हैं, वे भगवान् कितने सुन्दर होंगे—इस विषयमें तो भावुकोंकी भी बुद्धि कल्पनाकी दौड़मे आगे नहीं बढती, दूसरोंकी तो बात ही क्या। ऐसे श्यामके ऊपर गोपिकाओंका रीझना कुछ अचरजकी बात नहीं

है। महाकवि 'द्विजदेव' की सम्मतिमें श्रीकृष्णका रूप ही ऐसा अद्भुत है कि भाग्यवती अहीरनी उस रूपके ऊपर अपना हीरा निछावर करती है—

वृंदावन बीथिन में बंसीबट छाँह अरी
कौतुक अनोखौ एक आज लखि आई मैं।
लाग्यौ हुतौ हाट एक मदन धनी कौ तहाँ
गोपिन कौ झुंड रह्यौ घूमि चहु घाई मैं।
'द्विजदेव' सौदाकी न रीति कछु भाषी जाइ,
जैसी भई नैन उन्मत्तकी दिखाई मैं।
लै लै कछु रूप मनमोहन सौं बीर वे
अहीरनि गँवारी देति हीरनि बटाई मैं॥

भगवान्‌का अन्तरङ्ग भी कितना कोमल है! वे भक्तकी व्याकुलतासे स्वय व्याकुल हो उठते हैं। भक्त कितना भी अपराध करता है, वह उसका कभी विचार ही नहीं करते। भक्तोंका दोष भगवान् अपने नेत्रोंसे देखकर भी उधर ध्यान नहीं देते और तुरत ही उसे भूल जाते हैं। इसलिये शास्त्रमें उनके इस विलक्षण गुणकी ओर सर्वत्र संकेत मिलता है। हनुमान्‌जीकी दृष्टिमे भगवान् अपने भक्तकी योग्यताकी अपेक्षा ही नहीं रखते—**परस्य योग्यतापेक्षारहितो नित्यमङ्गलम्।** श्रीगोस्वामीजीने इसीलिये विनय-पत्रिकामें लिखा है—

जन गुन अरूप गनत सुमेरु करि,
अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।

'अपने जनके मेरुके समान दीर्घ तथा विशाल दोषोंको कभी ध्यानमे नहीं लाते, परंतु उसके रेणुके समान स्वल्प गुणको अपने हृदयमें रखते हैं तथा उसका परम कल्याण करते हैं।' भगवान् भक्तोंका मन रखते हैं तथा अपने शरणागत जनकी लाज, मर्यादा, प्रतिष्ठा रखनेमें कुछ अनुचित भी होता है, तो भी वे उसका निर्वाह कर ही देते हैं। ऐसा है निर्मल स्वभाव भगवान्‌का—

रहति न प्रभु चित चूक किये की।
करत सुरति सय बार हिये की॥
× × ×
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बधु अति मृदुल सुभाऊ॥

जब तक जीव भगवान्‌से पराङ्मुख है, तभीतक वे दूर हैं; परंतु ज्यों ही वह उनके सम्मुख होता है, उनकी शरणमें जानेको उद्यत होता है, त्यों ही भगवान् उसके सब पापोंको दूरकर उसे आत्मसात् कर लेते हैं।

प्राणियोंके भगवान् सर्वस्व हैं। जितने सम्बन्धोंकी कल्पना कोई भी जीव अपनी बुद्धिके बलपर कर सकता है, भगवान्‌में वे सब सम्बन्ध पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। सम्बन्धोंकी सत्तापर न जाकर उनके विरुद्धकी ओर जाइये तो जान पड़ेगा कि भगवान् हमारे क्या नहीं हैं। वे सब कुछ हैं। वे हमारे माता, पिता, सखा, सुहृद्—सभी कुछ ही हैं तथा साथ-ही-साथ नित्य होनेसे हमारे भौतिक सम्बन्धोंके विपरीत वे हमारे लिये नित्य माता हैं, नित्य पिता हैं, नित्य सुहृद् आदि-आदि। उनमें पक्षपातकी गन्ध भी नहीं है। वे सबके प्रति सम शील-स्वभावके हैं। इस विषयमें भागवतमें उनकी समता कल्पवृक्षके साथ दी गयी है। भगवत्-कल्पतरुको किसीके साथ न राग है न द्वेष; परतु जो व्यक्ति उसके निकट जाकर किसी मनोरथकी कामना करता है, भगवान् उस इच्छाको अवश्यमेव सफल बना देते हैं। भगवान् 'स्व' तथा 'पर'—अपना और पराया—का तनिक भी भेद नहीं रखते। यह हो भी कैसे सकता है, जब भगवान् सर्वात्मा ठहरे तथा समद्रष्टा ठहरे। भगवान्‌की जैसी सेवा कोई प्राणी करता है, तदनुरूप ही फल वह पाता है। इसमे विपर्ययका—निर्दयताका कहीं भी अवकाश नहीं है। प्रह्लादजीने अपनी इस विषयकी अनुभूतिको इन शब्दोंमें प्रकट किया है—

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। २७)

भागवतका यह स्पष्ट कथन है कि भगवान् सेवाके अनुरूप ही फल प्रदान करते हैं। उनमें किसी प्रकारका भेद-भाव माननेकी बुद्धि नहीं है। इसी तथ्यका प्रतिपादन (१०।७२। ६ में) युधिष्ठिरने भी किया है, जिसका निष्कर्ष पूर्वोक्त शब्दोंमें ही दिया गया है—

सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥
(श्रीमद्भा० १०। ७२। ६)

इस प्रकार भगवान् करुणावरुणालय हैं तथा सदा अपने भक्तोंकी—उपासकोंकी कामनाकी पूर्ति किया करते हैं।

भगवान्‌को भक्तलोग कभी-कभी निष्ठुर बताते हैं; क्योंकि वह उनकी उपेक्षा किया करता है—वह उनकी कामनाकी पूर्ति नहीं करता तथा अपनी समागम-सुधासे वञ्चित रखकर उन्हें विरहाग्निमें तपाता रहता है। गोपियोंका दृष्टान्त इस

विषयमें पूर्णतया जागरूक है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने श्रीमुखसे इस 'उपेक्षाभाव' का रहस्य समझाया है। रासपञ्चाध्यायीमें गोपियोंके प्रश्नका श्रीकृष्ण बड़ा ही उदार उत्तर देते हैं—

नाहं हि सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २०)

'हे गोपिकाओ ! यह ठीक है कि मैं अपने भजनेवाले जनोंको भी कभी-कभी नहीं भजता। इसका क्या कारण है? इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। मेरी ओरसे उनके प्रेमकी ज्यों ही प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, उनका प्रेम खसकने लगता है। इसलिये मैं अपनी झलक एक बार दिखलाकर अन्तर्हित हो जाता हूँ, जिससे मेरे पानेकी उनकी अभिलाषा तीव्रसे तीव्रतर बन जाय—जिस प्रकार किसी दरिद्रको कहींसे मिली हुई मणि यदि गायब हो जाती है तो वह उसके पानेके लिये एकदम बेचैन हो उठता है।' अध्यात्मजगत्में भी ठीक यही बात है। इस प्रकार गोपियोंकी उपेक्षा करनेमें भगवान्का कोमल हृदय यही चाहता था कि भगवान्के प्रति उनका प्रेम और भी बढ़ता चला जाय। इस भावनाके भीतर नैष्ठुर्यकी कल्पना कथमपि सम्भव है? नहीं, कभी नहीं। भगवान् भक्तोंके पराधीन रहते हैं। भागवतका कहना है—

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । १७)

भगवान्का चरणारविन्द ही अलभ्य लाभ है। उसकी प्राप्तिके अनन्तर प्राप्तव्य कुछ रहता ही नहीं; तथापि भगवान् स्वयं ही अनुग्रह करनेके लिये कातर रहते हैं और भक्तोंके कल्याण-साधनके लिये उसी प्रकार उतावले बैठे रहते हैं, जैसे रँभानेवाली गाय अपने दुधमुँहे बच्चेकी ओर। इस उपमाके भीतर कितनी व्यञ्जकता है! भगवान्के हृदयमें भक्तोंके लिये कितनी व्याकुलता भरी रहती है—इसका अनुमान इस उपमाके सहारे किया जा सकता है। इसीलिये भगवान् भक्तोंके कल्याणार्थ उन सब रूपोंको धारण करते हैं, जिनकी भक्त अपनी बुद्धिसे कल्पना करता है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ११)

इस प्रकार भगवान्का अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दोनों इतने सुन्दर तथा कोमल हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी अलौकिक गुणावलीके कारण ही तो त्रिगुणातीत मुनिजन भी भगवान्के स्वरूपके ध्यानमें मस्त होकर कालयापन करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

श्याम निकट बुलाते हैं

मायाके अगारमें अँगार चुगते हो तुम, द्वार वे तुम्हारे सुधा-धार ढरकाते हैं।
तुम उनके हो, वे तुम्हारे—इसी नाते सदा भूल अपराध राधावर अपनाते हैं।
लेनेको समोद गोद उत्सुक अनाथ-नाथ, हाथ किंतु उनके उठे ही रह जाते हैं।
हाय! रे अभागे जीव! भागे फिरते हो तुम, दूर हट जाते, श्याम निकट बुलाते हैं॥
पूनोकी जुन्हाई मुसक्याई, छटा छाई दिव्य, अन्तर न आज कोई शरद-वसन्तमें।
कान खोल ध्यान दे तनिक सुन तो लो सही, मृदु मुरलीका स्वर गूँजता दिगन्तमें।
तोड़ बन्धनोंको छोड़ जगके प्रपञ्च, चलो प्रीतिकी पुकार उठी अवनी अनन्तमें।
फिर पिछड़े तो चिर विछुड़े रहोगे अरे! आश नहीं रासकी, निराश होगे अन्तमें॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

भक्तिका स्वाद

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए० डी०, लिट०)

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥
(रामचरितमानस)

तुलसीदास पहुँचे हुए संत और सच्चे भक्त थे । पूरा रामचरितमानस लिखनेके बाद अन्तमें उन्होंने अपने जीवनभरका अनुभव सचाईसे टाँक दिया है । इस दोहेमें जैसे वे अपने मनोवैज्ञानिक संघर्षका निचोड़ रख गये हैं । इसमें उपदेशकी भाषा नहीं, आत्मनिरीक्षणकी शब्दावलीमें कुछ ऐसा मँहगा तत्त्व कहा गया है, जो प्रायः सर्वत्र नहीं मिलता । कामी पुरुषको जैसे स्त्री प्रिय लगती है--इस एक उपमामें गुसाईंजीने भक्तिकी पूरी मीमासा कर दी है । कामी व्यक्तिके मनकी छटपटाहटको कहकर या लिखकर नहीं बताया जा सकता । उसे अन्यत्रसे सुनकर जान लेनेका भी उपाय नहीं है । वह तो हरेकके निजी अनुभवकी बात है । कामका डंक जिसे न लगा हो, ऐसा कौन शरीरधारी हो सकता है । स्त्री या पुरुषके मनोभावोंमें काम-वासनाका सबसे अधिक प्रबल स्थान है। इस वासनामें जो अपने प्रियके लिये राग होता है—हृदयकी वह व्याकुलता, मिलनेकी वह तीव्र इच्छा, यही कामानुगा भक्ति है । इस मनोदशामें व्यक्ति अपने व्यक्तित्वका कोई अश बचा नहीं रखता । वह प्रियतमाके लिये अपने सर्वांशका समर्पण स्वेच्छा और प्रसन्नतासे करता है । उसमें उसे अलौकिक आनन्दकी प्राप्ति होती है ।

गुसाईंजीका कहना है कि चित्तकी यही अवस्था जब स्त्री-विशेषके लिये न रहकर प्रेम, रूप और तृप्तिकी समष्टि किसी दिव्यतत्त्व या रामके लिये हो जाय तो वही सर्वोत्तम भक्तिकी मनोदशा है । इस मनोदशाका विश्लेषण करें तो यह वह अवस्था है, जिसमें मानवीय आत्मा सुखकी खोज अपनेसे बाहर संसारके किसी विषयात्मक केन्द्रमें नहीं करती । वरं जिस चैतन्य तत्त्वसे उसका विकास हुआ है, उसीसे मिल जानेके लिये वह कामासक्त मनकी-सी व्यग्रता प्राप्त करती है । वही भक्तिका उत्कृष्ट रूप है । उसीमें रसकी उपलब्धि है । मनकी उस दशामें अपने-आपसे जूझना नहीं पड़ता । वह तो एक भीतरसे स्वतः आनेवाली प्रेरणा होती है, जो अतिशय प्रिय लगती है । वस्तुतः अपने आदि—मूल स्रोतसे एक हो जानेकी लालसा ही भक्ति-जनित आनन्दकी परम अनुभूति है ।

पाँच भूतोंसे बने हुए संसारमें रहकर पञ्चविषयोंका उपभोग करनेवाली पाँच इन्द्रियोंको साथ रखकर कौन यहाँ बाह्य आकर्षणसे बच सकता है और किसका मन सकुशल रह सकता है । पाँच विषयोंमें भी स्त्रीरूपी विषयकी शृङ्खलाएँ सबसे दृढ होती हैं । उनका बन्धन जबतक नहीं मिटता, तबतक भक्तिकी चर्चा कैसी । हाँ, उसकी उपलब्धिके मार्गमें कुछ व्यायाम हम भले ही करते रहें । जिस प्रकार किशोर अवस्थाके स्वस्थ, स्वच्छ मनको किसी विचित्र क्षणमें कामकी पहली चिनगारी छू लेती है और फिर जीवन और मनोभाव रंग-बिरंगी कल्पनाओंसे भर जाते हैं, वैसी ही कोई प्रबल घटना जबतक ईश्वर-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्वके प्रति मनके दुर्द्धर्ष आकर्षणके रूपमें अपने अनुभवमें न आये, तबतक मानो भक्तिका कोई स्वाद नहीं मिला । ज्ञानमें भी कुछ इसी प्रकार ज्योतिका दर्शन होता है । यदि ऊँची भूमिकापर चढ़कर देखा जाय तो जैसा गोसाईंजीने कहा है—

ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

ज्ञान और भक्ति, साधनाके इन दो पथोंमें विरोधकी भावनाकी कल्पना उचित नहीं । सच्चा ज्ञानी ईश्वर-भक्त पहले होता है । भगवान्‌की जो दिव्य विभूति है, विश्वमें उसका जो ज्योतिर्मय रूप है, जो चैतन्य-तत्त्व ही आदिमें और अन्तमें एकमात्र सत्य है, मायासे परे उस रूपमें उसकी अनुभूति ज्ञानका स्फुट लक्षण है । भक्त और ज्ञानी दोनोंके मनमें वैराग्यकी प्रतीति आवश्यक है । विषयोंसे यदि वैराग्य नहीं हुआ तो न ज्ञान सधता है न भक्ति । ज्ञान और भक्तिमें यदि भेद करना ही हो तो कह सकते हैं कि ज्ञानकी दशामें संसारका नानात्व मिट जाता है और उसका 'एकमेवाद्वितीयम्' रूप ही अनुभवमें आता है । किंतु भक्त इस नाना-भावको स्वीकार करके उसमें पिरोयी हुई एकताके प्रति जागरूक रहता है । एकमे नाना-भावका निराकरण और दूसरेमें उसे स्वीकार करते हुए भी जीवनके व्यवहारको चैतन्यमय, आनन्दमय और रसमय बनाना अभीष्ट होता है ।

सृष्टि-प्रक्रियामें सर्वप्रथम कामकी अभिव्यक्ति कही गयी है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
(ऋग्वेद, नासदीयसूक्त)

काम ही मनकी शक्ति है । प्राकृत मनुष्यकी कामना बहिर्मुखी या विश्वके लिये अर्पित होती है । अपने केन्द्रमें बैठकर वह इन्द्रियद्वारोंके भीतरसे बाहरकी ओर झॉकता रहता है, जैसा भक्तवर आन्ध्र कवि 'वेमना' ने कहा है—'पञ्चभूतोंमें जबतक पञ्चेन्द्रियोंका संचार होता रहेगा तबतक जगत्का अस्तित्व दिखायी देगा । किंतु इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी बनाकर ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होगा कि अकेला जीवमात्र सत्य है, शेष सब मिथ्या है । वही ब्रह्म है । चित्त-शुद्धिके बिना उपासना व्यर्थ है ।'

इस प्रकार हममेंसे प्रत्येकके सामने यह आवश्यक कर्तव्य आता है कि विश्वमें जो सत् और असत्का दुर्द्धर्ष विधान है, जो उसका अनादि, अनन्त चक्र है, उसमें अपनी स्थितिको दृढ़तासे सत्के साथ जोड़ें । सत्को पकड़नेसे ही हमें मन और इन्द्रियोंकी वह स्वच्छता प्राप्त हो सकती है, जिसके अनुसार जीवन व्यतीत करना प्रत्येक सज्जन व्यक्तिका कर्तव्य है । चुटकी बजाते न कोई ज्ञानी बन सकता है न भक्त । प्रत्येकको पहले एक आध्यात्मिक लड़ाई लड़नी पड़ती है । इस पहली टक्करको जो नहीं झेल सका, उसके लिये ज्ञान, योग, धर्म, भक्ति आदि साधनोंकी चर्चा ही व्यर्थ है । अतएव प्रत्येकको सर्वप्रथम चरित्रयोगके रूपमें अपनी साधनाके बीज अङ्कुरित करना आवश्यक होता है । ऐसा भी अनुभवमें आता है कि विषयों और इन्द्रियोंके बीच मचनेवाले इस संग्राममें एक बार ही जय नहीं मिल जाती । यह विरोध या संघर्ष लंबा भी खिंच सकता है ।

सत् और असत्, पुण्य और पाप, ज्योति और तम, चेतन और जड, गुण और दोष—इनमेंसे हम सत् पक्ष छोड़कर असत्की ओर मन ले जाते हैं, इसीका नाम 'मोह' है, और असत्को पहचानकर उसे छोड़ देते हैं और सत् पक्षकी ओर मन ले जाते हैं, इसीका नाम 'विवेककी विजय' है । विवेक और मोहका यह द्वन्द्व अपने-अपने द्विविरुद्ध मानसिक भावोंका ही संघर्ष है । कभी विवेककी पराजय होती है, कभी मोहकी । ज्ञानका प्रतिद्वन्द्वी अज्ञान ही मोह है । मोह सब व्याधियोंका मूल है, विज्ञानको मोह नहीं होता । जब बुद्धिमें विज्ञानका सूर्य चमकता है, तब उसपर मोहका अन्धकार नहीं छा सकता । जिसे गुसाईंजीने मनकी भीतरी गाँठ या 'अभ्यन्तर-ग्रन्थि' कहा है, वह मोह ही है । रामचरितमानसमें आरम्भसे ही कविने मोहकी समस्याको उठाया है—

महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर ।

अर्वाचीन भाषामें कहें तो वस्तुओंके यथार्थ मूल्याङ्कनका संकर—यही मोह है । प्राचीन शब्दावलीमें काम, क्रोध, लोभ, मद, अहंकार—जितने भी मानसिक विकार हैं, वे मानस-रोग या मनोमल ही मोहके रूप हैं । कविने तीन प्रकारके मल कहे हैं—एक कलिमल, दूसरे मनोमल और तीसरे संसारके मल । मनोमल तो अपने ही भीतरके आध्यात्मिक विकार हैं । कलि-मल वे आधिभौतिक या सामाजिक त्रुटियाँ हैं, जिनके बीचमें रहकर मानवको जीवन-निर्वाह करना होता है । संसृति या संसारके रोग वे आवरण हैं, जो मायाके सम्पर्कमें आनेके कारण ही प्रत्येक जीव या मनकी आधिदैविक सीमाएँ बने हुए हैं, जिनके कारण हम अपने प्रातिस्विक या निजी स्वरूपके आनन्दसे वञ्चित हैं । मनोमलको 'मल', कलिमलको 'विक्षेप' और संसृति-रोगोंको 'आवरण' कहा जा सकता है । कविकी दृष्टिमें रामकी कथा इन तीनों विकारोंसे मनको छुड़ानेवाली है । 'रामाख्यमीशं हरिम्' यही रामका स्वरूप है । विश्वके निर्माणमें परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर—जितनी कारण-परम्पराएँ हैं, अथवा पुरुष-प्रकृति विकृति आदिके जितने धरातल हैं, उन सबसे परे जो निर्विशेष चैतन्य कारण है, वही ब्रह्म है, वही राम है । उस तत्त्वकी विशेषता यह है कि वह स्वयं अविकृत रहता हुआ इस भूतमय विश्वका सृजन कर रहा है, जो क्षण-क्षण परि-वर्तनशील है । उसके स्वाभाविक ज्ञान और बल क्रियाका एक विराट् नियम है—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

जिसकी वह सृष्टि करता है, उसमें वह स्वयं अनुप्रविष्ट हो जाता है । निर्गुण होते हुए भी उसका वही सगुण रूप है—

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही ।

श्रुतियाँ उसी अनादि, अजन्मा, व्यापक, निरञ्जन तत्त्वको ब्रह्म कहती हैं—

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं ।

अपने उद्गम-स्रोततक पहुँचने या उसमें जा मिलनेकी आकुलता—जिस आनन्द-तत्त्वसे हमारा मूल स्वरूप निर्मित हुआ है, उसे ही पुनः अनुभव करनेकी व्यग्रता—यही उपासनाका हेतु और लक्ष्य है । इसीकी साधना 'भक्ति' है । भक्तकी भगवान्‌में आसक्ति और कामी पुरुषकी कामिनीमें आसक्ति—इन दोनोंके आकर्षणका स्वरूप समान है, यद्यपि दोनोंके धरातलमें स्पष्ट ही महान् अन्तर है । एक बहिर्मुखी और दूसरा अन्तर्मुखी है । कामासक्त स्थितिमें हम किसी बाह्य केन्द्रकी परिक्रमा करने लगते हैं । किंतु भक्तिकी साधनामें अपने ही चैतन्य केन्द्रकी प्रदक्षिणा

करनी होती है। जो जिसकी प्रदक्षिणा करता है, उसके गुणोंका आधान उसकी आत्मामें होता जाता है; क्योंकि वह उसके प्रभाव-क्षेत्रमें खिंचकर उसके साथ तन्मय होता जाता है। मनकी रतिका क्षेत्र या तो नारी है, या फिर अपना आत्मा ही हो सकता है। श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह और काम—इन चारों भावोंकी समष्टिकी संज्ञा रति है। रतिकी प्राप्ति केवल स्त्रीसे ही सम्भव है। मित्र, पुत्र, गुरु, माता-पिता आदि जितने सम्बन्ध हैं, उनसे श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेहके भाव तो मिलते हैं; किंतु रतिके आकर्षणका केन्द्र नारी है। जैसी रस्सीसे पुरुष नारीके प्रति खिंचता है, वैसी और किसीके प्रति नहीं। 'कामिहि नारि पिआरि जिमि' इस सूत्रमें उसी रतिरूप आकर्षणका संकेत है। वही आकर्षण स्त्रीसे हटकर जब अपने ही चैतन्य केन्द्रमें समाविष्ट हो जाता है, तब इसी परिवर्तनको 'भक्ति' कहते हैं। वह जितना स्वाभाविक होता है, उससे उतना ही अधिक रस प्राप्त होता है। गुसाईंजीने मानसके अन्तमें जिस उपमाका उल्लेख किया है, वही ऋग्वेदमें अपने मन और देवतत्त्वके पारस्परिक आकर्षणके लिये प्रयुक्त हुई है—

पतिरिव जायामभि नो न्येतु
(ऋग्वेद १०। १४९। ४)

अर्थात् जैसे पति जायाके प्रति होता है, वैसे ही हम उस महान् देवके प्रति आकृष्ट हों। रति या कामका जो स्वाद है, वही भक्तिका स्वाद है। स्वाद ही रस है। स्वाद या रसमें ही सच्चा सुख है। बिना रसके मन हठात् कहीं ठहरता नहीं। उसे बलपूर्वक रोका भी जाय, तो भी बार-बार छटक जाता है। 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'। रसकी अनुभूति या प्राप्तिका नाम ही आनन्द है। विषय-रस चखनेमें मन जिस स्वादुभावसे रमता है, उसीसे उसे भगवद्रसमें रमना चाहिये। वही भक्तिका सच्चा स्वाद है। वह रस कल्पना नहीं, नितान्त सत्य है। विषय-रसके अस्तित्वकी सचाई जितनी ठोस है, उससे कहीं अधिक सत्यात्मक भक्ति-रसकी उपलब्धि है। उस रसकी सत्ता है। उसमें भी मानस चैतन्यकी सब अनुभूतियाँ हैं। उसमें भी हमारा वह चिर-परिचित सुख भरपूर विद्यमान है। वस्तुतः वह सुख विषय-सुखसे कहीं विचित्र है। अतएव भक्तिका स्वाद 'आनन्द' कहा जाता है।

अध्यात्म-जगत्का स्वाद इन भौतिक स्वादोंसे कहीं अधिक मीठा है। ऋषिने उसे चखते हुए कहा था—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
(ऋग्वेद ६। ४७। १)

यह रस स्वादिष्ट है, मीठा है, तीव्र है; जब चढ़ जाता है, रंग गहरा लाता है। यह अति रसीला है। इसकी तुलनामें अन्य कुछ नहीं है। प्रकृतिमें ही एक-से-एक मीठे स्वाद भरे हैं। दाखके अणु-अणुमें कौन इतनी माधुरी भर देता है? पुष्पोंके परागमें या मधुके कोशमें जो मिठास है, उसका स्रोत कहाँ है? वेदोंमें सूर्यकी रश्मियोंको मधुकी नाड़ियाँ कहा गया है। सौर मण्डलमें जो विद्यमान है, संवत्सरद्वारा जिसका निर्माण हो रहा है, वह सब सूर्यकी रश्मियोंकी ही रचना है। इन रश्मियोंके अनन्त रहस्य हैं, जिनसे वे नाना पदार्थोंकी सृष्टि कर रही हैं। इनमें ही एक विचित्र रहस्य मधुर स्वादकी उत्पत्तिका कहीं छिपा हुआ है। प्रकृतिके भूत-भौतिक धरातलपर जो मिठास हम चख पाते हैं, वह अकेली घटना नहीं है। प्राणके धरातलपर जो क्रिया-सृष्टि है, जो प्राण-मात्रा है, उसमें भी उन मधु-नाड़ियोंका जाल पूरा हुआ है। वस्तुतः प्राणके आधिदैविक धरातलसे ही उतरकर वह रस स्थूल भूतोंमें आता है। प्राणोंमें जो मधु है, वही सब कुछ है। स्थूल भूतोंका मधु तो उसीकी अनुभूति है। अपना स्वाद विकृत हो तो बाह्य मधु उदास लगता है। विषयोंके सब स्वाद इसी नियमके अधीन हैं। प्राणोंमें जो मिठासका अनुभव है, वह और भी सूक्ष्म स्रोतोंसे अवतीर्ण होता है। वह प्रज्ञा-मात्रा या मनका धरातल है। मधुका उद्गम वहीं कहीं है। जो मन विषयोंसे मिठास खींचता है, वही जब मुड़कर भीतरकी ओर मिठास ढूँढ़ता है, तब उसे अपने ही चैतन्य केन्द्रमें मधुका भरा हुआ छत्ता मिल जाता है। यह कोश मिल जाय, तभी सच्चा भक्तिका स्वाद आता है और तभी मन ठहरता भी है। मक्खियाँ जैसे मधुपर, ऐसे ही वृत्तियाँ स्वतः तब उस केन्द्रपर टूटती हैं। उन्हें वहाँ रसका कुछ सार मिलता है। रसकी उपलब्धि ही सबसे बड़ा लाभ है। रसकी उपलब्धि ही जीवनका उपनिषद् या रहस्य है। मोहकी दशामें हम उसे विषयोंमें बाहर ढूँढ़ते हुए भटकते हैं। विवेककी आँख खुलनेपर उसका स्वाद भीतर ढूँढ़ने लगते हैं। वही भक्तिका स्वाद है। उस रसके प्रति उमँगता हुआ मन जिस अनुरागसे प्रवृत्त होता है, वही भक्ति है।

प्रेम और भक्ति

(लेखक—डा० श्रीइन्द्रसेनजी)

प्रेम, भक्ति, आनन्द तथा सौन्दर्य जीवनके विविध तथा परस्पर सम्बद्ध रस हैं। इनसे ही जीवन हमें प्रिय लगता है। इनकी अभिवृद्धि ही जीवनका स्वाभाविक ध्येय तथा प्रयोजन है। भक्ति, आनन्द और सौन्दर्यमें भी आधारभूत रस प्रेम ही है—भक्ति पूज्यके प्रति प्रेम है, आनन्द प्रेमकी आन्तरिक भावना और गति है और प्रेमका विषय सुन्दर होता है। प्रेम अपने-आपमें अत्यन्त व्यापक भाव है, इसे कौन नहीं जानता। प्रेमकी भूख हर किसीको रहती है और इसका उपभोग भी हर कोई करता है। मानवोंके बीच ही नहीं, पशुओंमें भी जीवनकी यह प्रबल तथा प्रिय प्रेरणा है। वनस्पति तथा जड पदार्थोंमें भी अनेक प्रकारके आकर्षण-विकर्षण देखे जाते हैं। वे भी प्रेमसे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं। प्रत्यक्ष ही प्रेम जागतिक तत्त्व है, सत्तामात्रका व्यापक बल है, विश्वको संगठित रखनेवाला सूत्र है।

परंतु वर्तमान समयमें प्रेमके लिये शोर-गुल कुछ विशेष है। किस जोरसे यह शब्द सुना जाता है, कितना इसके लिये हो-हल्ला मचता है! गली-कूचोंमें इसके तरानोंकी बाढ़ आ गयी प्रतीत होती है। परंतु साथ ही इसके लिये रोना भी बहुत है, मानो इसका अभाव भी लोगोंको सता रहा है। 'अभाव' वैज्ञानिक सिद्धान्तोंतकमें प्रतिष्ठित हो गया है। मनोविश्लेषण प्रमाणसहित दिखलाता है कि प्रेम प्राप्त न होनेसे ही आज मानसिक विकार तथा रोग पैदा हो रहे हैं।

अपूर्व स्थिति है, प्रेमकी बाढ़ और प्रेमका अभाव! अथवा क्या प्रेम ऐसा रस है, जो शान्त और तृप्त नहीं करता, बल्कि अग्नि और अभावको बढाता है? या फिर 'ढाई अक्षर'का यह प्रेम शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा गम्भीर समस्या है। जितना यह परिचित है, उतना ही यह अज्ञात तथा शायद अज्ञेय भी है। कितनी शिकायत है कि प्रेम करनेको सब कहते हैं, परंतु इसके तत्त्वको जानता कोई विरला ही है। कबीरने तो स्पष्ट कहा है—

नेह निभावन एक रस महा कठिन दुसवार।

वस्तुतः प्रेम रहस्यपूर्ण वस्तु है। जैसे यह जगत्मे मानव, पशु, वनस्पति तथा जड पदार्थसे व्यापकतया सम्बद्ध है, वैसे ही मानवीय व्यक्तित्वके भी सभी स्तरोंपर यह एक-एक सार्थक स्थान रखता है। शारीरिक, प्राणिक, मानसिक तथा आन्तरात्मिक—सभी स्तरोंपर प्रेम अनुभव किया जा सकता है और वास्तवमें इतने ही प्रेमके रूप हैं। हम बहुधा किसीके प्रति उसके भौतिक आकार और रूपके कारण आकर्षणका अनुभव करते हैं। वह रूप हमारे मनमें बसने लगता है और हम उसका चिन्तन करते हैं। अनेक बार भौतिक आकार और रूप आकर्षक न होते हुए तथा अरुचिकर होते हुए भी हम व्यक्तिके सम्पर्कमें आते हैं और उससे वेगपूर्वक आकृष्ट हो जाते हैं। वह व्यक्ति हमपर छा जाता है और हम उसके साथ आन्तरिक आदान-प्रदान अनुभव करने लगते हैं। इसमें हृदय विशेषरूपसे सलग्न हो जाता है और सम्बद्ध व्यक्ति एक दूसरेमें गम्भीर आत्मतुष्टि लाभ करते हैं। परंतु इस अनुभवमें ऊब जाना, उलहना, शिकायत, दावा, विरोध भी हृदयके उतार-चढावोंमें घूम-फिरकर आते हैं। ये इस प्रेमानुभवकी ही धूप-छाँह हैं और यही नाटकीय प्रेम प्राणिक प्रेम है। परतु मानवीय व्यक्तित्वमें प्राणके दो रूप हैं। एक बाह्य और स्थूल तथा दूसरा आन्तरिक और सूक्ष्म। पहला केवल व्यक्तिगत रूप है और दूसरा व्यक्तिमें उसका गुह्य वैश्व-आधार है। यह अधिक सजग तत्त्व है। जब यह व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धोंमें, स्पर्श तथा स्पन्दनमें आता है, तब वे प्रेमकी एक और ही गति अनुभव करते हैं। इसमें अधिक आन्तरिकता, व्यापकता, सूक्ष्मता तथा स्थायित्व होते हैं और सारा अनुभव आत्मदानसे प्रेरित और परिप्लावित प्रतीत होता है। इसकी उदारता और मधुरता अपूर्व होती है। सामान्य जीवनमें इसीकी जितनी और जहाँ कुछ झलक दिखायी दे जाती है, वही मानवकी स्थूल व्यावहारिकतामें दिव्य आभा है।

विचार, चिन्तन तथा आदर्शोंके सामने व्यक्ति आपसमें मानसिक-बौद्धिक प्रेम अनुभव करते हैं। इसमें सामान्य प्राणिक प्रेमका आवेग नहीं होता, सूक्ष्म प्राणका आत्मदान भी नहीं; एक पारस्परिक सहानुभूति होती है, जो खूब गाढ़ी भी हो सकती है।

परंतु मानव-मानवके सम्बन्धोंमें आन्तरात्मिक प्रेम वह अपूर्व प्रेम है, जो उनके व्यक्तित्वके सजगतम तथा गम्भीरतम भागको, उनके अन्तरात्माओं अथवा चैत्य पुरुषोंको आपसमें जोड़ देता है। इसमें व्यक्ति आत्मासे आत्माका स्पर्श अनुभव

करते हैं—जो अवर्णनीय रूपमें मधुर, सूक्ष्म तथा एकत्वपूर्ण होता है। शुद्ध निरपेक्ष आत्मदान इसकी शैली है और पूर्ण एकत्व इसका ध्येय है। इसमें भोगका नाम नहीं, सौदेकी बू नहीं। यही वास्तवमें दिव्य प्रेम है। यह भी हमारी सामान्य प्रकृतियोंमें कभी-कभी झलक दिखा जाता है, यद्यपि उसे हम स्पष्टरूपमें पहचान नहीं पाते। इसीको चरितार्थ करनेके लिये साधनाकी आवश्यकता पड़ती है, मन और प्राणको शुद्ध करना होता है, उन्हें आत्मदानका स्वर्णिम नियम सिखाना होता है।

ये विविध प्रेम-सम्बन्ध पुरुष-पुरुषमें, स्त्री-स्त्रीमें तथा पुरुष-स्त्रीमें हो सकते हैं। सामान्य व्यवहारमें ये मिले-जुले होते हैं और इनकी विभिन्न गतियोंको पहचानना आसान नहीं होता। श्रीअरविन्द जहाँ कवि और साहित्यिक होनेके कारण जीवनके रसोंके मर्मज्ञ थे, वहाँ योगी और दार्शनिक होनेसे उन्होंने इन रसोंका निरीक्षण और विश्लेषण भी अत्यन्त सूक्ष्म किया है। प्रेम-विषयकी विवेचना करते हुए एक प्रसङ्गमें वे कहते हैं—"What is called love is sometimes one thing, sometimes another, most often a confused mixture." 'जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह कभी एक चीज होता है, कभी दूसरी, बहुधा ऐसी खिचड़ी, जिसका विश्लेषण कठिन होता है। अतः प्रेम खासी जटिल वस्तु है—इसके रूप अनेक हैं, इसके विषय अनेक हैं; और जो शुद्ध प्रेम है, हृदयस्थित चैत्यपुरुषका प्रेम, वह तो जीवनका गूढ रहस्य है, जिसके लिये भक्तलोग चिरकालीन भक्तिकी साधना किया करते हैं और जिसे पाकर वे मूक और तृप्त हो जाते हैं।

स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें शुद्ध प्रेमका भाव कुछ अधिक कठिन होता है; क्योंकि इनके बीच प्रकृतिजन्य काम सहज ही आ जाता है और काम वस्तुतः प्रेमका घातक है। यह बहिर्मुख प्राणिक आवेग है, जो क्षणिक होता है तथा अनेक प्रतिक्रियाओंको उत्पन्न करता है। इसका लक्ष्य स्थायी अन्तर्मिलन तथा एकत्व कभी नहीं होता। वैसे स्त्री-प्रकृति और पुरुष-प्रकृतिमें एक प्रकारकी गम्भीरतर पूरकता भी होती है। वह व्यक्तित्वके उच्चतर अङ्गोंकी सहानुभूतिपर निर्भर करती है और जहाँ उसे अभिव्यक्त होनेका अवसर मिलता है, वहाँ स्त्री-पुरुषकी मैत्री अधिक स्वाभाविक हो जाती है और उसमें फिर काम विशेष विघ्न नहीं कर पाता। परतु काम है हर अवस्थामें विघ्न और बाधा ही। इसके संयम और नियममें आनेसे ही प्रेमका मधुरभाव हृदयमें प्रतिष्ठित हो पाता है। अथवा हृदयमें प्रेमके एकत्वपूर्ण गम्भीर मधुरभावके विकसित होनेसे काम उत्तरोत्तर संयम-नियममें आने लगता है। पश्चिमी मनोविश्लेषण काम और प्रेममें भेद नहीं करता। वह कामको ही प्रेम मानता है और इसीके अभावको जीवनके दुःखका कारण बताता है। परतु आज कामकी कमी कैसे कही जायगी। काम-वासना भी कम नहीं और काम-तृप्ति भी कम नहीं, परंतु मानव सदासे अधिक अतृप्त है। वास्तवमें कमी प्रेमकी है और प्रेम ही तृप्त करता है, जीवनमें संतोष और सुख प्रदान करता है। जितना काम बढता है, उतना ही प्रेम कम हो जाता है और प्रेमका अभाव ही आजके दुःख, व्यापक अतृप्त-भाव, होड़ और संग्रहशीलताका मूल कारण है। परंतु यह प्रेम तो जीवनका रहस्य है, जो स्थूल तथा बहिर्मुख काम-वासनाको अतिक्रान्त करनेसे ही अनुभवमें आता है। योगानुभव तो प्रत्यक्षरूपमें जानता है कि 'काम एक विकार है, एक निम्न वृत्ति है, जो प्रेमके प्रतिष्ठित होनेमें बाधा डालती है।' (श्रीअरविन्द) परतु यह जीवनका सत्य अनुभवमें आना चाहिये। इससे गार्हस्थ्य-जीवनमें अपूर्व रस और सौन्दर्य उपलब्ध हो सकते हैं।

परंतु प्रेमकी स्वाभाविक गतिमें एक अनन्तता और असीमता समाविष्ट होती है। प्रेमी चाहता है कि उसका प्रेम असीम हो और अनन्तकालतक बना रहे। इस प्रकार प्रेमके साधकका विषय प्रेममय भगवान् हो जाते हैं। व्यक्तियोंका आपसका प्रेम शुद्ध, गम्भीर और निःस्वार्थ होते हुए भी तुच्छ अनुभव होने लगता है और प्रेममार्गका पथिक उस प्रेमको और प्रेमके उस आधारको खोजने लगता है, जो सब व्यक्तियोंको तथा सारी सत्ताको अपने प्रेमपूर्ण बाहुओंमें सदा बाँधे हुए है। प्रेमके इस परम विषयकी ओर व्यक्ति अनेक प्रकारसे प्रवृत्त होता है। तुलसीदास कहते हैं—

हम तो चाखा प्रेम रस पत्नीके उपदेस।

पत्नीकी झिड़कने उनके अंदर अपनी प्राणिक संलग्नताके प्रति ग्लानि पैदा कर दी और वे उस प्रेमकी खोजमें पड़ गये, जिसमें झिड़क और ग्लानिको जगह नहीं। प्रेमके स्वाभाविक विकाससे भी व्यक्ति अन्तमें भागवत प्रेमका अभीप्सु बन सकता है।

यह प्रेम ही भक्ति कहलाता है और इसकी साधना ही भक्तिमार्ग, जो योगकी एक प्रसिद्ध शैली भी है। मध्यकालमे भारतमें अनेक भक्त हुए—गुरु नानक, मीरा,

कबीर, तुलसी आदि । उस समय भक्ति एक लोक-प्रगति बन गयी थी और उसने निश्चय ही सार्वजनिक जीवनमें अपूर्व पवित्रता और प्रेमका संचार किया । उस समयका साहित्य अधिकांशमें भक्ति-विषयक है और अत्यन्त रसपूर्ण है । ये भक्त प्रेमके कैसे रसिक थे, इन्होंने कितना प्रेम-रस पिया और पिलाया । कबीर कहते हैं—

> छिनहि चढै छिन उतरै, सो तो प्रेम न होय ।
> अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ॥

तथा—

> जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जनु मसान ।
> जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान ॥

मीराँ तो थी ही 'दरद-दिवानी' वह कहती है—

> और सखी मद पी-पी माती,
> मैं बिनु पियाँ ही मती ।
> प्रेम मठी को मैं मद पीयो,
> छकी फिरूँ दिन राती ॥

'मैं तो दरद (प्रेम) दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय ।'

गुरु नानकका रूप भी वही है—

> नाम खुमारी नानका चढी रहै दिन रैन ।

प्रेमका ध्येय प्रेम ही है—असीम और शाश्वत । तुलसीदास विनती करते हैं—

> चहौं न सुगति सुमति संपति कछु,
> रिधि सिधि बिपुल बड़ाई ।
> हेतु रहित अनुराग राम पद,
> बढौ अनुदिन अधिकाई ॥

प्रत्यक्ष ही हमारे मध्ययुगके भक्तोंने प्रेम और भक्तिके रसको खूब ही पिया-पिलाया और उनका साहित्य इनका अमरस्रोत रहेगा, परंतु उनका जीवन-दर्शन आज हमे कई अंशोंमें कष्ट देता है । उनका जगत्, शरीर तथा स्त्री विषयक दृष्टिकोण हमें असंतोष-जनक लगता है । यह वास्तवमें उस समयके मायावादका परिणाम था । आज हम जगत्को मिथ्या नहीं मानते, सत्य मानते हैं, जीवनका क्षेत्र अङ्गीकार करते हैं । शरीर तो अनिवार्य तथा बहुमूल्य साधन है और स्त्री जीवन-सङ्गिनी है, प्रेमानुभवकी सहयोगिनी । दोष हमारी काम-वृत्तिमें है, जो स्थूल बहिर्मुख भावके कारण आन्तरिक प्रेमको अवकाश नहीं देती । इस प्रकार भक्तिमार्ग अनिवार्य रूपसे मध्यकालीन जीवन-दर्शनसे आबद्ध नहीं । और न इसका ज्ञान और कर्मके प्रति वह भाव होनेकी आवश्यकता है, जो उस समय था । भक्तिमार्ग प्रायः ज्ञानकी निन्दा करता आया है । परंतु प्रेम और भक्तिके ये अनिवार्य परिणाम नहीं हैं । इसके विपरीत भगवान्‌के लिये प्रेम हमें उनसे एकत्व प्रदान करेगा और यदि हम एकत्व-सम्बन्धको हम सीमित नहीं रखेंगे तो जहाँ वह उनके प्रेम-भावसे सम्बन्धित करेगा, वहाँ यह उनके ज्ञानपक्ष और कर्तृत्वपक्षसे भी सम्बन्धित करेगा । सर्वाङ्गीण प्रेममें भगवान्‌के साथ ज्ञान, कर्म और आनन्द—तीनों पक्षोंसे हम एकताका अनुभव करेंगे । इससे ज्ञान और कर्म प्रेमकी वृद्धिके साधन हो जायँगे और वे (ज्ञान और कर्म) अपने आपमें भी रसमय हो जायँगे । वस्तुत इन तीनों पक्षोंमें अन्तिम है भी आनन्द ही । उपनिषद्‌के ऋषिकी अनुभूति स्पष्ट है—

> आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥

'आनन्दसे ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्दको ही प्राप्त होकर उसमें लीन हो जाते हैं ।' श्रीअरविन्द आज उसी भावको दृढ़तापूर्वक इन शब्दोंमें कहते हैं—'Love and ananda are the last word of being, the secret of secrets, the mystery of mysteries." 'प्रेम और आनन्द सत्ताविषयक अन्तिम शब्द हैं । प्रेम और आनन्द ही परम रहस्य हैं, परम गुह्य तत्त्व हैं ।'

वर्तमान जीवनमें विज्ञान और वैज्ञानिक बुद्धि प्रधान प्रेरणाएँ हैं । साथ-साथ सुखवाद और सौन्दर्यवाद भी प्रबल प्रवृत्तियाँ हैं; परंतु ये सब मानसिक और प्राणिक प्रभाव हैं और इस कारण द्वन्द्वमय हैं और जीवनमें द्वन्द्वोंको पैदा करते हैं । इन द्वन्द्वोंका उपाय प्रत्यक्ष ही एकत्वरूप चेतना है । उसे विकसित करनेके लिये विज्ञानको विश्लेषणात्मकके साथ सश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पैदा करनेकी आवश्यकता है । परंतु व्यावहारिक जीवनमें तो सुखवाद और सौन्दर्यवाद अधिक प्रबल हैं । विज्ञान इनका सेवक ही है । इनके द्वन्द्व आनन्द और प्रेमभावको विकसित करनेसे ही दूर हो सकते हैं और आजके मानवके लिये विकासका यह मार्ग कदाचित् अधिक प्रेरणाप्रद भी सिद्ध हो सकता है ।

संत भक्त कवि ही सच्चे भक्त हैं

[लेखक—महामहोपाध्याय डा० प्रसन्नकुमार आचार्य, आई० ई० एस्० (रिटायर्ड)]

रूप गोस्वामीके 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' (१-२) में भक्तिके विकासका जो वर्णन किया गया है, उसमें विभिन्न अवस्थाओं या श्रेणियोंका विवेचन है, जिनका परिणाम भक्ति है। श्रद्धा उसका प्रथम सोपान है। यह ईश्वरका साक्षात्कार कर चुकनेवाले साधुओंके सत्सङ्गसे प्राप्त होती है। साधु-सङ्गके अनिवार्य प्रभावसे एक प्रकारकी विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है। भजन-क्रिया तीसरी सीढ़ी है। चौथा सोपान है विविध प्रकारकी अपरीक्षित क्रिया-प्रणालियों एवं श्रद्धाके मार्गमें आनेवाले अनर्थोंकी निवृत्ति। इससे निष्ठाकी प्राप्ति होती है। फिर उससे प्रकाश और अनुकूल भाव (रुचि) का जन्म होता है। सातवीं अवस्था है शक्ति अथवा विश्वासकी दृढ़ता। इसके बाद प्रेम आता है। प्रेमसे भाव या अनुभूति उत्पन्न होती है। तब दसवीं अवस्थामें भक्ति आती है। सूफीधर्म (तसव्वुफ़) में इन्हीं दसका सात अवस्थाओंमें अन्तर्भाव किया गया है—जिज्ञासा, प्रेम, आलोक या ज्ञान, सांसारिकताका विनाश, ऐक्य, विस्मय तथा आत्म निर्वाण।

रूप गोस्वामीके इस संक्षिप्त विश्लेषणसे स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति कर्ममार्गसे शून्य नहीं हो सकती, यद्यपि यहाँ ज्ञानमार्गपर विशेष बल नहीं दिया गया है। मनके त्रिविध अङ्ग हैं—विचार (जो ज्ञानका आधार है), भाव (जिसपर प्रीति आधारित है) तथा इच्छा (जो क्रियाका आधार है)। इसी प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों अन्योन्याश्रित हैं। इनमेंसे दोसे पूर्ण निवृत्ति और केवल एकका आचरण असम्भव जान पड़ता है। अपने सेनापतिकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाला रणक्षेत्रका सैनिक भी अपने कार्योंके ज्ञान तथा उसके परिणामकी भावनासे अपनेको सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता।

प्रवक्ता या संदेशवाहक (पैगम्बर) की परिभाषा है—वह व्यक्ति, जो जनताको चेतावनी एवं शिक्षा देनेके लिये ईश्वरद्वारा प्रेरित एवं उद्बुद्ध किया गया हो। वह ईश्वरेच्छाकी घोषणा तथा व्याख्या करता है और आगामी बातों एवं घटनाओंकी भविष्यद्वाणी करता है। महान् धर्मोंके अधिकांश नेताओंने प्रवक्ताका रूप ग्रहण कर लिया। निसंन्देह उनमें अपनी घोषणाओंके प्रति श्रद्धा थी; पर यह बात संदेहग्रस्त है कि उनमें अपने अथवा दैवी प्रेरणासे प्राप्त विचारोंके प्रति जिस प्रकारकी निष्ठा थी, उसी प्रकारकी श्रद्धा उनकी किसी साकार ईश्वरमें भी थी। बौद्धधर्म, ईसाईधर्म तथा इस्लामके नेताओंके जीवनकी गाथाएँ पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। पर हमारे संत कवियोंकी बात दूसरी है। भगवान् श्रीकृष्णके प्रति ममत्वमें मीराँबाईने गोपिकाओंका अनुकरण किया। यही बात आंडालकी विष्णु-भक्तिके विषयमें भी कही जा सकती है। श्रीकृष्णका कीर्तन करते हुए नवद्वीपके चैतन्य अपने आपको भूल जाते थे। जयदेवने अपने 'गीत-गोविन्द' में राधा-कृष्णकी लीलाका वर्णन किया है। सूरदास, तुलसीदास, चण्डीदास, विद्यापति तथा अन्य प्रभुगुण-गायकोंने राधाकृष्ण या सीतारामके प्रेमकी बहुविध स्थितियोंका गान करते हुए अपने काव्योंमें अपनेको निमग्न कर दिया है।

'कवि, प्रेमी तथा तत्त्वज्ञानी कल्पनाके मूर्त्तरूप हैं।' मीराँबाई जन्मजात प्रेमिका एवं कवयित्री थीं। वे १५४७ में मारवाड़में पैदा हुई थीं। जब वे तीन वर्षकी ही थीं, तभी एक साधुने उन्हें गिरिधर (कृष्ण) की एक मूर्ति दी थी। तभीसे वे उस मूर्तिपर रीझ गयी थीं और उसे उन्होंने अपना जीवन-सङ्गी बना लिया था। आठ वर्षकी अवस्थामें उनका विवाह हो गया, पर उनके प्रेमी पति उन्हें संसारी न बना पाये। पतिकी मृत्युके पश्चात् देवरने मीराँको तंग किया। वे पैदल चलकर वृन्दावन पहुँचीं और श्रीकृष्णकी गोपिका बननेकी उनकी कल्पना उनमें बद्धमूल हो गयी। वृन्दावनमें ही ४३ वर्षकी अवस्थामें महान् वैष्णव संत जीवगोस्वामीसे उनकी भेंट हुई, जो उस समय ५८ वर्षके थे। यहीं उनकी भेंट चैतन्यके भक्त हरिदाससे हुई। वे वल्लभ-सम्प्रदायके कृष्णदास तथा राधावल्लभ-सम्प्रदायके हितहरिवंशजीसे भी मिलीं। फिर वे द्वारका गयीं और कहा जाता है कि ६७ वर्षकी आयुमे द्वारकामें भगवान्‌की मूर्तिमें समा गयीं। इस प्रकार उन्हें सामीप्य-मुक्ति मिली।

दक्षिणके वैष्णव संत विष्णुचित्त स्वामीने ४०० ई०में एक परित्यक्ता कन्या आंडालको शरण दी। मीराँबाईकी भाँति ही वे रङ्गनाथ (विष्णु) का यशोगान करती थीं और उन्हींकी मूर्तिमें वे भी अन्तर्धान—विलीन हो गयीं। उन्होंने जो विरहके गीत गाये और जो तिरुप्पवनके नामसे विख्यात हैं, वे आज भी दक्षिणमें उसी तरह गाये जाते हैं, जैसे उत्तरमें मीराँबाईके

भजन गाये जाते हैं। बंगालके जयदेव श्रीराधा-कृष्णके प्रणय-गीतों-के गायकरूपमें बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका अत्यधिक आकर्षक श्रीकाव्य 'गीतगोविन्द' मधुरतम संस्कृत-छन्दोंमें राधाके साथ श्रीकृष्णके घनिष्ठ सम्बन्ध एवं क्रीडाका वर्णन करता है। १२ सर्गोंके ३०० छन्दोंमें वृन्दावनके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए विभोर होकर कविने तरुण राधा-कृष्णकी केलिका वर्णन किया है। जयदेवके अन्तिम दिन पश्चिम बंगालके 'केंदुविल्व' ग्राम (जिला बीरभूम) में व्यतीत हुए।

निमाई (चैतन्य) जगन्नाथ मिश्र तथा शचीदेवीकी संतान थे। वे नवद्वीप (बंगाल) में १४८४ ई० में उत्पन्न हुए थे। उनके दो विवाह हुए थे—पहला लक्ष्मीदेवीके साथ और दूसरा विष्णु-प्रियाके साथ। पहली स्त्री (लक्ष्मीदेवी) की उनके गृहस्थ-जीवनमें ही मृत्यु हो गयी। जब उन्होंने सांसारिक जीवनका त्याग किया, तब दूसरीको भी छोड़ दिया। उन्होंने ईश्वरपुरीसे सन्यासकी दीक्षा ली। वैष्णव-धर्म ग्रहण करनेके बाद उन्होंने श्रीकृष्णकी प्रेयसीके रूपमें अपनेको समझा। प्रारम्भमें वे एक अध्यापक थे, पर उन्होंने श्रीकृष्णपर आठ पद्योंको छोड और कुछ नहीं लिखा। किंतु उन्होंने कीर्तन-गीतोंका प्रचलन किया। 'चैतन्यचरितामृत' इत्यादि ग्रन्थ उनके अनुयायियोंने रचे। उनके भक्तोंने ही उन्हें चैतन्यकी उपाधिसे विभूषित किया। ३०० पद्योंका एक कृष्ण-कर्णामृत काव्य है, जो विल्वमङ्गल (१४०० ई०)-रचित कहा जाता है। ये दक्षिणमें कृष्णानदीके तटवर्ती किसी स्थानमें उत्पन्न हुए थे। ये एक वाराङ्गना चिन्तामणिके प्रेममें पागल-से रहते थे। चिन्तामणिने इन्हें अपना प्रेम बालकृष्णपर केन्द्रित करनेको प्रेरित किया। सोमगिरिसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेकर इन्होंने इन्द्रियलब्ध सुखोंका त्याग किया और वृन्दावन चले गये। चिन्तामणिने भी संसार त्यागकर इनका पदानुसरण किया और तबसे दोनों वृन्दावनमें रहकर राधा-कृष्णका यशोगान करने लगे। इन्हीं गीतोंसे 'कृष्ण-कर्णामृत' काव्य बन गया।

इसी प्रकारके एक भक्त बंगालके चण्डीदास (१४१७-१४७७) थे। वे शाक्तसे वैष्णव हुए और उन्होंने राधा-कृष्ण-के गीत गाये।

विद्यापति (१४००-१५०७) मिथिलाके राजा शिवसिंह तथा रानी लक्ष्मीदेवीके राजकवि थे और इन्होंने राधा-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धी शृङ्गारकाव्यका निर्माण किया। सूरदास (१४७९-१५८४) सहस्रों गीतोंवाले सूरसागरके अन्धगायक थे। उन्हें श्रीवल्लभाचार्यने वैष्णवधर्मकी दीक्षा दी थी। राधा-कृष्णके अन्य भक्तोंकी भाँति वे वृन्दावनमें न रहकर गोवर्धन पर्वतकी तलहटीमें रहे।

प्रसिद्ध कवि तुलसीदास अपने रामचरितमानसके लिये विख्यात हैं। वे 'सीतापति राम'के भक्त थे। कहा जाता है कि माँके पेटसे बाहर आते ही उन्होंने राम-नाम लिया था। वे रामके ही थे और रामने ही उनका उद्धार किया; काशी, चित्रकूट एवं अयोध्यामें साधु-सङ्ग करते हुए वे वृन्दावन पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट नन्ददाससे हुई। कहा जाता है कि उनकी इच्छाके अनुसार वृन्दावनके एक प्रसिद्ध मन्दिरको राधा-कृष्ण-मूर्ति सीता-रामके रूपमें बदल गयी थी। तुलसीदासके अनुसार भक्तिका सार भगवल्लीला-सम्बन्धी प्रवचनोंको सुनना और ईश्वर-नामोच्चार है। यह भी चैतन्यस्थापित कीर्तन-जैसा ही है।

ये संत और गायक ही सच्चे भगवद्भक्त रहे हैं। रूपगोस्वामीने अपने 'भक्ति-रसामृत सिन्धु'में भक्तिके विकासके लिये जिन आवश्यक तत्त्वोंकी व्याख्या और विवेचना की है, वे इनमें पाये जाते हैं।

रुद्रको कौन परम प्रिय है ?

श्रीरुद्र भगवान् कहते हैं—

यः परं रंहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्। भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥

(श्रीमद्भा० ४। २४। २८)

'जो व्यक्ति अव्यक्त प्रकृति तथा जीवसंज्ञक पुरुष—इन दोनोंके नियामक भगवान् वासुदेवकी साक्षात् शरण लेता है, वह मुझे परम प्रिय है।'

हमारी भक्तिनिष्ठा कैसी हो ?

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आत्मोत्थानके तीन प्रधान साधनों (भक्ति, ज्ञान और कर्म) में भक्तियोग सबसे सुगम और प्रशस्त है। इसका सम्बन्ध हृदयसे है। अपढ़ व्यक्ति भी भक्तिसे कृतार्थ हो सकता है। भक्ति किसकी ? अपनेसे गुणवान्‌की—सबसे अधिक गुणी भगवान्‌की। भक्तिका उद्गम लघुता और दीनताके भावसे होता है। उसका प्राथमिक रूप है विनय। गुणी व्यक्तिके प्रति आदरभाव होना गुणोंके विकासका प्रशस्त पथ है। भक्तिका चरम विकास है—समर्पण, अपनेको गुणीके चरणोंमें लीन कर देना। भक्तिसे अन्तमें भगवान् और भक्त दोनोंकी एकता हो जाती है। भक्त भगवान् बन जाता है।

भक्ति-मार्गके दो भय-स्थान हैं। अन्ध-भक्ति और दिखावा। विवेकपूर्वक की हुई भक्ति आत्माको ऊँचा उठाती है, तो अन्ध-भक्ति पतनकी ओर अग्रसर करती है। विवेकपूर्वक भक्तिमें व्यक्ति प्रधान न होकर गुणोंकी प्रधानता रहती है। अतः जहाँ कहीं भी जिस व्यक्तिमें गुण दिखायी देता है, भक्त हृदय उनके प्रति सहज आकर्षित हो अर्पित हो जाता है। अन्ध-भक्तिमें व्यक्ति ही प्रधान होता है, अतः दूसरे तद्रूप अथवा तदाधिक गुणीके प्रति भी वैसा अर्पणका भाव नहीं आता। अन्य व्यक्तिके गुण उसे दिखायी नहीं देते। दिखावारूप भक्ति तो वास्तवमें भक्ति है ही नहीं; वह तो ठगी है, उससे तो पतन ही होता है।

भक्ति-निष्ठा कैसी होनी चाहिये, इस विषयपर जैन संत-शिरोमणि श्रीमद् आनन्दघनजीने दृष्टान्तसहित सुन्दर प्रकाश डाला है। उनका वह प्रेरणादायक पद इस प्रकार है—

> ऐसे जिन चरण चित पद लाऊँ रे मना,
> ऐसे अरिहंतके गुण गाऊँ रे मना।
> उदर भरणके कारणे रे गउवाँ वनमें जाय।
> चारौ चरै चहुँ दिस फिरै, वाकी सुरत बछरुआ माँय ॥ १ ॥

अर्थात् प्रभुमें भक्ति-निष्ठा ऐसी हो, प्रभुके गुण-गानमें मस्ती अथवा लीनता ऐसी हो। कैसी ? जिस प्रकार उदर-भरणके लिये गौएँ वनमें जाती हैं, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ोंमें लगा रहता है। समय होते ही सीधे आकर सबसे पहले बछड़ोंको सँभालती हैं। वैसे ही संसारके सब काम करते हुए भी हम प्रभुको न भूलें। उनकी हर समय स्मृति बनी रहे। समय मिलते ही प्रभु-भक्तिमें लीन हो जायँ।

> सात पाँच साहेलियाँ रे हिलु मिलु पाणीडे जाय।
> ताळी दिये खळ-खळ हँसे, वाकी सुरत गगरुआ माँयँ ॥ २ ॥

अर्थात् पाँच-सात पनिहारिनें—सखियाँ मिलकर पानी भरने कुएँ-तालाब आदिको जाती हैं। रास्तेमें तालियाँ देती हैं, हँसती-खेलती हैं; पर उनका ध्यान सिरके घड़ेकी ओर बराबर लगा रहता है कि वह कहीं गिर न जाय। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रवृत्तियोंमें रहते हुए भी हमारा पतन न हो, इसकी पूरी सावधानी रहे।

> नटवा नाचै चौकमें रे, लोक करै लख शोर।
> बाँस ग्रही वरते चढ़ै, वाकौ चित न चलै कहुँ ठोर ॥ ३ ॥

अर्थात् नट खेल दिखानेको बाँस लेकर रस्सीपर चढ़ता है, लोग उसकी कुशलता देखकर शोर-गुल मचाते रहते हैं। पर उसका ध्यान इधर-उधर देखते हुए भी रस्सी आदिमें रहता है कि कहीं गिर न पड़ूँ। वैसे ही हर समय सांसारिक, पारिवारिक कोलाहलमें भी हमारा ध्यान प्रभुमें लगा रहे। हम लक्ष्यसे न चूकें।

> जूवारी मन में जुवा रे, कामी के मन काम।
> आनँदघन प्रभु यौं कहै, तू ले भगवतको नाम ॥ऐसे ४॥

अर्थात् जैसे जुआरीके मनमें जुआ बसा रहता है एवं कामी पुरुषका मन कामवासनामें ही (अन्य सब सुध-बुध खोकर) लगा रहता है। अन्य बातोंमें उसे रस नहीं मिलता, वैसे ही प्रभु-नाम-स्मरणादिरूप भक्तिमें अविचल अनन्य निष्ठा हो, जिससे उसके सिवा अन्य कहीं भी मन न जाय। भक्तिके बिना चैन ही न पड़े। अन्य प्रवृत्तियोंमें भक्तको रस नहीं मिलता। ऐसी भक्ति-निष्ठा ही मनुष्यको भगवान्‌के समीप बढ़ाते हुए भगवत्-रूप बना देती है।

भक्तराज प्रह्लादने भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

> या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

'अज्ञानियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें जैसा अविचल प्रेम

देखनेमें आता है, तुम्हारा स्मरण करते समय हे प्रभु ! तुम्हारी ओर ऐसी ही तीव्र आसक्ति मेरे हृदयमें निरन्तर रहे (ऐसी मेरी प्रार्थना है ।)'

तुलसीदासजीने भी रामायणमें कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

सर्व-सुलभ भक्ति-मार्ग

(भक्तिका तात्त्विक विवेचन)

[लेखक—आचार्य प० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ]

मानस-रामायणमे गोस्वामीजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रके मुखसे अयोध्यापुरवासियोंके प्रति भक्तिकी बडी महिमा कहलायी है और भक्तिमार्गको सर्वसुलभ बतलाया है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा ।
जोग न मख जप तप उपवासा ॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई ।
जथालाभ संतोष सदाई ॥
मोर दास कहाइ नर आसा ।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥
बहुत कहउँ का कथा बढाई ।
एहि आचरन बस्य मैं भाई ॥
बैर न बिग्रह, आस न त्रासा ।
सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी ।
अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा ।
तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई ।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥

(उत्तरकाण्ड)

'भक्तिमार्ग कितना सुलभ है, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—योगके इन अष्टाङ्गोंकी आवश्यकता नहीं, न जप-तप, अथवा व्रतकी ही अपेक्षा है । सरल स्वभाव, मनमें कुटिलता न रखना, जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष—ये ही भक्तिके मुख्य लक्षण हैं । भक्त न तो किसीसे वैर-विरोध करता है और न किसीसे आशा अथवा भय ही रखता है । वह अहंकारपूर्वक कोई क्रिया नहीं करता—सम्पूर्ण संकल्पोंका, संन्यासी होता गृहासक्त नहीं होता, मान-पाप-क्रोध-रहित होता है, स्वस्वरूपको समझता है तथा भगवज्जनोंकी संगतिमें रमण करता है । उसके लिये नरक, स्वर्ग, अपवर्ग समान होते है तथा इस प्रकार जो मनुष्य ज्ञानहठ, कर्महठ छोडकर भक्तिहठ रखता है, वह सुखी होता है ।

ज्ञानमार्ग—कैवल्य-मुक्तिदायक है, पर है अतिक्लिष्ट । उसके साधन भी कठिन है, उसमे विघ्न भी अनेक आते हैं, उसमें मनको कोई अवलम्ब भी नहीं रहता । यदि कोई विरला ज्ञानमार्गसे तर भी जाय, तो भी उसके लिये भक्ति आवश्यक है—भक्ति विना कोरा ज्ञान पुनः पतनकी ओर ही ले जाता है ज्ञानीको ।

वह भक्ति—संत-समागमके विना कहाँ ।

कर्ममार्ग—से पुनः ज्ञानमार्गपर आना पड़ता है, उसमें भक्ति आवश्यक है ही ।

भक्तिमार्ग—स्वतन्त्र मार्ग है । गोस्वामीजीके शब्दोंमें वह सम्पूर्ण गुणोंकी खान है ।

ऊपर भक्तके जो गुण कहे गये हैं, वे गीतामें भी कई श्लोकोंमें वर्णित हैं । इससे स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग कठिन है ही, कर्ममार्ग भी कठिन है, और भक्तिमार्ग तो सर्वाधिक कठिन है, पर साथ ही सरल भी है ।

नवविध भक्ति

भक्तिमें सबसे प्रथम आवश्यकता **श्रवण** की है ।

श्रवण न हो तो **कीर्तन** कैसा ।

कीर्तनसे **स्मरण** बना रहता है ।

फिर **पादसेवन** । इसमें सब प्रकारकी सेवा आ जाती है । जहाँ पादसेवन होगा **अर्चन** भी आ ही जायगा ।

अर्चन **वन्दना**के बिना अधूरा ही रह जायगा । तब **दासभाव** जगेगा ।

फिर वही दासभाव **सख्यभाव**में परिणत हो जायगा । अन्तमें सख्यभाव **आत्मनिवेदन** रूप हो जायगा ।

भक्तकी भक्ति जब चरमसीमाको पहुँच जायगी, तब उसकी दशा भी स्थितप्रज्ञ ज्ञानीकी-सी हो जायगी। फिर ऐसे भक्तको भगवान् क्यों न गले लगायेंगे।

यद्यपि ज्ञानमार्ग सर्वोच्च माना जाता है और वह मोक्षतक पहुँचाता है, तथापि वह क्लिष्ट है। कर्ममार्ग भी क्लिष्ट है। निष्काम कर्म तो नितान्त कठिन है।

सकाम कर्म बन्धनमें डालनेवाले हैं, इसलिये सर्वसुलभ मार्ग है—भक्तिमार्ग।

यों तो दीखनेमें भक्तिमार्ग सुलभ प्रतीत होता है, तथापि जबतक भक्तिभावकी प्रारम्भिक सीढ़ीपर चढ़कर अन्तिम सीढ़ीतक पहुँचते हैं, तबतक भक्तिमार्गमें भी ज्ञानमार्गसे कम कठिनाई नहीं है।

ज्ञानमार्गपर—चलते-चलते कहीं 'अहं ज्ञानी' की भावना आ सकती है और यह 'अहं-भावना' साधकको पुनः नीचे गिरा सकती है।

कर्ममार्ग—राजसी मार्ग है। इसमें 'अहं' तो साथ चिपटा ही चला जाता है। आगे चलकर मनुष्य निष्काम बन जाय तो और बात है।

भक्तिमार्गमें—तो प्रारम्भसे ही 'अहं'का भाव गलने लगता है और ऊपरकी सीढ़ीपर पहुँचनेतक 'अहं'का पता ही नहीं रहता।

आश्चर्य यह है कि

संसार चलता ही है 'अहं'से, पनपता ही है 'अहं'से। और जहाँ 'अहं' गया, वहाँ फिर संसार भी कहाँ रह पाता है।

इसीलिये

यज्ञ-यागादिमें देवताओंको उद्देश्य करके आहुति देते हुए कहा जाता है —

इदमग्नये इदं न मम।

यह मेरी आहुति अग्निके लिये है, इसमें मेरा कुछ नहीं है, जिसके लिये है, जिसकी है, उसीको दे रहा हूँ। इसी प्रकार—

इदं वायवे इदं न मम
इदं सोमाय इदं न मम
इदमिन्द्राय इदं न मम
इदमादित्याय इदं न मम

अर्थात् यह आहुति वायुके लिये है, यह सोमके लिये है, यह इन्द्रके लिये है, यह आदित्यके लिये है, इसमें मेरा क्या है; जिसकी है, उसीको दे रहा हूँ, उसीको सौंप रहा हूँ।

यद्यपि भगवान्‌को ज्ञानी—

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

(गीता ७। १७)

—अत्यन्त प्रिय होते हैं, तथापि भक्तिमार्गवाले अत्यन्त प्रिय नहीं तो प्रिय तो अवश्य होते हैं। किसी तरह भगवान्‌के प्रियोंकी सूचीमें एक बार नाम आ जाय तो और क्या चाहिये।

भगवान्‌को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय क्यों ?

इसलिये कि वह अन्योंकी अपेक्षा साधनामें अत्यन्त कष्ट उठाता है—तब कहीं भगवान्‌को पाता है। कर्मकाण्डका मार्ग उस ज्ञानमार्गसे अति सुलभ है। भक्तका मार्ग उससे भी सुलभ है—

न मे भक्तः प्रणश्यति। (गीता ९। ३१)

'मेरा भक्त नष्ट नहीं हो सकता।'

क्यों जी—

प्र०—तो फिर ज्ञानीको जो फल मिलेगा, वही भक्तको भी मिलेगा ?

उ०—हाँ, इसमें क्या संदेह है ?

प्र०—कैसे ?

उ०—जैसे पुष्पके आश्रयसे एक छोटी-सी चींटी भी बड़े-बड़ोंके सिरपर चढ़ जाती है, उसी प्रकार भक्त भी किसी ज्ञानीका भक्त हुआ—पूर्णरूपेण, तो वह भी उस पदको प्राप्त कर सकेगा, जिस पदको ज्ञानी प्राप्त करता है।

प्र०—तब तो भक्तका मार्ग सबसे अच्छा रहा।

उ०—अच्छा तो है; पर हर कोई सच्चा भक्त भी नहीं बन सकता, जैसे हर कोई ज्ञानी नहीं बन सकता।

प्र०—क्यों ?

उ०—यह बात तो संस्कारोंकी है—संस्कारी जीव शीघ्र पहुँच पाते हैं, एक ही जन्ममें पार हो जाते हैं। जिनके संस्कार कम अच्छे होते हैं, वे अनेक जन्मोंतक धक्के खाते रहते हैं।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

तीव्र-संस्कारी जीव इसी जन्ममें और मध्यम-संस्कारी जीव प्रयत्न करते रहें तो अनेक जन्मोंमें जाकर परा गतिको प्राप्त करते हैं।

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ये ध्यानयोगसे पार हुए।

राजा जनक, जैगीषव्य आदि कर्मयोगसे पार हुए।

भक्तियोगसे जो पार हुए, उनकी नामावली भी कम लम्बी नहीं है—भक्तमालकी गाथाएँ पढ़िये।

तत्त्व यह है कि

शक्तिसे भक्ति पनपती है और भक्तिसे शक्ति आती है; इसलिये पर-गति प्राप्त करनेमें भक्ति, शक्ति तथा युक्तिका यथार्थ समन्वय आवश्यक है।

भक्तिके अनुरूप मार्ग, शक्तिके अनुरूप उसपर चलना और भक्ति-शक्तिका समन्वय—ये तीन बातें आवश्यक हैं। भक्तिके बिना शक्ति व्यर्थ, शक्तिके बिना कोरी भक्ति व्यर्थ और युक्तिके बिना भक्ति-शक्तिका समन्वय नहीं हो सकता।

इन गीता-वचनोंको देखिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२। १३–२०)

इन श्लोकोंमें 'यो मद्भक्तः', 'भक्तिमान्', 'भक्ताः' इत्यादि विशेषणोंको देखकर विस्मय होता है कि भगवान् कोरे ज्ञानसे, कोरे कर्मकाण्डसे प्रसन्न होनेवाले नहीं। उनको 'भक्त' भी चाहिये।

कैसे भक्त ?

ऐसे भक्त, जो द्वेषरहित हों, मैत्र हों, करुण हों, निर्मम हों, निरहंकार हों, समसुख-दुःख हों, क्षमावान् हों—

और

संतुष्ट हों, यतात्मा हों, दृढ़निश्चय हों, मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण किये हों—

यही नहीं,

जो लोगोंसे घबरावें नहीं, लोग जिनसे घबरावें नहीं तथा जो भय, हर्ष, अमर्ष एवं उद्वेगसे मुक्त हों—

यही नहीं,

किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखें, शुचि हों, दक्ष हों, उदासीन हों, गतव्यथ हों, सर्वारम्भपरित्यागी (मैं ही करनेवाला हूँ, ऐसी बुद्धि न रखनेवाले) हों—

जो

शत्रु और मित्रको समान समझें, मानापमानको एक-सा जानें, शीत-उष्ण, सुख-दुःखमें समान रहें, सङ्गरहित हों—

जो

निन्दा-स्तुतिमें समान रहें, मौनी हों (जितना आवश्यक हो, अपरिहार्य हो, उतना ही बोलनेवाले हों), स्थिरमति रहें, अनिकेत हों—कहीं ममत्व न रखें—

जो

श्रद्धावान् हों—बस, मुझे ही सब कुछ समझें—ऐसे ऐसे गुणोंसे युक्त भक्तिमान् मुझे प्रिय हैं।

इन गीताके श्लोकोंसे स्पष्ट है कि गीताके 'भक्तिमान्' में और अन्यत्र 'भक्तिमान्'में बड़ा भेद है।

सारांश, कोरी भक्ति भी कुछ नहीं तथा कोरे ज्ञान विज्ञानादि गुण भी भक्तिशून्य होनेसे सार्थक नहीं हैं। रामायण उत्तरकाण्डके दोहे और गीताके द्वादश अध्यायमें बहुत कुछ साम्य है।

यह है तात्त्विक विवेचन भक्तिका। यह गीतारत प्रत्येक व्यक्ति भक्ति और शक्तिका यथार्थ उपयोग करे।
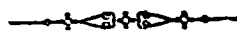
भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन

शास्त्रोंकी आलोचना करते समय सबसे पहले अनुबन्ध-चतुष्टय अर्थात् अधिकारी, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका विचार किया जाता है। अतएव भक्ति-शास्त्रके अनुबन्ध-चतुष्टय क्या हैं? श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव कहते हैं कि भक्ति-शास्त्रके प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति ही इसका अधिकारी है। 'वाच्य-वाचकः सम्बन्धः।' इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है—'उपास्य-तत्त्व'। अतएव शास्त्रका उपास्य-तत्त्वके साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। उपास्य-तत्त्व श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय 'अभिधेय' है। अतएव भक्ति अभिधेय है और श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति ही इसका 'प्रयोजन' है।

१. अधिकारी (जीव-तत्त्व)

जब भक्ति-शास्त्रका अधिकारी श्रद्धावान् जीव है, तब यह सहज ही जिज्ञासा होती है कि जीव-तत्त्व क्या है और वह श्रद्धावान् होता कैसे है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें जीव-तत्त्वके विषयमें जामाता मुनि कहते हैं—

ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः।
न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्॥
अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा।
अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः॥
अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्याक्षर एव च।
एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै॥
मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा।
दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन॥
आत्मा न देवो न नरो न तिर्यक् स्थावरो न च।
न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न चापि धीः॥
न जडो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च।
स्वस्मै स्वयंप्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक्॥
अहमर्थः प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्मलः।
तथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वनिजधर्मकः॥
परमात्मैकशेषत्वस्वभावः सर्वदा स्वतः॥

अर्थात् जीव देह नहीं है, ज्ञानका आश्रय है। ज्ञान उसका गुण है। जैसे अग्निका गुण दाह है, सूर्यका गुण प्रकाश है, उसी प्रकार जीवका गुण ज्ञान है। वह चेतन है, प्रकृतिके परे है। जैसे काष्ठमें व्यापक अग्नि काष्ठसे भिन्न है, उसी प्रकार देही (जीव) देहसे भिन्न है, इन्द्रिय, मन, प्राण या बुद्धि भी नहीं है। वह अजन्मा है, निर्विकार है, सदा एकरूप रहता है। अणु है, नित्य है, व्यापक है, चित् और आनन्द-स्वरूप है। 'अहं'-शब्द-वाच्य, अविनाशी, क्षेत्री (शरीररूप क्षेत्रका स्वामी) शरीरसे भिन्नरूप, सदा रहनेवाला, अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर आदि गुणोंसे युक्त है। जीव समस्त पदार्थोंका द्रष्टा और प्रकाशक है तथा स्वयं अपना भी द्रष्टा और प्रकाशक है। वह न जड है और न जडसे पैदा हुआ है। जीव केवल श्रीहरिका दास है, और किसीका नहीं। वह देवता नहीं, मनुष्य नहीं, न तिर्यक् है न स्थावर है। वह ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है, कर्मानुसार उसका गमनागमन होता है। परमात्माका शेषत्व-अनन्यदासत्व ही जीवका स्वभाव है।

ये जीव असंख्य हैं, अनन्त हैं। जल, स्थल और अन्तरिक्षमे कोई स्थान ऐसा नहीं, जो जीवोंसे खाली हो। जीवके सम्बन्धमें श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥

अर्थात् स्वरूपतः जीव श्रीकृष्णका नित्यदास है, वह श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, भेद और अभेदरूपमें प्रकाशित होता है। शास्त्रोंमें अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था भेदसे श्रीभगवान्‌की तीन शक्तियोंका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्ति-परिणति।
चित्-शक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥

अर्थात् श्रीभगवान्‌की स्वभावतः तीन शक्तियोंमें परिणति होती है—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिमें। चित्-शक्ति ही अन्तरङ्गा शक्ति है, मायाशक्ति बहिरङ्गा तथा जीव-शक्ति तटस्था। श्रीनारदपाञ्चरात्रमें भी लिखा है—

यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

अर्थात् चित् पदार्थ स्वसंवेद्य मूलरूपसे निकलकर तटस्थ होकर रहता है। गुणरागके द्वारा रञ्जित वह तटस्थ चिद्रूप ही जीव कहलाता है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकारकी अपरा प्रकृतिसे भिन्न एक मेरी जीवरूप परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। अर्थात् जैसे देहीके द्वारा यह देह धारण किया जाता है, उसी प्रकार असख्य-असख्य जीवोंके द्वारा जल, स्थल और अन्तरिक्षरूप अनन्त ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है।

अब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि 'जब जीव स्वयं भगवान्की, श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, तब फिर श्रीकृष्ण-तत्त्व है क्या ?' वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंकी चरम आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अखिल-प्रेम-रसानन्दमूर्ति हैं। वे नित्य रस-स्वरूप हैं, नित्य प्रेम-स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सूर्यकी किरणके समान, अग्निके स्फुलिङ्गके समान जीव इस अखिल-प्रेम-रस-आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्णका ही अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेम-रस-आनन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है, एवं परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। इस आनन्दसे ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा आनन्दमें ही जीवोंका लय होता है। श्रुति भी कहती है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। आनन्दसे ही भूतगण उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे वे जीवित रहते हैं, आनन्दमें गमन करते हैं तथा आनन्दमें ही प्रवेश करते हैं।

अतएव प्रेमानन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप है। फिर यह इस संसारमें इतना दुखी क्यों है? श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं कि जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, उनकी अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा शक्तियोंके मध्यमें स्थित है। अन्तरङ्गा शक्तिके आकर्षणको प्राप्तकर जीव श्रीकृष्णोन्मुख होता है—नित्यानन्द नित्य-सुखका भोग करता है, परंतु बहिरङ्गा शक्तिके आकर्षणसे वह मायामुग्ध होकर सांसारिक क्लेशोंको भोगता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
कभू स्वर्गे उठाय, कभू नरके डुबाय।

अर्थात् वही अनादि जीव श्रीकृष्णको भूलकर जब बहिर्मुख होता है, तब माया उसको सांसारिक दुःख प्रदान करती है। कभी ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाती है तो कभी नरकमें डुबा देती है। अविद्या या माया श्रीभगवान्की परिचारिका है। भगवद्विमुख जीवोंका अपने प्रभुकी अवज्ञा करना वह सहन नहीं कर सकती। इसीलिये दण्डविधान करती है। अतएव भगवद्विमुखता ही दुःखका हेतु है और इस मायासे निस्तार पानेका एकमात्र उपाय है—भगवान्के सम्मुख होना। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया दुस्तर है, इससे पार पाना कठिन है। जो मेरी शरणमें आ जाते हैं, वे ही इस मायासे निस्तार पाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।२०)

'हे उद्धव! मैं श्रद्धापूर्वक की हुई एकमात्र भक्तिसे ही वशमें होता हूँ; क्योंकि मैं संतोंकी आत्मा और प्रिय हूँ। मेरी दृढभक्ति चाण्डालको भी जातिदोषसे पवित्र करती है।' अतएव भक्ति ही श्रीकृष्ण प्राप्तिका उपाय है। भक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेमसे दुःख दूर होता है और संसार-यातना तिरोहित हो जाती है। परन्तु इस प्रेमका मुख्य प्रयोजन श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन ही है।

२. सम्बन्ध (भगवत्तत्त्व)

वेदादि समस्त शास्त्र सब प्रकारसे श्रीकृष्णके ही परतत्त्व को प्रकट करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परतत्त्व हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा उपास्य-तत्त्व नहीं है—यही सब शास्त्रोंका अभिप्राय है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वरूपविचार शुन सनातन।
अद्वय ज्ञानतत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व आदि सर्व अंशी किशोर शेखर।
चिदानन्द देह सर्वाश्रय सर्वेश्वर॥

अर्थात् हे सनातन! अब श्रीकृष्णके स्वरूपका विचार मैं करता हूँ, तुम सुनो। कृष्ण अद्वय ज्ञानतत्त्व हैं, और वे ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन हैं। वे सबके आदिकारण हैं, सब उन्हींके अंश हैं, वे अंशी हैं। वे किशोरशेखर श्रीकृष्ण चिदानन्दमूर्ति हैं, सबके आश्रय हैं, सर्वेश्वर हैं। ब्रह्मसंहितामें कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥
(ब्र० सं० ५-१)

अर्थात् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्दविग्रह हैं, अनादि हैं और (सबके) आदि—मूलकारण हैं । गोविन्द सब कारणोंके कारण हैं अर्थात् उनका कारण कोई नहीं । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(१ । २ । ११)

अर्थात् तत्त्ववेत्तागण जिसको अद्वय ज्ञान-तत्त्व कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—इन तीन शब्दोंसे अभिहित होता है ।

एक ही अद्वयतत्त्वकी यह त्रिविध अनुभूति है । जैसे दूरसे दीखनेवाला सूर्यका विस्तृत प्रकाश समीपसे गोलाकार ज्योतिः-पिण्डके रूपमें तथा और भी समीप जानेपर उसमें विराजित भगवान् सूर्यदेवके रूपमें मूर्तिमान् दिखायी देता है, उसी प्रकार ज्ञानके उदयकालमें साधकके शुद्ध सात्त्विक हृदय-पटपर जो भगवद्विग्रह-का आलोक प्रतिफलित होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं । यह सत्तामात्र आलोक ही निर्गुणवादियोंके द्वारा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निष्क्रिय आदि नामोंसे पुकारा जाता है । यही आलोकपुञ्ज जब विम्बरूपसे साधकके हृदयाकाशमें प्रतिभात होता है, तब इसे 'परमात्मा' कहते हैं । योगिजन इसका प्रादेशमात्र दीपकलिका-ज्योतिके समान दर्शन करते हैं । इसीको जगत्का 'अन्तर्यामी' माना जाता है । ये 'ब्रह्मानुभव' और 'परमात्मदर्शन' दोनों ही भगवत्तत्त्वके अंशबोध मात्र हैं । इस 'ब्रह्मके' प्रतिष्ठान और 'परमात्मा' के अधिष्ठानभूत परमतत्त्वको ही 'भगवान्' कहते हैं । भक्तोंको प्रेमाञ्जनच्छुरित नेत्रोंसे अचिन्त्य-अनन्त-गुणसम्पन्न, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् श्यामसुन्दररूपके मधुर दर्शन होते हैं । ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें उपनिषद् कहते हैं—

ॐ एकमेवाद्वितीयम् । सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।

—सम्भवतः इस श्रुतिका अवलम्बन करके ही श्रीकृष्णको अद्वय ज्ञानतत्त्वकी संज्ञा दी गयी है । वही परम ब्रह्म भगवान् हैं । उपर्युक्त भागवतीय श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीजीव गोस्वामी लिखते हैं—

अद्वयत्वं चास्य स्वयंसिद्धतादृशातादृशतत्त्वान्तराभावात् स्वशक्त्यैकसहायत्वात् परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च ।

अर्थात् स्वयंसिद्ध तादृश और अतादृश (सजातीय और विजातीय) तद्भिन्न किसी अन्य तत्त्वके न होनेके कारण तथा एक-मात्र स्वशक्तिपर अवलम्बित होनेके कारण और अन्य सब शक्तियोंके परम आश्रय होनेके कारण श्रीकृष्ण ही अद्वयतत्त्व हैं उनके बिना कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती । श्रुति भी कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ८)

अतः स्पष्ट है कि परमब्रह्मकी नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं । उनमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं, जिनके प्रभावसे जगद्-व्यापार आदि कार्य सम्पन्न होते रहते हैं । उसी परम ब्रह्मका नाम श्रीकृष्ण है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५५)

'हे महाराज ! तुम इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण जीवात्माओंका आत्मा जानो, जो वैसे होकर भी जगत्के हितके लिये अपनी योगमायाके प्रभावसे सर्वसाधारणके सामने सांसारिक जीवके समान जान पड़ते हैं ।'

यह श्रीकृष्णतत्त्व ही है, जिससे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर विधृत हो रहे हैं; इसका समर्थन आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानके द्वारा भी होता है । रात्रिके समय नील आकाशकी ओर देखिये । अनन्त नक्षत्रमालाएँ रजतके समान शुभ्र किरणोंसे युक्त दीख पड़ेंगी । वे यद्यपि देखनेमें अति क्षुद्र हैं, फिर भी वस्तुतः उनमें अनेकों तारे सूर्यकी अपेक्षा भी कई लाख गुना बड़े हैं । यह सूर्य भी, जो इतना छोटा दीख पड़ता है, इस पृथ्वीकी अपेक्षा चौदह लाख गुना बड़ा है । परंतु जो नक्षत्र-पुञ्ज आकाशमें हम देखते हैं, वे वस्तुतः अनन्त आकाशमें फैली असंख्य नक्षत्रराशिके करोड़वें अंशके बराबर हैं । इससे विश्वब्रह्माण्डकी विशालता और असीमताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है । इनमेंसे एक-एक नक्षत्र-विशेषको केन्द्रमें लेकर अनेकों ग्रह अपने उपग्रहों और उल्कापुञ्जोंके साथ भ्रमण कर रहे हैं । जैसे पृथ्वी, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो—ये नौ ग्रह सूर्यकी परिक्रमा करते हुए सौरमण्डलका निर्माण करते हैं, वैसे इस अनन्त आकाशमें असंख्य सौर मण्डल हैं । सबकी रचना और गति-विधि विलक्षण ही है । वे नाना प्रकारके रक्त, नील, पीत आदि वर्णोंसे युक्त हैं । उनके प्रकाश और तापमें भी निरन्तर परिवर्तन देखा जाता है । एम्० फ्लेमेरिअन नामक फ्रेंच ज्योति

विंद्ने स्वान, ह्वेल तथा हाइड्रा प्रभृति नक्षत्रपुञ्जोंके विषयमें बतलाया है कि ये नक्षत्र-पुञ्ज कुछ दिनोंतक प्रकाशकिरणोंको बिखेरकर अन्धकारमें विलीन हो जाते हैं। सम्भवतः इनमें हमारी पृथ्वीकी दृष्टिसे दो-दो तीन-तीन महीनोंका रात-दिन होता है। यह अनन्त विलक्षणताओंसे युक्त अनन्त तारका-राशि केन्द्राकर्षण और केन्द्रापकर्षण—दो विभिन्न शक्तियोंके द्वारा विधृत होकर जीवन-यापन कर रही है। यदि ये आकर्षण-शक्तियाँ न होतीं तो ब्रह्माण्डकी सारी व्यवस्था ही नष्ट हो जाती। अनन्त सौरमण्डल इसी आकर्षण-शक्तिके बलपर अवस्थित है। इससे यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका एक ऐसा भी केन्द्र है, जिसके आकर्षणसे ये दृष्टादृष्ट, कल्पित, कल्पनातीत, अनुमित और अनुमानातीत निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड आकृष्ट होकर उसमें विधृत हो रहे हैं। वे सर्वाकर्षक, सर्वाधार, सर्वपोषक, सर्वाश्रय, निखिल आकर्षण और निखिल शक्तिके परमाश्रय और परमाधार श्रीकृष्ण गोविन्द ही हैं।

पाठकोंको इस विवेचनसे 'श्रीकृष्ण' शब्दकी वैज्ञानिक निरुक्ति सहज ही समझमें आ सकती है। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं; जो सर्वापेक्षा बृहत्तम है, वही श्रीकृष्ण हैं—

यदेव परमं ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत्तमम्।
सर्वस्यापि बृंहणत्वात् कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'जो परम ब्रह्म है, सबसे बृहत्तम है, सबको फैलाये हुए है, वही श्रीकृष्ण कहलाता है।' बृहद् गौतमीतन्त्रमें भी आया है—

अथवा कर्षयेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्ण उच्यते॥

अर्थात् भगवान् सारे स्थावर-जङ्गम जगत्को कालरूपसे आकर्षित कर रहे हैं, इसी कारण वे श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

सम्बन्ध-तत्त्वमें अवतारवाद

इस जगत्में सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् जो अपने रूपको प्रकट करते हैं, वह उनका अपना रूप प्रकट करना ही अवतार कहलाता है। वे अशेषकल्याणगुणमय हैं। दया उनका विशिष्ट गुण है। जीवके प्रति श्रीभगवान्की दयाको सभी धर्म-विश्वासी स्वीकार करते हैं। परंतु जब जीवके परित्राण-का उपाय प्रदर्शन करनेके लिये वे जगत्में अवतीर्ण होते हैं, तब उनकी दयाका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है। अन्य किसी अवस्थामें उनकी दया वैसे समुज्ज्वलरूपमें प्रकाशित नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्॥
(१।७।२५)

अतएव श्रीभगवान्के अवतारका उद्देश्य है—पृथ्वीके भारका हरण तथा अनन्यभावविशिष्ट अपने भक्तोंके अनुध्यानमें सहायता करना। भगवान् स्वरूपशक्तिके विलास-रूपमें इस जगत्में अपने रूपको प्रकट करते हैं। भक्तोंको सुख देनेके लिये ही उनकी श्रीमूर्ति प्रपञ्चमें आविर्भूत होती है। गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

धर्म ही जीवके मङ्गलका हेतु है। धर्मकी उन्नतिसे ही जीवकी उन्नति होती है। धर्मसे च्युत होना ही जीवका अधः-पतन है। इस धर्मकी रक्षाके लिये ही श्रीभगवान् इस धरा धाममें अवतीर्ण होते हैं। उपर्युक्त श्लोककी टीकामें श्रीमधुसूदन सरस्वतीके कथनका अभिप्राय यह है कि धर्मफलके भोगके लिये जीवका जन्म होता है। कर्मानुसार जीव देह ग्रहण करता है। परंतु जो सर्वकारणोंके कारण तथा सर्वकर्मातीत हैं, उनका देहधारण कर्माधीन नहीं है और न उनका शरीर ही भौतिक शरीर है। इसी कारण बृहद् विष्णुपुराणमें कहा गया है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः॥

भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी भी कहते हैं—

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्या-जोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते, स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया।

अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजके द्वारा सदा सम्पन्न वे भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया, प्रकृतिको वशीभूत करके, निखिल भूतोंके ईश्वर तथा अज, अव्यय, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव होते हुए भी अपनी मायाके द्वारा देहवान्के समान प्रकट होते हुए-से तथा

उनका अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी सृष्ट जीवोंके प्रति अनुग्रहकी इच्छासे संसारका कल्याण करते हुए दीख पड़ते हैं।

श्रीभगवान्‌की प्रकृति भौतिक नहीं है, उनका श्रीविग्रह भौतिक नहीं है—इस बातको श्रीमद्रामानुजाचार्य, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीमान् बलदेव विद्याभूषण तथा महाभारतके टीकाकार श्रीमान् नीलकण्ठ प्रभृतिने शास्त्र और युक्तिके अनुसार सुस्पष्टरूपसे प्रमाणित कर दिया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामे स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

सारांश यह है कि भगवान्‌के जन्म और कर्म दिव्य है, भौतिक नहीं। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं कि 'ईश्वरका ज्ञानादि जैसे नित्य है, देह भी वैसे ही नित्य है। उनमें देह-देहीका भेद नहीं है। जीवदेह जैसे चेतनाविहीन होनेपर 'शव' बन जाता है, भगवद्देहके बारेमे ऐसी बात नहीं; वह सदा ही चिदानन्दरसमय बना रहता है। अतएव श्रीविग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप भजनीय है।' वे श्रीभगवत्संदर्भमे लिखते हैं—

यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च।

अर्थात् भगवान् जैसे हैं, वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति होती है। भगवान् कैसे है? वे ज्ञानस्वरूप हैं, ऐश्वर्यस्वरूप हैं और शक्तिस्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूपसे भगवद्देह भिन्न नहीं है। जो स्वरूप है, वही विग्रह है। विज्ञान-आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है, अतएव भगवद्विग्रह भी विज्ञानानन्दमय है। भगवान् रसस्वरूप हैं, अतएव श्रीभगवद्विग्रह भी रसमय है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

अर्थात् मूढलोग मुझको भौतिक मानव देह धारण किये हुए समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सर्वव्यापक परम ब्रह्म सीमित मानव-देह कैसे धारण कर लेता है। इसका उत्तर यह है कि जो सर्वव्यापक है, निराकार, निर्विकार है, वह सर्वशक्तिमान् भी है। अतएव वह साकार रूपमें प्रकट हो, इसमें कुछ भी असम्भव या अयौक्तिक नहीं है। दुर्गासप्तशतीमें श्रीअम्बिका देवीके प्राकट्यके विषयमें लिखा है—

अतुलं तत्र तत् तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

भाव यह है कि सम्पूर्ण देवताओंके शरीरका सूक्ष्म अतुल तेज एकत्र होकर नारीके रूपमें प्रकट हुआ और उस तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो उठे। अर्थात् सूक्ष्मसे स्थूलरूप प्रकट हुआ।

वेदादि शास्त्रोंमे देवताओंकी विग्रहवत्ता भी स्वीकृत हुई है। निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं—

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाविधानानि। अथापि पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते। (३।७।२।६)

अर्थात् वेद-मन्त्रोंमे मनुष्योंके समान आकारविशिष्ट रूपमें देवताओका चिन्तन होता है, चेतनके समान उनकी स्तुतियाँ होती हैं तथा पुरुषके समान उनके अङ्गादिका वर्णन पाया जाता है। मन्त्रोंमे मनुष्यके समान अश्व-सैन्य-गृहादिसे युक्त विग्रहरूपमें उनकी उपलब्धि होती है।

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र १।३।२७ के शारीरक भाष्यमे लिखा है—

एकस्यापि देवतात्मनो युगपद् अनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति।

अर्थात् एक देवताका आत्मा भी अनेक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। योगी भी कायव्यूहका विस्तार कर सकता है। जैसे—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥

अर्थात् हे राजन्! योगबलको प्राप्त करके योगी सहस्रों शरीर धारण कर सकता है और उन सबके द्वारा पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। किसी शरीरसे विषयोंको प्राप्त करता है तो किसी शरीरके द्वारा उग्र तप करता है और फिर उन शरीरोंको अपने भीतर इस प्रकार समेट लेता है जैसे सूर्य अपनी रश्मियोंको बटोर लेता है।

योगदर्शनमें आया है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

अर्थात् मन्त्र-जपसे इष्टदेवताके दर्शन होते हैं। अतएव जब देवता और मनुष्य इस प्रकार शरीर धारण करनेमें समर्थ हैं, तब सर्वशक्तिमान् प्रभुके लिये अवतारविग्रह धारण करना सर्वथा सम्भव है। इसमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान ही नहीं है।

अब यहाँ भगवान्‌के विविध अवतारोंके विषयमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(क) पुरुषावतार

भगवान्‌के पुरुषावतारके विषयमें सात्वततन्त्रमें आता है—

विष्णोश्च त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
एकं तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥

विष्णुभगवान्‌के तीन रूप शास्त्रमें निर्दिष्ट हुए हैं। उनमें जो प्रकृतिके अन्तर्यामी हैं और महत्तत्त्वके स्रष्टा हैं, उनका नाम प्रथम पुरुष है। जो ब्रह्माण्डके और जीव-समष्टिके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम द्वितीय पुरुष है। तथा जो सर्वभूतोंके अथवा व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम तृतीय पुरुष है।

प्रलयलीन, वासनाबद्ध, भगवद्विमुख जीवोंके प्रति करुणा-वश भगवान् सृष्टिकी इच्छा करते हैं, जिससे वे जीव संसारमें कर्म करते हुए भगवत्सानिध्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करें और वासनाजालसे मुक्त हों। इस इच्छासे भगवान् पुरुषरूप होकर प्रकृतिकी ओर देखते हैं। इससे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है और गुणत्रयमें वैषम्य होकर महत्तत्त्वसे लेकर क्षित्यादिपर्यन्त सारे तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। ये प्रथम पुरुष ही इस सृष्टिके कर्त्ता हैं। इनको महाविष्णु या संकर्षण कहते हैं। इनका रूप विराट् है।

इस महदादि सृष्टि और असंहत कारण-तत्त्वोंको परस्पर सम्मिलित करनेके लिये प्रथम पुरुष अंशतः अनेक रूप होकर उनमें प्रवेश करते हैं। यह प्रविष्ट अंश ही द्वितीय पुरुष है। ये अपने प्रबल आकर्षणके द्वारा उनको वक्रगति प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये तत्त्व वक्रगतिविशिष्ट होकर, पञ्चीकृत दशामें, चक्राकारमें आवर्तित और आकुञ्चित होकर, केन्द्र-विच्छिन्न होकर अनन्त ब्रह्माण्डका आकार धारण करते हैं। द्वितीय पुरुष इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्त्ता हैं, इनको गर्भोदशायी और प्रद्युम्न आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। ये भी विराट्रूप हैं।

द्वितीय पुरुषद्वारा सृष्ट ब्रह्माण्ड सूक्ष्म होता है। स्थूल सृष्टिके लिये द्वितीय पुरुषसे विविध अवतारोंका प्रादुर्भाव होता है। उनमें जो पालनकर्त्ता विष्णु हैं, उन्हींको तृतीय पुरुष कहते हैं। ये व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, इन्हें क्षीरोदशायी और अनिरुद्ध भी कहते हैं। ये चतुर्भुज हैं, इन्हें अन्तर्यामी परमात्मा भी कहा जाता है।

(ख) गुणावतार

स्थूल सृष्टि या चराचर-सृष्टिके लिये गुणावतारोंका प्रयोजन होता है। उनमें सृष्टिकर्त्ता रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मा, संहारकर्त्ता तमोगुणविशिष्ट रुद्र तथा पालनकर्त्ता सत्त्वगुण-विशिष्ट विष्णु हैं।

(ग) लीलावतार

भगवान्‌के जिन अवतारोंमें विश्रामरहित, विविध विचित्रताओंसे पूर्ण, नित्य नूतन उल्लास-तरङ्गोंसे युक्त, स्वेच्छाधीन कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनको लीलावतार कहते हैं। लीलावतार पूर्ण, अंश और आवेश-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। कल्पावतार और युगावतार—सबका समावेश लीलावतारके उक्त तीन भेदोंके अन्तर्गत हो जाता है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्णावतार हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार १४ मन्वन्तरावतार हैं। जैसे—

१. यज्ञ—ये स्वायम्भुव मन्वन्तरके पालक हैं। इनके पिताका नाम रुचि और माताका नाम आकूति था।

२. विभु—स्वारोचिष मन्वन्तरके पालक हैं। पिता वेदशिरा, माता तुषिता।

३. सत्यसेन—औत्तमीय मन्वन्तरके पालक। पिता धर्म, माता सूनृता।

४. हरि—तामसीय मन्वन्तरके पालक और गजेन्द्रको मोक्ष देनेवाले। पिता हरिमेध और माता हरिणी।

५. वैकुण्ठ—रैवतीय मन्वन्तरके पालक। पिता शुभ्र, माता विकुण्ठा।

६. अजित—चाक्षुषीय मन्वन्तरके पालक। पिता वैराज, माता सम्भूति। ये ही कूर्मरूपधारी हैं।

७. वामन—वैवस्वत मन्वन्तरके पालक। पिता कश्यप, माता अदिति।

८. सार्वभौम—सावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता देवगुह्य, माता सरस्वती।

९. ऋषभ—दक्षसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता आयुष्मान्, माता अम्बुधारा।

१०. विष्वक्सेन—ब्रह्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता विश्वजित्, माता विषूची।

११. धर्मसेतु—धर्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता आर्यक, माता वैधृता ।

१२. सुधामा—रुद्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता सत्यसह, माता सूनृता ।

१३. योगेश्वर—देवसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता देवहोत्र, माता बृहती ।

१४. बृहद्भानु—इन्द्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक । पिता सत्रायन, माता विनता ।

कल्पावतार—२५ हैं—जैसे (१) चतुस्सन (सनत्कुमार, सनक, सनन्दन और सनातन), (२) नारद; ये दोनों अवतार ब्राह्म कल्पमें आविर्भूत होते हैं और सभी कल्पोंमें विद्यमान रहते हैं । (३) वाराह—इनका दो बार आविर्भाव होता है, पहला ब्राह्म कल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ब्रह्माके नासारन्ध्रसे और दूसरा ब्राह्म कल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें जलसे । (४) मत्स्य, (५) यज्ञ, (६) नर-नारायण, (७) कपिल, (८) दत्तात्रेय, (९) हयशीर्ष, (१०) हंस, (११) ध्रुवप्रिय या पृश्निगर्भ, (१२) ऋषभ, (१३) पृथु—ये १३ अवतार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें होते है । (१४) नृसिंह, (१५) कूर्म, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) वामन, (१९) परशुराम, (२०) रामचन्द्र, (२१) व्यास, (२२) बलराम, (२३) श्रीकृष्ण, (२४) बुद्ध और (२५) कल्कि । इनमें अन्तिम आठ वैवस्वत मन्वन्तरके अवतार हैं ।

युगावतार ४ हैं—सत्ययुगमें शुक्ल, त्रेतामें रक्त, द्वापरमें श्याम और कलिमें कृष्ण । यज्ञ और वामन अवतारोंका समावेश मन्वन्तरावतार तथा कल्पावतार दोनोंमें होता है ।

सम्बन्ध-तत्त्वमें श्रीकृष्ण

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय तत्त्वके वाचक शब्द हैं । परंतु साधकोंके भावानुसार ये तीनों शब्द तीन विभिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होते हैं । जहाँ किसी गुणका प्रकाश नहीं है, तादात्म्य-साधनके द्वारा साधकके हृदयमें जब वैसे तत्त्वकी स्फूर्ति होती है, तब उसको ब्रह्म कहते हैं । बिम्बज्योतिरूपसे दीखनेवाले अन्तर्यामीको योगी परमात्मा कहते हैं और भक्तकी साधनामे सर्वगुण-परिपूर्ण, अशेषकल्याणगुणमय श्रीभगवत्तत्त्वकी स्फूर्ति होती है । वे ऐश्वर्य-वीर्यादि अशेष कल्याणगुणोंके निधान परम तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं । श्रीजीवगोस्वामी श्रीकृष्ण-संदर्भमें लिखते हैं—

एवं च आनन्दमात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयो विशेषणानि विशिष्टो भगवान् इत्यायातम् । तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेन अखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्—ब्रह्म तु स्फुटमप्रकटितवैशिष्ट्याकारत्वेन तस्यैव असम्यग् आविर्भाव इत्यायातम् ॥

अर्थात् शक्तिविशिष्टताके साथ परम तत्त्वका जो पूर्ण आविर्भाव है, वही भगवत्-शब्दवाच्य है । ब्रह्म उसका असम्यक् आविर्भाव मात्र है । ब्रह्ममें शक्तिकी स्फूर्ति परिलक्षित नहीं होती; परतु अवतारोंमें शक्तिकी लीला परिलक्षित होती है । अतएव श्रीभगवत्-शक्ति-प्रकटनका तारतम्य ही अंशत्व, पूर्णत्व, पूर्णतरत्व और पूर्णतमत्वका परिमापक है । श्रीजीवगोस्वामीने कृष्णस्तु भगवन् स्वयम्—इस भागवतीय श्लोककी व्याख्यामें श्रीवृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको पूर्णतम कहकर निर्देश किया है । ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी लिखा है—

> पूर्णो नृसिंहो रामश्च श्वेतद्वीपविराड् विभुः ।
> परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम् ॥
> वैकुण्ठे कमलाकान्तो रूपभेदाच्चतुर्भुजः ।
> गोलोकगोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम् ॥
> अस्यैव तेजो नित्यं च चित्ते कुर्वन्ति योगिनः ।
> भक्ताः पादाम्बुजं तेजः कुतस्तेजस्विना विना ॥
>
> (ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, पूर्वार्द्ध, अध्याय ९)

अर्थात् नृसिंह, राम और श्वेतद्वीपके विराट विभु—ये पूर्ण हैं । परंतु वैकुण्ठमें और गोकुल (वृन्दावन) में श्रीकृष्ण ही परिपूर्णतम हैं । वैकुण्ठमें कृष्णकी विलासमूर्ति कमलापति नारायण विराजित हैं । वहाँ वे चतुर्भुज हैं । गोलोकमें तथा गोकुलमें स्वयं द्विभुज राधाकान्त हैं । इन्हींके तेजका योगिजन नित्य चिन्तन करते हैं, भक्तगण इन्हींके चरण-कमलोंकी छटाका ध्यान करते हैं ।

इसके अतिरिक्त माधुर्य-सयुक्त ऐश्वर्य बहुत ही सुखकर होता है । श्रीकृष्णमें जैसा परमैश्वर्य और परम माधुर्यका पूर्णतम समावेश देखा जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता । विष्णुपुराणमें कहा गया है—

> समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः ।
> इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितो यः ॥
>
> (६ । ५ । ८४)

अर्थात् वे सम्पूर्ण कल्याण-गुणोंके स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी

माया शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंको व्याप्त किया है, और अपने इच्छानुसार मनमाने विविध देह धारण करते हैं और जगत्-का अशेष कल्याण-साधन करते हैं। यह अनन्तगुणविशिष्ट परम तत्त्व ही भगवान् हैं तथा भागवतके अकाट्य प्रमाणके अनुसार श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीलघुभागवतामृतमें कहा गया है—

इति प्रवरशास्त्रेषु तस्य ब्रह्मस्वरूपतः।
माधुर्यादिगुणाधिक्यात् कृष्णस्य श्रेष्ठतोच्यते॥
अतः कृष्णोऽप्राकृतानां गुणानां नियुतायुतैः।
विशिष्टोऽयं महाशक्तिः पूर्णानन्दघनाकृतिः॥

अर्थात् मुख्य-मुख्य शास्त्रोंमें माधुर्यादि गुणकी अधिकताके कारण ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता वर्णित की गयी है। अतएव असंख्य अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण श्रीकृष्ण महाशक्तिमान् और पूर्णानन्दघन हैं।

भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! ऐश्वर्ययुक्त, सम्पत्तियुक्त तथा बल-प्रभावादिके आधिक्यसे युक्त जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबको मेरी शक्तिके लेशसे उत्पन्न हुआ जानो। तथा—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'हे अर्जुन! मेरी विभूतिके विषयमें तुमको इतना अधिक जाननेसे क्या प्रयोजन—मैं अपनी प्रकृतिके एक अंश अन्तर्यामी पुरुष अर्थात् परमात्मरूपसे इस जड-चेतनात्मक जगत्-को व्याप्त करके अवस्थित हूँ।'

भगवान्के ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णलीलाके सम्बन्धमें श्रीसनातनजीसे कहते हैं कि 'व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चिरकिशोर हैं। प्रकट और अप्रकट-भेदसे उनकी लीला दो प्रकारकी है। वे जब प्रकट-लीला करनेकी इच्छा करते हैं, तब पहले पिता-माता और भक्तोंको आविर्भूत करते हैं, उसके बाद स्वयं आविर्भूत होते हैं। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण भक्तिरसोंके आश्रय हैं तथा नित्यलीलामें विलास करते हैं। नरलीलाका अनुकरण करनेमें विभिन्न वयस् होनेपर भी वे चिरकिशोर हैं। उनकी सारी लीलाएँ नित्य हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, एक-एक ब्रह्माण्डमे क्षण-क्षणमे पूतना-वध आदि सारी लीलाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

श्रीकृष्णका प्रकट प्रकाशकाल १२५ वर्ष है। [illegible] व्रजमें अपना प्रकट लीला-विलास करते हैं। श्रीकृष्ण[illegible] भी तारतम्य पाया जाता है। व्रजधाममें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्यके परिपूर्णतम रूपमें प्रकाशित होते हैं। अतएव व्रजमें वे पूर्णतम हैं, मथुरामें पूर्णतर हैं और द्वारकामें पूर्ण। श्रीकृष्ण [illegible] एक ही हैं; परंतु केवल उनके ऐश्वर्य-माधुर्यके प्रकाशके तारतम्यमें पूर्णतमता, पूर्णतरता और पूर्णता प्रकटित होती है। जैसे एक ही चन्द्र विभिन्न तिथियोंमें कला-किरणोंको प्रकाशित करते हुए पूर्णिमाकी रात्रिमें पूर्णतमताको प्राप्त होता है, व्रजमें भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपने पूर्णतम ऐश्वर्य और माधुर्यको प्रकाशित करते हैं।

इसी कारण वृन्दावन धामकी महामहिमा है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥
कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी।
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्।
आविर्भावस्तिरोभावो भवत्येव युगे युगे॥
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥

'यह रम्य वृन्दावन ही मेरा एकमात्र धाम है। यह पाँच योजन विस्तारवाला वन मेरा देह ही है। यह कालिन्दी परम अमृतरूप जल प्रवाहित करनेवाली मेरी सुषुम्णा नाड़ी है। यहाँ देवतागण सूक्ष्मरूपसे निवास करते हैं और सर्वदेवमय मैं इस वृन्दावनको कभी नहीं त्यागता। केवल युग-युगमें इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह रम्य वृन्दावन तेजोमय है, चर्मचक्षुके द्वारा यह देखा नहीं जा सकता।'

पद्मपुराणके पातालखण्डमें आता है—

यमुनाजलकल्लोले सदा क्रीडति माधवः।

अर्थात् श्रीकृष्ण यमुना-जलकी तरंगोंमें सदा क्रीडा करते हैं। श्रीजीवगोस्वामी इस श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

यमुनाया जलकल्लोले यत्र [illegible] वृन्दावने [illegible] प्रकरणाल्लब्धम्।

अजहल्लक्षणासे तीरलक्षणादि अर्थ [illegible] सकता है। तीरका अर्थ यहाँ वृन्दावन ही [illegible]। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक धाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकई स्वरूप तार नाहि दुई काय॥
चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश।
गोपी गोपी सङ्गे याहा कृष्णेर विलास॥

अर्थात् सबसे ऊपर श्रीगोकुल अथवा व्रजलोक धाम है, जिसे 'श्रीगोलोक', 'श्वेतद्वीप' तथा 'वृन्दावन' नामसे पुकारते हैं। वह श्रीकृष्णके शरीरके समान सर्वव्यापी, अनन्त, विभु है। ऊपर और नीचे व्याप्त है, उसका कोई हेतु नहीं है। श्रीकृष्णकी इच्छासे ही वह ब्रह्माण्डमें प्रकाशित हो रहा है। वह एकमात्र चैतन्यस्वरूप है; देह-देहीके समान उसका द्विविध रूप नहीं है। वहाँ भूमि चिन्तामणिके समान तथा वन कल्पवृक्षमय हैं। चर्मचक्षुओंसे देखनेपर वह वृन्दावन धाम प्रपञ्चके समान दीखता है। प्रेमनेत्रसे देखनेपर उसके स्वरूपका प्रकाश होता है और गोप-गोपाङ्गनाओंके साथ श्रीकृष्णकी विलासलीला प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

यह अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड श्रीकृष्णकी चित् शक्तिके द्वारा विरचित है, यह सब कुछ उन्हींकी महिमा है—इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने महान् और कितने ऐश्वर्यशाली हैं। शास्त्रमें कहा गया है कि जो निरतिशय बृहत् है, जिससे बड़ा और कुछ नहीं है, वही ब्रह्म है; प्राकृत-अप्राकृत अनन्त कोटि विश्व-ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें अवस्थित हैं। ब्रह्म सर्वाधार है; परतु उस ब्रह्मके भी प्रतिष्ठान, आधार श्रीकृष्ण हैं। गीतामें उन्होंने कहा है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अतएव श्रीकृष्ण क्या वस्तु हैं, यह इससे समझा जा सकता है। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

एई मत षडैश्वर्य-पूर्ण अवतार।
ब्रह्मा विष्णु अन्त ना पाय जीव कोन छार॥

अर्थात् श्रीकृष्णका पूर्णावतार इस प्रकार षडैश्वर्योंसे पूर्ण है। उनका ब्रह्मा और विष्णु भी जब अन्त नहीं पाते, तब बेचारा मिट्टीका पुतला जीव क्या पता पा सकता है! ब्रह्मसंहितामें कहा गया है—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अर्थात् श्रीकृष्णके निजधाम गोलोक श्रीवृन्दावनके नीचे परव्योम है, जिसे विष्णुलोक भी कहते हैं; तथा देवीलोक अर्थात् मायालोक, शिवलोक आदि लोक परव्योमके नीचे हैं। इन लोकोंमें तत्तद् देवोंके प्रभावोंका जो विधान करते हैं, उन गोलोकविहारी आदिपुरुष गोविन्दको मै भजता हूँ।

श्रीकृष्णका ऐश्वर्य और माधुर्य

भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। एक बार श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीसे कहा कि मैं तुमसे एकपादविभूतिकी बात कह रहा हूँ, श्रवण करो। श्रीकृष्णकी त्रिपादविभूति मन और वाणीके अगोचर है। त्रिपादविभूतिकी तो बात ही क्या, एकपादविभूतिका भी कोई अन्त नहीं पा सकता। परिदृश्यमान एक-एक सौर जगत् एक-एक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकारके ब्रह्माण्ड असंख्य हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक सृष्टिकर्त्ता, एक संहारकर्त्ता और एक पालनकर्त्ता है। इनका साधारण नाम चिरलोकपाल है।

श्रीकृष्णकी द्वारका-लीलाके समय एक दिन इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा उनके दर्शनार्थ द्वारकामें आये। उन्होंने आकर द्वारपालके द्वारा अपने आगमनकी सूचना दी। श्रीकृष्णने द्वारपालसे कहा—'कौन ब्रह्मा आये हैं, उनका नाम क्या है? पूछकर आओ।' द्वारपालने ब्रह्माके पास आकर तदनुसार पूछा। सुनकर ब्रह्मा विस्मित होकर बोले—'मैं सनक-पिता चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ।' द्वारपालने श्रीकृष्णके पास जाकर ब्रह्माके उत्तरको निवेदन किया। श्रीकृष्णने ब्रह्माको अंदर बुलानेकी आज्ञा दी। ब्रह्माने आकर श्रीकृष्णके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीकृष्णने उनका यथायोग्य पूजा-सत्कार करके आनेका कारण पूछा। ब्रह्मा बोले—"मैं अपने आनेका कारण पीछे निवेदन करूँगा; पहले यह तो बतलाइये कि आपने द्वारपालके द्वारा जो पुछवाया कि 'कौन ब्रह्मा आये हैं'—इसका कारण क्या है? क्या ब्रह्माण्डमें मेरे सिवा कोई और ब्रह्मा भी हैं?"

ब्रह्माके इस प्रश्नको सुनकर श्रीकृष्ण मुस्कराये और तत्काल ही उस सभामें अनेकों ब्रह्माओंका आविर्भाव हो गया। उनमें कोई तो दस मुखका था, कोई बीस मुखका, कोई सौ

मुखका, कोई सहस्रमुख, कोई लक्षमुख। इन असंख्य ब्रह्माओंके साथ-साथ लक्ष-कोटि नेत्रोंवाले इन्द्र प्रभृति देवता भी आये। उनको देखकर चतुर्मुख ब्रह्माके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे सब ब्रह्मा आकर कोटि-कोटि मुकुटोंके द्वारा श्रीकृष्णके पादपीठको स्पर्श करने लगे और प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभो! इन दासोंका किस लिये आपने आह्वान किया है?' श्रीकृष्ण बोले—'कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। आपलोगोंको देखनेकी इच्छासे ही बुलाया है।' इसके बाद श्रीकृष्णने उनको एक-एक करके विदा किया। चतुर्मुख ब्रह्मा विस्मित नेत्रोंसे यह सब देख रहे थे; अन्तमें श्रीकृष्णके चरणोंमे नमस्कार करते हुए बोले—'प्रभो! मेरा संशय निवृत्त हो गया; जो सुनना-जानना चाहता था, वह प्रत्यक्ष देख लिया।' इतना कहकर ब्रह्मा श्रीकृष्णसे आज्ञा प्राप्तकर अपने धामको चले गये।

गोलोक अर्थात् गोकुल, मथुरा और द्वारका—इन तीन धामोमे श्रीकृष्ण नित्य अवस्थान करते हैं। ये तीनों धाम उनके स्वरूपैश्वर्यद्वारा पूर्ण हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर होकर भी प्रभु अपनी योगमायासे इस गोलोक धाममें लीला करते हैं। उनकी यह गोप-लीलामूर्ति उन वैकुण्ठादि लोकोंकी अधीश्वर-मूर्तियोंकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है।

श्रीमद्भागवतमे कहा गया है—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
(३।२।१२)

'श्रीभगवान्ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानव-लीलाके योग्य जो श्रीविग्रह धारण किया था, वह स्वयं प्रभुके चित्तको विस्मित करनेवाला था, सौभाग्य और ऐश्वर्यका परम धाम था तथा आभूषणोंको भी भूषित करनेवाला था।' श्रीभगवान्की अन्यान्य देवलीलाओंकी अपेक्षा यह मानव-लीला अधिक मनोहर है। इसमें भगवान्की चित्-शक्तिका अद्भुत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसकी मनोहरताका लेश भी किसी देवलीलामें नहीं पाया जाता। यही बात भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कही है—

स्वस्य देवादिलीलाभ्यो मर्त्यलीला मनोहरा।
अहो मदीयचिच्छक्तेः प्रभावं पश्यताद्भुतम्॥
दिव्यातिदिव्यलोकेषु यद्गन्धोऽपि न सम्भवेत्॥

श्रीमद्भागवतमें इसी रूपकी महिमा [illegible] कहते हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
(१०।४४ [illegible])

'मल्लस्थलमें श्रीकृष्णका दर्शन करके [illegible] रमणियाँ बोलीं कि 'जो लावण्यका सार है, जिसकी [illegible] भी कोई दूसरा रूप नहीं [illegible], फिर [illegible] बढ़कर तो हो ही कैसे सकता है, जिसकी [illegible] है तथा जो क्षण-क्षण नूतन बना [illegible] ऐश्वर्य, शोभा और यशका [illegible] औरोंके लिये दुर्लभ है, श्रीकृष्णके उस रूपको [illegible] निरन्तर नयनोंके द्वारा पान करती रहती हैं। [illegible] बतलाओ, उन्होंने कौन-सा तप किया है?' तथा—

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च॥
([illegible])

'मकराकृति कुण्डलोंके द्वारा शोभायमान [illegible] तथा गण्डयुगलसे जो [illegible] विलास-युत मन्द-मधुर मुसकान [illegible] आनन्दमय है, श्रीकृष्णके उसी मुखारविन्दको [illegible] करके नर-नारीगण आनन्दसे परितृप्त [illegible] दर्शनमें बाधा डालनेवाले निमेषोन्मेषको [illegible] गिरानेवाले निमिके प्रति क्रोध [illegible]।'

श्रीभगवान्का भजन करनेवालोंके लिये [illegible] की ही प्रधानता है। गोपियाँ [illegible] उपासिका हैं। श्रीबिल्वमङ्गल [illegible] श्रीगीतगोविन्द, सूरदास, विद्यापति [illegible] पदावलियाँ आदि [illegible] श्रीकृष्ण [illegible] भंडार हैं। श्रीमद्भागवतकी तो बात ही क्या, [illegible]

श्रीकृष्णलीलाका सहस्रों स्थलोंपर वर्णन प्राप्त होनेपर भी श्रीमद्भागवत और महाभारतमें विस्तृतरूपसे भगवान्‌की माधुर्यमयी तथा ऐश्वर्यमयी लीलाका रसास्वादन प्राप्त होता है। महर्षि व्यासने अपने इन महान् ग्रन्थोंमे स्पष्ट लिख दिया है कि 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।'

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें श्रीकृष्णके जन्म-प्रसङ्गका वर्णन है। जब कारागारमें वसुदेवके यहाँ श्रीकृष्ण चतुर्भुज नारायणरूपमें अवतीर्ण हुए, तब उस रूपको देखकर वसुदेव और देवकी विस्मयापन्न हो उठे। देवकी उस चतुर्भुज रूपके तेजको सह न सकनेके कारण प्रार्थना करने लगीं—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

अर्थात् 'हे विश्वात्मन्! शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मकी शोभासे युक्त अपने इस अलौकिक चतुर्भुज रूपका उपसंहार करो।' भक्तवत्सल भगवान्‌ने तत्काल ही द्विभुजधारी प्राकृत शिशुका आकार ग्रहण किया। वसुदेवजीने उनकी आज्ञासे उस प्राकृत शिशुको नन्दजीके घर पहुँचा दिया। ऐसा माना जाता है कि श्रीकृष्णका जब कंसके कारागारमें ऐश्वर्यमय रूपमें आविर्भाव हुआ, उसी समय मधुररूपमें वे यशोदाके यहाँ भी प्रकट हुए थे। वसुदेवजी जब शिशु कृष्णको लेकर यशोदाके सूतिकागृहमें पहुँचे, उसी समय वसुदेवनन्दन उन यशोदानन्दन परिपूर्णतम लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें प्रविष्ट हो गये और बदलेमें वे नन्दात्मजा महामायाको ले आये। श्रीकृष्णकी प्रेमानन्द-माधुर्यमयी लीलाका श्रीगणेश नन्दजीके घरसे ही प्रकट होता है। मानव-शिशुका ऐसा भुवन-मोहन रूप और कहीं देखनेमें नहीं आता। श्रीकृष्ण सर्वप्रथम अपने रूपके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यसे गोप-गोपिकाओंके चित्तको आकर्षित करते हैं। श्रीभगवान्‌के जितने रूप प्रकट हुए हैं, ऐसा सुन्दर सच्चिदानन्द विग्रह और कहीं प्रकट नहीं हुआ। इस रूप-माधुर्यसे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी आकृष्ट हो जाते हैं।

इसके बाद पूतना-मोचन, तृणावर्त्त-वध, कंसासुर-वध, बकासुर-वध, अघासुर-प्रलम्बासुर-शङ्खचूड-अरिष्ट-केशी-व्योमासुर-वध, कंसके महलमें कुवलयापीड गजराजका वध इत्यादि कार्योंमें श्रीकृष्णका असीम वीर्य-पराक्रम, असीम सुहृद्-वात्सल्य तथा असीम लोकानुग्रहका परिचय प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमे कंस-वध श्रीकृष्णके आविर्भावके प्रथम कारणरूपमें वर्णित है। एक गोपबालक श्रीकृष्णका अनेक यदुवीरोंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दण्ड प्रतापशाली महाबली कंसको युद्धमें क्षणभरमें पछाड़ना उनकी भगवत्ताको प्रकट करता है। उसके बाद इन्होंने प्रबल शक्तिशाली मगध-सम्राट् जरासंधको, जिसने सैकड़ों राजाओंको पराजित करके उनको कारागृहमे डालकर उनके राज्य हड़प लिये थे, नीति-बलसे भीमके द्वारा मल्लयुद्धमें मरवा डाला। जरासंधके पास अपार सैनिक बल था। उसकी सैन्यशक्तिका कुछ अनुमान इस बातसे लगाया जा सकता है कि महाभारतके युद्धमें उभय पक्षमें कुल मिलाकर केवल अठारह अक्षौहिणी सेना थी, जब कि जरासंधने तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना साथ लेकर सत्रह बार श्रीकृष्ण-पालित मथुरापुरीपर चढाई की किंतु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर तथा अपनी सारी सेनाको खपाकर लौट जाना पड़ा। श्रीकृष्ण उसे हर बार इसी आशासे जीता छोड़ देते थे कि वह दुबारा विशाल वाहिनी लेकर मथुरापर चढ़ आयेगा और इस प्रकार घर बैठे उन्हें पृथ्वीका भार हरण करनेका अवसर हाथ लगेगा। अठारहवीं बार दूसरे प्रबलतर शत्रु कालयवनको भी साथ-ही-साथ आक्रमण करते देखकर प्रभुने अपनी यादवी सेनाको संहारसे बचानेके उद्देश्यसे संग्रामभूमिसे भाग खड़े हुए और इसी बीचमें समुद्रके बीच द्वारकापुरी बसाकर समस्त मथुरावासियोंको उन्होंने योगबलसे वहाँ पहुँचा दिया। अन्तमें भीमसेनके द्वारा जरासंधको भी मरवाकर श्रीकृष्णने बंदीगृहसे राजाओंको मुक्त किया और इस प्रकार दुर्बलोंके ऊपर सबलके अत्याचारको समाप्त कर दिया। इसके बाद नरकासुर, बाणासुर, कालयवन, पौण्ड्रक, शिशुपाल, शाल्व आदिके वध भी साधारण पराक्रमके द्योतक नहीं हैं। इसीको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते॥

'जो अनन्तगुणशाली भगवान् अपनी लीलासे त्रिभुवनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते रहते हैं, उनके लिये शत्रुपक्षका निग्रह करना कोई चमत्कारकी बात नहीं है; तथापि उन्होंने मनुष्यके समान युद्धमें असाधारण युद्ध-नैपुण्य दिखलाकर और विजय प्राप्त करके संसारके लोगोंके सामने वीरताका आदर्श उपस्थित किया, इसीलिये उसका वर्णन किया जाता है।'

इस अलौकिक ऐश्वर्य-लीलाके बीच श्रीभगवान्‌ने जो अति विलक्षण प्रेम—माधुर्यकी लीला प्रदर्शित की है, उसका आभास श्रीउद्धवजीको व्रजमें दूत बनाकर भेजनेकी लीलामें मिलता है। भागवत, दशम स्कन्धके ४६वें अध्यायमें श्रीकृष्ण गोपियोंको अपना संदेश भेजते समय अपने प्रिय सखा भक्त-प्रवर श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव! तुम व्रजमें जाओ, मेरी विरह-विधुरा गोपिकाएँ मुझको न देखकर मृतवत् पड़ी हुई हैं। मेरी बात सुनाकर तुम उन्हें सान्त्वना दो। उनके मन प्राण-बुद्धि और आत्मा दिन-रात मुझमें ही अर्पित हैं। वास्तव-में-मेरा मन ही उनका मन बना हुआ है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं। मेरे सिवा और कुछ वे नहीं जानतीं; उन्होंने मेरे लिये लोकधर्म, वेदधर्म तथा देहधर्म—सबका परित्याग कर दिया है। वे व्रजबालाएँ दिन-रात केवल मेरा ही चिन्तन करती हैं, विरहकी उत्कण्ठामें वे विह्वल हो रही हैं; मेरे स्मरणमें, मेरे ध्यानमें विमुग्ध पड़ी हुई हैं तथा मुझको देखने-की आशामें अतिक्लेशसे जीवन-यापन कर रही हैं।'

श्रीकृष्णके इस सरल हृदयगत भावोच्छ्वाससे सहज ही जाना जाता है कि उनका हृदय प्रेम-रस—माधुर्यसे कितना परिपूर्ण है! आगे चलकर एकादश स्कन्धके द्वादश अध्याय-में श्रीकृष्ण पुनः उद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव! व्रज-बालाओंकी बात मैं तुमसे क्या कहूँ। श्रीवृन्दावनमें वे सुदीर्घ कालतक मेरे सङ्ग-सुखको प्राप्त कर चुकनेके बाद भी उस सुदीर्घ-कालको एक क्षणके समान बीता हुआ समझती थीं। इस समय मेरे चले आनेके कारण आधा क्षण भी उनके लिये कोटि कल्पोंके समान क्लेशप्रद हो रहा है। उनको जब मेरा सङ्ग प्राप्त होता था, तब वे अपना गेह-देह-मन-प्राण-आत्मा सब कुछ भूल जाती थीं। जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपनेको खो देती हैं, ध्यानमग्न मुनिगण जैसे समाधिमें अपने आपको खो देते हैं, गोपियाँ भी मुझको पाकर उसी प्रकार आत्म-विस्मृत हो जाती थीं। हे उद्धव! व्रजबालाओंके भाव-रस, ध्यान-धारणा योगीश्वरोंकी ध्यान-समाधिसे भी अधिक प्रगाढ़ हैं।' इस कथासे श्रीकृष्णके महागाम्भीर्यमय माधुर्यभावका परिचय प्राप्त होता है। श्रीरासलीलामें उन्होंने जिस महान् माधुर्यका निदर्शन-प्रदर्शन किया है, उसकी तुलना कहीं नहीं है। उसको प्रकट करनेके लिये उपयुक्त भाषाका अभाव है, मानवी भाषामें कभी वह भाव प्रकाशित ही नहीं किया जा सकता। रासलीलाके अवसानमें उन्होंने गोपी-प्रेमके महान् माधुर्यको अपने हृदयमें अनुभव करके कहा था कि 'मैं तुमलोगोंके प्रेमका सदाके लिये ऋणी हूँ। तुमलोगोंने दुरन्त—दुश्छेद्य गृहशृङ्खला, समाज-बन्धन, लोक-धर्म और वेदधर्मका त्याग करके, आर्यपथको छोड़कर मेरे प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया है, मैं कदापि तुम्हारे इस अनवच्छिन्न, अनवद्य, अव्यभिचारी प्रेमका बदला नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारे प्रेम-ऋणका ऋणी होकर चिरकालके लिये तुम्हारे चरणोंमें बँध गया। इस ऋणके परिशोधका साधन मेरे पास नहीं है; तथापि यदि तुम्हारे भावमें तुम्हारा अनुशीलन कर सकूँ, रात-दिन तुम्हारे भावमें विभोर हो सकूँ, तुम्हारा गुण-कीर्तन करते-करते, तुम्हारा नाम जपते-जपते, तुम्हारा रूप-ध्यान करते-करते दिन-रात बिता सकूँ तो वही तुम्हारे सामने मेरा कृतज्ञताज्ञापन तथा आत्मप्रसाद-प्राप्तिका यत्किंचित् उपाय होगा।'

सांदीपनि मुनिके आश्रममें रहते हुए श्रीकृष्ण स्वल्पकाल-में ही १४ विद्याओं और ६४ कलाओंमें पारगत हो गये! इस युद्ध-कलाकी शिक्षाके लिये सांदीपनि मुनिके गुरुकुलको धन्यवाद दें, अथवा यमुनातटस्थ केलिकुञ्जसमलंकृत, गोप-बालाविलसित रास-स्थलीको धन्यवाद दें—समझमें नहीं आता। जो रण-रङ्गमें रुद्रलीलाके ताण्डवनृत्यमें नित्यविहारी महागुरु हैं, वे ही रासलीलामें व्रजबालाओंको नृत्यशिक्षाके लिये गुरुरूपमें वरण करते हैं—इसका चिन्तन करते-करते मन भावना-सिन्धुकी तरङ्गोंमें तरङ्गायमाण होने लगता है।

श्रीकृष्णकी शिक्षाके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें जो वर्णन है, वह अद्भुत है। श्रीकृष्णकी राजनीतिके विषयमें जगत्में आन्दोलन और आलोचना होती आ रही है और होती रहेगी। परंतु महाभारतमें जो हमें विशाल, विपुल राजनीति-की सामग्री प्राप्त होती है, व्यास भीष्म आदि जो नीतिका उपदेश देते हैं, वह समस्त नीति एक श्रीकृष्णमें मूर्तिमान होकर नित्य विराजती है। युद्ध-नीतिमें श्रीकृष्णकी अपूर्व बुद्धि तथा संग्राममें उनकी असीम शक्तिका दर्शन महाभारतमें पद-पदपर प्राप्त होता है। जो वृन्दावनमें वन-वन धेनु चराते और वंशी बजाते थे, वे ही पाञ्चजन्य-शङ्खके मधुर घोर निनाद-से, कौमोदकी गदाके भीषण प्रहारसे, शार्ङ्गधनुके भीषण शराघातसे, सुदीर्घ धूमकेतुसम कृपाण और खड्ग तथा अनन्त शक्तिशाली सुदर्शन चक्रके प्रभावसे देवताओं और मनुष्योंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दान्त दैत्योंको संत्रस्त और निहत करके अपने बलवीर्य और पराक्रमकी पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हैं। वहाँ तो यमुनापुलिनके, कुञ्ज-

काननमें मुरलीके मधुर नादसे व्रजबालाओंको आकुलित करना और कहाँ पाञ्चजन्यके भीषण निनादसे समराङ्गणको प्रकम्पित करना! चरित्रका ऐसा पूर्णतम बहुमुखी विकास और कहाँ मिल सकता है!

श्रीकृष्णके दिव्य उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें उपलब्ध हैं और भागवत, महाभारतादि शास्त्रोंमें नीति-धर्म और आचार-सम्बन्धी उनके उपदेश भरे पड़े हैं। कर्णपर्वके ६९वें अध्यायमें अर्जुनको श्रीकृष्णने धर्म-तत्त्वके सम्बन्धमें एक सूक्ष्म उपदेश प्रदान किया है। उपदेशका हेतु यह है कि अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति उन्हें गाण्डीव परित्याग करनेके लिये कहेगा, उसको वे मार डालेंगे। दैवात् जब कर्ण सेनानी होकर पाण्डव-सैन्यको मथने लगा और अर्जुन उसे पराजित न कर सके, तब युधिष्ठिरने रुष्ट होकर उन्हें उत्साहित करनेके उद्देश्यसे भर्त्सना करनी प्रारम्भ की—

धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य।
तदाहनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय।
प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः॥
(अ० ६८। २६½-२७½)

'तुम अपना गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्णको दे दो तथा रणभूमिमें स्वयं इनके सारथि बन जाओ। फिर जैसे इन्द्रने हाथमें वज्र लेकर वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार ये श्रीकृष्ण भयंकर वीर कर्णको मार डालेंगे। यदि तुम आज रणभूमिमें विचरते हुए इस भयानक वीर राधापुत्र कर्णका सामना करनेकी शक्ति नहीं रखते तो अब यह गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो।'

धर्मराजके इस वचनको सुनकर सत्यसंकल्प अर्जुन पद-दलित नागराजके समान क्रुद्ध हो उठे और खड्ग उठाकर उनका शिरश्छेदन करनेके लिये उद्यत हो गये। श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने अर्जुनको रोकते हुए कहा—

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः॥
(कर्ण० ६९। १८)

'पार्थ! जो करने योग्य होनेपर भी असाध्य हों तथा जो साध्य होनेपर भी निषिद्ध हो ऐसे कर्मोंसे जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषोंमें अधम माना गया है।'

यही नहीं, यहाँ श्रीकृष्णने अहिंसाका उपदेश देते हुए कहा है—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥
(कर्ण० ६९। २३)

'तात! मेरे विचारसे प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। किसीकी प्राणरक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे।'

युद्ध-नीतिका उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद।
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव॥
(कर्ण० ६९। २५-२६)

'मानद! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता हो, संग्रामसे विमुख होकर भागा जा रहा हो, शरणमें आता हो, हाथ जोड़कर आश्रयमें आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्यका वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते हैं। तुम्हारे बड़े भाईमें उपर्युक्त सभी बातें हैं।'

श्रीकृष्णने अर्जुनसे पुनः कहा—हे पार्थ! धर्मकी गति अतिसूक्ष्म है। किसी कार्यमें धर्म होता है तो किसी कार्यमें धर्मका क्षय होता है; इसका विचार करना सहज नहीं है।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥
(कर्ण० ६९। ३१)

'सत्य बोलना उत्तम है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है; परंतु यह समझ लो कि सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्यके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।'

बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती, उनके मुखपर दुर्वचन कहनेसे ही उनका वध हो जाता है। यही धर्मतत्त्व है।

महाभारतके अन्तमें सारे नर-संहारका कारण अपनेको मानकर जब युधिष्ठिर विलाप करने लगे, तब भगवान्ने धर्म-तत्त्वका सार उपदेश करते हुए उनसे कहा—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥

'सब प्रकारकी कुटिलता ही मृत्युका आस्पद है और सरलता मोक्षका मार्ग है। इतना ही ज्ञातव्य विषय है। इस व्यर्थके प्रलापसे क्या लाभ?'

युधिष्ठिरको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए अन्तमें वे कहते हैं—

लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां स तु स्थावरजङ्गमाम्।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति॥

'महाराज! यदि किसीने सारी स्थावर-जङ्गमात्मक पृथ्वीको प्राप्त कर लिया, परंतु उसमें उसकी ममता नहीं है तो वह उस पृथ्वीको लेकर क्या करेगा।'

श्रीकृष्णके द्वारा प्रदत्त ऐसे अनेक उपदेशरत्न यत्र-तत्र शास्त्रोंमें बिखरे पड़े हैं। भगवद्गीता, उद्धवगीता, अनुगीता आदिमें आध्यात्मिक ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है। इन ग्रन्थोंमें भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट अलौकिक सारे तत्त्वज्ञान भरे पड़े हैं। श्रीकृष्णके द्वारा जगत्‌के जीवोंके कल्याणार्थ दिये गये विभिन्न प्रकारके योग, ज्ञान, कर्म और भक्तिके साधनपरक उपदेश जो इन ग्रन्थोंमें प्रचुरताके साथ प्राप्त होते हैं, उनके सर्वज्ञत्वके द्योतक हैं, पूर्णतमत्वके परिचायक हैं।

३. अभिधेय तत्त्व

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—परमतत्त्वके ये त्रिविध आविर्भाव उपासकोंकी विभिन्न धारणाओंके अनुसार शास्त्रमें वर्णित हैं। श्रीकृष्ण परमतत्त्वके पूर्णतम आविर्भाव हैं, यह उपर्युक्त सम्बन्धतत्त्वमें विविध प्रकारसे निर्दिष्ट किया जा चुका है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, यह बात सुनकर चित्तमें स्वभावतः ही यह सद्वासना उत्पन्न होती है कि हृदयकी ऐसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। इस जिज्ञासाकी परितृप्तिके लिये 'अभिधेय तत्त्व' की अवतारणा की जाती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

> श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधिं
> यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।
> पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा
> अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर ! भवानेव शरणम्॥

'माता श्रुतिसे पूछा गया तो उन्होंने तुम्हारी आराधना करनेके लिये कहा। माता श्रुतिने जो बतलाया, बहिन स्मृतिने भी वही कहा। पुराण-इतिहास आदि भ्रातृवर्ग भी उन्हींके अनुगामी हैं; अर्थात् उन्होंने भी तुम्हारी आराधना करनेके लिये ही कहा है। अतएव हे मुरारि! एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, यह मैंने ठीक-ठीक जान लिया।'

यह कहा जा चुका है कि तटस्थाशक्तिरूप समस्त जीव श्रीकृष्णके ही विभिन्नांश हैं। वे जीव नित्यमुक्त और नित्य-संसारी भेदसे दो प्रकारके हैं। जो सदा श्रीकृष्णके चरणोंमें उन्मुख रहते हैं, वे नित्यमुक्त हैं और उनकी गणना पार्षदोंमें होती है। इसके विपरीत जो जीव नित्य बहिर्मुख रहते हैं, वे ही नित्य-संसारी हैं। वे अनादि बहिर्मुखताके वश होकर संसारके बन्धनमें पड़कर दुःख-भोग करते हैं। बहिर्मुखताके कारण माया उनको बन्धनमें डालकर त्रितापसे संतप्त करती रहती है। जीव काम और क्रोधके वशीभूत होकर [illegible] रहता है। संसारचक्रमें भ्रमण करते-करते जब जीवको [illegible] सङ्ग प्राप्त होता है, तब उनके उपदेशसे [illegible] मिल जाती है। जीव कृष्णभक्ति प्राप्त करके पुनः [illegible] चरणप्रान्तमें गमन करता है। अतएव संसारके त्रिविध [illegible] निस्तार पानेके लिये जीवको सारी वासनाओंका परित्याग करके एकमात्र कृष्णभक्ति करना ही विधेय है।

श्रीकृष्णभक्ति ही सर्वप्रधान अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञान—ये तीनों भक्तिमुखापेक्षी हैं। भक्तिके फलकी तुलनामें कर्म, योग और ज्ञानके फल अति तुच्छ हैं। भक्तिकी सहायताके बिना कर्मादि अति तुच्छ फल प्रदान करनेमें भी समर्थ नहीं होते। भक्ति-रहित कर्म और योग तुच्छ-तुच्छ फल प्रदान करके निवृत्त हो जाते हैं, परंतु वे फल चिरस्थायी नहीं होते। भक्ति-रहित ज्ञान भी इसी प्रकार [illegible]। श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—

> तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
> मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
> क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
> तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
> (२।४।१७)

'तपस्वी, दानशील, यशस्वी, मनस्वी, मन्त्रज्ञ [illegible] तथा सदाचारी लोग अपना तप आदि जिनको समर्पण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं कर सकते, उन [illegible] यशवाले भगवान्‌को पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।'

> मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
> चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
> (श्रीमद्भा० ११।५।२ [illegible])

'विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और [illegible] गुण-तारतम्यके अनुसार पृथक्-पृथक् ब्राह्मण आदि [illegible] आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। जो इन वर्णाश्रमोंके [illegible] नियन्ता एवं आत्मा उन ऐश्वर्यशाली पुरुषको [illegible] अपितु उनकी अवज्ञा करते हैं, वे कर्मोंके [illegible] अधिकारसे च्युत होकर नीचे गिर जाते हैं।'

जो लोग जान-बूझकर भगवत्स्वरूपमें [illegible] अवज्ञा प्रकट करते हैं, ज्ञानके द्वारा उनके [illegible]

हो जानेपर भी इस अवज्ञाके अपराधसे उनका संसार-बीज नष्ट नहीं होता। श्रीकृष्ण-भक्तिके बिना मायाके पजेसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम॥

अर्थात् जो एक बार भी मेरे शरणागत होकर यह कहता हुआ कि 'हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ' मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, मैं उसको सदाके लिये निर्भयताका वर दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।

इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२।३।१०)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह चाहे अकाम अर्थात् एकान्तभक्त हो, सर्वकाम अर्थात् इहामुत्र कर्मफलकी कामना करनेवाला हो, अथवा मोक्ष चाहनेवाला हो, उसे तीव्र भक्ति-योगके द्वारा परमपुरुष श्रीकृष्णकी आराधना करनी चाहिये।'

मनुष्यका चित्त स्वभावतः सकाम और स्वार्थके लिये व्याकुल होता है। जबतक देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी यह स्वार्थ-कामना वर्तमान है, तबतक चित्त भगवत्साधनाके द्वारा अपनी सुख-वासनाकी पूर्तिके लिये व्याकुल न होगा। साधना या उपासनाका प्रधानतम पवित्र उद्देश्य है—भगवद्भाव-के द्वारा हृदयको नित्य-निरन्तर पूर्ण किये रखना। परंतु नश्वर धन-जन, यश-मान, विषय-वैभव तथा भोग-विलासकी लालसामें यदि हृदय व्याकुल रहता है तो इससे साधनाके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती। दयामय भगवान् जिसके प्रति अनुग्रह करते हैं, उसके हृदयसे विषय-भोगकी वासना और लालसाको तिरोहित कर देते हैं और अपने चरणोंमें अनुराग प्रदानकर विषय-वासनाको दूर कर देते हैं।

साधु-सङ्ग

सांसारिक वासनासे निष्कृति प्राप्त करना जीवके लिये सहज नहीं है। संतकी संगतिके बिना संसारकी निवृत्ति नहीं होती। पूर्व जन्मोंके शुभ कर्मोंके बिना तथा भगवत्कृपाके बिना साधु-सङ्ग मिलना दुर्घट है। सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न होती है, अतएव साधुसङ्ग भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(१०।५१।५४)

'हे अच्युत! जन्म-मृत्युरूप इस संसारका चक्कर काटते-काटते जब किसी मनुष्यकी संसार-वासनाके क्षयकी ओर प्रवृत्ति होती है, तब उसको साधुसङ्ग प्राप्त होता है। साधु-सङ्ग प्राप्त होनेपर उनकी कृपासे संतोंके आश्रय तथा कार्य-कारण-रूप जगत्‌के एकमात्र स्वामी आपमें रति उत्पन्न होती है।'

कभी-कभी भगवान् अपनी साधु-संततिको प्रेरित करके अपनी कृपाके योग्य जीवोंको संसार-बन्धनसे मुक्त करते हैं, कभी स्वयं अन्तर्यामीरूपसे उनके हृदयमें भक्ति-तत्त्वका प्रकाश करते हैं। उनकी कृपाकी इयत्ता नहीं है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है—

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने।
गुरु अन्तर्यामि रूपे शिखाय आपने॥ ×××
साधुसङ्गे कृष्ण-भक्त्ये श्रद्धा यदि हय।
भक्तिफल प्रेम हय, संसार याय क्षय॥

अर्थात् यदि किसी भाग्यवान् जीवपर श्रीकृष्णकी कृपा होती है तो वे अन्तर्यामी गुरुके रूपमें उसको स्वयं शिक्षा देते हैं। यदि साधुसङ्गके फलस्वरूप श्रीकृष्ण-भक्तिमें श्रद्धा होती है तो वह भक्ति-साधन करता है और उसके फलस्वरूप उसे श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त होता है तथा आवागमनरूप संसारका नाश हो जाता है। अतएव श्रद्धालु पुरुष ही भक्तिका अधिकारी है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।२७-२८)

हम चित्तकी अनन्त कामनाओंसे निरन्तर व्याकुल रहते हैं। सागरकी तरङ्गोंके समान कामनाओंकी तरङ्गें एक-एक करके आती हैं और हमारे हृदयको विक्षुब्ध कर देती हैं; हम इसको समझते हैं, पर उनका परित्याग नहीं कर सकते। ऐसी अवस्थामें हम विवेक-वैराग्यका अधिकार प्राप्त करके ज्ञानकी साधनामें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं। संसारमें अत्यधिक

आसक्तिके कारण भक्तियोगका अधिकारी होना भी असम्भव ही जान पडता है। परंतु श्रीभगवान्की आश्वासन-वाणी यहाँ भी हमारे भीतर आशाका संचार करती है। वे कहते हैं—'अविद्याके महाप्रभावसे तुम सहसा सांसारिक कामनाओंका परित्याग नहीं कर सकते, यह सत्य है। परंतु मेरी कथामें श्रद्धावान् होकर, दृढनिश्चयी होकर, प्रसन्नचित्त होकर दुःख-प्रद कामनाओंका भोग करते समय भी उनको निन्दनीय समझते हुए मेरा भजन करते रहो।' भक्ति स्वतन्त्र है; ज्ञानके लिये जैसे पहले विवेक-वैराग्य आवश्यक हैं, भक्तिके लिये उस प्रकारकी किसी पूर्वावस्थाकी अपेक्षा नहीं होती।

भक्तिर्हि स्वतः प्रबलत्वात् अन्यनिरपेक्षा।

श्रीभगवान् और भी कहते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(११।२०।३१)

'अतएव मेरी भक्तिसे युक्त तथा मुझमें लीन रहनेवाले योगीके लिये पृथक् ज्ञान-वैराग्यरूप साधन श्रेयस्कर नहीं; क्योंकि भक्तिकी साधनामें प्रवृत्त होनेपर ये स्वतः आविर्भूत होते हैं।' श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥
(१।२।७)

यों तो कर्म और ज्ञानकी साधनाके लिये भी श्रद्धा अपेक्षित है, क्योंकि श्रद्धाके बिना सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती। परंतु भक्तिमें सम्यक् प्रवृत्तिके लिये तो श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धाके बिना अनन्य भक्तिमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं और होनेपर भी वह स्थायी नहीं होती। कर्म-परित्यागका अधिकार दो प्रकारसे होता है—ज्ञानमार्गमें वैराग्यके उदयके लिये और भक्तिमार्गमें श्रद्धाके उदयके लिये कर्म-त्याग प्रशस्त होता है। परंतु भक्ति-साधनामें श्रद्धासे भी बढ़कर महत्कृपाकी आवश्यकता होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(५।१२।१२)

जडभरतजी कहते हैं—'हे रहूगण! महापुरुषकी चरण-धूलिसे अभिषेक किये बिना धर्म-पालनके लिये कष्ट सहने, यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी उपासनासे, [illegible] गृहस्थोचित धर्मानुष्ठानसे, वेदाध्ययनसे अथवा [illegible] वरुण, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे भी मनुष्य भगवद्भक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता।'

यह श्रीकृष्णभक्ति जीवके लिये सर्वप्रधान [illegible] पर भी वेदविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म करने [illegible]। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति भगवान्की ही आज्ञा है; और जो इनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा विरोधी तथा द्वेषी है; वह मेरा भक्त या वैष्णव नहीं कहला सकता।

यह साधारण मनुष्यके लिये उपदेश है। इसके विपरीत श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारमें भगवान्ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

यहाँ सर्व-कर्म-परित्यागका उपदेश दिया गया है। इससे भगवद्वाक्यमें परस्पर विरोधकी आशङ्का होती है। इसके समाधान-स्वरूप श्रीमद्भागवतमें भक्त उद्धवके प्रति श्रीभगवान् कहते हैं—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(११।२०।९)

अर्थात् तभीतक वेदविहित कर्मोंका करना आवश्यक है जबतक निर्वेद (वैराग्य) न हो जाय और मेरी कथा सुननेमें तथा मेरा भजन करनेमें जबतक श्रद्धा न उत्पन्न हो।

भगवद्भक्तिके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं। भक्ति-रसामृत-सिन्धुमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढनिश्चयः।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः॥
यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।
यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते॥

अर्थात् जो शास्त्रमें तथा युक्तिमें निपुण [illegible] तत्त्वविचारके द्वारा दृढनिश्चयी है, ऐसे प्रौढ [illegible] व्यक्ति भक्तिका उत्तम अधिकारी है। [illegible] ही भक्त कहलाता है। [illegible]

अधिकारीके तारतम्यका निर्णय किया जाता है। सर्वथा दृढ़निश्चयी वह है जो तत्त्वविचार, साधन-विचार तथा पुरुषार्थके विचारसे दृढ़निश्चयपर पहुँच गया है। युक्तिका अर्थ शास्त्रानुगा युक्ति है, स्वतन्त्र युक्ति नहीं। जो शास्त्रादिमें निपुण नहीं हैं, परंतु श्रद्धावान् हैं, वे मध्यम अधिकारी हैं। अनिपुणका अर्थ है—जो अपनी श्रद्धाके प्रतिकूल बलवान् तर्क उपस्थित होनेपर उसका समाधान नहीं कर सकता। बहिर्मुख व्यक्तिके कुतर्कसे क्षणमात्रके लिये चित्तके डोल जानेपर भी जो अपने विवेकद्वारा गुरुके उपदिष्ट अर्थमें विश्वास करते हैं, इस प्रकारके भक्त कनिष्ठ भक्त हैं। कुतर्कसे चित्तका कुछ क्षणोंके लिये हिल जाना ही कोमलत्व है। कुतर्कसे जिसका विश्वास बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है, उसको भक्त नहीं कह सकते। श्रीभगवान्ने स्वय गीतामें चतुर्विध भक्तोंका उल्लेख किया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
(७। १६-१८)

अर्थात् हे अर्जुन! वे सुकृती व्यक्ति, जो मेरी भक्ति करते है चार प्रकारके होते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। जो अपना दुःख दूर करनेके लिये भगवद्भजन करते हैं, वे आर्त्त हैं। सुख-प्राप्तिके लिये जो भजन करते हैं, वे अर्थार्थी है। ससारको अनित्य जानकर जो आत्मतत्त्वके ज्ञानकी इच्छासे भगवद्भजन करते हैं, वे जिज्ञासु है। ज्ञानी भक्त तीन प्रकारके होते हैं—इनमें एक श्रेणीके ज्ञानी भगवदैश्वर्यको जानकर भगवद्भजन करते है, दूसरी श्रेणीके ज्ञानी भगवन्माधुर्यको जानकर भजन करते हैं और तीसरी श्रेणीके ज्ञानी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंको जानते हुए भजन करते हैं। इन चार प्रकारके भक्तोंमे ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप है, यह मेरा मत है; क्योंकि ज्ञानी परमगति-स्वरूप मेरा ही आश्रय लेते हैं। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त तो सकाम होते हैं, उनमे अन्यान्य विषयोंके प्राप्त करनेकी वासना होती है; परंतु ज्ञानी भक्त मुझको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

'अनेक जन्मोंमे अर्जित पुण्यके प्रतापसे ज्ञानवान् इस चराचर विश्वको वासुदेवात्मक देखकर मेरी भक्तिमे लीन रहता है। ऐसा महात्मा नितान्त ही दुर्लभ है।'

शरणागति

श्रीकृष्णकी दयाका स्मरण होनेपर उनके प्रति भक्तिरससे चित्त अभिभूत हो जाता है। श्रीउद्धवजी कहते हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'दुष्टा पूतनाने अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पान कराया, किंतु परम दयामय श्रीकृष्णने उस मातृवेषधारिणी पूतनाको माताके समान सद्गति प्रदान की। अतएव श्रीकृष्णके सिवा दूसरा ऐसा दयालु कौन है, जिसकी शरणमें हम जायँ?' इसलिये अन्य देवताओंको त्यागकर परम दयालु श्रीकृष्णके शरणापन्न होना जीवका परम कर्त्तव्य है। यहाँ शरणागतिका लक्षण जानना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
(वैष्णवतन्त्र)

शरणागति छः प्रकारकी होती है—जैसे (१) भगवान्‌की अनुकूलताका संकल्प अर्थात् जो भगवद्भावके अनुकूल कर्त्तव्य हों, उनके पालनका नियम, (२) प्रतिकूलताका त्याग, (३) प्रभु हमारी निश्चय ही रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) एकान्तमें अपनी रक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना, (५) आत्मनिवेदन और (६) कार्पण्य—अर्थात् 'हे प्रभो! त्राहि माम्, त्राहि माम्' कहते हुए अपनी कातरता प्रकट करना। इस शरणागतिकी महिमा स्वयं भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। ३४)

'मनुष्य जब सारे कर्मोंका त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य-प्राप्तिके योग्य हो जाता है।'

साधन-भक्ति

श्रीकृष्ण-प्रेम-भक्तिकी साधना ही साधन-भक्ति कहलाती है। जिन कर्मोंके अनुशीलनसे भगवान्‌में परा भक्तिका उदय होता है, उसीका नाम साधन-भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(१।२।६)

अर्थात् मनुष्यका परमधर्म वही है, जिसके द्वारा श्रीकृष्णमें अहैतुकी, अप्रतिहत (अखण्ड) भक्ति प्राप्त होती है, जिस भक्तिके बलसे वह आत्माकी प्रसन्नता लाभ करता है। साधन-भक्ति ही वह परम धर्म है। क्योंकि—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

'इन्द्रिय-प्रेरणाके द्वारा जो साध्य है तथा प्रेमादि जिसके साध्य (फल) हैं, उसको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। तथा हृदयमें नित्य-सिद्ध भावके आविर्भावका नाम ही साध्यता है।'

श्रवण आदि नवधा-भक्ति ही साधन-भक्ति है। नित्य सिद्ध वस्तु है श्रीभगवत्प्रेम। यह आत्माका नित्यधर्म है। अग्निमें दाहिका शक्ति तथा पुष्पोंमें सुगन्धके समान आत्माके साथ इसका समवाय सम्बन्ध है, अतएव यह नित्य वस्तु है। यह नित्यसिद्ध वस्तु उत्पाद्य नहीं है। परंतु श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा जब हृदयमें इसका उदय होता है, तब इसको 'साध्य' कह सकते हैं। इस प्रकार 'साधनभक्ति' और 'साध्यभक्ति'का विचार किया जाता है। साधन-भक्तिके दो भेद हैं, वैधी और रागानुगा। भक्तिके इन दोनों भेदोंके रहस्यको हृदयंगम करनेके लिये उत्तमा भक्ति या परा-भक्तिके मार्गसे अग्रसर होना ठीक होगा। यहाँ गीतोक्त परा-भक्तिका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। वह 'निष्काम परा-भक्ति' ब्रह्मज्ञानके बाद उदित होती है। भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५४-५५)

उत्तमा भक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस साधन-भक्तिका अनुशीलन करना पड़ता है, उसका अन्याभिलाषिता-शून्य होना आवश्यक है। इसी प्रकार [illegible] तद्विपरीत शुद्ध ब्रह्मज्ञानके भाव भी उस [illegible] नहीं होते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निखिल [illegible] करते हुए केवल श्रीकृष्ण प्रीत्यर्थ [illegible] उत्तमा भक्ति है। अर्थात् श्रीकृष्णके लिये सब प्रकारके स्वार्थका परित्याग अथवा श्रीकृष्ण-सुखमें [illegible] विसर्जन ही उत्तमा भक्ति है। अपने स्वार्थकी [illegible] भी [illegible] रहनेपर 'उत्तमा भक्ति' नहीं हो सकती। [illegible] स्वत्वकी कामना, धन-धान्य-बाहुल्यकी कामना, मनुष्यके लिये स्वाभाविक है। इसके लिये भगवान्‌की [illegible] वन्दना आदि करना निश्चय ही भक्तिका [illegible]— इसमें कोई संदेह नहीं है; परंतु वह उत्तमा भक्ति नहीं होगी। आत्मविसर्जनके बिना उत्तमा भक्ति होती ही नहीं। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें लिखा है—सा परानुरक्तिरीश्वरे। अर्थात् ईश्वरमें परा अनुरक्ति ही भक्ति कहलाती है। भक्तिके लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखे हैं—

(१) अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(२) अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥
(३) सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥
(४) देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

यहाँ 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' विशेषण [illegible] है। '[illegible]' शब्द ब्रह्मके स्वरूपलक्षणमें निर्दिष्ट हुआ है—[illegible] ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—(तैत्तिरीयोपनिषद्)। यहाँ '[illegible]' पदार्थ, द्रव्य, गुण या कर्म नहीं है। [illegible] मानसिक क्रियाके अर्थमें होता है—[illegible]। परंतु यहाँ 'ज्ञान' वह मानसिक क्रिया भी नहीं है। वह आत्मनिष्ठ गुण-विशेष है। इसके साथ [illegible] कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्तवृत्तिके [illegible] भी 'ज्ञान' कहते हैं; परंतु यहाँ [illegible] है, वह है 'ब्रह्मज्ञान'। परंतु [illegible] निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान ही अभिप्रेत है, क्योंकि [illegible] भक्तिका विरोधी है। [illegible]

अनुशीलन' है, उसीका नाम भक्ति है। अर्थात् यदि निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान कृष्णानुशीलनमें समाविष्ट होता है तो उसकी भक्ति-संज्ञा नहीं होती। परंतु भगवत्तत्त्वके ज्ञानका निषेध यहाँ नहीं है; क्योंकि भगवत्तत्त्वका ज्ञान भक्तिका बाधक न होकर साधक ही होता है। इसी प्रकार स्वर्गादिजनक कर्मानुष्ठान भी भक्तिके बाधक हैं। अतएव कृष्णानुशीलनमें तादृश कर्मोंका संसर्ग नहीं चाहिये। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कर्ममात्र ही बाधक हैं; क्योंकि भगवत्परिचर्या भी कर्मविशेष है। परंतु ऐसे कर्म भक्तिके बाधक न होकर साधक ही होते हैं।

इस प्रकार जान पड़ता है कि उत्तमा भक्तिके लक्षण इतने सुन्दररूपसे विवृत हुए हैं कि वेदान्तशास्त्रके चरम प्रान्तमें उपस्थित हुए बिना इस प्रकारकी भक्ति-साधनाका ज्ञान अति दुर्लभ है। फलतः वेदान्तशास्त्रका जो चरम लक्ष्य है, यह भक्ति साधकको उसी सुविशाल सुन्दर सरस राज्यमें उपस्थित करती है। वेदान्त ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते-करते जब **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**—इस मन्त्रका उल्लेख करता है, तब उसको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठतम साधन भक्ति ही होती है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

ऋग्वेदके अनेक स्थलोंमें जीवके साथ भगवान्‌के मधुर सम्बन्धकी सूचना देनेवाले मन्त्र प्राप्त होते हैं। 'हे अग्नि! तुम मेरे पिता हो। हे अग्नि! हम तुम्हारे हैं। तुम हमारा सब प्रकारसे कल्याण करो।' इन सब मन्त्रोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषिगण ब्रह्मतत्त्वको मधुमयरूपमें अनुभव कर चुके थे। **'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः'**—इस ऋग्मन्त्रसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि जिससे इस विश्व-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है, वह मधुमय है। उसके मधुमय होनेके कारण ही वायु मधु वहन करता है, सिन्धु मधु क्षरण करता है। हमारा अन्न मधुमय है, पृथिवीके रजःकण मधुमय हैं—इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा ज्ञात होता है कि अति प्राचीन कालमें भी आर्य ऋषिगण भगवान्‌की आधुनिक वैष्णवोंके समान रसमय, प्रेममय और मधुमय भावमें उपासना करते थे।

विष्णुमें अनन्य ममता अथवा प्रेमसंगत ममताको भक्ति कहते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त भगवत्संलीन इन्द्रियोंके द्वारा श्रीकृष्णका सेवन उत्तमा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें वैधी भक्तिके नौ अङ्ग वर्णित हुए हैं, जैसे—

> **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
> **अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**
> (७।५।२३)

वैधी भक्तिके ये सब अङ्ग 'परा भक्ति' के साधक हैं तथा इनकी समष्टि ही परम धर्म है।

साधन-भक्तिद्वारा साध्य भक्तिका उदय होता है। यह भक्तियोग अथवा साधन-भक्ति परा-भक्ति नहीं है, यह परम धर्म है। यह एक ओर जैसे परा-भक्तिका प्रकाशक है, वैसे ही उपनिषद्-ज्ञानका भी प्रकाशक है। इसके सिवा—

> **वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।**
> **सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥**
> (४।२९।३७)

'भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी भक्तिसे शीघ्र ही वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति होती है।'

भक्तियोग अर्थात् साधन-भक्तिसे इस प्रकार उपनिषद्-ज्ञान प्रकाशित होता है और उसका परिपाक होनेपर साध्य भक्ति या प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रकट होती है।

भक्तिके प्रकार

'भक्ति-संदर्भ' में लिखा है कि रुचि आदिके द्वारा श्रीगुरुका आश्रय लेनेके बाद उपासनाके पूर्वाङ्गस्वरूप उपास्यदेवका साम्मुख्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। इस प्रकार उपास्यदेवके सम्मुख होना ही उपासनाका पूर्वाङ्ग है। इस साम्मुख्यका श्रेष्ठतम उपाय है—भक्ति। भक्तिसंदर्भमें भक्तिके तीन प्रकार वर्णित हैं—आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा और स्वरूप-सिद्धा। भक्तित्वका अभाव होनेपर भी भगवान्‌को अर्पण आदि जिन कर्मोंके द्वारा भक्तित्वकी प्राप्ति होती है, उन कर्मोंको 'आरोपसिद्धा' भक्ति कहते हैं और भक्तिके परिकरके रूपमें जो कार्य किये जाते हैं, उनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। ज्ञान और कर्म भक्तिके सङ्गके रूपमें व्यवहृत होते हैं, अतएव इनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। स्वरूपसिद्धा भक्ति वह है, जो स्वतः भक्तिरूपमें प्रसिद्ध है। श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति स्वरूपसिद्धा भक्ति है। 'भक्तिसंदर्भ' ग्रन्थमें इसके सिवा अनेक भेदोपभेद-सहित भक्तिका वर्णन किया गया है।

रागमयी भक्तिको 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं। व्रजवासियोंमें रागात्मिका भक्ति दृष्टिगोचर होती है। जो लोग व्रजवासियोंके समान अर्थात् श्रीकृष्णके दास-दासी, सखी-सखा तथा माता-पिता आदिके भावसे श्रीकृष्णको भजते हैं या भजनमें प्रवृत्त होते हैं, वे 'रागानुगा भक्ति'के साधक कहलाते

हैं। जो भक्ति रागात्मिका भक्तिके अनुकरणके लिये होती है तथा उसी प्रकारके भावकी ओर साधकको परिचालित करती है, वही 'रागानुगा भक्ति' है। परंतु रागानुगा साधकके चित्तमें सख्यरस या अन्य किसी व्रजरसका उदय होनेपर भी वह अपनेको श्रीदाम, ललिता, विशाखा, श्रीराधा या नन्द-यशोदा आदिके रूपमें नहीं मानता। ऐसा करनेसे 'अहंग्रह' उपासना हो जाती है।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

'श्रीभागवतादि शास्त्र सुनकर तत्तद्भावोंके माधुर्यका अनुभव करनेपर साधकका चित्त विधिवाक्य या किसी प्रकारकी युक्तिकी अपेक्षा नहीं करता, उसमें स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। यही लोभोत्पत्तिका लक्षण है।' अतएव श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

लोभे व्रजवासीर भावेर करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

अर्थात् रागानुगाकी प्रकृति यह है कि उसका साधक लोभसे व्रजवासियोंके भावोंका अनुगमन करता है, शास्त्र और युक्तिपर ध्यान नहीं देता।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद् वासं व्रजे सदा॥

रागानुगा भक्तिका साधक दो प्रकारकी साधना करता है, साधकरूपसे वह उपास्यदेवका श्रवण कीर्तन करता है और सिद्धरूपसे मनमें अपने सिद्धदेहकी भावना करता है। वह श्रीकृष्ण और उनके जनोंका स्मरण करता है। अपनेमें उनमेंसे अन्यतमकी भावना करता है और सदा-सर्वदा व्रजमें रहकर श्रीकृष्ण-सेवा करता है।

जो लोग मधुर-रसके रागानुगीय साधक हैं, वे श्रीललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदिकी आज्ञासे श्रीराधा-माधवकी सेवा करें तथा स्वयं श्रीकृष्णका आकर्षण करनेवाले वेषमें सुसज्जित तथा श्रीराधिकाके निर्माल्यरूप वसन-आभूषणसे भूषित सखियोंकी सङ्गिनीके रूपमें अपनी मनोमयी मूर्तिका चिन्तन करें। सनत्कुमार-तन्त्रमें लिखा है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

रागानुगीय साधक भक्त सखियोंके मध्यमें अपनेको रूपयौवनसम्पन्ना किशोरीरूपमें चिन्तन करते हैं। श्री-नरोत्तमदास ठाकुरके 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' ग्रन्थमें 'रागानुगा भक्ति' वर्णित है। उस ग्रन्थके भाव दुरूह हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा '[illegible]', 'श्रीकृष्णमाधुरी' आदि ग्रन्थ इस विषयमें द्रष्टव्य हैं।

श्रीरागानुगा भक्ति जिनके हृदयमें प्रादुर्भूत हो गयी है, वे सिद्धदेहमें श्रीराधा-माधवकी कुञ्जसेवा करके निरन्तर परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। ऐसे साधकजन [illegible] भूषण हैं। योगीन्द्रगणदुर्लभा रागानुगा भक्ति बहुत साधनके द्वारा प्राप्त होती है।

प्रयोजन-तत्त्व

इस संसारमें प्रयोजनके बिना कोई कार्य नहीं [illegible]। भगवत्साधनाका भी प्रयोजन है और वह प्रयोजन है प्रेम। प्रेमकी पूर्वावस्थाका नाम है 'भाव या रति'। साधन भक्तिके परिपाकमें अथवा भक्तिकी कृपासे भावभक्तिका उदय होता है। जब श्रीकृष्णमें प्रीतिके कारण उनमें मन [illegible] रहना चाहता है, तब भाव ही रति नामसे अभिहित होता है। यह भाव मनकी अवस्था (विकार)-विशेषका नाम है। [illegible] निमग्न व्यक्तिका चित्त जब भगवद् उन्मुख होता है तथा भगवद्भावमें विभावित होता है, श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें [illegible] रस लेता है, तब कहना पड़ेगा कि उसमें [illegible] हो गया है।

श्रीराधिकाका चित्त अन्यान्य बालिकाओंके [illegible] बाल्यक्रीडामें रत था। सहसा उन्होंने एक दिन [illegible] मुरलीधर श्रीकृष्णकी भुवनमोहिनी [illegible]। सुना, इनका नाम श्यामसुन्दर है। दूरसे [illegible] ध्वनि उनके कानोंमें प्रविष्ट हुई, उसी [illegible] उनके मनमें प्रेम-विकार उत्पन्न हुआ। [illegible] क्षणभरमें चित्त बदल गया। [illegible] चूडालंकृत वंशीधर श्यामसुन्दरके [illegible] उनकी आहार-निद्रा छूट गयी, [illegible] संलाप बंद हो गया। वे घरके [illegible] रूपका ध्यान करने लगीं। [illegible] प्रथम अवस्था है।

भाव चित्तको रञ्जित करता है, [illegible] करके उसको कोमल बनाता है। यह ह्लादिनीशक्तिका वृत्ति

विशेष है और इसकी अपेक्षा कोटिगुना आनन्दरूप, आह्लादनी-शक्तिके साररूप वृत्तिको रति कहते हैं।

जिनके हृदयमें यथार्थ प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है, प्राकृतिक दुःखसे उनको दुःख-बोध नहीं होता, वे सर्वदा ही श्रीकृष्णके परिचिन्तनमें काल-यापन करते हैं। प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होनेके पूर्व निम्नाङ्कित नौ लक्षण उदित होते हैं, जैसे—(१) क्षान्ति—क्षोभके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी चित्तका अक्षुब्ध दशामें स्थित रहना क्षान्ति कहलाता है। तितिक्षा, क्षमा, मर्ष इसके नामान्तर हैं। (२) अव्यर्थ-कालत्व—प्रेमी-भक्त श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी विषयमें क्षणभरके लिये चित्तको नहीं लगने देता। (३) विरति—भगवद्-विषयके सिवा प्रेमीके चित्तमें अन्य किसी विषयकी कभी भी रुचि नहीं होती। (४) मानशून्यता; (५) आशाबन्ध—निरन्तर श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशा बँधी रहती है। (६) समुत्कण्ठा; (७) नाम-स्मरणमें रुचि; (८) भगवद्गुणाख्यानमें आसक्ति और (९) उनकी लीला-भूमिमें प्रीति।

प्रेमाविष्ट चित्तकी उच्चतम दशामें नाना प्रकारके विवश भावोंका आविर्भाव होता है। इस दशामें प्रायः बाह्यज्ञान नहीं रहता।

धन्यस्यायं नवप्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

'जिस धन्य पुरुषके चित्तमें इस नवीन प्रेमका उदय होता है, उसकी वाणी और क्रियाके रहस्यको शास्त्रप्रणेता भी नहीं जान सकते।' श्रीमद्भागवतने इस सम्बन्धमें एक अति सुन्दर प्रमाण दिया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

'उपर्युक्त साधनप्रणालीके अनुसार साधना करनेवाला स्वप्रिय श्रीभगवान्‌के नामका कीर्तन करते-करते श्रीभगवान्‌में अनुराग हो जानेके कारण द्रवितचित्त होकर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उच्चस्वरसे प्रलाप करता है। कभी गाता और कभी उन्मत्तके समान नाचने लगता है। वह साधक स्वभावतः जनसाधारणके आचार-व्यवहारसे बहिर्भूत होकर कार्य करता है।'

मधुरा रतिमें भाव और महाभाव उच्चतर और उच्चतम अवस्थाएँ कहलाती हैं। भावकी चरम सीमामें अनुराग प्राप्त होता है। भाव ही अनुरागका महान् आश्रय है। अनुरागके दृष्टान्तमें गोपी-प्रेमका उल्लेख किया जा सकता है। परंतु गोपी-प्रेम क्या वस्तु है, यह बतलाना कठिन है। तथापि सुरसिक प्रेमी भक्तगण आदिपुराणसे गोपी-प्रेमामृतकी दो-एक बातें लेकर भक्तोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतके चतुर्थ अध्यायमें गोपी-प्रेमका माहात्म्य वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।
निर्मल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम॥
कृष्णेर सहाय गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
गोपिका हयेन प्रिया, शिष्या, सखी, दासी॥
गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाञ्छित।
प्रेम सेवा परिपाटी इष्टसेवा समाहित॥

अर्थात् गोपी-प्रेम स्वभावतः काम-गन्ध-शून्य होता है; वह तपाये हुए स्वर्णके समान निर्मल, उज्ज्वल और शुद्ध होता है। गोपिकाएँ श्रीकृष्णकी सहायिका, गुरु, शिष्या, प्रिया, बान्धव, सखी, दासी—सब कुछ हैं। गोपिकाएँ श्रीकृष्णके मनकी अभिलाषा, प्रेम-सेवाकी परिपाटी तथा इष्ट-सेवामें लगे रहना अच्छी तरह जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। दशम स्कन्धमें श्रीरासलीलाके ३२वें अध्यायमें प्रेमिक भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२१)

'हे अबलागण! यह जानता हुआ भी कि तुमलोगोंने मेरे लिये लोक और वेदका तथा स्वजनोंका परित्याग कर दिया है, मैं तुम्हारे निरन्तर ध्यान-प्रवाहको बनाये रखनेके लिये तथा प्रेमालाप-श्रवण करनेके लिये समीपमें रहता हुआ भी अन्तर्हित हो गया था। हे प्रियागण! मैं तुम्हारा प्रिय हूँ। मेरे प्रति दोषदृष्टि रखना योग्य नहीं है।'

गोपी-प्रेमके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इस प्रेमकी तुलना संसारमें है ही नहीं। परंतु इस प्रेमका प्रकृत आश्रय गोपी-हृदयके सिवा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थमें कहा गया है—

दिव्य महासंकीर्तन

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्ताऽर्जुनोऽभूत् ।

हनुमानूजीकी विप्ररूपमें विभीषणसे भेंट

विप्र रूप धरि वचन सुनाए । सुनत बिभीषन उठि तहँ आए ॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई । बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥
(रामचरित० ५ । ५ । ३)

वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत् ।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः ॥

'यह महाभाव श्रेष्ठ अमृतके तुल्य स्वरूप-सम्पत्ति धारण करके चित्तको निज स्वरूप प्रदान करता है । पण्डित-लोग इस महाभावके रूढ़ और अधिरूढ़—दो भेद बतलाते हैं ।'

जिस महाभावमें सारे सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं, उसको रूढ़-भाव कहते हैं । रास-रस-निमग्ना गोपियोंमें स्वरभङ्ग, कम्प, रोमाञ्च, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, स्वेद तथा मूर्च्छा—ये आठों सात्त्विक भाव परिलक्षित होते हैं । अब अधिरूढ महाभावका लक्षण कहते हैं—

रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम् ।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते ॥

'जहाँ रूढभावोक्त अनुभावोंसे आगे बढ़कर सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त होते हैं, उसको अधिरूढ-भाव कहते हैं ।' इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत् सुखं
दुःखं चेति पृथग् यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम् ।
नैवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिका-
प्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्विन्देत बिन्द्वोरपि ॥

एक दिन श्रीश्रीराधिकाजीके प्रेमके विषयमें जिज्ञासा करनेपर श्रीशंकरजीने पार्वतीजीसे कहा—'हे शिवे ! लोका-तीत—वैकुण्ठगत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत त्रिकाल-सम्बन्धी सुख-दुःख यदि विभिन्न-रूपमें राशीभूत हों, तो भी वे दोनों श्रीराधाजीके प्रेमोद्भव सुख-दुःख-सिन्धुके एक बूँदकी भी तुलना नहीं कर सकते ।' इसी अधिरूढ महा-भावका एक दूसरा उदाहरण पद्यावलीमें दिया जाता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

श्रीश्रीराधाजी श्रीललिताजीसे कहती हैं कि 'हे सखि ! श्रीकृष्ण यदि लौटकर व्रजमें नहीं आते तो निश्चय ही मैं इस जीवनमें उनको नहीं पाऊँगी । अतएव अब इतना कष्ट उठाकर इस शरीरकी रक्षा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है । शरीर भी चला जाय—यह पञ्चत्वको प्राप्त होकर स्वच्छन्दतासे आकाशादि स्वकारणरूप भूतोंमें लीन हो जाय । परतु मैं विधातासे हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करती हूँ कि मेरे शरीरके पाँचों भूत प्रियतम श्रीकृष्णके सम्बन्धी भूतोंमें ही विलीन हों—जलतत्त्व उस बावलीके जलमें मिले जहाँ श्रीकृष्ण जलविहार करते हों; तेजस्तत्त्व उस दर्पणमें समा जाय जिसमें श्रीकृष्ण अपना मुख देखते हों; आकाश-तत्त्व उस आँगनके आकाशमें चला जाय जिसमें श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हों; पृथ्वीतत्त्व उस मार्गमें मिल जाय, जिसपर श्रीकृष्ण चलते फिरते हों और वायुतत्त्व उस ताड़के पंखेकी हवामें समा जाय जो प्रियतम श्रीकृष्णको हवा देता हो ।' यह भावसमुद्र अगाध, अनन्त है; इसका वर्णन करके पार पाना असम्भव है । यहाँ तो किंचित् दिग्दर्शनमात्र करानेकी चेष्टा की गयी है ।

भक्तिसे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी प्राप्ति

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

(श्रीमद्भा० ५ । १८ । १२)

'जिस पुरुषकी भगवान्‌में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं । किंतु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं । वह तो तरह-तरहके संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है ।'

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—अध्यापक श्रीरघुनाथ काव्य-व्याकरण-तीर्थ)

अधिकांश लोग मानते हैं कि शंकराचार्य केवल ज्ञानवादी ही थे, क्योंकि वे अद्वैतवादके प्रतिष्ठापक थे। अद्वैतवाद दर्शनके ज्ञान-क्षेत्रकी चरमताका परिचायक है। परंतु वे केवल ज्ञानवादी ही नहीं थे, मूर्तिमान् ज्ञान-कर्म और भक्तिके समुच्चयवादी थे। उन्होंने जब जैसी लीला की, उस समय वे एकमात्र उसी मतवादके प्रचारक जान पड़े हैं। केवल धर्मके क्षेत्रमें ही ऐसा देखा जाता हो—ऐसी बात नहीं है, साहित्यके क्षेत्रमें भी इस प्रकारके दृश्यका अभाव नहीं है। भानुसिंहकी पदावलीके लेखक रवीन्द्रनाथ ही नाट्यकार, समालोचक और औपन्यासिक रवीन्द्रनाथ हैं। तथापि पूर्णदृष्टिके अभावमें पूर्णके प्रचारके बदले अंशका प्रकाश होता है। फलतः भ्रान्त धारणाकी सृष्टि होती है। वर्तमान प्रबन्धका आलोच्य विषय है 'भक्त शंकराचार्य।'

जिसके जीवन-दर्शनमें, कर्ममें भक्तिका लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है, वही भक्त-पद-वाच्य होता है। शंकर आधार हैं और भक्ति आधेय है। 'भक्त शंकर' पर विचार करनेसे ही शकराचार्य और भक्तिका सम्पर्क निर्णीत होगा। यह विचार तीन भागोंमें विभक्त हो सकता है—जीवन, साधना और रचना।

शंकराचार्य परम पितृ-मातृ-भक्त थे। पिताकी मृत्युसे वे अत्यन्त मर्माहत हुए थे, यह बात पण्डितोंको अविदित नहीं। उनकी मातृ-भक्तिका निदर्शन करनेवाली अनेकों कहानियाँ सुनी जाती हैं। वे माता-पिताको परम गुरु मानते थे। उनको असंतुष्ट करके कोई धर्मकार्य नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने मातासे अनुमति प्राप्त करके ही संन्यास लिया था। अधिक क्या, संन्यासीका स्वगृह-प्रत्यावर्त्तन करना शास्त्र-विरुद्ध है, यह जानकर भी माताके अनुरोधसे सालभरमें एक बार माताके साथ भेंट करनेकी स्वीकृति उन्होंने दे दी तथा माताके मृत्युकालमें आकर स्वयं माताकी और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करके मातृ-भक्तिका चरम और परम आदर्श स्थापित किया। स्वयं धर्माचरण करके दूसरोंको शिक्षा दे, शास्त्रका यह सिद्धान्त भी उनके जीवनमें पूरा-पूरा चरितार्थ हुआ। माता-पिताको परम देवता जानकर, उनको संतुष्ट करके ही वे तृप्त नहीं हुए, बल्कि जगत्के लोगोंको शिक्षा देनेके लिये प्रश्नोत्तरमालिकामें भी वे इस प्रकार उनकी महिमाकी घोषणा करते हैं—

'प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तातः।'

उनकी साधनाके बारेमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। उनकी गुरु-भक्ति सुप्रसिद्ध ही है, उसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा आज भी प्रदीप्त है। उनके कुल-देवता श्रीवल्लभ (रमापति) हैं। इस श्लोकमें उनका भक्ति-विनम्रभाव विशेषरूपसे प्रकाशित हुआ है—

यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
र्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च।
इत्थं विजानामि सदाऽऽत्मरूपं
तस्याङ्घ्रियुग्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

—अद्वैतानुभूति

"जिसके प्रसादसे 'मैं ही साक्षात् विष्णु हूँ, तथा मुझमें ही समस्त विश्व परिकल्पित है' यह अनुभूति मुझको हो रही है, उन गुरुदेवके नित्य आत्मस्वरूप चरण-युगलोंमें मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।" भक्त ही नित्य प्रसाद प्राप्त करता है। इसके सिवा उनके अनेकों ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-वन्दना देखनेमें आती है। ग्रन्थमें जो देव-वन्दनाकी प्रथा सुप्रचलित है, वह वन्दना भक्तिकी ही प्रकाशिका है। साधन-जीवनमें भक्तिकी महिमा यथेष्ट रूपमें स्वीकृत की गयी है। आचार्यने ज्ञान-वैराग्यके साथ भक्तिको भी मुक्तिका साधन बतलाया है—

वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम्।
मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता प्रोक्ता॥

'वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति—ये तीन मुक्तिके साधन कहे गये हैं। इनमेंसे प्रथमोक्त वैराग्यका अर्थ है—वितृष्णा अर्थात् भोगोंके प्रति रागका अभाव।' अन्यत्र मनोनिरोधके उपायरूपमें श्रीहरिचरणोंमें भक्तियोग कथित हुआ है।

हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः।

भक्ति ज्ञानकी पूर्वावस्था है। अथवा भक्ति ही आगे चलकर ज्ञानमें रूपान्तरित होती है। श्रीकृष्णके चरण-कमलमें भक्ति किये बिना अन्तरात्माकी अर्थात् मनकी शुद्धि नहीं

होती और मन शुद्ध हुए बिना ज्ञानका आविर्भाव या स्थायित्व असम्भव है।

(प्रबोध-सुधाकर, द्विधाभक्तिप्रकरण १६६-१६७)

भक्तिके जयगानमें पञ्चमुख आचार्य शंकरकी 'मणिरत्नमाला' का अन्यतम रत्न है भक्ति। आत्मजिज्ञासाके बहाने जनताको उपदेश देते समय केवल शिव-विष्णु-भक्तिको प्रिय बनानेके लिये ही उन्होंने उपदेश नहीं दिया, बल्कि अपने अनुभूत सत्यको भी प्रकट कर दिया। जैसे—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम् ।
किं कर्म यत् प्रीतिकरं मुरारेः
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ ॥

'अहर्निश ध्येय वस्तु क्या है?—संसारकी अनित्यता और आत्मस्वरूप शिव-तत्त्व। कर्म किसे कहते हैं?—जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। किसके प्रति आस्था रखना उचित नहीं?—भवसागरके प्रति।' इस श्रीकृष्ण-प्रीतिके द्वारा मनुष्यको सालोक्य, सामीप्य और सायुज्यकी प्राप्ति होती है—इसका समर्थन भी हमें उनके उपदेशोंसे प्राप्त होता है—

फलमपि भगवद्भक्तेः किं तल्लोकस्वरूपसाक्षात्त्वम् ।

(प्रश्नोत्तरमालिका ६७)

भक्तिके प्रयोजन और फल आदि कहकर भी शंकराचार्य तृप्त न हो सके। अथवा यह सोचकर कि आगे चलकर नाना पण्डित नाना प्रकारकी व्याख्या करेंगे, उन्होंने भक्ति-संज्ञा भी निर्धारित कर दी तथा भक्तिका श्रेष्ठत्व स्थापन करनेका प्रयास किया—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(विवेकचूडामणि ३१)

'मुक्तिके जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। विद्वान् लोग कहते हैं कि स्व-स्वरूपका अनुसंधान ही भक्ति है।'

शंकराचार्यने अपना चरम मत प्रकट करके भी समझा कि भक्तिकी यह संज्ञा सबकी अनुभूतिमें नहीं आ सकती। अतएव उन्होंने दूसरे मतको भी प्रकट किया है—

स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।

'दूसरे लोग कहते हैं कि स्व और आत्माका अर्थात् जीवात्मा और ईश्वरका तत्त्वानुसंधान ही भक्ति है।'

उनके जीवनमें, आचरणमें सर्वत्र ही भक्तिका प्रकाश देखनेमें आता है। भक्ति आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाकी परिपूरिका है—यह घोषणा उन्होंने अपने उपदेशोंमें, स्तोत्रोंमें सर्वत्र ही समानरूपसे की है।

भावपरिप्लुत हुए बिना कोई भी भावमयी रचनाकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें भक्ति-भाव नहीं है, वह कभी भक्तिमूलक रचनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। रचनाकी सिद्धिकी परीक्षा फल देखकर होती है। सिद्धिके बारेमें सहज ही जानकारी प्राप्त करनी हो तो जानना होगा कि जन-समाजमें रचयिताके भाव कहाँतक संक्रमित हुए हैं। वे भाव जितना अधिक संक्रमित होते हैं, उतनी ही अधिक सिद्धि सूचित होती है। भगवान् शंकराचार्यकी स्तोत्रावली संकलन करके यह देखा जा सकता है।

भगवद्गीता किंचिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता ।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते !
प्राप्ते संनिहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे ॥

(चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्)

भक्ति-शब्दके मूल धातुका ही प्रयोग यहाँ किया गया है। यदि 'भजन' और 'भक्ति'को पर्याय-शब्द कहें तो ज्ञात पड़ता है कि भूल न होगी। वे जब जिस देवताकी स्तुति करते हैं, तभी जान पड़ता है कि वे उसीके परम भक्त हैं। जब जहाँ जिसके विषयमें विचार करते हैं, तब वहाँ उसी सम्प्रदायके भक्त जान पड़ते हैं। श्रीकृष्ण भक्त शंकराचार्य कहते हैं—

विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता ।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः ॥

(कृष्णाष्टक)

'जिसके ध्यान बिना जीव सूकर आदि पशुयोनियोंको प्राप्त होता है, जिसको जाने बिना प्राणी जन्म-मरणरूप भयस्थानको प्राप्त होता है तथा जिसके स्मरण बिना सैकड़ों (कुत्सित) कीटयोनियोंको प्राप्त होता है, वे शरणागत-शरणदाता, लोकेश्वर श्रीकृष्ण मुझे अपना दर्शन दें।'

इसको पढ़कर बहुत लोग कहेंगे कि श्रीकृष्ण उनके

कुलदेवता हैं, इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्णका ऐसा स्तवन किया है।

वे केवल श्रीकृष्णकी ही स्तुति-रचना नहीं करते, वे बहु-देव-देवी-स्तवनमें सिद्ध हो गये है। एक और स्तुति उद्धृत की जाती है—

अलकानन्दे परमानन्दे
कुरु मयि करुणां कातरवन्द्ये।
तव तटनिकटे यस्य निवासः
खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः॥
(गङ्गास्तोत्रम्)

"हे अलकापुरीमें विहार करनेवाली, परमानन्दमयी, हे दीन-दुखियोंकी शरणदात्री एवं नमनीया गङ्गादेवी! तुम मुझपर कृपा करो। माँ! तुम्हारे तटपर जो निवास करता है, उसका वैकुण्ठमें निवास निश्चित है।"

भगवान् श्रीशंकराचार्यकी भक्तिके सम्बन्धमें और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। परंतु इस संक्षिप्त प्रबन्धकी संक्षिप्तताकी रक्षाके लिये बहुत प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं।

शिव ज्ञानकी मूर्त्ति हैं, परंतु वे भक्तिके भी मूर्त्त-स्वरूप हैं। शिवके समान श्रीरामचन्द्रका भक्त कोई नहीं है तथा श्रीरामचन्द्रकी अपेक्षा शिवका भक्त कोई नहीं है। शिवके अवतार शंकराचार्य यदि भक्तिवादी हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

आइये, हम सब शिवावतार भक्तश्रेष्ठ श्रीशंकराचार्यको श्रद्धावनत मस्तकसे प्रणति प्रदर्शित करें।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीकी भक्ति

(लेखक—श्रीगोबिन्ददासजी वैष्णव)

आजसे लगभग २६०० वर्ष पूर्व दक्षिण-भारतके प्राचीन तीर्थ मदुरा नगरीमें पाण्ड्यविजय नामक राजा राज्य करते थे। इन महाराज पाण्ड्यविजयके श्रद्धाभाजन कुलगुरु थे—ब्राह्मणश्रेष्ठ देवस्वामी और देवस्वामीकी धर्मपत्नी थीं श्रीमती यशोमती देवी। इन्हीं ब्राह्मण-दम्पतिके पुत्ररत्न थे श्रीविष्णुस्वामी।

विष्णुस्वामी जब बहुत छोटे थे, जब उन्होंने घुटनों चलना प्रारम्भ किया था, उनमें कई अद्भुत बातें प्रकट हो गयी थीं। शैशवमें भी खिलौनोंमें उन्होंने कभी कोई अभिरुचि नहीं दिखायी। चापल्य उनमें आया ही नहीं। माताके साथ तुलसीपूजन, गोपूजन और पिताके साथ संध्या या देवार्चनकी अनुकृति उनके स्वाभाविक कार्य थे। पिता सध्या करने बैठते थे और उनका छोटा-सा बालक समीप बैठकर उन्हींकी भाँति आचमन करनेका प्रयत्न करता था। ये ही शिशु विष्णुके विनोद थे।

थोड़े बड़े होनेपर विष्णुस्वामीने बालकोंको एकत्र करके भगवत्सेवा-पूजाकी क्रीडा प्रारम्भ कर दी। उस समयतक सामान्य पत्र और तुलसीपत्रका अन्तर चाहे उनकी समझमें न आया हो, किंतु वे साथी बालकोंको किसी भी कल्पित मूर्तिकी अर्चना बड़ी तत्परतासे सिखाया करते थे। बच्चोंका समुदाय उनके साथ कभी अपनी मूर्तिको स्नान कराता, कभी फूल-पत्तासे ढकता, नैवेद्य-नीराजनका समारम्भ करता या मूर्तिके आगे पृथ्वीपर मस्तक रखकर प्रणिपात करता।

अध्ययनकालमें पूरा मनोयोग दिया विष्णुस्वामीने और उसीका परिणाम यह हुआ कि सरस्वती-जैसे उनकी सेवामें साक्षात् समुपस्थित हो गयीं।

श्रीकृष्ण ही जीवोंके परम प्रेमास्पद एवं प्राप्य हैं। मनुष्यका सर्वोपरि कर्तव्य श्रीनन्दनन्दनकी सेवा ही है। भक्ति ही श्रुति-स्मृति-पुराण-समर्थित सर्वोपरि श्रेयस्कर साधना है—इस प्रकारके निश्चयमें उन्हें न कोई विकल्प था, न शङ्काके लिये स्थान। भक्ति पितृ-परम्परासे उन्हें प्राप्त थी। वस्तुतः भक्तिके समुद्धारके लिये ही विष्णुस्वामीका अवतार हुआ था। शास्त्रोंके श्रद्धासमन्वित अध्ययनने बुद्धिको निश्चयमें स्थिर कर दिया।

अब विष्णुस्वामीने साधना प्रारम्भ कर दी। वे बाल-कोचितरूपमें बाल्यभावसे भगवान् श्रीबालगोपालकी उपासना करने लगे।* शास्त्रोंकी मर्यादा उनसे छिपी नहीं थी; किंतु उनकी दृढ़ श्रद्धा थी कि प्रतिमा जड मूर्ति नहीं है, वह आराध्यका साक्षात् अर्चाविग्रह है। नैवेद्य निवेदन करनेके अनन्तर वे बड़े कातरभावसे आग्रह करते कि उनके नन्हे गोपाल उसे आरोगें और जब उन्हें नैवेद्यमें कुछ भी कमी नहीं

* सर्वेश्वरं भगवन्तं बालगोपालस्वरूपं बालो बालवृत्त्या सिषेवे।
(यदुनाथ-दिग्विजय)

दीखती, तब वे खिन्न हो उठते। उन्हें लगता, अभी मैं इसका अधिकारी नहीं हुआ कि करुणा-वरुणालय श्यामसुन्दर मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

इच्छा, अभिलाषा, उत्कण्ठा बढते-बढते यह वृत्ति अभीप्सा बन गयी। प्रतीक्षाकी विपुल वेदना उसमें अन्तर्हित हो उठी। कभी अश्रुप्रवाह चलता, कभी प्रशान्त बैठे रहते और कभी उन्मत्त-से कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगते।

माताको पुत्रके इस अद्भुत भावको देखकर बड़ी वेदना होती। उनके बालकको यह क्या हो गया है? क्यों वह अपने स्नान-भोजनकी सुधि नहीं रख पाता? किंतु उनकी बातें कोई सुनता नहीं। आचार्य देवस्वामी हँसकर टाल देते। वे कहते—'विष्णुको कुछ नहीं हुआ है। वह परम भाग्यशाली है। अभीसे उसमें भक्तिके दिव्य भावोंका उदय होने लगा है। उसने हमारे कुलको कृतार्थ कर दिया।' भला, ऐसे भाव रखनेवाले स्वामीसे यशोमती देवी क्या कहें। स्वयं विष्णुकी स्थिति ऐसी नहीं कि उससे कुछ कहा जा सके। लगता था वह कुछ सुनता-समझता ही नहीं।

विष्णुस्वामी सचमुच कुछ सुनते-समझते नहीं। उनका मन उनके अपार अध्ययनका आज-कल स्पर्श नहीं करता। श्यामसुन्दर आते नहीं, वे मेरा नैवेद्य स्वीकार नहीं करते—पता नहीं इस प्रकारके कितने भाव निरन्तर उनके मनमें उठते रहते। अर्चाका कोई क्रम नहीं रह गया। दिनभर अर्चा। कितनी बार वे अपने गोपालको स्नान कराते, पुष्पोंसे सजाते हैं, नैवेद्य निवेदन करते हैं—कुछ ठिकाना नहीं रह गया। अभी मेरे गोपालने खाया नहीं है, अभी तो उसने स्नान भी नहीं किया है। अब उसे सो जाना चाहिये। जब जो बात ध्यानमें आ जाती, वही क्रिया चलने लगती।

विष्णुस्वामीके हृदयमें, प्राणोंमें और जीवनमें उनका गोपाल बस गया है। उन्हें रात्रिमें निद्रा भी आती कि नहीं, पता नहीं। एक ही कार्य रह गया है, गोपालका स्मरण और उसकी अर्चा। एक-दो दिन नहीं, महीनों, पूरे वर्षतक चलता रहा यह क्रम। इतनेपर भी जब विष्णुस्वामीको भगवत्साक्षात्कार नहीं हुआ, तब वे सोचने लगे—'अहो! मेरे गोपाल मुझपर प्रसन्न नहीं होते, न मेरी सेवाको ही स्वीकार करते हैं और न मेरे अपराध ही बतलाते हैं। इसलिये जबतक श्यामसुन्दर साक्षात् प्रकट होकर दर्शन नहीं देते, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' तदा स निरशनं विधाय समर्चनं चकार। धन्य विष्णुस्वामी!

विष्णुस्वामीने अन्न-जलका [illegible] न [illegible]। गोपाल! तुम नहीं खाते तो [illegible] भी भोजन नहीं [illegible]। तुम मेरे समर्पित जलको नहीं पीते तो मैं भी [illegible]। [illegible] अन्न, वे फूल और वह जल [illegible] तुमने स्वीकार न किया हो। एक ही रह [illegible] विष्णुस्वामी को। भगवान्के द्वारा अनुपभुक्त नैवेद्य [illegible] वे निराहार रह जाते। आज छः दिन पूरे [illegible] विष्णुस्वामीने जलतक ग्रहण नहीं किया। [illegible] ग्रहण करे, यह कैसे सम्भव था!

यद्यपि लगातार छः दिनके उपवाससे विष्णुस्वामीके शरीरमें पर्याप्त शिथिलता आ गयी थी, तथापि उन्होंने अपने विचारोंमें कोई परिवर्तन नहीं किया। [illegible] भगवदाराधनमें संलग्न रहे।

× × × ×

आज विष्णुस्वामीके उपवासका सातवाँ दिन है। [illegible] नहीं कहाँसे विष्णुस्वामीके अत्यन्त [illegible] आ गयी है। उन्होंने स्नान करके संध्या-वन्दन किया और अपने गोपालकी अर्चा की। समिधाएँ एकत्रित करके अग्नि [illegible]। लोगोंने समझा आज विष्णुस्वामी कोई [illegible] होंगे। वे कहने लगे—'श्यामसुन्दर! [illegible] जन, जिसकी सेवा तुम्हें स्वीकार नहीं। [illegible] तुम्हारे सर्वात्मरूपका [illegible]। मैं अपने इस [illegible] तुम्हें समर्पित करता हूँ।'

'प्रिय विष्णु!' जैसे माधुर्यका [illegible] हो। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु कृपानिधि भगवान् [illegible] हो गये। नव-नील-नीरद-[illegible] वनमाली श्रीहरि मन्द-मन्द मुस्करा [illegible]। [illegible] स्वतः शान्त हो गयी और [illegible] ज्योत्स्नासे परिपूर्ण हो गया। [illegible] की घनीभूत [illegible]—विष्णु, [illegible] मेरे स्वरूप ही हो। [illegible] सदेह क्यों है कि तुम्हारी [illegible] नहीं है। देखो मैं छः दिनोंसे भूखा हूँ। तुमने [illegible] भूखा रखा है। बैठो, अब हम दोनों एक [illegible]।'

भगवान्के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यको देखकर विष्णुस्वामी मुग्ध हो गये। प्रभुकी प्रेमभरी बातोंसे [illegible] में निमग्न हो गये। उन्होंने [illegible] कहा—प्रभो! आप शरणागत वत्सल हैं। [illegible] दयादृष्टिसे ही मुझ

अपराध किया है, उसे आप कृपामूर्ति कृपया क्षमा करें ।'

विष्णुस्वामीकी प्रार्थना सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स ! तुम्हारी क्या इच्छा है ? मैं उसे पूर्ण करूँगा ।' विष्णुस्वामीने कहा—'प्रभो ! आपने निजजन जानकर मुझे दर्शन दिया, इससे मैं कृतकृत्य हो गया । अब आप मुझे श्रीचरणोंकी नित्यसेवा प्रदान करें, यही प्रार्थना है ।' श्रीभगवान् बोले—'सौम्य ! तुम्हारा अवतार संसारमें भागवत धर्मका प्रचार करनेके लिये हुआ है । इसलिये तुम अभी कुछ काल जगत्में रहकर मेरा यह प्रिय कार्य करो ।' यह कहकर श्रीभगवान्ने विष्णुस्वामीको शरणागति-पञ्चाक्षर-मन्त्र ('कृष्ण ! तवास्मि') प्रदान किया और बतलाया कि यह मन्त्र शरणागत जनोंको देना चाहिये । पुनः प्रभुने अपने श्रीकण्ठकी तुलसी-दल-विरचित माला स्वकर-कमलोंसे तुलसी-मन्त्रोच्चारणपूर्वक विष्णुस्वामीके गलेमें पहना दी और आज्ञा की—'तुम श्रीव्यासदेवसे ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य और आचार्य त्रिपुरारिसे साम्प्रदायिक दीक्षा ग्रहण करके मेरे द्वारा प्रवर्तित रुद्र-सम्प्रदायकी जगत्में प्रतिष्ठा करो । श्रीव्यासदेव कलापग्राममें तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । अब यह व्याकुलता छोड़ो और इतने सुस्थिर बनो कि वहाँ जा सको । उसके आगेका कार्य अपने-आप सम्पन्न होता रहेगा । और कोई तुम्हारी अभिलाषा हो तो कहो ।'

विष्णुस्वामीने प्रार्थना की—'भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो इसी स्वरूपसे सदा यहाँ निवास करें । मैं राजोपचार-विधिसे आपकी सेवा करना चाहता हूँ ।'

श्रीभगवान् बोले—'सौम्य ! कलिकालमें साक्षात् रूपसे यहाँ मेरी निरन्तर स्थिति अपनी ही बनायी मर्यादाके अनुरूप नहीं है ।' विष्णुस्वामीको भगवान्का यह भाव स्वीकार करना पड़ा और स्वयं चिद्वपु श्रीकृष्ण उन्हें श्रीविग्रहके रूपमें प्राप्त हुए । अब विष्णुस्वामी उन्हीं विग्रहरूप प्रभुकी परम प्रेमके साथ अर्चा करने लगे ।

भगवता विष्णुस्वामिनं प्रत्युक्तम् । सौम्य ! भगवद्गीता श्रीभागवतं मे शास्त्रे, अहमेव देव एक एव । कृष्ण ! तवास्मीति पञ्चाक्षरवाक्येनात्मनिवेदनम्, नामैव मन्त्रः, महाराजोपचारविधिना सेवैव कर्म । यस्त्वत्सम्प्रदायी भूत्वा यशोदागोप्युद्धवादिवत् परिचरिष्यति मां प्रतिमारूपमपि साक्षान्मत्वा, तत्कृतां सेवां पुरावद्ग्रहीष्यामि ।*

भगवान्ने विष्णुस्वामीको उत्तर दिया, 'सौम्य ! भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत मेरे दो शास्त्र (आज्ञाग्रन्थ) हैं, मैं ही एकमात्र उपास्य हूँ; 'कृष्ण ! तवास्मि' इस पञ्चाक्षर मन्त्रसे आत्मनिवेदन किया जाता है, मेरा नाम ही मन्त्र है, महाराजोपचारविधिसे मेरी सेवा करना ही कर्तव्य है । जो तुम्हारे सम्प्रदायमें दीक्षित होकर यशोदा, गोपीजन एवं उद्धवादिकी भी भाँति मेरे अर्चा-विग्रहको भी मेरा साक्षात् रूप मानकर मेरी परिचर्या करेगा, उसकी सेवाको मैं सदाकी भाँति स्वीकार करूँगा ।'

× × × ×

आश्रममें सातवें दिन उल्लास आया । पुत्रको सुस्थिर पाकर माता आनन्द-गद्गद हो गयी । विष्णुने श्रीकृष्णको साक्षात् पाया, इस समाचारने ही देवस्वामीको इतना तन्मय कर दिया कि पूरे मुहूर्त भर वे प्रेम-समाधिमें मग्न रहे । धन्य हो गयी मदुरा नगरी, जहाँ श्रीविष्णुस्वामीकी आराधना सफल हुई ।

विष्णुस्वामीने आगे चलकर 'वैष्णवाचार्य' पदवीको ग्रहण किया और वे वैष्णवाचार्योंमें प्रमुख माने गये । इनके सम्प्रदायके वैष्णव व्रज तथा अन्य प्रान्तोंमें भी अद्यावधि विद्यमान हैं। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यने इन्हीं विष्णुस्वामीके मतको आधार बनाकर अपने पुष्टि-सम्प्रदाय (अनुग्रह-मार्ग)-की स्थापना की ।

भक्तिकी प्राप्ति परमधर्म

यम कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २२)

'इस जगत्में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परमधर्म है कि वे नाम-कीर्तन आदि उपायोंसे भगवान्के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें ।'

* सम्प्रदायप्रदीप, तृतीय प्रकरण ।

श्रीरामानुजाचार्यकी भक्ति

भगवान् श्रीरामानुजाचार्यका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इस सम्प्रदायकी आचार्य-परम्परामें सर्वप्रथम आचार्य भगवान् श्रीनारायण माने जाते हैं। उन्होंने निज स्वरूपाशक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको श्रीनारायण-मन्त्रका उपदेश किया। करुणामयी स्नेहमयी मातासे भगवान्के पार्षदप्रवर श्रीविष्वक्सेनजीको उपदेश मिला। उन्होंने श्रीशठकोप स्वामीको उपदेश दिया। तत्पश्चात् वही उपदेश परम्परासे श्रीनाथमुनि, पुण्डरीकाक्षस्वामी, श्रीराममिश्रजी तथा श्री-यामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ।

आचार्य श्रीरामानुज अभेद-प्रतिपादक एवं भेद-प्रतिपादक तथा निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मकी प्रतिपादिका—दोनों ही प्रकारकी श्रुतियोंको सत्य और प्रमाण मानते हैं। वे कहते हैं कि अभेद और भेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं है। अभेद-प्रतिपादक वाक्य एकके अंदर तीन (ब्रह्म-प्रकृति-जीव) का वर्णन करते हैं और भेद-प्रतिपादक वाक्य उन तीनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जहाँ निर्गुणका वर्णन है, वहाँ यह भाव समझना चाहिये कि ब्रह्ममें कोई प्राकृत गुण नहीं है; और जहाँ सगुणका वर्णन है, वहाँ यह भाव है कि ब्रह्ममें स्वरूपभूत अलौकिक गुण हैं, जो जड प्रकृति या जीवात्मामें नहीं हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके मतसे ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-चेतनाविशिष्ट पुरुषोत्तम हैं, वे सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुण-गणोंके आकर हैं। उनमें निकृष्ट कुछ भी नहीं है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्त द्रव्य-शरीरत्व, चिदचित्-शरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं। वे सूक्ष्म चिदचिद्-विशेषरूपमें जगत्के उपादान-कारण हैं और संकल्प-विशिष्टरूपमें निमित्त-कारण हैं; यों वे ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। जीव और जगत् उनका शरीर हैं, भगवान् आत्मा हैं। वे सृष्टिकर्ता, कर्मफलदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य-सौशील्य-वात्सल्य-औदार्य-ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणोंके महान् सागर सर्वाधीश्वर भगवान् नारायण हैं। ईश्वरका स्वरूप पाँच प्रकारका है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। वे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भू-लीलासहित समस्त दिव्यभूषणोंसे भूषित हैं।

जगत् जड है। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म जगत्के रूपमें परिणत हैं, तथापि वे निर्विकार हैं। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। जीव भी ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु है, जीव अणु है; ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित है; ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है; ईश्वर कारण है, जीव कार्य है। जीव देह-इन्द्रिय-मन-प्राण आदिसे भिन्न है। जीव नित्य है, उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें जीव भिन्न-भिन्न है। उपासनासे ही जीव भगवद्भोग-को प्राप्त होता है। जीव ही कर्ता भोक्ता है। जीवके पाँच भेद हैं—नित्य, मुक्त, केवल, मुमुक्षु और बद्ध।

दिव्यधाम श्रीवैकुण्ठमें श्री-भू-लीला सहचरियोंके सहित भगवान् नारायणकी सेवाका प्राप्त होना ही 'परम पुरुषार्थ' है। भगवान्के इस दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान्के साथ अभिन्नता कभी सम्भव नहीं, क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है, वह नित्य दास है, नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। वैकुण्ठमें अपार कल्याणगुण-गण-महोदधि भगवान् नारायणके नित्य दासत्वको प्राप्त होकर मुक्त जीव दिव्यानन्दका अनुभव करते हैं।

इस मुक्तिके उपाय पाँच हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति-योग, प्रपत्तियोग और आचार्याभिमानयोग। ये पाँचों ही भक्तिके अङ्ग हैं। केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती। भक्ति-से प्रसन्न होकर दयामय भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। वेदना, ध्यान, उपासना आदि शब्दोंसे भक्ति ही लक्षित होती है।

न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलताका सङ्कल्प, प्रति-कूलताका त्याग, भगवान्में सम्पूर्णतया आत्मसमर्पण, इस प्रकारसे केवल श्रीभगवान्के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। विभु, भूमा, सर्वेश्वर श्रीभगवान्के चरणोंमें पूर्ण आत्म-समर्पण करनेसे मुक्ति मिल सकती है। अतः सर्वस्व निवेदन-रूप शरणागति-भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

श्रीनिम्बार्काचार्य और भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी)

श्रीश्रीनिम्बार्काचार्यने साधकोंको परम मोक्षकी प्राप्ति करानेके लिये 'ब्रह्म'की साधना ही प्रवर्त्तित की है। उन्होंने बतलाया कि अमूर्त्त मूलरूपकी उपासनाकी अपेक्षा प्रकाशित मूर्त्तरूपकी उपासना ही जीवके लिये अधिक प्रशस्त है। अतएव निम्बार्क-सम्प्रदायके साधक सत्त्वगुणाधिपति 'भगवान् श्रीकृष्ण'की उपासनाको ही मुख्यरूपसे ग्रहण करते हैं। इस श्रेणीके वैष्णवजन 'श्रीकृष्ण और श्रीराधिका'-रूप युगल मूर्तिकी उपासनाका विशेषरूपसे अवलम्बन करके भी उसको सर्वविषयक ब्रह्मबुद्धिके अङ्गरूपमें ही ग्रहण करते हैं। इस विशिष्ट साधनका वर्णन करनेके पहले, श्रीनिम्बार्क स्वामीने ब्रह्मका जो स्वरूप-निरूपण किया है तथा ब्रह्म-प्राप्तिके लिये भक्तियोगके अन्तर्गत भक्तोंको जिस साधनका अवलम्बन करनेके लिये कहा है, उसका किंचित् परिचय देना आवश्यक है।

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप अद्वैत सत्पदार्थ है। ब्रह्मका स्वरूप श्रीनिम्बार्काचार्यने 'चतुष्पादविशिष्ट' रूपमें वर्णन किया है। (क) दृश्यस्थानीय अनन्त जगत् प्रथम पाद है। (ख) इस जगत्‌के पदार्थोंको विभिन्न रूपोंमें देखनेवाला द्रष्टा जीव द्वितीय पाद है। (ग) अनन्त जागतिक पदार्थोंका पूर्ण और नित्यद्रष्टा ईश्वर तृतीय पाद है। (घ) इन तीनों रूपोंसे विवर्जित नित्य, एकरस, आनन्दमात्रका अनुभव करनेवाला चतुर्थ पाद है, जिसका एकान्त अक्षर पादके नामसे श्रुतिने वर्णन किया है।

इस सम्बन्धमें वेदान्तदर्शनके अपने भाष्यमें श्रीनिम्बार्क स्वामीने द्वैताद्वैत-मीमांसा (भेदाभेदवाद) की स्थापना की है। इस सिद्धान्तके अनुसार दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलतः ब्रह्म हैं; परंतु जीव और जगत् मात्रमें ही उनकी सत्ता समाप्त नहीं होती। इन दोनोंके अतीत भी उनका स्वरूप है। इन दोनोंसे अतीत स्वरूप ही जगत्‌का मूल उपादान कारण है। जगत् और जीव ब्रह्मके ही अंशमात्र हैं। अंशके साथ अंशीका जो भेदाभेद-सम्बन्ध है, जगत् और जीवके साथ ब्रह्मका भी वैसा ही सम्बन्ध है। अंश सम्पूर्ण अवयवमें अंशीका अङ्ग है, अतएव अभिन्न है और अंशी अंशको अतिक्रम करके भी स्थित है, अंशमात्रमें ही अंशीकी सत्ता समाप्त नहीं होती; अतएव अंशी अंशसे भिन्न भी है। अतएव दोनोंके सम्बन्धको भेदाभेद-सम्बन्धके नामसे निर्देश करना पड़ता है। अंशांशि-सम्बन्ध और भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत-सम्बन्ध एक ही अर्थके ज्ञापक हैं।

ब्रह्म अपने चिदंशके द्वारा अपने स्वरूपगत आनन्दका अनुभव (भोग) करता है। उनका स्वरूपगत आनन्द भूमा है, अनन्त है। इस आनन्दकी अनन्तरूपमें मुक्त होनेकी योग्यता है तथा उसके स्वरूपगत चित्-शक्तिमें भी अनन्तभावसे प्रसारित होकर इस आनन्दको अनन्तरूपमें अनुभव करनेकी योग्यता है। जैसे सूर्यदेव अपने स्वरूपानुरूप अनन्त तेजोमयी रश्मियोंको फैलाकर अपने आश्रय-स्वरूप आकाशको तथा आकाशस्थ सारी वस्तुओंको सर्वांशमें स्पर्श और प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मका भी स्वरूपगत चिदंश अनन्त सूक्ष्म चिदात्मक भागोंमें अपनेको विभक्त करके अनन्त रूपोंमें अपने स्वरूपगत आनन्दका अनुभव और प्रकाश करता है। ये सब सूक्ष्म चिदंश (चित्-अणु) ही जीव हैं; तथा ब्रह्मके स्वरूपगत आनन्दको जो जीव अनन्त विभिन्न और विशेषरूपोंमें अनुभव (दर्शन) करता है, उन सारे विभिन्न रूपोंकी समष्टि ही जगत् है। ब्रह्मके स्वरूपगत अनन्त आनन्दको विशेष-विशेषरूपमें दर्शन (अनुभव) करनेके निमित्त ही जीव-शक्तिका प्राकट्य है। अतएव जीवस्वरूप व्यष्टि द्रष्टा है—ब्रह्मके स्वरूपगत आनन्दके विशेष-विशेष अंशका द्रष्टा है। परंतु ब्रह्म अपने स्वरूपगत आनन्दको अनन्त विभिन्न रूपोंमें समग्रभावसे एक साथ भी अनुभव करता है। उसकी चित्-शक्ति उन सबको एक ही साथ अपने ज्ञानका विषय भी बनाती है।

इन सभी अनन्त रूपोंका समग्र दर्शन करनेवाले रूपमें ब्रह्मको 'ईश्वर' संज्ञा दी गयी है। अतएव ईश्वररूपी ब्रह्म सर्वज्ञ और जीव विशेषज्ञ है। समग्र-द्रष्टा ईश्वरके दर्शनके अङ्गरूपमें व्यष्टि-दर्शनकारी प्रत्येक जीवका विशेष-विशेष दर्शन है। समग्र-दर्शनमें जो कुछ है, उसको अतिक्रम करके तदन्तर्गत विशेष-दर्शनमें कुछ नहीं रहता और न रह सकता है। अतएव विशेष-दर्शनकारी जीव सर्वदा ही ईश्वरके अधीन है। वह ईश्वरको कदापि अतिक्रम नहीं कर सकता। वस्तुतः जीव और जगत्‌का नियन्ता होनेके कारण ब्रह्मकी 'ईश्वर' संज्ञा है, यह

ईश्वररूपी ब्रह्म ही सर्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयका एकमात्र कारण है। ईश्वरब्रह्म, जीवब्रह्म और जगद्ब्रह्म—यह त्रिविध रूप अक्षरब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित है। इस अक्षर ब्रह्मको ही 'निर्गुण ब्रह्म' अथवा 'सद्ब्रह्म' कहते हैं। यह चिदानन्द-स्वरूप सद्वस्तु है, जो अपने स्वरूपगत आनन्दका निर्विशेषरूपमें नित्य अनुभव करता है। इसमें किसी प्रकारकी विशेष क्रिया नहीं होती। यह नित्यानन्दमें एकरसनिमग्न रहता है।

यह निर्गुण ब्रह्म ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म ही जगत्का कारण है, अतएव उसकी केवल निर्गुणरूपमें व्याख्या नहीं की जा सकती। गुण गुणीसे अभिन्न, गुणीका ही गुण होता है।

सर्वरूप और अरूप, सर्वरूपमय और सर्वरूपातीत, प्राकृत-गुणातीत अथच सम्पूर्ण जगत्के नियन्ता और आश्रय-स्वरूप इस ब्रह्मको भक्तिके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति ही इस पूर्णब्रह्मकी प्राप्तिका पूर्ण साधन है। अपनेको तथा समग्र विश्वको ब्रह्मरूपमें चिन्तन करना भक्तिमार्गका अङ्ग है। भक्तिमार्गके साधकके लिये अनात्म नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। वह अपनेको जिस प्रकार ब्रह्मसे अभिन्न-रूपमें चिन्तन करता है, उसी प्रकार परिदृश्यमान समस्त जगत्को भी ब्रह्मसे अभिन्नरूपमे चिन्तन करता है। ब्रह्मको जीव और जगत्से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अच्युत और आनन्दमयरूपमें भी चिन्तन करता है। इस भक्तिमार्गकी उपासनाकी केवल सगुण-उपासनाके रूपमें व्याख्या समीचीन नहीं है। भक्तिमार्गकी उपासना त्रिविध अङ्गोंमें पूर्ण होती है। जगत्का ब्रह्मरूपमें दर्शन इसका एक अङ्ग है, जीवकी ब्रह्मरूपमें भावना इसका द्वितीय अङ्ग है तथा जीव और जगत्से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाश्रय और आनन्दमय रूपमें ब्रह्मका ध्यान इसका तृतीय अङ्ग है। उपासनाके प्रथम दो अङ्गोंके द्वारा साधकका चित्त सर्वतोभावेन निर्मल हो जाता है और तृतीय अङ्गके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न होता है। भक्तकी दृष्टिमें ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। जागतिक कोई भी वस्तु केवल गुणात्मक नहीं है, ब्रह्मसे विच्छिन्न होकर गुण रह ही नहीं सकते। गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। भक्त साधक जिस किसी मूर्त्तिका दर्शन करते हैं, उसीको ब्रह्म समझकर उसके प्रति स्वभावतः प्रेमयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार चित्तके सर्वविध द्वैत-धारणा और असूयासे विवर्जित एवं निर्मल हो जानेपर पर-ब्रह्ममें सम्यक् निष्ठा उदित होती है। इसीको शास्त्रोंमें 'परा-भक्ति'के नामसे उल्लेख किया गया है। इसीके द्वारा परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। भक्तिकी प्राथमिक अवस्थाको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। इसके द्वारा चित्त प्रसारित होकर जब अनन्तताको प्राप्त होता है, तब परा-भक्ति नामक भक्तिकी चरम अवस्था उपस्थित होती है।

श्रीश्रीभगवद्विग्रहकी ब्रह्मरूपमें उपासना, जो द्वैतबुद्धिके ऊपर प्रतिष्ठित है, साक्षात्-सम्बन्धसे मोक्षप्रद न होनेपर भी चित्तको निर्मल बनाकर थोड़े ही समयमें और थोड़े ही आयाससे अद्वैतज्ञान उत्पन्न कर देती है। इस अद्वैतज्ञानके प्रतिष्ठित होनेपर पराभक्ति अपने-आप उदित होती है और साधक अन्तमें ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करके मोक्ष लाभ करता है।

श्रीश्रीराधा-कृष्ण युगलमूर्त्तिकी उपासनाको [illegible] ग्रहण करके श्रीनिम्बार्क स्वामीने इनके स्वरूप, गुण, [illegible] का [illegible]सा वर्णन किया है, उसकी कुछ [illegible] है। ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त जो साधक [illegible] हैं, वे पहले ब्रह्मके स्वरूप, गुण, शक्ति [illegible] स्वरूप और जीव-जगत् जिस प्रकार ब्रह्मके [illegible] सम्बन्धसे सम्बद्ध है—इसका विचार [illegible] लेते हैं, तत्पश्चात् ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त [illegible] होते हैं। उनकी इस मननशीलताको [illegible] सर्वोच्च अवस्था' ही ब्रह्मका साधन [illegible] चित्तके आवरणको भेदकर ब्रह्म प्राप्ति [illegible] इष्टके स्वरूप, गुण और शक्तिके सम्बन्धमें [illegible] उनका माहात्म्य-ज्ञान प्राप्तकर, उनकी प्राप्ति [illegible] में ऐकान्तिकभावसे अपनेको [illegible] होकर धीरे-धीरे ब्रह्मसारूप्य लाभ होता है। [illegible] मार्ग ही बुद्धिको [illegible] समधिक फलप्रद है।

महाप्रलयके बाद सृष्टिके [illegible] परमात्मा अपनी सर्वव्यापिनी [illegible] उद्बोधित करके क्रमशः अपनी प्रकृति ([illegible]) [illegible] उद्बोधित करते हैं। सत्त्व, रज और तम—[illegible] गुण हैं। ये परम पुरुष ही [illegible] संहार करनेके लिये इन तीनों गुणोंको [illegible] ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर [illegible] जगत्में निर्मल सत्त्व ही ज्ञान और आनन्दके [illegible]

ग्रहण करता है। इस सत्त्वगुणसे अधिष्ठित पुरुषके रूपमें ब्रह्मकी 'श्रीकृष्ण' और 'विष्णु' संज्ञाएँ होती हैं। उनका गोलोकाधिपति रूप—श्रीकृष्णरूप समस्त जागतिक जीवोंके अशेष कल्याणका साधक और मुक्तिप्रद है। वे ब्रह्मके अमूर्त्त और मूर्त्तरूपके मध्यस्थानमें सेतुके स्वरूपमें स्थित होकर साधारण जीवोंके मोक्षके प्रधान हेतु बनते हैं। श्रीकृष्ण विशुद्ध ज्ञानमय देहसे सर्वात्मरूपमें सर्वदा विराजित रहते हैं। मैं ब्रह्मसे भिन्न हूँ—ऐसा बोध उन्हें किसी कालमें नहीं होता। वे विज्ञानमात्र हैं, कर्म-बन्धनसे रहित हैं, निर्मल हैं। प्रकृतिके गुणोंसे युक्त रहनेपर भी वे सच्चिदानन्दमयके शुद्ध-सत्त्व-स्वरूपमें निर्मल पदके एकमात्र अधिकारी हैं। प्रकृतिका सात्त्विक अंश खूब सहज नहीं है, यह सृष्ट तो है; परंतु सृष्ट होनेपर भी जो उसकी यथार्थताको सम्यक्रूपमें जान पाता है, उसे फिर कभी इस संसारमें जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता। चिन्मय-देहधारी श्रीकृष्ण नित्य सहज जीवन्मुक्तरूपमें स्थित रहते हैं, वे ज्ञानके आधार हैं। सच्चिदानन्दमयकी सूक्ष्म सृष्टिके अन्तर्गत, शुद्ध सत्त्वगुणका अवलम्बन करके स्थित रहनेवाले, विज्ञानमात्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर गौण ईश्वररूपमें माने जाते हैं। ये ईश्वर-गण एवं इनकी शक्तियाँ जगत्का कल्याण करनेके निमित्त अवताररूपमें प्रकट होती हैं।

प्राकृतिक बाह्य जगत्के समान जीव-जगत्में भी जब अधर्मकी वृद्धि होनेसे जन-समाज अतिशय हीन दशामें पहुँच जाता है, जब अत्याचारके कारण नर-नारियोंकी कष्टसूचक हाहाकारकी ध्वनि गगनमण्डलको व्याप्त करके ऊपरकी ओर उठती है, तब उनके दुःखभारको दूर करनेके लिये तथा नष्ट हुए धर्म-साधनोंको पुनः संस्थापित करनेके लिये जगन्नियन्ता भगवान्की विशेष-विशेष शक्तियाँ जगत्में आविर्भूत होती हैं। जब उनके यत्न और चेष्टाके द्वारा अशुभ-राशि विलुप्त नहीं होती, तब सर्वशक्तिसम्पन्न महापुरुषके रूपमें श्रीभगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि ईश्वरोंके अंशसे अपने-आपको आविर्भूत करते हैं। परंतु विष्णु ही जगत्का मङ्गल करनेवाली पालिनी-शक्तिकी मूर्ति हैं। अतएव अधिकांश स्थलोंमें विष्णुके अंशसे ही श्रीभगवान् अवतार लेते हैं; इतना ही नहीं 'वे स्वयं ही मोक्षधर्मके उपदेष्टा बनते हैं; क्योंकि अज्ञ जीवोंके लिये उनके तत्त्वका उपदेश करना कठिन है। अतएव जब जीवकी मुक्ति-पिपासा बढ़ती है, तब उसका यथार्थ मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिये भी श्रीभगवान्का अवतार हुआ करता है। इस प्रकार जब-जब भगवान् जीवमण्डलमें अवतीर्ण होते हैं, तब-तब वैसी शक्ति प्रकट करनेके लिये ही वे आविर्भूत होते हैं और वैसी ही शक्तिके अनुरूप उनके देहावयव भी गठित होते हैं।

भगवदवतारकी सारी मूर्तियाँ जनसाधारणके लिये उपास्य होती हैं। समग्र विश्वमें व्याप्त तथा विश्वातीत ब्रह्मका ध्यान जिनकी बुद्धिमें नहीं आता, जो लोग भेद-बुद्धिके कारण सर्वत्र समदर्शन करनेमें असमर्थ होते हैं, उनके लिये भगवत्-विग्रहका पूजन ही उत्कृष्ट भक्तिमार्गका साधन है। प्रेमपूर्वक उन विग्रहोंका ध्यान, उन विग्रहोंके अनुरूप मन्त्रोंका कीर्तन, जप और स्मरण करनेसे साधक उनका सारूप्य प्राप्त करता है। अनन्यचित्तसे अवताररूपी भगवान्का नाम-स्मरण, उनके रूपका ध्यान, उनके गुण और कीर्ति—इन सबका चिन्तन करके साधक तन्मयता प्राप्त करता है। अतएव उस तन्मयताके कारण उनका जो सर्वमय भाव है, वह अपने-आप ही अधिकृत हो जाता है, और साधककी क्रमशः सर्वोत्तम अधिकारियोंमें गणना हो जाती है। यही भारतीय साकार उपासना है, यही भगवदुपासना है। यह भक्तिमार्गका अति सहज और प्रकृष्ट साधन है। अन्तर्यामी भगवान् साधककी भक्तिके वशीभूत होकर उस मूर्तिके द्वारा ही साधकके सारे मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। ब्रह्म सर्वगत है। अतएव प्रतिमा भी ब्रह्ममयी है। प्रतिमा-में ब्रह्मबुद्धिकी धारणा करते-करते जब भक्तकी धारणा-शक्ति क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होती है, तब उसका मन अपने-आप प्रशस्त हो उठता है तथा वह साधक आगे चलकर सारे विश्वकी ब्रह्मरूप-में धारणा करनेमें समर्थ हो जाता है। वह विचक्षण साधक अन्तमें सम्पूर्ण विश्वको भी लाँघकर तदतीत परब्रह्मका ध्यानके द्वारा साक्षात्कार कर सकता है। इस प्रकार प्रतिमाकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करनेपर साधकके लिये प्रतिमामें ही ब्रह्मत्व प्रकट हो जाता है। परंतु इससे ब्रह्मको प्रतिमात्व-की प्राप्ति नहीं होती। सूर्यादि प्रतीकोंमें भी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करनेकी विधि शास्त्रादिमें कथित है। ब्रह्मसूत्रमें वेदव्यासने उसका सुस्पष्टरूपमें वर्णन किया है। कनिष्ठ अधिकारी-के लिये ही प्रतिमामें ब्रह्मकी अर्चनाकी व्यवस्था की गयी है। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीभगवान्की इस प्रकारकी उक्ति पायी जाती है—'सर्वभूतोंमें स्थित ईश्वररूपी मेरा जबतक अपने हृदयमें अनुभव न कर सके, तबतक मनुष्य अपने आश्रमोचित कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ प्रतीक आदिमें मेरी उपासना करे।' जगत्का विशेष कल्याण करनेवाले भगवान्के जो रूप हैं, आर्यशास्त्रोंमें उनके ध्यान और उपासनाकी व्यवस्था की

गयी है। वस्तुतः किसी भी पुरुषके विषयमें महद्बुद्धि होनेपर उसके प्रति स्वयं ही भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब इस प्रकार सर्वत्र महत्ताके चिन्तनसे भक्ति उद्दीपित हो जाती है, तब ब्रह्मभावकी स्थापना अपेक्षाकृत सहज हो जाती है।

विशेष शक्ति-सम्पन्न तथा विशेष उपकारीकी उपासना और ध्यानमें जैसे एक ओर साधककी भक्ति स्वभावतः ही उद्दीपित होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर वे विभूतिसम्पन्न महात्मागण भक्तिपूर्वक उपासित होनेपर कृपा-परवश होकर साधककी सहायता तथा कल्याण-साधन करते हैं। विशिष्ट रूपोंमें अभिव्यक्त जितनी ब्रह्मकी मूर्त्तियाँ हैं, उनमें जीवकी स्थिति सुधारनेवाले, कल्याणप्रद और मुक्तिदायक तथा सर्वापेक्षा अधिक निर्मल सत्त्वगुणमय गोलोकाधिपति श्रीकृष्णकी मूर्त्ति सर्वापेक्षा प्रधान है—यह बात पहले कही जा चुकी है। तथा जगत् ब्रह्मका अंश है, अतएव सत्य है—इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। गोलोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य-लोकके कल्याणके लिये यदुकुलमें आविर्भूत हुए थे। अतएव निम्बार्कीय वैष्णवगण जगत्‌को सत्य और ब्रह्ममय मानते हैं तथा विशेषरूपसे श्रीकृष्णकी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं।

श्रीनिम्बार्क स्वामीने अपने 'वेदान्त-कामधेनु' नामक संक्षिप्त ग्रन्थमें जगत्‌की ब्रह्मात्मकताके विषयमें निम्नलिखित श्लोकमें अपना सिद्धान्त प्रकट किया है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥

'यह सब कुछ विज्ञानमय है, अतएव यथार्थ है; क्योंकि श्रुति और स्मृतिने सर्वत्र निखिल विश्वको ब्रह्मात्मक रूपमें सिद्ध किया है। यही वेदज्ञोंका मत है। और ब्रह्मकी त्रिरूपता (प्रकृति, पुरुष और ईश्वररूपता) भी श्रुतियोंमें तथा ब्रह्मसूत्रमें भी स्थापित की गयी है।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही निम्बार्कीय वैष्णवोंके विशेषरूपसे उपास्य हैं—यह भी श्रीनिम्बार्क स्वामीने इस ग्रन्थमें बतलाया है—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्॥

'भक्तोंकी इच्छासे जिन्होंने मनोहर विग्रह धारण किया, जिनकी शक्तिकी इयत्ता नहीं, उन अचिन्त्य [illegible] श्रीकृष्णके ब्रह्मा, शिव आदिके द्वारा वन्दित [illegible] सिवा जीवकी अन्य कोई गति दृष्टिगोचर नहीं होती।'

उनकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए श्रीनिम्बार्क [illegible] पुनः कहते हैं—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥

'दैन्यादि गुणोंसे युक्त पुरुषपर उन भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा प्रकट होती है। इस कृपाके द्वारा उन [illegible] परमात्मामें प्रेमविशेषरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। [illegible] भक्ति दो प्रकारकी है, एक साधनरूपा [illegible] और दूसरी उत्तमा—परा भक्ति।'

परंतु निम्बार्क-सम्प्रदायके उपास्यदेव भगवान् [illegible] होनेपर भी निम्बार्कीय वैष्णवगण उनकी [illegible] को ही समधिक फलप्रद मानते हैं। भगवान्‌के [illegible] जैसे श्रीकृष्ण मूर्ति प्रधान है, [illegible] उसी प्रकार प्रधान है। [illegible] शक्ति है। [illegible] भगवान्‌ [illegible] फल होते हैं, उन्हींके अन्तर्गत [illegible] है कि उनसे [illegible] है। भगवान्‌के [illegible] अर्चना करनेसे [illegible] है और [illegible] दर्शन करते-करते [illegible] निर्मलत्व लाभ करता है। [illegible] करते हुए श्रीनिम्बार्क स्वामी [illegible] ग्रन्थमें लिखते हैं—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

'जो स्वभावतः सर्वप्रकारसे दोषवर्जित हैं, जिनमें पूर्णरूपेण कल्याणजनक सारे गुण विद्यमान हैं, (महाविराट् आदि) चतुर्विध व्यूह जिनके अङ्ग हैं, जो सबके द्वारा वरणीय हैं, जिनके नेत्र कमलके समान हैं, उन परब्रह्म श्रीकृष्णरूप हरिका मैं ध्यान करता हूँ।

'इनके वामाङ्गमें प्रसन्नवदना वृषभानुनन्दिनी विराजित हैं। ये श्रीकृष्णके अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणोंसे समन्वित हैं। सहस्र-सहस्र सखियाँ नित्य-निरन्तर इनकी सेवामें लगी रहती हैं। इस प्रकार समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाली देवी श्रीराधिकाका मैं ध्यान करता हूँ।'

सर्वजीवोंमें भगवद्बुद्धि स्थापित करके, द्वेष, हिंसा, मिथ्या-भाषण, कलह इत्यादिको त्यागकर, अहंकाररहित बुद्धि और निर्मल चित्तसे युक्त होकर, साधक प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीभगवत्स्वरूप-सागरमें नदीकी भाँति प्रविष्ट होकर अच्युतानन्दकी प्राप्तिके योग्य बन सके—यही श्रीनिम्बार्कके द्वारा प्रचारित सनातन भक्तिमार्गका लक्ष्य है।

सर्वसंतापहारी और सर्वानर्थनिवृत्तिकारी श्रीहरिकी जय हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीमन्मध्वाचार्य और भक्ति

(लेखक—श्रीयुत बी० रामकृष्णाचार बी० ए०, विद्वान्)

श्रीमन्मध्वाचार्य दक्षिण भारतके तीन प्रसिद्ध मत-प्रवर्तकोंमे एक थे। आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व 'श्रीमध्व-सिद्धान्त' नामसे विख्यात है।

श्रीआचार्यजीकी संक्षिप्त जीवनी

श्रीमध्वाचार्यजीका काल संवत् १२९५ से १३७४ (ई० सन् १२३८-१३१७) था। आपका अवतार एक वैदिक धर्मनिष्ठ ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपका बचपनका नाम था 'वासुदेव'। नारायण भट्ट (उपनाम मध्यगेह भट्ट) आपके पिता और वेदवती माता थीं। आपकी जन्मतिथि पिङ्गल सवत्सरकी आश्विन शुक्ला दशमी (विजयादशमी) थी।

पाँचवें वर्षमें आपका उपनयन-संस्कार हुआ और आठवें वर्षमे आपने सनकादि मानसपुत्रोंकी प्राचीन परम्पराके यति श्रीअच्युतप्रेक्षतीर्थके द्वारा बालसंन्यास-दीक्षा ली। तबसे आपका नाम 'श्रीमध्वाचार्य' हुआ। इसके अतिरिक्त आप 'श्रीआनन्दतीर्थ', 'पूर्णप्रज्ञ', 'पूर्णबोध', 'सर्वज्ञ','सुखतीर्थ' आदि नामोंसे भी विख्यात हुए। ऋग्वेदके 'बलित्था' सूक्त तथा अन्य कई पुराणवचनोंके आधारपर आप श्रीवायुदेवके तीसरे अवतार माने जाते हैं।

छोटी अवस्थामें ही श्रीमदाचार्यजीने श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहास-धर्मशास्त्र आदिका सम्यक् अध्ययन करके पूर्णज्ञान प्राप्त किया। अखिल भारतके पुण्य-तीर्थस्थानोंकी यात्रा की और दो बार बदरीनाथधामको श्रीवेदव्यासजीके दिव्य दर्शनके लिये पधारे। वहाँपर श्रीवेदव्यासजीने आपका स्वागत किया और भगवान्के तत्त्वका प्रचार करनेकी प्रेरणा की। बदरीनाथसे लौटकर आचार्यजी सर्वत्र अपने द्वैत-सिद्धान्तका प्रचार करते रहे। इहलोकमें ७९ वर्षतक भक्तिका सर्वाङ्गीण अनुष्ठान, ज्ञानार्जन तथा धर्मप्रचार करते हुए आप तीसरी बार सं० १३७४ के माघ शुक्ला नवमीके दिन उडुपीक्षेत्रसे अन्तर्धान होकर बदरीनाथ पधारे। माध्व-सम्प्रदायका विश्वास है कि आचार्यजी अद्यापि बदरीमें श्रीवेदव्यासकी सन्निधिमें तप कर रहे हैं और अपने प्रिय उडुपीक्षेत्रमें परोक्षरूपसे संनिहित भी हैं। यहाँके श्रीअनन्तेश्वरजीके मन्दिरमें श्रीमदाचार्यजीका दिव्यपीठ है, जिसकी माध्व भक्त प्रतिदिन आराधना कर रहे हैं।

श्रीमदाचार्यके समयमें यहाँपर दैवप्रेरणासे द्वारका-क्षेत्रसे रुक्मिणीदेवी-करार्चित श्रीबालकृष्णजीकी मूर्ति एक देशी नावपर आ गयी। श्रीआचार्यजीने इसे प्राप्तकर उडुपीक्षेत्रमें प्रतिष्ठापित किया। तबसे उडुपीकी ख्याति बढने लगी। श्रीभगवान्की पूजा निरन्तर चलानेके लिये अपने आठ बाल-ब्रह्मचारियोंको परमहंस संन्यास देकर आपने उत्तराधिकारी बनाया और पूजा तथा मतप्रचारका काम उनको सौंप दिया। आगे चलकर इन आठ मूल यतिश्रेष्ठोंके शिष्य अपना-अपना अलग मठ बनवाकर पूजा-प्रवचन, धर्म-प्रचारादि करने लगे। ये उडुपीके 'अष्टमठ' नामसे आज भी प्रसिद्ध हैं।

श्रीआचार्यजीने अपने आठ मुख्य शिष्योंको अलग-अलग उपासनाकी मूर्तियाँ प्रदान कीं, जो आज भी पूजित होती हैं। इनके और कई शिष्य भी हो गये थे। श्रीआचार्यका मूल मठ उडुपीका श्रीकृष्णमठ है। आपके समयकी कई वस्तुएँ अद्यापि श्रीकृष्णमठमें उपयुक्त होती हैं।

श्रीमदाचार्यजीके बनाये कुल ३७ ग्रन्थ हैं, जिनमें गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-तात्पर्य-बोधक अनुव्याख्यान, ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य, भागवत-भारत-गीता-तात्पर्य-निर्णय, श्रीकृष्णामृत-महार्णव आदि मुख्य हैं। वेद-स्मृति-पुराणोंके प्रमाणोंसे भरे ये ग्रन्थ-समूह 'सर्वमूल' नामसे विख्यात हैं। श्रीमदाचार्यजीके प्रतिपादित सिद्धान्तका सार यों कहा जाता है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंगताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

'मध्वमतमें श्रीहरि ही सर्वोत्तम हैं, जगत् सत्य है, पाँच तरहके भेद सत्य हैं, ब्रह्मादि जीव हरिके सेवक हैं, उनमें परस्पर तारतम्यका क्रम है। जीवका स्वरूपगत सुखानुभव ही मोक्ष है, हरिकी निर्मल भक्ति ही उस मोक्षका साधन है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम—ये तीन प्रमाण हैं। श्रीहरिका स्वरूप वेदादि सर्वशास्त्रोंसे जाना जा सकता है।'

श्रीमदाचार्यजीके द्वारा प्रतिपादित भक्ति

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

श्रीमदाचार्यजीने निरूपण किया है कि अपने आराध्यदेवकी महिमा जानते हुए अपने स्त्री-सुतादि परिवारकी अपेक्षा अधिक एवं दृढतर स्नेह भगवान्‌पर रखना ही 'भक्ति' कहलाता है। इस तरहकी भक्तिके द्वारा ही जीव सांसारिक दुःखको पार करके मुक्ति-लाभ कर सकता है, अन्यथा नहीं।

श्रीआचार्यजीने अपने कई ग्रन्थोंमें बहुधा भक्तिको ही मुक्तिके साधनरूपसे प्रतिपादित किया है—

यथा भक्तिविशेषोऽत्र दृश्यते पुरुषोत्तमे।
तथा मुक्तिविशेषोऽपि ज्ञानिनां लिङ्गभेदने॥
योगिनां भिन्नलिङ्गानामाविर्भूतस्वरूपिणाम्।
प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि॥
(गीताभाष्य)

भगवान् श्रीहरिके प्रति जितनी अधिक गाढ़ भक्ति होती है, उतने ही प्रमाणसे लिङ्गदेहका भङ्ग होने ही [illegible] विशेष अर्थात् अधिकाधिक आनन्दका अनुभव होगा। इस तरह लिङ्गदेहका भङ्ग होनेके बाद स्वरूपानन्दप्राप्त योगियोंको सदा तारतम्यज्ञान और उस ज्ञानसे आनन्दानुभव भी होता है। [माध्वसम्प्रदायके अनुसार जीवके स्वरूप पर जो अज्ञानका आवरण पड़ा रहता है, वही लिङ्गदेह कहलाता है। जीवके मोक्ष प्राप्त करनेके पहले [illegible] श्रीवायुदेवकी गदाके प्रहारसे टूट जायगा। तभी जीवके स्वरूपका आविर्भाव होगा। यही मोक्ष कहलाता है।]

विना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं विना च तत्।
([illegible])

'ज्ञानके विना भक्ति कहाँ और बिना भक्तिके [illegible] कैसा।' इससे ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मोक्षका [illegible] सिद्ध हुई।

अतो विष्णोः पराभक्तिस्तद्भक्तेषु [illegible]।
तारतम्येन कर्तव्या पुरुषार्थमभीप्सता॥
([illegible])

'मोक्षप्राप्तिके लिये भक्ति ही [illegible] है। अतः भगवान् विष्णुकी भक्ति करना ही मुख्य [illegible] है। साथ ही मोक्षकी इच्छा करनेवालेको श्रीलक्ष्मी आदि भगवद्भक्तोंकी भी तारतम्यानुसार भक्ति करनी पड़ती है।'

स्यादरः सर्वजन्तूनां [illegible]।
ततोऽधिकः स्वोत्तमेषु [illegible]॥
कर्तव्यो वासुदेवान्तं [illegible]।
न कदाचित् त्यजेत् [illegible]।
समेषु स्वात्मवत् स्नेहः [illegible]।

'मोक्षकी कामना करनेवाले [illegible] प्राणिमात्रके प्रति आदर यानी प्रेम होना चाहिये। [illegible] अनुसार अपनेसे और [illegible] उत्तम पुरुषोंके प्रति [illegible] करनेवाला सब तरहसे [illegible] जीवोंके प्रति अधिकाधिक भक्ति करे। [illegible] अपितु उन्हें [illegible] करे। [illegible] लोगोंके साथ समान प्रेम करे। [illegible] दया करे।'

विष्णुभक्तिपरो दैवो [illegible]।
द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च।

भक्त्या प्रसन्नो भगवान् दद्याज्ज्ञानमनाकुलम् ।
तयैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया ॥

'ईश्वरकी इस प्राणिसृष्टिमें जीवोंके दो वर्ग हैं—विष्णु-भक्त वर्ग दैव तथा विष्णु-द्वेषी वर्ग आसुर कहलाता है। भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् उत्तम ज्ञान देते हैं और उसी भक्तिके द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन तथा मोक्ष भी देते हैं।'

यही अभिप्राय गीतामे भी भगवान्के श्रीमुखसे व्यक्त हुआ है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन ! अनन्यभक्तिके द्वारा इस तरहसे व्यापक स्वरूपमें मुझे जानना, प्रत्यक्ष देखना, मेरे वैकुण्ठादि लोकोंमे प्रवेश पाकर मोक्ष प्राप्त करना शक्य होता है।'

यहाँपर एक प्रश्न उठ सकता है—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।

अर्थात् गोपस्त्रियाँ कामसे, कंस भयसे तथा शिशुपालादि भगवान्से द्वेष करके मोक्ष पा गये—यह कैसे सम्भव है ? श्रीमदाचार्यजी अपने भागवत-तात्पर्य-निर्णयके प्रमाणसे यह समाधान देते हैं—

गोप्यः कामयुता भक्ताः कंसाविष्टः स्वयं भृगुः ।
ज्ञेयो भययुतो भक्तः चैद्यादिस्था जयादयः ॥
विद्वेषसंयुता भक्ता वृष्णयो बन्धुसंयुताः ।

'गोपस्त्रियोंमें काममिश्रित भक्ति, कंसमे भययुक्त भक्ति, शिशुपालादिकोंमें द्वेषयुक्त भक्ति तथा यादवोंमें बन्धुभावयुक्त भक्ति थी। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकारकी भक्तिके द्वारा ही उन लोगोंने मोक्षको प्राप्त किया।' (विदित है कि कंसमें भृगुमुनिका अंश भी था।) इनमेंसे भृगु आदि साधुलोग भक्तिसे मोक्ष पा गये और द्वेषादिसे असुरलोग अन्धतमसको गये।

दानतीर्थतपोयज्ञपूर्वाः सर्वेऽपि सर्वदा ।
अङ्गानि हरिसेवायां भक्तिस्त्वेका विमुक्तये ॥

'दान, तीर्थस्नान, तप, यज्ञ आदि सत्कार्य सभी हरिसेवा एवं भक्तिके अङ्ग हैं। परंतु मुक्तिका साधन तो एक भक्ति ही बन सकती है।'

भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर्मोक्षाय केवलम् ।
मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी ॥
(गीतातात्पर्य)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
(उपनिषद्)

ज्ञानपूर्वः परस्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते ।
इत्यादि वेदवचनं साधनप्रविधायकम् ॥

'अन्य सभी कर्म भक्तिकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। पर मोक्षका साधन तो एक भक्ति ही बनती है। मोक्ष पाये हुए जीवोंको भी हरिभक्ति आनन्दस्वरूप भासित होती है। अतः श्रीहरिके प्रति भक्ति रखनी ही चाहिये। इसी तरह योग्यतानुसार अपने गुरुमें भी भक्ति रहे। तब गुरुसे उपदिष्ट (तथा अनुपदिष्ट) विषय भी हमारे मनमें स्वय प्रकाशित होंगे। ज्ञानपूर्वक उत्तम स्नेह ही भक्ति कहलाता है। इस प्रकारके वेदवाक्य मोक्षसाधनका मार्ग बतलाते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य इत्यादिना विष्णुभक्तेरेव सर्वसाधनोत्तमत्वं परोक्षापरोक्षज्ञानयोर्ज्ञानिनोऽपि मोक्षस्य तदधीनत्वं च साधितम् ॥

'अनन्य भक्तिसे श्रीभगवान्का ज्ञान, दर्शन एवं प्राप्ति सम्भव है—इत्यादि गीतावचनसे मोक्षके साधनोंमें हरिभक्तिकी ही मुख्यता प्रमाणित होती है। परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये और ज्ञानीको मोक्ष-प्राप्ति करानेके लिये भी वही मुख्य साधन बनता है। इस प्रकार श्रीमदाचार्यजीने गीता-तात्पर्यमें सिद्ध किया है।'

श्रीमद्भागवतमें नौ तरहकी भक्तिका उल्लेख प्राप्त होता है। इसे लक्ष्यमें रखकर श्रीमदाचार्यजी अपने 'श्रीकृष्णामृत-महार्णव' नामक हरि-महिमा-बोधक ग्रन्थमें यों कहते हैं—

अर्चितः संस्मृतो ध्यातः कीर्तितः कथितः स्मृतः ।
यो ददात्यमृतत्वं हि स मां रक्षतु केशवः ॥

इस प्रकार वेद-उपनिषद्, पुराणादि प्रमाणोंसे श्रीमदाचार्यके द्वारा प्रतिपादित भक्तिका स्वरूप यों ठहरता है—

(१) अपने परिवारपर जो प्रेम रहता है, उससे अधिक नित्य तथा सर्वोत्तम भगवान् श्रीहरिके प्रति स्नेह ही भक्ति है। यह उनकी महिमाके ज्ञानसे ही पूर्ण हो सकती है अर्थात् उनकी महिमाके ज्ञानसे वह प्रेम दृढ हो जाता है। वही भक्ति मोक्षका साधन होगी। ज्ञानेनैवामृतीभवति—ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वह ज्ञान भक्तिसे मिश्रित होना चाहिये। ज्ञानरहित भक्ति तथा भक्तिरहित ज्ञान दोनों ही मोक्षसाधक नहीं बन सकते।

(२) तारतम्यके क्रमसे भगवान्‌के बाद उनकी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीदेवीके प्रति तथा उनके बाद ब्रह्मा, वायु आदि देवताओं-के प्रति—इस तरह भगवान्‌के परिवार एवं देवताओंके प्रति भी उनके योग्यतानुसार भक्ति रखनी चाहिये। इसके अनन्तर अपने गुरु एव ज्ञान-वयोवृद्धोंके प्रति भी आदरसहित भक्ति होनी चाहिये तथा अपनेसे नीची श्रेणीके प्राणियोंपर दया बनाये रखना चाहिये; क्योंकि जीवमात्रमें परमात्मा श्रीहरि अन्तर्यामीके रूपमें स्थित हैं। सबके प्रेरक वे ही हैं, सृष्टि-स्थिति-लय-कर्ता वे ही हैं। मुख्यतः सभीके माता-पिता और गति भी वे ही हैं। इस कारण जगत्कुटुम्बी श्रीहरिके परिवाररूप जो समस्त जीव हैं, उन सबके साथ प्रेम करनेसे हम भगवान्‌के अनुग्रह-पात्र बन सकते हैं।

इस अभिमतका सकेत करते हुए श्रीआचार्यजी अपने 'द्वादशस्तोत्र'में लिखते हैं—

> कुरु भुङ्क्ष्व च कर्म निजं नियतं
> हरिपादविनम्रधिया सततम्।
> हरिरेव परो हरिरेव गुरु-
> र्हरिरेव जगत्पितृमातृगतिः॥
> ([illegible] १०)

'अरे जीव! सदा श्रीहरिके चरणकमलोंमें [illegible] बुद्धि (भक्ति) रखकर अपना [illegible] कर्म [illegible] कर। हरि ही सर्वोत्तम हैं। हरि ही गुरु हैं। [illegible] सृष्टिके पिता-माता तथा गति हैं।'

अन्यत्र उसी स्तोत्रमें श्रीमदाचार्यजी भगवान्‌की अनन्यभावसे शरण माँगते हुए भक्तिका आदर्श [illegible]—

> अगणितगुणगणमयशरीर हे
> विगतगुणेतर भव मम शरणम्।
> ([illegible] ११)

'प्रभो! आपका श्रीविग्रह अनन्त गुणगणोंसे बना हुआ है, उसमें दोषका लेश भी नहीं है। आप मेरी रक्षा करें।'

हमारी पुण्यभूमि भारतमें सदा-सर्वदा भगवद्भक्ति-[illegible] बहता रहे—यही उनके चरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

श्रीवल्लभाचार्यकी पुष्टि-भक्ति

(लेखक—श्रीचन्दुलाल हरगोविन्द गान्धी)

श्रीमद्भागवतमें रास-पञ्चाध्यायीके प्रारम्भमें भगवान् जब गोपीजनको उपदेश देते हैं कि पति-पुत्र आदिकी सेवा करना स्त्रियोंका स्वधर्म है, तब उसके उत्तरमें श्रीगोपियाँ प्रभुसे विनती करती हैं—

> अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
> प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
> (१०।२९।३२)

अर्थात् आप तो सचमुच ही देहधारियोंके प्रियतम हैं, बन्धु हैं और आत्मा हैं; इसलिये आपका यह उपदेश उसके आश्रयरूप आप परमेश्वरके उद्देश्यसे ही है। अतएव प्रभुकी सेवा करना हमारा, जीवमात्रका स्वधर्म है। पति-पुत्रादिकी सेवा तो शरीर-सम्बन्धके कारण ही की जाती है, आत्मधर्म या भगवद्धर्मके नाते नहीं। अतएव जो लोग देह और इन्द्रियोंका भोग नहीं चाहते, वे भगवान्‌से ही प्रीति करते हैं; क्योंकि समष्टिरूप भगवान्‌के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे ही कर्म, भगवान् सबके आत्मा हैं—इस कारण व्यष्टिरूप जीवके लिये हो जाते हैं। भगवान् प्रेष्ठ हैं, अतएव सर्वधर्म भगवान्‌में सिद्ध हैं; इस कारण धर्मीरूपमें भगवान्‌की ही सेवा करनी चाहिये। जो प्रिय है और [illegible] है, उसीकी सेवा करनी चाहिये। [illegible] श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही एक [illegible] हैं—

> कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्।

अतएव श्रीकृष्णकी ही सेवा करना [illegible] है। इसी कारण श्रीवल्लभाचार्यजी पुष्टिमार्गका [illegible] हैं।

पुष्टि भक्तिमें सुदृढ स्नेह ही प्रधान है—

> यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान् [illegible]।
> स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

'आत्मभावसे [illegible] हैं, तब वह पुरुष लोक और वेदमें [illegible] कर देता है।' इस [illegible] मर्यादा-भक्तिकी अपेक्षा पुष्टिभक्ति [illegible] होता है। केवल भजन ही [illegible] प्रियत्व ही प्रयोजन होता है, यही [illegible] 'प्रिय' शब्द प्रियत्वका ही [illegible] है।

> केवलेन हि भावेन गोप्यो गाव [illegible]।

—आदि श्रीमद्भागवतके वचनोंमें प्रयुक्त 'भाव' शब्दका अर्थ भक्ति ही है। भावका अर्थ है देवादिविषयक रति। 'रति' शब्द-का धर्म होता है—स्नेह। इसी कारण सा परानुरक्तिरीश्वरे आदि सूत्रोंमें शाण्डिल्य आदि मुनियोंने प्रभुमें निरतिशय स्नेहको ही भक्तिके नामसे पुकारा है और इसी कारण पुष्टि-भक्तिमें स्नेहका ही प्राधान्य है।

पुष्टिभक्तिमें माहात्म्य-ज्ञानकी अपेक्षा भगवदनुग्रह ही विशेष नियामक है

भगवान् पुष्टिभक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये बालभाव, पुत्रभाव, सखाभाव आदिकी लीला करते हैं। यदि भक्तमें माहात्म्यज्ञान हो तो तत्तद्भावोंकी लीला नहीं हो सकती; अतएव भगवान् स्वय 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं' समर्थ होनेके कारण भक्तके अंदर माहात्म्यज्ञानका भी तिरोभाव कर देते हैं। भगवान्के जन्मके समय देवकीजीने स्तुति करते हुए भगवान्-को कालका भी काल कहा है और इस प्रकार भगवान्के माहात्म्य-ज्ञानका वर्णन किया है। परंतु भगवान्को उनके अंदर मातृभाव स्थापित करना है, अतएव दूसरे ही क्षण आप देवकीजीके हृदयमें माहात्म्यज्ञानको तिरोहित और स्नेहभावको उद्बुद्ध कर देते हैं। तब देवकीजी स्तुति करती हैं—'तुम्हारे जन्मका पता कंसको न लग जाय, वह कोई अनर्थ न कर बैठे।' यशोदाजीके प्रसङ्गमें भी आप उन्हें अपने श्रीमुखमे ब्रह्माण्डका दर्शन कराते हैं और उस माहात्म्यज्ञानको तुरत अन्यथा करके पुनः पुत्रभाव स्थापित कर देते हैं। इस प्रकारका अनुग्रह ही पुष्टि है। माता यशोदाजी ब्रह्माण्डके नायकको रस्सीसे बाँधनेकी चेष्टा करती हैं, परंतु प्रभु अपनेको बँधाते नहीं। पीछे माताकी दीनावस्था देखकर कृपासे बँध जाते हैं। इसलिये प्रेमलक्षणा पुष्टिभक्तिमें भगवान्का अनुग्रह ही नियामक है, कालादि नियामक नहीं—यह स्पष्ट हो जाता है और यहाँ प्रभु भी बाधक नहीं होते; क्योंकि जो कृपा करने आता है, वह अकृपा क्यों करेगा।

जिसमें प्रभुके सुखका ही मुख्य विचार हो, वही पुष्टिभक्ति है

पुष्टिभक्तको भगवान् कृपा करके अपने स्वरूपका दान करते हैं। अतएव ऐसे कृपापात्र जीवका कर्त्तव्य है कि वह भगवान्की सेवा ही करे। प्रभुके सुखका विचार करना ही पुष्टिभक्ति है। प्राथमिक दशामें भक्त अपने देहेन्द्रिय और द्रव्यका भगवान्मे विनियोग करता है और इसके द्वारा बहुत अंशोंतक अपनी अहंता और ममताको दूर करता है। जैसे-जैसे भगवत्स्वरूपके प्रति उसका भाव बढता जाता है, वैसे-वैसे उसका मन भगवान्के ही उत्सवोंमें मग्न होता जाता है। उसको प्रभुके उत्सवोंमे बाह्य पदार्थोंका विस्मरण हो जाता है। इसको मानसी सेवा कहते हैं—चेतस्तत्प्रवणं सेवा—चित्त भगवान्में, भगवान्की परिचर्यामें, भगवान्की लीलामें तल्लीन रहे—इसीका नाम सेवा है। इस प्रकारकी सेवा भावात्मक होनेके कारण ज्ञान-स्वरूप निवेद्य पदार्थद्वारा होनी चाहिये। निवेदन किये जानेवाले पदार्थके स्वरूपको समझकर, भगवान्-को क्या प्रिय है—इस बातको तथा देश-कालको जानकर, ऋतु-अनुसार पदार्थको समर्पण करनेपर ही वह निवेदन किया गया पदार्थ ज्ञानमय कहलाता है। वेणुगीतके प्रसङ्गमें धन्याःस्म मूढमतयो—इत्यादि श्लोकमें हरिणियाँ 'हमारे नेत्र सौन्दर्यके कारण भगवत्-प्रिया गोपाङ्गनाओंके नेत्रोंका स्मरण करानेवाले होनेके कारण भगवान्को प्रिय हैं' यह समझकर भगवान्की पूजा नेत्रोंद्वारा करती हैं (पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः)—इस प्रकार श्रीशुकदेवजी कहते हैं। अर्थात् पुष्टिभक्तिमें भगवान्का ज्ञान अर्थात् देश-कालानुसार भगवान्को क्या अपेक्षित है—इसका ज्ञान और अपना ज्ञान अर्थात् अपने पदार्थोंमें अमुक वस्तु सुन्दर होनेके कारण भगवान्को विनियोग करने योग्य है—यह ज्ञान ये दोनो सेवाके अङ्ग हैं। यदि ये ज्ञान न हों तो सब व्यर्थ है।

पुष्टिभक्तिमें भगवान्का किया हुआ वरण ही मुख्य है

पुष्टिभक्ति साधन-साध्य नहीं है; अपितु भगवान् जिसको अङ्गीकार करते हैं, उसीके द्वारा शक्य है। अङ्गीकार करनेमें भगवान् योग्य-अयोग्यका विचार नहीं करते। जीवोंके प्रलयदशासे उत्थानके समय भगवान् कतिपय कृपापात्र जीवोंको विशेष अनुग्रहका दान करते हैं। श्रुति भी कहती है—नायमात्मा...... 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूऽस्वाम्। 'भगवान् जिसको वरण करते हैं, वही मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा अपना स्वरूप उस भक्तके सामने प्रकट कर देते हैं।' इससे समझा जा सकता है कि भजनानन्दरसिक पुष्ट दैवी जीव साक्षात् रसात्मक धर्मीस्वरूपके द्वारा अङ्गीकृत हैं।

पुष्टि-भक्तका कर्त्तव्य

पुष्टिभक्तिमे भगवत्कृपा ही नियामक होती है, अतएव इसमें कृपाके सिवा अन्य साधनका उपयोग नहीं हो सकता—

गोदके लिये मचलते यशोदानन्दन
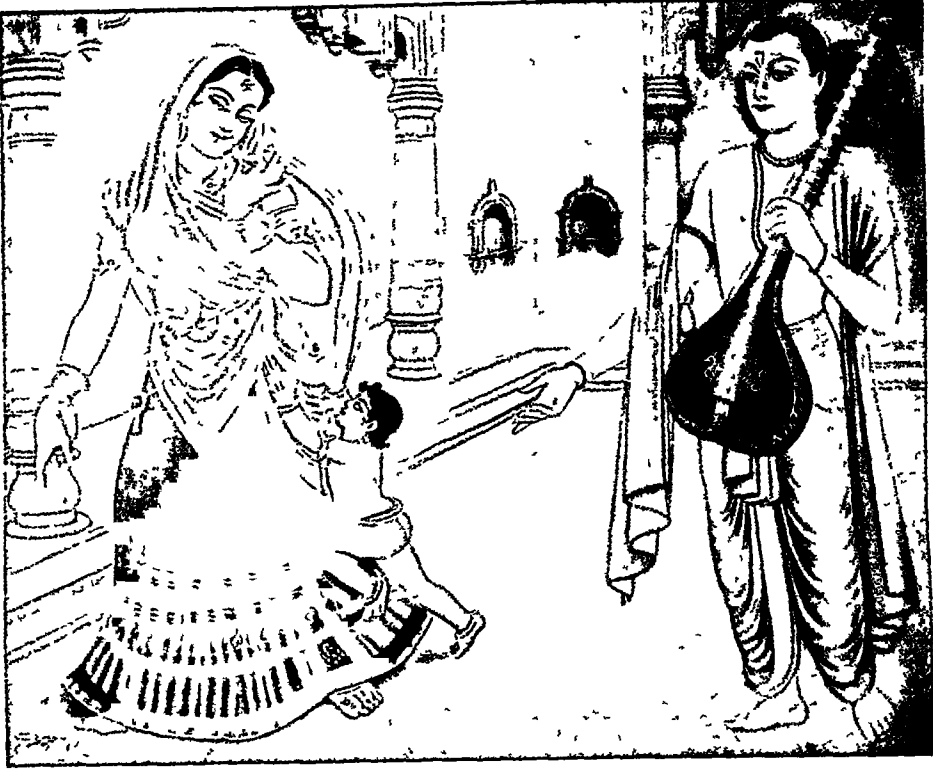
प्रतिविम्वपर रीझे वालकृष्ण
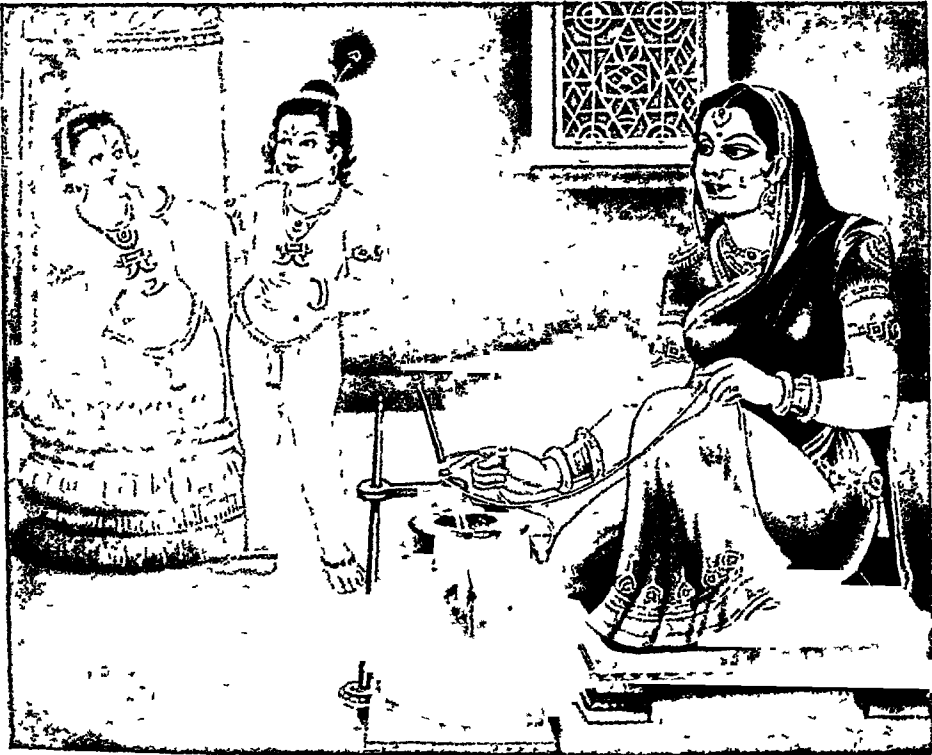
रखना ही असंगत हो जायगा। भगवान् जिसको स्वरूपानन्दका दान करनेकी इच्छा करते हैं, उसको इसी प्रकार अलौकिक दानके द्वारा ब्रह्मविद्या प्रदान करते हैं और फिर उसको अङ्गीकार करते हैं। यही यहाँ अनुगृहीत जीवोंका ब्रह्मिष्ठत्व है।

पुष्टि-भक्ति-शास्त्र किसके लिये है ?

पुष्टि-भक्तिके प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यजी 'तत्त्वार्थ-दीप' निबन्धमें कहते हैं—

सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।
भवान्तसम्भवाद् दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते॥

अर्थात् जो सत्त्वगुणाश्रित भगवद्भक्त मुक्तिके अधिकारी हैं और पूर्वजन्मोंमें उपार्जित पुण्योंके संयोगसे जिनको यह अन्तिम जन्म प्राप्त हुआ है, उन्हींके लिये पुष्टि-भक्तिका निरूपण किया जाता है। अर्थात् पुष्टि-भक्तिका अधिकारी वही है, जिसने निःस्पृही भगवद्भक्तोंमें भी ईश्वरकी इच्छासे अन्तिम जन्म प्राप्त किया है।

पुष्टि-भक्तिका फल

पुष्टि-भक्तिके फलस्वरूप जीवको प्रभुके साथ सम्भाषण, गान, रमण आदि करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है तथा अलौकिक सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है। इसीको पुष्टिभक्त मोक्ष कहते हैं। उनको चतुर्धा मुक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। मुक्तिको वे अत्यन्त निकृष्ट समझते हैं। वेणुगीतमें—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।

—इस श्लोकमें गोपियाँ कहती हैं कि इन्द्रियवान् जीवका फल यह स्वरूप ही है, 'न परम्' अर्थात् मोक्ष फल नहीं है। और इसमें भी भगवान्का साक्षात्कारमात्र होना गौण फल है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे सर्वात्मभावसे भगवत्स्वरूपके अलौकिक रसकी प्राप्ति करें, यही मुख्य फल और अन्तिम ध्येय है और सर्वभावपूर्वक प्रपन्न—शरणागत होनेसे ही इस अलौकिक रसकी प्राप्ति होती है। भगवान्—धर्मी रसात्मक हैं और उनके धर्म, भाव भी रसात्मक हैं। अर्थात् भगवान् और भगवद्धर्म जीव और जीवके धर्मकी अपेक्षा उत्तम हैं। इसलिये गोपियोंको 'वह कृष्ण, मैं कृष्ण'—इस प्रकार जो अखण्ड अद्वैत-ज्ञान होता है, वह जीवको होनेवाले अखण्डाद्वैतके अनुभवकी अपेक्षा उत्तम है। गोपियोंको जो ज्ञान होता है, वह केवल भगवत्कृपासे ही होता है, अतएव वह ज्ञान सात्त्विक जीवोंको होनेवाले अखण्डाद्वैतके अनुभवकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसीसे उद्धवजी-जैसे ज्ञानी भक्त भी—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।

अर्थात् व्रजकी सारी स्त्रियोंके पदके धूलि-कणको मैं अनेक बार वन्दना करता हूँ—यों कहकर शुद्ध पुष्टि-भक्त गोपाङ्गनाओंका उत्कर्ष सिद्ध करते हैं। इस प्रकारकी पुष्टिभक्ति परमभाग्यवान् भगवदीयोंको ही विरहात्मक तापक्लेशके द्वारा प्राप्त होती है।

उद्धवजीकी अनोखी अभिलाषा

उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

'मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! आह! यदि मैं ऐसा बन जाऊँ तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरण-धूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी। इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ! देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको ढूँढती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं।'

श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभुका भक्तिधर्म*

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम०ए०, बी० एल०)

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

'भगवान् व्रजेशनन्दन श्रीकृष्ण आराध्य हैं, वृन्दावन उनका धाम है; जो व्रजाङ्गना-वर्गके द्वारा आविष्कृत हुई है, वही सुन्दर उपासना है; श्रीमद्भागवत विशुद्ध प्रमाणग्रन्थ है तथा प्रेमा-भक्ति परम पुरुषार्थ है—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुका सिद्धान्त है और उसके प्रति हमारी परम श्रद्धा है ।'

कलि-मलसे दूषित इस युगमें कलिके दोषोंको दूर करके पावन करनेवाले, कलिके भयका नाश करनेवाले, श्रीगुरु एव वैष्णवोंके चरण-कमलोंका कीर्तन (गुणानुवाद), स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन करनेके बाद श्रीवैष्णवाचार्यवर्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती महाशयके द्वारा रचित इस सूत्ररूप श्लोकको मस्तकपर रखकर उसमें संक्षिप्तरूपमें दिये गये श्रीगौडीय वैष्णव-धर्मके मुख्य पाँच लक्षणोंकी ही सर्वप्रथम आलोचना की जाती है ।

पहले उपास्य-तत्त्वका ही निर्णय करना चाहिये । साथ ही उपासनामें उपास्य और उपासकका क्या सम्बन्ध होता है, इसका भी निरूपण आवश्यक है । जैसा उपासक होता है, उपास्य तत्त्व भी उसीके उपयुक्त होता है । अपनी-अपनी मनोवृत्तिके अनुसार मनुष्योंके अनेक भेद होते हैं । संक्षेपमें विद्वान् लोग उनको चार श्रेणियोंमें विभाजित करते हैं । श्रीरूप-गोस्वामी प्रभृति आचार्योंके मतसे वे हैं—अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी और भक्तियोगी ।

जो लोग जड इन्द्रियोंकी तुष्टिको ही जीवनका मूल उद्देश्य मानकर शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके स्वेच्छानुसार भोगसाधनमें रत होते हैं, उनमें कुछ तो सामाजिक मर्यादाकी रक्षाके लिये नीतिपरायण रहते हैं और कुछ दुर्नीतिका भी अनुसरण करते हैं। दोनोंका लक्ष्य होता है जड-भोग । वे अनीश्वरवादी होते हैं और कभी कभी समाजको दिखानेके लिये ईश्वरवादी बन जाते हैं । वे सब-के-सब प्रायः 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' —इस चार्वाक मतके माननेवाले होते हैं । वे नाना प्रकारके पाप और दुर्नीतिका आचरण करते हैं; [illegible] भय तो होता नहीं ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्ने [illegible]
योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो [illegible] ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।
(११ । [illegible])

'मनुष्योंके [illegible] लिये मैंने [illegible] और भक्ति—ये तीन प्रकारके योग [illegible] मिवा कहीं कोई [illegible] उपाय नहीं है ।'

परंतु अनीश्वरवादी इनमेंसे [illegible] भी [illegible] सुनना चाहते । ऐसे लोग [illegible] हैं । इन्हींको 'अन्याभिलाषी' कहते हैं । [illegible] नहीं होता । कोई-कोई घोर [illegible] दुष्क्रियाओंमें प्रवृत्त होनेके पूर्व ही, [illegible] कामनासे स्वकल्पित देवताकी पूजा करते हैं; [illegible] कहते हैं—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह [illegible] ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु [illegible] ॥
([illegible] ११ । २० । ७)

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार [illegible] भोग चाहनेवालोंके लिये कर्मयोग ही प्रशस्त मार्ग है । [illegible] कर्मयोगका अवलम्बन न करके जो [illegible] हैं, वे अन्याभिलाषी कहलाते हैं । [illegible] करके निष्काम कर्म करनेवाले श्रेष्ठ हैं । [illegible] मिति—(गीता ७ । १९) [illegible] ही प्रपन्न होते हैं । और जो [illegible] हैं, उनके विषयमें भगवान्के [illegible] योग्य हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः [illegible] ।
× × ×
अन्तवत्तु फलं तेषां [illegible] ।
देवान् देवयजो यान्ति [illegible]
[illegible]

[illegible] किंतु दूसरे देव[illegible] को प्राप्त होनेवाला फल भी [illegible] ।

* लेख बहुत बड़ा होनेके कारण इसका कुछ अंश छोड़ दिया गया है, [illegible] —[illegible]

...... क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
...... गतागतं कामकामा लभन्ते ॥
(गीता ९ । २१)

स्वर्गमें भी उनकी स्थिति अनित्य होती है। वेदमें भी स्वर्ग-सुखको क्षणिक कहा गया है—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ।
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
(कठोप० १ । १ । २६)

यह कठोपनिषद्में नचिकेताका वचन है। मुण्डकमें भी है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
(१ । २ । १०)

छान्दोग्यमें आया है—

तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते ।
एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते......॥
(८ । १ । ६)

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥
(११ । १० । २६)

अतएव सुखभोगकी कामनावाले पुण्यकर्मी भी नित्य कल्याणको नहीं प्राप्त होते। नाना प्रकारके देव-देवियोंकी सेवामें वे तुच्छ अनित्य फलको प्राप्त करते हैं। परंतु मद्भक्ता यान्ति मामपि—इस भगवद्वाक्यके अनुसार भगवद्-भक्त नित्य मङ्गल प्रदान करनेवाले भगवच्चरणारविन्दको ही प्राप्त होते हैं। इधर निष्कामकर्मी क्रमशः चित्त-शुद्धि लाभ करके शुद्ध भक्ति-मार्गमें चलनेका प्रयत्न करते हैं। अन्तमें श्रीहरिकी उपासनासे अनन्य भक्तिके फलस्वरूप निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं। कामकामी आवागमनके चक्करमें पड़ते हैं, उनकी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं होती—यह देखकर बुद्धिमान् पुरुष निर्वेदको प्राप्त होते हैं। वे निर्वेदके फलस्वरूप घर-द्वार छोड़कर ज्ञानयोगका आश्रय लेते हैं और केवल बोधकी प्राप्तिके लिये अति कठिन साधना करते हैं। इससे उनका चित्त जड भोगकी वासनासे रहित होकर निर्मल हो जाता है। इसके बाद यदि वे नित्य भगवद्भजनके मार्गपर नहीं चलते तो मुक्ताभिमानी होकर दम्भके कारण गिर जाते हैं और पुनः भोगके प्रति लोलुप बन जाते हैं। यही बात श्रीमद्भागवतकी ब्रह्म-स्तुतिमें सुस्पष्ट कर दी गयी है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(१० । २ । ३२)

तथा—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४)

भक्ति ही श्रेयका मार्ग है। निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसे तुष अर्थात् धानके छिलकेको कूटनेसे चावल नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार अभिन्नरूपसे ब्रह्मानुसंधानमें रत रहनेवाले साधकोंको क्लेश मात्र हाथ लगता है। वे किसी एक उपास्य देवकी आराधना नहीं करते, न वे ब्रह्मके अप्राकृत रूपको ही स्वीकार करते हैं, अपितु—साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना—इस सिद्धान्तके अनुसार कोई विष्णुकी, कोई शिवकी, कोई दुर्गाकी, कोई गणेशकी और कोई सूर्यकी अपने-अपने मतानुसार कल्पित मूर्तियोंमें पूजा करके पञ्चोपासक कहलाकर मूर्तिपूजक बनते हैं। परंतु वे भी इस प्रकारकी उपासनाके द्वारा निःश्रेयसको न प्राप्तकर तबतक दुःख भोगते हैं, जबतक भगवान्के श्रीचरणोंका आश्रय नहीं लेते। अतएव भक्तियोगके अभिलाषीको उपास्यका निर्णय करनेके लिये श्रीभगवान्की इस उक्तिका अनुसरण करना चाहिये—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(गीता १० । ८—११)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'बुद्धिमान् वे ही हैं, जो मुझ (भगवान्) को ही सबकी उत्पत्तिका कारण और सबका प्रवर्तक समझकर अनन्य भावसे मेरी (भगवान्की) उपासना करते हैं। वे मद्गतचित्त तथा मद्गतप्राण होकर एक दूसरेको मेरा ही तत्त्व समझाते, परस्पर मेरी ही चर्चा करते, मुझमें ही सतुष्ट रहते और मुझमें ही प्रीति करते हैं। उन नित्य-निरन्तर मुझसे जुड़े हुए तथा प्रेमपूर्वक मेरा ही भजन करनेवाले भक्तोंकी सुलभताके लिये मैं उन्हें बुद्धियोग प्रदान करता हूँ तथा उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता हूँ जिससे वे शुद्ध मेरी (भगवत्) सेवाको प्राप्त करते हैं।' यही जीवके लिये महान् निःश्रेयस है। यहाँ श्रीकृष्ण अपनी ही अनन्य भक्ति करनेकी शिक्षा दे रहे हैं।

भक्तियोगमें सुविरूढ साधक 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले' (भा० १।७।४)—के अनुसार भगवान्की नित्य चिन्मय मूर्तिको ध्यानके नेत्रोंसे देखते हैं और उस मूर्तिको अर्चामें प्रकट करते हैं। भक्तिके साधक अथवा जिनकी भक्ति सिद्ध हो चुकी है, ऐसे लोग भी उस मूर्तिकी शास्त्रोक्त विधिसे भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं। यह मूर्ति काल्पनिक नहीं होती और न पञ्चोपासकोंके समान फल-प्रदानपर्यन्त उसकी पूजा होती है। अतएव भक्तिमार्गके अनुयायियोंकी अर्चामें भगवत्पूजा होती है, मूर्तिपूजा नहीं होती। उनकी पूजामें विसर्जन नहीं होता।

अब कृष्णतत्त्वकी विवेचना करनी है। श्रीमद्भागवत (१।३।२८) में कहा गया है—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। ब्रह्मसंहिताका उद्घोष है—

> ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
> अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
> (५।१)

इससे प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण ही सर्वदेवेश्वरेश्वर हैं। वहीं यह भी कहा गया है—

> रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
> नानावतारमकरोद् भुवनेषु किंतु।
> कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
> गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
> (५।४५)

अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वय अंश-कलादिके रूपमें रामादि अवतार-विग्रहोंको धारण करते हैं। वे ही परम पुरुष हैं। गीता (१५।१५) में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। वेदमें श्रीकृष्णकी ही [illegible] परम तत्त्व व्यञ्जित होता है। जैसे ऋग्वेदमें

> ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति [illegible]।
> दिवीव चक्षुराततम्॥ [illegible]

सूर्यके आलोकसे दीप्तिमान् [illegible] फैलाकर देखनेपर ठीक-ठीक [illegible] परम तत्त्वको जाननेवाले [illegible] श्रीभगवान्के परम पदको निरन्तर देखते हैं, [illegible] करते हैं। वेदकी उपासना पद्धतिमें [illegible] दर्शनकी ही बात कही गयी है—

> आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। ([illegible] ४।५।६)

विष्णुधर्ममें लिखा है—

> प्रकृतौ पुरुषे चैव ब्रह्मण्यपि च स प्रभुः।
> यथैक एव पुरुषो वासुदेवो [illegible]॥

गीतामें भी श्रीभगवान् कहते हैं—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अर्थात् ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजी नारदजीसे कहते हैं—

> द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
> वासुदेवात्परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति [illegible]॥
> ([illegible])

अर्थात् भगवान् वासुदेव ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—सब कुछ हैं। उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। श्रीकृष्ण स्वविभूतियोंका वर्णन [illegible] उद्धवसे कहते हैं—

> वासुदेवो भगवतां त्वं तु [illegible]।
> ([illegible])

तथा गीतामें—

> यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत् तदेवावगच्छ त्वं मम [illegible]॥

इस प्रकारके श्रीकृष्णकी भगवत्ताके [illegible] के दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णलीलाके अनेक [illegible] ब्रह्माजीके मोहकी लीला तथा [illegible] की स्तुतिमें द्रष्टव्य हैं।

श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही [illegible] भजनीय तत्त्व हैं, यह वेदोंमें भी देखा [illegible]

यद्वैतत् सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तै० उ० २। ७। १)

अर्थात् सुकृतस्वरूप ब्रह्म ही रसस्वरूप है। इसको प्राप्त करके ही जीव आनन्दयुक्त होता है। यदि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप न होता तो कौन जीवित रहता, कौन प्राण-व्यापार सम्पादन करता।

आनन्दमय-विग्रह श्रीकृष्ण ही नित्य आनन्दकामीके लिये उपास्य हैं। गोपालतापनीय श्रुति(पूर्व० १३।१) भी कहती है—

गोपवेशं सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरं द्विभुजं वनमालिनमीश्वरम्।

तथा

कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्।

पुनः छान्दोग्य-उपनिषद्में लिखा है—

श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्ये। (८।१३।१)

इस मन्त्रमें परमानन्द-प्राप्तिकी सुगमताके लिये श्रीभगवान्‌की श्रीराधा-कृष्णरूप युगलमूर्तिका ध्यान करनेका निगूढ़ उपदेश है। इसका सरलार्थ यह है—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी प्रपत्तिके लिये उनकी ही स्वरूपशक्ति ह्लादिनी-सार-रूपा श्रीराधाका आश्रय लेता हूँ और श्रीराधाकी प्रपत्तिके लिये श्रीकृष्णका आश्रय लेता हूँ।'

इस प्रकार सक्षेपमें प्रमाणित हुआ कि भगवान् व्रजेश-नन्दन श्रीकृष्ण ही अनन्य-माधुर्याश्रित भक्तियोगावलम्बी साधकोंके एकमात्र उपास्य तत्त्व हैं तथा ऐश्वर्यभावाश्रित भक्तोंके उपास्य हैं—वासुदेव द्वारकाधीश अथवा मथुरानाथ अथवा उनके कायव्यूह श्रीविष्णु-राम-नृसिंहादि। श्रीचैतन्यमतानुयायी श्रीरूपानुग भक्त श्रीनन्दनन्दनकी ही उपासना करते हैं। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीमथुरा तथा श्रीद्वारकाधामके राजनीति-विशारद श्रीवासुदेवकी उपासनाका वैसा आदर्श नहीं उपस्थित किया, जैसा व्रजदेवी यशोदाके स्तनन्धय (बालक) की, नन्दव्रजमें श्रीदाम-सुदामा आदि गोपालोंके सखाकी, श्री-वृन्दावनलीलामें श्रीराधिका आदि गोपीजनोंके प्राणवल्लभकी, वंशीनिनादके सहारे श्रीगोप-गोपिकाओंको आकर्षित करनेवाले-मुरली-मनोहरकी तथा वहाँके तरु-लता, गिरि-नदी, मृग-खग आदिको आनन्दित करनेवाले गोप-बालक गोपाल श्रीकृष्ण-चन्द्रकी आराधनाका उपदेश दिया है। विशेषतः मधुर-रसास्वाद-तत्पर होकर अहर्निश श्रीश्रीराधाकृष्ण युगल स्वरूपके लीला-कीर्तन और स्मरणको ही प्रधानता देकर उन्होंने अपने अनुगामियोंके लिये अपना आदर्श श्रीधाम नवद्वीप मायापुरमें श्रीगौराङ्गरूपसे, श्रीनीलाचल-क्षेत्रमें श्रीकृष्ण-चैतन्यरूपसे पूर्णरूपेण प्रदर्शित किया है। अतएव उनके मतसे व्रजेशतनय श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं, यह सिद्धान्त निश्चय हुआ।

इसके बाद उनके धामका निर्णय किया जाता है। व्रजभूमिमें ही व्रजेशतनयकी लीला हुई—न मथुरामें हुई न द्वारकामें और न अन्यत्र। जब सूर्यग्रहणके बहाने श्रीकृष्ण नन्द-यशोदा एवं अन्यान्य गोप-गोपिकाओंसे मिले थे, उस समय न तो किसी व्रजवासी या व्रजवासिनीको न स्वयं श्रीकृष्णको ही वैसी प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता पहले व्रजमें मिलनेपर होती थी।

अब व्रजेशतनयकी उपासना-प्रणालीका वर्णन किया जायगा। उपासनाका लक्ष्य है उनकी प्रीति प्राप्त करना। वृन्दावनमें तथा लक्षणासे उसके साथ-साथ गोवर्द्धनमें और राधाकुण्डमें—इतना ही क्यों, समस्त व्रजभूमिमें मधुर-रसकी सेवा ही श्रीकृष्णको परम सुख प्रदान करती है। उसीकी यत्नपूर्वक साधना करनी चाहिये।

सभी मनुष्य एक दूसरेके साथ पाँच रसोंद्वारा सम्बन्धित हैं। उदाहरणके लिये कुछ सम्बन्धी हमारे ऐसे होते हैं, जो मन, वचन और शरीरसे हमारा आदर करते हैं। हमको देखकर, हमारी बातें सुनकर, हमारे विषयकी चर्चा करके उनको बहुत प्रसन्नता होती है, यद्यपि उनकी हमारे प्रति इतनी ममत्व-बुद्धि नहीं होती कि अपने सुखको त्यागकर वे हमारे सुखके लिये सदा प्रयत्न करें। हमारे प्रति उनकी प्रीति पूर्णतः क्रियाशीला नहीं होती। उनका हमारे साथ शान्त-रसका सम्बन्ध है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी होते हैं, जो रात-दिन निःस्वार्थ भावसे हमें सुख पहुँचानेवाले कार्य करते हैं। उनकी हमारे प्रति ममतामयी वृत्ति कार्यकरी होती है, जो शान्त-रसका आश्रय करनेवाले सम्बन्धियोंमें नहीं होती। ये लोग हमें अधिकतर प्रीति प्रदान करते हैं। ये हमारी दास्य-रससे सेवा करते हैं।

सख्य-रसके रसिक सखा इनकी अपेक्षा कहीं अधिक मात्रामें खेल आदिके द्वारा बराबरीके भावसे हमको अधिक गाढ़ी प्रीति प्रदान करते हैं।

माता-पितामें ममताकी अधिकता बहुल परिमाणमें होती है। वे दोनों वात्सल्य-रसद्वारा हमको पालनयोग्य

तथा शासनयोग्य समझकर सखाओंकी अपेक्षा भी अधिक गाढी प्रीतिसे हमारा पालन करते हैं।

सर्वोपरि ममताकी अधिकता अनन्यभावसे—एकीभावसे, तादात्म्यभावसे पुष्ट, कान्ताके माधुर्यसे उज्ज्वल श्रृङ्गार-रसमें दीख पड़ती है। स्वाङ्गपर्यन्त सर्वस्वका भी दान देकर ऐसी घनिष्ठ मधुर-रसमयी सेवा कहीं भी अन्य किन्हीं सम्बन्धियों या सखाओंमें सम्भव नहीं है। उनमें भी यदि यह प्रीति पारकीयभावसे अनुष्ठित होती है, तब इसके रसास्वादनमें उत्तमोत्तम माधुर्य-की पराकाष्ठा हो जाती है, यद्यपि किसी जीव विशेषके साथ यह आस्वादन सर्वथा निन्दनीय होता है।

वृन्दावनमें शान्तरसके आश्रय गौएँ, वेत्र, सींग मुरली, पर्वत, नदी, वृक्ष, यमुनातट, जल आदि श्रीकृष्णके सान्निध्य-में उनके आह्वान-स्वरसे अथवा वेणुनादसे सदा उत्फुल्ल रहते हैं, श्रीकृष्णके वियोगमें उनकी भी दशा शोचनीय हो जाती है। नन्दालयमें चित्रक, पत्रक, बकुलक आदि सेवक 'श्रीकृष्ण ही हमारे एकमात्र प्रभु हैं' यह मानकर अहैतुकी प्रीतिवश आदेश प्राप्त होनेके पहले ही अपने मनसे उनका अभीष्ट सम्पादन करते रहते हैं। वे शुद्ध दास्य-रसके आदर्श हैं। श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, सुबल आदि व्रज-गोपाल—जो क्रीडाभूमिमें श्रीकृष्णको ही अपनी पीठपर वहन नहीं करते, अपितु समय आनेपर स्वय श्रीकृष्णके कधेपर चढकर उनको आनन्दित करते हैं—विश्रम्भात्मक सख्य-रसके रसिकोंका उदाहरण स्थापित करते हैं। नन्द-यशोदा आदि वात्सल्यभाव से श्रीकृष्णके पालनमें रत रहते हैं। वे श्रीकृष्णको भगवान् जानकर भी पुत्र-स्नेहसे कभी विचलित नहीं होते, अपितु वात्सल्य-रसके द्वारा ही उनकी सेवा करते हैं। श्रीराधिका आदि किशोर अवस्थाकी गोपियाँ नानाविध श्रृङ्गार-रसके उपयुक्त परकीया-भावसे युक्त रास-विलास आदिसे श्रीकृष्णको सुख प्रदान करती हुई मधुररसाश्रित कान्तारूपसे श्रीवृन्दावन-लीलामें परिदृष्ट होती हैं। समस्त विश्वके एकमात्र भोक्तृतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णकी परकीया-भावसे सेवा सर्वोत्तमोत्तम है, गर्हणीया कदापि नहीं। मुनिवर मैत्रेयने श्रीविदुरसे यही बात कही है—

> सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
>
> (श्रीमद्भा० ३। ७। ९)

परकीयाभावकी प्रामाणिकताका विचार करते समय इस विषयकी आलोचना विस्तारसे की जायगी।

उपर्युक्त पाँचों रसोंके आश्रय व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णमें ही ऐकान्तिकी भक्ति थी, अन्यत्र कहीं भी न थी—यहाँतक कि उनके काय-व्यूहरूप श्रीविष्णुभगवान्में भी नहीं [illegible]। उनके लिये मुक्ति भी स्पृहणीय न थी। श्रीचैतन्य [illegible] रस शास्त्रकी विशेष शिक्षा पाये हुए श्रीरूपगोस्वामिपाद [illegible] भक्तिके सम्पुटरूप श्रीहरि-भक्ति-रसामृत[illegible] (पूर्वभागकी द्वितीय लहरीमें) लिखते हैं—

> किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
> नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि॥
> तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः।
> येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात्॥
> सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
> रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

मुक्ति व्रजवासियोंको [illegible] नहीं थी—[illegible] करते हुए श्रीजीव गोस्वामी—जो श्रीरूपके [illegible] गोस्वामियोंमें एक [illegible]—अपनी 'दुर्गमसङ्गमनी' [illegible] उपर्युक्त श्लोकोंकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

तत्र साक्षात् [illegible] गोविन्द. श्रीगोकुलेन्द्र., श्रीश परव्योमाधिप [illegible] त्वेन श्रीद्वारकानाथोऽपि। रसेन [illegible] उत्कृष्यते उत्कृष्टतया प्रकाशते। [illegible] स्थिति. स्वभाव [illegible]।

अर्थात् क्योंकि साक्षात् श्रीकृष्ण[illegible] वासियोंको परमानन्दकी प्राप्ति [illegible]। [illegible] अभिप्राय यहाँ श्रीगोकुलेन्द्रसे है [illegible] परव्योमके अधिपति और उपलक्षणसे [illegible] है। 'रस' शब्दका अभिप्राय [illegible] है। 'उत्कृष्यते' का अर्थ है उत्कृष्ट[illegible] क्योंकि उन रसकी [illegible] श्रीकृष्णरूपको ही उत्कृष्टरूपसे प्रकाशि[illegible]।

× × × ×

अतएव श्रीमद्भागवत[illegible] श्रीचैतन्यदेवने वृन्दावन[illegible] है। [illegible] श्रीमद्भागवत ही प्रमाण है—[illegible]।

श्रीमद्भागवतके [illegible]

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

वेद कल्पतरु हैं, ब्रह्मसूत्र उसके पुष्प हैं, श्रीमद्भागवत उसका रसमय मधुर फल है; क्योंकि—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद् रतिः क्वचित् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १३ । १५)

अर्थात् श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदान्त (उपनिषदों) का सार है, भागवतके रसामृतसे जो छक गया है उसकी अन्य किसी भी ग्रन्थमें प्रीति नहीं हो सकती । वही श्रीमद्भागवतरूपी फल जब चिज्जगत्‌में परिपक्वताको प्राप्त होता है, तब श्री-शुकदेवजी उसको पक्षिभावसे प्रपञ्चमें ले आते हैं । अतएव उसको 'शुकमुखात् अमृतद्रवसंयुतम्' कहा गया है । श्रीकृष्ण-लीला ही वह रस है । 'हे भगवत्प्रीतिरसज्ञ ! अप्राकृत रसकी भावनामें चतुर भक्तजन ! शुकके मुखसे निकले हुए इस परमानन्दनिर्वृतिरूप रसका मुक्तावस्थामें भी पुनः-पुनः नित्य पान करो ।' इस सुविमल भागवत-शास्त्रके विषयमें पुनः श्रीमद्भागवत- (१२ । १३ । १८) की ही घोषणा है—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

अर्थात् श्रीमद्भागवतपुराण दोषरहित है, वैष्णवोंका प्रिय ग्रन्थ है, जिसमें विशुद्ध और उत्कृष्ट पारमहंस्य-ज्ञानका गान हुआ है तथा जिसमें ज्ञान-विराग और भक्तिके साथ-साथ भगवत्सेवारूप नैष्कर्म्यका सिद्धान्त प्रकट किया गया है । उसको सुनने, सुस्वरसे पाठ करने तथा भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेसे मनुष्य भवत्सेवारूप-बन्धनसे छूट जाता है । अतएव श्री-मद्भागवतके विशुद्ध प्रमाण होनेमें कोई शङ्काका अवसर नहीं रह जाता । प्रबन्ध-विस्तारके भयसे अन्य प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं ।

अब यह विचार करना है कि परम पुरुषार्थ क्या है । कर्मी लोग त्रिवर्ग-कामी होते हैं । उनके प्रार्थनीय हैं—धर्म, अर्थ और काम । धर्माचरणके द्वारा वे उस पुण्यलोककी कामना करते हैं, जहाँ उन्हें बहुत-से भोग प्राप्त होनेकी आशा है । उनकी आकाङ्क्षाका वर्णन वेदमें भी आता है । जैसे—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
(कठोपनिषद् १ । १ । १२)

नचिकेता यमराजसे कहते हैं—'स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं है । वहाँ न तो तुम (यम) हो और न बुढापेका डर है । प्राणी भूख और प्यास दोनोंको पार करके शोकातीत होकर स्वर्गलोकके आनन्द भोगता है ।' परंतु नचिकेता भोगा-काङ्क्षाकी निवृत्तिके लिये स्वर्ग-सुखके अस्थायित्वको भलीभाँति स्थापित करता है—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।

अर्थात् आप अपने स्वर्गके अश्व आदि तथा नृत्य-गीत आदिको अपने पास ही रखिये; क्योंकि वहाँ (स्वर्ग) का भी जीवन अल्पकालीन ही है।

मुण्डकोपनिषद्‌में भी आता है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।
(१ । २ । १२)

अर्थात् ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न विद्वान् कर्मोंके द्वारा प्राप्त स्वर्गादि लोकोंको अनित्य जानकर (सकाम) कर्मोंके प्रति निर्वेद-को प्राप्त करता है । अतएव यज्ञ-यागादिके द्वारा धर्मसाधन परम पुरुषार्थ नहीं है ।

अर्थकामियोंकी भी आशा कदापि पूरी नहीं होती—इस बातको सभी जानते हैं और अनुभव करते हैं । अर्थार्जनमें दुःख होता है, उसके नाशमें ताप होता है, अर्थको लेकर आपसमें सदा झगड़ा-विवाद खड़ा हो जाता है, चोरीके भयसे तथा प्राण जानेके भयसे क्लेश होता है । अर्थकी जितनी वृद्धि होती है, उतनी ही अधिक उसकी प्राप्तिकी आशा भी बढ़ती है और अप्राप्तिमें दुःख होता है । अर्थके द्वारा सुखकी प्राप्ति कदापि नहीं होती । अर्थ सारे अनर्थोंका मूल है । श्रीमद्भागवतमें ही कहा है कि एक अर्थसे पद्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं । देखिये श्रीमद्भागवत ११ । २३ । १८-१९ ।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।

असली अर्थको छोड़कर संसारी पुरुष भोग-कामनाकी सिद्धिके लिये धनको ही अर्थ मानते हैं, जिससे सारे भोग-पदार्थोंका सग्रह हो सके। असली अर्थ क्या है, इसका निर्णय आगे किया जायगा।

काम भी सुखद नहीं होते। उनकी अप्राप्तिमें दुःख होता है। प्राप्तिके लिये चेष्टा भी दुःखप्रद होती है। प्राप्त होनेपर भी उनका उपभोग अल्पकालतक ही सीमित होता है। उपभोगके बाद उनकी सामग्रीका क्षय हो जाता है। यह और भी दुःखजनक होता है। अर्थ-प्राप्तिकी आशाके समान भोग-कामना भी उपभोगके द्वारा क्रमशः बढती है, उससे कभी परितृप्ति नहीं होती। राजा ययातिने परम अभिज्ञ होकर इस सत्यकी सम्यक् उपलब्धि की थी—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
> एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
> यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
>
> (विष्णु-पुराण ४। १०। २३-२४)

भोगसे काम शान्त नहीं होता, वरं घृताहुतिके द्वारा अग्निके समान उत्तरोत्तर बढता ही जाता है। जगत्में जितनी भी भोगकी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब एक भी कामी पुरुषको पर्याप्त प्रीति नहीं प्रदान कर सकतीं। अतएव काम भी भोग-साधक अर्थके समान ही सुखदायी नहीं है, बल्कि अति दुःखदायी है।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गको ही परम पुरुषार्थ माननेवालोंको शाश्वत और निर्मल सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्हें सुखका जो आभास मिलता है, वह भी क्षणिक और दुःखमिश्रित होता है। त्रिवर्गके द्वारा कभी निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य कदापि इनका अनुसरण करके दुर्लभ मानव-जन्मको नहीं खोते। श्रीभगवान्ने कहा है—

> लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
> मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
> तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
> न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

'जड रूप-रस-गन्ध शब्द-स्पर्शके मूल हैं—विषय। वे कीट आदि समस्त शरीरोंमें स्वतः प्राप्त होते हैं। इनके लिये यत्न करना आवश्यक नहीं है। परंतु मानव-देह अनेक जन्मोंमें भी प्राप्त होना कठिन है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष विषयके अनुसंधानमें व्यर्थ ही इसको नष्ट न करके [illegible] निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये श्रीभगवदनुशीलन करे।'

स्वर्ग-सुखकी प्राप्तिके लिये [illegible] [illegible] त्रिवर्गके अनुयायी धर्म करते हैं। [illegible] उनकी निन्दा की गयी। परंतु असली धर्म अन्य ही प्रकारका है, [illegible] धर्म है। उसका फल [illegible]। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्यायमें आया है—

> स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
> अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥ ६॥
>
> × × × ×
>
> धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां [illegible]
> नोत्पादयेद् यदि रतिं [illegible]॥ ८॥
> धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य [illegible]।
> नार्थस्य धर्मैकान्तस्य [illegible]॥ ९॥
> कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो [illegible]।
> जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो [illegible]॥ १०॥
>
> × × × ×
>
> स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य [illegible]॥ १३॥

जिससे अधोक्षज [illegible] हो, [illegible] धर्म है। इस भक्तिमें जड भोगोंकी [illegible] आत्माकी प्रसन्नता [illegible]। जिस धर्मानुष्ठानसे भगवत्कथा [illegible] नहीं उत्पन्न होती, [illegible]। यह परम धर्म जीवोंको [illegible] द्वारा प्राप्त अर्थका [illegible] द्वारा इन्द्रिय-प्रीति प्राप्त होती है। [illegible] आदिका तात्पर्य होती है।'

धर्म-अर्थ और कामसे [illegible] पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए [illegible] कोई प्रयत्न नहीं करते। [illegible] वाले मोक्षकी भी [illegible] है कि उनकी [illegible] श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभु [illegible] निर्मल रूपसे सुन्दर [illegible] —

> न धनं न जनं न सुन्दरीं
> [illegible] [illegible] कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्तोंको चतुर्वर्गकी लालसा नहीं होती; धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको वे पुरुषार्थ ही नहीं मानते ।

स्वरूपतः जीव नित्य कृष्ण-दास है, इसके सिवा सब कुछ छल है । इसीमें श्रीचैतन्यके अनुयायियोंके 'अचिन्त्य-भेदाभेद' नामक दार्शनिक सिद्धान्तका बीज निहित है । श्रीचैतन्य-चरितामृतमें आया है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास ।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥
× × × ×
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसार-सुख ॥
× × × ×
मायामुग्ध जीवेर नाइ कृष्णस्मृति ज्ञान ।
जीवेर कृपाय करू कृष्ण वेद पुराण ॥
कृष्णप्राप्ति सम्बन्ध भक्तिप्राप्तिर साधन ।
अतएव भक्ति कृष्ण प्राप्तिर उपाय ।
अभिधेय वलि तारे सर्व शास्त्र गाय ॥
वेदशास्त्रे कहे सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन ।
कृष्ण कृष्णभक्ति प्रेम महाधन ॥

नित्य कृष्ण-दास्य ही जीवका स्वरूप है । यह भेदाभेद-प्रकाशके द्वारा श्रीकृष्णकी तटस्था शक्तिरूप है । श्रीकृष्ण विभुचित् हैं । जीव अणुचित् है । दोनोंका चेतनतारूप धर्म होनेके नाते अभेद है । परतु श्रीकृष्ण विभु हैं और जीव अणु है, इस दृष्टिसे उनमे भेद है । चिदचित्के बीच जीवकी स्थिति जल और स्थलके बीच तटकी स्थितिके समान है । श्रीकृष्णकी चिच्छक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके परिणामस्वरूप चिदचिद्-रूप जीव-जगत्का आविर्भाव होता है । जीव कृष्णको भूलकर अनादिकालसे कृष्णबहिर्मुख है । अतएव माया उसको सांसारिक सुख प्रदान करती है, जो तत्त्वतः दुःख ही है । मायामुग्ध जीवको कृष्णस्मृतिजनित ज्ञान नहीं है । श्रीकृष्णने जीवके प्रति दया-परवश होकर वेद-पुराणोंकी रचना की । वेद सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनको बतलाते हैं । कृष्ण-प्राप्ति ही सम्बन्ध है; कृष्णभक्ति अभिधेय है और कृष्ण-प्रेम प्रयोजन है । जीवके स्वरूप आदिके सम्बन्धमें यही महाप्रभुका मत है, जो शास्त्रसम्मत भी है ।

अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवत्प्रेम ही जीवका निःश्रेयम मङ्गल है । भगवान्ने श्रीमद्भागवत (११ । २० । ६) में मनुष्यके कल्याणके लिये तीन ही उपाय बतलाये हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति । इस निबन्धमें दिखलाया जा चुका है कि ज्ञान और कर्मकी उपयोगिता निःश्रेयसकी प्राप्तिमें नहीं है । सच तो यह है कि भक्तिके बिना वे दोनों ही अपना-अपना फल प्रदान करनेमे असमर्थ हैं । ज्ञान-कर्मके फलकी प्राप्तिके लिये जो भक्ति की जाती है, वह ज्ञान-कर्म-प्रधान मिश्रा भक्ति है । भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये केवला भक्ति ही समर्थ होती है, मिश्राभक्ति नहीं । वह ऊर्जित (तेजस्विनी) एवं और एक (अनन्या) होती है । श्रीभगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २०-२२)

अर्थात् केवल भक्तिके बिना अन्य साधनोंके द्वारा भगवत्प्रेमप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है । श्रीनारदजीकी उक्तिसे अन्यत्र भी यही ध्वनित होता है—

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः ।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधा युषा ॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १०–१२)

उत्तम भक्तका लक्षण नारदपाञ्चरात्रमें इस प्रकार बतलाया गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भक्तिरसामृतसिन्धु- (पूर्व विभाग, प्रथम लहरी) मे भी आया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

दोनों श्लोकोंका एक ही भाव है । दूसरे श्लोकमे भक्तिका लक्षण बतलाते हैं कि अनुकूल भावसे श्रीकृष्णकी सेवा ही भक्ति

है। श्रीकृष्णको जो प्रवृत्ति रुचती हो, उसीमें उनकी अनुकूलता है। असुरोंद्वारा प्रतिकूल भावसे अनुशीलन भक्ति नहीं है।

अतः श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका जो भक्तिधर्म है, वह कृष्णसेवाके अन्तर्गत शुद्धभक्तिमूलक है। वह भक्ति चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें सहायता करनेवाली मिश्रभक्ति नहीं है। वह तो स्वरूपावस्थामें स्थित जीवका नित्यकृत्य—श्रीकृष्णसेवा है, जो वह श्रीकृष्णप्रेमकी साधिका है। यह प्रेम-धर्म आदि, मध्य और अन्तमें श्रीभगवन्नामकीर्तनके सहयोगसे ही करना चाहिये। कलिमें नाम-सङ्कीर्तन ही युगधर्म है। श्रीनाम-कीर्तनके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है; क्योंकि नाम नामीसे अर्थात् श्रीकृष्णसे अभिन्न है। पद्मपुराणमें लिखा है—

> नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
> पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

अतएव श्रीकृष्णके समान नाम भी जड-स्पर्शसे शून्य, नित्यमुक्त, चिद्रसविग्रह, चिन्तामणिके समान अभीष्ट प्रदान करनेमें समर्थ है। ऋग्वेदमें आता है—

> ॐ आऽस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते
> विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत्सत्।
> (१।५।६।३)

अर्थात् हे विष्णो! तुम्हारा नाम चित्स्वरूप है, अतएव महः—स्वप्रकाशरूप है। इसलिये उसके विषयमें अल्पज्ञान रखते हुए भी उसका उच्चारणमात्र करते हुए सुमति अर्थात् तद्विषयक ज्ञान हम प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—

> कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
> कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
> कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
> (१२।३।५१-५२)

कलियुगी जीवोंकी ध्यान-यज्ञ अर्चना योग्यताके अभावसे निष्फल हो जाती हैं, नाम-सङ्कीर्तनसे ही उनमें निःश्रेयस-प्राप्तिकी योग्यता आती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। बृहन्नारदीय पुराणमें ठीक ही लिखा है—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

श्रीचैतन्य चरितामृत (आदिलीला, परिच्छेद १७) में श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा की गयी इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार उद्धृत है—

> कलिकाले नामरूपे [illegible]
> नाम हैते हय सर्व [illegible]
> दार्ढ्य लागि हरेर्नाम [illegible]
> जड लोक बुझाइते [illegible]
> केवल शब्दे [illegible]
> ज्ञान योग तप कर्म [illegible]
> अन्यथा ये माने तार [illegible]
> नाहि नाहि नाहि ए तिन [illegible]

अर्थात् कलिमें नामके रूपमें श्री[illegible] है; नामसे सम्पूर्ण चराचरका निस्तार होता है। [illegible] 'हरेर्नाम' की तीन बार आवृत्ति की गयी है। [illegible] समझानेके लिये पुनः 'एव' का प्रयोग [illegible] फिर 'केवल' शब्दका और भी निश्चय [illegible] है। उससे ज्ञान—योग-तप कर्म आदिका [illegible] है। जिसकी ऐसी मान्यता नहीं है, उसका [illegible] है। 'एव' के साथ 'नास्ति, नास्ति, नास्ति' [illegible] इसीका पूर्ण समर्थन किया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रीचैतन्यचरितामृत[illegible] चतुर्थ परिच्छेदमें भी श्रीमन्महाप्रभुका [illegible] है—

> कुबुद्धि छाडिया [illegible]
> अचिरात् पाबे तबे [illegible]॥
> नीचजाति नहे कृष्ण-भजने [illegible]
> सत्कुल विप्र नहे भजनेर [illegible]॥
> येइ भजे सेइ बड़, [illegible]
> कृष्ण-भजने नाहि जाति-कुलादि [illegible]
> दीनेरे अधिक [illegible]
> कुलीन पण्डित-धनीर [illegible]॥
> भजनेर मध्ये [illegible]
> कृष्ण-प्रेम कृष्ण दिते धरे [illegible]॥
> तार मध्ये [illegible]
> निरपराधे नाम [illegible]

अर्थात् कुबुद्धि (तर्कबुद्धि) [illegible] इनके करनेसे शीघ्र ही कृष्ण प्रेम [illegible] वर्णमें पैदा होनेसे ही कोई भजनके [illegible] विपरीत सत्कुलमें उत्पन्न [illegible] भी नहीं है। जो भजनमें [illegible] अभक्त है, वही हीन—छोटे [illegible] है। [illegible]

दया करते हैं। कुलीन, पण्डित और धनी लोग बड़े अभिमानी होते हैं। (अतएव वे भजन-विमुख होनेके कारण अपराधी हैं।) भजनमें नवधा भक्ति श्रेष्ठ है। वह कृष्ण-प्रेम तथा स्वयं श्रीकृष्णको प्रदान करनेमें शक्तिशालिनी होती है। उसमें भी नाम-संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है। साधु-निन्दा आदि दस अपराधोंका त्याग करके नाम लेनेपर प्रेम-धन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें कुन्ती महारानी श्रीकृष्णसे कहती हैं—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥
(१।८।२६)

श्रीभगवान् अकिंचनको ही प्राप्त होते हैं, अभिमानीको नहीं। श्रीमन्महाप्रभुने 'शिक्षाष्टक' के तृतीय श्लोकमें कीर्तन-प्रणालीका उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'तृणसे भी अधिक नम्र होकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु बनकर, स्वयं मानकी अभिलाषासे रहित होकर तथा दूसरोंको मान देते हुए सदा श्रीहरिके कीर्तनमें रत रहे।'

श्रीहरि-नाम-कीर्तन करनेवालोंमें चार प्रकारकी योग्यता होनी चाहये। वे दीन रहें, परंतु कपट-दैन्य प्रशंसनीय नहीं है। राजा अम्बरीषके समान सब प्रकारका वैभव होनेपर भी तथा उपर्युक्त कुन्ती महारानीके वचनानुसार सुन्दर कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और श्रीसम्पन्न होकर भी मद-अभिमानसे शून्य रहे। जैसे वृक्ष घाम-शीत-वृष्टि आदिके द्वारा प्राप्त क्लेशको धैर्यपूर्वक सहकर भी, कुल्हाड़ीसे काटकर बहुत क्लेश देनेवालेको भी फल-पुष्प-छाया आदिके द्वारा सुख पहुँचाता है, कीर्तन करनेवालेको भी उसी प्रकार धैर्यशील और तितिक्षावान् होना चाहिये। सर्वगुण-सम्पन्न होकर भी अपनेको सम्मानके योग्य न समझे। सबके भीतर अन्तर्यामीरूपसे श्रीकृष्ण ही विराजमान हैं, यह स्मरण रखकर सभीको सम्मान प्रदान करे।

अन्तमें संकीर्तन-गुणावलीका वर्णन करनेवाला श्रीमन्महाप्रभुके शिक्षाष्टकका प्रथम श्लोक हमारे गुरुवर प्रभुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती महाराजकी व्याख्याके साथ उद्धृतकर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है—

चेतोदर्पणमार्जनं (१) भवमहादावाग्निनिर्वापणं (२)
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं (३) विद्यावधूजीवनम्। (४)
आनन्दाम्बुधिवर्धनं (५) प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं (६)
सर्वात्मस्नपनं (७) परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

यहाँ 'संकीर्तन'से सर्वतोभावेन कीर्तन—यह अर्थ निकलता है, जिसमें अन्य किसी साधनकी अपेक्षा न हो। इसीके द्वारा सम्यग् विजय प्राप्त होती है। इसीसे सारी अप्राकृत सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमेंसे सात विशेष सिद्धियाँ यहाँ कही जाती हैं। (१) नाम-संकीर्तन जीवके मलिन चित्त-दर्पणको शुद्ध करके निर्मल कर देता है। प्रभु-विमुख होनेके कारण कर्मियोंमें फल-भोगकी स्पृहा और ज्ञानियोंमें फल-त्यागकी स्पृहा रहती है। इन दोनों प्रकारकी स्पृहारूपी प्राकृत मलसे बद्ध जीवका चित्त-दर्पण आवृत रहता ही है; उस आवरणरूपी मलको दूर करनेके लिये श्रीकृष्ण-संकीर्तन ही एकमात्र उपाय है। श्रीकृष्णके कीर्तनसे जब चित्त-दर्पण निर्मल हो जाता है, तब जीव माया-मुक्त होकर अपने स्वरूप अर्थात् श्रीकृष्णके दास्यभावको स्पष्टरूपसे प्राप्त कर लेता है। (२) बाहरसे संसार सुखद दीखनेपर भी भीतरसे जलते हुए घने जंगलके समान है, जिसमें रहनेवाले श्रीकृष्ण-विमुख जीव सदा त्रितापोंसे जलते रहते हैं। श्रीकृष्णके सम्यक् कीर्तनसे ही कृष्णोन्मुखता प्राप्त होकर शान्तिरूप जलसे त्रितापका शमन कर देती है। (३) अन्याभिलाष तथा कर्म-ज्ञानादिसे मङ्गलकी इच्छा ही अज्ञानरूपी अन्धकार है। कुमुदको आह्लाद देनेवाली ज्योत्स्नाके समान श्रीकृष्णका संकीर्तन अज्ञान-तमका निवारण करके परम मङ्गलरूप शोभा वितरित करता है। (४) मुण्डकोपनिषद्में परा-अपरा-भेदसे विद्या दो प्रकारकी कही गयी है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनके प्रभावसे जीव अपरा (लौकिकी) विद्यासे मुक्त होकर परा-विद्या अर्थात् श्रीकृष्ण-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव वह विद्यारूपी वधूका जीवन है। (५) श्रीकृष्ण-संकीर्तनसे ही जीवका अप्राकृत ज्ञान-सिन्धु प्रबलतापूर्वक बढ़कर अखण्ड आनन्द प्रदान करता है। (६) श्रीकृष्ण-संकीर्तन पद-पदपर अप्राकृत रसमाधुर्यका आस्वादन प्रदान करता है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

स्यात् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किंत्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद् भवति तद्गदमूलहन्त्री॥
(उपदेशामृत श्लो० ६)

'अहा! जिसकी रसना अविद्या-पित्तसे तप्त है, उसे

श्रीकृष्ण-नाम-गुण-चरितादिरूप सुमिष्ट मिश्री भी रुचिकर नहीं होती। किंतु यदि श्रद्धापूर्वक उसका निरन्तर सेवन किया जाय तो क्रमशः उसका अविद्या-रोग प्रशमित होता है, नाममें रस आने लगता है और रुचि बढ जाती है। (७) उपाधि-ग्रस्त जीव नाना प्रकारके स्थूल-सूक्ष्म मालिन्यसे युक्त होता है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनसे जडाभिनिवेशज वे सारे मल धुल जाते हैं और जीव श्रीकृष्णोन्मुख होकर सुदुर्लभ श्रीकृष्ण-पाद-पद्म-सेवाको प्राप्त करता है।

'ज्ञानेश्वरी' और 'दासबोध' में भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, न्याय-वेदान्ताचार्य)

'कल्याण' के भक्ति-अङ्कमें भक्तिपर अनेक विशिष्ट विद्वान् अपने-अपने विचार और अनुभव उपस्थित करेंगे। मैं कोई वैसा विद्वान् नहीं और न अनुभवी ही हूँ। दर्शनका साधारण विद्यार्थी और शब्दब्रह्मका ककहरा शुरू करनेवाला भक्तोंकी चरण-धूलिका कृपाकाङ्क्षी ठहरा! फिर भी 'भक्ति' पर लिखनेकी उत्कण्ठा विशेष जोर पकड़ रही थी। सामने श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी 'ज्ञानेश्वरी' और श्रीसमर्थ रामदास स्वामीका 'दासबोध' रखा था। दृष्टि पड़ते ही मनमें एक विलक्षण-सा धैर्य आ गया। अंधेको लाठी नहीं, लाठियाँ मिल गयीं। अब इन्हीं ग्रन्थरत्नोंके डॉड़ोंसे इस अपनी क्षुद्र बुद्धि-तरीको भक्ति-सागरके पार ले जानेके लिये निकल पड़ा हूँ। भक्तोंके आशीर्वादकी अनुकूल वायु और गुरुनाथकी पतवारका सहारा मिला तो निश्चय ही अपने यत्नमें सफल होऊँगा। हाँ, तो अब भूमिका छोड़ लेखना ही आरम्भ करता हूँ।

श्रीज्ञानदेव भगवान्‌के ही भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं—"कपिध्वज! मेरे उस स्वाभाविक प्रकाशको ही लोग 'भक्ति' कहते हैं। आर्तोंमें वही आर्ति, जिज्ञासुओंमें वही जिज्ञासा और अर्थार्थियोंमें वही अर्थादि नाम पाती है। इस प्रकार ये मेरी तीनों भक्तियाँ अज्ञानको लेकर ही चलती हैं। वे मुझे देखनेवालेको देखनेके पदार्थपरसे दिखाती हैं। यहाँ मुँहसे ही मुँह दीखता है, यह कहना गलत न होगा। पर यह मिथ्या द्वितीयत्व जो दीखता है, वह दर्पणकी ही करामात है। वास्तवमें वृत्ति-ज्ञानद्वारा मैं ही स्वयं दीखता हूँ। फिर भी उसमें दृश्य-स्वरूप-भेद रहता ही है। वही दृश्यत्व मिटते ही मेरा मैं ही अपनेको प्राप्त होता हूँ। 'चौथी' तो इसे यों ही कहा है, पर है यह 'पहली' ही। इसीलिये हाथ उठाकर, बड़े विश्वासके साथ मैंने तुमसे कहा कि 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है।'"

"कल्पके आदिमें रहनेवाली यही उत्तम भक्ति 'भागवत' के निमित्तसे मैंने ब्रह्मदेवको बतायी। ज्ञानी इसे अपनी 'ज्ञान-कला' कहते हैं। शिवोपासक इसे 'शक्ति' और हम लोग इसे 'परम भक्ति' कहा करते हैं। यह भक्ति कर्मयोगी तभी पाते हैं, जब वे मुझसे आकर मिल जाते हैं। तब चारों ओर मैं-ही-मैं भरा रहता हूँ। उस समय विचारके साथ विवेक और मोक्षके साथ बन्ध लुप्त जाता है, पुनरावृत्तिके साथ वृत्ति भी डूब जाती है तथा जीवभावके साथ ईश्वरभाव भी मिट जाता है। जिस तरह आकाश चारों भूतोंको निगल जाता है, उसी तरह अन्तिम, साध्य-साधनसे परे और शुद्ध उस अपने पदको एकरूप होकर मैं ही भोगता हूँ। [illegible] यह भक्त उस समय मद्रूप होकर बिना विचारे मुझे उसी तरह भजता है, जिस तरह लहरें सभी अङ्गोंसे पानीका उपभोग करती हैं, प्रभा बिम्बमें सर्वत्र विलसित होती है या जिस तरह आकाशमें अवकाश लोटता रहता है। इस तरह [illegible] उसे [illegible] पसद नहीं पड़ती, फिर भी उसकी क्रियाओंसे भजन होता ही है। कैसे! यह तो अनुभवका विषय है, बोलकर बतानेकी वस्तु नहीं।"

> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
> (१८।५५)

उपर्युक्त गीतावचनका ज्ञानदेवने यही अर्थ बताया है, जो ऊपर रखा गया है।

निरूपणकी इस चरम चोटीपर पहुँचकर [illegible] जब साधनाकी उपत्यकामें उतरते हैं, तब [illegible] भगवान्‌के शब्दोंका ही भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं—'[illegible] जिस दिशामें हो उसी [illegible] चले [illegible] रोको और न भोगोंसे ही [illegible] अभिमान भी मत लाओ। [illegible] कुलधर्मका [illegible] करने योग्य हो, उन्हें करो और न करने योग्य हो, उन्हें

मत करो । इस प्रकार सुखसे आचरण करनेकी तुम्हें पूरी छूट है; किंतु शरीर, वाणी, मनसे जो कर्म करो उन्हें 'मैं करता हूँ' यह मत कहो । जो परमात्मा विश्वको चलाता है, वह जानता ही है कि कौन कर्म करनेवाला है और कौन नहीं । यह कर्म कम किया और यह अधिक—इस विषयमें *हर्ष-विषाद मत मानो । कारण, जैसे प्राचीन संस्कार होंगे,* वैसे ही कर्म होंगे । इतना तो अपने जीवनका सार्थक्य कर लो । माली जिधर ले जाय, पानी उधर ही जाता है । उसी तरह तुम बन जाओ । इस प्रकार करनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिका बोझ बुद्धिपर नहीं पड़ता और चित्त-वृत्ति मुझमे स्थिर हो जाती है । क्या रथ कभी यह सोचता है कि यह मार्ग सीधा है *या टेढ़ा ?* इस तरह थोड़ा-बहुत जो भी कर्म बन पड़े, चुपचाप मुझे अर्पण करते जाओ । यदि अन्तकालतक ऐसी ही सद्भावना बनी रही तो तुम मेरे सायुज्य-सदनको प्राप्त हो जाओगे ।'

वे ही ज्ञानदेव 'राजविद्या-राजगुह्य' प्रकरणमें सगुणभक्तिकी महिमा भी पूरी शक्तिसे बखानने लगते हैं । वे भगवान्‌के भावसे कहते है—'अर्जुन ! जो महात्मा बढते हुए प्रेमसे मुझे भजते हैं, जिन्हें मनसे भी द्वैत-भाव छू नहीं जाता, जो मद्रूप होकर मेरी सेवा करते हैं, उनकी सेवामें जो विलक्षणता होती है, वह सचमुच सुनने योग्य है । ध्यान देकर उसे सुनो ।

'वे हरिकीर्तनके लिये प्रेमसे श्रृङ्गार करके नाचते हैं, उनके प्रायश्चित्त आदि सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं । कीर्तन उनमें पापोंका नाम भी रहने नहीं देता । वे यम या मनोनिग्रह और दम या बाह्येन्द्रिय-निग्रहको निस्तेज कर देते हैं । तीर्थ अपने स्थानसे च्युत हो जाते हैं और यमलोकके सारे व्यापार रुक जाते हैं । यम कहने लगता है कि 'हम किसका नियमन करें ?' दम कहने लगता है कि 'किसे जीतें ?' तीर्थ कहने लगते हैं कि 'किसका उद्धार करें' क्योंकि दोष जो थे, वे दवाके लिये भी नहीं बचे । इस प्रकार वे भक्त मेरे नाम-घोषसे ससारके सभी प्राणियोंके दुःख दूर कर देते हैं । और सारा जगत् ब्रह्मसुखमें उछलने-कूदने लगता है ।

'वे साधु प्रभात हुए बिना ही जीवोंको प्रकाश (आत्मज्ञान) प्राप्त करा देते हैं । अमृतके बिना ही प्राणियोंके जीवोंका रक्षण करते हैं और योग-साधनाके बिना ही मोक्षको आँखोंके सामने खड़ा कर देते हैं । वे राव और रकमें भेद नहीं करते । छोटा और बडा कुछ नहीं पहचानते । इस तरह वे जगत्‌के लिये भेदरहित आनन्दका स्रोत बन जाते हैं । वैकुण्ठको जानेवाला क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है । इन साधुओंने तो यहीं सब जगह वैकुण्ठ ला दिया है ।

'मेरे जिस नामका मुखसे उच्चारण होनेके लिये सहस्रों जन्म मेरी सेवा करनी पड़ती है, वही नाम इनकी वाणीपर सकौतुक नाचा करता है । मैं एक बार वैकुण्ठमें भी न मिलूँ, सूर्यमण्डलमें भी न दीख पड़ूँ, योगियोंके मनको भी लाँघकर चला जाऊँ और भी भले ही कहीं न मिलूँ; पर उनके पास तो अवश्य मिलता हूँ, जो सदैव मेरा नाम धारण किये रहते हैं । वे देश-कालको भूलकर मेरे नाम-कीर्तनके योगसे अपनेमें ही सुखी और तृप्त रहते हैं । मेरा ही गुणगान करते चराचर सृष्टिमें विचरते रहते हैं, बीच-बीचमें आत्मचर्चा भी करते हैं ।

'फिर वे कितने ही पञ्चप्राण और मनोंको जीतकर उनसे जयपत्र प्राप्त कर लेते हैं । बाहरसे यम-नियमोंका घेरा डालकर भीतर मूलबन्धका किला तैयार करते हैं और उसपर प्राणायामकी तोपें लगा देते हैं । फिर कुण्डलिनीको ऊर्ध्वमुख करके उसके प्रकाशमें मन और प्राणकी अनुकूलता (सहायता) द्वारा चन्द्रामृत या सत्रहवीं कलाके अर्थात् परिपूर्ण ज्ञानरूपी अमृतके कुण्डको कब्जेमें कर लेते हैं । उस समय प्रत्याहार बडी ही शूरताके साथ सपरिवार काम-क्रोधादि विकारोंको धराशायीकर इन्द्रियोंको बाँध हृदयके भीतर ले आता है । इतनेमें धारणारूप घुड़सवार चढाई करके पञ्चभूतोंकी एकता कर देते और सकल्पकी चतुरङ्ग सेना (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) को नष्ट कर देते हैं । फिर जय-जयकारपूर्वक ध्यानकी दुन्दुभि बजने लगती है और तन्मयवृत्तिका एकछत्र राज्य प्रकाशित हो उठता है । फिर समाधिलक्ष्मीके सिंहासनपर आत्मानुभवके राज्यसुखका ऐक्यरूपसे पट्टाभिषेक होता है । अर्जुन ! मेरा भजन ऐसा गहन है । अब और भी लोग किस-किस तरह मेरा भजन करते हैं, यह सुनो ।

'जैसे वस्त्रके दोनों छोरोंतक आड़ा और खड़ा एक ही जातिका सूत्र रहता है, वैसे ही वे चराचरमें मेरे स्वरूपके बिना किसी भी वस्तुको स्वीकार नहीं करते । छोटे-बड़े, सजीव-निर्जीवका भेद त्यागकर दृष्टिमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुको मद्रूप समझकर जीवमात्रको प्रेमसे नमस्कार करना उन्हें प्रिय लगता है । वे सदैव गर्वशून्य होते हैं, नम्रता ही उनकी सम्पदा होती है । वे जय-जयकार

करके सभी कर्म मुझे समर्पित कर देते हैं। नम्रताका दृढ अभ्यास करते हुए उन्हें मानापमानका ध्यान नहीं रहता। इस कारण वे सहसा मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार मद्रूप होकर भी सदैव मेरी ही उपासना किया करते हैं।' ज्ञानेश्वरने अपना यह हृदय—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(९।१४)

—गीतोपनिषद्के इस मन्त्रके व्याख्यानमें रख दिया है।

भगवान् अर्जुनसे (गीता १४।२६में) कहते हैं कि 'अर्जुन! जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है, वह सत्त्व, रज, तम—इन गुणोंको भलीभाँति जीतकर ब्रह्मरूप बनने योग्य हो जाता है।' यहाँ मैं कौन, मेरी भक्ति किस प्रकार की जाय, अव्यभिचारी भक्ति क्या वस्तु है—इसकी व्याख्या करते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं।

'अर्जुन सुनो! इस जगत्में मैं इस प्रकार स्थित हूँ कि रत्नका तेज जैसे रत्नमें होता है, अर्थात् वह रत्नसे पृथक् नहीं है, जैसे पतलापन और जल, अवकाश और आकाश या मिठास और शक्कर अभिन्न हैं, वैसे ही मैं जगत्से अभिन्न हूँ। जैसे अग्नि ही ज्वाला है, कमलपत्र ही कमल है, शाखा-पल्लव आदि ही वृक्ष हैं, वैसे ही जिसे विश्व कहते हैं वह सब मद्रूप ही है। इस तरह मुझे विश्वसे अलग न कर ऐक्यरूपसे पहचानना ही अव्यभिचारी भक्ति है। लहरें छोटी ही क्यों न हों, वे समुद्रसे भिन्न नहीं होतीं। इसी तरह ईश्वर और मुझमें कोई भेद नहीं है। इस तरह जब साम्यभाव और ऐक्यभावकी दृष्टि विकसित होती है, तभी हम उसे 'भक्ति' कह सकते हैं। ऐसी स्थिति हो जानेपर तो जैसे नमककी डली समुद्रमें गल जानेपर उसे अलग गलानेके लिये कहना नहीं पड़ता, या जैसे अग्नि तृण—घास-फूस जलाकर स्वयं शान्त हो जाता है, उसी तरह भेद बुद्धिको नष्टकर यह 'सोऽहं' वृत्ति भी नहीं रहती। मेरे बड़प्पनकी और भक्तके छोटेपनकी भावना नष्ट हो जाती और दोनोंका अनादिकालसे चला आता हुआ ऐक्य ही सामने खड़ा हो जाता है। इस जगत्में ऐसे लक्षणोंसे युक्त जो मेरा भक्त होता है, ब्राह्मी अवस्था उसकी पतिव्रता बनकर रहेगी। इस प्रकार ज्ञान दृष्टिसे जो मेरी सेवा करता है, वह [illegible] मुकुटका रत्न बन जाता है।'

ज्ञानदेव महाराजने भक्तिको जिस स्तरपर [illegible] पहुँचा दिया है, वह अब अन्य सन्तोंकी [illegible] हमारी दृष्टिसे 'ज्ञानेश्वरीकी भक्ति' पर [illegible] प्रकाश डाल सकता है।

ऊपर श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी दृष्टिसे [illegible] मीमांसा की गयी। श्रीज्ञानेश्वरके नाथ-पन्थी होनेसे उनके [illegible] पर योग और ज्ञानकी पूरी छाप पड़ना [illegible] और वैसा हुआ भी है। किन्तु श्री[illegible] शुद्ध भक्तिसाम्प्रदायिक होनेसे उनका [illegible] और ही ढंगका है। तीन [illegible] अभङ्गोंसे उनके [illegible] पृष्ठ-भूमि देख फिर उनके भक्ति निरूपण[illegible] अवलोकन किया जायगा।

पहले अभङ्गमें वे कहते हैं—'अरे! [illegible] वह अपनी वस्तु ले ही जायगा। [illegible] कहता है। बिना प्र[illegible]के तूने जीवन [illegible] जिसमें तू परलोकसे चूक गया। [illegible] नहीं की और अब [illegible] रहा है। इसलिये अब भी [illegible] भजन कर [illegible]!'

दूसरेमें वे कहते हैं—'[illegible] भी [illegible] नहीं बनती। फिर भक्तिकी भावना [illegible] एक बातका भी निश्चय नहीं। मन [illegible] किसी एक देवको नहीं मानता [illegible] फलतः मन [illegible] बन गया [illegible] कहाँ। श्रीरामदास कहते हैं कि [illegible] शून्य है।'

अन्तिम अभङ्गमें श्रीसमर्थने [illegible] बता दिया है—[illegible] दुष्कलाएँ ही हैं—[illegible] इसलिये उनके [illegible] सार्थक हो जाता है और [illegible] रामदास कहते हैं कि [illegible] इसी पृष्ठभूमिपर [illegible]।

दासबोधमें [illegible] निरूपण है। [illegible] अध्याय ५ और [illegible] में [illegible] भक्तिका ही [illegible]।

श्रवण-कीर्तन [illegible] भजन [illegible] भक्ति है। [illegible]

निर्गुण उभयरूप होनेसे उसकी सगुण लीलाओंको सुननेसे सगुण भक्ति-भावका उद्दीपन होता है और अध्यात्म-श्रवणसे ज्ञानबोध होता है। इस तरह श्रवण-भक्तिसे ज्ञान और भक्ति दोनोंका लाभ होता है। साधनाके सभी मार्गों और उनके सभी साधनों तथा यथासाध्य संसारकी सभी विद्याओं, कलाओं एवं तत्त्वोंकी बात सुनिये और उनमेंसे सार ले लीजिये तथा असार त्याग दीजिये। इसीका नाम श्रवण है। सगुणका वर्णन और निर्गुणका अध्यात्मज्ञान सुनकर उसमेंसे 'विभक्ति' (दृश्यमान जीव-शिवका भेद) त्याग 'भक्ति' (अद्वैत या तादात्म्य) को खोज निकालना ही समर्थकी दृष्टिमें श्रवण-भक्ति है।

कीर्तन—सगुण हरिकथा करना, भगवान्की कीर्तिका प्रसार करना और वाणीसे श्रीहरिके नाम-गुणोंका कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है। कीर्तनकारको चाहिये कि वह बहुत-सी बातें कण्ठस्थ करे। निरूप्य विषयका अर्थ भी याद रखनेका प्रयत्न करे। निरन्तर हरिकथा करे, उसके बिना कभी न रहे। हरिकी गूँजनसे सारा ब्रह्माण्ड भर दे। कीर्तनसे परमात्मा संतुष्ट होता है, अपने जीको समाधान मिलता है और बहुतों-के उद्धारका मार्ग खुल जाता है। कलियुगमें कीर्तनसे ये तीन बड़े लाभ हैं। कीर्तनमें संगीतका भी पूर्ण समावेश रहे। वक्ता भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लक्षण बतलाये, स्वधर्म-रक्षा-के उपाय सुझाये, साधनमार्गको सँभालकर अध्यात्मका निरूपण करे। लोगोंके मनमें किसी तरहका संशय बढ़े, ऐसी एक भी बात न कहनेकी सावधानी रखे। अद्वैतका निरूपण करते समय यह सतर्कता रहे कि कहीं सगुणका प्रेम टूट न जाय। वक्ताका अधिकार बहुत बडा है। निश्चय ही छोटा या साधारण व्यक्ति वक्ता नहीं हो सकता। उसे अनुभवी होना ही चाहिये। वह सब बाजुओंको सँभालकर ज्ञानका निरूपण करे, जिससे वेदाज्ञाका भङ्ग न होते हुए लोग सन्मार्गगामी बनें।'

समर्थ स्पष्ट कहते हैं कि जिससे यह न सध पाये, वह इस पचड़ेमें कभी न पड़े और केवल भगवान्के सामने सप्रेम उनके गुणानुवाद गाये। यह भी कीर्तन-भक्ति ही है। देवर्षि नारद सदैव कीर्तन करनेके कारण नारायणरूप माने जाते हैं। कीर्तनकी महिमा अगाध है।' .

स्मरण—भगवान्का अखण्ड नाम-स्मरण और समाधान पाना स्मरण-भक्ति है। नित्य नियमसे सर्वदा नाम-स्मरण करना चाहिये। सुख या दुःख किसी भी समय बिना नामके न रहे। सब प्रकारके सांसारिक काम करते हुए भी नाम-स्मरण चलता रहे। नामसे सारे विघ्न दूर होते, सभी सांसारिक बाधाएँ मिटतीं और अन्तमें सद्गति प्राप्त होती है। नामकी महिमा श्रीशंकरजी जानते हैं। इसीके सहारे वे हालाहल विषके प्रभावसे छूट गये। काशीमें मरनेवालोंको वे इसी रामनामका उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं। नामके प्रतापसे सागरपर पत्थर तैर गये, प्रह्लाद भक्त-शिरोमणि बना और व्याधा आदिकवि हो गया। नाम-स्मरणका अधिकार चारों वर्णोंको है। वहाँ छोटे-बड़ेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये मनमें भगवान्के रूपका ध्यान करते हुए अखण्ड नाम-स्मरण किया जाय। यही नामभक्ति है।

पादसेवन—मोक्ष-प्राप्तिके लिये शरीर, वाणी और मनसे सद्गुरु-चरणोंकी सेवा करना पादसेवन-भक्ति है। जन्म-मरणका चक्कर छुड़ानेके लिये सद्गुरुकी शरण जाना अनिवार्य है। ब्रह्मस्वरूपका परिचय सद्गुरु ही कराते हैं। वस्तु चर्म-चक्षुओंको नहीं दीखती। मन उनका आकलन नहीं कर पाता और असङ्ग हुए बिना उसका अनुभव भी नहीं होता। अनुभव लेने जाते हैं तो सङ्ग (त्रिपुटी) खड़ा हो जाता है। बिना सङ्ग-त्यागके अनुभव नहीं होता। सङ्ग-त्याग, आत्मनिवेदन, विदेहस्थिति, अलिप्तता, सहजावस्था, उन्मत्तता और विज्ञान—ये सातों एक रूप ही हैं। समाधि-सुखको दिखानेवाले ये सात संकेत हैं। ये और ऐसे ही अन्य सभी अनुभवके अङ्ग पाद-सेवनसे ही समझमें आते हैं। इसीलिये यह गुरुगम्य मार्ग है। कहा जाता है कि सत्सङ्गसे सब कुछ हो जाता है। पर वह औपचारिक बात है। तथ्य यह है कि सद्गुरुके चरण दृढ़तासे पकड़ने चाहिये। तभी उबार होगा। यही पाद-सेवन-भक्ति है। यही सायुज्य मुक्तितक पहुँचा देती है।

अर्चन—भगवान्की पूजा अर्चन-भक्ति है। वह शास्त्रोक्त होनी चाहिये। घरके बड़े-बूढ़े जिन्हें पूजने आयें, उनका पूजन करना अर्चन-भक्ति है। संक्षेपमें शरीर, वाणी, मन और चित्त, वित्त और जीवन, सब कुछ बेचकर सद्भावपूर्वक भगवान्का अर्चन करना—यह अर्चन-भक्ति है। भगवान्की तरह ही गुरुकी भी अर्चा करनी चाहिये। यदि ऐसी पञ्चोपचार, षोडशोपचार, चतुष्षष्टि-उपचार या असंख्य उपचारोंसे पूजा करनेकी शक्ति न हो तो मनसे ही उन सारे पदार्थोंकी कल्पना करके बड़े भावसे मानस-पूजा करनी चाहिये। वह भी अर्चन-भक्तिमें आ जाती है।

वन्दन—देवताकी प्रतिमा, साधु-संत और सद्गुरुको साष्टाङ्ग नमस्कार या यथाविधि नमन वन्दन-भक्ति है। सूर्य, अन्य देवता एवं सद्गुरुको साष्टाङ्ग और दूसरोंको साधारण नमस्कार किया जाय। जिसमें विशेष गुण दीखें, उसे सद्गुरुका अधिष्ठान मानें। इससे नम्रता आती है, विकल्प नष्ट होते और साधु-संतोंसे मित्रता होती है। इससे चित्तके दोष मिटते और नष्ट हुआ समाधान भी पुनः बन जाता है। नमस्कारसे पतित भी पावन हो जाते हैं, सद्बुद्धि विकसित होती है। इससे बढ़कर शरणागतिका दूसरा सरल मार्ग नहीं। किंतु वह अनन्य भावसे अर्थात् निष्कपट होकर करना चाहिये। साधकोंके शरणमें आते ही साधुओंको उनकी चिन्ता लग जाती है और फिर वे उन्हें स्वस्वरूपमें स्थित कर देते हैं।

दास्य—देवद्वारपर सदा सेवाके लिये तत्पर रहना, प्रत्येक देवकार्य सोत्साह पूरा करनेके लिये तैयार रहना, देवताके ऐश्वर्यको सँभालना, उसमें कमी न पड़ने देना और देवभजनका रंग बढ़ाना दास्य-भक्ति है। देवालयोंका निर्माण तथा जीर्णोद्धार, पूजनका प्रबन्ध, उत्सव-जयन्तियाँ मनाना, वहाँ आनेवालोंका आतिथ्य और भगवान्के सामने करुणस्तोत्र पढ़कर सबको आन्तरिक संतोष देना दास्य-भक्ति है। यह सब प्रत्यक्ष साधनेकी शक्ति न हो तो मानस दास्य ही करें। देवताकी तरह सद्गुरुकी भी दास्यभक्ति की जाय।

सख्य—देवताके साथ परम सख्य सम्पादन करना, उसे प्रेमसूत्रमें बाँध लेना और जो-जो उसे प्रिय हो, उसे करना सख्य-भक्ति है। देवके साथ सख्य-स्थापनार्थ अपना सारा सौख्य छोड़ना और सर्वस्व लगाकर उससे विलग न होना सख्य है। इस तरह सख्यभक्तिसे भगवान्को बाँध लेनेपर फिर तो वह भक्तकी सारी चिन्ता स्वयं करता है। लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जलनेसे किसने बचाया? अपना अभीष्ट सिद्ध न होनेपर भगवान्से अप्रसन्न होना सख्य नहीं। भगवान् बड़े दयालु हैं। कहीं शायद अपने पुत्रकी हत्या करनेवाली कोई माता चाहे मिल जाय; पर अपने भक्तको भगवान्ने नष्ट कर दिया हो, यह तो कहीं देखा और न कभी सुना ही गया। प्रेमका निर्वाह करना तो भगवान् ही जानते हैं। इसी तरह गुरु भी सख्यभक्ति करने योग्य हैं, यह शास्त्र-वचन है।

आत्मनिवेदन—भगवान्के चरणोंमें अपने आपको समर्पित कर देना ही आत्मनिवेदन है। 'मैं कौन, भगवान् कौन और उसे कैसे समर्पण किया जाय'—इन सबका समर्थने विस्तृत विवेचन किया है। संक्षेपमें वे कहते हैं—'अपने आपको 'भक्त' कहना और भगवान्को 'विभक्तता'से भजना बड़ी ही अटपटी बात है। 'भक्त' कभी विभक्त नहीं और 'विभक्त' भक्त नहीं। देव कौन, यह अपने अन्तरमें ही खोजे। मैं कौन—इसके निश्चयार्थ जिस तत्त्वसे पिण्ड-ब्रह्माण्डका विस्तार हुआ, उसका विचार करे। जिन तत्त्वोंसे पिण्ड बना, उन्हें विवेकसे मूलतत्त्वोंमें विलीन करे, तो स्पष्ट समझमें आ जायगा कि इन तत्त्वोंमें 'मैं' नहीं। इसी तरह पिण्डके तत्त्वोंको मूल अद्वितीय तत्त्वमें क्रमशः विलीन कर देनेपर 'मैं' शेष ही नहीं रहता और इस प्रकार आत्मनिवेदन सहज ही सध जाता है। बिना आत्मनिवेदनके जन्म-मरणका चक्कर छूट नहीं सकता। इसीसे सायुज्य-मुक्ति मिलती है। सायुज्य-मुक्ति कल्पान्तमें भी विचलित नहीं होती। ब्रह्माण्डके नष्ट होनेपर भी सायुज्य-मुक्ति नष्ट नहीं होती। भगवद्भजनसे चारों प्रकारकी मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।'

श्रीज्ञानेश्वर महाराज और श्रीरामदास स्वामी महाराजके इस भक्तिनिरूपणका विहंगम-अवलोकन करनेपर—जिसमें उसके स्वरूप और प्रकार दोनोंका ही संक्षिप्त, पर सारगर्भ विवेचन है—भगवद्भक्त श्रीमधुसूदन सरस्वतीके इस श्लोकका रहस्य समझमें आ जाता है—

> नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
> परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
> निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
> तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि॥

सचमुच भक्तियोग नवरसोंसे मिलकर बना [illegible] दशम रस है और 'रसो वै सः'—यह श्रुति यही कहती है। यह स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। चारों पुरुषार्थोंसे भिन्न है। सुख-साधक होनेसे वे पुरुषार्थ कहे जाते हैं; किंतु भक्ति तो सुखस्वरूप होनेसे परम पुरुषार्थ है। वह निरुपम सुख और ज्ञानरूप तथा त्रिविध दुःखोंसे अस्पृष्ट है। भला, ऐसे अलौकिक योगको कौन नहीं चाहेगा।

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—श्रीयुत आर० महालिङ्गम् एम० ए०, बी० एल०)

श्रीशंकराचार्यके मतानुसार एक बुद्धिमान् मनुष्यके जीवनका उद्देश्य होना चाहिये—आत्मसाक्षात्कार । हमारे भीतर जो आत्मा है—बस, वही एकमात्र सत्य है और वही परमात्मा है। किंतु 'अहम्', 'इदम्' इत्यादिकी मिथ्या उपाधियों-के पीछे अपनेको छिपाये हुए यह जगत्में विचरण करता है। इस अध्यासका कारण है हमारी अविद्या या अज्ञान, जिससे हमे मुक्त होना है। हम अविद्यासे क्यों और कैसे मोहित हो रहे हैं, इसकी मीमांसा व्यर्थ है। इस कठोर सत्यको हमे स्वीकार कर लेना है कि हम अविद्याके बन्धनमे हैं और इससे छूटनेके लिये ही हमें चेष्टा करनी है। श्रुति, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्रोके अनुरूप निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण करनेके अतिरिक्त श्रीशंकराचार्यने उस साधन-पद्धतिका भी संकेत किया है, जिसका अनुसरण करके हम अविद्यासे छूट सकते है और फलतः भगवत्साक्षात्कार प्राप्त करके 'अहम्' तथा 'इदम्' इत्यादिकी भ्रान्त धारणासे सर्वदाके लिये मुक्त हो सकते है।

सोनेके अँगूठीके रूपमे ढाले जानेकी भाँति किसी वस्तुका आकार धारण करना उसका एक उपाधिसे उपहित होना है, इसलिये श्रीशंकराचार्य परमात्मा अथवा आत्माको उसकी नाना अभिव्यक्तियोंसे अधिक महत्त्व देते हैं। हम उनको 'अनात्म-श्रीविगर्हण प्रकरणमे' इस प्रकारकी घोषणा करते हुए पाते हैं—

धातुर्लोकः साधितो वा ततः किं
विष्णोर्लोको वीक्षितो वा ततः किम् ।
शम्भोर्लोकः शासितो वा ततः किं
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत् ॥

'जिसने अपने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, उसने ब्रह्मलोक भी प्राप्त कर लिया तो क्या हुआ, उसे वैकुण्ठका दर्शन मिल गया तो क्या हुआ। उसका कैलासपर प्रभुत्व जम गया तो क्या हुआ।'

परमात्मा अर्थात् आत्माके साक्षात्कारके लिये आवश्यक गुणोंमे श्रीशंकराचार्य भक्तिको प्रथम स्थान देते है। किंतु उनकी भक्ति एक निराले ढगकी है। वे हमारी त्रुटियोंको पहचानते है और भक्तिके विभिन्न स्तरोंका विवेचन करते हैं—साधककी भक्तिका अलग तथा सिद्धकी भक्तिका अलग। उनके मतानुसार भक्तिके विना भगवत्साक्षात्कार असम्भव है। विवेकचूडामणिमें वे कहते है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

'मोक्षप्राप्तिके साधनोमें भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है।'

वे इसको कितना महत्त्व देते हैं, यह बात 'एव' शब्दके प्रयोगसें विदित हो जाती है। पुनः 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार-संग्रह' मे वे लिखते हैं—

यस्य प्रसादेन विमुक्तसङ्गाः
शुकादयः संसृतिबन्धमुक्ताः ।
तस्य प्रसादो बहुजन्मलभ्यो
भक्त्यैकगम्यो भवमुक्तिहेतुः ॥

'भव-बन्धनसे छुडानेवाली वस्तु उनकी कृपा है, जो अनेक जन्मोके साधनके बाद एकमात्र भक्तिके द्वारा प्राप्त होती है। उनकी इसी कृपासे शुकदेवादि सङ्गरहित होकर भवबन्धनसे मुक्त हो सके है।'

'भक्त्यैकगम्यः' पद इस बातपर जोर देता है कि केवल भक्ति ही मुक्तिका वास्तविक कारण है। वे 'प्रबोधसुधाकर'मे भी कहते हैं—

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते ।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः ॥

'श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी भक्ति किये बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। जैसे गदा कपडा क्षारके जलसे स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार चित्तके मलको धोनेके लिये भक्ति ही साधन है।'

ऊपर केवल थोड़े-से उद्धरण ऐसे दिये गये है, जो इस बातको बतलाते है कि श्रीशंकराचार्य भक्तिको कितना महत्त्व देते हैं।

आत्मसाक्षात्कार ही जीवनका असली ध्येय है। अतः श्रीशंकराचार्यके मतसे सर्वोत्कृष्ट भक्ति वही है, जो आत्मा एवं परमात्माको अभिन्न मानकर की जाती है। विवेक-चूडामणिमे भक्तिकी परिभाषा वे इस प्रकार करते है—

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ।
स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः ॥

"अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान ही 'भक्ति' कहलाती है। कोई-कोई आत्मतत्त्वके अनुसंधानको ही भक्ति कहते हैं।"

ये परिभाषाएँ उनके लिये उपयुक्त हो सकती हैं, जो ऊँचे उठे हुए पुरुष हैं, संन्यासी हैं या संसारके सम्बन्धोंको तोड़कर या तोड़नेकी चेष्टामें रत रहकर निरन्तर आत्मविचारमें संलग्न रहते हैं अथवा संसारके बन्धनोंके तोड़नेके प्रयासमें लगे हुए हैं। किंतु श्रीशंकराचार्य भक्तिके अन्य स्तरोंको भी स्वीकार करते हैं। इसीलिये 'शिवानन्दलहरी'में भक्तिकी दूसरे ढंगसे परिभाषा करते हुए उसे भगवान्‌के प्रति एक मानसिक वृत्ति किंवा क्रिया बतलाते हैं—

अङ्कोलं निजबीजसंततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम्।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते॥

"जैसे अङ्कोल वृक्षके बीज मूलवृक्षमें, सुई चुम्बकमें, पतिव्रता अपने पतिसे, लता वृक्षसे, नदी सागरसे जा मिलती है, उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ भगवान्‌के चरण कमलोंको प्राप्तकर उनमें सदाके लिये स्थिर हो जाती हैं, तब उसे 'भक्ति' कहते हैं।"

अतएव भगवान्‌के प्रति चित्तकी एक विशेष प्रकारकी वृत्तिका नाम ही भक्ति है और उपर्युक्त परिभाषामें आचार्यने जो पाँच उदाहरण दिये हैं, वे भक्तिके विभिन्न स्तरोंके द्योतक हैं, जिनका पर्यवसान नदी और सागरकी भाँति दोनोंके पूर्ण मिलनमें ही है। अन्तिम स्तरपर व्यक्तिगत सत्ता चरम सत्तामें विलीन हो जाती है।

श्रीशंकराचार्यकी दृष्टिमें विश्वमें केवल एक ही सत्य वस्तु है और वह है ब्रह्म। समस्त देवता उन्हींकी अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीशंकराचार्यने स्तोत्रोंके रूपमें अनेक उत्कृष्ट पद्यसमूहोंकी रचना करके भक्ति-साहित्यको समृद्ध बनाया है—उनमेंसे कुछ स्तोत्र भावभरी उक्तियोंकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं तो कुछ शुद्ध बौद्धिक भक्तिकी दृष्टिसे। प्रथम प्रकारके स्तोत्रोंके सर्वश्रेष्ठ उदाहरणोंमें 'शिवानन्दलहरी' एवं 'सौन्दर्यलहरी'के नाम लिये जा सकते हैं तथा दूसरे प्रकारके उदाहरणोंमें 'हरिमीडे' और 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र'का। प्रायः जितने भी देवताओंको हमलोग सामान्यतया जानते हैं, उन सबका ध्यान तथा उनकी प्रार्थना उन्होंने की है—यहाँतक कि गङ्गा और यमुना आदि नदियोंको भी उन्होंने तीव्र भक्ति-भावसे पुकारा है; किंतु एक बात जो इन सब स्तोत्रोंमें पायी जाती है वह एकदम स्पष्ट है। जैसा पहले कहा जा चुका है, जिन किसी भी देवताको ले लीजिये, श्रीशंकराचार्यने उनको परमपुरुष, परमात्माकी ही अभिव्यक्ति माना है और हमीं हम उनको नाम तथा रूपकी अपेक्षा तत्त्वपर अधिक ध्यान देते हुए पाते हैं। चाहे शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश या कोई अन्य देवता हों, हम देखते हैं, उनकी प्रार्थनाका लक्ष्य है—सर्वव्यापी आत्मतत्त्व। गणेशभुजङ्गप्रयातस्तोत्रमें हमें निम्नलिखित अर्थपूर्ण पद मिलता है—

यमेकाक्षरं - निर्मलं निर्विकल्पं
गुणातीतमानन्दमाकारशून्यम्।
परं पारमोंकारमाम्नायगर्भं
वदन्ति प्रगल्भं पुराणं तमीडे॥

'जिनको लोग एक, अक्षर, निर्मल, निर्विकल्प, गुणातीत, निराकार, आनन्द, परमपुरुष, प्रणव और वेदगर्भ कहते हैं, उन प्रकृष्ट एवं-पुराणपुरुषकी मैं अर्चना करता हूँ।'

देवीकी प्रार्थना करते समय वे कहते हैं—

शरीरे धनेऽपत्यवर्गे - कलत्रे
विरक्तस्य सद्देशिकादिष्टबुद्धेः।
यदाकस्मिकं ज्योतिरानन्दरूपं
समाधौ भवेत्तत्त्वमस्यम्ब सत्यम्॥

'मा! तुम वही सत्य हो, जिसका ज्ञान एवं आनन्दके रूपमें सद्गुरुके उपदेशसे निर्मल हुई बुद्धिवाला कोई भाग्यवान् पुरुष शरीर, धन, पुत्र एवं कलत्रसे विरक्त होकर समाधिमें दर्शन करता है।'

विभिन्न देवताओंके प्रति श्रीशंकराचार्यकी उपर्युक्त भावनाके अनुसार, चाहे जिस देवताकी वे अर्चना करते हों, वह है सर्वोपरि सत्ता; क्योंकि उन उन रूपोंमें उनकी प्रार्थनाके लक्ष्य परमात्मा ही हैं। अतः देवताके नाम और रूपके दृष्टिकोणको गौणता प्रदान करनेके लिये अन्य देवताओंको उस अवसरके लिये गौण स्थान दे दिया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य देवताओंको उन्होंने किसी भी प्रकारसे हीन माना हो। देखिये शिवानन्दलहरीमें शिवजीको परमपुरुषको किस प्रकार सम्बोधित करते हैं—

सहस्रं वर्तन्ते जगति विबुधाः क्षुद्रफलदा
न मन्ये स्वप्ने वा तदनुसरणं तत्कृतफलम्।
हरिब्रह्मादीनामपि निकटभाजामसुलभं
चिरं याचे शम्भो शिव तव पदाम्भोजभजनम्॥

'संसारमें क्षुद्र फल देनेवाले सहस्रों देवता हैं। मैं

ध्रमें भी उनकी अथवा उनके दिये हुए फलोंकी परवा हीं करता। परंतु निकट रहनेवाले विष्णु और ब्रह्मादिके ल्ये भी दुर्लभ आपके चरणकमलोंकी भक्तिको हे शिव! म्भो! मैं आपसे सदा माँगता हूँ।'

त्रिपुरसुन्दरी-मानसपूजा-स्तोत्रमें वे पुनः कहते हैं—

वेधाः पादतले पतत्ययमसौ विष्णुर्नमत्यग्रतः
शम्भुर्देहि दृगञ्चलं सुरपतिं दूरस्थमालोकय।
इत्येवं परिचारिकाभिरुदिते सम्माननां कुर्वती
दृग्द्वन्द्वेन यथोचितं भगवती भूयाद्विभूत्यै मम॥

'ये ब्रह्मा आपके चरणोंपर गिर रहे हैं, आगे विष्णु नमस्कार कर रहे हैं; यहाँ शम्भु हैं, उन्हें अपने कटाक्षसे कृतार्थ कीजिये; दूर खड़े हुए इन्द्रपर भी दृष्टिपात कीजिये—परिचारिकाओंसे इस प्रकार सुनकर सबको यथोचित सम्मान देती हुई भगवती मेरा कल्याण करें।'

परमात्मा सभी नाम-रूपोंके ऊपर तथा मन और इन्द्रियोंसे परे हैं, अतएव श्रीशंकराचार्य देवताके बाह्य नाम-रूपकी अपेक्षा हमारी भक्ति अथवा चित्तवृत्तिको अधिक प्रधानता देते हैं। भक्तिका पर्यवसान साक्षात्कारमें होता है और भक्तिकी ही हमें साधना करनी है। इसलिये श्रीशंकराचार्य मनुष्यके हृदयको भगवान्‌का मन्दिर तथा भगवत्साक्षात्कारका स्थान माननेपर अधिक जोर देते हैं। उन्हें खोजनेके लिये बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये वे श्रीकृष्णाष्टकमें कहते हैं—

असूनायम्यादौ यमनियममुख्यैः सुकरणै-
र्निरुद्ध्येदं चित्तं हृदि विलयमानीय सकलम्।
यमीड्यं पश्यन्ति प्रवरमतयो मायिनमसौ
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

'यम-नियम आदि श्रेष्ठ साधनोंके द्वारा पहले प्राणोंका निरोध करके तथा चित्तको वशमें करके एवं सब कुछ हृदयमें विलीन करके श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग जिन वन्दनीय, मायापति, शरणद एवं लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, मेरी आँखें बस, उन्हींको देखा करें।'

अतएव उनके श्रीकृष्ण केवल द्वापरयुगमें अवतार लेनेवाले श्रीकृष्ण ही नहीं हैं, वरं वे भगवान् हैं जिनको योग-के द्वारा हृदयदरीमें खोजना पड़ता है।

श्रीशंकराचार्यकी भक्ति केवल भावुकताके ढंगकी नहीं है, जो मिथ्या विश्वाससे प्रेरित अथवा निरी स्वार्थमूलक होती है। उनकी भक्ति ज्ञानके द्वारा परिमार्जित एवं सुसंस्कृत है। भक्ति एक प्रकारकी सहज मानसिक वृत्ति है, जो अनेक जन्मोंतक उचित दिशामें सतत प्रयत्न करनेके बाद भगवान्‌की दयासे परिपक्व होती है। हठपूर्वक इसे पैदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि केवल हठ करनेसे कोई प्रेमी नहीं बन सकता। भक्तिका सावधानीसे उचित प्रणालीद्वारा पोषण करना होता है। इसका आरम्भ तथा जन्म होता है विश्वका नियन्त्रण करनेवाली शक्तिके रूपमें भगवान्‌की सत्तापर अनन्य तथा अखण्ड विश्वाससे। श्री-शंकराचार्यके अनुसार जगत्‌से असम्पृक्त तथा निर्लेप रहते हुए भी भगवान् विश्वके शासक एवं नियन्ता हैं। यही वह मूल आधार है, जिसपर श्रीशंकराचार्य भक्तिका प्रासाद खड़ा करनेका आग्रह करते हैं। जो सच्चा भक्त बनना चाहता है, उसे इस बातका सदा याद रखना चाहिये कि 'ईश्वर विश्वको नियन्त्रणमें रखते हैं तथा विश्वको सुचारुरूपसे चलानेके लिये उन्होंने नियम बना रखे हैं। ऐसे ईश्वरकी जीती-जागती उपस्थितिका पहले अनुभव होने लगना चाहिये, भले ही उनके यथार्थ लक्षणोंके सम्बन्धमें उसकी धारणा अस्पष्ट और अनिश्चित हो। 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीशंकराचार्य भक्तिके विषयमें विस्तारसे विचार करते हैं। वे भक्तिको दो श्रेणियोंमें विभाजित करते हैं—

स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा।
प्रारम्भे स्थूला स्यात् सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च॥

'भक्ति स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकारकी कही गयी है। पहले स्थूल भक्ति होती है और फिर उसीसे बादमें सूक्ष्म-भक्तिका उदय होता है।'

ईश्वर एवं उनकी सत्ताके विषयमें हमारी धारणा पहले अस्पष्ट हो सकती है। सूर्य एक तेजोमय देवता है, जो बिना किसी भेदभावके सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंपर अपना प्रकाश बिखेरता है; किंतु यदि कोई अंधा व्यक्ति ठीक सूर्यके नीचे खडा हो, तब भी उसका अन्धत्व सूर्यकी सत्ताका ज्ञान प्राप्त होनेमें उसके लिये बाधक होगा। सूर्यको देखनेके लिये उसे अपने अन्धत्वसे मुक्ति पानी होगी तथा किसी चक्षु-चिकित्सकमें विश्वास रखकर उसके आदेशोंको मानना पड़ेगा। यदि हम ईश्वरकी सत्तामें तथा उनके द्वारा प्रचारित नियमोंमें विश्वास रखनेका दम भरते हैं, पर यदि हम उनके नियमोंका पालन नहीं करते तो हमारा भक्त कहलाना केवल दम्भ है। इसलिये श्रीशंकराचार्यके मतानुसार सच्चा भक्त बननेके लिये जो साधन-पथ है, उसमें पहली बात है—ईश्वरके नियमोंका निर्विवाद पालन।

लीला-रस-रसिक भगवान् शंकराचार्य

अनन्य कृष्णभक्त आचार्य मधुसूदन सरस्वती

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'स्थूल भक्ति' के अङ्गोंको गिनाते हुए पहली सीढ़ी वे इसीको बताते हैं—

> स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम् ।
> विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः संगमः शश्वत् ॥
> कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च ।
> परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता ॥
> ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम् ।
> यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता ॥

'अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका अनुष्ठान, नित्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रतिमाका उत्साहपूर्वक विविध सामग्रियोंसे पूजन और निरन्तर हरिदासोंका सङ्ग करना, भगवत्कथाओंके सुननेमें अत्यन्त उत्साह रखना, सत्य-भाषण करना तथा परस्त्री, परधन और परनिन्दामें सदा दूर रहना, अश्लील चर्चासे घृणा करना, पवित्र तीर्थ-स्थानोंमें जाते रहना तथा 'भगवत्कथा-श्रवणादिके बिना आयु यों ही बीत गयी' इस बातकी चिन्ता करना—ये सब भक्तिके लक्षण हैं।'

जैसा 'स्थूल' नामसे ही व्यक्त होता है, उपर्युक्त साधन-प्रणाली साधकके श्रद्धामूलक बाह्य आचरणोंसे ही प्रधानतया सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार यह देखा गया कि भक्त बननेके लिये सबसे पहली सीढ़ी यह है कि साधक अपने आचरणद्वारा शास्त्रीय नियमोंका पालन करे।

सच्चे हृदयसे इन नियमोंका पालन क्रमशः मनुष्यके मनको सच्ची भक्तिकी ओर ले जाता है, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थाओंमें भक्तिका अंश बहुत क्षीण रूपमें रह सकता है। श्रीशंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि सच्ची भक्तिका उदय तो भगवत्कृपासे ही होता है। हमारा कर्तव्य इतना ही है कि हम भगवान्के बनाये नियमोंका पालन करें। हम एक बीज बोकर उसे सींचते हैं तथा उसी प्रकारके और छोटे-मोटे काम करते हैं। बीजका अङ्कुरित होना तथा बढ़कर एक वृक्षका रूप धारण कर लेना हमारे हाथमें नहीं है। यह भगवान्के हाथमें है। इसी प्रकार भगवान् ही क्रमशः हमारे मनमें भक्तिको विकसित करते हैं। आचार्य इसका इस प्रकार निर्देश करते हैं—

> एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना ।
> समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति ॥

'इस प्रकार स्थूल भक्तिका अभ्यास करते-करते श्रीकृष्ण-कथाके अनुग्रहसे सूक्ष्मभक्तिका उदय [illegible] है, [illegible] परिणामस्वरूप श्रीहरि उसके मनमें आ [illegible]।'

ऊपर जो विवेचन किया गया है, [illegible] कि साधकको अपना मन ईश्वराभिमुख करनेके [illegible] साधनकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उपर्युक्त [illegible] स्वयं यह गुण है कि वे चित्तको शुद्ध [illegible] निवासके योग्य बना देते हैं और भगवान् [illegible] प्रकट हो जाते हैं।

श्रीशंकराचार्यने इसके अनन्तर [illegible] मानसिक भक्तिके विभिन्न स्तरोंका भी [illegible] किया है—

> स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्तौ ।
> मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि [illegible] ॥
> सत्यं समस्तजन्तुषु [illegible] ।
> अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा [illegible] ॥
> प्रमितयदृच्छालाभे संतुष्टिर्दारपुत्राद्यौ ।
> ममताशून्यत्वमतो निरहंकारत्वम[illegible] ॥
> मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता ।
> सुखदुःखशीतलोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम् ॥
> निद्राहारविहारेष्वनादरः [illegible] ।
> वचने चानवकाशः कृष्णस्मरणेन शाश्वती शान्तिः ॥

'स्मृति और पुराणोंके वाक्योंद्वारा सुनी हुई भगवान्की मूर्तिके मानस-पूजनका अभ्यास, एकान्तमें [illegible], सत्य, समस्त प्राणियोंमें श्रीकृष्णको [illegible], [illegible] प्राणियोंसे अद्रोह और इससे उत्पन्न हुई [illegible] दया, प्रारब्धानुसार जो कुछ भी प्राप्त हो, [illegible] और पुत्र आदिमें ममताशून्यता, अहंकार [illegible] होना, मृदु भाषण करना, प्रसन्नचित्त रहना, [illegible] अथवा स्तुतिमें समान भाव रखना, सुख-दुःख [illegible] द्वन्द्वोंको सहन करना, आपत्तिमें भय न रखना, निद्रा, [illegible] और विहारादिको आदर न देना, [illegible] वार्तालापको अवकाश न देना, [illegible] शान्तिका अनुभव करना।'

—ये हैं वे मानसिक गुण, जिन्हें [illegible] जा सकता। वे तो भगवान्के बनाये हुए [illegible] तथा आन्तर विधानके [illegible] प्राप्त होते हैं कि भगवान् हमारे [illegible] कल्याण करनेवाले हैं।

एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीशंकराचार्य उच्चतम शिखरपर पहुँचनेके पूर्व मानसिक विकासकी सीढियोंका वर्णन करते हैं और सच्ची भक्तिका उदय होनेसे पूर्व विनय एवं अपने मन इत्यादिके सम्पूर्ण समर्पणका होना आवश्यक बताते हैं।

षट्पदीमें वे कहते हैं—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥

'हे विष्णुभगवान्! मेरी उद्दण्डता दूर कीजिये। मेरे मनका दमन कीजिये और विषयोंकी मृगतृष्णाको शान्त कर दीजिये, प्राणियोंके प्रति मेरा दयाभाव बढ़ाइये और इस संसार-समुद्रसे मुझे पार लगाइये।'

यहाँ उन सोपानोंका वर्णन है, जिनके द्वारा मन धीरे-धीरे पूर्णताकी ओर अग्रसर होता है। वेदपादस्तोत्रमें देवीके प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण वे बड़े भावपूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

यत्रैव यत्रैव मनो मदीयं
तत्रैव तत्रैव तव स्वरूपम्।
यत्रैव यत्रैव शिरो मदीयं
तत्रैव तत्रैव पदद्वयं ते॥

'माँ! जहाँ-जहाँ मेरा मन जाय, वहीं-वहीं तुम्हारी स्थिति रहे और जहाँ-जहाँ मेरा सिर झुके, वहाँ-वहाँ तुम्हारे चरण-युगल रहें।'

इसके पश्चात् श्रीशंकराचार्य उस व्यक्तिकी भक्तिका वर्णन करते हैं, जिसने भगवान्‌की सत्ताका, उनके साथ एकात्मताका अनुभव करना आरम्भ कर दिया है।

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा।
आनन्दाविर्भावो युगपत् स्याद् दृष्टसात्त्विकोद्रेकः॥
तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परात्मसुखम्।
स्थिरतां याते तस्मिन्यान्ति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्॥

'कोई भगवत्सम्बन्धी गीतका गान करे अथवा बाँसुरी बजाये तो (उसके सुनते ही) आनन्दके आविर्भावसे एक साथ ही कई सात्त्विक भावोंका उद्रेक हो जाय। उस शब्दमें फँसा हुआ मन परात्मसुखका अनुभव करता है और जब चित्त स्थिर हो जाता है, तब उसकी अवस्था मतवाले हाथीके समान हो जाती है।'

श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा श्रीशुकदेवजी भक्तिकी इस अवस्थाके उदाहरण हैं।

फिर श्रीशंकराचार्यजी उच्चतम शिखरपर पहुँचे हुए उस सच्चे भक्तका वर्णन करते हैं जिसने भगवत्साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है, जिसके लिये संसार भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है और जो सभी भूतोंमें केवल अपने आत्माको ही देखता है तथा जिसे भगवान्‌की विश्वके साथ एवं स्वयं अपने आत्माके साथ एकताका पूर्ण ज्ञान हो गया है। श्रीशंकराचार्य उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः।
एतादृशी दशा चेत् तदैव हरिदासवर्यः स्यात्॥

'क्रमशः वह समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को और भगवान्‌में समस्त प्राणियोंको देखने लगता है; जब ऐसी अवस्था हो जाय, तब उसे भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ समझना चाहिये।'

यद्यपि श्रीशंकराचार्यके मतानुसार आत्मज्ञानके उदय होनेपर, जैसे प्रकाश पड़नेपर स्थाणुमें दीखा हुआ चोर अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार जीव शिवके साथ मिल जाता है तथा उसका व्यष्टिभाव जो कल्पित था, नष्ट हो जाता है, फिर भी जबतक इस प्रकार पूर्णरूपसे एकता न हो जाय, तबतक वे भगवान् एवं जीवकी पृथक् सत्ता मानते हैं। जीव और शिव जब मिलकर एक हो जाते हैं, उस अवस्थाकी भक्ति श्रीशंकरके मतसे साधककी भक्तिसे कुछ भिन्न होती है। शिव सर्वदा प्रभु और पूर्ण हैं एवं जीव शिवका केवल एक सेवक—एक अंश है। मोटे रूपसे कहें तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीशंकर चित्तवृत्तिकी तीन भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं—

'तस्यैवाहम्', 'ममैवासौ' तथा 'स एवाहम्'।

पहली भूमिका वह है जहाँ भक्त मानता है कि वह प्रभुका सेवकमात्र है तथा प्रभु-आज्ञा-पालन मात्र ही उसका कर्तव्य है। यहाँ भक्त प्रभुसे कोई ऊँचा सम्बन्ध जोड़नेका दावा नहीं कर सकता। वह इस प्रकार कहता है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'हे नाथ! मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं; क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रकी होती है, तरङ्गका समुद्र कहीं नहीं होता।'

जब कोई सेवक अपनी दीर्घकालीन, सतत एवं भक्तिपूर्ण सेवाद्वारा स्वामीसे अधिकाधिक घनिष्ठ होता जाता है,

तब वह स्वामीके प्रति भी एक प्रकारकी आसक्ति एवं अधिकारकी भावनाको व्यक्त करने लगता है और यह अनुभव करने लगता है कि स्वामी उसीके स्वामी हैं। वह स्वामीके आदेशोंकी रूप-रेखाके निर्माणका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर ले लेता है। वह उनके साथ स्वतन्त्रता बरतने लगता है और स्वामी भी उसे इसके लिये छूट दे देता है। कभी-कभी तो वह स्वामीको यह आदेश देता देखा जाता है कि उन्हें उसे कौन-सी आज्ञा देनी चाहिये। भक्तके इसी रूपमे श्रीशंकराचार्यने भगवती लक्ष्मीको राजी ही नहीं किया वर बाध्य कर दिया एक दरिद्र गृहस्थके घरपर स्वर्णामलक-फलोंके रूपमें अपनी दयाकी वर्षा करनेके लिये। 'ममैवासौ' इसी भूमिकाका वाचक है। अनेक संतोंकी जीवन-कथाओं तथा कृतियोंसे भारतवर्षका इतिहास भरा पड़ा है। बहुत बार उनकी क्रियाओंका हमारी बुद्धि अथवा दृष्टिकोणके द्वारा समाधान नहीं हो सकता है। वे प्रायः इसी श्रेणीके संत होते हैं और भगवान्‌के साथ उनका परिचयाधिक्य उन्हें कभी-कभी परम स्वतन्त्र बना देता है। किंतु उनके उदाहरण-को सामने रखकर हमलोगोंको, जिनके अंदर अभी भक्तिका बीज बोना और उसे उगाना है, अपनेको इस योग्य नहीं मान लेना चाहिये कि जीवनके सामान्य नियमोंकी अवहेलना करके हम उनके असाधारण व्यवहारोंकी नकल करने लगें। बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अपने भाष्यमें उषस्तिप्रसङ्गमें श्रीशंकराचार्यजीने हमें ऐसी दुर्बलताके विरुद्ध चेतावनी दी है।

भक्तिकी अन्तिम भूमिकाका वर्णन 'स एवाहम्'—'वही मैं हूँ।' इस वाक्यमें हुआ है। यहाँ जीव एवं शिवका पूर्ण एकीकरण हो गया है। इस अवस्थामें उदय होने-वाले आनन्दका शब्दोंद्वारा वर्णन सम्भव नहीं है। यह एक आन्तरिक अनुभूति है, जो स्वसंवेद्य है। इस प्रकारका आनन्द ही सबसे उच्चकोटिकी भक्ति है। यह ज्ञानसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है। जब [illegible] अपने पतिका निर्देश करनेको कहा जाता है [illegible] कहती रहती है; किंतु अन्तमें जब उसे [illegible] लाकर खड़ा कर दिया जाता है तब [illegible] कहती, वरं मौन हो जाती है। यह मौन [illegible] पतिके पहचान अथवा ज्ञान [illegible] दोनोंका व्यञ्जक है। ज्ञानीकी भक्ति [illegible] क्योंकि वह भिन्न नहीं है उन भगवान्‌से जो [illegible] वर्गीकरण करने समय कहते हैं—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् अर्थात् मैं ज्ञानीको अपना स्वरूप ही मानता हूँ।

यह आनन्द वाणीके परे है। इस बातको [illegible] इस प्रकार कहते हैं—

> घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदै-
> र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
> तथा ते सौन्दर्यं परमशिव [illegible]
> कथंकारं ब्रूमः [illegible] ॥

'घी, दूध, दाख तथा मधुकी मिठासका [illegible] शब्दोंद्वारा नहीं किया जा सकता; उसको तो केवल [illegible] जान सकती है। इसी प्रकार हे शिव! आपके [illegible] आस्वादन केवल आपके प्रति भगवान् [illegible] सकते हैं। फिर भला मैं कैसे उसका वर्णन [illegible] जब कि आपके गुण सम्पूर्ण [illegible] भी [illegible]।'

ऐसा होता है भगवत्प्राप्त पुरुष [illegible] हमलोगोंमेंसे प्रत्येकको अपने अपने [illegible] चाहिये और फिर सच्चा भक्त बनना [illegible] भावी जीवनका उद्देश्य मानकर अपनी [illegible] शील एवं सच्चा भक्त बन [illegible]। [illegible] कामसे हमारी सहायता करें।

भगवत्प्रेमीका क्षणभरका संग भी मोक्षसे बढ़कर है

प्रचेतागण कहते हैं—

> तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
> ([illegible])

'हम तो भगवत्प्रेमीके क्षणभरके सङ्गके सामने स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ नहीं [illegible] तो बात ही क्या है।'

सनकादिकी भक्ति

(लेखक—प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

राम चरन पंकज रति जिन्हही। बिषय भोग बस करहि कि तिन्हही।
रमा बिलास राम अनुरागी। तजहिं बमन जिमि जन बडभागी॥

श्रीसनकादि (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन) श्रीब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और अवस्थामें श्रीशंकरजीसे भी बड़े है। इनके मुखमे निरन्तर 'श्रीहरिः शरणम्' मन्त्र रहता है तथा इनकी अवस्था सदा पॉच वर्षके शिशुकी-सी रहती है।

जब ब्रह्माजीने सृष्टिके आरम्भमे इन्हें मनोमय सकल्पसे उत्पन्न किया और सृष्टि बढानेके लिये कहा, तब इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनका मन सर्वथा भगवान्के आत्मारामगणाकर्षी मुनि-मन-मधुप-निवास पद-पङ्कजमे लगा था, इनमें रज-तमका लेश भी नहीं था; अतः इन्होंने भगवत्प्रीत्यर्थ तपमें ही मन लगाया।

भगवद्भक्तिके तो ये साक्षात् प्राण हैं। श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें आता है कि जब भक्ति अपने पुत्रों (ज्ञान-वैराग्य)के दुःखसे बड़ी दुखी थी और उनका क्लेश किसी प्रकार दूर नहीं हो रहा था, तब श्रीनारदजीके आग्रहपर सनकादिने ही भागवतकी कथा सुनाकर इनका दुःख दूर किया। भगवच्चरित्रके ये इतने प्रेमी हैं कि सर्वोत्तम समाधि-सुखका भी परित्याग करके भगवल्लीलामृतका पान करते हैं—

नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥
सनकादिक नारदहिं सराहहि। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥
जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहि तजि ध्यान॥

इनको भगवत्-चरितामृत सुननेका पूरा व्यसन है—जहॉ भी रहते हैं, भगवान्का चरित्र ही सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

नारदजी भक्ति-मार्गके आचार्योंके भी आचार्य हैं, पर ये तो उनके भी उपदेष्टा हैं। नारदपुराणका पूरा पूर्वभाग इनके द्वारा ही श्रीनारदजीको उपदिष्ट है। उसमें भक्तिकी बड़ी ही उत्तम बातें है। इन्होंने कहा था—नारदजी! भगवान्की उत्तम भक्ति मनुष्योंके लिये कामधेनुके समान मानी गयी है, उसके रहते हुए भी अज्ञानी मनुष्य संसाररूपी विषका पान करते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है! नारदजी! इस संसारमें ये तीन बातें ही सार हैं—भगवद्भक्तोंका सङ्ग, भगवान् विष्णुकी भक्ति और द्वन्द्वोंके सहनका स्वभाव—

हरिभक्तिः परा नृणां कामधेनूपमा स्मृता।
तस्यां सत्यां पिबन्त्यज्ञाः संसारगरलं ह्यहो॥
असारभूते संसारे सारमेतदजात्मज।
भगवद्भक्तसङ्गश्च हरिभक्तिस्तितिक्षुता॥
(१।४।१२-१३)

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (७।१।१—२६), महाभारत (शान्तिपर्व २२७, २८६ कुम्भको०), अनुशासनपर्व (१६५—१६९ कुम्भको०) आदिमें इन्होंने नारदजीको भगवत्तत्त्वका उपदेश किया है। इन्होंने साख्यायनको श्रीमद्भागवत पढाया था। श्रीमद्भागवतमें इनके द्वारा महाराज पृथुको भी बहुत सुन्दर उपदेश दिया गया है। उसमें उन्होंने श्रीभगवच्चरित्र-श्रवणको ही परम साधन बतलाया है। भगवद्भक्तिके सहारे बन्धनोन्मुक्ति जितनी सरल है, उतनी इन्द्रियनिग्रह आदि योग अथवा सन्याससे नहीं—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।
(श्रीमद्भा० ४।२२।३९)

जब ये भगवान् राघवेन्द्रका राज्याभिषेकके बाद अयोध्यामें दर्शन करते हैं, तब इनके मानसिक आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। बस, निर्निमेष दृष्टिसे एकटक देखते ही रह जाते हैं—

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भव मोचन॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरें सीस नवावहिं॥
तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥

इनका चित्त भगवान्को छोड़कर कभी अलग नहीं होता। अब भी ये निरन्तर भगवद्भजनमें ही रत रहते हैं—

सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ, भजन करत अजहूँ।

महर्षि वाल्मीकिकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

रामेति परिकूजन्तमारूढं कविताल्लताम्। शृण्वतो मोदयन्तं तं वाल्मीकिं को न वन्दते॥

भगवन्नाम-जापकोंमें महर्षि वाल्मीकिका नाम अद्वितीय है। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे पहले रत्नाकर[1] नामके डाकू थे और प्रतिलोमक्रमसे श्रीराम-नामका जप करके ब्रह्माजीके समान पूज्य बन गये—

उलटा नामु जपत जगु जाना। बाल्मीकि भए ब्रह्म समाना॥

(मानस)

जान आदिकबि तुलसी नाम प्रभाउ।
उलटा जपत कोल ते भए रिषिराउ॥

(बरवै-रामायण)

भगवद्यशः-कीर्तनमें ये अद्वितीय हैं। सौ करोड़ श्लोकोंमें भगवान् श्रीरामके यशका इन्होंने विस्तारपूर्वक गान किया। योगवासिष्ठ-महारामायण, वाल्मीकि-रामायण, आनन्दरामायण, अद्भुतरामायण आदि उनकी रचनाओंके संक्षेप हैं। ये सभी देवताओंके उपासक थे। श्रीअप्पय्यदीक्षितने रामायण-सार-संग्रहमें सिद्ध किया है कि श्रीरामायणमें सर्वत्र भगवान् शंकरके परत्वकी ही ध्वनि सुनायी देती है। 'स्कन्दपुराण'में इनके द्वारा कुशस्थलीमें वाल्मीकेश्वर लिङ्गकी स्थापनाकी भी बात आयी है।

वाल्मीकि-रामायणके युद्धकाण्डमें श्रीब्रह्माद्वाराकृत श्री-रामस्तुतिमें इनकी गूढ भक्ति प्रस्फुटित होती है। वहाँ ये कहते हैं—'अग्नि आपका क्रोध तथा श्रीवत्सलक्ष्माक चन्द्रमा आपकी प्रसन्नताका स्वरूप है। पहले वामनावतारमें आपने अपने पराक्रमसे तीनों लोकोंका उल्लङ्घन किया था। आपने ही दुर्धर्ष बलिको बाँधकर इन्द्रको राजा बनाया था। भगवती सीता लक्ष्मी तथा आप प्रजापति विष्णु हैं। रावणके वधके लिये ही आपने मनुष्य-शरीरमें प्रवेश किया है और यह कार्य आपने सम्पन्न किया। देव! आपका बल, वीर्य तथा पराक्रम सर्वथा अमोघ है। श्रीराम! आपका दर्शन और स्तुति अमोघ हैं तथा पृथ्वीपर आपकी भक्ति करनेवाले मनुष्य भी अमोघ होंगे'—

अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि॥

वे फिर कहते हैं—'जो पुराण-पुरुषोत्तमदेव आपकी भक्ति, उपासना करेंगे, वे इस लोक तथा परलोकमें भी अपनी समस्त काम्य वस्तुओंको प्राप्त कर लेंगे—

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥

(११७ । ३०-३१)

श्रीमदध्यात्म-रामायण तथा आनन्दरामायणमें यह प्रसङ्ग आता है कि वनयात्रामें भगवान् श्रीराम इनके आश्रमपर पधारे और उन्होंने इनसे अपने रहनेके लिये उचित स्थानका संकेत पूछा। इसपर इन्होंने हँसकर कहा—'प्रभो! जब सम्पूर्ण प्राणियों-के आप ही एकमात्र उत्तम निवास स्थान हैं और सारे जीव आपके निवास-स्थान हैं, तब आपको उचित स्थान भला मैं क्या बताऊँ। तथापि जब आपने पूछा है, तब सुनिये—जो शान्त, समदर्शी और राग द्वेषसे मुक्त हैं और अहर्निश आपका भजन करते हैं, उनके हृदयमें आप विराजिये। जो आपके मन्त्रका जप करता तथा आपकी ही शरणमें रहता है, उसके हृदयमें आप सीतासहित सदा सुखपूर्वक निवास करें। जो सदा चित्त को वशमें रखकर आपका भजन करता तथा आपके भक्तोंकी सेवा करता है, आपके नाम-जपसे जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, उसका हृदय आपका निवासगृह है—

पश्यन्ति ये सर्वगुहाशयस्थं
त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमीश्वरम्।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं
तेषां हृदब्जे सह सीतया वस॥

(अध्या० अयो० ६ । ६१)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी इनके मुखसे इस प्रसङ्गको विस्तारसे निरूपित किया है। वे इनसे भी बहुत प्रभावित हैं। कवितावली आदिमें उन्होंने इनके निवास स्थानका बड़ी श्रद्धासे चित्रण किया है और इनकी महिमा गायी है। व्यासदेवने 'कूर्मपुराण'में इनकी तथा इनकी रामायणकी बहुत प्रशंसा की है। [illegible] भी इनमें अतुल श्रद्धा थी। इनकी [illegible] स्वरूप मूर्तिमती भक्ति भगवती सीताने इनके यहाँ निवास किया। इनकी यह परिचर्या [illegible] अवाङ्मनसगोचर ही है।

---

१. स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्डमें इनका पूर्व नाम अग्निशर्मा आया है।

शबरीकी भक्ति

(लेखक—पण्डित श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, एम्० ए०)

श्रीरामचरितमानस मुख्यतः भक्तिका ग्रन्थ है, अतएव उसमें भगवान्की लीलाके साथ अनेक भक्तोंके चरित भी वर्णित हैं। श्रीराम-वाल्मीकि-मिलन-प्रसङ्गमें प्रभुके निवासके लिये चौदह भवनोंका वर्णन ऋषिजीने किया है और उस वर्णनके व्याजसे उतने ही प्रकारके भक्तोंकी ओर संकेत किया है, जो रामायणमें मिलते हैं। दर्शनके लिये किसीके लोचन लालची हैं तो कोई गुण-श्रवणसे तृप्त नहीं होता; कोई चातककी नाईं रूपका प्रेमी है तो कोई बाल-चरित प्रत्यक्ष करनेका लोभी। किसीने शरणागति और आत्मसमर्पणको जीवनका परम ध्येय मानकर भक्तका पद प्राप्त किया और कोई प्रभुको अपना सर्वस्व मानकर भक्त-पङ्क्तिमें जा बैठा।

गीतामें जो भक्त-श्रेणी वर्णित है, उसका अक्षरशः अनुवाद करके गोस्वामीजीने उसको स्वीकार किया है। साथ ही गीतोक्त चारों श्रेणियोंसे भी ऊपर एक भक्तको उन्होंने स्थान दिया है। वे भक्त हैं—राजा दशरथ। इनके वर्णनमें कविकी कल्पना निखर उठी है।

परंतु एक भक्त, जिसे स्वयं भगवान्के श्रीमुखसे प्रशंसा मिली, वह और भी विलक्षण है। इतना ही नहीं, प्रेमकी विवशतासे उसके लिये मर्यादाका उल्लङ्घन भी मर्यादा-पुरुषोत्तमने निस्संकोच कर दिया! कहना न होगा—वह भक्त है शबरी। शबरीकी भक्तिका प्रभुपर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा—यही इस निबन्धमें देखना है।

श्रीराम अनुजसहित सीताजीकी खोजमें जंगलमें भटक रहे हैं। परंतु वहाँ लीलानुसार विलाप करते हुए भी आप अपने भक्तोंको नहीं भूलते, उनके आश्रमोंपर स्वयं जा-जाकर दर्शन देते हैं। अवश्य ही प्रतिज्ञानुसार गाँव, नगर या किसीके घर नहीं जाते। सुग्रीव और विभीषणकी राजधानीमें इसी कारण नहीं पधारे। परंतु शबरीकी कुटियाको आश्रम-तुल्य मानकर उसके यहाँ पधारे। शबरीके न तो कोई शिष्य थे न वहाँ और कोई भक्तमण्डली ही थी और वह किसी मन्दिर आदिमें रहती हो, ऐसा भी कोई संकेत कविने वहाँ नहीं किया है। वह स्वयं अपने स्थानको 'गृह' कहती है। फिर भी प्रभुके चरण वहाँ पधारे।

शबरीने दर्शन किया। पाद्य, आसन और नैवेद्यसे सत्कार किया। उसकी सेवा प्रभुने प्रसन्नतासे स्वीकार की—इतनी ही बात नहीं; बल्कि उसके दिये 'कंद मूल फल खाए बार बार बखान'। महाभारतमें लिखा है कि भोजन करते समय भोजनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। शास्त्राज्ञामें हेतु जाननेपर बल नहीं दिया जाता। कारण कुछ भी हो, नियम यही है कि भोजन करते हुए उसकी प्रशंसा तो करनी ही नहीं, मौन भी रखना होता है। विशेषकर प्रभुके लिये तो यह पालनीय था ही; क्योंकि वे ठहरे 'तापस बेष बिसेष उदासी'। जैसे ग्राम-नगरमें जाना उनके लिये निषिद्ध था, वैसे ही भोजनकी सराहना भी निषिद्ध थी। परंतु प्रभुने इस नियमका भी उल्लङ्घन किया।

इसके पश्चात् शबरीको स्तुति करनेका अवसर आया। बेचारी संकोचमें पड़ गयी। कैसे स्तुति की जाती है, वह जानती ही न थी। उस समय प्रभु उसके संकोचको समझकर मन-ही-मन मानो कह रहे हैं—'अरी! तू क्या मेरी स्तुति करेगी, मैं स्वयं तेरी स्तुति करने तेरे द्वारपर आया हूँ।' ऋषि, मुनि, देवता आदिने कितनी ही बार प्रभुकी स्तुति की; परंतु प्रभुने किसीको कभी भी स्तुति करनेसे रोका नहीं, न उसे बीचमें टोका। आज इस बातके विपरीत, और वह भी एक ही बार, आचरण हो रहा है। शबरीको स्तुति नहीं करने दी जाती। प्रभु भक्तसे लीला करते हैं। बड़ी चतुराईसे शबरीको भुलावेमें डालते हैं। जिनका वचन है—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा', वे ही आज प्रेमवश सीधी-सादी और विश्वास करनेवाली शबरीके साथ छल कर रहे हैं—जो प्रेम-राज्यमें, भक्त और भगवान्के बीच क्षम्य ही नहीं, प्रेमके उत्कर्षका एक साधन है।

शबरीसे प्रभु कहते हैं—'अरी, तू मेरी बात सुन। मैं तुझे उपदेश देता हूँ।' और यह आज्ञा करते हैं—सावधान सुनु, धरु मन माहीं। बेचारी हाथ जोड़ चुपचाप खड़ी रहती है। वह क्या समझे कि उपदेशका बहाना बनाकर मेरी प्रशंसा की जायगी। यदि उसको यह संदेह भी कहीं हो जाता कि प्रभु उसकी प्रशंसा करेंगे तो उसकी क्या दशा होती, यह कल्पनाका विषय है। अपनी हीनताके कारण वह तो पहिले ही संकोचसे ऐसी दब रही थी कि मुखसे शब्द नहीं निकलता था। वह तो आँख कान बंदकर सिमटकर एक कोनेमें पड़ जाती। परंतु वह तो धोखेमें आ गयी और प्रभुकी चाल चल गयी।

उपदेशके लिये नियम है—जो पुराणादिमें सब जगह समानरूपसे मिलता है—कि प्रश्नकर्ताको उपदेश दिया जाता है। प्रश्नसे श्रोताके अधिकारका पता चलता है। नीतिका वचन है—नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्। शबरीने तो उपदेश-की प्रार्थना की नहीं। बिना जिज्ञासाके उपदेश करना अनुचित और जो उपदेश पालनीय न हो, वह भी व्यर्थ। यहाँ दोनों ही आपत्तियाँ की जा सकती हैं। शबरीने उपदेशकी प्रार्थना नहीं की और दूसरे जो वस्तु वा स्थिति प्राप्त हो चुकी, उसके लिये उपदेश व्यर्थ ही नहीं हास्योत्पादक है। जो गन्तव्य स्थानको पहुँच गया उसको मार्ग दिखाना व्यर्थ है। वही बात यहाँ भी चरितार्थ है। नवधा भक्तिका उपदेश किया जा रहा है किसको ?

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

यह व्यर्थ उपदेश है या स्तुति—उपदेशके व्याजसे स्तुति है ? और एक बड़े मजेकी बात है। उपदेश तो चरितार्थ करनेके लिये दिया जाता है। पर शबरी तो अभी-अभी प्रभुके समक्ष ही योगाग्निसे अपना शरीर भस्म कर देगी। उसको अवसर कहाँ शिक्षा ग्रहण करनेका। यदि यह कहा जाय कि उपदेश जगत्के लिये है, तो ठीक है; परंतु जब शबरी रहेगी ही नहीं; तब वह तो किसको सुनायेगी। इसी प्रकार एक बार फिर भक्तवत्सलतासे परवश होकर बिना जिज्ञासाके अपनी प्रजाको स्वयं आमन्त्रितकर प्रभु उपदेश देंगे। दोनों अवसरोंपर नियमभङ्गका कारण समान है।

नवधा भक्ति तो प्रसिद्ध श्लोकमें वर्णित है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

परंतु शबरीको जो नवधा भक्ति बतायी गयी, वह इससे भिन्न है। सिद्धान्ततः तो कोई भेद न भी हो, [illegible] है ही। इसके दो कारण हो सकते हैं। [illegible] भोलीभाली शबरीने जिस क्रमसे या [illegible] उसीका वर्णन प्रभु कर रहे हैं। मानो [illegible] शास्त्रकी रचना कर डाली और उसपर प्रभुने [illegible] और यह भी साथमें बता दिया कि भक्तिके [illegible] पालनसे कहीं अधिक महत्त्व भावका है। [illegible] साबित भी मीठा और टूटा भी मीठा। दूसरी बात [illegible] पौराणिक भक्तिका क्रम प्रभुमें दृढ़ भक्ति प्राप्त [illegible] है। एक-एक सोपानमें प्रभुके प्रति प्रेम दृढ़ और प्रगाढ़ [illegible] है और भक्त प्रभुके अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है। अन्तमें उसकी अनन्यताके कारण वे ही उसके [illegible] प्रेम-पात्र बन जाते हैं। गीतामें जैसे अर्जुनने भगवान्‌से [illegible]—'मामुपैष्यसि', नवधा भक्ति यहाँतक [illegible]। परंतु शबरीकी भक्ति तो ऐसी थी कि [illegible] प्रभुकी प्रेम पात्र हो गयी। वहाँ तो, गीताके [illegible] है—मयि ते तेषु चाप्यहम्। प्रभुका प्यारा [illegible] शबरीने बताया। और किसी भक्तको प्रभुने [illegible]—सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें। जहाँ [illegible] वहाँ पूरी तो और वे [illegible] दृढ़ भक्ति।

श्रीभगवान्‌ने एक और [illegible]। [illegible] 'करिवरगामिनी' कहकर सम्बोधित किया। [illegible] को सर्वप्रकार हीन समझे, परंतु प्रभु तो [illegible] शरीरका सौन्दर्य देखते हैं। जिसका [illegible] होता है, उसका तन और गति भी सुन्दर होता है।

प्रेममें नियम नहीं चलता। [illegible] अटपटे होते हैं। साधारण नियम [illegible] निस्तेज हो जाते हैं। प्रभुको तो [illegible] हैं, वे जैसे चाहते हैं उन्हें बना [illegible]। [illegible] मर्यादाकी सीमाएँ [illegible] हो गयीं।

मनुष्यके धर्म

नारदजी कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं [illegible]॥
([illegible])

संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, [illegible] और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण (यही मनुष्योंका धर्म है)।

श्रीभरतकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

राखी भगति भलाई भली भाँति भरत।
स्वारथ परमारथ पथी जय जय जग करत॥
जो व्रत मुनिवरनि कठिन मानस आचरत।
सो व्रत लिए चातक-ज्यों, सुनत पाप हरत॥
(गीतावली)

'श्रीभरतने भक्ति और भलाईकी बहुत अच्छी तरह रक्षा की। वे स्वार्थ और परमार्थ दोनोंके मार्गोंपर चलनेवाले हैं, सारा संसार उनका जय-जयकार करता है। जिस (अनन्य) व्रतका मुनियोंके लिये मनसे भी आचरण करना कठिन है, उसे उन्होंने चातकके समान निभाया, जिसका श्रवण ही सब पापोंको हर लेता है।'

श्रीभरत भक्तिके उच्चतम आदर्श थे। इनका सम्पूर्ण जीवन भगवान् श्रीरामकी भक्तिमें ही व्यतीत हुआ। ये भगवान् श्रीरामको अपना पिता, माता, स्वामी और सर्वस्व समझते तथा प्रभुके भजनमें ही जीवनकी सफलता मानते थे। इसे इन्होंने स्वय अपने मुखारविन्दसे भगवान्‌के सम्मुख निवेदन किया था—

जद्यपि हौं अति अधम कुटिलमति अपराधिनि को जायो।
प्रनतपाल कोमल सुभाव जियँ जानि सरन तकि आयो॥
जो मेरें तजि चरन आन गति, कहौं हृदयँ कछु राखी।
तौ परिहरहु दयालु दीनहित प्रभु अभिअंतर साखी॥
ताते नाथ कहौं मैं पुनि पुनि प्रभु पितु मातु गोसाईं।
भजनहीन नरदेह बृथा खर स्वान फेरु की नाईं॥
(तुलसीदास)

'यद्यपि मैं बड़ा ही नीच, कुटिलमति और अपराधिनीके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ, तो भी आपका कोमल स्वभाव है तथा आप शरणागतवत्सल हैं—यह चित्तमें समझकर मैं आपकी शरण ताककर आया। यदि मुझे आपके चरणोंको छोड़कर कोई और गति हो अथवा मैं चित्तमें किसी प्रकारका कपट रखकर कहता होऊँ तो हे दीन-हितकारी दयामय देव! आप मुझे त्याग दें; क्योंकि प्रभु सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं। हे नाथ! आप ही मेरे पिता, माता और स्वामी हैं; इसीसे मैं बारंबार (अपनी सेवामें रख लेनेके लिये) कह रहा हूँ; क्योंकि यह मनुष्य आपका भजन किये विना तो गधे, कुत्ते और गीदड़के समान वृथा ही है।'

भरतजीका अद्भुत स्नेह शैशवसे ही श्रीरामके चरणोंमें था। वे श्रीरामको अपना प्रभु मानते थे तथा संकोचवश उनसे खुलकर बात करना तो दूर रहा, जी भरकर उन्हें देख भी न पाते थे; उनमें 'मैं'पनका तनिक भी भाव न था। स्वयं उन्होंने इसे स्पष्ट किया है—

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन॥
(मानस)

जिन भगवान् श्रीरामके लिये भरतका इतना उज्ज्वल एवं प्रेममय उत्कृष्ट भाव हो, वे भला, श्रीरामको किस मूल्यपर छोड़ सकते थे। दुर्भाग्यवश कैकेयीने श्रीरामके सम्बन्धमें चौदह वर्षके लिये वनवासकी महाराज दशरथसे आज्ञा माँग ली। अपने लघु अनुज लक्ष्मण एवं साध्वी पत्नी सीताके साथ श्रीराम राज्य छोड़ वन सिधारे। श्रीभरत ननिहाल थे। लौटनेपर पिताका शव एव प्रभुके वन-गमनका संवाद! कितनी दारुण स्थिति थी! जैसे किसीने लोहा गलाकर आँख एव कानमें उँडेल दिया हो। भगवान्‌के अनन्य भक्त भरतकी दशाका चित्रण वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्मरामायण, पद्मपुराण तथा रामचरितमानस आदि ग्रन्थोंमें जिन शब्दोंमें किया गया है, उन्हे पढकर रोमाञ्च हो आता है, नेत्र सजल हो जाते हैं।

अवधका सार्वभौम राज्य भरतके करतलगत था। न्यायतः उन्हें कोई कुछ कहनेवाला न था और जिस साम्राज्यके लिये विश्वके इतिहासमें भयानक रक्तपात, माता-पिता एवं बन्धुकी निर्मम हत्याके वर्णन भरे पड़े हैं, उस प्राप्त साम्राज्यको भरतने ठोकर मार दी और दौड़ पड़े भगवान् श्रीरामके चरणोंमें नगे पैर, नगे सिर, सूखे अधर और नेत्र-द्वयमें आँसू भरे। रथपर बैठनेके लिये कहा गया तो फूट पड़े—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

भगवान् श्रीरामके अनन्य सेवककी पीड़ाका वर्णन सम्भव नहीं। 'मेरे प्राणाराम श्रीराम भैया लक्ष्मण एव माता सीताके साथ मुनिवेषमें नगे पैरों वन-वन मारे-मारे फिर रहे हैं। वे मृगचर्मसे शरीर ढककर, फलाहार करते हुए, पृथ्वी-पर कुश और पत्ते बिछाकर सोते तथा राजमहलोंमें रहनेवाले

प्रभु वृक्षोंके नीचे गर्मी, वर्षा एवं हिमपात सहते हैं ! कैसे सहा जाय ।' यह भरतजी प्रतिक्षण सोचते और उनका कोमल हृदय जैसे अग्निमें पड़ गया हो । वे बेचैन थे, क्षुधा-पिपासा एवं निद्रा फिर उन्हें कैसे स्पर्श करती । महर्षि भरद्वाजसे उन्होंने अपनी यह असह्य व्यथा कह भी दी—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात ।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात ॥
एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नीद न राती॥

श्रीभरतकी भगवान् रामके चरणोंमें असीम श्रद्धा, अगाध प्रेम एवं अमित भक्ति देखकर भरद्वाजजीने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

श्रीभरतकी भक्ति, श्रीभरतका प्रेम अकथनीय है । अवध-वासियोंके साथ वे श्रीराम-दर्शनकी उत्कट लालसासे जा रहे थे। उनके नेत्रोंमें श्रीराम, भगवती सीता एव लक्ष्मण झूल रहे थे । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने 'मानस'में लिखा है—

आगें मुनिबर बाहन आछें। राज समाज जाइ सबु पाछें॥
तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लखन सीय रघुनाथा॥
जहँ जहँ राम बास बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा॥

इस प्रकार चलते उन्हें जब दूरसे प्रभुके दर्शन हुए, तब भरतजीका मन आगे बढ़नेके लिये उतावला हो उठा, किंतु शरीर रोमाञ्चित होकर शिथिल हो गया और नेत्र जल-पूरित हो गये । पैर जैसे सकोचरूपी दलदलमें गड़े जाते हैं और उन्हें वे प्रेम-बलसे धैर्यपूर्वक बाहर निकालते हैं—

मन अगहुँड तन पुलक सिथिल भयो नलिन नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम बल धीर॥
(गीतावली)

दूरसे ही—श्रीभरतजी लकुटकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

भरतके प्राणाराध्य श्रीरामकी दशाका वर्णन भी शक्य नहीं । भक्त भगवान्‌को सर्वाधिक प्यारा होता है । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (गीता)—भगवान्‌की वाणी है । भगवान्‌की विचित्र दशा हो गयी, वे प्राणप्रिय भरतसे मिलनेके लिये अधीर हो उठे । श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥

× × ×

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

श्रीभरतका जीवन सम्पूर्णतया भगवान् श्रीरामपर समर्पित था। उनका अपना कुछ नहीं था। स्वार्थ, परमार्थ और जागतिक सुखोंकी ओर उन्होंने स्वप्नमें भी मनमें भी नहीं देखा। उनका पवित्र साधन और सिद्धि दोनों थीं—एकमात्र श्रीरामके चरण-कमलोंमें प्रीति । चित्रकूटमें श्रीजनकजीने यही बात सुनयना-जीसे कही थी—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

श्रीभरतजीने श्रीराससे लक्ष्मण एवं सीतासहित अयोध्या लौटनेकी प्रार्थना की, किंतु श्रीरामने पिताकी आज्ञाके कारण विवशता प्रकट की। श्रीभरतजीने पितृ-वचनकी रक्षाके लिये श्रीराम, लक्ष्मण एवं सीताको लौटाकर स्वयं शत्रुघ्नके साथ वनमें वास करनेकी इच्छा प्रकट की, किंतु श्रीरामको यह भी स्वीकार न था। भरत विवश थे। वे श्रीरामके बिना रह नहीं सकते थे और अपनी सम्पूर्ण प्रीतिके केन्द्र-बिन्दु, अपने लोक-परलोकके एकमात्र आधार, जीवन-सर्वस्व श्रीरामके वियोगमें मणिहीन फणीकी भाँति छटपटा रहे थे। परमोदार सर्वज्ञ श्रीराम इसे जानते थे। वे सत्यप्रतिज्ञ, धर्मभीरु एवं मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, किंतु भरतके अगाध प्रेम एवं उनकी अनन्य-भक्ति-जनित परमाकुलताके सामने उनकी एक न चली। उन्होंने भरतसे कह दिया 'तुम संकोचशून्य प्रसन्न मनसे आज जो कहो, वही मैं करनेके लिये प्रस्तुत हूँ'—

मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करौं सोइ आजु ।

भरतजी गद्‌गद हो गये । वे भगवान्‌के सच्चे सेवक थे । उन्होंने सोचा—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज सुख चहइ तासु मति पोची॥

फिर क्या कहते। वे प्रभुकी इच्छामें ही संतुष्ट हैं। प्रभुकी कृपाका अनुभव करते हुए वे मगन हो रहे हैं। उन्होंने प्रभुसे निवेदन भी किया—

करि दंडवत कहत कर जोरी। राखीं नाथ सकल रुचि मोरी॥
मोहि लगि सहेउ सबहिं संतापू। बहुत भाँति दुखु पावा आपू॥

भगवान्‌ने कृपापूर्वक अपनी चरण-पादुका उन्हें दे दी। श्रीभरतजीने उसे अत्यन्त आदरपूर्वक ग्रहण किया—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

भरतजी अरण्य-वासकी अवधिसे एक दिन भी अधिक भगवान्‌की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। भगवान् पूज्य पिताके वचन-पालनमें बँधे होनेके कारण विवश हैं, वे भले ही अपने कर्त्तव्यका पालन करें; किंतु उससे एक दिन भी अधिक यदि वियोग सहना पड़ा, तो भरत जीवित नहीं रह सकते। उन्होंने भगवान्‌से स्पष्ट निवेदन कर दिया कि 'हे प्रभो! वनवासकी अवधि समाप्त हो जानेपर यदि आप पहले ही दिन अयोध्यामें लौटकर न आये तो प्रभुके चरण-कमलोंकी सौगद, आप अपने दासको जीवित न पा सकेंगे।'

तुलसी बीतें अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ।
तौ प्रभु चरन सरोज सपथ जीवित परिजनहि न पैहौ॥
(गीतावली)

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥
(मानस)

भगवान् श्रीरामने भी विभीषणसे यही बात कही थी—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर॥

प्रभुप्रेमियोंके लिये इतना उच्चतम आदर्श और कहाँ उपलब्ध होगा। भगवान्‌के भक्तोंके लिये श्रीभरतकी अनुपम भक्तिका यह प्रकाश सदा मार्ग-दर्शन कराता रहेगा। सचमुच भरतके सदृश राम-प्रेम अन्यत्र कहीं नहीं। सारा संसार जिन रामका भजन, स्मरण और चिन्तन करता है, वे निखिल सृष्टिके कर्ता, भर्ता एवं संहर्ता भगवान् श्रीभरतका जप करते हैं। भरत उनके नेत्रोंके सामने रहते हैं। वे भरतके हाथों बिके हैं—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

बलिहारी है भगवान्‌की भक्ति और प्रेमकी!

श्रीभरतजी चित्रकूटसे अयोध्या लौटकर नन्दिग्राममें शुभ मुहूर्त्तमें भगवान्‌की पादुकाएँ सिंहासनपर स्थापित करते हैं और तपस्वी-जीवन व्यतीत करने लगते हैं—

जब तें चित्रकूट तें आए।
नंदिग्राम खनि अवनि डासि कुस परन कुटी करि छाए॥
अजिन बसन फल असन जटा धरें रहत अवधि चित दीन्हें।
प्रभु पद प्रेम नेम ब्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें॥
सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बार जोहारे।
प्रभु अनुराग मागि आयसु पुरजन सब काज सँवारे॥
तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु, त्यों त्यों प्रीति अधिकाई।
भए न हैं न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत से भाई॥

'जबसे भरतजी चित्रकूटसे लौटकर आये हैं, तबसे नन्दिग्राममें पृथ्वी खोदकर उसमें कुश बिछाकर पत्तोंकी कुटी छा ली है। वहाँ मृगचर्म धारण किये, फलाहार करते हुए, सिरपर जटाएँ धारणकर अवधिमें चित्त लगाये निवास करते हैं। प्रभुके चरणोंमें उनके प्रेम, नियम और व्रतको देखकर तो मुनियोंने भी लज्जावश अपना मस्तक नीचा कर लिया है। वे प्रभु-की पादुकाओंको सिंहासनपर पूजकर बारबार उनकी वन्दना करते हैं और प्रभु-प्रेमसे भरकर उन (पादुकाओं) की आज्ञा ले पुर-वासियोंके सब कार्य सँभालते हैं। तुलसीदास कहते हैं—ज्यों-ज्यों उनके शरीरका तेज (पुष्टता) घटता है त्यों-त्यों उनकी प्रीति बढ़ती जाती है। संसारमें भरत-जैसे भाई न कभी हुए हैं न हैं और न भविष्यमें ही कभी होंगे।'

जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
× × × ×
देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥
× × × ×
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
(मानस)

श्रीभरतजी भगवान्‌के आज्ञा-पालनके लिये राज्य-कार्य देख लेते हैं, किंतु उनके हृदयमें सीतासहित श्रीराम प्रतिक्षण रहते हैं; श्रीभरतजी उनकी स्मृतिसे पुलकित हो जाते हैं, जीभ-से भगवान्‌का नाम जपते हैं और उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी अजस्र धारा बहती रहती है। राम लक्ष्मण-वैदेहीके साथ अरण्यवास कर रहे हैं, किंतु भरतजी घरपर कठोर तपमें लगे हैं—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥

श्रीरामके साथ लङ्कासे आकर श्रीअञ्जनीनन्दन भरतजी-का दर्शन इस रूपमें करते हैं—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

चतुर्दश वर्षके अनन्तर भगवान्‌के आगमनका संवाद श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे सुनते ही भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी। वे अहर्निश जिनकी स्मृतिमें आकुल हो रुदन करते रहे हैं, उनके वे ही प्रेमभाजन प्रभु पधारे हैं—इस संवादसे बढ़कर और सुखका कारण उनके लिये क्या होता—

दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥

भगवान् पधारे। श्रीभरतजीकी प्रसन्नताका अनुमान लगाना भी सम्भव नहीं, इसे तो भरत या श्रीराम ही समझ सकते हैं। श्रीभरतजीके रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं, आँखें भर आती हैं और जब वे भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ते हैं, तब उठानेसे नहीं उठते हैं। प्रेमोज्ज्वलविग्रह श्रीराम उन्हें बरबस उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

भगवान् श्रीराम अपने प्राणप्रिय भक्तको हृदयसे लगा लेते हैं और उनके नेत्र भर आते है। वे भरतसे कुशल पूछते हैं, पर इनके मुँहसे वाणी नहीं निकल पाती। बड़ी कठिनाईसे भरतजी उत्तर देते हैं—

अब कुसल कौसलनाथ [illegible] दिये।
बूड़त बिरह बारीस [illegible]॥

विशुद्ध [illegible] भावनाके बिना [illegible] नहीं। श्रीभरतजी सब प्रकारसे अपने [illegible] थे। श्रीराम ही उनके प्राण थे। [illegible] भरतकी श्रद्धा, भरतकी भक्ति और [illegible] नुराग—सभी अद्वितीय एवं अलौकिक हैं। [illegible] भगवान्‌के कितने ही प्रेमी हुए, किंतु [illegible] से करते नहीं बनती। भरतकी भाँति [illegible] भगवान्‌के प्राणप्रिय भक्तमें श्रवण, कीर्तन, [illegible] अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन—[illegible] की भक्ति एक ही साथ देखनेमें आती है। इन [illegible] पर विस्तृत प्रकाश डालना सम्भव नहीं। [illegible] भक्तिकी जीवित प्रतिमा थे। [illegible] इनके सम्बन्धमें अपना भाव [illegible] शब्दोंमें व्यक्त किया है—

जौं न होत जग जनम भरत को। [illegible]॥

× × × ×

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु [illegible]॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह [illegible]॥
पाप पुंज कुंजर मृगराजू। [illegible]॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम [illegible]॥

× × × ×

निस्संदेह भरतका जीवन राम-प्रेमामृत[illegible] सम्पूर्ण विश्वके लिये परम पावन [illegible] है।

सब कुछ वासुदेव श्रीकृष्णमें ही

श्रीसूतजी कहते हैं—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः। वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥
(श्रीमद्भा० [illegible])

'वेदोंका तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है। यज्ञोंके उद्देश्य श्रीकृष्ण ही हैं। योग श्रीकृष्णके लिये ही किये जाते हैं और समस्त कर्मोंकी परिसमाप्ति भी श्रीकृष्णमें ही है। ज्ञानसे [illegible] श्रीकृष्णकी ही प्राप्ति होती है। [illegible] श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही की जाती है। श्रीकृष्णके लिये ही धर्मोंका अनुष्ठान होता है [illegible] श्रीकृष्णमें ही समा जाती हैं।'

व्यासदेवकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः । यस्यास्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत् पिबति ॥

व्यासदेवजीकी भक्ति अद्भुत है। उन्होंने अठारह पुराणों, उतने ही उपपुराणों तथा महाभारत आदिमें सभी देवताओंकी भक्ति प्रदर्शित की है। श्रीमद्भागवत, महाभारत, ब्रह्मवैवर्त-पुराणादिमें श्रीकृष्णभक्तिका जो आदर्श आपने उपस्थित किया है, वह सर्वथा अलौकिक तथा अद्वितीय है। इसी प्रकार श्रीमद्देवीभागवत, कालिकापुराण आदिमें देवीभक्ति, पद्मादि पुराणोंमें श्रीरामभक्ति एवं गणेशपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण (गणपतिखण्ड) आदिमें गणेशजीकी भक्ति, स्कन्द-शिव-लिङ्ग आदि पुराणोंमें शिवभक्ति, विष्णुपुराण-वाराहपुराण आदिमें विष्णु-भक्ति, भविष्य एवं सौर आदि पुराणोंमें सूर्य-भक्ति तथा अन्यान्य पुराणोंमें भी तत्तद्देवताओं, ऋषि-मुनियों, माता-पिता, गुरु, गो-ब्राह्मण आदिकी भक्ति दिखलायी है, उनकी महिमा गायी तथा उनकी वाङ्मयी पूजा—नमस्क्रिया की है। यों ब्रह्मसूत्र, गीता आदिमें उन्होंने एक अखण्ड ब्रह्मकी उपासना तथा चराचरभूत—प्राणिमात्रकी भी भक्ति दिखलायी है। वे भक्तिके परमाचार्य हैं।

उनका जीवन पूर्ण उपासनामय है।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सैव विक्रिया॥

(गरुडपुरा० २२२। २२, स्कन्दपुरा० काशी० २१। ५२; लिङ्गपुराण १। ७३। २२)

—उनका यह बार-बारका उपदेश ही प्रमाण है कि उनका एक क्षण भी भगवच्चिन्तन, भगवद्ध्यानसे खाली नहीं जाता था। भक्तिकी उपादेयताके सम्बन्धमें उन-उन पुराणोंमें उन्होंने जो प्रकरण लिखे हैं, वे भक्तिमार्गके पिपासुओंके लिये प्राणप्रद शम्बल हैं। अगणित आख्यानों तथा कथानकोंद्वारा उन्होंने जो भक्तिकी महत्ता दिखलायी है, वह बड़ी ही श्रद्धोत्पादक तथा उत्साहवर्द्धक है।

व्यासजीमें इसी प्रकार नवों प्रकारकी भक्तिके उदाहरण पाये जाते हैं। उनकी जीवनी भी स्वयं उन्हींकी निष्पक्ष लेखनीसे तृतीय पुरुषके रूपमें उनके ही ग्रन्थोंमें लिखी गयी है। अपने पिता पराशरजीसे उन्होंने वेदमें भगवद्यशका श्रवण किया था; भगवद्-यशःकीर्तनमें तो ये विश्वमें सबसे ही बाजी मार ले गये। प्रायः सारा भगवत्कथा-साहित्य उन्हींकी भास्वती भगवती अनुकम्पाकी देन है। आज भी साधारण कथावाचकको लोग व्यास कहकर ही सम्बोधन करते हैं।

अर्चन, वन्दन, पाद-सेवन आदि पूजाके अङ्ग भी उनके जीवनव्यापी निरन्तर कर्म हैं, यह उनकी पाद्म-स्कान्द आदिमें बतलायी पूजा-पद्धतियोंसे सुस्पष्ट है। स्कन्दपुराण प्रभास-खण्डके ११० वें अध्यायमें इन्होंने बतलाया है कि भक्ति लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक भेदसे तीन प्रकारकी होती है। गन्ध, माला, शीतल जल आदिसे की जानेवाली भक्ति लौकिक है; वेद-मन्त्र, हविर्दान, अग्निहोत्र, संस्रव-प्राशन, पुरोडाश, सोमपान आदि सब कर्म वैदिकी भक्तिके अन्तर्गत हैं। प्राणायाम, ध्यान, व्रत, संयमादि आध्यात्मिक भक्ति हैं। इसीके आवन्त्यखण्डके ७०वें अध्यायमें इन्होंने भक्तिके कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकार बतलाये हैं। पूर्वोक्त आध्यात्मिक भक्तिके भी यहाँ सांख्य, यौगिकी—ये दो भेद बतलाये हैं। इसी प्रकार पद्मपुराण, सृष्टिखण्डके १५वें अध्यायमे श्लोक १६४से १९२ तक ब्रह्माजीकी भक्तिके त्रिविध भेदपर विस्तारसे विचार किया है। इसीके उत्तरखण्डके २८०वें अध्यायमें भगवान् विष्णुकी श्रौत, स्मार्त तथा आगमोक्त आराधना-विधिपर विस्तृत प्रकाश डाला है। 'शिवपुराण' तथा 'लिङ्गपुराण'के १। २७, ७६; २। २०—२६ अध्यायोंमें रुद्रदीक्षा, लिङ्ग-प्रतिष्ठा, अघोर-अर्चापर विचार किया है। 'मत्स्यपुराण'के २५७ से २६९ तकके १३ अध्यायोंमें क्रियायोग (उपासना)-विधि, देवप्रतिमाके आकार, लक्षण, प्रतिष्ठा-विधि आदिपर अति विस्तृत विचार किया है, जितना अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। स्कन्दपुराणमें उनके द्वारा कई लिङ्गोंके स्थापित किये जानेकी बात आती है। इसी प्रकार देवीभागवत आदिमें अम्बायज्ञ आदिके अनुष्ठानकी भी बात आती है।

९— भक्तिके परमाचार्य भगवान् वेदव्यास

१०— रामभक्तिके महान् प्रचारक महर्षि वाल्मीकि

भक्ति तथा ज्ञान

(लेखक—श्रीयुत आर० कृष्णस्वामी ऐयर)
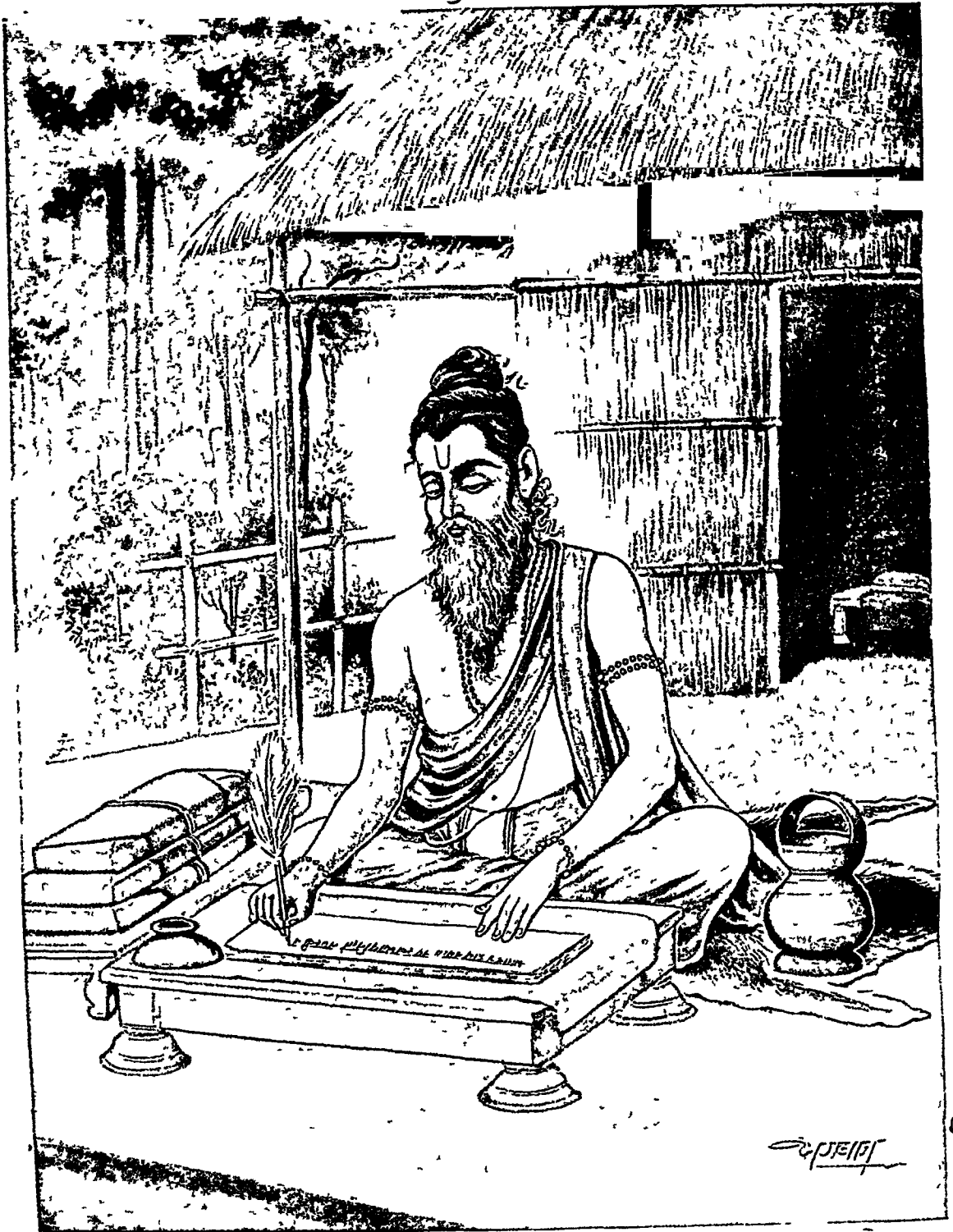
भक्ति एव ज्ञान—क्या ये परस्परविरोधी हैं, अथवा एक दूसरेके पूरक हैं ? और इन दोनोंमें व्यावहारिक दृष्टि तथा सैद्धान्तिक विचारसे कौन अधिक श्रेष्ठ है ? इन तथा ऐसे अन्य प्रश्नोंको लेकर विद्वज्जन वाद-विवाद करते तथा झगड़ते देखे-सुने जाते हैं। मैं इस विषयकी तार्किक विवेचनाके लिये प्रस्तुत नहीं हूँ। मैं अपनेको भगवान् श्रीकृष्णद्वारा अपनी अमर गीतामें किये गये कतिपय सरल वक्तव्योंकी व्याख्यातक ही सीमित रखना चाहता हूँ। यह बात मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ कि भक्ति-सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोणका, जो उसे व्यक्तिगत वा सामूहिक संगीत, नृत्य, पाठ इत्यादिके रूपमें मानता है, गीतामें कहीं उल्लेख नहीं है, इसलिये मैं उसके विषयमें कुछ कहना नहीं चाहता।

भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके सुकृती भक्त-जन मुझे भजते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि भगवान् ज्ञानीको भक्तसे अलग कोई व्यक्ति नहीं मानते, पर उसे भक्तोंकी ही एक श्रेणी बताते हैं। यह दिखानेके लिये कि भक्ति एव ज्ञान परस्परविरोधी नहीं हैं, इतना ही लिखना पर्याप्त है।

एक रोगी, जो डाक्टरके पास अपने किसी रोगकी निवृत्तिके लिये जाता है, उस डाक्टरके प्रति अत्यन्त सम्मानपूर्ण आचरण करता है और उसके निर्देशोंका पूरी तरह पालन करता है, किस लिये ? ऊपरसे देखनेपर ऐसा ज्ञात होता है कि वह आचरण डाक्टरको प्रसन्न करनेके लिये किया जा रहा है। पर क्या सचमुच ऐसा है ? या यह केवल इसलिये है कि शीघ्र-से-शीघ्र रोगसे मुक्ति प्राप्त हो ? डाक्टरके पास जाना रोगके कारण ही है; रोगीका डाक्टरके प्रति सारा विनीत एव आज्ञापालनका भाव भी रोगसे मुक्ति पानेकी इच्छासे ही प्रेरित है; यदि डाक्टर दयालु है तो रोग छूटनेके बाद भी रोगीमें उसके प्रति कृतज्ञताकी भावना हो सकती है, किंतु यदि डाक्टर शुद्ध पेशेवर प्राणी है तो कोई बन्धन हुआ भी तो उसी क्षण टूट जाता है जब रोगी [illegible] जाती है। जो हो, रोगीका अन्तिम [illegible] है; उसका डाक्टरकी [illegible] साधनमात्र है। इसी प्रकार यदि [illegible] से उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करता है [illegible] केवल अपने दुःखमोचनके लिये [illegible] उसके दुःखमोचनका एक [illegible] उसकी प्रार्थना करता है। यदि [illegible] दुःखसे मुक्ति प्राप्त कर सकता [illegible] प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं [illegible] अर्थ यह हुआ कि भगवान्‌का [illegible] नहीं है वर दूसरे ही उद्देश्य [illegible] साधनमात्र है।

इसी प्रकार जो [illegible] निःस्वार्थ [illegible] इसलिये करता है कि [illegible] मिल जाय, ऊपरसे स्वामीके प्रति [illegible] किंतु वस्तुतः [illegible] है उसका वेतन और [illegible] लिये नहीं वर वेतनके लिये है। [illegible] विषय अवश्य है, किंतु [illegible] भक्त किसी सांसारिक लाभके लिये भगवान्‌का [illegible] है, वस्तुत. उस लाभको [illegible] और भगवान्‌को उस लाभकी प्राप्तिका [illegible] कर देता है। जिज्ञासु भक्तके लिये भी [illegible] लिये ज्ञान ही अन्तिम ध्येय [illegible] उस ज्ञानकी प्राप्तिका [illegible] है। [illegible] भक्तोंमें श्रेणी भेद हो [illegible] बात सुनिश्चित है कि [illegible] ईश्वरको साधनमात्र [illegible] मुक्ति या [illegible] भगवान्‌ने चारों ही प्रकारके [illegible] किंतु तीनको [illegible] [illegible] दूसरे पदार्थ हैं, और [illegible]

की पूर्तिके मार्गमें एक पग भर है, इसलिये उनके लिये वे उद्देश्य मुख्य एवं ईश्वर गौण है। उनके लिये ईश्वर उनका अन्तिम या सर्वोच्च साध्य नहीं है। किंतु ज्ञानीके लिये ईश्वर न केवल भक्तिका विषय है वरं सर्वोच्च साध्य वा लक्ष्य भी है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
(गीता ७। १८)

'भगवान् कहते है कि अवश्य ही ये सभी उदार हैं, परतु मेरा मत है कि ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है; क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही भली प्रकार स्थित है।'

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १७)

यह भक्ति जिसमें दूसरेके लिये अवकाश नहीं है, अनन्य कहलाती है। वहाँ दूसरा कुछ नहीं है, इसलिये भक्ति भगवान्‌से दूर नहीं हटती। इसीलिये उसे 'अव्यभिचारिणी' भी कहा गया है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
(गीता ८। २२)

'हे पार्थ! वह परम-पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्य है।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! मैं अनन्य भक्तिके द्वारा इस रूपमें जाना जा सकता हूँ।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
(गीता १४। २६)

'जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करता है।' निम्नलिखित श्लोकार्द्धमें दोनों बातें कही गयी हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
(गीता १३। १०)

'बिना किसी दूसरी बातका विचार किये (अनन्यभावसे) मुझमें अव्यभिचारिणी भक्ति रखना।'

यही इस सूचीमें चौथी वह भक्ति है, जो वस्तुतः सर्वोच्च है और इसीलिये जिसे 'परा' संज्ञा दी गयी है—

मद्भक्तिं लभते पराम्। (१८। ५४)

'उसे मुझमें परा भक्ति प्राप्त होती है।'

यही परा भक्ति मनुष्यको उस अन्तिम प्रकाशतक ले जाती है, जिसके फलस्वरूप दूसरे ही क्षण मुक्ति मिल जाती है—ऐसी बात नहीं, अपितु जिसके समकालमें ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसपर विचार करना अनावश्यक है कि वह अवस्था भगवान्‌से घनिष्ठ सम्पर्ककी है, अथवा उसमे विलीन हो जानेकी, उसके साथ घुल-मिल जानेकी है। हमलोग आज जिस स्थितिमें हैं, उसमें रहते हुए उस अवस्थाकी यथोचित धारणा नहीं कर सकते। हमारे लिये इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि इसे ही सर्वोच्च अवस्था तथा जीवनका ध्येय घोषित किया गया है। यह सर्वोच्च प्रकाशकी, सर्वोच्च आनन्दकी, सर्वोच्च सत्यकी स्थिति है। जो शब्द इस इन्द्रियलब्ध जगत्‌की धारणाओंतक ही सीमित हैं, उन धारणाओंका अतिक्रमण करनेवाली स्थितिका सतोषजनक वर्णन कैसे कर सकते हैं? पर जब हमें उसका वर्णन करना पड़ता है, तब इन शब्दोंका सहारा लेनेके अतिरिक्त हमारे पास दूसरा विकल्प ही क्या है—भले वे शब्द कितने ही अपूर्ण क्यों न हों? यदि हम शब्दोंको उनके वाच्य अर्थमें ग्रहण करेंगे और उस स्थितिकी धारणामें प्रत्यक्ष जगत्‌के संदर्भमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके तात्पर्यको संनिविष्ट कर लेंगे तो अपनेको धोखा देंगे।

कल्पना कीजिये, एक मित्र मुझसे कहते हैं कि शर्करा मीठी है। मैं उनकी प्रामाणिकतामें अक्षुण्ण विश्वास रखता हूँ, अतः मुझे उनके वक्तव्यकी सत्यतामें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। संदेह और भ्रम—गलतफहमी—दो दोष हैं, जो ज्ञानको विकृत करते हैं। इनमेंसे कोई भी दोष मेरे मित्रके इस कथनमें नहीं है, इसलिये मैं इस ज्ञानकी यथार्थताका कि शर्करा मीठी है, निश्चयपूर्वक दावा कर सकता हूँ। परंतु क्या मैं स्वयं अनुभूत तथ्यके रूपमें इस ज्ञानका दावा कर सकता हूँ कि शर्करा मीठी है? यह दावा तो तभी किया जा सकता है, जब मैं एक चुटकी शर्करा अपनी जिह्वापर रखकर उसका स्वाद ले लूँ। तभी यथार्थरूपमें यह जाननेका दावा किया जा सकता है कि शर्करा मीठी है। इस प्रकार ज्ञान दो प्रकारका होता है—पहला निश्चयके ऊपर स्थित है; दूसरा वास्तविक अनुभवका परिणाम है। श्रीकृष्णने पहलेको ज्ञान तथा दूसरेको 'विज्ञान' नाम दिया है। जैसा कि सरलता-

पूर्वक देखा जा सकता है, पहला आरम्भिक कोटिका है और दूसरा चरम कोटिका। एकमें दूसरेका भ्रम नहीं होना चाहिये। मान लीजिये, मुझे एक मित्रसे ज्ञात हुआ कि शर्करा मीठी है, किंतु शर्कराको चखनेकी बात तो दूर रही, उसे प्राप्त करनेका भी प्रयत्न न करके मैं चुप बैठ रहता हूँ तो क्या मैं उपर्युक्त दूसरी स्थितिको पा सकता हूँ? मित्रने मुझे जो ज्ञान दिया है, उसका तो आदर मुझे करना ही चाहिये; साथ ही उस परोक्षज्ञानको वास्तविक अनुभवमें परिणत करनेकी भी निरन्तर और अथक चेष्टा करनी चाहिये। यदि आरम्भिक जानकारीको ज्ञानकी संज्ञा दी जाती है तो उसे अनुभव करनेकी निरन्तर चेष्टाको 'ज्ञान-निष्ठा' कहा जायगा और परिणाममें होनेवाले अनुभवकी 'विज्ञान' अथवा 'अभिज्ञान' संज्ञा होगी। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञाननिष्ठा प्राथमिक ज्ञानके पीछे आती है और द्वितीय ज्ञानके पहले आती है।

यही ज्ञान-निष्ठा, जो परोक्षज्ञानके बाद और वास्तविक अनुभवके पहले आती है, पराभक्ति कहलाती है, जो मूल सूचीमें चौथी है। इसलिये यह एक प्रकारके ज्ञानका परिणाम और दूसरे प्रकारके ज्ञानका कारण है। इस क्रमको भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके ५०वें से ५६वें श्लोक तक भलीभाँति व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

> सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
> समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
> (१८।५०)

'हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! ज्ञानकी परानिष्ठारूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसे तू मुझसे सुन।'

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
> अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
> (१८।५१-५३)

'हे अर्जुन! जो विशुद्ध बुद्धिसे युक्त है, जिसने धैर्यपूर्वक मनको निगृहीत कर लिया है, जिसने शब्दादि विषयोंका त्याग कर दिया है, जो राग-द्वेषरहित है, जो एकान्तसेवी, मिताहारी, वाणी, शरीर एवं मनको वशमें [illegible] ध्यानमग्न रहनेवाला एवं [illegible] काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर [illegible] हो गया है, वही ब्रह्मको प्राप्त [illegible]

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न [illegible]।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं [illegible]
> [illegible]

'इस प्रकार जिसने [illegible] अन्तःकरण निर्मल हो गया है [illegible] है, न किसी प्रकारकी [illegible] प्रति समभाव रखता हुआ [illegible]

> भक्त्या मामभिजानाति [illegible]।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते [illegible]॥
> [illegible]

'उस परा भक्तिके द्वारा [illegible] है कि मैं वस्तुतः क्या और [illegible] इस प्रकार मुझे यथार्थरूपसे [illegible] कर जाता है।'

यही भाव ग्यारहवें [illegible] जाता है—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य [illegible]।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन [illegible]॥

'हे अर्जुन! इस रूपमें [illegible] जा सकता हूँ तथा [illegible] मुझमें प्रवेश करना भी [illegible]।'

ऊपर उद्धृत किये हुए [illegible] शब्दका प्रयोग करके [illegible] उपर्युक्त भक्ति [illegible] है। ११वें [illegible] 'ज्ञान' [illegible] उल्लेख किया [illegible] गयी है—

> [illegible]

इस प्रकार [illegible] आत्मिक सदोषता [illegible]

ठीक-ठीक समझ लेनेपर भक्ति एवं ज्ञानके बीच कोई विरोध नहीं हो सकता।

जो इन दोनोंके बीच विरोध देखते हैं, वे 'भक्ति' और 'ज्ञान' शब्दोंके अर्थका स्पष्ट ज्ञान न होनेके कारण अपने आपको तथा दूसरोंको भी भ्रममें रखते हैं। स्पष्ट धारणा न होनेके कारण ही वे भक्तिसे ज्ञानको अथवा ज्ञानसे भक्तिको श्रेष्ठ बताते हैं। ऊपरके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आध्यात्मिक विकासकी निम्नलिखित श्रेणियाँ हैं—

१—सकाम भक्ति—व्यक्तिगत स्वार्थके साधनरूपमें भगवान्‌का आश्रय।

२—ज्ञान—शास्त्रों एवं गुरुओंसे प्राप्त ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान।

३—यथार्थ भक्ति या ज्ञाननिष्ठा—इस प्रकार जाने हुए ईश्वरके साक्षात्कारके लिये तीव्र प्रयत्न।

४—विज्ञान—अन्तिम सिद्धि या ब्रह्म-साक्षात्कार।

ध्यान देनेकी बात यह है कि क्रमाङ्क १ और ३ दोनोंको 'भक्ति' और क्रमाङ्क २ और ४ को 'ज्ञान' संज्ञा दी गयी है। जो इस अन्तरको स्पष्टरूपसे अपने सामने नहीं रखता, वह कह सकता है कि भक्ति ज्ञानसे श्रेष्ठ है; वह ठीक कहता है यदि उसका अभिप्राय क्रमाङ्क ३ की भक्ति और क्रमाङ्क २ के ज्ञानसे है। उसका कथन अयथार्थ है यदि उसका आशय क्रमाङ्क ३ की भक्ति और क्रमाङ्क ४ के ज्ञानसे है। दूसरा व्यक्ति कह सकता है कि ज्ञान भक्तिसे श्रेष्ठ है। वह ठीक कहता है यदि उसका आशय क्रमाङ्क २ के ज्ञान और क्रमाङ्क १ की भक्तिसे है। वह ठीक नहीं कहता यदि उसका अभिप्राय क्रमाङ्क २ के ज्ञान और क्रमाङ्क ३ की भक्तिसे है। फिर मैं यह समझनेमें असमर्थ हूँ कि जो बातें समानरूपसे महत्त्वपूर्ण हैं उनको लेकर बड़ाई-छुटाईका प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। यदि दोनोंमेंसे एक भी दूसरेके बिना टिक नहीं सकता और प्रत्येक अनिवार्य है, तब अपेक्षाकृत श्रेष्ठताका कोई प्रश्न उठ नहीं सकता। कौन श्रेष्ठ है—भवनके ऊपरका भाग या उसकी नींव ? कौन श्रेष्ठ है, सीढीका तीसरा डंडा या चौथा डंडा ? ऐसे प्रश्न वस्तुतः निरर्थक हैं; वे हमारे मनको केवल भ्रमित करते हैं और जो यथार्थ समस्या हमारे सम्मुख है और यदि हम मुक्त होना चाहते हैं तो जिसका हल तुरंत आवश्यक है, उससे हमें दूर, और दूर ले जाते हैं।

फिर इस समय जिस स्थितिमें हम हैं, उसमें क्या हम ऐसे प्रश्नोंपर विचार करनेमें समर्थ हैं, जिनका हमारे आचरणसे कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं है और क्या उनपर विचार करनेसे किंचित् भी लाभ है ? यदि हम अपने हृदयोंको टटोलें और जान-बूझकर अंधे न बनें तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि हम भक्तिकी उस प्रथमावस्थासे भी बहुत-बहुत दूर हैं, जिसे हमने 'सकाम' संज्ञा दी है। जब हम बीमार पड़ते हैं, तब हमें प्रथम स्मृति 'डाक्टर'की होती है; यदि हम कोई लाभ चाहते हैं तो हम अपने प्रयत्नोंपर ही भरोसा करते हैं; जब हम कोई बात सीखना, जानना चाहते हैं, तब हमें पता रहता है कि उस विषयपर बहुतेरे ग्रन्थ हैं—यहाँतक कि शिक्षक भी अनावश्यक मान लिया जाता है। यह है हमारी सामान्य मनोवृत्ति। हमारे अपने दैनिक जीवनकी व्यवस्थामें ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है। हमें इस स्थितिसे ऊपर उठना होगा और ईश्वरपर पूर्ण निर्भरताका प्रथम पाठ सीखना होगा। क्या हम जो साँस लेते हैं, वह अपने संकल्प या अपनी इच्छासे लेते हैं ? यदि यह बात होती तो दूसरी बातोंकी ओर ध्यान देते ही या निद्रामग्न होते ही हम मर जाते। क्या पाचन हमारे संकल्पसे होता है ? गलेसे नीचे उतर जानेके बाद हम भोजनके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। क्या हम अपनी इच्छासे जन्म लेते या अपनी इच्छासे मर सकते हैं ? हमें अनुभव करना चाहिये कि हम कुछ नहीं कर सकते और ईश्वरके अभिकर्तृत्वके बिना हमें कुछ भी नहीं हो सकता। इस समय इतना ही अनुभव हमारे लिये पर्याप्त है। यही एक-एक पग आगे बढ़ाते हुए हमें अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचा देगा।

भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है

श्रीसूतजी कहते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

(श्रीमद्भा० १। २। ६)

मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—श्री एम्० लक्ष्मीनरसिंह [illegible])

भक्ति और ज्ञान निःश्रेयस प्राप्तिके दो प्रमुख मार्ग हैं, भवजालसे छूटनेके तथा शाश्वत सुख उपलब्ध करनेके अमोघ साधन हैं। ये परमार्थके साधन ही नहीं वरं स्वयं परमार्थरूप हैं। अतएव इन दोनोंको मोक्ष-लाभका अचूक साधन मानना न्यायसगत ही है।

किंतु भगवान् श्रीकृष्ण बड़ी चतुराईसे केवल दो ही योगोंका उल्लेख करते हैं—ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और कर्मप्रवण स्वभाववालोंके लिये कर्मयोग। वे भक्तिका पृथक् योगके रूपमें उल्लेख नहीं करते—

> लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
> ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥*
>
> (गीता ३। ३)

क्या इसका यह अर्थ है कि श्रीभगवान्‌के मतसे भक्तिमें कर्म और ज्ञान दोनोंके लक्षण घटते हैं, अतः कर्म और ज्ञान—इन दोनों मार्गोंमें भक्तिका भी समावेश हो जाता है? यदि भगवान् श्रीकृष्णका वास्तवमें यही भाव हो तो यह परम्परागत विचारधाराके साथ पूर्णतया मेल खाती है। वेद भी केवल दो ही मार्गोंका प्रचार करते हैं—कर्मकाण्डमें वर्णित कर्म-मार्ग और ज्ञानकाण्ड अथवा उपनिषदोंमें वर्णित ज्ञानमार्ग। किंतु छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक-जैसे उपनिषदोंमें ज्ञानकाण्डके सर्वोच्च तत्त्वज्ञानके पहले बहुत-सी उपासनाओं या विद्याओं अर्थात् मानसिक पूजाकी विधियोंका उल्लेख है, जिनमें उपासकको उपास्यका इस रूपमें गाढ़ चिन्तन करनेका आदेश दिया गया है कि उपास्यका उपासकके साथ और उपासकका उपास्यके साथ अभेद है। इसीको शास्त्रीय भाषामें 'अहंग्रहोपासना' कहते हैं। उपनिषदुक्त उपासनाएँ भक्तिके ही पूर्वरूप हैं; क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया तथा उपनिषत्-प्रोक्त उपासनाओंमें अत्यन्त विलक्षण साम्य है। इसलिये परानुभूतिमें सहायकमात्र होने तथा ज्ञानप्राप्तिका एक मुख्य अङ्ग होनेके नाते वैदिक परम्परामें भक्तिकी एक पृथक् योग अथवा मार्गके रूपमें गणना नहीं हुई है। दूसरे शब्दोंमें, श्रुतियोंके अनुसार एवं वैदिक परम्पराके सर्वापेक्षा सच्चे और मूलानुसारी व्याख्याता भगवान् श्रीकृष्णके मनसे अत्यन्त अन्तरङ्ग [illegible] सर्वोच्च तत्त्व निर्गुण ब्रह्मके [illegible] है—भक्ति।

मानो अपने [illegible] पुनः श्रीमद्भागवतके [illegible] समझाते हैं कि मानवके परम [illegible] मार्ग हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन [illegible] कोई चौथा उपाय नहीं है—

> योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
> ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥[illegible]
>
> (श्रीमद्भा० ११ । [illegible])

यहाँ भी भक्तिका ज्ञान और कर्म दोनोंसे [illegible] श्रीभगवान् मानो यह भी प्रकट [illegible] हैं कि [illegible] ज्ञान और कर्मका ही मधुर [illegible] है—[illegible] है यही बात।

किंतु कर्मयोगको कभी भी मोक्षके [illegible] अथवा साक्षात् साधनके रूपमें स्वीकार नहीं किया [illegible] है। शास्त्रविहित और [illegible] कर्म [illegible] मूल अहंकारकी शक्तियोंको क्षीण [illegible] है। अहंकारके इस प्रकार [illegible] हो [illegible] मन और बुद्धि पवित्र—निर्मल हो जाते हैं और [illegible] योग्य बन जाता है कि उसमें [illegible] परानुरक्तिका भाव जाग्रत् हो [illegible] ब्रह्मकी अनुभूतिका उदय हो [illegible]। [illegible] मात्र होनेके नाते कर्मको [illegible] जा सकता है।

[illegible] ये दो ही मार्ग [illegible] यह प्रश्न उठता है—[illegible] कि दोनोंमें [illegible] कौन है। [illegible] मन लगा देनेवाले [illegible]!

---

* हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहिले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियों-की निष्कामकर्मयोगसे।

[illegible] ([illegible]) [illegible]

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥*
(गीता १२। १)

पाँच सहस्र वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें जिस प्रश्नको अर्जुनने उठाया था, उसका उत्तर यद्यपि श्रीभगवान्‌ने कृपा करके संशयशून्य और स्पष्ट शब्दोंमें दे दिया है, फिर भी युग-युगमें बार-बार उस प्रश्नको दुहराया गया है। कालके प्रवाहमें कतिपय निरे बाह्य भेदोंको लेकर भक्तिमार्ग और ज्ञान-मार्ग एक दूसरेसे अधिकाधिक दूर हटते गये हैं, जिसके कारण सामान्यतया निस्संकोच यह बात कही जाती है—यद्यपि उनका यह कहना विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता—कि ज्ञान और भक्तिका एक दूसरेके साथ सर्वथा मेल नहीं है, वे एक दूसरेके साथ रह ही नहीं सकते, बल्कि दोनों निश्चय ही परस्परविरोधी हैं। अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी धारणाका मूल क्या है।

भक्ति-सम्प्रदायोंके अनुयायियों तथा ज्ञानमार्गके समर्थकों-के बीच इस पारस्परिक अविश्वासकी भावनामें हेतु है समस्याको यथार्थ दृष्टिकोणसे समझनेकी चेष्टाका अभाव। प्रत्येक पक्ष बिना व्यक्तिगत झुकावका विचार किये यही सोचता है कि उसकी साधन-प्रणाली सबके उपयोगी है। यह सर्वविदित कहावत कि 'किसीको बैंगन पथ्य है, किसीको जहर समान' आध्यात्मिक अनुभूतिके राज्यमें भी उतनी ही सत्य है, जितनी दैनिक जीवनके व्यवहारमें। इस बातको सब लोग जानते हैं कि कुछ व्यक्ति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं, साथ ही अत्यन्त भाव प्रवण प्रकृतिके तथा रसिक होते हैं। भक्तिमार्ग निस्संदेह ऐसे ही लोगोंके लिये है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, यद्यपि उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है, जो आदर्शवादी होते हैं, जिनकी बुद्धि बड़ी पैनी होती है और जिनका दृष्टिकोण निरा वैज्ञानिक होता है। ऐसे व्यक्तियोंके लिये है—ज्ञानका कठोर पथ। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं इस बातको यह कहकर स्पष्ट कर दिया है कि उनके प्रति जिनकी अविचल और सच्ची भक्ति है, वे उन्हें अधिक सुगमतासे प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत जो लोग अपनी विद्रोही इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त करके पूर्ण समता एवं समस्त भूतप्राणियोंके प्रति सहानुभूतिके द्वारा कूटस्थ एवं अनिर्वचनीय ब्रह्मके चिन्तनमें डूबे रहते हैं, वे भी उन्हींको प्राप्त करते हैं, यद्यपि उनका मार्ग श्रमपूर्ण तथा असंख्य विघ्न-बाधाओंसे संकुल होता है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥*
(गीता १२। २—५)

इसलिये भिन्न-भिन्न अधिकारियों, भिन्न-भिन्न प्रकृतिके लोगोंके लिये उपयुक्त होनेपर भी भक्तिमार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनोंका ही लक्ष्य ठीक एक ही है। सक्षेपतः, उपायरूपमें साधन-प्रणालीकी दृष्टिसे भक्ति और ज्ञान परस्पर सर्वथा विरोधी होनेपर भी उपेयरूपसे दोनों एक ही हैं। यद्यपि यह बात कट्टर भक्तिवादियोंके गले कठिनाईसे उतरेगी, फिर भी हम परा भक्ति और सर्वोच्च ज्ञानकी एकताको प्रमाणित करने-की चेष्टा करेंगे।

किंतु दोनोंकी एकताकी प्रामाणिकताको ठीक-ठीक

---

* जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको अति श्रेष्ठ भावसे भजन करते हैं और जो अविनाशी, सच्चिदानन्दघन निराकारको ही उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकारके भक्तोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ?

* मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझे योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् मैं उनको अतिश्रेष्ठ योगी मानता हूँ। और जो लोग इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकी-भावसे ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगे हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। किंतु उन सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें आसक्त-चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभि-मानियोंद्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें स्थिति होना कठिन है।

भिन्न कि दया आती है हमारी भिन्नतापर।' अविद्यामूलक यह अनादि भेददृष्टि, यह द्वैत-भावना ही समस्त मानव-दुःखोंका मूल कारण है। ब्रह्मसे भिन्न होनेकी इस मिथ्या भावना—इस मायाको ही जीवनकी इस दुःखमय स्थितिका हेतु बतलाया गया है। कठोपनिषद् इस सत्यको यह कहकर हृदयङ्गम कराता है कि जो भी द्वैत-दृष्टि रखता है, उसे अनन्तकालके लिये जन्म-मृत्युके अनन्त प्रवाहमें बहना पड़ेगा—

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।*
(कठ० २ । १ । ११)

अन्यत्वकी, द्वैतकी भावना ही भयका मूल कारण है—द्वितीयाद्वै भयं भवति।

परंतु थोड़ी देरके लिये ब्रह्मकी चर्चाको स्थगित करके हम यह प्रश्न उठाते हैं कि ऐसी दशामें यह नाना-रूपोंवाला विश्व, जिसका हम अनुभव करते हैं—जिसे हम देखते हैं, सुनते हैं, जिसका स्पर्श करते हैं, जिसका स्वाद लेते हैं, जिसे सूँघते हैं तथा अन्य प्रकारसे जिसको हम जानते हैं, क्या सत्य नहीं है। यदि वह सत्य है तो फिर द्वैत-दर्शन भ्रान्त कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि यह सब कुछ, विश्व और उसके असंख्य पदार्थ—ब्रह्म है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।† (छान्दो० ३ । १४ । १) वह एक पग और आगे बढ़कर कहता है कि हमारे भीतर रहनेवाला आत्मा विश्वसे अभिन्न है—इदं सर्वं यदयमात्मा। इस प्रकार सभी जीव (जैसा कि हम अपनेको समझते हैं) ब्रह्म हैं। जगत् ब्रह्मरूप है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और जगत् एक, केवल एक ही हैं, तथा इस अद्वय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

किंतु यह कैसे हो सकता है ? हम अपने जीवनमें प्रत्येक मोड़पर भेद, द्वैतका दर्शन करते हैं। उपनिषद् वर्तमान उन तथ्योंकी जो हमारे सामने हैं, अवहेलना करके, जिससे भिन्न कोई और सत्ता नहीं बतायी जाती—ऐसे निर्गुण ब्रह्मकी स्थापना करनेका साहस कैसे कर सके ? सहस्रों श्रुतिवाक्य भी, चाहे वे कितने ही प्रमाणभूत क्यों न हों, घटको पटमें नहीं बदल सकते—नहि श्रुतिशतेनापि घटं पटयितुमीशते। उपनिषदोंके निष्कर्ष कल्पनाप्रसूत हो सकते हैं, बुद्धिको चमत्कृत कर देनेवाले हो सकते हैं, किंतु वे सत्य तो हो नहीं सकते। उपनिषदोंके सम्बन्धमें नम्र-से-नम्र शब्दोंमें हम इतना ही कह सकते हैं।

किंतु ऐसा है नहीं। उपनिषदोंकी विशेषता यही है कि वे हमारे लिये उस विषयपर प्रकाश डालते हैं, जिसे हम जानते ही नहीं और वे हमें अबाधित परम सत्यका ज्ञान कराते हैं—अनधिगताबाधितार्थबोधजनकत्वं वेदानाम्। अथवा अज्ञातज्ञापनपरत्वमुपनिषदाम्। उपनिषद् यदि हमारी द्वैत-भावनाका ही समर्थन करते, तब तो उनकी चरितार्थता हमारी बातकी पुष्टि (अनुवादपरत्व)में ही होती; किंतु उपनिषदोंका उद्देश्य तो है उस परम सत्यका बोध कराना, जिसको यदि जाना जा सकता है तो केवल सर्वोच्च अन्तर्ज्ञानसे, जो महावाक्योंद्वारा ही प्रबुद्ध होता है।

थोड़ी देरके लिये यह मान लें कि उपनिषद् परम सत्यको प्रकाशित करते हैं, परंतु उसकी सत्यताका क्या प्रमाण है ? भोजनकी परीक्षा तो उसे चखकर ही की जा सकती है। तो उपनिषत्-प्रतिपादित सत्यका साक्षात्कार भी किसीने किया है ? हाँ, इस बातके पर्याप्त प्रमाण हैं कि शुक, वामदेव, त्रिशङ्कु (एक औपनिषदिक ऋषि) और याज्ञवल्क्यने उस परिच्छिन्न आनन्दमय ब्रह्मका अपने अंदर साक्षात्कार किया था। अतएव उपनिषदोंकी शिक्षा कोरी कल्पना नहीं हो सकती। वह निश्चित सत्य होनी चाहिये।

किंतु शुक, वामदेव आदिकी आध्यात्मिक अनुभूति चाहे कुछ भी रही हो, हम अपने दैनिक जीवनमें अपने आपको तथा अपने चारो ओर स्थित संसारको सत्य पाते हैं और ब्रह्म कभी एक बार भी जाननेमें नहीं आया, अपने साथ उसके अभेदकी तो बात ही क्या हो सकती है। क्या हम तथा हमारे इर्दगिर्दका संसार असत् है ? कदापि नहीं। हम और यह जगत् बौद्धोंकी परिभाषाके अनुसार अर्थात् शून्यके अर्थमें सत्तारहित नहीं हैं। जिस अर्थमें शश-विषाण सत्तारहित है, उस अर्थमें भी हम सत्तारहित नहीं हैं। तब हम और विश्व यदि सत्तारहित नहीं हैं तो हमें सत्तावान् होना चाहिये अर्थात् हम और संसार सत् होने चाहिये। हाँ, हम और विश्व सत् और असत् दोनों है, अथवा हम सत् और असत्से भी परे कोई वस्तु हैं। जगत्की वास्तविकताकी यथार्थ मात्राका निरूपण नहीं किया जा सकता। वह अनिर्वचनीय है। अधिक बोधगम्य भाषामें कहें तो यह संसार नामरूपात्मक प्रपञ्चके रूपमें असत् है, किंतु ब्रह्मके रूपमें यह सदा ही सत्

* जो पुरुष यहाँ—इस जगत्में नानात्व-सा देखता है, वह एक मृत्युसे दूसरी मृत्युको जाता है।

† यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है।

है। इसी प्रकार हमलोग भी असख्य जीवोंके रूपमें असत् हैं, किंतु एक ब्रह्मके रूपमें सदा सत् हैं। दृश्य जगत्की यथार्थताकी मात्राका ठीक-ठीक निरूपण करना कठिन है। यह ऐकान्तिक तथा शाश्वतरूपसे सत् नहीं है; क्योंकि ऐसे क्षण भी आते हैं जब कि बाह्य जगत् अपनी सत्ताको खो बैठता है—जैसे हमारी स्वप्नावस्था अथवा प्रगाढ निद्राकी अवस्थामें। संक्षेपमें, यदि यह ऐकान्तिकरूपसे सत् हो तो कभी इसका ज्ञान लुप्त नहीं होना चाहिये और यदि यह ऐकान्तिकरूपसे असत् हो तो कभी इसका ज्ञान होना ही नहीं चाहिये—सच्चेत् न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत। अतएव बाह्य ससार सत् और असत् दोनों है। सारांश, यह मिथ्या है।

सत्ताकी तीन अवस्थाएँ हैं। संसारमें रचेपचे अज्ञानीके लिये जगत और असख्य जीव सर्वथा सत् हैं, अर्थात् इन सबकी 'व्यावहारिक सत्ता' है। पर जिनके भीतर ब्रह्म-ज्ञानका आलोक उतर चुका है, उनके लिये जगत्की सत्ता केवल ऊपरी छायामात्र है, जैसे मरुभूमिमें मरीचिकाकी। इसीको 'प्रातिभासिक सत्ता' कहते हैं। किंतु जिन्होंने अपनेको ब्रह्ममें लीन कर दिया है अर्थात् जो मुक्त हो गये हैं, उनके लिये केवलमात्र ब्रह्म ही निरपेक्ष सत् है, अन्य कुछ है ही नहीं। यही 'पारमार्थिक सत्ता' है। इस पारमार्थिक सत्ताकी अनुभूतिमें सारे व्यवहार शान्त हो जाते हैं, जैसे जागनेपर स्वप्नजगत् लुप्त हो जाता है। सत्ताकी इन तीनों अवस्थाओंका तात्पर्य समझ लेना परम आवश्यक है, अन्यथा उपनिषदोंका ज्ञानमार्ग हमारे लिये नितरा अगम्य ही रहेगा।

अतएव यह निष्कर्ष निकला कि अद्वैत अथवा पारमार्थिक दृष्टिसे केवल ब्रह्म ही सत् है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

किंतु व्यवहारक्षेत्र अथवा व्यावहारिक दशामें जगत् सत् है, नाना जीव भी सत् हैं और ईश्वर अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत्के जीव-समूहकी नियतिका नियन्ता है। जगत्पतिके रूपमें ईश्वर अर्थात् सगुण ब्रह्म सर्वेश एव तेजोमय भास्कर है। उनका प्रत्येक सकल्प परम सत्य है। वे समस्त गुणोंके आगार हैं। छान्दोग्यके शब्दोंमें वे हैं—

प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः·····सर्वकाम. सर्व-गन्धः सर्वरसः। (३।१४।२)

सासारिक बन्धनमें पडे हुए मनुष्यको अविचल एवं अनुरागपूर्ण भक्तिसे युक्त होकर इन्हीं परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये तथा अपने सम्पूर्ण [illegible] करना, अपनेको [illegible] प्रभुके अर्पण कर देना चाहिये। [illegible] जायगा, तभी [illegible] होगी और तब गुरुके ज्ञान [illegible] उपास्य ईश्वरके साथ अपने [illegible] जाता है, [illegible] होनी चाहिये [illegible] भक्तिसे हो सकता है [illegible] स्थिति नहीं है, [illegible] लिये आत्मपूर्ण प्रेरित [illegible] जो अपने [illegible] अपने इष्टदेवके [illegible]—

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। [illegible]

([illegible])

वास्तवमें जो उपासक [illegible] अभेद स्थापित कर लेता है, वह [illegible] ([illegible]) ही बन जाता है—आत्मा [illegible]। ([illegible])। [illegible] अभेदोपासकको सगुण ईश्वर [illegible] साक्षात्कार प्रदान [illegible] प्रपञ्च विलीन हो जाता है और [illegible] भावको [illegible] लिये त्यागकर [illegible] है जैसे सागरमें नदी।

यथा नद्य[illegible]
[illegible]
तथा विद्वान् [illegible]
परात् परं [illegible]

([illegible])

इस प्रकार [illegible] है, कोरी [illegible] सत्ता है, [illegible] बिना ईश्वरकी [illegible]—

* [illegible]

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।

इस प्रकार ब्रह्मरूप पर्वत शिखरकी कठिन चढाई चढनेवाला उपनिषदोंका ज्ञानमार्ग कर्म और भक्तिको अपनी सोपानशिलाएँ बनाता हुआ चलता है। निष्काम कर्म अहंकारको क्षीण करके हृदय और बुद्धिको निर्मल कर देता है। तब स्थिरताको प्राप्त हृदयमें भक्तिका उदय होता है । और उपासककी भक्तिसे आकृष्ट होकर जब भगवान्‌की कृपा उसपर उतरती है, तब भक्त ब्रह्मज्ञानमें डूब जाता है, मानो इस ज्ञानके आनन्दकी लहरोंमें वह खो जाता है । भक्तपर भगवत्कृपाका अवतरण और ब्रह्मज्ञानका उदय साथ-ही-साथ होते हैं, अथवा ब्रह्मज्ञानकी पूर्णताका नाम ही है भगवत्कृपा ।

अब हम भक्तिकी ओर मुड़ें । इस शब्दकी व्युत्पत्ति 'भज्' धातुसे है, जिसका अर्थ होता है सेवा—भज सेवायाम् । सामान्यतः इसका अर्थ होता है 'अनुरागपूर्ण आसक्ति और स्वेच्छासे की जानेवाली सेवा । किंतु यह एक विशेष अर्थका वाचक हो गया है । वह है ईश्वरके प्रति ऐसी अनुरक्ति, जो अन्य सब भावोंको ग्रास कर ले । भक्तिके वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदाय क्रमशः विष्णु, शिव और शक्तिकी भक्तिके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए उस-उस भक्तिको ही अनिवार्यरूपसे मुक्तिके लिये आवश्यक बताते हैं । जहाँ ज्ञानमार्गने उपनिषदोंकी चौड़ी नीवपर अपना भव्य प्रासाद खड़ा किया है, भक्तिके सम्प्रदाय आगमों और तन्त्रोंके आधारपर खड़े हैं । भक्तिके वैष्णव-सम्प्रदायोंकी विशिष्ट साधना-पद्धतिका मूल महाभारत, शान्तिपर्वके नारायणीयखण्ड, पाञ्चरात्र-संहिताओं, श्रीमद्भगवद्गीता, भागवत-महापुराण तथा नारद एवं शाण्डिल्यके भक्ति-सूत्रोंमें निहित है । किंतु बहुधा वे उपनिषद्-वाक्योंका भी प्रमाणरूपमें सहारा लेते हैं, जहाँ वे वाक्य उनके सिद्धान्त-पक्षकी पुष्टि करते हुए दिखायी पड़ते हैं । भक्तिके शैव-सम्प्रदाय अपनी मान्यताका आधार अट्ठाईस शैव-आगमों तथा लिङ्ग और स्कन्द आदि शैवपुराणोंको मानते हैं । इसी प्रकार शाक्त-सम्प्रदाय भक्तिका क्षेत्र और स्वरूप-निर्धार करनेमे शाक्त-तन्त्रों तथा ब्रह्माण्ड एवं देवीभागवत आदि शाक्त-पुराणोंका आश्रय लेते हैं । किंतु भक्तिके सारे सम्प्रदायोंमें केवल वैष्णव-सम्प्रदाय ही ऐसे हैं, जिन्होंने बड़े उत्साहसे भक्तिकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या की है, उसे अत्यन्त उच्चकोटिकी रसमयता प्रदान की है तथा भगवान्‌के प्रति भक्तके भावोंकी गहरी छान-बान की है ।

सभी भक्ति-सम्प्रदायोंकी सामान्य विशेषता यह है कि वे केवल एक निर्गुण ब्रह्मको पारमार्थिक सत्ताके रूपमें स्वीकार नहीं करते । कुछ भक्ति-सम्प्रदाय, जिन्हें विवश होकर निर्गुण ब्रह्मको स्वीकार करना पड़ता है, बड़े सकोचके साथ ऐसा करते हैं । प्रत्युत ज्ञानमार्गमें जिसे व्यावहारिक सत्ताके रूपमें स्वीकार किया गया है, भक्ति-सम्प्रदायोंके मतसे वही 'पारमार्थिक सत्ता' है । दूसरे शब्दोंमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी सगुण ईश्वर ही उनके यहाँ परम सत्य है । असंख्य जीव भी नित्य सत् हैं । इसी प्रकार यह प्रपञ्च भी इस अर्थमें परम सत्य है कि वह भगवान्‌की दिव्य विभूतिका श्रेष्ठ निदर्शन तथा श्रीमद्भागवत-पुराणके अनुसार ईश्वरका स्थूल शरीर है । अधिकांश भक्ति-सम्प्रदायोंके अनुसार ईश्वर, जीव और प्रपञ्च—तीनोंकी एक समष्टि है, जिसके साथ प्रत्येकका वही सम्बन्ध होता है जो अंशका अंशीसे, गुणका गुणीसे तथा देहका देहीसे होता है । इस प्रकार जीव ईश्वरसे भिन्न होनेपर भी इस अर्थमें अभिन्न है, जिस अर्थमें अंशीमें अंश विद्यमान रहते हैं और वह उनसे अभिन्न होता है । भक्ति-सम्प्रदायोंकी धारणाके अनुसार मुक्तिमें भी जीव ब्रह्ममे उस प्रकार अभिन्नरूपसे विलीन नहीं हो जाता, जैसा ज्ञानमार्गके अनुयायी कहते हैं, वरं सायुज्यलाभमें भी अपने व्यष्टिभावको खोये बिना ही ईश्वरके साथ निकटतम सम्पर्क प्राप्त करता है । किंतु अधिकतर तो मुक्तिका अर्थ एक नित्य अप्राकृत लोकमें ईश्वरके साथ सालोक्य तथा उनकी अनुरागपूर्ण सेवा अथवा नित्य-लीला-रसमे योगदान ही लिया जाता है । जीवके ईश्वरके साथ संयोगके विषयमें भक्ति-सम्प्रदायोंकी सामान्य भावनाका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन श्रीजीवगोस्वामीद्वारा रचित षट्सन्दर्भनामक ग्रन्थके 'प्रीतिसन्दर्भ'नामक प्रकरणके एक अंशमें मिलता है । वह अंश विष्णुपुराणके निम्नाङ्कित श्लोकमें आये हुए 'योग' शब्दके तात्पर्यसे सम्बन्धित है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥*

(वि० पु० ६ । ७ । ३१)

यदि योगका अर्थ भगवान्‌में तल्लीन होकर अभेदरूपसे मिल जाना माना जाय तो जीवगोस्वामी ऐसे योगकी सम्भावनाको स्वीकार नहीं करते । विद्वद्वर गोस्वामिपाद इसका हेतु बताते हुए कहते हैं कि ऐसे योगका अर्थ यह होगा

* आत्मज्ञानके प्रयत्नभूत यम-नियम आदिकी अपेक्षा रखनेवाली जो मनकी विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्मके साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है ।

कि या तो जीवकी परमात्माके रूपमें परिणति हो जाय अथवा दोनों मिलकर एक सर्वथा पृथक् सत्तामें परिणत हो जायँ। पहले विकल्पको तो तुरंत ही मनसे निकाल देना चाहिये; क्योंकि ईश्वरसे तत्त्वतः भिन्न होनेके कारण जीव कभी तद्रूप नहीं हो सकता, जैसे लोहेके गोलेको चाहे जितनी ही तेज आगमें तपाया जाय और आगकी भाँति वह चाहे कितना भी दहकने लगे, वह आग कभी नहीं बन सकता, लोहाका-लोहा ही रहेगा। दूसरे विकल्पको भी त्याग देना पड़ेगा; क्योंकि उसका अर्थ होगा परमात्मामें परिणाम या विकारको स्वीकार करना, जो उनके स्वरूपके सर्वथा विरुद्ध होगा। अतः जीव कभी ईश्वरमें विलीन नहीं हो सकता। इस प्रकार भक्ति-सम्प्रदायोंकी मुक्तिके विषयमें सामान्य भावना यही है। मुक्तिका अर्थ है—आनन्द और आनन्दके लिये आस्वादक, आस्वाद्य और आस्वादन—तीनों आवश्यक हैं। अपने इस मतके अनुरूप ही भक्तिके सभी सम्प्रदाय जीवका ब्रह्ममें विलीन होना नहीं मानते हैं।

ज्ञान और भक्ति-मार्गकी बहुसंख्यक अन्य विषमताओं-का* विवेचन न करके इस समय हम केवल इसी प्रश्नपर विचार करेंगे कि भक्ति-सम्प्रदायोंमें ज्ञानका क्या स्थान है। यद्यपि भक्तिके बहुत-से सम्प्रदाय भक्तिके सहायकरूपमें बेचारे ज्ञानकी आवश्यकताको स्वीकार करते हैं, फिर भी कुछ भक्ति-सम्प्रदाय ऐसे हैं जो ज्ञानका भक्तिके क्षेत्रसे सर्वथा बहिष्कार कर देते हैं। उदाहरणार्थ श्रीरूपगोस्वामी कर्म और ज्ञान दोनोंसे कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहते—ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।† इस मतका समर्थन करनेमें ऐसा लगता है श्री-रूप भक्तिसूत्रोंमें उल्लिखित श्रीनारदके विचारोंसे प्रभावित हुए हैं—

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके। अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये।
स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः।

(भक्तिसूत्र २८–३०)

नारदजी कहते हैं कि 'किन्हीं आचार्योंके मतसे भक्तिका साधन ज्ञान ही है। कुछ दूसरे अचार्योंका मत है कि भक्ति और ज्ञान एक दूसरेके आश्रित हैं। किंतु ब्रह्मकुमार (नारद) के मतमें भक्ति [illegible] साध्य भी। साधनरूपमें ही [illegible] आपत्ति है। [illegible] विश्वास नहीं [illegible] उसका उचित स्थान देना [illegible] यह नहीं मान लें कि प्रस्तुत [illegible] का महत्त्व बतानेके उद्देश्यसे [illegible] है। जो कुछ भी हो, भक्ति-सम्प्रदायोंने [illegible] विरोधको बढ़ानेके लिये [illegible] है। इस धारणाकी पुष्टिमें [illegible] के रूपमें कही जाती है कि [illegible] छूतक नहीं गया था। [illegible] कर लिया।

हमें अब यह विचार करना [illegible] की कसौटीपर ठहरता है या नहीं। [illegible] कही जा सकती है [illegible] श्रीकृष्णकी भगवत्ता तथा उनकी [illegible] पूर्णतया परिचित थीं [illegible]

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
[illegible]।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
[illegible]॥

[illegible]

फिर दुर्वासाऋषिके [illegible] कर सकते हैं, [illegible] दण्डकारण्यके [illegible] प्रेमसे [illegible] उनके साथ [illegible] की आज्ञा दी थी। [illegible]

* क्योंकि अनेक अन्य विद्वानोंने भी भक्तिपर लिखा होगा, इसलिये लेखक भक्तिका उतनी ही दूरतक विवेचन करना चाहता है, जहाँतक उसका केवल ज्ञानसे सम्बन्ध है।

† ज्ञान-कर्म आदिके आवरणसे रहित।

[illegible]

नहीं होंगे। और यदि भक्तिके लिये ज्ञान निष्प्रयोजन तथा सर्वथा बहिष्कार्य होता तो सूर्य-ग्रहणके अवसरपर प्रभास-क्षेत्रमें गोपीजनोंके साथ पुनर्मिलनके समय भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें अपने सर्वव्यापी स्वरूपका ज्ञान क्यों कराते।

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥*

(श्रीमद्भा० १०। ८२। ४७)

किंतु भक्तिके क्षेत्रमें ज्ञानकी महत्ता स्वीकार करनेमें शाण्डिल्य अधिक गम्भीर प्रतीत होते हैं। भक्तिमें प्रेमास्पद ईश्वरका अविचल ध्यान आवश्यक होनेके कारण उसमें योग तो स्वभावतः रहता ही है। ध्यानकी प्रक्रियामें ध्येय ईश्वरका ज्ञान भी आवश्यक है। अतएव सगुण ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वरज्ञानके अर्थमें ब्रह्मज्ञान आवश्यक है, जबतक कि भक्ति परिपक्व न हो जाय।

ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्।†

(शाण्डिल्यसूत्र २६)

जैसा इन सूत्रोंके व्याख्याता स्वप्नेश्वर निर्देश करते हैं, भक्तिका निकटतम साधन ज्ञान है—तत्रान्तरङ्गसाधनं ज्ञानम्। जबतक अनाजके दाने भूसीसे एकदम पृथक् न हो जायँ, तबतक धानको जैसे कूटते ही रहना चाहिये, उसी प्रकार परोक्ष ब्रह्मज्ञानका व्यापार तबतक चालू रहना चाहिये जबतक कि भक्ति पल्लवित और पुष्पित होकर परिपक्व न हो जाय—

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्।‡

(शाण्डिल्यसूत्र २७)

ज्ञानको भक्तिका उपकारक माननेवाले शाण्डिल्य एवं उनके टीकाकार स्वप्नेश्वर—इन दोनोंकी ही भाँति शाण्डिल्यके एक दूसरे व्याख्याकार नारायणतीर्थ भी ज्ञानको भक्तिका अन्तरङ्ग साधन मानते हैं—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः…… इत्यादि वेदान्तवाक्यैः भक्त्यर्थमेव श्रवणादिकं विधीयते न ज्ञानप्राधान्येन।

(भक्तिचन्द्रिका पृ० ९४, काशी-संस्कृतग्रन्थमाला)

नारायणतीर्थ एक पग और आगे बढ़ जाते हैं तथा ज्ञान और भक्ति दोनोंको समान स्थान देते हैं—

ज्ञानभक्त्योरङ्गाङ्गिनोः एकार्थत्वाद् एकप्रयोजनकत्वादिति यावत्। (भक्तिचन्द्रिका)

—क्योंकि ज्ञान और भक्तिका पर्यवसान एकमें ही होता है।

अब हमलोग भागवत-महापुराण तथा गीताके प्रकाशमें देखें कि भक्तिमार्गमें ज्ञानका क्या स्थान है। स्वयं भक्तिके दो स्तर स्वीकार किये गये हैं—अपरा अथवा गौणीभक्ति तथा पराभक्ति। आरम्भिक अवस्थाओंमें सारे शारीरिक एवं मानसिक व्यापारों, रागों तथा आसक्तियोंको जगत्‌की वस्तुओंसे हटाकर भगवान्‌की ओर मोड़ना पड़ता है। यह है विशुद्धीकरण—व्यष्टि मानवके स्थूल-वासना-जालका भगवत्प्रेम-के सारोद्धार-यन्त्रमें शोधन। भक्तराज प्रह्लादके शब्दोंमें—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥*

(वि० पु० १। २०। १९)

स्वयं प्रह्लादके द्वारा ही वर्णित नवधा भक्ति अर्थात् भगवान्‌के नाम एवं गुणोंका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उन्हीं-का स्मरण तथा स्वयं भगवान्‌का पादसेवन, पुष्प-गन्धादि-द्वारा अर्चन, सादर वन्दन, उनकी प्रेमसहित सेवा, उन्हें सखा समझकर उनके साथ प्रेमका वर्ताव तथा अन्तमें सम्पूर्ण-रूपसे आत्मसमर्पण†—भक्तिके ये सभी भेद, जिनमें शरीर, मन एवं भावका भी संयम अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये संकल्पात्मक प्रयत्न अपेक्षित है—न्यायतः साधन-भक्ति या अपरा भक्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं। यह अपरा भक्ति

---

* इसी प्रकार प्राणियोंके शरीरमें ये पाँचों भूत कारणरूपसे व्याप्त हैं तथा आत्मा भोक्तारूपसे व्याप्त है। ये दोनों ही मुझ अक्षरस्वरूप परमात्मामें प्रतीत हो रहे हैं—यह समझो।

† श्रुतिमें जो ब्रह्मकाण्ड (ब्रह्मतत्त्वके निरूपणका प्रकरण) है, वह भक्तिके लिये ही है; क्योंकि जैसे ब्रह्मकाण्ड अज्ञात अर्थका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार जो शेष दो काण्ड हैं, वे भी अज्ञात अर्थका ज्ञान कराते हैं। इस दृष्टिसे सभी काण्ड समान हैं।

‡ बुद्धि (ब्रह्मज्ञान) के हेतुभूत श्रवण, मनन आदि साधनोंमें तबतक लगे रहना चाहिये, जबतक अन्तःकरण शुद्ध न हो जाय; जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' (धान कूटता है) इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार धानपर तबतक मूसलका आघात करना आवश्यक होता है, जबतक कि सारी भूसी अलग न हो जाय।

* अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।

† श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

अन्ततोगत्वा पराभक्तिमें परिणत हो जाती है, जिसका विशेष लक्षण है भगवत्प्रेम-जनित उन्माद, इसका प्रचुर प्रमाण राजा निमिको प्रबुद्धद्वारा दिये गये उपदेशमें मिलता है—

भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।*

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३१)

भक्त्या साधनभक्त्या संजातया प्रेमलक्षणया भक्त्या ।

(श्रीधरस्वामीकृत टीका)

पराभक्तिकी इस उन्मादपूर्ण स्थितिका हृदयग्राही वर्णन स्वयं प्रबुद्धने किया है—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

दिव्योन्मादकी इस उत्कृष्ट अवस्थामें तीव्र वेदनाके आँसुओंके आगे-पीछे उल्लासकी विशद स्मितरेखा खिंची रहती है तथा हर्षके साथ-साथ पारी-पारीसे बेसिर-पैरका बड़बड़ाना भी चालू रहता है। भक्त आनन्दमें मग्न होकर नाचने लगता है, तार स्वरसे भगवान्‌के गुणगान करने लगता है और तुरत ही सर्वथा चुप हो रहता है; उस समय वह उनके चिन्तनमें इस तरह लीन हो जाता है मानो उनके साथ घुल-मिलकर एक हो गया हो। सारांश, यह वह अवस्था है, जिसमें भक्तकी भावना-तन्त्री परमात्माके स्वरसे पूर्णतया सवादी स्वरमें बजने लगती है। परिणामतः भक्तके भावनात्मक जीवनमें एक तीव्र वेदनाशीलता, विचित्र उत्फुल्लता आ जाती है तथा ईश्वरकी सतत एवं अन्य सब कुछ भुला देनेवाली अनुभूति होने लगती है। इस अवस्थाका श्रीमधुसूदन सरस्वती अपने 'भक्तिरसायन'में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(१ । ३)

'भगवद्धर्मों (भजन-कीर्तन आदि भगवत्प्राप्तिके साधनों) के अभ्याससे द्रवित हुए चित्तकी वृत्तियोंका निरन्तर—तैलधारावत् सर्वेश्वर भगवान्‌की ओर प्रवाहित होना ही भक्ति है।'

अब यह भगवान्‌की सतत अनुभूति निर्गुण ब्रह्ममें लीन

* (वैधी) भक्तिसे (प्रेमा) भक्तिका उदय होनेपर शरीर पुलकित हो जाता है।

[illegible]

धर्मीके आकलनमें सहायता देनेवाली मानसिक वृत्ति है। और जब पूरा ज्ञान हो जाता है, तब ज्ञानात्मिका वृत्तिसे गुण स्वयं विलीन हो जाते हैं, केवल धर्मीकी छाप रह जाती है। अतएव ईश्वरीय गुणोंका ध्यान करते समय ध्याताका मन मानो फूलके चारों ओर गुंजार करनेवाले भ्रमरकी भाँति ईश्वरके स्वरूपके चतुर्दिक् मँडराता रहता है। किंतु ठीक जिस प्रकार भौंरा मधुका पता लगा लेनेपर चुपचाप बैठकर उसे पीने लगता है, उसी प्रकार भक्तकी बुद्धि भी ईश्वरके निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कार कर चुकनेपर गुणोंका विचार छोड़ देती है। इसलिये आपाततः असंगत प्रतीत होनेपर भी तथ्य यही है कि ईश्वरके गुणोंसे ही उनके निर्गुणत्वका अनुभव होता है। परा भक्तिमे भगवान्, भक्ति और भक्तका भेद मिट जाता है। बस, एक आध्यात्मिक सवेदनाकी स्थिति बच रहती है। यह निर्गुण ब्रह्म-साक्षात्कारके अतिरिक्त और क्या हो सकती है?

सगुण ईश्वरकी भक्तिका पर्यवसान कैसे निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कारमें होता है, इसका विवेचन करते हुए श्रीमधुसूदन सरस्वती इस प्रश्नको इस प्रकार समाप्त करते हैं—

सगुणोपासनया··· ' स्वहृदयगुहाविष्टं पुरुषं पूर्णं प्रत्यगभिन्नमद्वितीयं परमात्मानमीक्षते स्वयमाविर्भूतेन वेदान्त-प्रमाणेन साक्षात्करोति तावता च मुक्तो भवतीति।

(गीता (१२।६) की गूढार्थदीपिका टीका।)

सगुणोपासनाके द्वारा उपासक अपनी हृदयगुहामें स्थित, अपनेसे भिन्न पूर्णपुरुषोत्तम अद्वितीय परमात्माका स्वयमेव स्फुरित हुए वेदान्त-प्रमाणके अनुसार साक्षात्कार करता है और तत्काल मुक्त हो जाता है।'

और यह नहीं भूलना चाहिये कि कट्टर अद्वैती होते हुए भी श्रीमधुसूदन सरस्वती वेदान्तीकी अपेक्षा श्रीकृष्णभक्त अधिक थे। इसलिये उनके मतको बाध्य होकर मानना पड़ेगा।

फिर भी कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं, जो मधुसूदनकी इस उक्तिको उनकी ऐसी व्यक्तिगत धारणा मान सकते हैं, जो शास्त्रानुमोदित नहीं है। पर भागवत-महापुराणका एक ही उद्धरण इस समस्याको सुलझा देगा। उसका निम्नाङ्कित श्लोक प्रसिद्ध है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात्—जो आत्माराम और जीवन्मुक्त हैं, वे भी श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे मनोमुग्धकारी और मधुर हैं। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि कोई भक्त अन्य भक्तोंके सङ्गसे भगवान्की अविचल भक्ति प्राप्त करता है, जिसके द्वारा वह ईश्वरके सगुणरूपका साक्षात्कार करता है और तब उनकी कृपासे निर्विशेष ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। किंतु इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठामें परिनिष्ठित हो जानेपर भी वह विवश-सा होकर ज्ञानके निर्विशेष धरातलसे दिव्य लीलाके धरातलपर उतर आता है, वहाँ भगवद्भक्तिके मनोमोहक माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये। इसलिये ब्रह्मज्ञानी ही परा भक्तिका सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है। और इसीलिये स्वयं भगवान् ज्ञानीको अपना सबसे अधिक प्रीतिपात्र मानते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥*

(गीता ७।१७)

इसी प्रकार भगवान् फिर कूर्मपुराणमें भी कहते हैं—

सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतमो मम।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा॥†

(कू० पु० ब्राह्मी-संहिता ४।२४)

इस प्रकार 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है) यह कहकर स्वयं भगवान् 'भक्तिमें ज्ञानका क्या स्थान है' इसके विषयमे सारी भ्रान्तियों-को निर्मूल कर देते हैं।

इसलिये यह स्पष्ट है कि ब्रह्मज्ञानी ही सर्वश्रेष्ठ भक्त है और वही ऐसा भक्त हो सकता है। सम्भवतः यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंको उनके समुदायमें सर्वोच्च स्तरपर ले जानेके लिये आत्मज्ञान प्रदान करना आवश्यक समझते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥‡

(गीता १०।१०)

---

* उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्यप्रेम-भक्तिसे युक्त ज्ञानी भक्त—सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जानने-वाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

† सभी भक्तोंमें वह भक्त मुझे सर्वाधिक प्रिय है, जो ज्ञानके द्वारा नित्य मेरी आराधना करता है।

‡ उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझीको प्राप्त होते हैं।

और मानो अपने उपर्युक्त वचनको चरितार्थ करनेके लिये आतुर हो श्रीभगवान् गीताके १३वेंसे १८वें अध्यायतक अर्जुनको ज्ञानका ही स्वरूप समझाते हैं। यदि ईश्वरके विश्वरूपका दर्शन कर लेना मात्र ही भक्तिका चरम उद्देश्य होता—जैसा कि भगवान् अर्जुनको निम्नलिखित श्लोकमें कहते भी हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

—तब उस स्थितिमें गीताका उपदेश बारहवें अध्यायके बाद समाप्त हो जाना चाहिये था; किंतु ऐसा हुआ नहीं। बिना ज्ञानके भक्ति कभी अपने चरम उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकती। इसीलिये परवर्ती अध्यायोंमें भगवान् अर्जुनको ज्ञानका ही तत्त्व समझाते हैं और यही कारण है कि श्रीकृष्ण पुनः उद्धवको आत्मज्ञानका उपदेश देकर ब्रह्म-ज्ञानकी व्याख्यासे अपने उपदेशको समाप्त करते हैं—

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः । *
(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । २३)

इस प्रकार भक्तको उसकी सब कुछ होम देनेवाली भक्तिको निर्विशेष ब्रह्मज्ञानके द्वारा पुरस्कृत करना मानो भगवान् अपना अनिवार्य कर्तव्य समझते हैं।

भागवत-महापुराणके तात्पर्यके सम्बन्धमें दो मत नहीं हो सकते। भक्तिके सभी सम्प्रदाय इसको अपना सबसे अधिक प्रामाणिक शास्त्र मानते हैं। हमलोग भी देखें कि परीक्षित्के प्रति अपने उपदेशकी समाप्ति श्रीशुकमुनि किस प्रकार करते हैं। श्रीशुकदेवजीने भक्तिके सभी रूपोंकी व्याख्या की और परीक्षित्से ग्यारह स्कन्धोंमें भगवान्के सभी अवतारों तथा उनकी लीलाओंका वर्णन किया। इसके बाद वह घड़ी आती है, जब पाण्डवोंके इस वंशजको तक्षक नागके द्वारा डँसे जाकर प्राणत्याग करना था। इस सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण मुहूर्त्तमें शुकमुनि परीक्षित्को भगवान्के अवतारों अथवा लीलाओंका ध्यान करनेका आदेश नहीं देते वरं अपने वास्तविक स्वरूपको पहचानने, अपने आत्माको निर्विशेष ब्रह्ममें डुबा देने, उसमें इस प्रकार विलीन कर देनेके लिये कहते हैं, जैसे घटाकाश घड़ेके फूट जानेपर महाकाशमें विलीन हो जाता है—

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥ *
(श्रीमद्भागवत १२ । ५ । ५)

इसलिये श्रीशुकदेवजी परीक्षित्को वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेके लिये, जो भक्तिके परिणामस्वरूप स्वयं उत्पन्न होता है, तथा अपनेको ब्रह्मरूप, केवल ब्रह्मरूप अनुभव करनेको कहते हैं। क्योंकि वे जानते थे कि इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्ममें लीन हो जानेपर उनको न तो अपने पैरमें तक्षकके दाँत गड़ानेका अनुभव होगा और न उन्हें संसार ब्रह्मसे भिन्न दीखेगा—

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ॥ †
(श्रीमद्भागवत १२ । ११-१२)

यदि इस निर्विशेष ज्ञानसे ही भागवतके अन्तिम स्कन्धका उपसंहार होता है तो भक्तिमें ज्ञानका जो उचित स्थान है, उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें न्यायोचित निष्कर्ष यही निकलता है कि पराभक्ति और ब्रह्मज्ञान एकार्थवाची शब्द हैं, जो सर्वोच्च योगकी स्थितिके, पूर्ण ज्ञानकी आनन्दमय अवस्थाके वाचक हैं।

हम इस संक्षिप्त विवेचनको शाण्डिल्यके भक्ति-सूत्रोंसे एक उद्धरण दिये बिना नहीं समाप्त करेंगे। शाण्डिल्यपर निस्संदेह कोई भी ज्ञानका पक्षपाती होनेका संदेह नहीं करता। किंतु विलक्षण बात है कि वे भी उपसंहार करते हैं इस सूत्रसे—

तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत् ॥ ९३ ॥

इसकी व्याख्या करते हुए स्वप्नेश्वर लिखते हैं—'और इस प्रकार जब पराभक्तिके द्वारा व्यष्टिभाव मिटा दिया जाय, तब ब्रह्मके साथ अभेद तर्क-विरुद्ध नहीं रह जायगा; क्योंकि दूसरो

---

* इस प्रकार मैंने तुम्हें यह ब्रह्मवादका सम्पूर्ण सार-संग्रह सुना दिया।

* जिस प्रकार घड़ेके टूट जानेपर घटाकाश पूर्ववत् फिर महामहाकाशरूप हो जाता है, उसी प्रकार तीनों प्रकारके देह नष्ट होनेपर जीव पुनः ब्रह्मरूप हो जाता है।

† जो मैं हूँ, वही परमपदरूप ब्रह्म है और जो परमपदरूप ब्रह्म है, वही मैं हूँ—इस प्रकार विचार करते हुए अपने आत्माको अखण्ड परमात्मामें स्थित कर लेनेपर तुम अपने पैरोंमें काटते हुए तथा जिह्वासे ओठ चाटते हुए तक्षकको एवं अपने शरीर और सम्पूर्ण विश्वको भी अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखोगे।

प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण जब नष्ट हो जाते हैं, तब उनमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब सूर्यमें ही विलीन हो जाते हैं'—

ततः परभक्त्या जीवोपाधिवुद्धिहाने सति पुनरेकत्वमप्यविरुद्धं यथाऽऽदित्यस्य प्रकाशात्मनःप्रतिबिम्बोपाधिदर्पणापगमे तद्वत् ॥ *

इतने प्रचुर प्रमाणोंके होते हुए भी भक्ति और ज्ञानको क्या कभी एक दूसरेसे मेल न खानेवाला और परस्परविरोधी माना जा सकता है ? मुक्तिके लिये जिसका साधन आवश्यक है, वह भक्ति अपने सर्वश्रेष्ठ रूपमें आत्मज्ञानके सिवा कुछ नहीं है ।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥†

(श्रीशंकराचार्यकृत विवेकचूडामणि, श्लो० ३२)

भक्ति-तत्त्व या भक्ति-साधना

(लेखक—प्रो० जयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, डिप्० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

भगवान्‌को प्राप्त करना ही मानव-जीवनका चरम पुरुषार्थ है और इसका सर्वोत्तम साधन भक्ति है । भक्तिका अर्थ है—भगवान्‌की उपासना, भगवान्‌की सेवा और भगवान्‌की शरणागति । जब मानव-अन्तःकरण सभी भोग-विषयोंसे अपनेको पृथक् करके एकमात्र परमात्माके ही चिन्तनमें लवलीन हो जाता है और जब सगुण-साकार परब्रह्मका ध्यान तैल-धाराके समान कभी टूटता नहीं, तब परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है । इस ब्रह्मानन्दमें जो रस और मधुरिमा है, वह अवर्णनीय है । सगुण साकार परमात्माका वर्णन ऋग्वेदके द्वितीयाष्टकमें आया है—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम् ।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते,
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥

ऋग्वेदके दशम मण्डल तथा शुक्ल यजुर्वेदके पुरुषसूक्तमें भी आया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।'

वस्तुतः भगवान्‌से मिलनेके तीन मार्ग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग । वेदके पूर्वभागमें कर्मका वर्णन है, वेदके उत्तरभाग (उपनिषद् अथवा वेदान्त) में ज्ञानका । भक्तिमें कर्म और ज्ञान दोनोंका समन्वय है । अतः सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य भक्तिमें निहित है । कर्म तथा ज्ञान एक दूसरेसे पृथक् रहकर एकाङ्गी रहते हैं । ज्ञानहीन कर्म कृत्रिम, अर्थहीन (Mechanical) तथा शक्तिहीन हो जाता है । वह अध्यात्म-मार्गमें सहायक नहीं हो सकता । पर कर्महीन ज्ञानका भी अधिक महत्त्व नहीं । कर्महीन ज्ञान भी सामर्थ्यहीन हो जाता है और वाक्य-ज्ञानके रूपमें केवल शास्त्रार्थ और वक्तृताका विषय रह जाता है । हमारी क्रिया ज्ञानानुवर्तिनी होनी चाहिये । यदि हमारे कर्म हमारे ज्ञानके विपरीत हो तो इसका अर्थ है कि अपने ज्ञानमें हमारा विश्वास नहीं है । उपासनाका मार्ग कर्म और ज्ञान दोनोंकी अपेक्षा सुगम और आनन्दप्रद है; क्योंकि इसमें दोनोंकी एकता है । उपासनाका न तो कर्मसे विरोध है न ज्ञानसे । कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों भक्तियोगके सहकारी हैं । स्वतन्त्ररूपसे कर्म स्वर्गकी ओर संकेत करता है, ज्ञान कैवल्यकी ओर । किंतु भक्तियोगका आश्रय पाकर कर्म और ज्ञान मोक्षपथके सहायक और प्रकाशक बन जाते हैं । जहाँ कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग एक दूसरेका स्पर्श करते हैं, वहीं भक्तिकी मधुर रश्मिसे ओतप्रोत होकर एक दूसरेके पूरक हो जाते हैं । तब दोनोंका एक ही लक्ष्य हो जाता है, दोनोंमें कोई भेद नहीं रह जाता ।

भक्त कर्मकाण्डी नहीं होते, कर्मयोगी होते हैं । कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम । जिस कर्ममें कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान हैं, वह मोक्ष-पथमें बाधक हो जाता है । भक्त अनासक्त और निर्लिप्त होकर जीवनके सारे कर्म केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्कैंकर्य समझकर किया करते हैं,

* जीव-ईश्वरमें एकता है—दोनों एक हैं, उपाधिके संयोगसे उनमें नानात्वकी प्रतीति होती है और उपाधिभङ्ग होनेपर एकत्वका बोध स्पष्ट हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे एक ही सूर्य जलसे भरे हुए भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्बित होनेपर अनेक-सा प्रतीत होता है, परंतु जलपात्ररूपी उपाधिके न रहनेपर वह पुनः एक ही रह जाता है ।

† मुक्तिकी कारणरूप सामग्रीमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाता है ।

चतुर्दश परम भागवत और उनके आराध्य

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान्नमामि ॥

उनमें सीमित स्वार्थ-बुद्धि तथा भोग-बुद्धि नहीं रहती । वस्तुतः भागवतोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैंकर्य है । उनके कर्म राजसी प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित नहीं होते; वे विवेक, कर्तव्य और कैंकर्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं । भक्तियोगका आधार भगवत्कृपा है । बिना भक्तिकी सहायतासे कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध हो जाती है । कर्म-संस्कार ही जीवात्माका बन्धन है । यही अविद्याके रूपमें कारण-शरीरका निर्माण करता है । पर कर्मका हम स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकते । जीवन-धारण करनेमें पग-पगपर कर्मकी आवश्यकता हो जाती है । कर्म स्वतः न अच्छा है न बुरा । कर्म जिस मन्तव्यसे, जिस उद्देश्यसे किया जाता है, कर्म करनेसे अन्तःकरणमें जो एक तरङ्ग उठती है, एक विकार उत्पन्न होता है, उसीपर कर्मकी अच्छाई या बुराई निर्भर करती है । कर्म तो हम स्थूल-शरीरसे करते हैं, पर उसकी प्रेरणा मनसे आती है । इसीलिये कहा गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
(बृहन्ना० पु० १ । ४७ । ४)

'मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है ।'

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण । प्रत्येक क्रियमाण कर्म समाप्त होनेपर सञ्चितके कोषमें चला जाता है; और वही जब फल देना प्रारम्भ करता है, तब प्रारब्ध बन जाता है । प्रारब्धका भोग अवश्यम्भावी है । प्रारब्ध हमारी वासनाका निर्माण करता है और वासना प्रवृत्ति-का; प्रवृत्ति पुनः क्रियमाण कर्मका पथ-प्रदर्शन करती है । अतः हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवनका फल और भविष्य जीवनका बीज है । जिस प्रकार वृक्षसे फल होता है और वही फल फिर वृक्षको जन्म देता है, उसी प्रकार जैसे हमारे अतीत कर्म थे, उसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति बनी और जैसी हमारी प्रवृत्ति बनी है, उसी प्रकारके कर्म हम करते रहते हैं । बद्ध जीव 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के चक्रमें पड़ा रहता है । कभी भगवान्की कृपा होती है तो उनके चरणोंमें हमारा अनुराग उत्पन्न हो जाता है ।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

ऐसे भगवान्को भूलकर जो जीव विषयके चिन्तनमें लग जाता है, वह सबसे बडा अभागा है और उसका विनाश (पतन) निश्चित है ।

विषयोंके चिन्तनसे उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, तब इच्छाका उदय होता है और वह इच्छा किस प्रकार जीवको विनाशकी ओर ले जाती है, इसका क्रम भगवान्ने गीतामें बताया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
(२ । ६२-६३)

'हे अर्जुन ! मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण न होनेसे मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है । कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है । स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है ।'

स्थूलशरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता; क्योंकि कर्म करनेपर मानसिक जगत्में एक हलचल मच जाती है, अन्तःकरणमें सुख या दुःखकी लहर दौड जाती है और सूक्ष्मशरीरपर एक छाप पड जाती है । यह सूक्ष्मशरीर कर्म-संस्कार लिये हुए एक स्थूलशरीर-से दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है । ये ही कर्मसंस्कार वासना तथा प्रवृत्तिको जन्म देते हैं । अच्छे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति भी परिमार्जित हो जाती है और गंदे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति कलुषित हो जाती है । सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके अनुसार अनुकूल योनि चुन लेता है । जिस प्रकार गेहूँका बीज धानके खेतमें फूटता नहीं, उसी प्रकार यदि संयोगसे सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके प्रतिकूल किसी योनिमें चला जाय तो वहाँ वह विकसित नहीं होता, माताके गर्भमें या वीर्य-कीटके रूपमें ही नष्ट हो जाता है । तो फिर इनसे छुटकारा किस प्रकार मिले ? अच्छे और बुरे दोनों कर्म तो आत्माके लिये बन्धन ही हैं । अच्छा कर्म सोनेकी हथकड़ीसे बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, बुरा कर्म लोहेकी हथकड़ीसे बाँधकर नरक । कर्मयोग इनसे छुटकारेका हमें एक उपाय बतलाता है । यदि हम अहंकाररहित, अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करें, मनको निर्विकार रखें तथा अन्तःकरणमें कोई तरङ्ग उत्पन्न न हो तो उस क्रियमाण कर्मसे न तो प्रारब्धका निर्माण होता है न सूक्ष्मशरीरका निर्माण । यह कर्म

जीवात्माका बन्धन नहीं होता । भूना हुआ चना जमीनमें गिरकर भी पनप नहीं पाता; उसी प्रकार निष्काम कर्म सूक्ष्म-शरीर तथा प्राणमय एवं मनोमय कोशमें अङ्कुरित नहीं होता—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥
(गीता १८ । १७)

"हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कार्योंमें लिप्त नहीं होती; वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है ।"

फलासक्तिरहित और निर्लिप्त कर्म करनेका नाम ही 'कर्मयोग' है । पर अनासक्त और निर्लिप्त हम होंगे कैसे ? हमारे अन्तःकरणमें जो वासना-सर्पिणी छिपी हुई है, वह कर्मोंका रस पीती रहती है । उपदेश देनेके लिये तो हम कह देते हैं कि 'वासनाका हनन करो; प्रवृत्तिको कुचलो; अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करो'; पर इन उपदेशोंसे कर्मयोगकी समस्या हल नहीं होती । वासनाके विराट् अन्धकार-में विवेकका टिमटिमाता हुआ दीपक प्रकाश तो देता है; पर बिना भगवत्कृपाके वह प्रकाश चिरस्थायी नहीं होता । कर्मेन्द्रियोंको निराहार रखनेसे वासना नहीं मिटती । प्रवृत्तिको बरजोरी रोकनेसे वह वैध मार्ग छोड़कर अवैध मार्ग ग्रहण करेगी । वासना असंख्य जन्मोंके प्रारब्धकर्मोंका परिणाम है । उसको हम केवल उपदेशों और वाक्यज्ञानसे नष्ट नहीं कर सकते । प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है, उसको कुचलनेकी चेष्टा प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम है । यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करनेसे कर्म आत्माका स्पर्श नहीं कर सकता; पर अनासक्त होना ही तो जीवनकी सबसे बड़ी समस्या है । यदि बिल्लीके गलेमें घंटी बाँध दी जाय तो चूहे सुरक्षित हो जायँ; पर बिल्लीके गलेमें घंटी बँधे कैसे ? यहींपर भक्तियोग आकर कर्मयोगकी सहायता करता है । अकेला कर्मयोग जिस समस्याका समाधान नहीं कर सका था, भक्ति आकर उसे सहल कर देती है । भक्ति कहती है कि 'जीवनके सारे कर्मोंको करो; पर उन्हें भगवन्निमित्त करो; भगवत्कैंकर्य समझकर करो ।' हमें भोग-वासनासे प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिये; पर कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्कैंकर्य समझकर कर्म करना चाहिये । सारे कर्मोंको यदि हम भगवान्को समर्पित कर दें तो फिर आत्माको बाँधनेके लिये हमारे पास कर्म बच ही कहाँ जाता है । जबतक हमारे अन्तःकरणमें भगवान्का साक्षात्कार नहीं हो जाता; जबतक हमारे मन-मन्दिरमें प्रेम-सिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान् नहीं आ विराजते; तबतक लाख चेष्टाएँ करनेपर भी मोह-पाश नहीं टूटता ।

माधव, मोह फाँस क्यों टूटै ।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ।
घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै ॥
ईंधन अनल लगाय कलप सत औटत नास न पावै ॥

इन्द्रियोंको बलपूर्वक विषय-भोगसे रोकने तथा निराहार रखनेसे आसक्ति नहीं मिटती; आसक्ति तो तब मिटती है, जब परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २ । ५९)

भगवान्के ध्यानसे, चिन्तनसे, स्मरणसे हृदयके सारे विकार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ।

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरें चाप सायक कटि भाथा ॥

भगवान्के चिन्मय, ज्ञानमय, आनन्दमय रूपका प्रकाश हृदयमें आते ही अन्तःकरणका अन्धकार आप-से-आप मिट जाता है ।

ममता तरुन तमी अँधिआरी । राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं । जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं ॥

तिमिरमयी रजनीमें मानव एक पिच्छल पथपर रुक-रुककर जा रहा है । दोनों ओर खाइयाँ हैं और अन्धकारमें पैर फिसलनेका डर है । कामिनी और काञ्चनसे खेलता हुआ मानव अन्तर्द्वन्द्वसे जर्जर है, पीड़ित है, व्यथित है । वासना उसे पीछेकी ओर घसीटती है । ऐसी परिस्थितिमें भक्तिका उज्ज्वल आलोक उसका पथ-प्रदर्शन कर रहा है । भक्ति भूली-भटकी मानवताको असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाती है ।

ज्ञानयोगकी सफलता भी भक्तियोगपर ही निर्भर करती है । वाक्य-ज्ञान तो केवल शास्त्रार्थका विषय होता है ।

वाक्य ग्यान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई ।
निसि गृह मध्य दीपकी बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई ॥

ज्ञानयोगकी सफलताके लिये वासनाका शमन आवश्यक है, पर असख्य जन्मोंका जीवन-रस पीकर वासना-सर्पिणी मानव-अन्तःकरणमें फुफकार मारती रहती है । ज्ञानयोगके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है । इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
(२ । ५५)

'हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है, और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।'

हृदयका निष्काम होना एक जटिल समस्या है, पर भक्तियोगका आश्रय पाकर हृदय अपने-आप शान्त हो जाता है । तब परमात्माके साक्षात्कारसे अपने-आप मायाका बन्धन टूट जाता है, हृदयकी गाँठ खुल जाती है और कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
(मुण्डक० ३ । २)

भक्तिसे पृथक् ज्ञानका मार्ग दुर्गम और कठिन है, पर भक्ति-पथ अत्यन्त सुगम है ।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अबिद्या नासा ॥

ज्ञान भक्तिका पूरक और प्रकाशक है ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।
(ईशोप० १४)

निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है और ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति । उपासनात्मक ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं ।

भक्तिके दो रूप हैं—उपासना और कैंकर्य । सदैव भगवान्का चिन्तन, स्मरण और ध्यान करना, भगवान्में अखण्ड विश्वास एवं उन्हें अनवरत याद रखनेका ही नाम उपासना है । जिस प्रकार तेलकी धारा कभी टूटने नहीं पाती, उसी प्रकार जब परमात्माके अनवरत ध्यानसे परमात्मा प्रत्यक्षके समान हो जायँ, परमात्माके साथ मानव-हृदय एकाकार हो जाय, तब उसका नाम उपासना है ।

तन ते कर्म करहु बिधि नाना । मन राखहु जहँ कृपा निधाना ॥
मन तें सकल बासना भागी । केवल राम चरन लय लागी ॥

उपासनाकी सफलताके लिये भगवान्के ऊपर अत्यधिक प्रेम होना आवश्यक है ।

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा । किएँ जोग तप ग्यान बिरागा ॥

भगवान्के चरणोंमें अन्तःकरणको जोड़ देना ही योग कहलाता है । उपासनामें सबसे अधिक आवश्यकता है भगवत्प्रेम-की; क्योंकि हम जिसको सबसे अधिक प्यार करते हैं, दिन-रात उसीके विषयमें सोचते रहते हैं । उसके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होती है । भगवान्को यदि हम हृदयसे प्यार करेंगे तो उनका ध्यान सदैव हमें बना रहेगा । उनके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होगी । उनके प्रेममें हम मस्त और मतवाले बने रहेंगे और एक क्षण भी बिना उनको देखे हृदय बेचैन हो उठेगा । अन्तःकरणका सबसे बड़ा आकर्षण प्रेम ही है । बिना प्रेमके यदि बरजोरी मनको भगवान्में लगाया भी जाय तो वहाँ वह अधिक देरतक नहीं टिक सकता; क्योंकि मन चञ्चल है और हठात् विषयोंकी ओर चला जाता है । भोग-रसका पान करनेवाले चञ्चल मनको प्रथम-प्रथम भगवान्में लगानेके लिये दो साधनोंकी आवश्यकता है—अभ्यास और वैराग्यकी । अभ्यास-के द्वारा मनको भगवान्में टिकनेकी तथा भगवान्से प्रेम करनेकी आदत पड़ जाती है । वैराग्यके द्वारा संसारसे विरक्ति और परमात्मामें अनुरक्ति उत्पन्न होती है ।

जब सब बिषय बिलास बिरागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा ।

भगवान्से अविचल प्रेमका ही नाम 'पराभक्ति' है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे । (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र २)

भक्तिका दूसरा रूप कैंकर्य है । जीव शाश्वत भगवद्दास है और भगवान्की सेवा करना ही जीवका धर्म है । भक्ति चाहे माधुर्य-भावकी हो या दास्यभावकी, भगवत्कैंकर्य प्रत्येक दशामें आवश्यक है । परब्रह्म मायामण्डलसे परे नित्य-विभूतिके स्वामी श्रीमन्नारायण भगवान् हैं । मन-मन्दिरसे वासनाकी धूल झाड़कर, भक्ति-जलसे उसे प्रक्षालितकर, ज्ञान-रश्मिसे दीप्त प्रेम सिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान्की मूर्ति स्थापित करना ही परब्रह्मका कैंकर्य है । अन्तःकरण परब्रह्मके आलोकसे आलोकित हो जाय, हृदय परमात्माके चरणोंमें लीन हो जाय, शाश्वत प्रेम और अनवरत ध्यानके कारण भगवान् प्रत्यक्षके समान हो जायँ, तब परब्रह्मका कैंकर्य सम्पन्न हुआ समझना चाहिये । प्रपत्तिकी भावना इस कैंकर्यकी पोषक तथा पूरक है ।

अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं। यह रूप सूक्ष्म, व्यापक एवं घट-घटवासी है। इनका कैंकर्य तीन प्रकारसे होता है।

(१) किसी भी स्थानमें कभी छिपकर कोई पाप नहीं करना। ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ अन्तर्यामी भगवान् न हों। अतः छिपकर पाप करनेके लिये कोई भी एकान्तस्थल किसीको मिल ही नहीं सकता।

(२) अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं, अतः प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर हुआ। अतः किसीके साथ ईर्ष्या-द्वेष रखना, किसीका अमङ्गल सोचना, किसीको दुखी करनेकी चेष्टा, मनसे, वचनसे और शरीरसे किसीकी बुराई करना अन्तर्यामी भगवान्की अवहेलना है। गरीब और दुखियोंकी सेवा, सत्य, अहिंसा, न्याय, प्रत्येक नर-नारीका कल्याण और प्रत्येक प्राणीको सुखी बनानेकी चेष्टा ही अन्तर्यामी भगवान्का कैंकर्य है। जीवात्मा प्रकाश-कण है और परमात्मा प्रकाशके समूह। अतः जीवात्मा परमात्माका अंश है। इसलिये प्रत्येक प्राणीका शरीर, जहाँ जीवात्मा वर्तमान है, परमात्माका ही मन्दिर है। अतएव प्रत्येक प्राणीकी सेवा अन्तर्यामी भगवान्की सेवा है तथा किसीकी भी निन्दा या अनिष्ट करनेकी चेष्टा अन्तर्यामी भगवान्का अपमान है।

(३) अपना शरीर भी अन्तर्यामी भगवान्का मन्दिर है। अतः भगवान्के मन्दिरको स्वच्छ और पवित्र रखना जीवका परम कर्त्तव्य है। अन्तःकरण-रूपी मन्दिरमें अविद्याका अन्धकार, वासनाकी गंदगी और अभिमानकी दुर्गन्ध नहीं रहनी चाहिये। हृदयमें गंदे विचारों और कलुषित इच्छाओंके रहनेसे अन्तर्यामी भगवान्की अवहेलना होती है।

परिवार, राष्ट्र तथा देशके लिये त्याग और सेवाकी भावना कैंकर्य है। संध्या, गायत्री, पूजा, जप, कीर्त्तन, ध्यान— ये सभी भगवत्कैंकर्यके अन्तर्गत हैं।

भक्त सर्वत्र भगवान्को ही देखता है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। (ईशोप० १)

फिर अपने-परायेका भेद-भाव कहाँ रह जाता है और कोई ईर्ष्या-द्वेष करे तो किससे करे? सर्वत्र और सभी प्राणियोंमें भगवान्-ही-भगवान् हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सब लोग शुभका दर्शन करें, किसीको भी दुःखका भाग न मिले।'

भगवान्की आज्ञा है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

जब अपना भोजन, कर्म, पूजा, दान, तपस्या—सब कुछ भगवान्को अर्पण ही कर देना है, तब अनुचित और अपवित्र आहार एवं आचरण हम कैसे करें? क्योंकि वे तो भगवान्को अर्पण नहीं किये जा सकते। वस्तुतः भक्तोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैंकर्य होता है।

ज्ञानयोग और कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध है, पर भक्तोंकी नैया भगवान् पार लगाते हैं। भगवान् अशरण-शरण हैं और उनकी शरणमें जानेसे महापापियोंका भी उद्धार हो जाता है।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसका निश्चय यथार्थ है अर्थात् उसने भलीप्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

कर्मयोग और ज्ञानयोगके लिये योग्य अधिकारी चाहिये, पर भक्तिका द्वार सबके लिये खुला हुआ है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌की माया इतनी प्रबल है कि ज्ञानियोंको भी मोह हो जाता है, पर भक्तोंपर मायाका कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

फिर भी जिसकी बुद्धि मारी जाती है, वह परमात्माको नहीं भजता—उनकी शरणमें नहीं आता—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
(गीता ७ । १५)

भगवान्‌की भक्तिमें अनन्यता और अकिंचनता आवश्यक है। जबतक हम सम्पूर्ण आशा-भरोसा छोड़कर एकमात्र परमात्माकी शरणमें न चले जायँ, तबतक उनकी कृपादृष्टि नहीं मिल सकती। अनन्यताका अर्थ है—परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी हृदयमें स्थान न देना, चाहे वह देवता हो या मनुष्य, कामिनी हो या काञ्चन। पत्नी जैसे आदर सभीका करती है, पर भजती है केवल पतिको ही, उसी प्रकार प्रपन्नको निन्दा किसीकी नहीं करनी चाहिये, आदर सभी देवताओंका करना चाहिये, पर भजना चाहिये केवल भगवान्‌को ही। हृदयमें केवल भगवान्‌को ही स्थान देना चाहिये, अन्यको नहीं।

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा ॥

भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। आर्त्त भक्त वे हैं, जिनपर कोई विपत्ति आ पड़ी और उस कष्टके निवारणके लिये ही जो भगवान्‌को भजते हैं। जिज्ञासु भगवान्‌को जाननेकी इच्छासे तथा अर्थार्थी किसी मनोरथ अथवा प्रयोजनकी सिद्धिके लिये भगवान्‌को भजते हैं। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी—तीनोंकी भक्ति सकाम है, अतः सद्यः-मोक्षप्रद नहीं है। ज्ञानी कर्तव्य तथा विवेककी प्रेरणासे भगवान्‌को भजते हैं। भगवान् स्वामी है और जीव दास है। अतः जीवका स्वरूप है भगवान्‌की भक्ति करना। ज्ञानीकी भक्ति निष्काम है, अतः वह सद्यः-मोक्षप्रद है।

भक्तिका ही एक सुगम रूप 'प्रपत्ति' है। भगवान्‌से मिलनेकी व्यग्रता प्रपत्तिका प्रधान अङ्ग है। भक्त समझते हैं कि भगवान् मेरे हैं (ममैवासौ), अतः उनकी सेवाका भार मेरे ऊपर है। प्रपन्न समझते हैं कि मैं भगवान्‌का हूँ (तस्यैवाहम्), अतः मेरी रक्षाका भार उनके ऊपर है। भक्तोंको बंदरके बच्चेसे उपमा दी जाती है, प्रपन्नोंको बिल्लीके बच्चेसे। बंदरके बच्चे खुद बंदरीको पकड़े रहते हैं, माँको कोई चिन्ता नहीं रहती। पर बिल्ली स्वयं अपने बच्चेको पकड़ती है, बच्चेको अपनी कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। बच्चेमें भूल होना सम्भव है, पर माँसे भूल नहीं हो सकती। प्रपन्नोंके भक्ति-निर्वाहका भार भगवान्‌के ऊपर रहता है। मृत्युकालकी बेहोशीकी अवस्थामें भगवान्‌का ध्यान जाना अत्यन्त कठिन है, पर प्रपन्नोंका यह कार्य भगवान् स्वयं सम्पन्न कर देते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसंनिभम् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

साधारण भक्त नौकरके समान होता है, पर प्रपन्नकी अवस्था पत्नीकी-सी होती है। स्वामी यदि अप्रसन्न हो जाय तो दास अन्यत्र भी जा सकता है, पर पत्नी कहाँ जाय। उसके लिये तो पतिको छोड़कर और कोई आश्रय ही नहीं है। इसी तरह प्रपन्नके लिये सब कुछ भगवान् ही हैं।

प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण। प्रपत्तिका होना केवल भगवत्कृपापर निर्भर करता है। विवाहिता पत्नीकी तरह प्रपन्नोंका केवल एक कर्तव्य रहता है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

—'स्वामीके अनुकूल कार्य करना तथा स्वामीके प्रतिकूल कार्योंका सर्वथा त्याग।' पत्नीकी प्रतिष्ठा तथा रक्षाका भार तो पतिपर है ही; पर पत्नीका भी कर्तव्य है कि जो काम पतिको रुचे, वही करे; जो न रुचे, वह कभी न करे। उसी प्रकार प्रपन्नोंको भी भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल ही आहार-विहार तथा अन्य सभी कर्मोंको करना चाहिये। भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध कोई भी शारीरिक या मानसिक कर्म नहीं करना चाहिये। जिस काममें अपना, समाजका तथा संसारका कल्याण हो, वह भगवान्‌के अनुकूल है। जिस काममें अपना और दूसरेका भी अनिष्ट होता हो, वह प्रतिकूल है।

शरणागतिकी झलक प्रथम प्रथम उपनिषदोंमें मिलती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
(श्वेता० ६ । १८)

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है कि "जो एक बार भी शरणमें आ जाता है और हृदयसे यह कहता हुआ कि 'नाथ ! मैं आपका हूँ' मुझसे रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, मैं उसको अभय कर देता हूँ।"

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि रा० ६ । १८ । ३३)

सभी धर्मों—सभी उपायोंको छोड़कर, संसारका सारा आशा-भरोसा त्यागकर निश्छल हृदयसे केवल भगवान्‌की शरणमें जानेसे ही भगवान् पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

भगवान् अपने शरणागतका त्याग नहीं कर सकते—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

प्रपत्तिका दूसरा अङ्ग है आत्मसमर्पण—अपने आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना । जिस प्रकार पत्नी अपने आपको विवाहके समय स्वामीके चरणोंमे सौंप देती है, उसी प्रकार अपने शरीर, मन, आत्मा—सब कुछ परमात्माको दे देना—यह श्रीवैष्णवोंका पाँचवाँ संस्कार है । इसके बाद जीवको यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह दी हुई वस्तुको वापस ले ले । जो शरीर, मन, आत्मा परमात्माको अर्पित हो गये हैं, उन्हें भगवत्कैंकर्यके अतिरिक्त अन्य किसी कार्यमें लगाना अनुचित है । आत्मसमर्पणके बाद यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगायें तो हम आत्मा-पहारी (चोर) हो जायँगे । शरीर और मन हमारे रहे ही नहीं, वे भगवान्‌की वस्तु बन गये । अतः उन्हें वासनासे प्रेरित होकर हम प्रवृत्तिके अनुसार किसी भोग-कार्यमें नहीं लगा सकते । भगवान्‌की आज्ञा और इच्छाके अनुसार उसे किसी सत्कार्य अथवा भगवत्कैंकर्यमें ही लगा सकते हैं । प्रपन्नके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय और दुरुपयोग अत्यन्त वर्जनीय हैं । विलासितामें, निरर्थक गपशपमें, व्यसनमें तथा ऐसे कार्योंमें जिनसे संसारका, समाजका, मानवताका अनिष्ट होता हो, अपने समय, शक्ति एवं धनको लगाना प्रपत्तिका विरोधी है । भक्तोंको एक क्षण भी भगवत्-कैंकर्यसे विमुख नहीं रहना चाहिये । कर्त्तव्यकी प्रेरणासे किये गये भगवान्‌की आज्ञाके अनुकूल जीवनके सारे कर्म भगवत्कैंकर्यके अन्तर्गत हैं । भक्तोंको भगवान्‌से भी अधिक अन्य भक्तोंका आदर करना चाहिये; क्योंकि भक्त भगवान्‌के जीवित स्वरूप हैं । भक्तोंके लिये दैन्य भी आवश्यक है । श्रीस्वामी यामुनाचार्यने कहा है—

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥
अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे ।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥
(आल० २६, ५१)

'ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने हजारों बार न किया हो । वही मैं उन कर्मोंके फल-भोगका समय आनेपर अब आपके सामने रो रहा हूँ । हजारों अपराधोंके अपराधी, भयंकर आवागमनरूप समुद्रके गर्भमें पड़े हुए आपकी शरणमें आये हुए मुझ आश्रयहीनको हे हरि ! आप अपनी कृपासे ही अपना लीजिये ।'

सब कुछ भगवान्‌के समर्पण करो

योगीश्वर कविजी कहते हैं—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३६)

'(भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नियम नहीं है कि वह एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे ।) वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे । (यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतधर्म है ।)'

भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०)

स जयति गोकुलसदनः
सरसिजवदनः शिशुर्घनश्यामः ।
पदनखरुचिजितमदनः
कृतखलकदनः कृपाजलधिः ॥

(अनन्तदेव)

शुद्ध, सहज रति भक्तिका प्रथम, तथा समापत्ति[1] चरम अवयव है। सहजात, शुद्ध या सात्त्विक रतिरूप भाव या वृत्ति[2] भगवान्के माहात्म्य-बोधके साथ नाना भूमिकाओंमें विकसित होकर फल-भक्तिका रूप ग्रहण करती है। चित्तमें दबे हुए सात्त्विक रतिरूप संस्कार, स्मृतिरूप आभ्यन्तर निमित्तद्वारा, अथवा शास्त्रवर्णित 'अतसीकुसुमोपमेय-कान्ति' आदि कमनीय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहोंके दर्शनसे वृत्ति या भावके रूपमें परिणत होते हैं। स्मृति या कल्पनाजन्य वस्तुसे अथवा इन्द्रियप्रणालीद्वारा बाह्यवस्तुसे उपराग या आभोगके अनन्तर मनमें जो ग्राह्य-ग्रहणाकारा प्रतीति होती है, वही वृत्ति है।

वृत्तिमें स्थिरता नहीं होती। यह अन्यान्य वृत्तियोंद्वारा विच्छिन्न होती रहती है। नाम-कीर्तन तथा भावनादि साधन-भक्तिद्वारा आराध्यके साथ चित्त जब पूर्णतया समापन्न होता है, तब उस वृत्तिका उच्छेद कठिन हो जाता है। इस स्थितिमें यह वृत्तिमात्र न रहकर शक्तिका रूप ग्रहण करती है। भक्तको यहीं भक्तिरसकी अनुभूति होती है, जो विषया-वच्छिन्न चिदानन्दांशभूत लौकिक रसका साध्य-तत्त्व है।

यतिवर नारायणतीर्थने लिखा है—

इत्थं च लौकिकरसे शृङ्गारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणादानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोक्त-चेतोवृत्तिलक्षणे भक्तिरसे तु अनवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणादत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य। अतो भगवद्भक्तिरस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य परमरसिकैः सेव्यः।'

(भक्तिचन्द्रिका)

सामान्य जनोंकी प्रतीतिका विषय न बननेके कारण ही भक्तिको काव्योचि[1]-लक्षण-ग्रन्थोंमें भावमात्रकी संज्ञा प्राप्त हुई है। अन्तर्यागसे परिचित व्यक्तियोंसे यह छिपा नहीं है कि किस प्रकार हृदयदेशकी कल्पना-मूर्तिके अन्तरालसे कोटि-काम-कमनीय, तडित्कान्ति, कमल-कोमल भगवद्विग्रहका आविर्भाव होकर विलक्षण रसका वर्षण होता है। फलभक्ति-रूप उत्कृष्ट रसदशामें द्वैतका परिहार हो जाता है। वहाँ पूर्ण ऐक्यकी सिद्धि होती है। यही भक्तका मोक्ष है।

भजनीयेन अद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात्।

(शाण्डिल्यसूत्र)

अर्थात् परमेश्वरसे—ये सेवक, सेवा तथा तत्साधनरूप गुरु-मन्त्रादि अभिन्न हैं; कारण, सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्व-

---

१. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। (पातञ्जलयोगदर्शन १।४१)

'सुनिर्मल स्फटिक मणिके सदृश, वृत्तियोंसे रहित चित्तका ग्रहीता, ग्रहण अथवा ग्राह्यरूपोंके द्वारा उपरञ्जित होकर उन्हींके आकाररूपमें भासित होना समापत्ति है।'

२. सर्वात्मनानिमित्तैव स्नेहधारानुकारिणी।
वृत्तिः प्रेमपरिष्वक्ता भक्तिर्माहात्म्यबोधजा॥

(शाण्डिल्य-संहिता)

१. (क) भाव एवेयमित्येके।

(भक्तिमीमांसा सूत्र १।१।३)

(ख) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः । (काव्य-प्रकाश ४।३५)

२. (क) स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः। ३०।
तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। ३३।

(नारद-भक्तिसूत्र)

(ख) सैव प्रौढा विरक्तिः सुचरितरचनानामनुभूतिः [illegible]
सैवान्तःसंशयादिक्षयकृदुपनिषत्तत्त्वविज्ञानमुक्तिः [illegible]।
बोधव्यक्तिश्च सैव प्रकटितपरमानन्दसंवित्प्रसूतिः
सैवाद्वैता च मुक्तिः कथमपि [illegible] भक्तिः॥

(भक्तिनिर्णय)

(ग) तत्र भक्तिर्भजनं तच्च 'भज' सेवायामिति धात्वनुसारात् सेवात्मकम्, समानेऽपि राजसेवात्मकत्वे भक्तोऽयममात्योऽयमिति भेदव्यपदेशदर्शनात्। नाप्याराध्यत्वेन ज्ञानं वा [illegible] नमस्कार्यत्वादिज्ञानवत्यपि भक्तोऽयमिति [illegible] नमस्कारापाराधनासु अननुगमात्। अत एव न [illegible] धातोः शक्तिकल्पने गौरवात्। किंतु भक्तिरस [illegible] गुणोपाधिनैरास्येन मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्यम्।

(भक्तिचन्द्रिका)

मत होते हैं। भक्तिकी रसरूपतामें प्रायः सभी तत्त्वज्ञ एक-मत हैं। कुछ लोग उसे समाधिजन्य ब्रह्मानन्द-सदृश अथवा उससे भी बढ़कर मानते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । २ ।
अमृतस्वरूपा च । ३ । (नारद०)

सा परानुरक्तिरीश्वरे । २ ।
तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् । ३ ।
द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रसशब्दाच्च रागः । ६ ।

(शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र)

भक्तिर्मनस उल्लासविशेषः । १ ।
रसस्तु तन्मामप्रीत उत्पत्तेः । ४ ।

(भक्तिमीमांसासूत्र)

उपर्युक्त सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि—परमात्मामें परमप्रेम ही भक्ति है; उसे अमृत, रस अथवा राग शब्दसे भी कहा जाता है।

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात् । भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् ।

(भक्तिरसायन)

समाधिसुखके सदृश भक्तिसुख भी परमानन्द रूप होनेसे स्वतन्त्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

एक ओर ब्रह्मानन्दको परार्द्धगुना करके रखा जाय तथा दूसरी ओर भक्तिसुखके सागरका परमाणु, तो भी इसकी तुलना ब्रह्मानन्द नहीं कर सकता।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥

(४ । ९ । १०)

ध्रुवजी कहते हैं—

'नाथ! आपके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिलता। फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है।'

तथा च श्रीमन्मुरपुरमथनचरणारविन्दमकरन्दमन्दाकिनीमवगाहमानस्य मनसः समुल्लासो राग-भाव-प्रेमशब्दाभिधेय एव स्वानन्दमाविर्भावयन् कार्यकारण-लिङ्गादिभिरभिव्यक्तो रसरूपो रत्याख्यः स्थायी भावो मोक्षमपि न्यक्कुर्वन् फलभक्तिरिति सिद्धम् ।

(नारायणतीर्थ)

'भगवान् विष्णु अथवा भगवान् शंकरके चरण-कमलोंके मकरन्दकी मन्दाकिनीमें अवगाहन करनेवाले मनका उल्लास ही 'राग' 'भाव' अथवा 'प्रेम' शब्दसे कहा जाता है। वही आत्मानन्दको प्रकट करता हुआ, हरि अथवा हरिभक्तरूप आलम्बन-विभाव-नामक तथा माहात्म्य-गुणादिकोंका श्रवण एवं वृन्दावनादि भूमिरूप उद्दीपन-विभाव-नामक कारण, अश्रु-रोमाञ्चादि अनुभावरूप कार्य तथा हर्ष-निर्वेदादि सहकारी लिङ्गोंसे अभिव्यक्त, मोक्षको भी पराजित करनेवाला रसरूप रति-नामक स्थायीभाव ही फलभक्ति है, यह सिद्ध हुआ।'

यही नहीं, साहित्यिक-शिरोमणि श्रीआनन्दवर्धनका कहना है कि 'कवियोंकी अभिनव रस-दृष्टि तथा विद्वानोंकी ज्ञान-दृष्टि—इन दोनोंमें मुझे वह सुख नहीं मिला जो क्षीरोदधिशायी भगवान् विष्णुकी भक्तिमें प्राप्त हुआ।'

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥

(ध्वन्यालोक)

श्रवणादि नवधा भक्ति, महत्सेवादि[1] भक्ति-भूमिकाओं तथा ललितादि[2] प्रेमा-भक्तिके प्रादुर्भावमें नाम-जप ही

---

१. प्रथमं महता सेवा[1] तद्दयापात्रता[2] ततः ।
श्रद्धाथ[3] तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः[4] ॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः[5] स्वरूपाधिगमस्ततः[6] ।
प्रेमवृद्धिः[7] परानन्दे तस्याथ स्फुरणं[8] ततः ॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः[9] स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता[10] ।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः[11] ॥

२. देखिये—श्रीनारायणतीर्थकी भक्तिचन्द्रिका ।

मूल कारण है। वेदोंसे[1] लेकर आजतकके अनुभवी भक्तोंने पापों तथा तज्जन्य रोगोंके उन्मूलन एव तत्त्वकी उपलब्धिमें भगवन्नामको ही परमाश्रय माना है—

गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम।

(ऋग्वेद म० २, सूक्त ३३)

'हमलोग रुद्रका प्रदीप्त नाम लेते हैं।'

प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥

(ऋग्वेद अ० ५ अ० ६व० २५ मत्र ५)

'परितः दृश्यमान इस प्रपञ्चसे परे सूक्ष्मरूपसे निवास करनेवाले हे अन्तर्यामी! मैं अल्प प्राणी नामकी शक्ति जानता हुआ आपके श्रेष्ठ नामका तथा महिमाशाली आपके गुणोंका कीर्तन करता हूँ।'

जप करते-करते नामके अन्तरालसे वाणीके परम रस तथा पुण्यतम ज्योतिका प्रादुर्भाव होता है।

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥

(वाक्यपदीय)

'अनन्त वाचकरूपोंमें विभक्त वाणीके परम रस एवं पुण्यतम ज्योतिको उपलब्ध करनेके लिये व्याकरण एक सरल मार्ग है।' व्याकरणसे तात्पर्य है—वाक्योंको पदोंमें, पदोंको वर्णोंमें, वर्णोंको श्रुतियोंमें तथा श्रुतियोंको परमाणुओंमें तोड़नेकी विद्या।

सम्पूर्ण धर्मादि पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी लक्ष्मीपति परम कृपालु परमात्मा हमारे हृदय-देशमें बैठे हैं और हम फिर भी दीन बने हैं! कैसी विडम्बना है।

मया वारं वारं जठरभरणाय प्रतिदिशं
प्रयातेन व्यर्थीकृतमहह जन्मैव सकलम्।
हृदिस्थोऽपि श्रीमानखिलपुरुषार्थैकनिलयो
दयोदारस्वामी न च गरुडगामी परिचित॥

(वैष्णव-कण्ठाभरण)

अतः अब भगवान्से प्रार्थना है—

त्वन्नामकीर्तनसुधारसपानपीनो
दीनोऽपि दैन्यमपहाय दिवं प्रयाति।
पश्चादुपैति परमं पदमीश ते चै-
तद्भाग्ययोग्यशरणं कुरु मामपीश॥

(आदित्यपुराण)

'दीन—दुखी मनुष्य भी तुम्हारे नाम-कीर्तनरूप सुधा रसके पानसे पुष्ट होकर दीनता त्याग दिव्य-लोकोंमें चला जाता है और वहाँके भोगोंको चिरकालतक भोगकर फिर हे स्वामिन्! वह आपके परमपदको पा लेता है। हे प्रभो! मुझे भी ऐसा बना दीजिये, जिससे मेरी वाणी आदि इन्द्रियाँ इस प्रकारका सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हो सकें।'

भक्तिसे पाप पूरी तरह जल जाते हैं

स्वयं भगवान् कहते हैं—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्। तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १९)

'उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकडियोंके बडे ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापराशिको पूर्णतया जला डालती है।'

---

१. ऋग्वेदमें भक्ति-सम्बन्धी मन्त्र—

१. तमु स्तोतारः· (१। १५६। ३)
२. नू मर्तो दयते ·· (७। १००। १)
३. त्रिर्देवः पृथिवीमेष (७। १००। ३)
४. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम् ··(१। १५४। ५)
५. यः पूर्व्याय वेधसे · (१। १५६। २)
६. वि चक्रमे पृथिवीमेष ···(७। १००। ४)
७. प्र विष्णवे शूषमेतु ·(१। १५४। ३)
८. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं···(श्वे० उप० ६। १८)

विशेष जानकारीके लिये भक्तिनिर्णय, भगवन्नाम-माहात्म्य-संग्रह तथा भक्ति-चन्द्रिका देखें।

भक्तिकी सुलभता और सरलता

(लेखक—श्रीकान्तानाथरायजी)

भक्तिका अर्थ सेवा है, किंतु यह साधारण सेवा नहीं है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने अपने रामचरितमानसमें भक्तशिरोमणि भरतलालजीसे एक बार राघवेन्द्र श्रीरामको कहलाया है—

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीवँ सुहाई॥
सो करि कहउँ हिए अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥
सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥

'प्रभु (आप) के चरण-कमलोंकी रजकी—जो सत्य, सुकृत (पुण्य) और सुखकी सुहावनी सीमा (अवधि) है, दुहाई करके मैं अपने हृदयकी जागते, सोते और स्वप्नमें भी बनी रहनेवाली रुचि (इच्छा) कहता हूँ। वह रुचि यह है कि कपट, स्वार्थ और अर्थ, धर्म, काम, मोक्षरूप चारों फलोंको छोड़कर स्वाभाविक प्रेमसे स्वामीकी सेवा करूँ।'

भरतजी कितने बड़े महापुरुष और महात्मा थे कि महाराज जनक उनके विषयमें कहते हैं—

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

'रानी! सुनो, भरतजीकी अपरिमित महिमाको एक श्रीरामचन्द्रजी जानते हैं, किंतु वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते।'

गुरु वशिष्ठजी उनको कहते हैं—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥

'भरत! तुम जो कुछ समझोगे, कहोगे और करोगे, वही जगत्‌में धर्मका सार होगा।'

इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि भरतलालजीके वचन सर्वथा सत्य हैं और इतर जीवोंको उन्हीं भक्त-शिरोमणिका अनुवर्तन करना चाहिये। तदनुसार भक्ति-की परिभाषा यह हुई कि श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंमें निःस्वार्थ, निश्छल और निष्काम प्रीतिको निरन्तर निबाहना—यही भक्ति है। भक्तिमें और-और अनुपम गुण रहते हुए यह भी एक अनुपम गुण है कि यह सुलभ और सरल है।

भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

'कहो तो, भक्तिमार्गमें कौन-सा परिश्रम है? इसमें न योगकी आवश्यकता है न यज्ञ, जप, तप और उपवासकी। यहाँ इतना ही आवश्यक है कि सरल स्वभाव हो, मनमें कुटिलता न हो और जो कुछ मिले, उसीमें सदा संतोष रहे।'

काकभुशुण्डिजीके वचन हैं—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥
पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

'उसके (भक्तिके) पानेके उपाय भी सुलभ और सुगम ही हैं, पर अभागे मनुष्य उन्हें ठुकरा देते हैं। वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी नाना प्रकारकी कथाएँ उन पर्वतोंमें सुन्दर खानें हैं। संत पुरुष उनकी इन खानोंके रहस्यको जाननेवाले मर्मी हैं और सुन्दर बुद्धि (खोदनेवाली) कुदाल है। गरुड़जी! ज्ञान और वैराग्य—ये दो उनके नेत्र हैं। इन नेत्रोंसे जो प्राणी उसे प्रेमके साथ खोजता है, वह सब सुखोंकी खान इस भक्तिरूपी मणिको पा जाता है।'

भक्तिकी तुलना ज्ञानयोग और कर्मयोगके साथ करनेपर पता चलता है कि ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बहुत साधन, बहुत परिश्रम, बहुत दृढ़ता और बहुत अध्यवसायकी आवश्यकता है, किंतु भक्तियोग इतना सुकर है कि भगवान् राघवेन्द्रमें एक बार भी दृढ़ विश्वास कर लेनेपर या उनको प्रेमपूर्वक एक बार भी प्रणाम करनेसे यह प्राप्त हो जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखा जाय—शबरी (भीलनी), निषादराज या गीध जटायुने कब कौन-सा ज्ञान प्राप्त किया था या कौन-से धर्मकार्य उन सबने किये थे, जिनके कारण उनको भक्ति प्राप्त हुई? बात वास्तवमें यह है कि भगवान्‌का बाना इस विषयमें विचित्र है। वे सुग्रीवसे कहते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

'हे मित्र! तुमने नीति तो अच्छी विचारी, परंतु मेरा प्रण तो है शरणागतके भयको हर लेना। जिसे

करोड़ों ब्राह्मणोंकी हत्या लगी हो, शरणमें आनेपर मैं उसे भी नहीं त्यागता । जीव ज्यों ही मेरे सम्मुख होता है, त्यों ही उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं ।'

इस सम्बन्धमें भरतलालजी श्रीराघवेन्द्रसे कहते हैं—

राउरि रीति सुबानि बड़ाई । जगत बिदित निगमागम गाई ॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी । नीच निसील निरीस निसंकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए । सकृत प्रनामु किहें अपनाए ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥

'हे नाथ ! आपकी रीति और सुन्दर स्वभावकी बड़ाई जगत्‌में प्रसिद्ध है और वेद-शास्त्रोंने गायी है । जो क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलङ्की, नीच, शीलहीन, निरीश्वरवादी (नास्तिक) और निःशङ्क (निडर) हैं, उन्हें भी आपने शरणमें सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करनेपर ही अपना लिया । उन (शरणागतों) के दोषोंको देखकर भी आपने कभी मनमें नहीं रखा और उनके गुणोंको सुनकर साधुओंके समाजमें उनका बखान किया ।'

दृष्टान्तस्वरूपमें सुग्रीव और विभीषणको लिया जाय । सुग्रीव और विभीषण आर्तभक्त थे । सुग्रीवको राघवेन्द्रने कहा—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू । संतत हृदयँ धरेहु मम काजू ॥

'तुम अङ्गदसहित राज्य करो । मेरे कामका हृदयमें सदा ध्यान रखना ।'

श्रीराघवेन्द्रने सुग्रीवसे कामको ध्यानमें रखनेको कहा, इसका कारण यह था कि वालीके मरनेके पहले सुग्रीवने राघवेन्द्रसे कहा था—

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । तजहु सोच मन आनहु धीरा ॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥

'हे रघुवीर ! सुनिये ! सोच छोड़ दीजिये और मनमें धीरज लाइये । मैं सब प्रकारसे आपकी सेवा करूँगा, जिस उपायसे जानकीजी आकर आपको मिलें ।'

राज्य पानेपर सुग्रीवने क्या किया, यह भी प्रत्यक्ष है—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा । राम काजु सुग्रीवँ बिसारा ॥

'यहाँ (किष्किन्धानगरीमें) पवनकुमार श्रीहनुमान्‌जी-ने विचार किया कि सुग्रीवने रामकार्यको भुला दिया ।'

उस ओर राघवेन्द्र क्या कहते हैं—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी । पावा राज कोस पुर नारी ॥

'सुग्रीव भी राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पा गया है और उसने मेरी सुध भुला दी है ।'

सेवक सुग्रीव प्रभुके बलसे पाये हुए राज्यका सुख भोग रहा है और प्रभु स्वयं एक पहाड़पर वर्षाके विकराल दिनोंको बिता रहे हैं, हृदयमें सीता-जैसी पतिव्रता स्त्रीके वियोगका दुःख है—पता नहीं, सीता कहाँ और किस अवस्थामें है । राघवेन्द्र लखनलालजीसे कहते हैं—

बरषा गत निर्मल रितु आई । सुधि न तात सीता कै पाई ॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं । कालहु जीति निमिष महुँ आनौं ॥
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई । तात जतन करि आनउँ सोई ॥

'वर्षा बीत गयी, निर्मल शरद्-ऋतु आ गयी; परंतु तात ! सीताका कोई समाचार नहीं मिला । एक बार किसी प्रकार भी पता पा जाऊँ तो कालको भी जीतकर पलभरमें जानकीको ले आऊँ । कहीं भी रहे, यदि जीती होगी तो हे तात ! यत्न करके मैं उसे अवश्य लाऊँगा ।'

इस प्रकार प्रभुको चिन्ता और विषादसे युक्त देखकर जब लखनलालजी क्रोधित हो उठे, तब राघवेन्द्रने लखनलाल-जीसे कहा—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव ।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥

"तब दयाकी सीमा श्रीरघुनाथजीने छोटे भाई लक्ष्मणको समझाया कि 'हे तात ! सुग्रीव सखा हैं, केवल भय दिखलाकर ले आओ (उनका और किसी प्रकारका अनिष्ट न हो) ।'"

यह कृपालुताकी पराकाष्ठा है । सुग्रीवको बुलानेकी भी आवश्यकता केवल इसीलिये है कि राघवेन्द्र उनसे उनकी प्रतिज्ञाके अनुसार काम कराना चाहते हैं, ताकि भक्तके वचन भी मिथ्या न हो जायँ तथा उसकी भक्ति और ख्याति बनी रहे ।

फिर विभीषणकी ही बात देखी जाय । श्रीराघवेन्द्रने प्रतिज्ञा की थी—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

'श्रीरामजीने भुजा उठाकर (मुनिमण्डलीमें) प्रण किया कि मैं पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित कर दूँगा । फिर समस्त मुनियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर उनको सुख दिया ।'

फिर राघवेन्द्रने दूसरी प्रतिज्ञा जटायुके सामने की थी—

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥

'हे तात ! सीता-हरणकी बात आप जाकर पिताजीसे न कहियेगा । यदि मैं राम हूँ तो दशमुख रावण स्वयं ही कुटुम्बसहित वहाँ आकर कहेगा ।'

ऐसी-ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर भी जब विभीषणने आकर और अपना परिवार देकर भगवान् श्रीरामको प्रणाम किया, तब एक बारकी दण्डवत् (सकृत् प्रणाम) से ही राघवेन्द्र द्रवित हो गये और उसे—

भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा।

इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार हजारों वर्षोंके अन्धकारमय स्थानमें भी प्रकाश पहुँचनेपर वह स्थान तुरंत प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार नीच-से-नीच जीव भी जब भगवान् श्रीरामकी शरणमें जाता है, तब वे उसे अपना लेते हैं और उसके किसी भी गुण-दोषका विचार नहीं करते। अतः भक्ति-मार्ग अत्यन्त ही सुगम और सरल है।

मुख्य विशेषता तो यह है कि एक बार प्रभुके दरबारमें जाकर प्रणाम कर लेनेसे ही फिर उस जीवपर प्रभु कभी नाराज नहीं होते। पूज्यपाद गोस्वामीजीका अनुभव है—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥

'जिनकी भक्तोंपर बड़ी ममता और कृपा है—यहाँतक कि जिन्होंने एक बार जिसपर कृपा कर दी, उसपर फिर कभी क्रोध नहीं किया!'

भक्ति सुलभ है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इसके लिये किसी भी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है। जैसे कोई मूर्ख और अज्ञानी जीव भी कल्पवृक्षके तले जाकर कोई कामना करे तो उसकी वह कामना पूर्ण होगी ही, उसी प्रकार केवल भक्तिकी चाहसे राम-नामकी शरण पकड़नेपर उसे भक्ति मिल जाती है और वह जीव सुखी हो जाता है। गोस्वामीजीने अपनी विनय-पत्रिकामें कहा है—

मोको भलो रामनाम सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के॥

'मेरे लिये तो एक राम-नाम ही कल्पवृक्ष हो गया है और वह कृपालु श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे हुआ है। अब तुलसी इस अनुग्रहके कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त है, जैसे कोई बालक अपने माता-पिताके राज्यमें होता है।'

भगवान् श्रीराम स्वयं नारदजीसे कहने लगे—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

'हे मुने! सुनो, मैं तुम्हें बल देकर कह रहा हूँ कि जो समस्त आशा-भरोसा छोड़कर केवल मुझको ही भजते हैं, मैं सदा उनकी वैसे ही रखवाली करता हूँ, जैसे माता बालककी रक्षा करती है।'

इन सभी प्रसङ्गोंसे यह प्रमाणित होता है कि भक्तोंकी लाज और योग-क्षेमकी रक्षा स्वयं भगवान् निरन्तर अतन्द्रित भावसे किया करते हैं और इसकी प्राप्तिके लिये आवश्यकता इस परम सुलभ उपायकी है कि एक बार भी उनकी शरणमें जाकर जीव कह दे—'प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये।'

भक्तियोगकी सुगमता इस बातसे भी प्रत्यक्ष होती है कि इसके लिये कोई कठिन इन्द्रिय-निग्रह या तपस्याकी आवश्यकता नहीं होती। केवल कर्मको भगवत्-प्रेममें डुबा देना है। किसी भी कर्ममें इन्द्रिय-निरोध करनेकी कठोर आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता केवल यह है कि समस्त इन्द्रियार्थोंमें भगवान्‌का रूप मिला दे और कार्य भगवन्निमित्तक हो।

प्रवृत्तिवाले कार्योंकी भी आवश्यकता इसमें नहीं है। बल्कि भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भक्ति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥

'भाई! यह मेरी भक्तिका मार्ग सुलभ और सुखदायक है, पुराणों और वेदोंने इसे गाया है। न किसीसे वैर करे न लड़ाई, झगड़ा करे, न आशा रखे न भय ही करे। उसके लिये सभी दिशाएँ सदा सुखमयी हैं, जो कोई भी आरम्भ (आसक्तिपूर्वक कर्म) नहीं करता, जिसका कोई अपना घर नहीं है (यानी जिसकी घरमें ममता नहीं है), जो मानहीन, पापहीन और क्रोधहीन है और जो भक्ति करनेमें निपुण और विज्ञानवान् है, संतजनोंके संसर्ग (सत्सङ्ग) से जिसे सदा प्रेम है, जिसके मनमें सभी विषय—यहाँतक कि स्वर्ग और मुक्तितक (भक्तिके सामने) तृणके समान हैं।'

असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

'ऐसी सुगम और परम सुख देनेवाली हरि-भक्ति जिसे न सुहावे, ऐसा मूढ़ कौन है?'

अतः गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि भगवद्भक्ति गुणमें तो परम तेजस्वी सूर्यके सदृश है, किंतु इसकी प्राप्ति परम सुलभ उपायसे होती है। प्राप्तिके लिये जीवको केवल पूर्ण विश्वासके साथ भगवान्‌की शरणमें जाकर अपनेको भगवान्‌के चरण-कमलोंमें समर्पण कर देना है।

भगवान्‌की शरणमें जानेपर और भगवत्-भक्ति प्राप्त हो जानेपर जीवकी क्या दशा होती है और उसको किस-किस कामके उत्तरदायित्वसे छुटकारा मिल जाता है, इस विषयमें श्रीराघवेन्द्र स्वयं ही श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं—

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

× × × ×

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

'(शरद्-ऋतु देखकर) राजा, तपस्वी, व्यापारी और भिखारी हर्षित होकर नगर छोड़कर उसी प्रकार चले, जैसे भगवान्‌की भक्ति पाकर चारों आश्रमवाले श्रमको त्याग देते हैं।'

× × × ×

'जो मछलियाँ अथाह जलमें निवास करती हैं, वे उसी प्रकार सुखी रहती हैं जैसे भगवान्‌की शरणमें चले जानेपर मनुष्यको एक भी बाधा नहीं सताती।'

भक्तिके लक्षण

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी 'वाचस्पति')

भक्ति आर्य-जातिका सर्वस्व है। प्रत्येक मनुष्य इसीके आधारपर अपने कल्याणकी इच्छा करता है और इसीसे कल्याण होनेका दृढ़ विश्वास रखता है। उस भक्तिका क्या लक्षण है—यह विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है; क्योंकि हमारे शास्त्र ऐसा मानते हैं कि लक्षण और प्रमाणसे ही किसी वस्तुकी सिद्धि हुआ करती है। जिसका कोई लक्षण नहीं, वह वस्तु ही सिद्ध नहीं। इसलिये शास्त्रकार सभी वस्तुओंका लक्षण बताया करते हैं। तदनुसार भक्तिका भी कोई लक्षण होना आवश्यक है। लक्षण प्रायः वाचक शब्दकी निरुक्तिसे ही बताये जाते हैं। अतः 'भक्ति' शब्दार्थके क्रमिक विकासका विचार भी यहाँ आवश्यक है।

'भक्ति' और 'भाग' दोनों शब्द एक ही धातुसे सिद्ध होते हैं। यद्यपि दोनों शब्दोंमें प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं, तथापि उन दोनों प्रत्ययोंका अर्थ भी व्याकरणमें एक ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि 'भक्ति' और 'भाग' शब्द समानार्थक हैं। 'भाग' शब्द लोकव्यवहारमें अवयव अर्थमें भी प्रसिद्ध है, और किसी समुदायका एक अवयव जो नियत रूपसे किसीके अधिकारमें दे दिया जाय, उसे भी भाग कहते हैं—जैसे यह वस्तु देवदत्तका भाग है, यह चैत्रका वा यज्ञदत्तका इत्यादि। वैदिक वाङ्मयमें 'भक्ति' शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमें प्रायः मिलता है। ऋग्वेदसंहिता ८। २७। ११में 'भक्तये' यह चतुर्थी विभक्तिका रूप आया है। उसका अर्थ भाष्यकारोंने 'सम्भजनाय'='लाभाय' अर्थात् 'विभाग' के लिये अथवा 'विभाग-जनित' लाभके लिये—यही किया है। ब्राह्मणोंमें भी ऐतरेय ब्राह्मणकी तृतीय पञ्चिकाके २०वें खण्डमें और सप्तम पञ्चिकाके चतुर्थ खण्डमें एवं दैवत-ब्राह्मणके तृतीय अध्यायकी २२ वीं कण्डिकामें 'भक्ति' शब्द मिला है। वहाँ सब जगह भाष्यकारोंने उस शब्दका 'भाग' ही अर्थ किया है। वेदमन्त्रोंके अर्थका परिचायक निरुक्त ग्रन्थ है। वह भी वेदाङ्ग होनेके कारण वैदिक वाङ्मयमें ही गिना जाता है। उसमें भी 'भक्ति' शब्दका व्यवहार हुआ है—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।

अर्थात् तीनों लोकोंके तीन ही मुख्य देवता हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, यह पहले कह चुके हैं। अब उनकी भक्ति और साहचर्यकी व्याख्या करते हैं। यहाँ भी भक्तिका अर्थ भाग ही है, जैसा कि व्याख्यान करते हुए निरुक्तकारने आगे लिखा है—

अथैतानि अग्निभक्तीनि, अयं लोकः, प्रातःसवनम्, वसन्तः, गायत्री इत्यादि।

अर्थात् यह पृथ्वीलोक, यज्ञका प्रातः-सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द—ये सब अग्निकी भक्ति हैं अर्थात् अग्नि देवताके भागमें आये हुए हैं। अस्तु, यह सिद्ध हो गया कि वैदिक वाङ्मयमें 'भक्ति' शब्द उस अर्थमें नहीं मिलता, जिस अर्थमें आजकल प्रसिद्ध है, किंतु 'भाग' अर्थमें ही मिलता है। पूर्वोक्त निरुक्त-वचनका यह तात्पर्य हो सकता है कि पृथिवीलोक, गायत्री छन्द आदि अग्नि देवताके अवयव हैं; क्योंकि निरुक्तकार ऐसा ही मानते हैं कि लोक, छन्द आदि सब देवताके स्वरूप ही होते हैं। इसलिये उन्हें अवयव भी कह सकते हैं। और अग्नि देवताके भागमें ये सब हैं—इस प्रकार 'अधिकार' अर्थ भी कर सकते हैं। अस्तु,

वैदिक वाङ्मयमें केवल श्वेताश्वतर उपनिषद्में वर्तमान प्रचलित अर्थमें 'भक्ति' शब्द आया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६।२३)

'जिस पुरुषकी देवमें परम भक्ति हो और देवके समान ही गुरुमें भी भक्ति हो, उस पुरुषके हृदयमें इन उपनिषद्के कहे हुए अर्थोंका प्रकाश हो सकता है।'

यहाँ 'भक्ति' शब्दका श्रद्धा या प्रेम ही अर्थ है। किंतु यह मन्त्र उपनिषद्के अन्तमें अधिकार और फलश्रुतिके साथ पढ़ा गया है; इसलिये बहुतोंको संदेह है कि यह उपनिषद्का अङ्ग है या नहीं। सम्भव है अधिकारका निरूपण पीछे ही जोड़ा गया हो। और यहाँ भक्तिको ज्ञानका अङ्ग माना गया है, इसलिये शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके स्वप्नेश्वर-भाष्यमें भी यह निर्णय किया गया है कि यहाँ 'देव' शब्दका अर्थ ईश्वर नहीं, किंतु ज्ञान देनेवाले देवता ही यहाँ 'देव' शब्दका अर्थ है, और उनपर तथा अपने गुरुपर श्रद्धा ही यहाँ 'भक्ति' शब्दका अर्थ है। अस्तु,

पूर्वोक्त वैदिक वाङ्मयके अनुसार ही यदि शब्दका अर्थ लिया जाय तो 'ईश्वरकी भक्ति करो' इस वाक्यका अर्थ होगा कि 'ईश्वरके भाग बनो'। तब प्रश्न होगा कि ईश्वरके भाग तो सब जीव हैं ही, फिर बनें क्या? यह सभी ईश्वरवादियोंका अनुभव है कि हम ईश्वरके अधिकारमें हैं—जैसे ईश्वर चलाता है, वैसे ही चलते हैं और 'भाग' शब्दका 'अवयव' अर्थ लिया जाय, तो यह भी ठीक है कि सब ईश्वरके अवयव हैं; क्योंकि जीवमात्रको ईश्वरका अंश श्रुति-स्मृति और ब्रह्मसूत्रोंने कहा है। ब्रह्मसूत्रोंमें सबके अवयव होनेकी उपपत्ति तीन प्रकारसे बतायी गयी है। अग्नि-विस्फुलिङ्गके समान अंशांशिभाववादसे, प्रतिबिम्बवादसे या अवच्छेदवादसे। अंशांशिभाववादका आशय यह है कि यद्यपि लोकमें अंशसे अंशी या अवयवसे अवयवी बनता है, जैसे तन्तुओंसे पट या वृक्षोंसे वन बना करता है; किंतु यहाँ वैसी बात नहीं। यहाँ अंशोंसे अंशी नहीं बनता, किंतु अंशीसे अंश निकलते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे छोटे-छोटे कण निकलकर बाहर अपना पृथक्-पृथक् आयतन बना लेते हैं और इन्धन पाकर अलग-अलग प्रज्वलित हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वरमेंसे जीव पृथक्-पृथक् प्रकट होकर अपना-अपना शरीररूप आयतन बनाकर उसके स्वामी बन जाते हैं। अग्नि एक सावयव परिच्छिन्न पदार्थ है, इसलिये वहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अग्निमेंसे बहुत-से कण या विस्फुलिङ्ग बराबर निकलते रहनेपर अग्नि न्यून हो जायगी या समाप्त ही हो जायगी। किंतु ईश्वर निरवयव और विभु है, इसलिये वहाँ घट जानेकी या समाप्त हो जानेकी कोई आशङ्का नहीं। अनन्तमेंसे अनन्त निकाल लेनेपर भी अनन्त ही बना रहता है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

दूसरा—प्रतिबिम्बवाद यह बताया गया है—जैसे एक ही सूर्यके हजारों जलाशयोंमें हजारों प्रतिबिम्ब बनते और चमकते हैं तथा अपनी किरणें थोड़े प्रदेशमें फेंकते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वरके भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें प्रतिबिम्बित अनन्त जीव हैं। उनमें भी चमकरूप थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है और उस ज्ञानका अल्प प्रसार भी है। प्रतिबिम्बोंके न रहने या नष्ट हो जानेपर भी बिम्बका कुछ नहीं बिगड़ता; जलमें कम्पन होनेपर प्रतिबिम्ब ही कम्पित होता है, किंतु बिम्बका उस कम्पनसे कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार जीवके सुख-दुःखादिका या इसके जन्म-मरण आदिका ईश्वरसे कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रतिबिम्बमें कोई नयी सजावट करनी हो तो सीधी सजावट प्रतिबिम्बमें नहीं की जा सकेगी; बिम्बको सजा दो, प्रतिबिम्ब भी अपने-आप सज जायगा। उदाहरणके लिये हमारे मुखका प्रतिबिम्ब अनेक दर्पणोंमें पड़ता है—उन प्रतिबिम्बोंमें यदि हम तिलक लगाना चाहें तो सीधे प्रतिबिम्बोंमें नहीं लगा सकेंगे, किंतु बिम्बरूप मुखमें तिलक लगा देनेपर प्रतिबिम्बोंमें अपने-आप ही वह तिलक आ जायगा। इसी प्रकार ईश्वरको हम जो कुछ अर्पण करें, उसका प्रतिफल हमें अवश्य प्राप्त होगा। यह 'प्रतिबिम्बवाद' हुआ। तीसरे—'अवच्छेदवाद' का स्वरूप यह है कि जैसे अनन्त और अपरिच्छिन्न आकाश एक चहारदीवारीके घेरेमें ले लिये जानेसे एक घरके रूपमें महाकाशसे पृथक्-सा प्रतीत होने लगता है, पर वास्तवमें पृथक् नहीं है, चहारदीवारीको तोड़ते ही महाकाशका महाकाश ही रह जायगा, उसी प्रकार अन्तःकरणके घेरेमें बद्ध होकर परमात्मा ही जीवात्मस्वरूप बन जाता है और अन्तःकरणके परिच्छेदके हटनेपर तो वह पूर्ववत् ईश्वररूप है ही।

इन तीनों दृष्टान्तोंसे जीव-ईश्वरका अद्वैतभाव वेदान्तशास्त्रमें सिद्ध किया जाता है। किंतु यह स्मरण रहे कि दृष्टान्त केवल बुद्धिको समझानेके लिये होते हैं। दृष्टान्तके सभी धर्मोंको दार्ष्टान्तपर नहीं घटाया जा सकता। अस्तु, प्रकृतमें हमें इतना ही कहना है कि किसी भी प्रकारसे विचार करें,

जीव तो स्वतः ही ईश्वरके भाग हैं; फिर इन्हें भाग बनने वा भक्ति करनेका उपदेश देनेका प्रयोजन क्या रहा। इसका उत्तर होगा कि ईश्वरके भाग होते हुए भी भाग होनेका ज्ञान इन्हें नहीं है। ये अपनेको स्वतन्त्र समझ रहे हैं, ईश्वरके भागरूपमें नहीं समझते। इसलिये 'भक्ति करो'—इस उपदेशका तात्पर्य यही होगा कि अपनेको ईश्वरका भाग—अपना उनके अधिकारमें होना या उनका अंश होना समझो। बस, समझते ही परमानन्दरूप होकर सब दुःखोंसे छुटकारा पा जाओगे। तब 'भक्ति' शब्दका अर्थ हुआ—भाग होनेका ज्ञान; वही जीवका कर्तव्य रहा। किंतु यह न समझनेका दोष अन्तःकरण अर्थात् मनका है। अन्तःकरण-रूप उपाधिके घेरेमें आनेसे ही जीवभाव मिला है और इसीसे सब अनर्थ उत्पन्न हुए हैं। उस घेरेको हटानेकी आवश्यकता है; किंतु, वह हटे कैसे? एकताका ज्ञान हो तब अन्तःकरण विदा हो और अन्तःकरण विदा हो तब एकताका ज्ञान हो—यह एक अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है।

इसका समाधान शास्त्रकार यों करते हैं कि मनरूप उपाधि भी तो कहीं आकाशसे नहीं टूट पड़ी। वह भी ईश्वरकी शक्ति मायाका ही एक अंश है और ईश्वरकी शक्ति माया ईश्वरसे अभिन्न है। तभी तो अद्वैतवाद बनता है। इसलिये मनको यदि ईश्वरकी ओर लगाया जाय तो यह भी स्वयं अपने कारणमें लीन होकर निवृत्त हो जायगा और जीवका ईश्वरका भाग होना सिद्ध हो जायगा; किंतु मन चञ्चल है, वह एक जगह टिकता नहीं। सम्पूर्ण गीताका उपदेश सुनते हुए अर्जुनने कहीं भी अशक्यताका प्रश्न नहीं उठाया, किंतु मनको रोकनेकी बात आते ही वह बोल उठा—

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ (६।३४)

—अर्थात् मनका रोकना तो वायुके रोकनेके समान एक दुष्कर कर्म है। जब अर्जुन-जैसे परम अभ्यासीके लिये भी यह दुष्कर प्रतीत हुआ, तब साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है। बस, इस दुष्कर कर्मको साध्य बनानेके लिये ही सब शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके उपदेश चलते हैं। बड़े-बड़े अनुभवी आचार्योंका इस विषयमें यह मत है कि मनको बलात् नहीं रोका जा सकता, प्रेमके बन्धनमें बँधकर यह स्वयं रुक जाता है। इसलिये परमानन्दकन्द भगवान्के प्रेमका आस्वाद यदि मनको दिया जाय तो यह रुक जायगा; रुककर वहीं लीन हो जानेपर भगवान्का भाग होना अर्थात् भगवद्भक्ति जीवकी सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार भागरूप अर्थका बतानेवाला 'भक्ति' शब्द भाग बननेके कारणरूप प्रेममें चला गया और 'भक्ति' शब्दका अर्थ भगवान्का प्रेम ही हो गया। उस प्रेमको प्राप्त करनेके लिये उसके साधन श्रवण, कीर्तन आदिकी आवश्यकता है—इसलिये प्रेमके साधनोंमें भी 'भक्ति' शब्द चला गया और यों भक्ति दो प्रकारकी हो गयी—साधन-भक्ति और फलरूपा भक्ति।

प्रेम और प्रेमके साधन—श्रवणादि अर्थोंमें 'भक्ति' शब्दके दर्शन हमें प्रधानरूपसे सर्वप्रथम श्रीभगवद्गीतामें ही होते हैं। वहीं भगवान्ने 'भक्ति' शब्दका खूब प्रयोग किया है और इसके फल, उपाय आदि सब विस्तारसे बताये हैं। इसी अर्थको लेकर इस शास्त्रके आचार्योंने भक्तिका लक्षण बनाया और पुराणादिद्वारा इस अर्थके अत्यन्त प्रसिद्ध हो जानेके कारण ही व्याकरणके आचार्य भगवान् पाणिनिने 'भज सेवायाम्' पढ़कर 'भज' धातुका अर्थ सेवा ही स्थिर कर दिया। उस सेवासे प्राप्त होनेवाला प्रेम भी भक्ति शब्दका अर्थ प्रधानरूपसे बना रहा।

भक्तिके निरूपण करनेवाले दो सूत्र प्रसिद्ध हैं—एक शाण्डिल्यका और दूसरा नारदका। दोनोंमें भक्तिका एक ही लक्षण हुआ है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

अर्थात् ईश्वरमें परम अनुराग होना ही भक्ति है। भक्ति-शास्त्रके परमाचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने उपाय और फलसहित उस लक्षणको और भी स्पष्ट कर दिया—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

अर्थात् भगवान्का माहात्म्य जानकर उनमें सबसे अधिक दृढ़ स्नेह होना ही भक्ति है और उसीसे मुक्ति होती है, मुक्तिका कोई और उपाय नहीं है। इस प्रकार इन्होंने ज्ञानको भी भक्तिका अङ्ग बनाया; क्योंकि बिना जाने प्रेम हो ही नहीं सकता। भगवान्का महत्त्व न समझेंगे तो प्रेम कैसे होगा। इसलिये भगवान्के महत्त्वका ज्ञान पहले होना आवश्यक है। भक्तिकी परम दृष्टान्तभूता व्रजगोपियोंको भी भगवान् श्रीकृष्णके महत्त्वका पूर्ण ज्ञान था। तभी तो गोपिकागीतमें उन्होंने स्पष्ट कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

विखनसार्थितो धर्मगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

अर्थात् 'आप केवल गोपीके पुत्र नहीं हैं, सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें आप द्रष्टा रूपसे विराजमान हैं। धर्मकी रक्षाके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर आपने यह अवतार धारण किया है।' इस प्रकार उन्हें पूर्ण ज्ञान होना स्पष्ट हो जाता है और इसीलिये वे भक्तोंमें शिरोमणि कही जाती हैं। नारदभगवान् अपने सूत्रोंमें उन्हींका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि वैसे ही परम अनुरागका नाम भक्ति है, जैसा गोपिकाओंका था।

आचार्य श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भी भक्तिका विवरण करनेके लिये 'भक्ति-रसायन' ग्रन्थ लिखा है। उनके भक्ति-लक्षणकी भी छटा देखिये—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

इनका आशय है कि हमारा चित्त एक कठिन वस्तु है। जैसे लाख आदि कठिन वस्तुको अग्निके तापसे पिघलाकर फिर उसे किसी साँचेमें ढाला जाता है, उसी प्रकार श्रवण, कीर्तन आदि उपायोंसे पहले चित्तको पिघलाना चाहिये। जब वह पिघल जायगा, तब उसकी तैलकी धाराके समान एक अविच्छिन्न वृत्ति बन जायगी। वह वृत्ति जब सर्वेश्वरकी ओर लगे, तब उसका नाम भक्ति होता है।

श्रीमधुसूदनाचार्यने लक्षणमें प्रेमका नाम नहीं लिया है। किंतु तैलकी धाराके समान अविच्छिन्न वृत्ति प्रेमके बिना हो नहीं सकती। इसलिये वैसी वृत्ति कहनेसे ही प्रेम समझ लिया जाता है और आगे विवरणमें जो उन्होंने भक्तिकी ग्यारह भूमिकाएँ बतायी हैं, उनमें प्रेमका विस्पष्ट विवरण आ जाता है। भक्तिमार्गके विद्यार्थीको ग्यारह श्रेणियाँ पार करनी पड़ती हैं। उनको ही ग्यारह भूमिकाएँ कहते हैं। भक्तिरसायनमें ग्यारह भूमिकाओंका वर्णन इस प्रकार है। पहली भूमिकामें अर्थात् पहली श्रेणीमें परम भक्त महान् पुरुषोंकी सेवा करनी होती है। उनका काम करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनकी चरण-वन्दनादि सेवा करना—यही पहली श्रेणीके भक्तिमार्गके विद्यार्थीका कर्तव्य है। दूसरी श्रेणीमें सेवा करते-करते वह उन महापुरुषोंका कृपापात्र बन जाता है—यह महापुरुषोंका कृपापात्र बन जाना ही दूसरी भूमिका है। ज्यों-ज्यों यह उन महापुरुषोंका कृपापात्र बनता है, वैसे-वैसे ही उनके धर्मोंमें अर्थात् जो-जो काम वे महापुरुष करते हैं, उनमें इस भक्तिमार्गके विद्यार्थीकी भी श्रद्धा होती जाती है—यह तीसरी भूमिका हुई। तब चौथी भूमिकामें भगवान्के गुणोंका श्रवण और अपने मुखसे उन गुणोंका कीर्तन भी बनने लगता है। नवधा भक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन—ये छः अङ्ग इस चौथी भूमिकामें ही आ जाते हैं। तब पाँचवीं भूमिकामें भगवान्के प्रेमका अङ्कुर इस विद्यार्थीके हृदयमें उत्पन्न हो जाता है। प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो जानेपर यह भगवत्तत्त्वको जाननेका अधिकाधिक प्रयत्न करता है। और इसका वह भगवत्तत्त्व-ज्ञान बढ़ता जाता है। यह छठी भूमिका है। स्मरण रहे कि प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न होनेसे पूर्व भी श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा सामान्य ज्ञान हो चुका रहता है—यदि सामान्य ज्ञान भी न हुआ रहे तो प्रेमका अङ्कुर ही कैसे जमे। किंतु ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है, वैसे-वैसे ही स्वरूप-ज्ञानकी उत्कण्ठा भी बढ़ती जाती है और उत्कण्ठाके अनुसार यत्न करनेपर भगवत्-स्वरूप-ज्ञान और साथ ही अपना स्वरूप-ज्ञान भी होता जाता है। दोनोंका स्वरूप-ज्ञान होते ही अपनेमें दासभाव प्रतीत होने लगता है। इससे नवधा भक्तिके सातवें अङ्ग दास्यकी भूमिकामें भक्त आ जाता है। अब जैसे-जैसे अधिक तत्त्वज्ञान होता जाता है, वैसे-ही-वैसे परमानन्दरूप भगवान्में प्रेम भी बढ़ता जाता है। यही सातवीं भूमिका श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बतायी है—प्रेमवृद्धिः परानन्दे। आठवीं भूमिकामें मनमें परमात्मतत्त्वका बार-बार स्फुरण होता है। अधिक प्रेम होनेपर स्फुरण होना स्वाभाविक ही है। इस स्फुरणसे पूर्ण आनन्द प्राप्तकर वह भक्त एकमात्र भगवद्धर्मश्रवण-कीर्तनादिमें पूर्णासक्त हो जाता है, मानो उसीमें डूब जाता है। यह भगवद्धर्मोंकी निष्ठारूप नवम भूमिका बतायी गयी है। इसमें प्राप्त हो जानेवालोंकी दशा श्रीभागवतमें वर्णित है—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
(११। ३। ३२)

अर्थात् ऐसे भक्त कभी भगवद्विरहका अनुभव करते हुए रोने लगते हैं, कभी उस आनन्दके प्रवाहमें हँसते हैं कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक भावमें स्थित होकर कुछ

बड़बड़ाने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी-कभी भगवान्‌को खोजने लगते हैं और कभी परम शान्तिका अनुभव करके चुप हो रहते हैं। इसके अनन्तर दशम भूमिकामें भगवान्‌की सर्वज्ञता और आनन्द-रूपता भक्तमें भी प्रकट होने लगती है। वह सब कुछ जान जाता है और सदा आनन्दमें निमग्न रहता है। यही नवधा भक्तिके वर्णनमें सख्यरूपा आठवीं भक्ति बतायी गयी है। सख्यका अर्थ है—'समान ख्याति'—अर्थात् जिसके साथ प्रेम है, उसीके समान अपनेको पाना। इसके आगे प्रेमकी पराकाष्ठारूप पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके अनन्तर और कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। यही भक्तिरसायनमें अन्तिम ग्यारहवीं भूमिका मानी गयी है और नवधा भक्तिके प्रसङ्गमें भी इसे 'आत्मनिवेदन' रूप अन्तिम स्थान दिया गया है। यह अन्तिम भूमिका व्रजगोपियोंको ही प्राप्त हुई थी—ऐसा आचार्योंका वर्णन है।

पाठक देखेंगे कि इन ग्यारह भूमिकाओंमें भक्ति और ज्ञानका परस्पर सहयोग चलता रहता है। ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है और भक्तिसे ज्ञानका परिपोष होता जाता है। अन्तिम भूमिकामें दोनों एकरूप हो जाते हैं—इसे चाहे पराभक्ति कहिये वा परज्ञान। जगत्‌की विस्मृति दोनोंमें समान है। पराभक्तिमें यही विशेषता मानी जाती है कि वहाँ प्रेमकी अधिकता और भगवत्तत्त्वका सतत स्फुरण होनेसे एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होता है। श्रुति और स्मृतिमें ज्ञानको भी आनन्दरूप कहा है—इसलिये परज्ञानमें भी आनन्द है, किंतु उसका स्फुरण नहीं। पराभक्तिमें परमानन्दका स्फुरण भी होता है। इसीलिये परम भक्त वा अनन्य भक्त आगे कुछ नहीं चाहते। मुक्तिकी भी उन्हें इच्छा नहीं होती। वे तो उसी परम प्रेमावस्थामें निमग्न रहना चाहते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वतीने इसी आधारपर दोनोंका अधिकार-भेद इस प्रकार बतलाया है कि जो अत्यन्त विरक्त हैं, जिनके अन्तःकरणमें राग वा प्रेमका लेश भी नहीं, वे ज्ञानमार्गके अधिकारी हैं। बीज न होनेसे भक्ति उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। किंतु जिनके हृदयमें प्रेमका अंश है—वह चाहे सांसारिक स्त्री-पुत्रादिमें ही हो, उस स्थितिमें उसका प्रवाह बदलकर गुरुद्वारा ईश्वरकी ओर लगाया जा सकता है—वे ही भक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती भक्तिको अन्तिम प्राप्य कहते हैं। वे मुक्तिप्राप्तिको भक्तिका फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फलरूपा है। श्रीवल्लभाचार्यने जो भक्तिसे मुक्ति कही है, उसका भी अभिप्राय यही है कि यदि मुक्ति होनी होगी तो भक्तिसे ही हो सकती है, और किसी मार्गसे नहीं। किंतु भक्तको मुक्तिकी इच्छा ही न हो, तब मुक्तिको फल कैसे कहा जाय। शाण्डिल्यसूत्रमें भी भक्तिके द्वारा मुक्ति बतायी गयी है। आगमशास्त्रमें तो भक्तोंकी मुक्ति दूसरे ही प्रकारकी कही गयी है। ज्ञानी पुरुषोंकी मुक्ति अन्तःकरणका अत्यन्त विलय होनेके बाद आत्माकी केवल रूपमें स्थितिका नाम है। किंतु भक्तोंकी मुक्ति इष्टदेवताकी नित्यलीलामें प्रवेश होना है—इसीको श्रीवल्लभाचार्य भी परममुक्ति कहते हैं। सम्भवतः भक्ति निरूपक शास्त्रोंको यही मुक्ति अभिप्रेत है। विलयरूपा मुक्तिको भक्तिका प्राप्य नहीं कहा जा सकता। इसीसे दोनों मतोंकी एकवाक्यता हो जाती है। विलयरूप मुक्तिको भक्त नहीं चाहते और नित्यलीला-प्रवेशरूपा मुक्ति भक्तिका फल है।

श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भक्तिरसायनमें एक विशेषता और बतायी है। वह यह है कि भक्ति केवल प्रेमरूपा भी होती है और नौ रसोंमेंसे किसी एक रससे वा अनेक रसोंसे संवलित भी हो सकती है। साधनदशामें ही अवर भूमिकाओंमें यह भेद होता है, पर-दशामें तो वह रस भी भक्तिमें विलीन होकर एकरूप ही बन जाता है। यह भक्ति-लक्षणोंका संक्षेपतः समन्वय प्रदर्शित किया गया। भगवत्कृपासे पुनः देशमें इस भक्तिके तत्त्वको समझनेवालोंकी वृद्धि हो, तभी भक्त्यङ्कका प्रकाशन पूर्णरूपसे सफल हो सकता है।

भक्तिमें लगानेवाला ही यथार्थ आत्मीय है

ऋषभजी कहते हैं—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्॥

(श्रीमद्भा० ५।५।१८)

'जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।'

भक्ति धर्मका सार है

(लेखक—श्रीखगेन्द्रनाथजी मित्र, एम्० ए०)

भक्ति अथवा ईश्वरके प्रति प्रेम किसी धर्म-विशेषकी सम्पत्ति नहीं है और न यह कोई पंथ वा साम्प्रदायिक भावना ही है। यह तो प्रत्येक विवेकशील धर्मकी अन्तर्वर्त्तिनी धारा है। वास्तवमें कदाचित् ही कोई ऐसा धर्म हो, जो स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे ईश-प्रेमका आदेश न दे। यहूदी-धर्ममें तभीतक बलिदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, जबतक उस धर्मके 'पैगम्बर' ने स्वतः यह घोषणा नहीं कर दी कि ईश्वर हिंसात्मक बलि नहीं चाहता, अपितु वह शुद्ध हृदयकी भक्तिका ही समादर करता है। तदनन्तर ईसामसीह आये और उन्होंने ईश्वरीय प्रेमका उद्घोष और प्रचार किया। हिंदूधर्ममें एक प्राचीन श्रुतिने ईश्वरके सम्बन्धमें कहा है—

प्रियो वित्तात्, प्रियः पुत्रात्, प्रियोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्।

अर्थात् ईश्वर धन, पुत्र एवं अन्य सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय है। शाण्डिल्य और नारदने मानव और ईश्वरके सम्बन्धको मूलतः प्रेमका बन्धन ही कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

अर्थात् परिच्छिन्न जीवका अपरिच्छिन्न ईश्वरमें परम अनुराग भक्ति कहलाता है। एवं—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा।

अर्थात् किसीके प्रति सर्वोच्च और विशुद्धतम प्रेमको भक्ति कहते हैं।

सर्वप्रथम गीताने—बारहवें अध्यायमें एवं अन्यत्र भी—भक्त बननेके लिये अपेक्षित गुणोंकी तालिका दी है। साधारणतया हम यह समझते हैं कि भावके द्वारा ईश्वरका सामीप्य सुलभ है; श्रीमद्भगवद्गीताने भक्तिका जो मानदण्ड रखा है, उसने इस विषयमें हमारी आँखें खोलकर हमें यह स्पष्ट बताया है कि इस भाव-साधनके लिये क्या-क्या आवश्यक है। गीता स्पष्ट शब्दोंमें हमें बताती है कि भक्तके लिये सर्वप्रथम वासना-जय परम आवश्यक है। तत्पश्चात् भक्तका जीवन योग अथवा यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंके अनुष्ठान, अभावग्रस्तोंको दान, समस्त स्वार्थोंका परित्याग, शान्ति और अहिंसा—इन साधनोंमें बीतता है। लाभ, लोभ और शक्ति-संचयकी भावनासे ऊपर उठ जाना भक्तके लिये अनिवार्य है। उसकी अपनी सम्पत्तिके प्रति भी ममता नहीं होनी चाहिये। अहंकार एवं अभिमानको भी त्यागकर उसे एकमात्र ईश्वरके चिन्तनमें दत्तचित्त हो जाना चाहिये। उसका शत्रु और मित्र दोनोंमें समभाव होना चाहिये तथा अपनी निन्दा और स्तुतिकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। सारांश, उसे अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं, विचारों और भावनाओंको श्रीकृष्णमें ही केन्द्रित कर देना चाहिये। गीताका वचन है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९ । २७)

'हे अर्जुन! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, हवन करते हो, दान देते हो और तपस्या करते हो, उन सबको मुझे समर्पण कर दो।'

दक्षिण-भारतमें आळवार संतोंने प्रेमके सिद्धान्तका प्रचार किया था। इन आळवारोंमें अधिकांश ब्राह्मणेतर थे और इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध थे—शठकोप स्वामी अथवा नम्माळवार, जिन्होंने भगवान् विष्णुके प्रति उस उच्चतर प्रेमका उपदेश दिया, जिसमें भक्त अपनी भी सुध भूल जाता है; और इसी प्रेमको उन्होंने भक्त-जीवनकी सबसे बड़ी कसौटी मानी है।

आळवार संतोंके दाक्षिणात्य अनुयायियोंने वेदोंको अथवा संस्कृतभाषामें लिखित किसी भी अन्य ग्रन्थको प्रमाण न मानकर केवल उक्त संतोंके परम्परागत वाङ्मयको ही धर्म-ग्रन्थके रूपमें स्वीकार किया। नाथमुनिने आळवार संतोंकी वाणियोंका संकलन करके शृङ्खलाबद्ध किया। आचार्य रामानुजके गुरु श्रीयामुनाचार्य कोलाहल नामके राज-कविको परास्त करनेपर आळवन्दार (अर्थात् विजेता) के नामसे प्रसिद्ध हुए। अपनी विजयके उपलक्ष्यमें यामुनाचार्यने आलवन्दार-स्तोत्र रचा, जिसके पद्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हैं। श्रीरामानुजने ग्यारहवीं शताब्दीमें प्रेममय श्रीभगवान्की उपासनाका प्रचार किया।

सोलहवीं शताब्दीमें श्रीचैतन्यने प्रेमके सिद्धान्तका प्रेमाभक्तिके नामसे प्रचार किया। उन्होंने और उनके अनुयायी रूप, सनातन तथा जीव गोस्वामियोंने भक्तिके सिद्धान्तका बड़ा ही सूक्ष्म और मार्मिक विश्लेषण किया और वे इस निश्चयपर पहुँचे कि गोपियोंके भावका अनुसरण करनेवाला श्रीकृष्ण-प्रेम ही मानवके धार्मिक जीवनका परम साध्य है। उन्होंने भक्तिकी यह परिभाषा स्वीकार की—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

'श्रीकृष्णके अनुकूल रहकर उनकी आराधना करना ही भक्ति है। इसमें कोई अन्य कामना नहीं होती और यह ज्ञान तथा कर्मसे सर्वथा निरपेक्ष होती है।'

अपरिच्छिन्न ईश्वरके परिच्छिन्न जीवके साथ सम्बन्धका विश्लेषण करनेवाला ज्ञान हृदयमें विशुद्ध भक्तिका सचार नहीं होने देता; क्योंकि यह विवेचन वास्तवमें अत्यन्त कठिन है और साधकको एक निर्गम-हीन प्रतोलीमें ले जाकर छोड़ देता है। इसी प्रकार यज्ञ-यागादि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान भी भक्तको ईश्वरके ध्यानमें मग्न नहीं होने देता, जो भक्तिके लिये अपेक्षित है। ज्ञानके नितान्त आश्रयसे नीरस तत्त्वज्ञान हाथ लगता है; शांकर-सिद्धान्त इसका निदर्शन है। और केवल कर्मकाण्डमें लगे रहनेसे भी मनुष्यका जीवन यन्त्रोपम—कठोर वन जाता है। भक्तिका मार्ग इन दोनोंके बीचमें चलता है। उसमें ज्ञान अनावश्यक नहीं है और न दैनिक कर्मकाण्ड ही व्यर्थ है। अपितु ये दोनों ही अपने-अपने ढंगसे लाभप्रद हैं और भवाटवीमें भटकती हुई आत्माओंको भक्तिमार्गमें प्रवृत्त करानेमें सहायक बनते हैं।

श्रीचैतन्यका जन्म १५वीं शताब्दीके अन्तमें नवद्वीपमें हुआ था। वे मार्टिन लूथरके समकालीन थे। उन्होंने अपने जीवनमें वृन्दावनकी गोपियोंकी आनन्दमयी भाव-विह्वलताकी अनुभूति की थी। उन्हें स्वयं श्रीराधाकी गम्भीर विरह-वेदनाकी भी पूर्ण अनुभूति हुआ करती थी और उस अवस्थामें उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित होती, शरीरपर रोमाञ्च हो आता और वे बाह्य-ज्ञान शून्य हो जाते थे। इस प्रकारकी अनुभूतियाँ ईसाई सतों और मुसलमान सूफियोंको भी हुई हैं।

श्रीचैतन्यके मतकी विलक्षणता यह है कि उन्होंने भगवान्‌के प्रति रागमयी भक्तिपर अधिक बल दिया है, जिस प्रकारकी रागमयी आसक्ति किसी प्रेमिकाकी अपने प्रेमीके प्रति होती है—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्त. परसङ्गरसायनम् ॥

(पञ्चदशी ९। ८४)

अर्थात् जिस प्रकार कोई पर-पुरुषानुरक्ता स्त्री गृह-कार्योंमें व्यस्त रहती हुई भी अपने हृदयमें उस अवैध प्रेम-की आनन्दानुभूति करती रहती है, ठीक उसी प्रकार भक्त भी अपने लौकिक कर्तव्योंमें सलग्न होनेपर भी प्रियतम प्रभुके रसमय ध्यानमें मग्न रहता है। वैष्णव धर्मके जिस रूपका श्रीचैतन्यने बगालमें प्रचार किया, उसमें भगवन्नाम और भगवत्-प्रेमके तत्त्वोंपर ही अधिक महत्त्व दिया गया है।

यही भक्तिका सिद्धान्त अथवा प्रेमका तत्त्व है। भगवान्‌के नामका निरन्तर जप करनेसे भगवान्‌के प्रति आसक्ति (रति) उत्पन्न होती है और तदनन्तर प्रेमकी। प्रेम ही धार्मिक जीवनका आनन्दमय चरम लक्ष्य है।

भक्तिसे रहित ज्ञान और कर्म अशोभन हैं

नारदजी कहते हैं—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

(श्रीमद्भा० १। ५। १२)

'वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य-कर्म, और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है—ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है।'

भक्तिका फल

(लेखक—श्रीकृष्णमुनिजी 'शार्ङ्गधर' महानुभाव)

अपनी आन्तरिक श्रद्धा, प्रेम तथा हृदयके अनुरागसे मन, वाणी और शरीरद्वारा किसी अन्यको रिझानेका नाम भक्ति है। भक्तिका इष्ट अथवा लक्ष्य एक होता है। भक्त अपनी भावनाका स्थान एक बना लेता है, जहाँ उसकी श्रद्धा जम जाती है। इसे असाधारण भक्ति, विशेष भक्ति अथवा अनन्यभक्ति कहा जाता है। अनेक लक्ष्य स्थिर करना, कभी किसीको और कभी किसीको इष्ट बनाकर उनमें अपनी श्रद्धाको बाँट देना साधारण भक्ति अथवा सामान्य भक्ति कही जाती है। भक्तिका विधान भी एक ही है, अर्थात् अपने इष्टको प्रसन्न करने, रिझानेका मार्ग भी एक ही है। हमें प्रथम अपने हृदयकी विशुद्ध भावनासे उस परमेश्वरके अवतारको अथवा दूसरे किसी इष्टदेवको अपने हृदय-मन्दिरमें बिठा लेना होता है, जिसपर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, आन्तरिक प्रेम है। फिर एकाग्र मनसे इन्द्रियोंको विषय-वासनाओंके अनेक मार्गोंसे रोक लेना होता है, ताकि हमारा मन इन्द्रियोंके साथ-साथ उन-उन रास्तोंसे बाहर निकलकर उन-उन विषय-भोगोंकी लालसामें न फँस जाय। किंतु यह बात सरल नहीं। इसके लिये सतत, नित्य अभ्यास करना चाहिये। तब मनकी एकाग्रता होती है। अतएव भक्तको एकान्तकी आवश्यकता पड़ती है, जहाँ किसी प्रकारका शब्द न सुनायी दे, रूप-रंग न दीख पड़े, सुगन्ध और दुर्गन्धका भान न हो, खट्टे-मीठे-चटपटे आदि अनेक रसवाले पदार्थोंका संयोग न हो अथवा शीतल, उष्ण, मृदु और कठोर वस्तुओंका स्पर्श न हो, जिससे इन्द्रियोंको मनमानी क्रीडा करनेका तथा स्वेच्छासे कामनाओंके खुले मैदानमें घूमनेका समय न मिल सके। इस प्रकार मनकी एकाग्रता कर लेना भक्ति-मार्गकी प्रथम सीढ़ीपर पग धरना है।

मनको एकाग्र कर अपने इष्टको हृदयके विशुद्ध आसनपर बिठला, प्रभुकी श्रीमूर्तिका प्रथम चरण-कमलसे ध्यान तथा चिन्तन करना चाहिये। मुखसे नाम-स्मरण और हृदयसे प्रभुकी श्रीमूर्तिके एक-एक अङ्गका ध्यान करता जाय। साथ ही प्रभुने उस-उस अङ्गसे प्राणिमात्रके कल्याणार्थ जो-जो क्रीड़ा की हो अथवा कर्म किया हो, उस-उस कर्म अथवा चेष्टाका चिन्तन करता जाय। हमारा ध्यान, हमारी एकाग्रता, हमारा लक्ष्य, स्थिर हो जानेपर नामस्मरणकी विधि पूर्ण होती है। इस विधिसे प्रभुके नामस्मरणद्वारा हृदयमें एक विशेष आनन्द, अलौकिक सुखका अनुभव होने लगता है, जिसको वही जान सकता है।

ध्यान-विसर्जन अर्थात् लक्ष्य छूट जानेके बाद मन उकता जाता है। इसलिये ध्यान छोड़कर भक्ति-मार्गके दूसरे अङ्गोंको अपनाना चाहिये। उस समय प्रभु-स्तुतिसे भरे स्तोत्र, भजन, आरतियाँ, मूर्ति-वर्णन—आत्मनिवेदन तथा अपने पाप-कर्मोंके क्षालनार्थ प्रायश्चित्तविधानके स्तोत्र एवं प्रभु-लीलापूर्ण ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये।

भक्तिका फल

ऊपर कह आये हैं कि भक्तिका इष्ट एक है अर्थात् एक परमेश्वर-अवतारको ही सम्मुख रखना चाहिये। भक्तिका साधन, भक्ति करनेका प्रकार अथवा विधि भी प्रायः एक ही है; किंतु भक्तिके फलमें अनेक भेद हो जाते हैं, जिसके प्रधान दो कारण हैं। एक, भक्तकी अनेकविध कल्पना। दूसरा, इष्टदेवका कृपा-प्रसाद। प्रत्येक मनुष्यकी विचार-धारा निराली होती है। प्रत्येकका स्वार्थ तथा कामना भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिये फलमें भेद हो जाना आवश्यक है। और जहाँ कामना ही नहीं, उसका फल भी अलग ही होता है। फल-भेदका दूसरा कारण इष्टदेवकी प्रसन्नता और उदासीनता है। भक्तका आचार-विचार अच्छा होना चाहिये। यदि वह कुव्यसनी, व्यभिचारी, शराबी, कबाबी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, द्वेषी, दम्भी, हिंसक, दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करनेवाला, छली-कपटी हो तो प्रभु उसपर प्रसन्न नहीं होते। अतः यह आवश्यक है कि हमारा व्यवहार प्रभुको प्रसन्न करनेवाला हो। शक्तिका सूत्र-चालन अवतारकी कृपापर निर्भर होता है। अतः फल-प्राप्तिके लिये अपने इष्टदेव अवतारकी तथा देव-मूर्तियोंमें रहनेवाली शक्तिकी कृपा—प्रसन्नता प्राप्त कर लेना जरूरी है।

भगवान् उसीपर प्रसन्न होते हैं, जो सदाचारी, धर्मात्मा, परहितचिन्तक, सरल-हृदय, शान्त-स्वभाव, निर्लोभी, क्रोध और ईर्ष्या आदि दोषोंसे दूर हो और साथ ही ऊपरके दुर्गुणोंसे भरा न हो। दक्षिण महाराष्ट्रमें, जहाँ प्रभुकी दिव्य-लीलाओंके अनेकों स्थान हैं, यह अनुभव प्रत्यक्ष होता है। साधारण-से-साधारण स्थान भी प्रभु-अवतारकी कृपापूर्ण दृष्टिसे धन-धान्यसे पूर्ण हैं। कई स्थान ऐसे

देखनेमें आये हैं, जहाँ आजसे बीस-पचीस वर्ष पहले अति उत्साहपूर्ण कार्य होता रहा। ऊपर लिखे दोष आ जानेपर उस स्थानकी शक्तिने काम करना छोड़ दिया। 'मनुष्यके अच्छे आचार-विचार और व्यवहारसे प्रभुशक्ति उत्साहित हो विशेष कार्य करती है तथा कुत्सित व्यवहारसे कार्य करना छोड़ देती है।' परमेश्वर शुद्ध, निर्गुण, परिष्कृत, परिमार्जित-स्वरूप हैं। उनमें राजसी और तामसी भावना त्रिकालमें भी नहीं होती। उनमें किसीके विषयमें विरोधी भावना नहीं होती। वे समदर्शी हैं। इसीलिये वे हमारी विरोधी भावनाओंको, जो औरोंके लिये हानिकर हों, पूर्ण नहीं करते।

इसलिये भक्तको चाहिये कि वह अपनी शुद्ध भावनासे तथा पवित्र आचारसे अपने स्वामीका कृपा-पात्र बन जाय और अपनी शुभ-कामनाकी पूर्तिके लिये प्रभुसे अथवा शक्तियोंसे याचना अथवा प्रार्थना करे। नहीं तो केवल परिश्रम ही होगा और ऐसी भक्तिका यथायोग्य फल मिलनेमें भी संशय ही रह जायगा।

भक्ति और उसकी अद्भुत विशेषताएँ

(लेखक—श्रीकृष्णविहारीजी मिश्र शास्त्री)

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

(नारदपाञ्चरात्र)

'तत्पर होकर इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित विशुद्ध भगवत्सेवा ही भक्ति कही जाती है।' इसीका स्पष्टीकरण भक्तिरसामृतसिन्धुमे किया गया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'श्रीकृष्णको उद्देश्य करके उनकी रुचिके अनुकूल शरीर, मन, वाणीकी क्रियाओंका अनुशीलन—जो भक्तिसे भिन्न सम्पूर्ण भोग-मोक्ष आदिकी वासनासे रहित एवं ज्ञान-कर्मादिसे अनाच्छादित हो, उत्तम भक्तिका लक्षण है।'

(१) क्लेशोंका नाश, (२) शुभदातृत्व, (३) मोक्षमें लघुबुद्धि, (४) सुदुर्लभता, (५) सान्द्रानन्दविशेषरूपता, (६) श्रीकृष्णको आकर्षित करना—भक्तिदेवीकी ये छः अपनी विशेषताएँ हैं। अर्थात् जिस व्यक्तिके हृदयमें भक्तिदेवी विराजती हैं, उसमें उपर्युक्त छः विशेषताएँ आ जाती हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

सम्पूर्ण विश्व जिनके कारण छटपटा रहा है और निरन्तर उन्हींमें फँसता जा रहा है, जिनसे बचनेके लिये थोड़े-से इने-गिने लोग मोक्षकी कामना करते हैं, उन्हीं क्लेशोंका नाश करना भक्तिकी प्रथम विशेषता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

['भज सेवायाम्' धातुसे क्रमशः ल्युट् तथा क्तिन् प्रत्यय लगानेपर 'भजन' एवं 'भक्ति' शब्दकी निष्पत्ति होती है, अतः यहाँ भजनका भक्ति अर्थ लेनेमें कोई बाधा नहीं।]

तथा—

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

यों तो क्लेशनाशमें ज्ञानको भी कारण माना गया है, परंतु उसके साधन तथा साध्यमें भक्तिकी अपेक्षा कुछ अन्तर है। यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहि कछु अंतर।

(रामचरितमानस)

भक्तिकी द्वितीय विशेषता 'शुभदातृत्व' है शुभका सामान्य अर्थ सुख है। भक्ति सम्पूर्ण सुखोंकी खान है। काकभुशुण्डि-द्वारा भक्तिका वर माँगनेपर भगवान् श्रीरामने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—

'सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥'

(मानस)

यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि भक्तिके बिना शाश्वत सुखोपलब्धि हो ही नहीं सकती। ज्ञानसे भार [illegible] का भार उतरनेके समान सांसारिक क्लेशोंकी निवृत्ति तो शास्त्रों तथा आचार्योंने बतायी है, परंतु उससे अन्य किसी सुखकी उपलब्धिका कोई वचन नहीं है। अतः सुख तो भक्तिसे ही मिल सकता है। तभी तुलसीदासजीने कहा है—

जेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई। (रा० मा०)

क्लेशनाश तथा शुभदानके अनन्तर 'भोग तथा मोक्षमें तुच्छबुद्धि कराना' भक्तिकी तीसरी विशेषता है; क्योंकि भुक्ति तथा मुक्ति तो भक्तिकी दासियाँ हैं । नारदपाञ्चरात्रमें कहा है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥

'सम्पूर्ण अद्भुत भुक्तियाँ (भोग) तथा मुक्ति आदि सिद्धियाँ हरिभक्ति महादेवीकी दासीकी तरहसे सेवामें पीछे पीछे लगी रहती हैं ।' अतएव तुलसीदासजीने कहा है—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अन इच्छित आवइ बरिआईं ॥
(रा० मा०)

श्रीभागवत-माहात्म्यमें भी नारदजीने भक्तिसे कहा है—

मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ ।
(२ । ७)

'हे भक्ति ! श्रीभगवान्‌ने तुम्हें दासीरूपमें मुक्ति तथा पुत्ररूपमें ज्ञान-वैराग्य दिये हैं । इसीलिये समझदार व्यक्ति मुक्तिका भी निरादर करके भक्तिपर ही लालायित रहते हैं ।

अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

तथा—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं ।

श्रीभरतजीने तीर्थराजसे माँगा—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

चतुर्थ विशेषता—'दुर्लभता'के लिये नारदपाञ्चरात्रका वचन है—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः ।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥

'ज्ञानके द्वारा मुक्ति सहजमें ही प्राप्त होती है और यज्ञ आदि पुण्योंसे भोगोंकी प्राप्ति भी सुलभ है; परंतु इस हरि-भक्तिका तो हजारों साधनानुष्ठानसे भी प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है ।' तभी तो परम भक्त श्रीबिल्वमङ्गलजी कहते हैं—

क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते कृष्णभावरसभाविता मतिः ।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते ॥

'कृष्ण भक्तिरूप रससे सराबोर मति जहाँ कहीं भी मिले, खरीद लो; अधिक उत्कण्ठा ही उसका मूल्य है । अन्यथा करोड़ों जन्मोंके पुण्योंसे भी उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।' श्रीभगवान् भी मुक्ति तो दे देते हैं, परंतु भक्ति नहीं—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥
(श्रीमद्भागवत ५ । ६ । १८)

'श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण आपके तथा यादवोंके पति, गुरु, उपास्य, प्रीतिपात्र, स्वामी तो हैं ही, कहीं-कहीं सेवक भी हो गये; वे ही मुकुन्द अपना भजन करनेवालोंको मुक्ति तो दे देते हैं, परतु भक्ति कभी नहीं देते ।'

भगवान् श्रीराम प्रसन्न होकर काकभुशुण्डिजीसे कहते हैं—

काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि ।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि ॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना । मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना ॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं । मागु जो तोहि भाव मन माहीं ॥

'हे काकभुशुण्डि ! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियाँ, सम्पूर्ण सुखोंकी खान मोक्ष तथा ज्ञान-विज्ञान-विवेक-वैराग्यादि मुनिदुर्लभ समस्त इच्छित गुणोंको माँग लो, मैं सब देनेको प्रस्तुत हूँ—इसमें कोई संशय नहीं है ।' इसपर परम कुशल भुशुण्डिने विचार किया—

प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥

पञ्चम वैशिष्ट्य 'सान्द्रानन्दविशेषरूपता' के विषयमें भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

'यदि ब्रह्मानन्दसुखको परार्ध संख्यासे गुणा किया जाय, तो भी वह सुख भक्ति-सुधा-सिन्धुके एक परमाणुकी भी समता नहीं कर सकता ।'

छठी विशेषता 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' के सम्बन्धमें श्रीभगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २०)

'हे उद्धव ! जिस प्रकार उत्कृष्ट भक्ति मुझे अपने वशमें कर लेती है, वैसे योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग नहीं कर सकते ।'

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यके नारद-भक्ति-संवादमें नारदजी कहते हैं—

त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका।
त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि॥
(२।३)

'हे भक्ति! तुम तो श्रीभगवान्‌की प्राणाधिक प्रिया हो, तुम्हारे बुलानेपर तो भगवान् नीचोंके घर भी चले जाते हैं।'

इस भक्तिके आकर्षणसे ही व्यापक, निरञ्जन, निर्गुण, अनासक्त तथा अजन्मा ब्रह्म कौसल्याकी गोदमें विराजे थे—

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

ऐसी विशेषताओंवाली भक्तिको हमने यदि न अपनाया, हम केवल आपसके वाद-विवादोंमें लगे रहे; तो वह हमारे जन्मकी विफलता होगी—यही हमें बतानेको 'कल्याण' ने यह अङ्क निकाला है।

भक्ति-तत्त्वकी लोकोत्तर महत्ता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

प्रेम मानव-हृदयका लोकोत्तर प्रिय एवं प्राणप्रद शब्द है। प्रेम-पात्रके ध्यान, मिलन एवं सत्सङ्गमें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

बलिदान, कुर्बानी और उत्सर्ग-जैसे शब्द प्रेमकी स्तुति मालाके ही मनके हैं। पातिव्रत्य और एक-पत्नीव्रत शब्द भी प्रेम-माहात्म्यके ही अभिव्यञ्जक हैं।

मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, कुटुम्ब-प्रेम, देश-प्रेम और विश्व-प्रेम इसी व्यापक तत्त्वके एकदेशीय रूप हैं। लोक-पावन और त्रैलोक्य-वन्द्य जौहर-व्रत भी प्रेम-धर्मकी अकथ कहानीका ही परिचायक है।

यह प्रेम-शब्द ही है, जिसके माध्यमसे बहुत बड़े-बड़े त्याग किये गये और किये जा सकते हैं एवं जिसके सम्मुख सभी आकर्षण और प्रलोभन तथा भयसमूह त्रस्त-ध्वस्त होते प्रतीत होते हैं, अपितु मृत-प्राय और मृतक-तुल्य हो जाते हैं, किंतु धर्म-कर्म, तप-त्याग, सुख-शान्ति और हर्ष-आनन्द जीवित-से और यौवनोन्मुख रहते हैं।

परंतु यह 'प्रेम' शब्द ईश्वर-भक्तिमें परिवर्तित होनेपर ही वास्तविक प्रेम-शब्द-वाच्य होता है। लौकिक जगत्‌में तो प्रायः प्रेमके नामपर न्यूनाधिक रूपसे निजसुखेच्छारूप 'काम'-की ही क्रीडा होती है। इस 'प्रेम'को ही 'निर्गुणा भक्ति' कहते हैं। इस निर्गुणा भक्तिमें स्वार्थ लेशमात्र भी नहीं रहता। लोकैषणा, धनैषणा और पुत्रैषणा इससे सदाके लिये विदा माँग लेती हैं। यह वह परिस्थिति है, जहाँ वरदान दिये जानेपर भी भक्तके मुखसे यही निकलता है—

प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम।

भक्त वस्तुतः तपा-तपाया सोना होता है, और होता है वह धर्म और त्यागका प्रतीक और प्रेमका मूर्त-रूप। यही कारण है, भक्तिसे मनुष्य ईश्वर-तुल्य हो जाता है; यही नहीं ईश्वर स्वयं उसका वशवर्ती हो जाता है, उसके नचाये नाचता है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥*
(श्रीमद्भागवत ९।४।६३)

भक्तिसे व्यष्टि-समष्टि घातक सभी तत्त्व नाशोन्मुख होने लगते हैं एवं ऐसा निर्दोष, निर्मल और निष्पाप तथा सुखद वातावरण बन जाता है, जिसमें प्रवेश करके पतनोन्मुख मनुष्य भी प्रकर्षोन्मुख हो जाता है और भक्त पुरुष तो ऋषि-महर्षितक बन जाता है एवं एकान्तसेवी विरक्त महात्मा।

भक्ति-वाङ्मयमें ऐसे भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भक्तोंने बड़े-से बड़े पद और साम्राज्यको भी ठुकराकर भगवद्भजनमें ही आयुके लाखों वर्ष बिताये हैं।

ऐसी दशामें यह तो सहज सुलभ और स्वाभाविक सम्भव बात है कि विश्वमें भक्तिका वातावरण बननेपर नित्यके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्लेश बातकी बातमें दूर हो जायँ और मनुष्य चैनकी साँस ले।

यह भी सत्य है कि जब-जब सत्संगका वायुमण्डल तैयार बन पाया, तब-तब ही मनुष्यको ऐसा अनुभव हुआ कि जगत्‌में भगवत्-भक्ति ही वस्तुतः स्वर्गातीत, [illegible], सर्वतोमधुर एवं सर्वतोभद्र वस्तु है। ऐसा अनुभव क्यों हुआ और कैसे हो सकता है, इसका उत्तर यह है—

१. भक्ति स्वयं एक विलक्षण आनन्द है। भक्ति-रस

* हे द्विज! मैं भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ; मेरे हृदयपर साधु भक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है, भक्त मुझे बहुत ही प्रिय होते हैं।

समस्त रसोंका मधुर निर्यास एवं समस्त सौन्दर्योंका सौन्दर्य है। इसके स्वादके सम्मुख लोक-परलोकका कोई भी आनन्द नहीं ठहर सकता। भक्ति न केवल साधन है अपितु स्वयं साध्य और फल-स्वरूपा है।

२. भक्ति-रसके आनन्दातिरेकसे साधक भक्त आत्म-सम्पृक्त और परसम्पृक्त भाव-भावनाओंसे सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है। ऐसी दशामें वह भाव, कर्म और इच्छाकी व्यावहारिक सकाम सीमाको पार कर जाता है। फिर वह किसी भी भय-शङ्का, दुःख-शोक अथवा प्रलोभनका शिकार तो हो ही कैसे सकता है।

३. परमात्मतत्त्व आराध्य देवके आनन्द-सायुज्यसे भक्त सदैव प्रफुल्ल एवं संतुष्ट रहता है। अतएव सांसारिक दुःख और प्रलोभन उसे आकर्षित नहीं कर सकते।

४. इष्टके धारणा-ध्यान और समाधि-जन्य फलसे भक्त आत्मस्थ हो जाता है। फिर वह न केवल व्यवहार अपितु संसारके सभी कार्य करता हुआ जाग्रदवस्थामें भी समाधिस्थ-सा बना रहता है।

५. भक्त, भजन और भजन-साध्य इष्ट-तत्त्वकी त्रिपुटी अथवा निरपेक्ष तुर्यावस्थाकल्प सक्रिय समन्वयसे साधकका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता और वह केवल परमात्म-तत्त्वमय हो जाता है। इस स्थितिमें संसारके स्थानमें ब्रह्मानन्द ही उसका अपना विषय रह जाता है। तब मायाजनित कष्ट उसतक पहुँच ही कैसे सकते हैं।

६. संसारको परमात्मतत्त्वका विराट् रूप मानकर भक्त जब उसके विविध और विभिन्न प्रकारके सौन्दर्यके आस्वादन-में संलग्न होता है अथवा विश्व-सौन्दर्य-स्वरूप प्रभुके विराट् रूपका आनन्द लेता है, तब वह स्वयं सत्य-शिव-सौन्दर्यमय होकर प्राकृतिक प्रपञ्चसे मुक्त हो जाता है।

७. भक्ति-साधनाद्वारा अज्ञानोपहत एवं मायोपहत जीव मल-विक्षेप एवं आवरणसे मुक्त होकर अपनेमें ब्रह्मानन्दका अनुभव करके निर्विकार, अकुतोभय और आनन्द-स्वरूप हो जाता है। ऐसी दशामें व्यावहारिक दुःखोंसे उसका सर्वथा छुटकारा हो जाता है।

८. वेदान्तकी दृष्टिसे जीव परमात्मतत्त्व ही है। भक्ति-साधनाद्वारा इस दृष्टिको व्यापक बना लेनेपर जीवमात्र ही भक्त साधककी दृष्टिमें आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व दीख पड़ता है। फिर जीव-जन्य दुःख उसे नहीं हो पाते।

९. अतः ब्रह्मकी भक्तिमें लीन होनेपर फिर भक्त जीव उसके अपने आनन्दसे वञ्चित कैसे रह सकता है और सांसारिक दुःखोंका भोगायतन भी कैसे बन सकता है।

१०. आनन्दस्वरूप भगवान्से समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है एवं आनन्दके द्वारा ही संसारका लालन-पालन भी होता है। उसी आनन्दमय परमात्मामें ही जीव-मात्रका लय होता है। ऐसी परिस्थितिमें भक्तिद्वारा परमात्मतत्त्वके साथ कैसा भी—उल्टा-सीधा सम्बन्ध भी भक्तको आनन्दरूप बना देता है। यही कारण है कि वह दुःखमात्रसे सदाके लिये विमुक्त हो जाता है।

भगवान्के नाम-गुणोंका श्रवण मङ्गलमय

योगीश्वर कवि कहते हैं—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। ३९)

'संसारमें भगवान्के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।'

दास्य-रस-रसिक श्रीभरत

७—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥ (रामचरित० २ । ३२५)

विरहिणी श्रीजानकी

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ॥ (रामचरित० ५ । ३०)

सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

'सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ही वास्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है। भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है। भगवत्प्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी कोटिका सत्सङ्ग है। चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है।

सत्स्वरूप भगवान्‌में प्रेम होना और उनका मिलना तो सब साधनोंका फल है। जो भगवान्‌को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। वही पुरुष भगवान्‌की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्‌की कृपाको मानता है। वह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त हो जाता है (गीता ५।२९)। जिसकी भगवान्‌में और उनके भक्तोंमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम होता है एवं जिसके अन्तःकरणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कारोंका संग्रह होता है, वह भी भगवान्‌की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसमें भक्त विभीषणने हनुमान्‌जीसे कहा है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥

'हे हनुमान्! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

'हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है। स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान है। परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते। पुण्य-समूहके बिना संत नहीं मिलते। सत्सङ्गति ही जन्म-मरणके चक्रका अन्त करती है।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपना प्रिय भक्त कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(१२।१३-१४)

'जो पुरुष जीवमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ़ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त गुणातीत पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४।२४-२५)। उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३।१८)। उनका घर या शरीर आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका सर्वथा अभाव होता है (गीता १२।१९) एवं उनका समस्त प्राणियोंपर दया, प्रेम और समभाव रहता है (गीता १२।१३)। उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(गीता ५।१८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानियोंको समदर्शी कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका सबके साथ शास्त्रोक्त यथायोग्य व्यवहारका भेद रहते हुए भी सबमें समभाव रहता है।

सबके साथ समान व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीया जाता है, कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी ही की जाती है, गायकी नहीं; घास और दाना आदि हाथी और गायको ही खिलाये जाते हैं, कुत्ते या मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है; न कि एक ही पदार्थसे सबकी समानरूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबमें समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है—जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणकी तरह, हाथोंके साथ क्षत्रियकी तरह, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम-दृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय सम-दृष्टि रखते हैं, उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे घमंडसे शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (संतजन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनमें कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो (सम्पूर्ण) धर्मोंकी जननी है। हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरण-कमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण स्व-संवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं; और बहुत-से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। किंतु वास्तवमें तो ईश्वर और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको जान सकते हैं। जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्तालापसे अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, हमारे लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन सत्पुरुषों-से लाभ उठाना चाहिये। जो सत्पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे विशेष लाभ उठा सकता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३। २५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगकी बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए, दूसरों-से—तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना

करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्सदेह पार कर लेते हैं।'

ऐसे संतोंके सङ्गकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सत सगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

'जलमे रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जो भी जीव इस जगत्में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमे भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक (सत्-असत्की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमे मिलता नहीं। सत्सङ्गति आनन्द और कल्याणकी जड़ है। सत्सङ्गकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल है। दुष्ट भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ अनुराग॥

'सत्सङ्गके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुडजीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है। परंतु उसे संत (की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया। यों विचारकर जो भी संतोंका सङ्ग करता है, हे गरुडजी! उसके लिये श्रीरामजीकी भक्ति सुलभ हो जाती है।'

फिर जिनको भगवान्ने संसारका उद्धार करनेके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है! उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है। जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये। प्रसिद्ध है कि पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु महात्माके सङ्गकी तो उससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये। पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है, किंतु संत तो अपने सम्पर्कमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है। यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है। इसी प्रकार महापुरुषोंके सङ्गसे साधक अवश्य ही महापुरुष बन जाता है। यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह सन्त पुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा विश्वास और प्रेमकी कमी है।

उन भगवद्भक्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनमे स्मरण कर लेते हैं या जिनका स्पर्श कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेम परिपूर्ण हो जाता है। किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका उद्धार कर देते हैं। श्रीनारद-पुराणमे तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
(ना० पूर्व० ५। ६४-६५)

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ जाती है, वे महापातक या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसकी भस्मको भी देख लेते हैं तो वह मृतक पुरुष परम गतिको पा लेता है।'

ऐसे महापुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी (भगवत्प्रेमी) पुरुषके लव (क्षण) मात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है?'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी तरहका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय, तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे प्राप्त होता है।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपाको भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा।
(नारद० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।
(ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव। (ना० भ० सू० ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
(११।२।२९)

'जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है। यदि यह प्राप्त हो भी गया तो है यह क्षणभङ्गुर। और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न करके भगवान्‌के तत्त्वको जानें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें। उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है। तथा इससे भी बढ़कर है—उन महापुरुषोंके सकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना। इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्यके अंदर उन सत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका प्रादुर्भाव तथा उनके दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं, अपितु भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें सत्सङ्गके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये। भगवान्‌के प्रेम और मिलनरूप सत्सङ्गके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी। इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है। तथा जीवन्मुक्त ज्ञानी या भगवत्प्राप्त भक्तोंके सत्सङ्गसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं। श्रीनारदजीके सङ्ग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९)। श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुडजीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके सङ्ग और उपदेशसे श्रीवास, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया। इसी प्रकार महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेसे जबालापुत्र सत्यकामको और सत्यकामके सङ्ग और सेवासे उपकोशलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ४, ख० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका सङ्ग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक पाँच ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ५ ख० ११)। अरुणपुत्र उद्दालकके सत्सङ्गसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ६ ख० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके सङ्ग और उपदेशसे नारदजीका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी

(छान्दोग्य-उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४ ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके सङ्ग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये (कठोपनिषद् अ० २)। महात्मा जडभरतके सङ्ग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५। अ० ११ से १३)। इस प्रकार सत्सङ्गसे भगवान्में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्सङ्गका प्रभाव समझें और उसके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गका लाभ उठायें; क्योंकि मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—जैसा करै सङ्ग, वैसा चढै रग। और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे योगी, भोगीके सङ्गसे भोगी और रोगीके सङ्गसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग न करके महात्मा पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिदायक है और ससारासक्त मनुष्योंका सङ्ग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सत सग अपवर्ग कर, कामी भव कर पथ।
कहहि सत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रथ॥

'सतका सङ्ग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पडनेका मार्ग है। सत, ज्ञानी और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करते हुए उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें बतलाया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१। ३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। [illegible] बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। [illegible] पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो [illegible] और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति [illegible] चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँ वे [illegible] फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंको उच्छिष्ट [illegible] बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असतन्ह केर सुभाऊ। [illegible]॥
तिन्ह कर सग सदा दुखदाई। [illegible]॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। [illegible]॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहि पराई। [illegible]॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल [illegible]॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित [illegible]॥

× × × ×

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर [illegible]।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें [illegible]॥

× × × ×

मातु पिता गुर बिप्र न मानहि। आपु गए [illegible]॥
करहि मोह बस द्रोह परावा। [illegible]॥
अवगुन सिंधु मदमति कामी। बेद बिदूषक परधन [illegible]॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट [illegible]॥

ऐसे अधम मनुज [illegible]।
द्वापर कछुक बृद बहु [illegible]॥

'अब असंतों (दुष्टों) का स्वभाव सुनो। [illegible] भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग [illegible] प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, [illegible] गाय कपिला (सीधी और दुधारू) [illegible] नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत [illegible] होता है। वे परायी सम्पत्ति (सुख) [illegible] रहते हैं। वे जहाँ-कहीं दूसरेकी निन्दा सुन [illegible] हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा [illegible] वे काम, क्रोध, मद और [illegible] कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। [illegible]

सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है, उसका भी अपकार करते हैं। × × ×

वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं।'' वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है न भगवान्‌की कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं, परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं; किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होंगे।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

> कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
> दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
>
> × × × ×
>
> मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
> मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
> सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
>
> × × × ×
>
> निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
> जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
>
> असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
> तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
>
> × × × ×
>
> सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
> गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
> हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥
>
> × × × ×
>
> जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
> नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
> ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये। कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो आचारहीन और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिनके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं। शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। गुरु और शिष्य क्रमशः अंधे और बहरेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं (उसे ज्ञानदृष्टि प्राप्त नहीं है)। जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक (अज्ञान) नहीं मिटा सकता, वह घोर नरकमें पड़ता है। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुडाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं और अपने ही हाथों यह लोक और परलोक—दोनों नष्ट करते हैं।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भीलोग भक्त, साधु, ज्ञानी, योगी और महात्मा सजकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने पैरोंका जल पिलाकर एवं अपनी जूठन खिलाकर अपना और लोगोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणामतः उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जिस पुरुषके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और सङ्गसे हमारे अंदर गीताके १६ वें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्‌की भक्तिका उदय हो, उसे दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिका साधक भक्त समझना चाहिये। ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके ९वें अध्यायके १३वें, १४वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित—अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढनिश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये। यदि नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है।

किंतु यदि ऐसे उच्चकोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है। श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य शास्त्रोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्से प्रेम होता है और आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

गौणी और परा भक्ति

(लेखक—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
(श्रीरामचरित० अरण्य०)

भक्ति किसीके पीछे चलनेवाली नहीं है कि प्रथम अन्य साधन किया जाय तब उसकी प्राप्ति हो; वह स्वतन्त्र है, कोई भी मनुष्य उसको प्राप्त कर सकता है। जैसे व्याकरण पढनेसे शब्दोंका ज्ञान तो होता ही है, साथ ही साहित्य, दर्शन, नीति एवं धर्म-शास्त्रका भी उद्धरणोंद्वारा ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञानका भी भक्तिके द्वारा ज्ञान हो जाता है।

क्रमानुपपत्तिश्च। (दैवीमीमांसा)

अर्थात् क्रम माननेके लिये कोई प्रमाण नहीं है। भक्ति-लाभके लिये साधनका कोई क्रम नहीं है कि प्रथम हृदय शुद्ध किया जाय, तब उसका आरम्भ हो। ज्ञानादिके लिये तो ऐसी विधि है, परंतु भक्तिमें ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकारकी साधन-विधि अथवा क्रम कर्मकाण्ड, योग तथा ज्ञानमार्गमें है, वैसा भक्ति-मार्गमें नहीं है; आनन्दकन्द भगवान्का कृपाप्राप्त भक्त अलौकिक भावसे विधि-बन्धनको अतिक्रम करके आनन्द-सागरमें निमग्न होता है!

भक्तिको 'ऐश्वर्यप्रदा' नामसे पुकारते हैं। आचार्य भृगु, कश्यप, नारद आदि महर्षिगणने ज्ञानमार्गमें पारंगत होते हुए भी भगवान्की उपासना भक्तिमार्गसे ही की है।

जो जल-समूह समुद्रमें मिल जाता है, उसके लिये [illegible] द्वारा अन्य जलसमूहको प्रवाहरूपमें प्रेरित करनेका अवसर नहीं रहता, अतः वह परोपकार करनेसे वञ्चित हो जाता है। इसी प्रकार जीव ज्ञानमार्गसे ऊर्ध्वगमन करता हुआ उसकी उच्चतम सीढ़ीतक पहुँच जाता है, उसे वहाँ भी एकाकीपनका अनुभव होता है। इसीलिये वह पुनः भक्तिमार्गकी ओर [illegible] है।

अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
([illegible])

ज्ञानमार्ग जहाँ स्वशक्तिपर निर्भर है, भक्तिमार्गमें [illegible] प्रभुको समर्पित कर दिया जाता है। वह स्वयं निर्भर [illegible] प्रभु-पाद-पद्ममें अपनेको भी समर्पित कर देता है; उसके द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक जो कोई भी कार्य होते हैं, उन सबका कारण वह प्रभु श्रीरामको समझता है।

प्रश्न होता है कि 'ऐसा भाव रखना तो कल्पना[illegible] मात्र है। जलेबी खानेका विचार मनमें लानेसे क्या मुखमें जलेबीका स्वाद आ सकता है?' इसका उत्तर यह है कि जैसे अक्षराभ्यासके समय ही बालक विद्वान् नहीं बन जाता, वरं विद्वान् होनेका क्रम आरम्भ करता है, वैसे ही [illegible] संकल्प

[illegible] निर्गुण [illegible] होनेके समान वह भक्त कालान्तरमें [illegible] को पा लेता है।

[illegible] ॥ [illegible] भगत सुखदाई ॥

[illegible] प्रसन्न होता हूँ वह मेरी सुखप्रदा भक्ति है'; इसे प्राप्त करनेके लिये न तो धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान आदि-की आवश्यकता है न विद्या बुद्धिकी। भक्ति किसी भी अन्य पदार्थपर आश्रित नहीं है। उल्टे उसीकी प्राप्तिसे धर्म, वैराग्य, [illegible], शान्ति, समाधि, ज्ञान, विवेक आदि सब गुण अपने आप आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि आरम्भसे ही भक्तका मन प्रभुमें लग जाता है। यद्यपि आरम्भमें उसके अंदर [illegible] अधिक रहती है, फिर भी ज्यों-ज्यों वह भक्तिमार्गपर चढ़ता है, त्यों त्यों उसकी प्रवृत्तिमें प्रभु-प्रीतिका अङ्कुर नित्यप्रति बढ़ता जाता है और प्रभु-कृपा मालिन बन उसको सींचती, पालन करती है तथा षड् विकाररूपी पशुओंसे उसकी रक्षा करती है। धीरे धीरे उसके हृदयमें प्रभुके लिये प्रेम एवं अनुराग सदाके लिये स्थिर हो जाता है। तब भगवान् कहते हैं, 'मुझको स्वयं उसमें प्रेम हो जाता है। यह रहस्यका रहस्य है कि मेरी कृपाकी छत्र-छायामें जो आ जाता है, वह निश्चित ही मेरा भक्त बन जाता है। जिसका एक पग मेरी ओर बढ़ता है, उसकी ओर मेरे सहस्र पग बढ़ते हैं; क्योंकि मैं ऐसा न करूँ तो भवसागरमें पड़ा जीव अपनी ओरसे मुझको कहाँ पा सकता है।'

एक बार श्रीलक्ष्मणजीने पूछा—'प्रभुवर ! जो भक्त आपकी ओर अग्रसर होता है, क्या उसको विषय-वासना नहीं सताती ?' श्रीरामजीने हँसकर उत्तर दिया कि 'कभी-कभी सताती है। परंतु मैं उसपर दृष्टि रखता हूँ। जैसे पिता अपने बालकके नदी-स्नान करते समय उसपर दृष्टि रखता है, उसे गहरे जलमें नहीं जाने देता, उसी प्रकार मैं अपने भक्तको विषयमें लिप्त नहीं होने देता।' यहाँ प्रश्न होता है कि प्रारब्ध-कर्म भक्तपर कैसा प्रभाव रखते हैं। उत्तर यह है कि शरीरके साथ प्रारब्ध कर्मका अभिन्न सम्बन्ध रहता है। परंतु यदि भक्तने अपनेको प्रभु-चरणोंमें समर्पित कर दिया है तो जैसे पथिक प्रचण्ड घामसे व्याकुल हो सघन वृक्षकी छायामें पहुँचकर शान्ति पाता है, उसी प्रकार भक्त प्रभुकी भक्तिका आश्रय लेकर प्रारब्धके चगुलसे निकल आता है। ऐसी दशा भक्तकी गौणी-भक्तितक रहती है। प्रारब्ध-कर्म उसको बलात् विषयोंकी ओर ढकेलते हैं; उस समय भी वह प्रभुका स्मरण करता हुआ उनसे बचानेकी प्रार्थना भगवान्से करता है। तब उदार-शिरोमणि प्रभु उसकी विषय-वासनाकी भी पूर्ति कराकर उसे झट अपने चरणोंकी प्रीतिमें लगा लेते हैं।

फिर प्रश्न होता है कि 'क्या भगवान् अपने भक्तके लिये प्रारब्ध कर्मको नष्ट नहीं कर सकते ?' उत्तर यह है कि मल त्याग करने-पर मल-स्थानको धोनेके लिये हाथसे स्पर्श करना ही पड़ता है, परंतु हाथमें मिट्टी लगानेसे मलिनता दूर होकर हाथ शुद्ध हो जाते हैं। शरीरधारीके लिये प्रारब्ध भोगना अनिवार्य होता है, परंतु भक्तको साधारण जीवकी भाँति भोगना नहीं पड़ता। भगवान्‌की कृपा उसके लिये सहायक होती है, जिससे उसका प्रभाव कम हो जाता है—जैसे ज्येष्ठका घाम होनेपर भी बादल घिर आनेसे सूर्यकी गरमी उतना व्याकुल नहीं करती। व्यक्तिविशेषके प्रारब्ध-नाशसे संसारमें उथल-पुथल हो सकती है। जैसे एक पिन मोटरकारको बिगाड़ देनेका कारण बन सकती है, वैसे ही किसी व्यक्तिविशेषके प्रारब्धका नाश करनेमें प्रलयकाल सम्मुख आ सकता है; क्योंकि कर्मकी कड़ियोंके ही आधारपर यह संसार आधारित है। एक व्यक्तिके कर्म असंख्य व्यक्तियोंके कर्मोंके साथ जुड़े रहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, जड पदार्थ, पर्वत, सागर, भूमि—सब एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। अतः पूर्णरूपसे किसीके भी प्रारब्धका नाश नहीं किया जा सकता, परतु श्रीरामकी कृपासे भक्तको नाममात्रके लिये प्रारब्ध भोगना पड़ता है। शेष कर्मोंको वह अपनेमें लय कर लेती है। जैसे स्रोतसे नदीको जलकी सहायता मिलती है, वैसे ही प्रारब्धका संचित-राशिसे सम्बन्ध रहता है। पराभक्तिप्राप्त भक्तका संचित नाश हो जाता है; तब प्रारब्धका सहारा टूट जाता है और भगवत्-स्मरणरूप सूर्यके तापसे प्रारब्धका मूल भी रस पहुँचानेमें समर्थ नहीं होता। तब प्रारब्ध-वृक्ष खोखला पड़ जाता है, पूर्णरूपसे रस न पहुँच पानेके कारण अपना विकास पूर्णरूपसे नहीं कर पाता। जितनी शक्ति बिजलीकी लैंपमें होती है, उतना ही प्रकाश चारों ओर विस्तृतरूपसे फैल जाता है। इसी प्रकार जैसा भजन-भाव होता है, उसी अनुपातसे प्रारब्धकी शक्ति कम हो जाती है—यहाँतक कि तीव्र भजन होनेपर वह नाममात्रके लिये रह जाती है।

अब प्रश्न यह है कि 'भक्ति कितने प्रकारकी होती है ?' उत्तर यह है कि भक्ति दो प्रकारकी होती है—एक गौणी और दूसरी परा। और भक्ति कहते किसे हैं ? इस सम्बन्धमें महर्षि नारदका वाक्य है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता ।

(भक्ति-सूत्र १९)

अर्थात् समस्त आचार भगवान्के अर्पण कर देना और उन्हें थोड़ी देरके लिये भूल जानेपर भी विस्मरणसे अत्यन्त व्याकुल हो जाना।

शाण्डिल्यजीका कथन है—

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।

(नारद-भक्ति सूत्र १८)

जब जगत्का नितान्त ध्यान न रहे और साधक एकमात्र आत्मचैतन्यमें ही सदा स्थिर रहे, इसीका नाम आत्मरति है। उसी आत्मरतिके साथ-साथ सगुणरूप भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णके साथ एकरूप हो जाना ही भक्ति है।

महर्षि नारद इसीको बढ़ाकर कहते हैं कि "जब साधकका ऐसा स्वभाव हो जाय कि वह अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर दे, प्रभुके स्मरणको कभी न भूले और यदि भूल जाय तो उसके चित्तमें विकलता हो, तब इस अवस्थाको 'भक्ति' कहते हैं।"

यहाँ फिर प्रश्न होता है कि आप्तजनोंने जिस मार्गको निर्धारित कर दिया है, उसी मार्गका अवलम्बन उचित है और वह है शास्त्रानुसार आचरण। दर्शनशास्त्रमें वेदान्त सर्वोपरि माना जाता है और वेदान्तका सिद्धान्त है—ज्ञानार्जन करके ब्रह्मको प्राप्त करना। तब शास्त्रका उल्लङ्घन करके भक्ति-मार्गपर चलना क्या उचित है? पक्की सड़क छोड़ अन्य मार्गसे जाना तो क्लेशकारक ही होता है।

दूसरा प्रश्न है कि 'बिना ज्ञानके भक्ति कैसे हो सकती है? जबतक ईश्वरका ज्ञान आपको न होगा, तबतक उनकी भक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है? बिना परिचय प्राप्त किये सम्भाषण कैसे हो सकता है?' उत्तर यह है कि जननीके साथ शिशुको परिचय करनेकी आवश्यकता नहीं है। उन दोनोंका परिचय स्वाभाविक है। अज्ञानी शिशुको ज्ञान कहाँ हो सकता है। उसकी देख-रेख स्वतः जननी करती है। इसी प्रकारका सम्बन्ध जीव और ईश्वरका है। जीव मायाके वश होकर ईश्वरसे विमुख हो जाता है और विषय-वासनाओंमें फँसकर ईश्वरको भूल जाता है। शक्ति-सम्पन्न तपस्वियोंने अपने विचारबलसे कामादि षड्विकारोंको शमन करनेका प्रयत्न किया और तब ईश्वरका अन्वेषण किया था। कोई ब्रह्मको उच्च सुमेरु पर्वतके उच्च शिखरके समान अगम्य—अचिन्त्य, कोई उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अपना ही स्वरूप, कोई विराट्रूपमें विश्वभरमें व्याप्त कहते हुए बिना किसी आधारके ब्रह्मरूपी प्रासादपर चढ़ते थे और ज्ञानी भी [illegible] भर्राकर नीचे आ गिरते थे। पुनः उसी ब्रह्मकी [illegible] शिखरपर आरोहण करते थे। यही क्रम अनेक जन्मोंतक लगा रहता था। ब्रह्मके अन्वेषण करनेका यह प्रयत्न ज्ञानियों-की शक्तिपर अवलम्बित था। उस मार्गके पथिक आधुनिक कालमें भी हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। यह मार्ग ब्रह्मके विराट् ऐश्वर्यकी छानबीन करता हुआ उसका पता लगाता है, परंतु अगाध अगम सागरका पार पाना क्या सम्भव है! भक्ति-मार्गका पथिक पथके शोधनकी चिन्ता नहीं करता, अर्थात् वह हृदयकी मलिनता-विक्षेपादिको दूर करनेमें समय नष्ट नहीं करता। प्रत्युत वह नाम तथा ध्यानका सहारा लिये भगवत्-चरणारविन्दमें अपने मलिन मनको लगाता आगे बढ़ता है।

'यहाँ प्रश्न यह होता है कि जो अभीष्ट स्थानके मार्गसे परिचित नहीं है, वह वहाँ कैसे पहुँच सकता है। भक्ति-मार्गपर चलनेवाले निर्बल और दीन होते हैं, जैसे नदीमें प्रस्तुत रहनेवाली नावके द्वारा घोर घहराती नदी पार की जाती है, उसी प्रकार भक्तिके पथिकका स्वयं प्रभु रामकी कृपा पथ-प्रदर्शन करती है। इसका कारण यह है कि आरम्भसे ही जीव पुकारता है—'हे नाथ! मैं दीन-निर्बल हूँ, करुणाकरकी कृपा मुझको सँभाले।' इस आर्त-पुकारको सुन भगवान् अपनी कृपाका सहारा देते हुए उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ऐसा क्रम गौणी भक्तितक ही रहता है; और जब वह भक्त गौणी विभागकी उच्चतम सीढ़ीको भी पार कर जाता है और पराभक्तिके प्रथम सोपानपर पग रखता है, तब करुणासागर भक्तवत्सल, दीनबन्धु राम स्वयं उस भक्तके पास उपस्थित होते हैं। जिसने मन-वचन-कर्मसे प्रभुकी शरण स्वीकार कर ली है, उसके साथ जो कोई भी घटना घटती है, उसके सम्बन्धमें वह अनुभव करता है कि उदार-शिरोमणि रामने मेरे हितके लिये ही ऐसा किया है। फिर तो बड़े-से-बड़ा दुःख आ पड़नेपर भी वह घबराता नहीं; क्योंकि उसको विश्वास रहता है कि मुझ बालबुद्धि दीन-जनकी रक्षा मेरे करुणाकर अवश्य करेंगे। अतः ज्ञान और भक्तिमें यही भेद है कि ज्ञानी ब्रह्मके निकट स्वयं जाता है और भक्तके पास प्रभु राम स्वयं आते हैं। अर्थात् पहले [illegible] बुद्धिद्वारा पथ प्रदर्शन करती है और दूसरे [illegible] श्रीराम भक्तके पास आते हैं और एक बार [illegible] फिर लौटकर जाते नहीं।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है—क्या प्रभु श्रीरामके आनेकी बात भक्त जानता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे स्तनंधय-दशामें बालक जननीको केवल स्तनपान करानेवाली समझता है और दो-तीन वर्षकी आयु हो जानेपर जब उसे पहचानने लगता है, तब वह माताके साथ प्रेम करने लगता है। इसी प्रकार प्रभु-आगमनके आरम्भमें भक्तके द्वारा कोई कार्य हो जानेपर वह अपनी अनुपम-विवेकोत्पत्तिसे अनुभव करता है कि मुझमें ऐसी सामर्थ्य नहीं थी कि इस कार्यको कर पाता, यह उन्नायक-परिवर्तन प्रभुकी कृपाद्वारा ही सम्पन्न हुआ है। इसके पश्चात् उसमें ज्ञान, वैराग्य, धर्म, सत्य, शान्ति, धैर्य, क्षमा, शील आदिकी मात्रा बहुत बढ़ जाती है। जैसे सावनके आते ही मेघ गगनको मेदुर बनाते हुए गुम्फित कर लेते हैं, उसी प्रकार जब भक्ताधीन जगत्पति राम हृदयमें आकर डेरा जमा लेते हैं तब भक्तमें उपर्युक्त गुण बिना ही प्रयत्न किये आ जाते हैं और पराभक्तिके उत्तर भागमें प्रभु स्वतः अव्यक्त, अगोचर नहीं रह सकते। जैसे सघन श्याम घन-घटाको बरसना ही पड़ता है, उसी प्रकार एक बार प्रभु जब हृदयमें आकर विराजमान हो जाते हैं, तब और अभिन्नता होनेपर वे कृपालु साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। चर्म-चक्षुओंके लिये जो असुलभ हैं, वे सुलभ हो जाते हैं। पेट्रोल, जो द्रवित दशामें बिना भड़के टंकियों और बैरलोंमें भरा रहता है, जरा-सी चिनगारी पाकर भड़क उठता है। जल प्राकृतिक रूपमें तरलप्रवाहमय रहता है, परंतु शीताधिक्यको पाकर पत्थर-सा तुषाररूप धारण करता है। उसी प्रकार ब्रह्म राम अगोचर—अव्यक्त होते हुए भी पराभक्तिकी विकासावस्थामें अपने साधारण गोपनीय रूपसे विरत हो साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। मनु-शतरूपा एवं उनके परवर्ती अनेक परम भक्त सूरदास-तुलसीदास आदि इसके साक्षी हैं।

फिर प्रश्न होता है—गौणी और पराभक्तिके क्या लक्षण हैं? गौणी भक्ति नवधा भक्तिका बीज है। भगवान्‌की महिमा और दया-वत्सलता आदिके स्मरणसे साधकके हृदयमें भक्तिकी जो प्रथम अवस्था उदय होती है, उसको गौणी भक्ति कहते हैं। उपासना एवं योग आदिसे गौणी भक्तिका विकास होता है। संकीर्तन, सामूहिक भजनसे मनकी प्रवृत्तियाँ पवित्र होने लगती हैं और फिर साधक एकान्त सेवन करने लगता है। उस दशामें उसके अन्तःकरणके रजोगुण तथा तमोगुण कुछ दब जाने और सत्त्वगुणका विकास होता है। उसमें गम्भीरता, मौन, मितभाषण एवं अन्तर्मुखी वृत्तिका आरम्भ हो जाता है। अभिमान कुछ दब जाता है। एकान्तमें उसको स्वतः सविकल्प समाधिका अनुभव होने लगता है। योगशास्त्रमें लिखा है कि जब मनमें रज और तमका क्षय और सत्त्वगुणका आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, तब रज-तमकी सूचक क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और तब निरुद्ध अवस्था प्राप्त होती है। तभी समाधिका उदय होता है। परंतु भक्ति-साधनमें अन्तःकरण प्रभु-गुण-गान तथा नाम-जपसे स्वतः शुद्ध हो जाता है और उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है। जब अनुरागका आरम्भ होता है, बिना तारके तारकी तरह श्रीप्रभुके साथ साधकका सम्बन्ध हो जाता है और गङ्गा-यमुनाके संगमकी भाँति भक्त और भक्तवत्सलका संयोग अप्रच्छन्नरूपसे होता है। जैसे धाय बालकको माताके पास ले जाती है, उसी प्रकार प्रभु-कृपा भक्तके हृदयमें नव-अनुराग उत्पन्न कराती हुई उसे आगे बढ़ाती रहती है। ऐसी ही दशामें भक्तके मनमें जगत्‌से वैराग्य उत्पन्न होता है और ज्यों-ज्यों वैराग्य दृढ और प्रगाढ होता है, त्यों-त्यों प्रभुमें अचल प्रीति होती जाती है और जब भक्त अपनेको पूर्णरूपसे प्रभु-पाद-पद्ममें समर्पित कर देता है, तब पराभक्तिका आरम्भ हो जाता है। परंतु ऐसे समर्पणमें छल नहीं होना चाहिये—छल यह कि प्रीति तो की जाय, परंतु स्वार्थ-साधनकी वासना भी साथ-साथ चलती रहे।

ऐसा विचार मनमें दृढ़ रहना चाहिये कि जो कुछ करें प्रभु श्रीराम ही करें। उन्हींको अपना सारा उत्तरदायित्व सौंप देना चाहिये। जब ऐसी दशा भक्तकी हो जाती है, तब बलात् कृपालु रामको भक्तका योगक्षेम निबाहना पड़ता है। अर्थात् जो वस्तु उसको प्राप्त है, उसकी रक्षा और जो पदार्थ उसे प्राप्त होनेको है, उसके लिये प्रयत्न अनुरागाधीन श्रीरामको स्वयं करना पड़ता है। इतना ही नहीं, उसको वे अपनी ओर आकर्षित भी करते हैं। इस प्रकार उसका लौकिक और पारलौकिक सारा भार प्रभु स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। इधर आगे चलकर भक्तकी दशा प्रमत्तकी-सी हो जाती है—वह देखता हुआ भी नहीं देखता, कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता। कारण, उसका मन श्रीरामके चरणारविन्दमें अचलरूपसे लगा रहता है और चक्षु, हाथ, जिह्वा आदि इन्द्रियोंमें विचारशक्ति है नहीं। प्रतिक्षणका प्रभु-स्मरण तथा सप्रेम ध्यान संचित कर्मराशिको नष्ट कर देते हैं और नया क्रियमाण बनता ही नहीं। केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है। जैसे चारों ओरसे

घिर जानेपर शत्रुको आत्मसमर्पण करना ही पड़ता है, उसी प्रकार मन-वचन-कर्मसे भगवत्-भजन होते रहनेके कारण, जैसे जलधारा बालूकी राशिको बहा ले जाती है, उसी प्रकार निरन्तर भजनमें लगा चित्त प्रारब्धको बिल्कुल कमजोर कर देता है। केवल बाह्य शरीरके अङ्ग-अवयव जो प्रारब्धके अनुसार गर्भमें बने और प्रादुर्भूत हुए थे, वे तो दीखते हैं; परंतु उनपर भी भजनके गुणोंका प्रभाव रहता है। आगे चलकर जीवित दशामें ही भक्त और भक्तवत्सल एक-से हो जाते हैं।

विधिनिषेधागोचरत्वमनुभवात्। (दैवीमीमांसा)

अर्थात् स्वरूपका अनुभव हो जानेपर मनुष्यके लिये विधि-निषेध नहीं रहता। जब भक्त पराभक्ति प्राप्त कर लेता है, तब मुझे यह कर्म करना चाहिये और वह नहीं करना चाहिये—इसका विचार वह त्याग देता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि साधकको शरीर रहते हुए इन्द्रिय, मन और बुद्धिको साथ रखना ही पड़ता है। तब ये सब व्यापार अवश्य करेंगे। यदि करेंगे तो विधि-निषेध इनपर लागू अवश्य होगा? इसका उत्तर यह है कि मोटरकारका इंजिन चलता रहता है, परतु उसकी पहिया नहीं हिलती। क्योंकि स्टीयरिं और क्लच न घुमानेसे उसकी पहिया नहीं हिलती। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि साधारणरूपसे अपना व्यवहार प्राकृतिक शरीरकी रक्षाके रूपमें करते हैं, परतु भक्तको उसका विशेष अनुभव नहीं होता; क्योंकि मन और बुद्धि संयुक्तरूपसे भगवान् श्रीरामके चरण-चिन्तनमें लगे रहते हैं।

जैसे स्थिर जलमें पवन-वेगसे लहरें उठती हैं अथवा ढेला फेंकनेसे जलमें उछाल होती है और लहरें दौड़ पड़ती हैं, उसी प्रकार परमहंसवृत्तिधारी संतको कोई छेड़ता है तो उसमें उसके अनुसार ही आचरण देखनेमें आते हैं। उसका ऊपरका व्यवहार अपना नहीं रहता, सङ्ग उसमें कारण होता है। पुजारीने मूर्तिको पीतवस्त्रसे सजाया तो वह पीतवस्त्रके साथ देख पड़ी, और नीले वस्त्र पहना दिये तो नीले रूपमें दृष्टिगत हुई। उन सबका कारण पुजारी है।

पराभक्तिप्राप्त भक्त भगवान्‌के अतिरिक्त किसी भी वस्तुको भिन्नरूपसे नहीं देखता। भक्तिमार्गमें [illegible] न होनेपर भी वह सालोक्य प्राप्त करता है—

अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम्। ([illegible])

अर्थात् भाव दृढ़ न होनेपर भी [illegible] प्राप्त होती है। कहनेका तात्पर्य यह कि मिश्रीका [illegible] मधुरताका अनुभव कराता है। अब प्रश्न होता है—[illegible] प्राप्त कैसे हो? उत्तर है कि इसके उपाय आचार्योंने [illegible] प्रकारके वर्णन किये हैं—

महिमाख्यान इति भरद्वाजः।

अर्थात् भगवान्‌की महिमा वर्णन करना ही इसका उपाय है, यह महर्षि भरद्वाजका मत है।

जगत्सेवा प्रवृत्ताविति वसिष्ठः।

जगत्-सेवामें प्रवृत्ति ही इसका साधन है, यह महर्षि वसिष्ठका मत है।

तदर्पिताखिलाचरण इति कश्यपः।

अर्थात् भगवान्‌को समस्त कर्म समर्पण करना ही [illegible] उच्च स्थितिका लक्षण है, यह महर्षि कश्यपका मत है।

तद्विस्मरणादेव व्याकुलतायामिति नारदः।

अर्थात् उनका (श्रीरामका) विस्मरण होनेपर व्याकुल होना ही ऐसी उच्चस्थितिका लक्षण है, यह महर्षि नारदका मत है।

माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम् ([illegible])

अर्थात् पराभक्तिमें माहात्म्य ज्ञानकी भी अपेक्षा [illegible] है। भगवान्‌के लीला-चरित्रोंको सुनकर प्रेम [illegible] होता है, मनोमोहक लीलाओंसे अनुराग [illegible] है। [illegible] लीला-कार्योंको स्मरणकर भक्त गद्गद हो [illegible] उनकी स्मृतिसे अपनी श्रद्धाको अधिक [illegible] है। माहात्म्यके जाने बिना मनुष्यको [illegible] भगवान्‌ने अवतार लेकर क्या किया। यदि [illegible] न किया जाता तो शबरी, शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्ण [illegible] यहाँ प्रभुके पधारनेका वृत्तान्त कैसे [illegible] भावानुकूल श्रीरामके वन जानेका वृत्तान्त भी कैसे [illegible]।

भक्ति और योग

(लेखक—डा० मनुशङ्कर नीलकण्ठ आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान् श्रीव्यासने अपने योगभाष्यमें 'योग' की व्याख्या करते हुए कहा है—योगः समाधिः।[1] अर्थात् योगका अर्थ है समाधि। इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रमें योग और समाधिको पर्यायवाची शब्द माना गया है। भगवान् पतञ्जलिने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योगके ये आठ अङ्ग बतलाये हैं। इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये योगके बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि—योगके अन्तरङ्ग साधन हैं—ऐसा भगवान् पतञ्जलिका कहना है।[2]

धारणाकी व्याख्या करते हुए योगसूत्रमें कहा गया है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (३ । १)

अर्थात् किसी एक देशमें—ध्येय पदार्थमें चित्तको लगानेका नाम 'धारणा' है। इस प्रकार ध्येयमें लगा हुआ चित्त उसमें स्थिर रहे और वह वृत्ति एकतार बनी रहे तो उसको 'ध्यान' कहते हैं। योगसूत्रका वचन है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (३ । २)

अर्थात् ध्येय वस्तुमें चित्तकी एकतानताका होना 'ध्यान' कहलाता है। और इस प्रकार ध्यान सिद्ध होनेके बाद जब साधकको केवल ध्येयकी ही प्रतीति होती है, तो वह स्थिति 'समाधि' कहलाती है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (३ । ३)

अर्थात् जब ध्यानमें केवल ध्येयकी ही प्रतीति होती है और चित्त अपने स्वरूपसे शून्यवत् हो जाता है, तब उस स्थितिको 'समाधि' कहते हैं। समाधिका प्रथम सोपान धारणा और द्वितीय सोपान ध्यान है। धारणा सिद्ध होनेके बाद ध्यान और ध्यान सिद्ध होनेके बाद साधक समाधि-स्थितिमें पहुँच सकता है। ध्येय वस्तुमें जब चित्त अखण्ड धारारूपमें स्थिर रहता है, तभी समाधि स्थिति प्राप्त होती है। चित्तको ध्येयमें जोड़ना धारणा है, ध्येयमें स्थिर करना ध्यान है और ध्येयमें तन्मय हो जाना समाधि है।

१. योगसूत्र १ । १ व्यासभाष्य।
२. योगसूत्र ३ । ७।

इस प्रकार समाधिका जो लक्षण योगसूत्रमें दिखलाया है, वही लक्षण भक्तिका 'भक्तिरसायन' ग्रन्थमें यतिवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बतलाया है। जैसे—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥
(१ । ३)

अर्थात् सर्वेश्वर भगवान्‌में भगवद्धर्मोंके अनुष्ठानसे द्रवित हुए मनकी धारावाहिकताको प्राप्त वृत्ति 'भक्ति' कहलाती है। इस व्याख्यामें यम-नियम आदिके द्वारा इन्द्रियोंको संयममें रखकर भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करना 'भगवद्धर्म'के रूपमें समझाया गया है और भगवद्धर्मसे पवित्र हुआ मन जब अखण्ड धाराके रूपसे सर्वेश्वर परमात्मामें स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब उस वृत्तिको 'भक्ति' नामसे पुकारते हैं। इस प्रकार भगवान् पतञ्जलिने 'योग' की जो व्याख्या की है, वही व्याख्या 'भक्ति'की श्रीमधुसूदन सरस्वतीने की है। चित्त जब भगवान्‌को ही अपना ध्येय बनाकर उसमें अखण्ड धारावाहिकतासे तन्मय बन जाता है, तभी उसको 'भक्ति' कहते हैं।

अन्य आचार्योंने इसी भक्तिको पराभक्ति नाम प्रदान किया है। महर्षि शाण्डिल्य अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (१ । १ । २)

अर्थात् ईश्वरमें परम अनुराग ही भक्ति है। ससारके सब विषयोंसे मन हट जाय और भगवान्‌में ही परम प्रीति-युक्त होकर जुड़ जाय तो उस स्थितिको भक्ति कहेंगे—यही इस सूत्रका अभिप्राय है। शाण्डिल्य मुनिने ईश्वरमें अखण्ड प्रेम-प्रवाहको ही 'भक्ति' नाम प्रदान किया है।

ईश्वरको ही ध्येय बनाकर, उसमें तन्मय होकर, चित्तका ईश्वरके प्रति परम अनुरक्त होना—इसको 'परम प्रेमरूपा भक्ति' नाम महर्षि नारदजीने दिया है। अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए नारदजी कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना० भ० २)

अर्थात् भगवान्‌में अनन्य परम प्रेम-प्रवाहका ही नाम भक्ति है।

इस प्रकार भक्ति ही सम्प्रज्ञात समाधि है। भक्ति ही

योग है। भक्तिसे सम्प्रज्ञात योग और फिर असम्प्रज्ञात योगकी भूमिका प्राप्त होती है, और साधकको सायुज्य मुक्ति मिल जाती है।

भगवान् पतञ्जलिने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१ । २३) इस सूत्रमें योगके अष्टाङ्गोंको अलग रखकर 'केवल ईश्वरकी भक्तिसे ही योग-समाधि सिद्ध होती है' यह बतलाया है। क्योंकि जब भक्त भगवान्‌को ही ध्येय बनाकर, उसमें अपने चित्तको अखण्ड प्रवाहवत् ध्यानद्वारा युक्त करके तन्मय करता है, तब उस धारावाहिकतासे चित्त ध्येयाकार बन जाता है और वही समाधिकी स्थिति है। इस प्रकार भक्ति ही समाधिका रूप ले लेती है। नारदजी आगे चलकर यह भी कहते हैं कि भगवानमें स्थित चित्त यदि थोड़ी देरके लिये भी भगवान्‌को भूल जाता है तो उसको परम व्याकुलता होती है—

> तद्विस्मरणे परमव्याकुलता। (ना० भ० १९)

इसीसे इसको 'अनन्य प्रेम' या 'पराभक्ति' कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

> तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
> कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
> (६ । ४६)

—यह कहकर प्रतिपादन किया गया है कि भक्ति ही योग है, और उस भक्तियोगको तप, ज्ञान और कर्मसे भी श्रेष्ठ बतलाया है।

भक्तिका स्वरूप

(लेखक—डा० श्रीनृपेन्द्रनाथ राय चौधरी एम्० ए०, डी० लिट्०)

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम है योग। मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है—श्रीभगवान्‌को पाना। शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके उपायस्वरूप कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिविध योगका विषय विस्तारसे वर्णित है। कोई-कोई अष्टाङ्गयोगको भी स्वतन्त्र योग समझते हैं। परंतु गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वह कर्मयोगके ही अन्तर्गत है। अष्टाङ्गयोगके अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बिना कर्मके निष्पन्न नहीं हो सकते। वस्तुतः कर्मयोगको सारे योगोंकी भित्ति कह सकते हैं। भक्ति और ज्ञान दोनोंका ही अनुशीलन करनेके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता होती है। स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

> न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> (गीता ३ । ५)

'कर्म किये बिना कोई क्षणमात्र भी नहीं रह सकता।' तथापि शुद्ध भक्त और शुद्ध ज्ञानी, दोनों ही आसक्ति-रहित होकर केवल कर्तव्य मानकर कर्म करते हैं। भगवत्प्राप्तिके इन तीनों उपायोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इस विषयको लेकर विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्योंमें पूर्वापर मतभेद चला आ रहा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसके सामञ्जस्य-का प्रयास दीख पड़ता है। परंतु वहाँ भी वही पुराना विवाद विद्यमान है। कर्मयोगके विषयमें चाहे उतनी बात न हो, परंतु ज्ञान और भक्तिमें कौन बड़ा है—इसकी मीमांसा आजतक न तो हुई और न ऐसा लगता है कि भविष्यमें भी हो सकेगी। शिव-महिम्नःस्तोत्रकी भाषामें इस पर कहते हैं कि जब तक मनुष्योंमें रुचिवैचित्र्य बना रहेगा, तबतक ऋजु और कुटिल नाना मार्गोंका अवलम्बन करके ही मनुष्य भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करता रहेगा। तथापि यह बात अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं कि ज्ञानका पथ बड़ा ही दुर्गम है और भक्तिका पथ बहुत कुछ सहज है। स्वयं श्रीभगवान् भी ऐसे कहते हैं—

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

'जो अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके प्रति आसक्त होते हैं उनको अधिक कष्ट उठाना पड़ता है।' भागवतमें भी ब्रह्माजीने भक्तिके मार्गको श्रेष्ठ मार्ग कहकर वर्णन किया है। जैसे—

> श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
> (१० । १४ । ४)

अर्थात् 'हे विभो! जो तुम्हारी भक्तिके [illegible] पथ भक्तिका त्याग करके केवल अद्वैतज्ञानकी प्राप्तिके लिये कष्ट उठाते हैं, उनको [illegible] कूटनेवालेके समान केवल क्लेश ही हाथ लगता है।'

इस प्रकारकी भक्ति है क्या वस्तु—इस [illegible]

[illegible] वहाँ उद्धृत किया [illegible] है।

उपनिषद् ग्रन्थ भारतीय संस्कृतिके श्रेष्ठ अवदान हैं। मुक्तिकोपनिषद्में १०८ उपनिषदोंका नामोल्लेख है। इनके सिवा और भी बहुत-से उपनिषद् प्राप्त होते हैं। अष्टोत्तरशत उपनिषदोंमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—इन दस उपनिषदोंको सभी सम्प्रदायके लोग प्रधान या मुख्य उपनिषद् मानते हैं। इनमें किसी एकमें भी 'भक्ति' शब्दका उल्लेख नहीं है। भक्ति-पदार्थके स्थानापन्न-रूपमें किसी-किसी उपनिषद्में 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। 'श्रद्धा' शब्दकी व्याख्यामें आचार्य शंकर करते हैं—

गुरुवेदान्तवाक्येषु दृढविश्वासः श्रद्धा।

अर्थात् आचार्य और शास्त्रके वचनोंमें दृढ़ विश्वास ही श्रद्धा है। गीतामें कहा गया है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।' श्रद्धाके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। परंतु कहीं भी यह बात नहीं कही गयी है कि श्रद्धाके द्वारा भक्ति प्राप्त होती है। भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य कहते हैं कि श्रद्धा और भक्ति एक ही वस्तु है। श्रद्धाद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, परंतु भगवान्की प्राप्तिका उपाय है भक्ति—

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात्।

(भक्तिसूत्र १।२४ तथा आम्नायसूत्र ५७)

परंतु 'श्रद्धा' शब्दकी भक्तिके अनुकूल ही व्याख्या की गयी है। जैसे—

श्रद्धा त्वन्योपायवर्जं भक्त्युन्मुखचित्तवृत्तिविशेषः।

अर्थात् कर्म, ज्ञान आदि उपायोंका त्याग करके भक्तिके प्रति उन्मुख चित्तवृत्तिविशेषका नाम श्रद्धा है। ईशादि मुख्य दस उपनिषदोंमें 'भक्ति' शब्दका उल्लेख न प्राप्त होनेपर भी श्वेताश्वतर उपनिषद्के अन्तिम मन्त्रमें 'भक्ति' शब्दका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'जो देवताके प्रति (परमेश्वरके प्रति) परम भक्तिमान् हैं तथा गुरुके प्रति भी वैसे ही भक्तिमान् हैं, यह उपनिषत्-तत्त्व उन्हींके सम्मुख प्रकाशित होता है।' उपनिषदोंमें भक्तिवादकी खोज करनेवाले कोई-कोई आचार्य कठोपनिषद्के इस मन्त्रकी भक्तिवादके अनुकूल व्याख्या करते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।

'जिसपर ये परमात्मा कृपा करते हैं, उसीके सामने यह अपने तनुको प्रकाशित करते हैं।' परंतु आचार्य शंकर आदि अद्वैतवादी इस मन्त्रकी निर्विशेष ब्रह्मवादके अनुकूल व्याख्या करते हैं। छोटे-छोटे उपनिषदोंके अन्तर्गत गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, रामतापनीय आदि ग्रन्थोंमें तत्तत् देवताकी उपासना और भजनकी बात विस्ताररूपसे वर्णित है। भक्तिके द्वारा भजन ही इन सब ग्रन्थोंकी प्रतिपाद्य वस्तु है।

'भक्तिसूत्र'के नाम दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—एकके रचयिता हैं देवर्षि नारद और दूसरेके महर्षि शाण्डिल्य। दोनों ही ग्रन्थ विष्णुपुराण, महाभारत, हरिवंश और श्रीमद्भागवतके बाद रचे गये हैं, इसका प्रमाण स्थान-स्थानपर ग्रन्थस्थ सूत्रोंमें ही प्राप्त होता है। नारदीय भक्तिसूत्र ८४ सूत्रोंमें समाप्त होता है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रोंकी संख्या एक सौ है। नारदके भक्तिसूत्रमें शाण्डिल्यका नाम आता है। परंतु शाण्डिल्यके सूत्रोंमें नारदका उल्लेख नहीं है। देवर्षि नारद ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। अतएव महर्षि नारद शाण्डिल्यके पूर्वज तथा भक्ति-धर्मके अन्यतम आदिप्रचारक हैं; परंतु शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें अन्यान्य आचार्योंके नामका उल्लेख करते समय देवर्षि नारदका नामतक नहीं लिया है—यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है? नारदीय भक्तिसूत्रकी कोई टीका हमारे देखनेमें नहीं आयी। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रकी एक टीका हमने देखी है। इसके रचयिताका नाम स्वप्नेश्वर है। ये स्वप्नेश्वर वैष्णव-साहित्यमें सुपरिचित वासुदेव सार्वभौमके पौत्र थे। उनके पिताका नाम जलेश्वर वाहिनीपति था। जलेश्वर उत्कलके राजा गजपति प्रतापरुद्रके अन्यतम सेनापति थे, अतएव 'वाहिनीपति' उनकी उपाधि हो गयी। स्वप्नेश्वरने प्रधानतः गीता और श्रीमद्भागवतका आश्रय लेकर ही अपनी टीकाकी रचना की है।

भक्तिकी संज्ञा और स्वरूपका निर्णय करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ २॥

अमृतस्वरूपा च॥ ३॥

अर्थात् भगवान्के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही भक्ति है तथा भक्ति अमृतस्वरूपा है। भक्ति प्राप्त होनेपर त्रितापकी ज्वाला दूर होती है, मनमें विमल शान्तिका उदय होता है। 'योगसारस्तव' में भी कहा गया है—

इसीका नाम 'आत्यन्तिक भक्तियोग' है। इनके द्वारा मेरे भक्तगण त्रिगुणात्मिका मायाको अतिक्रम करके मेरे विमल प्रेमको प्राप्त करते हैं।'

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने मायाको 'दैवी' और 'दुरत्यया' कहा है। मायाको जीतना बहुत कठिन है। परंतु—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'जो मेरी शरण ले लेते हैं, माया उनको फिर आबद्ध नहीं कर सकती।' इसी कारण गीताका चरम उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

भक्तिके लक्षणके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंके मतकी आलोचना करते हुए देवर्षि नारदने कहा है कि 'पराशरपुत्र व्यासजीके मतमें श्रीभगवान्‌की पूजा आदिमें जो अनुराग है, उसीका नाम भक्ति है।' गर्ग मुनिके मतसे भगवान्‌की कथामें (अर्थात् नाम, रूप, गुण और लीलाके कीर्तनमें) अनुरागका नाम भक्ति है। महर्षि शाण्डिल्यके मतसे अपने आत्मामें (परमात्माके अभिन्न अंशरूपमें) अबाध अनुरागका ही नाम भक्ति है।' शाण्डिल्यका मत आपातदृष्टिसे अभेदवाद-मूलक जान पड़ता है, तथापि वस्तुतः ऐसा नहीं है। जीव भगवान्‌का अंश अवश्य है; परंतु भगवान् विभुचैतन्य हैं और जीव अणुचैतन्य है। अतएव दोनोंमें सेव्य-सेवक-भावका सम्बन्ध नित्य विद्यमान है।

जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्ण दास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
(चैतन्यचरितामृत)

पुराणोत्तर युगमें भक्तिके सर्वश्रेष्ठ विश्लेषणकारी श्रीपाद रूपगोस्वामीके मतसे—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् अन्य अभिलाषसे शून्य, ब्रह्म-ज्ञान तथा फल-युक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म आदिसे अनावृत, कृष्णमें रुचियुक्त प्रवृत्तिके साथ कृष्णानुशीलन ही उत्तमा भक्ति है। पहले नारद-पाञ्चरात्रसे भक्ति-लक्षण-विषयक जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसके साथ इस श्लोकका जो तात्त्विक ऐक्य है, उसके विश्लेषणकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

गीताके प्रसिद्ध टीकाकार और सुविख्यात 'अद्वैत-सिद्धि' ग्रन्थके प्रणेता श्रीमधुसूदनसरस्वती अपनी वृद्धावस्थामें लिखे (सम्भवतः अन्तिम) ग्रन्थ 'भक्ति-रसायन'में भक्तिके लक्षणका निर्देश करते हुए कहते हैं—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् 'भगवान्‌के गुण, महिमा आदि श्रवण करके सत्त्व-गुणके उद्रेकवश मन द्रवीभूत होकर भगवान्‌के प्रति अविच्छिन्न तैलधाराके समान जिस चिन्तनधारामें लीन हो जाता है, उसीका नाम भक्ति है।'

जो लोग भक्तिके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी अभिलाषा रखते हों; उनको श्रीजीवगोस्वामीकृत 'भक्ति-संदर्भ' और 'भक्तिरसामृत-शेष', श्रीविष्णुपुरीगोस्वामीकृत 'विष्णुभक्ति-रत्नावली' तथा उसकी 'कान्तिमाला' नामक टीका, एवं गौडीय वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीकृत 'माधुर्य-कादम्बिनी'-के अध्ययनसे अपार आनन्दकी प्राप्ति होगी।

भगवान्‌का भक्त विषयोंसे पराजित नहीं होता

भगवान् कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार जिसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पाण्ड्या, बी० ए०)

यहाँ भक्तिका तात्पर्य भगवान्‌की अर्थात् परमात्माकी भक्तिसे है। विषय-भोगोंकी भक्ति तो सभी सांसारिक प्राणी करते हैं—सदासे करते आ रहे हैं। इस भक्तिको भगवान्‌की ओर मोड़ना है, जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्ति, श्रद्धा, प्रतीति, गाढ़ प्रेम या रुचि—ये सब मूलतः एवं परिणामतः एक ही हैं।

जन्मसे भेड़ोंके झुंडमें पलकर अपने-आपको भेड़ समझनेवाले सिंहको दूसरा सिंह देखकर एव जल आदिमे अपनी परछाईं देखकर अपने सिंह होनेका तथा भेड न होनेका बोध होता है। कीट भ्रमरका चिन्तन करते-करते भ्रमर बन जाता है। ऐसा ही फल भक्तिका होता है।

अनादिकालसे यह संसारी आत्मा (जीव) अपने ब्रह्मस्वरूपको भूला हुआ है—अपने सत्-चित्-आनन्दमय रूप अर्थात् अपने अजर, अमर, अनन्त ज्ञानमय तथा अनन्त आनन्दमय स्वरूपको भूलकर उससे प्रेम न करके बाहरी, तुच्छ, पराधीन वस्तुओंमें निजपना मानता या उनमें सुख ढूँढता गाफिल हो रहा है। भगवद्-भक्तिसे जीवको भगवान्‌से प्रेम होकर उनके स्वरूप—सच्चिदानन्दमय रूपके प्रति प्रेम एव श्रद्धा होती है। इससे तुच्छ, पराधीन, सुखाभासप्रद सासारिक भोगोंसे रुचि हटकर शाश्वत आनन्द आदिकी इच्छा होती है और अपने स्वरूपका बोध होकर उसकी उपलब्धि होती है; क्योंकि आत्माके और परमात्माके स्वरूपमें भिन्नता नहीं है और मन जो कुछ सोचता है, जिस किसीका ध्यान करता है, वैसा ही बन जाता है। सच्चे प्रेम तथा प्रेमीके ध्यानमें प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पदकी, ध्यान-ध्याता-ध्येयकी एकता हो जाती है।

उपनिषदोंके प्रसिद्ध वाक्य हैं—सोऽहम् (वही परमात्मा मैं हूँ), तत्त्वमसि (तू वही परमात्मा है) ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही बन जाता है)। यहाँ जाननेका अर्थ शास्त्रीय या शाब्दिक ज्ञान नहीं है, किंतु प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध ज्ञान—एक प्रकारसे आत्माद्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन या साक्षात्कार है। मनुस्मृतिमें भी अन्तमें कहा गया है—आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। (१२। ११९) अर्थात् अपनी आत्मा ही सर्वदेवतास्वरूप है—सब आत्मामे ही स्थित हैं। बाइबल भी कहती है कि 'परमात्माने मनुष्यको अपने-जैसा ही बनाया' (जेनेसिस १। २६, ५। १); 'तुम ही देव हो' (सेंट जॉन १०। ३४; पद-संग्रह ८२। ६); 'मानवमात्र प्रभुके पुत्र हैं' (१ जॉन ३। १-२); 'परमात्मा-का राज्य तुम्हारे अंदर है' (सेंट ल्यूक १७। २१); और 'तुम भी वैसे ही पूर्ण बनो, जैसा कि स्वर्गमें तुम्हारा पिता (परमात्मा) पूर्ण है।' (सेंट मैथ्यू ५। ४९)।

जो आत्मासे प्रेम करेगा, वह परमात्मासे भी प्रेम करेगा और इसी तरह जो परमात्मासे प्रेम करेगा, वह आत्मासे भी प्रेम करेगा; क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप [illegible] एक-सा है और जिसे आत्मा या परमात्मासे प्रेम है, [illegible] गुणोंसे भी प्रेम है।

जो परमात्मासे प्रेम करेगा, वह उनके भक्तोंसे, [illegible] गुणोंका अनुसरण करनेवालोंसे और उनके [illegible] प्रेम करेगा। इसी प्रकार भक्तों, सतों या उनके [illegible] प्रेम करनेवालेका परमात्मासे भी प्रेम हो जाता है।

माला, तसवीर, जप, मूर्ति-पूजा आदि [illegible] जब उनके साधनसे परमात्मामें भक्ति हो।

परमात्माकी चाहे आत्मस्वरूप समझकर [illegible] स्वरूप समझकर भक्ति करें, फल एक-सा ही होगा। [illegible] गुणोंके प्रेमी होकर तत्स्वरूप या तन्मय बन जायँगे। [illegible] श्रद्धा तथा ध्यानका यही फल है।

जो विभूति, शक्ति, सौन्दर्य आदिके प्रेमी [illegible] की बाह्य विभूति, शक्ति, सौन्दर्य आदिसे [illegible] भक्त बन सकते हैं और फिर उनके [illegible] गुणोंके प्रेमी बन जाते हैं। [illegible]

क्षीरसागरका प्रेमी [illegible] अमृतका इच्छुक क्या [illegible] वमनकी इच्छा करेगा? इसी तरह [illegible] तो सांसारिक विषय-भोगोंसे प्रेम नहीं [illegible] भगवान्‌के प्रेमीको [illegible] अतः वह किसी पदार्थके लिये दुःखी नहीं [illegible]

भगवान्‌की भक्तिमें [illegible]

[illegible] है कि यहाँ मोक्षकी भी इच्छाके लिये [illegible] नहीं है।

[illegible] पदार्थोंकी इच्छा करना वैसा ही है जैसा कि [illegible] पास जाकर भी जीवनके लिये विष-[illegible] करना।

जिन भगवान्‌के स्मरणसे ही विषयेच्छा दूर हो जाती है, उन भगवान्‌का भक्त दुश्चरित्र कैसे रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌से प्रेम होते ही वाल्मीकि, विल्वमङ्गल आदि भक्तोंका चरित्र सुधर गया। गीतामें अहिंसा, समता, अपरिग्रह आदिको भक्तोंका लक्षण बताया गया है (अध्याय १२) और कहा गया है कि भक्त होनेपर दुराचारी भी तुरंत धर्मात्मा बन जाता है (९ । ३१)। साथ ही यह भी बताया गया है कि भक्तोंको भगवान्‌से बुद्धियोग (तत्त्व-ज्ञान) मिलता है, जिसकी सहायतासे वे परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं (१० । १०)।

चाहे आत्माका उपासक होनेके कारण सब जीवोंको आत्म-स्वरूप या अपने-ही-जैसा समझ लेनेसे या भगवान्‌का भक्त होनेके नाते सब जीवोंको तत्त्वतः भगवत्स्वरूप समझ लेनेसे या उनको भगवान्‌की सृष्टि अथवा संतान समझ लेनेसे या भगवान्‌को दयामय समझनेसे या उनकी कृपाका आकाङ्क्षी बन जानेसे—किसी भी तरह हो, भक्तमें अहिंसा अथवा सर्व-जीवोंके प्रति मैत्रीभावका गुण अवश्य आ जाता है। भागवतमें आया है कि प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमके बिना पूजा-उपासना ढोंग है (३ । २९ । २०-२७; ७ । १४ । ३९-४२)। बाइबल भी कहती है कि 'दया, न्याय और समझदारी बलिकी अपेक्षा अधिक स्वीकार्य है' (सेंट मैथ्यू ९ । १३; तथा कहावतें २१ । ३) और 'परमात्मा-जैसे ही दयालु बनो' (सेंट ल्यूक ६ । ३६)।

इस तरह भक्तिमें ज्ञान तथा चारित्र्यका भी समावेश है।

अक्षय आनन्द, अनन्त ज्ञान, अमरत्व, आत्मा आदि-से प्रेम करना कितना स्वाभाविक और सरल है, परंतु अनादि कालसे इनसे विमुख तथा इन्हें भूले रहनेसे इनसे प्रेम करना कितना कठिन भी है। किंतु साधनासे सब कुछ सरल हो जाता है और यह प्रेम-साधना तो यदि इस जन्ममें सफल नहीं हुई तो आगामी जन्ममें भी इसकी सफलता निकट ही रहती है। यदि इस सच्चे प्रेमके कणका भी उदय हो जाय तो अनादि कालसे छाया—अन्धकार एकदम नष्ट हो जाता है।

आराध्या माँ

माँ, शरणमें आ गया हूँ!
दीनता थी, था झुका अधिकार-मदके सामने मैं;
ज्वलित थी तृष्णा, सतत था झूमता लघु मानमें मैं,
अब तुम्हारी चरण-रजकी सुरभि-सुस्मिति पा गया हूँ॥
देखता हूँ, प्रलयकारिणि! ध्वंसमें निर्माण तेरा,
ध्वनि यही श्रुति खोलती है, 'जाग वत्स! हुआ सवेरा।'
शब्दमयि! नव-नव प्रभा तव देख-देख लुभा गया हूँ॥
वर्णमें नव अर्थ होकर कर रही क्रीड़ा सजग तू;
छन्दमें रस-स्रोत निर्झर, आत्म मंगलसे सुभग तू।
तप हुई, प्रिय मुक्ति की ध्वनि गूँजती, वर पा गया हूँ॥
माँ, शरणमें आ गया हूँ॥

—गङ्गाधर मिश्र, साहित्यरत्न

भक्तिका मर्म

(लेखक—डा० बलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०)

भक्तिकी परिभाषा है 'परानुरक्तिः ईश्वरे'। इसमें 'ईश्वर' और 'परम अनुराग' इन दो शब्दोंका मर्म अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

'ईश्वर' को लोग तीन दृष्टिकोणोंसे समझनेका प्रयत्न किया करते हैं। एक है—देहबुद्धिका दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोणसे मनुष्य अपनेको सदेह व्यक्ति मानता हुआ किसी ऐसे सजीव आदर्शकी ओर उन्मुख होता है, जो उसके मनोभावोंको समझता हुआ उसको ऊँचा उठानेमें सहायक हो। वह सकटमें उसका त्राता होगा, उसका रक्षक होगा और सुखमें उसका सब प्रकार साथ देगा। कोई सामान्य देहधारी संत, नेता अथवा महापुरुष भी ऐसा आदर्श हो सकता है। परंतु नश्वर देहधारी महापुरुषकी अपनी सीमाएँ हुआ करती हैं। ससीम व्यक्तिका सर्वोत्तम आदर्श तो असीम व्यक्ति ही हो सकेगा। अतएव ऐसे असीम आदर्शको ही वह अपना परम आराध्य मानता है और उसे ही ईश्वर कहता है। आदर्शकी ओर मनुष्यकी उन्मुखता या तो शक्तिके मार्गसे या ज्ञानके मार्गसे या आनन्दके मार्गसे होती है। अतएव अपने ईश्वरमें वह अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्दकी भावना करता है। अपनी भावनाके अनुसार वह उसे शिवरूपमें, विष्णुरूपमें (राम या कृष्णरूपमें), देवीरूपमें या ऐसे ही अन्य रूपोंमें देखता है और उसका दासत्व स्वीकार करनेमें ही अपनी कृतार्थता समझता है। कभी-कभी वह इस महामहिम ईश्वरीय सत्ताको सहज सुलभ न जानकर किसी परम भक्त या महापुरुषको सहायक रूपसे ग्रहण करके उसे ही अपना इष्ट बना लेता और उसकी ही भक्तिमें दत्त-चित्त हो जाता है। हनुमान् आदिको इष्टदेवके रूपमें ग्रहण करनेका यही रहस्य है।

दूसरा दृष्टिकोण है—जीव-बुद्धिका। इस दृष्टिकोणसे मनुष्य अपनेको देहसे भिन्न एक चेतन व्यक्तित्व मानता है और इस दृष्टिसे ऐसे आदर्शकी ओर उन्मुख होता है, जो केवल चेतनधर्मा है—अर्थात् जिसमें नाम, रूप, लीला और धामकी कोई सीमाएँ नहीं हैं, इनके कोई बन्धन नहीं हैं। उसका कोई खास रूप नहीं, खास नाम नहीं। वह घट-घट-वासी है—देश-कालके बन्धनोंसे परे। परंतु उसमें मानव-मनोभावोंको समझकर उनके अनुकूल अपना प्रेम और अपनी करुणा [illegible] है। [illegible] जीवकी तरह परिच्छिन्न अथवा [illegible] मनोभावोंके [illegible] चेतनधर्मा [illegible] जीवका ही आदर्श। इस रूपमें ईश्वर [illegible] है। वह जीवके लिये [illegible] है और जीव [illegible] वह विभु है, जीव अणु है। वह पूर्ण और [illegible] है, जीव अपूर्ण और परिच्छिन्न है।

तीसरा दृष्टिकोण है—आत्मबुद्धिका। इस [illegible] मनुष्य केवल अपने चेतन [illegible] अपना व्यक्तित्व अथवा परिच्छिन्न [illegible] अतएव अपने और अपने आदर्शमें [illegible] नहीं जान पड़ता। उसका ईश्वर [illegible] ईश्वरमें न किसी [illegible] कृतित्व। वह तो एक अनिर्वचनीय [illegible] की दशा है। यहाँ आराध्य और आराधक [illegible] है।

अध्यात्मरामायणमें [illegible] कहा गया है—

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या [illegible]।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

वस्तुतः इन तीनों दृष्टिकोणोंसे [illegible] ही है। अव्यक्त तत्त्व भी वही है। घट-घट [illegible] कर्ता भी वही है और राम-कृष्ण आदि [illegible] बननेवाला भी वही है। सर्वभौम नियम [illegible] सार्वभौम नियामक भी है। जीव और [illegible] वही है तथा जीव और [illegible] वही है।

अब रही बात परम अनुरागकी। [illegible] तो सभी समझते हैं; क्योंकि [illegible] प्रति अनुरागकी [illegible] किसी विषयमें [illegible] हो जाता है। जब [illegible] वस्तुके बिना एक क्षण भी [illegible] समस्त वृत्तियाँ [illegible] हो जायें, तब [illegible] कोटिमें पहुँच गया। परम [illegible]

संयोग [illegible] होगा और वियोग [illegible] होगा। यह इतने अनिर्वचनीय आनन्दकी वस्तु होगी न तो स्वप्नमें भी कल्पना होगा न उसे एक क्षणके लिये भी भुला सकेगा। ऐसा भाव रखना चाहिये अपने ईश्वरके प्रति।

यों तो धन, कामिनी और कीर्ति आदि ईश्वरके ही चमत्कार हैं; परंतु वे नश्वर और परिच्छिन्न होनेके कारण स्वयं ईश्वर नहीं हो सकते। अतएव उनमेंसे किसी पदार्थकी ओर यदि हमने अपना समग्र अनुराग अर्पित कर दिया तो यह हमारी मोह-मूढ़ता ही होगी। अनुरागका जो पाठ हम उनसे सीखते हैं, उसकी सार्थकता तभी है, जब हम उसे अपने परम आदर्श आराध्यकी ओर अर्पित करें। तभी हमें पूर्ण शान्ति और परम आनन्द मिलेंगे।

यह अर्पण क्यों नहीं होता? इसका प्रधान कारण यह है कि विषय प्रत्यक्षके प्रभावके कारण हमारी मूल प्रवृत्ति ही दब जाती है और हम प्रत्यक्ष जगत्को ही सब कुछ मान बैठते हैं। जीवकी मूल प्रवृत्ति है अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्दकी स्थितिमें पहुँचनेकी। अपने इस आदर्शकी ओर उसका सहज स्नेह रहा करता है। यह आदर्श उसका सहज सङ्गी है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।

अथवा—

ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती॥

परतु रूप रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दके भौतिक आधारोंके प्रभावसे उन्हींमें बुद्धि रमा लेनेवाला जीव उन्हींको सब कुछ मानकर उन्हींकी उपलब्धिमें अपनी मूल प्रवृत्ति चरितार्थ करनेकी चेष्टा करने लगता और दुःख उठाता है। आवश्यकता है कि नश्वर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दको सुन्दरता तथा मनोरमता देनेवाले अविनश्वर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दके परमधाम परमात्मातक अपनी दृष्टि फैलायी जाय और इस प्रकार अपने अनुरागका उदात्तीकरण किया जाय। यदि हम रूपपर रीझ रहे हैं तो श्रीकृष्णके रूपपर क्यों न रीझें। यदि हम गुणपर रीझ रहे हैं तो श्रीरामके गुणोंपर क्यों न रीझें। यदि हम शासककी शक्तिपर रीझ रहे हैं तो महेश्वरकी शक्तिपर क्यों न रीझें।

कुछ लोग जन्मसे ही अच्छे संस्कारी हुआ करते हैं। थोड़े ही प्रयत्नसे उनके मनोभाव ईश्वरकी ओर लग जाते हैं। उन्हें सच्चे प्रीतिमार्गी समझिये। कुछके संस्कार मध्यम श्रेणीके होते हैं। उनकी प्रीति ईश्वरकी ओर सहज ही नहीं उमड़ती। उन्हें ईश्वर-विषयक मनन और चिन्तनद्वारा बारंबार अपने संस्कारोंपर ठोकरें लगानी पड़ती हैं। सत्सङ्ग उनके लिये परम आवश्यक है। सत्सङ्ग, सत्-चिन्तन आदिके द्वारा जब उन्हें ईश्वरमें प्रतीति (विश्वास) होने लगेगी, तब धीरे-धीरे उसके प्रति प्रीति भी होने लगेगी। श्रद्धा और विश्वास उस प्रतीतिके बाह्य रूप हैं। श्रद्धा-विश्वासवाले ऐसे सज्जनोंको प्रतीतिमार्गी समझिये। कुछके संस्कार इतने दब जाते हैं—इतने निकृष्ट हो जाते हैं कि वे ईश्वरके विषयमें सोचना ही नहीं चाहते। परंतु—

'मीचु बुढ़ापा आपदा' जो 'सब काहू पै होय'

—उससे ये भी डरते हैं। वस्तुतः ये ही सबसे अधिक डरते हैं, अतः उनके इस डरकी भावनाका लाभ उठाकर उन्हें ईश्वराभिमुख किया जा सकता है। 'परमात्माको रुष्ट करोगे तो दण्ड पाओगे; संकटसे बचना हो तो उसीकी शरणमें जाओ; मनुष्यका किया-कराया जहाँ व्यर्थ हो जाता है, वहाँ ईश्वरका सहारा ही काम देता है'—ये तथा ऐसी ही बातें यदि किसी अनुकूल परिस्थितिमें ऐसे लोगोंके मानसपर अङ्कित की जायँ तो वे भी ईश्वरकी ओर उन्मुख हो सकते हैं। ऐसे लोगोंको भीतिमार्गी कहना चाहिये। भीतिका भाव भी मनुष्यमें तन्मयता ला देता है। जिससे हम बहुत ज्यादा डरें, वही हमारे मनमें छा जाता है, अर्थात् उसीमें हम तन्मय हो जाते हैं। यह तन्मयता ही अनुरागकी महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है। गोस्वामीजीने ऐसे ही लोगोंको लक्ष्य करके कहा है—'बिनु भय होइ न प्रीति।'

संसारमें प्रभुके प्रीतिमार्गी बहुत कम हैं। सामान्य साधक प्रतीतिमार्गी कहे जा सकते हैं, जो पर्याप्त हैं; परंतु उन्हें चिर प्रयत्नके अनन्तर ही वह स्थिति प्राप्त होती है। भीतिमार्गी तो कई हो सकते हैं, परंतु उन्हें भी मार्ग दिखानेवाला कोई व्यक्ति, कोई अवसर, कोई आघात मिलना ही चाहिये। तभी तो वे यह मार्ग भी देख सकेंगे। गोस्वामीजीने कहा है कि जीव तीन प्रकारके हैं—विषयी, साधक और सिद्ध। भीतिमार्ग विषयी जीवोंके लिये समझिये, प्रतीतिमार्ग साधक जीवोंके लिये और प्रीतिमार्ग सिद्ध जीवोंके लिये। भीतिमार्गकी परिपक्वतामें प्रतीतिमार्ग सधता और प्रतीतिमार्गकी परिपक्वतामें प्रीतिमार्ग सधता है।

जिन विषयी जीवोंमें दैवी सम्पत्तिका भी अंश है, उनके लिये प्रपत्तिमार्ग अथवा शरणागतिका मार्ग उत्तम है।

इसमें तीनों उपर्युक्त मार्गोंके तत्त्व किसी-न-किसी रूपमें आ जाते हैं। आराध्यके अनुकूल आचरण करना और प्रतिकूल आचरण न करना; वह रक्षा करेगा, इसका विश्वास रखकर इस रक्षाके लिये उसका वरण करना; और पूरी निरभिमानिताके साथ अपनेको उसके अधीन कर देना—यही षड्विधा शरणागति है। यदि ईश्वरसे रागात्मक सम्बन्ध सहज ही नहीं जुड़ पाया है तो इस प्रकारके अभ्याससे वह रागात्मकता क्रमशः आप-ही-आप प्रकट हो जायगी। क्रिया करता हुआ भी मनुष्य [illegible] मानकर चले तो उसे [illegible] आना।

अनुरागमें आराध्य और आराधक [illegible] परन्तु जब वह अनुराग पराकोटिमें [illegible] आराधकका भावाद्वैत हो उसका भी [illegible], वह तो अनिर्वचनीय द्वैताद्वैत [illegible]। अतएव उसका वर्णन ही क्या किया जाय।

मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा और भक्ति

(लेखक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्यामार्तण्ड प० श्रीमाधवाचार्यजी)

मूर्ति, भगवान्, पूजा और भक्ति—ये चार पदार्थ विचारणीय है। इनमें भी प्रथम भगवत्तत्त्वपर विचार करना होगा। इसके पश्चात् भगवान्‌की मूर्तिकी विशेषताएँ बतलानी होंगी। मूर्तितत्त्वके निर्णयके अनन्तर पूजा तथा भक्तिके रहस्यको समझाना होगा।

निरूपण पदार्थ-क्रमसे ही होने चाहिये। इसीमें उनका सौकर्य समाया हुआ रहता है। इस कारण पदार्थ-क्रमको कभी न छोड़ना चाहिये। हम भी यहाँ पदार्थ-क्रमका ही अनुसरण करते हैं।

ब्रह्मसूत्रके सभी भाष्यकारोंने—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्यको ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण माना है। इसके साथ 'आनन्दं ब्रह्म' इसे और सम्मिलित कर देते हैं। तभी वेदान्तसारने ब्रह्मको—'अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्' कहा है।

इन सबका एक साथ अर्थ करें तो यह होता है कि 'सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे शून्य, अविनाशी, स्वप्रकाश चैतन्य परमानन्दस्वरूप भगवान् हैं।'

श्रीमद्रामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें श्रीशंकराचार्यके द्वारा किया हुआ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार उद्धृत किया है कि 'सद्रूप, चिद्रूप और काल, देश तथा वस्तुके परिच्छेदसे शून्य ब्रह्म है।'

इतना ही नहीं, श्रीभाष्यने यहाँ शंकरका मत भी इस प्रकार उद्धृत किया है कि "सारे विशेषोंका प्रतिद्वन्द्वी चिन्मात्र ब्रह्म ही परम पुरुषार्थ है। वही एक सत्य है, तदितर अन्य सब मिथ्या हैं; क्योंकि श्रुतिका 'सत्य' पद विकारास्पद असत्य वस्तुसे ब्रह्मको व्यावृत्त करता है। [illegible] अनन्याधीन स्वत-प्रकाश ब्रह्मको जड़ पदा[illegible] भिन्न [illegible] है। 'अनन्त' पद ब्रह्म या भगवान्‌को [illegible] रहित बताता है।

"यह व्यावृत्ति न तो भावरूप है और न [illegible] है, किंतु ब्रह्मसे इतर सारे पदार्थोंका निराकरण है।

'चैतन्यमात्र ही ब्रह्मका स्वरूप है। [illegible] पदार्थ चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं, पर कल्पनासे भिन्न-से [illegible] प्रतीत हो रहे हैं। ब्रह्ममें कोई गुण नहीं है; वह निर्विशेष, निराकार, अदृश्य, अग्राह्य, चिन्मात्र है।'

भट्ट भास्करने कहा है कि [illegible] व्यपदेश है। चैतन्य उसका धर्म है। [illegible], देश और काल, सबकी दृष्टिसे अनन्त है।

'जिस प्रकार द्रव्य गुणोंसे रहित नहीं [illegible] ब्रह्म भी गुणोंसे रहित नहीं है।'

श्रीभाष्यके अनुसार 'भगवान् [illegible] अनन्त हो, यह बात नहीं, उनके गुण भी [illegible] है। [illegible] भगवान् स्वरूप और गुण दोनोंकी दृष्टिसे [illegible] है। भगवान्‌की सत्तामें किसी भी प्रकारकी [illegible] इस कारण वे ही एकमात्र [illegible] है। [illegible] कहाते हैं।

'निरतिशय सर्वज्ञता भगवान्‌में ही है। [illegible] मात्र भगवान् ही चरम सीमाके [illegible] गुणसे युक्त है।

श्रीसम्प्रदायके प्रबन्ध-ग्रन्थोंने—

क्लेशकर्मविपाकैस्तु वासनाभिस्तथैव च ।
अपरामृष्ट एवेह पुरुषो ईश्वरः स्मृतः ॥

—यह भगवान्‌का लक्षण किया गया है। यह एक प्रकारसे योगसूत्रमें दिये गये ईश्वरके लक्षणका ही छायानुवाद है। इसका भाव यह है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पञ्चविध क्लेशोंसे; पाप, पुण्य और मिश्र—इन त्रिविध कर्मोंसे; कर्मके विपाक—जाति, आयु और भोगसे तथा वासनाओंसे असंस्पृष्ट पुरुषोत्तमका नाम भगवान् है।

इस प्रकार हम वेदान्तमें सगुणवाद और निर्गुणवाद, सविशेषवाद और निर्विशेषवाद—सब कुछ पाते हैं। यही बात हम उपनिषदोंमें भी देखते हैं। 'सगुण'से 'निर्गुण' तथा 'सविशेष'से 'निर्विशेष' शब्द नितान्त विरुद्ध पड़ते हैं; फिर भी हम भाष्योंकी विचार-परम्पराओंमें ऐसी वस्तुएँ भी देखते हैं, जिनसे दोनोंका समन्वय हो जाता है।

निर्विशेषवादी शंकरने भी विचार करते-करते ब्रह्मसूत्र ३ । २ । १३ पर कह दिया है कि 'सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् ।' अर्थात् भले ही परमार्थमें निर्विशेष ब्रह्म हो, किंतु उसे सविशेष भी मानना ही चाहिये।

यह निर्विशेषवादमें भी एक प्रकारसे उसके साथ सविशेषवादकी एकताकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।

ब्रह्मसूत्र १ । २ । १४ के भाष्यमें आचार्य शंकरने कहा है—

निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यते ।

'ब्रह्म निर्गुण रहता हुआ भी नाम और रूपमें रहनेवाले गुणोंसे सगुण हो जाता है। उपासनाके लिये सगुण ब्रह्मका ही उपदेश दिया जाता है।' दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कह सकते हैं कि 'ब्रह्म भले ही निर्गुण हो, पर उपासनासे वह सगुण भी हो जाता है। अथवा जिसकी उपासना की जाती है वह उपासनाके लिये सदा सगुण रहता है।'

जिस प्रकार वह निर्गुण और सगुण दोनों है, उसी प्रकार वह निराकार भी है। यही बात ब्रह्मसूत्र ३ । २ । १५ के भाष्यमें शंकराचार्यजी महाराजने कही है—'आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते ।'

—ब्रह्मके सम्बन्धमें उपासनाके उद्देश्यसे यह कहना कि आकार विशेष ग्रहण करता है, सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है—

अथ···य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद । (छा० उ० १ । ६ । ६-७)

'भगवान् सूर्यदेवके भीतर जो तेजोमय पुरुष दीखता है, जिसके दाढ़ी-मूँछ ही नहीं, किंतु नखसे शिखातक सब कुछ तेजोमय है, उसकी गुलाबी कमलकी पखड़ीके समान आँखें हैं। उसका 'उत्' नाम है; क्योंकि वह सारे पापोंके ऊपर है। जो उपासक उसे इस रूपमें जान जाता है, वह भी उसकी उपासनाके बलसे सारे पापोंसे ऊपर उठ जाता है।'

यहाँ छान्दोग्य-उपनिषद्‌ने सूर्यमण्डलमें साकार ब्रह्म अथवा मूर्तिमान् पुरुषोत्तम भगवान्‌को बताया है तथा उन्हींकी उपासनाका उपदेश भी दिया है।

'भगवान् पुरुषविध हैं' इस विषयमें निरुक्त भी उपनिषदोंके साथ है। देवता भी प्रायः मानवीय शरीरों-सरीखे ही शरीर धारण करते हैं। यही कारण है कि ब्रह्म-स्तुतिमें ब्रह्मा भी अपनेको सात ही वितस्तिका बताते हैं; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने हाथसे सात बित्ते (साढ़े तीन हाथ) का ही होता है।

भगवान् वास्तवमें सर्वव्यापक हैं, तो भी वे एकदेशीय होते हैं। इस विषयमें श्रीशंकर ब्रह्मसूत्र १ । २ । १४ के भाष्यमें कहते हैं—

सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते शालग्राम इव विष्णोः ।

'निस्संदेह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, फिर भी उपलब्धिके लिये उसका स्थानविशेष भी होता है। इस स्थानविशेषका सर्वगतत्वके साथ कोई विरोध नहीं होता—जैसे कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापक हैं, फिर भी उनकी उपलब्धि शालग्राममें होती है।' इस तरह व्यापक भी एकदेशीय हो जाता है।

यहाँ आचार्य शालग्रामका भगवान् विष्णुकी संनिधिके रूपमें दृष्टान्त दे रहे हैं।

यदि उपमेय सूर्य और उपमान शालग्रामकी तुलना करके एकवाक्यतासे कहें तो यह कह सकते हैं—

'भगवान् विष्णुकी संनिधि शालग्राममें है। इसी प्रकार ब्रह्मकी संनिधि सूर्यमण्डलमें है। या शालग्राम भगवान् विष्णुकी संनिधि तथा आदित्यमण्डल ब्रह्मकी संनिधि है।'

शालग्राम सूर्यमण्डलकी पूर्णोपमा है। क्योंकि सूर्यमण्डल और शालग्राम दोनों गोल हैं। सूर्यमण्डल तेजोमय तथा तेजका अन्तिम रूप कृष्णातर नील है तथा शालग्राम भी कृष्णातर नील है। सूर्य और शालग्राम दोनों व्यापक ब्रह्मकी सन्निधि हैं। ब्रह्मकी व्यापकता दिखानेके लिये 'विष्णु' शब्दसे व्यापक ब्रह्मका उल्लेख किया गया है।

दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कह सकते हैं कि उपासकोंके लिये शालग्रामकी पिण्डी सूर्यमण्डल है। वे इसीमें भगवान्की झाँकी पा सकते हैं। पर उपासना विधिपूर्वक यौगिक ढंगसे होनी चाहिये। भट्ट भास्करने कहा है—

सर्वगतस्य स्थानव्यपदेश उपासनार्थम्, यथा दहरे पुण्डरीके आदित्ये चक्षुषि च तिष्ठन् इति च तत्र तत्र संनिधानं दर्शयति।

'हृदय-कमल, आदित्य और चक्षुमें भगवान्की सन्निधिका उपदेश श्रुति देती है। अतः इन स्थानोंमें सर्वव्यापक भगवान्की संनिधि उपासकोंके लिये होती है।'

इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्र १। २। १४ में 'आदि' शब्द आया है, जिससे प्रतीत होता है कि—

उपासनार्थं नामरूपग्रहणमपि अस्य निर्दिश्यते।

'व्यापक सर्वेश उपासकोंके लिये सन्निधिमें संनिहित होते हैं—इतना ही नहीं, अपितु नाम और रूपका ग्रहण भी करते हैं; क्योंकि वहाँ उनका नाम और रूप भी निर्दिष्ट होता है।

सर्वव्यापक होते हुए भी वे सर्वेश नाम-रूपयुक्त होकर सन्निधिमें कैसे सन्निहित हो जाते हैं, इसका उत्तर श्रीभाष्यने दिया है—

सर्वगोऽपि भगवान् स्वमहिम्ना स्वासाधारणशक्तिमत्तया च उपासकस्वामपूरणाय चक्षुरादिस्थानेषु दृश्यो भवति।

'सर्वव्यापक होनेपर भी भगवान् अपनी असाधारण महिमा और शक्तिसे उपासकोंकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये बतायी हुई संनिधियोंमें दृष्टिगोचर हो जाते हैं।'

यहाँ आनन्द-भाष्यने—'भावनाप्रकर्षाद् भक्तैर्दृश्यमानत्वाद्' इतना और जोड़ दिया है। इसका अर्थ यह होता है कि भक्तजन भावनाके प्रकर्षसे उन्हें जैसे रूप और जिस स्थानमें देखना चाहते हैं, देख सकते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यके शिष्य श्रीनिवासाचार्यने कहा है कि "छा० उ० १। ६। ७-८ की श्रुतिमें 'पुरुषो दृश्यते' —पुरुष दीखता है, यह कहा गया है। इस कथनसे ब्रह्मके रूपका निर्देश हो जाता है। [illegible] है, भगवान् वहाँ [illegible] [illegible] रहते हैं—यह सूर्यमण्डलमें तेजोमय [illegible] [illegible] हो जाता है।"

ब्रह्मसूत्र १। १। २० के भाष्यमें [illegible] है—परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् [illegible] [illegible] साधकानुग्रहार्थम्।

'परमेश्वर भी साधकोंपर अनुग्रह करनेके लिये [illegible] इच्छासे इच्छामय विग्रह धारण करते हैं।'

ब्रह्म सूत्र ४। ३। ११ के श्रीभाष्यमें [illegible] भी कहा है—

ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य [illegible] कल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका न [illegible] सन्ति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात्।

'सर्वत परिपूर्ण सर्वव्यापक [illegible] परिकल्पित अप्राकृत वैकुण्ठादि लोक हैं, [illegible] स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें प्रतिपादन है।' [illegible] ३। १० के शांकरभाष्यमें भी आता है—

अतः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पद [illegible]।

'इसके अनन्तर [illegible] विष्णुके [illegible] परिवर्जित) परमपदको पा जाते हैं।'

इससे प्रतीत होता है कि [illegible] भी अवश्य है।

इस निरूपणसे सिद्ध होता है कि [illegible] इच्छासे भक्तोंकी प्रसन्नताके लिये [illegible] ग्रहण करते हैं। [illegible] मूल उपादान भगवान्की [illegible] मन्त्रों और श्रुतियोंमें इन लोकोंका भी [illegible]

यह लोक श्रीविष्णुके [illegible] वृन्दावन, [illegible] अयोध्या है। इनके अतिरिक्त [illegible] [illegible]

इन लोकोंमें नित्य [illegible] करते हैं। सृष्टि रचनेके [illegible] हैं। वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न [illegible] व्यूह हैं। इनमें पर और वासुदेव [illegible] कारण उपचारसे तीन ही व्यूह कहे [illegible] हैं। [illegible]

[illegible] प्रद्युम्न तथा [illegible] अधिपति [illegible] । ये चारों भगवान्के [illegible] हैं। [illegible] इन्हें [illegible] आदि भी कहते हैं।

[illegible] भगवान् [illegible] प्राप्तिपर ही मिल [illegible] । [illegible] प्राप्ति दिव्यशक्तिकी प्राप्तिपर [illegible] । [illegible] भी इनसे बहुत दूर हैं।

[illegible] पानेके लिये ज्ञानयोगकी परम सिद्धि [illegible] है। इन्हें भी पा लेना परम कठिन है।

[illegible] कारण भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं एवं भक्त-[illegible] पूर्ण कृपा करते हैं। सर्वत्र सबको प्राप्त होते हैं। गोपियाँ श्रीकृष्णको ब्रह्म समझती थीं। अर्जुन भी उन्हें जान [illegible] । भगवान् निम्बार्कने परब्रह्म परमात्माके पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्को ही वेदान्तवेद्य परब्रह्म परमात्मा माना है। उन्होंने वेदान्तकामधेनुमें ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार किया है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

'जिनमें स्वभावसे ही कोई दोष नहीं, जो सारे कल्याण-मय गुणोंकी एक महाराशि हैं, उन निर्दिष्ट व्यूहोंके अङ्गी परम [illegible] परब्रह्म कमलेक्षण श्रीकृष्णका मैं ध्यान करता हूँ।'

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

'उनके वाम अङ्गमें परम प्रसन्नताके साथ वैसे ही मनो-[illegible] लावण्यवाली वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजी सहस्रों सखियोंके साथ विराजमान रहती हैं। मैं उन्हीं देवीका स्मरण करता हूँ। वे ही मेरे सारे अभीष्टोंको पूर्ण करती हैं।'

यही नहीं, इनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रका भाष्य भी इसी प्रतिज्ञाके साथ चलता है कि 'मैं श्रीकृष्णमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका समन्वय करता हूँ।' गीताके भाष्यमें भगवान् शंकरने भी कहा है—

आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवांशेन कृष्णः किल सम्बभूव।

'सबके आदिकर्ता नारायण नामक भगवान् विष्णु भूमिदेव ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये देवकीके यहाँ वसुदेवसे कृष्णके रूपमें अवतरित हुए।'

ब्रह्मसूत्र ४।४।२२ के भाष्यमें रामानन्दाचार्यजीने कहा है—

न वाखिलवात्सल्यसौजन्यसौशील्यकारुण्य-जलधिर्भगवान् भक्तजनानुकम्पापरायणः परमपुरुषः श्रीरामचन्द्रः परमात्मा स्वानन्यभक्तं ज्ञानिनं स्वलोकमानीय कर्हिचिदप्यावर्तयिष्यति।

'भगवान् श्रीरामचन्द्र सदा ही भक्तोंपर कृपा रखते हैं। वे सम्पूर्ण वात्सल्य, सौजन्य, सौशील्य-कारुण्यके परिपूर्ण समुद्र हैं। अतः वे अपने अनन्योपासकको अपनी दिव्य अयोध्यामे निवास देकर फिर कभी वहाँसे नहीं हटाते।'

छान्दोग्य-उपनिषद्में 'कृष्णाय देवकीपुत्राय प्राह'—यह विषय मैंने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण भगवान्से कहा था, इस रूपमे देवकीपुत्र श्रीकृष्णका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके सिवा मुक्तिका, रामरहस्य, हंस, सीता, रामतापिनी, कृष्णतापिनी, वराह, हयग्रीव, दत्तात्रेय, नृसिंह आदि उपनिषद् अवतारोंकी कथाओंसे भरे पड़े हैं। वेदोंमें भी अवतारोंकी कथाओंका आभास मिलता रहता है।

यह सच है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

'जब-जब धर्मका ह्रास होता तथा अभिमानी विघातक तत्त्व बढ़ते हैं, तब-तब भक्तोंकी रक्षा करने एवं भूमिका भार उतारनेके लिये भगवान्का अवतार होता है।'

पर मधुरताके साथ सारे कार्य अवतारोंसे भी पूरे नहीं होते। इनके समयमें भी सब इन्हें सर्वेश नहीं समझ पाते।

इस कारण भगवान्को फिर सोचना पड़ा कि 'मैं विभव-अवतारसे भी जिस कामको पूरा नहीं कर सका, उसके लिये अब मुझे क्या करना चाहिये।'

परत्वव्यूहविभवैरपर्याप्तश्च संग्रहः।
अन्तर्यामी तदप्याहमर्चारूपेण तं लभे॥

'जो कार्य मैं पर, व्यूह और विभवरूपसे नहीं कर पाया, उसे अब अन्तर्यामी मैं अर्चावतारसे पूरा करूँगा।'

अर्चाका अर्थ है—पूजा-उपासना; इसके लिये होनेवाले अवतारका नाम अर्चावतार है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मूर्तियोंका ही दूसरा नाम 'अर्चावतार' है।

भक्तोंके परम उपजीव्य श्रीसीता-नाम

गण्डकी नदीमें भगवान् शालग्रामके रूपमें प्रकट हैं। श्रीरङ्गादि धामोंमें वेङ्कटेशादिके रूपमें अर्चावतारकी झाँकी स्पष्ट दिखायी देती है। इन दिव्य धामोंके अतिरिक्त व्रजमें भी अनेकों स्थल हैं, जहाँ उपासकोंने अपनी उपासनाके बलसे भगवान्‌को स्वयं प्रकट किया है। इस विषयमें बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, मेरे सप्तम पुरुष आदिगौड़ अहिवासीवंशोद्भव आहिताग्नि परमोपासक श्रीकल्याणदेवजीने अपनी उपासनाके बलसे बलदेवजीको स्वतः प्रकट किया था। व्रजके श्रीबलदाऊजीके मन्दिर एवं बलदेव ग्रामके आप ही आदि संस्थापक थे। स्वतः प्रकट प्रतिमाएँ भगवान्‌के स्वयं अर्चावतार हैं। वे किसीकी भी बनायी हुई नहीं होतीं। समयपर अपने भक्तोंको अपने प्राकट्यका निर्देश करती हैं। भक्त संकेतित स्थलपर जाकर खोदकर उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

सर्वलक्षणसम्पन्न मनोहर प्रतिमा उतने समयतक ही प्रतिमाके रूपमें परिलक्षित होती है, जबतक उपासक उसमें भगवान्‌की दृढ भावना नहीं कर पाता।

यही समय मूर्तिमें भगवद्भावके आरोपका अथवा मूर्तिमें भगवान्‌की पूजाका रहता है।

पर जब मूर्तिमें भगवान्‌के आरोपकी परिपूर्णता हो जाती है, तब फिर वह मूर्ति दारु-पाषाणमयी—जड नहीं रह जाती। वह तो अपने उपासकके लिये भगवान् हो जाती है।

भक्त उसे मूर्ति नहीं देखता, प्रत्युत अपना भगवान् देखता है। उसके सामने आरोप और आरोपितका भेद नहीं ठहर पाता। वह मूर्ति नहीं, किंतु सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् होते हैं।

स्वतःसम्भूत मूर्तियाँ यों ही नहीं मिल जातीं। ये उपासकोंके लिये ही प्रादुर्भूत होती हैं। अतः ये शीघ्र ही भगवान् भासने लगती हैं। इनकी उपासना शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है। इस कारण इन्हें प्रथम कोटिका 'अर्चावतार' स्वीकार किया जाता है। जहाँ ये प्रकट होती हैं, वे स्थल तीर्थस्थान हो जाया करते हैं।

कवि कृष्णजीने कह दिया—'आप सो जायँ' तो भगवान् स्वयं सो गये। मीराको देखते-देखते श्रीरणछोड़रायजीने अपने अदर लीन कर लिया। उपासिका मीराके लिये द्वारकाधीश निरी जड मूर्ति नहीं, स्वयं चिन्मय भगवान् थे। मीराकी इच्छामात्रसे उन्होंने उसे अपनेमें लय कर लिया।

दूसरी कोटि देवता और [illegible] होती है। इनमें भी विशेषताएँ हुआ करती हैं। [illegible] मानवोंके द्वारा निर्मित विधिपूर्वक प्रतिष्ठित [illegible] करता है। इन सबमें विशेषता [illegible] उपासकोंद्वारा की गयी उपासना [illegible] है, जो इन्हें ईश्वरकी विशेषताओंसे [illegible] बातको सोचकर—[illegible] मैक्समूलरने कहा था—[illegible] कि जिसने पत्थरको परमात्मा बना दिया।'

उपासना, भक्ति और ध्यान—[illegible] श्रुतिमें इन सबके स्थानपर [illegible] तो उपनिषदोंकी सभी श्रुतियाँ [illegible] द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य [illegible] मूल्यवती प्रतीत होती हैं [illegible] साधन बताये गये हैं। [illegible] शास्त्रोंसे भगवान्‌का स्वरूप, [illegible] फल, भक्ति-तत्त्व और उसके [illegible] जान लेना चाहिये।

योगभाष्यमें [illegible] गुणानुवाद सुननेपर यदि [illegible] और शरीरमें रोमाञ्च हो जाय [illegible] हृदयमें मोक्षके बीज विद्यमान हैं।'

श्रवण और [illegible] विषयक वार्ताको [illegible] विनयपूर्वक सुनना चाहिये।

रुक्मिणीने—श्रीकृष्णको [illegible] 'श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर। [illegible] करतीं हैं—[illegible] आपके गुणोंको सुना—[illegible] गये। [illegible] हुई हूँ।'

साधनाका प्रथम [illegible] आगे नहीं बढ़ सकता।

[illegible] विधिपूर्वक [illegible] उनके समीप नहीं। [illegible] माना है। उपदेश [illegible] वहीं महात्माका उपदेश [illegible]

तो भान नहीं होता कि किसको क्या उपदेश दे । प्रारम्भका शिक्षार्थी भी उपदेश देनेका अधिकारी नहीं होता ।

कबीर अनधिकारियोंको 'गुरुआ' कहा करते थे । गुरु नहीं मानते थे । हाँ तो वे कभी-कभी यह भी कह दिया करते थे कि—

जो जो मिला सो गुरु मिला, चेला मिला न कोय ।

'मुझे सब गुरु ही मिले । अबतक शिष्य कोई नहीं मिला ।' क्योंकि श्रद्धाके साथ सुनने और सुनी हुई बातको जीवनमें उतारने, काममें लानेवाले व्यक्ति मिलने कठिन होते हैं ।

भगवत्तत्त्व क्या है? मूर्ति कैसे भगवान् हो जाती है ? कहाँतक मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा हो सकती है ? भक्ति-तत्त्व वास्तविक रूपमें क्या है ? ये सारी चीजें सुनने और समझनेकी हुआ करती हैं । सायणाचार्यने भी एक स्थलपर कहा है कि जगत्, जीव और परमात्माके विषयमें श्रवण और विचार सदा होना चाहिये । किसी भी परमार्थ-सम्बन्धी निरूपणसे श्रोताको ही लाभ होता हो—यह बात नहीं है, अपितु वक्ताको भी लाभ पहुँचता है । याज्ञवल्क्य जनकसे त्याग-वैराग्यकी बात कहते-कहते स्वयं सर्वत्यागी हो गये थे ।

मननका अर्थ निम्बार्कने 'निरन्तर चिन्तन' किया है । वे कहते हैं—'मननं नाम निरन्तरं चिन्तनम्', अखण्ड चिन्तनका नाम ही मनन है । यह भगवान्‌की ओर जानेके लिये प्रथम सोपान है । इसमें अखण्ड स्मृति साधिका है; यही कारण है कि भगवान् सनत्कुमारने श्रीनारदसे कहा है—'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७ । २६ । २) 'अखण्ड एवं अचल स्मृतिकी प्राप्ति हो जानेपर जीवकी सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं ।' तभी ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४ के श्रीभाष्यमें श्रीरामानुजाचार्यने कहा है—'चिन्तनं च स्मृतिसंततिरूपं न (तु) स्मृतिमात्रम् ।' 'भगवान्‌का निरन्तर स्मरण बना रहना चाहिये । कभी-कभी एवं किसी प्रकार स्मरण कर लेना चिन्तन नहीं कहलाता ।'

यह चिन्तन वह स्मृति है, जिसके उद्भासित या उद्बुद्ध होते ही सारी दुनिया भूल जाती है, यह भी ध्यान नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ;' क्योंकि चित्तमें केवल ध्यानवस्तु ही रह जाती है, अन्य व्यापारोंसे वृत्तियाँ विरत हो जाती हैं ।

इसी बातको उर्दूके एक कविने किसी अनन्य-स्मृतिशीलसे कहा है—

जो उस गुल पै कहीं तबियत तेरी आई होती ।
बागे आलमकी ना आँखोंमें समाई होती ॥

'जो उस अद्वितीय पुष्पपर तेरा मन चल गया होता तो फिर इस दुनियाकी बहारके लिये तेरी आँखोंमें कोई जगह न रह जाती ।'

क्योंकि उनकी स्मृतिमें गाफिलको और तो क्या, अपनी स्मृति भी नहीं रहती । 'सोऽहम्' की प्रत्यभिज्ञा भी चली जाती है ।

तेरी ही यादमें हैं गाफिल प खालिक खल्क ।
पूछने गैरसे हम अपनी खबर जाते हैं ॥

कोई अनन्य स्मरणशील व्यक्ति भगवान्‌से भी कह उठा कि 'तेरी यादमें मैं इतना तल्लीन हूँ कि अब मैं अपना ही समाचार पूछने दूसरेके घर जाता हूँ ।'

भले ही ये पूछने जायँ; फिर भी 'मैं कौन हूँ' यह भेद वही बतला सकता है, जो उनका बन चुका है ।

कविवर विहारीजीके यहाँ तो—

जब जब वै सुधि कीजियै,
तब तब सब सुधि जाहिं ।

'जब कभी भी उनकी याद आ जाती है, अन्य सारी यादें उसके आते ही चली जाती हैं ।' दिलपर हजेदीगर होनेपर हज पूरी नहीं होती । इसीका नाम अनन्यस्मृति है । यह मननका ही एक रूप है ।

निदिध्यासन ध्यानको कहते हैं । आचार्य मध्वने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें 'निदिध्यासन' शब्दका सीधा ध्यान अर्थ किया है । आनन्दभाष्यने बारंबारके ध्यानको निदिध्यासन माना है । निम्बार्कने बताया है कि भगवान्‌के साक्षात्कारका असाधारण कारण निदिध्यासन (ध्यान) है ।

ध्यान—योगसूत्रमें ध्यानकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'—धारणाके स्थलोंमें ध्येयका आलम्बन रखनेवाली वृत्तिका प्रवाह, तेलकी धाराके समान निरन्तर चलता रहे, ध्येयसे इतर किसीका भी आलम्बन करनेवाली वृत्तिके साथ टकराकर ध्येयसे हट न जाय, तब वह 'ध्यान' कहाता है ।

'निदिध्यासन' ध्यान, ज्ञान, पराभक्ति और अचल स्मृतिका ही एक पर्याय है—ऐसी बात 'वेदान्त-कौस्तुभ' भाष्यमें कही गयी है । भाष्यकारका यह भी कहना है कि स्वयं व्यासजीने 'निदिध्यासन' शब्द इन्हींके पर्यायरूपमें प्रयुक्त किया है ।

इस विषयमें श्रीशंकराचार्यजीने भी इनका साथ दिया है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र १।१।४ के भाष्यमें लिखा है—

विदि-उपास्त्योश्च अव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते······ ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम् इति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सा एवम् अभिधीयते।

'वेदन (ज्ञान) और उपासन दोनोंका एक ही अर्थमें प्रयोग दीखता है। प्रोषितपतिका (पतिवियोगिनी) स्त्री पतिका ध्यान करती है, यह प्रयोग उसी पतिप्राणाके विषयमें हो सकता है, जो अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर पतिका स्मरण करती है।' यही बात उपासनामें भी होती है। अतः ध्यान, वेदन, उपासन, पराभक्ति, ज्ञान, ध्रुवा स्मृति—इन शब्दोंका एक ही अर्थ है।

श्रीशंकराचार्यके द्वारा 'प्रोषितपतिका'का उल्लेख यहाँ विशेष अभिप्राय रखता है। ध्यान कैसे और क्या होता है, यह वियोगिनीको देखनेपर सीधे समझमें आ जाता है। उसे सिवा अपने प्रियतमके स्मरणके दूसरे किसी भी पदार्थका भान नहीं रहता।

शकुन्तलाको यदि कुछ भी संसारका अनुसंधान रहा होता तो वह महातपस्वी दुर्वासाकी कभी उपेक्षा नहीं करती। दुर्वासा अपने तपके माहात्म्यसे जान गये थे कि यह अनन्य मनसे अपने प्रेष्ठका चिन्तन कर रही है। ऋषिने अपनी शक्तिसे दुष्यन्तके हृदयपर विस्मृतिकी यवनिका डालकर शकुन्तलाकी मूर्तिको तिरोहित कर दिया, पर सदाके लिये नहीं।

वियोगमें अपार शक्ति है—हठयोगकी सारी शक्तियाँ यह अपने साधकको क्षणभरमें प्रदान कर देता है।

देइ गति योगिनि की छिन में वियोगिनि को,
बिरह महंत की अनोखी यह बान है।

यही कारण है कि शंकर प्रोषितपतिकाओंको उपासनाके दृष्टान्तरूपमें अपने भाष्यमें उपस्थित कर रहे हैं।

अन्य कोई स्मारक हो या न हो, प्रेमी या उपासकको इसकी कोई अपेक्षा नहीं होती। नामश्रवण ही उसके लिये पर्याप्त है। गोपियोंके कानमें जहाँ कृष्णका नाम गया कि वे—

सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूलीं।
भरि आनँद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूलीं॥
पुलक रोम सब अंग भए, भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा बोल्यौ जात न बैन॥
बिवस्था प्रेम की॥

''कृष्ण' शब्द कानमें [illegible] घर-द्वार सब कुछ भूल गयीं। [illegible] के साक्षात्कारका ही आनन्द [illegible] मूर्तिमान् होकर प्रेमकी [illegible] उसपर पूर्णरूपसे छा गया। [illegible] आँखोंमें पानी उमड़ आया। [illegible] एक भी शब्द वे न बोल सकीं।'

यह है विरहिणियोंपर [illegible] भला, संन्यासी होकर भी [illegible]।

ध्यानकी वास्तविक प्रक्रिया [illegible] तन्मयतासे मिलती है। वे जो कुछ भी [illegible] मय ही देखते-सुनते हैं—[illegible] इतनी बढ़ जाती है कि—

[illegible]

ध्याता और ध्येयमें कोई [illegible] तभी श्रीकृष्ण [illegible] कह सकते हैं—

[illegible]

[illegible]! मुझमें और उन (गोपियों)में [illegible] नहीं रह गया है। [illegible] मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

श्रीकृष्ण और गोपियोंको एक [illegible] एक ऐसी वस्तु है, जहाँ भावनासे ही [illegible] प्रत्युत सारे विश्वके सारे धर्मोंमें सभी उपासक [illegible] हैं। पूर्व या पश्चिम, उत्तर [illegible] भी भगवान्‌को पाया है। [illegible] परम साधन है। इसमें [illegible] नहीं हो सकता।

श्रवण शब्दोंका ही [illegible] शब्द चाहिये, जो [illegible] शब्द ओंकारसे [illegible]

अनेक उपनिषदोंमें [illegible] आलम्बन माना है। [illegible] [illegible] है।

[illegible] —'[illegible]।' [illegible] भगवान्‌का वाचक [illegible] है।'

भगवान्‌के आज अनेकों नाम [illegible]

[illegible] ॐ [illegible] है। इस [illegible] भगवान्‌के नामोंमें [illegible] है।

[illegible] जानेपर— [illegible] क्योंकि महर्षि पतञ्जलि योगियोंको [illegible] है—'ईश्वरप्रणिधानाद् वा।' (१ । २३) 'ईश्वरके प्रणिधान (भक्ति) से [illegible] प्राप्त हो जाती है, जो [illegible]।'

[illegible] कृष्णद्वैपायनने भक्तिविशेष किया है। [illegible] 'ॐ' के जपके साथ ब्रह्मके ध्यानको प्रणिधान कहते हैं—प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्।'

क्योंकि 'प्रणवस्मरणेन सह यस्य सार्वज्ञ्यादिगुण-युक्तस्य ईश्वरस्य स्मृतिरुपतिष्ठते।' प्रणवके स्मरणपूर्वक जपके साथ ही सर्वज्ञत्वादिक गुणोंसे युक्त ईश्वरकी स्मृति हो आती है।'

अतः स्मरणयुक्त प्रणवका जप करते हुए प्रणवके अर्थरूप भगवान्‌का स्मरण करते हैं—केवल स्मरण ही नहीं अपितु उन्हें बारबार चित्तमें स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं करते, अपने सारे कर्मोंके फलोंको भी भगवान्‌की भेंट कर देते हैं।

ब्रह्मको अपनी आत्माका आत्मा माननेवाले हृदय-कमलमें स्थित जीवके भीतर अन्तर्यामीके रूपमें भगवान्‌का ध्यान करते हैं। आत्माको ब्रह्म अथवा आत्मामें ब्रह्म या ब्रह्मको अपने आत्माका परम प्रिय मानकर भी ध्यान किया जाता है। इसमें अनुरक्ति परम ऐकाग्र्य-सम्पादन करती है।

भगवान् शालग्रामपर निर्निमेष एकाग्र-दृष्टि रखकर प्राणकी गतिके साथ ॐ का जप और भगवान्‌का ध्यान शीघ्र ही शिलाको सर्वेशके रूपमें झलका देते हैं।

मूर्तियोंपर इसी प्रकार ध्यान करनेसे ये भी उपासनाके बलसे उपासकोंके लिये भगवान् बन जाती हैं।

अव्यक्त भगवान् भी उपासनासे भक्तकी इच्छाके अनुसार व्यक्त होते हैं। ब्र० सू० ३ । २ । २४ में प्रणिधानको संराधनके नामसे भी स्मरण किया गया है। विज्ञान-भिक्षु भगवान्‌के सम्यग्-आराधनका साधन श्रवण, मनन, धारणा, ध्यान और समाधिको मानते हैं। यही तात्पर्य शंकरका है।

भगवान् रामानुजने स्पष्ट कह दिया है कि भक्तिरूप संराधन भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर देता है।

सत्य है—भगवान् अपनी संनिधिमें भी व्यापक हैं। जब भक्त अपनी अविचल भक्तिकी शक्तिसे भगवान्‌को प्रकट करना चाहते हैं, भगवान्‌की मूर्ति उसी समय भगवान् हो जाती है। निराकार भी साकार एवं व्यापक भी एकदेशस्थित बन जाता है।

भगवान्‌की चरण-धूलिका महत्त्व

नागपत्नियाँ कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३७)

'प्रभो! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणोंकी धूलि! जो इस परम दुर्लभ धूलिकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके मनमें सागर-समन्वित सम्पूर्ण धराका आधिपत्य पा लेनेकी इच्छा नहीं होती। इसकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट, जरा आदि दोषोंसे रहित देहके द्वारा एक मन्वन्तर-कालपर्यन्त भोगने योग्य स्वर्गसुखकी भी कामना उन्हें नहीं होती। इससे भी अत्यधिक मात्रामें लोभनीय एवं विघ्न-बाधाशून्य पातालसुख—पाताललोकका आधिपत्य भी उन्हें आकर्षित नहीं करता। इस सुखसे भी अत्यधिक महान् ब्रह्मपदको पा लेनेकी वासना भी उनमें कभी नहीं जागती। ब्रह्मपदसे भी श्रेष्ठ योगसिद्धियोंकी ओर भी उनका मन नहीं जाता। इससे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्युविहीन मोक्षपदतककी इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती। यह है तुम्हारी चरणरजकी शरणमें चले आनेका परिणाम, प्रभो!'

भक्ति और मूर्तिमें भगवत्पूजन

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' [illegible])

श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अनन्य भावसे अपने इष्टदेवके पाद-पद्मोंमें हृदयकी आसक्तिको ही 'भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति तामसी, राजसी, सात्त्विकी, निर्गुणा—इन भेदोंसे चार प्रकारकी होती है। चारों भक्तियोंमें तामसी-राजसी भक्ति करनेवाले भक्त तो शत्रुनाश, राज्यलाभ आदिकी कामनासे तामस-राजस देवोंका आराधन करके उनसे अभीष्ट फल प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, और अपने उद्धारक परमेश्वरसे विमुख बने रहते हैं। ऐसे भक्तोंका प्रयास किसी प्रकार सफल हो जानेपर भी वे वस्तुतः कोरे ही रह जाते हैं। सात्त्विकी भक्ति सकाम-निष्काम भेदसे दो प्रकारकी होती है। इन दोनों प्रकारकी भक्तियोंको करनेवाले भक्त निष्कपट भावसे अपने प्रियतम परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं, अन्य देवी-देवोंको अपने प्रभुकी ही विभूतियाँ समझकर उन सबका उन्हींमें अन्तर्भाव मानते हैं। सकाम सात्त्विकी भक्ति करने-वाले भक्त वैकुण्ठ-लोकादिकी प्राप्तिको लक्ष्यमें रखकर अपने प्रभुको रिझाते और उनसे अभीष्ट फल पाकर कृतार्थ होते रहते हैं। ऐसे भक्त कुछ विलम्बसे मुक्तिके भागी होते हैं। निष्काम सात्त्विकी भक्तिकी महिमा तो वर्णनातीत है। यह भक्ति तो उन्हीं महाभागोंके हृदयमें अङ्कुरित होती है, जिनका अनेकों जन्मोंका पुण्यफल सञ्चित है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन—इन नौ विभागोंमें यह भक्ति विभक्त रहा करती है। इसी भक्तिमें यह शक्ति है कि प्रभुको भक्तके अधीन बना दे। इसी भक्तिकी प्रशंसामें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा है कि 'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप पाठ और तप-त्याग मेरी प्राप्ति उतनी सुगमतासे नहीं करा सकते जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति।

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

श्रीभगवान्‌का यह भी कहना है कि 'मैं सज्जनोंका प्रिय आत्मा हूँ, मैं केवल श्रद्धापूर्वक की हुई भक्तिसे ही ग्रहण किया जा सकता हूँ। मेरी भक्ति करनेवाले भक्त यदि जन्मसे चाण्डाल भी हों, तो भी मेरी भक्ति उन्हें पवित्र कर देती है—'

> भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः [illegible]।
> भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि [illegible]॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।[illegible])

उन्हीं प्रभुने यह भी कहा है कि '[illegible] और तपोयुक्त विद्या मेरी भक्तिसे हीन [illegible] पवित्र नहीं कर पाते, यह निश्चित है'

> धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
> मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।[illegible])

भक्तवत्सल श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि [illegible] बिना, चित्तके द्रवीभूत हुए बिना [illegible] बहाये बिना, साथ ही मेरी भक्तिके बिना [illegible] करणकी शुद्धि कैसे हो सकती है।'

> कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
> विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।[illegible])

पुनः भगवान् निष्काम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले [illegible] भक्तकी महत्ताका वर्णन करते हुए कहते हैं कि [illegible] वाणीके साथ-साथ जिसका चित्त द्रवित हो [illegible] जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी [illegible] स्वरसे गाता है और नाचने लगता है—[illegible] त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।[illegible])

'जिस प्रकार अग्नि [illegible] देता है और फिर अपने शुद्ध [illegible] उसी प्रकार आत्मा ([illegible]) [illegible] मलको त्यागकर [illegible]

> यथाग्निना हेम मलं जहाति
> ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।

आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २५)

इस प्रकार सात्त्विकी भक्तियोंमें वैसे तो कोई भी कम नहीं है, पर उन सबमें श्रवण एवं कीर्तनकी बड़ी महत्ता है, जिसे भगवान् उद्धवजीसे स्पष्ट इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—'मेरी पवित्र गाथाओंके श्रवणरूप व्यापारोंसे जैसे-जैसे अन्तःकरण परिमार्जित होता जाता है, वैसे-वैसे वह सूक्ष्म वस्तु (परमतत्त्व) को देखने लगता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अञ्जनके प्रयोगसे नेत्र सूक्ष्म वस्तुएँ देखने लगता है।'

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २६)

'समस्त भुवनके मध्य वे निर्धन मनुष्य भी धन्य हैं, जिनके हृदयोंमें एक भगवान्की ही भक्ति निवास किया करती है; क्योंकि भक्तिसूत्रमें बँधे हुए श्रीभगवान् सब भाँति अपना वैकुण्ठलोक भी छोड़कर उन निर्धन भक्तोंके हृदयोंमें समा जाया करते हैं।'

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥
(पद्मपु० उ० ख०)

जिस निष्काम सात्त्विकी भक्तिका हम वर्णन कर रहे हैं, उस भक्तिके धारण करनेवाले भक्त किसी प्रकारका लोभ नहीं करते। वे अपने प्रभुकी सेवाके अतिरिक्त अपने प्रभुकी दी हुई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व (सायुज्य)—ये पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भी ग्रहण नहीं करते, अन्य विभवों-की तो बात ही क्या। उनके इस त्यागकी बात स्वयं भगवान् कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिसे कही है, जिसे पूर्ण प्रमाण समझना चाहिये—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

ये भक्त विचारते हैं कि 'यदि हम सालोक्य और सामीप्य मुक्तियाँ अङ्गीकार कर लेंगे तो निरन्तर हमारा उनका एक ही लोकमें अथवा समीप-समीप निवास होगा। ऐसी दशामें हम उनकी उस लगनके साथ सेवा न कर पायेंगे, जैसी उनके विरहमें व्यथित होकर प्रतिदिन अश्रुपात करते हुए किया करते हैं। यदि सार्ष्टि-मुक्ति ग्रहण कर लेंगे तो हमारा उनका विभवसे साम्य हो जायगा, जिससे हम सदाकी भाँति दासभावसे उनकी सेवा न कर पायेंगे। सारूप्य मुक्तिके अङ्गीकार करनेपर स्वामी-सेवकका रूप-साम्य हो जायगा। वैसी अवस्थामें भी हम उनकी यथोचित सेवा न कर सकेंगे; क्योंकि जबतक हमारे उनके रूपमें विषमता है, तभीतक हम उनकी रूप-माधुरीपर विमुग्ध हैं और उसकी पिपासामें निरन्तर दर्शनाभिलाषी बने रहते हैं। रूपकी समता हो जानेपर सम्भव है, दर्शनोंका यह चाव न रह जाय। यदि एकत्व (सायुज्य)-मुक्ति ग्रहण कर लेते हैं, तब तो अपने स्वामीकी सेवासे सर्वदाके लिये वञ्चित हो जायँगे; क्योंकि इस मुक्तिके पाते ही हम प्रभुमें समा जायँगे और हमारा अस्तित्व ही मिट जायगा। जब, हम सेवा करनेवाले ही नहीं रह जायँगे तब सेवा कैसे कर सकेंगे।' इन्हीं विचारोंसे वे निष्काम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले भक्त पाँचों प्रकारकी मुक्तियाँ देनेपर भी ग्रहण नहीं करते।

त्यागकी वृत्ति रखनेवाले इन भक्तोंकी वह निष्काम सात्त्विकी भक्ति शनैः-शनैः निर्गुणरूप धारण कर लेती है और ज्ञान-वैराग्यकी जननी बनकर आत्मजनित ज्ञान-वैराग्यनामक पुत्रोंको उन भक्तोंका सहायक बना देती है। इन सच्चे सहायकोंकी अनुकम्पासे उक्त भक्तोंको ज्ञेय परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है और असार संसारसे विरक्ति होने लगती है। यही निर्गुणा भक्ति 'आत्यन्तिक भक्तियोग' के नामसे स्वीकृत की गयी है। कपिल भगवान् अपनी मातासे कहते हैं कि 'इसी आत्यन्तिक भक्तियोगके द्वारा भक्त तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके हमारे भावको प्राप्त हो जाता है।'

अर्थात् निर्गुणा भक्ति भक्तको भी निर्गुण बना देती है और वह विदिततत्त्व होकर परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। उसे उस परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिसके समक्ष कोई प्राप्य विषय अवशिष्ट नहीं रह जाता।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १४)

करके खोजा जाय तो वह मिल सकता है। यही निश्चितकर उन सूक्ष्मबुद्धि महर्षियोंने स्थूल बुद्धिवाले भक्तोंको मूर्तिमें ईश्वरकी आस्था करा दी थी। मूर्तिमें आस्था कर लेनेके पश्चात् वे जब श्रद्धापूर्वक मूर्ति-पूजन करने लगे, तब उनके हृदयोंमें शनैः-शनैः मूर्तिके प्रति, वैसा ही अनुराग हो गया, जैसा किसी अपने प्रिय सम्बन्धीके प्रति हुआ करता है। जब वे भगवन्मूर्तिपर विमुग्ध होकर ईश्वरभावसे उसकी पूजामें संलग्न हो गये, तब उन्हें मूर्तिमें ही अपने प्रभुके शुभ दर्शन हो गये। उनकी देखा-देखी जब अन्य भक्त भी मूर्ति-पूजन करने लगे, तब पूर्णरूपसे मूर्ति-पूजनका प्रचार हो गया।

मूर्ति-पूजनसे ईश्वरका ज्ञान उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार छोटे बच्चेको अक्षर-बोध कराते समय उलटी लेखनीसे अक्षरोंका प्रतिबिम्ब बनाकर उसपर उससे लिखवाया जाता है और धीरे-धीरे उसे अक्षरोंका ज्ञान हो जाता है। फिर वह सरलतासे अक्षर लिखने लगता है। मूर्तिमें भगवत्पूजन करनेवाले भक्तोंको भी उसी परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है, जो पूर्ववर्णित सद्भक्तोंको प्राप्त होती है। सच्चा भाव होना चाहिये। मूर्ति शैली, दारुमयी, लौही, लेप्या, लेख्या, सैकती, मनोमयी और मणिमयी—इन भेदोंसे आठ प्रकारकी होती है। आठों प्रकारकी मूर्तियोंके चला-अचला, ये दो भेद और हैं। चला मूर्तियाँ वे हैं, जो पिटारी आदिमें रखकर सर्वत्र ले जायी जा सकती है। उनमें आवाहन-विसर्जनके साथ, अथवा आवाहन-विसर्जनके बिना, दोनों प्रकारसे पूजा की जा सकती है। अचला मूर्तियाँ वे हैं, जिनमें इष्टदेवका आवाहन और प्राण-प्रतिष्ठा करके उन्हें किसी मन्दिरमें स्थापित किया जाता है। उनकी पूजामें आवाहन-विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। भगवद्भक्तोंका मूर्ति-पूजन देखकर अन्य देवोंके उपासकोंने भी मूर्ति-पूजनकी रीति स्वीकृत की थी। वास्तवमें अनन्यभावसे देखिये तो अन्य देवी-देव भी ब्रह्मके ही रूप हैं। मूर्तिमें भगवान्की आस्था रखनेवाले भक्तोंके समक्ष भगवान् कैसे प्रकट हो जाते हैं, इस विषयमें हम कुछ उदाहरण दे रहे हैं।

एक महात्मा एक दिन अपने एक ब्राह्मण शिष्यके घर पहुँचे। दैवयोगसे उन्हें वहाँ कई दिन रहना पड़ गया। महात्माजीके पास कुछ शालग्रामजीकी मूर्तियाँ थीं। उनके शिष्य ब्राह्मणकी एक अबोध बालिका प्रतिदिन महात्माजीके समीप बैठकर उनकी पूजा देखा करती थी। एक दिन कन्याने महात्माजीसे पूछा कि—'बाबाजी! आप किसकी पूजा करते हैं?' महात्माजीने कन्याको अबोध समझकर हँसी-हँसीमें उससे कह दिया कि—'हम सिलपिले भगवान्की पूजा करते हैं।' कन्याने पूछा कि 'बाबाजी! सिलपिले भगवान्की पूजा करनेसे क्या लाभ है?' महात्माजीने कहा, सिलपिले भगवान्की पूजा करनेसे मनचाहा फल प्राप्त हो सकता है।' कन्याने कहा—'तो बाबाजी! मुझे भी एक सिलपिले भगवान् दे दीजियेगा, मैं भी आपकी भाँति उनकी पूजा किया करूँगी।' महात्माजीने उसका सच्चा अनुराग देखकर उसे एक शालग्रामजीकी मूर्ति दे दी और पूजनका विधान भी बतला दिया। महात्माजी तो विदा हो गये। कन्या परमविश्वास तथा सच्ची लगनके साथ अपने 'सिलपिले भगवान्'की पूजा करने लगी। वह अबोध बालिका अपने उन इष्टदेवके अनुराग-रंगमें ऐसी रँग गयी कि उनका क्षणभरका वियोग उसे असह्य होने लगा। वह कुछ भी खाती-पीती, अपने उन इष्टदेवका भोग लगाये बिना नहीं खाती-पीती। वयस्क हो जानेपर जब कन्याका विवाह हुआ, तब दुर्भाग्यसे उस बेचारीको ऐसे पतिदेव मिले, जो प्रकृत्या हरिविमुख थे। कन्या अपने 'सिलपिले भगवान्'को ससुराल जाते समय साथ ही ले गयी थी। एक दिन उसके पतिदेवने पूजा करते समय उससे पूछा कि 'तू किसकी पूजा करती है?' उसने कहा, "मैं सारी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेवाले अपने 'सिलपिले भगवान्' की पूजा करती हूँ।" पतिदेवने कहा—'ढकोसले कर रही है?' यह कहकर उस मूर्तिको उठा लिया और बोले कि 'इसे नदीमें डाल दूँगा।' कन्याने बहुत अनुनय-विनयके साथ कहा—'स्वामिन्! ऐसा न कीजियेगा।' किंतु स्वामी तो स्वभावतः दुष्ट ठहरे; भला, वे कब मानने लगे। वह बेचारी साथ-ही-साथ रोती चली गयी, किंतु उन प्रकृत्या हरिविमुख पतिदेवने सचमुच उस मूर्तिको नदीमें फेंक दिया। कन्या उसी समयसे अपने सिलपिले भगवान्के विरहमें दीवानी हो गयी। उसे अपने इष्टदेवके बिना सारा संसार शून्य जँचने लगा। उसका खाना-पीना-सोना सब भूल गया। लज्जा छोड़कर वह निरन्तर रटने लगी—'मेरे सिलपिले भगवन्! मुझ दासीको छोड़कर कहाँ चले गये, शीघ्र दर्शन दो; नहीं तो दासीके प्राण जा रहे हैं। आपका वियोग असह्य है।'

एक दिन वह अपने उक्त भगवान्के विरहमें उसी नदीमें डूबनेपर तुल गयी। लोगोंने उसे बहुत कुछ समझाया, किंतु उसने एक न सुनी। वह पागल-सी बनी नदीके किनारे पहुँच गयी। उसने बड़े ऊँचे स्वरसे पुकारा—'मेरे प्राणप्यारे सिलपिले

भगवन्! शीघ्र बाहर आकर दर्शन दो, नहीं तो दासीका प्राणान्त होने जा रहा है।' इस करुण पुकारके साथ ही एक अद्भुत शब्द हुआ कि 'मैं आ रहा हूँ।' फिर उस कन्याके समक्ष वही शालग्रामजीकी मूर्ति उपस्थित हो गयी। जब वह मूर्तिको उठाकर हृदयसे लगाने लगी, तब उसी मूर्तिके अंदरसे चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हो गये, जिनके दिव्य तेजसे अन्य दर्शकोंकी आँखें झप गयीं। इतनेमें एक प्रकाशमान गरुडध्वज विमान आया, भगवान् अपनी उस सच्ची भक्ताको उसीमें बिठलाकर वैकुण्ठ धामको लिये चले गये। उसके वे हरिविमुख पतिदेव आँखें फाड़ते हुए रह गये।

मूर्तिमें सच्चे भावसे भगवत्पूजन करनेपर भगवान् कैसे प्रकट हो जाते हैं और भक्तका समर्पित किया हुआ नैवेद्य किस प्रकार ग्रहण करते हैं—इसका एक उदाहरण नीचे देते हैं।

एक महात्माजीने एक लक्ष्मी-नारायणका मन्दिर बनवाया था, जिसमें लक्ष्मी-नारायणके सिवा अन्य देवोंकी भी मूर्तियाँ स्थापित थीं। महात्माजीने एक अबोध बालकको चेला भी बना रखा था, जो मन्दिरकी सफाई और पूजन-पात्रोंका मार्जन आदि किया करता था। वह कभी-कभी महात्माजीसे उन देव-मूर्तियोंके विषयमें पूछा करता था कि 'गुरुजी! वे कौन हैं और ये कौन हैं?' महात्माजी लक्ष्मी-नारायणकी ओर संकेत करके उसे समझा देते थे कि 'ये लक्ष्मी-नारायण हैं, ये ही दोनों जने मन्दिरके स्वामी हैं।' तथा अन्य देवोंके नाम बतलाकर उन सबको लक्ष्मी-नारायणके सेवक आदि बतला दिया करते थे। सरलहृदय बालकके हृदयमें महात्माजीके कथनानुसार ही मन्दिरस्थ देवी-देवताओंके प्रति निष्ठा हो गयी थी, जो निष्ठा तरुण हो जानेपर भी उसके हृदयस्थलका परित्याग नहीं कर पायी। एक बार महात्माजी एक मासके लिये तीर्थयात्री बन गये। चलते समय मन्दिरका भार उसी चेलेपर छोड़ गये। वे उससे कह गये कि 'बेटा! प्रतिदिन लक्ष्मी-नारायण आदि देवी-देवताओंकी धूप आदिके द्वारा पूजा करना और पवित्र भोजन बनाकर सबको भोग लगाना।' महात्माजीके चले जानेपर उस चेलेने उनके कथनानुसार लक्ष्मी-नारायण आदिकी प्रेमके साथ पूजा की और भोजन बनाकर वह पहले लक्ष्मी-नारायणके सामने ले गया। आँखें मूँदकर घंटी बजाने लगा और बोला—'भोजन कीजिये। आप दोनों जने मन्दिर-के स्वामी हैं; अतः प्रथम आपका भोजन हो जाना आवश्यक है, पश्चात् अन्य देवी-देवताओंको भोग लगाऊँगा।' चेला बहुत देर-तक खड़ा रहा, किंतु उन्होंने भोजन नहीं [illegible] विचार किया कि 'मुझसे कोई [illegible] हो गया है, [illegible] स्वामिनी-स्वामीजी रूठ गये हैं।' [illegible] शायद धूप देते समय स्वामिनी-स्वामीजी [illegible] धुआँ पहले नहीं पहुँचा, अन्य देवी-देवताओं [illegible] गया, इसीलिये ये रुष्ट हो गये [illegible] और [illegible] उसने लक्ष्मी-नारायणके अतिरिक्त अन्य [illegible] ताओंमें रूई लगा दी और [illegible] विधिपूर्वक लक्ष्मी-नारायणके समक्ष धूप [illegible] नारोंमें रूई [illegible] फिर लक्ष्मी-नारायणके समक्ष भोजन [illegible] तो कोई त्रुटि है नहीं, [illegible] भोजन [illegible] नारायणने फिर भी भोजन नहीं किया। [illegible] 'होन हो भोजन बनानेमें ही कोई त्रुटि रह गयी है। [illegible] भोजन नहीं करते।' [illegible] पवित्रताके साथ भोजन [illegible] लक्ष्मी-नारायणने फिर भी भोजन नहीं किया। [illegible] उठा लाया और उनसे [illegible] कहने लगा—'अबकी कोई त्रुटि नहीं हो [illegible] करना हो तो सीधे-सीधे करो; अन्यथा मैं [illegible] देता हूँ।' उस चेलेकी अनन्य [illegible] रूपमें श्रीलक्ष्मी-नारायण भोजन करने लगे। [illegible] भोजन करानेका सरल उपाय [illegible] हो गया। [illegible] देवताके समक्ष भोजन रखना, उसके [illegible] हो जाता और कहता कि 'भोजन करो [illegible] जड़वाओगे।' उसकी बात सुनकर [illegible] रूपमें ही भोजन करने लगा था। [illegible] प्रतिदिन उसका लड्डेसे ही [illegible] सारी मूर्तियाँ प्रतिदिन भोजन करने [illegible] भोजन-सामग्रीकी आवश्यकता [illegible] कुछ सामान [illegible] गया। जब [illegible] पहले उधार [illegible] पश्चात् जब महात्माजी [illegible] बेटा! लक्ष्मी-नारायण आदि [illegible] न?' उसने कहा कि [illegible] पायी है, [illegible] कीजिये, तब मैं [illegible]

[illegible] इतनी सामग्री ला गये थे, जो आठ ही दिनोंमें समाप्त हो गयी। दूकानदारके [illegible] अधिक सामग्री [illegible] नहीं है।' महात्माने बिगड़कर कहा कि 'मैं जो सामग्री ला गया था, वह किसने खा डाली?' चेलेने कहा, 'गुरुजी! क्या यह भी पूछोगे? आपने जो इतनी [illegible] पाल रखी है, आखिर अबतक इसने क्या खाया है? मुझे प्रतिदिन बीस सेर आँटा सेंकना पड़ता था; जो कष्ट मुझे भोगना पड़ा है, वह मैं ही जानता हूँ।' महात्माजी बिगड़ पड़े और कहने लगे—'क्यों झूठ बकता है! कहीं देवी-देवता भोजन करते हैं; वे तो केवल सुगन्ध लिया करते हैं। तूने दूकानसे मिठाई ले-लेकर खायी होगी। मैं तेरी बात नहीं मान सकता। अच्छा, तू भोजन बनाकर दे; मैं देवी-देवताओंको भोग लगाकर देखूँ कि वे खाते हैं या नहीं।' चेला भोजन बनाकर लाया, महात्माजीने उसे लक्ष्मी-नारायणके समक्ष रखकर घंटी बजायी और आँखें मूँदकर खड़े रहे; किंतु उक्त देवी-देवताने भोजन नहीं किया। तब महात्माजीने चेलेको डाँटकर कहा कि 'देख झूठे! कहो, देवी-देवताओंने भोजन किया है?' उसने देखा, सचमुच किसीने भोजन नहीं किया है। तब वह लट्ठ उठाकर लाया और लक्ष्मी-नारायणके सिरोंपर तानकर खड़ा हो गया और कहने लगा कि 'फिर आप वही लीला करने लगे? भोजन करते हो या लट्ठ जड़वाना चाहते हो?' यह सुनते ही सब-के सब भोजन करने लगे। महात्माजी यह देखकर चकित हो गये और चेलेसे सारा रहस्य पूछा। तब उसने प्रारम्भसे समस्त वृत्तान्त बतलाया। महात्माजी चेलेके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'बेटा! तुम गुरु हो, मैं चेला हूँ; क्योंकि तुमने सच्ची आस्था रखकर मूर्तियोंमें देवी-देवताओं और भगवान्‌के दर्शन करा दिये। मीराँबाईको भी भगवान्‌की चित्र-मूर्तिसे अनुराग करनेपर परम तत्त्वकी प्राप्ति हुई थी। मूर्तियोंमें भगवत्पूजन करनेवाले भक्तोंको चाहिये कि वे जब मूर्तियोंमें भगवान्‌को देखें, तब प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरकी आस्था रखकर सबका ईश्वरभावसे सत्कार करें और सबकी सेवा करें; तभी वे ईश्वरको प्रसन्न कर सकते हैं।

अवधविहारी एवं विपिनविहारीके चरण

(रचयिता—श्रीरामनारायण त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

(१)

ध्येय हैं मुनीश्वर, मयंक-मौलि, मारुतिके,
सेव्य हैं सुमित्रा-सूनु, जनकदुलारीके।
गेय हैं सुरर्षि-शेष-शारदा-भुशुण्डिजीके,
पूज्य हैं भरत प्रेम पूरित पुजारीके॥
शरण शरण्य हैं कपीश-रावणानुजके,
पावन-करण हैं अपूत ऋषिनारीके।
दाता शान्तिके हैं भव-ताप-तापितोंके 'मित्र'
देववृक्ष-छंद पद अवध-विहारीके॥

(२)

सम्पति-निधान हैं प्रधान व्रज-भूतलके,
प्राणाधार जो हैं वृषभानु-सुकुमारीके।
देवकी-यशोदा, वसुदेव-नन्दके हैं हिय,
जीवनके फल हैं विवेकी जन्म-धारीके॥
मञ्जु मानसर हैं परमहंस-हंसोंके वे,
स्नेह-सुधा-सिन्धु हैं सनेही सदाचारीके।
जानेको अपार भव-पारावार पार 'मित्र'
पोत हैं विशद पद विपिन-विहारीके॥

इसी प्रकार कोई व्यक्ति केवल अपने [illegible] भगवान्‌के नामोंकी रट लगा सकता है [illegible] किंतु [illegible] भक्त नहीं कहा जा सकता।

[illegible] मन्दिरोंका पुजारी हो सकता है और प्रातः [illegible] अपना सारा समय मन्दिरस्थ देवताओंकी सेवामें [illegible] सकता है, किंतु पूजनेपर वह व्यक्ति यदि इस प्रकारका उत्तर दे कि 'अब मुझे छुट्टी मिल गयी, मैंने मूर्तिका अभिषेक कर दिया और मेरा कार्य समाप्त हो गया', तो उसे भक्त नहीं कह सकते। यदि प्रतिमाका अभिषेक, उसे स्नान कराना, उसे वस्त्र धारण कराना आदिमें किसीको परिश्रम अथवा भारका बोध होता है तो सारे दिन ऐसी सेवाओंमें रत रहनेवाला व्यक्ति भी भक्त नहीं कहला सकता।

तथ्य यह है कि ऐसे व्यक्ति भक्तिके केवल बाह्य नियमोंका पालन करते हैं। इसका नाम है—'वैधी भक्ति'। परंतु भक्तिके विषयमें सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सदाचारकी भाँति यह भी आन्तरिक वस्तु है। इसका उद्गम हृदयसे होना चाहिये।

भक्तिके अन्तिम प्रकार आत्मनिवेदनको छोड़कर शेष सभी प्रकार प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकते हैं। उनका भक्तिके रूपमें आदर तभी होगा, जब वे आन्तरिक भगवत्प्रेमकी बाह्य अभिव्यक्ति बनें। यदि अन्तरमें प्रेम हो तो यह आवश्यक नहीं कि वह विधिपूर्वक प्रार्थनाके रूपमें बाहर प्रकट हो ही। व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध तथा भलीभाँति चुने हुए शब्दोंमें भगवत्कथा करनेके बदले भक्त 'भगवान्' को गाली भी दे सकता है और फिर भी उस शापाशापीकी गणना भक्तिमें ही होगी। इसके विपरीत एक विद्वान् ब्राह्मण वेदमन्त्रोंसे भगवान्‌की स्तुति करता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि उसे भक्तिकी श्रेणीमें भी रखा जाय। महाराष्ट्रके महान् संत तुकारामजीने भक्तिके प्राणरूप भगवत्प्रेम तथा अर्चन आदि भक्तिके बाह्य आचरणोंका सम्बन्ध दिखानेके लिये एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि शून्यके पहले कोई अंक भी रख दीजिये—चाहे वह एक ही क्यों न हो—शून्यका भी मूल्य हो जाता है। किंतु यदि शून्यके पहले कोई संख्या न रहे तो अगणित शून्योंका मूल्य एकके बराबर भी नहीं होगा *। इसी प्रकार यदि हृदयमें प्रेम है तो जैसा हम ऊपर कह आये हैं, गालीका भी भक्तिमें समावेश हो जायगा। किंतु यदि प्रेम नहीं है तो ईश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य अनुष्ठानोंको भी भक्तिका नाम नहीं दिया जा सकता; क्योंकि उन क्रियाओंके द्वारा अनुष्ठानकर्ता भगवान्‌को न खोजकर धन, बड़ाई या प्रतिष्ठा जैसी कोई सांसारिक वस्तु चाहता है। इस प्रकार भगवान्‌का भक्त न होकर वास्तवमें वह धनका भक्त है। इसीलिये इस क्षेत्रके अधिकारी पुरुष कहते हैं कि सच्ची भक्ति तो रागानुगा ही है। वह परम प्रेमस्वरूपा है।

यहाँ कोई कह सकता है—'अच्छा, मान लिया कि भक्ति परमप्रेमस्वरूपा है; किंतु क्या ऐसा प्रेम ऐसी दुर्लभ वस्तु है?' इसपर हमारा कहना यह है कि 'हाँ, भगवत्प्रेम दुर्लभ है। भोगोंके प्रति प्रेम सर्वत्र पाया जाता है। विषयोंके प्रति आसक्तिमें हेतु विषयोंके साथ हमारा चिरकालीन सम्बन्ध ही है। वे हमारे सूक्ष्मशरीरपर संस्कार छोड़ जाते हैं और हम जहाँ-कहीं, जिस योनिमें भी जाते हैं, उन्हें साथ लिये जाते हैं। भगवत्प्रेम ऐसा नहीं है। वह तो भगवान्‌की कृपाका फल है। अतः हमें भगवत्प्रेमके उस स्वरूपका अनुसंधान करना चाहिये, जिसे देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रोंमें निर्धारित किया है। उससे हमें यह समझनेमें सहायता मिलेगी कि सच्ची भक्ति क्यों दुर्लभ है। नारदजी कहते हैं—

प्रकाशते क्वापि पात्रे। (५३)

इस प्रेमका जो स्वरूप उन्होंने समझा है, उसका निरूपण करनेके पूर्व नारदजी अन्य आचार्योंके मतोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं—

पूजादिषु अनुराग इति पाराशर्यः॥ १६॥

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदि अनुष्ठानोंमें अनुराग ही भक्तिका स्वरूप है।

कथादिष्विति गर्गः॥ १७॥

श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग ही भक्तिका लक्षण है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८॥

शाण्डिल्य ऋषिके मतमें इसका आत्मरतिके साथ

---

* गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपनी दोहावली(१०)में भगवन्नामकी महिमाके विषयमें इसी आशयका निम्नलिखित दोहा कहा है—

नाम राम को अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं, अंक रहें दसगून॥

भक्तिकी दुर्लभता

(लेखक—श्री[illegible])

श्रीरामचरितमानसमें भक्तिकी दुर्लभता बतलाते हुए माता पार्वतीने श्रीशंकर भगवान्‌से कहा—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई । बिषय बिमुख बिराग रत होई ॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई ॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी । दुरलभ ब्रह्म लीन बिग्यानी ॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी । जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी ॥
सब ते सो दुरलभ सुर राया । राम भगति रत गत मद माया ॥

'हे त्रिपुरारि ! सुनिये, हजारों मनुष्योंमें कोई एक धर्मव्रतका धारण करनेवाला होता है और करोड़ों धर्मात्माओंमें कोई एक विषयसे विमुख (विषयोंका त्यागी) और वैराग्य-परायण होता है । श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तोंमें कोई एक सम्यक् (यथार्थ) ज्ञानको प्राप्त करता है और करोड़ों ज्ञानियोंमें कोई एक ही जीवन्मुक्त होता है । जगत्‌में कोई बिरला ही ऐसा (जीवन्मुक्त) होगा । हजारों जीवन्मुक्तोंमें भी सब सुखोंकी खान, ब्रह्ममें लीन विज्ञानवान् पुरुष और भी दुर्लभ है । धर्मात्मा, वैराग्यवान्, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन—इन सबमें भी हे देवाधिदेव महादेवजी ! वह प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है, जो मद-माया-रहित होकर रामभक्तिके परायण हो ।'

तुलना करते हुए भगवान् श्रीरामने भी अपने मुखसे ही भक्तका स्थान और सभी प्रकारके मनुष्योंसे ऊँचा बतलाया है—

मम माया संभव संसारा । जीव चराचर बिबिधि प्रकारा ॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब ते अधिक मनुज मोहि भाए ॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी । तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी ॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी । ग्यानिहु तें अति प्रिय बिग्यानी ॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥
भक्ति हीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥
भक्तिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥

'यह सारा संसार मेरी मायासे उत्पन्न है । इसमें अनेकों प्रकारके चराचर जीव हैं । वे सभी मुझे प्रिय हैं, क्योंकि सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं । इनमें मुझको मनुष्य सबसे अधिक अच्छे लगते हैं । [illegible] द्विजोंमें भी वेदोंको धारण करनेवाले, [illegible] चलनेवाले, उनमें भी विरक्त (वैराग्यवान्) [illegible] वैराग्यवानोंमें फिर ज्ञानी और ज्ञानियोंमें [illegible] विज्ञानी हैं । विज्ञानियोंसे भी प्रिय मुझे [illegible] मेरी ही गति है, कोई दूसरी आशा नहीं है । [illegible] बार सत्य (सिद्धान्त) कहता हूँ [illegible] समान प्रिय कोई भी नहीं है । [illegible] हो, वह मुझे सब जीवोंके समान ही प्रिय [illegible] अत्यन्त नीच भी प्राणी मुझे प्राणोंके समान प्रिय है — मेरी घोषणा है ।

इन सभी बातोंसे [illegible] ज्ञानी इत्यादि भगवान्‌को [illegible] जीव विशेष प्रिय होता है । [illegible] है । इसलिये वह दुर्लभ है ।

काकभुशुण्डिजीको [illegible] रामने कहा था—

सब सुख खानि भगति तैं माँगी । [illegible]
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं । [illegible]
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई । [illegible]

'तुमने सब सुखोंकी खान [illegible] तुम्हारे समान भाग्यवान् दूसरा कोई नहीं है । [illegible] जप और योगकी अग्निमें शरीर [illegible] यत्न करके भी जिसको [illegible] भक्ति तुमने माँगी है । तुम्हारी [illegible] यह चतुरता मुझे बहुत ही [illegible]

यहाँ [illegible] करोड़ों [illegible] भी दुर्लभ [illegible] [illegible] ही [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] रखना चाहिये कि—

[illegible]
[illegible]

[illegible] नहीं होती, भक्तिके बिना श्रीराम [illegible] ([illegible]) और श्रीरामजीकी [illegible] भी [illegible] नहीं [illegible] ।'

और [illegible] कृपा प्राप्त करनेके लिये पूज्यपाद [illegible] ने [illegible] बतलाया है —

[illegible] । [illegible] कृपा करिहहिं रघुराई ॥

[illegible] अर्थात् छल-कपट त्यागकर मन, [illegible] और [illegible] भजन करनेपर श्रीरामचन्द्रजी कृपा [illegible] ।'

[illegible] प्राप्त करनेके लिये श्रीरामकी कृपा प्राप्त कर लेना [illegible] है । यह अनुभव प्राप्त करनेपर काकभुशुण्डिजी-ने कहा है—

[illegible] बिनु [illegible] । जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥
जानें बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहि प्रीती ॥
प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई । जिमि खगेस जल कै चिकनाई ॥

'हे पक्षिराज ! सुनिये, श्रीरामजीकी कृपा बिना श्रीराम-जीकी प्रभुता नहीं जानी जाती । प्रभुता जाने बिना उनपर विश्वास नहीं जमता, विश्वासके बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति बिना भक्ति वैसे ही दृढ़ नहीं होती, जैसे हे पक्षिराज ! जलकी चिकनाई नहीं ठहरती ।'

भक्ति मुनियोंके लिये भी परम दुर्लभ होनेपर भी श्रीरामकी कृपासे सुलभ हो जाती है, अतएव श्रीराम-कृपाकी प्राप्तिके लिये भजन करना चाहिये और राम-कृपाका लाभ करके दुर्लभ भक्ति प्राप्त करनी चाहिये । यह भक्ति जिसने भी प्राप्त कर ली, वही सफल जीवन तथा परम धन्य हो गया ।

पतित और पतित-पावन

[एक झाँकी]

(रचयिता—श्री 'विप्र-तिवारी')

मानससे मुक्ता चुन-चुनकर
चला गूँथने अभिनव हार ।
क्या उनको स्वीकार न होगा ?
यह मेरा लघुतम उपहार ॥

लो ! झाँकी कर लो, स्वर्णिम यह
फैल रही आभा भूपर ।
पुण्य जाह्नवीकी गोदीमें
बैठ विहँस रहे रघुवर ॥

यह आता है कौन लजाता ?
क्यों अपनेमें सिकुड़ रहा ?
दूर-दूर ही खड़ा हुआ क्यों
प्रभु-चरणोंको ताक रहा ॥

यह निषाद है ! जिसकी छाया-
तक छू जानेपर ये लोग ।
छींटे लेते हैं, पर देखो !
है कैसा सुखकर संयोग ॥

उसी अपावन-सी कायाको
प्रभुने अपने हृदय लगाकर ।
पावन किया अपावनको यों
जगसे सारा भेद मिटाकर ॥

किसने पतित पतंगोंको यों
पावन करके पार लगाया ?
इस करुणाके बलपर ही यह
पतित पावन राम कहाया ॥

वसुधाके कण-कणमें अङ्कित
"रघुपति राघव राजा राम" ।
दिग्-दिगन्तमें गूँज रहा है
पतित-पावन सीताराम ॥

भक्तिका मनोविज्ञान

(लेखक—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-ऐट-लॉ, [illegible])

भारतकी संस्कृतिके विकास और उत्कर्षमें भक्तिका भाग श्रेष्ठ है। हमारे साहित्य, संगीत एवं विविध कलाओंपर भक्ति-रसकी अमिट छाप है। हमारी मातृभूमिके मनोहर मन्दिर, महान् मेले तथा विशाल स्तूप-स्तम्भ भक्तिकी भव्यताके साकार स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌को 'भक्त-भक्तिमान्' एवं 'भक्त-पराधीन' बतलाया गया है। सीताकी व्यथासे व्याकुल हुए महाकवि भवभूति अपने 'उत्तर-रामचरित'-नाटकमें 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्' कहकर करुण-रसके अन्तर्गत शृङ्गारादि अन्य आठों रसोंका समावेश करते हैं। मनोविज्ञान भक्तिको रस-राशि सिद्ध करता है। भक्ति-रसका यह विश्लेषण और विवेचन ही इस लघु लेखका लक्ष्य है।

भक्ति मनकी एक वृत्ति या भाव है। श्रीशंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (२।४।६) में लिखते हैं—'मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्' अर्थात् मनकी अनेक वृत्तियाँ हैं। मनोविज्ञान मनकी मुख्य वृत्तियाँ तीन मानता है—(१) ज्ञान, (२) भावना और (३) क्रिया। इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी पुनः अनेक शाखाएँ हैं। इस वृत्तित्रयीकी विशेषता यह है कि कोई भी मानसिक अवस्था हो, उसमें तीनोंका अविच्छिन्न साहचर्य रहता है तथा किसी एककी प्रधानता रहती है। जैसे राज्यमें प्रधानमन्त्रीके साथ अन्य मन्त्री सहयोगसे कार्य करते हैं, वैसे ही एक वृत्तिके प्राधान्यमें अन्य दोनों वृत्तियाँ सामञ्जस्यपूर्वक व्यवहार करती हैं। उदाहरणके लिये जो पुरुष 'स्वान्तःसुखाय' मीराँके भजन गाता है, उसकी वृत्तिमें प्रधानता तो भावनाकी होती है, पर उसे पदोंका बोध रहने तथा गानेके रूपमें शारीरिक चेष्टा होनेके कारण अन्य दोनों वृत्तियाँ गौण-रूपसे विद्यमान रहती हैं। फुटबॉल खेलते समय खिलाड़ीकी वृत्तिमें क्रियाकी मुख्यता रहती है, साथ ही गेंदको 'गोल'तक पहुँचा देनेके लक्ष्यका ज्ञान बराबर बना रहता है और सफल प्रयासमें आनन्द आता है एवं विफल कृतिसे दुःखका अनुभव होता है। इसी प्रकार 'गीता' पर किसी विद्वान्‌का व्याख्यान सुननेमें ज्ञान-वृत्तिकी प्रमुखता होती है, पर व्याख्यानपर ध्यान देने और उसके श्रवणसे मोद मिलनेमें अन्य दोनों वृत्तियाँ सतत सम्पर्क रखती हैं। सारांश, नियम यह है कि समष्टिरूपसे तीनों वृत्तियोंका समाहार प्रत्येक मानसिक व्यापार

में रहता है और [illegible]
होती है। [illegible]
तीनों मुख्य वृत्तियोंके अन्तर्गत [illegible]
भावनाका [illegible]
अन्तर्गत है।

भक्ति-तत्त्वकी [illegible]
लेना आवश्यक है कि भावना[illegible]
शाखाओंके रूपमें [illegible]
से विभक्त की जा सकती है—

(१) [illegible]

(२) [illegible]

(३) [illegible]

[illegible]
की वृत्तियोंकी [illegible]
अधिक है। [illegible]
क्रोध, लोभ, [illegible]
ममता इत्यादि [illegible]
इन्हीं भावनाओंकी [illegible]
[illegible] कि मनुष्य [illegible]
भगवान्‌ने कहा है—

काम एष क्रोध एष [illegible]

[illegible]

आसुरी भावनाओंके [illegible]
हैं और आगे भी होते रहेंगे। [illegible]
जाती है। ये [illegible]
शरीरको [illegible]
प्रतिपादक [illegible]
होते हैं। [illegible]
है—[illegible]
जाती है। [illegible]
दीन हो जाता है। [illegible]
लगता है। [illegible]
है। [illegible]

—— 1 Charles Darwin [illegible]

[illegible]

[illegible] है न उनके दाँत निकलने लगते हैं।' [illegible] होती है। भावावेशमें [illegible] और श्रीरामकृष्ण परमहंस कभी हँसने [illegible] लगते थे। प्रभु-प्रेम-मतवाली मीराँकी [illegible] थी। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भक्तोंकी ऐसी दशाका वर्णन करते हुए उद्धवसे कहा है—

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
> (११ । १४ । २४)

अर्थात् जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय पिघल जाता है, जो कभी रोता है तो कभी जोरसे हँसता है, कहीं निर्लज्ज होकर गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र करता है। ऐसे लक्षणोंको साहित्यिक भाषामें 'अनुभाव' भी कहा जाता है।

प्रश्न उठता है कि भक्तिमान् पुरुषके शरीरमें उद्वेग-जन्य लक्षण क्यों प्रकट होते हैं। मनुष्य दुःखमें रोता है और सुखमें गाता है और नाचता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमें भावनाके आवेगों (Emotions) और रसों (Sentiments) के अन्तरके गहन सलिलमें डुबकी लगानी होगी—

> जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

आवेश या आवेग भावनाकी भाप है। यह प्रकृतिका विधान है कि मनोमय कोशमें विकार होनेपर उसकी प्रतिक्रिया अन्नमय कोश या स्थूलशरीरमें लक्षणोंद्वारा प्रकट होती है; क्योंकि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि।' प्रत्येक रसमें अनेक आवेग अव्यक्तरूपमें रहते हैं और अवसर आनेपर प्रकट होते हैं। प्रेम रसमें परिस्थितिके अनुरूप कौन-कौन-से आवेगोंका प्रादुर्भाव होता है, यह उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट किया गया है। शकुन्तलाका लालन-पालन करनेसे पहले महर्षि कण्व 'मोह न जाना, मुदासे नाना' की कहावतको चरितार्थ करते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटकके चतुर्थ अङ्कके 'श्लोकचतुष्टयम्' में कालिदासने ऋषिके मुखसे जो भाव व्यक्त कराये हैं, वे 'कन्या-विश्लेष-दुःख' की अमर कहानी हैं। [illegible] रहा है—

> यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
> कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
> वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
> पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥
> (४ । ६)

अर्थात् इस विचारमात्रसे कि शकुन्तला आज चली जायगी, मेरा हृदय विषादसे व्याप्त हो गया है, अश्रुप्रवाह रोकनेके कारण कण्ठ अवरुद्ध हो गया है और चिन्ताके कारण नेत्र जड (निश्चेष्ट) हो गये हैं। जब स्नेहके कारण मुझ-सरीखा वनवासी इतना विकल हो जाता है, तब दुहिताके वियोगके नवीन दुःखोंसे गृहस्थियोंको व्यथा क्यों न होगी। भवभूतिने तो सीताके विरहसे व्याकुल रामके साथ-साथ पत्थरको रुलाया है और वज्रका भी दिल दहलवाया है—

> अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।
> (उत्तररामचरितम् १ । २८)

भावनावेशमें रामके तनमें दुःखके जो लक्षण प्रकट होते हैं, उनका वर्णन भी कितना सरस है—

> निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
> परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥ २९ ॥

अर्थात् आवेगको रोकनेपर भी अधर और नासिकापुटके कम्पनसे अन्य पुरुष अनुमान कर सकते हैं कि (रामका) हृदय अत्यन्त संतप्त है। जब श्रीकृष्ण-प्रेम-रत मीराँ विरह-वेदनासे दुर्बल हो गयी, तब इलाजके लिये उसके पिता रतनसिंह-जी मेड़ता (जोधपुर) से वैद्य लेकर मेवाड़ आये। तब उसने यह पद गाकर सुनाया—

> हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय।
> सूळी ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय॥
> गगन मँडळ पर सेज पिया की, किस विध मिलणा होय॥ १॥
> घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय।
> जौहरि की गति जौहरि जाणै, की जिन जौहर होय॥ २॥
> दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
> मीराँ की प्रभु पीर मिटै, जब बैद साँवळियो होय॥ ३॥

उपर्युक्त अवतरणोंसे स्पष्ट है कि रस-सरोवरमें आवेगकी लहरें क्या-क्या दृश्य दिखाती हैं।

साराश यह है कि प्रियजनके मिलनमें हर्ष और उसके वियोगमें विषाद, उसके सफल प्रयासमें उल्लास और विफल कार्यमें निराशा, उसके उपकारकके प्रति राग और अपकारकके प्रति रोष तथा उसकी बीमारीमें नीरोग होनेकी आशा और

अनिष्टकी आशङ्कासे भय इत्यादि आवेगोंकी अनुभूति होती है। प्रेम-रस इन आवेगोंका सतत स्रोत है, स्थायी भाव है और आवेग अनुभाव हैं, जो प्रियजनकी परिस्थितिके अनुसार आते-जाते रहते हैं। मनोविज्ञानके पण्डितप्रवर शैंड[1] (Shand) रसको किसी व्यक्ति या वस्तुमें केन्द्रित आवेगात्मक प्रवृत्तियोंकी ग्रन्थि या पद्धति (System) मानते हैं। मनोविज्ञानका धुरन्धर विद्वान् मेकडूगल[2] (McDougall) प्रत्येक आवेगका किसी-न-किसी सहजात प्रवृत्ति (Instinct) से घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। भयका आवेग तभी आता है, जब आत्मरक्षाकी नैसर्गिक प्रवृत्तिका प्रतिबन्ध प्रतीत होता है; इसीलिये प्राणी—नर या पशु—यन्त्रवत् व्यवहार करता है। अनेक महान् पुरुष, जो भावुक होते हैं, आवेशमें आकर विचित्र व्यवहार कर बैठते हैं। गीताका वास्तविक प्रारम्भ अर्जुनकी आवेगात्मक अवस्थासे ही होता है। उस सरीखा महारथी वीर प्रियजनोंके प्रेमके कारण युद्धक्षेत्रकी सेनाओंके बीचमें अश्रुमोचन करता हुआ हथियार डालकर बैठ जाता है। भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता होनेसे विविध आवेगोंका उत्थान होता है और भक्तके शारीरिक लक्षण उनकी पहचान हैं। जिस प्रकार 'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथने रसको काव्यकी आत्मा कहा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (१।१।३), उसी प्रकार प्रेम भक्तिका प्राण है। नारदने भक्तिको 'प्रेमरूपा' ही बतलाया है। नारदपाञ्चरात्रमें भी 'स्नेहो भक्तिरिति' कहा गया है।

भक्ति प्रेमरूपा होनेके साथ-साथ श्रद्धा-विश्वासरूपिणी भी है। जहाँ भक्ति है, वहाँ प्रेम, श्रद्धा और विश्वास अवश्य विद्यमान रहते हैं। कहा है—'बिनु बिस्वास भगति नहिं।' अमरीकन मनोविज्ञानवेत्ता जेम्स[3] (James) ने विश्वासको 'वास्तविकताका भाव' (The sense of reality) बतलाया है। किसी बातमें विश्वास करनेका अर्थ यह होता है कि वह वस्तुतः विद्यमान है। संशय या संदेह और विश्वासका विरोध है। इस संसारके समस्त व्यवहारका आधार विश्वास है। इसीलिये गीताका वचन है—'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।' (४।४०) अर्थात् संदेहशील पुरुषके लिये न यह लोक है न परलोक और न सुख ही है। अतने यहाँ सभी आस्तिक दर्शनोंमें विश्वासके बलपर ही 'शब्द' को भी प्रमाण माना जाता है। विश्वासके [illegible], फिल्म, रेडियो और टेलिविजन [illegible] सबल एवं सफल साधन बने हुए हैं। [illegible] है—इसका ज्वलन्त उदाहरण [illegible] निज गल्लकी प्राप्ति है। ई० पू० [illegible] हुए थे, पर वे इस अटल विश्वास [illegible] सुदिन फिर आवेंगे और इनको [illegible]।

श्रद्धाका आरम्भ विश्वाससे होता है, [illegible] है। साधारणतया स्वामीका नौकरपर [illegible] उसपर श्रद्धा नहीं होती। जिस [illegible] उत्कृष्टता होती है, वह हमारी [illegible]। नैतिक आदर्श हमारे मनमें [illegible] पुरुषमें साकार होकर प्रकट होते हैं। [illegible] (Superiority) पर विश्वास होते [illegible] जाता है। एक आधुनिक उदाहरण [illegible] बादमें स्वामी विवेकानन्दके नामसे [illegible] परमहंसके पास आना-जाना करते थे। [illegible] माँगनेपर कोई पैसा महाराज [illegible] परमहंसके सामने प्रस्तुत हुए। [illegible] कर दिया। श्रीनरेन्द्रके [illegible] यह बतलाया कि वह पुरुष निरपेक्ष [illegible] जब वह दान सब निरर्थक [illegible] को आध्यात्मिक शक्तिद्वारा [illegible] देखकर श्रीनरेन्द्रका आदर भाव [illegible]। इसी प्रकार विश्वरूप-दर्शनके पश्चात् [illegible] अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हैं—

> सखेति मत्वा प्रसभं [illegible]
> हे कृष्ण हे [illegible]।
> अजानता महिमानं [illegible]
> मया प्रमादात् [illegible]
> [illegible]

अर्थात् मित्र [illegible] न जानकर [illegible] सखा!' इस प्रकार [illegible] लिये मैं आपसे क्षमा [illegible] प्रोफेसर वार्ड[1] (Ward) [illegible]

1. A F. Shand "Character of the Emotions".

2. William McDougall—"Social Psychology".

3. William James "Principles of Psychology, Vol.II.

1 James Ward "[illegible]", p. 358

[illegible] (Objective situation) पर आधारित [illegible] पदार्थ है, उसकी ओर हमारा [illegible] श्रद्धामें हमारा भाव आत्मनिष्ठ (Subjective attitude) होता है—आदर्शका विचार हमारे मन- [illegible]। पुनर्जन्ममें विश्वास रखनेका अर्थ है कि पुनर्जन्म [illegible]। [illegible] हमारी श्रद्धा होनेका अर्थ है [illegible] अर्थात् हमारे भावके अनुसार [illegible] जैसा हमें जँचता है। गीता श्रद्धाको [illegible] बतलाती है और कहती है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७ । ३)

अर्थात् सभी लोगोंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय होता है; इसलिये जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वयं भी वैसा ही है। यूनानी पण्डित प्लेटो[1] (Plato) ने भावों (Ideas) को शाश्वत माना है और कहा है कि सत्यम् (Truth), शिवम् (Goodness) और सुन्दरम् (Beauty) के आदर्श भी सहजात हैं। वे हमारे अन्तःकरणमें ही निवास करते हैं।

विश्वास और श्रद्धामें एक विशेष भेद यह है कि विश्वास एकाकी या निःसङ्ग वृत्ति है। परंतु श्रद्धाके अन्तर्गत अनेक वृत्तियोंका आभास है और वे परिस्थितिके अनुरूप व्यक्त होती रहती हैं। श्रद्धा प्रेमकी तरह रस मानी जाती है। उसमें आभार, आदर, भय, विस्मय और विनयकी भावनाएँ निहित हैं। जिन श्रद्धालु पुरुषोंको किसी महात्माकी संगतिका सौभाग्य प्राप्त है, उनका अनुभव है कि महात्मासे प्रश्न करते समय उन्हें भय होता है कि कोई अनुचित शब्द उनके मुखसे न निकल जाय। महात्माकी असाधारण शक्तिसे विस्मयके और उनके अनेक उपकारोंके स्मरणसे आभारके भाव उठते हैं; उनकी तुलनामें निज लघुताके विचारसे विनय उत्पन्न होती है और उनकी सौम्य मूर्ति देखकर हृदय आदरसे भर जाता है। इन सारी भावनाओंका केन्द्र महात्माका व्यक्तित्व होता है। अतएव मनोवैज्ञानिकोंका मत है कि श्रद्धाका व्यक्तित्वसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो नैतिक आदर्श हमारे मनमें प्रच्छन्न रहता है, वह उस व्यक्तित्वमें प्रकट होता है। मैकडूगलने[2] श्रद्धाको [illegible] भावना कहा है। भगवान् भी कहते हैं कि—

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।
(गीता ६ । ४७)

अर्थात् जो मुझे श्रद्धासे भजता है, वह मुझे सर्वश्रेष्ठ मान्य है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है कि भक्ति भावनाओंका रसायन है। भक्ति ही वह पुनीत त्रिवेणी-संगम है जहाँ पावन प्रेम, अटल श्रद्धा और दृढ़ विश्वासकी सरिताओंका सुधा-सलिल आकर मिलता है। भक्तिकी शक्ति अपार है।

भक्तिका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—(१) सामान्य और (२) विशेष। सामान्य अर्थके अन्तर्गत गुरुभक्ति, पितृभक्ति, स्वामिभक्ति, देशभक्ति इत्यादि हैं। भक्तिका विशेष अर्थ है—परमेश्वरकी भक्ति। अतएव नारद-भक्ति-सूत्र (२) में कहा गया है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' अर्थात् परमात्मामें परम प्रेम ही भक्तिका स्वरूप है। और शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र (२) कहता है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् भक्ति ईश्वरमें परम अनुरागका नाम है। भगवान्‌ने गीतामें अनेक बार कहा है कि 'मेरी भक्ति अनन्य होनी चाहिये।' अनन्यभावसे ही 'परा भक्ति' होती है। जिस पुरुषकी भावनामें समस्त संसार प्रभुमय है, उसके लिये सभी प्रकारकी भक्ति ईश्वरभक्तिमें परिणत हो जाती है। देशभक्तिके भगवद्भक्तिका प्रकार हो जानेसे कितना पावन वातावरण उत्पन्न हो जाता है—इसका ज्वलन्त उदाहरण महात्मा गांधीकी भारत-भक्ति थी। इसी सिद्धान्तको मानते हुए महामना श्रीराजगोपालाचारीने आगरा विश्वविद्यालयके गत दीक्षान्त समारोहके अभिभाषणमें देशभक्तिके लिये ईश्वर-भक्तिको अनिवार्य बतलाया था। उनकी रायमें इस समय भारतको चरित्रवान् पुरुषोंकी परम आवश्यकता है और चरित्र-निर्माणमें परमात्माकी सत्तामें विश्वास होना बहुत जरूरी है।

भौतिकवादके वर्त्तमान युगमें भक्तिके सम्बन्धमें एक विख्यात विज्ञानवेत्ताने जो भव्य भाव प्रकट किये हैं, उनका उल्लेख करके यह लेख समाप्त किया जाता है। उनका नाम डा० कैरेल[1] (Dr Carrel) है। चिकित्सामें मौलिक अनुसंधानों-के लिये उन्हे सन् १९१२ में नोबल पुरस्कार (Nobel Prize) प्राप्त करनेका सम्मान मिला। प्रारम्भमें वे फ्रांसके लियॉं (Lyons) नगर विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक नियुक्त

1. Plato 'Republic'.
2. S. H. Mellone: 'Elements of Psychology', pp. 2[illegible]-251.

1. Dr. Alexis Carrell 'Man the unknown', pp. 141—143.

हुए थे । प्रभु-प्रार्थनासे असाध्य रोग मिट सकते हैं—इसकी वैज्ञानिक खोज उन्होंने सन् १९०२ में आरम्भ की । जिस लूर (Lourdes) तीर्थका नाम हमारे केन्द्रीय वित्तमन्त्री श्रीकृष्णमाचारीने 'व्यय-कर'के प्रसङ्गमें कुछ दिनों पूर्व लोक-सभामें लिया था, उस तीर्थमें जाकर डा० कैरलका एक रोगी, जो राजयक्ष्मा (Tuberculosis)की असाध्य एवं मरणासन्न अवस्थाको सन् १९१३ में पहुँच चुका था, सहसा पूर्ण स्वस्थ होकर घर लौटा, तब उन्होंने इस आध्यात्मिक चमत्कारकी चर्चा विश्वविद्यालयमें कर डाली । इसपर उनके विरुद्ध वैज्ञानिक मण्डलोंमें प्रबल आन्दोलन उठा, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपना पद-त्याग करना पड़ा । सौभाग्यसे सन् १९०५ में उन्हें न्यूयार्क (अमरीका) की चिकित्सा-खोजकी रॉकफेलर संस्था (Rockfeller Institute) में उच्चपद प्राप्त हुआ और वहाँ वे तीस वर्षतक कार्य करके विश्व-विख्यात हो गये । वे आजन्म अन्वेषण और अनुशीलनके पश्चात् इस निश्चयपर पहुँचे हैं कि प्रभु-प्रार्थना (Prayer) की शक्ति संसारकी सबसे बड़ी शक्ति है ।

ईश्वर-भक्ति और प्रार्थनाके विषयमें डा० कैरलने निज ग्रन्थमें जो विचार प्रकट किये हैं, वे प्रत्येक साधक और दार्शनिकके लिये मनन करने योग्य है । मनुष्यको अपने आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये । प्रार्थना तपस्याके तुल्य है । प्रार्थनामें प्रार्थीको लवलीन हो जाना चाहिये और प्रभुके समक्ष उसकी स्थिति वैसी ही होनी चाहिये, जैसी स्थिति पटकी चित्रकारके सामने होती है । अनेक वर्षोंके परीक्षणके पश्चात् उन्होंने अपने अनुभवसे लिखा है कि 'प्रार्थनाके ही प्रभावसे कोढ, कैन्सर, यक्ष्मा इत्यादि रोगोंके असाध्य बीमार कुछ मिनटोंमें ही पूर्ण स्वस्थ होते हुए देखे गये हैं । इस प्रकारकी आध्यात्मिक क्रियासे विलक्षण मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं । [illegible]

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारण[illegible]
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं [illegible]

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—[illegible] औषधसे सब प्रकारके रोगोंका नाश [illegible] कहता हूँ ।'

अन्तिम अध्यायमें डा० कैरलने [illegible] लिये बतलाया है कि [illegible] जड पदार्थों और [illegible] और आकृष्ट होना [illegible] सभ्यताका [illegible] यन्त्रोंकी सृष्टि रच देना । [illegible] स्थान, यन्त्र ले रहे हैं—[illegible] और साम्यवादी देशोंमें [illegible]

भक्तिमें अमोघ शक्ति है । [illegible] कहा गया है, 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' [illegible] भक्तमें भेदका अभाव हो जाता है । [illegible] कथन है कि [illegible] जीवनको कृतार्थ करता है । भगवान्‌ने [illegible] दिया है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।' (गीता १८ । ४६) अर्थात् [illegible] भगवान्‌की पूजा करके सिद्धि पाता है । [illegible] सीखी हुई देशभक्तिकी [illegible] ऐसे देशभक्तोंके लिये भगवान्‌ [illegible] नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।' [illegible] अर्थात् उन नित्य [illegible] मैं उठाता हूँ ।

मृत्युके प्रवाहको रोकनेका उपाय

श्रीकुन्तीजी कहती हैं—

> शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
> त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥'
> ([illegible])

'भक्तजन बार-बार आपके चरित्रका श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके [illegible] अविलम्ब आपके उस चरण-कमलका दर्शन कर पाते हैं, जो जन्म-मृत्युके प्रवाहको [illegible]

भक्तिका मनोवैज्ञानिक स्रोत

(लेखक—[illegible]बहादुर मिर्ज़ा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भक्ति [illegible] प्राण है। जिस प्रकार पौधेका पोषण [illegible] ही होता है, उसी प्रकार हमारा हृदय भक्तिके द्वारा ही स्वच्छ और सुखी होता है।

भक्तिको दूसरे शब्दोंमें विश्वास (Belief) कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो भक्तिके विचार हमारे हृदयरूपी [illegible] (Blank Slate-) पर [illegible] चिह्न बनाते हैं, जिनपर हमारा भावी [illegible] होता है। उदाहरणार्थ—यदि हमारे मनमें भक्तिका अङ्कुर स्फुटित हो चुका है तो हमको भक्ति-[illegible] अभिरुचि होगी, हमारी इच्छाएँ भक्तवत्सल राम या कृष्णमें [illegible] होंगी। इसके विपरीत यदि हमारे मनमें भक्तिका कोई भाव नहीं है तो हमें भक्तिकी वार्त्ता दारुण दुःखदायी और भक्तोंकी कथा यमराजके दरबार-जैसी लगेगी।

समस्त धर्म-ग्रन्थोंका सार (Essence) भक्ति ही है। भक्तिके ही [illegible] हेतु भागवत आदिकी विभिन्न कथाओं-का प्रचार एवं गङ्गा-यमुना, त्रिवेणी-सरयूका नित्य स्नान किया जाता है। मनोविज्ञान कहता है कि 'प्रत्येक लघु-से-लघु कार्य, जिसे हम करते हैं, मानस पटलपर अमिट प्रभाव पड़ता है।' गङ्गा-स्नान करनेसे मनमें गङ्गाजी या ईश्वरके प्रति भक्तिका भाव अङ्कुरित होता है। भगवान् शंकरके [illegible] गङ्गाजल, बेलपत्र, पुष्पादि अर्पित करने-से भक्तिकी भावना बलवती होती है।

भक्तिका स्रोत मनुष्यकी परिस्थितियोंके प्रभावसे प्रस्फुटित होता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियोंका ही दास होता है। एक उच्चकुलमें उत्पन्न बालक प्रायः सुशिक्षित एवं सुशील होता है। वह अपने कुलकी मर्यादाकी रक्षाके हेतु बड़े-से-बड़े कार्य कर सकता है। परंतु जो अर्थहीन है, वह [illegible] साधनोंका दास है, उसे अर्थका अभाव पागल बनाये रखेगा। नदी-तटके निवासी, मन्दिरके पुजारियों-की संतान, तीर्थस्थानोंके निवासी, कथा-वाचकोंकी सतान तथा सज्जनोंकी सतान प्रायः धार्मिक भावनाओंसे ओत-प्रोत होते हैं; क्योंकि चरित्र-निर्माणमें वंश परम्परा (Herediy) का पचास प्रतिशत उत्तरदायित्व होता है। भक्तोंकी संतानें भक्ति-प्रधान होती हैं और दुर्जनोंकी संतानें प्रायः चोर, डाकू, चरित्रहीन ही होती हैं।

भक्तिकी भावनाओंको चरम सीमापर पहुँचानेके हेतु हमें स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय धर्मका निचोड़ (सार) है। स्वाध्यायके बिना कोई धार्मिक नहीं बन सकता। स्वाध्यायका अर्थ है—सद्ग्रन्थोंका विचारपूर्वक अध्ययन तथा मनन करना। प्रतिदिन पाँच मिनट मौन रहकर, कम-से-कम पाँच मिनट किसी धार्मिक ग्रन्थका स्वाध्याय करना श्रेयस्कर है। जो भी सत्कर्म करना हो, नित्यप्रति करना चाहिये; इससे सच्चरित्रके निर्माणमें सहायता मिलती है। मनोविज्ञानका सिद्धान्त यही है—जो कार्य बार-बार किया जाता है, वह आगे चलकर अभ्यासवश स्वतः भी होने लगता है। स्वतः होनेको ही स्वभाव (Habit) बन जाना कहते हैं। अश्लील विचार भी क्रमशः बलवान् होते देखे जाते हैं। यदि कोई किसी युवतीको बार-बार देखता है और प्रफुल्लित होता है तो बार-बार उसको देखने-का ही प्रयत्न करेगा। कुछ दिनों बाद उसका स्वभाव पड़ जायगा उस युवतीको बार-बार घूरनेका। फिर स्वप्नमें भी उसका रूप उसके मस्तिष्कमें नाचेगा और फलतः वीर्यपात भी हो सकता है। यदि उस युवतीका प्राप्त करना सुगम हो तो वह उसे प्राप्त करनेका प्रत्येक सम्भव प्रयत्न भी करेगा। यही बात साधु-महात्मा, भक्त-सज्जन पुरुषोंको तथा भगवान्के चित्रादिको देखनेसे उनके सम्बन्धमें होती है। यह है विचारों-का मनोविज्ञान।

भक्तिकी भावनाओंका उद्गमस्थान हमारे मस्तिष्कमें अङ्कुरित भाव होते हैं। वे भाव हमारे मनमें परिस्थितियोंको जाग्रत् करते हैं। कुछ परिस्थितियाँ प्राकृतिक होती हैं, तो कुछ कृत्रिम होती हैं। उन कृत्रिम परिस्थितियोंको हम परिवर्तन कर सकते हैं। हमको चाहिये कि हम सज्जनोंका सत्सङ्ग करें। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें। इनके समान कोई उपदेशक या सुधारक नहीं। अतः स्वाध्याय और सत्सङ्ग ही हमारी भक्तिकी-भावनाके स्रोत हैं।

भक्ति

(लेखक—श्रीसुन्दरजी [illegible])

पैगम्बर महम्मद साहबने एक जगह कहा है—

'प्रार्थना धर्मका स्तम्भ है, स्वर्ग-प्राप्तिके लिये सुलभ मार्ग है और मोक्ष-मन्दिरके द्वारको खोल देनेवाली सुनहली चाबी है।'

जब-जब इस पृथ्वीपर हम किन्हीं अद्भुत, अवर्णनीय, विचित्र और समझमें न आ सकनेवाले पदार्थोंको देखते हैं और उन्हें सूक्ष्म दृष्टिसे देखते हैं, तब-तब हमको सहज ही भान होता है कि अपनेसे कोई महान् दैवी सत्ता इस जगत् और जगत्के पदार्थोंपर शासन करती हुई विलसित हो रही है और ऐसा होते ही स्वाभाविक मानवी दृष्टिसे उसकी विभूतियोंके प्रति सिर अवनत हो जाता है। जिस प्रकार नदियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति समुद्रमें जाकर मिलनेकी होती है, उसी प्रकार हम सूक्ष्मदृष्टिसे देखते हैं तो जान पड़ता है कि इस जगत्के यावन्मात्र प्राणी और पदार्थ इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर पाप-पुण्य करते हुए अपने मन्द-तीव्र विकासकी गतिके अनुसार ज्ञात या अज्ञात-रूपसे अपने लक्ष्य-बिन्दुको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसी नियमका अनुसरण करके इस अद्भुत रचनाके विषयमें विचार करने, इसके रहस्यको जानने तथा इसके अपूर्व नियम और बुद्धिमत्ताको समझनेके लिये मनुष्यका अन्तःकरण प्रेमसे भरपूर होकर, जिज्ञासु बनकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करने लगता है। जिन प्रयत्नोंमें पहले प्रेमके साथ-साथ कुछ अंशमें भय मिला हुआ जान पड़ता है, वही प्रेम, वही जिज्ञासा और वे ही प्रयत्न भक्तिके ढाँचेको तैयार करनेवाले धुँधले अङ्ग हैं। जब वे अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त होते हैं, तब हम उसको 'भक्ति' कहते हैं।

भक्ति और ज्ञान—ये कुछ एक-दूसरेसे नितान्त पृथक् विषय नहीं हैं, अपितु ये एक ही श्रृङ्खलाकी अलग-अलग कड़ियाँ हैं। जब वे अलग-अलग होते हैं, तब उनको हम कड़ियाँ कहकर पुकारते हैं, परंतु उनके एक होते ही 'कड़ियाँ' शब्द छोड़कर उसको हम 'श्रृङ्खला' शब्दसे पुकारने लगते हैं।

जो अनन्य भक्ति है, वही अभेद-ज्ञान है। जो परम भक्त है, वही पूर्ण ज्ञानी है। जिस प्रकार ज्ञानीको सत्य ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर उसकी भेदभावना दूर हो जाती है और वह हम उसको [illegible] अलग नहीं मानता अर्थात् [illegible] उसी प्रकार भक्त अपनी [illegible] और कुछ नहीं देख सकता। [illegible] ऐसा नहीं है, जिससे उसकी [illegible] होती हो। इसी [illegible] श्रीकृष्णके [illegible] और [illegible]

हम अपने [illegible] सीमा है, जिसके लिये [illegible] स्वरूप है। [illegible] भी सत्य, [illegible] प्रकारसे अनुभव होना ही [illegible] वेद और [illegible] है।

एक ओर [illegible] दूसरी ओर [illegible] हुई वस्तुओंका [illegible] अन्तिम हेतु भेदभाव [illegible] होना ही होता है। [illegible] ज्ञानी है, [illegible] रहे अनुसार [illegible] को अपने [illegible] श्रृङ्खलाका [illegible] साधन है, जिसके बिना [illegible] जा सकती है।

भगवान् [illegible] हुए [illegible] —

[illegible]

[illegible]

[illegible] है। [illegible] लिये ही उनके अन्त- [illegible] होनेसे उनके [illegible] हूँ।'

[illegible] और [illegible] विषय है, जिसमें [illegible] और श्रद्धाके सिवा दूसरे किसी भी तर्क-वितर्क [illegible] आवश्यकता नहीं रहती। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशमान होकर अपने प्रकाशको प्रकट करनेके लिये किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार भक्ति एक ऐसा विषय है, जो स्वयं प्रमाणरूप है, जिसके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती।

जबतक मनुष्य अहंता और अहंकारसे मुक्त नहीं होता, प्रभुके साथ ऐक्य सम्पादन करनेमें प्रयत्नशील नहीं होता, तबतक उसकी भक्ति शून्याकार ही होती है। परंतु जब उसमें सच्चा प्रेम उत्पन्न होता है और तीव्र इच्छा उसको पूर्णरूपसे ढँक देती है, तब इस उत्तम योगका प्रारम्भ होता है, जो अन्तमें उसके अधिकारके अनुसार उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ फलकी प्राप्ति कराता है।

जब अहंकार-वृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले सारे विकार, मनन और कर्म उस महान् शक्तिके प्रति पूज्यभावमें तथा शुद्ध प्रेममें तन्मय बन जाते हैं और क्रमशः शुद्ध होते जाते हैं, तब यह महान् शक्तिप्रेरक हो रही है—ऐसा भान होने लगता है और यह स्थिति निरन्तर बनी रहे तो अन्तमें वासनाओंसे निर्मित अज्ञानरूपी अन्तरपट दूर होकर अन्तरात्माका भान हो जाता है और वही हमारा सच्चा स्वरूप होनेके कारण उसकी ओर हम स्वाभाविक ही आकर्षित हो जाते हैं।

भक्ति चाहे जिस प्रकारसे शुरू हुई हो, होना चाहिये उसे उच्च भावनासे सराबोर। नीच, तुच्छ तथा हलके हेतुओंको इस उत्तम विषयमें कहीं भी स्थान नहीं मिलना चाहिये। ऐसा होनेपर ही हम प्रभुमय होने तथा उसके प्रेम-पात्र बननेके योग्य हो सकेंगे।

भक्ति इतनी अधिक शुद्ध और खरी होनी चाहिये कि उसका हेतु केवल प्रभुस्वरूपका उच्च अनुभव करके कृतार्थ बन जानेके सिवा और कुछ न हो। तभी उससे उत्कृष्टतम परिणाम प्राप्त हो सकेगा; क्योंकि भक्तिका जितना उच्च हेतु होगा, फल भी उतना ही उच्च प्राप्त होगा। प्रभु [illegible] भक्तकी भावना, प्रेम और हेतुके पारखी हैं और तदनुकूल फल प्रदान करते हैं। इसीसे सिद्ध होता है कि प्रभु भक्तकी भावनाके अनुसार सगुण अथवा निर्गुण हो सकते हैं; क्योंकि यदि प्रभु केवल निर्गुण ही हों, उनको हम स्पर्श न कर सकें, उनके साथ बोल न सकें—ऐसे हों तो इस प्रकारका प्रत्यक्ष-प्रत्युत्तर मिलना असम्भव ही कहा जायगा।

भक्ति एक अत्युत्तम मार्ग है। इस मार्गपर चलकर हम अपनी इच्छाके अनुसार प्रभुके सगुण स्वरूपकी प्राप्ति कर सकते हैं। यहाँ प्रभुके निर्गुण स्वरूपको ही माननेवाले तथा सगुणरूपको न माननेवालेके लिये मीरा, नरसिंह, तुकाराम, प्रह्लाद और ध्रुव आदि समर्थ भक्तोंका दृष्टान्त ही पर्याप्त है। बल्कि यह एक ऐसा उत्तम साधन है, जो मनुष्यभावको प्रभुभावमें, दूसरे बहुत से साधनोंकी अपेक्षा अधिक सरलतासे बदल देता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्गीतामें अर्जुनकी शङ्काका समाधान करके भक्तिकी श्रेष्ठता बतलाते हुए कहते हैं—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'मुझमें चित्त स्थिर करके नित्य-युक्त होकर जो उत्कृष्ट श्रद्धासे मुझको भजते हैं, वे ही भक्तियोगको उत्तम रीतिसे जानते हैं—ऐसा मेरा मत है।'

भक्तिमें एक और सर्वोत्तम गुण है सर्वात्मभाव प्रदान करनेका, और उसीके सहारे हम सरलतासे गुणातीत हो सकते हैं। फिर जैसे-जैसे हम अपने मार्गमें आगे बढ़ेंगे, वैसे-ही-वैसे मार्गमें आनेवाली सारी कठिनाइयाँ स्वभावतः दूर होती जायँगी। क्या यह इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि प्रभु हमारी पूर्ण या अपूर्ण भक्तिकी अपेक्षा न करके हमपर अनुग्रह करनेके लिये ही प्रत्युत्तर प्रदान करते हैं? अर्जुनको इसपर पूर्ण विश्वास दिलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

> मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

'तुम मुझमें ही मन लगाओ तथा मुझमें ही बुद्धिको स्थिर करो। ऐसी चेष्टा करनेपर तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।'

इस प्रकार विविध प्रकारके मनुष्योंके लिये प्रभु-भक्ति नाना प्रकारकी, विविध रूपकी हो सकती है; परंतु उनमेंसे प्रत्येकका हेतु—लक्ष्य-बिन्दु तो एक प्रभुके दर्शनसे कृतार्थ होकर प्रभुमय होनेका ही होना चाहिये। तभी वह उत्तम

भक्ति कही जा सकेगी, तभी वह अनेक योगोंमें एक उत्तम योग गिना जायगा ।

हम भी इस प्रकारके उत्तम योगको अनुभवमें लाकर उसके उत्तम फलको प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु इसके लिये, जैसा कि इन [illegible] भावना अति शुद्ध [illegible] तभी हम अति [illegible] समर्थ हो सकते हैं ।

कदाचित् मैं भक्त बन पाता !

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बात है कोई बीस-बाईस साल पुरानी । सुना कि अमुक ज्योतिषी सच्ची भविष्यवाणी करता है, यहाँतक कि मृत्युकी सही तारीख भी बतला देता है । मैंने भी कुछ प्रश्न उसके पास भेज दिये । मेरा एक प्रश्न यह भी था कि 'जीवनमें कभी सच्चा भक्त बन सकूँगा क्या ?'

उत्तरमें उसने लिखा था—'भजन-पूजन, भक्तिभाव आदिका विचार तो बहुत होता है, किंतु सधता नहीं । भजन-पूजन आदि शुभ कर्मोंमें विघ्न-बाधाएँ अधिक उपस्थित हो जाती हैं, जिससे चित्तमें खेद भी होता है; तथापि आपके अन्तःकरणका झुकाव अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, वेदान्त, धर्म-कर्म, ईश्वर-पूजा, उपासना आदि परमार्थकी ओर अधिक है । भविष्यमें सच्चे ईश्वरभक्त बन जानेकी शुभ-सूचना है ······ ।'

× × ×

ज्योतिषीके और कई उत्तर तो समयके कुछ थोड़े हेर-फेरके साथ सही उतरे, पर यह 'शुभ-सूचना' अभीतक सही नहीं उतर पायी । ऊहापोहकी जो स्थिति आजसे पचीस साल पहले थी, वही आज भी है । भक्त बननेकी इच्छा तो बहुत होती है, पर भक्त बन कहाँ पाया ! वही हाल है—

दिल तो चलता है, मगर टट्टू नहीं चलता ।

× × ×

जहाँतक मैं सोच पाया हूँ, इसका कारण यही लगता है कि मैंने सच्चे दिलसे कभी भक्त बननेकी चेष्टा ही नहीं की, जी जानसे कभी इसके लिये प्रयत्न किया ही नहीं । पानीमें डूबते समय, गोता खाते समय प्राण बचानेके लिये जैसी छटपटाहट होती है, प्रभुको पानेके लिये पलभरको भी तो वैसी छटपटाहट मुझमें पैदा हुई नहीं; फिर मैं अपने उद्देश्यमें सफल होता भी तो कैसे । भक्त बनना भी तो कैसे !

केवल Wishful thinking [illegible] है कहीं ?

[illegible]

× × ×

और फिर [illegible] गाड़ीमें; बनना चाहता हूँ [illegible] तब मैं भक्त कहाँ [illegible] ।

[illegible]

× × ×

भक्त बननेका [illegible] कालसे हमारे [illegible] आ रहे हैं ।

[illegible]

[illegible]
[illegible] है,
[illegible] है,
[illegible] है,
[illegible] मानता है,
[illegible] नहीं [illegible],
[illegible] कोई नहीं [illegible],
[illegible] निश्चिन्त रहता है,
[illegible] होता है,
[illegible] रहता है,
[illegible] रहता है,
[illegible] दूर रहता है,
काम और क्रोधको मार भगाता है!

× × ×

गीतामें भक्तकी राह बतायी गयी है बारहवें अध्यायमें। एक दिन मैं उसे खोजने लगा तो उसमें भक्तके ४०, ४१ लक्षण मिले। ये १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक बताये गये हैं।

भक्तके इन लक्षणोंको मैंने यों समेटा—

अहिंसा

वह किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता।
सबका मित्र होता है।
सबपर दया करता है।
अपराधीको क्षमा करता है।
उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता।
उद्वेगोंसे वह मुक्त रहता है।
वह तटस्थ रहता है।

आसक्तित्याग

किसी पदार्थमें उसका ममत्व नहीं रहता।
उसमें किसी बातका अहंकार नहीं रहता।
किसीके कुछ भी करनेपर वह उद्विग्न नहीं होता।
दूसरेकी उन्नतिसे उसे संताप नहीं होता।
इच्छाओंसे वह शून्य रहता है।
दुःखोंसे वह मुक्त रहता है।
[illegible]मात्रका वह त्याग कर देता है।
वह आशाओंके पुल नहीं बाँधता।
वह शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग करता है।
संसारमें उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती।
किसी स्थान या घरकी उसे ममता नहीं होती।

स्थितप्रज्ञता

वह सुख-दुःखमें समान रहता है।
जो मिले, उसीमें संतुष्ट रहता है।
हर्षमें वह फूलता नहीं।
किसीसे वह डरता नहीं।
किसीसे कभी द्वेष नहीं करता।
किसी बातका सोच नहीं करता।
शत्रु-मित्रमें समभाव रखता है।
मान-अपमानमें समभाव रखता है।
गर्मी-सर्दी उसके लिये बराबर हैं।
सुख-दुःख उसके लिये एक-जैसे हैं।
निन्दा-स्तुति उसके लिये बराबर हैं।
उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है।

योगयुक्तता

वह योगयुक्त रहता है।
इन्द्रियनिग्रही होता है।
दृढ़ निश्चयवाला होता है।
पवित्र होता है।
दक्ष और सतत सावधान रहता है।
मौनी, मननशील होता है।

भगवत्परायणता

मन और बुद्धि भगवान्‌को अर्पित कर देता है।
श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है।
भगवत्परायण होता है।

भक्तके लक्षणोंका यह विभाजन अन्तिम नहीं है। इनमें पुनरुक्ति तो है ही, एक श्रेणीका लक्षण दूसरी श्रेणीमें भी जा सकता है। मूल बात इतनी ही है कि भक्तमें अहिंसा, आसक्तित्याग, स्थितप्रज्ञता, योगयुक्तता और भगवत्परायणता होनी ही चाहिये। बिना इन सब गुणोंके भक्त कैसा! गलेमें माला डाल लेनेसे, त्रिपुण्ड्र लगा लेनेसे, रामनामी ओढ़ लेनेसे ही कोई भक्त नहीं हो जाता।

जप माला छापा तिलक सरै न एको काम।

भक्त बननेके लिये तो सारा जीवन-क्रम ही बदल देना पड़ेगा।

× × ×

अहिंसा तो भक्तमें कूट-कूटकर भरी होनी चाहिये। प्राणिमात्रके प्रति उसके हृदयमें प्रेमभाव होना चाहिये। वह न तो किसीसे द्वेष करे, न घृणा। प्रत्येक जीवकी सेवा और सहायताके लिये, दुखियोंका कष्ट दूर करनेके लिये वह सदैव तत्पर रहे। अपराधीके लिये भी, कष्ट देनेवालेके लिये भी उसके हृदयमें प्रेम होना चाहिये। उत्तेजना, क्रोध, घृणा द्वेष आदि विकार तो उसके पास भी न फटकने चाहिये। उसका रोम रोम पुकारता हो—

करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना
मुहब्बतने नहीं दिलमें जगह छोड़ी अदावत की!

× × ×

भक्तका हृदय प्रेम और दया, करुणा और उदारतासे लबालब भरा रहना चाहिये। उसके किसी कोनेमें भी हिंसाके लिये कोई गुंजाइश न हो। कैसी भी स्थितिमें वह उत्तेजित न हो। न तो वह किसीपर कभी क्रोध करे न किसीको कभी सताये। उसके मुखसे कभी किसीके लिये भी कटु, कठोर या अप्रिय शब्द न निकले। किसीपर भी उसकी भौंहें टेढ़ी न हों। अपकारीके प्रति भी वह उपकार करे। विरोधी, अन्यायी और अत्याचारीके लिये भी उसके हृदयमें क्षमा होनी चाहिये, स्नेह होना चाहिये।

× × ×

भक्तमें लौकिक या पारलौकिक किसी भी वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं रहनी चाहिये। किसी भी पदार्थ, स्थिति, व्यक्ति, भाव, स्थान, पदके प्रति आसक्ति या ममता न रहनी चाहिये। उसके चित्तमें कोई कामना न रहे। और जब कोई कामना ही नहीं, तब कैसा दुःख, कैसा शोक—

न ऊधोका लेना, न माधोका देना।

भक्तको हर्ष-शोक, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, निन्दा स्तुति आदि द्वन्द्वोंसे कभी विचलित न होना चाहिये। जब जैसी स्थितिमें पड़ जाय, सदा उसीमें सन्तोष माने, उसीसे लाभ उठाये। उसका मूलमन्त्र हो—

जाही बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये।

× × ×

और इस स्थितिको पानेके लिये भक्तको सदा योगयुक्त होना पड़ेगा। इन्द्रियोंको काबूमें रखना पड़ेगा। उसके लिये

यथा निश्चय करना होगा [illegible] करनी होगी। [illegible] रखना होगा। पता नहीं कब, [illegible] क्या चूके कि गये! [illegible] सतर्कता रहते हुए [illegible]

× × ×

पर मनुष्यके प्रयत्नकी [illegible] वह कहाँतक ऊँचा उठेगा। [illegible] प्रबल होनेपर भी तो [illegible] एकमात्र उपाय है—[illegible] समर्पण। उसे तन, मन, बुद्धि [illegible] देना होगा। सच्चे हृदयसे [illegible]

Take my life and [illegible]
Consecrated, Lord ! [illegible]
Take my will [illegible]
It shall be no longer [illegible]
Take my heart, it is [illegible]
It shall be Thy [illegible]
Take my intellect [illegible]
Every power as Thy [illegible]
Take my self, and [illegible]
Ever, only, all for Thee

मेरा जीवन [illegible]
मेरी इच्छा [illegible]
मेरा हृदय [illegible]
मेरी बुद्धि [illegible]
और [illegible]

[illegible]

× × ×

[illegible]

[illegible]

---

* जिस धनंतमें घूमता है तू, कभी तो बात कर यहाँ !

भक्ति और विपत्ति

(लेखक—श्रीमुकुन्दराय विजयशंकर पाराशर्य)

[illegible] भगवान्‌के भक्त नहीं, पर कोई कोई अनुयायी ऐसा [illegible] कहते हैं कि भक्त जब विपत्तिमें फँसता है, तब [illegible] संकटमोचन भगवान् भक्तकी रक्षाके लिये दौड़ पड़ते हैं—

[illegible]

[illegible] भक्त नरसिंह मेहताकी आर्थिक संकटमें की गयी पुकार हमारे लिये भी अनुकरणीय है—ऐसा वे मानते हैं और इसी रूपमें मानते हैं। भक्त होना मानो भीड़ पड़नेपर भगवान्‌को रक्षाके लिये बुलानेका उपाय है, इसी रूपमें वे भक्त और भगवान्‌के सम्बन्धको देखते हैं और अपनी विचार-सरणिके समर्थनमें ध्रुव, कुब्जा, जरासन्धके द्वारा कैद किये गये राजा लोग तथा सुदामा आदिके दृष्टान्त सामने रखते हैं।

भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तको चाहे जैसी स्थितिमें-से तारें और उबारें, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं, आश्चर्यजनक नहीं, वरं यह स्वाभाविक है। **परित्राणाय साधूनाम्**—इस गीतावाक्यके अनुसार भक्तोंकी मुक्ति तथा रक्षाके लिये भगवान् स्वयं युग-युगमें अवतार लेते हैं। एकनिष्ठासे जो ईश्वरकी भक्तिमें लगे हुए हैं, ऐसे नित्ययुक्त भक्तोंका कष्ट हरनेमें भक्तवत्सल करुणानिधि ईश्वरकी महत्ता और तत्परता दोनों ही स्वीकार्य हैं।

परन्तु भक्त अपनी ऐकान्तिक ईश्वरोपासना छोड़कर, पङ्गु बनकर अपने सांसारिक व्यवहारमें संकट आनेपर भगवान्‌को कष्ट देनेके लिये प्रेरित हो और उसके औचित्यको स्वीकार करे, उसकी यह वृत्ति ठीक नहीं कही जायगी। समझना चाहिये कि ईश्वर-प्राप्तिके लिये आतुर मनुष्यके लिये भक्ति कर्म नहीं, वह एक स्थिति है, अवस्था है। भक्ति एक गति (साध्य) है, साधन नहीं। भक्ति तादात्म्यके लिये प्रेरणा प्रदान करती है। श्रीमद्भागवतमें नृसिंह भगवान्‌की स्तुति करते समय भक्त प्रह्लादने ठीक ही कहा है कि जो भक्त बनकर अपने लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे करुणाकी याचना करता है, वह भक्त नहीं—बल्कि लाभार्थी व्यापारी है। भक्ति सौदेकी वस्तु नहीं है, बल्कि संन्यासमें होनेवाले आत्मसमर्पणका चिह्न है।

उत्कण्ठा-युक्त हृदयकी भक्ति ईश्वरके साथ तादात्म्यके लिये प्रेरणा प्रदान करती है। दूसरी इच्छाएँ उस समय कम होने लगती हैं। उस समय भक्तके ऊपर विपत्ति आनेपर, कोई क्षति होनेपर, ईश्वरप्राप्तिके लिये नहीं, परंतु किसी दूसरी सांसारिक साधन प्राप्तिके लिये भगवान्‌की सहायता माँगना भक्ति नहीं है, किंतु लौकिक दीनवृत्ति है। इससे प्रेममय सायुज्यके साथ विरोध खड़ा हो जाता है। और वह भक्त तथा भगवान्‌के बीच एकरागतासे विमुख द्वैत खड़ा करके उग्र वैषम्य पैदा कर देता है। भक्तकी वहाँ (तादात्म्यकी इच्छामें) मर्यादा दीखती है, यह हीनपात्रता है। भागवत-धर्मका अनुसरण करनेवालोंके लिये यह उचित नहीं।

भगवत्प्राप्ति या भक्तिके सिवा जिसने अन्य वरदानकी इच्छा की है, वही ठगा गया है। ध्रुव, प्रह्लाद तथा गोपियोंने केवल अनन्य भक्तिकी याचना की है। दुःखमें इन्होंने ईश्वर-स्मरण किया है, परंतु वह दुःखसे छूटनेकी प्रार्थनाके लिये नहीं। पशु कहलानेवाले गजेन्द्रने ग्राहसे मुक्ति पानेके लिये ही भगवान्‌का स्मरण नहीं किया। जलमें रहनेवाले ग्राहसे भी अधिक बाधक यह सासारिक सुखकी इच्छावृत्ति है, जो जीवको ईश्वर-ज्ञानसे विमुख करती है। इस प्रकारका परमात्म-ज्ञानसे रहित जीवन बितानेकी इच्छा गजेन्द्रको नहीं थी। गजेन्द्रने तीनों कालसे अबाधित मुक्तिपदकी याचना की। वह तो गजेन्द्र था, परंतु मनुष्य-भक्त तो ईश्वरकी महिमा जाने और देखे हुए होते हैं। अतः ईश्वर जो स्थिति प्रदान करे, उसीमें वे रहनेके लिये तैयार रहते हैं। केवल उनको यही अपेक्षा रहती है कि उनका मन ईश्वरकी भक्तिमें लीन रहे।

सांसारिक सुखद स्थितिकी अपेक्षा विपत्तिके प्रसङ्ग भक्तके हृदयको बहुत उत्कटताके साथ ईश्वरकी ओर प्रेरित करते हैं। ईश्वर जिसको तारना चाहते हैं, उसको विशेष कष्टकी अग्निमें तपाकर शुद्ध और निर्मल बना लेते हैं। इस स्थितिको समझनेवाले भक्त कभी विपत्तिसे डरते नहीं, उल्टा उनका स्वागत करते हैं। श्रीमद्भागवतमें माता कुन्ती श्रीकृष्णकी स्तुति करती हैं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्‌ तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भागवत १।८।२५)

'हे जगद्गुरो! हमपर सदा सब जगह विपत्ति ही आया करे, जिससे जिनके दर्शनसे ससारका आवागमन बंद हो जाता

है, ऐसी अपार महिमावाले आपका दर्शन हम पा सकें।'

माता कुन्तीने यह प्रार्थना अपनी प्रथमावस्थाके सुखमय दिनोंमें नहीं की थी। पाण्डवोंके वनवासके बाद, कुरुक्षेत्रके युद्धमें उभयपक्षके सर्वनाशके बाद, पाण्डव-कुलके एकमात्र आशारूप उत्तराके गर्भस्थको अश्वत्थामाके द्वारा हानि पहुँचानेके यत्नके बादकी यह प्रार्थना है। जीवनभर संकट-के-ऊपर संकट सहनेके बाद इस प्रकार ऐसी विपत्तिकी स्वेच्छापूर्वक प्रार्थना करते हुए ईश्वरकी अपार महिमाका गान करनेवाले भक्तहृदयमें परमात्मदर्शनकी कितनी उत्कट अभिलाषा होगी, साधारण मनुष्य तो इसकी केवल कल्पना ही कर सकता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि विपत्ति और कष्ट भक्तोंके लिये नश्वर सांसारिक विषमता तथा ईश्वरकी शाश्वत परम-गहन महत्ताको प्रत्यक्ष प्रदर्शित करानेवाले प्रसङ्ग होते हैं। ऐसे प्रसङ्गोंमें सच्चे भक्तकी ईश्वरमें लगी हुई वृत्ति विशेष दृढ़ हो जाती है। विपत्तिको इष्टस्थिति समझकर आतुर भक्त उससे लाभ उठा लेता है। जागतिक दुःखानुभवरूपी विषम तरङ्गें भक्तकी जीवन-नौकाको ईश्वररूपी बंदरगाहकी ओर प्रेरित करती हैं, अतः वे वाञ्छनीय होती हैं। विपत्तिके अनुभव भक्त-हृदयको ईश्वरकी ओर ले जानेवाले वेगवान् वाहन हैं, वैकुण्ठवासी जगन्नाथको बुला मँगानेवाले तार-टेलीफोन नहीं हैं!

भक्तिके विषयमें जिज्ञासु प्रायः यह प्रश्न उठाते हैं कि भक्ति सकाम होती है या निष्काम। इस प्रश्नके दो पहलू हैं। भक्ति सकाम होनी चाहिये या निष्काम? यह भक्तकी आदर्श स्थिति दिखलाता है। दूसरा पहलू है—भक्ति कितनी और किस प्रकारकी होनी चाहिये? यह पहलू भक्तिकी वस्तुस्थितिको जानना चाहता है।

प्रश्नके समान ही उत्तरके भी दो पहलू हैं। वस्तुस्थितिको जाननेकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि भक्ति सकाम और निष्काम दोनों प्रकारकी दृष्टिगोचर होती है तथा सकामसे निष्काममें परिणत होती हुई भी दीखती है। परंतु भक्तिके आदर्शकी दृष्टिसे विचार करें तो ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति अपने विशिष्ट स्वरूपमें सकाम नहीं, निष्काम ही है। भक्ति किस प्रकारकी होनी चाहिये?—देवहूतिके इस प्रश्नके उत्तरमें भी कपिलदेवजीने निष्काम भक्तिकी ही महिमाका वर्णन किया—

> देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
> सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
> अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
> जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

[illegible]

[illegible] । [illegible] मे [illegible] भी [illegible] शरण [illegible] सुखभोग- [illegible] हो गया । [illegible] और अन्यत्र [illegible] आवरण तनिक भी नहीं [illegible] प्रेममय—भक्तिमय तादात्म्यसे [illegible] नहीं होनी चाहिये—यह भान होने ही गजेन्द्र [illegible] लगा—

> जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
> मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
> इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
> स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥
> (श्रीमद्भा० ८ । ३ । २५)

'इस ग्राहके चंगुलसे छूटकर मैं जीनेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि बाहर और भीतर—सब ओर अविवेक—अज्ञानसे व्याप्त इस गजदेहसे मुझे क्या लेना है । परंतु जिस अज्ञानसे आत्मज्ञान प्रकाश ढक गया है तथा (एक ज्ञानको छोड़कर) उस काल भी जिसका नाश नहीं कर सकता, मैं उस अज्ञानकी निवृत्ति चाहता हूँ ।'

इसके बाद गजेन्द्रको मोक्ष-लाभ होता है; परंतु उस समय उसका गजशरीर गिर जाता है । वह ईश्वरके पार्षदके रूपमें मुक्त हो जाता है । यह स्थिति है । दूसरी (सौतेली) माताके [illegible] ध्रुव [illegible] आकाङ्क्षासे तप करते हैं । परंतु [illegible] प्रभावसे ईश्वर-दर्शनके साथ ही उनकी सकामवृत्ति छूट जाती है और ध्रुव ईश्वरसे केवल भक्ति माँगते हैं, [illegible] माँगते हैं । श्रीमद्भागवतमें ऐसे अनेक उदाहरण [illegible] हो जाता है कि सकाम उपासना, भक्तिके प्रभावसे [illegible] निष्काममें परिणत हो जाती है । सकाम [illegible] । [illegible] होना ही बड़े भाग्यकी बात है । [illegible] भी [illegible] है; परंतु सकामसे विशिष्ट, [illegible] और उचित—ऐसी भक्ति तो निष्काम भक्ति [illegible] परिपक्वरूप है—यही दिखलाना [illegible] ।

[illegible] भक्तोंके चार प्रकार बतलाये गये हैं—

> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
> (७ । १६)

'आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त होते हैं ।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।······
> (गीता ७ । १७)
> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
> (७ । १८)

'उन (चारों) में ज्ञानी भक्त, जो मुझमें नित्य जुड़ा रहता है तथा अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करता है, सर्वश्रेष्ठ है ।'—यों कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी—इन तीनों प्रकारके भक्तोंको गौण बतलाते हुए नित्ययुक्त, अनन्य भक्तिवाले ज्ञानीको महत्त्व देते हैं । उपर्युक्त तीन प्रकारके भक्तोंको यद्यपि हीन नहीं बतलाया, फिर भी उनका स्थान निष्काम ज्ञानी भक्तसे निम्नकोटिका है—यह बात भी स्पष्ट कर दी ।

श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तियोगनामक बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणोंको देखना चाहिये । श्रीकृष्ण कहते हैं—

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
> ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
> (१२ । १२)

'अभ्याससे ज्ञान श्रेयस्कर है, ज्ञानसे ध्यानका विशेष मूल्य है । ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग विशेष मूल्यवान् है, जिस त्यागके द्वारा परम शान्तिकी प्राप्ति होती है ।'

यहाँ कर्मफलत्यागकी बात कही गयी है, इसके अंदर सकाम उपासनामें रहनेवाली इच्छावृत्ति, स्पृहा या कामनाके सम्पूर्ण त्यागका भी समावेश समझना चाहिये । जो पारमार्थिक फलानुसंधानका भी निषेध करते हैं, वे लौकिक कामनाको क्योंकर छूट दे सकते हैं । भक्तके लक्षणोंको दिखलाते हुए भगवद्गीतामें जो विशेषण दिये गये हैं, उन्हें देखनेसे भी यह बात स्पष्ट हो जायगी कि 'अनपेक्षः', 'उदासीनः', 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'संतुष्टो येन केनचित्', 'न काङ्क्षति', 'निर्ममः' इत्यादि जो प्रिय भक्तोंके लक्षण श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहे हैं, वे अधिकांश निष्काम भक्तके ही हैं, सकाम भक्तके नहीं; क्योंकि भक्ति स्वयं पराकाष्ठाको पहुँचकर भक्तको आप्तकाम बना देती है और आप्तकाममें स्पृहा या कामना रह नहीं सकती । यह श्रेणी ही ऊँची है । इस निष्काम भक्तके तो प्रभु स्वयं ही भक्त बने रहते हैं ।

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible]

दृढ़ताके साधन

भक्ति—ईश्वरभक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, देशभक्ति आदि क्या हैं? और किस प्रकार इनमें दृढ़ता आ सकती है? इन प्रश्नोंका उत्तर जिस सुन्दर, सुगम, सरल और सूक्ष्मरूपसे भक्तशिरोमणि पूज्य महात्मा श्रीतुलसीदासजीद्वारा लिखित श्रीरामचरितमानसमें मिल सकता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भक्तिकी जो अनेक धाराएँ मानसमें प्रवाहित हो रही हैं, उन सबका यहाँ विवेचन करके लेखका कलेवर बढ़ाना प्रथम तो हमें अभीष्ट ही नहीं, दूसरे यह कि अन्य विषयोंकी चटोरी हमारी लेखनी भक्तिके नामसे कोसों दूर भागती है। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमें अपने अहैतुक दयालु भगवान्का ज्ञान हो जाय, उनसे हमारी जान-पहचान हो जाय और उनके चरणकमलोंमें प्रीति लग जाय। बस, फिर क्या! कल्याण हो गया।

जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।

× × × ×

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मायाके सम्बन्धमें अपने अनुज भ्राता लक्ष्मणजीद्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीरामने थोड़ेमें बहुत कुछ बतलाया है कि किस प्रकार—

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं॥

परन्तु इन सब झंझटोंमें पड़े कौन। अविचल भक्ति प्राप्त करनेके लिये हम तो 'विनयपत्रिकामें' जैसी रहनी श्रीतुलसीदासजी चाहते हैं, वैसी-ही रहनी स्वयं भी माँगते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहिं पावक न दहौंगो।
बिगतमान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भगति लहौंगो॥

'क्या मैं कभी इस रहनीसे रहूँगा? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे कभी मैं संतोंका-सा स्वभाव ग्रहण करूँगा? अर्थात् जो कुछ मिल जाय, उसीमें सतुष्ट रहूँगा; किसीसे (मनुष्य या देवतासे) कुछ भी नहीं चाहूँगा। निरन्तर दूसरोंकी भलाई करनेमें ही लगा रहूँगा। मन, वचन और कर्मसे संयम-नियमोंका पालन करूँगा। कानोंसे अति कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न हुई (क्रोधकी) आगमें न जलूँगा। अभिमान छोड़कर सबमें समबुद्धि रहूँगा और मनको शान्त रखूँगा। दूसरोंकी निन्दा-स्तुति कुछ भी नहीं करूँगा। शरीरसम्बन्धी चिन्ताएँ छोड़कर सुख और दुःखको समानभावसे सहूँगा। हे नाथ! क्या तुलसीदास इस (उपर्युक्त) मार्गपर रहकर कभी 'अविचल हरि-भक्ति' को प्राप्त करेगा?'

यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश

यमराज कहते हैं—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥
(श्रीमद्भा० ६।३।२९)

'जिनकी जीभ भगवान्के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्-सेवा-विमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।'

भक्तिके सम्बन्धमें कुछ बेतुकी आलोचनाएँ एवं उनका उत्तर

(लेखक—श्री[illegible] पुरोहित एम० ए०)

नामस्मरण

कुछ लोगोंका कहना है कि 'भक्तिका स्थान मन है। केवल मुँहसे भगवान्के नामको जपनेमात्रसे न तो भक्तिका अन्तरमें अस्तित्व सूचित होता है और न भक्तिकी अभिवृद्धि ही होती है।' इस प्रकारकी भावना समीचीन नहीं। बड़े-बड़े पण्डितोंने कहा है कि मनके चञ्चल होनेपर भी यदि भगवान्का नाम मुँहसे जपने लगे तो वह भक्तिका प्रमाण और उसकी अभिवृद्धिका मार्ग है। इतना ही नहीं, यह बात शास्त्र और तर्कसे भी सिद्ध हो जाती है। हमें पहले तो यह याद रखना चाहिये कि जिन शब्दोंका उच्चारण मुँहके अंदर रहनेवाले जीभ आदि अवयवोंद्वारा होता है, वह उनका अपना काम नहीं वरं उसके पीछे इन शब्दोंके उच्चारण करनेकी प्रेरणा या मनका सकल्प काम करता है। अपने-आप होनेवाली शारीरिक चेष्टाओंके अन्तरालमें भी गुप्तरूपसे मानसिक सकल्प रहता है—इस बातको आधुनिक मनःशास्त्रकी मानते हैं। इस शास्त्रने यह मान लिया है कि सोते समय, चलते समय, पलक मारते समय भी इन क्रियाओंके पीछे मानसिक प्रेरणा अवश्य रहती है। ऐसी परिस्थितिमें जब हम 'राम'-'राम' का उच्चारण करते हैं, तब भी समझना चाहिये कि मनके अंदर कहीं भगवान्का नाम उच्चारण करनेकी लालसा छिपी है। ऐसा हुए बिना अचानक आवश्यक हवा फेफड़ोंसे बाहर नहीं आती। इस प्रकार माननेमें भी कि जितनी बार राम-नामका उच्चारण किया जाता है, उतनी ही बार रामके सामने मन काँपता है, कोई दोष नहीं है। मनकी एकाग्रताकी अभिवृद्धि होनेके साथ-साथ यह कम्पन प्रकट होता रहता है। व्याकुल हृदयसे नामका उच्चारण करते समय भी सूक्ष्मरूपसे यह कँपकँपी होती रहनेके कारण जब भगवान्के नामका जप होता है, तब अंदरकी भक्ति-भावनाको ऊपर उठकर आने और नये भक्ति-संस्कार पाने योग्य होनेका अवसर मिलता है। अतः सभी पण्डितोंने स्वीकार किया है कि भक्तिमें नामके उच्चारणका स्थान सर्वोपरि है।

मानव-सेवा

आजकल कुछ लोगोंका कहना है कि 'नाम जपना, तीर्थयात्रा करना, ध्यान करना भक्ति नहीं है। भक्ति है लोगोंकी सेवा करना और यही [illegible] है।' [illegible] अन्य बातोंकी तरह इनमें [illegible] प्रति भी भगवद्भाव रखना [illegible] तो भगवान्की मानवके [illegible] मानवकी सेवा भगवान्की सेवाके [illegible] भगवान् और मानवको [illegible] बिना भगवान्के [illegible] करते हुए भी [illegible] उस दिशा [illegible] उपनिषद् [illegible] निरन्तर भी [illegible] व्यापि [illegible] की [illegible] मानवकी सेवा [illegible] दीन-दुखी, [illegible] करनेके सभी [illegible] ईश्वरके ध्यानमें मन [illegible] इनको [illegible] वेद है। ऐसे [illegible] का [illegible] नहीं [illegible] के लगे हुए [illegible] उन्हें [illegible] अत्युक्ति नहीं होगी कि [illegible]

सकाम-भक्ति

बहुत थोड़े [illegible] मोक्ष पानेकी [illegible] प्रतिज्ञामें [illegible] भक्तोंकी कोई भी [illegible] उदार ही [illegible] पूजनेका [illegible] करते, बुद्धिके [illegible]

हुए उन्हें परिहासके साथ चेतावनी देते हैं कि 'ईश्वरसे व्यापार नहीं करना चाहिये । केवल नारियल समर्पण करनेसे वह तुम्हारा रोग दूर नहीं कर देगा। जो काम तुमलोग करते हो, वह व्यापार है न कि भक्ति ।' भक्तश्रेष्ठ इतना तो अवश्य जानते हैं कि नास्तिकोंकी बातोंका कोई मूल्य नहीं है, परमात्मा श्रीकृष्णकी बातोंका ही अधिक मूल्य है । जब स्वयं भगवान् ही अपना भजन करनेवाले गरीबों, पीड़ितों और जिज्ञासुओंको 'उदार'की उपाधि देते हैं, तब ये नास्तिक उनको भक्त न कहें तो इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं ।

भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

(भगवद्गीता ७ । १६, १८)

अच्छा स्वभाव या उत्तम चरित्र

इन लोगोंका यह भी एक आक्षेप है कि 'जब लोगोंमें यह भावना स्थिर हो जायगी कि भक्ति ही श्रेष्ठ है और भक्ति ही हमको भवसिन्धुसे तार देगी, तब लोग अच्छे स्वभाव तथा उच्च चरित्रकी अवहेलना करके भक्तिके भरोसे रहकर मार्गभ्रष्ट हो जायँगे । इससे, लोगोंकी पहले जो शीलपर श्रद्धा थी, उसको बडी ठेस लगेगी ।'

वस्तुतः इस प्रकारका आक्षेप करनेवाले यह नहीं समझ पा रहे हैं कि भक्तिका मुख्य फल क्या है । भक्तिका पहला काम होता है—भक्तके अन्तरात्माको शुद्ध कर देना । जिसपर ईश्वरकी कृपा होती है, वही पुरुष धर्म-बुद्धिवाला समझा जाता है । और भक्तिसे ईश्वरकी कृपा प्राप्त होती है । ये लोग भगवान् श्रीकृष्णके निम्नाङ्कित वचनपर ध्यान नहीं देते—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
....
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

(गीता ९ । ३०, ३१)

—इन वाक्योंमें भगवान्‌ने यह स्पष्ट कहा है कि 'मेरी भक्ति करनेवाला मेरी प्राप्तिसे पहले निश्चय ही धर्ममार्गपर चलनेवाला धर्मात्मा हो जायगा ।' भगवान् अपने भक्तोंका इतना उपकार तो निश्चित ही करते हैं कि वे उसे दुराचारसे मुक्त कर देते हैं । वह भगवान्‌की कृपासे तुरंत धर्मात्मा होकर शाश्वती शान्तिको पा जाता है । इससे यह सिद्ध है कि भक्तिसे उच्च चरित्रके निर्माणमें कोई बाधा नहीं आती । व भक्तिसे तुरंत पूर्ण तथा विशुद्ध निष्कलङ्क चरित्रकी नित्य-प्राप्ति सहज ही हो जाती है ।

सीनेमें समाने हेतु

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

लोक-लाज छोड़, दौड़-दौड़ हरि-मन्दिरको,
साधु-संग बैठने को मजबूर हो गई ।
निरख-निरख पूर नूर नन्दलालजीका,
सरक-सरक दुनियासे दूर हो गई ॥
कौड़ी-तौल बेच अपनेको गिरधारी-हाथ,
दिव्य अनमोल हीरा कोहेनूर हो गई ।
प्रेमी श्यामसुन्दरके सीनेमें समाने हेतु,
'मीराँ' नाच-नाचके पसीने-चूर हो गई ॥

प्रेम-भक्ति

([illegible])

भक्त, भक्ति, भगवान और गुरु—एक ही तत्त्वकी चतुर्धा स्थिति है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे भक्त-सङ्गकी प्राप्ति होती है अथवा भक्तके सङ्गसे प्रेम-भक्ति प्रदान करनेवाले श्रीगुरुके चरणोंका आश्रय प्राप्त होता है। श्रीगुरुके चरणोंका आश्रय लेनेपर ही मर्मी साधकके सङ्ग-प्रभावसे भक्ति प्राप्त होती है। सुदुर्लभा, क्लेशघ्नी (क्लेशोंका नाश करनेवाली), शुभदा, मोक्षको भी लघुता प्रदान करनेवाली, ब्रह्मानन्दसे भी अधिक सुख देनेवाली एवं श्रीकृष्णको आकर्षित करनेवाली शुद्धा प्रेम भक्तिके उदय होनेपर भक्तिके स्वरूप, भगवान्‌के स्वरूप तथा भक्तके स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति किसकी करें? भक्ति हम क्यों करें? भक्ति कौन करे? इन प्रश्नोंका समाधान होनेपर हृदय निरुपाधि प्रेमसे पूर्ण हो सकता है।

वेदान्त विचारमें पहले सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन और अधिकारी—इन चारोंका विचार किया जाता है। भक्तिके सम्बन्धमें भी तदनुरूप अनुबन्ध-चतुष्टयका जानना आवश्यक है। प्रथम है—सम्बन्ध-तत्त्व। भक्तिदेवीका निगूढ़तम सम्बन्ध श्रीभगवान्‌के साथ है। एक ही परतत्त्वका ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन पृथक् नामोंसे श्रुति स्मृति-पुराणोंमें वर्णन किया गया है; तथापि इनकी अभिव्यक्तिमें तारतम्य ध्वनित होता है। निर्विशेषरूपमें स्फुरित होनेवाला परतत्त्व ब्रह्म विभु और अनन्त है। जीव जगत्‌के भीतर चेतनाकी धारा प्रवर्तित करनेवाला अन्तर्यामी परमात्मा चेतना प्रदान करनेवाली शक्ति या विशेषतासे युक्त है। परंतु भगवान अनन्त अचिन्त्य शक्तिसे युक्त परमतत्त्व है। साधारण बुद्धिसे निर्गुण ब्रह्म ही परम तत्त्वके रूपमें स्वीकृत होता है, यही लोकमें प्रसिद्ध है। सारे सद्गुणोंकी खान परमानन्द विग्रहस्वरूप श्री भगवान् ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं—यह बात गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है, तथापि उसकी विकृत व्याख्या होनेके कारण बहुधा लोग उस प्रसिद्ध वाक्यका तात्पर्य समझनेमें समर्थ नहीं होते। गीताका वह वचन इस प्रकार है—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
>
> ([illegible])

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। 'प्रतिष्ठा' शब्दका अर्थ शंकराचार्य 'प्रतिमा' करते हैं। [illegible]

[illegible]

अथवा—

चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गनानां
श्रृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम्।
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनु-
वृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः॥

'हे मुरारे! छप्पन कोटि यादव आपकी आराधना करते हैं। प्रसिद्ध अष्ट निधियाँ आपके प्रयोजनीय धनराशिकी वर्षा करती हैं, अन्तःपुरके नौ लाख प्रासाद आपके विलासके स्थान हैं। आपकी इस समृद्धिको देखकर कौन नहीं विस्मित होगा।'

अथवा—

'अहो! वृन्दावनके ऐश्वर्यकी बात कहाँतक कहें। यहाँ चिन्तामणि स्त्रियोंके चरणोंके आभूषण हैं, कल्पवृक्ष उनके श्रृङ्गार-साधनके लिये पुष्प प्रस्तुत करते हैं, कामधेनुओंके झुंड ही वहाँका गोधन है! वृन्दावनकी विभूति सुखका अनुपम सिन्धु है!'

इस जन्ममें अथवा किसी पूर्व जन्ममें भगवदनुरागी भक्तोंके सङ्गके फलस्वरूप हृदयमें भगवत्प्रीतिका उदय होता है। शास्त्रोंका विचार करनेसे या पापोंका दण्ड देनेवाला मानकर भयसे प्रभुकी जो भक्ति की जाती है, उसको 'विधि-भक्ति' कहते हैं और प्राणोंके स्वतःस्फूर्त आवेगसे भगवान्‌के रूप-गुण-लीला-माधुर्यकी बातें सुनकर मनमें यदि लालसाका उदय होता है, प्रियतम प्रभुके प्रति नैसर्गिक रसमयी आविष्टता दीख पड़ती है तो उसको 'राग भक्ति' कहते हैं। इस राग-भक्तिका सर्वश्रेष्ठ उद्गम कृष्णावतारके समय व्रजमण्डलमें हुआ था। व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णके प्रति भक्ति राग-भक्ति या रागात्मिका भक्ति थी। उनके अनुगत होकर की जानेवाली भक्ति रागानुगा कहलाती है। श्रीराधाके प्रेममें रागात्मिका भक्तिका चरम उत्कर्ष हुआ है।

श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा साधकके जीवनमें भक्ति आकार ग्रहण करती है। जो अबतक विमुख रहा, वह उन्मुख होता है। जो अपवित्र था, वह पवित्र होता है। कोई इस भयसे कि भक्ति न करनेसे शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन होगा और कोई भगवत्प्राप्तिकी लालसाके वश साधन-भक्तिका अनुशीलन करते हैं। भक्तिका क्रम यह है—(१) श्रद्धा, (२) साधुसङ्ग, (३) भजन-क्रिया, (४) अनर्थ-निवृत्ति, (५) निष्ठा, (६) रुचि, (७) आसक्ति, (८) भाव तथा (९) प्रेम। तृतीय पर्याय यानी भजन-क्रियामें प्रवृत्त होनेपर साधकके सामने अनेक अनर्थ आते हैं। किसके भाग्यमें कौन अनर्थ उपस्थित होगा—यह निश्चय नहीं है। भजनकी अवस्थामें अनर्थोंसे बचना बड़े ही भाग्यसे होता है। भजनमें प्रवृत्तिके साथ जो एक उत्साह देखा जाता है, उसको 'उत्साहमयी दशा' कहते हैं। उस समय साधक समझता है कि थोड़ी ही चेष्टासे सब कुछ हो जायगा, भगवत्प्राप्ति हो जायगी। उसके पश्चात् आती है तीव्र चञ्चलावस्था, उस समय कभी उत्साह होता है तो कभी अनुत्साह। इसके बाद साधक दृढतापूर्वक भजनमें आग्रहशील होता है, इस अवस्थाका नाम है व्यूढ-विकल्प। इस अवस्थाको पार करनेपर 'संसार छोड़ दूँ, या संसारमें रहकर ही भजन करूँ' इस प्रकार खींचतानका भाव उत्पन्न होता है। इस समय उसको मनोराज्यमें भोग-विषयोंको लेकर युद्ध करना पडता है। अतएव यह अवस्था 'विषय-सङ्गरा' कहलाती है। दृढ़-सकल्प करके तब वह नियमपूर्वक भजन करनेमें लगता है, पर समय-समयपर उस नियममें शिथिलता आ जाती है; इस अवस्थाको 'नियमाक्षमा' कहते हैं। इस अवस्थाके बीतनेपर 'तरङ्गरङ्गिणी' नामक अवस्थामें साधक भक्तिकी तरङ्गोंमें हिलोरे खाता रहता है। जन्म-जन्मान्तरके सुकृत-दुष्कृत अथवा अपराधोंसे जो अनर्थ उत्पन्न होते हैं, वे साधकके साधनाके प्रति आग्रहसे तथा श्रीगुरु-वैष्णवकी कृपासे जब दूर हो जाते हैं, तब साधक अनिष्ठिता भक्तिकी अवस्थासे निष्ठिता भक्तिकी भूमिकामें प्रवेश करता है। रोगी पुरुषको जिस प्रकार स्वादिष्ट अन्न-जलके प्रति रुचि नहीं होती, उसी प्रकार अनिष्ठिता भक्तिकी अवस्थामें साधककी भजनमें रुचि नहीं होती। निष्ठाका उदय होनेपर धीरे-धीरे रुचिका आविर्भाव होता है। यह रुचि क्रमशः आसक्तिमें परिणत होती है। गाढ़ आसक्तिका नाम ही भाव है। तन्त्रमें कहा गया है कि प्रेमकी प्रथमावस्था भाव है; इसमें अश्रु-रोमाञ्च आदि प्रकट होते हैं। भावुक साधकके जीवनमें कुछ चिह्न देखकर समझा जा सकता है कि उसके हृदयमें भावका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है। (१) क्षान्ति, (२) अव्यर्थकालत्व, (३) विरक्ति, (४) मान-शून्यता, (५) आशाबन्ध, (६) समुत्कण्ठा, (७) नाम-गानमें सदा रुचि, (८) भगवान्‌के गुण-वर्णनमें आसक्ति और (९) उनके धाममें निवासके लिये प्रीति—ये ही उत्पन्न भावाङ्कुर भाग्यवान् साधकके परिचायक लक्षण हैं। राजा परीक्षित् तक्षकके द्वारा डसे जानेके भयसे भीत या क्षुब्ध नहीं हुए। वे बोले—'भगवान्‌का गुण-गान,

प्रेम अथवा निर्मल निविड भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे श्रीकृष्ण-रतिमें चमत्कार आता है। स्थायीभाव ही भक्तिरसका मूल उपादान है। जो अविरुद्ध या विरुद्ध सब प्रकारके भावोंको आत्मसात् करके सम्राट्की तरह इन सबको वशमें करके विराजित है, उसको स्थायीभाव कहते हैं। इसीका दूसरा नाम है—श्रीकृष्ण-प्रीति। यह कृष्ण-प्रीति पाँच मुख्य और सात गौण अलौकिक पारमार्थिक रसोंका आस्वादन कराती है। (१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) मधुर—ये पाँच मुख्य रस हैं। (६) हास्य, (७) अद्भुत, (८) वीर, (९) करुण, (१०) रौद्र, (११) भयानक और (१२) बीभत्स—ये गौण सात रस हैं। द्वादश रसोंका वर्ण है—(१) श्वेत, (२) विचित्र, (३) अरुण, (४) शोण, (५) श्याम, (६) पाण्डुर, (७) पिङ्गल, (८) गौर, (९) धूम्र, (१०) रक्त, (११) काला और (१२) नीला—इन बारह रसोंके देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) कपिल, (२) माधव, (३) उपेन्द्र, (४) नृसिंह, (५) नन्दनन्दन, (६) हलधर, (७) कूर्म, (८) कल्कि, (९) राघव, (१०) परशुराम, (११) वराह, (१२) मीन या बुद्ध।

कृष्ण-प्रीति भक्त-चित्तको उल्लसित करती है, ममता-बुद्धिका उदय करती है, विश्वास उत्पन्न करती है, प्रियत्वका अभिमान जाग्रत् करती है, हृदयको द्रवित करती है, अतिशय लालसापूर्वक स्व (श्रीकृष्ण) के साथ युक्त करती है, प्रतिक्षण नये-नये रूपमें अनुभूत होती है, अतुलनीय एवं निरतिशय चमत्कृतिके द्वारा उन्मत्त कर देती है। जिस अवस्थामें अतिशय उल्लास होता है उसका नाम है 'रति'। वही रति ममत्वकी अधिकता होनेपर 'प्रेम' कहलाती है। प्रेम जब सम्भ्रमरहित विश्वासमय होता है, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है। अतिशय प्रियत्वके अभिमानसे प्रणय-कौटिल्यका आभास ग्रहण करनेपर जो भाव वैचित्र्यको ग्रहण करता है, उसका नाम है 'मान'। चित्तको द्रवित करनेवाला प्रेम 'स्नेह' कहलाता है। स्नेह अतिशय अभिलाषासे युक्त होनेपर 'राग'रूपमें परिणत होता है। राग अपने विषयको नये-नये रूपोंमें अनुभव कराके तथा स्वयं भी नया-नया रूप धारण करके 'अनुराग' नाम ग्रहण करता है। अनुरागमें प्रिय और प्रियाके प्रेमवैचित्त्यका अनुभव होता है तथा प्रियके सम्बन्धसे अप्राणीमें भी जन्म लेनेकी लालसा जाग्रत् होती है। अनुराग असमोर्ध्व चमत्कारिता प्राप्त करके जब उन्मादक हो जाता है, तब उसको 'महाभाव' कहते हैं। महाभावका उदय होनेपर मिलनावस्थामें पलकका गिरना भी असह्य हो उठता है। कल्पका समय भी क्षणके समान अनुभव होता है और विरहमें क्षणकाल भी कल्पके समान दीर्घ जान पड़ता है।

महाभावस्वरूपिणी श्रीराधा श्रीकृष्णके प्रेयसीगणोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। परमसुन्दर, असमोर्ध्व लीला-चातुर्यकी सम्पदासे समलंकृत नन्दनन्दन श्रीराधाके प्रेमके आलम्बन हैं। श्रीराधा मधुर-रसका श्रेष्ठतम आश्रय है। श्रीराधा-गोविन्दकी परस्पर रति इतनी प्रगाढ़ है कि सजातीय अथवा विजातीय किसी भी भावके समावेशसे कहीं भी कभी भी उसमे व्याघात नहीं होता। यथा—

> इतोऽदूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रपटली
> दृशोरग्रे चन्द्रावलिरुपरि शैलस्य दनुजः।
> असव्ये राधायां कुसुमितलतासंवृततनौ
> दृगन्तश्रीर्लोला तडिदिव मुकुन्दस्य वलते॥
>
> (भक्तिरसामृतसिन्धु ३।५।७ में उदाहृत)

'कुछ दूरपर माता यशोदा है, चारों ओर सखागण सुशोभित हैं, आँखोंके सामने चन्द्रावली है, समीप ही पर्वतके टीलेपर अरिष्टासुर है; तथापि दाहिनी ओर कुसुमित लताकी ओटमें स्थित श्रीराधाके प्रति मुकुन्दकी चञ्चल दृष्टि विद्युत्के समान बारबार पड रही है।' श्रीकृष्णकी संधिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन तीन शक्तियोंमें श्रीकृष्ण एवं भक्तोंका सुख-विधान करनेवाली ह्लादिनी शक्तिका सार है मादन नामक भाव, जिसमें सब प्रकारके भावोंको उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य है। यह महाभावस्वरूपा श्रीराधाका असाधारण गुण है। इसी कारण श्रीराधाके भावका नाम है—'मादनाख्य महाभाव'।

श्रीराधाके कायिक गुण छः हैं—(१) मधुरा, (२) नववया, (३) चलापाङ्गा, (४) उज्ज्वलस्मिता, (५) चारुसौभाग्यरेखाढ्या, (६) गन्धोन्मादितमाधवा।

वाचिक गुण तीन हैं—(१) सङ्गीत प्रसराभिज्ञा, (२) रम्यवाक्, (३) नर्मपण्डिता।

मानस गुण दस हैं—(१) विनीता, (२) करुणापूर्णा, (३) विदग्धा, (४) पाटवान्विता, (५) लज्जाशीला, (६) सुमर्यादा, (७) धैर्यशालिनी, (८) गाम्भीर्यशालिनी, (९) सुविलासा, (१०) महाभाव-परमोत्कर्ष-तर्षिणी।

श्रीराधाके और भी कई गुणोंका उल्लेख किया गया

है। महाभाव-परमोत्कर्षिणी राधाके रूपका वर्णन करते हुए श्रीरूपगोस्वामिपाद कहते हैं—

> अश्रूणामतिवृष्टिभिर्द्विगुणयन्त्यर्कात्मजानिर्झरं
> ज्योत्स्नीस्यन्दिविधूपलप्रतिकृतिच्छायं वपुर्बिभ्रती।
> कण्ठान्तस्त्रुटदक्षराद्य पुलकैर्लब्धा कदम्बाकृतिं
> राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्त्तते॥

श्रीराधाकी कलहान्तरिता अवस्था देखकर उन्हींकी सखी उदात्त अलंकारपूर्ण वाक्यमें श्रीकृष्णसे कहती है—'हे वंशीधारी! तुम्हें देखे बिना आज राधाकी क्या दशा हो रही है, जानते हो? राधाके नेत्रोंसे इतनी जल-वृष्टि हो रही है कि उससे यमुनाका जल बढ गया है। उनके शरीरसे पसीना इस प्रकार चू रहा है, जैसे चाँदनी रातमें चन्द्रकान्तमणि पसीज उठती है। उनके देहका रंग भी उसी मणिके समान पीला पड़ गया है। कण्ठकी वाणी अर्द्धस्फुट एवं स्वरभङ्गयुक्त हो गयी है। कदम्बके केसरके समान सर्वाङ्ग पुलकित हो रहा है। अङ्ग-लता भीषण आँधी-पानीमें केलेके पेड़के समान काँपकर भूमिपर लुटी पड़ी है।' अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, वैवर्ण्य, कण्ठरोध, दशमी दशाके समान भूमिमें लुण्ठन आदि सात्त्विक सूद्दीत भाव-अनुभाव श्रीराधाकी महाभावस्वरूपताको प्रकट करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके श्रीविग्रहमें श्रीरूप-गोस्वामी उन्हीं महाभावस्वरूपाकी प्रेम-रस-वृष्टि देखनेकी अभिलाषासे कहते हैं—क्या वे चैतन्यमहाप्रभु फिर हमारे नयनपथके पथिक होंगे? जो अपनी अश्रुधारासे समीपकी भूमिको पङ्किल कर देते थे, आनन्दसे जिनके अङ्गमें कदम्ब-केसरके समान घनी पुलकावली दृष्टिगोचर होती थी, शरीर पसीनेसे लथपथ होता रहता था, उच्चस्वरसे अपने प्रियतम श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करते हुए आनन्दमें मग्न रहते थे, वे ही प्रभु मुझे दर्शन दें। यथा—

> भुवं सिञ्चन्नश्रुस्रुतिभिरभितः सान्द्रपुलकैः
> परीताङ्गो नीपस्तबकनवकिञ्जल्कजयिभिः।
> घनस्वेदस्तोमस्तिमिततनुरुत्कीर्तनसुखी
> स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

राय रामानन्दके साथ श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी मिलन-कथामें महाभावस्वरूपिणी श्रीराधाका प्रेम विलास-विवर्त्त वर्णित है। अनन्तविलासमय प्रेमके विवर्त्त या विचित्र परिपाक-दशामें रमण-रमणी-भावके [illegible] पृथक् अभिमान किस प्रकार दूर होकर प्रेममें [illegible] हो जाता है, इसका संवाद वहाँ पाया जाता है। [illegible] अपनी सखीसे कहती है—

> पहिलहि राग नयन भङ्ग भेल। अनुदिन [illegible]॥
> ना सो रमण ना हाम रमणी। दुहुँ मन [illegible]॥
> ए सखि से सब प्रेम काहिनी। [illegible]॥
> ना खोजलुँ दूती ना खोजलुँ आन। दुहुँ केरि [illegible]॥

नेत्रोंके कटाक्षसे ही प्रथम राग उत्पन्न हो गया। [illegible] क्षण प्रीति बढ़ने लगी, [illegible] नहीं। न तो वह रमण है और न मैं रमणी हूँ। दोनोंके मनको प्रेमने चूर्ण करके एक कर दिया। अरी [illegible]! यह सब प्रेम-[illegible] प्रिय कान्हसे ही कहनी है। [illegible]। न मैं दूती खोजने गयी और न किसी दूसरेको खोजा। दोनोंका मिलन हो गया। इसमें प्रेम ही [illegible]।

महाभाववती वृषभानुनन्दिनी [illegible] प्रेम [illegible] अधिरूढ-अवस्थामें परमानन्दघन गोविन्दको [illegible] प्रदान करनेमें समर्थ है तथा [illegible] श्रीराधा और गोविन्दकी परस्पर [illegible] है, उस प्रेमा-भक्तिको प्राप्त करनेके लिये [illegible] आनुगत्य आवश्यक है।

श्रीललिता विशाखा प्रभृति [illegible] आदि मञ्जरीगण भोग-तृष्णा [illegible]। [illegible] निष्ठ भावका अनुगमन करते हुए [illegible] ही भक्तिसाधनका चरम फल है।

इस भक्तिका अनुशीलन [illegible] युगलकी अष्टयाम प्रेम-सेवाको प्राप्त [illegible] है। इस भक्तिमें जीवमात्रका [illegible] —

> केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो [illegible]।
> येऽन्ये मूढधियो [illegible]॥
> ([illegible])

'केवल भक्तिभावसे [illegible] यमलार्जुन आदि [illegible] कालिय आदि नाग तथा [illegible] अनायास ही प्राप्त [illegible]'

भक्ति-साधन और महाप्रभु श्रीगौरहरि

(लेखक—डा० श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०,पी-एच्० डी०, डी० लिट्)

मनुष्यकी आवश्यकताका अन्त नहीं । वह निरन्तर किसी-न-किसी अनुसंधानमें रत रहता है । चाह मिटती नहीं । इसका कारण है जीवकी अपूर्णता । अपूर्ण जीव पूर्ण होना चाहता है । अतृप्त जीव तृप्ति खोजता है । मरणशील जीव अमृतकी ओर दौड़ लगा रहा है । जबतक उसको अमृतमय मार्गकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक कामनाकी निवृत्ति नहीं ।

जीवनकी तात्कालिक आवश्यकताओंको हम भलीभाँति जानते हैं। सम्पूर्ण जीवनकी आवश्यकताको नहीं समझते, नहीं सोचते । कर्मकी आवश्यकता है भोजन-वस्त्रके लिये, भोजन-वस्त्रका प्रयोजन है जीवन-धारणके लिये । इतना स्पष्ट है । परंतु जीवन-धारण किस लिये है—यह स्पष्ट नहीं है । हम कलाईमें घड़ी बाँधते हैं, दस-पाँच मिनटका हिसाब रखनेके लिये । परंतु सारा जीवन बीत गया है, इसका कोई हिसाब-किताब नहीं है।

इस समग्र जीवनके प्रयोजनको ही वैष्णव-शास्त्रोंमें प्रयोजन-तत्त्व कहा गया है । जीवनकी जो अन्तिम परम प्रयोजनीय वस्तु है, वह क्या है ? श्रीमन्महाप्रभुने सनातन-गोस्वामिपादको इस प्रश्नका निम्नाङ्कित उत्तर दिया था—

पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम महाधन ।

'जिस प्रयोजनके पूर्ण होनेपर सारी आवश्यकताएँ निवृत्त हो जाती हैं, वह है प्रेम । 'प्रेम प्रयोजन ।'

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि महाप्रभु यह नहीं कहते कि 'भगवान् श्रीकृष्ण प्रयोजन हैं ।' क्योंकि यदि हृदयमें प्रेम न हो तो मनुष्यको भगवान् प्राप्त हो जानेपर भी प्राप्त नहीं होंगे । कंस, शिशुपाल आदिने भी श्रीकृष्णको प्राप्त किया था; परंतु उनके प्राण प्रेमहीन थे, अतएव वे उस प्राप्तिका आस्वादन न कर सके । भोजन हो और भूख न हो तो भोगकी प्राप्ति न होगी । अतएव पहले आवश्यक है भूख । कृष्णास्वादनकी भूख ही प्रेम है । प्रश्न हो सकता है कि 'भोजन हो और भूख न हो'—यह जैसी कष्टप्रद अवस्था है, उसकी अपेक्षा भी 'भूख है, परंतु भोजन नहीं' यह क्या अधिक कष्टप्रद नहीं है ? यह विचार लौकिक जगत्के भोजन और भूखके सम्बन्धमें बिल्कुल यथार्थ है, परंतु अलौकिक—अप्राकृत क्षुधा अर्थात् 'प्रेम' के सम्बन्धमें सर्वथा सत्य नहीं है । प्रेम नहीं, पर कृष्ण हैं—ऐसे दृष्टान्त तो हैं, जैसे कंस आदिका । परंतु प्रेम है और कृष्ण नहीं आये हैं—ऐसा दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता । श्रीकृष्णको आकर्षित करना प्रेमका एक अनिर्वचनीय स्वभाव है । प्रेमरूपी क्षुधाके हृदयमें जाग उठनेपर आस्वाद्य वस्तु, प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह वहाँ दौड़कर आनेके लिये बाध्य है; क्योंकि वे इतने अधिक प्रेमके अधीन रहते हैं ।

इस परम प्रयोजनीय वस्तुको प्राप्त करनेके उपायका नाम साधन है । प्रेमधनकी प्राप्तिके साधनका नाम है भक्ति । 'भक्ति प्राप्तिका साधन है ।' भक्ति बड़ी ही दुर्लभ वस्तु है । श्रीरूपको शिक्षा देते समय महाप्रभुने भक्तिकी सुदुर्लभता-का वर्णन किया है ।

ब्रह्माण्डमें अगणित जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं । पृथ्वीपर चलनेवाले, जलमें विचरनेवाले और आकाशमें उड़नेवाले असंख्य जीवसमूहोंमें मनुष्योंकी संख्या अति अल्प है । उनमें सनातन वैदिक सिद्धान्तकी शीतल छायामें आश्रय लेनेवाले मनुष्योंकी संख्या और भी न्यून है । जो वेदोंके माननेवाले हैं, उनमें आधेके लगभग लोग कहनेमात्रको ही वेदोंको मानते हैं । उनके जीवनके आचरणमें वैदिक सत्यका प्रकाश नहीं है ।

जिनके जीवनके आचरणमें वैदिक धारा अक्षुण्ण है, उनमें अधिकांश लोग याग-यज्ञ आदि क्रिया-कर्मोंमें ही रत रहते हैं । प्रकृत तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति उनको नहीं होती । तत्त्वज्ञानियोंमें भी सभी अनुभूति-सम्पन्न नहीं होते । तत्त्वकी अनुभूति हुए बिना मुक्ति नहीं होती । ज्ञान-सम्पन्न कोटि मनुष्योंमे कोई एक अनुभूति प्राप्त करके मुक्तिलाभ करता है । इस प्रकारके कोटि मुक्त जीवोंमे कृष्ण-भक्त एक भी अत्यन्त दुर्लभ है। मिले न मिले—निश्चितरूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता ।

'मुक्ति' शब्द अभाववाचक है और 'भक्ति' भाववाचक । दुःखसे परित्राण, बन्धनसे छुटकारेका नाम है मुक्ति । परंतु भक्ति एक भाववाची वस्तुका आस्वादन है । दोनों उसी प्रकार एक नहीं हो सकते, जैसे पराधीनताके बन्धनसे मुक्ति, और स्वाधीनताका उपभोग एक वस्तु नहीं हैं । कहीं कोई देश बहुत प्रयत्न करके पराधीनताके नाग-पाशको छेदन करता है, परतु तत्काल ही उसे स्वाधीनताका

पूर्ण सुख भोगनेको नहीं मिलता। स्वाधीनताका आस्वादन एक भाववाची वस्तुका सम्भोग है, वह सर्वथा चेष्टा-सापेक्ष है। उसी प्रकार मुक्तिकी साधना एक है, भक्तिकी साधना उससे भिन्न है। दृष्टि और दृश्य भी भिन्न-भिन्न हैं।

'कोटि मुक्त पुरुषोंमें एक कृष्णभक्त दुर्लभ है।' इसका कारण यह है कि मुक्तिसुखमें एक आपात-पूर्णतृप्तिका आभास रहता है। उसमें जो मस्त हैं, उनके लिये भक्ति-साधनाका पथ ही रुद्ध हो जाता है।

ज्ञानी जीवन्मुक्त हैनु करि माने।
वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति विने॥

'ज्ञानी अपनेको जीवन्मुक्त हुआ मानता है। परंतु वास्तवमें कृष्णभक्तिके विना बुद्धि शुद्ध नहीं होती।'

भक्त निष्काम होता है। मुक्तिकामी भी सकाम है। भक्त कामनाहीन होनेके कारण शान्त होता है और शान्त होनेके कारण ही शान्तिका अधिकारी होता है। भक्तिकी दुर्लभताका वर्णन करते हुए महाप्रभुने श्रीरूपगोस्वामीसे कहा था कि संसार-चक्रमें भ्रमण करते-करते कहीं किसी भाग्यवान् जीवको भक्तिलताका बीज प्राप्त होता है। कौन है वह भाग्यवान्? संसार पथपर चलते-चलते कदाचित् किसीके मनमें इस प्रकारके विचारका उदय होता है कि अपार धन-जन, विद्या-बुद्धि, सामर्थ्य-सौन्दर्यके होते हुए भी मैं इस कारण नितान्त अभागा हूँ कि मुझे हरि-भक्ति प्राप्त नहीं हुई। यह भावना तीव्र होकर यदि चित्तमें उद्वेगकी सृष्टि करती है तो वही व्यक्ति भाग्यवान् हो जाता है।

इस प्रकारकी भावना भी अकारण ही उदय होती हो—ऐसी बात नहीं है। जिस गृहस्थके पड़ोसी उसकी अपेक्षा दरिद्र होते हैं, वह अपनेको धनी समझता है। पक्षान्तरमें जिसके पड़ोसी उसकी अपेक्षा धनशाली होते हैं, वह अपनेको दरिद्र समझता है। इसी प्रकार जो लोग भक्तिधनके धनी हैं, उनका सङ्ग—सान्निध्य प्राप्त होनेपर अपनेमें इस धनका अभाव-बोध होनेके कारण वेदनाका उदय होता है। इसके विपरीत अभक्तके सङ्ग-सान्निध्यसे हृदयमें रही हुई भक्ति भी नष्ट हो जाती है। 'लव मात्रके साधु-सङ्गसे सर्वसिद्धि होती है'—इस कथनमें अतिशयोक्ति नहीं है।

भक्तिमान् सज्जनोंके सङ्गसे जिसके हृदयमें भक्ति-वासना जाग गयी है, वही मनुष्य भाग्यवान् है। ऐसा भाग्यवान् मनुष्य ही 'गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज'। 'प्रसादे पाय'—यह श्रीगुरुकी उक्ति [illegible] है भक्ति-बीज चेष्टा करके प्राप्त नहीं किया जा [illegible]। [illegible] कृपासे ही प्राप्त हो सकता है। यह [illegible] ही है। प्रयासद्वारा कदापि [illegible] नहीं। [illegible] प्रयासकी कोई सार्थकता नहीं है?—[illegible] होती तो इतना [illegible] साधन भजन करनेके लिये क्यों कहा जाता।

बहुत कष्टकर प्रयास या भजन-साधनके [illegible] ज्ञात होगा कि वह प्रबल चेष्टाके द्वारा प्राप्त होनेवाली [illegible] नहीं है। भक्तकी अपनी चेष्टाकी व्यर्थताको [illegible] अन्तःकरणमें अनुभव करा देना ही इसकी [illegible] वास्तविक अनुभूतिकी प्राप्ति तो कृपासे ही होती है। [illegible] आता है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' [illegible] करके वरण करते हैं, वही उसको प्राप्त कर सकता है। [illegible] सब लोगोंकी अन्य सब प्रकारकी आलोचना [illegible] अनुग्रह-शक्तिकी मूर्ति श्रीगुरुदेवकी कृपाके बिना और [illegible] मार्ग नहीं है।

हृदयमें भक्तिबीजके [illegible] उसको बढ़ानेकी साधना करनी पड़ती है। [illegible] एवं परव्योम (वैकुण्ठ) को भी भेदकर गोलोक—[illegible] श्रीकृष्ण चरणरूपी कल्पतरुके नीचे [illegible]। [illegible] लतामें प्रेम-फल फलेगा। परन्तु [illegible] भी चलना ही रहेगा—जैसे [illegible] श्रवण-कीर्तन ही [illegible] अन्य सब प्रकारके साधनोंकी अपेक्षा [illegible] इस भागवतीय साधनमें [illegible] साधनोंमें पहले [illegible] जाता है, उसके बाद [illegible] पालन किया जाता है। परन्तु उपर्युक्त [illegible] केवल श्रवणद्वारा ही फलप्राप्ति [illegible]। [illegible] माध्यमसे ही प्रेमप्राप्ति [illegible] प्राप्त हो [illegible] नयी बात है। [illegible] कथा सुननेसे [illegible] यह श्रवणमङ्गल [illegible] इसका गूढ़ हेतु [illegible]।

[illegible]

उसे कार्यरूपमें परिणत करनेसे ही वाञ्छित लाभ होता है। भागवतशास्त्रका मुख्य कथन 'इतिकर्तव्यता' नहीं है। भागवतका लक्ष्य है—पुराणपुरुषकी नित्य नवीन रहनेवाली लीला-कथाका वर्णन करना—जो शाश्वत सत्य व्रजवनमें प्रकटित हुआ था, उसके संवादको घोषित करना। इस घोषणाके कानोंमें पड़ते ही कल्याणका स्रोत खुल जाता है। यही भागवत-शास्त्रका दावा है। यह रहस्य और भी स्पष्ट होना चाहिये।

जीवके साथ भगवान् श्रीकृष्णका सम्बन्ध अनादि और नित्य है। नित्य वस्तुका किसी कालमें भी नाश नहीं हो सकता। जो मनुष्य सदा ही उसको भूला रहता है—यहाँ तक कि मुँहसे उसको अस्वीकार भी करता है, उसका भी कृष्णके साथ नित्य-दासत्वका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता, केवल विस्मृतिके आवरणसे ढका रहता है।

जिस प्रकार लौकिक बाल्य-जीवनके अनेकों प्रियजनोंकी बातें कर्मजीवनमें स्मृतिपटपर नहीं रहतीं, किंतु कोई यदि दैवात् किसी बाल्यबन्धुका नाम उच्चारण करे तथा उसके रूप, गुण, कार्य आदिका वर्णन करके सुनाये तो उसे सुनकर प्राण आकुल हो उठते हैं। जितना ही सुना जाता है, उतना ही विस्मृतिका आवरण दूर होता है। अन्तमें भ्रान्तिका पर्दा एकदम हट जानेपर प्राचीन प्रीति पुनः नवीन हो उठती है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण जीवके नित्य निजजन हैं। व्रजका रस-तत्त्व ही जीवका शाश्वत वासस्थान है। यह नित्य-सम्बन्ध उसको याद नहीं रहा है। सम्बन्धके शाश्वत सूर्यको स्मृति-भ्रंशरूपी मेघने ढँक दिया है। 'मार्जन होय भजन'। केवल भजनके द्वारा ही यह मेघ हट सकता है। नित्य व्रज-कथा-श्रवणरूपी पवनके झोंकोरेसे यह आवरणकारी मेघ दूर हो जायगा। व्रजकी रसलीलाकी कथा सुनते-सुनते ही प्राण प्राणवल्लभके लिये आकुल हो उठेंगे। रासलीलाके उपसंहारमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है—'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'

माधुर्यघन व्रज-प्राप्तिका उपाय है—नित्य नवायमान माधुर्यमयी व्रजकथाका पुनः-पुनः श्रवण और अनुशीलन। भ्रान्तिका पर्दा बहुत ही मोटा और घना हो गया है, अतएव इसके हटानेके लिये वारंवार इस कथाके आस्वादनकी आवश्यकता है। हमारे कानोंमें मल है, इसी कारण यह कथा सुननेपर भी हमें सुनायी नहीं देती, कानके भीतर जाकर भी हृदयमें प्रवेश नहीं करती। इसीलिये 'नित्यं भागवतं शृणु'—भागवतको नित्य सुनो, नियमपूर्वक सुनो। अभिनिविष्ट चित्तसे सम्पूर्ण मन लगाकर सुनो। श्रवण-कीर्तन ही चरम कल्याणप्रद हैं। वे भी अमृत हैं, उनकी कथा भी अमृत है। उस अमृतकथाका जो कीर्तन करता है, वह भी पूर्णामृतका आस्वादन करता है। जो श्रवण करता है, उसको भी परमामृतका स्वाद मिलता रहता है।

इस श्रवण-कीर्तनरूपी जलसिञ्चनसे भक्तिलता बढ़ती है। श्रीनारद-भक्तिसूत्रमें भक्तिको 'अमृतस्वरूपा' बतलाया गया है। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—**'भक्त्या मामभिजानाति'** 'भक्तिके द्वारा मुझको सम्यक् रूपसे कोई भी जान सकता है।' श्रुति कहती है—**'भक्तिवशः पुरुषः'**, **'भक्तिरेव भूयसी।'** 'श्रीभगवान् भक्तिके वश हैं।' 'भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है।' 'भक्तिरेव विष्णुप्रिया'—भक्ति ही भगवान् विष्णुको प्यारी है।

भक्तिलताकी वृद्धिके मार्गमें दो प्रबल बाधाएँ हैं; एक है वैष्णवापराध, दूसरा है लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाकी साध। **'विष्णोरपत्यं पुमान् वैष्णवः'**—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवमात्र ही वैष्णव हैं। उनको पीड़ा पहुँचाना, उनकी अवज्ञा करना, निन्दा करना—इत्यादि वैष्णवापराध हैं। अपराध मुख्यतः नैतिक होते हैं। प्रतिदिनके व्यवहारमें नैतिक अपवित्रता ही अपराध है। नैतिक जीवन अपनाये बिना आध्यात्मिक साधना फलवती नहीं हो सकती। निरपराध होकर भजन करनेका एक अर्थ यह भी है। मनुष्यके प्रति, भक्तके प्रति, शास्त्रके प्रति दृष्टि और आचरण जिसका जितना ही निर्मल होगा, उसकी साधना भी उतनी ही शक्तिशालिनी होगी।

प्रतिष्ठाका लोभ साधन-पथका दूसरा विघ्न है। लक्ष्य वस्तु परम प्रभुके आसनपर जब हम अपने मलिन 'अहम्' को बैठा देते हैं, तब भक्तिलताकी वृद्धि रुक जाती है। इतनी ही बात नहीं, बड़ी ही जटिल विपदा आ पड़ती है। साधककी दृष्टि हरि-पदसे विच्युत होकर निज पद-प्रतिष्ठामें निबद्ध हो जाती है। फलतः श्रवण-कीर्तन आदि जल-सिञ्चनका फल भी प्रतिकूल होने लगता है। तब जल-सिञ्चनसे प्रतिष्ठारूपी टहनियाँ ही बढ़ती हैं, मूल भक्तिलता सूख जाती है।

आराध्य वस्तुके प्रति लक्ष्य सुस्थिर रखनेपर ही इस विपत्तिसे छुटकारा मिल सकता है। अहंताको पूर्णरूपसे विसर्जित करके भक्तिलताके मूलमें जल-सिञ्चन करना होता है। जो कुछ मेरा है, वह सभी तुम्हारा है—इस प्रकारकी

भावनाके द्वारा मैं-पनको भुला देना पड़ेगा। चन्द्रकी किरणें मूलतः सूर्यकी ही सम्पत्ति हैं 'तोमारी गरबे गरबिनी हाम'—मैं तुम्हारे ही गर्वसे गर्विणी हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिमें स्थित होकर व्रजकथाका श्रवण-कीर्तन करना होगा।

इस प्रकार साधन करनेपर ही भक्तिलता श्रीकृष्ण-पाद-पद्ममें पहुँच जायगी। तब व्रजवन और हृदयवन एकाकार हो जायँगे। कृष्णके साथ जीवका जो नित्य सम्बन्ध है, उसकी अन्तःकरणमें अनुभूति होने लगेगी। भक्तिलतामें परम पुरुषार्थरूप प्रेम फल फलेगा।

श्रीश्रीगौरसुन्दरने यह भागवतीय साधन-तत्त्व जगत्‌को प्रदान किया है, केवल इतना ही नहीं। महाप्रभु श्रीगौरसुन्दर-के दानमें और भी कुछ नवीनता है। उन्होंने [illegible] ही नहीं प्रदान किया, बल्कि [illegible] महाभावमयी श्रीराधाभावसे [illegible] वितरण किया है। केवल [illegible] स्वयं आचरणमें लाकर आस्वादनके [illegible] किया। और वितरण किया पात्रापात्र [illegible] बल्कि बिना विचारे, बिना कृपणता [illegible] रो-रोकर जिस तिसके द्वार-द्वारपर घूमकर। [illegible] इस प्रकारसे और कभी वितरित नहीं हुई। [illegible] सुन्दरको भक्तगण 'वदान्यशिरोमणि' [illegible] महादाता श्रीश्रीगौरहरिकी जय हो [illegible]

'भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासका जन्म'

(रचयिता—श्रीविबुधेश्वरप्रसादजी उपाध्याय 'निर्झर', एम्० ए०)

× × × ×

जागा प्रभात शुभ्र।
यामिनी विदा हुई;
औ' सिन्धुकी अपार जलराशिकी तरङ्गोंमें,
रुन-झुन कर, छुम-छुम कर,
पायल छनछनाया क्यों?
बोला सिन्धु—
'सुन रे, थल
मानव-जग,
आजका प्रभात
युग-युगको दिखायेगा—
पावन पथ,
ज्ञान-पंथ,
अभिनव प्रकाश-लोक।
लुप्त विश्व-संज्ञाको,
धर्म और संस्कृतिको—
देगा गति,
निर्मल मति,
शाश्वत अपार ज्ञान।
सहसा नभ-बीच,
रश्मि-रथपर आरूढ़ हुए,
पूर्व-अद्रि-शृङ्ग पर काञ्चन [illegible]
श्वेत-हरित मण्डलों,
प्रकृतिकी पीठिकापर,
सज-धज, सजीव-से हो,
चेतन उल्लास-से,
कृष्ण मेघ-मण्डलके घूंघटमें
झाँके रवि,
मूर्त्त जातरूप-से।
मन्द स्वर्ण-स्मिति-से पुलकित [illegible]
अधर-द्वय
आकुल थे युगल नयन,
व्याकुल थे प्राण-मन।
आगत अनुभूतिकी
हर्ष-वीचि व्याप्त हुई
ज्योतिर्मय वपुके उस
एक-एक रोममें।
भावोंकी गतिसे
अनुप्रेरित थे विवशान
और तूर्ण गतिसे ही
चञ्चल था स्यन्दन-चक्र,

(वृत्र-भीतिसे हों ज्यों चञ्चल शक्र)
रह-रहकर कँपता था मरुत्पथ ।
वैसे ही भावोंका वेग लिये,
गन्यतिरेक-मग्न,
आगत-आभास के मधुमें,
आकण्ठ डूब,
झन्-झन् कर अंतरके
तार झनझना उठे ।
……'देखा तो प्रतीचीके व्योमपर
घिरे थे मेघः
रिमझिम कर मेघ-पुष्प सावनके झरते थे ।
ऐसा क्यों ?
बोल उठीं हँसकर दिशाएँ सब,
नील व्योम-रन्ध्र-से,
समवेत कण्ठसे—
और जगे पक्षीगण,
वृन्त-पुष्प, तरु औ' तृणः
धरतीके लघु-लघु कणः
मानवके अन्तरतम ।
· · "सरिताकी लहरोंमें,
यौवन-प्रवाह क्यों ?
अम्बुधिपर रह-रहकर
मारुत क्यों करता नृत्य ?
आजकी नवेली उषा
जाने क्यों लिपटी है
विद्युत् परिधान में,
बूँदोंके गानमें ?'
सोच ही रहे थे सब,
निर्झर,
सर,
सिन्धुः
थलः
झाँकती कहीं थी प्रकृति
मेघ-अवगुण्ठनसे·
आकुल,
समाकुल,
उस स्वर्णिम विहानको ।
धीरेसे डोल उठा धरतीका आँचल नव,
पर्वत-पयोधर पीन ।
दुग्ध धवल फूट चला,
तरल-मधुर,
शक्ति-प्रखर,
जननीका जीवन-रस ।
जाग उठी धरती माँ—धीरेसे चीख उठी,
मानो थी पीड़ित वह प्रसवकी पीड़ासे ।
"सुन, सुन रे, भोले जग,
कैसा नाद, कैसी ध्वनि;
नभका आशीर्वचन;
देवोंकी वाणी शुभ—कौन हुआ ?
किसने अवतार लिया ?
बोला नभ—तुलसीने, जय हो जय तुलसीकी !"
बोलीं दिशाएँ—'जय ज्ञानी महर्षिकी !'
हुई नभ-वाणी शुभ—
'होगा यह भारतका, नहीं-नहीं, विश्वका,
महान कवि,
मनीषी श्रेष्ठ ।
भारतीय संस्कृति, साहित्य और धर्म भी,
युग-युगतक फूलेगा, पनपेगा इसके पाणि-पद्मोंसे ।
ज्ञानका प्रकाश शुभ्र, धर्मकी अनन्त गति,
भक्तिकी अनन्य द्युति इससे ही फैलेगी ।
विश्वको देगा यह 'रामबोला' राम को,
और शुचि आत्मज्ञान, शक्ति-दान, भक्ति-मान-
जिससे भव पायेगा सत्-चित्-आनंदको ।
और तब होगा यह धरतीका महाप्राण,
भारतकी भक्ति-धर्म-संस्कृतिका देवदूत,
प्रतिनिधि श्रेष्ठ,
रामका अनन्य भक्त ।'

प्रेम-भक्तियुक्त अजपा-नाम-साधनद्वारा भगवान् वासुदेवकी उपासना

(लेखक—श्रीनरेन्द्रजी ब्रह्मचारी)

प्रेम-भक्तिका स्वरूप

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।

(नारद-भक्ति-सूत्र)

'वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक प्रेम-स्वरूपा है ।'

भक्ति प्राप्त करनेका साधन भक्ति ही है । भक्ति-साधनके द्वारा चरम अवस्थामें जो ऐकात्मिक प्रेम प्राप्त होता है, वह भी भक्ति ही है । वही वास्तविक भक्ति है । साधन-भक्ति ही चरम अवस्थामें सिद्ध-भक्ति अथवा परम प्रेम नामसे पुकारी होती है । इसीको 'परा-भक्ति' कहते हैं । भगवान् नारद कहते हैं—परम प्रेम ही श्रीभगवान्की पराभक्तिका प्रकृत स्वरूप है ।

'जिसके द्वारा अभीष्ट सिद्ध होता है, जिसके द्वारा भगवान्का भजन किया जाता है, उन्हें प्राप्त किया जाता है, वही भक्ति है'—श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके इस वचनका समर्थन श्रीमद्भागवतोक्त निम्नलिखित श्लोकसे होता है—

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥

(३ । २९ । १४)

'यही आत्यन्तिक भक्तियोग कहलाता है, जिससे जीव त्रिगुणात्मिका मायाको पारकर मद्भाव—मेरे विमल प्रेमको प्राप्त होता है ।'

इसी भक्तिकी पराकाष्ठा प्रेम है । प्रेमकी पराकाष्ठा ही श्रीभगवान् हैं । श्रीचैतन्य-चरितामृतकार लिखते हैं—

साधन-भक्ति हइते हय रतिर उदय ।
रति गाढ हइले तार प्रेम नाम कय ॥
भक्ति घन कृष्णे प्रेम उपजय ॥

'साधन-भक्तिसे रति उत्पन्न होती है, रतिको ही गाढ होनेपर प्रेम कहते हैं । भक्तिसे ही कृष्णप्रेम उपजता है ।' प्रेम-रसमय ही श्रीभगवान् हैं । अथवा प्रेम-रस ही श्रीकृष्णका स्वरूप है, इनकी शक्ति इनके साथ एकरूप होती है ।

श्रीचैतन्यचरितामृतकारने और भी स्पष्ट करके अन्यत्र लिखा है—'ह्लादिनीका सार है प्रेम, प्रेमका सार है भाव, भावकी पराकाष्ठाका नाम है महाभाव, महाभावस्वरूपा श्रीराधाठकुरानी हैं ।'

सर्वगुण [illegible] ।

पराशान्ति और परमानन्द[illegible]—प्रेम[illegible] है । यही बात देवर्षि नारद निम्नाङ्कित [illegible]—

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च । [illegible]

श्रुति भी कहती है—आनन्द ब्रह्म ।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रेम ही पराशान्ति [illegible] प्रेममूर्ति ही स्वयं श्रीभगवान् हैं । [illegible] नाम प्रेममय है । [illegible] मेरे जीवनको प्रेममय बना दो ।' [illegible] 'ईश्वर ! तुम प्रेमस्वरूप हो, [illegible] निर्माण करता हूँ ।' (God ! Thou art Love, I build my faith on that.)

तात्पर्य, प्रेम ही परमेश्वर है, प्रेम [illegible] ।

श्रीमद्भगवद्गीताके पुरुषोत्तम [illegible] कहा है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

([illegible])

पराशान्तिमय, परमानन्दस्वरूप, [illegible] पुरुषोत्तम ही [illegible] देहमें अनुस्यूत हैं ।

प्राकृत प्रेम ही प्रेममयकी प्रेमज्योति

जीवदेहमें जीवात्मारूपसे ओतप्रोत [illegible] हैं । इसीसे जीवात्माके आन्तर और [illegible] प्रेमका ही विकास परिलक्षित होता है । [illegible] ज्योति आवरणरूप समस्त [illegible] स्थूल देहके बहिर्भागमें प्रकाशित [illegible] है । मेघावृत सूर्यरश्मि [illegible] निकट आनेपर भी [illegible] सम्पूर्ण तेजोविकास दृष्टिगोचर नहीं [illegible] प्रेमच्छटा भी मलिन हो जाती है, [illegible] द्वारा प्रभावित होकर । [illegible] सूर्यकिरण सूर्यकी ही है, [illegible] समझमें आती है, वैसे ही जीवात्मा[illegible] प्रेमच्छटा प्रेममयकी ही है, [illegible] ही होती है ।

संस्कारमात्र ही कामनापूर्ण होता है। अतः संस्कारजालको भेदकर यह जो प्रेम बाहर आता है, वह काम-गन्धयुक्त होता है और काम-गन्धयुक्त होनेके कारण ही फिर इसे प्रेम न कहकर 'काम' कहते हैं। कामनायुक्त होनेसे 'काम', और कामनामुक्त होनेसे वही वस्तु 'प्रेम' कहलाती है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें काम-प्रेमका पार्थक्य इस प्रकार निरूपित है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥

मतलब यह कि अपने सुखकी इच्छा काम है, और श्रीकृष्णके सुखकी इच्छा प्रेम। वस्तुतः काम-प्रेममें कोई पार्थक्य नहीं है, पार्थक्य केवल उसके प्रयोग-भेदमें है और प्रयोग भी हुआ करता है कामनानुयायी ही।

श्रीमद्भागवतका वचन है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
(१०।२९।१५)

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता, सौहार्द—इन सबको जो भगवान्की ओर लगा सकता है—भगवन्मुखी बना सकता है, वह अन्तमें निश्चय ही प्रेममें तन्मयताको प्राप्त होता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जाना चाहिये। जिस किसी भावसे भी वृत्ति भगवान्में लगनेपर मन भगवन्मय हो जाता है।

कामादिके वर्तमान बहिर्मुखी भावोंको बाहरसे खींचकर अन्तर्मुखी करके, जहाँसे ये भाव आये, वहीं इन्हें पहुँचा देनेसे सब कर्तव्य समाप्त हो जाता है, सब झगडा मिट जाता है। काम अर्थात् कामना-वासनासे ही अहंता-ममता, क्रोध-भय आदि सबकी उत्पत्ति होती है।

अतः कामकी साधनामें लगनेसे अर्थात् काम क्या वस्तु है, इसे पूर्णरूपसे जाननेकी साधनाके द्वारा कामको सम्यक्-रूपसे जाननेपर काम अर्थात् कामना-वासनाकी उत्पत्तिके मूलका पता लग ही जाता है—यह विज्ञानसम्मत सत्य है।

जीवात्माके संस्कार-जालका भेद करते हुए प्रेम मलिनता-को प्राप्त होकर कामना-वासनापूर्ण स्वार्थयुक्त प्राकृत स्नेह, प्यार, माया, मोह, ममता आदिका रूप धारण करता है। अतः विमल प्रेमके संस्कारयुक्त मलिन रूपोंका आश्रय लेकर ही परम प्रेममयके अनुसंधानमें अग्रसर होना होगा। इस मलिनताप्राप्त प्रेम अर्थात् कामादिको अन्तर्मुखी या भगवन्मुखी करनेकी जो साधना है, वही भक्ति है। साध्य वस्तु है अप्राकृत भगवत्प्रेम ही।

वासुदेव-तत्त्व

प्रेम ही पराशान्ति है, पराशान्ति ही प्रेम है। पराशान्ति ही किस प्रकार प्रेम है, यह समझना हो तो पहले यह जानना होगा कि अशान्ति क्या है। इस अभावका भी कोई अन्त नहीं है, चाहनाका भी कोई शेष नहीं है। चाहनेकी जो-जो चीजें हैं, उन सबके मिल जानेसे ही अभावका अन्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह सब चाहना-पाना किस प्रकार होता है—यह सब चाहनेका मूल क्या है? कामना ही सबका मूल है। पर इस वासनाका मूल क्या है? वासनाकी सृष्टि भगवान्से ही होती है। महाभारतका वचन है—

वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासीनां वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

वासुदेवकी वासनासे ही विश्वकी सृष्टि होती है। वासना-से ही श्रीभगवान् वासुदेवरूपसे भुवनत्रयमें सब प्राणियोंके अंदर निवास करते हैं। श्रीभगवान्से ही वासनाकी सृष्टि होती है। वासनामात्र उन्हींकी है। अतः 'मेरी वासना', 'मेरी कामना' इत्याकारक स्वभावजात अज्ञानरूप 'अहं'-भाव और संस्कारको भुलाकर, वासना वास्तवमें जिनकी है, उन्हींको सर्वथा लौटा देनेसे मनकी वासना-कामनाका अन्त हो जाता है। इस प्रकार वासनारूप संस्कारोंसे मनके मुक्त होनेपर मनका फिर कोई काम ही नहीं रह जाता। वासनासे मन बनता है, अतः मन भी वासनाके साथ-साथ ही 'उन'में लय हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कपिलमाता देवहूतिको उपदेश करते हुए कहते हैं—'मन ही जीवके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन जब विषयोंमें आसक्त होता है, तब वह बन्धनका कारण होता है और जब परमेश्वरमें अनुरक्त होता है, तब मोक्षका कारण होता है। जब यह मन 'मैं' और 'मेरा' के भावसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध-लोभादि विकारोंसे मुक्त हो जाता है, तब वह सुख-दुःखसे अतीत होकर शुद्ध और द्वन्द्वातीत अवस्थाको प्राप्त होता है। तब जीव ज्ञान-वैराग्य-भक्ति-युक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे अतीत, अद्वितीय, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड और निर्लेप (सुख-दुःखशून्य) देख पाता और प्रकृतिको शक्तिहीन अनुभव करता है। योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके हेतु सर्वात्मा श्रीहरिकी भक्तिके सदृश अन्य कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है।'

मदनमोहनकी मदन-विजय लीला

इसी प्रसङ्गमें श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजी कहते हैं—'जबतक मन रहता है, तभीतक स्त्री-पुरुष एवं विषय विषयोंका आकर्षण रहता है, मनके लय होनेपर भी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य तो होता ही है, पर उसका प्रकार भिन्न होता है।' इस प्रकार 'अहं'के निकल जानेपर, श्रीभगवान्‌में लय हो जानेपर रहते हैं केवल जीवात्मा और परमात्मा। परमात्माके साथ जीवात्माका यह मिलन हो जानेपर भगवच्चरणोंमें निवेदित देह-मनके द्वारा—यन्त्रिचालित यन्त्रके द्वारा कर्मरूप सेवा ही जीवका चरम लक्ष्य है।

सर्वभावेन उनकी शरण लेनेसे हमारी समस्त वासनाएँ भी उन्हींकी हो जाती हैं। सारी वासनाएँ उन्हें समर्पित होनेपर 'हम' और 'हमारा' नामकी कोई चीज ही नहीं रह जाती। तब अभाव भी नहीं रहता, दुःख भी नहीं रहता। प्रेममय शरणागतपाल शान्तिमय सुशीतल श्रीचरणोंमें आश्रय पाकर सुख-दुःख, आनन्द निरानन्द, मान-अपमान आदि विषयोंके अनुभूतिरूप तापोंसे दग्ध जीव क्षुधा-तृष्णा, रोग शोकसे अतीत शान्त, शीतल होता हुआ पराशान्ति लाभ करता है। श्रीश्रीगोस्वामी प्रभु कहते हैं—'कर्तृत्वाभिमानके रहते मनुष्य मुक्त नहीं होता। मुक्त होनेपर भी मनुष्यमें कर्म देखा जाता है। पर वह होता है बालक्रीडावत्, उन्माद-नृत्यवत्। केवल यन्त्रवत् देहके द्वारा कार्य होते रहते हैं। परंतु मनुष्य जबतक अपने-आपको दीन हीन कंगाल नहीं समझ पाता, तबतक कुछ भी नहीं हो सकता; दीन-हीन होनेपर ही दीनानाथ दया करते हैं। अभिमानी दयाका पात्र नहीं।'

श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'सर्वभावेन उन्हींकी शरण लो, उन्हींके प्रसादसे शाश्वती पराशान्तिरूप भूमि प्राप्त होगी।'

अन्यत्र श्रीगीतामें भगवान्‌ने सर्वगुह्यतम परमपुरुषार्थ-साधनका उपदेश करते हुए कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(१८।६५-६६)

'अपना चित्त मुझमें लगा दो, मेरे भक्त और पुजारी बन जाओ, मुझे नमस्कार करो। इसी विधिसे मुझे प्राप्त होओगे, यह तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ। [illegible] स्वभावजात सकल धर्म मुझमें ही [illegible] मेरी शरणमें आ जाओ।' [illegible] धर्मोंकी सृष्टि होती है। [illegible] सब धर्म भगवान्‌से पृथक् [illegible]

भक्ति-साधन-रहस्य

साध्य वस्तु श्रीभगवान्‌के [illegible] जो आकर्षण अर्थात् अनुराग होता है, उसीको [illegible] स्थूल-जगत्‌के वैषयिक [illegible] श्रीभगवान् वासुदेवकी तृप्तिके [illegible] आकर्षणसे आकृष्ट हो [illegible] प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेके हेतु [illegible] जगत्‌में सर्वत्र वासुदेवरूपसे [illegible] विलास-माधुर्यके दर्शन और [illegible] से श्रीभगवान्‌की ओर प्रवृत्ति [illegible] की जाती है, उसे भक्ति-साधना [illegible]।

वासना-समर्पणरूप भक्ति-साधनाके द्वारा जीवात्मा-परमात्मा-मिलन

आत्मज्ञान लाभकर [illegible] चुकनेपर भगवदिच्छासे [illegible] जाती है, वही भक्ति है। [illegible] प्राप्त होता है, वही 'भगवत्प्रेम' है। प्रेममें [illegible] सेवा ही प्रेमिकका एकमात्र [illegible] रूप हैं। इसीसे इसके नाना नाम और [illegible] से ही प्रेमके द्वारा [illegible] सृष्टि होती है, [illegible] धारण किये हुए हैं, प्रेममें ही [illegible] द्वारा ही जीव अपना [illegible] प्रेम ही जीवका [illegible] है। अनादिकालसे [illegible] होती चली आती है और [illegible] और स्वभावसे प्रभावित होकर [illegible] जलबिन्दु [illegible] वृष्टिरूपसे [illegible] सत्सङ्ग पाकर [illegible] प्रधावित होकर [illegible] गतिमें जैसे कोई विराम नहीं [illegible] स्थिति [illegible] भी कोई [illegible]

मिलनसे अनन्त महासमुद्रमें जिस प्रकार कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती, विश्व-सृष्टि-स्थिति-प्रलयमें भी अनन्त प्रेमसमुद्रकी सत्ता उसी प्रकार अनन्त ही बनी रहती है। महासमुद्रमें नदीका जैसा मिलन होता है, परमात्माके साथ जीवात्माका मिलन भी वैसा ही है। श्रीगीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५५)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

महासमुद्रमें मिल जानेपर नद-नदीके जल-कणोंकी पृथक् सत्ता रहती तो है, पर उसका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता। परमात्माके साथ जीवात्माके मिल जानेपर ठीक वैसे ही जीवात्माकी पृथक् सत्ता रहनेपर भी उसकी धारणा नहीं की जा सकती।

विधिहीन भक्ति उत्पातका कारण, भक्ति ही श्रेष्ठ

वासना-निवृत्ति अर्थात् वासनाको तन्मुखी करनेका सबसे सहज उपाय भक्ति है। यह भक्ति वैधी है। विधिहीन भक्ति उत्पातका कारण बनती है, यही श्रीश्रीगोस्वामी प्रभुने कहा है। भक्तिकी श्रेष्ठता समझाते हुए स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२।२)

अर्थात् मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें अनुरक्त रहकर पराभक्तिके साथ जो मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं श्रेष्ठतम योगी मानता हूँ।

सांख्यशास्त्रकार भगवान् कपिल कहते हैं—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
(भागवत ३।२५।१९)

'योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके निमित्त सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है।'

देवर्षि नारदने कहा है—

'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।' 'त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।'

'सब प्रकारके साधनोंमें भक्ति-साधन सबसे श्रेष्ठ, सहज और सुलभ है। भूत, भविष्य, वर्तमान—त्रिकालमें रहनेवाले भगवान्की भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ, सबसे श्रेष्ठ है।'

भगवत्तत्त्व एवं वासुदेवतत्त्व; शरणागति-अभ्यास-योग

विषयोंमें लगी हुई प्रवृत्तिको त्यागकर भगवान्में लगानेके उपायको प्रवृत्ति-मार्गका साधन कहते हैं। यही प्रेम-भक्ति-साधन है। यही वास्तविक प्रवृत्ति है। विषय-वासनाकी निवृत्ति ही श्रीभगवान्की ओर प्रवृत्ति है और श्रीभगवान्की ओर प्रवृत्ति ही विषय-वासनाकी निवृत्ति है।

निवृत्तिमार्गका साधक सबसे निवृत्त होकर, केवल एक भगवान्को ही प्राप्त करनेके साधन-क्रमसे तपस्याके द्वारा जब उनके दर्शन पा जाता है, तब सब भूतोंमें उसे उन्हीं भगवान्के दर्शन होते है। इस प्रकार वासुदेव-तत्त्वकी उपलब्धि होती है। इस उपलब्धिके होनेपर साधक 'एक'के भीतर सबको और सबके भीतर 'एक'को देख पाता है।

श्रीगीतामें श्रीभगवान्ने श्रीअर्जुनको उपदेश करते हुए सारा विषय समझाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रवृत्ति या निवृत्ति—जिस किसी मार्गका जो कोई साधक हो, उसके लिये भक्तिपथ ही सबसे सहज है। श्रीगीताने गृहस्थाश्रम या संन्यासाश्रमके सम्बन्धमें पृथक्‌रूपसे कोई उपदेश नहीं किया है। सम्पूर्ण गीताका सार है—शरणागति-अभ्यासयोग अर्थात् भक्तियोगके द्वारा शरणागत होना। इस शरणागतिका अर्थ है—सब कामना-वासनाओंकी निवृत्ति एवं श्रीभगवान्की ओर प्रवृत्ति अर्थात् सब वासना-कामनाओंका उन्हींके सुखमें विनियोग करना। यहाँ यह प्रश्न होता है—'उनका सुख किस बातमें है?' उनका जो सबसे प्रिय कार्य हो, उसके सम्पादनसे उन्हें सुख हो सकता है। इसलिये गीताके बारहवें अध्यायमें भक्तियोगका उपदेश करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२।२०)

अर्थात् जो श्रद्धायुक्त मत्परायण भक्त हैं, वे ही मेरे अति प्रिय हैं।

'एकमात्र मेरी शरणमें आकर सयत चित्तसे सम्पूर्ण कर्म-फलोंका त्याग करो; अभ्याससे ज्ञान महान् है, ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ

है, ध्यानसे कर्म-फलत्यागकी महिमा विशेष है—इस त्यागके होनेपर शान्तिभूमि प्राप्त होती है।' यही श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश है।

श्रीगीताके अठारहों अध्यायोंमें श्रीभगवान्‌ने जो कुछ उपदेश किया है, सब भक्तियोग ही है; मामेकं शरणं व्रज (१८।६६)—यही श्रीभगवान्‌का गुह्यतम परम उपदेश है। यह शरणागति कैसे प्राप्त होती है, इसीका श्रीगीतामें विधिवत् वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण शरणागतिको ही पूर्णभक्ति कहते हैं, भक्तिकी पराकाष्ठा ही प्रेम है।

अजपा-नाम-साधन-रहस्य

सब कर्मोंको करते हुए शरणागतिका अभ्यास करनेके लिये सहज, सरल, श्वास-प्रश्वासके साथ अप्राकृत शक्तियुक्त मनोवैज्ञानिक श्रीभगवन्नाम-साधन शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। श्रीमद्भागवत-श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें भी संकेतसे इसका उल्लेख है। रथी श्रीअर्जुनने सारथि श्रीकृष्णका शिष्यत्व स्वीकार करते हुए शरणागत होकर तथा इस प्रकार योग्य अधिकारी बनकर श्रीभगवान्‌के संकेत-वचनोंको हृदयंगम किया था। श्रीश्रीगोस्वामी प्रभुने कहा है—'भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत—ये दो ग्रन्थ उपनिषदोंके भाष्यस्वरूप हैं। गीता और भागवतकी पद्धतिके अनुसार साधन करनेसे ऋषियोंके हृदयकी बात—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० उ० २।१) आदि वचनोंकी सत्यता प्रत्यक्ष होती है, इसमें संदेह नहीं। ब्रह्मके दो भाव हैं—नित्य और लीला। नित्य-साधन गीताके द्वारा होता है और लीला-साधन भागवतके द्वारा।

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा॥

'ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है, आत्मज्ञानी शोकसे मुक्त हो जाता है, रसस्वरूप ब्रह्मका रस पाकर ही जीव आनन्दित होता है, अन्य उपायसे आनन्द नहीं मिलता। ब्रह्मज्ञान, योग, भगवत्तत्त्व—ये तीन प्रकारके साधन यहाँ कहे गये हैं।'······यही सत्ययुगका ऋषिपथ है।' यह अति अद्भुत मनोविज्ञानसम्मत साधना है। कर्म होनेसे उसके साथ श्वास-प्रश्वासका चलना भी जारी रहेगा ही। अतः कर्मके साथ श्वास-प्रश्वाससे नाम-जपका अभ्यास कोई कर सके तो उससे विधियुक्त कर्म भी होगा और भगवन्नाम-जप भी; साथ-साथ सदा ही प्रणामके द्वारा अहंभाव दूर होकर शरणागतिका अभ्यास भी होता रहेगा। प्रेमलाभ अर्थात् भगवत्प्राप्तिका [illegible] वैध कर्मोंका श्रीगीताके [illegible] चेष्टा करनेसे भी भगवत्-स्मृति सदा ही [illegible]। श्रीभगवन्नाम-जप करते हुए [illegible] 'श्रीभगवान्‌का ही नाम मैं ले रहा हूँ' [illegible] आरम्भसे धारण किये रहनेसे भगवत्-स्मृति [illegible]। इसके साथ प्रणाम अर्थात् [illegible] शरणागत-भाव रहनेसे निश्चय ही भक्तियोगका [illegible] होगा। इस प्रकार साधन करते [illegible] भगवान्‌के सङ्गके प्रभावसे 'नाम'में [illegible]। आसक्तिके प्रबल होनेपर नामका [illegible] असम्भव हो जायगा। यह 'नाम' [illegible] है; भाव और विश्वास हृदयमें [illegible] साथ प्रीति इत्यादि बढ़ेगी और तब [illegible] प्रेममय होकर रहेगा।

प्राण-मनोवैज्ञानिक साधन-तत्त्व

देह, प्राण, मन और आत्मा [illegible] सम्बद्ध हैं। आत्मा ही [illegible] और देह है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणको ही [illegible] है। देहमें सर्वत्र और [illegible] इन्द्रियादि, मन, बुद्धि—सबके ऊपर प्राणकी क्रिया और प्रभुत्व है। मन [illegible] इन्द्रियोंकी भी क्रिया प्राणके ऊपर न होती हो—[illegible] है; पर बुद्धि, मन और इन्द्रियादि [illegible] कारण इनकी क्रिया देहके ऊपर ही होती है। [illegible] देहके साथ जिनका विशेष सम्बन्ध है, [illegible] मनको वशमें करना [illegible] करनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है।

अतः प्राणका [illegible] उपर्युक्त प्रकारसे शास्त्रनिर्दिष्ट [illegible] देह और मन दोनोंके ही [illegible] देह और मनमें सर्वत्र [illegible] क्रिया प्राणके [illegible] होती है। [illegible] 'नाम-भगवान्' [illegible] होता है, मनको [illegible] स्थूलविकाररूप प्राणके [illegible]

पहुँचकर आत्माका पता चलता है। आत्मा ही प्राण है—प्राण ही आत्मा है। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद्में प्राणको 'शारीर आत्मा' कहा है। यह प्राण-मन-संयुक्त भगवन्नाम-साधना ही भक्ति-साधनका मुख्य अवलम्बन है, यही 'अजपा-साधन' है।

प्रियतम भगवान्; प्रेमभक्ति-साधनमें व्याकुलता

यह अजपा-साधन ही परमप्रेममयके प्रेमलाभका सुगमतम श्रेष्ठ उपाय है। पर यह मानना पड़ेगा कि यह साधन जैसा सुगम है, वैसा ही कठिन भी है। श्रद्धावान्के लिये सुगम और श्रद्धाहीनके लिये अत्यन्त कठिन है। कारण, श्रद्धा-भक्तिसे ही साधना होती है। विषय-वासना पाप है, अतः त्याज्य है। भगवत्-प्राप्तिकी वासना पुण्य है, अतः ग्राह्य है। भगवत्-प्रेम-लाभकी यह इच्छा ही व्याकुलताका कारण है। व्याकुलतासे ही श्रद्धा आदि भक्तिका उदय होता है। प्रेमीजन-चूडामणि देवर्षि नारद कहते हैं—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (भक्तिसूत्र १९)

'भगवान् नारदका यह मत है कि स्वकृत समस्त कर्म भगवान्को अर्पण करना और उनका विस्मरण होनेपर चित्तमें व्याकुलताका होना ही भक्ति है।'

प्रेमलाभमें 'आदौ श्रद्धा' अवश्य प्रयोजनीय है। भगवान्के प्रति अनुरागको ही श्रद्धा कहते हैं। महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (भक्तिसूत्र २)

'ईश्वरके साथ सम्पूर्ण अनुरागको ही भक्ति कहते हैं।' भगवान्को अपना प्रियतम बनाना होगा। श्रुति भी यही कहती है। बृहदारण्यक उपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रसे यह प्रमाणित होता है—

प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृहदा० उप० १।४।८)

आत्मा अर्थात् भगवान् वित्तकी अपेक्षा प्रिय हैं, पुत्रकी अपेक्षा प्रिय हैं, अन्य सब प्रियोंकी अपेक्षा प्रिय हैं, सबकी अपेक्षा प्रिय अर्थात् प्रियतम हैं।

इस श्रद्धाको लानेके लिये नित्य-नैमित्तिक कर्तव्य-कर्म, सत्सङ्ग, विचार और अजपा-नाम-साधन नियमितरूपसे करना होता है। इससे क्रमशः साध्यवस्तुके सम्बन्धमें ज्ञान-लाभ होकर आसक्तिके बढ़नेपर व्याकुलता आती है। इस व्याकुलतासे शरणागतपर भगवान् कृपा करते हैं। कृपासे प्रकृत श्रद्धाका उदय होता है। यही श्रीमद्भागवतका सिद्धान्त है।

विषयोंमें वैराग्य एवं भगवान्में अनुराग

स्वभाव या पूर्व संस्कार इस व्याकुलता वा श्रद्धाकी प्राप्तिमें प्राथमिक कारण है। तथापि पुरुषार्थके द्वारा साधनाभ्यास और वैराग्य-अभ्याससे विषयसे वैराग्य और भगवान्में अनुराग—दोनों ही बढते हैं। जीवका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति अथवा परम प्रेममयको प्रियतमरूपसे प्राप्त करना है। प्रेमभक्तिके द्वारा ही भगवान्को प्रियतमरूपसे देख और पा सकते हैं। भगवान्की भक्ति पानेके लिये अनुराग उपजाना ही होगा। भगवान्से अनुराग विषयसे विराग है। इस अनुरागके लिये विषयसे वैराग्य और भगवान्की भक्ति—दोनोंका ही अभ्यास करना होगा। उभयविध अभ्यास ही साधना है। एक साथ दोनों अभ्यास करनेसे साधना सुगम होती है। प्रकृतिकी विकृतिका त्याग ही वैराग्य है। इस विकार-त्यागका अभ्यास ही वैराग्य-अभ्यास है। प्राकृत प्रेम विकृत है। यथार्थमें प्रेम विकृत नहीं है, अज्ञान-चक्षुमें विकृत दीख पड़ता है। ज्ञान-चक्षुके खुलनेके लिये प्रकृतिके विकारके त्यागका अभ्यास करना होगा।

अखिलाश्रय वासुदेव-साधन-रहस्य

प्रेमच्छटासे मोहग्रस्त जीवके विषयासक्त न होकर सभी वैध कर्त्तव्य-कर्मोंके अंदर सर्वत्र प्रेममयके दर्शन करनेकी चेष्टा करनेसे मन क्रमशः तन्मय हो जायगा। सदा सर्वत्र प्रेममयकी प्रेमच्छटाका ही म्लान प्रकाश फैला है, सब कुछ प्रेममयके ही विकृत प्रेमसे परिपूर्ण है—यही भाव और विश्वास हृदयमें रखकर मनुष्यके स्वाभाविक प्रेम-प्यार आदिके द्वारा प्रेमच्छटाका आश्रय लेकर प्रेममयका पता लगाना होगा। विषयासक्त मन विषयोंमें प्रेममयकी खोज करते हुए कहीं प्राकृत—जागतिक प्रेम (काम) के बन्धनमें न जा फँसे अर्थात् प्रेममयके म्लान प्रेमच्छटारूप प्रेममें मुग्ध और मोहग्रस्त होकर 'तत्'के अनुसंधानसे विरत न हो जाय, इसके लिये सबमें उन्हीं एक भगवान्को देखनेकी चेष्टा करते हुए सर्वविध वैध कर्तव्य-कर्मोंके साथ 'श्वास-प्रश्वासमें अजपा-नाम-साधन'

करते रहना चाहिये। इसमें पूर्व-संस्कार और मनकी मलिनताके कारण संयम और निष्ठा आदिमें शिथिलता भी आ सकती है। परंतु प्रातः तथा सायंकाल दृढ आसनसे बैठकर चित्तवृत्तियोंको विषयोंसे खींचकर एक भगवान्‌में सब कुछ देखनेके हेतु प्रेम-भक्तियुक्त मनसे गुरुदत्त अप्राकृत शक्तियुक्त अजपा-नाम-साधन करनेसे आसक्ति एवं निष्ठा आदिकी दृढ़ता बढ़ेगी और प्रेमिक मन क्रमशः प्रेममयको समर्पित होगा।

भगवत्-कृपापूर्ण सेवास्वादनमें ही चरितार्थता

आकाशके मेघमुक्त होनेपर जैसे सूर्य-दर्शन होता है, परंतु फिर मेघ आकर सूर्यको ढक देते हैं और पृथिवी मलिन रूप धारण करती है, वैसे ही कभी-कभी श्रीभगवान् भक्तको अपनी ओर खींचनेके लिये अहैतुकी कृपा करके थोड़ी देरके लिये संस्कारावरण हटाकर नाना देव-देवी, ज्योति आदि ऐश्वर्यरूपसे दर्शन दिया करते हैं और फिर पर्दा डाल देते हैं, जिससे सर्वत्र अन्धकार छा जाता है। फिर थोड़ी देरके लिये अपनी झाँकी दिखा देते हैं। और [illegible] आलोक ही आता है। इस [illegible] अन्धकारमें भी मार्गपर चलना है। यह [illegible] या सिद्धिका कारण है। प्रेममय भगवान् [illegible] या दर्शनरूप अमृतबिन्दुका [illegible] लिये कराकर विच्छेद—विरहकी [illegible] अंदर व्याकुलताकी आग जला देते हैं। [illegible] की इस अग्निमें उसकी अपनी [illegible] है। रह जाती है तब केवल [illegible] अनुमान या धारणाके परे है। प्रेमी [illegible] सागरमें तैरता-उतराता रहता है—उसकी [illegible] कुछ प्रेममय हो जाता है, केवल [illegible] प्रेम और [illegible] है। अन्तमें इस प्रेम-रस-सिन्धुमें [illegible] है। उस समय उसकी क्या अवस्था होती है, [illegible] जानता है या नहीं—कुछ कहा नहीं जा सकता।

भगवद्भक्ति-साधन-सिद्ध [illegible] होता है—नान्यः पन्थाः। [illegible]स्वादनमें ही [illegible] है।

भक्ति

(रचयिता—श्रीवीरेश्वर उपाध्याय)

सार नहीं जप-तप-जोगादि में, साधन में,
नाहीं अरु अन्य कोऊ साधन ही कार है।
कार है न तीर्थ व्रत संयमहू करने का,
याते भव बेड़ा नहिं होनदार पार है॥
पार है तुम्हारी तभी नैया—यह सत्य मानु,
सुंदर 'वीरेस' सिख देत बार-बार है।
बार है न यामें नेक मुक्ति के साधना एक,
भगवन्नाम कलिमें बस भक्ति सार है॥
आसा है कौन, जिहि ते फिरता गुमानभरे,
चंद ही दिनाँ की जग जिंदगी की आसा है।
आसा है न तात-मात-वनितादिक साथी की,
औ ना संग जावै धन-धामादिक खासा है॥
खासा है इहि ते कार करौ उपकार तुम,
देहु निज चित्त पुनि दया-धर्म-वासा है।
वासा है भगवत् का सभी प्रानियों में, यही—
भक्ति 'वीरेश्वर' भव-मुक्ति होन वासा है॥

भक्ति-तत्त्व

(लेखक—डा० श्रीक्षेत्रलाल साहा एम्० ए०, डी० लिट्)

भक्तिका अर्थ है प्रेम। भक्ति प्रेमका सर्वोत्तम विभाव है। प्रकृत प्रेम आत्मसमर्पणमय होता है। पुरुष-स्त्रीके बीच जो प्रेम होता है, वह चाहे जितना गहरा हो, चाहे जितना निर्मल हो, आत्मसमर्पणकी भूमिपर आरोहण नहीं कर सकता। आत्माको समर्पण करना जितना कठिन कार्य है, समर्पित आत्माको ग्रहण करना उससे भी अधिक दुष्कर है। स्त्री-पुरुषका प्रेम अन्ततक स्वार्थ-विजडित रहकर किसी एक क्षुद्र मायिक भावमें पर्यवसित हो जाता है। पार्थिव प्रेमसे कभी अमृतत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। निःस्वार्थ, अन्तरतम, सुमधुर भावसे भरा सुधा-सिञ्चित अनुराग जब श्रीभगवान्‌में निवेदित होता है, तभी प्रेमकी पराकाष्ठा—परिपूर्णता होती है। यही अमृत है। स्वयं भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतकी कुरुक्षेत्र-मिलन-लीलामें प्राण-प्रिया गोपीजनोंको उपदेश दिया है—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
(१०।८२।४५)

इस भक्तिकी तुलनामें पाँचों प्रकारकी मुक्ति भी हेय जान पड़ती है। भगवान् स्वय अपनी ओरसे भक्तको मुक्ति देनेके लिये आते हैं, किंतु भक्त उस मुक्तिको लौटाकर भक्तिके लिये प्रार्थना करता है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।
(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

इस मुक्ति और भक्तिके सम्बन्धमें, ब्रह्मज्ञान तथा भगवदनुरागके विषयमें मानवकी मनोवृत्ति, विशेषतः आधुनिक शिक्षित लोगोंकी रुचि-प्रवृत्ति किस प्रकार विभक्त हो गयी है—इस विषयमें कुछ आलोचना की जायगी। उसके पहले भक्तिके सम्बन्धमें यत्किंचित् श्रीमद्भागवतरूपी अध्यात्मदीपके आलोकमें विचार करनेकी चेष्टा की जाती है।

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें शौनकादि ऋषियोंको उपदेश देते हुए श्रीसूतजी कहते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(१।२।६)

इस भागवत-वाक्यमें हमको 'धर्म-समुदायमें भक्ति-धर्मका स्थान क्या है'—इसके निर्देशका संकेत मिलता है। श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्यायके तृतीय श्लोकमें कहा गया है कि श्रीमद्भागवत ग्रन्थ वेद-वेदान्तरूप कल्पवृक्षका मधुरतम रसमय फल है, और यहाँ भागवत-वक्ता सूतजी कहते हैं कि सुर-नर-गणके लिये अनुसरणीय जितने धर्म हैं, उन सबमें जिस धर्मकी सर्वोत्तम परिणति भक्तिमें होती है, वही परम धर्म है। इस श्लोकमें भक्तिके सम्बन्धमें कई विशेष बातें कही गयी हैं। शुद्धाभक्तिका प्रयोग होता है—अधोक्षज तत्त्वमें। 'अधोक्षज' (Transcendent divinity) शब्दकी निष्पत्ति दो प्रकारसे होती है—(१) 'अधःकृत अक्षजः' अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान जिसके द्वारा पराभूत होता है यानी प्राकृतिक ज्ञान-विज्ञानके द्वारा जिसका संधान नहीं मिल सकता। (२) अथवा सारी इन्द्रियोंके पराभूत या प्रविध्वस्त होनेपर शुद्ध चिन्मय चित्तमें जो भगवत्स्वरूप प्रकाशित होता है, वही अधोक्षज है। भक्तिके प्रसङ्गमें भक्तिके परमसाध्य वे अधोक्षज परम पुरुष श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-विग्रह सर्वकारणोंके कारणस्वरूप ही हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

तुरीये कृष्णेते नाहिं मायार सम्बन्ध।

जो मायातीत लीला-पुरुषोत्तम हैं; वे ही श्रीकृष्ण हैं, वे ही सर्वोत्तम प्रेमके पात्र हैं; और वे ही सर्वोत्तम प्रेमसाधनाकी सिद्धि प्रदान करके भक्तको कृतार्थ करनेमें समर्थ हैं। भक्ति अहैतुकी है। शुद्धा भक्तिका कोई अवान्तर उद्देश्य नहीं होता। इस भक्तिका दूसरा विशेषण है 'अकिंचना'। इसमें ज्ञान-कर्म आदिका कोई सम्पर्क नहीं रहता। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

उपर्युक्त भागवतके श्लोकमें भक्तिका द्वितीय विशेषण है 'अप्रतिहता'। भक्ति सर्वातिशायिनी है, अपराजिता है। सारी प्रतिकूल शक्तियाँ भक्तिके सामने पराजित हो जाती हैं। भक्ति एक बार जिस चित्तमें जाग उठती है, उसमें कोई विरुद्ध शक्ति प्रवेश नहीं कर सकती। भक्ति ही चिर-विजयिनी, चिर-संजीवनी रूपमें विराजती है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
(गीता ७।१४)

—वह जो दुरन्त-शक्तिशालिनी माया है, वह माया भी इस भक्तिके द्वारा पराजित हो जाती है, भक्तिके प्रभावसे

छिन्न-भिन्न होकर विलीन हो जाती है। इसी कारण भागवतमें भक्तिको 'अप्रतिहता' कहा गया है।

भक्तिका तीसरा विशेषण है—ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।

मनुष्यके जीवनमें आत्मतत्त्व निर्मल, उज्ज्वल होकर अपने स्वरूपमें बहुत कम प्रकाशित होता है। वह तप, शौच, स्वाध्याय, योगसाधना, ध्यान-धारणा प्रभृति किसीके भी द्वारा प्रसन्न होकर या प्रोज्ज्वल होकर प्रकाशित नहीं होता। अकिंचना भक्तिके प्रभावसे, अति गम्भीर अनुरागके अमृत-स्पर्शसे आत्मप्रकाश एवं आत्मप्रसन्नताके सारे विघ्न, सारे आच्छादन-आवरण हट जाते हैं, मिट जाते हैं। ध्यान, ज्ञान, जप-तप आदि किसी भी साधनसे यह आश्चर्यजनक परिणाम सिद्ध नहीं होता, परन्तु अमृतमयी भक्तिके द्वारा यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

इस श्लोकमें चौथी बात यह बतलायी गयी है कि धर्म क्या है और धर्मके साथ भक्तिका क्या सम्बन्ध है। धर्म वही अनुशीलन, वही भावना या साधना है, जिससे भक्ति प्रकाशित होती है, जिससे भक्ति उत्पन्न होती है—यह बात कहना ठीक नहीं; क्योंकि भक्ति अन्तरके अन्तर्देशमें चिरस्थायिनी, सर्वविजयिनी शक्तिके रूपमें सदा विराजमान रहती है। उसकी उत्पत्ति नहीं होती। उसका उल्लास होता है, प्राकट्य होता है। उसी उल्लास और प्राकट्यमें जो सहायता करती है, अर्थात् विघ्न-बाधाओं और अन्तरायोंको दूर करती है, वही साधना, वही अनुशीलन धर्म है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें कहा गया है—

> नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभू नय।
> श्रवणादि-शुद्ध चित्ते करये उदय॥

यह भक्ति जब हृदयमें समुदित होती है, निर्मल अन्तरमें सुप्रकाशित होती है, तभी भगवान्‌के साथ अनन्त आनन्दमय मधुर मङ्गल सम्बन्धका समारम्भ होता है, अन्यथा नहीं।

भक्ति जीवके हृदयका नित्य तत्त्व है—यह सत्य भागवत, तृतीय स्कन्ध, २५वें अध्यायके दो चिरस्मरणीय श्लोकोंमें अति विचित्रभावसे प्रकाशित हुआ है। जिस चित्तमें कोई विक्षेप नहीं, कामना-वासना और काम-क्रोधादिका उत्पात नहीं, जो शास्त्रानुसार निर्मल जीवन बिता रहा है, जिसे श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त और कोई आकाङ्क्षा नहीं है, उस चित्तमें, उसी जीवनमें सारी इन्द्रियाँ सत्त्व-पथमें प्रवर्तित होती हैं, रजोगुण और तमोगुणका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। इन्द्रियाँ और मन सत्त्व-पथपर [illegible] श्रीभगवान्‌में शुभ संयोग प्राप्त [illegible] प्रभावसे मुक्त होकर धीरे-धीरे [illegible] तनी भक्तिवृत्तिमें विलीन हो जाते [illegible]। [illegible] भक्तिकी अमृत किरणोंसे आलोकित हो उठता है। [illegible] साधनामें ज्ञान विज्ञान, योग-तप स्वाध्याय [illegible] कुछ नहीं रहती। अति [illegible] जीवन-पथ पूर्णतः प्रकाशित हो उठता है। [illegible] श्रीकृष्ण-सेवाकी प्राप्तिके लिये आकुल [illegible] ऊपर संघटित होता है। यही प्रसिद्ध 'देवानां गुण[illegible]' (३। २५। ३२-३३)—आदि श्लोकोंका निगूढ़ [illegible] है।

भागवतमें अन्यत्र कहा गया है कि भक्तिके बिना [illegible] तप आदिसे भी चित्त शुद्ध नहीं होता। [illegible] ही जाता है। चित्त [illegible] नहीं हो सकता। [illegible] मुक्त हो गये हैं, अथवा [illegible] तथा वस्तुतः योगादिकी उच्च भूमिपर [illegible] अन्तमें निम्न भूमिमें आ पड़ते हैं। [illegible] उनके इस पतनका कारण है।

> आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
> पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।
> (१०। २। ३२)

> ते पाइ सुर दुर्लभ पदहि पद [illegible]।
> ([illegible])

श्रीभगवान् कपिलदेवने तृतीय स्कन्धके [illegible] जो भक्तियोगकी व्याख्या की है, उसमें भी [illegible] भाषामें यही बतलाया गया है कि भक्ति [illegible] शक्ति है। लीला पुरुषोत्तम भगवान्‌की [illegible] का श्रवणमात्र करनेसे [illegible] भक्तिस्रोत उमड़कर [illegible] प्रकार जैसे भागीरथीका [illegible] प्रवाहित होता है। उन [illegible]

श्रीमद्भागवतमें [illegible] विभागोंका उल्लेख है। वे हैं—ब्रह्म, [illegible] वान्। ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण और [illegible] परमात्मा [illegible] स्वरूपित अमूर्त तत्त्व है। भगवान् [illegible] वे अनन्त-गुणरत्नाकर हैं, [illegible] जो भक्तिकी [illegible]

भगवान्‌के सांनिध्य, सेवा तथा लीला-विलासादिके सङ्गकी कामना करते हैं। ज्ञान-साधनाका फल ब्रह्म-सायुज्य-मुक्ति अथवा ब्रह्म-निर्वाण है। योग-साधनामें जीवात्मा मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भेदको लाँघ जाता यानी परमात्मामें विलीन हो जाता है। भक्ति-साधनामें भक्त श्रीभगवान्‌के लीलाराज्यमें प्रवेश करता है। मायासे तो वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है। गीताकी भाषामें 'विशते तदनन्तरम्'। ज्ञान और भक्तिका भेद अति विलक्षण है। ज्ञानका चरमफल है—महाशून्यमय आकाशमें विलीन हो जाना। भक्तिका चरम फल है—अनन्त-रूप-रस-ऐश्वर्य-गुण-शाली सर्व-भाव-परिपूर्ण तत्त्वस्वरूप श्रीभगवान्‌के आनन्द-चिन्मय राज्यको प्राप्त करना।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक उठता है कि यदि भगवान् और ब्रह्ममें इतना अन्तर है तो साधकलोग भगवान्‌को छोड़कर ब्रह्मभावनामें क्यों लगते हैं? इसका कारण है स्वाभाविक व्यक्तिगत प्रवृत्ति और रुचिका भेद। सैकड़ों-हजारों ज्ञानी-विज्ञानी अद्वैत-तत्त्व निर्विकल्प ब्रह्मकी ओर स्वभावतः ही आकृष्ट होते हैं। निर्विशेष तत्त्वमें ही उनका विश्वास है। वही उनकी एकमात्र शक्ति है। सर्वातिशायी, सर्वाश्रयी परम ब्रह्म स्वयं भगवान्‌के रूप-रस-लीला-धाम-परिकर प्रभृतिमें उनका विश्वास नहीं है। वे इन सब बातोंको कल्पना समझते हैं। आनन्द-चिन्मय सत्ताका अमृतमय तत्त्व उनके शुष्क चित्तमें कभी प्रतिभात नहीं होता। वे लोग गोलोक-वृन्दावन आदि धामोंके तत्त्वोंको बिल्कुल ही मिथ्या मानते हैं। वे लोग समझते हैं कि जड जगत् रजस्तमोमय विश्व है। जो कुछ है, इतना ही है। इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। परव्योम तथा उसके भीतरके भगवद्धाम आदि उनके निकट मिथ्या कल्पनाके विलास हैं। किसीका भी अस्तित्व नहीं है। है केवल माया-विनिर्मित विपुल विश्व। परन्तु वह भी अद्वैत तत्त्व-विज्ञानकी प्रज्वलित अग्निमें भस्मी-भूत हो जाता है। रहता है केवल निराकार निर्विशेष ब्रह्म। साधक स्वयं भी नहीं रहता, वह ब्रह्माग्निके समुद्रमें स्फुलिङ्गके समान विलीन हो जाता है। अद्वैत-विज्ञान इस प्रकार पर्यवसित होकर परम सिद्धिको प्राप्त होता है और इधर भक्ति-साधनामें भक्त, कोटिकल्पके अन्तमें भी जो विनाशको प्राप्त नहीं होता, उस परमानन्द, लीलामय, मनोरम, मधुरतम, मञ्जुलतम, नित्य धाम गोलोक-वैकुण्ठमें चिरंतन चिन्मय जीवनमें प्रवेश करके कृतार्थ होता है।

इसी कारण सब शास्त्रोंमें भक्तिकी महिमा कीर्तित हुई है। गीतामें कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

फिर सबके अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।...
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गीता १८।६४-६५)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन।......तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें श्रीभगवान् श्रीउद्धव-जीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
(११।१४।२०)

सहस्रों योग-साधनोंमें, सहस्रों सांख्यज्ञान-साधनोंमें, सहस्रों वेदाध्ययनोंमें, सहस्रों धर्म-साधनोंमें, त्याग-तपस्यामें जिन भगवान्‌के पादपद्मोंका स्पर्श भी प्राप्त नहीं होता, उन्हीं भगवान्‌को भक्तिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। दास्य-सख्य-मधुरादि रसोंके सम्बन्धको प्राप्त होकर भक्ति प्रधानतः चार भागोंमें विभक्त होती है—(१) सामान्या भक्ति, (२) साधन-भक्ति, (३) भाव-भक्ति और (४) प्रेम-भक्ति। नियमित साधनानुष्ठानके पहले भगवान्‌के प्रति सामान्यतः जिस श्रद्धा-प्रीति-आसक्तिरूपिणी भक्तिका उदय जीवके हृदयमें होता है, वह 'सामान्या भक्ति' है। यह भक्ति साधनानुष्ठानकी प्रणालीमें नियोजित होनेपर 'साधनभक्ति' के नामसे पुकारी जाती है। जब साधना ठीक तौरपर होती है, तब अन्तरके अन्तर्देशमें जो अति गम्भीर भक्तिका भाव उत्पन्न होता है—सूर्योदयके पूर्व अरुण-किरणोंके आभासके समान, जो आगे चलकर प्रेममें परिणत होता है, उसीका नाम 'भाव-भक्ति' है। भाव-भक्तितक भगवान्‌के साथ कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं जुड़ता। जब भगवान्‌के साथ विशेष-विशेष सम्बन्ध स्फुरित होने लगते हैं, तभीसे प्रेमभक्तिके

प्रादुर्भावका शुभ समारम्भ होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर—भक्तिके ये पाँचों प्रकार प्रेम-भक्तिके अन्तर्गत हैं। शान्तभक्ति ज्ञानमिश्रा भक्ति है। सनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारकी भक्ति ज्ञानमिश्रा शान्त-भक्ति है। उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर जिस भक्तिकी किरणें आभासित होती हैं, वह भी शान्त-भक्ति है। अक्रूर, अम्बरीष, हनुमान्, विभीषण आदिकी भक्ति 'दास्य भक्ति' है। अर्जुन, उद्धव तथा गोप-बालकोंकी भक्ति 'सख्य-भक्ति' है। नन्द-यशोदाकी भक्ति 'वात्सल्य-भक्ति' है। श्रीराधा, ललिता, विशाखा आदिकी भक्ति 'मधुरभक्ति' या 'कान्ता-भक्ति' है। मधुर-भक्तिका नाम मधुरा रति है। मधुरा रतिकी गम्भीरसे गम्भीरतर, मधुरसे मधुरतर स्तर-परम्परा क्रमशः प्रकाशित होती है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव आदि। चित्तमें जब स्नेह आविर्भूत होता है, तब समस्त बुद्धि, मन और प्राण कोमल और स्निग्ध भावको प्राप्त होते हैं। सब निर्मल और मञ्जुल हो उठते हैं। तत्पश्चात् मनका विकास होता है। अन्तःकरणमें गम्भीर आत्मोपलब्धि उत्पन्न होती है। क्षण-क्षण मनमें आता है कि 'मैं प्रेम करूँगा'। वह सोचता है कि 'प्रेम करनेकी योग्यता मुझमें कितनी है ? मैं प्रेम-सेवा कर सकूँगा या नहीं ? प्राणाधिक मेरी सेवा ग्रहण करेंगे या नहीं ?' इस विचारके साथ-साथ कुछ आत्ममर्यादाका बोधरूप अभिमान भी जाग्रत् हो उठता है। आत्मसम्प्रदानमयी रतिके भीतर भी—'मैं अपना अपमान सह सकता हूँ, परंतु प्रेमका अपमान नहीं सह सकता। जो प्रेम अमरलोकसे इस मृत्युलोकमें आया है, वह प्रियतमसे भी बढ़कर महिमान्वित है।'—इस प्रकारका एक अभिमानका भाव निगूढ़रूपसे निहित रहता है। मानके पश्चात् प्रणय उत्पन्न होता है। प्रणयके उदय होनेपर नायक और नायिकाकी सुमधुर प्रीति और भाव इतने मधुमय हो उठते हैं कि अभिमानकी अभिव्यक्तिके लिये अवकाश नहीं रह जाता। प्रणय-रतिके इसी स्तरमें जब दोनोंके बीच घनीभूत अमृतरसका आदान-प्रदान होता है, तब दोनों आमने सामने आते हैं, आँख-से-आँख मिलती है, देखा-देखी होती है और परस्पर जान-पहचान होती है। प्रणयके बाद राग उत्पन्न होता है। रागमें रति नील, श्याम, लोहित आदि वर्णोंको प्राप्त होती है। जिस प्रकार पुष्पके अनेक वर्ण होते हैं, रतिके भी उसी प्रकार अनेक रंग होते हैं। वे रंग ही रतिके अन्तरङ्गका रूपाभास हैं। रागके बाद अनुराग होता है। इसमें एकके अन्तरका वर्ण दूसरेके अन्तरमें प्रतिभासित होता है। एकके अन्तरमें जब जो भाव जाग्रत् होता है, दूसरेके अन्तरमें भी उसी समय उसी भावकी प्रतिमूर्त्ति स्फुटित हो उठती है। प्राणका प्राणसे, चित्तका मनसे जो गम्भीर मिलन होता है, जिसका नाम प्रेम है, उसका इस अनुरागमें ही मुख्य प्राकट्य होता है। प्रेममें जो एक अचिन्त्य द्वैताद्वैत भाव रहता है, वह प्रकट होता है अनुरागमें। इसी कारण प्रेमका नाम अनुराग है। अनुरागके बाद आता है भाव; 'भाव' शब्द यहाँ पारिभाषिक है। 'चैतन्य-चरितामृत' ग्रन्थमें लिखा है—

प्रेमेर परम सार तार नाम भाव।

अर्थात् प्रेमका जो परम निर्यास है, उसीका नाम भाव है। इस भावके परम स्तरको 'महाभाव' कहते हैं। महाभावमें ही प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्रेमके भीतर जितना आश्चर्यमय, अपूर्व चिन्मय उल्लास तथा उन्मादना निहित है, उसका अनिर्वचनीय प्राकट्य महाभावमें होता है। इसकी अभिव्यञ्जना मानव-जीवनमें नहीं होती। एक [illegible] दिव्य मानव इस मर्त्यलोकमें महाभावकी चिर-चमत्कारिणी [illegible]-लीलाका प्रदर्शन करा गये हैं। वे हैं नदियाके [illegible] श्रीकृष्णचैतन्यदेव, जो प्रेमभक्तिके अवतारके रूपमें आविर्भूत हुए थे। महाभाव रूढ और अधिरूढ भेदसे दो प्रकारका होता है। अधिरूढ महाभाव भी मादन और मोहन भेदसे दो प्रकारका होता है। यह महाभाव श्रीराधा तथा उनकी सखियोंकी सम्पदा है। प्रेमकी अनुभूति, उसका आस्वादन विभाव परम्पराजनित प्रकाश पाता है इसी मादनाख्य महाभावमें। अनुराग, जो महाशक्तिशाली [illegible], [illegible] विद्युत्-स्फुरण प्रवाह है, वह प्रतिबिम्बित होता है इसी मादनाख्य महाभावमें। भक्ति क्या वस्तु है—यह समझनेके लिये अधिरूढ महाभावका अनुशीलन करना आवश्यक है। जो लोग भक्तिको मधुर मनोराग (Sweet Sentimentality) कहकर उसकी अवज्ञा करते हैं, वे [illegible]। भक्ति प्राकृतिक अनुभूति (Feeling) मात्र नहीं है। यह एक तेजस्विनी चिन्मयी शक्ति है। इस शक्तिके प्रभावसे भगवान् वशीभूत होते हैं। यह शक्ति ही विश्वकी [illegible] है। रासमण्डलमें अन्तर्हित होकर भी गोपाङ्गनाओंकी भक्तिके प्रभावसे भगवान् जिस रूपमें उनके सामने पुनः आविर्भूत हुए थे, उसी मूर्तिका ध्यान करते हुए हम इस प्रबन्धको समाप्त करते हैं—

तासामाविरभूच्छौरिः [illegible]।
पीताम्बरधरः स्रग्वी [illegible]॥

[illegible]

वैष्णव-भक्ति और भारतीय-आदर्श

(लेखक—श्रीमती शैलकुमारी वाना)

प्रेम-भक्तिकी चर्चा करते समय पहले वैष्णव-समाजकी चर्चाका विषय सामने आता है। भारतका जो सनातन आदर्श है, उसके साथ प्रेम-भक्तिका सम्बन्ध ओत-प्रोत होकर जुड़ा हुआ है। अतएव प्रेम-भक्तिके विषयमें कुछ कहनेके पहले भारतीय आदर्शके विषयमें कुछ कहना आवश्यक है।

आदर्श सृष्टिकी ओर लक्ष्य रखकर विचार करनेपर कई स्तरोंकी बात विशेषरूपसे मनमें आती है। उनमें पहला वैदिक-युगका आदर्श है। वैदिकयुगकी प्रज्ञा विचित्र और विभिन्न-पथगामिनी थी और उसका लक्ष्य था ऋद्धि। वैदिक इतिहासमें हम देखते हैं कि ऋषि और ब्रह्मवेत्तागण अग्निमें आहुति डालकर प्रार्थना करते हैं—

'हमारे शत्रुओंका नाश हो, हमें धनकी प्राप्ति हो तथा गार्हस्थ्य-सुख प्राप्त हो।' वे कहते हैं—'हे हुताशन! तुम हमारी कामनाओंको सिद्ध करो। शत्रुके तेजको पराभूत करो और दाम्पत्य-जीवनको सुखमय बनाओ।' यह प्रार्थना हम सुनते हैं अपाला, जुहू आदिके मुखसे; यह प्रार्थना सुनते हैं शचीके तथा देवमाता अदितिके मुखसे। अर्थात् श्रेष्ठ देवताओंके मुखसे ही हमें ज्ञात होता है कि उनका प्रेम ऋद्धि और सिद्धिकी सार्थकता और पार्थिव प्रतिष्ठाके बीच निवास करता था।

इसके कुछ ही पश्चात् हम आरण्यकयुगमें प्रवेश करते हैं। जो अग्नि 'रत्नधातमम्' था, वही यहाँ 'सूर्याचन्द्रमसावुभौ नक्षत्र्याग्नी' है। विराट् उन्मुक्त नभ उस समय आराध्यका प्रतीक बना। यहाँ गीताकी वाणी याद आती है—

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।

अर्थात् नाम-रूपसे अतीत एक पराशक्ति इस आदर्शका विभु स्वरूप है। यहाँ सारी प्राकृतिक वस्तुएँ उसी एकसे उद्भूत और उसीमें स्थित हैं तथा समस्त साधनाओं और आराधनाओंका केन्द्रिय आदर्श है वही एक।

इस युगमें शान्त प्राकृतिक अरण्यके परिवेशमें ध्वनित होता है केवल—

नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्॥

फिर ध्वनित होता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २।२।१५)

'वहाँ (उस आत्मलोकमें) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है; फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है।'

पुनः सुनते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

'यह आत्मा वेदाध्ययनद्वारा प्राप्त होनेयोग्य नहीं है और न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है। यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है।'

—इत्यादि।

अर्थात् इस उपनिषद्-युगके ब्रह्मवेत्ताओंका प्रेम उद्बुद्ध होता है अपार्थिवतामें। भक्ति अन्तर्मुखी होती है। उन्होंने जान लिया था कि भूमा इस पृथिवीकी सम्पद् नहीं है। इसीलिये उन्होंने कहा था—

यन्नुम इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्याम?

(बृहदा० उप० २।४।२)

अतएव हमने देख लिया कि वैदिकयुगका वित्तके प्रति आकर्षण इस युगमें परिवर्तित हो गया है नित्य वस्तुके आकर्षणमें। फलतः ये दोनों मानो दो स्वतन्त्र धाराएँ हैं।

इसके बाद हमको पौराणिक युगमें इन दोनोंके बीच सामञ्जस्य खोजनेकी एक चेष्टा प्राप्त होती है। यह आदर्श और भी पूर्णतर होता है। इस युगमें रामायण और महाभारतके देवता श्रीराम और श्रीकृष्णको परम श्रद्धा-

भावसे ग्रहण किया गया है। उनके कार्य-कलाप, उनकी बतायी हुई नीति—यहाँतक कि उनकी चरित्रगत विशेषताओं-को भी इस युगमें आदर्शरूपसे ग्रहण किया गया है। साराश यह कि परम पुरुष श्रीराम और श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंमें पूर्ण आत्म-समर्पण सम्पन्न हो गया है।

अब अपनी बात कही जाती है। वैष्णव-भक्ति आज और भी पूर्णतर—सम्भवतः पूर्णतम आदर्शसे अनुप्राणित है। इसके आदर्शमें गृह और गृह-देवता स्वतन्त्र नहीं हैं। आजके वैष्णव प्राणमें ही प्रियको प्रतिष्ठित करते है। सब मिलकर एकाकार हो जाते हैं। वृक्ष जैसे प्रकाश, वायु और आकाश—सबसे प्राण-रस सग्रह करके प्राणमय हो उठता है, वैष्णव भी ठीक उसी प्रकार परम प्रियतमको परिपूर्ण भावसे भक्ति अर्पण करते हैं; देह और देही एक हो जाते हैं।

वैष्णव-भक्ति-तत्त्व अद्वैतवादका प्रत्याख्यान करता है। उसकी भित्ति बादरायणका ब्रह्मसूत्र है। यहाँ निम्बार्क या वल्लभाचार्यके मतवादकी पृथक्ताके लिये कोई स्थान नहीं है। अर्थात् वादकी दृष्टिसे, द्वैतवाद या अद्वैतवाद—किसी भी वादके लिये यहाँ स्थान ही नहीं है। ब्रह्म क्यों जगत्का निमित्त-कारण है, उपादान-कारण क्यों नहीं है, द्वैतवादमें जगत् और ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व क्यों स्वीकार्य है—इस प्रकारके प्रश्नोंके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण ही आराध्य-देवता है, वे ही इष्ट हैं, फिर चाहे किसी रूपमें उनका भजन क्यों न किया जाय। वैष्णव-भक्ति-तत्त्वमें इस आदर्शवादने प्रेमके आवरणमें कैसा अपूर्व-रूप धारण किया है, श्रीराधिका उसका मूर्तिमान् स्वरूप हैं।

श्रीराधिका श्रीकृष्ण-भक्तिका सजीव विग्रह है। उनका स्थान ससारसे बहुत ऊपर है। इस प्रेममें मन और प्राण मुग्ध हो जाते हैं, परतु उन्मत्त नहीं होते। जैसे एक हीरकखण्डमें सूर्यरश्मि प्रतिफलित होकर हमारे नयनोंको मोह लेनेवाली वर्णच्छटाकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार इस प्रेमने अनुराग, मिलन, विरह, सताप प्रभृति नाना रूपोंमें प्रकट होकर भारतकी सनातन भक्तिके आदर्शको परिपुष्ट किया है।

भारतका समाज सम्मिलित परिवारके आदर्शमें गठित है। उस ससारमे पति-पत्नी हैं, पुत्र-कन्या है, प्रीतिपात्र सखा-सखी है। इन सबके प्रेमको लेकर ही यह संसार है। यही प्रेम है। परंतु जो इसके भी बहुत ऊपर हैं, उनके प्रति जब हम प्रेमके आकर्षणसे आकर्षित होते हैं, जब उनके विरहमें हमारे प्राण व्याकुल हो उठते हैं, [illegible] व्यथा और उद्विग्नताकी अनन्यतामें [illegible] हुआ करता है—

प्यारे दरसण दीज्यो आय, तुम बिन [illegible]।
जल बिनु कमल, चंद बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, बिरह [illegible]॥
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना,
मुखसूँ कथन न आवै बैना,
कहा कहूँ, कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय।
क्यूँ तरसावो अंतरजामी,
आय, मिलो किरपा कर स्वामी।
मीराँ दासी जनम जनमकी पड़ी तुम्हारे पाय॥

—तब हृदयसे जो अशरीर प्रेम और [illegible] उनके प्रति अर्पित होती है, वह प्रेम ही [illegible] उपजीव्य है। इसी भक्तिकी मस्तीमें एक दिन [illegible] विभोर हो गये थे। श्रीपरमहंस रामकृष्णने [illegible] आस्वादनमें बाह्य सुध-बुध खो दी थी और [illegible] आविष्ट होकर देवी आलाळ—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

—कहते-कहते श्रीरङ्गभूके [illegible] उन्मत्तवत् हो उठती थीं। [illegible] तुलना नहीं है। ऐकान्तिकता और [illegible]।

श्रीराधिकाका प्रेम [illegible]। [illegible] प्रेम हो तो उसमें [illegible] स्थान नहीं। [illegible] दर्शन है। प्रेम विशुद्ध है, प्रेम [illegible] है, [illegible] मूल है। श्रीराधिका इसी प्रेमकी पूर्ण [illegible]। राधिकाने श्रीकृष्णको देखा नहीं, [illegible] परंतु जिस दिन उनका नाम सुना, उसी दिनसे [illegible] नाम—

कानेर भीतर दिया [illegible]
आकुल करिल मोर प्राण।

'कानोंके भीतर प्रविष्ट होकर [illegible] और उसने मेरे प्राणोंको आकुल कर दिया।'

और फिर कहती हैं—

ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो
वदन छाडिते नाहिं पारे !
जपिते-जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइब सइ तारे ॥

'अरी ! मैं नहीं जानती कि श्यामसुन्दरके नाममें कितनी मधुरता है, वदन इसको छोड़नेमें असमर्थ हो रहा है । नाम जपते-जपते मैं अवश हो गयी, सखी ! अब मैं उनको कैसे पाऊँगी ?'

भाव ही रागात्मिका भक्ति है । भारतके भक्ति-मार्गका यही आदर्श है ।

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रेमकी आन्तरिकता और गम्भीरतामें श्रीराधिका भारतीय भक्तिकी आदर्श हैं । वैष्णव-भक्तिका चरमस्वरूप 'राधा-भाव' है । इस भावका प्रकृत स्वरूप, श्रीराधिकाके सिवा, विश्वके दर्शनमें और कहीं नहीं मिलता । 'मैं तुम्हारी ही हूँ । मैंने अपना सर्वस्व तुमको अर्पण कर दिया । मेरी सारी इन्द्रियोंके अधीश्वर तुम्हीं हो, तुम सब कुछ ले लो ।' पूर्णतम निष्काम-भावसे ऐसी बात राधाके सिवा क्या और कोई कह सका है ? साराश यह कि श्रीराधिका दुविधा, शङ्का, संकोच, संशय आदिसे विरहित चित्तसे, आदर्श भक्तके स्वभावसिद्ध अकुण्ठित रूपमें, निष्ठावान् जगत्के सम्मुख आत्मनिवेदनके एक अपूर्व आदर्शके रूपमें स्थित हैं । वह आदर्श है—

बन्धु ! तुमि ये आमार प्राण ।
देह मन आदि तोमाते सँपेछि
कुल शील जाति मान ॥
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया !
योगीर आराध्य धन ॥
गोप-गोयालिनी हम अति हीना
ना जानि भजन-पूजन ॥
पिरीति-रसे ते ढालि तन-मन
दियाछि तोमार पाय ॥
तुमि मोर गति, तुमि मोर पति
मन नाहिं चाय आन ॥
कलंकी वलिया डाके सब लोके
ताहाते नाहिक दुःख ।
बंधु तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख ॥

× × × ×

भाल-मन्द नाहि जानि ।
कहे चण्डीदास पाप-पुण्य मम
तोमार चरण खानि ॥

'हे बन्धु ! तुम मेरे प्राण हो ! मैंने देह-मन आदि तथा कुल, शील, जाति और मान—सब तुमको सौंप दिये हैं । कृष्ण ! तुम अखिल जगत्के नाथ हो, योगियोंके आराध्य धन हो । हम गोप-ग्वालिनियाँ अति हीन हैं, भजन-पूजन नहीं जानतीं । प्रेमके रसमें ढालकर मैंने अपना तन-मन तुम्हारे चरणोंमें डाल दिया है । तुम्हीं मेरी गति हो, तुम्हीं मेरे पति हो; मेरा मन और किसीको नहीं चाहता । मुझे सब लोग कलङ्किनी कहकर पुकारते हैं, इसका मुझे दुःख नहीं है । बन्धु ! तुम्हारे लिये कलङ्कका हार गलेमें धारण करनेमें मुझे सुख है ।······—क्या भला है और क्या बुरा—यह मैं नहीं जानती । चण्डीदास कहते हैं कि हे प्यारे ! मेरा पाप-पुण्य सब केवल तुम्हारे चरण ही हैं ।'

भारतीय वैष्णवी-भक्ति यही बात कहती है । यही वैष्णवोंकी कामना है । पता नहीं, ऐसी आन्तरिकतापूर्ण सकरुण भाषामें, ऐसी मर्मस्पर्शिनी निर्भरतासे समुच्छ्वसित ऐकान्तिक भक्ति—ऐसी हृदयभरी, विनतीभरी, मन-प्राणको विवश करनेवाले कोमल मधुरस्वरमें आराध्य देवताके श्रीचरणोंमें आत्मनिवेदन करनेकी बात—अन्यत्र कहीं सिखलायी गयी है या नहीं । परंतु भारतीय आदर्शमें यह नित्यनवीन, नित्यमधुर और नित्यस्थायी प्रेम ही भारतीय वैष्णवी-भक्तिका अटल आदर्श है ।

भजन बिना बिना पूँछका पशु

कागभुशुण्डिजी कहते हैं—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान ।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान ॥
(उत्तरकाण्ड)

साध तेरी

(रचयिता—वैद्यराज श्रीधनाधीशजी गोस्वामी)

अमरवैभव सृजन करना,
एक ही हो साध तेरी ॥

साधना-पथ-पथिक बनकर, कोटि कष्टोंको सहनकर।
विपद्-हिमगिरि, तीव्र तपसे, विलय होगा स्रोत बनकर ॥
दुःखके गम्भीर तलमें, सुख लगाते नित्य फेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ १ ॥

जाल फैला वासनाका, चमकती मृगतृष्णिकाएँ।
मोह-तमसे पथ समावृत, मुग्ध करती हैं दृवाएँ ॥
सजग हो मग पग बढ़ाना, बज रही अविवेक-भेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ २ ॥

मानपर जब विजय होगी, आत्मविजयी तब बनेगा।
अङ्कुरित तृष्णा हुई तो, गर्त अपना तू खनेगा ॥
ज्ञान-दीपक बुझ न जाये, है अविद्या-निशि अँधेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंपर विजय पाकर, अटल संयम-साधना कर।
सत्यसे, तप-त्यागसे, निज इष्टकी आराधना कर ॥
स्वतः धुक्षित हो उठेगी, किल्विषोंकी विशद ढेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ ४ ॥

कर्मयोगी बन अनवरत, सफल होकर फूलना मत।
कर्मका फल है पराश्रित, विफल हो सुख भूलना मन ॥
त्यागकर अधिकार-शासन, बना रह कर्तव्य-हेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ ५ ॥

'अटल साहस' से निरन्तर, साधना-पथ जगमगाना।
यह निराशा-निशि विलयकर, सुप्त कातरको जगाना ॥
श्रान्तिका अनुभव न करना, सिद्धि होगी चरण-चेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ ६ ॥

सिन्धु-सरिता-निर्झरोंको, घाटियोंको, कन्दरोंको।
पार करता, भेदता चल, मोहके सुरमन्दिरोंको ॥
जा पहुँच, शुचि सुधा-सरि-तट, पान कर झट, कर न देरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी ॥ ७ ॥

पुष्टि-भक्ति

(लेखक—सौ० श्रीरुचिरा बहिन वि० मेहता)

सृष्टिमें भक्तको रसभावके प्रेममें डुबाकर, अलौकिक तत्त्वका स्मरण कराकर, अहंता-ममताको भुलाकर दीनतापूर्वक प्रभुकी सेवा करानेवाली भक्ति पुष्टि-भक्ति कहलाती है। यह भक्ति प्रभुकी या गुरुकी कृपाके बिना नहीं प्राप्त होती। इसीलिये पुष्टि-मार्गको अनुग्रह-मार्ग भी कहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके लीला-रसके आनन्दमेंसे निकले हुए आनन्दात्मक, रसात्मक भावोंने जो भक्तिका स्वरूप ग्रहण किया, वही पुष्टिमार्ग है। इस मार्गमें जीवात्मा अंश और परमात्मा अंशी हैं। धर्म और धर्मी प्रभुको मानकर प्रभुका दास होकर प्रभुकी भक्ति करनेसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

पुष्टिमार्गमें गीता, भागवत और वेद प्रमाणस्वरूप माने गये हैं। गीताके बारहवें अध्यायमें बतलाये गये भक्तोंके लक्षण पुष्टिमार्गकी उत्तमता प्रदर्शित करते हैं। पुष्टिमार्गको आधुनिक बतलाना ठीक नहीं। जैसे सूर्य आज ही उगा है—यह कहना ठीक नहीं होता—सूर्य तो था ही; वह रातके समय नहीं दीखा, सबेरा होनेपर दीखने लगा—यही बात पुष्टिभक्तिके विषयमें है। वह नित्य होनेपर भी बीच-बीचमें तिरोहित होकर प्रभुकी इच्छासे पुनः आविर्भावको प्राप्त होती है। लुप्त हुई पुष्टिभक्ति प्रभुकी इच्छा और आज्ञासे पुनः श्रीवल्लभाचार्यके द्वारा आविर्भूत हुई है।

श्रीमद्भागवतके अनुसार नन्द-यशोदा, गोप-गोपिकाओं तथा गायोंको अनुग्रहपूर्वक प्रभुने भक्तिका दान किया। अर्जुनको भी गीतामें भगवान्‌ने शरणागति ग्रहण करनेके लिये—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८। ६६)—का उपदेश दिया।

पुष्टिमार्गके भक्त मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, सर्वात्मभावसे प्रभुके शरण जाकर, प्रभुकी तन-मन-धनसे सेवा करके, सेवाके फलस्वरूप सेवाकी प्राप्तिके लिये निष्काम भावसे सर्वस्व प्रभुको अर्पण करते हैं। प्रभुकी प्राप्तिमें होनेवाला विलम्ब, और उससे प्राप्त होनेवाला विरह-ताप इस मार्गकी साधनामें मुख्य माने जाते हैं। पुष्टिमार्गमें प्रभुकी तनुजा, वित्तजा और मानसी—त्रिविध सेवा की जाती है। इनमें मानसी सेवा श्रेष्ठ है। तनुजा और वित्तजा सेवा सिद्ध हो जाय तो अहंता और ममता दूर हो जाय। दीनताकी प्राप्ति होनेपर मानसी सेवा सिद्ध होती है। तब हृदयमें अलौकिक प्रेमका झरना बहने लगता है, जिससे एकात्मकभाव, सेवात्मकभावके उदय होनेपर 'वासुदेवः सर्वमिति' (७। १४)—इस दृष्टिसे जगत्‌में प्रभुके रसरूप-रसनिधि स्वरूपको आँखोंसे देखकर कृतार्थ होकर भक्त प्रभुकी लीलामे पहुँच जाता है।

इस मार्गकी प्राप्तिके लिये श्रीमहाप्रभुने पुष्टि-भक्तिका उपदेश करके दैवी जीवोंको प्रभु-सांनिध्य सिद्ध करके बतलाया। पुष्टिभक्तिके मार्गमें कोई बालस्वरूप, कोई किशोरस्वरूप तथा कोई प्रौढ़स्वरूपकी सेवा करते हुए वात्सल्य, मधुर और सख्यभक्तिके द्वारा सर्व-समर्पण करके आत्मनिवेदनरूप भक्तिको प्राप्त करते हैं। वे भगवान्‌के सुखके लिये भक्तिमें मस्त रहते हैं; उन्हें देहका अनुसंधान नहीं रहता और वियोगका ताप प्रभुका सानिध्य प्राप्त कराता है।

पुष्टिभक्तिका साधन नवधा भक्ति है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य—इस क्रमसे साधना करनेपर अन्तमें आत्मसमर्पण सम्पन्न होता है; तब प्रेमलक्षणा भक्तिसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

भक्ति करते-करते वैराग्य होनेपर ज्ञानका प्रकाश होता है। उस प्रकाशसे हृदयमें मान-अपमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे उपरति प्राप्त होती है। सुख-दुःख मनके कारण होते हैं। यदि मन प्रभुको अर्पण हो जाय, प्रभु-सेवामें अहर्निश लगा रहे, प्रभुके प्रेममें सदा मस्त रहे तो जगत्‌के काम-क्रोध, राग-द्वेष और लोभ छूट जाते हैं। तब सारे काम प्रभुके सुखके लिये, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये होने लगते हैं। यही पुष्टिमार्गकी भक्ति है।

सब भावोंमें मधुरभाव प्रभुके विशेष निकट पहुँचाता है। उसमें जाति-वर्णका भेद नहीं रहता। विजातीय, चमार तथा स्त्रियोंने भी इस भावके द्वारा प्रभुको प्रसन्न किया है। मधुरभावमें प्रेमकी मुख्यता है। प्रभुके प्रति प्रेम द्वैतको अद्वैतमें परिणत करता है। प्रेममें त्यागकी भावना मुख्य होती है। प्रियतमके सुखके लिये जब प्राणोंको आनन्दसे समर्पण कर दिया जाता है, तब इस जगत्‌के तुच्छ सुखका त्याग करनेमें तो कोई क्लेश नहीं होता। जो लौकिक प्रेमको त्यागता है, उसे अलौकिक प्रभु-प्रेम प्राप्त होता है। एक प्रभुका सेवक प्रभुकी सेवा करता था। सेवा करते समय आँखें बंद रखता। बहुत दिन इस प्रकार सेवा करते बीत गये।

तब प्रभुने उसको आँखें खोलनेके लिये कहा। भक्तने उत्तर दिया—'प्रभो! यदि मैं आँखें खोलूँगा तो तुम्हारे दर्शनसे होनेवाले आनन्दके लोभसे तुम्हारी सेवा भलीभाँति नहीं हो सकेगी; इससे तुमको कष्ट होगा और वह मुझसे सहन नहीं हो सकता। इसलिये मैं आँखें नहीं खोलूँगा।' यह उत्तर सुनकर प्रभु प्रसन्न हो गये और तत्काल ही साक्षात् प्रकट होकर उसका हाथ पकड़कर आँखें खुलवाकर दर्शन दिये।

प्रभुके सुखके सामने अपने सारे सुख दुःख, मान अपमानको तुच्छ समझकर, अहंता-ममताको त्यागकर, [illegible] सर्वभावोंको प्रभुमें केन्द्रित करके, उनके ही प्रेममें नित्य नयी नयी सेवाके तन्मय होकर प्रेम-रसके समुद्रमें डूबे रहना पुष्टिभक्ति है।

कैसा सुंदर जगत बनाया!

(रचयिता—श्रीश्यामनन्दनजी शास्त्री)

कैसा सुंदर जगत बनाया!

नीला यह आकाश न नयनोंके नभमें छिप पाता।
ध्वनित ऋचाओंसे पल-पल हो तेरी महिमा गाता॥
नभ-गंगाके स्वर्ण-कमल ले सूरज अर्घ्य चढ़ाता।
स्वागतमें तेरे यह चंदा रजत-कुसुम बिखराता॥
रजनीने ले धागे तमके हीरक-हार सजाया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

मर्मरके स्वरमें ये तरुगण तव संदेश सुनाते।
पाकर थपकी मलयानिलसे सादर शीश नवाते॥
पत्तोंकी नीलम-थालीमें फूल-सुदीप जलाते।
मीठे कलकल-छल द्विजगण गा गुणगण नहीं अघाते॥
पा करके संकेत तुम्हारा नाच रही है माया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

महारूप लखकर ज्यों तेरा मौन बना है सागर।
लहरें हँसतीं शशिमें तेरी छविका दर्शन पाकर॥
झूम रही नदियाँ प्रमुदित हो विकसाये तट कलियाँ।
छूते ही तुमको हो जातीं गीली मनकी गलियाँ॥
नटनागर! क्योंकर यह तुमने इन्द्रजाल फैलाया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

विश्व रङ्गस्थल, जीवन नाटक अनुपम साज रचाया।
अनल-अनिल-घन-गिरि-वन-भू-कण नाटक-हेतु बनाया॥
जन्म-मरणके झूलेमें झूले मानवकी काया।
कौन कहे तेरी लीलाको, सबपर उसकी छाया॥
दीनबन्धु! सबके प्यारे तुम, एक भाव अपनाया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

श्रीराधाभाव

(लेखक—साहित्याचार्य, रावत श्रीचतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी)

सम्मोहन-तन्त्रान्तर्गत श्रीगोपालसहस्रनाममें यह स्पष्टरूपसे अङ्कित है कि जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌की आराधना जगत्-जननी श्रीराधिकाजीकी भक्तिके बिना अपूर्ण है। भगवान् शंकर माता पार्वतीसे कहते हैं—

> गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
> जपेद् वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥१७॥

अर्थात् आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उपासना, जपात्मक अथवा ध्यानात्मक—किसी प्रकारकी करनी हो तो इससे पूर्व गौर-तेजयुक्ता भगवती श्रीजीकी समाराधना आवश्यक होती है; क्योंकि श्रीजीकी उपासनाके विना जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्रकी उपासना करनेका मनुष्य अधिकारी नहीं होता। यदि कोई मनुष्य हठधर्मीसे शक्तिरहित केवल ब्रह्मकी उपासना करता है तो वह प्रायश्चित्तका भागी होता है। अतः भगवान्‌की आराधना शक्तिसहित ही करनी चाहिये।

राधा-शक्तिके माननेवाले भक्तशिरोमणि श्रीहितहरिवंश गुसाईंजीने वि० सं० १६०१ में 'श्रीवृन्दावन-शत' नामकी पुस्तक रची है, जिसमें श्रीराधाजीको प्रधान माना है। आपने लिखा है—

> वृंदाबन शत करन कौं कीनौ मन उत्साह।
> नवल राधिका कृपा बिनु कैसैं होत निवाह॥
> दुर्लभ दुर्घट सबनि तें वृंदावन निज भौन।
> नवल राधिका कृपा बिन कहि धौं पावै कौन॥
> सबै अंग गुन हीन है, ताको जतन न कोय।
> एक किसोरी कृपा तें जो कछु होय सु होय॥
> प्रिया चरन बल जानि कै बरनौं हिएँ हुलास।
> तेई उर में आनिहैं वृंदा बिपिन प्रकास॥
> कुमरि किसोरी लाडिली करुना निधि सुकुमारि।
> बरनौं वृंदा बिपिन कौं तिन के चरन समारि॥

गुसाईंजी श्रीराधिकाजीके मुख्य भक्त थे और गौणरूपसे युगल-सरकारके। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि वृन्दावनमें निवास तभी सफल हो सकता है, जब श्रीराधेजूकी कृपा हो; और उन्होंने वृन्दावनकी अधिष्ठात्री देवी राधिकाको मान उनके चरणोंको अपने हृदयमें स्थापित करके ही वृन्दावनमें वास किया। आपने लिखा है—

> न्यारौ है सब लोक तें वृंदावन निज गेहु।
> खेलत लाडिलि लाल तहँ भीजे सरस सनेहु॥
> गौर स्याम तन मन रँगे प्रेम स्वाद रस सार।
> निकसत नहिं तहिं पेन तैं अटके सरस विहार॥
> जद्यपि राजत एक रस वृंदावन निधि धाम।
> ललितादिक सखियन सहित विहरत स्यामा स्याम॥

वैराग्य होनेसे ही संन्यास होता है और तब जीव सब कुछ छोड़कर सच्चिदानन्दकी प्रीतिमें पगा सर्वत्र और सबमें एक उसी प्रेमी इष्टको देखता है, जैसे कि ऊपर गुसाईंजीने भाव प्रकट किये हैं। गुसाईंजी आत्मसमर्पण-योगमें दीक्षित हैं। यह आत्मसमर्पण तन्मना, तद्भक्ति तथा तद्याजी होनेसे होता है। तन्मना अर्थात् प्राणियोंमें उनका ही दर्शन करना, हर समय उनका ही स्मरण करते रहना, सब कार्योंमें और सब घटनाओंमें उन्हींकी शक्ति, ज्ञान और प्रेमका प्रभाव समझकर परमानन्दित रहना। 'तद्भक्ति' अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धा और प्रीति रखकर उनमें लीन रहना। 'तद्याजी' अर्थात् अपने समस्त कार्योंको, चाहे वे कैसे भी हों, अपने इष्टदेवके प्रति अर्पण करना और स्वार्थ तथा कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके उसके लिये कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त होना। पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण करना मानव-समाजके लिये कठिन है। फिर भी, यदि ऐसा कोई विरला वीर होता है तो भगवान् उस आत्मसमर्पण-कर्ताकी प्रत्येक विधिसे रक्षा करते हुए उसे अभयदान देकर और स्वयं उसके गुरु, रक्षक तथा मित्र बनकर उसे योग-पथपर अग्रसर करते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सम्बोधन करके कहा है—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> (१८। ६५)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दकी परम आराध्या देवी स्वयं राधिकाजी थीं। उनकी छविपर मोहित होकर वे कहते हैं—

> राधा की छवि देख मचल गयौ साँवरिया।
> हँस मुसुकाय प्रेम रस चाखँू, ताय नैनन विच ऐसौ राखूँ,
> ज्यों काजर की रेख परैगी भामरिया॥१॥

२३—

भक्तिके पाँच भाव

२४— वात्सल्य-मूर्ति कौसल्या अम्बा
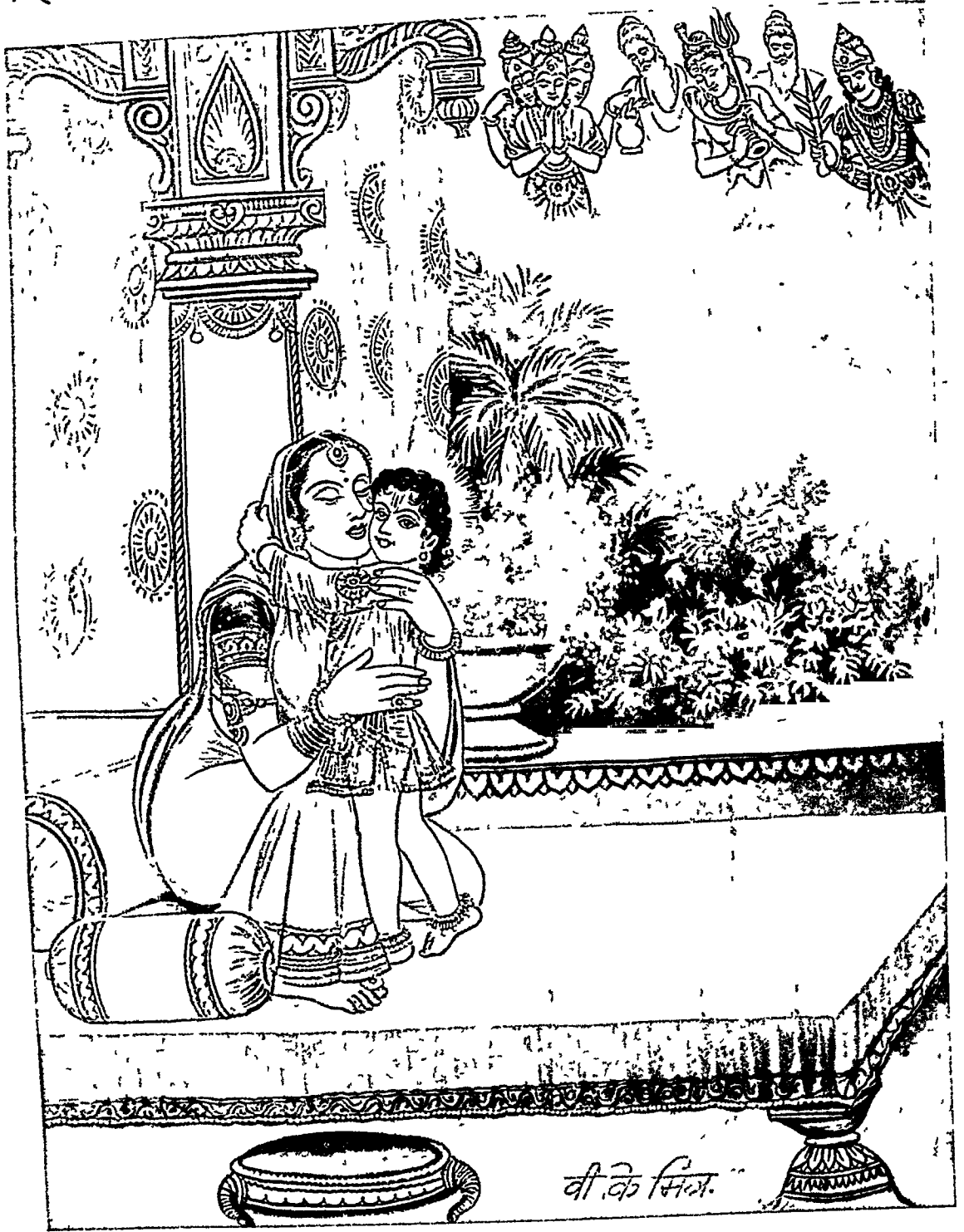
तू गोरी वृषभानु दुलारी, मैं छलिया, मेरी चितवन न्यारी,
कारो ही मेरो भेष कि कारी कामरिया ॥ २ ॥
मैं राधा ! तेरे घर कौं जाऊँ, अँगना में बाँसुरी बजाऊँ,
नृत्य करूँ दृग खोल कमल पर पामरिया ॥ ३ ॥
अपनी सब सखियाँ बुलवा लै, हिलमिल कै मोय नाच नचा लै,
गढ प्रेम की मेख ठुमुक चले पामरिया ॥ ४ ॥
बरसाने की राधा रानी, वृंदावन के बाँके मानी,
सुख सागर यह खेल खेल तू ग्वारिनियाँ ॥ ५ ॥
(ब्रजका एक लोकगीत)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र राधामय थे तथा राधाभावसे ओत-प्रोत रहते थे।

महाकवि बिहारीने भी श्रीराधाजीको नमस्कार कर सतसईके प्रथम दोहेमें लिखा है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परें स्याम हरित दुति होइ॥

रसनिधि रसखानने लिखा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितूँ, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्यौ 'रसखानि', बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौ दुर्यौ वह कुंज कुटीर मैं बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन॥

भुवनमोहनी कुमरि किशोरी लाड़िली प्रिया श्रीराधिका जीके चरणोंको अपने हृदयमें स्थापितकर बारबार कहो कि—

जय राधे, श्रीराधे !
राधावर गोपाल भज मन श्रीराधे ।

विनय

(रचयिता—प्रो० जयनारायण मल्लिक, एम्० ए०, डिप्०, एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

तिमिरमयी रजनीमें हूँ मैं
भ्रान्त पथिक, हे नाथ !
पिच्छल पथपर चलता हूँ प्रिय !
कर दो मुझे सनाथ ॥ १ ॥

अशरण-शरण, दयामय, स्वामी,
मेरा मार्ग दिखाना।
मुझे यहाँसे तुम प्रकाशके
मन्दिरमें ले जाना ॥ २ ॥

ऐसा निन्दित कर्म नहीं है,
जिसे न शतशः कर पाया हूँ।
जीवनकी झोलीमें प्रभुवर !
कंकड़, कण्टक चुन लाया हूँ ॥ ३ ॥

जीवन-नौका जीर्ण पड़ी है,
उठती प्रबल बयार।
कैसे पहुँचेगी यह तेरे
स्वर्ण-धामके द्वार ? ॥ ४ ॥

चलते-चलते कर्म-मार्गमें
नाथ ! शिथिल मैं हो जाऊँ।
भवसागरकी तरल वीचिमें
पड़कर जब घबरा जाऊँ ॥ ५ ॥

कृपाशील होकर तुम मुझको
गीता-ज्ञान बता देना।
अपने चरण-कमलमें प्रियतम !
मेरा चित्त लगा देना ॥ ६ ॥

ईर्ष्या-द्वेष नष्ट हो जायँ,
हृदय प्रेमसे भर जाये।
मन-मोहनकी सुन्दरतामें
मेरा मानस मिल जाये ॥ ७ ॥

जभी कामना मेरे अन्त-
स्तलमें शोर मचायेगी।
उथल-पुथल जब हो जायेगी।
हृत्तन्त्री बज जायेगी ॥ ८ ॥

प्रियतम ! मुझको तब तुम कृपया
वंशी-तान सुना देना।
पाप-पङ्कसे मुझे बचाना,
अपनी झलक दिखा देना ॥ ९ ॥

भगवत्सेवासे प्रक्षालित
हो जाये निर्मल संस्कार।
प्रभुके चरणोंमें अर्पित हो
मानव-जीवन बारंबार ॥ १० ॥

मञ्जरी-भाव-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी)

सीता-राम, गौरी-शङ्कर, राधा-कृष्ण—ये शक्ति एवं शक्तिमान्‌के विविध युगलरूप हैं। विभिन्न समुदाय बहुत दिनोंसे इनकी आराधना करते हैं। जो लोग शक्तिकी नित्यमूर्ति और सच्चिदानन्दमय परब्रह्मके नित्यविग्रहको स्वीकार करते हैं, वे भगवान्‌के नित्यधाममें पार्षद-सहित आराध्य-स्वरूपकी भावना करते हैं। उनकी अनादिसिद्ध जीवस्वरूपमें नित्य भगवत्सेवा चलती रहती है। नित्यसिद्ध सेवामय जीवस्वरूपका एक विशेष परिचय वैष्णवाचार्योंने स्पष्ट भाषामें प्रदान किया है।

श्रीनिम्बार्काचार्यके अनुयायी श्रीभट्टने आदिवाणी या युगलशतकमें श्रीराधा-गोविन्दके नित्य विलासका, जो उनके नित्यधाममें चलता रहता है, वर्णन किया है। आठों पहर युगलकिशोरके रस-विलासकी भावना ही उनका श्रेष्ठ अवलम्ब है। नित्य-विलासी युगलकिशोरकी नित्य सेवा ही उनकी अभिलाषाका विषय रहता है। वे कहते हैं—

> जनम जनम जिन के सदा हम चाकर निसि भोर।
> त्रिभुवन पोषन सुधाकर ठाकुर जुगल किसोर॥

युगलकिशोर हमारे प्रभु हैं, हम जन्म-जन्मान्तरके उनके चाकर हैं—यह नित्य-सेव्य-सेवकभाव श्रीश्रीभट्टाचार्यजीसे हमें प्राप्त होता है। आचार्यके प्रचलित नामके अतिरिक्त श्रीगुरुद्वारा प्रदत्त, युगल-सेवाके उपयुक्त, सखियोंके अनुगत दासी-स्वरूपका भी एक नाम मिलता है। श्रीराधा-श्यामसुन्दर कुञ्जलीलामें भोजन करने बैठे हैं; हाथमें ग्रास लिये हैं और परस्पर रसमय अलाप कर रहे हैं। उस समय श्रीभट्ट अपनी सुध-बुध भूलकर युगलकिशोरकी सेवामें लग गये हैं। यही उनके जीवनका श्रेष्ठ फल है। वे चरणोंमें सिर झुकाकर विनय कर रहे हैं और अपने हाथोंसे भोजन करा रहे हैं।

> बिनय करत पाऊँ जु मैं नाऊँ चरननि माथ।
> देह धरे को फल यही, हितू जिमाऊँ हाथ॥

श्रीभट्ट सखीसमाजमें श्रीहितूनामसे अपने स्वरूपकी भावना करते हैं। श्रीहितू उनका सिद्ध नाम है। सुप्रसिद्ध श्रीहरिव्यासाचार्य इनके ही शिष्य हैं। श्यामस्नेहियोंके लिये परम आदरणीय 'महावाणी' श्रीहरिव्यासजीकी रस-प्राणरूपताका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। योगपीठ-वर्णनमें प्रधान नित्य सखियाँ आठ हैं और उनमें प्रत्येककी अनुगत आठ दासियाँ—यों कुल मिलाकर चौसठ दासियाँ हैं। पहला रङ्गदेवीका यूथ है। इन्हींकी कृपाका भरोसा करके महावाणीमें अष्टयाम-सेवाका क्रम दिखलाया गया है।

श्रीहरिव्यासजी कहते हैं—

> प्रथमहिं रँग श्रीदेवि मनाऊँ। तिन की कृपा यहै जस गाऊँ॥

रङ्गदेवीकी अनुगामिनी सखियोंमें एक श्रीहितसुन्दरी भी हैं। कन्दर्पा नामकी रङ्गदेवीकी अनुगामिनी सखीकी सङ्गिनी भी एक 'हितू' है।

प्रधान सखीकी अनुगामिनी दासीको अलबेली कहते हैं। इसका अर्थ है—तरुणी विलासिनी। साधक-जीवनमें श्रीगुरु-कृपासे इस तरुणी-स्वरूपका आविष्कार पहले किसने, कब और कहाँ किया था—यह तो नहीं बतलाया जा सकता। परंतु यह लौकिक भोगराज्यसे दिव्य रसराज्यमें प्रवेशका एक विराट् संकेत है, इस बातको मैं मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर सकता हूँ। संसारमें आसक्त एक पुरुष साधना-मार्ग ग्रहण करके अपने पुरुष-अभिमानको त्यागकर अपनेको तरुणी, विलासिनी सेवाकारिणीके रूपमें चिन्तन करे और इसी भावसे अपने प्रियतम प्रभुकी सेवा करे—रस-साधनाके क्रममें यह अत्यन्त अभिनव विचारणीय भाव है।

'सिद्धान्तसुख'में श्रीहरिव्यासजी कहते हैं—

> त्रिविध बिनोद बिहारिनि जोरी, गोरी स्याम सकल सुख रास।
> हितु सहचरि (श्री) हरिप्रिया हरषत, निरखत चरन कमल के पास॥

श्रीगुरु-मूर्ति सखी श्रीहितूकी अनुगता सहचरी श्रीहरिव्यास सिद्धस्वरूप श्रीहरिप्रिया दासीके रूपमें मधुर, मोहनीय, सकल सुखके धाम, विचित्र-लीलाकारी युगलकिशोरके चरणोंके समीप रहकर दर्शनानन्दकी अभिलाषा करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके अनुगामी छः गोस्वामियोंमें सुप्रसिद्ध गौडीय वैष्णवाचार्य श्रीरूपगोस्वामीने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमें साधकके इस नित्य विलासमय रूपकी बात बहुत स्पष्टरूपसे कही है। योगपीठमें प्रधाना हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, सुदेवी, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी। इनमें प्रत्येककी अनुगता दासी-किंकरियाँ आठ हैं। इनके सिवा सेवा-परायणा मञ्जरीगण भी हैं।

श्रीमन्महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित प्रेम-साधनाका रहस्य साधक-जीवनमें नित्यविलासी युगलकिशोरकी सेवाभिलाषिणी नित्य-किशोरी-स्वरूपका प्राकट्य है । नवीनरूपमें साधककी अभिव्यक्ति और परिणतिका नाम है—मञ्जरी । तुलसी आदि कुछ वृक्षोंमें जो छोटे-छोटे फूल निकलते हैं, उनको मञ्जरी कहते हैं । इसका अर्थ कोशमें लिखा मिलता है—पल्लवाङ्कुर, नवोद्गत पल्लवका अग्रभाग । सेवाकी अभिलाषाके साथ-साथ साधकके हृदयमें नये भाव प्रस्फुटित होनेकी अवस्थाको समझानेके लिये ही इस 'मञ्जरी' पदका व्यवहार किया जाता है । किसी-किसीके मतसे 'मञ्जरी' का अर्थ होता है—मधुरा या सुन्दरी । श्रीरूपगोस्वामीने, और आगे चलकर श्रीनरोत्तम ठाकुरने भी 'मञ्जरी' शब्दका ही व्यवहार किया है ।

श्रीरूपमञ्जरी सार श्रीरतिमञ्जरी आर लवङ्गमञ्जरी मञ्जुलाली ।
श्रीरसमञ्जरी सगे कस्तूरिका आदि रंगे प्रेमसेवा करे कुतूहलि ॥

सेवापरायण ये मञ्जरीगण प्रेममयी तृष्णा लेकर अत्यन्त आनन्दके साथ युगलसरकारकी सेवा करती हैं । इनमें श्रीरूपमञ्जरी प्रधाना हैं । इनके अनुगत होकर भजन करनेके सिवा साध्य वस्तुको प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

ए सब अनुगा हये प्रेमसेवा लब चेये इङ्गिते बूझिब सब काजे ।
रूपे गुणे डगमगि सदा हब अनुरागी बसति करिब सखी माझे ॥

'इन सब मञ्जरियोंकी अनुगता होकर मैं युगल-सेवाकी याचना करूँगी । उनके कुछ न बोलनेपर भी उनके हृदयका भाव इशारेसे समझकर मैं सेवामें लग जाऊँगी; उनके इशारेके बिना सेवा नहीं करूँगी; क्योंकि उससे राधा-श्यामके विलास-सुखमें बाधा पड़ सकती है । श्रीललिताके हाथसे ताम्बूल ग्रहण करनेमें श्यामको सुख मिलता है । श्रीरूपमञ्जरीके द्वारा पद-सेवासे ही उन्हें आनन्द मिलता है । श्रीरतिमञ्जरीके चामर-व्यजनसे श्रीगोविन्दको उल्लास मिलता है । मैं अयोग्य हूँ । अपनी सेवाके द्वारा क्या मैं उनको सुखी कर सकती हूँ ? इसी कारण मैं सदा उनकी कृपाका निर्देश पानेकी इच्छासे स्थित रहती हूँ ।'

साधक दासको इन नित्यमञ्जरीगणके अनुगत होकर जो-जो गुरुमञ्जरीकी परम्परा है, उसी सिद्ध परम्पराका आश्रय लेना चाहिये । श्रीगुरुदेव युगल-सेवाके लिये उपयोगी उसके सिद्धस्वरूपके नाम, वेश, वास, वयस्, भाव और सेवाके सम्बन्धमें भावनाका द्वार खोल देंगे तथा उसको स्वाभाविक रसमय भजनके द्वारा सेवामें नियुक्त कर देंगे ।

सखीर अनुगा हैया व्रजे सिद्ध देह पाइया सेई भावे जुड़ावे पराणी ॥

मञ्जरीस्वरूपका विशेष लक्षण यह है कि वह नायिका-भावके सम्बन्धमें पूर्णतः निरपेक्ष रहती है । श्रीराधा-गोविन्द-युगलके प्रति प्रीति-वहन करके ही वह कृतार्थ है । स्वतन्त्र नायिकारूपमें विहार करना वह नहीं चाहती । श्रीराधाको श्रीकृष्णके साथ मिला देनेमें जो सुख मिलता है, वही उसे अभीष्ट है ।

सखीर स्वभाव [illegible] [illegible] ।
कृष्ण सह निज लीलाय नाहि सखीर मन ।
कृष्ण सह राधिकार लीला [illegible] [illegible] ।
निजसुख हइते ताते कोटि सुख पाय ॥

साधकका भाव परिपुष्ट होनेपर प्रेमके अभ्युदयके साथ-साथ सिद्धदेह या भावनामय मञ्जरीदेह प्रकट हो जाती है । लौकिक प्राप्त देहका अवसान हो जाता है । [illegible] भावना और सिद्ध अवस्थामें उसकी पूर्ण [illegible] होती है । सखीर सङ्गिनी हइ, तव प्रेमसेवा [illegible] [illegible] । साधने भाविब जाहा, सिद्धदेहे [illegible] [illegible] [illegible]

मञ्जरी शुद्ध सेवाकी मूर्ति है । उसे भोग [illegible] तनिक भी नहीं होता । दूसरेका सौभाग्य देखकर उसे [illegible] नहीं होती । एक दिन श्रीराधाने मणिमञ्जरीको [illegible] श्रीकृष्णके समीप भेजनेका अनुरोध करके [illegible] उस सखीने मणिमञ्जरीको बहुत [illegible] [illegible] वह उसे श्रीकृष्णके समीप नहीं ले जा सकी । [illegible] पास लौट आयी और बोली—'[illegible] [illegible] मैं मणिमञ्जरीको प्रलुब्ध करने गयी थी । [illegible] 'श्रीललिता-विशाखा सभी [illegible] [illegible] श्रीकृष्णके साथ नायिकाका सुखभोग भी करती हैं [illegible] सखि ! तुम भी उसी प्रकार श्रीकृष्णके [illegible] प्राप्त करो । कृष्ण मिलनमें जो सुख मिलता है, [illegible] त्रिभुवनमें नहीं है । तुम उससे वञ्चित क्यों [illegible] दूसरोंकी अपेक्षा किस गुणमें कम हो ?' [illegible] सुनकर मणिमञ्जरी बोली—'श्रीराधा [illegible] जो सुखभोग करती हैं, वही मेरे [illegible] मुझे अधिक सुखदायक है । [illegible] [illegible] नहीं है । मैं तो नित्य राधा-गोविन्दके [illegible] ही देखना चाहती हूँ ।' [illegible] लिया कि मणिमञ्जरीका चित्त [illegible] प्रलोभन और चातुर्यसे तनिक भी [illegible]

त्वया यदुपभुज्यते [illegible] [illegible]
तदेव बहु [illegible] [illegible] [illegible] ।

मया कृतविलोभनाप्यधिकचातुरीचर्यया
कदापि मणिमञ्जरी न कुरुतेऽभिसारस्पृहाम् ॥

एक मञ्जरी वनमाला बनानेके लिये पुष्पचयन कर रही थी। श्रीकृष्ण उसको देखकर बोले—'सुन्दरि! इस कुञ्जमें प्रवेश करो। यहाँ और कोई नहीं है। मेरे साथ विलास करके जन्मको सफल करो।' यह बात सुनकर वह मञ्जरी बोली—'श्यामसुन्दर! सुनो, मैं अपने मनका यथार्थ भाव तुमसे कहती हूँ। श्रीराधारूपी सुन्दर विलास-भूमिमें तुम जो अपने मधुरभावकी विभिन्न सब चतुराइयाँ दिखाते हो, उसीसे हम सब गोपियोंके मनकी वासना पूर्ण होती है। तुम्हारा अङ्ग-सङ्ग पानेके लिये मेरा मन कभी उत्सुक नहीं होता। तुम श्रीराधाके साथ विलासमें मग्न रहोगे, तब हम श्रीराधाका सुख देखकर परम आनन्दित होंगी। हमें बस, इस दर्शनकी ही आनन्द-सेवा देते रहो। साक्षात् अङ्ग-सङ्ग नहीं।' इन बातोंपर विचार करनेसे मञ्जरीभावका आदर्श समझमें आ जायगा। श्रीरूप-रति आदि मञ्जरियाँ श्रीराधा-कृष्ण युगलके सुखसे ही सुखी हैं। साधक दासको चाहिये कि वह उन्हींके आदर्शसे अनुप्राणित होकर मञ्जरी-देहकी भावना-से अष्टयाम-सेवामें लगी हुई सखीके रूपमें अवस्थान करे।

श्रीरतिमञ्जरीके, जिन्होंने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके रूपमें प्राणोंकी सेवा-निष्ठाको बताया है, वाक्यामृतका आस्वादन करनेसे ज्ञात होता है कि सेवापरायणा मञ्जरियाँ श्रीराधाके प्रति प्रीतिकी अधिकतामें श्रीकृष्ण-प्रीतिकी भी परवा नहीं करतीं। इसका कारण भी है। श्रीराधाकी प्रीतिमें ही श्रीकृष्णकी प्रीति है और श्रीराधाके सुखमें ही श्रीकृष्णका सुख है—यह गोपनीय सत्य सेवापरायणा मञ्जरियोंको अज्ञात नहीं। इसी कारण श्रीराधाके समीप श्रीकृष्णको लानेमें वे सेवापरायणा देवियाँ परम उल्लास प्राप्त करती हैं।

मणिमञ्जरीने किसी एक नव मञ्जरीको शिक्षा देकर कहा—'अरी चतुरे! मैं स्वयं अनुभव करके तुझे उपदेश दे रही हूँ। तुम श्रीराधाके साथ सखीभाव प्राप्त करो। यदि मनमें संदेह हो कि जब श्रीकृष्णके साथ प्रणय करना प्रयोजन है, तब राधाके साथ प्रणय करनेके लिये मैं क्यों कहती हूँ तो सुनो, बतलाती हूँ—श्रीराधाके साथ प्रणय सिद्ध होनेपर श्रीकृष्ण-प्रेमरूप धन स्वयं आकर उपस्थित होगा। अतएव श्री-राधाके चरणोंमें प्रीति-लाभ करना ही सर्वश्रेष्ठ लाभ है। प्रेम-सेवा-लाभकी तृष्णा हृदयमें लेकर श्रीराधाके पाद-पद्मोंके समीप रहना ही श्रीमन्महाप्रभुके अन्तरङ्ग जनोंका परम अभि-मत है। कृष्ण-कान्ताओंकी अपेक्षा मञ्जरी-जीवनका यह वैशिष्ट्य साधकमण्डलीद्वारा अनुमोदित है। आत्मसुखकी आशाका त्याग करके सेवाभिलाषीका जीवनयापन करना प्रेमधर्मका आदर्श है।

श्रीराधा महाभावरूपा हैं। महाभावसे सब प्रकारके भावोंका उदय होता है। कृष्ण-चमत्कारकारिणी, कृष्ण-सुख-दायिनी तथा कृष्ण-सेवामयी सारी वृत्तियोंकी खान महाभाव है। महाभावको अङ्गीकृत करके ही रसराज श्रीगोविन्द श्रीगौराङ्ग-रूपमें आविर्भूत हुए। श्रीगौराङ्गमें श्रीराधा, सखी और मञ्जरी—सारे भावोंका प्रकाश समय-समयपर हुआ है। एक दिन गम्भीरामें शयन करके आविष्ट भावमें वे श्रीरास-नृत्य देख रहे थे। मुरलीकी ध्वनि, सुन्दर श्यामल रूप, पीतवसन, त्रिभङ्ग-ललित शरीर, गलेमें वनमाला धारण किये मन्मथ-मदन श्रीगोविन्द! श्रीकृष्ण श्रीराधाके वामभागमें गोपीमण्डलीसे वेष्टित होकर नृत्य कर रहे हैं। यह दर्शनका आनन्द श्री-गौराङ्गको मञ्जरीभावके आवेशमें ही हुआ था, यह कहना पड़ेगा।

पुनः एक दिन चटक पर्वतको देखकर उन्हें गोवर्द्धनका भ्रम हो गया। उस दिन महाप्रभु भावावेगमें दौड़कर मूर्छित हो गिर पड़े। उनके शरीरमें अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्त्विक भाव दीख पड़े। कुछ क्षण इसी प्रकार बीत जानेपर भक्तगण हरि-नाम-उच्चारण करने लगे। आवेश-भङ्ग होनेके बाद वे बोले—'स्वरूप! मुझको गोवर्धनसे यहाँ कौन ले आया? मैंने श्रीकृष्णको गौएँ चराते देखा। वंशीध्वनि सुनकर श्रीराधा आ गयीं; श्रीकृष्णने श्रीराधाको लेकर कुञ्जमें प्रवेश किया। प्रियसखियाँ पुष्पचयन कर रही थीं। यह दृश्य देखकर मैं आनन्दमग्न हो रहा था। तुमलोग शोर मचाकर उस मधुर विलास-भूमिसे मुझको यहाँ क्यों ले आये?' इस प्रसङ्गमें भी महाप्रभुके मञ्जरीभावका ही परिचय प्राप्त होता है।

श्रीमन्महाप्रभु प्रेमोन्मादवश समुद्रमें कूद गये। उस विशाल तरङ्गोच्छलित जलराशिसे धीवरोंने उनको बाहर निकाला। वे सब प्रेमके स्पर्शसे प्रेमोन्मत्त हो उठे। भक्तोंके प्रयत्नसे क्रमशः आवेश-भङ्ग होनेपर महाप्रभु बोले—'मैं वृन्दावनमें यमुनामें श्रीराधा-श्यामकी जलकेलि देख रहा था। सखियोंके साथ युगल श्रीराधा-कृष्ण यमुनामें केलि कर रहे थे। मैं उस समय दूसरी सेवा-परायणा सखियोंके साथ तीरपर खड़ा होकर वह लीला देख रहा था।'

तीरे रहि देखि आमि सखीगन संगे।
एक सखी सखीगने देखाय से रंगे॥

जो जलमें घुसकर श्रीकृष्णके साथ जल-केलि करती हैं, वे कृष्णभोग्या हो सकती है। परंतु जो तीरपर खड़ी होकर उस लीलाके दर्शनका आनन्द लेती हैं, वे ही सेवापरायणा मञ्जरी हैं। उनके बीच श्रीमहाप्रभु भी आवेगमें मञ्जरीरूपमें अवस्थान करते हैं। श्रीराधाके महाभावकी किरण-छटा यह मञ्जरीभाव है—उसीके आश्रित, उसीके अन्तर्गत है; इसी लिये तो श्रीमहाप्रभुमें भी इस भावका उदय हुआ।

श्रीकृष्ण-भोग-पराङ्मुखी, श्रीराधाके पाद-पद्ममें अधिकतर प्रीति रखनेवाली मञ्जरी की जय हो! इस मञ्जरीभावमें प्रतिष्ठित होनेमें ही जीवकी साधनाकी चरम सार्थकता है।

प्रेम-भक्ति-रस-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीमनन्दलालजी गोस्वामी)

पतितपावनी गोदावरी गङ्गाके पवित्र तटपर हुए प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु और भक्ति-रसज्ञ श्रीरामानन्दरायके संवादमें जो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुररस-प्रधान भक्ति-तत्त्वका रहस्य है, उसका दिग्दर्शनमात्र इस लेखमें है। शान्तरसमयी भक्तिमें एक निष्ठा और दास्य-रस-प्रधान भक्तिमें सेवा-सुखके आस्वादनके अतिरिक्त, अखिल-कोटिब्रह्माण्डनायक मायातीत श्रीभगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यका प्रभाव भी उपासकोंपर पड़ता है; किंतु सख्य-रसके उपासक तो अपने आराध्यके सम-सम्बन्ध-युक्त प्रेमभावमें ही मग्न रहते हैं। कारण यह है कि चैतन्यघन श्रीभगवान् और चैतन्यकण जीवमें तत्त्वगत समभाव है। अतः जीवका स्वाभाविक भाव सख्य ही है।

यदि कभी किसी प्रकार सखाके सम्मुख भगवान्‌का ऐश्वर्य प्रकटरूपमें आ ही जाता है तो वह उसे सहन करनेमें अपनेको असमर्थ मान व्याकुल हो उठता है।

विश्वरूप-दर्शनके समय सखा अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने लगे—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
(गीता ११। ४५)

सख्यप्रेममें सकोचरहित व्यवहार और समभाव होते हुए भी सापेक्षता तो है ही। सखा परस्पर समान प्रेमकी अपेक्षा तो रखते ही है।

श्रीमन्महाप्रभुके पुन. प्रश्न करनेपर रामानन्दजी कहने लगे—'प्रभो! प्रेमका प्रवाह जिसमें किसी भी प्रकारकी अपेक्षा किये बिना ही प्रवाहित होता रहे, ऐसा तो एकमात्र वात्सल्य रस-प्रधान प्रेम है।

यशोदादेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गत।
प्रेमवत् स्नेहवद् भाति कदाचित् किल रागवत्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु ३। ४। ८५)

इसमें शान्तरसकी तन्मयता, दास्यकी सेवा एवं आमोद प्रमोदमें सङ्कोचरहित प्रीति तो है ही, निरपेक्षभाव भी है। साथ ही पाल्य-पालकका सम्बन्ध होनेसे छोटे-बड़ेका भाव भी है ही। इसके अतिरिक्त पालकके [illegible] प्रेममें [illegible] कर्तव्य एवं धर्माधर्मका विचार भी रहता है।

अधिकं मन्यभावेन [illegible]
([illegible])

उक्त व्याख्याके श्रवण करते समय [illegible] श्रीअङ्गकी शोभा देखकर [illegible] गये कि प्रेमावतार प्रभु प्रेम-सिन्धुरी [illegible] निमग्न हैं। अधिक आनन्द और उत्साह [illegible] माधुर्यप्रेमका वर्णन करने लगे। [illegible] साधन हैं। जिस साधनके द्वारा [illegible] अनन्दानुभव होता है, उसके लिये वही उत्तम है; परंतु [illegible] भावमें भेद प्रतीत होता है। किंतु मधुररसमें [illegible] रसोंके सारे गुण एवं भावोंके अन्तर्गत हो [illegible] भेद नहीं रहता। इसके आलम्बन तो श्रीकृष्ण ही हैं।

आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः।
([illegible])

श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्तिके [illegible] मधुर प्रेम। यह प्रेम आनन्द-चिन्मय रस है। [illegible] सार महाभाव है।

अन्तमें प्रेमविभोर राय रामानन्दजी [illegible] मिश्रित रूप श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको [illegible] लगे—'प्रभो! मैं इस रसतत्त्वको [illegible] जानता। आपने ही [illegible] किया है मैं तो निमित्तमात्र हूँ।'

[illegible]
[illegible]
[illegible]

सखी-भाव और उसके कुछ अनुयायी भक्त

(लेखक—पं० श्रीसियाशरणजी शर्मा शास्त्री)

ईश्वरको प्राप्त करनेके कई साधन हैं। पर उन सबमें भक्ति श्रेष्ठतम साधन है, यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। ईश्वरके साथ रागात्मक सम्बन्धको ही हमारे शास्त्रोंने विभिन्नरूपसे व्याख्या करते हुए 'भक्ति' संज्ञा दी है। वैधी और रागात्मिका—ये दो भक्तिके मुख्य भेद हैं। नारदीय पाञ्चरात्रादि ग्रन्थोंमें इसका विशद विवेचन मिलता है। स्थिति-भेदानुसार एक भक्तिके ही कई अवान्तर भेद हो जाते हैं। इसमें रसिक-सम्प्रदायद्वारा प्रचलित सखीभावकी भक्ति भी भक्तिका एक प्रधान अङ्ग मानी जाती है।

सखी-भावनाकी भक्तिके प्रवर्तक कौन थे, इसका विकास कब और कैसे हुआ—इस विषयमें इसके मर्मज्ञ ही प्रामाणिकतौरपर कुछ कह सकते हैं। हाँ, मेरे दृष्टिकोणके अनुसार इस रसिक-सम्प्रदायका प्रादुर्भाव गोपियोंकी प्रेमा-भक्तिके आधारपर ही रसिक हृदयोंद्वारा किया गया। सूरके समयसे बहुत पूर्व ऐसी भावना देशमें प्रस्फुटित हो गयी थी। अग्रदासजी महाराजमें भी, जो अष्टयामादि ग्रन्थोंके रचयिता हैं, यह भावना पायी जाती है।

अस्तु, सखी-भावकी प्रमुख विशेषता है, जो इसके नामसे स्पष्ट हो रही है। इस भावनाकी विशेषताके विषयमें कह सकते हैं कि महात्माजन अपनी आत्मामें ईश्वरीय प्रेमके बीज रखते हैं। उनकी आत्माका परमात्मासे मिलन होता है तो वे मोक्ष-जैसे पदार्थकी भी कामना नहीं करते और उस दिव्य स्वरूपके साथ साकेत धाम या गोलोकमें नित्य-विहारकी कामना करते हैं। उस दिव्य लोकमें पंखा, मोरछल आदि सेवाके उपकरण भी ईश्वरेच्छित रूप धारणकर सेवानन्द लूटते हैं। इस लोकमें भी उन महात्माओंका अवतरण होता है तो वे साकार भगवान्‌की इहलौकिक लीलाएँ रसिक-भावनासे प्रकट करते हैं। इस प्रकार वह प्रेम-बीज क्रमशः अङ्कुरित होकर वल्लरीका रूप धारण करता है, फिर पुष्पित होता है। उसके पुष्पकी नित्य अविनाशी सुगन्ध उन रसिकोंद्वारा गुम्फित ग्रन्थरूपी हारोंमें पायी जाती है।

सखी-भाव भगवान् राम-कृष्णकी लीलाओंसे ओतप्रोत है। इसका साहित्य हिंदीमें या यों कहिये व्रज-भाषा, अवधी आदि बोलियोंमें पर्याप्त मिलता है। इसको विशेषरूपमें सामान्य जनतामें महत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता। इसका कारण यह है कि इसकी भावना सर्वसाधारणके अनुकूल नहीं रही। यह भावना रसिक या शृङ्गारिक प्रवृत्ति लिये हुए है। ईश्वरीय दृष्टिकोणसे यह भावना वास्तविक रूपमें मधुर लीलाओंका आनन्दानुभव करा सकती है। परंतु जिस प्रकार सूरकी पवित्र दैवी भावनाओंको रीतिकालके राज्याश्रित कवियोंने केवल नायिकारूप दे दिया, उसी प्रकार इन भावनाओंका दुरुपयोग हो सकता है। परंतु ईश्वरानुरागी रसिक-जन इन भावनाओंके द्वारा उन रसिकशिरोमणिके निकट भी सहज ही जा सकते हैं। यही इस साहित्यकी विशेषता कही जा सकती है।

सखी-भावनाके कुछ प्रमुख भक्तोंका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनके साहित्यमें यह भावना प्रौढ हुई। यहाँ जिन भक्तोंका परिचय दिया जा रहा है, वे श्रीराम-सम्बन्धी साहित्यके निर्माता हैं। इस रसिक-सम्प्रदायके अन्य अनेक प्रसिद्ध प्रवर्त्तक हुए होंगे। अन्य महानुभाव इसका अवसरानुसार परिचय प्रदान करेंगे।

अग्रअलीजी

अग्रदासजी भक्तमाल-रचयिता नाभादासजीके गुरु एवं रैवासा धर्मस्थानके प्रथम अधिष्ठाता थे। इनके अष्टयामपरक पद्य, कुण्डलिया आदि प्रसिद्ध हैं। परतु इन्हीं अग्रदासजीने अग्र-अली नामसे राम-जन्मोत्सवादिके बड़े सुन्दर सरस पदोंकी रचना की है, जो प्राचीन ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, परंतु सम्भवतः आप ही रामोपासकोंमें इस भावनाके प्रथम प्रवर्तक हैं।

सियासखीजी

गोपालदासजीके नामसे आप झाँझूदासजी महाराज हरसौली के अनुयायी थे। परंतु सियासखी नामसे ही आप ख्यातिप्राप्त हैं। जयपुर राज्य एव अयोध्यामें आपकी रचनाएँ मिलती हैं। आपके राम-जन्म एव राम-विवाह तथा विनयके पद अत्यन्त उत्कृष्ट भक्तिसमन्वित साहित्यिक सामग्री हैं। राम-विवाहके पदोंमें जो आन्तरिक भावना आपने व्यक्त की है, उससे इनके नामको पूर्ण चरितार्थता प्राप्त होती है। सगीतज्ञ होनेसे पदोंमें और भी चार चाँद लग गये हैं। प्रत्येक पदकी अन्तिम पंक्तिमे अपने नामके साथ आपने महलकी टहल एव दर्शनादिकी

कामना मार्मिक अभिव्यञ्जनासे प्रकट की है। आपका काल १७०० वि० सं० माना जा रहा है।

रामसखीजी

रामसखीजी भी सखी-भावनामें अनन्य थे। आपके पद सभी उत्सवोंके प्राप्त होते हैं। होरी आदिमें रामसखीजी-की पिचकारीका रंग सब रंगोंसे निराला एवं मनोहर प्रतीत होता है। आपका इन उत्सवोंका साहित्य मौलिक है।

जुगलमञ्जरीजी

आप अवधके प्रसिद्ध संत थे। आपकी प्रेरणासे आपके अनुयायी सखी-भावके प्रमुख पुजारी बने। इस प्रकार आप इस भावनाके निर्मातारूपमें हैं।

चन्द्रअलीजी

जुगलमञ्जरीजीके अनुयायी एवं सियासखीजीके अनुज हैं। 'नवरस-रहस्य-प्रकाश' आपकी रचना है, जिसमें बत्तीस कुञ्जोंकी केलिका वर्णन ललित पदावलीमें किया गया है। आप जयपुर राज्यके निवासी एवं १७५० वि० में विद्यमान थे।

रूपलताजी

कनक-भवन अयोध्याके प्रसिद्ध संत हैं। आपने स्वयं सखी-भावनाका साहित्य सृजन किया एवं अन्य निर्माताओं-का निर्माण किया।

रूपसरसजी

रूपलताजीकी प्रेरणासे ही आपने 'सीता-राम-रहस्य-चन्द्रिका' ग्रन्थका निर्माण किया—जिसमें अष्टयाम, द्वादशमास, षड्ऋतु एवं भावना-प्रकाश, जुगल-प्रकाश आदि प्रसङ्गोंद्वारा विस्तारसे सखी-साहित्यका वर्णन किया गया है। सीताराम-मन्दिर, जयपुरमें १९३६ से पूर्व आपका रचना-काल रहा। आप सियासखीजीके दत्तक पुत्र कहे जाते हैं। रामानुजदास आपका व्यावहारिक नाम था।

रसिकप्रियाजी

आप रूपसरसके पूर्व वंशधरोंमें हैं। आपके पद बहुत कम परंतु सरस मिलते हैं, जिनमें [illegible] मुक्तके हैं। लौकिक नाम [illegible] था।

ज्ञानाअलीजी

'सियवरकेलि' पदावलीके [illegible] में प्रसिद्ध हैं। यह पुस्तक [illegible] भाषामें अवधी एवं फारसीकी [illegible]

चन्द्रसखीजी एवं रतनअलीजी

—श्रीकृष्णचरितके गायक प्रसिद्ध [illegible] हैं। [illegible] जीके गीत मीराँके बाद राजस्थानमें [illegible] रतनअलीजी दादूपंथी संत [illegible] फिर भी श्रीकृष्णके फाग [illegible] भावनाओंपर आपने बहुत पदरचना की है। [illegible] नागर' की भाँति उपर्युक्त [illegible] 'चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छबि' [illegible]।

शुभशीलाजी

आप चंदेरीके राजा थे। इन्होंने [illegible] भावके साहित्यकी प्रेरणा [illegible] निर्माण किया। जयपुर-मन्दिरमें [illegible] वहाँ आपकी विशेष प्रसिद्धि है।

सुखप्रकाशनीजी

जयपुरके खंडेलवाल वैश्य थे। [illegible] नाम था। 'मिथिलाविहार' [illegible] जिसमें जानकीजीकी ओर [illegible] झुकाव है। आप [illegible]जीके शिष्य थे।

हरिसहचरीजी

जाटोताके वैश्य थे। [illegible] सियासखीजीके पदोंसे प्रेरणा [illegible] पदोंकी रचना प्रारम्भ की [illegible] १९२० वि० के आसपास थे।

भजन करनेवाला सब कुछ है

सोइ सर्वग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कवि कोविद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

भक्तिका एक श्लोक[1]

(लेखक—देवर्षि भट्ट—श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

बिप्र बंस जो होइ, ए बारह गुन जुक्त जब।
हरि पद भजै न सोइ, बहि ते स्वपच बरिष्ठ अति॥
भूरि गर्व द्विज कुल अभिमाना। नहिं पवित्र गुन करहिं निदाना॥
भक्ति हीन गुन सब अघ रूपा। तरै न सो कबहूँ भव कूपा॥
स्वपच समप तन धन प्राना। सो कुल तारै सकल निदाना॥

भगवान् दिव्योपलभ्य हैं अर्थात् स्वर्गतक पहुँचनेवाले देवता-मुनि आदिके द्वारा ही प्राप्तव्य हैं। अवाङ्मनसगोचर हैं—वाणी तो क्या, मन भी वहाँतक नहीं पहुँच सकता। पराकाष्ठा यह है कि जिस समय वैकुण्ठमें आप विराजते रहते हैं, उस समय दिव्यगति देवता-मुनि आदिके सिवा वहाँ किसीकी पहुँच नहीं। कभी-कभी तो सनकादि भी पार्षदोंके द्वारा रोक दिये जाते हैं; फिर वहाँ दीनोंकी गुजर कहाँ। यदि यही दशा रही तो फिर दीनोंके लिये उद्धारका द्वार कौन-सा होगा। कल्याणगुणाश्रय भगवान्‌के गुणोंसे साधारणतया क्या लाभ हुआ। यदि कोई करामाती योगी हों, अलौकिक चमत्कार दिखाते हों, किंतु कभी किसी आवश्यकता-वालेपर कृपा करनेका मौका ही न आये तो उसकी सिद्धिसे लोगोंको क्या लाभ। इसलिये भक्तिशास्त्रोंमें भगवान्‌के और-और गुणोंके साथ एक प्रकृष्ट गुण है—'करुणा-वरुणालयता'। अपने भक्त और सांसारिक प्राणियोंके उद्धारके लिये आप यहाँ (भूमण्डलपर) पधारते हैं। आपका यही व्रत है कि जो इस दुस्तर भवसागरमें एक बार भी मेरे अभिमुख हो गया, उसे मैं अभय कर दूँगा। आपकी घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मीकिरामायण ६। १८। ३५)

'जो एक बार भी मेरे अभिमुख हो गया, 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कहकर मुझसे जिसने रक्षा चाही, उसको भयके कारण सभी प्राणियोंसे मैं अभय कर देता हूँ—यह मेरा 'व्रत' (दीक्षा) है।' दीक्षित यदि अन्यथा आचरण करे तो प्रत्यवाय (पातक) होता है। ऐसी दशामें दीनोद्धारव्रती भगवान् प्राणियोंके उद्धार-अनुग्रहके लिये भूमण्डलमें विचरते हैं। यही सब देखकर शास्त्रज्ञजन भगवान्‌की स्तुति करते हैं—'सदनुग्रहो भवान्' आप सज्जनोंपर अनुग्रह करते हैं। यह तो अर्थ ठीक है ही, किंतु इसका दूसरा पक्ष भी है—'सत्-अनुग्रहः', अर्थात् आपका अनुग्रह बड़ा अच्छा है। और-और देवताओंका अनुग्रह तो पुण्यकी गठरी लिये हुए लोगोंपर ही होता है, किंतु दयाके निधान आप निस्साधनोंपर भी अनुग्रह करते हैं।

भक्तिशास्त्रोंके अनुसार दीनोंको अभिमुख करनेके लिये जब आप भूमण्डलपर प्रकट होते हैं, तब आपका उद्देश्य रहता है—भक्तोंका उद्धार, उनको अपने अभिमुख करना। भगवान्‌के उद्देश्यमें, प्राणियोंके उद्धारमें, भगवान्‌के व्रत-निर्वाहमें जो सहायता पहुँचाते हैं, भगवान् उनके ऊपर अति प्रसन्न होते हैं, उनका आभार मानते हैं। इसीलिये आपने कहा था कि 'विभीषण यदि लङ्कामें बैठा हुआ ही मेरा स्मरण करता तो मुझको वहीं जाना पड़ता। वह स्वयं यहाँ आ रहा है—यह तो मेरी मेहनतकी बचत है, उसका अहसान है।' अतः भगवान्‌की इच्छा और लोकालयमें पधारनेके उद्देश्यके अनुकूल जो भगवान्‌के अभिमुख होते हैं, वे ही अवतारके समय भगवत्प्रिय और श्रेष्ठ होते हैं।

और कोई कितने ही बड़े ज्ञानी, ध्यानी हों, यज्ञ-यागादि-साधनाभिमानी हों, किंतु जो भगवान्‌के सम्मुख अनुकूल बनकर आते हैं, भगवान्‌की सवारीमें सम्मुख होते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी रहे और ठीक उद्धारके समय कुछ ढीले पड़ गये, अभिमुख न हुए अथवा दुस्सङ्गादिसे उन्हें कुछ साधनाभिमान हो गया, जिस तरह चाहिये उस तरह अनुकूल नहीं बन सके, अतएव उनके लिये यदि कहना पड़े कि वे 'विमुख हैं', तो उनकी अपेक्षा वे दीन, निस्सहाय गरीब ही अच्छे, जो भगवान्‌की इच्छापूर्तिमें सहायक हुए। यही सब मीमांसा करके भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादके मुखसे कहलाया गया है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भागवत ७। ९। १०)

'अर्थात् धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग—इन बारह गुणोंसे युक्त पूज्यजातिवाला ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरणारविन्दसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन

१. स्तुति—महत्त्व। 'पद्ये यशसि च श्लोकः' (अमरकोष)।

और प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है, जब कि बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

यह न समझिये कि भक्तिका महत्त्व दिखलानेके लिये यह 'अर्थवाद' (प्रशंसावाक्य) ही कहा गया है। यहाँ भगवान् व्यासका विशेष अभिप्राय है। यदि प्रशंसामात्रमें तात्पर्य होता तो वे कहते—भगवान्‌से विमुख, अथवा भगवान्‌के उपदेशामृतसे विमुख, किंवा वञ्चित। किंतु यह सब नहीं कहकर वे कहते हैं 'भगवान्‌के पादारविन्दसे विमुख'—अर्थात् उन चरणारविन्दोंसे विमुख, जो दीनजनोंके उद्धारार्थ, दिव्यकाष्ठा, सर्वतोमुख विभूति, वैकुण्ठधाम, परमप्रिय श्रीलक्ष्मीका सतत सांनिध्य छोड़कर इस धराधाममें असहायोंके प्रति करुणाको हृदयमें रखकर इसलिये विचरते हैं कि निस्साधन—जिनकी दिव्यधाममें पहुँच नहीं, वे दीन भी अभिमुख हो सकें। इसीलिये धरामण्डलमें विचरण करनेके साधन श्रीचरणारविन्दपर ही श्रीव्यासजीका लक्ष्य गया। अतएव आपने कहा है—'पादारविन्दविमुखात्'।

जिनके यहाँ दिव्य भी नहीं पहुँच सकते, सनकादि भी ड्योढ़ीपर ही रोक दिये जाते हैं, वे दीनोद्धारक भगवान्, करुणासागर परमेश्वर, कमल-कोमल श्रीचरणोंसे कठिन कण्टकाकीर्ण इस भवाटवीमें स्वयं विचरण करते हैं और हमें अवसर देते हैं कि अब भी हम उनके अनुकूल हो जायँ—केवल एक बार 'आपका हूँ' यही कह दें—तो बस, काम बना-बनाया है। किंतु हम अपने साधनोंके बलपर इतने अभिमत्त हो रहे हैं कि इस ओर हमारा कोई ध्यान ही नहीं है। 'अनुकूलताका संकल्प' लेकर हम उनके सम्मुख नहीं जाते। अतएव कण्टकाकीर्ण भवारण्यमें घूमते हुए कमल-मृदुल श्रीचरणोंको उनके लिये तो केवल परिश्रम ही हो रहा है। इसीलिये भगवान्‌की दयालुता, दिव्यमूर्तिशालिता आदि सूचित करते हुए कहते हैं—देवता जिन कोमल चरणोंको अपने मुकुटमें रखी मन्दारमालाओंसे अनुरञ्जित करते हैं, जिन कोमल चरणोंके सम्बन्धमें व्रजगोपिकाएँ अधीरतासे निवेदन करती हैं कि "आप इन कोमल चरणोंसे कण्टक-सकुल वनोंमें क्यों घूम रहे हैं; उन कण्टकोंसे तो यह वक्षःस्थल शायद कठिन नहीं, अतएव इन चरणोंको हमारे स्तनोंपर रख दीजिये, जिससे हमको आश्वासन मिले—'कृणु कुचेषु नः'।" उन्हीं चरणोंकी कोमलता और सौन्दर्य दिखानेके लिये चरणोंपर अरविन्दका रूपक बाँधते हुए प्रह्लादजी कहते हैं—'पादारविन्दविमुखात्'।

जहाँ भगवान्‌के धराधाममें पधारनेको ही यहाँ [illegible] रखा गया है, जिससे कि प्रभुको [illegible] होनेपर भी [illegible] उद्धार तो हो जाय, वहाँ 'उपदेशामृतसे विमुख' [illegible] कहनेमें कोई स्वारस्य न था। जब वहाँ पधारेंगे, [illegible] उपदेशामृत-पान करनेका सुअवसर मिलेगा। [illegible] यहाँ आनेका कष्ट ही न करना चाहें, तब दीनोंको [illegible] उनतक पहुँचानेवाला, दिव्यशक्ति कौन-सा [illegible] है। अतएव चरणारविन्दोंका ही यह अनुग्रह है कि [illegible] यहाँ पधारकर हमारा उद्धार करते हैं। [illegible] यह कहा गया है—'पादारविन्दविमुखात्'।

'विमुखात्' [illegible] 'विमुखात्' [illegible] पादारविन्दोंका सेवन नहीं करते, उनका स्पर्श [illegible] अर्जन नहीं करते—और तो क्या, उनकी ओर [illegible] तक नहीं करते (आतितर नहीं)—[illegible] यहाँ कहा गया है 'विमुखात्'। अर्थात् [illegible] (विरुद्ध दिशामें) मुख किये हुए। [illegible] अपने पाण्डित्य-धन आदिके गर्वमें, [illegible] इतने अभिमानी हो रहे हैं कि [illegible] पौर्णमासादि इष्टि यथावसर कर रहे हैं, [illegible] यह कहते हुए जो भगवान्‌पर अपने [illegible] अपने बन्दर अपनेको [illegible] प्रपत्तिमें जिनको [illegible] 'प्रपत्ति' आदिको मानते तो [illegible] निर्भर नहीं रहते, अपनी [illegible] अकड़कर, चरणारविन्दोंकी ओर [illegible] रहा, जिन्हीं [illegible] नहीं होता—ऐसे ज्ञानाभिमानियोंसे [illegible] यह भाव हृदयमें रखते हुए [illegible] (जिनका अभाग्यवश [illegible])।

भगवान्‌के [illegible] चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं [illegible] कमलोंके [illegible] 'श्वपचं वरिष्ठम्' ([illegible]) [illegible] अच्छा मानता हूँ। [illegible] उद्धार हो जाता है, [illegible] सर्वथा [illegible] भी श्रेष्ठ मानता हूँ, जो [illegible]

है और अन्य बड़ी बड़ी प्रोचनाओं (लालच) की ओरसे विमुख है।

'क्यों ?' कदाचित् कोई उन्नतकाष्ठाधिरूढ सज्जन दावा कर बैठना चाहते हों तो वह नहीं चल सकता। आप कहते हैं—'अहं वरिष्ठं मन्ये'। 'यह मेरे मनकी बात है कि मैं ऐसे उन्नत पुरुषसे उस अधम समझे जानेवालेको ही श्रेष्ठ मानता हूँ। मेरी दृष्टिमें तो वही उन्नत और श्रेष्ठ है, जो भगवान्के अभिमुख है। जो विमुख हैं, वे चाहे जितना अपनेको ऊँचा मानते हों, वास्तवमें अधम हैं, अभागे हैं। सीधी-सी बात है—जो भगवान्के प्रिय हैं, जो भगवान्के लोकोद्धार-व्रतमें हाथ बँटाते हैं, जो उन चरणारविन्दोंकी ओर ही टकटकी लगाये रहते हैं, भगवदीय तो उसे ही श्रेष्ठ कहेंगे। हमें उन उन्नतमानियोंसे क्या लेना-देना ! अतएव आप अपनी भावनासे कह रहे हैं—'विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्'।

विस्तारके लिये क्षमा करना पड़ेगा। कई दुर्दुरूढ (अड़ियल) पण्डितोंके लिये कुछ अधिक भूमिका बाँधनेकी जरूरत पड़ जाती है। श्वपच, चाण्डाल क्यों बड़ा ! बड़ा ही नहीं, 'वरिष्ठ'। यहाँ 'सुपरलेटिव डिग्री' दी है, यह क्यों !—यह बहुतोंको शङ्का हो सकती है। किंतु प्रसङ्गवश अपने साक्षात् अनुभवके आधारपर एक दृष्टान्त यहाँ दूँगा। उच्च श्रेणीमें पढनेके लिये जिस समय सम्पूर्ण क्लासके विद्यार्थी—धनी, अमीर, गरीब, जागीरदार, प्रतिदिन मजदूरी करके पेट भरनेवाले भी—आजकलके प्रवाहके अनुसार हाईस्कूल परीक्षा पास करके कालेजमें जा पहुँचते हैं, वहाँका अपना स्वानुभव निवेदन करता हूँ। वहाँ कोई बड़े अच्छे-अच्छे वस्त्र पहने, ठाटसे बैठते हैं। बड़े फैशनसे रहते हैं। बड़ी गम्भीरता और अमीरी दिखाना चाहते हैं। किंतु जरा बारीकीसे लक्ष्य दीजिये—अध्यापकको वहाँ कौन विद्यार्थी प्रिय होगा ? जो पढ़नेमें चित्त देगा, यथेष्ट अभ्यास करके पढ़ाये हुएको ग्रहण कर लेगा। अथवा यों कहिये कि जो पढ़-पढ़ाकर पास हो जायगा और अच्छी श्रेणीमें आकर अध्यापकके उत्तम 'रिजल्ट' (परीक्षापरिणाम) में सहायक होगा। पाँच विद्यार्थियोंमें जिसकी शिष्यतापर गुरुको अभिमान और प्रसन्नता होगी, वही अध्यापकको प्रिय होगा। वहाँ उनके ठाट-बाटसे हमारे पाठमें कौन-सी सहायता हो गयी ? सब कुछ सौन्दर्य-सौकुमार्य रहते हुए भी हमारा हृदय उसी विद्यार्थीकी ओर झुकता रहेगा जो पढ़नेमें दत्तचित्त होगा। बस, बुद्धिमानोंको यहाँ दार्ष्टान्त समझानेकी अधिक जरूरत नहीं पड़ेगी। भगवान्के यहाँ भी, आप ही कहिये, किसको उत्तमताका सम्मान मिलेगा ? जो निस्साधन चाहे हो, किंतु सदा भगवान्की ओर जिसकी भावना है, उसके चरणारविन्दकी ओर जिसका मुख है, चरण-कमलोंपर जिसकी प्रेममयी दृष्टि बँध रही है, वही उस महत्त्वाभिमानी पुरुषसे श्रेष्ठ है, जिसका मुख भगवान्की ओर नहीं है। भगवान्को, उसकी उन्नत जाति लेकर क्या करना है ? वे अपने दिव्यधामको छोड़कर, वैकुण्ठ-भूमिकासे उतरकर अपने उद्धार-व्रतके कारण यहाँ पधारे। अब कहिये—जो उनके उद्धार-व्रतमें सहायक होते हैं, अपना उद्धार करके स्वय ही लाभ नहीं उठाते, अपितु भगवान्को लोगोंकी दृष्टिमें दीनोद्धारक, निर्धनके धन भी सिद्ध कर देते हैं—भगवान्की करुणा-वरुणालयता (दीनदयालुता)-को प्रमाणित करनेके साधक बनते हैं, उनपर भगवान्की अनुकूल दृष्टि होगी या कोरे बड़प्पनके अभिमानमें चूर रहकर उनकी ओर मुख ही न मोड़नेवालोंपर ! क्या भगवान् उनके ठाट और अभिमानके लालची हैं ? भगवान् भक्ति-भावके भूखे सुने जाते हैं। भला, भक्तकी जाति और उन्नतिसे भगवान्को क्या लाभ हुआ ! प्रत्युत भगवान् ऊँचेपनके गर्वसे तो 'विमुख' हैं, उसकी ओर आँख उठाकर देखतेतक नहीं। ऐसोंसे दीनोद्धारक, सर्वप्राणियोंके लिये अभय-सत्र खोलनेवाले भगवान्का कौन-सा उद्देश्य पूर्ण होता है ? साफ ही समझनेमें आता है कि ऐसी परिस्थितिमें उनकी साधनसम्पन्नता और उच्चाधिकारिताका कोई मूल्य नहीं। इधर वह नीच है तो क्या हुआ; काम तो इस समय वह कर रहा है जो ऊँचे-से-ऊँचेको करना चाहिये—भगवान्की उद्देश्यपूर्तिमें सहायक हो रहा है। इसीलिये भगवान् व्यास कहते हैं—

'अहं तु श्वपचं वरिष्ठं मन्ये'

'श्वपचम्' इस पदपर भी लक्ष्य करना आवश्यक हो गया है। 'नीच' चाण्डाल, अधम इत्यादि शब्द ही उसके धिक्कारके लिये बहुत थे, फिर 'श्वपच' (कुत्तेको राँधकर खानेवाला) क्यों कहा ? कोई जन्मतः चाण्डाल हो, फिर भी यदि वह सत्सङ्ग और बड़े भाग्यसे अपने अधम व्यवसायको छोड़कर अच्छी चर्यामें आ गया हो, सज्जनोंकी तरह रहता हो और उसी प्रकार जीवननिर्वाह करता हो तो उसके ऊपर अत्यधिक घृणा नहीं होनी चाहिये। आजकल तो यह भी कहते हुए सुना जाता है कि यदि उसकी घृणित अवस्था, अपना खास पेशा करनेकी हालत न हो और वह उजला जीवन बिताता हो तो फिर उसको दुरदुरानेसे समाजका कौन-सा भला है ?

परंतु व्यासजीका शब्द है 'श्वपचम्' । वह अपनी वृत्ति भी वही कर रहा है, जो उसकी अधमताको प्रत्यक्ष सामने लाती है । किंतु वे कहते हैं—हमें उसकी उन करतूतोंसे क्या मतलब ? वह चाहे जिस वृत्तिसे जीता हो, है तो भगवान्के अभिमुख न ? सदा भगवान्पर ही तो भरोसा रखता है ? फिर उसकी उस जात्युचित वृत्तिसे भगवान्को क्यों घृणा होनी चाहिये ? गोविन्द भी यदि उजले वस्त्रोंपर रीझते हों, अच्छे कर्मोंको देखकर ही उद्धार करते हों तो फिर उन साधारण देवता और इन भगवान्में क्या अन्तर रहा ? पुण्यकार्य करनेसे तो अन्यान्य देवता भी भला करते हैं । परम भागवत लोग तो भगवान्से कहते हैं कि जो सत्कर्म और ऊँचे अधिकारको देखकर भक्तोंके मनोरथ सिद्ध करते हैं, वे देवता तो 'वणिक्' हैं—अच्छे कर्म, पुण्यको लेकर, बदलेमें मनोरथपूर्ति करते हैं । साक्षात् भगवान् अर्थात् सर्वसमर्थ तो आप ही हैं, जो अधमोंपर भी उद्धारका अनुग्रह करते हैं । बस, फिर जो बेचारा जातिके कारण अपनी पारंपरिक अधम वृत्ति चलाता हुआ भी सदा हृदयमें भगवान्के चरणोंकी एकनिष्ठा रखता है, क्या वह त्यागने योग्य है ? क्या धर्मव्याध आदिको भूल गये, जिनसे तपस्वियोंने भी शिक्षा ग्रहण की थी ? वह तो उस द्विषट्-कर्मा विप्रसे भी बढकर है, जो साधन-सामग्री और उन्नत अधिकार रखता हुआ भी भाग्यका मारा उनसे कुछ लाभ उठा न सका, भगवान्से विमुख रह गया । इसी तिरस्कारको सूचित करते हुए कहते हैं—

पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठं (मन्ये) ।

ठीक है, यह भक्तिकी महिमा है, उसका माहात्म्यानुकीर्तन है, जिससे भक्तिके विषयमें औरोंको शिक्षा दी जा सके । किंतु ऐसी बात नहीं है । यह प्रशंसावाद नहीं । यह सत्यार्थ-कथन है । लोकमें मानी हुई बात है । अन्य जातिके लोगोंकी अपेक्षा आप उस चाण्डालको क्यों बुरा मानते हैं ? एक ऊँची जातिका ब्राह्मण है, और वह है अधम चाण्डाल । यही न ? अब विचारना चाहिये कि जिसे हम चाण्डाल कहते हैं, वहाँ चाण्डाल क्या है ? क्या उसके शरीरके भीतर रहनेवाला 'अन्तरात्मा' चाण्डाल है ? नहीं, इतना मूर्ख भागवतको सुननेवाला 'शुश्रूषु' तो क्या, कोई भी भारतीय नहीं हो सकता । सब जानते हैं आत्माके साथ कोई उपाधि नहीं । उसका ब्राह्मण, चाण्डाल आदि व्यपदेश (प्रसिद्धि) देहके साथ सम्बन्ध रहनेपर ही है । अकेला आत्मा न ब्राह्मण न चाण्डाल । फिर आत्माके [illegible] 'चाण्डाल' यह व्यपदेश [illegible] । [illegible] यह बोलता राम (अन्तरात्मा) [illegible] है, उस समय ब्राह्मण, चाण्डाल [illegible] सकता । 'मिट्टी' है, सब [illegible] । [illegible] नहीं । किसी चाण्डाल [illegible] देहमें जबतक ये प्राण रहते हैं, [illegible] 'चाण्डाल' कहा करते हैं ।

इससे यह माना गया कि हम [illegible] प्राण आदि चेतनोचित [illegible] दोनों अर्थात् देह और आत्माकी [illegible] 'चाण्डाल' कहा करते हैं । यदि देहमें [illegible] वह चाण्डाल भी नहीं [illegible] । [illegible] आप ही देख लीजिये । [illegible] इंगित (चेष्टा यानी कर्म) और [illegible] धनादि) तथा प्राण भी [illegible] तब वह देह और प्राणकी [illegible] । [illegible] देहमें प्राण ही नहीं, तब [illegible] कह सकते हैं ? आपने [illegible] प्राण रहे, तब उस [illegible] सकते हैं । किंतु यहाँ केवल [illegible] शरीरोंके साथ सम्बन्ध [illegible] ईश्वरमें लगा दिये गये, [illegible] मानते रहेंगे !

कदाचित् शङ्का हो कि [illegible] बात कह चुके तब मन [illegible] प्राणके साथ ही तो ये [illegible] । प्राण लगा देना [illegible] अन्य सब जगहसे हटाकर [illegible] अति कठिन है । [illegible] कहा है—

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।

(६ । ३४)

'मनको वशमें करना मैं [illegible] अति दुष्कर (कठिन) मानता हूँ ।'

[illegible] एकाग्र [illegible] ऐसे होते हैं कि [illegible] जाते हैं । विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं, [illegible]

हुए भी खूब कड़ाईपर कमर कस लेनेपर भी हमारा मन-मधुप भ्रमण करता रहता है और ही तरफ। किंतु जो भाग्यवान् इन तरहके 'प्रमाथी' मनको भी ईश्वरमें लगा देता है और प्राण भी वहीं जोड देता है, यह देह तो केवल खोली-सी पड़ी रह जाती है, फिर क्या उसको भी आप अपनी परिभाषाके अनुसार चाण्डाल ही कह सकते हैं ?

अब आप ही देखिये कि 'भक्ति' का कितना प्रबल प्रभाव है जो नीचातिनीच गिने जानेवाला भी सबसे अच्छा ही नहीं, वरिष्ठ (अत्यन्त श्रेष्ठ) माना जाता है। इसी लिये सम्पूर्ण वाङ्मयका तत्त्व समझनेवाले परमहंस, ऋषि-मुनि, विद्वत्प्रवर भी भोग अथवा दिव्यलोकोंकी तो बात ही क्या, मोक्षतककी इच्छा नहीं करते, वे भगवान्से उनकी भक्ति ही माँगते हैं। वे कहते हैं—

(दोहा)

न हि मुक्तिं मुक्तिं न किल यदुनायक याचामि।
भक्तिं तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि॥

भक्तिरसके सर्वतोमधुर आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण !

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

मनुष्य सुख चाहता है। वैकुण्ठ और इन्द्रलोकके नाम मनुष्यकी सुख-पिपासाके ही अभिव्यञ्जक हैं। मुक्ति तो इसका एकान्त सत्य निर्देश है; किंतु सुख मनचाही, प्रिय एवं सर्वतोभद्र वस्तुओंकी प्राप्तिसे ही आसानीसे प्राप्त हो सकता है। ऐसी इष्ट वस्तुएँ मानव-मनके स्वभावानुसार विविध और विभिन्न हैं।

यह भी सर्वमान्य सत्य है कि प्रिय वस्तु एवं इष्ट-देवके सांनिध्यसे जो सुख प्राप्त होता है, उसका कारण वस्तुगत अनन्य प्रेम और अनुराग ही है और अव्यभिचारी, पूर्ण निर्दोष अनुरागका नाम ही भक्ति है।

शाण्डिल्यसूत्रमें इस पूर्णानन्दका वर्णन इस तरह हुआ है—

अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे। (१-२)

ईश्वर ही आनन्दघन और सच्चिदानन्दस्वरूप है। वही सब आनन्दों एवं भक्ति-रसका एकान्त स्रोत है।

भक्तिकी एक विलक्षणता यह भी है कि वह स्वयं निरपेक्ष फलरूपा है—

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारः। (ना० भ० सू० ३०)

अनेक आचार्योंने भक्तिको परम पुरुषार्थ और ज्ञानका कारण स्वीकार किया है—

उपायपूर्वकं भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।

भक्ति शान्ति एवं परमानन्दरूपा भी कही गयी है—

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च। (ना० भ० सू० ६०)

भक्ति ज्ञान-कर्मात्मक, सुलभ, प्रमाणनिरपेक्ष और कर्म, ज्ञान एवं योगसे भी श्रेष्ठतर है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये। (ना० भ० सू० २९)

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ। (ना० भ० सू० ५८)

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्। (ना० भ० सू० ५९)

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। (ना० भ० सू० २५)

भागवतकार श्रीव्यासदेव भक्तिकी सरलताके विषयमें कहते हैं—

अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्। (श्रीमद्भा० १०।२४।१८)

यही कारण है कि ज्ञान-कर्मकी अपेक्षा भक्ति ही आनन्दघन ईश्वरकी प्राप्तिका सरलतम साधन है—

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। (ना० भ० सू० ३३)

भक्तिकी भी दो शाखाएँ हैं—१. निर्गुण, २. सगुण। इनमें सगुणशाखा सरल, सार्वभौम और सार्वजनीन है। उसमें भी पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णपरक भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि श्रीकृष्ण ही भगवान्के पूर्णावतार हैं।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (१।३।२८)

ईश्वरके साकार-विग्रह पूर्णावतार श्रीकृष्णकी भक्तिकी विशेषताका यह भी एक कारण है कि श्रीवल्लभाचार्यके मतसे ईश्वर परस्पर-विरोधी गुणोंके आश्रय हैं। अतः वे सर्वदेश, सर्वकाल एवं सर्वजनके हृदयावलम्बन हैं। ऐसे भगवान्के विग्रह-स्वरूप श्रीकृष्ण भी विविध और विभिन्न गुणोंके सदाश्रय ही हैं। विशेषतः रूप-माधुरी और चरित्र-माधुरीके तो वे समन्वय—सामञ्जस्य ही हैं।

इसीलिये श्रीव्यासने उनके विषयमें कहा है—

जगत्त्रयं मोहयन्तम्[1]।

१. भगवान् श्रीकृष्णका व्यक्तित्व त्रिलोकीको मुग्ध करनेवाला है।

६—

नन्दरायके मूर्तिमान भाग्य

नागपत्नियोंद्वारा सुभूषित नटवर

एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा । तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥
दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः । दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥
(भाग० १० । १६ । ६४-६५)

शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवन्।[1] (भा० १० । ३३ । १०)

यह भी एक विद्वन्मान्य मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य मनुष्यको आत्मसादृश्यके नाते ही प्यार करता है। अर्जुनने भगवान्‌के विराट् रूपसे घबराकर यही तो कहा था—

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।[2]
(गीता ११ । ४५)

यह भी सर्ववादिसम्मत बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण समानतः माधुर्य और ऐश्वर्यके प्रतीक हैं। मुख्यतः उनका सर्वजनमोहक माधुर्यरूप तो कोटि-कोटि-काम विनिन्दक है। इसका कारण यही है कि पुराणोंमें श्रीकृष्णचन्द्र मानवोचित गुणोंके मूर्त्त-रूप बताये गये हैं। वे गुण इस प्रकार हैं—

(१) रूप, (२) वर्ण, (३) प्रभा, (४) राग, (५) आभिजात्य, (६) विलासिता, (७) लावण्य, (८) लक्षण, (९) छाया[3]।

यहाँ एक यह भी विचारणीय बात है कि श्रीकृष्णके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोकालोकदुर्लभ सौन्दर्य-माधुर्यप्राण शुद्धसत्त्वगुण-निर्मित हैं—

सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि।
(श्रीमद्भा० १० । २ । २९)

स्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि।
(श्रीमद्भा० १० । २ । ३०)

श्रीकृष्णचन्द्रकी रूप-माधुरीपर मोहित होकर भक्तिमती देवी आडाल कहती हैं—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोः
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्[1]।

इसी विषयमें स्वयं श्रीकृष्णका [illegible] है—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्[2]॥
([illegible] ३ । २ । १२)

श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका [illegible] है—

विशालाक्षम्[3]।

'गोविन्दलीलामृत' में [illegible] रूप माधुरीका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सौन्दर्यामृतसिन्धु[illegible]
वर्णानन्दितमर्मरम्यवचनः [illegible]।
सौरभ्यामृत[illegible] [illegible]
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति [illegible]॥

श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीपर [illegible] सुनिये—

तोमार मधुर [illegible]।
मुग्ध नयन मन [illegible]॥

भगवती श्रीरुक्मिणीजीने [illegible] लिखते हुए उनके विषयमें कहा था—

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।

---

१. भगवान् श्रीकृष्णको देखकर तारा और नक्षत्र-मण्डलसहित चन्द्रदेव चकित और विस्मित हो गये।

२. हे भगवन्! मुझे तो आप शीघ्र ही अपना वही मानव-रूप दिखाइये।

३. शारीरिक अवयवोंकी सुस्पष्टता—रूप है। गौर-श्याम आकर्षक रग—वर्ण है। सूर्यके समान प्रकाशमान कान्ति—प्रभा है। आकर्षक मन्दस्मितधर्म—राग है। कुसुमोचित मृदुता, स्पर्श-कोमलता—आभिजात्य है। यौवनोचित अङ्ग-उपाङ्ग-जनित कटाक्ष-भुजक्षेप-सम्पृक्त विभ्रम—विलासिता है। चन्द्र-सदृश आह्लादकारक एवं अवयव-सुषमा-समुत्पन्न सौन्दर्य-उत्कर्ष-भूत स्निग्ध मधुर धर्मजन्य सुषमा-व्यञ्जित—लावण्य है। अङ्गोपाङ्गोंकी असाधारण शोभा एवं प्रसन्नताका कारणभूत स्थायी धर्म—लक्षण है। बाह्य शिष्टाचार एवं विभ्रम-विलास-समन्वित, ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान, नृत्य-आकर्षण-जन्य सहृदयात्मक वस्तु—छाया है।

१. अहा! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र [illegible] सित कितने मधुर लगते हैं।

२. श्रीकृष्णका रूप माधुर्य [illegible] है। उनके श्रीअङ्ग आभूषणोंको भी [illegible] हैं।

३. विशालाक्ष [illegible] मात्र विवाहके योग्य है।

४. अरी सखि! [illegible] आकर्षण करते हैं। वे अपने [illegible] के विलक्षण [illegible] देते हैं, [illegible] कानोंको आनन्दित कर देता है, [illegible] समान सुगन्ध है, वे अपने [illegible] को व्याप्त कर देते हैं, [illegible]

५. [illegible] मुग्ध करे हैं। [illegible] और मन पुलकित और मुदित।

धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या
काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम्[1] ॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।३८)

इसी तथाकथित कृष्ण-सौन्दर्यपर कालिदासके परिवर्तित शब्दोंमें एक भक्त कहता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
अयमधिकमनोज्ञो गोपवेषेण कृष्णः
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्[2] ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोपाल कृष्ण मानव-मनकी रूप-पिपासाके एकान्त सदाश्रय होनेसे जड-चेतनात्मक जगत्के भक्ति-भाजन हैं। ऐसे अविकल गम्भीर रूप-रसके मधु-सिन्धु होनेके कारण श्रीकृष्ण भक्ति-रसके एकान्त आलम्बन सिद्ध होते हैं—वह भी विविधरसात्मक, उल्लेखालंकार-भोग्य एवं अनन्वयालंकार-प्राण।

श्रीव्यासजीने श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण-रूपकी झाँकी इस प्रकार करायी है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः[3] ॥
(१०।४३।१७)

यही हेतु है कि भगवान् श्रीकृष्णका भक्ति-साहित्यमें स्तुत्य स्थान है, प्रत्युत यह कहना भी समुचित है कि—

(अ) भक्ति-साहित्यमें श्रीकृष्णका निराला स्थान है।

(आ) भक्ति-साहित्यमें श्रीकृष्ण प्रेम-रसके मूर्त्तरूप हैं।

(इ) श्रीकृष्णभक्तिपरक साहित्य वाङ्मयकी एक भिन्न किंतु सरस वस्तु है।

(ई) श्रीकृष्ण-भक्ति-रससे वाङ्मयको बल मिला है, विशेषतः भक्ति-साहित्यको—या यों कहना चाहिये कि साहित्यमें भक्तिरसकी एक अभिनव स्वतन्त्र शाखाका प्राकट्य हुआ है। किंतु इसमें कृष्ण-भक्ति-विषयक रति ही स्थायी भाव है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्[1] ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु २।१।५-६)

श्रीकृष्णभक्तिगत विस्मय-रति किस प्रकार अद्भुत रसमें परिणत हो जाती है, इसपर भक्तोंके उद्गार इस प्रकार हैं—

आत्मोचितविभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि।
सा विस्मयरतिर्नीताद्भुतभक्तिरसो भवेत्॥
भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः।
लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः॥
तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः।
क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः[2] ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु ४।२।१-३)

इसी तथ्यको भक्ति-सूत्रमें इस प्रकार भी समझाया गया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना० भ० सू० २)

'भगवान्‌में सर्वोपरि अनुरागका नाम ही भक्ति है।'

अमृतस्वरूपा च। (ना० भ० सू० ३)

---

१. श्रीकृष्ण! आप प्रत्येक दृष्टिसे महामहिम हैं। कुल, शील-स्वभाव, सौन्दर्य, विद्या, स्थायी युवावस्था, धन-धाम—सभीमें आप अनन्वयालकारके विषय हैं। मनुष्यमात्र आपके दर्शनोंसे आत्मशान्तिका अनुभव करते हैं। ऐसी दशामें कौन ऐसी कुलवती, गुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो विवाहके योग्य समय आनेपर आपको पतिरूपमें वरण करना न चाहेगी?

२. कमल सिवारोंसे परिव्याप्त होकर भी सुन्दर प्रतीत होता है। हिमांशुका कलङ्क भी उसकी शोभाका ही कारण होता है। इसी तरह गोपवेषमें भी श्रीकृष्ण बहुत अधिक सुन्दर ही प्रतीत होते हैं। सच है, रूपवान् व्यक्तिके लिये कौन-सी वस्तु सौन्दर्यवृद्धिका कारण नहीं बन जाती? अर्थात् उनके लिये सब कुछ शृङ्गाररूप ही होता है।

३. श्रीकृष्णचन्द्र अपने अग्रज बलरामके साथ कंसके सभा-मण्डपमें प्रवेश करते हुए इस प्रकार दिखायी दिये—मल्लोंको वज्र, मनुष्योंको मनुष्यश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डधर, अपने माता-पिताको पुत्र, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको न्यूनबल एवं निरे बालक, योगियोंको परमतत्त्व और वृष्णिगणको परम देवता।

१. जब स्थायी-भावरूपा कृष्ण-रति विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारीभावोंके द्वारा श्रवणादि इन्द्रियोंके साहाय्यसे भक्त-हृदयमें आकर आस्वादकी वस्तु बनती है, तब शास्त्रीय भाषामें वही भक्तिरस कहलाती है।

२. भक्तोंके हृदय-पटलमें आत्मोचित विभाव आदिके द्वारा विस्मय-रति ही स्वाद्य-वस्तु होकर अद्भुत भक्तिरसमें परिणत हो जाती है। इसमें साहित्यिक दृष्टिसे सर्वविध भक्तोंका हृदय ही उसका आश्रय, अलौकिक क्रियाके हेतु भगवान् श्रीकृष्ण-विषय, उनका चेष्टा-विशेष-समुदाय उद्दीपन तथा नेत्र-विस्तार, स्तम्भ, अश्रु-समूह और पुलकादि क्रियाएँ विभाव हैं।

'वह अमृतके समान मधुर तथा अमर कर देनेवाली है।'

इसी भक्तितत्त्वका शास्त्रमें इस प्रकार भी वर्णन हुआ है—

आराध्यदेवविषयकं रागत्वमेव भक्तित्वम्* ॥

इस भक्ति-रसका आस्वादन ऐसा लोकोत्तर रसास्वादन है कि भक्त-साधक किसी भी प्रकार इससे विचलित और भ्रमित नहीं हो सकता और न किसी स्वार्थकी ओर आकर्षित ही हो सकता है। ऐसी दशामें वह विश्व-प्रलोभन और विश्वशान्ति-नाशक बातों और कामोंसे तो सर्वथा असंस्पृष्ट-सा ही रहता है।

ऐसे लोकोत्तर भक्ति-रसके [illegible] भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिनके विषयमें [illegible] प्रकार कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

'भगवान् गोविन्द परमेश्वर, परम [illegible] मूर्ति, अनादि, सबके आदि तथा [illegible] कारण हैं।'

भक्तिकी चमत्कारिणी अचिन्त्य शक्ति

(लेखक—श्रीश्रीरामजी जैन, 'विशारद')

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥
(भक्तामरस्तोत्र)

अर्थात् हे जगत्के भूषण, हे प्राणियोंके स्वामी भगवान्! आपके सत्य और महान् गुणोंकी स्तुति करनेवाले मनुष्य आपके ही समान हो जाते हैं। परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है; क्योंकि जो कोई स्वामी अपने आश्रित पुरुषको विभूतिके द्वारा अपने समान नहीं बना लेता, उसके स्वामीपनसे क्या लाभ?

मानव-हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव 'दासोऽहम्' की भावनासे होता है। 'मैं तेरा दास हूँ' ऐसी भावनासे भक्त भगवान्की भक्ति करता है और वह अपनेको भगवान्का एक विनीत, विश्वासी सेवक समझता है। साथ ही वह भगवान्से अपने दुःख-संकट दूर करनेकी भी प्रार्थना करता है। यह भक्तिका प्रसव-काल होता है।

इसके पश्चात् उसकी दृष्टि भगवान्का गुण-गान करते हुए, चिन्तन करते हुए अपने आत्माकी ओर जाती है। तब वह अपने आत्माके और भगवान्के द्रव्यगुण-पर्यायकी समानता करता है। तब उसे थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होता है। उसे लगता है कि 'जो अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि) गुण भगवान्में है, वे ही गुण मेरे आत्मामें हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भगवान् कर्मोंसे रहित हैं, जिसके कारण उनमें ये गुण [illegible] प्रकट हैं। और ये ही मेरे गुण [illegible] हैं, इस कारण मैं [illegible] यह 'सोऽहम्' की भावना है—[illegible] है, वही मैं हूँ। यह भक्तिका [illegible] है। [illegible] बाद भक्त, विषय भोगोंसे राग और [illegible] मोह छोड़ एकान्त स्थानमें [illegible] है। [illegible] शारीरिक कष्टों एवं उपसर्गोंसे [illegible] भी [illegible] भङ्ग नहीं होता, उस समय उसके कर्मोंकी [illegible] कर्मोंका झड़ना और नवीन कर्मोंका [illegible]) [illegible] जिससे राग द्वेषादि विकार नहीं [illegible]। [illegible] उसका आत्मा यह निश्चय करता है [illegible] हूँ' और वह वास्तवमें पूर्ण शुद्ध [illegible]। [illegible] भावना कोरी भावना नहीं [illegible] ही बन जाता है। यह भक्तिका [illegible] उसकी सर्वोच्च सीढ़ी है।

एक भक्त भगवान्की [illegible] बन जाता है। इसीलिये [illegible] है कि [illegible] जो अपने भक्तको [illegible] है, जो भगवान्की भक्तिके द्वारा [illegible]।

भगवान् वीतराग हैं। वे [illegible] अप्रसन्न नहीं होते। फिर भी [illegible] स्वीकार किया है। [illegible] भगवान् और अपने [illegible] भिन्न-पृथक्ता और [illegible]

* आराध्यदेव-विषयक राग ही भक्तिका स्वरूप है।

वह अपने वास्तविक गुणको भूल जाता है और भूल जाता है भगवान्‌के वीतरागत्व गुणको। भक्तिमें वह ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसे अपने और भगवान्‌के सिवा कुछ भी दिखायी नहीं देता; यह तन्मयता ही 'दासोऽहम्' रूप भक्ति है।

एक ढोंगी भक्तकी भक्ति और सच्चे भक्तकी भक्तिमें बड़ा अन्तर है।

ढोंगीकी भक्ति-भावना—

शास्त्र सुने, मालाएँ फेरीं, प्रतिदिन बना पुजारी।
किंतु रहा जैसा-का-तैसा, हुआ न मन अविकारी॥
साठ सालको उम्र हो चली, फिर भी ज्ञान न जागा।
सच तो यह होगा कह देना, जीवन रहा अभागा॥
नहा लिया, हो गया शुद्ध, आ खड़ा हुआ प्रभु-पद में।
त्याग न सका वासना मनकी, डूबा गहरे मद में॥
इधर धूप-भ्रामण करता, मन उधर सुलगता जाता।
भाव-शून्य केवल शरीर पूजाका पुण्य कमाता॥
कहता—फिर पूजा है निष्फल, संकट नहीं मिटाती।
वही मसक्कत, वही गरीबी, सुख न सामने लाती॥
बढ़ा न पैसा भी इतना, जो सबपर रोब जमाता।
विद्युत्-वायु फेनसे लेता, या मोटर दौड़ाता॥
नहीं सोचता, यह पूजा क्या, जिसमें चित चञ्चल है।
बहू-बेटियोंपर कुदृष्टि, या फिर कोई हल-चल है॥

सच्चे भक्तोंकी भक्ति-भावना—

(१) महाकवि धनजय भगवत्-पूजामें संलग्न थे। उसी समय एक व्यक्ति यह कहता हुआ आया कि 'आपके पुत्रको सर्पने डॅस लिया है, आप चलिये।' उस समय धनंजयका क्या उत्तर था—

सुनता है, सुनकर कहता है—मैं ही क्या कर लूँगा।
पूजन छोड भगूँ, आखिर जीवन तो डाल न दूँगा॥

समाचारवाहक उत्तर सुनकर लौट गया और उसने कवि-पत्नीसे कहा कि वे तो भगवत्-पूजामें संलग्न हैं। इतना सुन पत्नी दुःख और शोकसे संतप्त होकर मन्दिरमें गयी।

× × × ×

कहती हैं—कठोर हो, क्या पूजा अब भी भाती है॥
अरे छोड चल दो, पूजा को फिर भी समय मिलेगा।
चला गया बचा तो दुख दिलसे कभी न निकलेगा॥
ऐसी भी पूजा क्या, जो बच्चेका रहम भुलाती।
जल्दी चलो, खौफसे मेरी धड़क रही है छाती॥

इतनेपर भी धनंजय जब पूजासे न उठे, तब किंकर्त्तव्य-विमूढ पत्नी अचेत पुत्रके शरीरको मन्दिरमें ही ले आयी। फिर भी उनकी भक्तिमें कोई बाधा न आयी। तल्लीनता देखकर सब नर-नारी चकित थे। तब उन्होंने विषापहारस्तोत्रकी रचना की, जिसका स्पष्ट प्रभाव हुआ—

विषापहारं मणिमौषधानि
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि॥

अर्थात् 'शरीरका विष उतारनेके लिये लोग मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषध एवं रसायनके लिये भागते फिरते हैं, किंतु आपका स्मरण नहीं करते। उन्हे यह ज्ञात नहीं कि ये सब आपके ही नाम हैं, विष उतारनेवाले तो आप ही हैं।' फिर क्या—

उठा कुमार नींदसे, सोकर ही जैसे जागा हो।
जीवनकी दुंदुभी श्रवणकर महाकाल भागा हो॥

धनंजय फिर भी भगवान्‌की स्तुतिमें लीन रहे। सभी उपस्थित लोगोंने कहा—

कहने लगे धन्य पूजा और धन्य अनन्य पुजारी।
श्रद्धा और भक्तिमय पूजा है अतीव सुखकारी॥

(२) मानतुङ्ग आचार्य बंदीगृहमें थे, कड़ा पहरा था। उस समय भक्तिमें तल्लीन होकर उन्होंने 'भक्तामर-स्तोत्र' की रचना कर डाली। स्तोत्रका ४६ वॉ श्लोक पढ़ रहे थे—

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वां नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥

अर्थात् 'किसी मनुष्यको पैरसे गर्दनतक जंजीरोंसे बॉध-कर बंदीगृहमें डाल दिया गया हो, मोटी लोहकी छड़ोंसे उसकी जॉघें छिल गयी हों, तब भी आपके पवित्र नामका स्मरण करते ही उसके सारे बन्धन टूट जाते हैं।' बस, अचानक बंदी-गृहके ताले खुल गये एवं बेड़ियॉ तथा जंजीरें चूर-चूर हो गयीं। प्रहरीगण अचेत हो गये और आचार्यजी मुक्त थे।

यह है भक्तिकी बानगी और उसकी अचिन्त्य शक्ति। उसका चमत्कार अवर्णनीय है।

भक्ति और वर्णाश्रम-धर्म

(लेखक—पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम् ॥*

(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २)

छप्पय

बरनाश्रम सुभ धरम करम निज निज बतलावैं।
जो जन पालन करैं जथोचित लोकनि पावैं ॥
क्रम क्रम तैं लहि उच्च बरन पुनि विप्र कहावैं।
करम न्यास करि ब्रह्मलोक द्विज कूँ पहुँचावैं ॥
भक्ति भाव तैं निज बरन आश्रम धरमनि पालि कैं।
सो तहँ पावै परमपद, प्रभु पद मन कूँ घालिकैं ॥

समाजको, लोकको जो धारण करे, समाज जिससे स्थिर रह सके, उसीको धर्म कहते हैं। ऋषियोंने विविध भाँतिके धर्म बताये हैं; उनमें वर्णाश्रम-धर्म समाजके लिये ऐसा परिपूर्ण है कि इसमें सभीके लिये स्थान है, सभी इस धर्मका पालन करके अपने इष्टको प्राप्त कर सकते हैं, सभी इसकी छत्रछायामें पनप सकते हैं, सभी क्रमशः उन्नतिके शिखरपर पहुँच सकते हैं। आज जो साम्यवाद, समाजवाद तथा अन्य नाना प्रकारके वाद जगत्‌में प्रचलित हैं, जिनका लक्ष्य अन्न-वस्त्र एवं बाहरी समतातक ही सीमित है, वे वर्णाश्रम-धर्मके उच्च लक्ष्यतक कभी नहीं पहुँच सकते। वर्णाश्रम धर्मका वर्णन करते समय भगवान् वेदव्यासने यह बात स्पष्ट कह दी है—'प्राणियोंका अधिकार केवलमात्र उतने ही द्रव्यपर है, जितनेसे उसका पेट भर जाय। जो इससे अधिक अपना समझता है, वह चोर है, डाकू है; उसे दण्ड मिलना चाहिये†।' अब बताइये, इससे बढ़कर साम्यवाद क्या हो सकता है।

आजकल लोग कहते हैं—हम विषमता मिटा देंगे, सबको समान कर देंगे, सम्पत्ति व्यक्तिगत न होकर सम्पूर्ण राष्ट्रकी होगी। भोजन-वस्त्रका अधिकार सबको एक-सा होगा।' ये बातें सुननेमें बड़ी मधुर और आकर्षक लगती हैं, किंतु व्यवहारमें इनको नाना [illegible] स्वभाव, [illegible] प्रकृति तथा अन्यान्य सभी बातें [illegible] दूसरेसे मिलता नहीं, [illegible] भी किसीके किसीसे मिलते नहीं, [illegible] सबकी सबसे भिन्न है, [illegible] सबको समान कैसे कर देंगे। [illegible] सबकी बात [illegible] भोजन, सबकी [illegible] तब आप सबको समान कैसे [illegible] सर्वथा भेदभाव मिटाना [illegible] रहेगा; किंतु [illegible] वहाँ [illegible] बड़ा त्यागी तथा [illegible] एवं पूजनीय माना जाता और [illegible]।

वर्णाश्रम-धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, [illegible] वर्ण हैं तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और [illegible] आश्रम हैं। ब्राह्मण [illegible] सर्वश्रेष्ठ है। [illegible] धर्म [illegible] त्यागकी मात्रा [illegible] निम्न माने गये हैं। [illegible] ब्राह्मण चारों आश्रमोंको [illegible] संन्यासका अधिकार नहीं [illegible] दो ही आश्रम [illegible] गृहस्थका। इस प्रकार [illegible] परमपदकी प्राप्ति [illegible] वर्णाश्रम धर्म [illegible] मुख्य [illegible] है। [illegible] को [illegible] माना जाता है। [illegible] जिनके [illegible]

---

* धर्मराज युधिष्ठिर नारदजीसे कहते हैं—'भगवन्! अब मैं वर्णों एवं आश्रमोंके सदाचारके साथ मानवमात्रका सनातन धर्म सुनना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं।'

† यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८)

* [illegible]
[illegible]
[illegible]

हैं; वे अपने कर्तव्यका पालन करें और अपने वर्णके लिये बतायी हुई वृत्तिद्वारा ही अपनी आजीविका चलायें। उदाहरणके लिये ब्राह्मणका कर्तव्य वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना है; अतः वह अपनी आजीविका भी वेद पढ़ाकर, यज्ञ कराकर तथा दान लेकर कर सकता है। इस प्रकार सब मिलाकर उसके छः कर्म हैं। क्षत्रिय और वैश्य वेद पढ़ें, दान दें, यज्ञ करें; किंतु वे पढ़ा नहीं सकते, यज्ञ नहीं करा सकते, न दान ही ले सकते हैं। क्षत्रिय अपनी आजीविका प्रजा-पालन करके दण्ड और करोंद्वारा कर सकता है, वैश्य कृषि-गोरक्षा तथा वाणिज्यद्वारा।

ब्राह्मणोंमें भी दान लेना उत्तम नहीं माना गया है। उनमें जो जितना ही त्यागी होगा, वह उतना ही श्रेष्ठ माना जायगा। सबसे श्रेष्ठ तो वह है, जो पक्षियोंकी भाँति खेतोंमें तथा बाजारमें पड़े अन्नोंके दानोंको नित्य बीनकर उन्हींसे निर्वाह करे। मध्यम वह है, जो नित्य अपने निर्वाह योग्य ही अन्न या फल वृक्षोंसे या गृहस्थियोंसे माँग लाये, एक दाना भी कलके लिये न रखे। अधम वृत्तिवाला वह है, जो बिना माँगे जो भी कुछ कोई दे जाय, अनायास प्राप्त हो जाय, उसीपर निर्वाह करता है; और निकृष्ट वृत्तिवाला वह है, जो यज्ञ, अध्ययन तथा दानद्वारा अपना निर्वाह करता है। इस प्रकार जिनका सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपोमय है, उन्हें समाजमें सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा ऐसे त्यागी तपस्वियोंसे थर-थर काँपते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंकी 'द्विज' संज्ञा है, क्योंकि इन तीनोंका उपनयन-संस्कार होता है। एक जन्म तो माताके उदरसे होता है। दूसरा जन्म गुरुकुलमें उपनयन-संस्कार करानेसे होता है। द्विज बालक जब पढने योग्य हो जायँ, तब वे घर छोड़कर गुरुकुलमें जायँ, वहाँ गुरु, अग्नि, अतिथि तथा सूर्यकी उपासना करते हुए वेदाध्ययन करें। वहाँ भी तीनों वर्णोंके ब्रह्मचारियोंके पृथक्-पृथक् नियम हैं, उनके वर्णके अनुरूप ही उन्हें शिक्षा दी जाती थी। शूद्रबालक अपने घर ही रहकर अपने माता-पितासे अपनी कुलागत वृत्तिको सीख ले। अध्ययन समाप्त करके अपने वर्णकी कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे। शूद्र धर्मपूर्वक कर्तव्य समझकर गृहस्थीमें ही रहकर यावत्-जीवन तीनों वर्णोंकी सेवा करता रहे। केवल सेवाके पुण्यसे ही वह मरकर स्वर्गका अधिकारी बन जायगा। जब उसके पुण्य थोड़े शेष रह जायँगे तब उसका जन्म वैश्यकुलमें होगा। वश्यको भी घर छोड़कर वनमें जाकर घोर तप करनेका अधिकार नहीं। वह जीवनपर्यन्त गृहस्थीमें ही रहकर कर्तव्यबुद्धिसे स्वधर्मका यदि पालन करता रहेगा तो उस पुण्यका स्वर्गमें फल भोगकर अगले जन्ममें क्षत्रियके घर उत्पन्न होगा। क्षत्रिय ब्रह्मचर्यके पश्चात् गृहस्थ होकर प्रजापालनरूपी धर्मको करे। जब वृद्धावस्था देखे, तब प्रजापालनका कार्य पुत्रको सौंपकर स्त्रीको साथ ले या स्त्रीको पुत्रोंपर छोड़कर अकेला ही वनमें जाकर घोर तप करे और कन्द-मूल-फलका आहार करता हुआ इस शरीरको त्याग दे तो उसे तपोलोककी प्राप्ति होती है। वानप्रस्थ चाहे क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, जो भी तपस्या करते-करते मरेगा, उसे तपोलोककी प्राप्ति होगी। यदि उसका उत्कट त्याग और तप है और वह ब्राह्मण है तो उसे पुनः पृथ्वीपर आना नहीं होगा। तपोलोकसे ही सत्यलोकको चला जायगा और वहाँ भी अपने ज्ञानको पूर्ण करके ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जायगा। जिसका ज्ञान अपूर्ण है, वह तपोलोकसे पृथ्वीपर लौटकर ब्राह्मणकुलमें जन्म लेगा और फिर सन्यास-धर्मका विधिवत् पालन करके ब्रह्मलोक जायगा और वहाँ ज्ञान पूर्ण करके मुक्त हो जायगा। वर्ण-धर्मका और आश्रम-धर्मका यही विकासक्रम है। इसमें स्वधर्मका पालन ही मुख्य ध्येय है; यह धर्म कर्मपरक है। अपने वर्णके परम्परागत कर्मको कभी नहीं छोड़ना चाहिये, चाहे वह कर्म दोषयुक्त ही क्यों न हो*; क्योंकि अपना वंश-परम्परागत कर्म करते हुए मर जाना भी अच्छा है, दूसरेके धर्मको बिना आपत्तिके कभी अपनाना नहीं चाहिये; क्योंकि परधर्म भयावह होता है।†

यहाँ 'धर्म' शब्दका वंश-परम्परागत कार्यसे ही अभिप्राय है, तभी तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनको युद्ध करनेके लिये बारंबार प्रेरणा देते हैं। वे कहते हैं—'भाई! तुम्हारा जन्म क्षत्रिय-कुलमें हुआ है, क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धसे बढ़कर कल्याण-मार्ग दूसरा है ही नहीं। मान लो, तुम युद्ध करते-करते मर गये तो तुम्हे निश्चित ही स्वर्गकी प्राप्ति होगी; यदि जीत गये तो सम्पूर्ण पृथ्वीका आधिपत्य मिलेगा। तुम्हारे तो दोनो हाथोंमें लड्डू हैं, भैया!'‡

यह कितनी अच्छी व्यवस्था है कि मनुष्य अपने कुलागत कर्मको कभी न छोड़े। तेलीका लड़का है तो तेल

* सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
(गीता १८। ४८)

† स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (गीता ३। ३५)

‡ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(गीता २। ३७)

पेरना ही उसका धर्म है; धोबीका लड़का है तो उसे कपड़े ही धोने चाहिये; चमार है तो उसे जूते ही बनाने चाहिये; बुनकर है तो उसे कपड़े ही बुनते रहना चाहिये। यदि आपत्ति-विपत्तिमें अपना काम छोड़ना भी पड़े तो आपत्ति हट जानेपर उसे फिर अपना ही काम सम्हाल लेना चाहिये। सदाके लिये दूसरेकी वृत्ति—अन्य जातिका पेशा कभी ग्रहण न करे। हाँ, तीन काम मनुष्य छोड़ सकता है। यदि अपने पूर्वज प्राणिवध करते रहे हों या स्त्रीका वेष बनाकर नाटक करते रहे हों अथवा चोरी-डाका डालते रहे हों तो इन कामोंको सर्वथा छोड़ देनेमें भी कोई दोष नहीं है। दूसरे परम्परागत कर्मोंको आग्रहपूर्वक करते रहना चाहिये। यही वर्णाश्रम-धर्मका मर्म है। पाण्डवोंने राज्यके लिये युद्ध नहीं किया था। उन्होंने तो अपने क्षात्र धर्मकी रक्षाके लिये ही युद्ध किया था। धर्मराज बार-बार कहते थे—हमें धन नहीं चाहिये, ऐश्वर्य नहीं चाहिये; अवश्य ही हमारे धर्मका लोप नहीं होना चाहिये। समर्थ होनेपर भी बिना आपत्ति विपत्तिके जो क्षत्रिय प्रजा-पालनरूप धर्मको नहीं करता, उसे धर्म-त्यागका पाप लगता है। हाँ, विपत्तिकालमें वह वैश्यका व्यापार आदि कर सकता है या ब्राह्मण-वेषमें घूम सकता है; किंतु कभी भी, कैसी भी विपत्तिमें शूद्रवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकता*। इसीलिये लाक्षागृहसे भागकर पाण्डव ब्राह्मण-वेषमें ही घूमे थे और भिक्षापर ही निर्वाह करते थे। उस समय उनपर विपत्ति आयी हुई थी, इसलिये उन्हें भिक्षारूप ब्राह्मणवृत्ति स्वीकार करनेमें दोष नहीं लगा। यदि बिना विपत्तिके वे भिक्षापर निर्वाह करते तो उन्हें दोष लगता, वे पापके भागी बनते। पाण्डव नहीं चाहते थे कि हम युद्ध करें, समरमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका ही संहार करें; इसीलिये धर्मराजने दुर्योधनके अधीन रहना भी स्वीकार कर लिया था। पाँच भाइयोंके लिये केवल पाँच गाँव लेकर ही वे संतोष कर लेना चाहते थे।

पहले एक गाँवके भूपतिको भी राजा ही कहते थे। 'राजा' शब्द क्षत्रियका ही वाचक था। कुछ-न-कुछ भूमिका स्वामी उसे अवश्य होना चाहिये। दस-बीस ही क्यों न हों, उसके प्रजाजन अवश्य होने चाहिये। क्षत्रिय जहाँ भी रहे, भूपति—नरपति बनकर ही रहे। भूमिका स्वामित्व क्षत्रियोंका वर्णाश्रम-व्यवस्थामें जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता था। इसी प्रकार कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्य ही कर सकते थे। शूद्र इन सबके [illegible] सम्पूर्ण अन्न-वस्त्र [illegible] था। स्मृतिकारोंने तो [illegible] गर्भवती, बच्चे, वृद्ध [illegible] भोजन करना चाहिये। [illegible] अन्न समझे जाते थे। [illegible] उसके स्वामीके पास [illegible] भारतके गाँवोंमें कितनी सुन्दर [illegible] सच्ची और दृढ़ [illegible]

गाँवोंमें चारों वर्णोंके लोग [illegible] भूमिके स्वामी [illegible] थे। पण्डित पुरोहित [illegible] और बदलेमें उन्हें [illegible] उनका काम [illegible] व्यापार करते थे। [illegible] है, वह वर्षभर बिना [illegible] नाई सबके बाल बना [illegible] सबका काम बिना कुछ [illegible] सब लोग भी काम करेंगे। [illegible] खेतपर पहुँच जायँगे, [illegible] एक-एक बोझा यह रखा [illegible] पानी लेकर पहुँचेगा, [illegible] समय कृषकके सबसे [illegible] उपजका कुछ भाग देना [illegible] सौ कृषक हैं, ऐसी [illegible] जोते-बोये सौ-सौ बोझ [illegible] हो गया। वर्षभरको [illegible] महत्ता वा [illegible] देना कृषक अपना धर्म समझता है।

सब लोगोंमें परस्पर [illegible] चमार, कुम्हार, [illegible] ताऊ, भैया भतीजा [illegible] चाची, सभी उसे [illegible] लो पुरखोंने भी [illegible] देते थे, भाई [illegible] [illegible] हम उसे नहीं [illegible]

* चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथंचन।
(श्रीमद्भा० ११।१७।१८)

रहे। केवल वह हमें छूती नहीं थी। गाँवके लोग कहीं विवाह करने जाते और उस गाँवमें अपने गाँवकी कोई भंगी-चमारकी भी लडकी होती तो स्वय उसके घर जाकर लडकीको नेग देते थे। यह कोई पुरानी बात नहीं। बीस-पचीस वर्ष पहिले तो खूब थी, अब भी गाँवोंमें है; किंतु अब उतना ममत्व नहीं रह गया।

वर्णाश्रम-धर्ममें ऊँच-नीचपन कोई घृणाकी दृष्टिसे नहीं था। पूरा वर्णाश्रम एक शरीरकी भाँति है। शरीरमें मुख, हाथ, पैर, शिश्न, गुदा आदि सभी अङ्ग हैं। हैं सारे अङ्ग शरीरके ही। किंतु कुछ मुखमें दिये जाते हैं, कुछ भूमिपर चलते हैं, कुछको स्पर्श करनेपर मिट्टी लगाकर जलसे हाथ धोने पड़ते हैं। चार वर्णोंके अतिरिक्त एक पञ्चम वर्ण भी होता था। उसमें दो भाँतिके लोग होते थे। एक तो वे शूद्र, जो सेवा छोडकर चोरी करने लगे थे, ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी लड़कियोंको उठा ले जाते थे अथवा ब्रह्महत्या आदि दूसरे जघन्य पाप करके भी उनका प्रायश्चित्त नहीं करते थे। समाज उन्हे हेय दृष्टिसे देखता था। उनकी संतानोंको ग्रामसे बाहर रखते, उनसे फाँसी दिलाना, मल-मूत्र उठवाना या ऐसे ही अन्य छोटे कार्य कराये जाते थे। उनका स्पर्श वर्जित था। वे वर्णाश्रमसे बहिष्कृत समझे जाते थे। फिर भी थे वे समाजके एक अङ्ग ही। समाजका उनसे काम चलता था। इसलिये उन्हे पञ्चम वर्ण या अतिशूद्र कहते थे। दूसरे पञ्चमवर्णमें वे भी माने जाते थे, जो वनोंमें रहते थे, जिनके वर्णोचित सस्कार नहीं होते थे। जंगली जातियोंमें निषाद, हूण, शबर, किरात, आन्ध्र, पुलिन्द, आभीर, यवन आदि अनेक वर्गके लोग होते थे। इनके घर-द्वार नहीं होता था। ये अरण्योंमे दल बनाकर घूमते थे।

वर्णाश्रमी जब किसीको दण्ड देते थे, तब उसे वेद-बहिष्कृत कर देते थे। अर्थात् वर्णाश्रम-धर्मसे निकाल देते थे। महाराज सगरने अनेक जातिके क्षत्रियोंको वेद-बहिष्कृत कर दिया, उन्हें क्षत्रियत्वसे च्युत कर दिया। वे सब दूसरे देशोंमें चले गये और इन दलवालोंमें मिल गये। भगवान् श्रीकृष्णके पुत्रोंमेंसे भी कुछ म्लेच्छोंके राजा हुए। इस प्रकार ये लोग उन जगली जातियोंमें जाकर राजा बन गये। इनमें क्षत्रियोंके सस्कार, बल-पौरुष, धर्म-भावना तो थी ही; केवल बड़े लोगोंके कोपके भाजन बनकर ये वर्णाश्रम-धर्मसे निकाले गये थे। वहाँ जाकर इन्होंने विवाह तो उन जंगली जातियोंमें ही किये; क्योंकि वर्णाश्रमी उन्हें अपनी लडकी देनेको तैयार नहीं थे। किंतु संस्कार ये अपने क्षत्रियोचित कराते रहे। पुरोहित भी मिल ही गये। राज्य भी हो गया। शनैः-शनैः ये फिर वर्णाश्रम-धर्ममें मिल गये। राजगौड़ आदि ऐसे ही क्षत्रिय हैं। आभीर और निषादोंको जो पञ्चम कहा गया है, वह वनमें रहनेके कारण। वर्णाश्रम-धर्मका पालन आसेतु-हिमालय—कन्याकुमारीसे कश्मीरतक ही होता है। समुद्रपार जानेसे द्विजातियोंको पुनः सस्कार कराने पडते थे। आज जो उन्नत राष्ट्र माने जाते हैं, उनका इतिहास अधिक-से-अधिक दो-ढाई सहस्र वर्षोंका ही है। भारतवर्ष और चीनको छोड़कर शेष सभी देशोंके लोग या तो निषाद, मछलियोंपर निर्वाह करनेवाले मछुए या वनोंमें पशुओंको साथ लेकर विचरनेवाले आभीर थे। इन सबके साथ ब्राह्मण-पुरोहित भी रहते थे, जो प्रायः सङ्गदोषसे इन्हींके-जैसे आचरणवाले बन जाते तथा इन्हींकी लड़कियोंसे विवाह कर लेते थे; ये सब-के-सब भारतसे ही जाकर अन्य द्वीप-द्वीपान्तरोंमें बस गये। ये जो बिना घर-द्वारके—खानाबदोशोंके कबीले घूमते हैं, इनका मूलस्थान भारत ही है। कहनेका अभिप्राय इतना ही है। महाभारतसे पूर्व दो ही प्रकारके लोग थे, वर्णाश्रमी आर्य अथवा वर्णाश्रमसे रहित निषाद या आभीर आदि अनार्य।

विशुद्ध वर्णाश्रम-धर्ममें परमपदका अधिकारी ब्राह्मणको ही माना गया है। संन्यास-आश्रमका अधिकारी एकमात्र ब्राह्मणको ही बताया गया है।* अन्य वर्णोंके लोग जो सन्यास ग्रहण करते थे, वे सांख्य (ज्ञानमार्ग) के अनुयायी होते थे या अलिङ्ग-संन्यासी। संन्यास तो केवल ब्राह्मण ही ग्रहण कर सकता है। इसीलिये लोग वर्णाश्रम-धर्मको ब्राह्मणधर्म भी कहते हैं। पीछे बौद्धों आदिने इस बातका खण्डन किया कि केवल ब्राह्मण ही नहीं, सभी मोक्षके अधिकारी हैं। इसीलिये उन्होंने वर्णाश्रम-धर्मका भी खण्डन किया।

भक्तिमार्ग अथवा वैष्णव-धर्म वर्णाश्रम-धर्मका खण्डन नहीं करता, प्रत्युत समर्थन ही करता है; किंतु वह इस बातको नहीं मानता कि केवल ब्राह्मण सन्यासी ही परमपदका अधिकारी है। भक्तिमार्गका सिद्धान्त है—तुम किसी भी

---

* आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्। (मनु० ६।३८)
ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति श्रुतेः। (मिताक्षरा ३।४।५७)
चीर्णे वेदव्रते विद्वान् ब्राह्मणो मोक्षमाश्रयेद् (आङ्गिरसस्मृति, पू०)
एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः। (मनु० ६।९७)

वर्णके हो, किसी भी आश्रममें क्यों न हो—जहाँ भी हो, वहीं भगवद्भक्ति करते हुए निष्कामभावसे प्रभुकी सेवा समझकर वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए कालक्षेप करो तो तुम्हें भगवल्लोककी—परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। गृहस्थाश्रमका अधिकार चारों वर्णोंको है। भक्तिमार्गके आचार्य कहते हैं—स्वधर्मका पालन करते हुए जो भक्ति-भावपूर्वक प्रभुकी आराधना करता है, वह गृहस्थमें ही रहकर परमपदका अधिकारी बन जाता है*।

आप ब्रह्मचारी हैं। आपको कोई आवश्यकता नहीं कि आप ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण—इन तीनों ऋणोंसे उऋण होनेके लिये गृहस्थी बनें-ही-बनें। वैसे वर्णाश्रम-धर्म तो कहता है कि जो इन तीनों ऋणोंको बिना चुकाये, बिना सतानोत्पत्तिके मरता है, उसकी सद्गति नहीं होती। किंतु भक्तिमार्गवाले स्पष्ट कहते हैं—'जो सर्वात्मभावसे उन शरण्य प्रभुकी शरणमें आ गया है, वह देवता, पितर तथा ऋषियों-मनुष्योंका न तो ऋणी ही रहता है न उनका किंकर बनके उनके लिये कर्म करनेको ही विवश है; भगवान्‌की भक्ति करनेसे ही सब ऋण अपने आप चुक जाते हैं†। यदि आप गृहस्थ हैं तो गृहस्थीमें ही रहकर भगवान्‌की भक्ति कीजिये। वानप्रस्थ हैं तो वनमें ही बसते हुए कर्तव्य-बुद्धिसे हरिसेवा समझकर स्वधर्मपालन कीजिये; आप तपोलोक जायँगे भी तो लौटकर नहीं आयेंगे, आप सीधे भगवद्धामको चले जायँगे। यदि आप संन्यासी हैं तो भक्ति-भावद्वारा भगवान्‌को पा जायँगे। आप ब्राह्मण है तो पूछना ही क्या है। बड़े भाग्यसे उत्तम कुलमें जन्म हुआ है; किसी भी आश्रममें रहकर भगवद्-भक्ति कीजिये, आप बिना सन्यास लिये ही भगवल्लोकके जायँगे, परमपदके अधिकारी बनेंगे, यद्यपि वैष्णव-सम्प्रदायमें संन्यासका निषेध नहीं है। वैष्णवलोग भी त्रिदण्ड धारण करके संन्यास लेते हैं। भगवान् रामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्यचरणोंने भी सन्यास-दीक्षा ली थी। महाप्रभु चैतन्यदेवने भी अपने जीवनका उत्तरकाल संन्यासीके रूपमें ही बिताया था। भक्तिमार्गमें भी दण्ड लेनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है*; किंतु यह आवश्यक नहीं है कि सन्याससे ही परमपद प्राप्त हो। यदि भक्ति नहीं है तो आप चाहे ब्राह्मण हों, देवता हों, ऋषि हों, विद्वान् हों अथवा बहुज्ञ हों, भगवान् आपसे प्रसन्न नहीं हो सकते। इसके विपरीत यदि भक्ति है तो आप चाहे क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र या अन्त्यज ही क्यों न हों, आप निर्मला भक्तिके प्रभावसे परमपदके अधिकारी बन सकते हैं; भक्तिके बिना अन्य सब कुछ विडम्बनामात्र है†।

भगवान्‌के भक्तका यदि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस तथा अन्य पाप योनिवाले भी आश्रय ले लें तो वे भी विशुद्ध बन जाते हैं‡। भक्ति-मार्गमे प्रपन्नतापर सबसे अधिक बल दिया गया है। सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्र ही नहीं, कोई भी प्राणी भगवान्‌की शरणमें चला जाय, अन्तःकरणसे कह भर दे—'हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारी शरणमे हूँ' तो वह सबसे निर्भय बन जाता है—उसे अभय पद, मोक्ष या भगवल्लोककी प्राप्ति हो जाती है×।

भक्तिमार्गमें वर्णसे नहीं अपितु भगवद्भक्तिसे श्रेष्ठता है। यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है+। यदि ब्राह्मणोचित बारह गुणोंसे सयुक्त विप्र भी है, किंतु भगवद्भक्तिसे हीन है तो उस ब्राह्मणसे भगवान्‌का भक्त श्वपच कहीं श्रेष्ठ है। चारों वेदोंका ज्ञाता ब्राह्मण भी यदि वह भगवान्‌का भक्त नहीं तो वह

---

* एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभि।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजस्तद्भक्तिभाङ्नरः॥
(श्रीमद्भा० ७।१५।६७)

† देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

* मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः॥ (बौधायन)

† नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५१-५२)

‡ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१८)

× सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मीकीय रामायण ६।१८।३३)

+ न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥
(महाभारत)

भगवान्‌को प्रिय नहीं; भगवद्-भक्त श्वपच भी है, तो उस ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार भक्ति-मार्गके आचार्योंने वर्णाश्रम-धर्मका खण्डन न करते हुए, प्रत्युत उसे मान्यता देते हुए भी भगवद्-भक्तिको ही सर्वोपरि माना है। अन्य युगोंमें वर्णाश्रम-धर्मकी ही प्रधानता रहती है, किंतु इस कलिकालमें तो भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भक्तिमें भी भगवन्नाम-कीर्तनकी प्रधानता है। कोई श्वपच—चाण्डाल ही क्यों न हो, यदि उसकी जिह्वापर भगवान्‌का नाम नाचता रहता है, वह सदा भगवन्नामोंका उच्चारण करता रहता है तो वह सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् कपिलदेवकी माता देवहूतिजी कहती हैं—उसने सभी यज्ञ, तप तथा उत्तम कार्य इस भगवन्नामके गानसे ही कर लिये* ।

इस कलिकालमें जो जहाँ है, जिस वर्णमें है, जिस आश्रममें है, वहीं रहकर शुद्ध सदाचारपूर्वक जीवन विताते हुए भगवन्नामोंका निरन्तर स्मरण करता रहता है, उसे जो गति प्राप्त होती है, वह सबसे श्रेष्ठ योगियोंको भी दुर्लभ है। इस भक्तिमार्गमें देशका, कालका, वर्णका, जातिका, आश्रमका तथा अन्य किसी बातका नियम नहीं है। मनुष्यको केवल इतना ही चाहिये कि वह भगवन्नामका निरन्तर गान करे और भागवती कथाओंका श्रवण करे। इसीसे अविच्छिन्न भगवत्-स्मृति रह सकती है। यही जीवका चरम लक्ष्य है। भागवतकारने तो यहाँतक कहा है—वर्णाश्रम-धर्मके पालन, तप और शास्त्र-श्रवणादिमें जो महान् परिश्रम किया जाता है, उसका फल इतना ही है—यशकी प्राप्ति, श्रीकी प्राप्ति एवं उत्तम लोकोंकी प्राप्ति; किंतु जीवका जो मुख्य लक्ष्य—भगवान् श्रीधरके चरण-कमलोंकी स्मृति है, वह तो भगवान्‌के गुणानुवादोंके श्रवणसे, भगवन्नाम-कीर्तनसे ही होती है† । कलिकालके लिये यही सरल, सुगम, सर्वोपयोगी, सुन्दर साधन है; परंतु कलियुगी लोगोंका ऐसा दुर्भाग्य है कि सर्वोत्तम गति प्राप्त करनेके ऐसे सरल साधनको पाकर भी भगवन्नामोंका उच्चारण नहीं करते, भगवान्‌की भक्ति नहीं करते। इसीसे दुखित होकर भगवान् वेदव्यासने बड़ी ही पीड़ाके साथ कहा है—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥‡
(श्रीमद्भा० १२।३।४४)

छप्पय

जा आश्रममें रहौ, बरन चाहे जो होवै।
होवै हिय हरि भक्ति, मलिनता मनकी धोवै॥
भागीरथी समान भागवती भक्ति कहावै।
जो जन आश्रय लेहिं, पार तिन अवसि लगावै॥
सब धरमनि तजि सरन इक सरबेस्वर प्रभु की गहौ।
तौ अति उत्तम परमपद भक्ति भाव ही तें लहौ॥

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँगतें तुलसी तुलसीदासु॥

* अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

† यशःश्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु। अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।५३)

‡ मरते समय अत्यन्त आतुर अवस्थामें विवश होकर गिरते-पड़ते भी जिन श्रीहरिका नाम लेनेसे प्राणी सभी प्रकारके कर्म-बन्धनोंसे विमुक्त होकर सर्वोत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है, हाय! कलियुगमें ऐसे भगवान्‌की भी भक्ति प्राणी नहीं करेंगे।

वर्णाश्रम-धर्म और भक्ति

(लेखक—श्रीनारायण पुरुषोत्तम सागाणी)

मनुष्य मोह या अज्ञानके कारण संसारके पदार्थ—स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सम्पत्ति-सत्ता, शरीर आदिमें सुख-आनन्द मानकर उनको प्राप्त करनेके लिये प्रयास करता है। परतु बुद्धिपूर्वक विचार करने तथा प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और नाशवान् हैं।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने तप, योग तथा आत्मज्ञानके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर इन सबका त्याग किया था और यह निश्चय किया था कि वास्तविक सुख-शान्ति और आनन्द एकमात्र जगन्नियन्ता श्रीहरिके चरणारविन्दमें है।

शाश्वत सुख, आनन्द और शान्तिके धाम सर्वशक्तिमान् परमात्मा श्रीहरिने अपनी क्रीडाके लिये इस अत्यन्त अद्भुत अनुपम जगत्की रचना की है। उन सर्वज्ञ प्रभुमें ही ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदि भग (ईश्वरताके लक्षण) सदा-सर्वदा सम्पूर्णरूपसे रहते हैं। वह परम कृपालु ईश्वर अजन्मा होकर भी, अपने स्थापित वर्णाश्रम-धर्म तथा भक्तोंके ऊपर जब-जब सकट आता है, तब-तब अवतार धारण करके धर्म और धर्मज्ञोंकी रक्षा करता है।

जीव उस परम ब्रह्म परमात्माका अश है। शाश्वत सुख, आनन्द और शान्तिके भडारस्वरूप भगवान् श्रीहरिसे पृथक् होते ही जीवका आनन्द तिरोहित हो जाता है और वह दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापोंसे संतप्त होने लगता है। शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार चौरासी लाख योनियोंमें भटकता हुआ वह जन्म-मरणके सकटको भोगता है और जब वह प्रभुकी शरणमें जाकर उनकी आराधना करता है, तभी भवसागरके दुःखोंसे छूटता है।

भगवान् श्रीहरि आनन्दस्वरूप हैं। गीता और उपनिषद् आदि शास्त्र कहते हैं कि वे जगत्के पिता, माता, धाता, पितामह, वेद्य, पावनकारी, ॐकार, ऋक्-साम-यजु, गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभव और प्रलयस्थान, निधान, अव्यय बीज और अमृत हैं। ऐसे भक्तवत्सल परम कारुणिक प्रभुको प्राप्त करनेके लिये ज्ञान, योग, यज्ञ, तप आदि अनेक साधन हैं। परंतु वे सब कठिन हैं तथा अधिकार-योग्यताहीन लोगोंके द्वारा उनका आचरण शक्य नहीं है; भक्ति ही एक ऐसा सरल, सुगम और श्रेष्ठ साधन है कि चाहे जिस जातिका, देशका या अवस्थाका स्त्री अथवा पुरुष हो, उसका अवलम्बन करके सहज ही प्रभुपदको प्राप्त कर सकता है।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्तिके ये नौ प्रकार हैं। महाराज परीक्षित्, देवर्षि नारद, प्रह्लाद, लक्ष्मीजी, राजा पृथु, अक्रूर, हनूमान्, वीरशिरोमणि अर्जुन तथा राजा बलिने इस नवधाभक्तिका क्रमशः आश्रय लेकर प्रभुकी कृपा प्राप्त करके अपने नामको अजर-अमर कर दिया है।

परतु नवधाभक्तिके उपरान्त प्रेमलक्षणा नामकी भक्तिका स्वरूप दिखलाते हुए भक्तिमार्गके आचार्य देवर्षि नारद तथा महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि भगवान्के प्रति परमप्रेम ही भक्तिका सर्वोत्तम लक्षण है और ऐसा परमप्रेम व्रजकी गोपियोंमें था। शरीर और ससारसे सारी ममता हटाकर अनन्त ब्रह्माण्डके अधिपति अन्तर्यामी प्रभु श्रीकृष्णके चरणारविन्दको अनन्य श्रद्धा-भक्तिके साथ सर्वात्मभावसे भजते हुए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। अतएव शिव, विरञ्चि, शेष, सनकादि तथा नारद और लक्ष्मीजीको भी परब्रह्मका जो अनिर्वचनीय आनन्द नहीं प्राप्त हुआ था, वह गोपियोंको प्राप्त हुआ। इसी कारण पितामह ब्रह्माजीसे लेकर उद्धव-पर्यन्त महानुभाव उस पदकी प्राप्तिके लिये मुनिरूपी गोपियोंकी चरण-रजकी सदा आकाङ्क्षा किया करते हैं।

विश्वके निवासी ससारमें सुखी जीवन व्यतीत करते हुए भक्तिद्वारा मृत्युके बाद परमपद प्राप्त कर सकें, इस शुभ प्रयोजनसे विश्वस्रष्टा श्रीहरिने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेद-शास्त्रका निर्माण करके वर्णाश्रम-धर्मकी अति उत्कृष्ट योजना कर दी थी।

देशकी सुव्यवस्था तथा कल्याणके लिये लाखों मनुष्योंको काममें लगाने तथा ज्ञान प्रदान करनेके लिये प्रतिवर्ष करोड़ों-अरबों रुपये खर्च करना और उसकी आमदनीके लिये लोगोंपर अरबों रुपयोंके कर लादना बड़ा ही झझटका काम है; परंतु वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादाके संरक्षणमें यह झझट सर्वथा नहीं करनी पड़ती; क्योंकि वर्णाश्रम-व्यवस्थामें वेद-शास्त्रके ज्ञानसे सम्पन्न ब्राह्मण लोगोंको ज्ञान—शिक्षा निःशुल्क देते हैं। क्षत्रिय प्रजाकी रक्षा करते हैं। वैश्य खेती-बारी, गाय आदि पशुओंके पालन

तथा व्यापारके द्वारा प्राप्त धनको बावली, कूप, तालाब, बाग, अन्नसत्र, औषधालय, धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला, मन्दिर तथा यज्ञ-याग प्रभृति प्रजा-कल्याणके कार्योंको सम्पन्न करनेमें लगाते हैं और शूद्र शिल्पकलाके विकासके साथ-साथ उपर्युक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं।

इसी प्रकार स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पति तथा सास-ससुरकी सेवा करती हैं। शिष्य गुरुकी सेवा करते हैं। पुत्र माता-पिताकी आज्ञामें चलते हुए माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा 'प्राणिमात्रके हृदयमें भगवान् श्रीहरि विराजते हैं' इस भावनासे सबके कल्याणकी कामना करके, सबका हित हो—ऐसा प्रयत्न करते हुए लोग दिन-रात प्रभुका स्मरण-चिन्तन करते हैं। यों करनेसे सबको स्वतः ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती है और अन्तमें सहज ही मोक्षपद मिल जाता है। धर्म-व्याध, सती नर्मदा, तुलाधार वैश्य, सत्यकाम जाबाल, तोटकाचार्य और एकलव्य आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

नरपुङ्गव अर्जुन सर्वसद्गुणसम्पन्न पुरुष थे। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त और सखा थे। उनके-जैसा वीर योद्धा उस समय त्रिलोकीमें कोई न था। महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञके अवसरपर उन्होंने भगवत्-कृपासे दुनियाके सभी राजाओंको जीत लिया था। कहीं भी इस महापुरुषकी पराजय नहीं हुई थी। परतु दुर्योधनकी दुष्टतासे जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध प्रारम्भ होनेका समय आया, तब दोनों सेनाओंके बीचमें अपने रथके खड़े होते ही अपने सामने लडनेके लिये संनद्ध गुरु, काका, दादा, मामा आदि कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धियों-को देखकर वे विषाद और व्यामोहसे व्याप्त हो गये और क्षात्रधर्मको त्यागकर भिक्षुकका धर्म अङ्गीकार करनेके लिये तैयार हो गये।

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने विषादग्रस्त और कर्तव्य-विमूढ़ होकर शरणमे आये जिज्ञासु अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त ससारके लोगोंको जो दिव्य उपदेश प्रदान किया, वह आज श्रीमद्भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है। इस सर्वग्राही उपदेशमें श्रीकृष्ण परमात्माने अर्जुनसे कहा कि 'देह और आत्मा एक नहीं, बल्कि पृथक्-पृथक् है। देह नाशवान् है और आत्मा अविनाशी है। तुमने क्षत्रियजातिमें जन्म लिया है, इसलिये युद्ध करना तुम्हारा परम धर्म है। आग लगानेवाले, विष देनेवाले, शस्त्र लेकर सामने लड़नेके लिये आनेवाले, धर्मका हनन करनेवाले, धनका हरण करनेवाले, भूमिका हरण करनेवाले और स्त्रीका हरण करनेवाले 'आततायी' कहलाते हैं तथा इनकी सहायता करनेवालोंकी भी आततायियोंमें ही गणना है। अतएव ऐसे आततायियोंको मारनेमें तनिक भी पाप नहीं है।' श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी सृष्टि मैंने की है। उन-उन वर्णोंके लोगोंको अपने-अपने धर्म-कर्मका यथाविधि पालन करना चाहिये। स्वधर्मका पालन करते हुए मृत्यु हो जाय तो श्रेयस्कर है, परंतु परधर्मका आश्रय तो भयावह है। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंके अनुसार चेष्टा करता है। तुमने क्षत्रियजातिमें जन्म लिया है, युद्ध करना तुम्हारा स्वधर्म है। यदि मोहवश या कायरतासे युद्ध नहीं करोगे तो प्रकृति (स्वभाव) बलपूर्वक तुम्हें युद्धमें लगायेगी। प्रकृतिका निग्रह करना शक्य नहीं। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयका विचार छोड़कर निष्काम बुद्धिसे मेरा स्मरण करते हुए युद्धरूप कर्तव्यका पालन करोगे तो तुमको दोष नहीं लगेगा और बन्धन नहीं होगा।'

परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'इस विश्वको मैंने उत्पन्न किया है। विश्वमें मुझसे पर—श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। मैं ही युग-युगमें अवतार लेकर धर्म और धर्मज्ञोंकी रक्षा करके दुष्टोंको—धर्मका नाश करके पाखण्ड फैलानेवालों-को, आसुरी वृत्तिके नास्तिकोंको दण्ड देकर धर्मकी पुनः स्थापना करता हूँ। मैं क्षर-अक्षरसे अतीत पुरुषोत्तम हूँ। मेरे धामको सूर्य या चन्द्र प्रकाशित नहीं करते, प्रत्युत मैं उनको प्रकाशित करता हूँ। दूसरे सारे लोक ऐसे हैं, जहाँ जाकर जीवको मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है; परंतु मेरे धामको प्राप्त करनेके बाद जीवात्माको फिर ससारमें नहीं लौटना पड़ता। संसारमें जो कोई देवी-देवता या सत्त्वगुण-प्रधान पदार्थ देखनेमें आते हैं, उनको मेरी विभूति समझो। मेरे विश्वरूपका दर्शन वेद, यज्ञ या उग्र तपसे भी सम्भव नहीं है। वह केवल अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है। तुम मेरे अनन्य भक्त हो, इस कारण मैं तुमको दिव्यचक्षु प्रदान करता हूँ, उससे तुम मेरा दर्शन करो।'

भगवान् पुनः आदेश देते है कि 'शास्त्रविधिका परित्याग करके जो स्वच्छन्द चेष्टा करता है, उसको न तो इस लोकमें सुख या सिद्धि मिलती है और न मरनेपर परमगति ही मिलती है। अतएव तुमको कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयके विषयमें शास्त्रज्ञानको ही प्रमाण मानकर व्यवहार करना चाहिये। यज्ञ, दान और तप—ये मनुष्योंको पावन करनेवाले हैं; इसलिये नरकके द्वाररूप काम, क्रोध और

लोभ—इन तीनों शत्रुओंका त्याग करके यज्ञादि तीनोंका अनुष्ठान करना चाहिये। अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और यज्ञ-यागादिसे प्रसन्न होकर देवता वृष्टि करते हैं; अतएव परस्पर-कल्याणार्थ यज्ञ-यागादि कर्म करने चाहिये। अब तुम्हारे परम हितकी बात कहता हूँ—तुम मुझमें ही मनको लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरा ही भजन-पूजन और आराधन करो।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं सत्य कहता हूँ, इससे तुम मुझको ही प्राप्त होगे। ढिंढोरा पीटकर तुम घोषणा कर दो कि मेरा भक्त यदि कोई दुराचारी और पापी भी हो, तो भी वह सत्सङ्ग और मेरे भजनके प्रभावसे तुरंत ही धर्मात्मा बनकर तर जायगा। तुम जो कुछ धर्म-कर्म करो, वह सब मुझको अर्पण कर दो और एक मेरी ही शरणमें चले आओ, मैं तुमको सब पापोंसे छुडाकर मुक्त कर दूँगा। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताका त्याग कर तुम उठ खड़े हो और मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करो।' भगवान्‌की आज्ञाको सिर चढ़ाकर अर्जुनने युद्ध करके वर्णाश्रम-धर्मका पालन किया, जिससे उसकी अपूर्व विजय प्राप्त हुई और विश्वमें उसकी कीर्ति-पताका फहरायी।

वर्णाश्रम-धर्म किसी मनुष्यका बनाया नहीं है, किंतु साक्षात् ईश्वरकी रचना है। इसे नष्ट करनेका उद्योग करनेसे ईश्वरके प्रति अपराध होता है और अन्तमें अपराध करनेवालेका बुरी तरहसे नाश होता है। वर्णाश्रम-धर्मके नष्ट होनेपर देशमें अंधा-धुंध मच जायगी, प्रजामें वर्णसंकरता फैलेगी और लोगोंकी भयंकर दुर्गति होगी। अतएव अपना तथा समाजका श्रेय चाहनेवाले जो भी लोग हों, उनके लिये वर्णाश्रमधर्मका रक्षण और पालन अवश्य-कर्तव्य है।

स्पृश्यास्पृश्य-विवेक अथवा आचार-विचारका पालन, पवित्र खान-पान, वेदोक्त विधिके अनुसार विवाह और सुदृढ जाति-निर्माण—ये वर्णाश्रमधर्मको सुरक्षित रखनेवाले अभेद्य दुर्ग हैं। ये चारों दुर्ग दृढ हों, तभी वर्णाश्रम-धर्मका अस्तित्व रह सकता है और अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है; तथा अन्तःकरणको शुद्ध करनेके निर्मल हेतुसे ही वर्णाश्रम-धर्मके पालनरूप भगवदाज्ञाका अवलम्बन करनेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं।

अम्बरीष, ध्रुव, प्रह्लाद, रुक्माङ्गद आदि उच्चकोटिके भगवद्भक्त थे। अनन्य भक्तिके वेगमें भी उन्होंने कभी वर्णाश्रम-धर्मका त्याग नहीं किया और इस हेतु भक्तके अधीन रहनेवाले श्रीभगवान्‌को उनके योग-क्षेमकी व्यवस्था करनी पड़ी।

आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त भगवान्‌की भक्ति करते हैं। इनमें निःस्पृही ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ समझा जाता है। तथापि आर्त्त (दुखी), तत्त्वजिज्ञासु और द्रव्यप्राप्तिके इच्छुक भक्त भी प्रभुको प्रिय होते हैं। अतएव श्रेयोऽभिलाषी मनुष्यको सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, कृपालुता, भक्त-वत्सलता एवं उदारताके निधि और थोड़ा सा भी धर्माचरण एवं भक्ति करनेवालेको भी अनन्त फल प्रदान करके महान् भयसे बचानेवाले विश्वम्भर श्रीहरिकी शरणमें सर्वभावसे जाकर उनका भजन करना चाहिये।

जगदीश्वर श्रीहरि सबके प्रति समदृष्टि रखनेवाले तथा समभावापन्न हैं। उनके लिये कोई अपना पराया या शत्रु मित्र नहीं। तथापि कुन्तीपुत्र अर्जुनके प्रति अत्यधिक स्नेहवश उन्होंने दूत और सारथिका काम तथा राजसूय यज्ञके समय ब्राह्मणोंके चरण धोने जैसा कार्य करनेमें भी संकोच नहीं किया, यह देखकर बहुतोंको आश्चर्य होता है।

परंतु भक्ताधीन रहनेवाले श्रीभगवान्‌के इस विलक्षण व्यवहारमें तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है। परम कृपालु भगवान् भावके भूखे हैं और एक-गुना करनेवालेको सहस्र-गुना फल देते हैं। सूरदास, चैतन्य महाप्रभु, जयदेव कवि, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, पुण्डरीक, नरसिंह मेहता, मीरॉबाई और ऐसे ही दूसरे असंख्य भक्तोंके लिये प्रभुने विविध रूप धारणकर, महान् कष्ट उठाकर उनका मनोरथ पूर्ण किया है।

नारायणके सखा नरके अवतार अर्जुन कितनी उच्च कोटिके भक्त थे, इसका अब हमको विचार करना है। एक समय अर्जुन सख्त बीमार पड़े। बहुत अधिक ज्वर हो जानेके कारण वे बेसुध होकर सोये पड़े थे। रानी सुभद्राजी उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं। अर्जुनके रुग्ण होनेका समाचार पाते ही भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीके साथ उनकी स्थिति जाननेके लिये पधारे और अर्जुनका पैर दबाने लगे। भगवान्‌के वहॉ पधारनेकी बात जानकर लोक-पितामह ब्रह्मा नारदजीके साथ पधारे और भगवान् शंकर भी पार्वतीजीको लेकर पहुँचे। जब सब लोग अर्जुनकी ओर देखने लगे, तब उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि अर्जुनके रोम-रोमसे 'जय श्रीकृष्ण' की

ध्वनि निरन्तर रही है और जगत्‌के प्राणियोंको भक्ति-भावमें निमग्न कर रही है। इसका प्रभाव आस-पास खड़े हुए महानुभावोंके ऊपर भी पड़ाः फलतः नारदजी वीणा बजाने लगे, ब्रह्माजी वेदोच्चार करने लगे, उद्धवजी करताल बजाकर नाचने लगे तथा शिवजी डमरू बजाकर ताण्डव-नृत्यमें प्रवृत्त हो गये। अर्थात् अर्जुनके अद्वितीय भक्तिभावको देखकर सब-के-सब शरीरकी सुध-बुध भूल गये!

उसी प्रकार जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण इस लोकको छोड़कर अपने निजधाम गोलोकको पधारे और अर्जुनको इसका समाचार मिला, तब वे भगवान्‌के विरहसे व्याकुल हो तत्काल राज-पाट तथा संसारके सारे पदार्थोंको छोड वल्कल वस्त्र धारणकर अवधूत-वेषमें, कहीं इधर-उधर बिना देखे, भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए उत्तराखण्डमें स्वर्गारोहण करनेके लिये निकल और प्रभुपदको प्राप्त हुए। ऐसे भक्त-शिरोमणि भक्तके भक्तवत्सल भगवान् दासत्व करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

प्रभुकी अनुकम्पासे हमलोग भी अनन्य भक्ति तथा वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए इस पदको प्राप्तकर भाग्यवान् बनें, यही प्रभुके चरणोंमें अभ्यर्थना है।

हरिः ॐ तत् सत्

शिव-ताण्डव

(रचयिता—कविवर श्री'गोपाल'जी)

घन घुमंड सी घुमरि जटा घन घोर घमंडति।
लोल लहर लहि लास्य लटनि लहराति उमंडति॥
नीराजन-सो करत भाल लोचन अमंद दुति।
रजत धार सी वनत परिधि ससधरकी सुचि रुचि॥
आपुस में लहि घात को, मुंडमाल अति कड़-कड़त।
कटि पिनद्ध अति वेग सों व्याघ्र चर्महु फड़फड़त॥

डगमगाति अति उर्वि सेस के फनहु असरन।
आदि कूर्म कसमसत, धसत गिरि उठत नभ चरन॥
डमडम डमरू डमत सूल चमकत अति दमकत।
सर्पन की फुफकार सर्पि, अति धुनि सों धमकत॥
भुवन मंडि भूतेस की भुवन भीति की छय करनि।
साध्य नटनि नटराजकी अनपायिनि मंगल करनि॥

नाग नाचैं अंगनि पै, वक्ष भुजदंडनि पै
जटाभार नाचै चहूँ लहरि लहरि कै;
सृंगी अधरनि नाचै, डमरू उमाचि रहै,
मुंडमाल नाचै उरदेस पै हहरि कै।
'सुकवि गोपाल' भूतपति भव्य ताण्डव में
कविता रसीली नाचै कवि पै सहरि कै;
चंद्र नाचै भाल पै, जटाटवी विसाल वीच
गंग नाचै छींटनि सों छहरि छहरि कै॥

रामायणमें भक्ति

(लेखक—श्रीयुत के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

हिंदुओंमें संस्कृति-प्रेमी एवं धार्मिक वर्गोंकी यह एक विख्यात मान्यता है कि सर्वश्रेष्ठ एव सर्वाधिक जनप्रिय हिंदू महाकाव्य एवं शास्त्र वाल्मीकीय रामायणका प्रधान विषय है भक्ति, प्रपत्ति अथवा शरणागति। यद्यपि भक्ति, प्रपत्ति तथा शरणागति—इन तीन शब्दोंके भावमें सूक्ष्म अन्तर दिखानेका हठधर्मीके साथ प्रयास किया गया है, वास्तवमें वे एकार्थक ही हैं और उनका अभिप्राय है—'जीवकी ईश्वरपरायणता'। यों तो गीतामें 'शरणं व्रज' इन शब्दोंका अन्तके प्रसिद्ध श्लोकों (१८। ६५, ६६) में स्पष्ट प्रयोग किया गया है, परंतु 'भजते' और 'प्रपद्यते' पदोंका उसी अर्थमें स्थान-स्थानपर प्रयोग हुआ है (देखिये—४ । ११; ७ । १४, १९; ९ । ३०, ३२; १० । १०; ११ । ५४; १४ । २६; १५ । ४; १८ । ५५)। 'उपासते' शब्दसे भी वही भाव व्यक्त होता है (९। १४, १५; १२ । २, ६, २०; १३ । २५)। इनके अतिरिक्त जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वे ये हैं—**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।** (१२ । ८) उत्तरकालीन लेखक चाहे जो कहें, सच बात तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण 'परज्ञान' और 'पराभक्ति' दोनोंको समानता देते हैं। पीछेके विचारक दोनोंका भेद दिखानेके लिये कुछ भी कहें, भगवान्‌की उक्ति तो यही है कि परम ज्ञानी तथा परम भक्त दोनों ही उन्हें प्राप्त करते हैं (१२ । १ से ४) और अक्षरोपासक एव ईश्वरोपासक भी उसी लक्ष्यपर पहुँच जाते हैं। वस्तुतः भगवान् 'ज्ञानी', 'नित्ययुक्त' तथा 'एकभक्त'—इन तीनों शब्दोंका ऐसा समन्वय स्थापित करते हैं कि उनका पृथक्करण सम्भव नहीं है। (देखिये—७ । १७, १८, १९; १३ । १०) श्रीकृष्ण 'प्रवेष्टुम्' (११ । ५४) तथा 'विशते' (१८ । ५५) शब्दोंका भी प्रयोग करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरसे पृथक् रहते हुए उनके समान आनन्दके उपभोगकी सम्भावनाके साथ-साथ श्रीकृष्ण ब्रह्मसायुज्यके सुखको भी स्वीकार करते है।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें 'ईश्वरके प्रति अनुराग' को ही भक्तिकी संज्ञा दी गयी है—सा परानुरक्तिरीश्वरे। (२) प्रपत्तिकी व्याख्या करनेवाले निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रचलित हैं—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरण तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

'भगवान्‌के अनुकूल चलनेका संकल्प, उनके प्रतिकूल आचरणका त्याग, वे हमारी रक्षा करेंगे—इसपर विश्वास, रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना, आत्मनिवेदन तथा दैन्य—ये छः शरणागतिके लक्षण हैं।'

ये सभी बातें साथ-साथ रहती हैं। कुछ लोग भक्तिका लक्षण बतलानेके लिये उसके निम्नाङ्कित नौ रूपोंका उल्लेख कर देते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥

(श्रीमद्भागवत, प्रह्लादोपाख्यान, ७ । ५ । २३, २४)

'विष्णुभगवान्‌की भक्तिके नौ भेद हैं—(१) भगवान्‌के गुण-लीला-नाम आदिका श्रवण, (२) उन्हींका कीर्तन, (३) उनके रूप-नामादिका स्मरण, (४) उनके चरणोंकी सेवा, (५) पूजा-अर्चा, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन। यदि भगवान्‌के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—इन शब्दोंसे भक्तिसम्बन्धी एक और तथ्यका ज्ञान होता है। संक्षेपमें, भगवान्‌के प्रति अनुरक्तिजनित सुखका ही नाम 'भक्ति' है।

वैष्णव-सिद्धान्तके अनुसार रामायण शरणागति-परक शास्त्र है। शरणागतिकी भावना सम्पूर्ण ग्रन्थमें व्याप्त है, इसलिये यह वास्तवमें ऐसा ही शास्त्र है। परन्तु इसके साथ यह धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र और मोक्ष-शास्त्र भी है।

'शरणागति' शब्दका निम्नलिखित श्लोकोंमें स्पष्ट प्रयोग हुआ है—

वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ।
सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः ॥*

(बालकाण्ड, १५ । २४-२५)

---

* देवतालोग भगवान् नारायणसे कहते हैं—इसलिये मुनियोंके साथ मिलकर हमलोग उस (रावण) के वधके लिये

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः ॥[१]

(अरण्यकाण्ड ६ । १९)

शरणागति (शरणापेक्षा तथा शरणदान) का सर्वाधिक पूर्ण उदाहरण वास्तवमें विभीषणकी शरणागतिमें ही मिलता है । वे एक श्लोक ऐसा कहते हैं, जिसमें शरणागतिके पूर्वोक्त छहों अवयवोंका समावेश हो गया है—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने ।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम् ॥[२]

(युद्ध० १७ । १७)

श्रीरामद्वारा शरणागतवत्सलताके व्रतका निरूपण निम्नलिखित श्लोकोंमें हुआ है, जो उतने ही प्रसिद्ध हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन ।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम् ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥[३]

(युद्ध० १८ । ३, ३३, ३४)

इसी उदात्त और उदार भावनासे श्रीसीता राक्षसियोंको अभय प्रदान करती हैं, यद्यपि राक्षसियाँ उनसे रक्षा चाहतीं भी नहीं ।

अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ।[४]

(सुन्दर० ५८ । ९२)

उसी भावनासे प्रेरित होकर वे हनुमान्‌को उन राक्षसियोंको दण्ड देनेसे मना करती हैं, जिन्होंने उन्हें डराया-धमकाया तथा व्यथित किया था । वे क्षमाके दिव्य एवं सर्वोच्च सिद्धान्तका इस प्रकार निरूपण करती हैं—

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥[५]

(युद्ध० ११३ । ४३)

रामायणमें आदिसे अन्ततक सभीने—यहाँतक कि रावणने भी भगवान् विष्णुके रूपमें श्रीरामकी भगवत्ताका प्रतिपादन किया है, यद्यपि श्रीराम स्वयं अपनेको मानव ही बतलाते हैं—

आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् ।[६]

(युद्ध० ११७ । ११)

ब्रह्माके नेतृत्वमें सभी देवताओंने रामभक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है—

अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥[७]

(युद्ध० ११७ । ३०)

वाल्मीकिजी विशेष करके अरण्यकाण्डमें यह दिखलाते हैं कि ऋषि शरभङ्गसे लेकर शबरीतक सबके लिये भगवान्‌की कृपाका द्वार खुला है और भगवद्भक्ति सभीको मुक्तिका अधिकारी बना देती है ।

आपके पास आये हैं । सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष आदि सभी आपकी शरणमें आये हैं ।'

१. 'अतः हे राम ! शरण लेने योग्य आपके समीप हमलोग रक्षाकी इच्छासे ही उपस्थित हुए हैं । राक्षसोंके द्वारा मारे जाते हुए हमलोगोंको आप त्राण दें ।'

२. 'सब प्राणियोंद्वारा शरण लेने योग्य उदारहृदय श्रीरघुनाथजीसे शीघ्र जाकर कहिये कि विभीषण आया है ।'

३. 'मित्रभावसे आये हुए विभीषणका त्याग मैं कभी नहीं कर सकता । सम्भव है उसमें दोष हो; पर दोषी शरणागतकी भी रक्षा करना सज्जनोंके लिये निन्दित नहीं है । जो शरणमें आकर एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' कहकर मुझसे रक्षा चाहता है, उसको मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ । यह मेरा व्रत है—मेरा नियम है । वानरश्रेष्ठ ! उसे मेरे पास ले आओ । सुग्रीव ! अब वह चाहे विभीषण हो या स्वयं रावण ही क्यों न हो, मैंने उसे अभय दे दिया ।'

४. सीताजी बोलीं, 'यदि यह बात ठीक हुई तो मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी ।'

५. 'पापी हो, पुण्यात्मा हो अथवा वधके योग्य ही क्यों न हो, सज्जनोंको अपराधियोंपर दया करनी चाहिये, क्योंकि अपराध किससे नहीं होता ।'

६. 'मैं अपनेको दाशरथि रामके रूपमें मनुष्य ही मानता हूँ ।'

७. 'आपके जो भक्त होंगे, वे कहीं असफल नहीं होंगे ।'

श्रीमद्भगवद्गीताका स्वारस्य—प्रपत्ति

(लेखक—शास्त्रार्थ-महारथी प० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

वेदोंका सार उपनिषद् और उपनिषदोंका सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' है—यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। इसलिये 'सर्वशास्त्रमयी गीता' यह शास्त्रीय प्रवाद सर्ववादि-सम्मत है। श्रीमद्भगवद्गीतामें यद्यपि कर्मयोग, साख्ययोग, उपासनायोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि सभी योगोंका निरूपण पाया जाता है, तथापि गीताका हृदय शरणागति किंवा प्रपत्तियोग ही है।

मीमासकोंने ग्रन्थका तात्पर्य निर्णय करनेके साधनोंमें (१) उपक्रम, (२) उपसहार और (३) अनुवृत्ति—ये तीन साधन सर्वोपरि स्वीकार किये हैं। अर्थात् ग्रन्थका आरम्भ किन शब्दोंमें होता है और उपसहार—परिसमाप्ति किन शब्दोंमें होती है तथा बीच-बीचमें भूयोभूयः किन शब्दोंको आम्रेडित किया गया—दुहराया गया है—बस! ये तीन बातें ग्रन्थका हृदय प्रकट करनेमें अपरिहार्य हेतु हैं। अब इस निकष (कसौटी) पर गीताको कसकर देखना चाहिये, जिससे गीताका स्वारस्य 'बावन तोले, पाव रत्ती' जाना जा सके।

उपक्रम

यों तो गीताका आरम्भ 'धृतराष्ट्र उवाच' से होता है; परंतु वास्तवमें पूरे प्रथम अध्याय और दूसरे अध्यायके छठे श्लोकतक तात्कालिक सामरिक स्थिति और गीताकी उपक्रमात्मक पृष्ठभूमिके साथ-साथ भगवान्ने एक लौकिक मित्रकी भाँति अर्जुनको जो उचित परामर्श दिया है, उसका वर्णन है। तभी तो दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

अर्थात् (हे भगवन्!) बुद्धिकी कृपणतारूप दोषके कारण मेरा शौर्यतेजोधृतिसम्पन्न क्षत्रियस्वभाव बदल गया है और धर्माधर्मनिर्णयमें मेरा चित्त सर्वथा मूढ हो गया है, इसलिये मैं आपको स्वकर्तव्य पूछता हूँ।

गीताध्यायी जानते हैं कि युद्धमें अर्जुन एक 'रईस' की भाँति रथी हैं और श्रीभगवान् भक्तिवश आज्ञाकारी सेवककी भाँति 'साईस' बने हुए हैं। अर्जुनने स्वामियोंके स्वरमें ज्यों ही भगवान्को आदेश दिया कि—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत! (१। २१)

अर्थात् हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो!

—भगवान्ने तत्काल हुक्मकी तामील की। परंतु अब जब उपर्युक्त 'कार्पण्य' आदि श्लोकमें अर्जुन अपनी बौद्धिक निर्बलता और किंकर्तव्यविमूढताको स्पष्ट स्वीकार करता हुआ कर्तव्योपदेश चाहता है, तब भगवान् मौन हैं, कुछ बोलते ही नहीं। अर्जुनने भगवान्की चुप्पीपर चकित होकर पुनः कहा—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (२। ७)

अर्थात् (हे प्रभो!) जो मेरे लिये कल्याणकारी बात हो, उसे निश्चितरूपेण कहिये।

भगवान् फिर भी चुप रहे। उन्होंने मनमें विचार किया कि "मैं यहाँ सारथ्य करने आया हूँ, गुरु बनकर उपदेश देने नहीं। 'रईस' को 'साईस' कभी उपदेश नहीं दे सकता। तत्त्वोपदेश गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय-पद्धतिसे ही देय और ग्राह्य हो सकता है। मैत्रीपूर्ण परामर्श तो मैं अबसे पूर्व दे ही चुका हूँ। अतः जबतक अर्जुन साम्प्रदायिक पद्धतिसे शिष्यत्व स्वीकार नहीं करता, तबतक तत्त्वोपदेश नहीं दिया जा सकता।"

अब तो अर्जुन भगवान्के मौनावलम्बनपर अत्यधिक विचलित हो उठा और विनयपूर्वक बोला—

शिष्यस्तेऽहम् (२। ७)

अर्थात् (हे गुरो!) मैं आपका शिष्य हूँ। (आप मुझे शिक्षा दीजिये।)

भगवान् फिर भी चुप रहे और मन-ही-मन अर्जुनकी अवसरवादितापर मुस्कराने लगे। 'अहो! ये नवाबी और अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये कैसे-कैसे प्रपञ्च रचते हैं। अर्जुन जब किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ, तब झूठमूठ मेरा वाचिक शिष्य बनकर अपना काम निकालनेको हाथ पैर मारने लगा। भला! मैं तुझसे पूछता हूँ कि तू मेरा शिष्य किस दिन बना था? तूने कब, कौन दीक्षा ग्रहण की थी? क्या वाणीद्वारा कह देनेमात्रसे कोई किसीका शिष्य बन जाता है! फिर तू यों तो मेरा शिष्य होनेकी बात अपने मुखसे कह रहा है! तुमने भी पूछ देखा है कि मैं भी तेरा गुरु बननेको प्रस्तुत हूँ या नहीं!' इत्यादि।

अब तो अर्जुनको भगवान्‌का यह मौन-धारण असह्य हो उठा ! वे अतीव आतुर होकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक गद्गद कण्ठसे बोले—

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (गीता २ । ७)

अर्थात् (हे देवाधिदेव !) *मैं आपकी शरणमें आ* पड़ा हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये ।

बस, जब अर्जुनके मुखसे 'प्रपन्नम्' शब्द निकला, तब भगवान्‌ने सोचा कि अब मौन धारण किये काम न चलेगा । अब तो शरणागत अर्जुनको तत्त्वोपदेश देना ही पड़ेगा । संसारके अन्यान्य सभी सम्बन्ध उभय पक्षकी सम्मतिसे ही स्थिर होते हैं । उदाहरणके लिये किसीकी लड़की और किसी-का लड़का है; ज्यों ही दोनों पक्षोंके अभिभावक 'समधी'— समान बुद्धिवाले हुए त्यों ही वर-कन्याका दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थिर हो गया । इसी प्रकार जब गुरु और शिष्य दोनोंने उभय-सम्मतिसे 'सह नाववतु' पढ़ा कि गुरु-चेला बन गये । परंतु शरण्य और शरणागतके 'प्रपत्ति' रूप सम्बन्धमें उभयपक्षकी सहमति अपेक्षित नहीं । जब किसी विपन्न आतुरको आत्म-त्राणका अन्य कुछ उपाय न सूझा और मरने लगा, तब वह एकमात्र अमुकको अपना रक्षक मानकर 'तवास्मि, शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर शरणमें आ पड़ा । आतुरको इतनी फुरसत कहाँ कि पहले शरण्यको टेलीफोनपर पूछकर या प्रार्थना-पत्रका फार्म भरकर शरणमें आनेकी स्वीकृति ले । ऐसी दशामें प्रपत्ति ही एकमात्र ऐसा सम्बन्ध है, जिसे शरण्यसे बिना पूछे ही शरणागत अकेला स्थापित कर लेता है । तथास्तु; अतः भगवान्‌के चुप रहनेका अब कोई कारण नहीं रहा और भगवान्‌ने उपदेश आरम्भ कर दिया ।

पाठक खूब ध्यान दें कि जो भगवान् उपर्युक्त श्लोककी वाक्य-रचनाके अनुसार अर्जुनके बार-बार 'पृच्छामि', 'ब्रूहि' और 'शाधि' कहनेपर भी टस-से-मस न हुए, वे ही शरणागतवत्सल भगवान् 'प्रपन्नम्' शब्द सुनते ही सब उपनिषदोंके अमृतमय दुग्धको भर-भर कटोरे अपने हाथों अर्जुनको पिलानेके लिये कटिबद्ध हो गये और तबतक शान्त न हुए, जबतक स्वयं अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (१८ । ७३) नहीं कहा । इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका वास्तविक उपक्रम—आरम्भ 'प्रपत्ति' से होता है ।

उपसंहार

भगवान्‌ने गीतामें सांख्य, कर्म, उपासना, ज्ञान आदि सभी योगोंका विशद निरूपण किया; परंतु अठारहवें अध्यायके ६६ वें श्लोकमे उपसंहार करते हुए 'प्रपत्तियोग'से प्रारम्भ किये हुए अपने तत्त्वोपदेशका पर्यवसान भी 'प्रपत्तियोग' में ही किया । भगवान् बोले—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अर्थात् (हे अर्जुन !) सब धर्मोंको छोड़कर (सर्वोपरि प्रायश्चित्तभूत धर्म) मेरी अनन्य शरणमें चला आ ! मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताका उपसंहार भी 'प्रपत्ति' में ही हुआ है ।

अनुवृत्ति

गीताके बीच-बीचमें तो पदे-पदे भक्ति-प्रपत्ति-शरणागति-की ही अनुवृत्तिका उल्लेख विद्यमान है । यथा—

(क) ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । (४ । ११)

(ख) मद्भक्ता यान्ति मामपि । (८ । २३)

(ग) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य······तेऽपि यान्ति परां गतिम् । (९ । ३२)

(घ) यो मद्भक्तः स मे प्रियः । (१२ । १४–१६)

(ङ) तमेव शरणं गच्छ·········स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् । (१८ । ६२)

(च) मामेकं शरणं व्रज । (१८ । ६६)

(छ) भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः । (१८ । ६८)

(क) जो जिस रीतिसे मेरी शरणमें आता है, मैं भी उसको उसी भावसे ग्रहण करता हूँ ।

(ख) मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं ।

(ग) हे पार्थ ! शूद्रादि भी मेरी शरणमें आकर परम गतिको पा जाते हैं ।

(घ) जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ।

(ङ) उस भगवान्‌की शरणमें चला जा; उससे तुम्हें मोक्षपदकी प्राप्ति हो जायगी ।

(च) एकमात्र मेरी शरणमें चला आ ।

(छ) मुझमें उत्कृष्ट भक्ति करके निस्सदेह मुझे प्राप्त हो जायगा ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें 'प्रपत्ति'-बोधक शताधिक प्रमाण विद्यमान हैं ।

प्रपत्तिका वैशिष्ट्य

इसके अतिरिक्त एक और भी रहस्य मननीय है कि गीतामें जहाँ अन्यान्य विषयोंका निरूपण भगवान्‌ने 'प्रहसन् इदम् अब्रवीत्' के अनुसार हँसते-हँसते किया है, वहाँ शरणागतिका निरूपण उपस्थित होनेपर उसे न केवल हास्य-विनोदसे बचकर बड़ी गम्भीरतापूर्वक ही कहा है, अपितु अर्जुनको डाँट-डपटकर भी शरणमें आनेको बाध्य किया है और अप्रपन्नोंको उग्र भाषामें कोसा भी है। जैसे लोकके वृद्धजन अपने पुत्रादिको साधारण बातें तो साधारण शब्दोंमें बतला देते हैं, परंतु अवश्यकरणीय बातको बड़ी गम्भीरताके साथ सचेत और सावधान करते हुए आदेशरूपमें कहा करते हैं, ठीक उसी प्रकार गीतामें सांख्य, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग आदि विषयोंका निरूपण तो साधारण शब्दोंमें उपनिबद्ध है, परंतु 'प्रपत्तियोग' का वर्णन असाधारण चेतावनीपूर्ण सचोट शब्दोंमें अङ्कित है, जिससे यही विषय भगवान्‌का हार्द प्रतीत होता है। हम पाठकोंके विचारार्थ यहाँ एक-आध उदाहरण अङ्कित करते हैं। यथा—

(क) न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

(ख) अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८। ५८)

अर्थात् (क) जो मेरी शरणमें नहीं आते, वे पापी हैं, मूढ हैं, नराधम हैं, आसुरभावसम्पन्न हैं, उनके ज्ञानको मायाने हर लिया है।

(ख) यदि अहंकारवश तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा—गिर जायगा।

उपर्युक्त पहले पद्यमें 'न मां प्रपद्यन्ते' इतना तो मूल वाक्य है, शेष पाँच उग्र वचन हैं। जब अप्रपन्नोंको पापी, मूढ, नराधम और मायावश नष्टज्ञान कहनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ, तब आवेशमें आकर उन्हें 'आसुरं भावमाश्रिताः' तक कह डाला, जिसका सीधा-सीधा अर्थ यह होता है कि 'मेरी शरणमें न आनेवाले आसुरी स्वभाव हैं।' दूसरे पद्यमें तो आवेशका स्तर इतना ऊँचा हो गया कि भगवान्‌ने अपनी बात अनसुनी कर देनेपर अर्जुनको सम्भावित अकल्याणकी चेतावनीमात्र देना ही पर्याप्त नहीं समझा अपितु विनष्ट हो जानेका धमकीपूर्ण शाप सहन करनेको उद्यत रहनेके लिये भी आतङ्कित कर दिया।

इससे सिद्ध है कि सर्वशास्त्रमयी गीताका फलितार्थ एकमात्र 'प्रपत्तियोग' है। इसी कारण गीताके मुख्य तात्पर्यात्मक एवं हृदयभूत इस मार्गमें अकारण-करुण करुणा-वरुणालय श्रीमन्नारायण समस्त जीवोंको अर्जुनके व्याजसे परिनिष्ठित करना चाहते हैं।

मुक्तिका चरम साधन एकमात्र 'प्रपत्ति' है। शास्त्रान्तरमें इसी तत्त्वको अन्यान्य नाम देकर मोक्षका हेतु बताया गया है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आदि वेद-वाक्योंमें 'ज्ञान' शब्दका तात्पर्य 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः' के अनुसार शक्तिग्रहपूर्वक 'स्थाणुरयम्, पुरुषोऽयम्' जान लेनामात्र नहीं है; अपितु 'जीव सर्वथा और सर्वदा भगवदाश्रित हुए बिना सर्वविध उपप्लवोंसे अत्यन्त निवृत्ति नहीं पा सकता'—यह तत्त्व हृदयंगम कर लेना ही वास्तवमें मोक्षका अव्यभिचरित साधन है। इसी प्रकार मोक्षदायिनी भक्तिका तात्पर्य भी 'भजनं भक्तिः' के अनुसार श्रवण-कीर्तन मात्र नहीं, अपितु उक्त आरम्भिक श्रेणियोंको लाँघते-लाँघते अन्तिम कक्षा 'आत्मनिवेदन' में आरूढ़ हो जाना ही मुक्तिका साक्षात् साधन है। इसलिये ज्ञानकी पराकाष्ठा, भक्तिकी चरम दशा, आत्मनिवेदन, अथच शरणागति—ये सब 'प्रपत्ति' के ही अभिन्न नामान्तर हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रवादोंका समन्वयात्मक सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ है, अतएव इसमें सब वादोंका यथावत् निरूपण करते हुए भी श्रीमन्नारायण भगवान्‌ने 'प्रपत्तियोग' का सर्वोपरित्व सुस्थिर किया है, जो उपक्रम, उपसंहार तथा अनुवृत्ति आदि प्रमाणोंद्वारा सुसिद्ध है।

भगवान्‌का निज गृह

वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(रामचरित० अयोध्या०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्ति

(लेखक—श्रीपाण्डुरङ्ग अथावले शास्त्रीजी)

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे यह प्रश्न पूछते हैं कि 'जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन निरन्तर आपके भजन और ध्यानमें लगे हुए आपके सगुणरूपकी उपासना करते हैं और जो ज्ञानीजन आपके अविनाशी सच्चिदानन्द निर्गुण निराकार तत्त्वकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन है ?'

वास्तवमें यह प्रश्न भगवान् श्रीकृष्णको अत्यन्त कठिन परिस्थितिमें रख देता है। यदि कोई व्यक्ति मातासे यह पूछे कि उसका प्रेम उसके पाँच वर्षके बालकपर अधिक है या पचीस वर्षके युवा पुत्रपर ? उस समय माताकी जो स्थिति होगी, वैसी ही स्थिति भगवान्‌की यहाँपर हुई है; क्योंकि माताकी दृष्टि दोनोंपर समान ही है। किंतु प्रत्यक्ष सत्य इसके विपरीत है। माता पाँच वर्षके बालकके सभी काम स्वयं करती है और पचीस वर्षके युवक पुत्रको अपने काम अपने हाथोंसे ही करने पड़ते हैं। इसलिये भगवान् इन दोनों प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते समय अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२।२—४)

उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान् स्पष्टरूपसे कहते हैं कि 'दोनों प्रकारके भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं—दोनों ही मेरे हैं और मैं दोनोंका हूँ। किंतु जहाँ साधनाका प्रश्न आता है, वहाँ दोनोंमें अन्तर है। यद्यपि सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनोंका लक्ष्य, दोनोंका साध्य एक ही है, फिर भी साधनाकी दृष्टिसे सगुणोपासना सीधी, सरल और सुखद है तथा निर्गुणोपासना टेढ़ी, कठिन और दुःखद है। इस भूमिकाका स्पष्टीकरण करते हुए ही भगवान् कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता १२।५)

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, निराकार ब्रह्मस्वरूप परमात्माके निर्गुण भावकी प्रतीति बुद्धिगम्य और अव्यक्त होनेके कारण इन्द्रियोंद्वारा उसकी अनुभूति नहीं होती। इसी कारण निर्गुणकी उपासना क्लेशमय होती है। किंतु दोनों प्रकारके स्वरूपोंमें जो परमेश्वर अचिन्त्य, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी हमारे ही समान हमसे बातचीत करेगा, हमारे ऊपर ममत्व रखेगा, जिसे हम अपना कह सकेंगे, जो हमारे सुख-दुःखोंको सुन और समझ सकेगा और हमारे अपराधोंको क्षमा कर देगा और जिसे हम अपना और जो हमें अपना कह सकेगा और जिससे ऐसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाँधा जा सकेगा, जो पिताके समान हमारी रक्षा करेगा, जो हमारा भाई, पति, पोषणकर्ता, स्वामी, साक्षी, विश्रान्ति-स्थान, आधार और सखा है और जो माँके समान हमें अपने छोटे बालककी भाँति सँभालेगा—ऐसा जो सत्यसंकल्प, सकलैश्वर्य-सम्पन्न, दयासागर, भक्तवत्सल, परम पावन, परमोदार, परम कारुणिक, परम पूज्य, सर्वसुन्दर, सकलगुणनिधान, सगुण और प्रेममय परमेश्वर है, उसका स्वीकार मनुष्य भक्ति करनेके लिये सहज ही कर लेगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि सगुण भक्तिका साधनमार्ग राजमार्ग है और निर्गुणोपासनाका मार्ग ऊबड़-खाबड़, पत्थरों, काँटों और झाड़ियोंसे संकुल वनपथ है। इस सगुण भक्तिमार्गका रहस्योद्घाटन भगवान् गीताके नवें अध्यायके आरम्भमें करते हैं—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(गीता ९।१-२)

अर्थात् सगुणोपासना, राजयोग या भक्तिमार्ग ज्ञान-विज्ञानसे संयुक्त, परम पवित्र, प्रत्यक्ष, धर्मयुक्त और सुखकर है। किंतु यह बात समझमें आनी बहुत कठिन है। इसीलिये भगवान्‌ने इसे 'राजविद्या राजगुह्यम्' कहा है।

सर ए. डी. एडिंग्टन लिखते हैं—

"In history religious mysticism has often been associated with extravagances that cannot be approved........

"A point that must be insisted on is that religion or contact with spiritual power, if it has any general importance, must be a commonplace matter of daily life and it should be treated as such in any discussion"

("The Nature of the physical World" by Sir A. D Eddington)

अर्थात् भक्ति-मार्ग अतिशयोक्तिपूर्ण है, यह कहते हुए भी उसकी सर्वसाधारणके लिये दैनन्दिन जीवनमें महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है—यह एडिंग्टन-जैसे विद्वानोंको भी स्वीकार करना पड़ा है।

जिस प्रकार ज्ञान-मार्गका मुख्य आधार शक्ति और बुद्धि हैं, उसी प्रकार भक्ति-मार्गका मुख्य आधार श्रद्धा और विश्वास हैं। जगत्में ऐश्वरी सत्ताकी प्रतीतिके लिये ग्रन्थोंके अध्ययन, अभ्यास, विद्वत्ता, अधिकार इत्यादिकी आवश्यकता नहीं है। मान लीजिये एक जङ्गली मनुष्य किसी जङ्गलमें सो गया है और वह जब उठता है, तब अपने चारों ओर पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदी इत्यादिको देखता है और विचार करता है कि 'ये सब मैंने तो तैयार किये नहीं और मैं कर भी नहीं सकता। फिर, ऐसी कोई वरिष्ठ सत्ता होनी ही चाहिये, जिसने यह चित्र-विचित्र और आश्चर्यमय जगत् निर्माण किया है।' इसी प्रकार यदि थोड़ा और विचार किया जाय तो सहज ही यह समझमें आ जायगा कि इस बाह्य जगत्की प्रतीतिका कारण मेरे अदर ही है अर्थात् वह मेरे पास ही है; क्योंकि मैं हूँ और मेरा अस्तित्व है, तभी मेरे लिये बाह्य जगत् और उसके दृश्योंका अस्तित्व है। जगत्में सुगन्ध है, इसकी प्रतीति घ्राणेन्द्रियद्वारा होती है; नाकके बिना चमेली, जूही, मोगरा, गुलाब आदिकी सुगन्ध निरर्थक है। इसी प्रकार रसोंकी प्रतीति जिह्वासे, सुन्दरताकी प्रतीति नेत्रोंसे होती है।

अब प्रश्न यह है कि यह बाह्य दृश्य जगत् अचिन्त्य प्रभु-सत्ताद्वारा क्यों निर्मित हुआ? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि प्राणिमात्रको ऐश्वरी सत्ताकी प्रतीति हो, ईश्वरपर श्रद्धा और विश्वास हो—इसके लिये ही यह समस्त जगत् निर्माण किया गया है। परंतु यह उत्तर बौद्धिक है। इससे भी अधिक हृदयग्राही उत्तर यह है कि यह समस्त विश्व मेरे ईश्वरने मेरे लिये ही निर्माण किया है। इस उत्तरसे विश्वम्भर, विश्व और मेरे बीचका जो व्यवधान है, जो पर्दा है, वह हट जाता है और मेरा एवं प्रभुका सम्बन्ध अत्यन्त निकटका अर्थात् प्रिय और प्रियतमका स्थापित हो जाता है। विश्वरूप-दर्शनके पश्चात् अर्जुन गीतामें यही बात कहते हैं—

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
(११।४४)

'पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करता है—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।'

यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रेकेजेक (Recejec) ने इस प्रेममय सम्बन्धकी आन्तर एवं बाह्य अनुभूति इन शब्दोंमें व्यक्त की है—

"I live, yet not I, but God in me."

अर्थात् मैं जीवित हूँ। पर मुझमें मेरा 'अहम्' नहीं है, मुझमें मेरा ईश्वर ही ओत-प्रोत है।

"Mere perceiving of Reality would not do, but participating in It, possessing and being possessed by It."

अर्थात् केवल सत्यका अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है, (केवल ऐश्वरी सत्ताका ज्ञान ही सब कुछ नहीं है) किंतु भीतर-बाहर उसीसे ओत-प्रोत हो जाना ही सच्ची भक्ति है। यदि एक शब्दमें कहें तो—'गोपीवत्'। प्रभास-क्षेत्रमें गोपियोंने भगवान्के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपका वर्णन करते हुए जो भक्तिका रहस्योद्घाटन किया है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है—

आहुश्च ते नलिनाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥
(श्रीमद्भा० १०।८२।४९)

'हे पद्मनाभ! तुम्हारे चरणारविन्द अगाध ज्ञानी योगेश्वरोंद्वारा हृदयोंमें चिन्तनीय बताये गये हैं। संसारकूपमें गिरे हुए हम जीवोंके अवलम्बरूप ये चरण गृहस्थोंकी झंझटों-मे फँसी हुई हम सबके हृदयोंमें भी सदा प्रकट रहें।'

इसी प्रकारकी अनुभूतिका वर्णन रसिकवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने किया है—

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को अब देखिए का।
सुख छोड़ि के संगम को तुम्हरे इन तुच्छन को अब लेखिए का॥

हरिचंदजू हीरन को बेवहार कै काँचन को लै परेखिए का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यौ, उन आँखिन सौं अब देखिए का॥

अतएव हमारे उस ईश्वरको देखनेके लिये प्रेमका चश्मा लगाना पड़ेगा। इसीके लिये स्वामी विवेकानन्दने अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंसके सामने यों आत्मनिवेदन किया था—

कत दिन हवे से प्रेम संचार।
हये पूर्णकाम, बोलिबो हरिनाम, नयने वहिबे अश्रुधार॥
कबे हबे आमार शुद्ध प्राण मन, कबे जाबो आमि प्रेमेर वृन्दावन।
संसार बंधन हइबे मोचन, ज्ञानाञ्जन जाइबे लोचन आँधार॥
कबे परशमणि करे परशन, लौहमय देह होइबे काञ्चन।
हरिमय विश्व करिबो दर्शन, लुटाइबो भक्तिपथे अनिवार॥
हाय! कब जाबे आमार धर्म कर्म, कबे जाबे जाति-कुलेर मर्म।
कबे जाबे भय भावना श्रम, परिहरि अभिमान लोकाचार॥
माखि सर्व अंग भक्त पद धूलि, काँधे लये विर वैराग्यो झूलि।
पिब प्रेम वारि दुइ हात तूलि, अञ्जलि अञ्जलि प्रेम यमुनार॥
प्रेम पागल हये हाँसिबो काँदिबो, सच्चिदानंद सागरे भासिबो।
आपनि मातिए, सकले मातावो, हरिपदे नित्य करिबो विहार॥
(श्रीरामकृष्ण परमहंस कथामृत (बँगला) पहला भाग)

'उस प्रेमका संचार कब होगा?

'जब पूर्णकाम होकर, हरिनामकी रट लगाऊँगा और आँखोंसे अश्रुधारा बहेगी। मेरे प्राण-मन कब शुद्ध होंगे, कब मैं प्रेमके वृन्दावन जाऊँगा? (कब) संसारका बन्धन टूटेगा, और ज्ञानाञ्जनके प्रभावसे आँखोंका अन्धकार दूर होगा। कब प्रेमरूपी पारस-मणिका स्पर्श करके मेरा लौहमय देह कञ्चन हो जायगा? (कब) विश्वको हरिमय देखूँगा, भक्तिपथमें बेबस होकर लोटूँगा। हाय! मेरे धर्म-कर्म कब छूटेंगे, कब जाति-कुलका अभिमान दूर होगा? कब भय-चिन्ता-श्रम जायँगे? (कब) लोकाचारके अभिमानको छोड़कर, सारे अङ्गमें भक्तकी चरण-धूलि लपेटकर, कधेपर स्थायी वैराग्यकी झोली लेकर प्रेम-यमुनाका प्रेम-सलिल दोनों हाथोंमें लेकर अञ्जलि भर-भरकर पीऊँगा? (कब) प्रेममें पागल होकर हँसूँगा, रोऊँगा, सच्चिदानन्द-सागरमें डूबूँ-उतराऊँगा, स्वय मतवाला होकर सबको मतवाला बनाऊँगा और नित्य श्रीहरि-चरणोंमें विहार करूँगा?'

उक्त प्रकारसे प्रभुके साथ प्रेमका सम्बन्ध स्थापित हो जानेके पश्चात् प्रत्येक देश, काल और परिस्थितिमें, प्रत्येक व्यवहारमें प्रभु-स्मरण होता रहेगा। इस प्रकारके प्रेमकी प्रतीति, उसमें श्रद्धा और विश्वास तथा दृढ़ताका नाम ही भक्ति है। इस प्रकारके प्रेम-सम्बन्धको जानने-समझनेके लिये किसी प्रकारके अधिकारविशेष, विद्वत्ता, तर्क या अनुमानकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रभुशक्तिने जगत्‌के लिये हवा-पानी और सीखनेके लिये ज्ञान (सवेदन-शक्ति) की निःशुल्क व्यवस्था की है, उसको जानना और समझना कितना सीधा और सरल है।

ऐश्वरी सत्ताको अपना लेनेपर यह सहज ही समझमें आ जाता है कि 'रात-दिन प्रभु मुझे सँभालते हैं, जगाते हैं, सुलाते हैं, खाया हुआ पचाते हैं, मेरे शरीरमें रहकर मेरी रक्षा करते हैं। उन्हींकी सामर्थ्यसे मेरी जीवन-नौका चलती है। मेरी प्रत्येक कृति उन्हींकी सत्तासे सम्पन्न होती है। अतएव इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं और उनके व्यापार भी मेरे नहीं। इसलिये प्रत्येक कर्म प्रभुको अर्पण करना—यही मेरा काम है। मेरी धारणा है कि गीताके निम्न श्लोकमें यही प्रतिपादन किया गया है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९। २७)

इसी भक्तिभावको एक ईसाई संतने यों व्यक्त किया है—

Oh to be nothing, nothing!
Only to lie at his feet
A broken and empty vessel,
For the master's use made meet,
Empty that he may fill me,
As forth to his services I go—
Broken so that more freely
His life through mine may flow.

गीतामें अर्जुनकी भूमिका एक संशयात्माकी भूमिका है। गीताके प्रथम अध्यायमें अर्जुन बुद्धिवादद्वारा अपनी कर्तव्यच्युतिको छिपानेका प्रयत्न करते हैं। इस बुद्धिवादी संशयका उत्तर भगवान् गीताके सातवें अध्यायतक बुद्धिवादद्वारा ही देते हैं। इसके फलस्वरूप अर्जुनको बौद्धिक शान्ति प्राप्त होती है। वे जगत् और व्यवहारका योग्य दृष्टिकोण प्राप्त होनेके पश्चात् आठवें अध्यायके आरम्भमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत्‌के रहस्योंको जाननेकी इच्छासे यह प्रश्न पूछते हैं—

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥
(गीता ८। १-२)

अर्जुनके उक्त प्रश्नोंका उत्तर भगवान् गीताके आठवें और नवें अध्यायोंमें विस्तारपूर्वक देते हैं। इससे अर्जुनकी सूक्ष्मजगत्-सम्बन्धी शङ्काओंका समाधान हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके तात्त्विक स्वरूपको जान लेनेपर कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
(गीता १० । १२)

किंतु परब्रह्मके उक्त स्वरूपको जान लेने और समझ लेनेके पश्चात् स्वभावतः अर्जुनके मनमें उसके प्रत्यक्ष दर्शनकी इच्छा जागती है और ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपदर्शनके पश्चात् उसकी समझमें आता है कि यह स्वरूप इतना महान् है कि इसकी उपासना या भक्ति करना असम्भव है। अतएव वह फिर भगवान्से सौम्यस्वरूप कृष्णवपु धारण करनेकी प्रार्थना करता है।

इस प्रकार ग्यारहवें अध्यायतक अर्जुनके सभी संशयोंका उच्छेद हो जाता है और वह निःसंशय हो जाता है। तथापि भगवान् उससे अपने उपदेशोंके अनुसार जो कार्य कराना चाहते थे, उसे करनेकी उत्कण्ठा अर्जुनमें नहीं दिखायी देती। बुद्धिवादका यह वैगुण्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। संशय-शमनके पश्चात् कृतिशीलता अथवा प्रभु-कार्य करनेकी उत्कट अभिलाषाका निर्माण करनेके लिये ही भगवान्को बारहवें अध्यायमें फिरसे भक्तिका रहस्य विस्तारपूर्वक अर्जुनको समझानेकी आवश्यकता हुई; क्योंकि केवल ज्ञानद्वारा निःसंशय हुआ जीव पङ्गु एवं स्थिर (Static) हो जाता है। उसे फिरसे कृतिशील बनानेके लिये श्रद्धाकी प्रेरक शक्ति (Dynamic force of faith) की आवश्यकता होती है; इसी प्रेरक-शक्तिका नाम 'भक्ति' है।

अर्जुनकी इस स्थितिका मुख्य कारण यह है कि भगवान्ने गीतामें दूसरे अध्यायसे आठवें अध्यायतक जिस बुद्धियोग (कर्मयोग) का तर्कशुद्ध मार्गदर्शन किया, वह अभीष्ट-फलदायी है—यह बात अर्जुनकी समझमें आ गयी, किंतु प्रत्यक्ष कर्म करते हुए उसके फलमें निरपेक्षता और अहंकार-शून्यताका जो उपदेश श्रीकृष्णने दिया, वह उसकी समझमें उतना नहीं उतरा। प्रत्यक्ष कर्म करते हुए फल-निरपेक्ष और अहंकार-शून्य रहना बहुत कठिन है। ऐसा मैं कर सकूँगा, यह विश्वास अर्जुनको नहीं था। अतएव कृतिकालीन अहंकर्तृत्व और कर्मफलके त्यागसे भी सरल—कृत्युत्तर सभी कृतियाँ ईश्वरार्पण करनेका एक अन्य पर्याय अर्जुनके सामने रखकर भगवान्ने भक्तिका एक नया उद्देश और मार्ग प्रतिष्ठापित किया।

गीतामें जो ज्ञानयोग और भक्तियोगका समन्वय कर्मयोगमें किया गया है, उसके दो पक्ष हैं—एक आन्तर भक्ति और दूसरी बहिर्भक्ति। आन्तर भक्तिद्वारा व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास और बहिर्भक्तिद्वारा व्यक्तिगत विकासको समष्टिके विकासमें जोड़ना होता है। इन दोनों प्रकारकी भक्तिके समन्वयका नाम ही पराभक्ति या फलरूपा भक्ति है। आन्तर भक्तिमें सगुणोपासनाद्वारा चित्तशुद्धि एवं निर्गुणोपासनाद्वारा निष्कामता तथा ध्यानद्वारा पूर्णताका अनुभव प्राप्त करनेका रहस्य गीतामें समझाया गया है। साथ-ही-साथ जो ईश्वर मेरा पालन-कर्ता और पिता है, उसका यह जगत् है; इसलिये इस जगत्को सुधारनेका प्रयत्न करना मेरा पवित्र कर्तव्य है—यह समझकर अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासनद्वारा प्रभुके ज्ञानमय और प्रेममय स्वरूपकी भक्ति करनेका मार्गदर्शन जगत्को देनेके कार्यमें योगदान करना—यही बहिर्भक्ति है। विश्वम्भर और विश्वरूप परमेश्वर दोनोंकी उपासना एक साथ चलनी चाहिये। जो लोग ऐसा नहीं करते और केवल खाना-पीना और मौज करना ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
(गीता ९ । १२)

अर्थात् ऐसे वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी एवं मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं।

आज इस जगत्में जडवाद चारों ओर नग्न नृत्य कर रहा है। मानव-जीवनमें सदाचार, नैतिकता, सात्त्विकता, सुसंस्कारिता, पूर्वजोंके प्रति आदरभाव और ईश्वरप्रेमका नितान्त अभाव हो गया है। इस जडवादके विरुद्ध जो भगवद्भक्त प्रभुकार्य करनेके लिये अपना समस्त जीवन अर्पण करते हैं, उनको आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९ । २२)

अर्थात् ऐसे प्रभुकार्यमें सतत संलग्न भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं चलाता हूँ। जो भक्त यों नहीं कर सकते, किंतु यथाशक्ति, यथोचित एवं यथासम्भव प्रभुकार्य करनेके लिये

तैयार रहते हैं, उन्हें भी भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

किंतु यदि कोई यह कहे कि 'मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, मुझसे प्रभु-कार्य कैसे हो सकेगा, अथवा मैं दुराचारी हूँ, मैं क्या करूँ?' उन्हें भी भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इसी प्रकार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि उच्च वर्णोंमें नहीं हैं, उनको भी भगवान् आश्वासन देते हुए कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

और अन्तमें सभीको कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९। ३४)

अतएव आबाल-वृद्ध-नर-नारी सभी प्रभुकी आन्तर एवं बाह्य भक्तिद्वारा व्यक्तिगत और वैश्विक विकासमें अपना योगदान करते रहें—यही श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तियोगका सार-तत्त्व है।

याचना

देव! दया कर तनिक देख लो, और नहीं कुछ मुझे चाहिये।
पद-पद्मोंकी भक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये॥
काम-क्रोध औ लोभ-मोहमें, पीस रहा संसार।
काल कराल व्याल-सम पीछे, दुखका पारावार॥
सहनेकी कुछ शक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये। पद०॥ १॥
दौड़ा चारो ओर जगतमें, लेकर सुखकी चाह।
अन्धकारमय भवाटवीमें, मिली न कोई राह॥
राह-प्रदर्शक व्यक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये॥ पद०॥ २॥
कालिन्दीके कलित कूलपर, हरित कदँबकी छाहँ।
वंशीधरकी वंशी बजती, दे राधा गलबाहँ॥
युगल-चरण-अनुरक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये।
पद-पद्मोंकी भक्ति मिले बस, और नहीं कुछ मुझे चाहिये॥

—शिवनाथ दुबे

नारद-पञ्चरात्रमें भगवच्चिन्तन

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव, बी० ए०)

पाञ्चरात्र-शास्त्र पापनाशक, पुण्यप्रद और पवित्र भोग-मोक्षप्रदायक है। वह भगवत्तत्त्वका परिज्ञान कराता है। जयाख्यसहितामें कहा गया है—

अज्ञाते भगवत्तत्त्वे दुर्लभा परमा गतिः।

(जयाख्यसहिता १ । ३८)

'जबतक भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो जाता, परम गति—अविकल मुक्ति दुर्लभ ही है।' विषयार्णवमें निमग्न प्राणियोंके समुद्धरणपर पाञ्चरात्र-शास्त्रमें अमित प्रकाश डाला गया है। पाञ्चरात्र-शास्त्रका वर्णन चतुर्वेदसमन्वित महोपनिषद् कहकर किया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें भगवान् व्यासका कथन है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।

जिस प्रकार अमृत पी लेनेपर किसी अन्य वस्तुमें स्पृहा नहीं रह जाती, उसी प्रकार पाञ्चरात्रका ज्ञान हो जानेपर सतोंकी स्पृहा किसी दूसरेमें नहीं रहती—

यथा निपीय पीयूषं न स्पृहा चान्यवस्तुषु।
पञ्चरात्रमभिज्ञाय नान्येषु च स्पृहा सताम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १ । ८२)

श्रीशिवने नारदसे कहा कि तीनों लोकोंमें इस पाञ्चरात्रज्ञानकी प्राप्ति बहुत कठिन है। यह प्रकृतिसे परे है, सबका इष्ट है और सब इसकी वाञ्छा करते हैं; कारणोंका कारण तथा कर्मके मूलका नाशक, अनन्तबीजरूप और अज्ञानान्धकारके नाशके लिये दीपक-सदृश है—

प्रकृतेः परमिष्टं च सर्वेषामभिवाञ्छितम्।
स्वेच्छामयं परं ब्रह्म पञ्चरात्राभिधं स्मृतम्॥
कारणं कारणानां च कर्ममूलनिकृन्तनम्।
अनन्तबीजरूपं च स्वाज्ञानध्वान्तदीपकम्॥

(नारद-पञ्चरात्र २ । १ । २-३)

पञ्चरात्ररूप दीपकके प्रकाशमें ही भगवत्तत्त्वका परिज्ञान होता है—पाञ्चरात्र-शास्त्र ऐसा प्रतिपादन करता है। नारद-पञ्चरात्र ज्ञानामृत है। 'रात्र' ज्ञानवाचक है। तत्त्व, मुक्ति, भक्ति, योग और विषय—उसके अङ्ग हैं। पञ्चरात्र सात प्रकारके कहे गये हैं—ब्राह्म, शैव, कौमार, वाशिष्ठ, कापिल, गौतमीय तथा नारदीय। नारदने शेष छः पञ्चरात्र, वेद, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदिका मन्थन करके ज्ञानामृत-रूप नारदीय पञ्चरात्र प्रस्तुत किया। यह समस्त वेदोंका सार है, नारद-पञ्चरात्रमें ही व्यासजीकी शुकदेवके प्रति उक्ति है—

षट् पञ्चरात्रं वेदांश्च पुराणानि च सर्वशः।
इतिहासं धर्मशास्त्रं शास्त्रं च सिद्धियोगजम्॥
दृष्ट्वा सर्वं समालोच्य ज्ञानं सम्प्राप्य शंकरात्।
ज्ञानामृतं पञ्चरात्रं चकार नारदो मुनिः॥
सारभूतं च सर्वेषां वेदानां परमाद्भुतम्।
नारदीयं पञ्चरात्रं पुराणेषु सुदुर्लभम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १ । ४८)

नारद-पञ्चरात्र प्राचीनतम वैष्णव-साहित्यका एक अङ्ग है। इसमें श्रीकृष्ण और उनकी प्राणप्रियतमा श्रीराधाकी उपासना-पद्धतिपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है; जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, इहलोक और परलोकका समन्वय किया गया है, एवं इस विचारके द्वारा भगवत्प्रेमकी सिद्धिकी ओर संकेत किया गया है। इसमें धर्म, अर्थ, कामका भी चिन्तन किया गया है तथा वैकुण्ठप्राप्ति ही जीवका ध्येय है—इसपर विशेष जोर दिया गया है। श्रीकृष्णकी भक्ति और प्रेमकी इसमें अच्छी तरह आलोचना की गयी है।

नारद-पञ्चरात्रमें वर्णित भगवदुपासनासम्बन्धी ज्ञानके मूलस्रोत श्रीकृष्ण ही हैं। नारद-पञ्चरात्रमें व्यासकी शुकदेवके प्रति उक्ति है कि प्राचीन कालमें गोलोकमें शतशृङ्ग पर्वतपर भगवती विरजाके तटपर पवित्र वटवृक्षके नीचे श्रीराधाके समक्ष श्रीकृष्णने ब्रह्माको नारदपञ्चरात्र सुनाया, ब्रह्माने उसे श्रवणकर भगवती गङ्गाके तटपर शिवको इसका दान किया, शिवने नारदको सुनाया और नारदने [illegible] पुष्कर-तीर्थमें मेरे समक्ष इसकी पुनरावृत्ति की—

प्राणाधिकप्रियं शुद्धं परं ज्ञानामृतं शुभम्।
पुरा कृष्णो हि गोलोके शतशृङ्गे च पर्वते॥
सुपुण्ये विरजातीरे वटमूले मनोहरे।
पुरतो राधिकायाश्च ब्रह्माणं कमलोद्भवम्॥
तमुवाच महाभागं स्वनन्तं प्रणतं सुतम्।
पञ्चरात्रमिदं पुण्यं श्रुत्वा च जगतां विधिः॥
प्रणम्य राधिकां कृष्णं प्रददौ गिरिकन्दरम्।
भक्त्या तं पूजयामास शंकरः परमादरम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १ । [illegible]—[illegible]८)

इस उद्धरणसे यह बात प्रमाणित हो गयी कि नारद-पञ्चरात्र श्रीकृष्णद्वारा प्रदत्त होनेसे परम दिव्य तथा परम पवित्र भक्तिशास्त्र है, जिसका मूलविषय भगवच्चिन्तन है। यह वेदरूपी दधिसिन्धुका नवनीत है, ज्ञानसिन्धुका अमृत है। नारद-पञ्चरात्रकी प्रणयन-भूमिपर नारदकी स्वीकृति है—

वेदेभ्यो दधिसिन्धुभ्यश्चतुर्भ्यः सुमनोहरम्।
तज्ज्ञानमन्थदण्डेन संनिर्मथ्य नवं नवम्॥
नवनीतं समुद्धृत्य नत्वा शम्भोः पदाम्बुजम्।
विधिपुत्रो नारदोऽहं पञ्चरात्रं तमारभे॥
(नारद पञ्चरात्र १। १। १०-११)

श्रीभगवान्‌के लीलाविस्तारके लिये शंकरकी आज्ञासे नारदने पाञ्चरात्रशास्त्र नारायणांश व्यासदेवको प्रदान किया। शङ्करने नारदको सावधान किया था—

अतः परं न दातव्यं यस्मै कस्मै च नारद।
विना नारायणांशं तं व्यासदेवं सुपुण्यदम्॥
(नारद-पञ्चरात्र २। १। १६)

नारद-पञ्चरात्रमे श्रीकृष्ण और श्रीराधा-विषयक सरस भक्ति-साधना तथा उनसे सम्बद्ध उपकरणोंका ही प्रचुरतासे चिन्तन किया गया है। इसमे बतलाया गया है कि भक्ति अथवा उपासनाके द्वारा भगवान्‌की सेवा ही परम गति—मुक्ति है। सेवा अथवा भगवान्‌की पूजा इस पञ्चरात्रके प्रकाशमे स्मरण, नामकीर्तन, वन्दन, चरण-सेवा, अर्चन और आत्मनिवेदनद्वारा सम्पन्न होती है। श्रीमद्भागवतपुराणमे इनके अतिरिक्त श्रवण, दास्य और सख्यका भी निर्देश किया गया है। भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है नारदीय पञ्चरात्रमे शिवने। उनकी नारदके प्रति उक्ति है कि श्रीकृष्णविषयक भक्तिकी सोलहवीं कलाकी भी समता मुक्ति नहीं कर सकती—

सा च श्रीकृष्णभक्तेश्च कलां नार्हति षोडशीम्।
श्रीकृष्णभक्तसङ्गेन भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
(नारद-पञ्चरात्र २। २। २)

भक्तके सङ्गसे ही नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है। अभक्तोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये; उनके साथ संलाप, उनके शरीरका स्पर्श और उनके साथ भोजन करनेसे पापका भागी होना पड़ता है—

यात्येवाभक्तसंसर्गाद् दुष्टान् सर्पाद् यथा नरः।
आलापाद् गात्रसंस्पर्शाच्छयनात् सहभोजनात्॥
(नारद-पञ्चरात्र २। २। ६)

नारद-पञ्चरात्र भागवत-माधुर्यका निरूपण करनेवाला परम पवित्र वाङ्मय है। परम ब्रह्मकी स्वीकृति वासुदेवके रूपमें हुई है। नारद-पञ्चरात्रमें ही नहीं, जयाख्यसंहिता आदिमे भी ब्रह्म और वासुदेवकी अभिन्नताका बोध कराया गया है—

यत् सर्वव्यापकं देवं परमं ब्रह्म शाश्वतम्।
चित्सामान्यं जगत्यस्मिन् परमानन्दलक्षणम्॥
वासुदेवादभिन्नं तु वह्न्यर्केन्दुशतप्रभम्।
स वासुदेवो भगवांस्तद्धर्मा परमेश्वरः॥
(जयाख्यसंहिता ४। २-३)

परम ब्रह्म स्वसंवेद्य, अनुपम, सर्वक्रियाविनिर्मुक्त, सर्वाश्रय, परम गति और परमानन्दमय चित्रित किया गया है नारद-पञ्चरात्रमे। परम उपास्यरूपमें श्रीकृष्ण और श्रीराधाविषयक भक्तिका इसमें निरूपण है। श्रीकृष्ण निरीह, अति निर्लिप्त, निर्गुण परमात्मा हैं; उन्हींका ध्यान करना चाहिये, ऐसा नारद-पञ्चरात्रका मत है—

ध्यायेत् तं परमं ब्रह्म परमात्मानमीश्वरम्।
निरीहमतिनिर्लिप्तं निर्गुणं प्रकृतेः परम्॥
(नारद-पञ्चरात्र १। १। ४)

समस्त वेद श्रीकृष्णका स्तवन करते हैं, पर उनका अन्त नहीं जानते, वे भक्तप्रिय, भक्तप्रभु और भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये विग्रहधारी हैं। वे श्रीश, श्रीनिवास और राधिकेश्वर हैं; सबकी श्रीवृद्धि करते हैं—

स्तुवन्ति वेदा यं शश्वन्नान्तं जानन्ति यस्य ते।
तं स्तौमि परमानन्दं सानन्दं नन्दनन्दनम्॥
भक्तप्रियं च भक्तेशं भक्तानुग्रहविग्रहम्।
श्रीदं श्रीशं श्रीनिवासं श्रीकृष्णं राधिकेश्वरम्॥
(नारद-पञ्चरात्र १। १। ७-८)

श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी प्राणाधिक प्रियतमा हैं, प्राणेश्वरी हैं, अभिन्न अङ्ग हैं। उनका चिन्तन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन है; उनकी उपासना अथवा भक्ति श्रीकृष्णकी ही उपासना अथवा भक्ति है। श्रीकृष्णकी अभिन्न-हृदया होनेके नाते, भगवान्‌की आह्लादिनी भागवती शक्ति होनेके नाते उनके स्वरूप, चिन्तन और ध्यानका नारद-पञ्चरात्रमें अत्यन्त पुनीत वर्णन मिलता है। वेद, पुराण, इतिहास और वेदाङ्गमें श्रीराधाका आख्यान सुदुर्लभ है।

अपूर्वं राधिकाख्यानं वेदेषु च सुदुर्लभम् ।
पुराणेष्वितिहासे च वेदाङ्गेषु सुदुर्लभम् ॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । १५ । ७६)

नारद-पञ्चरात्रमें उल्लेख है कि नारदने भगवान् शिवसे श्रीराधाके उद्भवपर प्रकाश डालनेकी प्रार्थना की । महादेवने कहा कि गोलोक नित्यवैकुण्ठ है, उसमें भगवान्‌का नित्य निवास है ।...गोलोकके रासमण्डलमें श्रीकृष्णसे सौन्दर्यकी आगरी राधाका उद्भव हुआ—

रासे सम्भूय तरुणीमाऽऽधार हरेः पुरः ।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिश्च नारद ॥
कृष्णवामांशसम्भूता बभूव सुन्दरी पुरा ।
यस्यांशांशकलया बभूवुर्देवयोषितः ॥

(नारद-पञ्चरात्र २ । ३ । ३६-३७)

महादेवने कहा कि श्रीराधाका आख्यान अपूर्व, सुदुर्लभ और गोपनीय है । अविलम्ब मुक्ति मिलती है इस आख्यानमें । यह पुण्यप्रद और वेदका सार है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप और प्रकृतिसे परे हैं, उसी प्रकार श्रीराधा ब्रह्मस्वरूपा और प्रकृतिसे परे हैं । श्रीराधा चिन्मय हैं, वे कृत्रिम नहीं हैं, श्रीहरिकी ही तरह नित्य सत्स्वरूपा हैं—

अपूर्वं राधिकाख्यानं गोपनीयं सुदुर्लभम् ।
सद्यो मुक्तिप्रदं शुद्धं वेदसारं सुपुण्यदम् ॥
यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः ।
तथा ब्रह्मस्वरूपा च निर्लिप्ता प्रकृतेः परा ॥

(नारद-पञ्चरात्र २ । ३ । ५०-५१)

भगवान् शंकरका नारदके प्रति कथन है कि श्रीकृष्ण जगत्‌के पिता और श्रीराधा माता हैं । माता पितासे शतगुण वन्द्य, पूज्य और गरीयसी होती है । श्रीराधा इस दृष्टिसे विशेष वन्द्य, पूज्य और गरीयसी—महिमामयी हैं—

श्रीकृष्णो जगतां तातो जगन्माता च राधिका ।
पितुः शतगुणा माता वन्द्या पूज्या गरीयसी ॥

(नारद-पञ्चरात्र २ । ६ । ७)

राधाके चिन्तनसे तीनों लोक पावन होते हैं । वे श्रीकृष्णतकके लिये परम उपास्य और पूज्य हैं । सत शुद्ध और निर्मल मनसे उनका भजन करते हैं । त्रैलोक्यपावनी श्रीराधाके सम्बन्धमें नारद-पञ्चरात्रका कथन है—

त्रैलोक्यपावनीं राधां सन्तोऽसेवन्त नित्यशः ।
यत्पादपद्मे भक्त्यार्घ्यं नित्यं कृष्णो ददाति च ॥

(नारद-पञ्चरात्र २ । ६ । ११)

शुद्ध तथा निर्मल मनवाले भक्तको [illegible] सौन्दर्यराशि दिव्य वृन्दावनका चिन्तन [illegible] जिसमें भगवान् श्रीकृष्णका परम मधुर [illegible] अनवरत चलता रहता है । [illegible] योगपीठस्थ अरुण अष्टदल कमल[illegible]—जो [illegible] मय सरोवरमें अवस्थित है—[illegible] का ध्यान करना चाहिये—

तद्रत्नकुट्टिमनिविष्टमहिष्ठयोग-
पीठेऽष्टपत्रमरुणं कमलं [illegible] ।
उद्यद्विरोचनसरोऽर्चिरमुष्य मध्ये
संचिन्तयेत सुखनिविष्टमथो मुकुन्दम् ॥

(नारद-पञ्चरात्र [illegible])

श्रीकृष्णका श्रीअङ्ग लावण्य [illegible] निर्मित [illegible] उनका सौन्दर्य मनोभव-देह-कान्ति [illegible] । [illegible] भजन, ध्यान, नाम-कीर्तन, चरणामृत-पान और [illegible] भोजनके प्रसाद ग्रहणमें ही सर्ववाञ्छित [illegible] है—ऐसा नारद-पञ्चरात्रमें स्पष्ट उल्लेख है—

परं श्रीकृष्णभजनं ध्यानं तन्नामकीर्तनम् ।
तत्पादोदकनैवेद्यभक्षणं सर्ववाञ्छितम् ॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । [illegible])

भगवान् श्रीयादवेन्द्र भक्तिप्रद हैं, वे [illegible] साक्षी हैं, सर्वेश्वर हैं, परमात्मस्वरूप और परम [illegible] हैं । वैष्णवोंकी इच्छा सदा उनकी [illegible] ही रहती है—

निर्विकल्पं [illegible] नैव [illegible] ।
अनिमित्तां हरेर्भक्तिं भक्ता वाञ्छन्ति [illegible] ॥

(नारद-पञ्चरात्र १ । [illegible])

नारद-पञ्चरात्रमें भगवान् वासुदेव [illegible] और उनकी प्राणाधिका श्रीराधाकी [illegible] विश्लेषण मिलता है । [illegible] कृष्णके परम मधुर [illegible] ही अभिव्यञ्जन दीख पड़ता है । नारद-पञ्चरात्र[illegible] हृदय सहजरूपसे श्रीराधा-कृष्ण-[illegible] माधुरीके आस्वादनके लिये [illegible] भागवत सौन्दर्यका असीम [illegible] । नारद-पञ्चरात्र श्रीराधा-कृष्ण-भक्ति[illegible] ।

नारद-भक्ति-सूत्रके अनुसार भक्तिका स्वरूप

[भक्तिपर देवर्षि नारदजीके ८४ सूत्र बड़े महत्त्वके हैं। यहाँ उनके सूत्रोंका भावार्थ दिया जाता है।]

देवर्षि नारदजीने भक्तिकी व्याख्या आरम्भ करके पहले भक्तिका रूप बताया कि 'वह भक्ति भगवान्‌के प्रति परम प्रेमरूपा है और अमृतस्वरूपा है। उस परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्तिको प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध (सफल-जीवन) हो जाता है, अमर हो जाता है (जन्म-मृत्युको लाँघ जाता है) और तृप्त हो जाता है (उसके सारे अभाव मिट जाते हैं, कामना-वासनाएँ सदाके लिये शान्त हो जाती हैं)। उस भक्तिको प्राप्त करनेके बाद मनुष्यको न किसी भी वस्तुकी इच्छा रहती है न वह शोक करता है; न वह द्वेष करता है न किसी वस्तुमें भी आसक्त होता है और न उसे (विषयमय जगत्‌में) उत्साह ही रह जाता है। उस प्रेमरूपा भक्तिको पाकर मनुष्य (प्रेमसे) उन्मत्त हो जाता है, शान्त हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।' (सूत्र १ से ६)

इसके पश्चात् नारदजी प्रेमरूपा भक्तिको कामनाशून्य तथा निरोधरूपा बतलाते हुए कहते हैं कि 'यह कामनायुक्त नहीं है; क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।

'निरोध कहते हैं—लौकिक-वैदिक समस्त व्यापारोंका प्रभुमें न्यास कर देनेको, और उस प्रियतम भगवान्‌में अनन्यता एवं उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको।

'अपने प्रियतम भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे समस्त आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है और लौकिक तथा वैदिक कर्मोंमें भगवान्‌के अनुकूल (उनको सुख देनेवाले) कर्म करना ही प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है।

'(परन्तु विधि-निषेधसे अतीत अलौकिक प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिका मनमें) दृढ निश्चय करनेके बाद भी (जबतक प्रेमोन्मत्तताकी दशामें कर्मका ज्ञान छूट न जाय तबतक) शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये। यों न करनेपर यानी मनमाना आचरण करनेपर पतित होनेकी आशङ्का रहती है। लौकिक कर्मोंको भी (बाह्यज्ञान रहनेतक विधिपूर्वक) करना चाहिये; पर भोजनादि कार्य तो, जबतक शरीर रहेगा, तबतक होते ही रहेंगे।' (७ से १४)

तदनन्तर नारदजी भक्तिके लक्षणोंके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंका मत बतलाते हुए उदाहरणसहित अपना मत बतलाते हैं। वे कहते हैं—

'अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण कहते हैं। पराशरनन्दन श्रीवेदव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है, श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना भक्ति है; श्री-शाण्डिल्य ऋषिके मतसे आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना भक्ति है, परंतु नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का तनिक-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है। और यही ठीक है।

'ऐसी भक्ति व्रजगोपियोंकी है। (परम प्रेममयी गोपियोंमें) इस अवस्थामें भी माहात्म्य-ज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं है (अर्थात् वे श्रीकृष्णको भगवान् नहीं जानती हों, यह बात नहीं है)। उससे (माहात्म्यज्ञानसे) शून्य प्रेम तो जारोंके प्रेमके समान होता है; उस (कामजनित) प्रेममें प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है (वहाँ तो अपने इन्द्रिय-सुखकी मलिन कामना है)।' (सूत्र १५ से २४)

अब श्रीनारदजी उस प्रेमरूपा भक्तिकी महिमा बतलाते हुए उसीको वरण करनेकी शिक्षा देते हैं—

'वह प्रेमरूपा भक्ति कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है; क्योंकि वह फलरूपा है (उसका कोई अन्य फल नहीं है, वह स्वयं ही फल है)। ईश्वरका भी (लीलामें) अभिमानसे द्वेष है और दैन्यसे प्रेम है। किन्हीं आचार्योंका मत है कि उस प्रेमरूपा भक्तिका साधन ज्ञान ही है; दूसरे आचार्योंका मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरेके आश्रित हैं।

पूर्वकथित भक्तिकी फलरूपताको समझानेके लिये देवर्षि कहते हैं कि राजगृह और भोजनादिमें ऐसा ही देखा जाता है। (वहाँ केवल सुनने-जाननेसे काम नहीं चलता)। न तो जान लेनेमात्रसे राजाकी प्रसन्नता होगी और न भूख ही मिटेगी। अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्तिका ही वरण करना चाहिये।' (सूत्र २५ से ३३)

इसके पश्चात् उस प्रेमरूपा भक्तिके साधन और सत्सङ्गकी महिमाका वर्णन करते हैं—

'आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं। वह (भक्ति) विषयत्याग तथा सङ्गत्यागसे मिलती है, अखण्ड भजनसे तथा लोकसमाजमें भी (केवल) भगवद्गुण-श्रवण एवं कीर्तनसे मिलती है, परन्तु (प्रेमभक्तिका) मुख्य साधन- है—(भगवत्प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाका लेशमात्र। किंतु महापुरुषोंका सङ्ग कठिनाईसे प्राप्त होता है, अगम्य है (प्राप्त होनेपर भी उन्हें पहचानना कठिन है); (परंतु न पहचाननेपर भी महापुरुषोंका सङ्ग) अमोघ है (उससे लाभ होगा ही)। (महापुरुषोंका) सङ्ग भी उस (भगवान्) की कृपासे ही मिलता है; क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तमें भेद नहीं होता। (अतएव) उस (महापुरुष-सङ्ग) की ही चेष्टा करो, उसीके लिये प्रयत्न करो।' (सूत्र ३४ से ४२)।

तदनन्तर भक्तिकी प्राप्तिमें कुसंगतिको बड़ी बाधा बतलाते हुए नारदजी कहते हैं—

'दुस्सङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये; क्योंकि वह (दुस्सङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाशका कारण होता है। ये (काम-क्रोधादि दोष) पहले तरङ्गकी तरह (बहुत हल्के रूपमें) आते हैं (और दुस्सङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।' (सूत्र ४३ से ४५)

अब मायासे तरकर अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हैं—

प्रश्न करते हैं—'मायासे कौन तरता है, कौन तरता है?' इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं—'जो समस्त सङ्गोंका त्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है, जो ममतारहित होता है। जो (विषयासक्त लोगोंसे अलग) एकान्त स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा जो (सांसारिक) योग-क्षेमका त्याग कर देता है। जो कर्मफलका त्याग करता है, जो (भगवद्विरोधी) कर्मोंका भी भलीभाँति त्याग कर देता है और तब सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है। (प्रेमकी तन्मयतामें) जो वेदोंका भी त्याग कर देता है, वह केवल (अखण्ड) अविच्छिन्न (असीम) प्रेम प्राप्त करता है। वह तरता है, वही तरता है, वह लोगोंको तार देता है (वह तरन-तारन बन जाता है)।' (सूत्र ४६ से ५०)

अब प्रेमस्वरूपा भक्ति तथा गौणी भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

'प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—गूँगेके स्वादकी तरह (वह कहा नहीं जा सकता)। किसी बिरले पात्रमें ऐसा प्रेम प्रकट भी हो जाता है। वह प्रेम गुणरहित है (गुणकी अपेक्षा नहीं रखता), कामनारहित (निष्काम) है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है (लगातार कभी टूटता नहीं), सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है (उसका जल्दी पता नहीं चलता) और अनुभवरूप (स्वसंवेद्य) है। उस प्रेमको प्राप्त करके प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है (वह अपनी मन-बुद्धि इन्द्रियोंसे केवल प्रेमका ही अनुभव करता हुआ प्रेममय हो जाता है)।

'गौणी भक्ति (सत्त्व-रज-तमरूप) गुणोंके भेदसे या आर्त आदि (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी) के भेदसे तीन प्रकारकी होती है। इनमें उत्तर-उत्तरकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व उल्लिखित भक्ति अधिक कल्याणकारिणी (श्रेष्ठ) होती है।' (सूत्र ५१ से ५७)

तदनन्तर भक्तिकी सुलभता तथा महत्ता बतलाते हुए 'भक्तको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये' इसका उपदेश करते हैं—

'(भगवत्-प्राप्तिके) अन्य सब (साधनों) की अपेक्षा भक्ति सुलभ है, क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है। (शान्ति और परमानन्दकी ही लोगोंकी चरम कामना होती है और ये दोनों इस प्रेमभक्तिके स्वरूप ही हैं)।

'(भक्त को) लोकहानि (लौकिक हानि) की चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह अपने आपको तथा लौकिक-वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर चुका होता है। परन्तु जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले (प्रेमकी उच्चतम स्थिति प्राप्त न हो जाय), तबतक लोकव्यवहार (लौकिक व्यवहार) का (सर्वथा) त्याग न करना चाहिये। परंतु फल त्यागकर उस भक्तिके साधनका करना चाहिये। स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र (कभी) नहीं सुनना चाहिये। अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये। सब आचार भगवान्के अर्पण कर चुकनेपर (भी) यदि काम, क्रोध, अभिमानादि (स्वभाववश) बने रहें तो उन्हें (उनका प्रयोग) भी भगवान्के प्रति ही

करना चाहिये। तीन रूपोंका भङ्ग करके नित्य दास्यभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये—प्रेम ही करना चाहिये।' (सूत्र ५८ से ६६)

अब श्रीनारदजी प्रेमी भक्तोंकी महिमाका बखान करते है—

'एकान्त (अनन्य) भक्त ही मुख्य (श्रेष्ठ) हैं। ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च, अश्रुयुक्त नेत्रोंसे उपलक्षित होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको ही नहीं, समूची पृथ्वीको पवित्र कर देते है; वे तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते है; क्योंकि वे (भगवान्‌मे) तन्मय होते हैं। (ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितरलोग प्रमुदित हो उठते है, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ (धन्य, सुरक्षित) हो जाती है। उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया आदिके कारण कोई भेद नहीं होता; क्योंकि (वे सब भक्त) उन (भगवान्) के ही होते है।' (सूत्र ६७ से ७३)

इसके बाद भक्तिके विघ्न तथा प्रधान सहायक साधनोका वर्णन करते है—

'(भक्तको) वाद-विवाद (के पचडे) में नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि वाद-विवादमें बढनेको जगह है और वह अनियत है (उससे किसी निर्णयपर भी नहीं पहुँचा जा सकता)।

'(भक्तिके साधकको) भक्तिशास्त्रोंका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्ति उद्बुद्ध होती है। जब सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका पूर्ण अभाव हो जायगा, (तब मैं भक्ति करूँगा) ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजनके बिना) व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारोका भलीभाँति पालन करना चाहिये। सदा-सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये।' (सूत्र ७४ से ७९)

अन्तमे देवर्षि नारदजी प्रेमस्वरूपा भक्तिका फल और उसकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—

'वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) गाये जानेपर शीघ्र ही प्रकट होते है और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं। तीनों कालमें सत्य भगवान्‌की भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। यह प्रेमस्वरूपा भक्ति एक होकर भी (१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति और (११) परमविरहासक्ति—इस प्रकार ग्यारह प्रकारकी होती है।

'कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु नामक ऋषि, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनूमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न करके (सभी) एकमतसे यही कहते हैं।

'जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते है, वे परम प्रियतम (भगवान्) को (परम प्रियतमरूपसे) प्राप्त करते हैं, परमप्रियतमको ही प्राप्त करते है।'* (सूत्र ८० से ८४)।

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय सब भय-शोकादिका नाशक है

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

(श्रीमद्भा० ३।९।६)

'जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नही लेता, तभीतक उसे धन, घर और बन्धु-जनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे मैं-मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है।'

* इन सूत्रोंकी विशद व्याख्या पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'प्रेमदर्शन' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये।

भक्तोंकी आराध्या भगवती दुर्गा

शक्तिवादमें भक्तिका स्थान

(लेखक—आचार्य श्रीजीव न्यायतीर्थ एम्० ए०)

शक्ति—विश्वजननी—ब्रह्ममयी हैं। वे मधुर वात्सल्य-रस-की अमित खान हैं। उनका अनुग्रह प्राप्त करके जीव कृतार्थ हो जाता है। वे स्नेहमयी जननी हैं—साधक उनका बालक संतान है। माँ यशोदाके लिये शिशु श्रीकृष्णकी तरह, विश्वजननीके लिये साधक संतान स्नेह-रससे आप्लुत हो उठता है, माँ-माँ पुकारकर रोता हुआ आकुल हो जाता है, केवल मातृदर्शनके लिये प्राणोंमें कातरताका अनुभव करता है। इसी भावसे शक्तिवादमें भी भक्तिमार्गका पता लगता है।

श्रुतिने कहा है—पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। 'पाण्डित्यका अभिमान त्यागकर बालकभावसे रहे।' इस प्रकार शिशुभावमें स्थित होना शक्तिवादका प्रधान साधनमार्ग है। जननीका वात्सल्य जैसे शिशुकी ओर धावित होता है, वैसे ही शिशुका अनुराग और अनन्य प्रेम भी मातृदर्शनके लिये स्फुरित होता है। शिशु माँको छोड़कर और कुछ नहीं जानता, शिशु रो उठता है माँके न दीखनेपर और जो कुछ चाहता है, सब माँसे ही। शिशुकी चाहकी सीमा नहीं है, पर वह अपना सारा अभाव बतलाता है माँको ही। इसीसे सप्तशतीके अर्गला-स्तोत्रमें हम लिखा हुआ पाते हैं—

> देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
> रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥

(अर्गलास्तोत्र १२)

'तुम सौभाग्य दो, आरोग्य दो, परम सुख दो, रूप दो, जय दो, यश दो और शत्रुका नाश करो।' विश्वमें रहनेके लिये जो कुछ भी चाहिये, सभी उस विश्वजननीसे ही चाहता है—संतान। शक्तिवादका यह एक विचित्र मार्ग है।

भक्तिमार्गके साधकके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३। २९। १३)

'भक्त भगवत्सेवाके सिवा और कुछ भी नहीं चाहता। भगवान्‌के लोकमें स्थिति, उनके समान ऐश्वर्य, समीप निवास, समरूपता—यहाँतक कि भगवान्‌के साथ एकत्व-प्राप्ति-रूप मुक्ति देनेपर भी वह स्वीकार नहीं करता।'

और शक्तिवादमें केवल यह प्रार्थना है—माँ! तुम मुझको रूप दो, जय दो, यश दो, मेरे शत्रुका नाश करो।

साधनपथमें ऐसा विपरीत भाव दीखनेपर भी [illegible] साधककी गति समानभावमें पर्यवसित होती है। [illegible] है वे तीन एषणाएँ या वासनाएँ, जो [illegible] रूपमें जन्म-जन्मान्तरमें साथ चली आ रही हैं। वे तीन [illegible] लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा अर्थात् मान, अर्थ और संतानकी कामना—मनुष्यके सहजात हैं। शिशु, युवक, वृद्ध, नर और नारी—सभी इन तीनों वासनाओंकी पोटलीको [illegible] जतनसे हृदयमें छिपाये रखते हैं। साधक साधनाके [illegible] उस पोटलीको—उस कामनापूर्ण चित्तको [illegible] रखने जायगा? त्रिनयना जननीकी दृष्टिके बाहर कौन-सा स्थान है, जहाँ इस हृदयग्रन्थिको रखा जा सकता [illegible] जगत्‌में सकाम साधकोंकी संख्या ही अधिक है, निष्काम अधिकारी कितने हैं? सकाम उपासक जब माँकी उपासना करेगा, तब अपनी कामनाको छिपाकर कैसे रख सकेगा? जिसने अन्तरके गुप्त स्थानमें घर बना रखा है, उसको शरीरके या पूजा-मन्दिरके बाहर कैसे फेंका जा सकता है? माँके सामने ही संतान अपने हृदयके द्वार खोलकर [illegible] निवेदन करके कृतार्थ होता है। भक्ति या ज्ञानमात्रके लिये प्रार्थना करनेका अधिकार रखनेवाले कितने हैं? केवल [illegible] ज्ञान या भक्ति माँगना क्या कपट नहीं है? जो [illegible] संसारके अभावोंसे प्रताड़ित होकर दिन-रात कामनाके [illegible] मूढ हो रहे हैं, उनका मोहग्रस्त मलिन चित्त भक्तिका [illegible] कैसे बनेगा—उसमें भक्ति कैसे टिकेगी? जन्म-जन्मान्तरकी भोग-लिप्सा भूखी राक्षसीकी भाँति साधकके चित्तको [illegible] बैठी है, यह बात वह साधक [illegible] निरन्तर [illegible] दशप्रहरणधारिणी माँके सिवा और किससे कहने जाय।

जगत्‌के धनी-मानियोंके द्वारपर भटकनेसे [illegible] की कामना कौन पूर्ण कर सकता है? किसी एकके [illegible] होना दूर रहा, अनेक धनियोंके द्वारपर बार-बार सिर पीटनेपर भी किसीकी कामना पूरी नहीं होती। केवल माँगना भर रह जाता है। इसीलिये साधक दूसरे [illegible] द्वारोंको त्यागकर विश्वकी [illegible] द्वारपर ही अपने चित्तपात्रको [illegible] करता है। माँ ब्रह्माण्डभाण्डोदरी [illegible] है—उनके चरणतलमें विश्वका समस्त ऐश्वर्य [illegible]

है । करोड़ों-करोड़ों वर्षोंतक करोड़ों-करोड़ों संतान उस ऐश्वर्यका भोग करते रहें, तब भी उसमें कमी नहीं आ सकती । उनके ऐश्वर्यका भडार अटूट है । साधककी कामनारूपिणी मधुमक्खी विश्वमाताके मधु-कलशमें पड़कर स्वयं ही मर जायगी । शाक्त साधक इस विपरीत मार्गसे ही सिद्धि प्राप्त करते हैं । कामना अभावकी प्रेरणासे जागती है और पूर्णताकी महिमासे वह आप ही नष्ट हो जाती है । जो संतान यह कह सकता है कि 'माँ ! मुझे जो कुछ चाहिये, सब तुम्हीं दो—मैं अन्य किसीके दरवाजेपर जाकर खड़ा नहीं होऊँगा', वही तो मातृभक्त संयमी सतान है । बहुत-से अक्षम, अधम क्षुद्रोंके दरवाजोंपर न भटककर यदि कोई मातृपदप्रान्तका आश्रय लेता है तो क्या वह संतान भी भक्तके रूपमें धन्य नहीं होगा ?

साधनाके अधिकारी दो प्रकारके होते हैं—सकाम और निष्काम । जन्म-जन्मान्तरकी साधनाके फलस्वरूप यदि कोई निष्कामभावसे शक्ति-पूजा करता है तो उसके लिये 'रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि' का तात्पर्य दूसरा होगा । जो ज्ञातव्य (जानने योग्य) है, उसीको मनुष्य जानना चाहता है । परमात्मा ही परम और चरम ज्ञातव्य है, ऐसा बहुत-से उपनिषदोंके द्वारा निरूपण किया गया है । परंतु वह ज्ञातव्य वस्तु अपने-आप नहीं मिलती, माताकी कृपासे ही प्राप्त होती है; इसीलिये उससे 'देहि' कहकर प्रार्थना की जाती है । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ।' 'वह परमात्मा जिसको स्वेच्छासे वरण करता है, वही उसे पाता है । वह उसीके सामने अपने स्वरूपको प्रकट करता है ।' इस अनुग्रहके बिना मनुष्य उसका साक्षात्कार नहीं कर सकता । वह पहले उपास्यरूपसे अप्रकट रहता है, फिर दयावश साधकका सौभाग्योदय होनेपर वह स्वयं ही प्रकट होकर भक्तकी मनोवाञ्छा पूर्ण करता है । यही 'रूप' की प्राप्ति है ।

'जयं देहि'—संसार-जय-कारी ग्रन्थोंका ज्ञान दो । निष्काम साधक ससारका जय करना ही चाहता है ।

> संसारजयिनं ग्रन्थं जयनामानमीरयेत् ।
> अष्टादशपुराणानि रामस्य चरितं तथा ॥
> कार्ष्णं वेदं पञ्चमं च यन्महाभारतं विदुः ।
> तथैव विष्णुधर्माश्च शिवधर्माश्च शाश्वताः ॥
> जयेति नाम तेषां च प्रवदन्ति मनीषिणः ।

'जिन ग्रन्थोंकी सहायतासे ससार-जय किया जा सकता है, उनका नाम 'जय' है । अठारह पुराण, रामायण, कृष्ण-द्वैपायनरचित पञ्चम वेद महाभारत, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्मोत्तर आदि ग्रन्थोंको 'जय' कहा गया है ।'

'यशो देहि' इन शब्दोंद्वारा 'सह नौ यशः' (तैत्तिरीय उ० १ । ३ । १)—इस श्रुतिसम्मत यशकी प्रार्थना की गयी है । उपनिषद्-सम्बन्धी ज्ञानसे जो यश मिलता है, यहाँ उसीकी चाह की गयी है । वह 'यश' देवताओंके द्वारा भी प्रशंसित है ।

'द्विषो जहि'—जीवके अन्तःशत्रु हैं काम-क्रोध-लोभादि षड्रिपु । इन्हीं शत्रुओंके विनाशके लिये यह प्रार्थना है । इन रिपुओंका मूल है—राग-द्वेष । जबतक चित्तमें राग-द्वेष रहेंगे, तबतक चित्त मलिन रहेगा । उस मलिन चित्तमें मातृमूर्ति प्रतिबिम्बित नहीं होगी । महाभारतके भीष्मपर्वमें कथा आती है—भगवान् श्रीकृष्णने जब अर्जुनको दुर्गास्तोत्र पाठ करनेका आदेश दिया, तब अर्जुनने रथसे उतरकर जिस स्तोत्रका पाठ किया था, उसमें श्रीदुर्गाको स्वयं परमात्म-स्वरूपिणी कहा गया है—

> संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ।
> तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी ॥
> (२३ । १५–१६)

संध्या—सृष्टिप्रलयकर्त्री, प्रभावती—चन्द्रसूर्यप्रभायुक्ता-होरात्ररूपा, सावित्री—सूर्यस्य प्रकाशदानशक्तिस्तद्रूपा, जननी—मातृवत् पालयित्री, तुष्टिः—संतोषः, पुष्टिः—उपचयः, धृतिः—धैर्यम्, दीप्तिः—ज्योतिः, यया कान्त्या चन्द्रादित्यौ वर्द्धेते, येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध इति श्रुतेर्ब्रह्मरूपैव ।
(नीलकण्ठटीका)

इस ब्रह्मरूपा दुर्गाकी कृपा प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने पहले कहा—'शुचिर्भूत्वा महाबाहो !' तुम शुचि होकर दुर्गापाठ करो । चित्तमें शुचिता आये बिना देवीके दर्शन नहीं हो सकते । इसीलिये राग-द्वेष—अन्तःशत्रु काम-क्रोधादिके मूलको अवश्य दूर करना है । इसीसे 'द्विषो जहि'—शत्रु-नाशकी उपयोगिता निष्काम अधिकारीके लिये भी है । अतएव सकाम और निष्काम दोनों अधिकारी ही साधनामें प्रवृत्त होनेपर माताकी कृपा प्राप्त करते हैं ।

इस मातृभावसे उपासनाकी सूचना ऋग्वेदमें मिलती है । ऋग्वेदमें हम देखते हैं कि जैसे अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि देवोंके लिये यज्ञका विधान है, वैसे ही सरस्वती, उषा, भारती, इडा, पृथिवी, नदी, वाक् आदि देवियोंकी भी यज्ञके

द्वारा आराधना होती है। इनमें पृथिवीका बार-बार माताके रूपमें ध्यान किया गया है। पिता माता च भुवनानि रक्षतः— द्यौ और पृथिवी पिता और माताके रूपसे इस विश्वकी रक्षा करते हैं। जलाभिमानिनी देवियोंके लिये कहा गया है कि 'तुम सब जननीकी भाँति स्नेहमयी हो, तुम्हारा रस (वात्सल्य-प्रेम) अति सुखकर है, हमलोगोंको वह सुख प्रदान करो।'

(ऋक्० १० । ९)

जगत्‌में जो कुछ भी शक्तिका विकास देखा जाता है, वह सभी उस महाशक्ति—ब्रह्ममयीसे ही प्रसरित हुआ है और हो रहा है। देवीसूक्त (ऋ० १० । १२५) के 'मया सो अन्नमत्ति'—इत्यादि मन्त्रोंमें यह बात कही गयी है कि 'मैं (शक्ति) जीवको भोजनशक्ति, दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति और प्राणशक्ति प्रदान करती हूँ। फिर मैं ही वायुकी भाँति प्रवाहित होकर जगत्-निर्माण-कारिणी, भुवन-गगन-व्यापिनी महाशक्ति हूँ। जीव-शरीरमें जितनी श्वेत-नीलादि वर्णोंकी विचित्रता है, वह भी मुझ महाशक्तिकी ही योजना है।' अथर्ववेद (११ का० ८ सू० १७ म०) में कहा गया है—

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्॥

सर्वे इन्द्रादयो देवा उपाशिक्षन्, समीपे शक्ता भवितु-मैच्छन्। वधूः सती परमेश्वरेण कृतोद्वाहा भगवती आद्या परचिद्‌रूपिणी शक्तिः तद् देवैः कृतम् अजानात् ज्ञातवती। या एषा विश्वस्य जगतः ईशा ईशानी नियन्त्री मायाशक्तिः × × × सा पारमेश्वरी शक्तिः अस्मिन् पाट्-कौशिके शरीरे गौरपीतनीलादिवर्णम् आभरत् आहरत् उद्-पादयद् इत्यर्थः।

'इन्द्र आदि देवता शरीरमें रहनेकी इच्छा करते हैं— इस बातको भगवती आद्या चिद्‌रूपा शक्तिने महेश्वरकी वधू होकर जान लिया था। ये पारमेश्वरी शक्ति समस्त जगत्‌की नियन्त्री हैं। इसीसे इन्होंने पाट्‌कौशिक मनुष्य-शरीरमें गौर-नील-पीतादि वर्णोंकी रचना की।' मनुष्य-शरीरमें ज्ञानेन्द्रियाँ विषय-प्रकाशिका हैं और प्रकाश है देवताका स्वरूप, इसीलिये इन्द्रियोंको देवाधिष्ठित कहा जाता है। शरीरके गात्रवर्ण या ब्राह्मणादि वर्ण भी उस परमेश्वरीकी सृष्टि हैं, यह वेदमें प्रतिपादित हुआ है।

भारतीय सभ्यताका मूल उद्गम है—वेद। यह बात सर्वमान्य होनेपर भी बहुत-से लोगोंका मत है कि वेदमें कुछ मन्त्र प्राचीन हैं, कुछ अर्वाचीन हैं और ब्राह्मण तथा उप-निषद्-भाग तो और भी आधुनिक हैं। इस विषयमें भारतके आस्तिक सम्प्रदायका मत दूसरा है। उनके मतमें मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-भागके काल [illegible] कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक मन्त्र [illegible] यज्ञमें [illegible] होनेके लिये किसी ऋषिके हृदयमें प्रतिभात हुआ था। इसलिये प्रत्येक मन्त्रका विनियोग जानना पड़ता है, प्रत्येक ऋषि और छन्दका उल्लेख करना पड़ता है, तब उस मन्त्रके योगसे हवनादि कार्य सम्पन्न होते हैं।

आधुनिक कविताकी भाँति वेदके मन्त्र कल्पनाप्रधान भाव-विलासमात्र नहीं हैं। प्रत्येक मन्त्रका अनुष्ठानके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये मीमांसा शास्त्रकी घोषणा है— आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। (१ । २ । १ । १) 'समस्त वेदका प्रयोजन है—कर्मानुष्ठान।'

इस कर्मको समझनेके लिये ब्राह्मण-भागको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। किस यज्ञमें [illegible] मन्त्रका विनियोग होगा—यह ब्राह्मण भागसे ही जाना जा सकता है। अन्य किसी भी कल्पनासे या युक्ति-जालका [illegible] करनेपर भी संशयका नाश नहीं हो सकता। कोई [illegible] कुशल व्यक्ति यदि मनमाने ढंगसे विनियोग करने भी [illegible] उसे दूसरा क्यों मानेगा? अतः प्रमाण देना पड़ेगा और [illegible] प्रमाण ही है—ब्राह्मण-भाग। यज्ञके साथ मन्त्रका जो [illegible] है, उसे साधारण बुद्धिका आदमी कैसे समझेगा? समझनेका कोई उपाय ही न रह जाता, यदि मन्त्रके साथ ही [illegible] भाग भी ऋषियोंके हृदयमें उसी समय स्फुरित न होता। इसीलिये वेदार्थका प्रकाश करनेवाले यास्क आदि [illegible] कहा है—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। 'मन्त्र और ब्राह्मण [illegible] दोनों भागोंका संयुक्त नाम ही वेद है।' [illegible] परिशिष्ट दो भागोंमें विभक्त है—आरण्यक और उपनिषद्। ब्राह्मण-सन्दर्भमें मन्त्रोंके विनियोग, उनके गूढ़ [illegible] और [illegible] तत्त्वपर प्रकाश डाला गया है। इसीमें [illegible] है। जब मनुष्यकी मेधाका ह्रास होने लगा और [illegible] मनुष्यके जीवन धारणका [illegible] बदलने लगा, तब भगवान् कृष्णद्वैपायनने [illegible] का विभाग करके मन्त्र और ब्राह्मण भागको [illegible] दिया। इसीलिये वे वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हुए।

वेदवाणीका [illegible] क्रमिक विकास नहीं हुआ है। [illegible]

साधन है; अतएव कर्म-विधि, प्रयोगकी पद्धति और रहस्य-वाद —इन सबका साथ-ही-साथ प्रकाश और प्रचार हो गया था। मनुष्य सदासे ही तत्त्व-जिज्ञासु रहा है। वेद-वर्णित यज्ञोंमें जिन सब देवताओंकी पूजा होती है, उन देवताओं-का स्वरूप जाननेके लिये यजमान और पुरोहित दोनोंके ही मनमें कौतूहल होना अत्यन्त स्वाभाविक था; क्योंकि इन सब याग-यज्ञोंमें प्रचुर धनके व्यय तथा प्रयासकी आवश्यकता होती थी। एक-एक यज्ञमें कोई-कोई अपना सर्वस्व ही दक्षिणा-रूपमें दे डालते थे, कोई सोनेके खुर एवं चाँदीके सींगोंवाली हजार गौओंका दान कर देता था, कोई सहस्र स्वर्णमुद्राओंका दान करता, तो कोई खुले हाथों लाखों स्वर्णमुद्राएँ वितरण करता। इतना विराट् त्याग एक महान् आदर्शका बोध हुए बिना नहीं किया जा सकता था। मनुष्य सदा ही मनुष्य है। आजका मनुष्य करोड़ों-करोड़ों रुपये आणविक शक्तिके लिये व्यय कर रहा है—एक विराट् ऐहिक अभ्युदयकी आशासे। उस समयका मनुष्य क्या इतना निर्बोध था कि बिना ही कारण, कुछ भी अनुसंधान किये बिना करोड़ों-करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ उड़ा देता? ऐसा कभी नहीं हुआ। उन दिनों भी एक महान् आदर्श था। वह आदर्श था—उपनिषद्वाणी।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।

(बृहदारण्यक० ३। ८। १०)

'हे गार्गि! जो इस ब्रह्मको न जानकर इस जगत्में बहुत वर्षोंतक होम, यज्ञ या तपस्या करता है, उसका फल अन्त-वाला होता है; एवं जो अक्षरब्रह्मको बिना जाने इस जगत्-से प्रयाण करता है, वह दीन होता है और जो उसको जानकर इस जगत्से प्रस्थान करता है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मविद्) होता है।' ब्रह्मविद् ब्रह्म ही हो जाता है, यह भी उपनिषद्की चरम वाणी है। इस दुर्लभ अमृतत्वको पानेकी उमंगमें, इस शाश्वत परम निःश्रेयसको प्राप्त करनेकी आशासे प्राचीन भारतवासी यज्ञमें दीक्षित होकर सर्वस्व अर्पण करके यज्ञा-नुष्ठान करते थे और यज्ञके फलको पूर्णरूपसे जानकर ही धनी यजमान लोग यज्ञ करनेके लिये उत्साहित होते थे। वेदमन्त्रोंमें जगह-जगह सुख, अर्थ, स्वर्ग और शत्रुनाशकी प्रार्थना है—यह सत्य है; परंतु वह आनुषङ्गिक है। चरम फल तो है—विराट् सम्पत्ति, अमृतत्वलाभ—एक शाश्वती शान्ति। इस प्रलोभनके हुए बिना मनुष्य सर्वस्वदानके लिये कभी तैयार नहीं होता। यदि मनुष्यको यह अच्छी तरह समझमें आ जाय कि घरका संचित निश्चित सारा धन तो नष्ट हो जायगा और अनिश्चित काल्पनिक ऐहिक अर्थ या सुखकी आशासे दरिद्र होकर पता नहीं कितने कालतक बैठे बाट देखनी पड़ेगी, तो क्या किसीकी ऐसे काममें प्रवृत्ति होगी? इसीसे देखा जाता है कि मन्त्र, मन्त्रका विनियोग, जिस उद्देश्यसे यज्ञानुष्ठान किया जाता है, उसका तत्त्व, और मानवकी चरम गति—इन सब विषयोंका ज्ञान एक ही साथ स्फुरित होनेपर ही मनुष्य उस उपदेशको शिरोधार्यकर जीवनको उस मार्गपर चलानेमें प्रवृत्त होता है। जिस बुद्धिशक्तिको लेकर मनुष्य जगत्में आता है, उसने प्राचीन कालमें मनुष्यको जैसे चलाया है, अब भी वह वैसे ही मार्ग-प्रदर्शन कर रही है। केवल आदर्शमें परिवर्तन हुआ है। उस समय ब्रह्मविज्ञानके लिये मनुष्य सर्वस्वका त्याग करता था, आज द्रव्य-विज्ञान या जड-विज्ञानके लिये मनुष्य सब कुछ लुटा देनेको तैयार है। प्राच्यपथके पथिकोंने विश्वको कल्याणमय भावरूपमें स्थापित किया था, पाश्चात्य-पथके अभियानकारी लोग आज ध्वंसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। लक्षणके द्वारा इसका अनुमान होता है।

जो जगत्का सृजन, पालन और संहार करता है, वही ब्रह्म है, यह बात वेद-पुराण-इतिहास—सबमें कही गयी है। वह ब्रह्म पुरुषस्वरूप है या नारीस्वरूप, अथवा वह दोनोंका शक्तिस्वरूप है—सदासे ही यह विचार चला आता है। उपनिषद्में कहा गया है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

(श्वेताश्वतर० ४। ३)

'तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो अथवा कुमारी हो।'

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेताश्वतर० १। ३)

'ब्रह्मवादी ऋषियोंने ध्यानयोगके द्वारा उसको स्वगुणोंसे आच्छन्न देवशक्तिके रूपमें उपलब्ध किया था।'

केनोपनिषद्में कहा गया है कि वह शक्ति 'बहुशोभमाना उमा हैमवती'के रूपमें आविर्भूत हुई थी।

इस शक्तिका स्वरूप सप्तशतीके आरम्भमें स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है—

यच्च किंचित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥
(१ । ८२, ८३)

'चित् और अचित्'—चेतन और जड—जो कुछ भी है, सबमें सदा शक्तिरूपसे परमेश्वरको उपलब्ध करना—यही भक्तियोग है ।

ज्हाँ-जहाँ नेत्र पडे, तहाँ-तहाँ कृष्ण स्फुरे ।
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीमद्भागवत (११ । १४ । २७) में भगवान्ने कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

'विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें आसक्त होता है और बार-बार मेरा (भगवान्का) चिन्तन करनेसे चित्त मुझमें ही विलीन हो जाता है ।'

सप्तशतीमें देखा जाता है कि जगजननी परमेश्वरी विष्णु-माया चेतना-बुद्धि-निद्रा-क्षुधा-छाया-शक्ति-तृष्णा-क्षान्ति-जाति-लज्जा-श्रद्धा-कान्ति-लक्ष्मी-वृत्ति-स्मृति-दया-तुष्टि-मातृ-भ्रान्ति आदिके रूपमें जीव-जगत्में अभिव्यक्त सभी भावोंमें व्याप्त हैं । और उन सबकी केवल 'नमो नमः' कहकर आराधना की गयी है । ऋग्वेदमें कहा गया है—

नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे ॥
(म० ६ सू० ५१ म० ८)

'नमस्कार ही सर्वश्रेष्ठ है, अतएव मैं नमस्कार करता हूँ । नमस्कार ही स्वर्ग और पृथिवीको धारण किये हुए है । इसलिये मैं देवगणको नमस्कार करता हूँ । देवगण नमस्कारके वशमें हैं । मैं नमस्कारके द्वारा कृतपापका प्रायश्चित्त करता हूँ ।'

नमस्कारकी महिमा वेदसिद्ध है—इसलिये नमस्कारके द्वारा ही सप्तशतीमें जगदीश्वरीकी आराधना की गयी है ।

इस नमस्कारके द्वारा ही प्रसन्नता या शरणागति प्रदर्शित की गयी है । सप्तशतीमें ऋषि उपदेश करते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥
(सप्तशती १३ । ४-५)

'महाराज सुरथ ! तुम उस देवीके शरणागत हो जाओ । प्रसन्न होनेपर वे ही मनुष्यको पार्थिव भोग, स्वर्ग तथा मोक्ष भी देती हैं ।' राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य नदी-तटपर देवीकी मृण्मयी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और होमके द्वारा पूजा करने लगे । वे दोनों कभी स्वल्पाहार और कभी पूर्ण निराहार रहकर मनको भगवतीमें निविष्ट करके तपस्यामें लग गये ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
(३ । २९ । ११)

'मेरे गुण सुननेमात्रसे मुझ सर्वान्तर्यामीकी ओर समुद्रकी ओर बहती हुई गङ्गाकी धाराकी भाँति मनका जो अविच्छिन्न प्रवाह बहने लगता है—वही भक्ति है ।'

इस अविच्छिन्न मनोगतिका स्वरूप है—

प्रातरारभ्य सायाह्नं सायाह्नात् प्रातरन्ततः ।
यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम् ॥

'प्रातःकालसे आरम्भ करके सायंकालपर्यन्त और सायंकालसे आरम्भ करके प्रभातपर्यन्त मैं जो कुछ भी करता हूँ, हे जगजननी ! सब तुम्हारा पूजन ही है ।'

शिशुका माताके प्रति हृदयका जो आकर्षण है, शक्तिवादमें उसीको भक्ति कहते हैं । ऋग्वेदमें श्रद्धादेवीका उल्लेख है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
(१० । १५१ । १)

'श्रद्धासे ही अग्नि प्रज्वलित होती है और श्रद्धाके द्वारा ही यज्ञमें आहुति दी जाती है ।'

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
(दुर्गासप्तशती ५ । ५०)

श्रद्धा भक्तिरूपिणी न होनेपर भी शक्तिवादमें मातृ-श्रद्धारूपिणी होकर भक्तिका आकार धारण कर लेती है ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(गीता १२ । २)

'परम श्रद्धाके साथ मुझमें मनोनिवेश करके मुझमें नित्य रत होकर जो मेरी उपासना करते हैं, वे ही मेरी मान्यताके अनुसार युक्ततम हैं ।' अतः भक्तिवादमें भी श्रद्धा उपेक्षणीय नहीं है ।

सुरथ और समाधिकी उपासनामें गीताके इसी भावकी छाया देखनेमें आती है ।

(मूककविकृत) 'देवी-पञ्चशती' ग्रन्थमें कामाक्षीदेवीके कटाक्ष, मन्दस्मित, चरण, मुखपद्म आदिका अपूर्व भक्तिमूलक वर्णन पढ़ते ही हृदय भक्तिभावसे भर जाता है और माके प्रति परानुरक्तिके मधुर उच्छ्वासका आस्वादन किया जा सकता है ।

भाव-भक्तिकी भूमिकाएँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीसनातनदेवजी)

'भगवान्‌से कुछ चाहना कर्म है और स्वयं भगवान्‌को चाहना उपासना है'—ये शब्द हैं एक वन्दनीय महापुरुषके। परंतु थोड़ा विचार करें तो स्वयं उन्हें न चाहकर यदि हम उनसे किसी वस्तु या अवस्था-विशेषकी कामना करते हैं तो उनके प्रति हमारा सच्चा भगवद्भाव भी कैसे कहा जा सकता है ? क्या भगवान्‌से बढ़कर भी कोई वस्तु या अवस्था हो सकती है, जिसकी हम उनसे कामना करें ? अतः सच पूछा जाय तो जबतक हमें किसी भी प्रकारकी कामना है, तबतक हमने प्रभुको पहचाना ही नहीं। इसीसे सकाम कर्मका प्रतिपादन करनेवाला मीमांसा-दर्शन निरीश्वरवादी है। उसकी दृष्टिमें स्वर्ग ही सबसे बड़ा सुख है और इन्द्र ही सबसे बड़ा प्रभु। सकामकर्मी या सकाम उपासकका उपास्य कोई भी हो, वह देवताकोटिमें ही आ सकता है; उसे भगवान् नहीं कह सकते। एक वेतनभोगी भृत्यका अपने स्वामीसे जैसे वेतनके लिये ही सम्बन्ध होता है, वेतन न मिलनेपर उस सम्बन्धके टूटनेमें देरी नहीं लगती, उसी प्रकार सकाम पुरुषका अपने उपास्यसे मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह तो केवल कामनापूर्तिके लिये ही उसकी सेवा-पूजा करता है। अतः उसके लिये तो उपास्य केवल कामप्रद देवमात्र है, वह उसका परमाराध्य प्रियतम नहीं हो सकता।

इनसे भी निम्नकोटिके वे लोग हैं, जो कुछ पानेके लिये नहीं प्रत्युत अनिष्टकी आशङ्कासे केवल भयसे प्रेरित होकर ही देवोपासना करते हैं। सकाम पुरुषोंकी उपासना लोभप्रयुक्त होती है तो इनकी भयप्रयुक्त। इनकी तो अपने उपास्यमें देवबुद्धि भी नहीं कही जा सकती। इनका उपास्य कोई भी हो, इनके भावानुसार तो वह भूत-प्रेतादिकी कोटिमें ही गिना जा सकता है। इनकी उपासनामें प्रीतिकी तो गन्ध भी नहीं होती। कारागारमें बंद हुआ एक बंदी जिस प्रकार केवल बंदीगृहके अधिकारियोंके भयसे ही अपना काम-काज करता है, उसकी न तो अपने काममें ही रुचि होती है और न अपने प्रभुओंमें प्रीति ही, उसी प्रकार ये लोग भी अपने उपास्यकी प्रसन्नताके लिये अथवा किसी कामना-पूर्तिके उद्देश्यसे उपासनामें प्रवृत्त नहीं होते, प्रत्युत उपास्यके कोपसे बचनेके लिये तथा अनिष्ट-निवृत्तिके उद्देश्यसे ही उपास्यकी प्रकृतिके अनुरूप कर्म-कलाप किया करते हैं। देवोपासकोंकी उपासनामें शास्त्र-विधिकी प्रधानता होती है और प्रेतोपासकोंकी पूजामें उनके उपास्यकी अभिरुचिकी।

भगवान्‌के भक्त इन दोनों प्रकारके उपासकोंसे भिन्न होते हैं। उन्हें न तो अपने उपास्यसे किसी प्रकारका भय होता है और न किसी वस्तु या अवस्थाका लोभ। वे तो प्रभुको अपना परम आत्मीय और सर्वस्व समझते हैं। फिर वे उनसे क्यों डरें और क्या चाहें ? सिंहके बच्चेको क्या अपने पितासे कभी भय होता है ? तथा चक्रवर्ती सम्राट्‌का युवराज क्या कभी किसी तुच्छ वस्तुकी कामना कर सकता है ? भगवान् उसके अपने हैं और सब कुछ उन्हींका है; अतः उनका होकर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे वह पाना चाहेगा। उसका प्रभुसे केवल प्रीतिका सम्बन्ध होता है। ऐसा सम्बन्ध किसीका किसीके भी साथ हो, वह भगवत्सम्बन्धके सदृश ही है। इसीसे सतीका पतिके प्रति, शिष्यका गुरुके प्रति और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभुकी प्राप्तिका साधन हो जाता है। शास्त्रोंमें ऐसे अनेकों प्रमाण पाये जाते है। ऐसा प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी प्रीतिके सिवा और कुछ नहीं चाहता।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें तो भगवान्‌ने आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त बताये हैं और उन चारोंको ही उदार कहा है—'उदाराः सर्व एवैते' (७। १८)। फिर आप सकाम और अर्थार्थी व्यक्तियोंको इतने निम्नकोटिके कैसे बतलाते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌ने जिन चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है, उनमें जिज्ञासु और ज्ञानी तो वे ही लोग हैं जो केवल भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले अथवा भगवत्तत्त्वमें परिनिष्ठित हैं; तथा आर्त्त और अर्थार्थी भी वे ही महाभाग हैं, जो स्वभावतः प्रभुके प्रेमी ही हैं, केवल परिस्थितिविशेषके कारण ही उन्हें आर्त्ति-निवारण अथवा अर्थप्राप्तिके लिये उनसे प्रार्थना करनी पड़ी है। आर्त्ति-निवारण अथवा अर्थप्राप्ति उनकी भक्तिके प्रयोजक नहीं हैं। अबोध बालकका अपनी माँसे स्वाभाविक

ही अपनत्व होता है, उसका कारण किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं होता; तथापि यदि उसे किसी प्रकारके भयकी आशङ्का होती है तो वह माँकी गोदमें ही शरण लेता है और किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है तो माँसे ही उसकी याचना करता है। इसी प्रकार जिन भक्तोंका प्रभुसे सहज सम्बन्ध हो जाता है, वे आपत्ति पड़नेपर उन्हींको पुकारते हैं और किसी वस्तुकी आवश्यकता पडनेपर उसे उन्हींसे माँगते हैं। यही उनका आर्त्तत्व और अर्थार्थित्व है। इनके सिवा वे लोग भी इन्हीं कोटियोंमें गिने जा सकते हैं, जिनकी उपासनाका आरम्भ तो आर्त्तित्राण अथवा अर्थप्राप्तिकी कामनासे हुआ था, परंतु पीछे ये निमित्त तो गौण हो गये और भगवत्प्रेम प्रधान हो गया। उन्हें भी भूतपूर्व गतिसे आर्त्त और अर्थार्थी भक्त कह सकते हैं। परंतु किसी भी प्रकार वे लोग भक्तकोटिमें नहीं गिने जा सकते, जिनका श्रीभगवान्‌के साथ केवल स्वार्थसाधनके लिये ही सम्बन्ध है।

अतः यह निश्चय हुआ कि भक्तिका बीज भगवत्सम्बन्ध है। जबतक सम्बन्ध या अपनत्व नहीं होता, तबतक किसीसे भी अनुराग नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, गृह और सम्पत्तिमें भी अपनत्वके कारण ही आसक्ति होती है। इसीसे दूसरेके सुन्दर और सद्गुणसम्पन्न बालककी अपेक्षा भी अपना कुरूप और गुणहीन बालक अधिक प्रिय जान पड़ता है। इस प्रकार जब लौकिक तुच्छ व्यक्तियोंके प्रति अपनत्व होनेपर भी जीव प्रीतिके पाशमें बँध जाता है, तब अनन्त-अचिन्त्य-गुण-गण-निलय, सकल-सौन्दर्य-सार परमानन्द-चिन्मूर्ति श्रीहरिसे अपनत्व होनेपर उनमें प्रीतिका प्रादुर्भाव क्यो न होगा? अतः भक्तिकी उपलब्धिके लिये सबसे पहली शर्त यह है कि सभी वस्तु और व्यक्तियोंसे सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र प्रभुसे ही नाता जोडा जाय। प्रभु तो 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं। उनके राज्यमें उनके सिवा और कोई नहीं है। अतः वे अनन्यताके द्वारा ही प्राप्त हो सकते है। जबतक जीवका पुत्र, मित्र, कलत्र आदिसे सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रभुसे नाता नहीं जोड सकता। तनिक सोचिये तो सही—क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति या पदार्थ हो सकता है, जो प्रभुका न हो। यदि सब कुछ उन जगदीश्वरका ही है तो आप अपना किसे कह सकते हैं? सब उन्हींके हैं, इसलिये आप भी उन्हींके हैं, और वे सबके हैं, इसलिये वे ही आपके भी हैं। इस प्रकार आपके साथ सीधा सम्बन्ध तो केवल उन्हींका है। अतः आपका अपनत्व केवल उन्हींमें होना चाहिये। और सबकी तो आप उन्हींके नाते सेवा कर सकते हैं—जिस प्रकार एक पतिपरायणा नारीका अपनत्व तो केवल पतिमें ही होता है, हाँ, पतिदेवके सम्बन्धी होनेके कारण वह सास-ससुर आदिकी सेवा भी करती है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भक्त केवल सम्बन्धको ही छोड़ता है, सम्बन्धियोंको नहीं। यदि सम्बन्धियोंको छोड़ देगा तो सेवा किसकी करेगा? सम्बन्धियोंका त्याग तो तभी होता है, जब वे भगवत्सम्बन्ध या भगवत्सेवामें बाधक होते हैं।

इस प्रकार सब सम्बन्धोंको छोडकर जब भक्त केवल भगवान्‌में ही अपनत्व करता है, तब स्वभावसे ही उनमें उसका अनुराग बढने लगता है। अनुरागकी वृद्धिके साथ चिन्तनका बढना भी स्वाभाविक है। जबतक भगवान्‌से सम्बन्ध नहीं होता, तबतक तो भजन-चिन्तन करना पड़ता है, परतु सम्बन्ध हो जानेपर प्रीतिके उन्मेषके साथ उनका चिन्तन भी स्वाभाविक हो जाता है तथा भगवदनुराग बढनेसे अन्य वस्तु और व्यक्तियोंके प्रति उसके मनमें वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्तिशास्त्रोंमें भगवत्प्रेमकी इस प्रारम्भिक अवस्थाका नाम ही शान्तभाव है। इस अवस्थामें सम्बन्धका कोई प्रकारविशेष नहीं होता, प्रसङ्गानुसार सभी प्रकारके भावानुभावोंका उन्मेष होता रहता है। इसीसे इसे प्रेमकी प्रारम्भिक अवस्था कहा गया है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि शान्तभावमें प्रतिष्ठित भक्त अन्य भक्तोंकी अपेक्षा निम्नकोटिका होता है। भावकी गम्भीरता होनेपर इस भावमें भी भक्तको प्रेमकी ऊँची-से ऊँची भूमिका प्राप्त हो सकती है। भगवान् शुक और अवधूतशिरोमणि सनकादि इसी कोटिके भक्त हैं।

जहाँ सम्बन्ध होता है, वहाँ उसके अनुरूप परस्पर प्रेमका आदान-प्रदान होने लगता है। इसीसे प्रेमियोंकी रुचि और योग्यताके अनुसार उस सम्बन्धके अनेक भेद हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो एक ही प्रेमास्पदमें दो प्रेमियोंका भी सर्वांगमें समानभाव नहीं होता। तो भी व्यवहार और विवेचनके सौकर्यकी दृष्टिसे उन सम्पूर्ण भेदोंको कुछ नियत संख्यामें विभक्त कर दिया गया है। भक्तिशास्त्रोंमें ऐसे चार भेद बताये गये हैं। उनके नाम हैं—सेव्य-सेवकभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुरभाव। इनके साथ उपर्युक्त शान्तभावको भी सम्मिलित करके कुल पाँच भावोंकी गणना की जाती है।

सेव्य-सेवकभावमें भगवान्‌के ऐश्वर्य और माहात्म्यपर

भक्तकी पूर्ण दृष्टि रहती है। परंतु ममताजनित सम्बन्ध हो जानेके कारण उसमें माधुर्यका पुट भी अवश्य रहता है। अतः हृदयमें पूर्ण अनुराग रहनेपर भी उसके शील-संकोचमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आती। इस भूमिकामें प्रभुकी आज्ञाका अनुवर्तन उसका प्रधान कर्तव्य रहता है। उसमें औचित्य-अनौचित्य देखनेका वह अपना अधिकार नहीं मानता। इसलिये कई बार अपने प्रभुकी आज्ञासे उसे वह काम भी करना पड़ता है, जिसे वह स्वयं नहीं करना चाहता। श्रीभरतलालजी, लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी इसी कोटिके भक्त हैं। जो अपनी बुद्धि और रुचिको एक ओर रखकर प्रतिक्षण अपने प्रभुकी ही भावभङ्गीका अनुसरण करनेके लिये तत्पर रह सकते हैं, वे ही इस भावके अधिकारी हैं।

किंतु जिनकी दृष्टि ऐश्वर्य और माहात्म्यसे विशेष आकर्षित न होकर प्यारेकी सुख-सुविधापर ही अधिक रहती है, वे सख्यभावके अधिकारी होते हैं। इनमें शील-संकोचकी शिथिलता रहती है; क्योंकि बराबरीका नाता ठहरा। इसलिये अपने नित्यसखाकी आज्ञा या भावभङ्गीके अनुसरणकी ओर इनका विशेष ध्यान नहीं होता। इन्हें यदि ऐसा जान पड़े कि आज्ञा न माननेसे उसे अधिक सुख मिलेगा तो ये उसका उल्लङ्घन करनेमें कोई संकोच नहीं करेंगे। परतु आज्ञाका उल्लङ्घन करनेपर भी ये ऐसा काम करनेका साहस नहीं कर सकते, जो उस प्रिय सखाके मनके विरुद्ध हो। व्रजके ग्वाल-बाल, अर्जुन और सुग्रीवादि इसी कोटिके भक्त हैं।

वात्सल्यभावमें ममता और स्नेहकी अत्यन्त गाढता रहती है। यहाँ ऐश्वर्य और भी लुप्त हो जाता है। प्यारा अपना लाड़ला लाल जान पड़ता है। ललनको लाड़ लड़ाना—यही भक्तका मुख्य कर्त्तव्य रह जाता है। यहाँ बराबरीका नाता नहीं प्रत्युत अपनेमें गुरुत्वका भान होता है। सखा तो प्यारेके मनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता, परंतु माता-पिताको यदि आवश्यक जान पड़े तो पुत्रके मनकी उपेक्षा करनेमे भी सकोच नहीं होता। अपने ललनके हितके लिये वे उसे झिड़क भी सकते है और कभी-कभी ताडना भी कर बैठते हैं और लालजी झिड़क एवं ताड़ना सहकर भी अपने उस बड़भागी भक्तके संरक्षण-सुखको त्याग नहीं सकते। ऐसी यह प्रीतिकी अटपटी रीति है। यहाँ शासक शास्य हो जाता है। श्रीनन्द-यशोदा और दशरथ-कौसल्या आदिका यही भाव है।

अब कुछ मधुरभावके विषयमें भी विचार करें। यहाँ जैसी प्रीतिकी प्रगाढ़ता और पारस्परिक अभिन्नता होती है, वैसी पूर्वोक्त किसी भावमें नहीं होती। अन्य भावोंमें संकोचका यत्किंचित् आवरण रहता ही है, किंतु यहाँ संकोचके लिये कोई स्थान नहीं है। माँ अपने शिशुके सुखके लिये स्वयं तो उसके मनके विरुद्ध आचरण कर सकती है, परंतु उससे वैसा करा नहीं सकती; तथापि प्रियतमा तो प्यारेसे वह भी करा लेती है, जो वे करना न चाहें और इस विवशतामें भी प्रियतमको एक अद्भुत रसकी अनुभूति होगी। अतः मधुरभाव सभी भावोंमें सिरमौर है। यहाँ भक्त भगवान्‌का भोग्य हो जाता है। यही आत्मसमर्पणकी पूर्णता है। श्रीगोपीजन इसी भावसे भगवान्‌को भजती हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें भक्तिके पाँचो भावोंका विवेचन हुआ। भावदृष्टिसे इनमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है तथा प्रत्येक भावमें अपनेसे पूर्ववर्ती भावोंका समावेश भी हो जाता है। शान्तभावमें विरक्ति, सेव्य-सेवक-भावमें अनुवृत्ति, सख्यभावमें प्रीति और वात्सल्यमें स्नेहकी प्रधानता होती है। मधुरभावमें इन सभी रसोंका समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त प्रियतमको सुमधुर रति प्रदान करनेकी विशेषता रहती है। इसी प्रकार अन्य भावोंमें भी उनसे पूर्ववर्ती भाव अन्तर्भुक्त रहते हैं। इस प्रकार भावोंमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेपर भी भक्तोंमें वैसा तारतम्य नहीं समझना चाहिये। भक्त तो अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार ही किसी भावको स्वीकार करते हैं और उसीमें परिनिष्ठित होकर भगवत्प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची भूमिका प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर हमने विभिन्न भावोंके जिन भक्तोंका उल्लेख किया है, उनमें किसे छोटा या बडा कहा जाय? भक्तिका उत्कर्ष भावके प्रकारकी दृष्टिसे नहीं, प्रत्युत भावकी परिणतिकी दृष्टिसे होता है। जिस जीवमें उसके स्वीकृत भावकी जितनी उत्कृष्ट परिणति हुई है, वह उतना ही उच्च-कोटिका भक्त है—लोकमें जैसे कोयलेकी अपेक्षा सुवर्ण अधिक मूल्यवान् है; परतु ऐसा नियम नहीं है कि कोई भी कोयलेका व्यापारी किसी भी सुवर्णके व्यापारीसे अधिक धनाढ्य नहीं हो सकता। अतः भगवद्-रसिकोंको किसी विशेष भावका आग्रह न रखकर अपनी प्रकृतिके अनुरूप भावमें दीक्षित हो उसीमें तद्रूप होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ऊपर हमने कहा है कि सतीका पतिके प्रति, शिष्यका

गुरुके प्रति और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभुप्राप्तिका साधन हो जाता है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि वहाँ पति आदिमें भगवद्बुद्धि करनेकी बात कही गयी है और यहाँ भगवान्‌में स्वामि-सखा आदि बुद्धि करनेकी बात है। वह प्रतीकोपासना है और यह भगवत्सम्बन्ध है। अतः वह भगवत्प्राप्तिका परम्परा-साधन है और यह साक्षात् साधन। इसीसे उसे साक्षात् भगवत्प्रेम न कहकर भगवत्प्रेमके समान कहा गया है।

यह भावभक्ति पहले तो की जाती है और पीछे स्वाभाविक हो जाती है। जबतक की जाती है, तबतक कृति-की प्रधानता होती है, प्रीतिकी नहीं। ऊपर जिन नित्यसिद्ध भगवत्पार्षदोंका उदाहरणरूपसे उल्लेख किया गया है, उनमें यह भावभक्ति स्वतः सिद्ध है। भक्ति-शास्त्रोंमें उनकी भक्तिको रागात्मिका कहा गया है। दूसरे लोग अपने-अपने भावानुसार उन्हींका अनुसरण करके अपने भावमें परिनिष्ठित होते हैं। अतः उनकी भक्ति रागानुगा कहलाती है। रागानुगा भक्ति भगवत्प्राप्तिका साधन है और रागात्मिका प्राप्तिरूपा है। प्रभुकृपासे रागानुगा ही रागात्मिका हो जाती है। अतः प्रीति ही साधन है और प्रीति ही साध्य है—

साधन सिद्धि राम पद नेहू।

यहाँतक हमने जीवलोकके भावभेदोंका वर्णन किया; किंतु प्रीति तो प्रभुका स्वभाव है—स्वभाव ही नहीं, साक्षात् स्वरूप है। उनका दिव्य चिन्मय मङ्गलविग्रह प्रीतिके तत्त्वों-से ही गठित है। उस प्रीतिकी मधुरिमाका आस्वादन किये बिना उनसे भी नहीं रहा जाता। अतः उसका आस्वादन करनेके लिये वे अपने ही स्वरूपभूत चिन्मय धाममें स्वयं ही प्रिया और प्रियतमके रूपमें विराजमान हैं। प्रिया और प्रियतममें उपास्य-उपासकका भेद नहीं है। वे दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं—'एक सरूप सदा द्वै नाम। आनँद की अह्लादिनि स्यामा अह्लादनि के आनँद स्याम।' प्रियाजूका प्रियतमके प्रति और प्रियतमका प्रियाजूके प्रति जो अद्भुत अलौकिक भाव है, उसका इस लोकमे कहीं आभास भी मिलना कठिन है। वह तो उनकी अपनी ही सम्पत्ति है। वहाँ क्षण-क्षणमे दोनोंके हृदयमें जो अद्भुत भाववैचित्र्य होते हैं, वे तत्काल ही मूर्तिमान् हो जाते हैं। प्रिया-प्रियतम नित्य संयुक्त रहते हुए भी प्रीति-रसकी अचिन्त्य महिमासे परस्पर विरहका अनुभव करते हैं—

मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना।

उस विरह-व्यथामें प्रियाजी प्रियतमका चिन्तन करते-करते तद्रूप हो जाती हैं और अपनेको प्रियतम समझकर अपने ही लिये व्याकुल होने लगती हैं। इसी प्रकार प्रियतम प्रियाजीके वियोगमें अपनेको प्रियारूपमें देखकर अपना ही चिन्तन करने लगते हैं। ऐसी परिणति क्षण-क्षणमें होती रहती है। इसी प्रकारके अनन्त अलौकिक भावानुभाव प्रिया-प्रियतमके अन्तस्तलमें स्थित रसार्णवको आन्दोलित करते रहते हैं। भक्ति-शास्त्रोंमें श्रीराधाके भावको महाभाव या राधा-भाव कहा गया है। इसके मोदन एवं मादन—ये दो मुख्य भेद हैं। युगल सरकारका यह अनादि अनन्त रास-विलास निरन्तर चल रहा है। इस लोकमें किन्हीं विरले महानुभावोंमें ही किसी क्षणके लिये इस अलौकिक भावकी स्फूर्ति होती है।

ये तो हुईं भावराज्यकी बातें। तथापि भावोंका विवेचन करते हुए किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने ज्ञानी भक्तोंको शान्तभावके अन्तर्गत माना है। इससे अनेकों साधकोंको यह भ्रम हो सकता है कि तत्त्वनिष्ठ महानुभाव शान्तभावके उपासक हैं। परंतु स्मरण रहे, भाव और विचार ये दो अलग-अलग मार्ग हैं। विचारक किसी भी भाव, विश्वास या स्वीकृतिका आश्रय नहीं लेता। वह तो अपनी जानकारीके आधारपर असत्का त्याग करके सत्यकी खोज करता है—अनात्माका बाध करके आत्मानुसंधान करता है। इस प्रकार विवेचन करते हुए असन्निषेधावधिरूपसे जिस सत्यकी उसे उपलब्धि होती है, जिसका किसी प्रकार निषेध नहीं किया जा सकता, उसीको वह अपने आत्मरूपसे अनुभव करता है। यह सत्य ही उसका विश्रामस्थान है। उसका इससे नित्य अभेद है। इस दृष्टिमें परिनिष्ठित रहना ही उसका आत्मप्रेम है। इसे आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मक्रीडा आदि नामोंसे भी कहा जाता है। यद्यपि तत्त्व-निष्ठोंके ज्ञानमे किसी प्रकारका भेद या तारतम्य नहीं होता—सभीकी तत्त्वदृष्टि एक ही होती है, तथापि निष्ठामें अवश्य तारतम्य रहता है। इसीसे योगवासिष्ठादिमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ बतायी गयी हैं। उनके नाम हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा। इनमें पहली तीन जिज्ञासुकी साधनावस्थाएँ हैं। ये क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूपा हैं। सत्त्वापत्ति साक्षात्काररूपा है और अन्तिम तीन जीवन्मुक्तिरूपा हैं। उनमें तत्त्वनिष्ठाका उत्तरोत्तर परिपाक होता है। चतुर्थ भूमिकामें स्थित ज्ञानीको

ब्रह्मवित् कहते हैं और आगेकी भूमिकाओंमें आरूढ होनेपर वह क्रमशः ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् एव ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। अतः ज्ञानीको उपर्युक्त किसी भावके अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। ऊपर श्रीशुक और सनकादिको जो शान्तभावके भक्तरूपसे कहा है, उसका कारण यह है कि वे नित्यसिद्ध महापुरुष तो ज्ञानी भी हैं और भक्त भी। अतः भक्तदृष्टिसे इन्हें शान्तभावके अन्तर्गत गिना जा सकता है।

इस प्रकार भक्तोंके भावभेदके समान यद्यपि ज्ञानियोंमें भी भूमिका-भेद माना गया है, तथापि इन दोनोंमें किसी प्रकारका साम्य नहीं है। ज्ञान प्रशान्त महोदधि (Pacific Ocean) के समान है, जिसमे किसी प्रकारकी हलचल नहीं है; और प्रेम अतलान्तक महासागर (Atlantic Ocean) की तरह है, जो निरन्तर भाँति-भाँतिकी भावानुभावरूप ऊर्मिमालाओंसे उद्वेलित रहता है। ज्ञानकी भूमिकाओंमें उत्तरोत्तर प्रपञ्चकी प्रतीति गलती जाती है। वे निवृत्तिरूपा हैं। निस्सदेह उनमें स्वरूपभूत विलक्षण आनन्दका भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है; परंतु उससे प्रधानतः चित्तकी प्रशान्तवाहिता और गम्भीरता ही बढती है। उपरतिका उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही उसका स्वरूप है। अतः उसका मुख्य उद्देश्य है—शरीरके रहते व्यावहारिक बन्धनोंसे मुक्ति प्रदान कर देना। इस प्रकार व्यवहारसे मुक्त करके भी वह उस तत्त्वनिष्ठको किसीके साथ बाँधता नहीं। यहाँतक कि उस स्वरूपभूत आनन्दका भी विद्वान्को बन्धन नहीं होता। परतु भाव तो भक्तको प्रेमपाशमें बाँधनेवाले हैं। वे उसे भगवान्के प्रेममें बाँधकर ही भव-बन्धनसे मुक्त करते हैं। भावोंमें जो पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका उत्कर्ष माना गया है, उसका कारण भी उत्तरोत्तरका पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा अधिक बन्धनकारक होना ही है। परंतु यह बन्धन है निखिलरसामृतमूर्त्ति, सौन्दर्यसार श्रीहरिके साथ। इसमें जो अद्भुत मधुरिमा है, विलक्षण मादकता है, उससे मुग्ध हुए भक्त-भ्रमर मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। प्रभु उन्हें मुक्ति देना चाहते हैं, तो भी वे उसका तिरस्कार कर देते हैं—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

इस तरह यद्यपि भक्त और ज्ञानीके साधन सर्वथा भिन्न हैं, तथापि दोनोंको जिसकी प्राप्ति होती है, वह साध्य एक ही है। उस साध्यके आस्वादनमें भी भेद है, परंतु वस्तुमें भेद नहीं है। भक्तकी दृष्टिमें वह तत्त्व चिन्मय है; क्योंकि प्रभुके नाम, धाम, लीला और रूप तत्त्वतः उनसे अभिन्न हैं तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें वह चिन्मात्र है; क्योंकि वह उसे सकल सनिवेशसे शून्य देखता है। भक्तके लिये सृष्टि प्रभुका लीला-विलास है और ज्ञानी इसे मायामात्र देखता है। भक्त प्रभुको ही अपने सत्य संकल्पसे प्रपञ्च-रूपमें भासमान देखता है और ज्ञानी इसका निरास करके केवल तत्त्वपर ही दृष्टि रखता है। तथापि सृष्टिका भास हो अथवा निरास, मूलभूत तत्त्व तो एक ही है। वह एक ही तत्त्व भक्तकी दृष्टिमे सगुण है और ज्ञानीकी दृष्टिमें निर्गुण। इसका भी एक विशेष कारण है। भक्तका आरम्भसे ही भगवान्से सीधा सम्बन्ध होता है और गुणमय प्रपञ्च उन्हींका लीला-विलास होनेके कारण तत्त्वतः उनसे अभिन्न है। अतः भक्तके लिये भगवान् सगुण हैं और ज्ञानी गुणमय प्रपञ्चका बाध करके उनमें प्रतिष्ठित होता है, इसलिये उसके लिये वे निर्गुण हैं। परंतु वे स्वतः न सगुण हैं न निर्गुण। सगुणता निर्गुणता तो उनमें इन्हींके द्वारा आरोपित है। वे स्वतः क्या है, यह तो वे ही जानें।

प्रेमी भक्तोंका सङ्ग वाञ्छनीय

प्रह्लादजी कहते हैं—

मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि स्याद् भगवत्प्रियेषु नः।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान् सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ५।१८।१०)

'प्रभो! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो; यदि हो तो केवल भगवान्के प्रेमी भक्तोंमे ही। जो सयमी पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके योग्य अन्नादिसे संतुष्ट रहता है, उसे जितना शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, उतना शीघ्र इन्द्रियलोलुप पुरुषको नहीं होती।'

भक्ति-विवेचन

(लेखक—प० श्रीअखिलानन्दजी शर्मा, कविरत्न)

सेवार्थक 'भज्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। वह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य, अनिर्वचनीय, स्वानुभववेद्य, सर्वाङ्गीण-रसास्वादाङ्कुर-कन्दली, परमानन्दाङ्कुर-महालवालसीमा, कपिल आदि अनेक महर्षियोंसे सवेद्य, प्रकृति-पुरुष-जन्य-जगदवस्थिति-निदानरूपा, सद्-असद्-विलक्षण मायाद्वारा कल्पित प्रपञ्च-कल्पनासे अकल्पित, चमत्कारकी चरम सीमाके मध्यारूढ है। श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें वह नौ प्रकारकी बतलायी गयी है। इसका विवरण श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें विस्तारपूर्वक किया है।

अब यहाँ भक्ति-लक्षण-निरूपण-प्रसङ्गमें, प्रयोजनवश, पूर्वाचार्योंद्वारा प्रदर्शित कुछ लक्षण उपस्थित किये जा रहे हैं। जैसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (२)—'वह भक्ति ईश्वरमें सर्वोत्तम अनुराग ही है'—यह शाण्डिल्य ऋषिका मत है।

पूज्येष्वनुरागो भक्तिः 'पूज्य जनोंमें अनुराग ही भक्ति है'—यह देवीभागवतका मत है (स्कन्ध ७, अध्याय ३७)। 'सभी उपाधियोंसे मुक्त होकर तत्परतापूर्वक इन्द्रियोंसे भगवान् हृषीकेशकी निर्मल सेवा ही भक्ति है' यह नारद-पञ्चरात्रका मत है।

'अन्याभिलाषाशून्य ज्ञानकर्मादिसे अनावृत अनुकूल-भावसे श्रीकृष्णकी परिचर्या ही श्रेष्ठ भक्ति है'—यह श्रीरूप-गोस्वामिपादका मत है।

अब इनमें प्रथम शाण्डिल्य ऋषिके मतकी विवेचना की जाती है। उनके अनुसार परमेश्वरमें जो सर्वोत्कृष्ट अनुराग है, वही भक्ति-पद-वाच्य है। इस लक्षणमें दूसरी परिभाषा भी गतार्थ हो जाती है; क्योंकि वहाँ भी अनुरागकी बात कही गयी है और सर्वार्थप्रद होनेके कारण वहाँ भी सर्वात्मना भगवान् ही पूज्य हैं।

गरुडपुराणमें कहा गया है—

'भज' इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तिता।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी॥
(अ० २३१)

"'भज' धातुका 'सेवा' अर्थमें प्रयोग होता है, इसलिये बुद्धिमानोंने सेवाको ही भक्तिका प्रधान साधन कहा है।' इस प्रमाणसे साधनप्रधान सेवा ही 'भक्ति' पदके द्वारा निर्दिष्ट हुई है। साधन-बाहुल्यका भाव है—भगवान्के अनुकूल उन-उन सामग्रियोंका सम्पादन। उसे सर्वात्मभावसे सम्पादन करना अशक्य है। इसीलिये राजर्षि भर्तृहरिने कहा है—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

'सेवाधर्म बड़ा ही कठिन तथा योगियोंके लिये भी असाध्य है।'

भला, जिसका रहस्य योगियोंको भी ज्ञात न हो सके, उस सेवाधर्मको इन्द्रियलोलुप पामरजन कैसे जान सकते हैं—इस बातका उस धर्मके रहस्यज्ञोंको ही विचार करना चाहिये।

पर-अपरके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। 'यस्य देवे परा भक्तिः' आदि श्रुति-प्रमाण-सिद्ध परा भक्ति ही ज्ञान-पद-वाच्य है। इसीलिये—

भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।

'भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, वही ज्ञान कही गयी है।' यह देवीभागवतमें हिमालयके प्रति भगवतीका वाक्य है (दे० भा० ७। ३७)। इससे पराभक्ति तथा ज्ञानकी एकरूपता सिद्ध होती है। वहीं यह भी कहा गया है—

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता।
यस्यां देव्यतिरिक्तं तु न किंचिदपि भाव्यते॥
इत्थं जाता परा भक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥
(७। ३७)

इन पद्योंके अनुसार परा बुद्धिका आश्रय लेकर सर्वत्र स्थित शक्तिको शक्ति तथा शक्तिमान्की एकताके कारण सर्वत्र अभेद बुद्धिसे देखनेवाला पुरुष चिन्मात्र भगवतीके स्वरूपमें प्रत्यक्ष ही विलीन हो जाता है। यह लयकारिणी वृत्ति ही पराभक्ति है। इसी अर्थको मनमें रखकर भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें ये वचन कहे हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६। ३०)

इन्हीं सब लक्षणोंको उपजीव्योपजीवकभावसे लेकर

प्राचीन आचार्योंने उन-उन ग्रन्थोंमें भक्ति-रहस्यका प्रदर्शन किया है।

अपरा-भक्तिके देवीभागवतमें बहुत-से भेद दिखलाये गये हैं। विहित और अविहित भेदसे वह पहले दो प्रकारकी है। शास्त्रानुमता भक्ति तो विहित है और स्वेच्छानुमता भक्ति अविहित है। विहिता भक्ति सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्ति-फल प्रदान करनेवाली होती है। इसीलिये वह व्यासादि महर्षियोंको अभिमत है। पुराणोंमें महर्षियोंद्वारा उसके अनुसरणकी बात भी मिलती है। भक्तोंको उसीका अनुवर्तन करना चाहिये।

इस तरह भक्तिके लक्षणोंकी विवेचना करके अब भक्तोंके विषयमें भी कुछ विचार किया जाता है। उत्तम, मध्यम तथा अधम-भेदसे भक्तोंके भी तीन प्रकार हैं—जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(११।२।४५)

'जो सभी प्राणियोंमें अपना तथा भगवान्‌का भाव देखता है तथा प्राणियोंको अपनेमें तथा भगवान्‌में देखता है, वही भागवतोंमें श्रेष्ठ है।' इस श्लोकमें पराभक्तिके अनुवर्ती साधकके लिये सबको भगवद्रूप देखनेकी बात कही गयी है।

मध्यम भक्तका लक्षण बतलाते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
(११।२।४६)

'जिसकी भगवान्‌में प्रीति, भगवद्भक्तोंसे मैत्री तथा अज्ञानियोंपर कृपा एवं शत्रुओंके प्रति उपेक्षाकी बुद्धि हो, वह मध्यम कोटिका भक्त है।' योगदर्शनमें भी 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा'का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसी बात भेद-बुद्धिके कारण ही होती है। जो प्रतिमामें ही श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की पूजा करता है, परंतु भगवद्भक्तों तथा अन्य प्राणियोंका जो आदर नहीं करता, वह साधारण भक्त कहा गया है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
(११।२।४७)

केवल प्रतिमाकी पूजा करनेवालोंमें यह बात प्रत्यक्ष होती है, इसका हमलोग रात-दिन अनुभव करते हैं। आज प्रत्येक मन्दिरमें ऐसे ही पुजारियोंका बाहुल्य है, यह बात सहृदयोंसे छिपी नहीं है।

यहाँतक भक्ति तथा भक्तोंके भेद बताये गये। अब वैदिक विभागको लेकर इस विषयका विवेचन किया जाता है। निरुक्त, दैवतकाण्डमें कहा गया है—

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥ (७।१।४)

इसी यास्क-मतकी व्याख्या करते हुए प्राचीन महर्षियोंने मन्त्रोंमें उन-उन देवताओंके चिह्नोंको देखते हुए एक ही परमात्माका अनेक रूप तथा नामोंसे निरूपण किया है। जैसे—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(३२।१)

इस यजुर्वेदके मन्त्रमें अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र आदि नामोंसे एक ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है। इसे ही इन्द्र, मित्र, अग्नि तथा वरुण भी कहा गया है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

इस मन्त्रमें एक ही ब्रह्म अनेक नामोंसे निर्दिष्ट हुआ है। अतएव श्रीशङ्कराचार्यने अपने दर्शनमें एकात्मवादका अनुसरण किया है।

वेदोंमें भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्राप्ति दोनों ही भगवत्कृपा-मूलक बतलायी गयी हैं।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।'

यह श्रुति भगवत्प्राप्तिको साधन-सुलभ नहीं बतलाती। अतः इस मार्गमें भगवदनुग्रह ही सब कुछ है।

भक्तके लिये सर्वत्र भगवद्भावकी बड़ी आवश्यकता एवं महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। सगुण-निर्गुणरूपसे सर्वत्र विद्यमान भगवान्‌को एकदेशस्थित मानकर केवल प्रतिमामें उनकी अर्चा करनेवालेके लिये कहा गया है कि उसकी पूजा भस्ममें आहुति छोड़नेके समान निरर्थक है। भगवान् श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मान[illegible]।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव [illegible]
(श्रीमद्भा० [illegible]

वहीं आगे चलकर कहा [illegible]
जीवरूपसे प्रविष्ट भगवान्‌का [illegible]

ही-मन प्रणाम करना चाहिये; द्वेष तो किसीके साथ करना ही नहीं चाहिये—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। ३४)

गीतामें भी भगवान्‌ने जहाँ भक्तोंके लक्षण कहे हैं, वहाँ सर्वप्रथम इस बातकी आवश्यकता बतायी है कि भक्तका किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष तो होना ही नहीं चाहिये, वरं उसे सबका मित्र तथा दीन-दुखियोंके प्रति करुणावान् होना चाहिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
(गीता १२। १३)

भागवत तो यहाँतक कहती है कि भक्तको सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रखते हुए कुत्ते, चाण्डाल, गाय-बैल तथा गदहेतकको भगवान् समझकर प्रणाम करना चाहिये, केवल मनसे नहीं, दण्डवत् पृथ्वीपर गिरकर—

प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्।
(११। २९। १६)

वेदमें भी इसी भावकी पुष्टि करते हुए कहा गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
(यजुर्वेद ४०। ६)

'इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तममें देखता है और सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह फिर कभी किसीसे घृणा या द्वेष नहीं कर सकता।'

इस प्रकार सबके हृदयमें विराजमान भगवान्‌को सर्वत्र देखनेवाले भक्तका चिन्मात्र ब्रह्ममें लय हो जाता है—यही गीताका भी मर्म है। इस प्रकार हमने भक्तिके लक्षण एवं स्वरूपपर सक्षेपतः अपने विचार 'कल्याण' के पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किये हैं। विस्तार-भयसे अधिक न लिखकर यहीं अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं।

भगवान् भक्तके पराधीन हैं

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३–६८)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। अपनी इच्छासे मानो कुछ भी नहीं कर सकता। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे। ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मै ही हूँ। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोडकर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मीको ही। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोडकर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ! जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेमबन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है। दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

'हरि-भक्तोंका जय-जयकार !'

(रचयिता—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

(१)

गर्वीली रम्भाके नूपुर जब करते सुमधुर झंकार।
भस्म मनोभवको करती तब किसकी प्रलयंकर हुंकार?
उसकी, ईश-भक्तिका जिसके ऊपर है पावन अधिकार!
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(२)

पर-उपकार, निरन्तर करुणा, मैत्रीके पावन भंडार।
पापी, पतित, पराजितसे भी करते ही जाते हैं प्यार।
निज प्राणोंके हत्यारेका वे करते सम्यक् सत्कार!
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(३)

सत्यशीलता और विनयके वे होते अनुपम आगार।
अर्द्धयामिनीमें भी मिलते शरणागतसे भुजा पसार।
सदा सुदृढ़ पकड़े रहते हैं वे निज नौकाकी पतवार!
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(४)

विष्णु समझकर अभ्यागतका वे करते अतुलित सत्कार।
दुखी पड़ोसीको निज उरका अर्पित करते निश्छल प्यार।
'जियो, जिलाओ'के होते हैं वे जाज्वल्यमान अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(५)

रजनीकी सुख-सजी सेजका लिया उन्होंने कब आधार?
उनकी चरण-धूलि चन्दन है, पूजनीय वे सभी प्रकार।
मेरे मतमें तो होते हैं वे ईश्वरके ही अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(६)

जब कि किसी दुर्बल भाईकी जर्जर नौकाकी पतवार।
छुट जाती उसके हाथोंसे भँवर-बीच बिलकुल मझधार।
तब वे उसे सहारा देकर ले जाते निश्चय उस पार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(७)

'सत्यं शिवं सुन्दरम्'के वे पग-पगपर पावन अवतार।
अचल केन्द्र अध्यात्म-शक्तिके, अमर साधनाके भंडार।
उनकी चरण-रेणुका कण-कण ही वास्तवमें है हरि-द्वार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(८)

गाते ही रहते हैं प्रतिपल उनकी उर-तन्त्रीके तार—
'भुवन चतुर्दश तीन लोकका सब भौतिक वैभव निस्सार।
ईश-भजन है, ईश-भजन है, ईश-भजन है जगमे सार।'
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(९)

कौन वली, जो उनके उरमें करे निराशाका संचार ?
आशाके अजस्र आराधक, भूप भगीरथके अवतार।
सदाकाल सत्साथी उनके वे अखिलेश्वर करुणागार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१०)

थक जाते हैं शेष-शारदा, और मान लेते हैं हार।
किंतु न मिलता उन्हें लेश भी भक्तोंकी महिमाका पार।
उनके स्वागतद्वारा पुलकित होता ईश्वरका भी द्वार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(११)

नव-निर्माण प्राण हैं उनके जीवन है सुखका संचार।
जन-मन-गण-अधिनायक होते वे भूके बाँके सरदार।
धर्म-युद्धमें उनके रिपुगण करते दारुण हाहाकार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१२)

जननी जन्मभूमि कर उठती जब उनके सम्मुख चीत्कार।
तब वे शान्त नहीं रह पाते करनेको उसका उद्धार।
रख देते हैं भूतल-ऊपर हँसते-हँसते सीस उतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१३)

शोषण या साम्राज्यवादकी दानवीय दूषित दीवार।
उनके नयनोंमें शोणितकी जब करती अविरल बौछार।
क्रांति और विप्लवके बनते तब वे मूर्तिमान अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१४)

हँसते-हँसते उन्हें मृत्युका आलिङ्गन तो है स्वीकार।
अनाचार, अन्याय, अमङ्गलका न उन्हें रुचता व्यवहार।
वे कहते हैं—'पराधीनके लिये निषिद्ध मुक्तिका द्वार।'
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

(१५)

सुरा-पान करते हैं दानव, देवोंका अमृतसे प्यार।
दुग्ध-पान है महि-मण्डलपर मानव-जीवनका आधार।
किंतु हलाहलके प्यालेका वे करते शत-शत सत्कार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार !!

मानसके अनुसार भक्ति-रसमें ध्यान-प्रकार*

(लेखक—मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी, वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न)

श्रितललितसुकूलं सर्वदा सर्वकूलं
खलदलप्रतिकूलं दीनभक्तानुकूलम् ।
रचितसरयुकूलं प्रोल्लसत्सद्दुकूलं
परिहृतजनशूलं नौमि तत्पादमूलम् ॥

संसारके सभी प्राणी जिस अद्वैत अखण्ड आनन्दावाप्तिके सदा इच्छुक रहा करते हैं, वह एकमात्र श्रीहरिके चरणोंमें ही है, अन्यत्र नहीं—ऐसा सत्-शास्त्रोंपर विचार करनेवाले सभीका निर्भ्रान्त सिद्धान्त है; और उस अखण्डानन्त दिव्यानन्दकी प्राप्ति एकमात्र श्रीहरि-कृपासे ही सम्भव है, अन्य उपाय-कदम्बोंसे नहीं—अर्थात् वह क्रियासाध्य नहीं, अपितु कृपासाध्य है; इसलिये प्रत्येक सुखार्थीको श्रीभगवत्-कृपा अपेक्षित है। श्रीभगवत्कृपा कैसे प्राप्त हो, इसे श्रीभगवत्कृपा-प्राप्त अनुभवी दिव्यात्माओंने बताया है। वह यह है कि श्रीहरिमें भाव करनेसे ही भावाधीन श्रीहरि कृपा करते हैं—

भाव बश्य भगवान सुख निधान करुणा भवन ।

श्रीहरिमें भाव करनेके अनेक प्रकार हैं—जैसे वात्सल्य-भाव, सख्यभाव, मधुरभाव और दास्यभाव आदि। श्रीहरिमें हमारा भाव हो, ऐसी प्रबल कामना प्रत्येक विवेकशील प्राणीको करनी चाहिये; क्योंकि भाव ही भजन है, जो भगवान्‌की तरह ही सत्य है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ॥
निज अनुभव अब कहउँ खगेसा । बिनु हरि भजन न मिटहिं कलेसा ॥

विनिश्चितं वदामि ते न चान्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥

मुमुक्षु मानव भगवान्‌को किस भावनासे भजे, इसका निर्णय भगवान् स्वयं करते हैं—

मोहिं तोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै । (विनयपत्रिका)
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते । (गीता)

मुमुक्षा होनेपर जिस जीवको भगवान् जिस भावनासे स्वीकार करना चाहते हैं, उसके हृदयमें वैसा ही भावोद्रेक उत्पन्न करके—दास, सखा, पिता-माता, पुत्र-पुत्री एवं कान्तादि बननेके लिये प्रेरणा करके उसकी पूर्तिमें सहायताका संयोग लगा देते हैं; साथ ही अपने राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिस रूपमें उसका उचित अधिकार समझते हैं, उसी रूपमें उसकी चित्तवृत्तिको आकर्षित करते हैं।

भगवान्‌के श्रीविग्रहमें एवं दिव्यानन्दावाप्तिमें किसी प्रकारका भेद नहीं रहता, परंतु भावानुरूप भगवान्‌के ध्यान-प्रकारमें थोड़ा-सा भेद होना स्वाभाविक ही है। किस भावनावाला भावुक अपने आराध्यका ध्यान कैसे करता है—इसका स्पष्टीकरण उदाहरणोंद्वारा श्रीरामचरितमानसमें किया गया है, जिसका दिग्दर्शनमात्र इस लघु लेखमें किया जाता है।

कोई भी उपासक—प्रेमी अपने प्रेमास्पदका चिन्तन करता है, उस समय उसके हृदयकी जैसी कुछ भावना होती है, प्रेमास्पदका वैसा ही विग्रह हृदय-नेत्रोंके सामने आ जाता है; तब उसी हार्दभावनानुरूप प्रेमास्पदके अङ्गोंपर प्रेमीकी स्थूल दृष्टि पड़ती है। परम प्रेमास्पद भगवान्‌के प्रति वात्सल्य, सख्य, शृङ्गार और दास्य—इन चार रसोंसे आविष्ट भक्तोंका ध्यान भी पृथक्-पृथक् होता है—जैसे माता-पिताकी दृष्टि संतानके मुखमण्डलपर प्रथम पड़ा करती है—यह नैसर्गिक नियम है, जो किसीको सिखाना नहीं पड़ता और मुखसे उतरकर वह सर्वाङ्गपर ठहर जाती है। एतदर्थ इस वात्सल्य-रसासक्तिके लिये मुख-मण्डलसे आरम्भ करके पदप्रान्ततकका ध्यान विहित किया गया है।

भृत्य जब स्वामीके सामने होता है, तब भृत्यकी दृष्टि स्वाभाविक ही स्वामीके पदप्रान्तका प्रक्षालन करती हुई मुखमण्डल तक पहुँचती है। अतएव दास्य-रसासक्त रसिकोंके लिये चरणसे लेकर मुखमण्डलतकके ध्यानका विधान किया गया है। वात्सल्य और दास्य दोनों रसके रसिकोंके ध्यानमें प्रेमास्पद श्रीहरिके सर्वाङ्गका ध्यान आवश्यक माना गया है। अन्तर दोनोंमें यह है कि वात्सल्यभावाविष्ट प्रेमीके प्रेमास्पदका ध्यान प्रथम मुखसे शुरू होता है, अन्तमें पदप्रान्तपर दृष्टि जाती है और दास्य-रसासक्त भावुकका ध्यान पदप्रान्तसे आरम्भ होकर मुखमण्डलपर विराम पाता है। इसी तरह प्रेमी सखाकी दृष्टि प्रियतम सखाके कटि-प्रदेशसे समुत्थित होकर शीश तक जाती है और

* लेखककी अप्रकाशित पुस्तक 'मानस-रत्नावली'के एक अध्यायका संक्षेप।

शृङ्गाररसाप्लुत नायिकाकी दृष्टि प्रियतमके शिरोमण्डलसे होती हुई कटिप्रदेशतक ही सीमित रहती है। सख्य और शृङ्गार रसके रसिकोंके ध्यानमें यही अन्तर है कि सख्यरसात्मक ध्यान कटिसे उठकर शिरस्त्राणतक जाता है और शृङ्गाररसात्मक ध्यान सिरसे प्रारम्भ होकर कटि-प्रदेशपर्यन्त आता है। चारों रसोंके ध्यानका प्रमाण मानसके तत्तत्स्थानोपर दिया गया श्रीरामजीके नख-शिख-शृङ्गारका वर्णन है। कुछ उदाहरण देखिये—

(१)

महर्षि विश्वामित्रजीका भाव श्रीरामजीके प्रति वात्सल्य-मय था; इसीलिये उनकी दृष्टि श्रीरामजीके मुख-मण्डलसे टकराकर पद-प्रान्तके पास आजानु (घुटनोंके नीचेतक) लम्बित बाहुके करपल्लवोंमें धारण किये हुए धनुष-बाणतक गयी, जिसका वर्णन श्रीगोस्वामीजीने अनव-काशके कारण संक्षेपमें किया है। महर्षि श्रीविश्वामित्रजी-की अतित्वरा ही कविके अनवकाशका हेतु है। वर्णन इस प्रकार है—

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरण।
कृपा सिन्धु मतिधीर अखिल बिश्व कारण करण॥
अरुण नयन उर बाहु बिशाला। नील जलद तनु श्याम तमाला॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा॥

(२)

श्रीदशरथाजिरमें विचरते हुए श्रीरामजीको देखनेके लिये काकर्षि श्रीभुशुण्डिजीके पास पाँच वर्षका लंबा अवकाश है, इसलिये वे बड़े आनन्दसे शान्तिपूर्वक भगवच्चरणतलसे मुखमण्डलतक बारंबार अवलोकन करते रहते हैं। देखिये—

नृप मन्दिर सुन्दर सब भाँती।(उत्तर० दो० ७५ की दूसरी चौपाई)से
किलकनि चितवनि भावति मोही।(उत्तर० ७६ की आठवीं चौपाई)तक

श्रीकाकर्षिजीका भाव तो दास्य-रसान्वित है ही, यह उनके—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

—इस कथनसे ही स्पष्ट है और श्रीभुशुण्डिजीको भी विश्वास है कि श्रीरामजी मुझे अपना दास जानते एवं मानते हैं। इसीसे वे कहते हैं—

निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह।

और 'ज्ञानी भक्तशिरोमणि' सकल पक्षियोंके राजा त्रिभुवनपति-वाहन श्रीगरुड़जी भी यही कहते हैं—

रघुनायक के तुम प्रिय दासा।

(३)

इसी तरह स्वयं श्रीशंकरजीका ही—

रघुकुलमणि मम स्वामि सोइ कहि शिव नायउ माथ।

—यह उद्गार कह रहा है कि आपका भाव श्रीकौसल्यानन्द-वर्द्धन आनन्द-कन्द श्रीरघुचन्द्रजीके प्रति दास्य-रसान्वित ही है। श्रीशिवजीको कोई जल्दी नहीं है, इसीसे वे शान्तिपूर्वक आनन्दके साथ बार-बार राम-रूपको निहारते हैं—

राम रूप नख शिख सुभग बारहिं बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥

—और अवसर पाकर अर्थात् जब अपने इष्ट रूपका वर्णन करना था, तब अपने नित्य वन्दनीय—

बंदौं बाल रूप सोइ रामू।

—का नख-शिख वर्णन शंकरजीने विस्तारके साथ किया है—

काम कोटि छबि श्याम शरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुण चरण पंकज नख ज्योती।(बा० दो० १९८ चौ० १)से
तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी॥(बा० दो० २०० चौ० २)तक

अन्तिम पंक्तिका 'भवानी' सम्बोधन स्पष्ट कर रहा है कि यह नख-शिख-वर्णन श्रीशंकरजी कर रहे हैं। श्रीशंकरजी ध्यानके नेत्रोंसे पीत झीनी झँगुलियाके नीचे भी दिव्य मङ्गल-विग्रह श्रीभगवान्‌के वक्षःस्थलपर 'विप्र-चरणाङ्क' देख रहे हैं; परंतु श्रीभुशुण्डिजी तो राजप्राङ्गणमें—

बिचरत अजिर जननि सुखदाई।

—के रूप-रसका पान प्रत्यक्ष चर्मचक्षु-पुटोंसे कर रहे हैं। इसलिये उन्हें—

उर आयत भ्राजत बिबिधि बाल बिभूषण चीर।

—के बीच उस आनन्द-कन्दके वक्षःस्थलपर सुलाञ्छित 'विप्र-पद-लाञ्छन' का साक्षात्कार नहीं होता था। इसीसे श्रीभुशुण्डिजीने उस समय उस विप्रपादाङ्ककी चर्चा नहीं की।

(४)

श्रीस्वायम्भुव मनु-दम्पतिको पहले, जबतक श्रीसीता-रामजीका साक्षात्कार नहीं हुआ था, तबतक श्रीहरिमें दास्य-भाव ही था। तभी तो—

प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥

परंतु जब युगल-सरकार श्रीसीतारामरूप दिव्य दम्पतिका साक्षात्कार हुआ, तब युगलकिशोरको देखते ही एक

मन्वन्तर (दो सौ पचासी युगसे अधिक) राज्य करके तप करनेवाले वृद्ध मनुके हृदयमें ऐसी अवस्थामें जो समुचित था, उसी वात्सल्यका उद्रेक हो आया; तभी तो उनकी प्रथम मुखपर ही दृष्टि गयी, तब क्रमशः सर्वाङ्गपरसे फिसलती हुई दृष्टि चरणोंपर विरामको प्राप्त हो गयी—

सरद मयंक बदन छबि सींवा । (बा० दो० १४६ चौ० १) से
पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । (बा० दो० १४८ चौ० १) तक

स्मरण रहे कि मानसमें अनेक स्थानोंपर भगवन्नख-शिखका वर्णन है, परंतु इस मनु-प्रकरणकी नख-शिख-वर्णनशैलीमें अन्य स्थलोंसे थोड़ा अन्तर है और उस अन्तरने इसमें एक अनूठी छटा ला दी है । उस अन्तरका कारण लेखककी 'मानस-रत्न-मञ्जूषा' पुस्तकके 'छवि-समुद्रके रत्न' शीर्षक निबन्धमें किया गया है ।

मनुके हृदयमें वात्सल्यभावने अड्डा तो जमा ही लिया, परंतु उन्हें अटल विश्वास नहीं हो रहा था कि जगज्जनक प्रभु मुझे पिता कहेंगे । इसीसे महादानीके अभय-वचन सुन अविश्वस्त मनमें धैर्य धरकर बोले—

नाथ कहौं सतिभाव······चाहौं तुमहिं समान सुत ··

और इसके बाद भी प्रणाम करके माँगा कि—

सुत बिषयक तव पद रति होऊ । मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥
अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ ।

तब प्रभुने भी उन्हें पिता(तात)कहकर सम्बोधित किया—

तहँ करि भोग बिसाल तात गए कछु काल पुनि ।
पुनि पुनि अस कहि कृपा निधाना । अंतरधान भए भगवाना ॥

भगवान्‌ने उन्हें जब तात (पिता) कहकर सम्बोधित किया, तब मनुजीका वात्सल्य विश्वास करने योग्य हो गया । इसीसे उन्होंने प्रभुके अन्तर्हित होते समय उन्हें प्रणाम नहीं किया । लङ्कामें भी ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादिकोंको प्रणाम-स्तवन करते देखकर भी उन्हें प्रणाम नहीं किया, वर प्रभुने ही उनकी वात्सल्यप्रवणता देखकर स्वयं प्रणाम किया—

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा । आसिरबाद पिता तब दीन्हा ॥

और जब श्रीरामजीने प्रथम प्रेमका अनुमान करके दृढ ज्ञान दे दिया, तब उलटे प्रभुको ही बार-बार प्रणाम करने लगे; क्योंकि अब पितृत्व—वात्सल्य छूट गया । अतः—

बार बार करि प्रभुहिं प्रनामा । दसरथ हरषि गयउ सुरधामा ॥

(५)

महारानी श्रीसीताजी शृङ्गार-रसकी अधिष्ठात्री देवी हैं और श्रीरामाभिन्न श्रीरामका अपर विग्रह होते हुए भी लीलार्थ अवतरित हैं । आपसे ही शृङ्गारका परमोत्कर्ष है, तो भी आपने प्रत्यक्षमें कवि-कल्पित शृङ्गार-रसकी उच्छृङ्खल नायिकाओंकी तरह कहीं भी किसीके सामने हाव-भाव न दिखलाकर अपनी पतिपरायणताको दास्य-भावनाके रूपमें व्यक्त किया है । इसीलिये प्रथम दर्शनमें 'नख सिख देखि राम कै सोभा' (बा० का० २३३ । ४) से लेकर लङ्का-विजयके बाद सप्त-द्वीपाधीश्वरी होनेपर भी वे अपने प्रियतमके चरणोंमें ही रति रखती हैं—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी । बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ॥
निज कर गृह परिचर्जा करई । रामचंद्र आयसु अनुसरई ॥
जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ ॥

इसीसे विवाहके अवसरपर भी आपने विवाह-मण्डपमें शुभदृष्टिके समय भी दास्यरसाविष्ट भावुकोंकी तरह ही श्रीरामरूपको पदप्रान्तसे आरम्भकर शिरोदेशतक देखा—

पुनि पुनि रामहि चितव सिय···········।
जावक जुत पद कमल सुहाए ॥ (बालकाण्ड दोहा ३२६)
से लेकर
सोहत मौर मनोहर माथे । मंगलमय मुकुता मनि गाथे ॥
(दोहा ३२७ चौ० १०) तक ।

श्रीरामजीने तो श्रीस्वामिनीजूको शृङ्गारिक रूपमें ही ग्रहण किया है; इसीलिये श्रीजूकी ओरसे कोहबरमें, वनगमनके समय, वनमें और लङ्का आदि अनेक स्थलोंपर मर्यादित शृङ्गार प्रकट हुआ है, यद्यपि श्रीजीने अपनी शृङ्गारिक भावनाको सर्वत्र गोप्य ही रखा है । स्मरण रखना चाहिये कि शृङ्गार-भावना गोप्य रखने—केवल हृदयमें अनुभव करनेकी निधि है, प्रदर्शन करने-करानेकी वस्तु नहीं—

कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही ॥ ··· उर अनुभवति न कहि सक सोऊ ॥

जिस जनकपुरके लिये 'शृङ्गारो जनकगृहे रघुवरान्० ।' कहा गया है, वहाँ यदि शृङ्गार प्रकट हुआ तो समुचित स्थान होनेसे किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं ।

(६)

जनकजीके धनुर्मखाङ्गणमें जनकपुरके सभी लोग एकत्र हैं और जनकपुरमें शृङ्गार-भाव प्रधान होनेसे वहाँके वक्ताओंने मुखसे लेकर कटितकका ही वर्णन किया है—

सरद चंद निंदक मुख नीके । (बा० का० २४३ । २)
कटि तूनीर पीत पट बाँधे । (बा० का० २४४ । १)

और वहाँ दास्य-रस गौण होनेसे आधी ही चौपाईमें कहा गया—

नख सिख मंजु महाछबि छाए ।

(७)

श्रीजनकजीकी पुष्पवाटिका तो शृङ्गार-रसकी खानि ही है। इसलिये शृङ्गार-रसप्रधाना श्रीजूकी अन्तरङ्गा सखियोंने श्रीरामरूपको देखकर उसका वर्णन शिरोदेशसे लेकर कटि-पर्यन्त ही किया है—

मोरपख सिर सोहत नीके । (बा० का० २३३ । २)
केहरि कटि पट पीत धर० ॥ (दोहेके अन्ततक)

(८)

श्रीशंकरजीका तो अपना दास्यभाव ही है, इसीसे जनकपुरमें भी नखसे लेकर शिखतक देखा—

राम रूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि ॥

स्मरण रहे—यहाँ 'पुलक गात लोचन सजल' केवल पुरारि शंकरजीके ही हैं, उमा—सतीके नहीं। यहाँपर 'उमासमेत' तो पुरारिका विशेषण है; क्योंकि सती-त्यागके पूर्व शिवजी जब अपने असली रूप—पञ्चमुख, मुण्डमाली कैलासपति-शरीरसे कहीं जाते थे, तब उमा—सती साथ ही रहती थीं। इसीसे 'उमासमेत' कहा। और इसके पूर्व जो—

सिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा । चढ़े बिमाननि नाना जूथा ॥

—कहा है, वहाँ इन विबुध-वरूथोंमें शिव और विष्णुके अतिरिक्त किसी देवताके साथ उसकी पत्नी नहीं है। देव स्त्रियोंका समाज अलग है, परंतु रमा—लक्ष्मी और उमा—सती निज-निज पतियोंके साथ हैं; इसीलिये 'उमासमेत पुरारि' कहा गया है।

(९)

मिथिला-नगर-दर्शनमें उन षोडशवर्षीय अवधेश-बालक श्रीराम-लक्ष्मणजीके नगरमें प्रवेश करते ही नगरद्वारपर ही मैथिलीय बालकवृन्द मिले। समवयस्क बालकोंमें वयस्यता होना स्वाभाविक ही है। अतएव मैथिल बालकोंका प्रभुके प्रति सख्यभाव होनेसे उनकी दृष्टि सरकारके कटिप्रदेशसे उठकर शिर-प्रदेशतक गयी—

पीत बसन कटि परिकर भाथा ·· · मचक कुचित केस ॥
(बालकाण्ड २१९)

परंतु मानसके भाषान्तरकार कवि पूज्य श्रीगोस्वामीजी तो दास्य-रसान्वित हृदयवाले ही ठहरे। इसीसे तुरत ही—

नख सिख सुन्दर बन्धु दोउ सोभा सकल सुदेस ।

—कह दिया। अतः जहाँ कहीं भी मानसमें व्यास समासमें कैसा भी श्रीरामजीके नख-शिखका वर्णन है, वहाँ-वहाँ वह सहेतुक है; उपर्युक्त नियमानुसार पूर्वापर प्रकरण देखकर तदनुकूल उसका भाव समझ लेना चाहिये कि यह भक्तिके किस रसके रसिक महानुभावका ध्यान है।

लक्ष्मणजीकी अनन्य प्रीति

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं । लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नर बर धीर धरम धुर धारी । निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला । मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

(अयोध्याकाण्ड)

मानसमें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

'कल्याण'के विद्वान् सम्पादकने 'कल्याण' के 'भक्ति-अङ्क' के लिये 'मानसमें भक्ति'-सम्बन्धी एक लेख लिखनेको मुझे आज्ञा दी । मैं मानसका स्वाध्यायी जरूर हूँ, आस्तिक भी हूँ और अपने देवी-देवताओं और धर्मग्रन्थोंका अन्धश्रद्धालु भी हूँ; पर मानसमें महात्मा तुलसीदासने भक्तिका जो निरूपण किया है, उस भक्तिकी मिठासका अनुभव मुझे बिल्कुल नहीं है । यह बात मैंने सम्पादकजीको लिख भेजी और प्रार्थना की कि 'मुझे क्षमा करें । मैं जो कुछ लिखूँगा, वह मेरा न होगा, तुलसीदासजीकी चोरी होगी या उनसे उधार लेकर ही लिखूँगा । अभी तो युधिष्ठिर महाराजकी व्याख्याके अनुसार मेरी गिनती मूर्खोंमें ही की जायगी ।' युधिष्ठिर महाराजने 'महाभारत' में मूर्ख और पण्डितकी व्याख्या इस प्रकार की है—

पठकाः पाठकाश्चैव चान्ये शास्त्रविचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

अर्थात् पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले और शास्त्रका मनन-चिन्तन करनेवाले—ये सब व्यसनी और मूर्ख हैं; पण्डित तो वही है, जो क्रियावान् है ।

फिर भी सम्पादक महोदयने मुझे क्षमा नहीं किया और मानसकी भक्तिपर कुछ-न-कुछ लिख देनेका ही आदेश दिया । इसीसे यह अनधिकार चेष्टा मैं कर रहा हूँ ।

मैं तुलसीदासजीको हिंदू-जातिकी रक्षा करनेवाला एक क्रान्तिकारी नेता मानता हूँ । ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनियों और परम प्रतापी चक्रवर्ती सम्राटों तथा तत्त्वदर्शी विद्वानों और कवियोंसे उद्दीप्त हिंदू-जातिकी रक्षा करनेके लिये मानो उन्होंने अवतार लिया था । कविता तो अपनी बातोंको सरस और हृदयग्राही बनानेके लिये उनका एक साधनमात्र थी ।

तुलसीदासजीके जमानेमें मुसल्मानी शासनसे हिंदू-जाति और हिंदू-धर्मपर आघात-पर-आघात पड़ रहे थे और अपने धर्मग्रन्थोंमें अपनी रक्षाकी शक्ति रखते हुए भी वह उससे अनभिज्ञ थी और भीतर-ही-भीतर छिन्न-भिन्न हो रही थी । तुलसीदासजीने उसके नष्ट-भ्रष्ट होनेका कारण खोज लिया और एक वीर पुरुषकी तरह वे उसकी रक्षाके लिये छाती ठोंककर खड़े हो गये । मानस उन्हींके उद्देश्यका एक लिखित रूप है ।

मुसल्मानी धर्म इस देशमें बाहरसे आया । वह भारती- संस्कृतिसे मेल नहीं खाता था, पर उसमें अशिक्षित जनता- लिये जबर्दस्त प्रलोभन था । मुसल्मानी मजहबमें एक ही खुद- था, जो बहिश्तमें दरबार लगाकर रहता था और ब- शासकोंकी तरह मुसल्मानी धर्म न माननेवालोंको दण्ड देता थ- और माननेवालोंके अपराध भी क्षमा कर देता था । उन- मुकाबलेमें हिंदुओंमें सैकड़ों देवता थे, जिनमें प्रत्येक मुँह- माँगा वर देनेवाले, परम स्वतन्त्र और महान् शक्तिशाली थे- प्रत्येक हिंदू-धर्मानुयायी किसी-न-किसी देवताका उपास- था । मुसल्मानोंकी एक ही पुस्तक थी, जिसमें लिखी हुई बातों- मानना ही मुख्य धर्म था, जब कि हिंदुओंके पास कम-से- कम चार ग्रन्थ—वेद थे । हजरत मुहम्मद ही एकमात्र खुदा- आज्ञावाहक थे । मुसल्मानोंमें विचार-स्वातन्त्र्य बिल्कुल नह- था । इसके सिवा मुसल्मानोंके सामाजिक जीवनके निय- भी ऐसे थे, जिनसे उनका संगठन प्रतिसप्ताह और प्रतिव- नये सिरेसे ताजा और पुष्ट होता रहता था । वे सप्ताहमें- एक दिन जुमा—शुक्रवारको मस्जिदमें एकत्र होते और सा- बैठकर नमाज पढ़ते और सामाजिक एकताको पुनर्गठित क- लेते थे । वहीं एकान्तमें वे 'हिंदुओंके साथ किस प्रका- मोर्चा लिया जाय' इस विषयपर निर्भयताके साथ खुलक- बातें करते और आगेका कार्यक्रम निर्धारित करते थे । वर्ष- एक दिन मीलों दूरके मुसल्मान दरगाहमें एकत्र होते, आपस- मे गले मिलते और अपना सामाजिक बल बढ़ानेकी तरकी- सोचते और घर लौटकर उसीके अनुसार बर्ताव करते थे । उनके-जैसा संगठन हिंदुओंमें नहीं था । हिंदुओंमें ही नहीं- ईसाई, यहूदी, पारसी, चीनी आदि किसी जातिमें भी, जिनके पास ईश्वरीय धर्मग्रन्थ पाये जाते हैं, समाजको संगठित बना- रखनेकी ऐसी युक्ति नहीं पायी जाती । उनके मुकाबलेमें हिंदुओंमें जप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना आदि भी—एकान्तमें अलग बैठकर करनेके नियम प्रचलित हैं । इस प्रभावसे हिंदुओंकी वे जातियाँ, जो उच्च वर्गवालोंसे प्रताड़ित थीं, स्वभावतः हिंदू-समाजसे और हिंदूधर्मसे विरक्त हो रही थीं । उनकी मानसिक स्थिति भी डाँवाडोल थी, धर्मग्रन्थ भी कोई एक नहीं था । विचार-स्वातन्त्र्य इतना खुला हुआ था कि चार्वाक, जो वेद और ईश्वरको नहीं मानता, उसका दर्शन भी शिक्षाका एक विषय बना दिया गया था । पाँच-

हजार वर्ष पहले भी विचारोंकी यह विभिन्नता समाजमें व्याप्त थी। महाराज युधिष्ठिरने अपने समयकी इस दशाका चित्रण इन शब्दोंमें किया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महा० ३ । ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है। श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। एक ही ऋषि नहीं हैं कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।'

महाजनका भी कोई निश्चित पंथ नहीं था। सबका चुनाव अलग-अलग था।

पाँच हजार वर्ष पहले जिस जातिमें ऐसा मतान्तर घर किये हुए था और वह पाँच हजार वर्षोंतक लगातार बढ़ता ही रहा था, वह जाति एक धर्म और बल-वर्द्धक सामाजिक नियमोंसे सुसंगठित मुसल्मान जातिका मुकाबला कैसे कर सकती थी? हिंदुओंमें तो भगवान्‌की शरणमें आकर भी एक साथ बैठकर जप, तप, ध्यान, पूजन और भजन करनेका नियम नहीं था। सप्ताहकी तो बात ही क्या, वर्षभरमें भी कोई एक निश्चित दिन नहीं था, जब कि हिंदूलोग मित्र और भाई-भाईकी तरह साथ बैठकर अपने समाजकी दशापर विचार करते और इसपर भी तर्क-वितर्क करते कि नये आये हुए धर्म और उसके माननेवाले विधर्मी शासकोंसे अपनी जाति और धर्मकी रक्षा कैसे की जाय। तुलसीदासजीने हिंदू-जातिकी इस कमजोरीको पहचान लिया और उन्होंने उसके दुर्गुणोंको दूर करनेके लिये प्रयोग शुरू किया। वह प्रयोग ही 'मानस' है। उन दिनों हिंदुओंमें, खासकर संतों और वेदान्तियोंमें, निर्गुण ब्रह्मकी चर्चा जोरों-पर थी; किंतु उन मतोंके माननेवालोंके लिये परलोकमें सांसारिक सुखोंकी वे सुविधाएँ नहीं थीं, जो मुसल्मानी धर्ममें थीं। उनका स्वर्ग तो एक नगर-सा बसा हुआ था, जिसमें हूर और गिलमेंतक मिलते थे। इससे निर्गुण ब्रह्मकी व्याख्या न समझ सकनेवालोंको मुसल्मानी स्वर्ग ज्यादा सुलभ और स्पृहणीय लगने लगा था। विचार-स्वातन्त्र्य तो इतना बढ़ गया था कि शैव और वैष्णव एक दूसरेका सिर फोड़ना भी अपने धर्मका अङ्ग समझने लगे थे।

अथर्ववेदके 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' वचनसे तो शैव और वैष्णव दोनों अभिज्ञ थे, पर उसका अनुसरण कोई नहीं करता था। ऊपरसे विधर्मी शासकोंका उत्पात तो साँस ही नहीं लेने देता था। इसका दिग्दर्शन तुलसीदासजीने 'बालकाण्ड' में इस प्रकार किया है—

देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥
जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुन उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥
बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

एक ओर हिंदू-जातिपर ऊपरसे यह मार-पर-मार पड़ रही थी, दूसरी ओर सामाजिक विशृङ्खलता ऐसी फैल रही थी कि हिंदू-जाति बिना पतवारकी नाव हो रही थी। तुलसी-दासके समकालीन हिंदू-समाजकी जो दशा थी, उसका भी वर्णन उत्तरकाण्डमें इस प्रकार किया गया है—

कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
भए लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलि धर्म॥
बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥
असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

वर्णित है, उसका पाठ महात्मा गाँधीको पितामहसे विरासतमें मिला था और सचमुच उसी रथपर बैठकर महात्मा गाँधीने विजय प्राप्त की थी।

महात्मा तुलसीदासको क्या यह भी मालूम था कि सुराज या स्वराज्यका जो सचालन करेंगे, वे हिंदू-धर्मग्रन्थोंका सहारा नहीं लेंगे और धर्म-निरपेक्ष राज्य चलायेंगे ? उन्होंने उनके लिये रामके मुखसे हनुमान्‌जीको अपने अनन्य भक्त-का स्वरूप इस तरह कहलाया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत॥

अर्थात् ईश्वरको नहीं मानते हो, तो यह चराचर जगत् ही ईश्वरका रूप है, इसीके सेवक बनो। तुलसीदासजीने मानसभरमें रामका कोई एक निश्चित रूप निर्धारित नहीं किया। बल्कि उनके समयमें जितने मत, सम्प्रदाय और उपासनाके अन्य केन्द्र थे, रामको सबसे सम्बद्ध बताया है। शिव रामके भक्त थे और राम शिवके भक्त थे। इस तरह वैष्णव और शैव—दो बड़े सम्प्रदायोंका कलह शान्त हुआ।

कागभुसुंडि कौवा थे, जो पक्षियोंमें चाण्डाल गिना जाता है; उसे ऊँचे आसनपर बैठाकर उसके मुखसे राम-कथा कहलायी, जिसे पक्षियोंके राजा गरुड़ने आसनसे नीचे बैठकर सुना। इस तरह गुणको जाति-पाँतिसे ऊँचा दिखलाया और उच्चवर्गका मार्ग-प्रदर्शन किया।

तुलसीदासजीने रामको आदर्श पुरुष और महाराज दशरथके परिवारको आदर्श परिवारका रूप दिया है तथा महाराज दशरथके परिवारके स्त्री-पुरुषोंके स्वभावोंका चित्रण उसी प्रकार किया है, जिस प्रकारके स्वभाववाले पात्र उस समयके हिंदू-परिवारोंमें थे। इससे पात्रोंको अपने गुण-दोषोंका तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

सारा मानस भक्तिके प्रसङ्गोंसे भरा है। तुलसीदासजीने व्यक्तिगत चरित्रकी शुद्धिको ही रामकी भक्तिमें प्रमुख स्थान दिया है। जैसे—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(अरण्यकाण्ड)

इस तरह एक-एक व्यक्तिका जीवन भक्तिमय होकर शुद्ध हो जायगा तो उससे बना समाज सुदृढ और उन्नतिशील बन जायगा।

तुलसीदासजीने हिंदुओंको एक साथ मिलने-जुलने, बैठने-उठने और विचार-विनिमयके लिये कई केन्द्र स्थापित किये; जैसे—कीर्तन, रामलीला, तीर्थ-माहात्म्य, गङ्गाजीका 'दरस परस मज्जन अरु पाना', राम-कथाका श्रवण आदि। तुलसीदासजी अपने वर्तमान कालको देखते हुए अपने प्रयोगकी रक्षामें भी जागरूक थे। उन्होंने कलियुगमें हिंदूजातिकी दुर्दशाका चित्रण तो किया, पर अपने किसी ग्रन्थमें 'हिंदू' शब्द नहीं आने दिया; क्योंकि सम्भव था कि 'हिंदू' शब्दसे मुसल्मान शासकोंके कान खड़े हो जाते और वे मानसको ही निर्मूल करनेमें लग जाते।

मानस हिंदूजाति और हिंदूधर्मकी रक्षा और वृद्धिके लिये तुलसीदासका एक प्रयोग है, जो गत तीन सौ वर्षोंसे निरन्तर चल रहा है और यह तबतक चलता रहेगा, जबतक देशमें रामराज्य नहीं कायम हो जायगा।

भगवत्कृपा

तुलसीदासजी कहते हैं—

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥

(बालकाण्ड)

श्रीरामचरितमानसमें भक्ति-निरूपण

(लेखक— [illegible] रामायणी, मानस-तत्त्वान्वेषी)

[illegible] 'श्रीरामचरितमानस' भक्ति-[illegible] है। [illegible] इसकी रचना [illegible] और निवारक हो [illegible] प्रेम परिमिति [illegible] ([illegible] २० । १४) कथन कर गये हैं। 'परिमिति' [illegible] यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रीरामकी [illegible] प्रतिपादक ऐसा अन्य दूसरा नहीं है।

[illegible] 'भक्ति-तत्त्व' का विविध-विधानपूर्वक [illegible] किया गया है। यथा—

[illegible] । [illegible] हुम [illegible] निनाना ॥
(बाल० ३६ । १३)

[illegible] धातुके आगे 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़नेसे भक्ति-[illegible] है। इसका अर्थ 'सेवा' है। आत्मकल्याण [illegible] लिये भक्तिका विधान किया गया है। यथा—

[illegible] आसना ॥

यह भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) अभेद-भक्ति और दूसरी (२) भेद-भक्ति। अभेद-भक्तिको ही ज्ञान [illegible] है। यथा—

[illegible] इति वृत्ति [illegible] । दीपशिखा सोइ परम प्रचंडा ॥
... ...
[illegible] नहिं भेदा । बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥
—इत्यादि

इस प्रकार भजन (भक्ति) करनेवालेको परम सिद्धि-[illegible] प्राप्ति होती है तथा वह भगवत्स्वरूपमें लीन हो जाता है। [illegible] 'निर्वाण-मुक्ति' कहते हैं।

भेद भक्तिमें [illegible]-सेव्य-भाव प्रधान (मूल) रूपसे रहता है। इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले भक्तजन आयी हुई मुक्ति-[illegible] भी ग्रहण नहीं करते। उनका साधन और सिद्धि दोनों [illegible] होता है।

यथा—

[illegible] मुक्ति निरादरि भगति लोभाने ॥
[illegible] । प्रथमहिं भेदभगति बर लाऊ ॥
[illegible] । तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ॥
[illegible] ॥ अस्तु

[illegible] कहा गया है—

[illegible] नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

प्रयोजन तथा अधिकारीके भेदसे भक्तिके अनेक विधान हैं। विषाद-नाशके लिये निषादराजके प्रति श्रीलक्ष्मणजी-द्वारा ज्ञान वैराग्य एवं भक्तियुक्त वाणी कही गयी है। (२। ८९–९३। १) भगवत्कृपा-सम्पादनके लिये स्वयं भगवान् श्रीरामद्वारा लक्ष्मणजीके प्रति 'भक्ति-योग' का कथन किया गया है (३। १३। ५–१६। १)। तथा स्थान स्थानपर जन्म फल-प्राप्तिके लिये, सर्वसाधारणके लिये, श्रीशबरीजीके प्रति नवधा भक्ति तथा भागवत-कथित नवधा-भक्ति (श्रवनादिक नवभक्ति दृढ़ाहीं) वर्णाश्रमधर्मानिकारियोंके लिये कथन की गयी है। यथा—भगति के साधन कहौं बखानी॥

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज करम निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥

साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है, वैधी और रागानुगा। शास्त्रोपदेश-श्रवणद्वारा जो मनुष्यका भगवच्चरणोंमें अनुराग होता है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं। यथा—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

तथा स्वाभाविक अनुरागसे भजनमें प्रवृत्ति होनेपर उसे रागानुगा कहते हैं। यथा—

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा आर्त—चारों प्रकारके भक्तोंके लिये गौणी (वैधी) भक्तिका विधान है। यथा—

ज्ञानीके लिये—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥

जिज्ञासुके लिये—

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥

अर्थार्थीके लिये—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

आर्तके लिये—

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

इसके अलावा

अविरल भक्ति, यथा—अविरल भगति बिरति सतसंगा ॥

अविरल प्रेम-भक्ति, यथा—अविरल प्रेम भगति मुनि पाई ॥

अनूपा भक्ति, यथा—पंथ कहत निज भगति अनूपा ।
भगति तात अनुपम सुख मूला । राम भगति निरुपम निरुपाधी ॥

दृढ राम-भक्ति, यथा—राम भगति दृढ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ॥

परम भक्ति, यथा—लीन्हेसि परम भगति बर मागी ॥

अनपायिनी भक्ति, यथा—अनपायिनी भगति प्रभु दीन्ही ॥

निर्भरा भक्ति, यथा—भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे ।

भाव-भक्ति, यथा—भाव भगति आनंद अघाने ॥

अखण्ड भक्ति, यथा—मति अकुंठ हरि भगति अखंडा ॥

विशुद्ध अविरल भक्ति, यथा—अविरल भक्ति बिसुद्ध तव ।

सब सुख खानि भक्ति, यथा—सब सुख खानि भगति तैं मागी ।

चिन्तामणि भक्ति, यथा—राम भगति चिंतामनि सुंदर ।

फलरूपा भक्ति, यथा—सब कर फल हरि भगति सुहाई ।

संजीवनी भक्ति, यथा—रघुपति भगति सजीवनि मूरी ।

—आदि अनेक भक्तिके विधानोंका 'मानस' में यथास्थान निरूपण हुआ है। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें संसारसे उत्पन्न दुःखके हरणरूप फलमें तो कोई भेद नहीं है, समानता है। यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

कारण, भक्तिके लिये एक स्थानपर कहा है—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥

सो यह नाम-जपसे बढ़नेवाली भक्ति है। वर्षा कभी होती है, कभी नहीं होती और कभी स्वल्पाधिक भी होती है। इसी प्रकार नाम-जप भी कभी होता है, कभी विच्छिन्न हो जाता है। पुनः चित्तवृत्तिकी अखण्डताके लिये दूसरे स्थानपर 'राम भगति जहँ सुरसरि धारा' कहा गया है। भक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न होना चाहिये, इसलिये 'धारा' कहा गया। राम-भक्तिको गङ्गा कहनेका भाव यह है कि जिस भाँति गङ्गाजी पापोंका हरण करती हैं, उसी तरह भक्ति भी अभ्यन्तर-मल दूर करती है। यथा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई ॥

गङ्गा और भक्ति दोनोंकी उत्पत्ति हरि-चरणोंसे हुई है। भक्ति भी गङ्गाजीकी तरह भगवच्चरणोंके ध्यानसे उत्पन्न होकर सबको पवित्र करती है। तथा दोनों ही भगवान् शंकरजीको प्रिय हैं। गङ्गा अविरल बहती है और इसमें पवित्रता (निष्कामता) का गुण है। तथा संतुष्टता और अखण्डता भी इसमें हैं। यह भी नाम-जपरूपी वर्षाकी धारासे ही पुष्ट होती है।

एक काम-पूरा भक्ति है, उसे जहाँ-तहाँ कामधेनु और कल्पवृक्षसम कहा गया है। एक प्रकाशिका भक्ति है, जिसे 'राका' रजनी भगति तव' तथा 'राम भगति चिंतामनि सुंदर' कहा गया है। 'राका-रजनी' शारदीय पौर्णमासीकी रात्रि है। इसमें रात्रिके दुःख-दोष कुछ भी नहीं होते। प्रत्युत शीतल होनेसे दिनकी अपेक्षा भी यह अधिक सुखदायिनी होती है। इस रात्रिमें भी भगवन्नामका परम-प्रकाश है। यथा—

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥

दूसरी भक्ति 'चिन्तामणि' है, जो 'परम प्रकास रूप दिन राती' है। ज्ञान-दीपसे जो वस्तु-दर्शन होता है, वही वस्तु-दर्शन 'मणि'से भी होता है। यह द्विविध है—एक तो नामोच्चारणरूपा और दूसरी अखण्डस्मरणरूपा है। पर यह भक्ति खोजनेसे मिलती है। यथा—

भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

यह साधनजन्य नहीं, स्वतःसिद्ध है। सत्सङ्गमें, सत्-शास्त्रमें अन्वेषण (अनुसंधान) करनेसे मिलती है। यहाँ मर्मज्ञका साथ होना आवश्यक है तथा सुबुद्धिकी भी अपेक्षा रहती है। 'ज्ञान-दीपक' को बुझाकर इस 'मणि' की प्राप्ति नहीं होगी, किंतु ज्ञानको नेत्र बनाकर उसकी प्राप्ति करनी होगी। यथा—

पावन पर्बत बेद पुराना । राम कथा रुचिराकर नाना ॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी । ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

देहाभिमानको मिटाने, दरिद्रताको दूर करनेके लिये यह सम्पत्तिरूपा है। इसमें कामादि षड्विकार और अज्ञानकी विनाशिका शक्ति है। अतः दोनों (ज्ञान और भक्ति) में 'भव-सम्भव खेद-हरण' रूपफलमें तो कोई अन्तर नहीं है। किंतु भक्ति और ज्ञानमें वस्तुसाम्यकी दृष्टिसे बहुत बड़ा भेद है। (१) भक्तिके स्वरूप, (२) साधन, (३) फल और (४) अधिकारीमें विलक्षणता है। सर्वत्र 'निज प्रभु मय देखहिं जगत'

'भक्ति' तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि रखना—'देख ब्रह्म समान सब नाहीं' 'ज्ञान' का स्वरूप है। (२) राम-गुण-ग्रामसे भरी हुई रामकथाका श्रवण करना 'भक्ति' का साधन है। तथा 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' (तत्त्वमसि) और 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा' (अहं ब्रह्मास्मि) आदि महावाक्य 'ज्ञान' के साधन हैं। (३) राम-प्रेमकी प्राप्ति 'भक्ति' का फल है और अज्ञानकी निवृत्ति 'ज्ञान' का फल है। (४) भक्तिमें प्राणिमात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधन-चतुष्टय-सम्पन्न द्विजमात्रका ही अधिकार है।

ज्ञान और भक्ति दोनोंका एक ही व्यक्ति एक साथ अनुष्ठान भी नहीं कर सकता। भक्त तो भगवच्चिन्तनमें सर्वदा मग्न रहता है और ज्ञानी (जिज्ञासु) विचारमें। ज्ञानीको 'दृष्ट' एवं 'आनुश्रविक'—सभी प्रकारके विषयोंसे वैराग्य होता है, वह दृश्यादृश्य सभी सृष्टिको मिथ्या समझता है। ऐसी दशामें उसका भगवान्‌के भी नाम-रूपादिमें कैसे प्रेम हो सकता है। बिना इनमें अनुराग हुए वह इनका (भगवान्‌का) चिन्तन (स्मरण) भी कैसे कर सकता है।

ज्ञान-मार्ग तो तलवारकी धारपर चलनेके समान बड़ा कठिन है। यथा—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।
(कठ० १। ३। १४)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥

इस मार्गमें पतन होते देर नहीं लगती। इधर भक्तिमार्ग बड़ा सुगम पथ है। यथा—सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी। इस प्रकार सुभीतेपर ध्यान देनेसे ज्ञान और भक्तिमें बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। ज्ञानी तो अपने पुरुषार्थ (शक्ति) से काम लेता है और भक्त भगवान्‌के चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पणकर निर्भय हो जाता है तथा निश्चिन्त रहता है। भक्तकी पूरी जिम्मेदारी भगवान्‌पर आ जाती है। फलतः ज्ञानीको बड़े विकट प्रत्यूहों (विघ्नों) का सामना करना पड़ता है। यथा—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहि सोऊ॥

पर भक्तको भगवदनुग्रहके कारण किसी प्रकारके विघ्न बाधा नहीं पहुँचाते। यथा—

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥

भक्तको तो साधनकालसे ही आनन्द-ही-आनन्द है। यथा—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
सुनि मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

जदपि प्रथम दुख पावै रोवै बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

भक्ति केवल भाव ही नहीं है, किंतु सर्वोपरि प्रधान 'रस'-स्वरूप है। यथा—

'हरि पद रति रस बेद बखाना।' 'ग्यान बिराग भक्ति रस सानी।' 'सुनि रघुबीर भगति रस सानी।'

श्रुतिमें कहा है—

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
(तैत्तिरीय० २। ७। १)

श्रीभरद्वाजजीके मतानुसार भक्ति-भावको रसरूपमें परिणत करके पहले-पहल श्रीभरतजीने दिखलाया है। यथा—

तुम्ह कह भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

जो किसी कामनाकी सिद्धिके लिये भक्ति (प्रेम) करते हैं, उनको इस 'रस' की प्राप्ति नहीं होती। उनके लिये तो भक्ति भावमात्र है। किंतु निष्काम भक्ति करनेवाले सर्वदा इसी (भक्ति-रस) में निमग्न रहा करते हैं। यथा—

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

वे इस रसका पूर्ण आस्वादन करते रहते हैं, कभी भी इस रससे पृथक् होना नहीं चाहते—यहाँतक कि साक्षात् भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करते रहते हैं—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥

भगवान् परम स्वतन्त्र हैं; यथा—'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।' 'सदा स्वतंत्र राम भगवाना'। पर भक्ति उनको भी वशमें कर लेती है। यथा—'निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी' तथा 'रघुपति भगत भगति बस अहहीं' अतः इस भक्तिकी महिमाका पूर्ण कथन कौन कर

सकता है। यथा—'भक्ति की महिमा घनी' 'राम भगति महिमा अति भारी'। अस्तु,

इस राम-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भक्तको 'शंकर-भजन', भगवत्स्तोत्रपाठ तथा श्रीराम-गुण-गाथा (रामचरितमानस)-का श्रवण-मनन, पारायण करते रहना आवश्यक है; यथा—

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

पठंति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं॥
व्रजन्ति नात्र संशयं। त्वदीय भक्ति संयुता॥

(अत्रिकृत स्तुति)

रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति कृपाँ भगति सोइ पावा॥
सुनहि बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहि भगति गति संपति नई॥
भगति बिबेक भक्ति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी॥
बिमल कथा हरि पद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥
अस बिचारि जो कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जो यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

भक्तिकी शक्ति

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए० बार-एट-लॉ, विद्या-वारिधि)

हँसते-हँसते मीराने कर लिया गरलका पान।
चकित हुआ राणा, जब पाया विषको सुधा समान॥ १॥
अनल हुआ शीतल जल-सा, छूकर प्रह्लादका पैर।
सरस स्नेहसे हुआ पराजित दैत्यराजका वैर॥ २॥
भरी सभामें लाज रही, जब बढ़ा द्रौपदी चीर।
दहल उठा दुःशासनका दिल, विस्मित सारे वीर॥ ३॥
ग्राह-ग्रसित गजराज पुकारा त्राहि-त्राहि घनश्याम।
सब संकट कट गया पलकमें, निर्बलके बल राम॥ ४॥
दुर्वासाका दर्प दलन कर, अंबरीषका त्राण।
माधवने जगको जतलाया भक्ति धर्मका प्राण॥ ५॥
परमेश्वरमें परम प्रेम है परा भक्तिका सार।
भक्त-जनोंपर भीड़ पड़े तब लेते हरि अवतार॥ ६॥
भव्य भक्ति यह प्राप्त उसे, जो निर्मम निरहंकार।
नित निर्मल, निस्पृह, निश्छल है, पावन प्रेमागार॥ ७॥
करती भक्ति मनोरथ पूरण, दरती कठिन कुजोग।
भरती मनमें शान्ति-सुधाको, हरती सब भव-रोग॥ ८॥
सत्वर सिद्धि भोगता साधक, जिसकी भक्ति अनन्य।
योग-क्षेम उसके सध जाते, जीवन होता धन्य॥ ९॥
भक्ति सिखाती—अखिल विश्व है प्रभु-लीलाका धाम।
मनमें राम, नाम मुखमें हो, करसे हो शुभ काम॥ १०॥
ईश्वरार्पण करके तन-मनसे कीजै सब कर्म।
दीजै छोड़ फलाशा हरिपर, यही भक्तिका मर्म॥ ११॥
भक्ति-भवानी दूर भगाती जन-मनके संताप।
हृदय-पटलसे धो देती वह जन्म-जन्मके पाप॥ १२॥
है श्रद्धा-विश्वास-रूपिणी, भक्ति शक्तिका रूप।
उसके चमत्कारकी गाथा जगमें 'जुगल' अनूप॥ १३॥

रामायण और भक्ति

(लेखक—श्रीशम्भुशरणजी दीक्षित)

१. प्रवेश

आजके इस भौतिकवादी युगमें भी संसारके समस्त व्यापारोंमें निरन्तर एक गति वर्तमान है, जो मानवके, समाजके, राष्ट्रके एवं विश्वके पारस्परिक सम्बन्धोंमें एक तादात्म्य बनाये हुए है। यह गति है अनुरागकी। रागवृत्तिसे सभी मनोवृत्तियाँ आवृत हैं, उसमें उनका समावेश है। हम जिसे अपना प्रिय मानते हैं, उसमें तो रागकी भावना प्रकटरूपसे होती ही है; पर जिससे हमारा विरोध होता है अथवा जिसके प्रति हम घृणा रखते हैं, उसके प्रति भी हमारे अन्तरमें यह राग ही प्रच्छन्नरूपसे निहित होता है। रागवश जब हम किसीसे कुछ आशा करते हैं या व्यवहार-विशेषकी अपेक्षा करते हैं और जब उसके द्वारा अपनी आशाओंको फलीभूत न होते अथवा उसे विपरीत आचरण करते देखते हैं, तभी तो हमारी विरोधभावना एवं घृणा मूर्तरूप ले लेती है। यही राग, जब अपना लौकिक रूप त्यागकर पारलौकिक हो जाता है, ईश्वरोन्मुख हो जाता है और लग जाता है उस सत्-चित्-आनन्दमय परब्रह्ममें, तब इस रागको 'भक्ति'की संज्ञा प्रदान की जाती है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्य० २)

इस भक्तिके मुख्य दो स्वरूप हैं—१. सगुण भक्ति, जिसके अर्वाचीन प्रमुख उपासकोंमें संत तुलसीदासजी, सूरदासजी आदि हैं और २. निर्गुण भक्ति, जिसके मुख्य आराधक हैं—संत कबीर, जायसी आदि। मनुष्यकी प्रकृति, कर्म एवं स्वभावानुसार पुनः इस भक्तिके तीन भेद हैं—तामसी, राजसी एवं सात्त्विकी। प्रस्तुत लेखमें जिस 'भक्ति'पर विचार किया जा रहा है, वह है सात्त्विकी भक्ति। इसमें सब प्रकारसे केवल भगवान्‌को ही परम आश्रय माना जाता है एवं समस्त कार्य सर्वतोभावेन भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌को ही अर्पित करके किये जाते हैं। इस सात्त्विकी भक्तिके भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतानुसार अनेक प्रभेद किये हैं। कतिपय मनीषियोंने इनके निम्नलिखित नामोंसे छः भेद किये हैं—साधन, साध्य, ज्ञानकर्ममिश्रा, प्रेमा, रागानुगा एवं रागात्मिका। भक्तिमार्गके प्रमुख आचार्य महर्षि शाण्डिल्यने दस उपभेदोंकी व्याख्या की है—सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतर-विचिकित्सा, महिमख्याति, तदर्थप्राणस्थान, तदीयता, सर्वतद्भाव और अप्रतिकूलता। भगवान् श्रीहरिके अनन्योपासक परमभक्त महर्षि नारदजीने ग्यारह उपभेदोंको मान्यता दी है। किंतु इनका ज्ञान या तो जन-जनतक पहुँच नहीं सका अथवा लोग उसे भूल गये। श्रीमद्भागवतपुराणमें इसके नौ भेदोंका ही वर्णन किया गया है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

आज जनसाधारणमें भक्तिके प्रचलित भेद नौ ही हैं।

२. भक्तिके प्रकार

इसका प्रमुख कारण कदाचित् कविकुल-शिरोमणि भक्त-चूड़ामणि महात्मा तुलसीदासजीका रामचरितमानस है, जिसका प्रवेश अमीरसे गरीब, महलसे झोंपड़ीतक प्रत्येक हिंदूके घरमें है और जिसके अश निपट गँवार अनपढ़ ग्रामवासीको भी कण्ठाग्र हैं। तुलसीदासजीने भी रामायणमें नौ भेदोंका ही वर्णन किया है।

रावणके चौर्य-कर्मके पश्चात् भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजी-सहित सीताजीकी खोजमें वन-वन भटकते एक दिन परम भक्तिमती भीलनी शबरीके आश्रमपर पहुँचते हैं। उसे भगवान्‌की वन्दनाको शब्द नहीं मिलते। वह अपनेको नीच, अधम, मतिमन्द, गँवारी एवं अघरूप बतलाती है। किंतु भगवान्‌का प्रण है सेवकका हित-साधन, उसके अभिमानसे विरोध एवं दैन्यसे प्रेम। भक्तके अनुरूप शबरीके दैन्यको देखकर भगवान् श्रीराम प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं जाति-पाँति, पुरुष-स्त्री, ऊँच-नीच, धर्म-बड़ाई आदि कुछ नहीं मानता। मेरे निकट तो केवल भक्तिका ही एक नाता मान्य है।' इतना कहकर वे अपनी भक्तिके नौ स्वरूपोंका वर्णन करने लगे—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

—और अन्तमें बताया कि यदि कोई स्त्री-पुरुष, चर-अचर इनमेंसे एक भी भक्ति धारण करता है तो हे भामिनि! वह मुझे अतिशय प्रिय है।

भक्तिका सही स्वरूप समझनेके लिये 'अतिशय प्रिय' भी समझ लेना आवश्यक है। महात्मा तुलसीदासजीने इनके लक्षण भी रामायणमें गिनाये हैं। भगवान् श्रीराम विभीषणसे कहते हैं—

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥

भगवान्‌ने कौन-से गुणोंका अधिष्ठान विभीषणमें बताया। वे बतलाते हैं कि चराचरद्रोही होनेपर भी जो व्यक्ति—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं॥

× × × ×

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

इन गुणोंको धारण करनेवाला ही भगवान् श्रीरामका अतिशय प्रेमी हो सकता है। रामायणमें और भी ऐसे भक्त हैं—कपिपति, नील, रीछपति, अंगद, नल, हनुमान्। रामजी लङ्कासे वानरोंको विदा करके पुष्पकविमानद्वारा अयोध्याके लिये प्रस्थान करनेको तैयार हैं; किंतु ये भक्त—

कहि न सकहिं कछु प्रेमबस भरि भरि लोचन बारि।
सन्मुख चितवत राम तन नयन निमेष निवारि॥

—मगन हो रहे हैं रामप्रेममें, उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी है—भगवान् श्रीराम, अपने इष्टके वियोगकी भावनासे और अपलक नेत्रोंसे अविरल अश्रुपात हो रहा है। तब भगवान् रामने—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥

—और अयोध्या पहुँचनेपर गुरु वशिष्ठजीसे मिलनेपर कहा है—

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पियारे॥

तो क्या भरतजी अतिशय प्रियकी श्रेणीमे नहीं आते?

जब भगवान्‌की प्राप्ति, उनके अबाध सानिध्यकी प्राप्तिके हेतु नौमेंसे एक भक्तिके लिये ही उपर्युक्त गुणोंका धारण अनिवार्य है, तब जिन्हें नवों भक्तियाँ सुलभ हों, उनके गुणोंकी क्या गिनती और उन-जैसा भाग्यवान् कौन हो सकता है? रामायणमें भरतजी ही ऐसे हैं, जिनमें नौ प्रकारकी सभी भक्तियोंका समावेश है।

श्रवण

नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
बूझहिं बैठि राम गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥

कीर्तन

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

स्मरण

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। जपहु निरंतर गुन गन पाँती॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। मन बिन तनु सुख निति न्हु देही॥

पादसेवन-अर्चन

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥

आत्मनिवेदन

अब कृपालु जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥

दास्य, सख्य एवं वन्दनके उदाहरणोंसे तो अयोध्याकाण्ड भरा पड़ा है। फिर भी क्या वे 'अतिशय प्रिय' नहीं हो सकते? नहीं! क्योंकि ये तो—'अतिशय प्रिय' से भी कहीं अधिक उच्च एव श्रेष्ठ हैं। प्रिय पात्र कभी भी अपने इष्टके बराबर नहीं होता। किसीके प्रेमका पात्र होना ही अपने-को उससे छोटा स्वीकार करना है। अतः ऊपरके पदोंमें जिनको 'अतिशय प्रिय' माना है, वे सभी भगवान् श्रीरामसे कहीं छोटे हैं। किंतु भरत? भरत तो भगवान् श्रीरामसे छोटे नहीं, बराबरीकी भी कौन कहे, वे तो उनसे भी श्रेष्ठ हैं। प्रमाण—'भरतहि जानु राम परछाहीं'। किंतु परछाहीं तो व्यक्ति-से श्रेष्ठ नहीं होती? देवगण कहते हैं—

जौं न होत जग जनमु भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

कुछ श्रेष्ठता तो बतायी गयी, पर अब भी भगवान् श्री-रामके समकक्षसे दूर ही हैं। विदेहराज महाराज जनक कहते हैं—

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

हाँ, अब तो भरतजी रामजीके बराबर आतेसे दिखायी देते हैं। श्रीरामजीका भरतकी महिमा जानना उनकी श्रेष्ठता-का द्योतक होनेपर भी उसका वर्णन न कर सकना भरतजीकी महानताका ही परिचायक है। और लीजिये—माता कौसल्याके एवं उनके मुखसे महाराज दशरथको सुनिये—'जनेहु सब भरत कुल टीका।' रामको यह पद कभी नहीं मिला। एक समयमें एक ही तो कुलका दीपक होता है। भरत रामसे ऊपर पहुँच गये। जितना-जितना निकटतर सम्बन्धी होता गया उतना-

उतना भरतजीको श्रेष्ठतर बतलाता गया। जो अधिक निकट होता है, वही तो अधिक सही भी जानता है। उससे भूल नहीं होती। भगवान् राम भी तो अपने श्रीमुखसे ही भरतको अपनेसे ऊँचा मान लेते हैं—साधारण कथनद्वारा नहीं, भगवान् श्रीशंकरको साक्षी करके—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥

भूमिकी रक्षाका भार तो स्वयं लेकर ही अवतीर्ण हुए थे, किंतु आज उसका श्रेय भरतजीको देना ही पड़ा। यदि कोई तर्क करे कि 'ये सभी सम्बन्धी थे, सम्भव है भरतजी-की मनोदशाका विचार करके उनके उद्विग्न चित्तकी शान्तिके निमित्त उनकी कुछ अधिक प्रशंसा कर दी हो' तो एक वनवासी उदासी तापसके मुँहसे सुनिये। प्रयागराजमें मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज-जी कहते हैं—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

सुरगुरु बृहस्पति भी इसकी पुष्टि करते हैं—'जगु जप राम रामु जप जेही।' भरतजी रामसे बढ़ गये, बढ़ते ही चले गये, उस राज्यको त्यागकर—जिसके लिये 'जो पितु देइ सो पावइ टीका', 'करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू' आदि वाक्य ऋषियों और महर्षियोंने कहे हैं, एवं श्रीरामके वियोगजनित जलनकी शान्तिके लिये श्रीरघुवीरकी चरण-रज-प्राप्तिके हेतु अपने शरीरको वनपथमें डालकर तथा उस राहपर गज-रथोंको त्यागकर जिसपर श्रीराम 'पयादेहि पायँ सिधाए' और यह आकाङ्क्षा लेकर कि 'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।' ये हैं नवधा भक्तिके धारण करनेवाले धन्यातिधन्य श्रीभरतलालजी!

जिस भक्तिका इतना प्रभाव है कि उसके नौ भेदोंमेंसे किसी

३. साधन

एककी धारणासे भगवत्-प्राप्ति हो जाती है, जीवनका चरम फल परम तत्त्व प्राप्त हो जाता है, उसकी प्राप्तिके कुछ साधन भी बताये गये हैं। सहज ही तो वह सम्भव नहीं। रामायणमें भक्तिप्राप्तिके साधन बड़े सरल ढंगसे महात्मा तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामके मुखार-विन्दसे ही कहलाये हैं। लक्ष्मणजीके पूछनेपर संक्षेपमें वे कहते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

सरल एवं सहज होनेपर भी साधना बिना चित्तकी शुद्धिके नहीं हो सकती; चित्तकी शुद्धि होती है मनकी चञ्चलता दूर करनेसे, मनकी चञ्चलता दूर होती है निरन्तरके अभ्यास-से, वैराग्यसे; समस्त रागोंसे उपरति प्राप्त होती है धर्ममें दृढ़ आस्थासे, और वह आती है शास्त्रोंमें विहित अपने कर्त्तव्यका नित्य-नियमपूर्वक पालन करनेसे। इसके बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने ऐहिक सुखका मोह नहीं त्याग सकतीं। मोहके साथ भगवत्-प्रेममें निष्ठाको स्थान कहाँ। निष्ठारहित भक्तिमें स्थिरता नहीं। यह साधना कहने-सुननेमें सुगम होनेपर भी किसी उग्र तपसे कम नहीं। इसके सम्बन्धमें पुनः श्रीरामजी कहते हैं—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कह जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

यह है वह साधन, जिसके द्वारा किसीको भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। और जो इन साधनोंको अपनाकर काम, मद, दम्भ आदिसे रहित हो जाता है, भगवान् कहते हैं—'तात निरंतर बस मैं ताके।' इन साधनोंको अङ्गीकृत कर लेनेपर साधकके मन एवं शरीरकी दशा क्या हो जाती है, उसके लक्षण भी बता दिये गये हैं, जिससे उसकी पहिचान एवं साथ ही जाँच हो सके और कोई अपनेको धोखेसे बचा सके कि किसी देवने उसे वास्तवमें अपनाया है अथवा केवल वह उनका बाह्यरूप ही लेकर बैठ गया है। मुझे ब्राह्मणों-से प्रेम है, अपने आनुश्रविक कर्मके प्रति लगन है, भगवान्-की लीलामें रति भी है, संतोंके प्रति आदरभाव है और करता भी हूँ भगवान्‌के गुणोंका गान; किंतु क्या मेरी साधना पूरी है? क्या भगवान्‌का गुणानुवाद करते समय मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और बहने लगती है नेत्रोंसे पावनकारी, मनोमलहारी, निर्मल जलकी अजस्र एवं अविरल धारा? क्या उस समय हमारा हृदय विगलित होकर बाहर आ जाता है और समद्रष्टा होकर चारों ओर सीतारामकी जोड़ी ही देखता है? क्या हमारे शरीरजनित विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर निःशेष हो गये हैं? यदि नहीं तो सब कुछ दम्भ है। कितना पूर्ण है साधनोंका वर्णन और उसकी प्राप्तिके लक्षण! यह है तुलसीके रामचरितमानसमें वर्णित भक्ति।

साधनसम्पन्न होनेपर भी क्या सभी व्यक्तियोंको भक्ति

४. भक्ति अर्जित है या प्रदत्त?

प्राप्त हो जाती है? महात्मा तुलसीदासजी-ने काकभुशुण्डिके प्रसङ्गमें जगत्-जननी माता पार्वतीद्वारा भगवान् शंकरसे कहलवाया है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धरम ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

देखना यह है कि ऐसी श्रेष्ठतम भक्ति क्या साधक साधनाके द्वारा स्वय प्राप्त कर लेता है, अथवा भगवान् श्रीराम अपनी ओरसे उसे भक्ति प्रदान करते हैं? भक्त साधनाके द्वारा, तपस्याके द्वारा अपनेको इस योग्य बनानेका प्रयास करता है कि वह भगवान् श्रीरामकी भक्ति पा सके। वह बन सका या नहीं, इसका निर्णय स्वयं भगवान् करते हैं एवं उसकी साधनाके अनुरूप, तदर्थ अर्जित उसके अधिकारके अनुसार, भक्ति प्रदान करते हैं; पर साधारणतः अपनी ओरसे नहीं। साधनपर, भक्तिपर, छोड़ देते हैं, जिसमें भक्तकी परीक्षा स्वतः हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि वह इसका पात्र हुआ या नहीं। और तब, केवल तब, जब वह स्वयं याचना करता है, अपनी भक्तिका वरदान देते हैं।

काकभुशुण्डिजीपर भगवान् श्रीराम प्रसन्न हो गये और—

कागभुसुंडि मागु वर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर निधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

—कितनी सरलता, प्रसन्नताके साथ वर देनेको तैयार! वरदानमें वस्तुएँ भी कैसी? एक-से-एक महान्, सभी एक साथ—ऋद्धि, सिद्धि और मोक्ष भी। पर क्या इनमें अपनी भक्तिका भी समावेश किया? ॐ····हूँ····! उसका तो संकेत भी नहीं दिया। सरलताके साथ, यही भगवान् श्रीरामके चरित्रकी गूढता है। पर भुशुण्डिजी कच्चे खिलाड़ी न थे। अनेक जन्मोंकी निरन्तर साधनाके बाद तो यह अवसर आया। अतः उनके भटकने, मायासे भ्रमित होनेकी आशङ्का कहाँ थी। वे तत्काल—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥

यह सोचकर भगवान्‌को उनके ही शब्दोंमें बाँधते हुए भुशुण्डिजी कहते हैं—

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥

तो—

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जेहि गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

भगवान्‌ने भुशुण्डिजीकी चतुराई जान ली और उन्हें 'तथास्तु' कहना पड़ा। वे प्रसन्न होकर बोले—

सुनु बायस तैं परम सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥

सुग्रीवसे मित्रता हो गयी। भगवान् श्रीराम उसके शत्रुका नाश करने एवं उसे राज्य और स्त्री दिलानेका वचन देते हैं, किंतु भक्तिका जिक्र यहाँ भी नहीं करते। पर वह भक्त क्या जो भगवान् श्रीरामकी बान न जानता हो, जिसने उनका बिरद न सुना हो। भगवान् शंकरजी कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

अत. सुग्रीव भक्ति ही नहीं माँगते वर घोर शत्रुके प्रति वैर-भावको भूलकर उसे भी परम हितकारी मानते हुए कहते हैं—

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

हनुमान्‌जी जब माता सीताका कुशल-समाचार लेकर लङ्कासे वापस आये, तब उन्होंने भी 'सुखदायिनी दुर्लभ भक्ति' का ही वरदान माँगा था। विभीषणने भी 'सिव मनभावनि निज भगति' ही श्रीरामजीसे माँगी थी।

रामायणमें केवल दो पात्र ही ऐसे मिलते हैं, जिन्हें भगवान्‌ने बिना माँगे अपनी ओरसे ही भक्तिका वरदान प्रदान किया। एक हैं भक्तराज केवट, जिन्हें प्रभुका सकोच देख 'पिय हियकी जाननिहारी' सियने मुदित मनसे मणि-मुँदरी उतारकर उतराई दी, किंतु—

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

एव दूसरे हैं—ऋषिवर अगस्त्यमुनिके शिष्य भक्तश्रेष्ठ श्रीसुतीक्ष्ण मुनि। भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥

पर ये भक्तराज औरोंसे भिन्न थे। अनुपम थे, परम चतुर भी थे। वरका सारा भार भगवान्‌पर ही छोड़कर बोले—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

भगवान् ऊहापोहमें पड़ गये। सोचने लगे—'क्या दूँ? इसने तो अपनी समस्त कामनाएँ मुझको ही अर्पित कर दीं। माँगनेवालेको तो इच्छित वस्तु देकर वरदान पूरा कर दिया जाता है। याचक भी प्रसन्न हो जाता है और दाताको भी संतोष मिलता है। पर यहाँ तो भिन्न अवस्था है; इन्हें कौन-सी वस्तु दूँ, जिससे भक्तराज सुतीक्ष्णको सुख पहुँचे?' सोचते-सोचते अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचे कि 'जो कुछ नहीं माँगता, जो परम संतोषी है, उसे ऐसी वस्तु दी जाय, जो सबसे अधिक मूल्यवान् हो, सर्वश्रेष्ठ हो और जो सबको सुलभ न हो तथा जिसके पानेपर कुछ भी पाना शेष न रहे।' ऐसी वस्तु है भक्ति—'अविरल भक्ति'। बस, फिर क्या था, निर्णयपर पहुँचते ही तो दे दी। पर ये भक्त तो असाधारण थे और भगवान् श्रीरामकी उस बानसे परिचित थे, जो उन्होंने स्वयं अपने श्रीमुखसे नारदजीसे कही थी—

........................। बालक सुत सम दास अमानो ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥

अतः उन्होंने भक्तिका वरदान स्वीकार कर लिया और बोले—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा ॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

भगवान् भक्तद्वारा ठगे गये। पहले तो भक्तने भगवान्‌से ही भक्ति प्राप्त की और फिर उन्हें अपने हृदयमें अधिष्ठित कर लिया। यह है भक्तिकी महिमा।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपनी भक्तिका वरदान भगवान् श्रीराम अपनी ओरसे केवल उन्हीं भक्तोंको देते हैं, जो उनसे अन्य कुछ भी याचना नहीं करते, अपेक्षा नहीं रखते।

भगवत्प्राप्तिके अन्य साधन और उनसे भक्तिकी श्रेष्ठता

भगवत्-प्राप्तिके अन्य साधन भी हैं। ज्ञानके द्वारा, निर्गुण ब्रह्मकी आराधनाद्वारा भी वे अप्राप्य नहीं; किंतु ज्ञान-मार्ग, निर्गुण-पथ बहुत कठिन है। रूप-विशेषका ज्ञान हुए बिना किसका ध्यान और किसका आराधन? बिना आराधन अथवा लोकाचारसे अभिन्न होते हुए भी अलौकिक पुरुषके सहारेके बिना इस संसारके दुर्गम वनोंमें पग-पगपर पथभ्रष्ट होनेका डर! निरन्तर सावधान रहते हुए भी उसके अनेकों खड्डोंमेंसे किसीमें भी फिसलनेका भय। जीव और ईश्वरके भेदका विस्तृत वर्णन करते हुए भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि 'ज्ञान-मार्गके द्वारा वैराग्यकी प्राप्ति अत्यन्त कष्ट-साध्य है और अन्तमें यदि विज्ञानरूपिणी बुद्धि प्राप्त भी हो जाय तो ईश्वरके समझनेके प्रयासमें माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है—सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्यका लोभ दिखाती है और अनेक छलनाओंके द्वारा उस ज्ञान-बुद्धिको भ्रमित करनेका प्रयत्न करती है। यदि कहीं वह असफल होती है तो विषय-भोगके लोभी इन्द्रियोंके देवता निरन्तर ऐहिक सुख-प्राप्तिके अवसरकी ताकमें रहते हैं और बुद्धिको धोखा दे पथ-भ्रष्ट-कर ज्ञानकी समस्त साधनाको नष्ट कर देते है। जीव फिर संसारी हो जाता है, भगवान्‌से दूर हट जाता है। इसलिये वे कहते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा ॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई ॥
× × × × ×
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने ॥

इसके विपरीत भक्तिका मार्ग बड़ा सरल एवं सुगम है। भगवान् श्रीराम स्वयं अयोध्यावासियोंसे कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा ॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ॥

फिर स्वयं ही उसके पानेके सुगम उपाय भी बतला देते हैं—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी ॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह ॥

आगे चलकर भुशुण्डिजी पुनः कहते हैं—

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा ॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काम बिसारी ॥

अन्तमें महात्मा तुलसीदासजीने एक बार फिर ज्ञान और भक्तिमें कुछ भी भेद न बताकर दोनोंको 'भव सभव

प्रेमी भक्त सुतीक्ष्ण मुनिपर कृपा
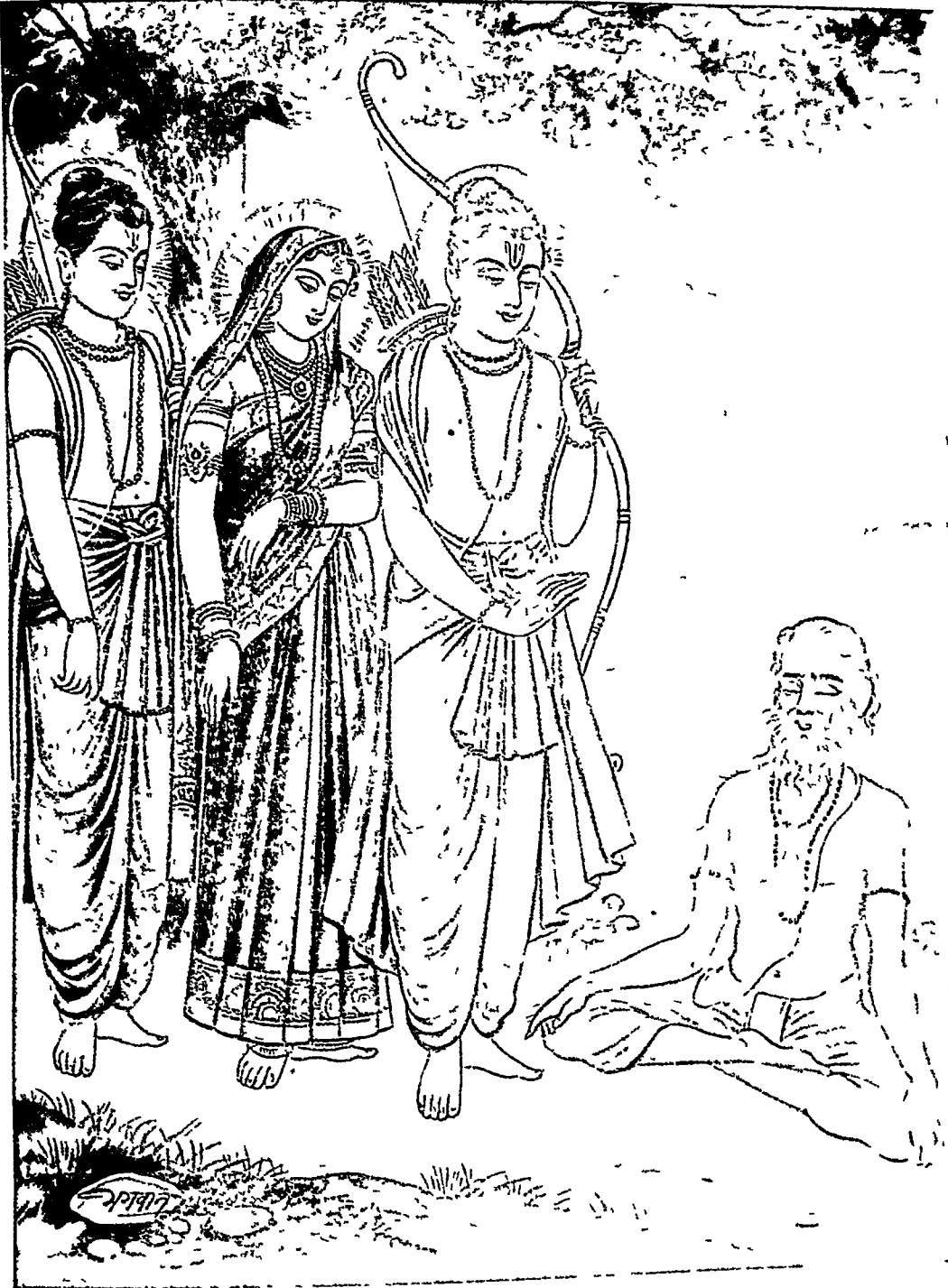
१२— मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निज जन मन भाए॥
(रामचरित० ३ । १ । ८)

माता सुमित्राका रामके लिये लोकोत्तर त्याग

११— 'तात, जाहु कपि सँग!' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।

(गीतावली लङ्का० १३)

खेदा' का हरण करनेवाला बताते हुए भी ज्ञानको पुरुष और भक्तिको स्त्रीकी उपमा देकर तथा मायारूपिणी नर्तकीसे ज्ञानरूपी पुरुषका मोहित होना सम्भव बताकर 'भक्ति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। स्वयं भगवान् श्रीराम भी लक्ष्मण-जीसे कहते हैं—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

इस प्रकार रामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी भक्तिकी श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गयी है।

६. उपसंहार

किंतु गम्भीर विचार करनेपर यह श्रेष्ठता या कनिष्ठता वास्तविक नहीं, तात्त्विक नहीं है—'ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा।' तत्त्व तो यही है दोनों ही भगवत्प्राप्तिके पृथक्-पृथक् दो साधन होते हुए भी उनमें गहरा पारस्परिक सम्बन्ध है। ज्ञानके बिना निरी भक्ति भक्ति न रहकर पशुवत् जडतामात्र रह जाती है। उसमें अपने सदसद्-व्यवहारको विवेकपर कसने एवं अपने इष्टके सम्यक् रूपको समझनेका अवसर नहीं रह जाता। इष्टके सम्यक् ज्ञानके बिना भक्तिमें स्थिरता नहीं आ सकती। इसी प्रकार भक्तिके बिना ज्ञान भी निरा शैतानका ज्ञान होता है। उसमें व्यर्थ ही कुतर्कनाओंका सृजन होता है और बुद्धि (ज्ञान) में सात्त्विकता नहीं आती। आजके युगमें अणुबम, परमाणुबम आदिकी रचना इसी भक्तिशून्य ज्ञानके ही फलस्वरूप है। जहाँ निर्मल ज्ञान होगा, वहाँ भक्ति अवश्य होगी। महर्षि लोमश निर्गुणपंथी थे, ज्ञानमार्गी थे, भगवान्को अज, अद्वैत, अनाम, अनीह, अरूप, निर्विकार सर्वभूतमय एवं अनुभवगम्य मानते थे। इसीका उपदेश उन्होंने काकभुशुण्डिजीको दिया; किंतु सगुणोपासक होनेसे जब भुशुण्डिजीने निर्गुण मतका खण्डन करके सगुणका आरोपण किया, तब मुनिवर अप्रसन्न हो गये। काकशरीर प्राप्त करनेका कठोर शाप दे दिया। किंतु इसपर भी जब श्रीभुशुण्डिजी महाराज रंचमात्र विचलित न हुए और न उनमें भय अथवा दीनता ही आयी; वरं इसके विपरीत काकरूप हो जब वे मुनिश्रेष्ठको प्रणामकर सहर्ष चल दिये, तब मुनिवरने उनकी इस स्थितिको देखकर स्वयं अत्यन्त दुखी होकर उन्हें बुलाया, राम-मन्त्रका उपदेश दिया और राम-कथाका वर्णन किया। निर्गुणपंथी, ज्ञानमार्गी होनेसे उनमें भक्तिका अभाव नहीं था। इसी प्रकार जहाँ अविरल भक्ति होगी, वहाँ ज्ञान पीछे नहीं रह सकता। हनूमान्जीने भगवान्से अविरल भक्तिका ही तो वरदान पाया था। तो क्या वे ज्ञानी नहीं? वे ज्ञानी ही नहीं, 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' भी हैं। अतः भक्ति एवं ज्ञान दोनों एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं और अन्तिम एक ध्येयके ही साधन हैं। अन्तर है केवल साधनाका। एकमें अपेक्षित है एकाग्रता, मनन, चिन्तन एवं तदर्थ समयकी प्राप्ति। दूसरेमें कोई ऐसी वस्तु वाञ्छनीय नहीं। भक्तिकी साधना चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते—हर समय हो सकती है। आजके युगमें जब भौतिकवाद बहुत बढ़ गया है एवं जीवन अत्यन्त संघर्षमय हो गया है, मानवको अपनी रोटी-रोजीकी लड़ाईसे ही फुरसत नहीं, अपने आर्षग्रन्थोंके तथा उनमें प्रतिपादित गम्भीर विषयोंके अनुशीलनकी उसे फुरसत नहीं। आज उनके अध्ययनके लिये उसके पास समयका अभाव है। फलस्वरूप तदनुकूल कर्मों तथा आचारोंको वह भूल चुका है। ज्ञानके द्वारा आत्मचिन्तनकी ओर मानवकी रुचि ले जानेवाले मनीषी भी सुलभ नहीं। तब भक्ति ही भगवान्का भजन-स्मरण ही एक ऐसा सरल साधन है, जो उन्हें अध्यात्म की राहपर, भगवत्प्रीतिके मार्गपर आगे बढ़ा सकता है। इसमें अध्ययन, मनन, चिन्तन, आनुष्ठानिक कर्म आदि किसीका भी बन्धन नहीं। कालकी गतिके अनुसार इस युग में भक्तिकी यही उपादेयता, श्रेष्ठता है। गोस्वामीजीने कहा है—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।

विषय-चर्चा सुननेवाले मन्दभागी

श्रीकपिलजी कहते हैं—

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। १९)

'हाय! विष्ठा-भोजी कूकर-शूकर आदि जीवोंके विष्ठा चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओंको सुनते हैं, वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका भाग्य बड़ा ही मन्द है।'

श्रीरामचरितमानसमें विशुद्ध भक्ति

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी शर्मा छागाणी)

इस संसारका प्रत्येक प्राणी जब भी अपने जीवनका मर्म ढूँढ़ता है, तब उसे उस मर्ममें उस प्राणीकी किसी प्रधान वस्तुका गूढ़तम रहस्य छिपा मिलता है। जब कोई अन्य प्राणी उस भ्रमित प्राणीकी मनोदशापर विचार करता है, तब वह कुछ चाहता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। अब प्रश्न यह होता है कि वह क्या चाहता है। सुखकी कामना उसके हृदयमें है, यही बात विचारसे ज्ञात होती है।

यह सुख उसे कहाँ मिलेगा? संसारकी क्षुब्ध वस्तुओंमें, जिनमें वह रात और दिन मग्न रहता है? कदापि नहीं!

हमारे प्रातःस्मरणीय कवि-कुल-तिलक गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इसका मर्म मानव-जातिके लिये स्पष्ट कर दिया है—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

भगवान् श्रीरामकी भक्तिके बिना प्राणीको सुख नहीं मिलने का। इतना ही नहीं, उनका तो दृढ़ विश्वास है कि भले ही—

अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥

इन गहन विचारोंको साकाररूपमें प्राणीको दिखलानेके हेतु, श्रीरामचरितमानसमें भक्तिके कितने महान् सुन्दर उदाहरण हमारे समक्ष रखे गये हैं। भगवान्के अनन्य भक्त जटायुजीकी अविरल भक्ति कितनी महान् है! भक्तिमें भावुकताका आसन श्रेष्ठ है। परम भक्त जटायुजीकी भावना अपने भगवान्में पूर्णरूपसे थी। रावणने उनकी दशा अत्यन्त करुण कर दी थी; परतु उनकी आस्था प्रभु अवधविहारीमें इतनी थी कि प्रभुके दर्शन किये बिना उनके प्राण पयान नहीं कर सके।

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

भगवान्ने अपने भक्तकी आशाको पवित्र बनाये रखा! भगवद्-दर्शनोंके लिये लालायित जटायुके करुण नेत्र भगवान्के मुखारविन्दको देखते ही उसपर लग गये। वे अपने प्रभुसे अपना मनोभाव न छिपा सके—

दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपा निधाना॥

कितनी महान् थीं उनकी भावनाएँ। प्रभुके दर्शन पाते ही भक्तकी मनःकामनापर मानो अमृत-वर्षा हो गयी।

माता श्रीजानकीजीको कितने दारुण कष्ट थे उस स्वर्णमयी लङ्कामें! वहाँ आराम एवं शान्तिके साधन उपलब्ध थे, किंतु उस स्वर्णदुर्गकी ओटमें निशाचरी मायाका शासन था। माता जानकीको अनेकों कष्ट थे। परंतु उनके पवित्र हृदयमें भगवान्की परम भक्तिका नित्य प्रखर प्रकाश था। पवनसुत माताकी दशाको निहारकर व्यथित थे—

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥

माता जानकीके हृदयमें पवित्र भक्ति थी। उन्हें क्या चिन्ता होती उस निशाचरी शासनकी। भगवद्भक्तिका चिन्तन ही समस्त भवरोगको सुखरूपमें परिवर्तित कर देता है। भगवान्की भक्तिमें श्रद्धा, विश्वास, विवेक एवं एकाग्रताकी परमावश्यकता है। पवनकुमारसे राघवेन्द्र श्रीरामने जब सीताजीकी दशाके विषयमें पूछा, तब भी उनके मुखारविन्दसे उनकी अनन्य भक्तिका ही वर्णन हो पाया। तनिक निहारिये—

निज पद नयन दिए मन राम पद कमल लीन।

एवं भगवान्के सम्मुख भी उनकी भक्तिको वे न भूल सके—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥

उनके हृदयमें भी—रामके पवित्र पदका ही ध्यान था, जो श्रीजटायुके हृदयमें था—

सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा।

कितनी विशुद्ध भक्ति थी माता जानकीजीके पवित्र हृदयमें! उनका समग्र दुःख उस भक्तिके अमृत-सागरमें डूब जाता था। ऐसी भक्ति जिसके हृदयमें समा जाय, क्या दुर्लभ है उस प्राणीके लिये—

बसइ भगति मनि जेहि उर माहीं। खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

जब ऐसी भगवान्की भक्ति प्राणीके हृदयमें स्थिर हो जाती है, तब भगवान् भक्तकी सारी कामनाओंको शान्त कर देते हैं। पवित्र हृदयसे ही पवित्र भक्तिका मार्ग आलोकित होगा। भगवान्ने केवटकी भक्तिसे संतुष्ट होकर उसे—

बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ।

भगवान्की लीला भी बड़ी विचित्र है। जब वे अपनी भक्तिरूपी मणिका प्रकाश भक्तके हृदयमें विकीर्ण कर देते हैं, तब क्या होता है—इसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें ही सुनिये—

राम भगति मनि उर बस जाके । दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके ॥
राम भगति चिन्तामनि सुंदर ।......................॥

ऐसी भक्तिकी विजय-दुन्दुभि तो सारे विश्वमें गूँज जाती है और उस प्राणीको भवसागरसे भगवत्-तरणि स्वयं पार उतार देती है। यथा—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥

कितना गूढ़तम प्रकाश है उस भक्तिमें ! संसारका प्रत्येक प्राणी उससे अपना जीवन सहजमें ही सरल बना सकता है। भक्तोंको अपने प्रभुकी भक्तिमें ही सारी सुन्दरी सम्पत्ति दीखती है। धन्य हैं वे भक्त, जो भगवद्भक्तिके बिना अपना जीवन नीरस समझते हैं।

बोलो भक्त एवं भगवान्‌की जय !

कृष्ण-भक्ति

(वेदान्ती स्वामी श्रीरँगीलीशरणदेवाचार्य साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसाशास्त्री)

धन्य धन्य मूर्धन्य नर, कृष्न चरन दृढ़ राग।
ऋद्धि सिद्धि सम्पत्ति सुख भुक्ति मुक्ति कर त्याग ॥ १ ॥
चित्त वित्त चंचल-चपल, जानै जीव जहान।
कृष्न चरन में लगतहीं, पावै पद निर्वान ॥ २ ॥
साधक साधन मान तज भज प्रभु पद सब सार।
कृष्न-सरनसे हो तुरत मायासे निस्तार ॥ ३ ॥
नित्य धाम, वृंदा विपिन, धन्य धाम मूर्धन्य।
राधा कृष्न स्वरूप सुख जानैं रसिक अनन्य ॥ ४ ॥
सुख विलास वृंदा विपिन गुरु सेवा संजोग।
कृपा कृपालय कृष्न की पावैं विरले लोग ॥ ५ ॥
मनमोहन घनस्याम को नेक न लीनो नाम।
चाम दाम धन धाम में खूब भए बदनाम ॥ ६ ॥
मन मलीन संकित सदा सुर नर मुनि जो होय।
महामोह महिमा अहो वस्तु स्वरूप न जोय ॥ ७ ॥
श्रद्धा अरु बिस्वास बिनु भक्ति भाव नहिं होय।
नेत्र विकल जिमि जीव कौं वस्तु न दीखै कोय ॥ ८ ॥
यह संसार असार रस बारंबार विचार।
दीनबंधु श्रीकृष्न हैं सुधासिंधु सुख सार ॥ ९ ॥
सम्मुख रुख में सुख सदा दुःख बहिर्मुख होय।
कृष्न विमुख या जीव कौं नहिं कदापि सुख होय ॥ १० ॥
कुटिल काम कीटानुकी कटुता कठिन कठोर।
करुना कन श्रीकृष्न के कष्ट नष्ट कर घोर ॥ ११ ॥
नर पामर मरते फिरैं जटिल काल के जाल।
प्रान त्रान तव पावहीं होंय कृपालु कृपाल ॥ १२ ॥
तत्सुखमें संतत सुखी स्वारथ सून्य सुनीति।
प्रियपद प्रीति प्रतीति ही यहै प्रेम की रीति ॥ १३ ॥

श्रीरामचरितमानसमें जड और चेतनकी भक्ति

(लेखक—श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी)

जड चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने 'सीता-राममय' जानकर संसारके समस्त जड तथा चेतन जीवोंके चरण-कमलोंकी दोनों हाथ जोड़कर वन्दना की है तथा श्रीरामचरितमानसमें जहाँ चेतनकी भक्ति प्रदर्शित की है, वहीं जडोंकी भक्तिपर भी उत्तम प्रकाश डाला है। संसारके किसी भी कविने जडोंके प्रेमका उतना अच्छा उल्लेख नहीं किया, जितना कविता-कानन-केसरी श्रीमत्तुलसीदासने अपने श्रीरामचरितमानसमें किया है। उन्होंने जड तथा चेतनमें भक्तिका कारण सत्सङ्ग लिखा है, जैसा कि श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजीसे उपदेश करते हुए कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥

इसी बातपर अधिक बल देते हुए गोस्वामीजीने बालकाण्डके प्रारम्भमें कहा है—

जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
(२ । २-४)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जितने जीव इस जगत्‌में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी यत्नसे बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई पायी है, सो सब सत्संगका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमें इनकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक नहीं होता और श्रीरामजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं।'

अब प्रश्न उठता है कि 'जलमें रहनेवाले किन जीवधारियोंने अथवा किस जडने उत्तम गति प्राप्त की। इसका उत्तर यह है कि जिस समय श्रीराघवेन्द्र-सरकार लङ्कापुरीमें प्रवेश करनेके लिये समुद्रमें पुल बाँधकर सारी सेनासहित लङ्कापुरीको जा रहे थे, उस समय समुद्रके जितने जीवधारी थे, वे प्रभुकी अलौकिक शोभाको देखनेके लिये सेतुके किनारे पर लग गये। इसका वर्णन मानसकारने बड़ी उत्तमतासे किया है—

मकर नक्र नाना झष ब्याला । सत जोजन तन परम बिसाला ॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं । एकन्ह कें डर तेपि डेराहीं ॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे । मन हरषित सब भए सुखारे ॥
तिन्ह कीं ओट न देखिअ बारी । मगन भए हरि रूप निहारी ॥

सारे जलके जीव प्रभुके दर्शन करके कृतार्थ हो गये। यह केवल प्रभुकी अहैतुकी कृपाका प्रभाव था, जिसने जलमें रहनेवाले जीवोंको भी अपना लिया।

अब जलमें रहनेवाला जड कौन है, जिसने अपनी भक्ति प्रदर्शित की हो ? वह है मैनाक पर्वत, जो समुद्रमें छिपा बैठा था। समुद्रके कहनेसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रिय दूत श्रीहनुमंतलालजीको विश्राम देनेके लिये उसने अपनेको प्रकट कर दिया और अपनेको धन्य माना।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी । तैं मैनाक होहि श्रमहारी ॥

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ॥

हनुमान्‌जीका स्पर्श प्राप्त होना ही मैनाकका परम बड़भागी होना था; क्योंकि—

जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइए ।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए ॥
(विनयपत्रिका)

पृथ्वीपर रहनेवाले चेतन-संज्ञामें आनेवाले मनुष्यादि तो भक्तिके प्रभावको भलीभाँति जानते हैं, उनके विषयमें विस्तारसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उसके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा—

करि प्रेम निरंतर नेम लिएँ । पद पंकज सेवत सुद्ध हिएँ ॥
सम मानि निरादर आदरही । सब संत सुखी बिचरंति मही ॥
(रामचरितमानस)

पृथ्वीपरके जड-सज्ञासे सम्बोधित होनेवाले वृक्षों और पर्वतोंकी भक्तिका वर्णन रामायणमें बड़ी उत्तमतासे किया गया है। यथा—

कामद भे गिरि राम प्रसादा । अवलोकत अपहरत बिषादा ॥

अथवा—

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥

आज रामके सेवार्थ ऋतु और कुऋतुका विचार त्यागकर वृक्ष फलोंसे लद गये। वे जीवधारियोंकी तरह अपनी सेवाएँ देने लगे। यह भक्ति किस जीवधारीसे कम है। मेरे विचारसे तो यह श्रीसीतारामजीकी ही कृपा थी, जिसके कारण वे गिरि और वृक्ष अपनी सेवाएँ देने लगे। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

बिनु ही ऋतु तरुवर फरत, सिला द्रवत जल जोर।
राम लखन सिय करि कृपा, जब चितवत जेहि ओर॥
(दोहावली १७३)

आकाशमें विचरनेवालोंमें गरुड, काकभुशुण्डि तथा जटायु आदिकी भक्तिका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें आता है। काकभुशुण्डि भगवान् श्रीरामके परम भक्त थे। उनकी भक्ति 'बालक रूप राम कर ध्याना' थी। इसी कारण भगवान्‌की बाल-लीलाओंको देखनेके लिये वे भगवान् श्रीरामके जन्मसे पाँच वर्षतक श्रीअवधमें ही निवास करते थे। इसके विषयमें स्वयं भुशुण्डिजीने कहा है—

लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥

ये काकभुशुण्डिजी भगवान्‌की कथाके परम प्रेमी थे, नित्य भगवान्‌की कथा कहते थे—

राम चरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेमसहित कर सादर गाना॥

इसी कथाका गान सुनकर श्रीशिवजी भी मराल पक्षी बनकर कथा सुनने गये थे। इसकी चर्चा करते हुए शिवजी कहते हैं—

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति चरित पुनि आयउँ कैलास॥

इसी राम-कथाके द्वारा गरुडका, जो परम ज्ञानी थे, भुशुण्डिजीने मोह दूर किया।

जटायुका सीताजीकी रक्षाके लिये रावणके साथ जो युद्ध हुआ, उसमें जटायुने अद्भुत पराक्रम दिखलाया और रावणको व्याकुल कर दिया; परंतु शस्त्रहीन जटायु कहाँतक लड़ता! रावणने तलवारसे उसके पंख काट डाले। अब जटायु बलरहित होकर भूमिपर गिर पड़ा। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब लक्ष्मणके सहित सीताजीकी खोज करने निकले, उस समय उन्होंने—

आगें परा गीध पति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

भगवान्‌को देखकर गीधने अपनेको परम धन्य माना और भगवान्‌को सीताजीका सब समाचार बतलाकर भगवान्‌के सम्मुख ही वह परम धामको चला गया। भगवान्‌ने उसका संस्कार स्वयं अपने हाथोंसे किया—

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

जिस प्रभुकी प्रीति आकाशमें विचरनेवाले पक्षियोंपर ऐसी थी, उस प्रभुकी कृपालुताका वर्णन कौन कर सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि वह जड कौन है, जो आकाशमें ही रहता है और भगवान्‌की भक्तिमें मग्न है। वह 'बादल' या 'जलद' है, जो संसारको जीवन दान देता है, चातककी प्यास शान्त करता है तथा जिसकी गर्जना सुनकर कृषक, मोर, दादुर प्रसन्न हो जाते हैं। ये ही जलद जब कभी भरतलाल-सरीखे भक्तको पा जाते हैं, तब धूपसे उनकी रक्षा करने लगते हैं, जैसा कि महाकवि तुलसीदासने रामायणमें कहा है—

किए जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

'हरये नमः' कहते ही पापोंसे मुक्ति

सूतजी कहते हैं—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्। हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

कलियुगका महान् साधन—भगवन्नाम

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

विशालविश्वस्य विधानबीजं वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः।
वसुन्धरावारिविमानवह्निवायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे॥
नमस्तुभ्यं भगवते विशुद्धज्ञानमूर्तये।
आत्मारामाय रामाय सीतारामाय वेधसे॥

बालक-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, पापी-पुण्यवान्, पण्डित-मूर्ख प्रत्येकसे यदि स्वतन्त्ररूपेण पृथक्-पृथक् पूछा जाय कि 'आप क्या चाहते हैं ?' तो सभी एक ही उत्तर देंगे। पण्डित जो बोलेगा, मूर्ख भी वही कहेगा। पापी जो उत्तर देगा, पुण्यवान् भी वही उत्तर देगा। अखिल जीव-समुदाय क्या चाहता है ? किसके पीछे कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर, जन्म-जन्मान्तर उन्मत्तकी भाँति भटक रहा है ? वह परम वस्तु क्या है, जिसके लिये सभी आकुल हैं ? आनन्द ! आनन्द क्यों चाहिये ?

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

(तैत्ति० उप० ३।६।१)

आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दमें जीते हैं, अन्तमें प्रयाण करके आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं। जबतक वह परमानन्द नहीं प्राप्त होता, तबतक आवागमनकी निवृत्ति नहीं होती। जानमें, अनजानमें सभी लोग उस खोये हुए आनन्दकी खोज कर रहे हैं। सब इसी टोहमें हैं कि वह आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। जिस दारुण समयमें हमने जन्म ग्रहण किया है, उसमें आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उपाय क्या है ?

एक बार कुछ मुनियोंके मनमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ—'किस कालमें थोड़ा भी धर्म अधिक फल प्रदान करता है ?' वे लोग इस बातकी स्वयं मीमांसा न कर सकनेके कारण भगवान् वेदव्यासके आश्रममें जा उपस्थित हुए। उस समय व्यासजी स्नान कर रहे थे। मुनिलोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे। व्यासजीने 'कलि धन्य है !' कहकर डुबकी लगायी, 'धन्य शूद्र !' कहकर दूसरी डुबकी लगायी, पश्चात् 'धन्या नारी !' कहकर तीसरी डुबकी लगायी और पानीसे निकलकर मुनियोंके पास आये। मुनियोंने उनका अभिवादन किया। व्यासजीकी अनुमतिके अनुसार सबने आसन ग्रहण किया। आसनपर बैठे व्यासजीने उनसे पूछा—'कहिये, आपका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ ?' तब उन्होंने कहा, 'आप यह बतलाइये कि 'कलि धन्य !' 'धन्य शूद्र !' 'धन्या नारी' कहकर आपने डुबकी क्यों लगायी ?' इसका उत्तर देते हुए व्यासजी बोले—

यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥

(विष्णुपुराण ६।१।१५)

'सत्ययुगमें दस वर्षतक यज्ञ, दान और तप करनेपर जो फल होता है, त्रेतामें वही एक वर्ष करनेपर जो फल होता है तथा द्वापरमें एक मास यज्ञ-दान और तपका जो फल होता है, वही फल कलियुगमें एक अहोरात्रमें प्राप्त हो जाता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६।१।१७)

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।५।५२)

'सत्ययुगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतायुगमें यज्ञके द्वारा, द्वापरमें पूजार्चनाके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें वही केवल हरिकीर्तनके द्वारा प्राप्त होता है।' वह फल सबके द्वारा अभीप्सित परमानन्द है ! उस परमानन्दमय श्रीभगवान्को प्राप्त करनेका उपाय कलियुगमें केवल नाम-संकीर्तन है।

मुनिलोग बोले—''आपने 'धन्य शूद्र !' क्यों कहा ?'' व्यासजीने उत्तर दिया—''ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका वेद-विहित कर्मोंमें अधिकार है। वे लोग कलियुगमें वैदिक कर्मोंका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेमें समर्थ न हुए तो प्रत्यवायके भागी होंगे। परंतु शूद्रके लिये किसी वेद-विहित कर्मका अधिकार न होनेके कारण, वह केवल उपर्युक्त तीन वर्णोंकी सेवा करके ही उत्तम गतिको पा लेगा। इसी कारण मैंने 'धन्य शूद्र' कहा।''

मुनियोंने फिर पूछा—आपने 'धन्या नारी !' क्यों कहा ? व्यासजीने उत्तर दिया कि 'द्विज सदा वेद-विहित कर्मोंका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करके जो फल प्राप्त करते हैं, वही फल स्त्री पतिकी सेवाके द्वारा सहज ही प्राप्त करनेमें समर्थ होती है !'

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञः—स्त्रीके लिये पृथक् यज्ञ, दान, तप नहीं है। नारी केवल पातिव्रत्यका अवलम्बन करके धन्य होती है। सतीनां पादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा—सतियोंके पादपद्मकी धूलिसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है। पातिव्रत्य—पति-परायणताका व्रत अन्य देशोंमें, अन्य

जातियोंमें नहीं पाया जाता। अध्यात्म-राज्यके मुकुटमणि वेद-शासित भारतका वैशिष्ट्य है—पति-नारायण-व्रत, सतीत्व अथवा पातिव्रत्य। इसी सतीत्वके बलसे सावित्री मृत्युके उस पारसे मृत स्वामीको वापस ले आयी थी। पतिव्रता शाण्डिलीके पतिको माण्डव्य मुनिका यह शाप होनेपर कि 'सूर्योदय होते ही तुम्हारा देहान्त हो जायगा' शाण्डिलीने कह दिया कि 'यदि ऐसी बात है तो अब सूर्योदय होगा ही नहीं।' पतिव्रताकी बातका उल्लङ्घन करके सूर्य उदित न हो सके। नारी पति-भक्तिके बलसे असाध्यको भी साध्य कर दिखाती है। उस महाशक्ति जातिकी वह शक्ति आज भी अक्षुण्ण है। तो गया क्या है? गया है पति-नारायण-व्रत! यदि फिर भारतमें यह पति-नारायण-व्रत लौट आये तो महाशक्ति जातिकी समस्त शक्ति उद्बुद्ध हो उठेगी। सती नारीमें जन्म-जन्मान्तरकी स्मृति अविलुप्त रहती है। वह असम्भवको सम्भव कर दिखानेमें समर्थ होती है।

पश्चात् व्यासजीने मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ किस उद्देश्यसे आये हैं?' उन्होंने उत्तर दिया—'हम जिस उद्देश्यसे यहाँ आये थे, आपने प्रसङ्गवश वही बतला दिया।' इतना कहकर मुनिलोग अपने-अपने स्थानको चले गये।

कलियुगका साधन है नाम-सङ्कीर्तन। केवल पुराणोंमें ही यह बात कही गयी हो, ऐसी बात नहीं है। कलिसंतरणोपनिषद्में भी नामजपका उल्लेख मिलता है।

द्वापरके अन्तमें एक दिन नारद मुनि ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'पृथ्वीका पर्यटन करते हुए किस प्रकार कलिसे उत्तीर्ण हो सकूँगा?' इसका उत्तर देते हुए ब्रह्माजी बोले—'केवल भगवान् आदिपुरुष नारायणका नामोच्चारण करके संसारसे उत्तीर्ण हो जाओगे।' नारदजीने पूछा—'वह नाम क्या है?' प्रजापति बोले—

> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
> इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
> नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥
> (कलिसं० उप०)

'ये सोलह नाम कलिके पापोंका नाश करनेवाले हैं, इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय सम्पूर्ण वेदोंमें कहीं नहीं दीखता।'

मेघके हट जानेके बाद जैसे रवि-रश्मिका प्रकाश होता है, उसी प्रकार सोलह नामोंके द्वारा सोलह कलाओंके* हट जानेपर 'प्रकाशते परं ब्रह्म'—परब्रह्मका प्रकाश होता है।

नारदजीने पूछा, 'कोऽस्य विधिरिति?'—इसकी विधि क्या है? ब्रह्माजी बोले, 'नास्य विधिरिति'—इसकी कोई विधि नहीं है।

सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्द्ध-त्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात् पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात् सद्यः शुचितामाप्नुयात्। सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत्। (कलिसं० उप०)

'सर्वदा शुचि-अशुचि—किसी भी अवस्थामें उच्चारण करनेसे ब्राह्मण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यको प्राप्त होता है। इसका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्याके पापसे उत्तीर्ण हो जाता है। वीरहत्यासे मुक्ति पा जाता है। स्वर्णकी चोरीके पापसे पवित्र हो जाता है। पितर-देव-मनुष्योंके अपकारसे पवित्र हो जाता है। सर्वधर्मोंके परित्यागके पापसे तत्काल शुचिता प्राप्त करता है। सद्यः मुक्त हो जाता है। सद्यः मुक्त हो जाता है।'

कलि-संतरणोपनिषद्में वेद-विहित कर्मोंसे वञ्चित कलिके ब्राह्मणोंके लिये भगवान् हिरण्यगर्भने इस नाम-मन्त्रका उपदेश नारदजीको दिया।

उपनिषदुक्त धर्ममें द्विजातिमात्रका अधिकार होते हुए भी भगवान् प्रजापतिने इसमें स्पष्टरूपसे कहा है कि यह मन्त्र केवल ब्राह्मणके लिये है। यह बात 'ब्राह्मण' शब्दके प्रयोगके द्वारा स्पष्ट हो जाती है। यह मन्त्र सभी वर्णोंके द्वारा गाये जाने और जप किये जाने योग्य है, यह कहनेसे 'ब्राह्मण' पदकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

आर्योंके समस्त नाम वेदमूलक हैं, राम-कृष्ण आदि नाम भी वेदमें उपदिष्ट हुए हैं, यदि ऐसा कहें तो ठीक न होगा। महाभारत, रामायण, तन्त्र, अष्टादश महापुराण आदिमें अविकलरूपसे बहुत-से उपनिषद्-मन्त्र कथित हुए हैं; परंतु उनका पुराणादिमें कथन होनेके कारण स्मृतियोंमें परिगणित होकर वे शूद्रोंके भी ग्रहणयोग्य हो जाते हैं। परंतु—

> हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
> हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह मन्त्र ठीक इसी प्रकारसे किसी तन्त्र या पुराण ग्रन्थमें उक्त न होनेके कारण इस मन्त्रका एकमात्र अधिकारी

* षोडश कलाएँ—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, क्षिति, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपस्या, मन्त्र, कर्म, सारे लोक और नाम।

ब्राह्मण है—यह विद्वान्‌लोग कहा करते हैं।* राधातन्त्रमें यह मन्त्र भगवती त्रिपुरादेवीके द्वारा भगवान् वासुदेवके प्रति इस प्रकारसे कहा गया है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

भगवतीने कर्ण शुद्धिके लिये इस मन्त्रका उपदेश किया है। कर्ण शुद्ध हुए बिना अनाहत नाद सुनायी नहीं पड़ता। अनाहत नाद प्राप्त हुए बिना महाविद्याकी उपासनाका अधिकार नहीं प्राप्त होता। इस भावसे अर्थात् कर्ण-शुद्धिके लिये मन्त्रका उपदेश होनेके कारण आचाण्डाल सभी इस मन्त्रके अधिकारी हो गये हैं और इसमें मन्त्रकी सारी शक्ति निहित है।

योगसार-तन्त्रमें भगवान् शंकरने देह-शुद्धिके लिये भगवती पार्वतीको यही मन्त्र बतलाया है। ब्रह्माण्डपुराणके राधा-हृदयमें भी यह मन्त्र—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इसी प्रकार कथित हुआ है।

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंके चार तारक ब्रह्मरूप नाम हैं। जैसे—

सत्ययुगमें—

नारायणपरा वेदा नारायणपराक्षरा।
नारायणपरा मुक्तिर्नारायणपरा गतिः॥

त्रेतायुगमें—

राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।
कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन॥

द्वापरयुगमें—

हरे मुरारे मधुकैटभारे
गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो
निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

कलियुगमें—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

केवल वैष्णव ही नहीं, शाक्त, सौर, गाणपत्य—सभी इस मन्त्रको अपने-अपने इष्टदेवताका नाममन्त्र समझ सकते हैं। राधातन्त्रमें त्रिपुरा देवी इस मन्त्रका अर्थ कहती हैं—

हकारस्तु सुतश्रेष्ठ शिवः साक्षात् न संशयः।
रेफस्तु त्रिपुरा देवी दशमूर्त्तिमयी सदा॥
एकारं च भगं विद्यात् साक्षाद्योनिं तपोधन।

"हे पुत्रश्रेष्ठ! 'ह' का अर्थ है साक्षात् शिव, रेफ त्रिपुरादेवी हैं, एकार कारणरूपिणी हैं। 'हरे' का अर्थ है शिव-शक्ति। 'हृ' धातुके आगे 'इ' प्रत्यय लगानेसे 'हरि' शब्द निष्पन्न होता है। 'हृ' धातुका अर्थ है हरण करना। महाजनोंका कहना है कि जो पाप-हरण करता है, वही हरि है। इसी प्रकार जो ताप, चिन्ता, क्लेश, पुनर्जन्म, भूभार आदि हरण करते हैं, वे ही हरि हैं। इस कारण 'हरि' नामसे वैष्णव विष्णुको, शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको, गाणपत्य गणपतिको समझ सकते हैं। जो संसारको हर लेते हैं, वे हरि नारायण हैं; जो अज्ञानको हर लेते हैं, वे हरि शिव हैं; दुर्गतिको हरण करनेवाली हरि दुर्गा हैं; जो तम-अन्धकारका हरण करते हैं, वे हरि सूर्य हैं; और जो विघ्न-हरण करते हैं, वे हरि गणपति हैं। इस प्रकार 'हरे' यह पद पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताके सम्बोधनका पद है।

भक्तानां पापादिदोषान् कृषति निवारयतीति कृष्णः—जो भक्तोंके पापादि दोषोंका निवारण करता है,

* यह मन्त्र वैदिक उपनिषद्में होनेसे तथा इसमें 'ब्राह्मण' शब्द आ जानेसे कुछ महानुभावोंका जो यह मत है कि यह केवल ब्राह्मणोंके लिये ही है, सो उचित है, परंतु एक बहुत उच्च स्तरके महात्माने बताया था कि भगवान्‌के राम-कृष्ण आदि सभी नाम वेदमूलक होनेसे सभी मन्त्र हैं और जहाँ मन्त्र-बुद्धि है, वहाँ अधिकारानुसार विधि-निषेध आवश्यक है, परंतु उन्हीं नामोंका यदि केवल नाम-बुद्धिसे जप-कीर्तन किया जाय तो फिर न किसी विधि-निषेधकी आवश्यकता है और न वह किसी भी वर्ण-जातिके लिये वर्ज्य ही होता है। अतएव 'हरे', 'राम', 'कृष्ण'—इन तीन पदोंकी आवृत्तिरूप सोलह नामोंका जप-कीर्तन नाम बुद्धिसे 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' इसी रूपमें सभी वर्णों एवं जातियोंके सभी नर-नारी कर सकते हैं। इसलिये जहाँ, जिस प्रान्त या सम्प्रदायमें इसका जिस रूपमें जप या कीर्तन होता हो, उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'नाम' बुद्धिसे जप-कीर्तन करनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है।

—सम्पादक

वह 'कृष्ण' है । तेषां दुर्लभानपि पुरुषार्थान् आकर्षयति प्रापयति इति वा कृष्णः—उनके अति दुर्लभ पुरुषार्थोंका प्रापक होनेके कारण वह 'कृष्ण' कहलाता है। कर्षति आत्मनि सर्वंलोकान् इति कृष्णः, प्रलये इति शेषः—प्रलयकालमें सारे लोकोंको जो आत्मामें आकर्षण करता है, वह 'कृष्ण' है। कर्षति अरीन् इति वा कृष्णः—जो शत्रुओंका कर्षण (संहार) करता है, वह 'कृष्ण' है। मनुष्योंका पाप-कर्षण करनेके कारण भी वह 'कृष्ण' कहलाता है।

कृषिश्च परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि ।
तयोर्दाता हि यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः ॥

'कृषि' शब्दका अर्थ है परमानन्द; 'ण'का अर्थ है उनका दास्य । जो इन दोनोंका दाता है, वह'कृष्ण' है।''

इस प्रकार 'कृष्ण' शब्दके द्वारा शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य आदि सभी अपने-अपने देवताको समझ सकते हैं।

'रम्' धातु क्रीडार्थक है, उससे 'राम' शब्द सिद्ध होता है। रमन्ते लोका अत्र इति रामः—सब लोग इनमें रमण करते हैं, अतएव इनका नाम राम है। रमयति लोकान् इति वा रामः—सब लोगोंको आनन्द प्रदान करते हैं, अतएव इनका नाम 'राम' है। रमयति मोदयति सर्वान् इति रामः—सबको आनन्दित करते रहते हैं, इसलिये वे 'राम' कहलाते हैं। समस्त भूतोंको जन्म, स्थिति और नाशके द्वारा क्रीडा कराते हैं, इसलिये वे 'राम' हैं। इस प्रकार 'राम' शब्दके द्वारा भी शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको, गाणपत्य गणेशको समझ सकते है । पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताका नाम राम है। इसीलिये यह महामन्त्र पञ्चोपासकोंके लिये गान करने योग्य, जपने योग्य है।

इस महामन्त्रके प्रथम प्रचारक श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु हैं। उन्होंने इसका प्रचार सभी वर्णोंके लोगोंके लिये किया है।

पूज्यपाद श्रीगुरुदेव श्री १०८ श्रीमद्दाशरथिदेव योगेश्वर अन्तर्लोकसे अनुमोदन प्राप्त करके इसके प्रचारमें प्रवृत्त हुए थे। महामन्त्रकी बात तो अलग रहे, श्रीभगवन्नामकी अपूर्व महिमा श्रीभगवान् स्वय कहते हैं—

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः ।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम ॥

'हे अर्जुन ! श्रद्धासे अथवा अवज्ञासे भी जो लोग मेरा नाम रटते है, उनका नाम सदा मेरे हृदयमे बसा रहता है।'

हेलासे अर्थात् अभक्तिपूर्वक नाम लेनेपर कैसे कार्य हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए महाजन लोग कहते हैं कि वस्तु-शक्ति कभी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती। नाइट्रिक एसिड् अश्रद्धापूर्वक भी शरीरपर गिरानेसे शरीरको जला देता है, घृणापूर्वक आगमें हाथ डालनेसे भी हाथ जल जाता है। अश्रद्धापूर्वक विष खानेसे जब मृत्यु अनिवार्य है, तब श्रीभगवान्‌का नाम भी किसी प्रकारसे ग्रहण करनेपर मनुष्य कृतार्थ होगा ही। जितने भी नाम उच्चारण करोगे या श्रवण करोगे, वे सारे नाम रक्तमें, मांसमें, अस्थिमें, मेदमें, मज्जामें मिल जायँगे और शरीर नाममय हो जायगा।

एक दिन श्रीवृन्दावनधाममें यमुनामें श्रीप्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी स्नान करनेके लिये उतरे। पैरमें कुछ लगा। देखते हैं कि एक मनुष्यका हाथ है ! उसपर लिखा है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

जिस महापुरुषकी वह हड्डी थी, उसने इतना नाम लिया था कि हड्डीमें वह लिख गया था।

महाराष्ट्र देशमें चोखामेला नामक एक महार (हरिजन) निरन्तर 'विट्ठल, विट्ठल' जप किया करते थे। श्रीभगवान् उनके आकुल आह्वानसे स्थिर न रह सके। उन्होंने आकर भक्तको दर्शन दिया तथा उसके कार्यमें सहायता करने लगे। वह राजमिस्त्रीका काम जानता था । एक दिन चार पाँच राजमिस्त्रियोंके साथ वह एक ऊँची दीवार तैयार कर रहा था। वह दीवार दैवयोगसे गिर पड़ी । दीवारसे दबकर चोखामेला और दूसरे राजमिस्त्री मर गये। उन दिनों पंढरपुरमें प्रख्यात भक्त नामदेवजी रहते थे। वे चोखामेलाके दीवारसे दबकर मरनेकी बात सुनकर वहाँ जा पहुँचे और जैसे ही वहाँकी ईंटें हटानी शुरू कीं तो देखते क्या हैं कि राजमिस्त्री-लोगोंका मांस सड़ गया है, केवल कङ्काल दबे हुए हैं। कौन-सा कङ्काल चोखामेलाका है—यह निश्चय न कर सकनेके कारण वे एक-एक कङ्कालके पास कान लगाकर सुनने लगे। एक कङ्कालसे सुस्पष्ट 'विट्ठल-विट्ठल' नाम सुनायी पड़ा। वह कङ्काल चोखामेलाका है, यह निश्चय करके उन्होंने उसे वहीं समाधि दे दी। नामने कङ्कालतकपर अधिकार कर लिया था, कङ्काल भी 'विट्ठल' नामका उच्चारण कर रहा था। जनाबाईके उपले 'कृष्ण' नामका उच्चारण करते थे कौन महाराष्ट्रवासी इस बातको नहीं जानता।

नाम-संकीर्तन कलियुगका एकमात्र साधन है, यह सभी शास्त्र एक स्वरसे घोषणा कर रहे हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्ना० पु० १।४१।१५)

'हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम—कलियुगमें हरिनामके सिवा अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

केवल नाम-संकीर्तनके द्वारा मनुष्य किस प्रकार कृतार्थ हो सकता है, अब इसपर विचार करें।

शब्दसे जगत्की सृष्टि होती है, यह वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। श्रुतिमें शब्दको 'प्राण स्पन्दन' नाम दिया गया है। सब कुछ शब्दसे उत्पन्न है। वही शब्द-ब्रह्म मानव-शरीरके अन्तर्गत मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयमें मध्यमा और मुखमें वैखरीरूपसे क्रीडा करता है। संसारकी रचनाका मूल सूत्र है—बहु स्यां प्रजायेयेति। 'मैं बहुत बनूँगा, प्रकृष्ट रूपमें पैदा होऊँगा।' बहिर्मुखी गति होनेपर वैखरी वाक् संसारकी रचना करती है। जन्म-जन्मान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जीव जब बहिर्मुखताकी ज्वालासे व्याकुल होकर केन्द्रकी ओर लौटना चाहता है, तब उसको शास्त्र वाक्का अवलम्बन करके ही केन्द्रमें लौट आनेका निर्देश करते हैं। वैखरी वाक्के द्वारा नाम-संकीर्तन करते-करते जब जिह्वा और कण्ठ कृतार्थ हो जाते हैं, तब वाक् मध्यमामें अर्थात् हृदयमें उपस्थित होती है। उस समय शरीरमें कम्प, रोमाञ्च तथा देहावेग होता है, अर्थात् शरीर मानो बड़ा प्रतीत होता है; शरीर दाहिने-बायें, आगे-पीछे कम्पायमान होता है; सिर मेरुदण्डके भीतर सन्-सन् करता है, तथा ऐसे ही और भी बहुत-से लक्षण प्रकट होते हैं; क्रमशः ज्योति और नाद आकर उपस्थित होते हैं। अलौकिक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका आविर्भाव होनेपर लौकिक रूप-रस आदिके प्रति उपेक्षा हो जाती है। भीतर लाल, नीले, पीले, श्वेत आदि अत्युज्ज्वल आलोकके प्रकाशसे साधक आनन्दसागरमें डूब जाता है। कोटि-कोटि प्रकारकी ज्योति है तथा अरबों-खरबों प्रकारके नाद हैं। इन सबका निर्णय करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। मेघ-गर्जन, समुद्र-कल्लोल-ध्वनि, भ्रमर-ध्वनि, मधुकर गुञ्जन, वेणु-वीणा-तन्त्री-नाद तथा मृदङ्ग-करताल आदिके अनेकों नाद हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती। 'जय गुरु' नाद, 'गुरु-गुरु' नाद, 'सोऽहम्' नाद, 'ॐ नाद' साधक अनुभव करता है। जब अविराम 'सोऽहम्' नाद चलने लगता है, तब उस नादको रोकनेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं रहती। अन्ततोगत्वा वह 'ॐ' नादमें डूब जाता है।

जब नाद और ज्योतिका आविर्भाव होता है, तब साधकमें भगवत्-दर्शनकी तीव्र आकाङ्क्षा पैदा होती है और वह सर्वत्यागी हो जाता है। अनन्यभावसे भक्तके द्वारा श्रीभगवान्का चिन्तन होते रहनेपर फिर भगवान्से रहा नहीं जाता। वे भक्तको उसके प्रार्थित रूपमें दर्शन देते हैं, वर देते हैं। इष्ट-अङ्गमें मन्त्रका लय हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जबतक जीवित रहता है, सुषुम्णामें नादमय होकर ॐकार-क्रीडा करता रहता है। वह जगत्-कल्याणका व्रत लेकर आनन्दसे प्रारब्ध-क्षय करके परमानन्दधाममें उपस्थित होता है। वह जल-स्थल-आकाश, मनुष्य-पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग—जो कुछ देखता है, सर्वत्र ही उसे भगवत्स्फूर्ति होती रहती है। 'जहाँ नेत्र जाय, तहाँ कृष्णमय दीखे।' उसके लिये जगत् वासुदेवमय हो जाता है।

मन्त्रयोगी, हठयोगी, लययोगी, पातञ्जलयोगी, वैष्णव, शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य—सबकी काम्य वस्तु है ज्योति एवं नाद। नादको छोड़कर शान्ति-लाभ करनेका दूसरा पथ नहीं है। सभी अन्तमें नादको प्राप्त होते हैं। समस्त साधनोंका अन्त नादमें—अनाहत ध्वनिकी प्राप्तिमें है। अनाहत ध्वनि प्राप्त करनेके लिये साधकलोग सब कुछ त्यागकर आहार-विहारका संयम करते हैं और साधन-पथमें अग्रसर होते हैं। साधन-पथकी समस्त विघ्न-बाधाओंका अतिक्रमण करके वे नादकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं।

नाम-संकीर्तनकारीको और कुछ नहीं करना पड़ता, केवल नाम-संकीर्तन करते-करते स्वयं नाद आकर उसके सामने उपस्थित होता है और साधकको आलोकमें, पुलकमें, आनन्दमें डुबा देता है, भगवद्दर्शन करा देता है। इसीलिये शास्त्र उच्चस्वरसे कहते हैं—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५२)

करते रहो नाम-संकीर्तन, नित्य निरंतर बिना विराम।
देंगे दर्शन निश्चय ही प्रत्यक्ष तुम्हें प्रभु सीताराम॥

कलिमें कल्याणका मार्ग है—नाम-संकीर्तन। नाम लो, नाम लो, नाम लो। जय नाम, जय नाम, जय-जय नाम।

भगवन्नाम-महिमा

(लेखक—हरिदास गङ्गाशरणजी शर्मा 'शील' एम्० ए०)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

आज विश्वमें दोनों ओर अन्धकार है। बाहरके घोर अन्धकारमें संसारके नेता एवं राजनीतिके कर्णधार शान्तिको टटोलकर प्राप्त करना चाहते हैं एवं भीतरके अन्धकारमें वे शाश्वत सुखका अन्वेषण कर रहे हैं, किंतु सफलता उनको किसी ओरसे प्राप्त नहीं होती। फिर इसका उपाय क्या है? प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने उपरिलिखित दोहेमें कितना सुन्दर उपाय बताया है कि "यदि तुम भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश चाहते हो तो राम-नामरूपी मणिको इस शरीरके जिह्वारूपी द्वारपर रख लो।"

सचमुच रामनामकी ऐसी ही महिमा है। उस दिन जब राक्षसराज हिरण्यकशिपुने भक्तप्रवर प्रह्लादको धधकती हुई अग्निमें फेंक दिया और भगवत्कृपासे उसका बाल भी बाँका न हुआ, तब हिरण्यकशिपुको महान् आश्चर्य हुआ। उसको आश्चर्यनिमग्न देखकर प्रह्लादने कहा था—

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

"पिताजी! रामनामका जप करनेवालोंको भय कहाँ; क्योंकि रामनाम सब प्रकारके तापोंको शमन करनेके लिये एकमात्र औषध है। फिर, पिताजी! 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्?' देखिये न, मेरे शरीरके सामीप्यमें आकर आज अग्नि भी जलके समान शीतल हो रही है।"

आज जब कि चारों ओर नाना प्रकारके भयंकर एवं घातक रोगोंसे आक्रान्त होकर जनता पीडित हो रही है, विश्व-भरमें हाहाकार मचा हुआ है, क्यों न इस 'सर्वतापशमनैक-भेषजम्' का प्रयोग किया जाय। संसारका कोई इंजेक्शन, कोई ओषधि, कोई रसायन इस दिव्य रसायनके सम्मुख नहीं ठहर सकती। कहा भी है—

इदं शरीरं शतसंधिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामि पेशलम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते
निरामयं कृष्णरसायनं पिब॥

विश्वके संतों, महात्माओं एवं पीर-पैगम्बरोंने डंकेकी चोट यही उद्घोष किया है—निरामयं कृष्णरसायनं पिब 'परमात्माके नामरूपी रसायनको पीओ!' क्योंकि इसके पीनेसे कोई रोग नहीं रहता।

यथार्थतः कोई भी कष्ट, रोग, ताप एवं शोकादि तभी आक्रमण करते हैं जब पूर्वजन्म अथवा इस जन्मके पापोंका फल उदय होता है। यदि किसी युक्तिविशेषसे पापोंका क्षय हो जाय तो जीवको कष्ट ही क्यों हो, दुःख क्यों भोगना पड़े। श्रीमद्भागवतमें इसका बड़ा सुन्दर उपाय बताया गया है—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० । २ । ४ । १५)

'हमारा उन सुन्दर यशवाले भगवान्‌को बार बार प्रणाम है, जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोकके पापोंको तत्क्षण नष्ट कर देता है।'

इस श्लोकमें 'विधुनोति' क्रिया एकवचनान्त है अर्थात् उपरिलिखित किसी भी एक कार्यके करनेसे समस्त पापोंका शीघ्र ही क्षय हो जाता है। तब क्यों न इन उपायोंको काममें लाया जाय। इनमें भी सबमें सरल है—भगवन्नाम कीर्तन एवं नामस्मरण। जब नाम-कीर्तनसे लोगोंके पापोंका क्षय हो जायगा, तब उनके दण्डस्वरूप दुःख क्यों भोगने पड़ेंगे? कितना सरल उपाय है दुःखसे बचनेका! पर हाय! यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम फिर भी भगवन्नाम नहीं लेते। शास्त्रोंने कहा है कि—

अनन्त वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति।
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चि-
दहो जनानां व्यसनाभिमुख्यम्॥

भगवन्नाममें सबसे विलक्षण बात यह है कि भगवान्‌ने अपनी समस्त शक्तिका निक्षेप अपने नाममें कर दिया है। सम्भवतः जो काम नाम कर सकता है, वह राम भी नहीं कर सकते। इसका निर्णय गोस्वामीजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमें नाम-महिमा-प्रसङ्गमें किया है। लेखका कलेवर बढ़ जानेके

भक्तके रामचरितमानसमें वे उद्धरण यहाँ नहीं दिये जाते। पर इतना कहे बिना भी नहीं रहा जाता—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

नामके अथक प्रचारक गोस्वामी तुलसीदासजीने तो मानसके अन्तमें अपने अनुभवकी घोषणा इस प्रकार की है—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

इतना ही नहीं, जब उनसे पूछा गया कि 'मानव-जीवनका लक्ष्य क्या है? उद्देश्य क्या है! फल क्या है!' तो उन्होंने निष्पक्षभावसे कहा कि हम औरोंकी बात तो नहीं कहते, पर हमारे विचारसे तो—

सिय राम सरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति राम कथा मुख राम को नामु हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है।
सब की न कहै तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है॥
(कवितावली उत्तर० ३७)

यों तो सभी संतों एवं भक्तोंने नामके रसका पान किया है और अपने अनुभव बताये हैं, पर इस घोर कलिकालमें श्रीकृष्ण-नामरूपी चिन्तामणिके सबसे बड़े पारखी श्रीचैतन्य-महाप्रभु हुए हैं। उन्होंने एक दिन कातरस्वरमें पुकारकर कहा था—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥
(श्रीचैतन्य शिक्षाष्टक २)

'हे प्रभो! आपने अपने नाममें अपनी समस्त शक्ति निहित कर दी है और आपकी दयालुता इतनी है कि अपने नामका स्मरण करनेके लिये कोई समय भी नियत नहीं किया है। आपकी मुझपर इतनी असीम कृपा है, पर मेरा यह दुर्भाग्य कि अभी तक आपके नाममें मुझे अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ।'

श्रीभगवान्‌के पादारविन्दको निरन्तर स्मरण करनेका एक अद्भुत प्रभाव यह होता है कि वह अमङ्गलोंका नाश करता तथा शान्तिका विस्तार करता है, अन्तःकरणको पवित्र करता एवं ज्ञान-विज्ञान तथा वैराग्यसे युक्त भगवद्भक्ति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतमें इसी आशयका निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(भागवत १२।१२।५४)

यों तो भगवन्नाम कैसे भी लिया जाय कल्याणकारक है—

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

पर श्रीभगवान् उसी प्रेमीको अपने हृदयमें उच्चपद प्रदान करते हैं, जिसकी यह दशा हो—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

ऐसा भक्त स्वयं ही पावन नहीं बनता, अपितु वह तो विश्वभरको पवित्र कर देता है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।२४)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'जिस भक्तकी वाणी (नाम-कीर्तन करते-करते) गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त नाम-स्मरणसे द्रवित हो जाता है, जो भावावेशमें क्षण-क्षणमें रोता है और कभी-कभी हँसता भी है एवं लज्जा छोड़कर उच्चस्वरसे मेरा नाम-संकीर्तन करता है तथा नृत्य भी करता है, ऐसा मेरा भक्त समस्त विश्वको पवित्र कर देता है।'

वेद, उपनिषद्, पुराण एवं रामायण तथा महाभारतमें भगवन्नामकी महिमा भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त संत कबीरसे लेकर महात्मा गाँधीतक—सभी संत, भक्त एवं महात्माओंने अपने अनुभवके आधारपर यही लिखा है—

केसव केसव कूकिये, ना कूकिये असार।
बार बार की कूक से, कबहुँ तो सुनैं पुकार॥

संत कबीरने तो भगवन्नामकी महिमामें यहाँतक लिख दिया कि प्रभुका नामस्मरण करनेसे मेरा—

मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरैं, कहत कबीर कबीर॥

अतः मानवमात्रका यह परम कर्तव्य हो जाता है कि नामजप, नामस्मरण अथवा नामकीर्तनके सहारे—किसी भी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करे। इसीसे विश्वकल्याण हो सकता है।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (श्वेताश्व० उप० ३।१५)

श्रीभगवन्नामकी अपार महिमा

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

भक्तिके दो प्रधान अङ्ग हैं—नाम-कीर्तन और गुण-कीर्तन। इसीलिये संतोंकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
(अरण्य का०)

बिगत काम मम नाम परायन। साति बिरति बिनती मुदितायन॥
(उत्तर का०)

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥
(उत्तर का०)

भगवान्में जैसा-जैसा गुण है अथवा भगवान् जैसी-जैसी लीला करते हैं, उसीके अनुरूप उनका नाम पड़ जाता है। उनका प्रत्येक नाम उनकी लीला और गुणोंका द्योतक है—जैसे 'माखनचोर', 'श्यामसुन्दर' आदि। इसी कारण भगवान्के गुण-कीर्तन तथा नाम-कीर्तनमें कुछ भी भेद नहीं है तथा दोनोंका फल भी एक ही है। तभी तो श्रीरामचरितमानसमें दोनोंके फलमें एकता यों दिखायी गयी है—

नाम	गुण अथवा लीला
१. आखर मधुर मनोहर दोऊ।	१. परम मनोहर चरित अपारा।
२. लोक लाहु परलोक निबाहू।	२. प्रिय पालक परलोक लोक के।
३. स्वाद तोष सम सुगति सुधा के।	३. सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि।
४. एहि महँ रघुपति नाम उदारा।	४. सोइ संवाद उदार जेहि बिधि भा।
५. राम नाम को कलपतरु।	५. अभिमत दानि देवतरु बर से।
६. जासु नाम भव भेषज।	६. भव भेषज रघुनाथ जस।
७. राम नाम मनि दीप धरु।	७. राम कथा चिंतामनि चारू।
८. कलिजुग केवल नाम अधारा।	८. कलिजुग केवल हरिगुन गाहा।
९. नाम सकल कलि कलुष बिभंजन।	९ राम कथा कलि कलुष बिभंजनि।
१०. नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।	१०. जग मंगल गुन ग्राम राम के।
११. करतल होहिं पदारथ चारी।	११. जो दायक फल चारि।
१२. तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं।	१२. अघ कि रहइ हरि चरित बखानें।
१३. महामंत्र जेहि जपत महेसू।	१३. मंत्र महामनि बिषय ब्याल के।
१४. हित परलोक लोक पितु माता।	१४. प्रिय पालक परलोक लोक के।

श्रीमद्गोस्वामीजीके उपर्युक्त वचनोंमें यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्के नाम-कीर्तन तथा गुण (लीला)-कीर्तनमें कुछ भी भेद नहीं है। दोनोंकी महिमा तथा फल एक ही है। सत्य तो यह है कि भगवान्का प्रत्येक नाम उनकी लीलाओंका ही समास-रूप है अथवा यों कहिये कि उनके प्रत्येक नामकी व्याख्या ही उनकी लीला है। इसलिये जहाँ-जहाँ भगवन्नामकी जो महिमा बतायी जाय, वही उनकी लीलाओंके लिये भी समझनी चाहिये।

भगवन्नामकी महिमाका वर्णन जब स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते, तब फिर इस दीन लेखककी लेखनीमें क्या शक्ति है जो कुछ भी लिख सके। स्वयं श्रीमद्गोस्वामीजी लिखते हैं—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

फिर भी ऋषि-मुनि-प्रणीत धर्मग्रन्थोंमें जो नाम-महिमाका वर्णन है, वही संक्षेपमें 'स्वान्तःसुखाय' तथा 'निज गिरा पावन करन कारन' यहाँ लिखा जाता है—

श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

तन्नामकीर्तनं भूयस्तापत्रयविनाशनम्।
सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमुदाहृतम्॥
नातः परतरं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
नामसंकीर्तनादेव तारकं ब्रह्म दृश्यते॥

अर्थात् श्रीभगवन्नाम-कीर्तनसे आध्यात्मिक (काम, क्रोध, भय, वैर, डाह आदिसे उत्पन्न मानस दुःख), आधिदैविक (वायु, वर्षा, बिजली, अग्नि आदिसे उत्पन्न दुःख) और आधिभौतिक (मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी आदिसे उत्पन्न दुःख)—इन तीनों तापोंका समूल नाश हो जाता है और सब प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त होता है। श्रीभगवन्नाम-कीर्तनके समान पुण्य तीनों लोकोंमें और कोई भी नहीं है। इस नाम-कीर्तन-मात्रसे ही मनुष्य साक्षात् भगवान्के दर्शन प्राप्त कर सकता है।

इतना महान् होनेपर भी यह सुगम इतना है कि इस भगवन्नामका ग्रहण पुरुष-नारी, ब्राह्मण-शूद्र—सभी कर सकते हैं और परम पदको प्राप्त कर सकते हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः।
यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम्॥

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

इस नाम-कीर्तनमें कोई देश-काल तथा शौचाशौचका नियम भी नहीं है—जहाँ-तहाँ जिस किसी भी अवस्थामें कीर्तन किया जा सकता है—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः।
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥

इस भगवन्नाम-कीर्तनमें विशेषता यह है कि दुष्टचित्तसे अथवा भय, शोक, आश्चर्य, हँसी-मज़ाक अथवा संकेतके बहाने उच्चारण कर लेनेसे भी परमपदकी प्राप्ति हो जाती है—

आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः।
व्याजेन वा स्मरेद् यस्तु स याति परमां गतिम्॥
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
राम नाम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥

इतना ही नहीं, यह नाम-संकीर्तन तो खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते—हर-समय किया जानेयोग्य है, इसके लिये कहीं प्रतिबन्ध नहीं।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि पिबन् भुञ्जञ्जपंस्तथा।
कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात्॥
कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति सद्यस्तु महापातककोटयः॥

जिस भाग्यवान् पुरुषकी जिह्वापर सदा भगवन्नाम विराजमान है, उसके लिये गङ्गा-यमुना आदि तीर्थ कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। ऋग्वेद-यजुर्वेदादि चारों वेद उसने पढ लिये, अश्वमेधादि सभी यज्ञ उसने कर डाले—

न गङ्गा न गया सेतुर्न काशी न च पुष्करम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्नरमेधैः सदक्षिणैः।
यजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं
तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृत-
मनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥

यदि कोई चाण्डाल भी हो तो भगवन्नामका उच्चारण करके श्रेष्ठ तथा कृतकृत्य हो जाता है—उसके लिये यज्ञ-तप आदि कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता।

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचिद्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(श्रीमद्भागवत ३। ३३। ६-७)

नीच जाति श्वपचौ भलो जपै निरंतर राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥
तुलसी जाके वदन ते धोखेउ निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम॥

कहाँतक लिखा जाय। भगवन्नामकी महिमा अपार है। जो कोई इस भगवन्नाम-महिमाको केवल अर्थवाद मान बैठते हैं, वे नराधम हैं और नरकके भागी होते हैं—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम्॥

कल्याणकामी पुरुषोंको चाहिये कि श्रीभगवन्नामकी महिमापर दृढ़ विश्वास करके उसका निरन्तर जप करें। यह भवसागर उनके लिये गोखुर बन जायगा। स्वयं नाम जपना चाहिये और दूसरोंसे जपवाना चाहिये। तभी तो श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।
सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे॥

'लोगोंके उद्धारके लिये सर्वत्र श्रीभगवन्नामका प्रकाश करना चाहिये। कलियुगमें जीव एकमात्र श्रीहरिनामसे ही सारे महापापोंसे छुटकारा पा सकेंगे।'

तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत विषय विष मागी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥

भगवान् सबको सद्बुद्धि प्रदान करें।

कलियुगका परम साधन भगवन्नाम

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी साधक)

कबिरा यह जग कुछ नहीं खिन खारा खिन मीठ ।
आज जो बैठा मेढ़िया काल्ह मसानैं दीठ ॥

उपर्युक्त दोहेमें महात्मा कबीरदासजी भक्त-मण्डलीको उपदेश देते हुए कहते हैं कि यह संसार कुछ भी तो नहीं है, भ्रममात्र ही इसकी सत्ता है; यह कभी खारा तो कभी मीठा हो जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक अवस्थामें परिवर्तनशील है। इसमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है—उदाहरणार्थ आज जो मेढ़िया—ऊँचे वैभवका स्वामी बना बैठा है, कलको वही मरघटमें पहुँचकर—

हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केश जलै ज्यों घास ।
सब जग जलता देखकर, भए कबीर उदास ॥

—की स्थितिमें परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है ।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' का सिद्धान्त अटल है। इस अटल सिद्धान्तके अनुसार संसारकी सारहीनता, परिवर्तनशीलता एवं नश्वरतापर विचार करके ही हमारे वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, संतों, महंतों, विद्वानों एवं कविवरोंने मानव-जीवनका एक ही लक्ष्य निश्चित किया है—भगवत्प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष (नाम-भेद है, स्वरूप-भेद नहीं) । जो मनुष्य उपर्युक्त लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधन नहीं करता, मनुष्य होकर भी जो आत्मोद्धारका प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है। असत्‌में आस्था रखनेके कारण वह अपनेको नष्ट करता है।

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥
(विवेकचूड़ामणि १ । ४)

उपर्युक्त शास्त्र-वचनके अनुसार मनुष्यका परम पुरुषार्थ इसीमें है कि वह इस अनन्त एवं अपार संसार-सागरमें डूबते हुए अपने निजत्व (आत्मा) की रक्षा करे। यदि पुरुष होकर भी यह संसार-सागर पार न किया तो सब कुछ व्यर्थ ही खो दिया समझना चाहिये ।

अतः मनुष्यको चाहिये कि इसी जीवनमें ब्रह्म (आत्म-तत्त्व) को जान ले; अन्यथा बड़ी भारी हानि होगी। श्रुतिका वचन है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
(केन उप० २ । १३)

भाव यह है कि इसी जन्ममें ब्रह्म (आत्मा) को जान लिया, तब तो कल्याण है; अन्यथा बड़ी भारी हानि है। अब यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'श्रुति और शास्त्रने जिस आत्म-तत्त्वको जाननेका आदेश दिया है, उसको जाननेका क्या उपाय है ?'

इस प्रश्नका उत्तर तो हमें सद्गुरुकी कृपाद्वारा ही प्राप्त हो सकता है; क्योंकि—

बिनु गुरु होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु ।

यह विचारकर भक्त-साधक गुरुके पास जाकर अपार संसार-सागरसे पार होनेका उपाय पूछता है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ?
गुरो कृपालो कृपया वदैतत्—
(प्रश्नोत्तर मणिरत्नमाला)

अर्थात् हे कृपालु गुरुदेव ! कृपया बतलाइये कि अपार संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए मेरे लिये सहारा क्या है ?

इसपर गुरुदेव सरल और संक्षिप्त उत्तर देते हुए कहते हैं—

विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ॥

अर्थात् विश्वपति परमात्माके चरण-कमल ही इस संसार-सागरसे पार उतरनेके लिये विशाल जहाज हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजने अर्जुनको 'परमेश्वरकी शरण ही शान्ति प्रदान करानेवाली है' इत्यादि उपदेश दिया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

इस उत्तरसे स्पष्टतया यह निश्चय हो गया कि भगवान्‌की शरणमें पहुँचे बिना हमारी बाधाओंका शमन नहीं हो सकता और शरणागतका पालन करनेवाला भगवान् श्रीरामके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

तुलसी कोसल पाल सो को सरनागत पाल।
भज्यो बिभीषन बंधु भय भंज्यो दारिद काल॥
(दोहावली १६०)

तुलसीदासजी कहते हैं—'कोसलपति श्रीरामजीके समान शरणागतकी पालना करनेवाला दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं। विभीषणने भाई रावणके भयसे श्रीरामका भजन किया था, परंतु भगवान्‌ने उसे लङ्काका राज्य देकर उसके दरिद्रता-रूपी अकालका नाश कर दिया।' अतः भगवान्‌की शरणमें पहुँचना, उनका अनन्य आश्रय लेना, उनके प्रेमको प्राप्त करना तथा उनके पावन नामोंको जपना ही मनुष्यका प्रमुख ध्येय है।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥
× × ×
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू।
× × ×
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
× × ×
पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥

अबतक भगवत्प्राप्तिके शास्त्रानुमोदित साधन ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—ये तीन ही प्रमुख रूपमें स्वीकार किये जाते रहे हैं।

इन तीनों साधनोंमें ज्ञानका साधन तो अत्यन्त क्लिष्ट एवं दुस्साध्य है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

और भी—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥

ज्ञान-मार्गके अनन्तर कर्म-मार्गका विधान है। कर्मका पंथ ज्ञानपंथकी अपेक्षा सरल होते हुए भी प्रकार-भेदसे अति कठिन है। उसमें भी कर्म, अकर्म तथा विकर्मके स्वरूपको पहचानना पड़ता है; क्योंकि कर्मकी गति अति गहन है। पुनः सकाम कर्म, निष्काम कर्म, ब्रह्मार्पण कर्म, फलेच्छा-त्यागयुक्त कर्म आदि कर्मके अनेक भेद हैं, जिनके कारण कर्म-विधानका निश्चय ही नहीं हो पाता कि शास्त्रानुसार निर्दिष्ट कर्मको जीवनके व्यवहारमें किस प्रकार उतारें।

तीसरा साधन भक्तिका है। यह साधन ज्ञान तथा कर्म दोनों मार्गोंकी अपेक्षा सरल तथा सुगम है। इसके द्वारा मनुष्यकी अविद्या शीघ्र नष्ट हो जाती है और तब वह अविद्या-नाशके फलस्वरूप अपने आत्माका उद्धार अनायास ही करनेमें समर्थ होता है।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
× × ×
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥

इस प्रकार भगवान्‌की भक्तिका यह तीसरा साधन सकल अविद्याका नाशक, सुखदायक एवं सुगम है।

ज्ञानद्वारा जो मोक्ष प्राप्त होता है, उसका आधार भी भक्ति ही है। यथा—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

भक्तिका साधन अन्य साधनोंकी अपेक्षा सुगम एवं सराहनीय है अवश्य, किंतु इसके भी सकाम भक्ति, निष्काम भक्ति आदि कई भेद हैं। इन भेदोंके आधारपर ही भक्तों, साधकों एवं साधनोंमें भी भेद एवं पृथक्ता है। पुनः भक्तिके साधनमें भी गुरुभक्ति, साधुसंगति, भगवत्कृपा, विषयत्याग तथा ईश्वरमें श्रद्धा एवं विश्वास आदि पालनीय नियमोंकी अनिवार्यता है; ये नियम साम्प्रदायिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे सरल होते हुए भी साधनकी दृष्टिसे कठिन हैं, विशेषकर कलियुगमें, जहाँ—

दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत ब्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार॥
असुभ भेष भूषन धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं बिप्र गुर घात॥
श्रुति संमत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन दुरे पुरान सुग्रंथ॥

—आदि कठिनताएँ भरी पड़ी हैं। इन कठिनाइयोंसे भरे कठिन कलिकालमें केवल दो ही आधार हैं—

कलि पाखंड प्रचार प्रबल पाप पाँवर पतित।
तुलसी उभय अधार रामनाम सुरसरि सलिल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि कलियुगमें केवल पाखण्डका ही प्रचार है, ससारमे पाप बहुत प्रबल हो गया, सब ओर पामर और पतित ही नजर आते हैं। ऐसी स्थितिमें दो ही आधार हैं—(१) श्रीराम-नाम और (२) श्रीगङ्गाजीका पवित्र जल। श्रीराम-नाम और गङ्गा-जलको आधार माननेवाला पथ भी भक्ति-मार्ग ही है, किंतु साधन-सुविधाके विचारसे भक्त-परम्पराने इस साधनको भक्तिसे स्वतन्त्र 'नाम-साधन'के रूपमें स्वीकार किया है। इस साधनमें भगवान्‌ने अपनी अपेक्षा भी अपने नामकी महत्ता विशेष बतलायी है। नाम-साधनके विषयमें भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने इस प्रकार लिखा है—

> नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
> जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

> चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
> बद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥
> ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
> कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
> नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
> राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
> नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

नाम-साधनके विषयमें गोस्वामीजीने जो कुछ ऊपर कहा है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कलियुगमें ज्ञान, कर्म, भक्ति—ये तीनों ही साधन सुलभ नहीं हैं; केवल राम-नामका ही अवलम्ब है। विना राम-नामके परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती—

> राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
> बरषत बारिद बूँदगहि चाहत चढन अकास॥
> (दोहावली २०)

'जो लोग राम-नामके विना परमार्थ (मोक्ष) की आशा करते हैं, वे वर्षामें बूँदको पकडकर आकाशमें चढ़ना चाहते हैं अर्थात् असम्भवको सम्भव करना चाहते हैं।' पर ऐसा तो हो नहीं सकता—

> बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेलु।
> बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेलु॥

'जलके मथनेपर भले ही घी उत्पन्न हो जाय और रेतके पेरनेसे चाहे तेल निकल आये; परंतु श्रीहरिके भजन विना भवसागरसे पार नहीं हुआ जा सकता' यह सिद्धान्त अटल है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार 'नाम-मार्ग' में एक और विलक्षणता है। वह है नामकी व्यापकता। ज्ञान, कर्म, भक्ति—ये तीनों मार्ग अपने-अपने क्षेत्रमें सीमित हैं, अर्थात् इन तीनों मार्गोंसे प्राप्त होनेवाले फल पृथक्-पृथक् हैं किंतु 'नाम' के विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता।

नामका सम्बन्ध ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनोंसे है। नाम-मार्गमें निर्गुणपथी (ब्रह्मवादी), सगुणपथी (अवतारवादी) और कर्मपंथी (याज्ञिक)—ये तीनों एक साथ ही ग्रहण किये जा सकते हैं। 'नाम-मार्गी' तुलसीदासजीने तीनों ग्रंथोंकी समुच्चयात्मक उपासनाकी व्यवस्था भी कर दी है। यथा—

> हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
> (दोहावली ७)

भाव यह है कि नाम-मार्गीकी उपासना-पद्धतिमें हृदयमें निर्गुण ब्रह्मका ध्यान, नेत्रोंमें स्वरूपकी झाँकी तथा जीभसे राम-नामका जप—यह ऐसा है मानो स्वर्णकी डिबियामें मनोहर रत्न सुशोभित हो। परतु तीनोंका समुच्चय करनेपर भी गुसाईंजीने यहाँ नामको रत्न तथा निर्गुण ध्यान एव सगुणकी झाँकीको सोनेकी डिबिया बताकर साधकके लिये नामकी ही विशेषता दिखायी है।

नाम-मार्गकी व्यापकतामें जहाँ एक ओर इस प्रकारकी समुच्चयात्मक व्यवस्था है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण स्वतन्त्रता भी है। इस स्वतन्त्रतामें जिस प्रकार खेतमें उल्टा-सीधा कैसा भी बीज क्यों न डाला जाय, वह उचित अवसर पाकर फल देगा ही, उसी प्रकार रामका नाम उल्टा-सीधा—कैसे भी लिया जाय, अवश्य ही फलदायक होगा।

> जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर 'नाम-महिमा' का यत्किंचित् आभास अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अस्तु,

इस प्रसङ्गमें 'नाम' और 'नामी' की तुलनाका भी विचार कर लेना अनुपयुक्त नहीं जान पड़ेगा। 'अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध' की भाँति ही 'नाम-नामी-सम्बन्ध'की कल्पना भी की जाती है। जिस प्रकार अङ्गाङ्गि-सम्बन्धके अनुसार वृक्ष स्वयं तो अङ्गी है और उसकी शाखाएँ अङ्ग हैं, उसी प्रकार भगवान् स्वयं तो नामी हैं और राम, कृष्ण, गोविन्द आदि भगवान्‌के नाम हैं। परन्तु जहाँ 'अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध' में अङ्गी (वृक्ष) की उपादेयता एव महत्ता 'अङ्ग' (शाखाओं) की अपेक्षा अधिक है, वहाँ 'नाम-नामी-सम्बन्ध'में 'नाम' की अपेक्षा 'नामी' का महत्त्व उतना नहीं है।

सम्बन्धकी कल्पना दोनोंमें समानरूपसे होनेपर भी धर्म, व्यवहार एवं प्रयोगके नाते दोनोंमें महदन्तर है। एकमें शाखाओं (अङ्ग) की अपेक्षा वृक्ष (अङ्गी) का अधिक महत्त्व है; किंतु दूसरे प्रकारके सम्बन्धमें स्वयं भगवान् (अङ्गी) की अपेक्षा उनके नाम (अङ्ग) की विशेष महत्ता है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने नाम-नामीका सम्बन्ध मानते हुए भी नामी (भगवान्) की अपेक्षा उनके नाम (राम) की विशेष महिमाका इस प्रकार गान किया है—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥
× × ×
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥
× × ×
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु, बड़ ब्रह्म राम तें॥
× × ×
राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
(रामचरित० बाल०)

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
(दोहावली ३२)

इतना ही नहीं, इसके आगे भी 'नाम-माहात्म्य'-विषयक अन्य बहुत-सी चौपाइयाँ रामचरितमानसमें यथाक्रम एवं यथास्थान प्राप्त होंगी, जिन्हें पढ़कर हम 'नाम-महिमा' का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं। वैसे नामकी महिमा अपार है—न तो कोई उसका पार पा सकता है न उसकी बड़ाई ही गा सकता है।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

जब नामकी महिमाका गान स्वयं नामी (राम) भी नहीं कर सकते, तब हम साधारण जीव नामकी महिमा कैसे गा सकते हैं। वास्तवमें हमें नामकी महिमा गानी भी नहीं है, हमें तो वास्तवमें नामका जप करना है; क्योंकि संसारमें सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेके लिये नामका ही आश्रय एवं विश्वास है—

भरोसौ नाम कौ भारी।
प्रेम सौं जिन नाम लीन्हौं, भए अधिकारी॥
ग्राह जब गजराज घेरयौ, बल गयौ हारी।
हारि कै जब टेरि दीन्ही, पहुँचे गिरिधारी॥
सुदामा दारिद्र भंजो, कूबरी तारी।
द्रौपदी कौ चीर बाढ्यौ, दुसासन गारी॥
बिभीषन कौं लंक दीन्ही, रावनहिं मारी।
दास ध्रुव कौं अटल पद दियौ, राम दरबारी॥
सत्य भक्तहि तारिबे कौं लीला बिस्तारी।
बर मेरि क्यौं ढील कीन्ही, सूर बलिहारी॥

जिस प्रकार भगवान् स्वयं भक्तिके वशीभूत होकर—

जात पाँत पूछ नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई॥

—के अनुसार ऊँच-नीचका विचार न करके उन्हें सद्गति प्रदान कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम जपनेसे नीच जातिके व्यक्ति भी सत्कारके पात्र बन गये। यथा—

राम नाम सुमिरत सुजस भाजन भए कुजाति।
कुतरुक सुरपुर राज मग लहत भुवन बिख्याति॥
(दोहावली १६)

जब नीच जातिके व्यक्ति, व्याध, खग, मृग, पशु-पक्षियोंतकका उद्धार नाम-जपसे हो जाता है, तब हम तो मनुष्यरूपमें साधन-पथके पंथी हैं। हमें तो और भी उत्साह एवं आशाके साथ नाम-जप करते रहना चाहिये। राम-नामके प्रतापसे ही हमें लौकिक एवं पारमार्थिक प्रकाश प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

और भी—

तुलसी जो सदा सुख चाहिय तौ रसनाँ निसि बासर राम रटौ॥

जिस मनुष्यने नामकी महिमाको समझ लिया है, जो 'नाम' की सत्यतामें विश्वास करता है, जो नित्यप्रति

राम-राम, कृष्ण कृष्ण, गोविन्द-गोविन्द आदि रटता रहता है, वह समस्त पुण्यों, तीर्थों एव यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

भक्त प्रह्लादजी कहते हैं—

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कलौ वक्ष्यति प्रत्यहम्।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥
(स्कन्द० द्वारका-मा० ३८। ४५)

यावन्ति भुवि तीर्थानि जम्बूद्वीपे तु सर्वदा।
तानि तीर्थानि तत्रैव विष्णोर्नामसहस्रकम्॥
(पद्म० उत्तर० ७२। ९)

'जहाँ विष्णुभगवान्के सहस्रनामका पाठ होता है, वहीं पृथ्वीपर जम्बूद्वीपके समस्त तीर्थ निवास करते हैं।'

और भी—

सर्वेषामेव यज्ञानां लक्षाणि च व्रतानि च।
तीर्थस्नानानि सर्वाणि तपांस्यनशनानि च॥
वेदपाठसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवः शतम्।
कृष्णनामजपस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(ब्रह्मवैवर्त)

'लाखों यज्ञ, समस्त व्रत, सम्पूर्ण तीर्थोंका स्नान, अनशनादि तप, सहस्रों वेद-पाठ, पृथ्वीकी सौ परिक्रमाएँ—ये सब कृष्ण-नाम-जपकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

अतः—

प्रीति प्रतीति सुरीति सों राम राम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो आदि मध्य परिनाम॥
(दोहावली २२)

तुलसीदासजी कहते हैं कि 'तुम प्रेम, विश्वास और विधिके साथ राम-राम-राम जपो। इससे तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही कालोंमें कल्याण है।' बस, इतना ही—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(नारदमहापुराण, पूर्व० ४१। ११४)

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
(स्कन्द० वैष्णव० माग० ३६)

"जो 'हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे कृष्ण!!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ।"

राम भरोसो राम बल राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास॥
(दोहावली ३८)

× × ×

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले व्रत

देवर्षि नारद कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता। एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥
एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्। इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्। अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्। नाशौचं कीर्तने तस्य सदाशुद्धिविधायिनः॥
(पद्म० पा० ८४। ४२—४५)

'श्रीहरिको संतुष्ट करनेके लिये किये जानेवाले 'मानसव्रत' हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और कपट-हीनता। 'कायिक व्रत' हैं—एक समय भोजन, रात्रिमें भोजन, पूरा उपवास और बिना माँगे प्राप्त हुआ भोजन करना। 'वाचिक व्रत' हैं—स्वाध्याय, भगवान्का कीर्तन, सत्य-भाषण और चुगली आदिका त्याग। भगवान्के नामोंका सदा सर्वत्र कीर्तन करना चाहिये इनमें अशुद्धिकी बाधा नहीं है; क्योंकि नाम स्वयं ही शुद्धि करने हैं।'

प्रार्थनाका प्रयोजन

(लेखक—प्रो० श्रीफीरोज कावसजी दावर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रार्थना आत्माके लिये उतनी ही स्वाभाविक होनी चाहिये, जितनी शरीरके लिये भूख और प्यास। निर्दिष्ट धार्मिक शब्द-समूहोंको यन्त्रवत् गुनगुना देनेका नाम प्रार्थना नहीं है। यह तो उस क्रियाका केवल बाह्य और व्यावहारिक आचरण है, जिसे करनेके लिये प्रकृतिका अनुरोध है और जो ससीमको असीमके साथ उसके सम्बन्धकी याद दिलाती है। यह क्रिया अवश्य ही संक्षिप्त होती है; क्योंकि प्रार्थनाकी समाप्तिपर हम फिर अपने पार्थिव प्रयोजनोंसे युक्त हो जाते हैं। किंतु एकाग्र ध्यान ही जिसका सार है, ऐसी सच्ची भक्तिके सीमित क्षणोंमें परमानन्दस्वरूपकी जो झलक प्राप्त होती है, वह अपने सांसारिक कर्त्तव्योंके आचरणके लिये हमें नवीन उत्साहसे भर देती है।

क्षुब्धत्वरा और विभक्त उद्देश्यवाले आधुनिक जीवनके इस विलक्षण रोगमें प्रार्थना ही आत्माको आवश्यक शान्ति प्रदान करती है। जीवनके पापोंसे हम मलिन और दूषित हो रहे हैं। प्रार्थना ही जीवको वह मानसिक पवित्रता प्रदान करती है, जो दुष्कर्मजनित वैरूप्य तथा सदाचारके सौन्दर्यके भेदको परखती है। आकर्षणों तथा प्रलोभनोंसे घिरे रहनेके कारण हम दुर्बल हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें प्रार्थना ही हमें शक्ति और बल प्रदान करके इस योग्य बनाती है कि भगवान्‌के सिपाहियोंकी भाँति जीवनकी लड़ाईमें हम शैतानकी सेनासे लोहा लेकर आगे बढ सकें। जीवनके संशय, कठिनाइयों एव भयसे हम तंग आ रहे हैं। ऐसी दशामें भगवान् ही हमारी चरम गति हैं; और अपनी रक्षाके लिये उड़कर उनके पास जानेके लिये प्रार्थना ही हमारे पंख हैं। एक त्रिभुजमें आधारसे शिखरतककी प्रलम्ब रेखा ही सबसे छोटी होती है; इसी प्रकार कर्म और ज्ञान भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये उत्तम मार्ग हैं अवश्य, किंतु परमात्माके पास नित्य पहुँचनेका तथा धरतीपर हमारे अपने निवासकालके लिये आवश्यक शान्ति, पवित्रता एवं शक्ति प्राप्त करनेका सबसे समीपका मार्ग है भक्ति।

मान लीजिये हम लोग दिनमें पाँच बार प्रार्थना करते हैं। प्रातःकालकी हमारी पहली प्रार्थना भगवान्‌के सामने ऐसी प्रतिज्ञाके रूपमें होनी चाहिये कि दिनभर हम विचार, वाणी और व्यवहारमें पवित्र रहेंगे। दूसरी प्रार्थना लेखा-जोखा करनेवालेकी भाँति होनी चाहिये, जो उसके पूर्व बीते हुए घंटोंमे हमारा आचरण कैसा हुआ है इसकी जाँच करे। यदि हमने अपने वचनका पालन किया है तो अगली प्रार्थना हमारे आत्माको शक्ति एवं उल्लास प्रदान करनेवाली होगी; किंतु यदि हम अपने मार्गमें फिसल गये हैं तो हमारी तीसरी प्रार्थना हृदयको मथ डालनेवाले पश्चात्तापसे भरी होगी और उसमें भरा होगा जीवनके रपटीले मार्गमें दुबारा भूल न करनेका निश्चय। रात्रिकी अन्तिम प्रार्थना हमको इस योग्य बनानेवाली होनी चाहिये कि हम दिनभरके अपने व्यापारोंका लेखा-जोखा कर सकें, भगवान्‌के प्रति उनके अनुग्रहोंके लिये कृतज्ञता प्रकाशित कर सकें। प्रलोभनोंका वीरतापूर्वक सामना करनेपर संतोष एव अपनी भूलोंके लिये अनुताप प्रकट कर सकें तथा जीवनके संघर्षमें हमें अधिक सदाचारी एवं धैर्यवान् बनानेके लिये सर्वशक्तिमान्‌से याचना कर सकें। यहाँ जिस प्रार्थनाकी चर्चा की गयी है, वह सामान्य सद्गुणोंसे युक्त साधारण स्तरके काम-काजी मनुष्यके लिये है, न कि उन योगियोंके लिये, जिनका जीवन स्वयं एक दीर्घ प्रार्थना है, परमात्माके साथ अविच्छिन्न मिलन है। योगीकी तो स्थिति ही निराली है; वह ऐसा व्यक्ति है, जो कदाचित् अपने पूर्वजन्मोंमें अर्जित पुण्योंके फलस्वरूप भगवान्‌के द्वारपर पहुँच चुका है, जो अनन्तमें सदाके लिये विलीन हो जानेको तड़प रहा है और जो जलसे बाहर आ पड़ी मछलीकी भाँति सांसारिक पचड़ोंमें पड़कर बड़ी बेचैनीका अनुभव करता है।

यद्यपि प्रार्थनाका वाच्यार्थ है अनुनय और 'बंदगी' का अभिधेयार्थ है सेवा, तथापि प्रार्थना केवल अनुनय-विनय और सेवातक ही समाप्त नहीं हो जाती। भक्तकी प्रार्थना किसी प्रकारका अनुग्रह पानेके लिये नहीं, वरं स्वयं परमात्माके लिये होती है; भक्तकी सेवाका पर्यवसान कालमें नहीं, अनन्त भगवान्‌में होता है। यह सम्भव है कि कभी-कभी भगवान् प्रार्थनाओंको स्वीकार कर लेते हैं। किंतु भक्तिके सोपानमें स्वार्थ-कामनावाली प्रार्थनाएँ सबसे निम्न कोटिकी होती हैं। वे ऊटपटाँग भी होती हैं; क्योंकि जिनमें युद्ध ठना हुआ है, ऐसे दो राष्ट्रोंकी अपनी-अपनी सफलताके

लिये की गयी स्वार्थमयी प्रार्थनाको भगवान् स्पष्ट ही पूरी नहीं कर सकते। यदि एक व्यक्ति घोर वर्षाके लिये और उसका पड़ोसी खुली धूपके लिये प्रार्थना करता है तो भगवान् दोनोंको एक साथ नहीं प्रसन्न कर सकते। स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाओंका भक्तकी हृदयाभिलाषाके अनुसार कभी उत्तर नहीं मिल सकता, चाहे वे कितनी भी उचित क्यों न हों। यदि किसी नगरके वैद्यगण धन एवं समृद्धिके लिये प्रार्थना करें तो उनकी न्यायसंगत, किंतु स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाको पूरा करनेमें उन थोड़े-से व्यक्तियोंके लाभके लिये लाखोंको मृत्यु और विपत्तिके गालमें ले जानेवाली किसी महामारीको भेजना पड़ सकता है। अतएव सच्चे कर्मके समान प्रार्थना भी निष्काम होनी चाहिये।

भक्त जब अपनेको भक्तिके अन्तिम स्तरतक विनम्र और दीन बना लेता है, तब भी उसकी प्रार्थना याचनाका रूप नहीं लेती। प्रार्थना भगवान्के साथ सौदा भी नहीं है। अपनी निरन्तरकी प्रार्थना-पूजा तथा यज्ञादिके बदले भक्त भगवान्से किसी अनुग्रह-विशेषका दावा नहीं कर सकता। भगवान्से सौदा करना भक्तके लिये धृष्टता है; क्योंकि ससीम और असीम समान धरातलपर स्थित नहीं हैं। भक्तको घुटना टेके, सिर झुकाये तथा सम्मानकी मुद्रामें रहना चाहिये। वह न तो मोल-तोल कर सकता है, न विरोध कर सकता है और न आदेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनुग्रहके लिये उसे भगवान्को तंग करनेकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् पहलेसे ही जानते रहते हैं कि भक्त क्या चाहता है तथा भविष्यमें क्या चाहेगा। धर्मरत व्यक्तिके लिये यह स्वाभाविक ही है कि कठिन परिस्थितियोंमें या जब उसका एकलौता पुत्र जन्म-मरणके झूलेमें झूल रहा हो, तब वह भगवान्से विपत्तिसे उबारनेके लिये प्रार्थना करे। किंतु उसकी प्रार्थना कितनी भी न्यायोचित एवं स्वाभाविक हो, वह है तो स्वार्थप्रेरित ही और फिर अनावश्यक भी है; क्योंकि भगवान् रेंगकर चलने-वाले कीड़ेकी भी आवश्यकताको जानते हैं तथा धार्मिक भक्तकी भी।

भगवान्के मङ्गल-विधानको सर्वथा स्वीकार कर लेना, भगवदिच्छाके साथ अपनी इच्छाको एकरूप कर देना ही सच्ची प्रार्थना है। 'तेरी इच्छा पूरी हो' यही प्रार्थनाका सर्वश्रेष्ठ रूप है; क्योंकि इसमें विनय, सम्मान और स्वार्थहीनताका पुट रहता ही है। पारसीधर्मकी प्रार्थना भी इसी प्रकारकी है—'हुमोम्न अहुरामज्दा' (बुद्धिमान प्रभु प्रसन्न हों!) इस्लामधर्म भी कजा (प्रारब्ध) तथा तसलीम (समर्पण) को प्रधानता देकर हमारी अन्तिम गतिको निर्मित करनेवाले भगवान्की इच्छाका निर्विशेष अनुवर्तन करनेकी स्मृति भक्तको दिलाता है। हिंदुओंकी प्रार्थनाका भी मूल-तत्त्व है—उन भगवान्के प्रति शरणागति अथवा 'प्रपत्ति', जिनसे ऊपर कोई अन्य सत्ता नहीं है और जो ज्ञान एवं सत्यके भंडार हैं। इस प्रकारकी प्रार्थना, जो कि भागवत-धर्ममें लक्षित होती है, ऐकान्तिकी (अनन्य) भक्ति कहलाती है। किंतु यह पूछा जा सकता है कि 'आध्यात्मिकताके इस ऊँचे स्तरपर पहुँच जानेपर मानवीय पुरुषार्थके लिये, जागतिक कर्तव्योंको करनेके लिये कोई प्रेरणा बच रहेगी क्या?' शङ्का उचित है, किंतु उसका समाधान यह है कि भगवदनुगत भक्त पृथ्वीपर लोकहितके कर्मोंको उसी प्रकार करता रह सकता है, जैसे घड़ी टिक-टिक करती रहती है; वरं उसके कर्म और भी अच्छे होंगे; क्योंकि अनन्तकी इच्छाका निरन्तर अनुगमन एवं उनसे सतत सम्पर्क भक्तके कार्योंमें शक्ति, पवित्रता तथा शान्तिका संचार करके उनको भगवत्संस्पर्शके द्वारा पवित्र कर देगा।

यह कहा जाता है कि भलाईका पुरस्कार होना चाहिये नित्य बढ़ते हुए भले कर्मोंके करनेकी विकसित शक्ति। यदि कभी स्वार्थपूर्ण प्रार्थना करनी ही हो तो भक्तको अधिक गम्भीर सद्गुण, शुभाचरणके लिये और अधिक व्यापक क्षेत्र तथा उन्मुक्त एवं स्वार्थहीन उदारताके लिये अत्यधिक शक्ति प्राप्त करनेके निमित्त करनी चाहिये। स्वार्थ-पूर्ण प्रार्थनाकी स्वार्थपरताको यह भाव मिटा देगा। और जब अहंता एकदम क्षीण हो जाती है, तभी हृदय भगवान्का घर बनता है। अनाचार एवं क्रूरताके द्वारसे आया हुआ वैभव तथा शक्ति आत्माको नीचे पटक देते हैं, उसे पापपङ्कमें घसीट ले जाते हैं। सच्ची प्रार्थनामें एक पैसा भी खर्च नहीं होता। वह बिना चिन्ता या क्लेशके सुलभ है और आत्माको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त कर देती है। वह उसे ऊपर उठाती है ताकि वह जीवनके अन्तिम ध्येय, मानव-जीवनके सर्वस्वसे (भगवान्से) सम्पर्क प्राप्त कर सके।

सामूहिक प्रार्थनाकी आवश्यकता और भारतका उत्थान

(लेखक—श्रीअच्छू धर्मनाथ सहाय, बी०ए०, बी० एल०)

प्रार्थना अनेक प्रकारकी होती है। पर उसके दो मुख्य प्रकार हैं—एक व्यक्तिगत प्रार्थना और दूसरी सामूहिक प्रार्थना, अथवा एक भगवान्‌से कुछ माँगनेकी प्रार्थना और दूसरी भगवान्‌से केवल भगवान्‌के लिये, भगवत्प्रेमके लिये प्रार्थना। इस अन्तिम श्रेणीकी प्रार्थनामें न माँगना है न जाचना है, बल्कि अनेक भावोंद्वारा प्रभुको अपनाना है, उनके पुनीत चरणोंमें अपने शरीर, मन और आत्माको समर्पित करना है। बस, उन्हींमें रमण करना, उन्हींमें अनुरक्त रहना, उन्हींके प्रेमका रसास्वादन करना, अपने समस्त जीवन-व्यापारको उन्हींमें केन्द्रित कर रखना, कभी पूजा-पाठ, स्तुति-गान करना, कभी धन्यवाद देते हुए कृतज्ञतापूर्वक नाम-स्मरण करना, कभी हरि-नाम-यश-संकीर्तन करना, कभी हृदयका सरल सच्चा निष्कपट उद्गार उनके सामने रखना, कभी केवल अश्रुओंद्वारा ही उनको रिझाना, समस्त चराचर जगत्‌को उन्हींका व्यक्त रूप समझकर उसकी सेवा करना—यही इस प्रार्थनाका क्रम है। इसीको आराधना भी कहते हैं और इसीका दूसरा नाम उपासना है। प्रार्थना चाहे व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक, चाहे किसी लौकिक वस्तु या सुखकी प्राप्तिके लिये हो चाहे 'निष्केवल प्रेम'के लिये, भगवान्‌का अनुसंधान परम आवश्यक है। भगवान्‌का अनुसधान जितना ही प्रबल होगा, हमारी प्रार्थना उतनी ही बलवती होगी। मनुष्यमात्रके लिये व्यक्तिगत प्रार्थना उतनी ही आवश्यक है जितनी किसी देश, समाज और राष्ट्रके लिये सामूहिक प्रार्थना। बल्कि सामूहिक प्रार्थनामें सम्मिलित होनेके पूर्व सबके लिये व्यक्तिगत प्रार्थना करना आवश्यक है; क्योंकि इससे सामूहिक प्रार्थनामें बल मिलता है और शक्ति उत्पन्न होती है।

व्यक्तिगत प्रार्थनामें हम केवल अपनी श्रद्धा, प्रेम, भक्ति और प्रपत्तिके बलपर भगवान्‌का अनुसधान करते है। किंतु सामूहिक प्रार्थनामें एकके अतिरिक्त अनेकोंके बल और अनुभवका लाभ हमें प्राप्त होता है, जिससे सामूहिक शक्ति प्राप्त होती है और भक्ति-भाव—प्रेमभावका एक अनोखा उल्लास उमड़ पड़ता है, जो जन-समुदायके हितचिन्तन, एकीकरण और संगठनमें जादूका-सा काम करता है। व्यक्तिगत प्रार्थना निर्जन एकान्त स्थानकी चीज है। इसमें तल्लीनता, एकाग्रता और शान्तिकी आवश्यकता है। जबतक मन स्थिर नहीं, चित्त इधर-उधर जानेसे रुकता नहीं, भगवान्‌का ध्यान हृदयमें जमता नहीं, सच्चा भाव भगवान्‌के प्रति होता नहीं, आतुरता और विह्वलता नहीं, सच्चा और साफ दिल नहीं, आर्त्त और दुखी चित्त नहीं, प्रणयपूर्वक भगवान्‌का अनुसंधान नहीं, सच्ची श्रद्धा, प्रेम और लगन नहीं, तबतक हमारी प्रार्थनामें बल नहीं आता और व्यक्तिगत प्रार्थना बिना इनके पूरी फलदायक नहीं होती। निरन्तर एकान्त स्थान प्रियतम प्रभुमें दिल लगानेके लिये, अपने हृदयका भाव उनसे प्रकट करनेके लिये बहुत आवश्यक है। अकेलेमें लज्जा-संकोचको स्थान नहीं। दिल खोलकर प्रियतम प्रभुसे बातें की जा सकती हैं, अपनी दीनता, तन्मयता, आत्मनिवेदनका परिचय भलीभाँति अधिक स्वतन्त्रता और प्रेमके साथ दिया जा सकता है, जो जनसमूहके सामने सम्भव नहीं।

प्रिय सन कौन दुराव, परदा काह भतारसे।
जानत भाव कुभाव, सबके उर अंतर बसत॥

यदि चित्त, मानस, हृदय, वचन, कर्म प्रियतम प्रभुसे इस प्रकार जा मिले हों, निकम्मा सोच-विचार, फिक्र अथवा निष्फल मनन या अमनन न हो और मनमें सिवा प्रभुके और किसी वस्तुके रहनेकी जगह न हो तथा यदि प्रार्थना सरलता और आर्त्ततापूर्वक दिल खोलकर की जाय तो कोई ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध न हो सके। ऐसी व्यक्तिगत प्रार्थना अपने लिये भी की जा सकती है और दूसरेके लिये भी। अपनी अपेक्षा दूसरेके लिये प्रार्थना करना और भी अच्छा है और ऐसी प्रार्थना बहुत जल्द सुनी जाती है; क्योंकि उसमें स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं होता। दूसरोंको दुखी देखकर दुखी होना, उनका कल्याण चाहना, उनके लौकिक-पारलौकिक सुखके लिये, उनको समुन्नत, पवित्र, सदाचारी बनानेके लिये, भगवान्‌के प्रति उनका अनुराग बढ़ानेके लिये प्रभुसे विनय करना अतिशय उपकारी और उपयोगी है और ऐसी प्रार्थनाका उत्तर शीघ्र मिलता है। श्रद्धावान्‌का ही भाव भगवान्‌को वशमें कर सकता है—'सँवलिया भावके भूखे'।

भाव बस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन।

दूसरोंके लिये प्रार्थना करनेवालेपर भगवान्‌की कृपा विशेष होती है और उसकी सब कामनाओंकी पूर्ति बिना माँगे ही होती है।

यह अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तसिद्ध है कि मनुष्य जो कुछ भी सोचता है, उसके वे भाव नष्ट नहीं होते, अव्यक्त-रूपसे आकाशमण्डलमें व्याप्त हो जाते हैं और वे ही व्यक्तरूप-से वाणीद्वारा उच्चरित होते हैं एवं क्रियाओंद्वारा कार्य-रूपमें मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं। यदि ऐसे शुद्ध सात्त्विक कल्याणकारी भाव सात्त्विक, सदाचारी, पुण्यवान् व्यक्ति तथा बहुसख्यक महापुरुषों, व्यक्तियो और समुदायके शुद्ध अन्तःकरणसे उठते हों तो उनके वे भाव और भी प्रबल और शक्तिशालीरूपसे वायुमण्डलमें व्याप्त हो जाते हैं। ऐसे भावोंके सम्मिश्रणसे एक प्रबल विद्युत्-शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे जगत्का उपकार तथा कल्याण होता है। अल्प-संस्कारी जीव भी ऐसे वातावरणके प्रभावसे प्रभावित हो उठते हैं, वायुमण्डलसे उन भावोंको खींच लेते हैं और सुख, शान्ति और आनन्दका अनुभव करते हैं। महापुरुष और जीवन्मुक्त महात्मा ऐसे कल्याणकारी विचारोंको अपनी व्यक्तिगत प्रार्थना-द्वारा जगत्के उपकारार्थ छोड़ते रहते हैं, जिससे समाज एवं देशका ही नहीं बल्कि विश्वभरका कल्याण होता है। यही कारण है कि एकान्तवासी महात्मा दूर रहते हुए भी अपनी शुभकामनाओं, हितचिन्तन तथा शुभविचारोंद्वारा समाज, देश, राष्ट्र और विश्वभरका कल्याण करते हैं। हमारे महा-पुरुषोंकी जो व्यक्तिगत प्रार्थनाएँ होती थीं, वे सामूहिक कल्याण, हितचिन्तन, परोपकारके भावसे ही प्रेरित रहती थीं। हमारे धर्म-ग्रन्थोंमें ऐसी अनेक प्रार्थनाएँ मिलती हैं, जो प्राणिमात्रको स्वच्छ—निर्मल बनानेकी शुभ आकाङ्क्षासे, सम्पूर्ण समाजको सुखी बनानेकी इच्छासे की गयी हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सुखमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सब प्राणी कल्याण-का दर्शन करें, दुःखका भाग किसीको न मिले, सब प्राणी सकटोंसे तर जायँ, सब कल्याणका दर्शन करें, सब सुख प्राप्त करें, सब सर्वत्र आनन्द मनायें।'

बहु देयं च नोऽस्तु अतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कंचन ॥

(शुक्ल यजुर्वेद)

'हमारे पास देनेके लिये प्रचुर सामग्री हो, हम सदा बहुत-से अतिथियोंकी सेवाका अवसर पाते रहें, हमारे पास माँगनेवाले आयें—किंतु हम कहीं न माँगें।'

हमारे सर्वप्रधान गायत्री-मन्त्रमें सद्बुद्धि और सत्प्रेरणाके लिये जो प्रार्थना की गयी है, उसमें भी हम सामूहिक दृष्टि ही रखते हैं—हम सभीकी सद्बुद्धि और सत्प्रेरणाके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं, न केवल अपने लिये। इस प्रकारकी जनहितकरी व्यक्तिगत प्रार्थनाद्वारा दूषित मनुष्योंकी मनोवृत्तियाँ सहजमें बदली जा सकती हैं, उनको श्रद्धावान्, भक्तिमान् और चरित्रवान् बनाया जा सकता है, जो अन्य दूसरे साधनोंसे सहजमें सम्भव नहीं। और यदि व्यक्तिगत प्रार्थनाके साथ-साथ सामूहिक प्रार्थना भी चलती रहे तो वह और भी आश्चर्यजनक और अद्भुत चमत्कार दिखलाती है।

जब दो-चार भक्त या जनसमूह किसी देव-मन्दिर, प्रार्थना-भवन या किसी अन्य निर्दिष्ट स्थानपर सम्मिलित होकर एक मण्डली बनाकर एक साथ स्तुतिगान करते हैं या भक्तिभावसे उस दीनदयालु प्रभुका नाम-यशोगान, वन्दना, बंदगी—प्रार्थना करते हैं, तब इसे सामूहिक या सामुदायिक प्रार्थना कहते हैं। ऐसी सामूहिक प्रार्थनाकी शक्ति विलक्षण होती है। सामूहिक प्रार्थनामें सामूहिक तत्त्व निर्दिष्ट रहते हैं। इसमें केवल भक्तिभावका प्रादुर्भाव ही नहीं होता बल्कि सामूहिक बल, सामूहिक शक्ति, सामूहिक जीवन, सामूहिक सम्बन्ध और सामूहिक भावकी प्रबल तरङ्गे अपने-आप विलसित और विकसित होने लगती हैं, जो सारे वायुमण्डलको उन भावोंसे ओत प्रोत कर देती हैं। ऐसे शुद्ध वातावरणके प्रभावसे भेदभाव, दुर्वासनाओंके भाव और नास्तिकताके भाव जड़मूलसे नष्ट हो जाया करते हैं और उनके स्थानमें समभाव, भ्रातृभाव, प्रेमभाव, एकताके भाव और आस्तिकताके भावका उदय होता है, जिसके द्वारा जन-समाजका एकमन हो जाना, एकाग्रता लाभ करना, एक मार्गानुगामी बन जाना, सत्सङ्गति प्राप्त करना एक स्वाभाविक बात हो जाती है। सम्मिलितरूपसे प्रार्थना करनेकी प्रथा सभी धर्मों और समाजोंमें प्रचलित है। हमारे यहाँ देवमन्दिरोंमें हर समय भोग-आरतीके उपरान्त ऐसी सामुदायिक प्रार्थनाका नियम है। मुसल्मान और ईसाई भाई अपनी-अपनी प्रार्थनाके समयपर और खासकर शुक्रवार और रविवारको एकत्र होकर मस्जिद और गिर्जोंमें अपने इष्टदेवकी बंदगी किया करते हैं। ऐसी सामुदायिक प्रार्थनासे बहुत लाभ होता है, एकको दूसरेसे मदद मिलती है, आपसमें प्रेम होता है, किसीके प्रति द्वेषभाव नहीं रहता, मन, वचन, कर्मसे दूसरेको सहायता पहुँचानेकी आदत पड़ जाती है। डाह, अहंकार और अभिमानका नाश हो जाता है। वैर-विरोध जाता रहता है और सबके दिलमें रति, सद्का

कल्याण करनेकी भावना उत्पन्न होती है। इसमें अपनी, समाजकी और राष्ट्रकी—तीनोंकी उन्नति होती है और सात्त्विकता बढ़ती है। सामूहिक प्रार्थनामें एक और विशेषता यह है कि प्रार्थनाके समय भगवान्‌की स्वयं उपस्थितिका अनुभव जीव करता है। भगवान्‌के श्रीमुखका वचन है—

> नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
> मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥
> (पद्म० उ० ९४ । २३)

'नारद! मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता और न योगियोंके हृदयमें मेरा वास है। मेरे भक्तजन जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।'

मिलकर समुदायमें एक साथ भगवान्‌का नाम-गुण-यश-कीर्तन करनेसे, उनका गुणगान करनेसे, स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्‌में प्रेम उत्पन्न होता है, सुननेवालोंकी भी भगवान्‌की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसे समारोहमें एक-दो प्रमुख भावनावाले व्यक्तियोंकी उपस्थिति आवश्यक होती है, जिसके प्रभावसे सारी मण्डली प्रभावित हो जाती है और भगवत्-प्रेमकी उत्ताल तरङ्गें अपने-आप उमँडने लग जाती हैं। सब भावमें डूब जाते हैं, एकको दूसरेके भावोंसे मदद मिलती है, केवल प्रार्थनामें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी ही सहायता प्राप्त नहीं होती बल्कि भूतकालके अनेक साधु-संतों और जीवन्मुक्त महात्माओंकी सहायता मिलती है। ऐसे पवित्र स्थलपर निस्संदेह दिव्य आत्माओंका प्रेम-जीवन उतरता है और पूर्ण प्रेमभक्ति और शान्तिका स्रोत प्रवाहित होने लगता है। सारे देवता, पितर, गन्धर्व, तीर्थ, ऋषि-महर्षि, सिद्ध वहाँ आ विराजते हैं, आनन्दित होते हैं और हर्ष तथा शान्तिसे भरा हुआ आशीर्वाद दे जाते है। सामुदायिक प्रार्थनाकी प्रथाको हम आज भूल बैठे हैं और इसीसे हम-लोगोंमें मेल, जातीय सगठन, पारस्परिक सद्भाव, प्रेम और समताका अभाव है। हमलोगोंको इन गुणोंको अपनाना चाहिये। एक ही निर्दिष्ट समयपर सबको मिलकर हर रोज या हफ्तेमें कम-से-कम एक बार किसी नियत स्थानपर समष्टिरूपसे कीर्तन करना, भगवान्‌का नाम-यश-गान करना, गुणानुवाद गाना, धन्यवाद देना अवश्य चाहिये। कुछ दिनोंसे श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज, श्रीतुकड़ोजी महाराज, श्रीस्वामी शरणानन्दजी तथा अन्य दूसरे-दूसरे महात्मा और धर्मसंघ, प्रार्थना-समिति इत्यादि अनेक संस्थाएँ सामूहिक प्रार्थनाके महत्त्व और उपयोगिताको समझाते हुए देशके कोने-कोनेमें इसका प्रचार कर रहे हैं। यह बहुत ही सराहनीय और देशके लिये बहुत हितकर और

कार्य है।

किसी देशको समुन्नत, सुसम्पन्न, सुखमय तथा शक्तिशाली बनानेके लिये आवश्यक है जनताका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, सबकी एक हो जायँ, सब एक ही पथका अनुसरण जायँ, सब दुःख-क्लेश, विघ्न-बाधा, वैर-विरो संघशक्ति उत्पन्न करें। और यह तभी सम्भव एक ही सूत्रमें बँध जायँ, ईश्वर और धर्मका डर अपने-अपने धर्मके अनुकूल ही आचरण करें, कि प्रति दुर्भावना न रखें और सम्मिलितरूपसे हा कीर्तन और प्रार्थना किया करें। सभी विरोधी सूत्रमें बाँध रखनेकी क्षमता केवल हरिनाम-यश रखता है; क्योंकि इसमें कोई मतभेद नहीं है। सरकार धर्मनिरपेक्ष राज्य होनेके कारण धर्मसे रहती है और यहाँकी जनता, कर्मचारी, नेता औ विदेशी शिक्षा एवं सभ्यताके प्रभावसे ईश्वर औ उन्नतिमें बाधक समझते हैं, बल्कि कुछ अज्ञानव मूर्खता और पाखण्ड कहते हैं। इसी कारण वातावरणके प्रभावसे यहाँ धर्मका ह्रास, असत्य, पक्षपात, चोरी, चोरबाजारी, रिश्वत, बेईमानीका है। जो लोग अहिंसा, त्याग, बलिदान, निष्का परोपकारके पथपर अग्रसर थे, आज वे भी अ स्वार्थपरायण, अधिकारलिप्सु और धर्मभ्रष्ट हुए रहे हैं। यश, मान-प्रतिष्ठा, ठाट-बाट, ध उपार्जनके फेरमें धर्म, नीति, मर्यादा त्यागकर मि हार कर रहे हैं। न ईश्वरका डर है न ध राजदण्डका न लोकलाजका। इसका मूल कारण है—ईश्वर और धर्ममें अविश्वास; और इससे बचने एक ही उपाय है—महात्मा गाँधीके पथका अनुसर राम-नाममें विश्वास और सामूहिक कीर्तन और सामूहि जन-समाजको सचमुच शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारी, शक्तिमान्, निःस्वार्थी, सच्चा भक्त और सच्चा बनाना हो तो हमें सामूहिक कीर्तन, सामूहिक शरण लेनी होगी। इससे बुद्धि निर्मल होगी औ बुद्धिसे हमारे व्यावहारिक कार्य भी शुद्ध, सात्त्विक, हितकर और सुखप्रद होंगे। यदि आप चाहते देशकी काया पलट जाय, देश सब प्रकारसे सु

३१—

भगवन्नामकी महिमा

भागवतधर्मके बारह मर्मज्ञ

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥ (श्रीमद्भा० ६ । ३ । २०)

सम्पन्न रहे, अत्याचार-अनाचार, दुराचार-दुष्टाचार, पापाचार-भ्रष्टाचार—सब नष्ट हो जायँ, नैतिकताका विकास हो और यहाँके सम्पूर्ण निवासी सुखमय, आनन्दमय, शान्तिमय जीवन-यापन करें तो हमें चाहिये कि महात्माजीकी प्रार्थनाके बाहरी क्रियात्मक कार्यके साथ-साथ उसके वास्तविक स्वरूपको भी ग्रहण करें—हम सदा-सर्वदा भगवान्के सानिध्यका अनुभव करते हुए सब व्यावहारिक कार्य उन्हींके निमित्त, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणासे करें। हमारे विचार, हमारी इच्छाएँ, हमारी सब क्रियाएँ भगवत्-सेवाका रूप धारण कर लें अर्थात् जीवनके समस्त व्यापार प्रार्थनामय हो जायँ। खेदकी बात है कि आज हमलोग महात्माजीके आदेशको भूल बैठे हैं, उनके आदेशानुसार, कथनानुसार नहीं चल रहे हैं। यही कारण है कि देशमें सर्वत्र असतोष फैला हुआ है और देशका अधःपतन दिन-पर-दिन होता जा रहा है। महात्माजी प्रार्थनाकी आवश्यकता, उपयोगिता और महत्त्वको भली प्रकार जानते थे और यह समझते थे कि राज्यमद, अधिकारमदके कारण धर्मबुद्धिका लोप और नैतिकताका विनाश होना बहुत सम्भव है। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियोंके लिये सम्मिलित प्रार्थनाका कठोर नियम बना रखा था। स्वयं भी नित्य नियमित रूपसे प्रार्थना करते थे, सामूहिक प्रार्थनामें सम्मिलित होते थे और सबको प्रार्थनाके पाशमें बाँध रखना चाहते थे, जिससे सबके हृदयमें ईश्वर-निष्ठा, नाम-निष्ठा और धर्मनिष्ठा जग जाय, जो सब प्रकारकी शक्तिका उद्गमस्थान और सफलताकी कुंजी है। उनका विश्वास था कि हृदयसे की जानेवाली प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती, अपनेको अवश्य स्वच्छ बनाती है, आसुरी वृत्तिको दैवीमें परिवर्तित कर देती है और सुख-शान्ति प्रदान करती है। केवल इस एक बातको सिद्ध कर लेनेसे सब अभीष्ट सिद्ध और सब तरहकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। प्रार्थनापर उनका विचार उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

'मैं स्वयं अपने और अपने कुछ साथियोंके अनुभवसे कहता हूँ कि जिसे प्रार्थना हृदयगत है, वह कई दिनोंतक बिना खाये रह सकता है पर प्रार्थना बिना नहीं रह सकता। इस जगत्में हम सेवा करनेके लिये पैदा किये गये हैं, सेवाके ही काम करना चाहते हैं। यदि हम जागरूक रहेंगे तो हमारे काम दैवी होंगे, राक्षसी नहीं। मनुष्यका धर्म राक्षसी बनना नहीं है, दैवी बनना है। परंतु प्रार्थनाहीन मनुष्यके काम आसुरी होंगे, उसका व्यवहार अशुद्ध होगा, अप्रामाणिक होगा। एकका व्यवहार अपनेको और जगत्को सुखी बनानेवाला होगा, दूसरेका अपनेको और जगत्को दुखी बनानेवाला। परलोककी बात तो जाने दें, इस लोकके लिये भी प्रार्थना सुख और शान्ति देनेवाला साधन है। अतएव यदि हमें मनुष्य बनना है तो हमें चाहिये कि हम जीवनको प्रार्थनाद्वारा रसमय और सार्थक बना डालें। इसलिये मैं आपको यह सलाह दूँगा कि आप प्रार्थनाके भूतकी तरह चिपटे रहें। यह न पूछिये कि प्रार्थना किस तरहसे की जाय। केवल राम-नाम बोलकर भी प्रार्थना की जा सकती है। प्रार्थनाकी रीति चाहे जो हो, मतलब भगवान्का ध्यान करनेसे है।'

राम-नामकी महिमाके विषयमें उनका अनुभव इस प्रकार है—

'मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो राम-नामकी बदौलत। जब-जब मुझपर विकट प्रसङ्ग आये हैं, मैंने राम-नाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे राम-नामने मेरी रक्षा की है। .... करोड़ों हृदयोंका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।'

यदि हम महात्माजीके सच्चे अनुयायी और सच्चे भक्त हैं और चाहते हैं कि इस देशकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे, इसके नैतिक अधःपतनका अन्त हो जाय, इसमें वास्तविक रामराज्यकी स्थापना हो, कोई भी दुखी न रहे, सब स्नेहपूर्वक एक दूसरेके हित और सुखवर्धनमें निरत रहें, देश सब प्रकारसे सुखी एवं समृद्धिशाली बने, संसारमें विश्वशान्ति, विश्वप्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी स्थापना हो तो हमें चाहिये कि हम महात्माजीके पदचिह्नोंका अनुसरण करें, उनके आदेशोंका पालन करें, राम-नाममें पूर्ण श्रद्धा, प्रेम और भक्ति उत्पन्न करें और सामूहिक प्रार्थना और सामूहिक हरिकीर्तनकी प्रथा प्रचलित कर जन-समाजमें नवजीवन, नवीन शक्ति और नये उत्साहका संचार करें। कलियुगमें सम्मिलित प्रार्थना और सम्मिलित हरि-कीर्तनका बहुत माहात्म्य है—'संघे शक्तिः कलौ युगे।' इस युगमें भगवत्प्राप्ति तथा सब प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिका दूसरा कोई सुगम और सरल साधन भी नहीं है। अन्य युगोंमें जो फल घोर तपस्या,

योग-समाधि आदिसे प्राप्त होते हैं, वे कलियुगमें केवल भगवन्नामकीर्तनसे ही प्राप्त हो जाते हैं—

> यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन न समाधिना।
> तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥
> कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
> जो गति होइ सो कलि हरि नाम तें पावहिं लोग॥

कलिजुग जोग जग्य नहिं ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अतएव सबके लिये उचित है कि नित्य-निरन्तर श्रीहरि-नाम-यश-संकीर्तन और प्रार्थनाका सतत स्वयं अभ्यास करें और नित्य-नियमितरूपसे जगह-जगह एक ही निर्दिष्ट समयपर सब मिलकर समष्टिरूपसे सामूहिक हरि-संकीर्तन और सामूहिक प्रार्थनाकी सुमधुर और पवित्र ध्वनियोंसे सारे आकाशमण्डलको प्रतिध्वनित कर दें और इस सर्वोत्तम प्रथाका प्रचार और प्रसार ऐसे भाव और चावके साथ करें कि यह हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, सामूहिक और राष्ट्रिय जीवनका एक अनिवार्य अङ्ग बन जाय।

प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, एल्० टी०)

आजकल प्रार्थनाको बहुत-से लोग गलत समझ रहे हैं। विशेषकर बीसवीं शताब्दीके युवकोंकी सुशिक्षित दृष्टिमें प्रार्थना एक ढकोसला, एक विडम्बना, खाने-कमाने, ठगने-ठगानेका एक धंधा है। कुछ अन्य लोग समझते हैं कि प्रार्थना करके हम बच्चोंकी तरह मीठी-मीठी बातोंसे परमेश्वरको फुसलाना चाहते हैं। यह भी ठीक नहीं। सच्ची बात तो यह है कि प्रार्थना मनका मोदक नहीं है। जो व्यक्ति बिना परिश्रमके मुफ्तका माल उड़ानेकी फिक्रमें रहते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर किसीके गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने या भीख माँगनेकी ओर ध्यान नहीं देता। सच्ची आन्तरिक प्रार्थना श्रद्धा, शरणागति तथा आत्मसमर्पणका रूपान्तर है। महात्मा तुकाराम, महाप्रभु चैतन्य, स्वामी रामदास, मीराँबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त-संतों एवं महात्माओंकी प्रार्थनाएँ जगत्प्रसिद्ध हैं।

अंग्रेज कवि टेनीसनने भी कहा है कि बिना प्रार्थना मनुष्यका जीवन पशु-पक्षियों-जैसा निर्बोध है। प्रार्थना-जैसी महाशक्तिसे काम न लेकर और अपनी थोथी शानमें रहकर सचमुच हम बड़ी मूर्खता करते हैं। वास्तवमें प्रार्थना तो परमेश्वरसे वार्तालाप करनेकी एक आध्यात्मिक प्रणाली है। जिस महाशक्तिसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न है तथा लालित-पालित हो रहा है, उससे सम्बन्ध स्थापित करनेका सरल एवं सच्चा मार्ग हमारी आन्तरिक प्रार्थना ही है। भक्त परमानन्दस्वरूप परमात्मासे प्रार्थनाके सुकोमल तारोंद्वारा ही सम्बन्ध जोड़ता है।

प्रार्थना केवल प्रार्थना-मन्दिरतक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि कहीं भी और किसी भी समय की जा सकती है। वह जितनी ही सरल, सच्ची और आन्तरिक होगी, भगवान्‌के हृदयको उतना ही द्रवित कर सकेगी। जिसने प्रार्थनाके रहस्यको समझ लिया है, वह बिना प्रार्थनाके रह ही नहीं सकता। एक तत्त्वदर्शीका कथन है कि 'प्रार्थना मनुष्यके मनकी समस्त विशृङ्खलित एवं अनेक दिशाओंमें भटकनेवाली वृत्तियोंको एक केन्द्रपर एकाग्र करनेवाले मानसिक व्यायामका नाम है।' विकृत मन प्रार्थनासे सुसंचालित होकर आत्मिक आनन्द प्राप्त करता है। इससे समस्त कष्ट और व्याधियाँ दूर होती हैं और मनमें ईश्वरीय शक्तिका आभास संचरित होता है।

अब हमें देखना है कि प्रार्थनाकी इस अद्भुत शक्तिका मनोवैज्ञानिक आधार तथा रहस्य क्या है। मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि प्रार्थना अव्यक्त मनसे उठी हुई एक चेतना है। मनुष्यके चेतन मनसे परे उसका गुह्य अथवा अचेतन मन भी है। यह अज्ञात चेतना परम लीलामयी है। उसमें एक-से-एक आश्चर्यजनक सामर्थ्योंका भंडार है।

हमारी एकाग्र मनसे की हुई प्रार्थना ध्यानको चेतन मनकी ओरसे गुप्त मनकी ओर आकर्षित कर देती है। बुद्धि, सद्भाव, आन्तरिक सामर्थ्य तथा आन्तरिक शक्तिका केन्द्र यही गुप्त मन है। गुप्त मनके सम्मुख चेतन मनकी कोई गणना नहीं हो सकती। यह सदैव दिन-रात निर्विघ्न रूपसे कार्य करता रहता है, किंतु रात्रिमें निद्राके समय गुप्त मनका कार्य और भी तीव्र गतिसे सम्पन्न होता है।

तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो अनन्त शक्ति मनुष्यके इसी गुह्य मनमें है। निर्बल-से-निर्बल मनुष्यकी शक्तिका भी वास्तविक केन्द्र गुह्य मन ही है। शक्ति, प्रवाह, प्रेरणा, बल उसीमें भरा है। वही शान्ति, सुख और आनन्दका संचालक है। वही हमारा रक्षक या भक्षक है। प्रत्येक चेतन भावना इस अचेतन मनमें पदार्पणकर हमारे व्यक्तित्वकी एक स्थायी वृत्ति बनकर उसे प्रभावित करती रहती है। इस प्रकार वह मनुष्यके मानसिक एवं शारीरिक संगठन-कार्यमें समुचित भाग लेती है। यदि वह स्वास्थ्य, शक्ति, बल, सामर्थ्य, बुद्धि तथा अन्य किसी उत्कृष्ट भावसे सम्बन्धित हुई, तब तो हमें अंदरसे एक प्रकारका उत्कर्ष तथा साहस मिलता है और यदि इसके विपरीत भावनाएँ हुईं तो उनका प्रभाव भी निराशाजनक और हानिकारक ही होता है।

प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक आधार गुप्त मन ही है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे प्रार्थना एक प्रकारका 'आत्म-संकेत' अथवा 'आत्म-सूचना' ही है। जीवनमें संकेत तथा सूचनाएँ हमें परिचालित करती हैं। उदाहरणार्थ, आप खिन्नमन होकर मार्गमें चले जा रहे हैं कि अकस्मात् किसी प्रफुल्लवदन मित्रसे आपकी भेंट हुई। उसकी मुस्कान तथा उसके उत्साह-वर्द्धक वचन आपपर बलप्रद औषधका कार्य करते हैं और आपकी निराशा विलीन हो जाती है। यह संकेत अथवा सूचनाका प्रभाव है। ऐसे ही एक विशेष प्रकारकी सूचनाएँ आपकी प्रार्थनाएँ भी हैं। आपकी अपनी ही भावनाएँ, अपने ही मुखसे उद्वेलित शब्दसमूह अचेतन अर्थात् गुह्य मनमें पहुँचकर मानसिक स्तरका एक भाग बन जाते हैं। जिन विचारोंका प्रभाव जितना ही शीघ्र गुप्त मनपर पहुँचाया जा सकता है, उतनी ही शीघ्र प्रार्थना फलवती होती है। प्रार्थना करते समय प्रकट मनकी अवस्था अचल एवं कुछ निष्क्रिय-सी होकर मन्द पड़ जाती है। अतः उस समय एकाग्रता होनेसे सूचनाओंका प्रवाह सीधा गुह्य मनमें प्रवेश कर जाता है। हमारे अन्तरकी अचेतन वृत्तियाँ उन सूचनाओंको ग्रहण कर लेती हैं, विरोधी भावनाएँ नहीं उठतीं। प्रार्थनाकी अवस्थामें शरीर ढीला पड़ जाता है और जितनी ही हमारी तन्मयता एवं विश्वास होता है, उतनी ही अधिक हमें अन्तरकी प्रवृत्तियोंतक पहुँचने तथा अपनी इष्ट भावनाके बीजारोपण-में सुगमता होती है। जितनी बार मनको शिथिलकर, नेत्र मूँदकर, सब विरोधी विचारोंको हटाकर हम प्रार्थनापर चित्तको एकाग्र करेंगे, उतनी ही बार परमात्माके [illegible] संसर्गसे रोम-रोममें पवित्रताका संचार होगा। ऐसे ही [illegible] रोगी स्वास्थ्यकी प्रार्थना करके रोगमुक्त तथा [illegible] हो सकता है।

शब्दोंको सपाटेसे तोतेकी तरह दुहरा जाना प्रार्थना नहीं। यह तो एक प्रकारका अभिनय है। प्रार्थना तो [illegible] विश्वाससे सिञ्चित होनी चाहिये। विश्वास फलदायक है। आपकी प्रार्थनाके शब्दोंमें जितनी श्रद्धा होगी, [illegible] जितनी संयुक्त होगी, विरोधी भावनाओंकी जितनी [illegible] होगी, विश्वाससे वह जितनी सराबोर होगी, शक्तिमान् [illegible] सत्तासे उतना ही उसका तादात्म्य स्थापित हो सकेगा। अन्तरसे प्रेरित सच्ची प्रार्थना एक 'स्वसंकेत' अर्थात् (Auto-suggestion) की ऐसी पद्धति है, जिससे हम स्वयं अपने गुह्य मनसे अपनी ही शक्तिका [illegible] देते हैं। ध्यान रहे कि हमारी प्रार्थना [illegible] हो। इसीमें हमारा परम कल्याण है। हमें प्रार्थनामें [illegible]—"हे परमेश्वर! आप तेजःपुञ्ज हैं, आप [illegible] हैं, शक्तिके अथाह उदधि हैं। हमें भी तेजसे [illegible], हमारे अंदर बुद्धि उँड़ेल दीजिये। [illegible] अङ्ग-अङ्ग भर दीजिये—तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। गद्गद स्वरसे कहिये—'अब देर न करो, दयामय! जीवन अल्प है। अपनी दिव्य ज्योतिसे इस [illegible] में नित्य प्रकाश फैला दो। हमें [illegible] मन्दिरमें ले चलो और सदाके लिये वहीं [illegible] निहाल कर दो।" इसी प्रकार प्रार्थनाके [illegible] हो सकते हैं। परंतु सावधान! प्रार्थनामें कोई निकृष्ट शब्द न रहे। निकृष्ट शब्द घातक शत्रु है। हमारी प्रार्थना जितनी सुन्दर श्रद्धा तथा विश्वाससे युक्त होगी, उतना ही [illegible] कार्य करनेमें वह समर्थ होगी। इसी मनोवैज्ञानिक [illegible] गायत्रीमन्त्रको 'सर्वसिद्धियोंका दाता' तथा '[illegible] मन्त्र' कहा गया है। देखिये इस आर्षकी प्रार्थनाको—

ॐ भूर्भुवः स्व तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

[illegible] अर्थ है कि 'हम उन [illegible] प्राणस्वरूप [illegible] धारण करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सन्मार्गकी ओर) प्रेरणा देता है।'

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनमें आशावादी प्रार्थनाका आध्यात्मिक प्रयोग वास्तवमें अमृतोपम औषधि है । अतः हममेंसे प्रत्येकका कर्तव्य है कि विशुद्ध हृदयसे महान् प्रभुके अनन्त उपकारोंका आभार मानकर अपने तथा प्राणिमात्रके जीवनमें आनन्द तथा सुख-वृद्धिके लिये प्रार्थना करें । इस निर्मल विशुद्ध उपासनासे परमात्माका दिव्य स्पर्श हमारे आत्माको होगा । साथ ही समस्त मनस्ताप और क्लेश भस्मीभूत होंगे और नवजीवन, नवीन बल, परम शान्ति और सुखका प्रादुर्भाव होगा । यही प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य है ।

प्रार्थना—पूर्णताकी भावना

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

'प्रार्थना' शब्दका अर्थ माना जाता है—माँगना, याचना करना । प्रार्थना मानव-जीवनका एक सहज, स्वाभाविक और आवश्यक अङ्ग है । जबसे मनुष्य संसारमें आया, तभीसे वह प्रार्थना करता आया है । मनुष्य मेधावी होकर भी परिस्थिति-वश और प्रकृतिवश जीवनके व्यवहार-व्यापारकी समस्याओंको सुलझानेमें यदा-कदा अपनेको असमर्थ और अल्पज्ञ पाता है । तब वह अपनेसे बड़ी सत्ताके प्रति श्रद्धावनत होकर उनका हल ढूँढ़ता है, उसका हृदय किसी अपार अज्ञात सत्ताको पुकार उठता है; वही उसकी प्रार्थना है । मनुष्यके मन और हृदयके विकासके अनुसार उसकी प्रार्थनाका रूप बदलता है । प्रार्थनाका कोई निश्चित सूत्र नहीं है । सबकी प्रार्थना अपनी अलग विशेषता रखती है—किसीका बाह्य रूप प्रकट होता है, कोई अन्तर्मनमें ही प्रार्थना करते हैं । अपने-अपने निर्दिष्ट मतोंके अनुसार प्रायः सभी धार्मिक संस्थाएँ और परम्पराएँ प्रार्थना प्रधान हैं । प्रार्थना सीखनी नहीं पड़ती, उसके मन्त्र रटने नहीं पड़ते, वह कोई क्लिष्ट साधना नहीं है । प्रार्थना मनुष्यहृदयकी सहज स्वाभाविक भक्ति है, जो बालक भी करता है और उसका उत्तर पाता है ।

आजकल विज्ञ साधकोंमें, विशेषकर पश्चिममें प्रार्थनाका रूप 'धन्यवाद' होकर बहुत व्यापकरूपमें चामत्कारिक ढगसे सफल हो रहा है । कहा जाता है कि परमात्मा हमसे भिन्न नहीं है और हम दीन-हीन आश्रित नहीं हैं कि हमें परमात्मा-से कुछ माँगना, याचना करना, गिड़गिड़ाना पड़े । परमात्माने हमें सब शक्तियाँ दी हैं, संसार दिया है, हमें दिव्य जन्म दिया है, हम उसको स्वीकार करें, हम इन सबके लिये अपनेको धन्य मानें और ऐसे दिव्य सुन्दर आयोजनके लिये परमात्मा-को धन्यवाद दें ।

हिंदू योग-साधना और नवधा भक्ति करते हैं, वैसे ही अन्यान्य धर्म भी प्रार्थना-प्रधान हैं । आजकल विश्व ईसाई-समाजमें प्रार्थनाका विशेष विकास हो रहा है और इस मनोनियमसे लोगोंको रोगनाश, दुःख-दर्द-निवारण आदि गम्भीर समस्याओंमें यदा-कदा तात्कालिक सफलताएँ मिलती हैं । योरप-अमेरिकामें दिन-रात, निःस्वार्थभावसे दूसरे लोगोंके दुःख-दर्द-दारिद्र्यके निवारण-हेतु प्रार्थना अर्थात् पूर्णता और धन्यवादकी भावना प्रेरित करनेवालोंकी बड़ी-बड़ी सस्थाएँ हैं, जहाँ दुःख-दर्द-दारिद्र्यग्रस्त लोगोंके पत्र, तार, टेलीफोन और वायरलेससे संवाद आते हैं और उनके लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं । लाभ होनेपर अथवा पूर्व ही लोग उन्हें श्रद्धानुसार कुछ रकम भेज देते हैं । मासके अन्तमें इस प्रकार जमा हुई रकम-को लोग आपसमें बाँट लेते हैं । उनका धंधा एकमात्र दूसरोंके लिये प्रार्थना करना होता है । कितने ही लोग स्वतन्त्ररूपसे ऐसा करते हैं और इस प्रकार आत्मकल्याण एवं परोपकारमें लगे रहते हैं ।

'यूनिटी'* नामकी ऐसी एक संस्था ली समिट, मिसूरी, संयुक्तराज्य अमेरिकामें है । इसका आरम्भ फिल्मोर-दम्पतिसे हुआ । अगस्त १८५४ में चार्ल्स फिल्मोरने अमेरिकामें जन्म लिया था । लड़कपनमें बरफपर खेल खेलनेमें उनको ऐसी बुरी चोट आयी कि उनका एक पाँव बड़ा हो गया । यह उनके लिये एक बाधा थी । फिर भी जीवनमें अनेक प्रकारके काम साहसके साथ करते हुए अध्यात्ममें उनकी रुचि बढ़ती गयी । रोगी होनेपर इन दम्पतिने अनेक उपचार कराकर, हारकर परमात्माकी शरण ली । प्रार्थनाकी नवीन भावना उनके अंदर जागी । उससे उन्हें आशातीत लाभ हुआ और प्रेरणा पाकर उन्हों-ने पड़ोसियोंके सहयोगसे एक प्रार्थनामण्डल स्थापित किया । लोगों-को लाभ होनेके साथ उसका इतना विकास हुआ कि अब लगभग

* Unity, Lee's Summit, Missouri, U. S. A.

सत्तर वर्ष हो गये यह संस्था एक नगरके रूपमें है और इसमें कई सौ मनुष्य कार्य करते हैं। दो साप्ताहिक एवं छः मासिक पत्र निकलते हैं। दर्जनों आध्यात्मिक पुस्तकें भी वहाँसे निकली हैं, कई विभाग हैं। अध्यात्मक्षेत्र-विभाग देशमें, संसारमें केन्द्र-स्थापना और सचालन करता है। कई सौ केन्द्र हैं। हजारों प्रचारक हैं। डाकद्वारा भी शिक्षा दी जाती है। हजारों शिष्य हैं। इनके पत्रोंके लाखों ग्राहक हैं। कई ट्रक भरकर रोज इनके यहाँसे दूर-दूर डाक जाती है। प्रत्येक पत्र प्रार्थनापूर्वक लिखा जाता है और डाकमें डाला जाता है। संस्थाका हरेक व्यक्ति हरेक काम शुभभावनाकी प्रार्थनापूर्वक करता है। इनका अपना रेडियो स्टेशन है, जहाँसे समय-समयपर सामूहिकरूपसे नित्य प्रार्थना एवं प्रवचनके कार्यक्रम प्रसारित होते हैं।

मार्च आफ फेथ, विंग्स आफ हीलिंग, सोल क्लिनिक* आदि अन्य अनेक प्रार्थना करनेवाली संस्थाएँ और प्रकाशन हैं, जिनके भी कार्यक्रम कई सौ रेडियो स्टेशनोंद्वारा प्रसारित किये जाते हैं।

लोगोंको प्रार्थनाद्वारा जो लाभ या सफलता मिलती है, वह सब पत्रोंके रूपमें उन साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रोंमें प्रकाशित होता है। प्रतिमास इन पत्रोंमें हमें दंग कर देनेवाले समाचार पढ़नेको मिलते हैं कि खुले दिलसे प्रार्थना करनेवाले लोग प्रार्थनासे कितना और कैसा चामत्कारिक और तात्कालिक लाभ उठाते हैं। सारा संसार एक चमत्कार और रहस्य है। सारा विश्व भावनामात्र है; क्योंकि हमारा व्यवहार और व्यापार सब हमारे ही मन, बुद्धि और आत्मविकासके प्रतिबिम्ब हैं।

इन सफल एवं विज्ञ प्रार्थना करनेवालोंका कथन है कि अपने परमात्मा (परम आत्मा) से, अपने प्रति ईमानदारी और खुले दिलसे निस्संकोच अपना दुःख-दर्द-दारिद्र्य प्रकट करो अथवा खुले दिलसे धन्यवादपूर्वक संसारके वैभवको स्वीकार करो—जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, उसके लिये परमात्माको धन्यवाद दो। दुःख-दर्द-दारिद्र्य वास्तवमें हमारी भ्रान्त कल्पना, असत्य भावनाके ही प्रतिबिम्ब हैं और ये सब ऐन्द्रियिक भ्रमजाल और अस्थायी हैं। सत्य परमतत्त्व सनातन और मन-बुद्धि-इन्द्रियातीत है। उस सत्यमें स्थिर हो जाओ तो सब दुःख-दर्द-दारिद्र्य वैसे ही भाग जायगा जैसे सूर्यके उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। अन्धकार, अज्ञान वास्तवमें कुछ नहीं। सूर्य चौबीसों घंटे प्रकाशमान है। दिन-रात तो पृथ्वीके [illegible] हमारी बाह्यवृत्ति एवं स्थूल दृष्टिमें भासमान होते हैं। तुम परमात्माके पुत्र, उसके उत्तराधिकारी हो। [illegible] सब वैभव तुम्हारा है, उसे स्वीकार करो। तुम परमात्माके समान पूर्ण हो। इस पूर्णताको भावनापूर्वक स्वीकार करके अपनी पूर्णताको [illegible] करो। दीन-हीन भावनासे दीनता-हीनता प्राप्त होती है। श्रेय-भावना धारणकर श्रेय प्राप्त करो।

बहुत वर्षोंकी बात है। आयर्लैंडके ब्रिस्टल नगरमें, [illegible] मुलरने अपनी ऐसी पूर्णताकी श्रद्धा भावनासे एक अनाथालय स्थापित किया था। बढ़ते-बढ़ते कई सौ लड़के उन अनाथालयमें हो गये थे। वे कभी किसीसे याचना नहीं करते थे, न समाचार-पत्रोंमें 'चंदे'की अपील छपाते थे। केवल [illegible] प्रार्थनाके बलपर वे अनाथालय चलाते थे। वे पूर्णताकी भावनामें सदा लीन रहते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि भोजनका समय हो गया किंतु भोजनकी व्यवस्था नहीं हो सकी। प्रबन्धकने [illegible] कह दिया कि आज इस समय खानेको कुछ भी नहीं है। मुलर महोदय कुछ भी विचलित न हुए। कई बार कहकर प्रबन्धक-ने चिढ़कर अन्तमें कहा—'भोजनका समय हो गया; कहिये, क्या घंटी बजा दूँ?' मुलर साहबने उत्तर दिया—'भोजनका समय हो गया हो तो घंटी बजा दो।'

घंटी बजा दी गयी। सब लड़के भोजनालयमें आ गये। इतनेमें ही बढ़िया तैयार खाद्य-सामग्रीसे भरी एक 'वैगन' अनाथालयके दरवाजेपर आ लगी। बढ़िया [illegible] बच्चोंको परोसा गया। पता चला कि [illegible] धनिकने अपने यहाँ एक बृहत् भोजका आयोजन किया था, किंतु कुछ कारणसे वह भोज स्थगित कर देना पड़ा। [illegible] न जाय, इसका विचार करनेपर उसे मुलर साहबके अनाथालयका स्मरण हुआ और अन्तः प्रेरणासे उसने उस [illegible] सामग्री उनके अनाथालयको भेज दी।

इसी प्रकार एक दूसरी सत्य घटना अभी [illegible] थी। अमेरिकामें एक परिवार अपनी मोटरमें [illegible] मार्गसे यात्रा कर रहा था। इतनेमें उनकी मोटरका एक टायर फट गया। सुनसान जगह थी, बस्ती बहुत दूर थी और मोटरमें अतिरिक्त टायर भी न था। ऐसे समय प्रार्थना, पूर्णताकी भावना ही एकमात्र उपाय सिद्ध हुई। एक बच्चेकी भावनामें प्रखरता थी। उसने कहा—'परमात्मा ही हमें यहाँ 'टायर'

* March of Faith, Wings of Healing, Soul Clinic.

मेजेगा। परमात्माके भंडारमें सब कुछ, सब जगह, सबके लिये, सदा सर्वदा मौजूद और प्राप्य है।" यह भावना दृढ़ता और श्रद्धापूर्वक दुहरायी गयी।

आगर ऐसी रीति तो आप जगलमें उम्मीद करेंगे कि कोई अन्य मोटरवाही राहगीर इधरसे निकलेगा और परमात्मा-द्वारा सयोगसे हमें उससे टायर मिल जायगा। परंतु वास्तवमें ऐसी उम्मीद उन्होंने नहीं की। कुछ समय बाद सचमुच एक 'टायर' सड़कपरसे दूरसे लुढ़कता हुआ आकर इनकी मोटरके पास पड़ गया। इस टायरके मालिककी इन्होंने प्रतीक्षा भी की, किंतु अन्तमें इन्होंने उसका उपयोग कर लिया। यह सवाद उस परिवारके एक व्यक्तिने उक्त प्रकाशक सस्था-को भेजा और वह 'The Tyre God sent.' शीर्षकसे साप्ताहिक पत्रमें छपा था।

पूर्णताकी भावनाकी प्रार्थनासे कतिपय मरणासन्न लोग जी उठे हैं और जीते रहे हैं। मेरे जीवनमें भी कुछ घटनाएँ घटी हैं। लगभग पचीस वर्ष हुए होंगे, मैं अपने घरसे पाँच सौ मील दूर था। भाईका तार मिला, 'पिताजी बहुत बीमार हैं, फौरन आओ।' तार पाकर मेरे मनमें जानेका किंचित् विचार तो हुआ, किंतु मैंने तय किया कि मरना तो सबको है, मैं जाकर बचा थोड़े ही लूँगा। अस्तु, जो परमात्मा करे, वही ठीक। मैंने ऐसा ही प्रार्थना भावना-मय तार दे दिया और मैं एक मासतक निश्चिन्त रहा। कोई खबर भी न मिली। एक मास बाद मैं गया तो देखा पिताजी भजन गा रहे हैं। लोगोंने बताया कि मरनेकी तैयारीमें पिताजीको जमीनपर लिटा दिया गया था। उसी समय तार गया-आया। वे जी उठे और तीन वर्षतक रहे।

दूसरी घटना, एक हरवाहा जगलमें हल चला रहा था। उसपर बिजली गिरी, सुबहसे वह पानी-कीचड़में ही मुर्देकी तरह अचेत पड़ा रहा। दोपहरको पता चलनेपर लोग खाटपर उसे गाँव ले आये तीन मील। पश्चात् एक मील चलकर मेरे पास लाये इलाजके लिये। लगभग तीन सौकी भीड़ थी। व्यक्तिको मैंने अच्छी तरह देखा। नाड़ी, हृदयगति—कुछ नहीं। कीचड़-पानीसे लथपथ, गीला, आठ घटेसे निरा मुर्दा! अविचल भावसे उस समय मैंने जो किया, उसके फलस्वरूप आध घंटेमें उसकी आँखें खोलनेसे खुल सकीं और पुतलियाँ गतिमान् दिखायी दीं, फिर स्पन्दन भी। मैंने प्रयत्नसे उसका मुँह भी खोला। मूकवत् अस्पष्ट आवाज, फिर वाणी। उठाया-बैठाया, चलाया-फिराया, दौड़ाया और वह जो चार कंधोंपर आया था, पैदल गया। बात यह है—

हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।

परम आत्माकी सूक्ष्म शक्तिका हम इच्छानुसार आह्वान कर सकते हैं, परतु इच्छानुसार उससे काम नहीं ले सकते; वरं उसकी ही नीतिपर हमे आश्रित रहना होगा। इसीलिये अब प्रार्थनामें परमात्मासे अपनी इष्टपूर्तिके निमित्त नहीं कहा जाता कि हे परमात्मा! मेरे लिये ऐसा कर, मुझे अमुक वस्तु भेज, मेरे बच्चेको रोगमुक्त कर दे। वरं अब स्वीकारात्मक पूर्णताकी भावनासे प्रार्थना की जाती है। यथा—

1. I place myself and all my affairs lovingly in the hands of Father. That which is for my highest good, shall come to me.

2. God is love, and His love, radiating through me, gives me increased understanding. In the feeling of God's great love, I am radiant with health. Quickened into a new feeling of God as love, I am a magnet for riches of every kind

3. There is nothing to fear. God, Omnipotent good, is the only presence and power.

My guidance is from God, the Source of all wisdom.

१. मैं अपना जीवन और व्यवहार प्रेमपूर्वक परमात्माको समर्पण करता हूँ। मेरे लिये जो उत्तम है, वही होगा।

२. परमात्मा प्रेमस्वरूप है, उसका प्रेम मुझमें प्रकाशित होता है और मुझे निर्देश देता है। इस प्रेममें लवलीन होकर मैं भरपूर स्वस्थ हूँ और सब प्रकारके वैभवका आकर्षण करता हूँ।

३. भयका कोई कारण नहीं। परमात्मा सर्वशुभ और सर्वेश्वर है। वही मेरा ज्ञानदाता और मार्गदर्शक है।

'यूनिटी' के सस्थापक चार्ल्स फिल्मोरने कहा है, 'दिव्य विधानके अनुसार जो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास और व्यवहार करता है, उसके लिये सब कुछ सम्भव है।'

आधुनिक वैज्ञानिक डॉ० अलेक्सिस केरलने कहा है, 'प्रार्थनासे विचित्र क्रियाएँ सूक्ष्माकाशमें होने लगती हैं, जिस

चमत्कार हो जाते हैं। चमत्कार लानेके लिये एकमात्र उपाय 'प्रार्थना' है।'*

यह चमत्कार कोई मनुष्य स्वय नहीं करता, किंतु दिव्य विधानके आध्यात्मिक नियमोंके अभ्यास एव प्रयोगसे होता है, जैसे तालेमें ठीक कुंजी डालकर घुमानेसे ताला खुल जाता है। तालेको यों ही खटखटाते रहनेसे या उसमें गलत कुंजी डालकर गलत ढंगसे घुमानेसे ताला नहीं खुलता। प्रार्थना भी जीवनकी सब विकट परिस्थितियों एव समस्याओंको सुलझानेके लिये, सबके लिये सहज सुलभ सस्ती साधना है, जो अपने-आप प्रेरित होती है।

डॉ० फ्रैंक लूबकने एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उन्होंने बताया है कि 'प्रार्थना दुनियाँकी सबसे बड़ी शक्ति है, जो सभी मनुष्योंको सुलभ है।' एक अन्य आध्यात्मिक अभ्यासी लेखक इम्मट फाक्सने लिखा है—'परम आत्माके लिये कुछ भी कठिन नहीं है, वह प्रतिक्षण चमत्कार करता है।' डॉ० एमिली केडीने लिखा है—

"There is something about the mental act of thanksgiving that seems to carry the human mind far beyond the region of doubt into the clear atmosphere of faith and trust, where all things are possible."

अर्थात् प्रार्थनाकी मानसिक क्रियासे, धन्यवादकी भावनासे ऐसा कुछ होता है कि श्रद्धाके जोरसे मानव-मन उच्चतर भूमिकामें आ जाता है, जहाँ सब कुछ सम्भव है।

पेनसिल्वेनिया (अमेरिका) का एक समाचार छपा है—

एक युवकके हृदयका आपरेशन अस्पतालमें हुआ। आपरेशनके पहले उसके माता-पिता सशङ्कित थे, किंतु युवकने हिम्मत बाँध ली थी। उसे परमात्मापर पूर्ण श्रद्धा थी। आपरेशनके बाद कई दिनोंतक वह प्रायः अचेत रहा। कुछ डाक्टरोंने कहा कि उसके मस्तिष्कमें वायुका ऐसा प्रवेश हो गया है कि होश आनेकी आशा नहीं मिलती और होश आया भी तो वह किसीको पहचानने या बातचीत करने योग्य भी न होगा। उसका जीवन, मस्तिष्ककी क्रियाके बिना, जड़वत् होगा। उसके एक हितैषीने यह समाचार सुना तो वे चुपचाप बिना किसीको कुछ प्रकट किये, उस युवकके लिये प्रार्थना करने लगे। कई दिनोंतक कुछ न हुआ। किंतु उसका हृदय बराबर काम कर रहा था। एक दिन उसकी माँने उसे पुकारा, कोई उत्तर न मिला। सब लोग निराश थे। फिर सम्बोधन किया, तो उत्तर मिला। वह माँको पहचान गया। वह स्वय हिल डुल नहीं सकता था। सारे शरीरको लकवा-सा मार गया था। कुछ दिनों बाद वह सिर हिलाने लगा, फिर पाँव भी, फिर हाथ भी। डाक्टरोंने इसे चमत्कार कहा है। तबसे वह स्वस्थ होकर सब प्रकारके खेल-कूद करता रहा है और उसका मस्तिष्क ठीक है।

मायाके द्वारा किनकी बुद्धि ठगी गयी है ?

श्रीध्रुवजी कहते हैं—

> नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
> अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यमिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ४।९।९)

'प्रभो! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्योंको नरकमें भी मिल सकता है। जो लोग इस विषय-सुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुडा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्प्राप्तिके सिवा किसी अन्य उद्देश्यसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है।'

---

* Dr Alexis Carrel The only condition indispensable to the occurrence of the phenomenon is Prayer. Prayer may set in motion a strange phenomenon, the miracle

प्रार्थनाका स्वरूप

(लेखक—श्रीमदनविहारीजी श्रीवास्तव)

प्रार्थना जीवनका एक मुख्य अङ्ग है। उसका वास्तविक रूप क्या होना चाहिये, यही इस लघु प्रयत्नका उद्देश्य है।

साधारणतः हमारी प्रार्थनाएँ व्यक्तिगत कष्ट-निवारणके हेतु ही हुआ करती हैं। भगवान्से हम किसी-न-किसी रूपमें अपने दुःखोंसे छुटकारा पानेकी याचना करते हैं। उनके समक्ष अपनी कठिनाइयोंकी सूची पेश करते है और रोकर, गिड़गिड़ाकर, बिलखकर आर्तभावसे उनका निराकरण चाहते हैं। इस याचनामें दो बातें विचारणीय हैं—

एक यह कि या तो प्रार्थीके कष्टोंपर नियन्ताका ध्यान बिना प्रार्थनाके आकर्षित नहीं हो सकता। और—

दूसरी यह कि सर्वेश्वरका ध्यान उन कष्टोंपर होते हुए भी बिना प्रार्थनाके वे उसे हटाना नहीं चाहते या हटा नहीं सकते।

यदि हम पहली बात मानें तो सर्वज्ञमें अल्पज्ञताका दोष आता है और दूसरी बात माननेसे करुणासागरमें—जिसकी अहैतुकी कृपाका यशोगान पूर्णरूपेण वेद, पुराण, ऋषि और सिद्ध भी नहीं कर सकते और जिसका सर्वसमर्थ होना साधारण गुण है—क्रूरता या असमर्थताका दोष आता है, जो सर्वथा निर्मूल ही नहीं, बल्कि ईश्वरकी निन्दा करना और उसके प्रति अविश्वास प्रदर्शन करना है।

क्या परमात्मा हमारे दुःखोंको नहीं जानते या जानकर भी बिना अर्ज़ी हटाना नहीं चाहते या नहीं हटा सकते?

नहीं, वे सर्वज्ञ सब जानते हैं और यह भी जानते हैं कि जिसको हम प्रत्यक्ष कष्ट और दुःख समझते हैं, उसका वास्तविक रूप क्या है। हम अपनी अल्पज्ञताके कारण—अपनी सीमित बुद्धिसे जिसे दुःख समझते हैं, वह शायद हमारे कल्याणका निश्चित सोपान हो। जब माता किसी चतुर जर्राहसे अपने छोटे बच्चेके घावको, जो और किसी तरह अच्छा नहीं हो सकता, यह आदेश देते हुए कि 'देखना घावका कोई अंश छूट न जाय और मवाद रह न जाय' चिरवा देती है, तब क्या बच्चा अपनी माता और जर्राहपर कुपित नहीं होता और ऐसी-वैसी नहीं सुनाता? पर माताकी-सी बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति क्या इसे क्रूरता समझता है? नहीं, नहीं, चीरनेमें, इस चीरनेकी तकलीफमें भी उसे मङ्गल-कामना ही दीखती है। हम औरोंकी बात क्या कहें, जब भक्तशिरोमणि श्रीभरतलालजी भगवान् श्रीरामचन्द्रके वियोगसे विह्वल हो उन्हें वनसे अयोध्या लौटा लाने गये थे, तब वहाँ भरतजीने भगवान्के न लौटनेपर यह हठ किया कि 'यदि आप नहीं लौटते तो या तो मैं भी वनमें रहकर आपकी सेवा ही करूँगा, या फिर शरीर त्याग दूँगा।' इस उलझनमें भगवान्ने देखा कि अब भेद खोलना ही होगा और भरतको महान् विधानका दिग्दर्शन कराना ही होगा। भगवान्के संकेत करनेपर गुरु वसिष्ठने भरतको एकान्तमें समझाया और कहा कि 'भगवान् रावणको मारनेके लिये अवतरित हुए हैं, सीता योगमाया हैं, लक्ष्मण शेष हैं; इसलिये भगवान् निस्संदेह वनको ही जायँगे।' * तब भरतकी आँखें खुलीं और वियोगकी असह्य वेदनाको भूलकर वे भगवान्की चरण-पादुका लेकर लौट गये।

तात्पर्य यह कि भगवान्का एक विधान है और वह है 'मङ्गलमय'; जो कार्य उस विधानमें हो रहे हैं, वे सर्वदा-सर्वथा सबके कल्याणके लिये ही हैं। सम्भव है उस विधानका रहस्य हमें न ज्ञात हो और वह हमें अमङ्गलसूचक प्रतीत हो; परंतु ज्यों ही हमें उस विधानके मङ्गलमय होनेका ज्ञान या कम-से-कम विश्वास भी हो जायगा, त्यों ही फिर हमारी प्रार्थना यह नहीं होगी कि हमारे कष्ट दूर हों, बल्कि हम कहेंगे कि 'भगवन्! आपका

---

* एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात् सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
कैकेय्या वरदानादि यद् यन्निष्ठुरभाषणम्॥
सर्वं देवकृतं नो चेदेवं सा भाषयेत् कथम्।
तस्मात् त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।४२—४६)

विधान पूरा हो। जो आपकी मर्ज़ी है, उसीमें हम प्रसन्न हैं और वही हो। हम 'राज़ी ब रज़ा' होंगे और हमारा भाव यह होगा कि 'सरे तस्लीम खम है, जो मिजाजे यारमें आये।' व्यक्तिगत कठिनाइयोंका निराकरण चाहनेके बदले हम आत्म-समर्पण कर देंगे और जिस तरह भगवान्से 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (गीता १८। ६६) इत्यादि सुननेके बाद अन्तमें अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (गीता १८। ७३) कहा था, उसी तरह उनके विधानमें हम भी मङ्गलका अनुभव करेंगे और उस विधानमें 'निमित्तमात्र' होना अपना सौभाग्य समझेंगे।

यह हुई उनकी बात, जो विश्वासमें बहुत ऊँचे हैं। जबतक हम इतने ऊँचे स्तरपर नहीं पहुँच जाते, तबतक कम-से-कम व्यवहारमें इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि यदि माँगना ही है—और प्रार्थनाका व्यवहारमें अर्थ याचना या माँगना ही तो है—तो लोकहितकी ही याचना करें। इस दृष्टिसे यह प्रार्थना—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—बहुत सुन्दर है। किसी दशामें भी अपनी व्यक्तिगत किसी बातके लिये प्रार्थनाका न होना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस निबन्धमें निष्क्रियताका प्रतिपादन नहीं है, सदा निष्काम कर्म तो करते ही रहना होगा।

तात्पर्य यह कि प्रार्थनाका वास्तविक रूप है—

(१) भगवान्के मङ्गलमय विधानमें आत्मसमर्पण—प्रथम श्रेणीकी प्रार्थना।

(२) केवल लोकहितकी कामना—द्वितीय श्रेणीकी प्रार्थना।

प्रार्थना—एक अपरिमित शक्ति

(लेखक—श्रीप्रतापराय भट्ट बी०एस-सी०, राष्ट्रभाषारत्न)

ईश्वरकी प्रार्थना प्रत्येक देशमें और प्रत्येक धर्ममें किसी-न-किसी रूपमें की जाती है। व्यक्तिगत रूपमें अथवा सामूहिक रूपमें, घरमें, मन्दिरमें, संस्थाओंमें अथवा आश्रमोंमें प्रार्थना होती है—यह हम देखते हैं। इन प्रार्थनाओंको देखकर हमारे मनमें स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सच्ची प्रार्थना क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका महत्त्व क्या है तथा प्रार्थना करनेसे हमको क्या लाभ होता है।

प्रार्थना संतोंके, भक्तोंके और महात्माओंके जीवनकी समृद्धि है, शान्ति है, बल है। वे अपने जीवनकी प्रत्येक घड़ी और प्रत्येक पलमें प्रार्थनाके अगम्य प्रभाव और अपरिमित शक्तिका अनुभव करते हैं। प्रार्थनाके निर्मल और शान्त जलमें निमज्जन करनेवालोंको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसके सामने संसारका कोई सुख अथवा स्वर्गके विलास-वैभवका कोई आनन्द कोई बिसात ही नहीं रखता।

सच्ची प्रार्थना केवल ईश्वरकी पूजा या बाह्य उपासना-मात्र नहीं है, बल्कि प्रार्थनामें लीन हुए मनुष्यके भीतरसे सहज ही निःसृत होनेवाला तथा परमेश्वरके अगाध शक्ति-सागरमें विलीन होनेवाला एक अदृश्य आत्मशक्तिका स्रोत है। अखिल ब्रह्माण्डके स्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सर्वोद्धारक परम पिता, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'-स्वरूप, सर्वव्यापी होकर भी अदृश्य रहनेवाले परमात्माके साथ एकतान होनेका मानवीय प्रयास ही प्रार्थना है। प्रार्थनाका अन्तिम ध्येय और फल परमात्माके साथ आत्माका ऐक्य-सम्पादन है। वाणी और विचारसे अतीत महान् प्रभुके साथ आत्माका यह तादात्म्य भी वर्णनातीत है, निगूढ है।

हृदयकी गहराईसे अनन्य प्रेम और श्रद्धापूर्वक की गयी प्रार्थना मनुष्यके तन और मनपर अद्भुत प्रभाव डालती है। प्रार्थनाके द्वारा मनुष्यमें जो बुद्धिकी निर्मलता और सूक्ष्मता, जो नैतिक बल, जो आत्मश्रद्धा, जो आध्यात्मिक शक्ति और आत्मविकास तथा जीवनको उद्विग्न और व्यग्र करनेवाले जटिल सांसारिक प्रश्नोंको सुलझानेकी पारदर्शी स्पष्टता और ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसकी तुलनामें इस जगत्में दूसरी कोई ऐसी शक्ति या रसायन नहीं है, जो मनुष्यके जीवनपर इतना चामत्कारिक प्रभाव डाल सके।

यदि हम सच्चे दिलसे, एक चित्तसे विनम्रभावसे प्रार्थना करनेकी आदत डाल लें तो थोड़े ही समयमें हमको अपने जीवनमें चामत्कारिक परिवर्तन दिखायी देने लगेंगे। अपने प्रत्येक कार्यमें तथा व्यवहारमें इसके प्रभावकी गहरी छाप पड़ी हुई जान पड़ेगी। जिस मनुष्यका आन्तरिक जीवन इस प्रकारकी विशुद्ध हृदयसे की गयी प्रार्थनासे [illegible] उज्ज्वल हो गया है, उसकी मुख-मुद्रा देखने ही योग्य होती है। वह कितना शान्त, समदर्शी और कितने अनोखे सात्त्विक ओजसे देदीप्यमान

दिखलायी देता है। उसके स्वभाव और व्यवहारमें कितना सौजन्य और कितना सौम्यभाव निखर उठता है। उसका हृदय कितना निर्दोष और बालकके समान सरल है। सच पूछिये तो उसके अन्तःकरणकी गहराईमें ईश्वरके प्रति ऐसा अटल विश्वास तथा प्रेमकी एक ऐसी ज्योति चमकती रहती है कि उसके पवित्र प्रकाशमें अपनेको वह भलीभाँति देख सकता है। अपने दोष, अपने अंदरकी स्वार्थ-वृत्ति, तुच्छ अभिमान या क्षुद्र वासनाओंको वह निहारता है। उसको अपनी अल्पताका, नैतिक उत्तरदायित्वका, बौद्धिक लघुताका और सांसारिक लोभ और आसक्तियोंकी असारताका ठीक-ठीक भान होता जाता है। इस प्रकार वह अधिकाधिक सत्त्वशील होकर प्रभुके समीप पहुँचता जाता है।

प्रार्थना सचमुच ही एक महान् अगम्य बल है। अंग्रेज महाकवि टेनीसन कहता है—

"More things are wrought by prayer than this world dreams of."

'जगत् जिसकी कल्पना कर सकता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् कार्य प्रार्थनाके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं।'

एक नहीं, अनेक बार मैंने देखा और अनुभव किया है कि अच्छे-अच्छे वैद्यों और डाक्टरोंकी सारी चिकित्सा व्यर्थ हो जानेके बाद, बिना किसी खास उपचारके केवल ईश्वरमें परम निष्ठा और अचल श्रद्धायुक्त प्रार्थनाद्वारा बड़े विषम और असाध्य रोगके रोगी आश्चर्यजनक रीतिसे रोगमुक्त हो जाते हैं। महान् भक्तों और संतोंके जीवनमें हम ऐसी अनेक घटनाओं और प्रसङ्गोंके विषयमें सुनते और पढ़ते हैं कि जिनका सामान्य रीतिसे होना सम्भव नहीं है तथा जिनको हम प्रकृति-विरुद्ध कह सकते हैं। इस प्रकारकी घटनाओंको हम अपनी भाषामें भक्तोंका, संतोंका या भगवान्‌का 'चमत्कार' कहते हैं। परंतु यह वस्तुतः एक महापुरुषके अन्तःकरणकी सच्ची प्रार्थनाद्वारा प्राप्त हुई अपरिमित शक्तिका ही परिणाम है; क्योंकि प्रकृतिके कथित अटल नियमोंका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य इस संसारमें यदि किसीमें है तो वह ईश्वरकी प्रार्थनामें ही है। मनुष्य जो प्रार्थनाके द्वारा अपने जीवनमें भी एक अगम्य ईश्वरीय शक्तिके सतत और स्थिर संचारका अनुभव करता है, यह भी क्या एक चमत्कार नहीं है?

अपने राष्ट्रपिता पूज्य महात्माजीके जीवनको देखिये। उनके मनमें प्रार्थनाका महत्त्व सबसे अधिक था। सच्चे अन्तःकरणकी ईश्वर-प्रार्थना उनके जीवनमें ओतप्रोत हो गयी थी। वे निस्संकोच कहते थे कि 'मेरे सामने आनेवाले राष्ट्रिय, सामाजिक अथवा राजनीतिक विकट प्रश्नोंकी गुत्थीका सुलझाव मुझे अपनी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक स्पष्टता और शीघ्रतासे प्रार्थनाके द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणसे मिल जाता है।' वे प्रार्थनाको एक अक्षय और असीम शक्ति समझते थे। सत्य और अहिंसाके तत्त्वका सच्चा दर्शन उनको प्रार्थनामें ही मिलता था।

कुछ लोग समझते हैं कि अमुक शब्द, अमुक भजन अथवा अमुक पदको किसी विशेष रीतिसे बोलने या गानेपर ही 'प्रार्थना' कहेंगे। दूसरे लोग कहते हैं कि प्रार्थना तो निर्बल और दुखी मनुष्यको आश्वासन देनेका साधनमात्र है। बहुतोंका मत है कि लक्ष्मी, अधिकार, यश, संतान-प्राप्ति या ऐसी ही किसी सांसारिक एषणाकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे नम्रतापूर्वक याचना करना ही प्रार्थना है। यदि इनमेंसे किसी भी अर्थमें हम प्रार्थनाको लेते हैं तो हमारा प्रार्थनाका मूल्याङ्कन बहुत ही अपूर्ण और निम्न कोटिका है। हम प्रार्थनाका माप अपने स्वार्थके छोटे गजसे करते हैं। यह बात तो वैसी ही है, जैसे कोई अपने घरकी टंकीके बराबर विश्वका कल्याण करनेवाली मेघवृष्टिका मूल्याङ्कन करे। ठीकतौरपर विचार करें तो मनुष्यकी सर्वोच्च शक्तियोंका श्रीपरमात्मशक्तिके साथ तादात्म्य ही मानव-जीवनके उत्कर्षकी चरम सीमा है। इस अन्तिम ध्येयपर पहुँचनेके लिये जो क्रियाशील प्रवृत्ति है, वही हमारी प्रार्थना है। देह, चित्त और आत्माके पूर्ण समन्वयात्मक ऐक्यसे उत्पन्न अपूर्व आनन्द, शान्ति और अपार बलका अनुभव हमको प्रार्थनामें ही मिलता है।

प्रार्थनासे भले ही हम अपनी शारीरिक व्याधिकी पीड़ाको दूर न कर सकें, अपने मृत स्वजनको जीवित न कर सकें और कोई ऐसे चमत्कार न दिखा सकें, जैसे कि महान् संतोंके जीवनमें सुननेमें आते हैं—तथापि प्रार्थना एक ऐसी शक्तिका तेजपूर्ण केन्द्र है, जिससे सतत निकलनेवाला आत्मशक्तिका सौम्य प्रकाश रोगग्रस्त तनमें और शोकसंतप्त मनमें चन्द्रके प्रकाशके समान एक प्रकारकी अपूर्व शान्ति और शीतलताका संचार करता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रार्थनामें इतना अधिक बल कहाँसे आता है। विज्ञान इस विषयमें मौन है; क्योंकि सूक्ष्मतम वैज्ञानिक अनुसंधान और आविष्कार भी आजतक ईश्वरके गहन स्वरूपतक नहीं पहुँच सके हैं। प्रार्थनामें एक

साधारण बात तो यह है कि अल्पशक्ति मानव इसके द्वारा अपने मन और आत्माको अनन्तशक्ति, सत्य-ज्ञानस्वरूप परमात्माके साथ जोड़ता है, जोड़नेका प्रयास करता है। इससे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की विराट् शक्तिका छोटा-सा अंश तो उसमें उतरता ही है। इस दिव्य चैतन्य अंशसे युक्त मनुष्य इस प्रकार प्रार्थनाके द्वारा बहुत बलवान्, उन्नत और चैतन्यवान् बन जाता है।

अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि सांसारिक वासनाओं और आसक्तियोंकी चरितार्थताके लिये की गयी प्रार्थना हमको कभी सच्चा बल नहीं प्रदान कर सकती। सच्ची प्रार्थनामें परमात्मासे कुछ माँगा नहीं जाता, बल्कि सच्ची प्रार्थना उसके-जैसा बनने, और अन्तमें उसके साथ एकरूप होनेके लिये ही होती है। प्रार्थनाके द्वारा हमको ईश्वरके सानिध्यका तथा अपने ईश्वरमय होनेका अनुभव करना है। गद्गद कण्ठसे तथा स्नेहार्द्र हृदयसे क्षणभरके लिये भी की गयी प्रार्थना भक्तका कल्याण करनेमें पर्याप्त है। सचमुच, किसी स्त्री या पुरुषकी सच्चे अन्तःकरणसे की गयी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती।

'अकालो नास्ति धर्मस्य' के अनुसार धर्मकार्य किसी भी समय हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रार्थना भी किसी स्थानमें और किसी समय हो सकती है। इसके लिये किसी निश्चित स्थान या किसी निश्चित समयका बन्धन नहीं है। मन्दिरमें, घरके एकान्त कोनेमें, दूकानमें, आफिसमें, स्कूलमें—जहाँ चाहे, जिस समय चाहें, प्रार्थना कर सकते हैं।

मनुष्यत्वके निर्माण तथा योग्य विकासके लिये प्रार्थना मनुष्यके दैनिक व्यवसायमें ओतप्रोत हो जानी चाहिये। प्रातःकाल थोड़ा-सा समय प्रार्थनामें लगाना और शेष समयमें अधर्म और असत्यका आचरण करते रहना—इसका कोई अर्थ नहीं है। यदि सच्ची प्रार्थना जीवनका मार्ग है तो सच्चा धर्ममय जीवन भी एक प्रकारसे प्रार्थनाका ही रूप है।

सुन्दर लालित्यमय आलङ्कारिक भाषामें ही प्रार्थना हो सकती है—यह भी एक भ्रम है, असत् सिद्धान्त है। ऐसा तो एक बाह्य आडम्बर है। प्रभुके प्रति प्रेमसे विह्वल अन्तःकरणमेंसे प्रभुसे मिलनके लिये जो तड़प, जो भाव अपने-आप उमड़कर बाहर आते हैं, वही सच्ची प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना चाहे जिस भाषामें हो, चाहे जिन शब्दोंमें हो, वह भगवान्‌को सदा स्वीकार होती है। तुलसी, सूर, मीरा या नरसिंहके सर्वोत्कृष्ट पद या भजन प्रभु-प्रार्थनाके लिये किसी खास भाषामें नहीं बनाये गये हैं। परंतु भक्तहृदयकी गहराईमेंसे नैसर्गिक रीतिसे निकले प्रेम-स्रोत ही इन भावपूर्ण पदों या उद्गारोंके द्वारा बाहर व्यक्त हुए हैं।

धर्म, प्रार्थना और ईश्वरीय तत्त्वकी ओरसे आज मानव उदासीन है। इस उदासीनताके कारण ही जगत् आज विनाशके द्वारपर खड़ा है। मनुष्यके आत्मविकासके लिये जिस अध्यात्मशक्ति, जिस ईश्वरीय अंश, जिस दिव्य तत्त्वकी आवश्यकता है, उसकी हमलोग—मानव-जाति, उपेक्षा कर रहे हैं। फलस्वरूप जगत् घोर निराशा, अन्धकार, अशान्ति, वैर-विद्वेष और हिंसाके जालमें जा फँसा है। यदि जगत्‌को इस दावानलमेंसे बाहर निकलना है, त्राण पाना है तो जगत्‌के प्रत्येक मनुष्यको अपने व्यक्तिगत जीवनमें आत्माकी सच्ची उन्नतिके लिये एकनिष्ठासे प्रभु-प्रार्थना करनेकी आदत डालनी पड़ेगी, जिससे उपेक्षित एवं अवनत मानव-आत्मा प्रार्थनाके अगम्य बलके प्रभावसे पुनः विशेष उन्नत हो जाय और मानव-जगत् फिर अत्यन्त सुखी हो जाय और सच्ची शान्ति प्राप्त करे। इस दृष्टिसे मनुष्यों और राष्ट्रोंके जीवनमें—पहलेकी अपेक्षा आज प्रार्थना बहुत ही महत्त्वकी वस्तु तथा अनिवार्य बन गयी है।

ब्रह्माजीकी कामना

ब्रह्माजी कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३०)

'इसलिये भगवन्! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक होऊँ और फिर आपके चरण-कमलोंकी सेवा करूँ।'

प्रार्थनासे मनोऽभिलाषकी पूर्ति

(लेखिका—संन्यासिनी ब्रह्मस्वरूपा)

आदमी जब किसी भँवरमें फँस जाता है और डूबने लगता है और कहीं भी उसे सहारा नहीं दीखता, उस समय वह चीखता है—भगवान्‌के सामने, जिसे दूसरे शब्दोंमें प्रार्थना कहते हैं। प्रार्थना दुखियोंका सहारा है, निर्बलोंका बल है; निर्धनका धन, अनाथोंका नाथ, दीनका बन्धु—सब कुछ प्रार्थना ही है। प्रार्थनामें बहुत ताकत है। प्रार्थना गर्म लोहेको ठंडा और पत्थरको मोम कर देती है। वह तूफानको रोक देती है, डूबती नैयाको किनारे लगा देती है। संसारी लोग भी प्रार्थनासे नरम हो जाते हैं, फिर परमात्मा तो अत्यन्त कोमल हैं, वे प्रेमी और दयालु हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं; उनसे की गयी प्रार्थना कभी खाली नहीं जाती। प्रार्थनासे आत्मशक्ति बढती है और समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं। इसके विषयमें प्राचीन उदाहरण तो अनेक हैं, मैं तो अपनी प्रार्थनाओंका वर्णन करूँगी। जैसे द्रौपदीके चीर बढ़ानेके लिये प्रभु दौड़ पड़े थे, उसी प्रकार मेरी भी पुकार सुनकर उन्होंने कई बार सहायता की; जैसे प्रह्लादकी अनेक दुःखोंसे परमात्माने रक्षा की थी, ठीक उसी प्रकार मेरी भी अनेक बार रक्षा की है। कहीं पानीसे, कहीं आगसे, कहीं बिजलीसे, कहीं कोठेपरसे गिरनेसे और कहीं ढोंगी साधु-संतोंसे और शत्रुओंसे मेरी रक्षा की है। मेरे जीवनका अनुभव है कि प्रार्थना करते ही न जाने उनकी शक्ति कहाँसे आ टपकती है। मेरा जन्म ईश्वर-प्रार्थना करनेसे हुआ था। जन्मसे ही भगवान्‌का नाम कानोंमें पड़ा था और उनकी महिमा सुनती रही थी। एक बार मनमें आया कि अपनी गुड़ियोंमें जान डलवा दूँ प्रार्थना करके परंतु मेरा प्रयत्न व्यर्थ गया। फिर मेरी आँखोंमें सफेद फूली और ढेंढर पड़ गये। चार महीने मुझे कुछ भी दिखायी नहीं दिया। पिताजीने कहा था कि मेरा बोलना और चलना भी ईश्वर-कृपासे ही हुआ था। पूरा बोल नहीं सकती थी, टाँगें चलती नहीं थीं। आँखें भी उसकी कृपासे फिरसे मिली हैं। मेरा प्रयत्न और डाक्टरोंका परिश्रम व्यर्थ जाता था। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। मैंने अपना इष्ट श्रीकृष्णजीको चुन लिया और उनकी पूजा करने लगी। बाँहपर उनका नाम छपा लिया। एक दिन वे रात्रिके समय स्वप्नमें हँसते हुए दिखायी दिये। गीताप्रेसकी गीतापर जो चित्र है, ठीक उसी प्रकारकी आकृति थी। मैंने लगन लगायी, उधर भगवान्‌ने मेरे संसारको जड़से उखाड़कर फेंक दिया। जो भी चित्र आते गये, उन्हें वे मिटाते गये, कहीं मुझे रुकने नहीं दिया। जब-जब धर्म-संकट पड़े, तब-तब धर्मकी रक्षा की, प्रलोभनोंसे बचाया, भयसे बचाया, घने जंगलोंमें रक्षा की। जब-जब मेरे हृदयसे चीख निकली, उसी क्षण उसी समय मुझे सहायता मिलती रही है और मेरे धर्मकी रक्षा होती रही है। मेरे जीवनकी दर्द और पीड़ाभरी लंबी-लंबी गाथाएँ हैं। उनका वर्णन पूरी तरह मैं भी नहीं कर सकती। धोखा देनेवालोंकी बुरी नीयत समझनेकी शक्ति युवतियोंमें नहीं होती, परंतु भगवान् उनकी हर समय रक्षा करते हैं। जो हृदयसे बचना चाहती है, जो अपनी आत्माको बेचना नहीं चाहती, जो हँसती हुई मृत्युको गले लगा सकती है, उसकी रक्षा भगवान् अवश्य ही करते हैं। मैंने प्रार्थना की थी कि किसीकी मुँहताज न होकर अपनी कमाईसे चारों धामकी यात्रा करूँ; वह भी पूरी हुई। फिर मैंने प्रार्थना की कि कुछ न करके तेरा भजन करूँ; वह भी पूरी हो गयी। उनकी कृपासे ही परीक्षाओंमें पास होती रही। फिर एक बार कुछ वर्ष हुए एक स्थानमें जा फँसी। वहाँ हरि-भजन तो छूट गया, सारे दिन परदोष-दर्शन होता था और घृणा-क्रोध आता रहता था। भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे अपने सच्चे भक्तोंद्वारा सहायता देकर निकाल लिया। अब तो मेरा दृढ़ विश्वास-सा हो गया है कि कोई प्रार्थना करे अथवा न करे, परमात्मा जीवका कल्याण ही करता रहता है। जो कुछ भी वह करता है, उसमें हमारी भलाई ही भरी रहती है। भग्न-हृदयोंके लिये संसार सूना है। उनका जीवन यदि प्रभु-प्रार्थनामय हो जाता है तो प्रभु उन्हें अपना लेते हैं, उनके सभी बन्धन नष्ट करके परमपद देते हैं। उनसे प्रार्थना करो, क्योंकि उनके अपनानेके लिये हजारों हाथ हैं और सुननेके लिये हजारों कान, देखनेके लिये हजारों नेत्र और दौड़कर रक्षा करनेके लिये हजारों पैर हैं। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि प्रार्थनासे मनोऽभिलाषकी पूर्ति ही नहीं, मुक्ति भी मिल जाती है।

प्रार्थना

(रचयिता—कविवर श्रीसुमित्रानन्दनजी पंत)

नमन तुम्हें करता मन !
हे जगके जीवनके जीवन,
ध्यान मौन प्रति उर स्पन्दनमें
स्मरण तुम्हें करता मन !

अश्रु-सजल अब मेरा आनन,
तुहिन तरल वारिजके लोचन,
यह मानस स्थिति, स्मृति से पावन,
करता तुम्हें समर्पण !

तुम अन्तरके पथसे आओ,
चिर श्रद्धाके रथसे आओ,
जीवन-अरुणोदय सँग लाओ
नव प्रभात, युग नूतन !

बहे रुधिर में स्वर्गिक पावक,
स्वप्न पंख लोचन हों अपलक,
रँग दे श्री शोभा का यावक
जीवनके पग प्रतिक्षण !

आज व्यक्तिके उतरो भीतर,
निखिल विश्वमें विचरो बाहर,
कर्म वचन मन जनके उठकर
बनें युक्त आराधन !

श्रीसीता-रामजीकी अष्टयाम-पूजा

(लेखक—न्याय-वेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती)

अनन्तब्रह्माण्डाधीश्वर, वाचामगोचर, इन्द्रियोंके अविषय, प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त, बुद्धिसे परे, श्रुतिप्रतिपाद्य जो ईश्वर है, जिसके विषयमें श्रुति कहती है 'न तत्र वाग् गच्छति नो मनो न विद्मः'—(केन १ । ३) इत्यादि, उस परमैश्वर्यसम्पन्न निरवयव ब्रह्मका पूजन—पाद्य-अर्घ्य-आचमनीय-स्नानादि विधान कैसे बन सकता है ? अतः यह मानना पड़ता है कि अचिन्त्य-शक्तिमान् जो ब्रह्म है, वह निरवयव होते हुए भी सावयव, निष्क्रिय होते हुए भी क्रियावान्, अजन्मा होते हुए भी जायमान होता है। वह अपने भक्तोंके लिये ही रूपवान् बनता है—उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना ।

'कृप् सामर्थ्ये' इस धातुसे 'कल्पना' शब्द बनता है। वह ईश्वर अव्यक्त होनेपर भी भक्तोंके लिये व्यक्त हो जाता है । प्रकृतिसे परे होते हुए भी प्राकृत मनुष्यके सदृश उस ईश्वरका नर-नाट्य देखा जाता है; क्योंकि वह अनन्त ब्रह्माण्डोंको अपने उदरमें रखे हुए फिर उन्हीं ब्रह्माण्डोंमें आकर विविध विचित्र लीलाएँ भी करता रहता है।

उन्हीं सरस लीलाओंके अनुभव करनेवाले भक्तजन सतत उसी अचिन्त्य ब्रह्मके पूजनमें एवं लीलाओंके अनुसंधानमें अपने जीवनको अर्पण करके प्रेमोन्मादमें उन्मत्त हो आनन्दानुभव करते रहते हैं।

ऐसे सगुणोपासक अनेक प्रकारसे प्रभुकी उपासना करते हैं। कोई तो (अर्चादि दिव्य विग्रहोंका) द्वारा पूजन करते रहते हैं और कोई अन्य प्रेमीजन मानसिक [illegible] में निरत रहते हैं । वे प्रेमी आचार्योंके [illegible] अपने [illegible] स्वरूपका दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार आदि [illegible] अनुसंधान करके उसी स्वरूपसे नित्य मधुर [illegible] परिशीलन करते हुए आन्तरिक दृष्टिसे इस प्रकार [illegible] करते हैं—

'दिव्य अवधधाम, साकेतके मध्यमें [illegible] श्रीप्रिया-प्रियतम प्रभु श्रीसीता-रामजीका जो [illegible] दिव्य भवन है, उसीमें अष्ट कुञ्जोंसहित शयन-कुञ्ज* भी है।

* शयन-कुञ्जके चारों ओर दिव्य [illegible] अपनी भावनासे भावुकजन किया करते हैं। [illegible] इस प्रकार हैं—मध्यमें शयन-कुञ्ज, चारों ओर [illegible], सर्वतोभद्र-कुञ्ज, स्नान-कुञ्ज, शृङ्गार-कुञ्ज, भोजन-कुञ्ज, [illegible], सभा-कुञ्ज तथा ब्यालू-कुञ्ज हैं। विशेष [illegible] इस भावनाको रसवत संगके द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

प्रेमी भक्त प्रातःकाल अनेक माङ्गलिक वस्तुओंको लेकर शयन-कुञ्जमें भगवान्‌की शयन-झाँकीका इस प्रकार अनुसंधान करता है कि मणियोंसे मण्डित दिव्य पर्यङ्कपर श्रीसीता-रामजी शयन कर रहे हैं। नेत्र बंद हैं। मुखारविन्दपर मन्द मुस्कान-से युक्त भोलापन है। केश विलुलित हो रहे हैं। श्वास-पवन एवं दिव्य अङ्गोंकी सुगन्धसे वह कुञ्ज व्याप्त है। उस समय उत्थापनके लिये प्रेमी भक्त प्रेमोन्मादमें भरकर भैरवी राग-में जगानेके गीत गाने लगता है। जब प्रिया-प्रियतम जगकर मुस्कराते हुए उठकर बैठ जाते हैं, तब वह स्वर्णकी झारीमें लाये हुए दिव्य जलद्वारा मुख-कमल एवं कर-कमलका प्रक्षालन कराता है। दिव्य वस्त्रोंको धारण कराके वल्लभ-कुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतमजूको लाता है। उस कुञ्जमें सुन्दर दन्तधावन (केसर, कर्पूर, इलायची आदि सुगन्धित द्रव्योंसे बनी कूची-द्वारा) कराता है। तब माखन-मिश्री भोग लगाकर मङ्गल-आरती करता है। उसके बाद सर्वतोष-कुञ्जमें आकर प्रिया-प्रियतम सभी भक्तोंको दर्शन देते हैं। सेवा करनेवाला भक्त उनपर चँवर डुलाता है। उसके पश्चात् वहाँसे स्नान-कुञ्जमें प्रभु पधारते हैं। फुलेल आदिसे अभ्यङ्ग एवं उबटनकी सेवा करके विविध प्रकारकी स्नानोचित सामग्रीसे वह प्रभुको स्नान कराता है (उस कुञ्जमें सामयिक अनेक जल-यन्त्र तथा प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त पुष्करिणियाँ बनी हुई हैं)।

वहाँसे प्रभु शृङ्गार-कुञ्जमें पधारते हैं। सेवा करनेवाला भक्त उस कुञ्जमें दिव्य वस्त्राभूषणोंसे प्रभुका शृङ्गार करता है। पुनः दो दिव्य आसन बिछाकर उनपर श्रीसीता-रामजीको विराजितकर पूजाकी सामग्री तथा भक्तमालकी पुस्तक पाठ करनेको रखता है। पश्चात् भोजन-कुञ्जमें आकर विविध प्रकारके षड्‌रसयुक्त भोजन कराकर प्रभुकी सेवा करता है। पश्चात् ताम्बूलादिद्वारा उनकी सेवा करता है। तब मध्याह्नके समय विश्राम-कुञ्जमें पुष्पशय्या सजाकर और उस-पर प्रभुको शयन कराके चरण-सेवा करता है (उस कुञ्जमें चौपड़ आदि विनोदकी सामग्री रहती है)। मध्याह्नोत्तर भक्तके द्वारा जगाये जाकर भगवान् विनोदार्थ सरयू-तट, प्रमोदवन इत्यादि विहार-स्थलोंपर पधारते हैं। भक्त अपने भावानुरूप रूपसे उन लीलाओंमें सम्मिलित होता है। फिर सायंकाल प्रभु लौटकर सभा-कुञ्जमें पधारते हैं। वहाँपर कविजन विरदावली सुनाते हैं। गायक यशोगान करते हैं। देव-नाग-गान्धर्व-कन्याएँ आकर सम्मुख रास करती हैं। उसके बाद शयनका समय होने-पर ब्यारू-कुञ्जमें ब्यारू करके प्रभु शयन-कुञ्जमें पधारते हैं। जबतक प्रभु नहीं सो जाते, तबतक भक्त चरण-सेवा करता रहता है।

इस प्रकार अष्टयाम-सेवा मानसिक रूपसे अपने-अपने गुरुके द्वारा उपदिष्ट भावनाके अनुसार की जाती है। वास्तविक रूपमें यह मानसी सेवा यौगिक प्रक्रिया है। चञ्चल मनवालों-के लिये यह दुर्गम है। जबतक भक्त अपनी मनोवृत्तियोंको अन्यान्य विषयोंसे खींचकर उस परम सेव्य सच्चिदानन्दमें नहीं लगायेगा, तबतक इस रसका आस्वादन उसे नहीं प्राप्त हो सकता। वास्तवमें इस साम्प्रदायिक गुप्त रहस्यको पूर्णतया लिखनेमें संकोच होता है। अतः यहाँपर संक्षेपमें दिग्दर्शनमात्र कराया गया है।

श्रीराम-नाम-महिमा

बृंदारक बृंदन पै वृत्रासुर जीत पाई,
वृत्र पै विचित्र विजै वासव ने पाई है।
वासव पै जीत जिय भाई बीसबाहु पाई,
बीसबाहु पै जै बहुबाहु की सुहाई है॥
पाई जै सहसबाहुजू पै भृगुनाह पुनि,
भृगुनाहजू पै जीत पाई रघुराई है।
राम रघुराईहू पै पाई राम नाम जीत,
राम नाम अभय अजीत सुखदाई है॥ १॥

श्रीसीता-रामजीकी अष्टयाम-पूजा-पद्धति

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

भक्ति-विमर्श

सभी जीव परमात्माके अंश हैं। यथा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

तथा—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(रामचरित० उत्तर० ११६)

'अंशभागौ तु वण्टके' (अमरकोष)

अर्थात् अंशका अर्थ भाग (हिस्सा) होता है। अंश अपने अंशीके लिये होता है। अर्थात् जो जिसका भाग होता है, वह उसीके लिये होता है और उसी (अंशी) का भोग्य रहता है। उसी प्रकार अंशभूत जीव अपने अंशी ईश्वरका भोग्य है। अतः इसे अन्तर्बाह्य इन्द्रियोंसे ईश्वरकी भक्ति ही करनी चाहिये, यही इसका स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। श्रीमद्भागवत (१०। ८७। २०) में भी श्रुतियोंने अंशभूत जीवका धर्म ईश्वरभक्ति ही कहा है। श्रीनारद-पञ्चरात्रमें भी ऐसा ही कहा गया है—

दासभूतः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च॥
स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि।
आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर॥

श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण बसत।

(विनय-पत्रिका ५८)

उपर्युक्त विचारसे जीवका स्वरूपप्रयुक्त धर्म हरि-भक्ति ही है। इसके विरुद्ध (राम-विमुख) होकर यह कभी सुखी नहीं रह सकता। यथा—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(रामचरित० उत्तर० १२२)

यह प्रसङ्ग श्रीरामचरितमानसके अन्तमें निर्णयरूपसे कहा गया है। इसे नौ असम्भव दृष्टान्तोंसे पुष्ट किया गया है। नौ गिनतीकी सीमा है। इस प्रकार मानो अनन्त दृष्टान्तोंसे राम-विमुखका सुख न पाना पुष्ट किया गया है। अतः राम-भक्तिसे ही जीव सुखी हो सकता है।

भय-दर्शन

इतना ही नहीं कि राम विमुखतासे जीवको सुख नहीं मिलता; प्रत्युत उसकी बड़ी दुर्दशा होती है; यथा—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि पद बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ यह समुझ सबेरो॥
बिछुरे ससि रबि मन नैननि तें पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥

(विनय-पत्रिका ८७)

अर्थात् जैसे ईश्वरके अंशभूत चन्द्र और सूर्य अपने अंशी ईश्वरके मन और नेत्रसे पृथक् (विमुख) होकर आकाशमें दिन-रात भ्रमण करनेका एवं राहुसे ग्रसे जानेका दुःख पाते रहते हैं, वैसे ही अंशभूत जीव अपने अंशी ईश्वरसे विमुख हो दिन-रात सुखशून्य जगत्‌रूपी आकाशमें चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमणका एवं बार-बार जन्म-मरणका दुःख भोगता रहता है। पुनः पृथिवीका अंशभूत ढेला कितना ही आकाशकी ओर फेंका जाय, पर वह अपने अंशी पृथिवीपर ही स्थिरता पाता है। समुद्रका अंशभूत जल मेघद्वारा चाहे जहाँ बरसाया जाय, वह स्थिरता तभी पाता है जब नदियोंद्वारा समुद्रमें पहुँचाया जाता है। ऐसे ही जीव भी अपने ईश्वरको प्राप्त करके ही अचल स्थिति पा सकता है।

प्राकृतिक अपशकुनोंके द्वारा भी परम दयालु भगवान् हमें इसी बातकी मानो चेतावनी देते हैं। यथा—

जनमत [illegible]।
तातें [illegible]॥

अर्थात् गर्भमें बालकको ज्ञान प्राप्त रहता है। जन्म होते ही वह ज्ञान नहीं रह जाता, जन्मते ही मायासे [illegible] हो जाता है। यथा—

भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहिं माया लपटानी ॥
(रामचरित० किष्किन्धा० १३)

इसी समय मायिक जगत्‌की भयानकता अपशकुनोंद्वारा देखी जाती है । बालक जन्मते ही छींकता है, फिर रोता है और रोते हुए 'कहाँ, कहाँ' ऐसी ध्वनि भी व्यक्त करता है । छींकना, रोना और 'कहाँ जाते हो' ऐसा कहकर यात्रामें टोकना—ये तीनों यात्रामें भारी अपशकुन हैं । इनमें एक अपशकुनका भी दुष्परिणाम मृत्यु कहा जाता है । यहाँ तो तीन अपशकुन एक साथ हुए हैं—'तीन तिकट महा विकट' इस कहावतके अनुसार ये बहुत ही भयंकर हैं, इस जगत्-यात्रामें इसे बार-बार जन्म-मरणका भय देनेवाले हैं । यथा—

अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी ।
(विनय-पत्रिका १२१)

अपशकुनसे बचनेके लिये लोग यात्रामें आगे न चलकर अपने घर ही लौट आते हैं । वैसे ही इस जीवको इन भयंकर अपशकुनोंसे डरकर जहाँसे यह आया है, उस अपने अंशी ईश्वरकी ही ओर लौट पड़ना अर्थात् उसकी भक्ति करते हुए उसीकी प्राप्ति करना चाहिये । तभी यह इस मृत्युमय संसार-भ्रमणसे बच सकता है ।

कर्तव्य

भक्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है । यथा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

यह भक्ति एक तो श्रवण आदि बाह्य इन्द्रियोंसे की जाती है । इसे 'श्रवणं कीर्तनं······' आदि नवधा भक्ति कहते हैं । दूसरी अन्तःकरणसे मानसिक सेवारूपमें की जाती है । इसे ही 'मानसिक अष्टयाम-पूजा' कहा जाता है । यह अत्यन्त उपयोगी है । यथा—

बाहिज पूजा जो करैं, मन भटकैं चहु ओर ।
चित अरुझ बिनु को कहै सिय वल्लभ निज ठौर ॥
(रसिक अलीजी)

यह सेवा मनसे की जाती है । इसमें हरिध्यानसे पवित्र होता हुआ मन क्रमशः शान्त होता है । गीता ६ । ३५ में चञ्चल और दुर्निग्रह मनको वशमें करनेके लिये भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्य—दो उपाय कहे हैं । वे दोनों अत्यन्त उत्तम रीतिसे इस सेवामें आते हैं । इसमें मनको अन्य विषयोंसे खींचकर भगवान्‌की सेवामें लगाना पड़ता है । आठों यामोंमें सेवाके विविध प्रकारके आनन्दोंमें लुभाया हुआ मन प्रफुल्लित रहता है, अन्यत्र जाता ही नहीं । यदि जाता भी है तो तुरंत उसे सेवामें ही खींच लाना पड़ता है; अन्यथा सेवाके नियत कार्य नियत समयपर हो नहीं सकते । गीता ३ । ५ में कहा गया है कि कोई क्षणभर भी बिना कुछ किये नहीं रह सकता; तदनुसार मनके लिये यह सर्वोत्तम धंधा है ।

यह अष्टयाम-सेवा श्रीअयोध्या एवं श्रीवृन्दावनके ऐकान्तिक संतोंमें प्रचलित है । इसमें प्रथम पञ्च-संस्कारात्मक दीक्षा-विधान होता है । फिर किसी रसकी उपासनाके अनुसार आचार्यसे नियत सम्बन्ध प्राप्त किया जाता है । यह सेवा सख्य, दास्य एवं वात्सल्य रसोंमें भी होती है; पर यह विशेषकर शृङ्गार-रसमें प्रचलित है । इसमें श्रीसीता-रामजीके दिव्य सच्चिदानन्दविग्रहके समान किशोर अवस्थाके भीतर ही नियत अवस्था एवं रूपकी स्थिति आचार्यद्वारा प्राप्त रहती है । उसी दिव्यरूपसे नित्य तुरीयावस्थामें ही इस सेवाकी भावना की जाती है । अतः सेवामें लगनेवाले सकल्पित महल एवं विविध पदार्थ तथा परिकर—सब चिन्मय ही रहते हैं । इस प्रकार हृदयके सभी संकल्प चिन्मय रूपमें श्री-सीता-रामजीकी सेवामें लगते हुए समाप्त होते जाते हैं । यह मानसिक सेवा आयुपर्यन्त की जानी चाहिये । यथा—

स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते ।
(छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

नित्यचर्या

इस अष्टयाम-सेवामें आचार्यद्वारा नित्य त्रिपाद्विभूतिकी अयोध्या एवं वहाँके श्रीकनकभवन और फिर उसके अङ्गभूत अष्टकुञ्जों, द्वादश वनों तथा विविधक्रीडोपयोगी महलोंके चित्र (नकशे) प्राप्त किये जाते हैं । फिर आचार्यसे ही सेवाविधि भी सीखी जाती है और सेवाओंके नियत स्थलोंपर उत्तम विधानसे सेवाएँ की जाती हैं । प्रत्येक स्थलको जानेके मार्ग भी नियत रहते हैं ।

प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अपने नियत विश्राम-कुञ्जमें उठकर अपने परिकरोंके साथ स्नान-शृङ्गार आदि करके रसाचार्य एवं आचार्यके नियत कुञ्जोंपर जा उनकी पूजा की जाती है । फिर उनके साथ-साथ सभी सेवाएँ की जाती हैं । क्रमिक सेवाओंका एक पद उद्धृत किया जाता है—

सो दिन आइहै कब फेरि।
नित बिलास बिलोकिहौं पिय संग प्रकृति निबेरि॥
अलिन सहित जगाय सिय पिय साज मंगल जेरि।
आरती करि भोगवल्लभ देखिहौं द्दग हेरि॥
विविध विधि नहवाय साजि सिंगार आरति फेरि।
पितुहि पिय सिय मातु मिलि सँग छवि कलेऊ हेरि॥
लखब चौपड खेल दंपति छवि सुभोजन केरि।
सैन भवन पलोटि पग छवि लखब लेटि सुनेरि॥
उठि जगाय सुकुंज केलि अनेक हिएँ चितेरि।
साजि राज सिंगार दाल झुलाइ फेरा फेरि॥
पितु सभा पिय जाय सिय बैठकहिं तह लौटेरि।
बाटिका लखि चंग संग नहाय सरि पुलिनेरि॥
सजि सिँगार सिँगारि आरति निरखि छवि रासेरि।
मिल्न मिल्नल मंडलाकृति नटब दंपति घेरि॥
रंग महल कराय ब्यारू करब सँग सब चेरि।
सयन छवि लखि सेइ पग दंपति रहसि द्दग गेरि॥
सेइ पग गुरुजन सुकुंजन आइ कुंज निजेरि।
लेटिहौं हिय राखि दंपति 'मंजु' विहरनि ढेरि॥

—यह पद मेरे शृङ्गार-रसके 'मञ्जु रसाष्टयाम' ग्रन्थका अन्तिम पद है। इसमें सखीरूपसे यह प्रार्थना की गयी है कि 'जैसे मैं अभी आठो यामोंकी सेवा करती हूँ, वैसे ही नित्य अवधमें पहुँचकर कब करूँगी?' इन सेवाओंका विस्तार गुरुओंसे सीखना चाहिये, यहाँ विस्तारभयसे नाम-मात्र कहा गया है।

शङ्का—ऊपर कहा गया कि यह भावना तुरीयावस्थासे की जाती है। वह अवस्था श्रीरामचरितमानस(उत्तर० ११७) में वर्णित ज्ञान-साधनकी छठी भूमिकामें बहुत साधनोंके पश्चात् प्राप्त होती है, यहाँ उसका कुछ साधन नहीं कहा गया। साधक कैसे वह अवस्था पायेगा?

समाधान—जैसे उस ज्ञानमें कर्मयोग एवं योग-साधन सहायक हैं, वैसे भक्ति अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखती। यथा—

सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
(श्रीरामचरित० अरण्य० १५)

इस भक्तिमें नवधामें कर्मयोगका और प्रेमलक्षणामें ज्ञानका तात्पर्य आ जाता है। पराभक्ति तो स्वयं फलस्वरूपा है। यह मानसिक अष्टयाम-भावना यद्यपि पराभक्तिमें ही है, तथापि इसके साधनकालमें तीनों शरीरोंका [illegible] हो जाता है, तब इसकी शुद्ध स्थिति होती है।

(क) जैसे खर-दूषण और त्रिशिरा एवं उनकी [illegible] सहस्र सेनाओंके भट परस्पर एक दूसरेको [illegible] लड़ मरे और मुक्त हो गये, वैसे इस साधकके [illegible] सम्बन्धी क्रोध, लोभ और काम एवं [illegible] एकादश इन्द्रियाँ तथा तीन अन्तःकरण—इन चौदहोंके [illegible] सहस्र संकल्प चिन्मयरूप हो रामाकार होते हुए [illegible] लगकर समाप्त हो जाते हैं। कहा भी है—

खर है क्रोध, लोभ है दूषन, काम त्रिसिरा [illegible]।
कामै क्रोध लोभ मिलि [illegible] तीनों [illegible]॥
(वैराग्य [illegible])

(ख) इस मानसिक पूजामें जब [illegible] बंद हो जाता है, तब सूक्ष्मशरीरके [illegible] संकल्पोंकी शान्ति इसमें इस प्रकार होती है। [illegible] पूजाकी सामग्री जब गोवर्द्धन-पूजामें लगी, तब इन्द्रने [illegible] करके घनघोर वर्षा की। भगवान्ने गोवर्द्धन [illegible] इन्द्रका गर्व चूर्ण किया, वह शान्त होकर [illegible], वैसे यहाँ भक्ति गोवर्द्धन है, क्योंकि वह इन्द्रियोंको [illegible] सुख दे बढ़ाती है, तृप्त करती है। [illegible] होते हैं। अतएव विषय एवं तत्सम्बन्धी [illegible] इन्द्रिय-देवोंकी पूजन-सामग्री है। उन्हीं [illegible] रूपमें यह अब भगवान्में लगाता है। [illegible] गोवर्द्धन-धारण किया है, वैसे ही यहाँ भक्तकी [illegible] श्रद्धाको भगवान् धारण करते हैं (गीता ७। २१-२२ देखिये)। इन्द्रकी सारी वर्षा भगवान्ने गोवर्द्धनपर [illegible]। इसी प्रकार इसके इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी [illegible] चिन्मयरूपसे भक्तिमें लगकर समाप्त होते हैं। [illegible] हो गया, वैसे इसकी भी सूक्ष्म शरीर-सम्बन्धी [illegible] हो जाती हैं।

(ग) जैसे श्रीकृष्णके परिकर [illegible] को मोहवश ब्रह्माने स्वनिर्मित [illegible] था। [illegible] हरण करके क्षणभरके लिये वे अपने लोकको [illegible]। [illegible] कालमें यहाँका एक वर्ष बीत गया। [illegible] निर्मित भगवान्के परिकरों और बछड़ोंको [illegible] देखा, तब उनका मोह दूर हुआ। वैसे ही इस [illegible] सम्बन्धी संकल्पोंके प्रति भी बुद्धिके देवता ब्रह्माको मोह होता

है कि ये संकल्प तो प्राकृत बुद्धिके ही हैं, चिन्मय कैसे ?' तब भक्तिसे तुष्ट भगवान् इसे विवेक देते हैं कि जैसे सुषुप्ति-अवस्थामें जब बुद्धिका लय रहता है, तब भी जीवको ज्ञान रहता है कि मैं सुखसे सोया था। यह सुखानुसंधाता ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानधर्मी जीवात्मा है—

स्वस्मै स्वेनैवावभासमानत्वं प्रत्यक्त्वम्।

अर्थात् प्रत्यक्संज्ञक जीवात्मा (बुद्धि बिना) स्वयं अपनेको जानता है। इस अवस्थामें यह स्वयं प्रज्ञाका काम करता है, इसीसे 'प्राज्ञ' कहाता है। अतः इसके संकल्प स्वरूपसे ही हैं और चिन्मय हैं, इस ज्ञानसे इसकी उक्त बाधा निवृत्त हो जाती है। फिर स्थायी तुरीयावस्थासे ही भावना हुआ करती है।

श्रीराधा-कृष्णकी अष्टकालीन स्मरणीय सेवा

साधकगण श्रीव्रजधाममें अपनी अवस्थितिका चिन्तन करते हुए अपने-अपने गुरुस्वरूप मञ्जरीके अनुगत होकर, एक परम सुन्दरी गोपकिशोरीरूपिणी अपनी-अपनी सिद्ध मञ्जरी-देहकी भावना करते हुए, श्रीललितादि सखीरूपा तथा श्रीरूप-मञ्जरी आदि मञ्जरीरूपा नित्यसिद्धा व्रजकिशोरियों-की आज्ञाके अनुसार परम प्रेमपूर्वक मानसमें दिवा-निशि श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करें।

निशान्तकालीन सेवा

१. निशाका अन्त (ब्राह्ममुहूर्तका* आरम्भ) होनेपर श्रीवृन्दादेवीके आदेशसे क्रमशः शुक, सारिका, मयूर, कोकिल आदि पक्षियोंके कलरव करनेपर श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी नींद टूटनेपर उठना।

२. श्रीराधा और श्रीकृष्णके परस्पर एक दूसरेके श्रीअङ्गमें चित्र-निर्माण करनेके समय दोनोंके हाथोंमें तूलिका और विलेपनके योग्य सुगन्धि-द्रव्य अर्पण करना।

३. श्रीराधा-कृष्ण-युगलके पारस्परिक श्रीअङ्गोंमें शृङ्गार करनेके समय दोनोंके हाथोंमें मोतियोंका हार, माला आदि अर्पण करना।

४. मङ्गल-आरती करना।

५. कुञ्जसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके घर लौटते समय ताम्बूल और जलपात्र लेकर उनके पीछे-पीछे चलना।

६. जल्दी चलनेके कारण टूटे हुए हार आदि तथा बिखरे हुए मोती आदिको आँचलमें बाँधना।

७. चर्वित ताम्बूल आदिको सखियोंमें बाँटना।

८. घर (यावट ग्राम) पहुँचकर श्रीराधिकाका अपने मन्दिरमें शयन करना।

प्रातः*कालीन सेवा

१. रात्रि बीतनेपर (अर्थात् प्रातःकाल होनेपर) श्रीराधारानीके द्वारा छोड़े हुए वस्त्रोंको धोकर तथा अलंकार, ताम्बूल-पात्र और भोजन-पान आदिके पात्रोंको माँज-धोकर साफ करना।

२. चन्दन घिसना और उत्तम रीतिसे केसर पीसना।

३. घरवालोंकी बोली सुनकर सशङ्कित-सी हुई श्री-वृन्दावनेश्वरीका जगकर उठ बैठना।

४. श्रीमतीको मुख धोनेके लिये सुवासित जल और दाँतन आदि समर्पण करना।

५. उबटन अर्थात् शरीर स्वच्छ करनेके लिये सुगन्धि-द्रव्य तथा चतुस्सम अर्थात् चन्दन, अगर, केसर और कुङ्कुमका मिश्रण, नेत्रोंमें आँजनेके लिये अञ्जन और अङ्गराग आदि प्रस्तुत करना।

६. श्रीराधारानीके श्रीअङ्गोंमें अत्युत्कृष्ट सुगन्धित तेल लगाना।

७. तत्पश्चात् सुगन्धित उबटनद्वारा उनके श्रीअङ्गका मार्जन करते हुए स्वच्छ करना।

८. आँवला और कल्क (सुगन्धित खली) आदिके द्वारा श्रीमतीके केशोंका संस्कार करना।

९. ग्रीष्मकालमें ठंडे जल और शीतकालमें किंचित् उष्ण जलसे श्रीराधारानीको स्नान कराना।

१०. स्नानके पश्चात् सूक्ष्म वस्त्रके द्वारा उनके श्रीअङ्ग और केशोंका जल पोंछना।

११. श्रीवृन्दावनेश्वरीके श्रीअङ्गमें श्रीकृष्णके अनुरागको

* सूर्योदयसे पूर्व ६ घड़ी (दो घंटे, २४ मिनट) का समय 'ब्राह्ममुहूर्त' कहलाता है।

* सूर्योदयके उपरान्त छः दण्डतक प्रातःकाल या सगवकाल रहता है।

बढानेवाला स्वर्णखचित (जरीका) सुमनोहर नीला वस्त्र पहनाना।

१२. अगुरु-धूमके द्वारा श्रीमतीकी केश-राशिको सुखाना और सुगन्धित करना।

१३. श्रीमतीका शृङ्गार* करना।

१४. उनके श्रीचरणोंको महावरसे रँगना।

१५. सूर्यकी पूजाके लिये सामग्री तैयार करना।

१६. भूलसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके द्वारा कुञ्जमें छोड़े हुए मोतियोंके हार आदि उनके आज्ञानुसार वहाँसे लाना।

१७. पाकके लिये श्रीमतीके नन्दीश्वर (नन्दगाँव) जाते समय ताम्बूल तथा जलपात्र आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना।

१८. श्रीवृन्दावनेश्वरीके पाक तैयार करते समय उनके कथनानुसार कार्य करना।

१९. सखाओंसहित श्रीकृष्णको भोजनादि करते देखते रहना।

२०. पाक तैयार करने और परोसनेके कार्यसे थकी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीकी पखे आदिके द्वारा हवा करके सेवा करना।

२१. श्रीकृष्णका प्रसाद आरोगनेके समय भी श्रीराधारानीकी उसी प्रकार पखेकी हवा आदिके द्वारा सेवा करना।

२२. गुलाब आदि पुष्पोंके द्वारा सुगन्धित शीतल जल समर्पण करना।

२३. कुल्ला करनेके लिये सुगन्धित जलसे पूर्ण आचमनीय-पात्र आदि समर्पण करना।

२४. इलायची-कपूर आदिसे संस्कृत ताम्बूल समर्पण करना।

२५. बदले हुए पीताम्बर आदि सुबलके द्वारा श्रीकृष्णको लौटाना।

पूर्वाह्न*कालीन सेवा

१. बाल-भोग (कलेऊ) आरोग करके [illegible] के लिये वन जाते समय श्रीराधाजी [illegible] श्रीकृष्णके पीछे पीछे जाकर [illegible] ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर पीछे पीछे गमन करना।

२. श्रीराधा-गोविन्दके पारस्परिक [illegible] उनके [illegible] पहुँचाकर उनको सन्तुष्ट करना।

३. सूर्य-पूजाके बहाने (अथवा कभी कभी वन-शोभा दर्शनके बहाने) श्रीराधाकुण्डमें श्रीकृष्णसे मिलन कराने हेतु श्रीमतीको अभिसार कराना और उस समय ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर उनके पीछे पीछे गमन करना।

मध्याह्न†कालीन सेवा

१. श्रीकुण्ड अर्थात् राधाकुण्डपर श्रीराधा और कृष्णके मिलनका दर्शन करना।

२. कुञ्जमें विचित्र पुष्प मन्दिर आदिका निर्माण करना और कुञ्जको साफ करना।

३. पुष्पशय्याकी रचना करना।

४. श्रीयुगलके श्रीचरणोंको धोना।

५. अपने केशोंके द्वारा उनके श्रीचरणोंका [illegible] करना।

६. चँवर डुलाना।

७. पुष्पोंसे पेय मधु बनाना।

८. मधुपूर्ण पात्र श्रीराधा-कृष्णके सम्मुख [illegible] करना।

९. इलायची, लौंग, कपूर आदिके द्वारा सुगन्धित ताम्बूल अर्पण करना।

१०. श्रीयुगल-चर्वित कृपाप्राप्त ताम्बूलका आस्वादन करना।

११. श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी [illegible] करके कुञ्जसे बाहर चले जाना।

१२. श्रीयुगलका केलि-विलास दर्शन करना।

१३. कस्तूरी-कुङ्कुम आदिसे [illegible] श्रीअङ्गके सौरभको ग्रहण करना।

१४. नूपुर और कंगन आदिकी मधुर ध्वनिका श्रवण करना।

---

* श्रीराधाके निम्नाङ्कित सोलह शृङ्गार गिनाये गये हैं—(१) स्नान, (२) नाकमें बुलाक धारण करना, (३) नीली साड़ी धारण करना, (४) कमरमें करधनी बाँधना, (५) वेणी गूँथना, (६) कानोंमें कर्णफूल धारण करना, (७) अङ्गोंमें चन्दनादिका लेप करना, (८) बालोंमें फूल खोंसना, (९) गलेमें फूलोंका हार धारण करना, (१०) हाथमें कमल धारण करना, (११) मुखमें पान चबाना, (१२) ठोडीमें काली बेंदी लगाना, (१३) नेत्रोंमें काजल आँजना, (१४) अङ्गोंको पत्रावलीसे चित्रित करना, (१५) चरणोंमें महावर देना और (१६) ललाटमें तिलक लगाना।

* [illegible] पूर्वाह्न [illegible] है।

† पूर्वाह्णके [illegible] निर्दिष्ट है।

१५. श्रीयुगलके श्रीचरण-कमलोंमें ध्वजा, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्नोंके दर्शन करना।

१६. श्रीयुगलके विहारके पश्चात् कुञ्जके भीतर पुनः प्रवेश करना।

१७. श्रीयुगलके पैर सहलाना और हवा करना।

१८. सुगन्धि पुष्प आदिसे वासित शीतल जल प्रदान करना।

१९. विलासवश श्रीराधा-रानीके श्रीअङ्गोंके लुप्त चित्रों-का पुनः निर्माण करना और तिलक-रचना करना।

२०. श्रीमतीके श्रीअङ्गोंमें चतुस्समके गन्धका अनुलेपन करना।

२१. टूटे हुए मोतियोंके हारको गूँथना।

२२. पुष्प-चयन करना।

२३. वैजयन्ती माला तथा हार एवं गजरे आदि गूँथना।

२४. हास-परिहास-रत श्रीयुगलके श्रीहस्तकमलोंमें मोतियोंका हार तथा पुष्पोंकी माला आदि प्रदान करना।

२५. हार-माला आदि पहनाना।

२६. सोनेकी कघीके द्वारा श्रीमतीके केशोंको सँवारना।

२७. श्रीमतीकी वेणी बाँधना।

२८. उनके नयनोंमें काजल लगाना।

२९. उनके अधरोंको सुरञ्जित करना।

३०. चिबुकमें कस्तूरीके द्वारा बिन्दु बनाना।

३१. अनङ्ग-गुटिका, सीधु-विलास आदि प्रदान करना।

३२. मधुर फलोंका संग्रह करना।

३३. फलोंको बनाकर भोग लगानेके लिये प्रदान करना।

३४. किसी एक स्थानमें रसोई बनाना।

३५. श्रीयुगलके पारस्परिक रहस्यालापका श्रवण करना।

३६. श्रीयुगलके वन-विहार, वसन्त-लीला, झूलन-लीला, जल विहार, पाश-क्रीड़ा आदि अपूर्व लीलाओंके दर्शन करना।

३७. श्रीयुगलके वन-विहारके समय श्रीमतीकी वीणा आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना।

३८. अपने केशोंके द्वारा श्रीयुगलके श्रीपादपद्मोंकी रजको झाड़ना-पोंछना।

३९. होली-लीलामें पिचकारियोंको सुगन्धित तरल पदार्थोंसे भरकर श्रीराधिका और सखियोंके हाथोंमें प्रदान करना।

४०. झूलन-लीलामें गान करते हुए झूलेमें झोटा देना, झुलाना।

४१. जल-विहारके समय वस्त्र और अलंकार आदि लेकर श्रीकुण्डके तीरपर रखना।

४२. पाश-क्रीडामें विजयप्राप्त श्रीराधिकाजीकी आज्ञासे श्रीकृष्णके द्वारा दावपर रखी सुरङ्गा आदि सखियों (या मुरली आदि) को बाँधकर बलपूर्वक लाकर उनके साथ हास्य-विनोद करना।

४३. सूर्य-पूजा करनेके लिये राधाकुण्डसे श्रीमतीके जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना।

४४. सूर्य-पूजामें तदनुकूल कार्योंको करना।

४५. सूर्य-पूजाके पश्चात् श्रीमतीके पीछे-पीछे चलकर घर लौटना।

अपराह्ण* कालीन सेवा

१. श्रीराधिकाजीके रसोई बनाते समय उनके अनुकूल कार्य करना।

२. श्रीराधारानीके स्नान करनेके लिये जाते समय उनके वस्त्राभूषण आदि लेकर उनके पीछे-पीछे जाना।

३. स्नानके पश्चात् उनका शृङ्गार आदि करना।

४. सखियोंसे घिरी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीके पीछे-पीछे अटारीपर चढ़कर वनसे लौटते हुए सखाओंसे घिरे श्रीकृष्णके दर्शन करके परमानन्द-उपभोग करना।

५. छतके ऊपरसे श्रीराधिकाजीके उतरनेके समय सखियोंके साथ उनके पीछे-पीछे उतरना।

सायंकालीन† सेवा

१. श्रीमतीका तुलसीके हाथ व्रजेन्द्र श्रीनन्दजीके घर भोज्य-सामग्री भेजना। श्रीकृष्णको पानकी गुल्ली और पुष्पोंकी माला अर्पण करना तथा संकेत-कुंजका निर्देश करना। तुलसीके नन्दालय जाते समय उसके साथ जाना।

२. नन्दालयसे श्रीकृष्णका प्रसाद आदि ले आना।

---

* सूर्यास्तके पूर्व छः दण्डके कालको अपराह्ण-काल कहा जाता है।

† सूर्यास्तके उपरान्त छः दण्डका काल सायंकालके नामसे व्यवहृत होता है।

३. वह प्रसाद श्रीराधिका और सखियोंको परोसना।

४. सुगन्धित धूपके सौरभसे उनकी नासिकाको आनन्द देना।

५. गुलाब आदिसे सुगन्धित शीतल जल प्रदान करना।

६. कुल्ला आदि करनेके लिये सुवासित जलसे पूर्ण आचमन-पात्र प्रदान करना।

७. इलायची-लौंग-कपूर आदिसे सुवासित ताम्बूल अर्पण करना।

८. तत्पश्चात् प्राणेश्वरीका अधरामृत-सेवन अर्थात् उनका बचा प्रसाद भोजन करना।

प्रदोप*कालीन सेवा

१. सन्ध्याकालमें वृन्दावनेश्वरीका वस्त्रालंकारादिसे समयोचित शृङ्गार करना अर्थात् कृष्ण-पक्षमें नील वस्त्र आदि और शुक्ल पक्षमें शुभ्र वस्त्रादि तथा अलंकार धारण कराना एवं गन्धानुलेपन करना।

२. अनन्तर सखियोंके साथ श्रीमतीको अभिसार कराना तथा उनके पीछे-पीछे गमन करना।

निशा†कालीन सेवा

१. निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्णका मिलनदर्शन करना।

२. रासमें नृत्य आदिकी माधुरीके दर्शन करना।

३. वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजीके नूपुरकी मधुर ध्वनि और श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनिकी माधुरीको श्रवण करना।

४. श्रीयुगलकी गीत-माधुरीका श्रवण करना तथा नृत्यादिके दर्शन करना।

५. श्रीकृष्णकी वंशीको चुप कराना।

६. श्रीराधिकाकी वीणा-वादन-माधुरीका [illegible] करना।

७. नृत्य, गीत और वाद्यके द्वारा [illegible] श्रीराधा-कृष्णके आनन्दका विधान करना।

८. सुवासित ताम्बूल, सुगन्धित [illegible], [illegible], [illegible], सुवासित शीतल जल और [illegible] [illegible] [illegible] द्वारा श्रीराधा-कृष्णकी सेवा करना।

९. श्रीकृष्णका मिष्टान्न तथा फलादि भोजन [illegible] दर्शन करना।

१०. सखियोंके साथ वृन्दावनेश्वरी [illegible] श्रीकृष्णके प्रसादका भोजन करते हुए दर्शन करना।

११. उनका अधरामृत (अवशेष भोजन) ग्रहण करना।

१२. सखियोंके साथ-साथ श्रीराधा-कृष्ण [illegible] मिलन दर्शन करना तथा उनके ताम्बूल-सेवन और [illegible] माधुरीके दर्शन करते हुए आनन्द-लाभ करना।

१३. सुकोमल शय्यापर श्रीयुगलको शयन कराना।

१४. सखियोंके साथ जालीमेंसे श्रीयुगल [illegible]-दर्शन करना।

१५. परिश्रान्त श्रीयुगलकी व्यजनादिद्वारा सेवा करना और उनके सो जानेपर सखियोंका अपनी-अपनी [illegible] सोना। स्व[illegible] भी वहीं सो जाना।

निम्नलिखित दिनोंमें श्रीकृष्णकी [illegible] और श्रीमतीकी सूर्यपूजा बंद रहती है—

१. श्रीजन्माष्टमीके दिन और उसके बाद दो [illegible]।

२. श्रीराधाष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनों[illegible]।

३. माघकी शुक्ला पञ्चमी अर्थात् [illegible] फाल्गुनी पूर्णिमा अर्थात् दोलपूर्णिमापर्यन्त [illegible] दिनों[illegible]।

श्रीहरिकी पूजाके आठ पुष्प

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः। तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः। सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः। पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम॥

'अहिंसा, इन्द्रियसंयम, जीवदया, क्षमा, मनका संयम, ध्यान, ज्ञान और सत्य—इन आठ पुष्पोंसे पूजित होनेपर श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं। दूसरे पुष्प तो बाहरी उपचार हैं।'

---

* सूर्यास्तके उपरान्त छः दण्डके कालको प्रदोष कहते हैं।

† प्रदोषके उपरान्त बारह दण्डके कालको निशाकाल कहा जाता है।

वल्लभ-सम्प्रदायमें अष्टयाम-सेवा-भावना

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

वल्लभ-सम्प्रदायके पुष्टिभक्ति-रसनिधिमें अवगाहन करनेका अवसर भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रह तथा कृपासे निर्मल चित्तको मिलता है। पुष्टिसेवा-भावना अत्यन्त निगूढ और महत्त्वपूर्ण है। इसमें समस्त कर्म पूर्ण समर्पणके साथ यशोदोत्सङ्ग लालित वात्सल्य-साम्राज्यके महामहिम अधिपति पूर्णपुरुषोत्तम लीलाविहारी भगवान् श्रीनन्दनन्दनको प्रसन्न करने और सुख देनेके लिये किये जाते हैं। वल्लभ-सम्प्रदायमें अष्टयाम-सेवा-भावनाकी मूलभूमि भगवदाश्रय है, बिना इसके सेवा-भावना सिद्ध ही नहीं होती। जबतक सेवकमें साधनकी अपेक्षा है, तबतक अन्याश्रय है। भगवान्का अनुग्रह होनेपर भाव अङ्कुरित होता है और इसके बाद रसरूप भगवान्का आश्रय अपने-आप ही मिल जाता है। श्रीमदाचार्यचरण महाप्रभु वल्लभका वचन है—

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्॥

(पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद १२)

निस्सन्देह पुष्टिमार्गीय जीव सबसे भिन्न हैं और यह सृष्टि केवल भगवद्रूपकी सेवाके लिये ही हुई है। पुष्टिमार्गमें भाव ही साधन है, भाव ही फल है। पुष्टिमार्गीय अष्टयाम-सेवा-भावनामें भगवदाश्रयपूर्वक भावका ही पोषण है। आचार्यचरणकी वाणी है—

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥

(सिद्धान्त-मुक्तावली २)

'चित्तको भगवान्में जोड देना ही सेवा है, इसकी सिद्धि प्रभुके चरणमें तन-धन—सर्वस्वका समर्पण करनेसे होती है; इससे संसारके दुःखकी निवृत्ति होती है और ब्रह्मका बोध हो जाता है।' प्रभुचरण हरिरायजीकी उक्ति है—

श्रीकृष्णः सर्वदा सर्वैः सर्वलीलासमन्वितः।

(शिक्षापत्र ११। ३)

श्रीकृष्णका स्मरण होनेसे चित्त उनकी सेवामें सहज प्रवृत्त हो जाता है। भगवान्की सेवा फल, भोग और प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये नहीं करनी चाहिये—ऐसा पुष्टिमार्गीय सेवा-भावनाका स्वरूप है। महाप्रभु वल्लभाचार्यका कथन है कि सर्वभावसे प्रत्येक समय सदा-सर्वत्र श्रीकृष्ण ही सेव्य हैं, यही सबसे बड़ा धर्म है। उनका यही कथन अष्टयाम-सेवा-भावनाकी आधारशिला है—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥

(चतुःश्लोकी १)

सदा श्रीकृष्णके ही चरणोंका स्मरण करना चाहिये, भजन करना चाहिये—इसीकी परिपुष्टिके लिये वल्लभ-सम्प्रदायके आचार्यचरणोंने अष्टयाम-सेवा-भावनाका विधान किया है। अष्टयाम-सेवा-भावनाका आशय है—भगवान्के लीला-चिन्तनमें निरन्तर मनका लगे रहना।

पुष्टिमार्गमें सेवाके साधन और फलमें अन्तर नहीं माना गया है। दोनों एकरूप हैं। अष्टयाम-सेवा आठ यामों (पहरों) में विभक्त है। प्रातःकालसे शयन-समयतक इसके—मङ्गला, शृङ्गार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन—आठ रूप हैं। श्रीगुसाईंजी विठ्ठलनाथजी महाराजने अष्टयाम-सेवा-भावनाको विशेष रूपसे प्राणान्वित किया। उन्होंने अपने अष्टछापके भक्त कवियोंको इन आठ प्रकारकी झाँकियोंमें कीर्तनकी सेवा प्रदान की थी। विठ्ठलनाथजीके जीवनकालमें अष्टयाम-सेवा-भावनाका स्वारस्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उन्होंने आठों दर्शनोंके लिये क्रमशः परमानन्ददास, नन्ददास, गोविन्दस्वामी, कुम्भनदास, सूरदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और कृष्णदासको कीर्तन-सेवा प्रदान की थी। अष्टयाम-सेवा-भावनाका निरूपण प्रभुचरण हरिरायजीने भी अपने साहस्री-भावना या सेवा-भावना ग्रन्थमें किया है।

मंगलाकी झाँकीमें पहले श्रीकृष्णको जगाया जाता है, उसके बाद मङ्गल-भोग रखा जाता है, फिर आरती की जाती है। यशोदा-परिसेवित श्रीकृष्णके मङ्गल-दर्शनका इस प्रकार निरूपण किया गया है—

जनन्युत्सङ्गसंलग्नः प्रदर्शितमुखाम्बुजः।
यशोदाचुम्बितमुखो नन्दाद्युत्सङ्गलालितः॥
स्वबालमित्रगोपालसंगीतगुणसागरः।
व्रजस्त्रीवृन्दसरसकटाक्षपरिपूजितः॥

(साहस्री-भावना ७-८)

'बालकृष्ण यशोदा मैयाकी गोदमें विराजमान हैं, माँ उनके मुख-कमलका दर्शन कर रही हैं, मुख चूम रही हैं; नन्द आदि प्रभुको गोदमें लेकर लाड लड़ा रहे हैं, श्यामसुन्दरके सखा गोपाल-ग्वाल उनके निरवधि गुणोंका गान कर रहे हैं; व्रज-देवियाँ अपने रसमय कटाक्षसे उनका पूजन कर रही हैं।'

नन्दनन्दन कलेवा कर रहे हैं, प्रभुकी मङ्गल-आरती हो रही है। प्रभु मिश्री और नवनीतका रसास्वादन कर रहे हैं। आरतीकी झाँकी मङ्गलमयी है—

सब विधि मंगल नँद कौ लाल।
कमलनयन बलि जाय जसोदा, न्हात खिजा जिन मेरे बाल॥
मंगल गावत मंगल मूरति, मंगल लीला ललित गुपाल।
× × ×
मंगल जस गावै 'परमानंद', सखा मंडली मध्य गोपाल॥
(पुष्टिमार्गीय कीतन-सग्रह भाग ३रा)

(२)

मङ्गलाकी सेवा-भावनाके बाद शृङ्गारका क्रम आता है। माता यशोदा अपने बालगोपालका समयानुकूल ललित शृङ्गार करती हैं। उबटन लगाकर तथा स्नान कराकर वे श्यामसुन्दरको पीताम्बर धारण कराती है। व्रजसुन्दरीगण और व्रजभक्त उनका परम रसमय दर्शन करके अपने-आपको धन्य मानते हैं। प्रभु माँकी गोदमे विराजमान हैं, करमें वेणु और मस्तकपर मयूरपखकी छवि मनोहारिणी है, पीताम्बरसे शोभा बरस रही है—

यशोदोत्सङ्गसंस्थायी　　पार्श्वभागकृतासनः॥
गोपिकावेष्टितस्वीयजनन्युदरभूषणः　　।
(साहस्री-भावना १६२-१६३)

कमलमुखकी शोभा अनुपम है, अङ्ग-कान्ति विलक्षण प्रभुकी—

कमलमुख देखत कौन अघाय?
सुन री सखी! लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय॥
मुक्तामाल लाल उर ऊपर, जनु फूली बनराय।
गोबरधन धर अंग अंग पर 'कृष्णदास' बलि जाय॥

(३)

शृङ्गारके बाद ग्वाल-सेवा-भावनामें श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंकी मण्डलीके साथ गोचारण-लीलामें प्रवृत्त होते हैं। माँ सीख देती हैं—'हे लाल! गोपाल! गहन वन और जलाशयकी ओर न जाना, बालकोंके साथ [illegible] भूमिपर न चलना, जीव-जन्तुओं [illegible] सुन्दर चरणोंको मत [illegible] और दौड़नी [illegible] दौड़ना—

वने बाल न गन्तव्यं गहने न [illegible]।
न कार्यं बालकैर्युद्धं न भूमौ [illegible]॥
स्थले न धार्यं चरणं [illegible]।
न गवां सम्मुखे कार्यं धावन्तीनां च धावनम्॥
(साहस्री-भावना १९३-[illegible])

प्रभु बाल-गोपालोंको साथ लेकर गोचारण करने [illegible] हैं। वेणु-बजा-बजाकर श्यामसुन्दर गायोंको [illegible] हैं। प्रभुके वेणु-वादनसे समस्त चराचर [illegible] ग्वालमण्डली नृत्य-गीत आदि [illegible] प्रभुका गो-चारणकालीन ग्वालवेश [illegible] है—

शृङ्गाररसभा[illegible]रूप[illegible]भेदैः　　।
सरस्सारसहंसादिमौन[illegible]　　॥
वृन्दावनद्रुमलतामधुधाराप्रवर्षैः　　।
लीलागतिर्व्रजभुवो　　[illegible]॥
(साहस्री भावना १०५-१०६)

'अपने शृङ्गार-रसके [illegible] गोपियोंका धैर्य हर लेते हैं। वेणुनाद सुनकर [illegible] हंस आदि मौन धारणकर [illegible] जाते हैं। वृन्दावनकी द्रुम-लताएँ मधु [illegible] श्रीकृष्ण लीलापूर्वक (टहलते हुए) [illegible] मर्दनका दुःख दूर कर रहे हैं।'

(४)

ग्वाल-सेवा-भावनाके बाद [illegible] प्रभुके गो-चारणकी बात [illegible] चिन्तन कर रही हैं कि मेरे लाल [illegible] भूखे होंगे। माता व्याकुल हो रही हैं। [illegible] गोपीके हाथ यशोदा अपने लाल तथा [illegible] सरस पक्वान्न तथा अन्न [illegible] रही हैं। सारी [illegible] गयी है।

वनं गते [illegible] ।
[illegible]　　[illegible]।
प्रातर्गतस्य　　[illegible]।
[illegible]　　।

मनाहूतनिजाग्यन्तस्निग्धगोपीजनावृता ।
सम्पार्थोदनसूपान्तपक्वान्नव्यन्जनादिकम् ॥
× × × ×
तावत् सकलसद्वस्तु सुवर्णरजतादिजे ।
पात्रे प्रत्येकमथवा निधाय न मिलेद् यथा ॥
(साहस्री-भावना ३२७–२९, ३३४)

यशोदा गोपीको सावधान करती हैं कि सब सामग्री अच्छी तरह रख दी गयी है न, मिल न जाय एक दूसरेमें; माताके स्तनसे दूध झर रहा है, उनका कण्ठ गद्गद है, नयनोंमें प्रेमाश्रु हैं। गोपी राजभोग नन्दनन्दनके समक्ष उपस्थित करती है, प्रभु लीलापूर्वक कालिन्दीके तटपर बैठकर भोजन कर रहे हैं—

यमुना-तट भोजन करत गोपाल ।
विविध भाँति दे पठयो जसुमति व्यंजन बहुत रसाल ॥
ग्वाल मंडली मध्य विराजत हँसत हँसावत ग्वाल ।
कमलनयन मुसकाय मंद हँस करत परस्पर ख्याल ॥
× × × ×
'नन्ददास' तहँ यह सुख निरखत अँखिया होत निहाल ॥
(कीर्तनसग्रह ३रा भाग)

(५)

राजभोगके बाद प्रभु मध्याह्नमें शयन करनेके लिये कुञ्जमें प्रवेश करते हैं। छः घड़ी दिन शेष रहनेपर प्रभुको जगाया जाता है। यह उत्थापन-दर्शन है।

तदावशिष्टे दिवसे पश्चात् षड्घटिकात्मके ।
समागत्य सखीवृन्दः कपाटान्तिकमास्थितः ॥
प्राबोधयद् व्रजपतिं तथालीलानिरूपणैः ।
राधिकाकान्त जातोऽयं समयस्तवप्रबोधने ॥
गोपाः सगोधना गन्तुं व्रजं पश्यन्ति ते पथम् ।
स्वामिनीदर्शनानन्द स्वामिनीसहसंस्थिते ॥
× × × ×
गोवर्धने समागत्य पुलिन्दीभिः कृतोद्यमः ।
कन्दादिकं समीकृत्य तथा वन्यफलानि च ॥
× × × ×
समानीय स्वयं नम्रपदवीं तव पश्यति ।
पूरणीयस्ततस्तस्य भवतैव मनोरथः ॥

(साहस्रीभावना ४९९–५०१, ५०६, ५०९)

"जब छः घड़ी दिन शेष रहता है, तब सखियाँ कुञ्जभवनके दरवाजेके सामने आकर खड़ी हो जाती है और प्रभुकी लीलाओंका वर्णन करके व्रजपतिको जगाती हैं। वे कहती हैं—'राधिका-कान्त! आपके जागनेका समय हो गया है। गायोंके साथ गोपाल व्रजमें जानेके लिये आपकी बाट देख रहे हैं। हे स्वामिनीके दर्शनसे आनन्दका अनुभव करनेवाले, हे स्वामिनीके साथ ही स्थित रहनेवाले श्यामसुन्दर! ×××× गोवर्धनपर पुलिन्दियोंके साथ सखियाँ कन्द आदि तथा वनके विविध फलोंको लिये आपकी बाट देख रही हैं; आप पधारकर उनका मनोरथ पूर्ण करें।"

(६)

सखियोंके यों कहनेपर लीलाविहारी मदनमोहन शय्यासे उठते हैं। गिरिराजपर पधारकर कन्द-मूल-फलादि आरोगते हैं। यह भोग-दर्शन है।

फलानि फलरूपेण फलरूपयुतः फलम् ।
हरिदासस्य फलदः फलादः सोऽभवत् प्रभुः ॥
(साहस्री-भावना ५२५)

श्रीबालकृष्णकी यह झाँकी अद्भुत है। प्रभु वन-प्रान्तसे घर आनेके लिये उत्सुक हैं।

छबीले लाल की यह बानिक बरनत बरनि न जाई ।
देखत तन मन कर न्यौछावर, आनँद उर न समाई ॥
कंद मूल फल आगें धरि कें रहो हैं सकल सिर नाई ।
'गोविंद' प्रभु पिय सों रति माना पठई रसिक रिझाई ॥
(कीर्तनसग्रह ३रा भाग)

भोग आरोगनेके बाद बाट जोहनेवाली माँकी आकुलता-का चिन्तनकर हरि गोप-धेनु-समन्वित संध्याकालमें घरकी ओर चल पड़ते हैं।

(७)

सातवीं सेवाभावनामें संध्या-आरती है। श्रीकृष्ण मन्द-मन्द वेणु बजाते हुए वनसे गाय चराकर लौट रहे हैं, माता यशोदा पुत्र-दर्शन-लालसासे आकुल होकर उनका पथ देख रही हैं। गोधूलि-वेलामें गोपाल-लालकी छवि परम रमणीय है। व्रज-गोपाङ्गनाएँ प्रभुका वदनारविन्द निहारती हैं, वेणु-वादन सुनती हैं और रस-सागरमें निमग्न हो जाती हैं; यशोदाके हृदयमें वात्सल्य-सागर उमड़ पड़ता है। प्रभु उनके इस भावसे मुग्ध हो रहे हैं; यशोदाजी उनकी आरती उतारती हैं।

बालमालोक्य मुदिता जातहर्षा हरिप्रसूः ।
सर्वाङ्गस्वेदरोमाञ्चकम्पस्तम्भा सखीयुता ॥

वनसे लौटते हुए वनवारी
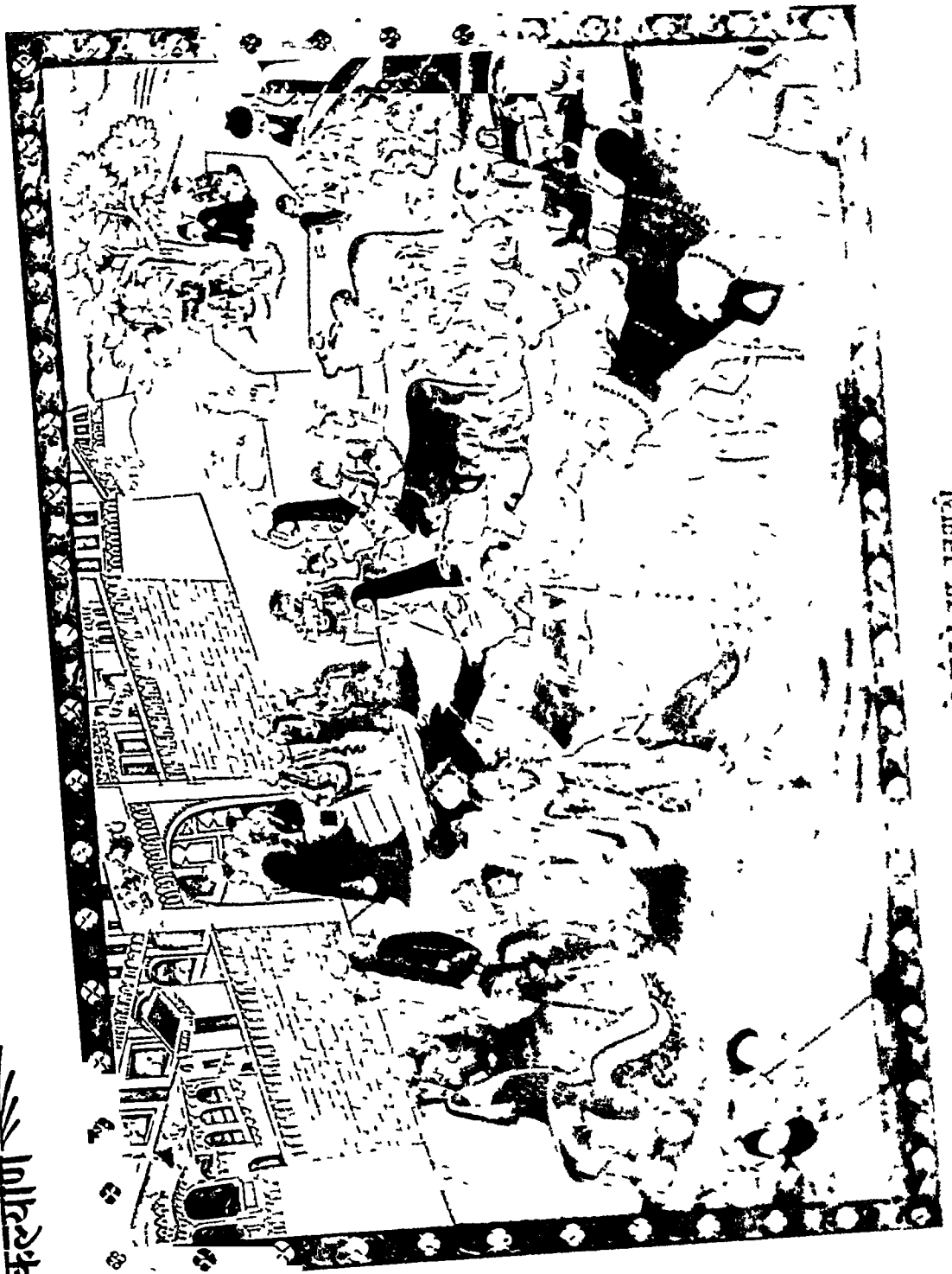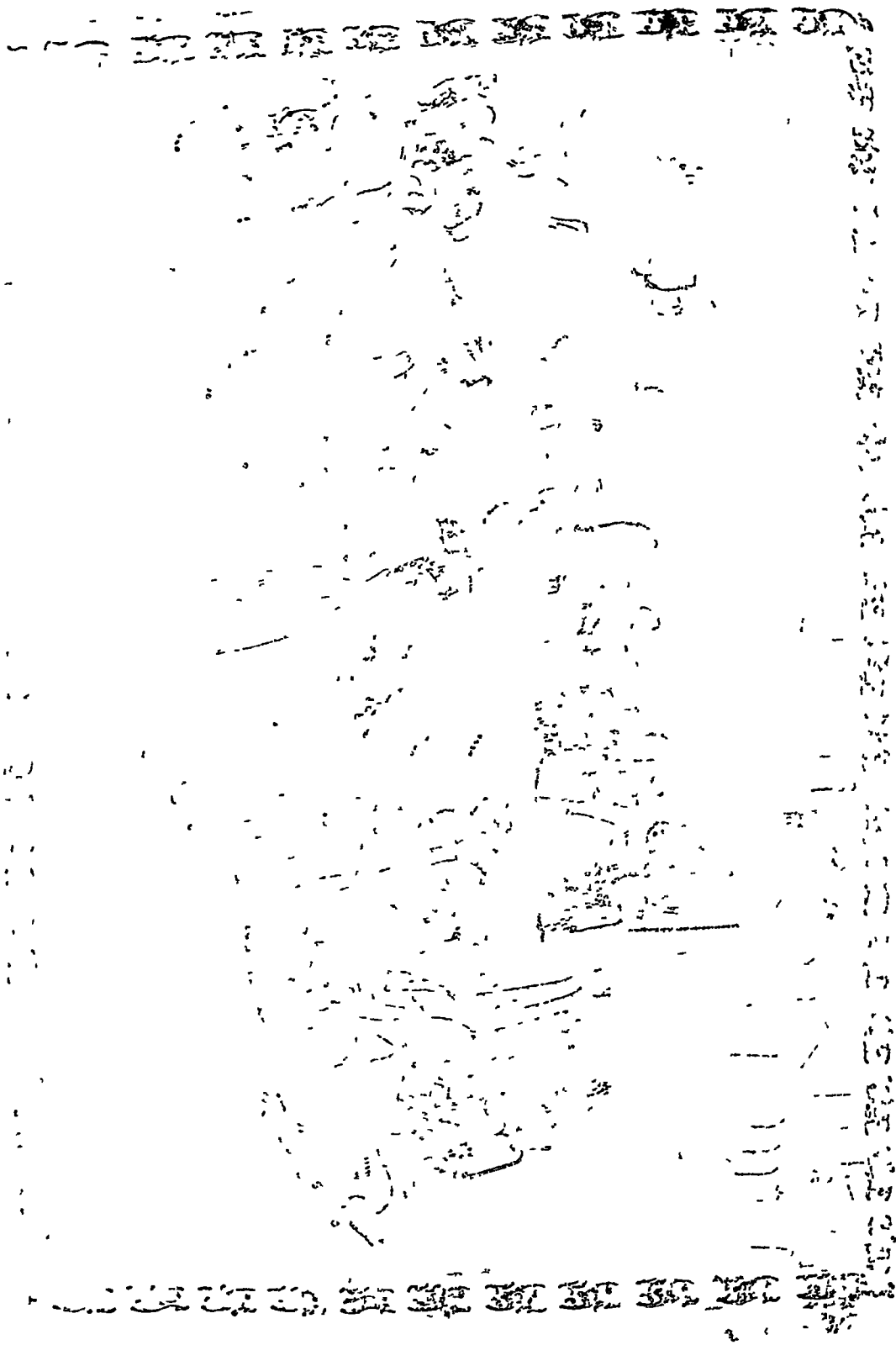
उत्तारितवती सूनोरुपर्यारात्रिकं शुभम् ।
कर्पूरैणमदस्वाज्यविनमद्वर्तिसंयुतम् ॥

(साहस्री-भावना ७७७-७७८)

'यशोदा मैया सब सखियोंके साथ अपने बालगोपालको देखकर मुदित तथा हर्षित होती हैं । उनके सर्वाङ्गमें स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और स्तम्भ दीख पड़ते हैं । वे कपूर, घी एवं कस्तूरीसे सुगन्धित वर्तिकायुक्त आरती अपने पुत्रपर वार रही हैं ।'

लटकत चलत जुवति सुखदानी ।
संध्या समै सखा मडल में सोमित तनु गोरज लपटानी ॥
मोर मुकुट गुंजा पियरो पट मुख मुरली गुजत मृदु बानी ।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधारी आए बन ते लै आरति वारत नँदरानी ॥

(कीर्तनसग्रह ३रा भाग)

(८)

सध्या-आरतीके बाद शयन-भावनाका क्रम चलता है । यशोदा अपने लालको शयन-भोग आरोगनेके लिये बुलाती हैं, आरोगनेकी प्रार्थना करती हैं । वे कहती हैं—'हे पुत्र ! मैंने अनेक प्रकारकी सरस सामग्री सिद्ध की है । सोनेके कटोरेमें नवनीत और मिश्री भी प्रस्तुत हैं ।' प्रभु भोजन करते हैं । प्रभु इसके बाद दुग्ध-धवल शय्यापर शयन करनेके लिये विराजमान होते हैं । माता यशोदा उनकी पीठपर हाथ फेरकर सो जानेके लिये अनुरोध करती हैं और उनकी लीलाओंका गान करती हैं—

उपविश्य स्वयं शय्यासमीपे सुतवत्सला ।
पृष्ठपृष्ठकरागायच्छिद्रागमनसिद्धये ॥

(साहस्री-भावना १०३८)

माँ अपने लालको निद्रित जानकर उनके पास सखीको बैठाकर अपने घरमें चली जाती हैं । सखियोंका समूह दर्शन करके निवेदन करता है कि 'स्वामिनी [illegible] रही हैं, शय्या आदि [illegible] श्रीस्वामिनीकी विरहावस्थाका वर्णन सुनकर [illegible] शय्या त्यागकर तुरत मन्द-मन्द गतिसे [illegible]—

कोटिकन्दर्पलावण्यो [illegible] ।
मार्गप्रदर्शितपथश्चलितो [illegible] ।

([illegible])

'करोड़ों कामदेवोंके लावण्यसे [illegible] श्यामसुन्दर सखियोंके बताये मार्गसे धीरे-धीरे [illegible] ।' यों धीरे-धीरे मुरली बजाते वे [illegible] मन्दिरमें प्रवेश करते हैं । यही दिव्य झाँकी है—

'''ठाढ़े कुंज भवन ।
लटपटि पाग छुटी अलकावलि, घूमत [illegible] ॥
कहा कहूँ अँग-अँग की सोभा, [illegible] ।
'गोविंद' प्रभु को यह छवि निरखत [illegible] ॥

([illegible])

भगवान् श्रीकृष्णके निरन्तर आश्रयसे ही [illegible] प्रचलित आठ पहरकी सेवा भावनाका [illegible] है । श्रीकृष्णकी सेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है—

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥

([illegible])

श्रीकृष्णके आश्रयसे—शरणागतिसे ही [illegible] भावना सिद्ध होती है । इससे [illegible] नवघनश्यामशरीर उज्ज्वलनीलमणि [illegible] निरन्तर अनुराग बढ़ता है, भगवान् [illegible] मिलता है ।

भगवान्‌की दयालुता

उद्धवजी कहते हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥'

([illegible])

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध [illegible] था; उसको भी भगवान्‌ने वह परमगति दी, जो धायको मिलनी चाहिये । उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें ।'

श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्ति-तत्त्वका निरूपण विशेषरूपमें गीताके सातवें अध्यायसे प्रारम्भ किया है। उसका पहला पद है—

'मय्यासक्तमनाः'

हमारे देशके उत्कृष्ट साधक संत महात्मा गाँधीजी जिस गीताको 'अनासक्ति योग' के नामसे पुकारते हैं, वही गीता हमें यहाँ आसक्तिका उपदेश कर रही है और कहती है—'मनको मुझ भगवान्‌में आसक्त करो तो मुझे सम्पूर्ण जान लोगे और चित्तके सभी सदेह नष्ट हो जायँगे; पर वहींपर यह भी सूचित किया गया है—

'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (७।३)

'मेरे तत्त्वको या तत्त्वतः मुझको कोई एक ही जानता है।' अन्तिम (अष्टादश) अध्यायमें कहा गया है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। (१८।५५)

'मुझमें मन आसक्त करके जब भक्त तत्त्वतः मेरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसे मेरे धाममें प्रवेश मिलता है।' शुद्ध (परा) भक्तिका प्रारम्भ यहींसे होता है। उस शुद्ध भक्तिका तत्त्व-वर्णन करना क्या किसी भी विषयी, पामर प्राणीके लिये सम्भव है ! फिर भी जो यह लेख लिखनेकी प्रेरणा मिली, इसे मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। इसी बहाने श्रीकृष्ण-नामके स्मरण, उच्चारण, लेखन और कीर्तनका पुण्य तो प्राप्त होगा ही और धीरे-धीरे कृपा करके वे ही अपनी शुद्ध परा-भक्तिका तत्त्व अनुभव करा देंगे—ऐसा विश्वास है।

आइये, पहले हम उन्हीं परम पुरुषके मूलस्वरूपका चिन्तन करें, जिनकी नित्य भक्तिका तत्त्व हमें समझना है।

भगवान्‌ने कहा है—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५।२९) अर्थात् मैं सभी प्राणियोंका मित्र हूँ।

ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी ओर आकृष्ट न हो। वे अपनी रूप-माधुरीसे सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको सर्वदा आकृष्ट कर रहे हैं और हमें निमन्त्रण दे रहे हैं कि 'शीघ्र ही मुझसे आकर मिलें।' महाराष्ट्रके एक परम संतकी वाणी है—

> वाट पाहे ऊभा, भेटीची आवडी।
> कृपालु तांतडी उतावीळ॥

'प्रभु खड़े-खड़े बाट देख रहे हैं, उनको जीवोंसे मिलनेकी बहुत उतावली है। वे परम दयालु हैं—उनकी रुचि ही यह है कि समस्त प्राणी शीघ्रतासे आकर उनसे मिल लें।'

ऐसी बात होनेपर भी हम उनके चरणोंमें क्यों नहीं पहुँचते ?—विषयोंमें क्यों लिपटे हुए हैं ? इसका मूल कारण यही है कि हमें उनके मूलस्वरूप और अद्भुत रूप-माधुरीका ज्ञान नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
> प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई।

'जाने बिना प्रतीति नहीं, प्रतीतिके बिना प्रीति नहीं और प्रीतिके बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती। तब आइये, हम उन भगवान्‌को जाननेका प्रयत्न करें, जिससे उनमें विश्वास हो, विश्वाससे प्रेम हो और प्रेमसे दृढ़ भक्तिका प्रादुर्भाव हो, जो हमारे जीवनका अन्तिम लक्ष्य और शाश्वत ध्येय है।

भगवान्‌को जाननेके पहले हमें अपने स्वरूपका ज्ञान करना पड़ेगा; क्योंकि भगवान्‌को जाननेवाला कौन है ? जिसे अपने स्वरूपका विपरीत ज्ञान है, वह भगवान्‌को कैसे जान सकता है। और अपने स्वरूपका सम्यग्-ज्ञान भी अत्यन्त कठिन है। क्योंकि—

> आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
> माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
> आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
> श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
> (गीता २।२९)

अपने आत्मस्वरूपको गुरुके वचनोंसे सुनकर भी कोई नहीं जानता—ऐसा भगवान् कहते हैं। फिर भगवान्‌को जानना तो और भी कठिन है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

मां तु वेद न कश्चन।

'मुझे तो कोई नहीं जानता।' ऐसी हालतमें भक्ति-तत्त्वका और उसमें भी श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्वका, जो समस्त आकर्षणोंका केन्द्र-बिन्दु है, वर्णन कैसे हो ?

बात यह है कि भक्ति-तत्त्व 'वर्णनका विषय नहीं है'—यही उसका वर्णन है। 'वह ज्ञानका विषय नहीं'—यही उसका ज्ञान है; वह तो श्रद्धा, विश्वास, रुचि और प्रेमका विषय है। बुद्धिका काम है वस्तुका विभक्तीकरण और हृदयका काम है भक्तीकरण। बुद्धिका काम है अलग-अलग करके जानना और भक्तिका काम है लगकर मानना या गुरु-वचनोंको मानकर लगना।

भक्ति-तत्त्व स्वीकारपर चलता है और बुद्धि-तत्त्व अस्वीकारपर। जबतक हम किसीको अपना नहीं बनाते—

स्वीकरण या वरण नहीं करते, तबतक भक्ति कैसे होगी ? आस्तिकताका अर्थ ही यह है कि मान लें कि 'है' और फिर उसमें लग जायँ तो उसकी प्राप्ति हो जायगी। भक्ति-तत्त्वमें मानकर जाना जाता है और बुद्धि-तत्त्वमें जानकर माना जाता है।

भारतीय संस्कृतिमें वधूका स्वभाव वरको जानकर मानना नहीं है। माता-पिताके द्वारा सुनकर उसे मानकर बादमें जाना जाता है, फिर पाकर भक्ति की जाती है। अन्य स्थानोंपर इस विषयमें विकृति पायी जाती है—उसे संस्कृति कहते लज्जा आती है। माता-पितापर विश्वास नहीं, पहले जानकर फिर वर मानते हैं और इसीलिये तलाककी बारी आती है; क्योंकि उनके जाननेमें विज्ञान तो होता है, पर सम्यग्ज्ञान न होनेसे उसे अज्ञान ही कहना चाहिये। विविधताओंका ज्ञान विज्ञान है, समत्वका ज्ञान सम्यग्-ज्ञान है; उन विविधताओंमें समत्वका ज्ञान नहीं है तो वह अज्ञान ही है। भगवान् कहते हैं—समोऽहं सर्वभूतेषु 'मैं सब भूतोंमें सम हूँ।'

तात्पर्य यह है कि हमें भक्ति [illegible] है [illegible] आस्तिकताके आधारपर [illegible] मान लो कि श्रीकृष्ण परम सुन्दर हैं। [illegible] किये हैं, शास्त्र भी हमारे कल्याणके लिये ही [illegible] हैं। अत. लग जाओ—

'[illegible]'

निश्चय ही—

'असंशयं समग्रं मां यथा [illegible]।'

और फिर—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

'मुझे तत्त्वत. जानकर मेरे धाममें प्रवेश पा लेगा।' [illegible] नित्य-दिव्य-लीलामयी भक्ति मिलेगी, [illegible] भोक्ता भगवान् हैं—

'भर्ता भोक्ता महेश्वर '

हम नित्य सेवक (भोग्य) और भगवान् नित्य भोक्ता (सेव्य)। आनन्द-ही-आनन्द !

पत्थरकी मूर्ति और भगवान्

(लेखक—श्रीकिरणदत्तजी माथुर, बी० ए०, साहित्य विशारद)

जब देव-मन्दिरोंकी शङ्ख-ध्वनि अपनी सुमधुरतासे चित्तको शान्ति प्रदान करती थी, वह अपने कानोंमें उँगलियाँ डाल लेता था। भगवद्विग्रहके सम्मुख ध्यानावस्थित भक्तोंको ढोंगी और मूर्ख कहा करता था वह। नास्तिक नहीं था वह, ईश्वरपर उसे विश्वास था; पर भगवद्विग्रहकी सेवा-अर्चना करनेवालोंका वह कट्टर विरोधी था। उसे वह कहा करता था कि कहीं एक पत्थरकी मूरतके आगे हँसने, गिड़गिड़ाने और रोने-धोनेसे कुछ होता-जाता है। बीसवीं सदीके इस नवयुवक रुद्रदत्तके लिये यह बात कोई अद्भुत नहीं, स्वाभाविक ही थी। जिस वातावरणमें वह पला था, वह बुद्धिवादी था, श्रद्धायुक्त नहीं। तर्कको ही ज्ञानकी वास्तविक कसौटी समझना इस वातावरणकी विशेषता है। परंतु यदि कोई उसे समझानेका प्रयत्न करता तो वह कुतर्क करने लगता और बड़े-बड़े महात्माओंका, जो बीहड़ वनोंमें रहकर केवल ईश्वर-चिन्तन करते हैं और किसी पत्थरकी मूरतसे कोई सरोकार नहीं रखते, उदाहरण देकर अपने पक्षका समर्थन किया करता था।

× × ×

'रुद्र भैया! रुद्र भैया!' पुकारा किसीने।

प्रभातका समय था। भगवान् मरीचिमाली [illegible] किरणोंसे जगत्के जीवनको अनुरञ्जित कर रहे थे। [illegible] सुरीली और मीठी तानोंमें जीवनका [illegible] रहा था। ऐसे समयमें एक युवकने '[illegible]' के [illegible] कपाटको खटखटाया। उसने झटपट द्वार खोला तो [illegible] सम्मुख 'हरिदास' को खड़े पाया।

'हरिदास' भी रुद्रका अभिन्नहृदय मित्र था; [illegible] भी आता है, कोई-न-कोई नया संदेश [illegible] है—रुद्र जानता था इसे। इससे पूर्व कि रुद्र कोई [illegible] बोले— 'एक अवधूत आये हैं, गङ्गा मैयाके [illegible] हैं उन्होंने। चलोगे दर्शनको ? सुना है [illegible] श्रद्धा और तर्क तो [illegible] नहीं [illegible]—[illegible] सोचने लग गया हरिदास। [illegible] छोड़नेवाला था। [illegible] हरिदासको चिढ़ाने लगेगी। [illegible] हरि[illegible] जो भगवद्विग्रहके सम्मुख [illegible] था, पर उसकी [illegible] ही थी। [illegible]—

[illegible]

[illegible]

—उनके [illegible]।

× × ×

अवधूतजीने अपना डेरा बड़े सुन्दर स्थानपर लगाया था। चारों ओर सुन्दर और सघन वृक्षोंकी दीवार-सी चली गयी थी। भगवती भागीरथीका कल-कल नाद वहाँसे स्पष्ट सुनायी पड़ रहा था। रुद्रकी इच्छा थी अवधूतजीसे एकान्तमें मिलनेकी; परंतु दर्शकोंकी भीड़ इतनी अधिक थी कि उस समय बात करना तो दूर रहा, दर्शन करना ही बड़ा कठिन था। अतः दोनों मित्रोंको दूर ही एक वृक्षके पास टिकना पड़ा। दोनों अपने-अपने विचारोंमें लीन थे। कोई परस्पर बातचीत नहीं कर रहा था। दोनों मौन साधे खड़े थे।

रुद्र सोच रहा था—'हरि कितना भोला है। व्यर्थके प्रपञ्चमें कितना शीघ्र फँस जाता है यह। कहता है—'गुरुने मुझे एक भगवान्की मूरत दी है और कहा है इसकी प्रेम-भावसे पूजा किया कर, भगवान् तुझपर रीझ पड़ेंगे।' निरा मूर्ख कहींका। भला, पत्थर-वत्थरकी पूजा करनेसे भी कोई दर्शन होता है? क्या जगत्-नियन्ताने इसी हेतु मानवको बुद्धि दी है कि इसका बिना प्रयोग किये—बिना तर्ककी कसौटीपर कसे, वह जो सुने उसे मानता चला जाय? वह सोच रहा था कि आज हरिदासकी आँखें खुल जायँगी।

इधर हरिदास भी विचारशून्य नहीं था। उसे अपने मित्रके विचारोंपर क्रोध नहीं, दया आती थी। उस श्रद्धामय युवकका मुखमण्डल एक शान्त-स्निग्धभावसे जगमगा रहा था। अपने गुरु-वचनोंमें पूर्ण आस्था है उसे, ऐसा लक्षित होता था उसकी सूरतसे।

लगभग एक घड़ीतक उन्हें उसी वृक्षके तले बैठे रहना पड़ा, तब कहीं अवधूतपादके दर्शन उन्हें हो सके। अवधूतपाद वास्तवमें बड़े प्रतिभाशाली थे। उनका गौर वर्ण और उन्नत ललाट एक अलौकिक तेजसे प्रकाशित था। आँखोंमें एक शान्ति-सी विराजमान थी। उन्होंने सकेतसे इन दोनोंको बैठनेके लिये कहा। दोनों मित्र धीरे-से बैठ गये।

'तो जिज्ञासा है तुम्हारे हृदयमें?' अवधूतपादने प्रश्न किया। भला, आजके नवयुवक जिज्ञासाके अतिरिक्त और क्या करने आयेंगे—जानते थे अवधूतपाद।

'हाँ स्वामीजी! जिज्ञासा है और हम दोनों मित्रोंमें विवाद भी'—रुद्रने जरा आश्वस्त होकर कहा।

'तो कह डालो अपना असमंजस। निवारण करनेका प्रयत्न करूँगा।'

'स्वामीजी! हरि कहता है कि मूर्तिपूजासे साक्षात् ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है; क्या यह सच है? मेरी समझमें तो यह भ्रममें है। भला, कहीं उस अव्यक्त-अलौकिक परमात्माकी मूरत गढ़कर पूजनेसे वह प्राप्त हो सकता है।'

'तो फिर तुम्हारे विचारसे कैसे उसकी प्राप्ति हो सकती है?'

'ध्यानसे—चिन्तनसे।'

'बहुत ठीक! तुम समझते तो दोनों ही ठीक हो। पर क्या तुम बतलाओगे कि उस अव्यक्त-अलौकिक परमात्माका ध्यान कैसे करोगे?'

'अपने चित्तको एकाग्र करके'—रुद्रने कहा।

'चित्त काहेमें एकाग्र करोगे?'

'शून्यमें।'

'क्या शून्य ही परमात्माका स्वरूप है?'

'शून्य तो नहीं है, परंतु अव्यक्त-परमात्माका ध्यान उसीमें करनेसे उसकी प्राप्ति होगी।'

'बस, यहीं भ्रममें हो, भैया'—साधुने दयार्द्र होकर कहा।

तुम्हारी ये मायालिप्त आँखें भला, शून्यमें ठहर सकेंगी—और केवल शून्यमें, जो वास्तवमें परमात्माका स्वरूप भी नहीं है? अपने चित्तको एकाग्र करना शून्यका चिन्तन करना नहीं, अपनी चञ्चल इन्द्रियोंको मायाजनित वस्तुओंसे हटानेका अभ्यास करना है और इस अभ्यासकी पूर्णावस्थाका अर्थ यह भी नहीं है कि भगवत्प्राप्ति हो गयी। ऐसा अभ्यास करनेसे तो हृदय शुद्ध होता है, जिससे शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माका आविर्भाव हो सके। इससे तो तुम्हारे विपक्षीका विश्वास अधिक ठीक है।'

'पत्थर-पूजा करनेसे ईश्वर मिले यह तो और भी बेढब बात है, स्वामीजी! मेरा मन तो इसे माननेको तैयार नहीं।' प्रतिवाद किया रुद्रने।

'यह तो विश्वास करनेकी बात है, भैया! विश्वास करके देखो, इसका फल तुम्हें प्रकट दिखायी देगा।'

'जो वस्तु बुद्धि और तर्कसंगत न हो, उसे मेरा मन माननेको तैयार नहीं, स्वामीजी!'

'तो तुम्हें तर्क ही चाहिये?'—अवधूतपादने कहा।

'हाँ, स्वामीजी!'—जरा सकुचित होते हुए कहा रुद्रने।

मेरुतन्त्रके अनुसार पुरुषसूक्तकी १६ ऋचाओंसे उपर्युक्त १६ उपचारोंद्वारा श्रीविष्णुभगवान्‌के पूजनका विधान है।

अप्रचलित एवं गौण उपचारोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

प्रचलित पूजोपचार केवल ५ और १६ हैं; किंतु तन्त्रोंमें १२, १८, ३८, ६४ और १०८ उपचारोंका भी उल्लेख है। साधकको चाहिये कि वह उदार हृदय एवं मुक्तहस्तसे अपने इष्टदेवकी आराधना करे। समन्त्रक एवं विधिपूर्वक अर्चनमें ही साधकको अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है।

सत्यम् ! शिवम् !! सुन्दरम् !!!

महर्षि शाण्डिल्य और भक्तितन्त्र

(लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

भक्ति-महिमा

ऋषियोंने महर्षि शाण्डिल्यसे पूछा—'भगवन् ! किसी देश या कालकी अपेक्षा न रखनेवाला, अर्थात् सब जगह और सब समयमें काम देनेवाला ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है ?' महर्षि शाण्डिल्यने उत्तर दिया—

क्षेममात्यन्तिकं विप्रा हरेर्भजनमेव हि ।
देशकालानपेक्षात्र साधनाभावमप्युत ॥
(शा० स० १ । ९)

'हे विप्रो ! मनुष्य-जीवनमें सबसे बढ़कर कल्याणकारक भगवद्भजन है । किसी देश या कालकी इसमें अपेक्षा नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने पड़ते हैं ।'

हरिर्देहभृतामात्मा सिद्धः कण्ठमणेरिव ।
कः प्रयासो भवेत् तस्य प्रीणने करुणानिधेः ॥
(शा० स० १ । १०)

'श्रीहरि देहधारी जीवोंके आत्मा ही है और कण्ठमें स्थित मणिके समान सदा प्राप्त हैं । उन करुणानिधि प्रभुको प्रसन्न करनेमें विशेष प्रयास भी नहीं करना पड़ता ।'

धर्मार्थकाममोक्षार्थै रेष एवाभिसाध्यते ।
यथैव सरितः सर्वाः पर्यासन्नाः सरित्पतिम् ॥
(शा० स० १ । ११)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल प्रभुकी आराधनासे ही हो जाती है । जिस प्रकार सारी नदियाँ समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार चारों पुरुषार्थोंका पर्यवसान श्रीहरिकी आराधनामें ही होता है ।'

क्रियमाणेऽपि यत्रास्ति परमानन्दसम्भृतिः ।
को न सेवेत तं धर्मं मतिमान् भक्तिलक्षणम् ॥
(शा० सं० १ । १७)

'जिसका साधन करते समय भी परमानन्दकी प्राप्ति होती रहती है, उस भक्तिरूप धर्मका सेवन कौन बुद्धिमान् पुरुष नहीं करेगा ?'

भक्तिः श्रीकृष्णदेवस्य सर्वार्थानामनुत्तमा ।
एषा वै चेतसः शुद्धिर्यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥
(शा० स० १ । १९)

'भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति धर्म, [illegible] पुरुषार्थोंसे भी बढ़कर है । इससे [illegible] शुद्ध हो [illegible] है और अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर [illegible] है, वह निर्भय हो जाता है ।'

येन केन प्रकारेण कृष्णस्य भजनं [illegible] ।
तेन सम्मुच्यते जीवो यदानन्दमयो [illegible] ॥
([illegible])

'नाम-स्मरण, मन्त्रजप, पूजा, ध्यान, स्तोत्र पाठ [illegible] जिस किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णका भजन [illegible] है । इससे जीव संसार-बन्धनसे मुक्त हो [illegible] श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं । तब भक्त, प्रभुका [illegible] हो जानेपर जीवको भव-व्याधि [illegible] ।'

आचार (सनातन)

ये यत्र देशे भूदेवा यो धर्मः [illegible] ।
ते तथैवानुसर्तव्या इत्याह भगवान् [illegible] ॥
([illegible])

'भगवान् [illegible] आज्ञा है कि [illegible] देवता हों, जो ब्राह्मण हों, जो [illegible] धर्म हो, [illegible] उनको तदनुसार ही बर्तना चाहिये ।'

तीर्थे देवे तथा क्षेत्रे काले [illegible] ।
या यथा वर्तते रीतिस्तां [illegible] ॥
([illegible])

'तीर्थस्थानमें, देवताके [illegible] देशविशेषमें तथा [illegible] उसी प्रकार पालन करना चाहिये ।'

तत्र पूजाप्रवाहोऽपि [illegible] ।
तत्तथैवानुसर्तव्यो [illegible] ॥
([illegible])

'यहाँ पूजा-पद्धति भी [illegible] चली आ रही हो, [illegible] चाहिये । जो उस पद्धतिको [illegible] हो जाता है ।'

अर्चनं मन्त्रपठने [illegible] ।
[illegible] संकीर्तनं सेवा [illegible] ॥

तदीयाराधनं चर्या नवधा द्विजसत्तम ।
जन्मना विद्ययाप्यपि तपसा हरिसेवया ॥
सत्सङ्गेन नृणां शुद्धिः पञ्चधा परिकीर्तिता ।
नवधा भक्तियोगेन तस्यैवोद्धरणं स्मृतम् ॥
(शा० स० ३ । २०—२२)

'श्रीकृष्णकी अर्चा, मन्त्र-जप, स्तुति, हवन, ध्यान, नाम-कीर्तन, सेवा, शङ्ख-चक्रादि उनके चिह्नोंका धारण, उनकी आराधना—यह नवधा भक्ति है। मनुष्योंकी शुद्धि पाँच प्रकारसे होती है—सत्कुलमें जन्म लेनेसे, विद्याध्ययनसे, तपस्यासे, हरि-सेवासे तथा सत्सङ्गसे; और नवधा भक्तिका योग होनेसे उनका उद्धार हो जाता है।'

भक्तियोगकी शिक्षा स्वयं श्रीविष्णुभगवान्‌ने ब्रह्माजीको सृष्टिके आदिमें दी तथा तारक महामन्त्रका जप करनेका आदेश दिया।

भक्ति-विकास—उद्भव और प्रसार

तारकं मे महामन्त्रं जप त्वं येन वाञ्छिता ।
भक्तिः सृष्टिश्च भो ब्रह्मन् समृद्धा सम्भविष्यति ॥
(शा० स० ४ । २९)

'हे ब्रह्मन्! तुम मेरे तारक महामन्त्र (राम-नाम) का जाप करो, जिससे मनोवाञ्छित भक्ति प्राप्त होगी तथा समृद्ध (प्रचुर) सृष्टि उत्पन्न होगी।' इससे ज्ञात होता है कि भक्तिका उद्भव पहले-पहल ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें सृष्टिरचनासे पूर्व ही हुआ था। उसके बाद—

उपासितो वसिष्ठेन कदाचित् प्रपितामहः ।
प्रायः प्राह महायोगं भक्तियोगं यथायथम् ॥
वसिष्ठोऽपि कृपाविष्टः शक्तये भक्तितो जगौ ।
पराशराय तन्मन्त्रं कुरुक्षेत्रे जगौ स च ॥
पराशरो जजापैनं भक्त्याऽऽचारेण सादरम् ।
जातोऽसौ परमाचार्यो मुकुन्दे भक्तिमान् मुनिः ॥
मुकुन्दभजनात् तस्य पुत्रो व्यासो महामुनिः ।
यतो धर्मो यतो ज्ञानं यतो भक्तिः प्रवर्तते ॥
(शा० सं० ४ । ३४—३७)

'वसिष्ठजीने ब्रह्माजीकी उपासना करके भक्तिरूपी महा-योगको यथार्थरूपमें प्राप्त किया और वसिष्ठजीने कृपापूर्वक अपने भक्तिमान् पुत्र शक्ति ऋषिको भगवद्भक्तिका उपदेश किया। उन्होंने वह मन्त्र कुरुक्षेत्रमें अपने पुत्र पराशर मुनिको प्रदान किया। पराशर मुनिने आचारपूर्वक आदरभावसे तथा भक्तियुक्त होकर उस मन्त्रका जप किया, जिसके फलस्वरूप वे श्रीभगवान्‌के भक्त एवं भक्तिके परम आचार्य हुए। मुकुन्दके भजनके प्रतापसे उन्हें महामुनि व्यास-जैसा पुत्र प्राप्त हुआ, जिसने संसारमें धर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रवर्त्तन किया।' तत्पश्चात्—

पाराशर्यात् प्रवृत्ताभूद् भक्तेः सरणिरुत्तमा ।
ज्ञानवैराग्यसम्पूर्णा वेदवेदान्तसम्मता ॥
जग्राह तां समाराध्य मधुनामा प्रभञ्जनः ।
मधुविद्येति सा प्रोक्ता दधीचिर्यामुवाच ह ॥
सा विद्या परमा लोके बहुधास्ति प्रभञ्जनात् ।
यस्यां मन्त्रविभागोऽपि देशिकानां पृथक् पृथक् ॥
कर्णाटके द्राविडे च आन्ध्रे सौराष्ट्र उत्कले ।
शूरसेने माथुरेऽपि प्राधान्याद्व्यापृता तु सा ॥
(शा० स० ४ । ३८—४१)

'व्यासजीने ज्ञान-वैराग्यसे परिपूर्ण और वेद-वेदान्तसम्मत भक्तिके श्रेष्ठ मार्गका प्रवर्त्तन किया। व्यासजीकी सम्यक्‌रूपसे आराधना करके उस भक्तिको मधुनामक प्रभञ्जनने प्राप्त किया, इसलिये उसको मधुविद्या भी कहते हैं, जिसे दधीचिने प्रकट किया था। वह परम श्रेष्ठ विद्या प्रभञ्जनसे संसारमें विविध प्रकारसे प्रचलित हुई। आचार्योंने उसके पृथक्-पृथक् मन्त्र-विभाग किये और प्रधानतः उसका कर्णाटक, द्रविड़, आन्ध्र, सौराष्ट्र, उत्कल, शूरसेन और मथुरा आदि देशोंमें प्रचार हुआ।'

ब्रह्माद्या भगवद्भक्ता जीवा दासा निसर्गतः ।
उपकुर्वन्ति मुक्त्यर्थमाश्रयान्मुरवैरिणः ॥
(शा० स० ४ । ४४)

'ब्रह्मा आदि सारे जीव निसर्गतः भगवान्‌के भक्त और सेवक हैं; वे श्रीकृष्णके शरणापन्न होकर संसार-बन्धनसे मुक्त करनेके लिये लोगोंकी सहायता करते हैं।'

प्राचीन कालमें श्वेतद्वीपमें क्षीरशायी श्रीविष्णुभगवान्‌की ब्रह्मा आदि देवताओं तथा सारे तपस्वी मुनियोंने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक सम्यक् आराधना करके चारों वेदों, सारे उपनिषदों तथा योग-सांख्य आदि सारे शास्त्रोंके सारभूत, श्रीहरिके परम रहस्यस्वरूप पञ्चरात्र-शास्त्रको प्राप्त किया था। उसी शास्त्र-को पुनः विष्णुभगवान्‌की आराधना करके नारदजीने प्राप्त किया, जिसके कारण वह लोकमें नारद-पञ्चरात्र शास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है। जैसे—

अधुना तु महाभागो नारदो देवसम्मतः ।
आराध्य तं महाविष्णुं लेभे शास्त्रं पुनश्च तत् ॥
(शा० सं० ४ । ५९)

पञ्चरात्र

पञ्चरात्ररहस्याख्यं यन्मे योगं सुदुर्लभम् ।
प्राप्यैते नारदाद् देवि मामिष्ट्वा मामुपागताः ॥
मत्परा नान्यशरणा जपन्तो मे महामनुम् ।
समायाताः पदं मेऽद्य उपकृत्य परानपि ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना वेदवेदान्ततत्पराः ।
जितेन्द्रिया जितात्मानः सांख्ययोगेन संगताः ॥
सांख्यं योगस्तथा शैवं वेदारण्ये च पञ्चकम् ।
प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ॥
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र स्वयमाप्यते ।
परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मनः ॥
प्रमाणपञ्चकैः पूर्णं पञ्चकार्थोपदेशनम् ।
प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम् ॥
(शा० स० ४ । ७२—७७)

अर्थात् हे देवि ! पञ्चरात्र नामक जो रहस्यात्मक मेरा दुर्लभ योग है, उसे नारदसे प्राप्त करके मेरी पूजा करके मुझको प्राप्त, मेरे परायण, एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए मेरे महामन्त्रका जप करके मेरे पदको प्राप्त हुए हैं तथा दूसरोंका उपकार करके ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, वेद-वेदान्तमें तत्पर, जितेन्द्रिय, मनोजयी और सांख्ययोगसे युक्त हुए हैं। हे प्रिये ! साख्य, योग, शैवसिद्धान्त, वेद और आरण्यक—ये पाँच रात्रि कहलाते हैं; क्योंकि ये आत्मानन्द प्रदान करनेवाले हैं। इन पाँचोंका ईप्सित अर्थ जहाँ स्वयं प्राप्त होता है, उससे परमात्माके परमानन्दकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और ऐतिह्य—इन पाँचों प्रमाणोंसे पूर्ण, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति—इन पाँचों पुरुषार्थोंका उपदेश करनेवाला, प्रपञ्चातीत सद्धर्म (भागवत-धर्म) का प्रकाशक पञ्चरात्र कहलाता है।

त्रिपुरारि-सम्प्रदाय

एक बार शंकरजी गोकुलमण्डलमें गये। वहाँ उन्होंने अति रमणीक वृन्दावनके सच्चिदानन्दमय मन्दिरमें कोटि-कोटि काम-देवोंको लज्जित करनेवाले त्रिभङ्गललित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र-को देखा। वे व्रजाङ्गनाओंसे परिवेष्टित, आनन्दमुद्रासे श्रुतियों और मुनियोंके द्वारा सेवित, अनुपम रूप-लावण्यसे युक्त, वंशी अधरोंपर धारण किये सुशोभित हो रहे थे। प्रणाम करके शंकरजी-ने जगत्का उद्धार करनेवाले सम्प्रदायकी प्राप्तिके लिये श्रीकृष्ण-को साम-गानके द्वारा प्रसन्न किया। भगवान्ने प्रसन्न होकर जिस मार्गका उपदेश किया, वही [illegible] के नामसे विख्यात है। इसका उल्लेख [illegible] भक्तिसंहिताके पाँचवें [illegible] किया है। [illegible] नारदजी दीक्षित हुए और उन्होंने [illegible] दीक्षित किया। [illegible] उन्होंने कौण्डिन्य और गर्गमुनिको दीक्षित किया।

इस सम्प्रदायमें देवता, असुर, [illegible] समस्त जीवोंका अधिकार है; परंतु [illegible] भेदसे भक्ति तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, [illegible] तामसी।

सात्त्विकी भक्ति

वर्णाश्रमधर्मेण [illegible] ।
वैराग्येण गुरोर्लब्धा भक्तिः सा सात्त्विकी [illegible] ॥
विशुद्धचेतसः पुंसो [illegible] ।
चेतस्यानुस्मृतिर्नित्या [illegible] ।
सर्वत्र भगवद्भाव [illegible] ।
सात्त्विकाचरणात्पुंसो भक्तं सात्त्विक [illegible] ॥
([illegible] । ६ । ७—९)

'वर्णाश्रम धर्मका पालन करते हुए, [illegible] वैराग्ययुक्त जीवनसे गुरुके द्वारा प्राप्त [illegible] सात्त्विकी भक्ति है। विशुद्ध [illegible] अनुग्रह प्राप्तकर नित्यप्रति [illegible] रहता है, वह सात्त्विकी तथा [illegible] भक्ति है। [illegible] चेतनमें भगवद्भाव रखते हुए, [illegible] दृष्टि करते हुए सात्त्विक [illegible] है, उसको सात्त्विक भक्त कहते हैं।'

शमो दमस्तथा शौचं [illegible] ।
दया दानं तथा धैर्यं [illegible] ॥
([illegible])

'सात्त्विक भक्तमें मन तथा इन्द्रियोंका निग्रह, [illegible] लिये यह करनेकी प्रवृत्ति, [illegible] स्वल्पविषयि, दया, [illegible] स्वभावतः होते हैं।'

राजसी भक्ति

[illegible] ।
[illegible] ॥

देशजातिकुलानां च अभिमानेन संवृताः ।
स्वधर्मेण हरेरर्चां कुर्वन्तो राजसा मताः ॥
(शा० सं० ६ । १०-११)

'जो बुद्धिमान् पुरुष यज्ञों और दानादि पुण्यकर्मोंको करते हैं, अपने वर्णाश्रमोचित धर्ममें भगवान्‌को भजते हैं, वे विच्छिन्न (बिखरी हुई) वृत्तिवाले भक्त राजस भक्त कहलाते हैं। साराश, जो देश, जाति तथा कुलका अभिमान रखते हुए स्वधर्मद्वारा भगवान्‌की अर्चा करते हैं, वे राजस भक्त हैं ।'

दया दानं तपः शौचं स्वाहंकारः क्षमान्वितः ।
उत्साह उद्यमादीनि राजसानां स्वभावतः ॥
(शा० सं० ६ । १५)

'राजस भक्तोंमें दया, दान, तप, शौच, आत्माहंकार, क्षमा, उत्साह, उद्यम आदि गुण स्वभावतः होते हैं ।'

तामसी भक्ति

मूढारमानोऽतिविक्षिप्तचेतसो दृढनिश्चयात् ।
यथोपदेशं कुर्वाणा भजनं तामसास्तु ते ॥
संरम्भेण निजार्थेन अविविक्ताग्रहेण वा ।
शास्त्रैकदेशमाश्रित्य भजनं तामसं मतम् ॥
(शा० सं० ६ । १२-१३)

'जो मूढ एवं अति विक्षिप्तचित्त पुरुष दृढनिश्चय करके उपदेशानुसार भजन करता है, वह तामस कहलाता है। इसी प्रकार विवेकशून्य होकर अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये जोशमें आकर या आग्रहपूर्वक शास्त्रके एक अङ्गविशेषका आश्रय लेकर जो भजन किया जाता है, वह तामस भजन है ।'

मौढ्यमाग्रहवादत्वादादार्ढ्यं कार्येष्वनुद्यमः ।
मोहो द्रोहो वृथैवेहा तामसानां स्वभावतः ॥

'तामस भक्तोंमें मूढता, हठ, दृढताका अभाव, अपने कार्योंमें उद्यमका अभाव, मोह, द्रोह और व्यर्थकी कामनाएँ स्वभावतः होती हैं ।'

गुरुलक्षण

वेदवेदान्तसच्छास्त्रैर्विज्ञाय भगवद्गतिम् ।
स्थित्वा निजाश्रमाचारे सात्त्विके कर्मणि स्थितः ॥
निवृत्तिमार्गनिरतः सर्वेषामुपकारकृत् ।
सरलोऽनलसो दक्षो मैत्रः कारुणिकोऽशठः ॥
शान्तो दान्तः शुचिर्धीरो महतां पादसेवकः ।
भगवद्भक्तसङ्गेन जातश्रद्धो दृढोऽच्युते ॥
कुलीनं भगवद्भक्तं वेदवेदान्ततत्परम् ।
श्रीभागवतशास्त्रज्ञं शान्तं दान्तं सदा शुचिम् ॥
जितचित्तेन्द्रियं दिव्यं सर्वदोषविवर्जितम् ।
परम्पराप्राप्तविद्यमेवम्भूतं गुरुं भजेत् ॥
(शा० सं० ६ । ६६—७०)

'जो वेद-वेदान्त आदि सत्-शास्त्रोंके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपको जानकर अपने आश्रमके आचारका पालन करता हुआ सात्त्विक कर्मोंमें स्थित है, जो निवृत्तिमार्गपर चलता हुआ भी सबका उपकार करता है, जो सरल, आलस्यरहित, दक्ष, मित्रभावसे युक्त, करुणाशाली, शठतासे हीन, मन और इन्द्रियोंका दमन करनेवाला, शुचि, धीर, महात्माओंका चरणसेवी, भगवद्भक्तके सङ्गसे श्रीकृष्णमें दृढ श्रद्धावान् है, ऐसे कुलीन, भगवद्भक्त, वेद-वेदान्तके अध्ययनमें तत्पर, श्रीभागवतशास्त्रके ज्ञाता, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, शान्त, सब दोषोंसे रहित, दान्त, सदा बाहर-भीतर पवित्र रहनेवाले तथा परम्परासे मन्त्रप्राप्त किये हुए दिव्य गुणवाले पुरुषको गुरु बनाये ।'

सगुण और निर्गुण भक्ति

यावद् भेदाभिमानो हि कार्यबुद्धिश्च सेवने ।
तावत्तु सगुणा भक्तिः कर्तृणां विद्धि तत्त्वतः ॥
यद्विधोऽस्या भवेत् कर्ता सा प्रोक्ता तद्विधा बुधैः ।
भूम्याः सम्पर्कतो वारि मधुरं विरसं यथा ॥
(शा० सं० ६ । ७७-७८)

'जबतक भेदाभिमान है, अर्थात् मैं भगवान्‌से पृथक् हूँ—यह अभिमान मौजूद है और भगवत्सेवामें कार्यबुद्धि है, अर्थात् मैं भगवान्‌के सेवा-कार्यमें लगा हूँ—इस प्रकारकी धारणा बनी हुई है, तबतक उन भक्त साधकोंकी भक्तिको तत्त्वतः सगुण ही जानना चाहिये । सगुण भक्तिका साधक सत्त्व-रज-तम—जिस गुणकी प्रधानता रखकर साधना करता है, उसकी भक्तिको तदनुसार पण्डितलोग सात्त्विकी, राजसी और तामसी कहते हैं—ठीक उसी प्रकार, जैसे वर्षाका जल विभिन्न प्रकारकी भूमिके सम्पर्कसे मधुर, फीका आदि विभिन्न रसवाला हो जाता है ।'

यदाऽऽत्मरूपिणी सैव अहंप्रत्ययसाक्षिणी ।
संशयेन समुत्कीर्णा तदा निर्गुणतां गता ॥
विषया नावभासन्ते देहधर्मास्तथैन्द्रियाः ।
प्रक्षीणवृत्तिर्भक्तेश असौ निर्गुणतां गतः ॥
(शा० सं० ६ । ७९-८०)

'वही भक्ति जब आत्मरूपिणी हो जाती है, अहं-प्रत्ययकी साक्षिणी बनती है, निस्संशयात्मिका होती है, तब निर्गुण कहलाती है । इसमें भगवान्‌के साथ भक्तकी अनन्य वृत्ति हो जाती है । देहके धर्म तथा इन्द्रियोंके विषयोंका

जन्माङ्गसे भक्ति-विचार

(लेखक—पं० श्रीदलरामजी शास्त्री एम्० ए०, ज्यौतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

जिसको वैद्य या डाक्टर रोग कहते हैं, उसे ज्योतिषी रोग कहते हैं, उसे ही ओझा लोग भूतबाधा बतलाते हैं या भगवान्‌के भक्त उसीको पूर्वजन्मकृत भवबाधा मानते हैं। ने तो यही समझते हैं कि बिना उसकी मर्जीके पत्ता नहीं हिलता। जो कुछ भी हो, ज्योतिषी होनेके नाते तुत प्रसङ्गमें 'जन्माङ्गसे भक्ति-विचार' के रहस्यको उप- त कर रहा हूँ।

फलित ज्यौतिषमें जन्माङ्गके आधारपर जीवकी प्रत्येक अवस्थाकी दैनिक स्थिति ही नहीं, अपितु क्षण-क्षणकी गति- का विचार भलीभाँति किया गया है। मनुष्यकी जन्म- कुण्डलीके कारकांश लग्न, गुर्वधिष्ठित राशि, पञ्चम तथा नवम व एवं उनके स्वामियोंसे भक्तिका विचार किया जाता है।
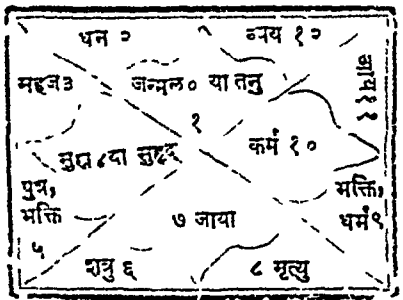
भक्तिकी जानकारीके लिये ग्रहस्थिति, ग्रहोंका बलाबल या सहयोगी ग्रहोंमें मित्र-शत्रुका विचार भी करना चाहिये। ग्रहोंकी दशा-अन्तर्दशाके अतिरिक्त दृष्टिबल आदिका भी विचार कर लेना चाहिये।

भक्ति और धर्मके विचारके लिये आचार्योंने नवम और पञ्चम—दो भावों (स्थानों) को नियत कर दिया है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये, ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार मानवकी कुण्डलीमें भक्तिके तत्त्वका विचार किया जाता है।

१. जिसका पञ्चम भाव सूर्यसे युक्त अथवा दृष्ट हो, वह भगवान् सूर्य और शंकरका भक्त होता है—सुते सूर्ययुतदृष्टे सूर्यशंकरभक्तः। (जातकतत्त्व ११। २७) ऐसा जातक यदि हिंदू-धर्मावलम्बी हुआ तो शिवका अनन्य भक्त होता है। यदि नवम भावमें मित्रके क्षेत्र (राशि) में हों तो जातक अनुष्ठानशील और धार्मिक होता है। देवताओंमें दृढ़ भक्ति रखता है। ऐसे जातकको प्रथम और दशम वर्षोंमें तीर्थ-यात्रा- का योग होता है। यदि सूर्य उच्च या स्वगेही हो तो जातक ईश्वरमें, देवताओंमें और गुरुमें दृढ़ भक्ति रखता है। इसके विपरीत यदि सूर्य नीच राशिमें स्थित होकर नवम भावमें हों तो जातक धर्ममें अभिरुचि नहीं रखता।

२. यदि जातककी जन्मकुण्डलीमें बुध, गुरु और दशमेश—ये तीनों ग्रह पूर्ण बलवान् हों तो वह यज्ञादि शुभ कृत्योंका अनुष्ठान करता है—ज्ञेज्यकर्मपाः सबला यज्ञकर्ता। वह पुराण आदिके श्रवण-मननमें अपना समय बिताता है। सत्कर्म और तीर्थाटनमें उसका समय विशेषरूपसे लगता है। ऐसा जातक देव-प्रतिमा और ब्राह्मणोंमें श्रद्धा रखता है और मन्दिर, तालाब आदि स्थानोंका निर्माता भी होता है।

३. जिस जातकके पञ्चम भावमें मङ्गल रहते अथवा उसे देखते हैं तो वह भैरव अथवा कार्तिकेयका अनन्य भक्त होता है—पुत्रे भौमसम्बन्धे स्कन्दभैरवभक्तः। ऐसे जातकपर ब्राह्मणोंकी विशेष कृपा रहती है।

४. यदि जातकके नवम भावमें बुध ग्रह हों तो जातक दृढ भक्त और भगवत्-प्रेमी होता है। यदि बुध शुभ ग्रहोंके साथ हों तो जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त सिद्ध होता है।

५. जिस जातकके कारकांश लग्नमें बुध, शनि गये हों तो उसके लिये भगवान्‌की अनन्य भक्तिकी प्राप्तिमें संदेह ही नहीं रह जाता—अंशे ज्ञार्कजौ विष्णुभक्तः। ऐसा जातक महान् धर्मात्मा, यज्ञ-अनुष्ठानका कर्ता होता है। नवम भावमें चन्द्रमा, मङ्गल एवं बृहस्पतिके सहावस्थानसे भी ऐसा ही योग बनता है—देवाराधनतत्परो नवमगैश्चन्द्रा- रवागीश्वरैः। ऐसा जातक व्रत-अनुष्ठानके आचरणमें अपना शरीर सुखा डालता है। वह तपस्वी, मनस्वी एवं परमार्थी होता है। ऐसा जातक ईश्वरका अनन्य भक्त होकर संसारका भी कल्याण करता है। उसके हाथोंसे कई मन्दिरोंका निर्माण होता है। यदि जातक हिंदूधर्मके अन्तर्गत उत्पन्न होता है तो सनातनधर्मकी रक्षामें अपना जीवन ही समर्पित कर देता है। वह ब्रह्मज्ञानी और अत्यन्त उदार चित्तका होता है।

६. शुक्र यदि जातकके नवम भावमें स्थित हों तो जातक किसी भी पदपर रहकर देवताओंकी पूजामें निरत रह- कर गुरु-भक्तिका परिचय देता है। ऐसा जातक अपनी

कमाईका अधिक-से-अधिक भाग यज्ञादि कार्यों एवं धर्मशाला, मन्दिर आदिके निर्माणमें व्यय करता है। ऐसा जातक अपने हाथसे अधिक धन पैदा करता है और सत्कार्यमें व्यय करता है। यदि शुक्र ग्रह शुभ ग्रहोंके साथ या मित्र ग्रहोंके साथ नवम भावमें स्थित हों तो जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त होता है।

७. कारकांश लग्नमें केतु और चन्द्रमा गये हों तो वह गौरी-महाकाली आदि महाशक्तियोंकी उपासना करता है, शक्ति-भक्त होता है। कारकांश लग्नमें केतु और शुक्र गये हों तो महालक्ष्मी तथा दस महाविद्याओंका भक्त होता है। पञ्चमभाव गुरुसे युक्त अथवा दृष्ट हो तो शारदा (सरस्वती) का भक्त होता है। पञ्चमभाव शुक्रसे युक्त या दृष्ट हो तो चामुण्डाकी आराधना करता है—

अंशे केतुचन्द्रौ गौरीभक्तः। अंशे शिखिशुक्रौ लक्ष्मीभक्तः। सुते गुरुसम्बन्धे शारदाभक्तः। सुते शुक्रसम्बन्धे चामुण्डाभक्तः।

(जातकतत्त्व ११ । २८–३१)

नवें भावमें बृहस्पति हों, नवांशाधिपति ९ वें हों और वह शुभग्रहसे दृष्ट हों तो जातक गुरुका भक्त होता है—

गुरौ तद्भावसंयुक्ते नवांशाधिपतौ तथा।
शुभग्रहेक्षिते वापि गुरुभक्तियुतो भवेत्॥

(जातकपारिजात १४ । ९३)

८. जातकके नवम भावमें यदि नीचका शनि अन्य पाप-ग्रहोंके साथ बैठा हो तथा पञ्चम-नवमपर किसी शुभ-ग्रहकी दृष्टि न हो तो जातक जिसधर्ममें पैदा होता है, उसका खण्डन करता है। यदि शनि उच्च राशिमें स्थित हो तो जातक स्वर्गसे आया हुआ या स्वर्ग जानेवाला होता है। यदि शनि स्वक्षेत्रगत हो तो जातक भगवान् शिवका अनन्य भक्त होता है। यदि शनि स्वक्षेत्री होकर नवमस्थ हो तो जातक 'महाशिवयाग' कराता है। ऐसा जातक उनतीसवें वर्षमें गोशाला या घाटका निर्माण कराता है।

९. यदि जातकके नवम भावमें अन्य पापग्रहोंके साथ राहु स्थित हों तो जातक भक्ति-धर्म-कर्मविहीन होता है। ऐसे जातकको ईश्वर, गुरु, पिता आदिमें विश्वास और श्रद्धा नहीं रहती।

१०. यदि जातकके नवम भावमें अकेला केतु हो, उसपर किसी शुभग्रहकी दृष्टि न हो और पञ्चममें भी कोई शुभग्रह न हो तो जातक म्लेच्छधर्मका अनुयायी होता है। ऐसा जातक हिंसामें अधिक रुचि रखता है।

११. बुध यदि जातकके पञ्चम भावमें [illegible] — उसे देखते हों तो वह सभी देवताओंका भक्त होता है — सुते ज्ञसम्बन्धे सर्वदेवभक्तः (जातक० ११ । ३६)।

१२. राहु यदि जातकके पञ्चम भावमें स्थित हो, — उसे देखते हों तो वह पर [illegible] भैरव, [illegible], प्रेतादानी आदिकी भक्ति करता है—परपीड[illegible] प्रेताद्यान्याः स सेवकः। ([illegible] १ । ५१)

यदि पञ्चम और नवम दोनों भावोंके अधिपतियोंका परस्पर सम्बन्ध दृढ हो तो वह जातक निश्चय ही [illegible] साधक और अनन्य भक्त होता है।

प्रव्रज्या (संन्यास)-विचार

१. दशम स्थान कर्मस्थान माना जाता है। इस स्थानसे जातकके प्रव्रज्या या वैराग्यका विचार किया जाता है। यदि पञ्चमेश, नवमेश, दशमेशका सम्बन्ध दृढ हो तो जातक महान् भक्त और विरक्त होता है। यदि पञ्चम स्थानमें पुरुषग्रह बैठा हो या उसपर पुरुषग्रहकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक पुरुष-देवकी भक्ति करता है। भक्ति या उपासनाके विचारमें शनिका पञ्चम और नवम भावसे सम्बन्ध यदि दृढ हो तो जातक परिव्राजक होकर भी धर्मशास्त्रोंका [illegible] खण्डन करता है। किसी आचार्यने ऐसा लिखा है—

नवमस्थाने सौरो यदि स्थितः सर्वदर्शनविदुरः।
नरनाथयोगजातो नृपोऽपि दीक्षान्वितो भवति॥

(बृहज्जा० १५ । १५ की भट्टोत्पली टीकामें [illegible])

'शनिके नवमस्थ होनेपर जातक सभी दर्शनोंका विदुर होकर एक विशेष मत स्थापित करता है। यदि वह जातक [illegible] भी हो तो राज्य त्यागकर संन्यासकी दीक्षा ग्रहण करता है।' ब्रह्मलीन श्रीरामकृष्ण परमहंसजीकी जन्म-कुण्डली देखनेसे यह अवगत होता है कि पञ्चमेश बुध शनिके क्षेत्रमें [illegible] है। लग्नेश शनि बुधके क्षेत्रमें [illegible] है। [illegible] दृष्टि पञ्चम स्थानमें है। पञ्चमेश, दशमेश पञ्चम और दशम स्थानोंसे पूर्ण सम्बद्ध हैं। इन्हीं कारणों तथा शनिके [illegible] श्रीरामकृष्णजी इतने श्रेष्ठ साधक हुए।

२. यदि जन्मके समय [illegible] एक ही स्थानमें स्थित हों तो [illegible] है। उत्तम ग्रहोंके योगसे वह जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त [illegible] है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि [illegible] अधिक ग्रहोंके योगमात्रसे अनन्य भक्ति [illegible] नहीं होता।

इसके अतिरिक्त ग्रहोंका बल भी आवश्यक है। उत्तम संन्यासयोगके निर्णयमें निम्नलिखित निर्देशोंपर विचार करना चाहिये।

(क) चार या चारसे अधिक ग्रहोंका एक स्थान (भाव) पर एकत्रित होना।

(ख) उन ग्रहोंमें कोई भी एक दशमाधिपति हो, कोई लग्नेश हो या कोई नवमेश हो।

(ग) बली ग्रह अस्त न हो।

(घ) कोई भी ग्रह बली अवश्य हो।

(ङ) आपसी युद्ध (ग्रहयुद्ध) मे कोई भी ग्रह पराजित न हुआ हो।

यदि मङ्गल ग्रह बली हो तो उस त्यागीका वस्त्र लाल होता है। अर्थात् वह संन्यासी होता है। यदि सूर्य बली हो तो जातक पर्वत या नदीके तीरपर रहकर सूर्य, गणेश या शक्तिकी उपासना करता है।

सूर्याराधनतत्परा गणपतेर्भक्ता उपायाश्च ये।
कौमारव्रतमिरतानामधिपतिस्तेषां सदा भास्करः॥
(सारावली २०।३०)

किसीका यह भी मत है कि ऐसा जातक परमात्माकी भक्तिमें ही लीन रहता है।

यदि चन्द्रमा बली हो तो ऐसा जातक शिवका सिद्ध भक्त होता है। यदि मङ्गल बली हो तो जातक बौद्धधर्मका अनुयायी होता है, किंतु जितेन्द्रिय होकर अपना संन्यस्त जीवन व्यतीत करता है। बुधके बली होनेपर जातक किसीके मतसे विष्णुभगवान्का भक्त होता है, किसीके मतसे तान्त्रिक संन्यासी होता है। बृहस्पतिके बली होनेपर जातक शिव एवं विद्वान् भक्त होकर यज्ञादि अनुष्ठानका कर्ता होता है। शुक्रके बली होनेपर जातक भगवान् विष्णुका अनन्य भक्त होकर अनन्त एवं अपूर्व ऐश्वर्यका भोग करता है। शनिके बली होनेपर जातक दिगम्बर रहकर पाखण्ड-व्रतका आचरण करनेवाला होता है।

विरक्ति-योग

मानव जीवनमें विरक्तिका होना सबसे सुखद और मङ्गलदायक योग होता है। मानव चाहे किसी भी जातिका हो, किसी भी धर्मको माननेवाला हो, किसी भी अवस्थामें हो, यदि उनमें सचमुच विरक्तिकी भावना उत्पन्न हो गयी तो उसका कल्याण निश्चित है। आसक्तिके मार्गमें तो वह दर-दरकी खाक छानता नजर आता है।

फलित ज्योतिषके आचार्योंने विरक्ति उत्पन्न होनेमें ग्रहोंके योगका जो विवेचन किया है, उसका कुछ अंश संक्षेपमें उपस्थित किया जा रहा है। पूर्वमें लिखा जा चुका है कि एक स्थानपर चार या चारसे अधिक ग्रह यदि एकत्र हो जायँ तो वह मानव सांसारिक प्रपञ्चोंसे छुटकारा पाकर भगवान्की भक्ति या किसी भी देवी-देवताकी उपासनामें लग जाता है। विरक्तिके लिये भी उपर्युक्त कथन लागू हो सकता है। किंतु ग्रन्थान्तरोंके अवलोकनसे यह भी अवगत होता है कि एक स्थानमें चारसे अधिक ग्रह यदि न रहें तो भी वह मानव विरक्त या संन्यासी हो सकता है। विरक्तिमे 'मन' ही प्रधान कारण है। मनपर चन्द्रमाका अधिकार माना गया है। अतः चन्द्रमा और शनिके सम्बन्धसे मानव 'त्यागी' बनता है। यदि विरक्ति-दाता ग्रह सूर्यके साथ अस्त हो तो वह मानव गृहस्थ रहकर भी ईश्वरकी उपासनामे लीन रहता है। यदि विरक्तिकारक ग्रह आपसी युद्ध (ग्रहयुद्ध) में हारा तो मानव विरक्तिकी भावना करता ही रह जाता है। मानवके विरक्त और भगवद्-भक्त होनेमें मतान्तरसे निम्न ग्रहयोग कारण हो सकते हैं—

१. यदि लग्नाधिपतिपर अन्य ग्रहकी दृष्टि न हो और उसकी दृष्टि शनिपर हो तो वह जातक विरक्त होता है।

२. यदि शनिपर किसी ग्रहकी दृष्टि न हो और शनिकी दृष्टि लग्नाधिपतिपर पडती हो तो जातक निश्चित-रूपसे विरक्त हो जाता है।

३. यदि शनिकी दृष्टि निर्बल लग्नपर पड़ती हो तो वह जातक (यदि मानव है तो) अवश्य विरक्त बन जाता है।

४. यदि चन्द्रमा किसी राशिमे स्थित होकर मङ्गल या शनिके द्रेष्काणमें सिद्ध हों और उस चन्द्रमापर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न हो, केवल शनिकी दृष्टि सिद्ध हो, तो वह जातक निश्चित विरक्त होता है।

५. यदि नवमेश बली होकर नवम अथवा पञ्चम भावमे हो और उसपर बृहस्पति तथा शुक्रकी दृष्टि पड़ती हो और बृहस्पति तथा शुक्र उसके साथ हों तो जातक सिद्ध भक्त और संन्यासी होता है।

६. चन्द्रमा यदि जातकके नवम स्थानमे हों और किसी भी ग्रहसे दृष्ट न हों तो वह जातक प्रख्यात विरक्त या सन्यासी होता है। यह योग स्वामी श्रीविवेकानन्दजीकी कुण्डलीमें है।

७. यदि शनि या लग्नाधिपतिकी दृष्टि चन्द्रराशिपर पड़ती हो तो जातक महान् संन्यासी और भगवान् शंकर-

का भक्त होता है। आदिगुरु शंकराचार्यके जन्माङ्गमें यह योग पड़ा है।

८. मङ्गलकी राशिमें यदि चन्द्रमा हों या चन्द्रमा और मङ्गल एक साथ हों, या चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हों और चन्द्रमापर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो वह जातक सन्यासी और भगवद्भक्त होता है।

९. क्षीण चन्द्रमा जिस राशिमें हों, उस राशिका स्वामी यदि केन्द्रस्थित बलवान् शनिको देखता हो तो जातक भाग्यहीन विरक्त होता है।

१०. लग्नाधिपति यदि बलहीन हो और उसपर शुक्र और चन्द्रमाकी दृष्टि पड़ती हो तथा कोई उच्चग्रह चन्द्रमाको देखता हो तो जातक दरिद्र विरक्त होता है।

११. लग्नाधिपतिपर यदि कई ग्रहोंकी दृष्टि हो और वे दृष्टि डालनेवाले ग्रह किसी एक राशिमें हों तो जातक निश्चित त्यागी होता है।

१२. यदि कर्मेश अन्य चार ग्रहोंके साथ हो तो वह जातक इस जीवनसे छुटकारा पानेपर सदाके लिये 'मुक्त' हो जाता है।

१३. नवम स्थानमें यदि शनि स्थित हों और शनिपर किसी भी ग्रहकी दृष्टि न हो तो वह जातक निश्चितरूपसे महान् विरक्त और भक्त होता है।

१४. यदि लग्नका स्वामी बृहस्पति, मङ्गल अथवा शनि हों तथा उस लग्नाधिपतिपर शनिकी दृष्टि हो एवं गुरु नवमस्थ हों तो जातक सन्यास ग्रहण करके किसी प्रमुख तीर्थमें जीवन व्यतीत करता है।

१५. जातककी जन्म-राशि यदि निर्बल हो और उसपर बली शनिकी दृष्टि हो तो जातक निश्चित सन्यासी होता है।

१६. जन्मकालीन चन्द्रमा जिस राशिपर हों, उसके पतिपर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो तथा जन्मराशिके अधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो वह जातक अवश्य सन्यासी होता है।

१७. यदि दशम भावमें तीन बली ग्रह हों और सभी उच्च या स्वगेही या शुभवर्गके हों तो जातक उत्तम भक्त और विरक्त होता है। यदि दशमेश बली न हो तथा दशमेश सप्तमस्थ हो तो जातक सन्यास ग्रहण करनेपर दुराचारी होता है।

१८. शुभ ग्रहोंके नवांशमें [illegible] प्रदान करनेवाले ग्रहोंपर दृष्टि [illegible] परमोच्च हो तो वह जातक [illegible] और भगवद्भक्त हो जाता है। आदिगुरु [illegible] कुण्डलीमें ऐसा ही योग है।

अध्यात्मयोग

भारतीय आचार्योंने जन्माङ्गसे भक्ति [illegible] मानवके दार्शनिक जीवनका भी विचार किया है। [illegible] योगका सम्बन्ध कर्मसे होता है। [illegible] होता है। मानवके जीवनमें [illegible] ग्रहोंसे सम्बन्धित कई परिस्थितियाँ [illegible] प्रकारसे ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार [illegible] है—

१. यदि दशमेश उच्च [illegible] होकर शुभग्रह हो तो जातक अध्यात्मकी [illegible] है।

२. यदि नवम स्थानमें मीन राशि हो [illegible] या मङ्गल बैठा हो तो ऐसे जातककी [illegible] है। ऐसा योग श्रीरामानुजाचार्यजीकी कुण्डलीमें [illegible]

३. यदि दशमेश नवमस्थ [illegible] बृहस्पति और शुक्र [illegible] स्नानादि कर्ममें सदा निरत [illegible]।

४. दशमाधिपति यदि शुभ [illegible] दो शुभ ग्रहोंसे [illegible] हो तो जातक अध्यात्म [illegible] है। [illegible] योग महात्मा गांधीकी कुण्डलीमें [illegible]।

५. दशमेश यदि [illegible] उत्तम वर्गोंका हो तथा लग्नेश [illegible] निरत और अध्यात्मवादी होता है।

६. यदि नवमेश बली [illegible] बृहस्पति या शुक्रकी दृष्टि हो [illegible] हों तो जातक [illegible] करता है।

७. चन्द्रमा [illegible] बृहस्पति या शुक्रकी दृष्टि [illegible] होता है या अध्यात्मवादी होता है।

८. यदि दशमाधिपति [illegible] दशमाधिपतिपर [illegible] रूपसे अध्यात्म-दर्शनमें प्रवीण [illegible]।

योग-साधना-योग

जन्माङ्गसे भक्ति, कर्म तथा अध्यात्म-ज्ञानके अतिरिक्त मनुष्यकी योग-साधन क्रियाका भी विचार किया जा सकता है। 'योगी' शब्दसे ज्ञानयोगी, कर्मयोगी और भक्तियोगीका अर्थ निकलता है। ग्रहोंकी परिस्थिति और बलका विचार करके फलका सारांश समझना चाहिये।

१. यदि समस्त ग्रह शनि और मङ्गलकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक योगी होता है।

२. जन्म यदि मकर राशिका हो तथा समस्त ग्रह मङ्गल एवं सूर्यकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक महात्मा होता है।

३. समस्त ग्रह यदि जन्माङ्गके चन्द्रमा और बृहस्पतिकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक दीर्घजीवी योगी होता है। यह स्थिति श्रीजवाहरलाल नेहरूकी कुण्डलीमें भी प्राप्त है।

४. यदि जातकका जन्म मेषके अन्तिम नवांशका हो, लग्नस्थ बृहस्पति अथवा शुक्र हों, चन्द्रमा द्वितीय स्थानमें हों तथा मङ्गल धनराशिके पञ्चम नवांशके हों तो जातक सिद्ध महात्मा होता है।

५. यदि लग्न कर्क हो और जन्म मनके नवांशमें हो तथा केन्द्रस्थ तीन या चार ग्रह हों तो जातक 'ब्रह्मज्ञानी' होता है।

६. यदि कर्क लग्न हो, बृहस्पति उसमें स्थित हों तथा शनि सिंहराशिगत हों एवं चन्द्रमा वृषराशिमें हों, शुक्र मिथुनराशिमें हों तथा सूर्य और बुध स्थिरराशिगत हों तो जातक महान् योगी होता है।

७. कर्कसे लेकर धनतक छः राशियोंमें समस्त ग्रह स्थित हों तथा तयोक्त राशियोंमें कोई भी शून्य राशि न हो तो जातक सिद्ध योगी होता है।

८. शनि, गुरु एक साथ होकर नवमस्थ या दशमस्थ हों और एक ही नवांशमें स्थित हों तो जातक निश्चितरूपसे योगी होता है।

९. यदि जन्मलग्न धनराशिकी हो, बृहस्पति लग्नस्थ हों, लग्न मेषके नवांशकी हो, शुक्र सप्तममें हों और चन्द्रमा कन्याराशिगत हों तो जातक परमपद प्राप्त करता है।

इस प्रकार जन्माङ्गसे भक्ति, कर्म, योग, अध्यात्मज्ञानका विचार फलित ज्यौतिषमें विस्तारके साथ किया गया है।

श्रीशुकदेवजीकी भक्ति-परीक्षा

[रम्भा श्रीशुक-संवाद]

(लेखक—पुरोहित श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री)

चन्द्र, पद्म आदिमें बिखरी हुई संसारभरकी समस्त रमणीयताको एकत्रित करके ब्रह्मदेवने जिसका निर्माण किया था, जन्म-मरणसे छुटकारा पानेके लिये काम-क्रोध-मद-मोहसे पराङ्मुख मुनियोंके तत्त्वज्ञानको जो अपनी नेत्ररूपी अञ्जलियोंसे मानो पान कर चुकी थी, तपाये हुए सुवर्णकी भाँति जिसके शरीरकी कान्ति सूक्ष्म वस्त्रोंको चीरती हुई मानो फूटी पड़ती थी, जिसके समस्त अङ्गोंमें सुगन्धपूर्ण अङ्गराग महक रहा था और जो प्रवालके समान रक्तवर्ण ओष्ठ युगलके मध्य अपने ईषद् हास्यसे चन्द्रमाको भी लज्जित करती थी, वह स्वर्गलोककी ललामभूता अप्सराश्रेष्ठ रम्भा अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित एवं सोलहों शृङ्गारसे सजी हुई, भूतलके नक्षत्र-समूहके समान नख-मणि-मण्डलसे समन्वित अलक्तकरञ्जित चरणोंद्वारा नूपुरके मञ्जुल रागमें अपने कोकिलकण्ठका मधुर-मिश्रण करती हुई आज सहसा भूमण्डलपर उतर आयी है। जिनका अन्तःकरण सनत्कुमारकी भाँति समस्त विद्याओंके अध्ययनसे निर्मल हो गया था, जो तेजमें दूसरे अग्निदेवके समान प्रतीत होते थे, सतत योगाभ्यास तथा ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिनके काम-क्रोधादि अन्तःशत्रु प्रशमित हो चुके थे एवं तीव्र भक्तियोगके द्वारा श्रीभगवच्चरणारविन्दमें अर्पित होनेके कारण जिनका मन सुस्थिर हो चुका था, ऐसे युवक तपस्वी श्रीशुकदेवजीको अज्ञान, अन्धकार, माया और पतनके गम्भीर गर्तकी ओर आकृष्ट करनेके लिये सहसा उपस्थित होकर उसने शून्य तपोवनमें प्रवेश करके तपस्वियोंके मनमें कुतूहल उत्पन्न कर दिया।

अनन्यसाधारण स्वरूप और अनुपम लावण्य, श्यामा अवस्था और सुरीला कण्ठस्वर, एकान्त स्थान और कामोद्दीपक हाव-भाव, मस्तीभरा आलाप और नयनाभिराम पदविन्यास। रम्भाका अङ्ग-अङ्ग अनङ्गका संचार कर रहा था। वह अपने मदिरापानसे रञ्जित नेत्रोंद्वारा कामदेवके अमोघ बाणभूत कटाक्षोंका मुनिवरपर सतत सविलास प्रक्षेप कर रही थी।

फिर भी तपोधन मुनिकुमारको वह आकर्षित न कर

सकी । उनकी परमात्ममयी बुद्धिमें तरुणी स्त्रीकी कोई कल्पना ही नहीं रह गयी थी । वे अपनी सहज वाणीद्वारा ब्रह्मभक्तिका रम्भाको उपदेश करने लगे—

> अचिन्त्यरूपो भगवान्निरञ्जनो
> विश्वम्भरो ज्योतिर्मयश्चिदात्मा ।
> न भावितो येन हृदि क्षणं वा
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'हे देवि ! मन तथा वाणीके परे अखिल विश्वका रक्षन और पालन-पोषण करनेवाले, ज्ञानरूपी प्रकाशसे युक्त सच्चिदानन्द ब्रह्मका जिसने भक्तियुक्त हृदयसे ध्यान नहीं किया, उस मनुष्यका जीवन व्यर्थ चला गया । अतः काम-क्रोधादिसे बचकर सदा ब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिये, मानव-जीवनका यही सार है ।'

'नारीषु रम्भा !' रम्भा भी कोई साधारण स्त्री नहीं थी, जो इतनेपर ही निराश हो जाती । शुकदेवजीसे भी मधुर और आकर्षक स्वरमें उसने भी अपनी विषयभोगमयी बुद्धिसे भोगोंमें ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकताकी घोषणा की । वह बोली—

'तुम भूलते हो युवक ! सुन्दर देह, मोहक स्वरूप और नवीन तरुणाईका ही समन्वय पाकर नहीं, अपितु संसारकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी तरुणीको एकान्तमें अनुरक्त देखकर भी तुम इस प्रकारकी निस्सार बातें करते हो !

> पीनस्तनी चन्दनचर्चिताङ्गी
> विलोलनेत्रा तरुणी सुशीला ।
> नालिङ्गिता प्रेमभरेण येन
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'उन्नत वक्षःस्थलयुक्त शरीरपर चन्दनका लेप होनेसे जिसका सम्पूर्ण शरीर सुगन्धित हो रहा हो और जिसके विशाल नेत्रोंमें खञ्जनके सदृश चञ्चलता एवं कमलके तुल्य सुन्दरता हो, ऐसी सुशीला युवतीका जिसने गाढ़ प्रेमालिङ्गन नहीं किया, मैं सत्य कहती हूँ, संसारमें उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया ।'

'यहाँ तो बन्धन है देवि ! मोक्ष कहाँ ? यम-नियमादि आठ अङ्गोंवाले योगके द्वारा जिसका मन निर्मल और इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी हैं तथा ईश्वरकी अविचलित अनन्यभक्तिके कारण शुभाशुभ—दोनों ही प्रकारके कर्मोंसे जिसकी आसक्ति नष्ट हो चुकी है, मुक्तिका अधिकारी तो वही मनुष्य हो सकता है । अतः—

> चतुर्भुजः [illegible]
> पीताम्बरः [illegible] ।
> ध्याने धृतो येन [illegible]
> वृथा ग[illegible] [illegible] ।

'जिनके चारों भुजाओंमें शङ्ख, [illegible] सुशोभित हैं तथा वक्षःस्थलपर जिनके [illegible] वनमाला विभूषित हो रही है, ऐसे पीताम्बरधारी [illegible] श्रीविष्णुके ध्यानमें जिसने समाधि नहीं लगायी, [illegible] जीवन तो उसीका व्यर्थ गया ।'

प्रस्तुतका निषेध और [illegible] समर्थन तो अज्ञान है । सुनो तरुण ! [illegible] इन्द्रिय-सुख ही स्वर्ग है और देहका नाश ही [illegible] ।

> कामातुरा [illegible]
> बिम्बाधरा [illegible] ।
> नालिङ्गिता [illegible] सुनाभ्यां
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ।

'जिसका मुखमण्डल [illegible] सुखदायक हो एवं जिसके [illegible] अमृतकी आशङ्का हो रही हो, ऐसी [illegible] बालाको जिसने दोनों हाथोंसे [illegible] लगाया, उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया ।'

नहीं ! निश्छल भक्तिके द्वारा शुद्ध [illegible] निराकार जगन्नियन्ता ब्रह्मकी [illegible] 'मोक्ष' है और वह इस नश्वर जगत् [illegible] छोड़े बिना असम्भव है । उनमें भी [illegible] लोभ तो मनुष्यके महान् शत्रु हैं । [illegible] नील कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाले [illegible] नारायणके, जिनके आकर्षक [illegible] हो रहे हैं, चरण-कमलोंमें जिसने [illegible] करके इस आवागमनके [illegible] यह मनुष्यदेह धारण करना व्यर्थ ही है—

> नारायणः [illegible]
> [illegible] ।
> भक्त्या युतो येन [illegible]
> वृथा गतं [illegible] ।

इतनेपर भी [illegible] भाव और भी स्पष्ट करके मुनिवरपर [illegible]

[illegible] । [illegible]—[illegible] आकर्षक वेषयुक्त नव-[illegible] तथा कर्पूरसे सुवासित मुखका जिसने [illegible] पूर्णरूपसे स्पर्श नहीं [illegible] उसने [illegible] भला फल ही क्या पाया । [illegible] पुरुषार्थका [illegible] है, उसकी इस प्रकार [illegible] तो ईश्वरका बहिष्कार है । जिस कल्पित [illegible] हो गये हो, उसे अन्तरिक्षमें खोजना [illegible] तो और क्या है ! अरे वह रूप तो तुम्हारे [illegible] दीन याचना कर रहा है । उसे स्वीकार [illegible] करो, मुनिराज !'

[illegible] होकर रम्भाने मुनिके समक्ष पृथ्वीपर अपना माथा [illegible] दिया ।

'[illegible] अर्थ स्त्री-सहवास नहीं है, देवि ! काम पुरुषार्थ है, यदि उसका माध्यम 'धर्म' और लक्ष्य 'भगवत्सायुज्य' हो । अन्यथा विपरीत कर्म मनुष्यके अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनोंपर पानी फेर देते हैं और जिसे तुम कल्पित कहती हो, उसीके भयसे तो वायु बहती है, सूर्य तपते हैं, मेघ बरसते हैं और अग्नि जलाते हैं । मनुष्यका चरम लक्ष्य उन्हीं देवाधिदेव भगवान्‌की प्राप्ति है तथा उस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये संसारमें हरि-भक्तिके सिवा अन्य कोई कल्याणमय पंथ ही नहीं है ।'

> श्रीवत्सलक्ष्मीकृतहृत्प्रदेशः
> शार्ङ्गध्वजश्चक्रधरः परात्मा ।
> ना सेवितो येन क्षणं मुकुन्दो
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

अब तो रम्भाका रङ्ग फीका पड़ गया और उसकी चञ्चलता चपत हो गयी । भक्तकी अहैतुकी भक्तिके समक्ष ज्ञान-वैराग्य और भक्तियुक्त भक्तकी उदासीन दृष्टिके समक्ष तथा जिनके हृदयमें श्रीवत्स और लक्ष्मीका निवास है, ऐसे नयनाभिराम विशुद्ध रूप-सौन्दर्यके दीवाने शुककी भक्तिके समक्ष वासनामें ओत-प्रोत स्वार्थभरे रूपने सर्वथा हार मानकर घुटने टेक दिये । रम्भाने व्याकुल होकर निर्लज्जभावसे तथा साहसका सचय करके एक बार और शुकदेवजीको विचलित करनेका प्रयास किया । वह अपने उन्नत स्तनोंपरसे वस्त्रको नीचे खसकाती मुनिपर उनका प्रहार करती हुई-सी बोली—

> ताम्बूलरागा कुसुमप्रकीर्णा
> सुगन्धितैलेन सुवासितायाः ।
> नासर्दितौ गृह्य कुचौ निशायां
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

परंतु तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले भक्त-शिरोमणिको इसपर भी जल-कमलवत् लेशमात्र भी विकारका स्पर्श न हुआ । उनके तो नेत्र बंद हो गये । सच्चिदानन्दघन-स्वरूपकी अमृतवाणी उन्हें न जाने किस लोकमें ले गयी—

> विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
> मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥
> स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
> क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । १४ । २७, २९)

उनका मुखमण्डल अनन्त तेजसे विभूषित हो उठा । वे अपने तेजसे साक्षात् सूर्यकी भाँति प्रज्वलित हो उठे । नाच-नाचकर गद्गद वाणीसे वे श्रीभगवद्-भक्तिकी महिमाका पुनः-पुनः गान कर उठे—

> विश्वम्भरो ज्ञानमयः परेशो
> जगन्मयोऽनन्तगुणप्रकाशः ।
> आराध्य येनैव धृतो न योगे
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

परंतु रम्भा तो न जाने कबकी नौ दो ग्यारह हो चुकी थी ।

आत्माराम मुनि भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं ।

सूतजी कहते हैं—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
> (श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं ।'

भक्तिका विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य, शास्त्री, [illegible]

जिस दशामें जीवके मन, वाणी और शरीर भगवन्मय हो जायँ, मनसे प्रभुका सतत स्मरण हो, वाणीसे निरन्तर उनके गुणोंका गान हो, शरीरसे अनवरत उनकी सपर्या हो, उसीका नाम भजन है। देहकी क्रियाओंका उद्देश्य जब केवल भगवत्प्रीति हो और जब केवल भगवान् ही मनोवृत्तियोंके केन्द्र हों, तब वह अवस्था भक्ति कहलाती है। भजन और भक्ति पर्याय हैं एवं इस भक्तिकी परम्परा वेदोंके समयसे ही चली आ रही है। ऋग्वेदके—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे। (१ । १५६ । ३)

—इस वचनमें भजनका स्पष्ट निर्देश है। उपनिषत्-साहित्य में भक्तिको 'उपासना' भी कहा गया है। स्वयं 'उपनिषत्' शब्दका अर्थ भी उपासना है। देवर्षि नारदने परमात्माके प्रति परम प्रेमको भक्ति माना है और महर्षि शाण्डिल्यने ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति बताया है। बादरायणने अपने सूत्रमें इसे 'संराधन' कहा है और पतञ्जलिने 'प्रणिधान'। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवद्-गुणोंके सुननेमात्रसे, समुद्रमें गङ्गाजलके समान, सर्वान्तर्यामी भगवान्‌में मनके निरन्तर प्रवाहित होनेको 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं। नारद-पाञ्चरात्रका वचन है कि इन्द्रियोंसे श्रीभगवान्‌की वह सेवा भक्ति कहलाती है, जो समस्त उपाधियोंसे रहित हो और परमात्मपरक होनेके कारण निर्मल हो।

अद्वैत-सम्प्रदायमें उपासनाका अर्थ है—सगुण ब्रह्ममें मन लगाना। चित्तकी एकाग्रता ही इसका परम प्रयोजन कहा गया है और सत्यलोककी प्राप्ति इसका अवान्तर फल है। भक्तिरसायनमें मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि साधन करते-करते कठिनताको छोड़कर पिघले हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्‌में धारा-प्रवाहके समान निरन्तर वृत्ति भक्ति कहलाती है।

भक्तिका लक्षण करते हुए आचार्य [illegible] कि प्रेमपूर्वक अनुध्यान—चिन्तन—[illegible] कहलाता है। वे कहते हैं कि ध्यान और चिन्तन [illegible] जो परब्रह्म परमात्मा है, वह अत्यन्त प्रिय है [illegible] उसी प्रियताके कारण प्रियतमका ध्यान और चिन्तन [illegible] भी अत्यन्त प्रिय होता है। प्रियतमका अत्यन्त प्रिय [illegible] वाला ध्यान या सतत स्मरण ही भक्ति है।

आचार्य निम्बार्ककी सम्मतिमें प्रेम [illegible] ही [illegible] लक्षण है और वह दो प्रकारकी है—एक तो [illegible] और दूसरी साध्य-भक्ति। साधनभक्तिका दूसरा नाम है 'अपरा' और साध्य-भक्तिका दूसरा नाम है '[illegible]'। [illegible] मध्वके मतमें भगवत्सेवाके तीन प्रकार हैं। प्रथम [illegible] अर्थात् दाहिने कंधेपर सुदर्शनका और बायें [illegible] जन्यका चिह्न धारण करना। दूसरा है [illegible] पुत्रादिके नाम ऐसे रखना, जिनसे [illegible] भगवान्‌की स्मृति हो। तीसरा प्रकार है [illegible] और मानसिक भजन। आचार्य वल्लभ भक्तिको दो [illegible] की मानते हैं—मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। [illegible] पोषण अर्थात् अनुग्रहसे जिस भक्तिका उदय [illegible] पुष्टि-भक्ति कहते हैं, जिसमें जीवका [illegible]

श्रीरूपगोस्वामीके अनुसार श्रीकृष्णके [illegible] को भक्ति कहते हैं, जिसमें अन्य किसी पदार्थकी [illegible] न हो, ज्ञान (अपनेसे अभिन्न रूपसे [illegible]) [illegible] (स्मृत्युक्त नित्य-नैमित्तिक आदि) का [illegible] किंतु ऐसी प्रवृत्ति हो जो [illegible]

इस प्रकार विविध सम्प्रदायोंद्वारा [illegible] लिये कामधेनु है और [illegible]।

भगवान्‌का प्राकट्य प्रेमसे

भगवान् शिव कहते हैं—

हरि व्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

([illegible])

भगवान्‌का प्यारा भक्त

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवान्‌की अनुकम्पासे इसके पूर्व श्रीभगवद्गीताके विषयमें दो अध्यायोंपर अपने विचार कल्याणके सम्मान्य पाठकोंके समक्ष रखनेका अवसर मुझे पहले मिला था। कुछ मित्रोंको मेरे विचार पसन्द आये एवं उन्होंने पुनः समय-समयपर मुझे अपने विचार प्रकट करनेकी प्रेरणा दी; अतः उन मित्रोंकी भावनाका आदर करके इस लेखमें दो श्लोकोंपर अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ। आशा है कि गीता-स्वाध्यायी सज्जनगण मेरे विचारोंका तुलनात्मक अध्ययन करके अपने विचारोंसे मिलान करनेकी कृपा करेंगे और मेरी त्रुटियोंका सुधार करनेके लिये मुझे उचित परामर्श देंगे।

भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १२ के १३ से १९ तक, सात श्लोकोंमें बताये हैं। उनमेंसे प्रथम दो श्लोकोंके आधारपर इस लेखमें अपने विचार पाठकोंके समक्ष रख रहा हूँ। श्लोक इस प्रकार हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १३-१४)

अर्थात् जो समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित है, सबका मित्र है, करुणाभावसे सम्पन्न है, ममतारहित और अहंकाररहित है, जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, जो क्षमाशील है एवं निरन्तर संतुष्ट रहता है, जिसका चित्त वशमें है, जो दृढ-निश्चयी है तथा मन और बुद्धिको जिसने मेरे अर्पण कर रखा है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है।

इस प्रकार भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके बारह लक्षण इन दो श्लोकोंमें बतलाये हैं। इन्हें पढकर साधकको विचार करना चाहिये कि 'इन लक्षणोंको अपनानेके लिये अर्थात् अपने जीवनमें उतारनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये? मैं किस प्रकार प्रभुका प्यारा भक्त बन सकता हूँ?'

इनमें पहला लक्षण है—समस्त प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि किसी भी प्राणीको बुरा मानना, उसके दोषोंको देखना, उनका वर्णन करना अथवा उनको सुनना और उनकी समालोचना करना एवं किसीका अनिष्ट चिन्तन करना या चाहना अथवा किसीकी उन्नतिमें रुकावट डालना किसीको किसी प्रकारकी हानि पहुँचाना, किसीको अपना वैरी मानना या अपने दुःखमें हेतु मानना आदि सभी द्वेष-भावके अन्तर्गत हैं। इनके रहते हुए साधक समस्त प्राणियोंके प्रति द्वेष-भावसे रहित नहीं हो सकता; अतः भगवान्‌का प्यारा भक्त बननेकी इच्छा रखनेवाले साधकको चाहिये कि वह किसीमें भी द्वेष-भाव न करे; किसीसे भी द्वेष करना भगवान्‌से ही द्वेष करना है। सब भगवान्‌के हैं, या सबमें भगवान् हैं अथवा सभी भगवान् हैं—तीनों मान्यताओंमेंसे किसी एकका भी अनुसरण करनेवाला किसी भी परिस्थितिमें किसी भी प्राणीके साथ कैसे द्वेष कर सकता है, कैसे किसीको बुरा, वैरी, दुःखका हेतु अथवा नीच समझ सकता है, कैसे किसीका अहित कर सकता या चाह सकता है।

साधकको सोचना चाहिये कि 'मेरे मनमें यदि किसीके प्रति द्वेष-भाव है, मैं किसीको अपना प्रतिद्वन्द्वी मानता हूँ, किसीका भी किसी अंशमें बुरा चाहता हूँ या करता हूँ तो यह मुझमें बडा भारी दोष है, प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें बड़ा भारी रोड़ा है। इसका मुझे शीघ्रातिशीघ्र त्याग करना है; क्योंकि इसके रहते हुए मैं प्रभुका प्रिय भक्त नहीं बन सकता।'

दूसरा लक्षण है—सबके प्रति मित्रभाव। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि द्वेषभावका नाश होनेपर ही मित्र-भावकी प्राप्ति हो सकती है। जबतक किसी भी प्राणीके प्रति मनुष्यका द्वेष-भाव है, वह उसे बुरा समझता है तथा उसके दोष देखता है, तबतक उसके प्रति मित्रभावकी स्थापना कैसे हो सकती है। मित्र कैसा होना चाहिये, इस विषयमें भगवान् श्रीराम अपने सखा सुग्रीवसे कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
—इत्यादि

जब साधककी समस्त क्रियाएँ सर्वहितकारी भावसे पूर्ण होती है, तभी वह समस्त प्राणियोंका मित्र कहा जा सकता है। अतः साधकको सर्वहितकारी भावसे भावित होकर ही प्रत्येक कर्मका आरम्भ करना चाहिये। ऐसी कोई भी क्रिया

किसी भी परिस्थितिमें उसके द्वारा नहीं होनी चाहिये, जिससे किसी भी प्राणीका किसी भी अंशमें कुछ भी अहित होता हो।

किसीसे कुछ चाहना—किसी भी प्रकारसे अपने सुख-साधनकी इच्छा या कामना करना मित्रतामें कलङ्क है। कामनायुक्त मित्रता तो आसक्तिकी जननी है; क्योंकि उसका बीज आसक्ति है। इसके रहते हुए राग-द्वेषका नाश नहीं होता। राग-द्वेषके रहते हुए साधक प्रभुका प्यारा भक्त नहीं कहा जा सकता। अतः साधकको चाहिये कि किसीसे भी अपने लिये कुछ भी न चाहे एवं किसी प्रकारकी आशा भी न रखे।

तीसरा लक्षण है—करुणाभावसे सम्पन्न होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जबतक मनुष्य द्वेष-भावसे रहित और मित्रभावसे भरपूर नहीं हो जाता, तबतक उसमें सच्चा करुणाभाव जाग्रत् नहीं होता। ममता और आसक्तिसे युक्त जो करुणा देखनेमें आती है, वह वह करुणाभाव नहीं है, जो भगवान्‌के प्यारे भक्तोंमें होता है। भक्तका करुणा-भाव सर्वथा राग-द्वेष-शून्य और आत्मभावसे पूर्ण होता है, उसमें भेदभाव नहीं रहता। भक्त पराये दुःखसे दुखी होता है, अपने दुःखसे नहीं। अतः यह करुणा खिन्नताका रूप धारण नहीं कर सकती, अपितु प्रेम-रसको जाग्रत् एवं विकसित करती है। साधारण मनुष्योंकी करुणा सीमित भावको लेकर होती है। उसमें किसीके प्रति रागका और किसीके प्रति द्वेषका भाव रहता है। उसमे क्षोभ, खिन्नता और उद्वेगका मिश्रण रहता है; किंतु प्रभुके प्यारे भक्तकी करुणा सर्वहित-कारी भावसे परिपूर्ण, सर्वथा निर्मल और परमप्रेमसे भरी हुई होती है।

चौथा लक्षण है—ममतासे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि किसी भी व्यक्ति या पदार्थको अपना मानना, उससे किसी भी प्रकारके भोगकी—सुखकी इच्छा करना या आशा करना ही ममता है। यहाँ इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्‌के नाते सबको समान-भावसे अपना मानना ममता नहीं है, वह तो ममताका समूल नाश करनेवाली परम निर्मल आत्मीयता है। अर्थात् विशुद्ध समता है।

वास्तवमें कोई भी व्यक्ति या पदार्थ किसीकी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। आस्तिकके लिये समस्त विश्व प्रभुका है, भौतिकवादीके लिये सब कुछ प्राकृत है और ज्ञानीकी दृष्टिमें सब मायामात्र है। अतः इनको अपना मानना [illegible] वस्तु या व्यक्तिसे सीमित [illegible] ममतारूप विकार है। इसके रहते हुए मनुष्य [illegible] और द्वेष-भावसे रहित नहीं हो सकता। [illegible] और करुणाकी स्थिति भी नहीं हो सकती, [illegible] लिये ममताका त्याग परम आवश्यक है।

पाँचवाँ लक्षण है—अहंकारसे रहित होना। [illegible] करनेसे पता चलता है कि स्थूल, सूक्ष्म और [illegible]—इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे जो अपनेमें सीमित [illegible] स्वीकृति है, यही अहंकार है। इसीका विस्तार वर्ण, आश्रम, जाति, गोत्र, नाम, देश, प्रान्त, ग्राम, मोहल्ले आदिका अभि-मान है, जिसके कारण मनुष्य 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं अमुक सम्प्रदायका हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं राम हूँ, मैं श्याम हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं ओसवाल हूँ, मैं पारीक हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं मारवाड़ी हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं [illegible] हूँ, मैं कलकत्तेका हूँ' इत्यादि अनेक भावोंको अपनेमें [illegible] करता है और उस स्वीकृतिको लेकर नाना प्रकारके भेद उत्पन्न कर लेता है। फलतः उसे कोई तो अपना और कोई पराया प्रतीत होने लगता है, जिससे उसका राग-द्वेष [illegible] रहता है। अतः साधकको इस [illegible] सर्वथा [illegible] होगा। इसका त्याग करनेके लिये अपनेमें विशुद्ध [illegible] स्थापना करना भी एक प्रकारका साधन है—जैसे यह [illegible] कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, [illegible] हूँ, भक्त हूँ इत्यादि।

सीमित अहंभावसे रहित हुए बिना [illegible] नहीं होता एवं भोक्तापनका भाव नहीं मिटता और भोक्तापनके रहते हुए राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि विकारोंका [illegible] नहीं हो सकता; [illegible] मित्र और [illegible] करुणभावसम्पन्न भी नहीं बन सकता। इस दृष्टिसे भगवान्‌का प्यारा भक्त बननेके लिये अहंकाररहित होना भी परम आवश्यक है।

यह अहंकार ही गर्व और [illegible] करता है, जिससे [illegible] होकर मनुष्य [illegible] प्राणीसे [illegible] स्थापन कर लेता है [illegible] समझने लगता है। अतः साधकको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

छठा लक्षण है—सुख-दुःखमें सम होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि सीमित व्यक्तिभावका नाश होनेपर ही मनुष्य सुख-दुःखमें सर्वथा सम रह सकता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रत्येक परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करे और प्रत्येक परिस्थितिमें प्रभुकी कृपाका दर्शन करता हुआ उनके प्रेममें निमग्न होता रहे, अथवा उसे प्राकृत विधान मानकर राग-द्वेषसे रहित हो जाय या 'सब कुछ मायाका खेल है' यह मानकर सर्वथा असङ्ग हो जाय। उपर्युक्त तीनों ही मान्यताओंसे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंकी एकता हो जाती है, द्वन्द्व नहीं रहता, भेद नहीं रहता; तब सुख और दुःखका सम हो जाना स्वाभाविक हो जाता है।

सातवाँ लक्षण है—क्षमाशील होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जबतक मनुष्य सुख और दुःखको समान नहीं मानता, तबतक वह पूर्णतया क्षमाशील नहीं हो सकता। जो हमको किसी भी प्रकारका दुःख देनेमें निमित्त बनता है, जो अपराधी है, उसे अपराधका बुरा फल न भोगना पड़े—इस भावका नाम क्षमा है। अर्थात् उसके प्रति मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हो कि वास्तवमें इसका कोई अपराध ही नहीं है, यह तो मेरे प्यारे प्रभुकी ही प्रेरणासे इस घटनामें निमित्त बना है, प्रभुने कृपा करके ही मेरे हितके लिये, मेरे साधनको दृढ करनेके लिये यह परिस्थिति प्रदान की है—इस भावका नाम क्षमा है। सुखकी चाह और दुःखका भय रहते हुए इस प्रकारकी क्षमा स्वाभाविक नहीं हो सकती और उसके बिना साधक क्षमाशील नहीं हो सकता।

क्षमाशील साधक स्वभावसे ही वैरभावसे रहित, सबका मित्र एवं करुणाभावसे सम्पन्न होता है; अतः पूर्वोक्त सभी गुण उसमें आ जाते हैं। इस दृष्टिसे क्षमाशील होना भी साधकके लिये परम आवश्यक है।

आठवाँ लक्षण है—निरन्तर संतुष्ट रहना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जो सर्वथा चाहरहित हो जाता है, जिसके मनमें किसी भी प्रकारकी कोई कामना नहीं रहती तथा इसी कारण जो सुख-दुःखमें सम हो जाता है, जिसके राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, जिसमें ममता और अभिमानका नाश हो जाता है, वही निरन्तर संतुष्ट रह सकता है। भगवान्‌के प्यारे भक्तके मनमें किसी प्रकारकी खिन्नता लेशमात्र भी नहीं रहती; क्योंकि किसी प्रकारकी चाहका पूर्ण न होना ही खिन्नता या असंतोषका कारण है। भगवद्भक्त किसीसे कुछ चाहता ही नहीं, तब उसमें
कैसे हो? वह तो सदैव अपने प्या
हुआ उनके प्रेममें निमग्न रहता है।
प्रभुको प्यारा लगे, इसमें कहना ही क्या
चाहिये कि सर्वथा निष्काम होकर सदैव प्रभुके प्रेम-
रहे; यही वास्तविक संतोष है।

नवाँ लक्षण है—योगयुक्त होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि यहाँ एकमात्र प्रभुसे ही सम्बन्ध जोड़ लेना अर्थात् जगत्‌के समस्त सम्बन्धोंकी शृङ्खलाको तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना मान लेना और अपनेको सर्वथा उनके समर्पण करके उनका हो रहना ही योगयुक्त होना है; क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग तो 'यतात्मा' पदमें कहा गया है और समतारूप योग 'सम-दुःख-सुखः' में आ गया है।

उपर्युक्त भावसे योगयुक्त हो जानेपर प्रभुकी मधुर स्मृति अपने-आप होने लगती है, उसमें व्यवधान नहीं पड़ता और न किसी प्रकारका श्रम ही करना पड़ता है। अतः साधकका जीवन निरन्तर सरस रहता है।

दसवाँ लक्षण है—चित्तका वशमें होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि चित्त शुद्ध होनेपर अपने-आप वशमें हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता समूल नष्ट हो जाती है। उसके पहले जो मनुष्यकी यह दशा रहती है कि वह जिस कामको करना उचित समझता है, उसके करनेकी सामर्थ्य और सामग्री रहते हुए भी उसे कर नहीं पाता और जिसको करना उचित नहीं समझता, उसे छोड़ नहीं पाता अर्थात् अपने ही विवेकका स्वयं अनादर करता रहता है, विवेकके अनुरूप जीवन नहीं बना सकता—यही पराधीनता है। चित्तके शुद्ध और वशमें हो जानेपर यह पराधीनता नहीं रहती, विवेक और जीवनकी एकता हो जाती है।

ग्यारहवाँ लक्षण है—निश्चयका दृढ़ होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि यहाँ विकल्परहित अचल प्रभु-विश्वासको ही दृढ़ निश्चयके नामसे कहा गया है। जबतक मनुष्यमें अनेक विश्वास विद्यमान रहते हैं, विभिन्न व्यक्तियों और वस्तुओंपर वह विश्वास करता रहता है—अर्थात् उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उनसे सुख मिलनेकी आशा रखता है, उनमें अपने-परायेकी कल्पना करके उनसे विभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तबतक उसका प्रभु-विश्वास अचल और विकल्परहित नहीं हो पाता,

उसमें किसी-न-किसी प्रकारका आंशिक संदेह छिपा रहता है। इस कारण साधक प्रभुका अनन्य-प्रेमी भक्त नहीं हो सकता। अतः साधकको चाहिये कि अपने प्रियतम प्रभुमें और उनकी प्राप्तिके साधनमें कभी किसी भी प्रकारका किंचिन्मात्र भी संदेह या विकल्प नहीं करे; तभी उसका निश्चय दृढ अर्थात् अचल हो सकता है और वह भगवान्‌का प्यारा भक्त हो सकता है।

बारहवाँ लक्षण है—मन और बुद्धिको प्रभुके समर्पण कर देना। यह अन्तिम लक्षण है; इसके हो जानेपर साधकमें पूर्वोक्त सभी लक्षणोंका समावेश हो जाता है; क्योंकि जब साधकका मन भगवान्‌का हो जाता है, तब वह सर्वथा विशुद्ध और निर्मल हो जाता है, उसमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं रह सकता; उसके द्वारा जो कुछ काम होता है, वह भगवान्‌का ही काम होता है। फिर साधककी अपनी कोई मान्यता या कामना नहीं रहती, वह सर्वथा बेमनका हो जाता है। अर्थात् ऐसी कोई भी वस्तु या परिस्थिति उसके लिये शेष नहीं रहती, जिसकी आवश्यकता उस भक्तको अपने लिये प्रतीत हो। इसी प्रकार जब साधककी बुद्धि भगवान्‌की बुद्धि हो जाती है, तब उसमें किसी भी प्रकारकी जिज्ञासा शेष नहीं रहती, उसकी समस्त जिज्ञासाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जाती हैं। जबतक मनुष्यमें कुछ भी जानने या समझनेकी इच्छा विद्यमान है, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी बुद्धि प्रभुके समर्पित हो गयी; क्योंकि जाननेकी शक्ति और जिज्ञासा—यही बुद्धिका प्रकट स्वरूप है। यह तभीतक रहती है, जबतक मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् मानता है और बुद्धिको अपनी मानता है। अतः मन और बुद्धि दोनोंको प्रभुके समर्पण कर देना—यह अन्तिम साधन है एवं इसमें सभी साधनोंका समावेश है।

इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌के प्यारे भक्तके जो बारह लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हींकी व्याख्या अगले पाँच श्लोकोंमें है। अभिप्राय यह है कि इनमेंसे कोई भी लक्षण यदि सर्वांशमें पूर्ण हो जाय तो शेष ग्यारह भी अपने-आप ही आ जाते हैं। अतः साधक अपनी रुचि, योग्यता और विश्वासके अनुरूप किसी भी साधनको अपना ले तो उसे भगवान् अपना प्रिय भक्त माननेको तैयार हैं। इसीलिये भगवान्‌ने १५ वें श्लोकमें द्वेष-भावसे रहित होनेको प्रधानता देकर उसका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन किया है। सोलहवें श्लोकमें कर्तापनके त्यागको अर्थात् अहंकार-शून्यताको प्रधानता देकर निष्कामता, अचञ्चलता, [illegible] अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके रूपमें वर्णन करते हुए [illegible] की है। १७वें श्लोकमें ममता [illegible] लिये हर्ष, शोक, चिन्ता, इच्छा [illegible] आदि जो ममताके कार्य हैं, [illegible] गयी है। इसी प्रकार १८वें और १९वें [illegible] वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। [illegible] शीलता, बुद्धिकी स्थिरता, ममताका त्याग— [illegible] समावेश किया गया है। उपर्युक्त १३वें और [illegible] मूलरूपसे वे सभी बातें आ गयी हैं, जिनकी [illegible] १९वें श्लोकतक की गयी है; [illegible] श्लोकोंके स्पष्टीकरणमें इन सभी श्लोकोंका भाव [illegible]

इस प्रकार यदि हमलोग इस [illegible] और प्रभुके प्यारे भक्त बननेकी [illegible] विश्वासपूर्वक प्रभुके सम्मुख हो जायँ तो [illegible] प्रिय भक्त बन सकते हैं; क्योंकि [illegible] हैं। भगवान्‌ने हमारा त्याग नहीं किया है। [illegible] विमुख होकर संसारमें भटक रहे हैं। [illegible] अपने नित्य साथी प्रभुसे सम्बन्ध स्वीकार करके [illegible] प्रिय भक्त बन सकते हैं।

भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके जो [illegible] अपनानेमें किसी भी प्रकारकी [illegible] कठिनाई नहीं है; यह हमारा [illegible] कि हम प्रभुको अपना मानकर उपर्युक्त [illegible] हो जायँ। सच्ची बात तो यह है कि जो इन [illegible] विपरीत लक्षण हैं, जो हमें स्वाभाविक और [illegible] हैं तथा जिनका त्याग हमें कठिन प्रतीत हो रहा [illegible] लिये अस्वाभाविक हैं। थोड़ा विचार करनेपर [illegible] है कि किसीके साथ द्वेष या वैरभाव होनेपर [illegible] प्रकार भयभीत और चिन्तित [illegible] जिन-जिन कठिनाइयोंका [illegible] द्वेष या वैरके त्यागमें [illegible] शान्ति और आनन्द ही आनन्द है। [illegible] विषयमें [illegible] है।

अतः साधकको चाहिये कि [illegible] आपको उन्हें [illegible] उनका प्यारा भक्त बननेकी [illegible]

—✣—
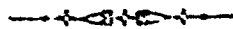
भक्तिके ऊपर भाष्य

(लेखक—श्रीदिनेन्द्रराय भगवान्दास दूरकाल, एम० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि, भारतभूषण, साहित्य-रत्नाकर)

भक्तिके विषयमें अनेकों विवरण, टीकाएँ, व्याख्याएँ विवेचन और भाष्य होनेपर भी सबसे उत्तम भाष्य या विवरण श्रीमद्भागवतका एकादश स्कन्ध है—यह कहें तो अतिशयोक्ति न होगी; क्योंकि उसमें सारे ही सुसंयोग एकत्रित हो गये हैं। वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं और श्रोता भागवतोत्तम श्रीउद्धवजी हैं। प्रसङ्ग श्रीभगवान्के परमधाम प्रयाणका है और निमित्त है सर्वसाधारणके कल्याण या संसारसे तरनेके उपायका समाजके लिये संदेश। श्रीमद्भागवतमें श्रीवेदव्यासकी समाधि-भाषा उपनिबद्ध हुई है। श्रीकृष्णभगवान्का भी समाधि-भाषामें ही संदेश है। दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक नव-योगीश्वरोंके द्वारा प्रणव और तीन व्याहृतियोंके व्याख्यानरूप उपोद्घातसे इसका आरम्भ होता है। 'अथ' शब्दसे गायत्रीके भाष्यरूपमें छठेसे उन्तीसवें अध्यायतक स्तुतिद्वारा प्रारम्भ करके 'नतोऽस्मि' शब्दसे उसका उपसंहार किया गया है। यहाँ संग्रामके लिये कोई उतावली नहीं है। श्रीउद्धवका प्रश्न केवल अपने लिये ही नहीं है। उनको अपने लिये कोई घबराहट नहीं है। वे तो कहते हैं कि 'तुम्हारी मायाको, दुस्तर अन्धकारको मैं तो तुम्हारे गुणानुवादके द्वारा पार कर लूँगा, परंतु लोक-कल्याणके लिये कोई सहज मार्ग बतलाओ।' श्रीभगवान् भी चौबीस गुरु करनेवाले, बुद्धिवादी अवधूत श्रीदत्तात्रेयके प्रसङ्गद्वारा विशेषरूपसे उपदेश प्रारम्भ करते हैं, यद्यपि भगवान् पहले ही परम तत्त्वका निम्नाङ्कित श्लोकमें कथन कर चुकते हैं—

> यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
> नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।७।७)

—और इसके द्वारा निर्भ्रान्ति, केवल बाधशेषरूप तत्त्वको स्वीकार करके संसारके मिथ्यात्वको दिखलाते हैं; क्योंकि वास्तविक और उत्कृष्ट प्रकारकी भक्तिमें इस निश्चयकी अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रस्तावनामें योगीश्वर श्रीहरिने भक्तोंके तीन प्रकार बतलाये हैं। इनमें सर्वोत्तम भक्त वह है जो भूतमात्रको भगवान्में—आत्मामें देखता है। जो ईश्वरमें प्रेम, उनके भक्तोंके साथ मैत्री, अज्ञानी लोगोंके ऊपर कृपा तथा द्वेष करनेवालोंके प्रति उपेक्षाका भाव रखता है, वह मध्यम है; और जो केवल भगवत्-मूर्तिमें सम्यक् प्रकारसे श्रद्धाद्वारा पूजा-अर्चन करता है, उसको प्राकृत भक्तकी कोटिमें रखा गया है। यह पूजा-अर्चा भी किसी ऐसी-वैसी वस्तुमें नहीं, बल्कि सर्वदा उपस्थित भगवत्-मूर्त्ति अग्निमें, सर्वदा गतिमान् शक्ति-धाम प्रत्यक्ष सूर्यमें, सागर, नदी इत्यादिके पुण्यदर्शनमय जल आदिमें, अतिथि-रूप भगवद्विभूति मानवमें तथा ईश्वरके निवासस्थानरूप अपने ही हृदयमें की जा सकती है। अधिक क्या, सर्वत्र विश्वमें भगवान्का दर्शन-पूजन हो सकता है। यही क्यों, चाहे जिस परिस्थितिमें हो उनकी पूजा की जा सकती है। दुःख आ पड़ा हो तब, अन्धकारमें मार्ग न सूझता हो तब, कोई महान् उद्देश्य सिद्ध करना हो तब, अथवा किसी भी प्राप्तव्य वस्तुकी इच्छासे शून्य, शान्त मन हो, तब भी भक्त भक्ति कर सकता है और उत्तरोत्तर उत्तम गतिको प्राप्त कर सकता है।

योगीश्वर हरिके इस ईश्वरदर्शनको मानो पुनः स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

> सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
> भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।११।४२)

'सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौएँ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, अपना हृदय और जीवमात्र मेरी पूजाके स्थान हैं।' सूर्यमें सन्ध्या-वन्दन आदिसे, अग्निमें यज्ञ-होमसे, ब्राह्मणमें अतिथि-सत्कार आदिसे, गायमें उसकी रक्षा-पालन आदिसे, विष्णु-भक्तोंमें आदर-सत्कारसे, हृदयमें ध्यान आदिसे, वायुमें प्राणायामसे और जलमें स्नान-तर्पण आदिसे भगवान्की पूजा की जा सकती है। इस प्रकार भगवत्-उपासनाके अनेक मार्ग और विकल्प हैं और वे सभी चरम कल्याणके साधन हैं। वस्तुतः इन सबमें ईश्वर-बुद्धि करनी चाहिये। बड़, पीपल या तुलसीके रूपमें, शक्तिके महानिवास अणुरूपमें, अथवा प्रेमकी मूर्ति प्रिय या प्रियारूपमें ईश्वर-बुद्धि करनी चाहिये। सब ग्रंथोंका ईश्वर समान ही है या होगा—केवल यह समझनेसे काम नहीं चलेगा। परंतु 'यह सारा ही विश्व ब्रह्म है, दूसरा कुछ है ही नहीं'—इस ज्ञानके द्वारा श्रुति-भगवती हमारी अशान्तिका निराकरण करती है।

> सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।

शिव-विष्णुकी प्रतिमाएँ होती हैं, परंतु ब्रह्मकी प्रतिमा नहीं होती; क्योंकि यह समग्र दृश्यमान् विश्व ही इसकी प्रत्यक्ष मूर्ति है।

सखाओंके मध्यमें नाचते हुए दोनों व्रजेशकुमार

कालीदहमें कूदते हुए करुणा-वरुणालय

भक्तकी महिमा

जहाँ भक्त मेरो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
पाछे पाछे मैं फिरूँ, कभी न छोड़ूँ साथ॥

भक्त-पदानुगारी भगवान

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

श्रीभगवत्पूजन-पद्धतिका सामान्य परिचय

अष्ट-काल

निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापराह्णकः।
सायं प्रदोषो नक्तं चेत्यष्टौ कालाः प्रकीर्तिताः॥

निशान्त (सूर्योदयसे पूर्व दो घटे चौबीस मिनटका काल), प्रातः (सूर्योदयके उपरान्त दो घटे चौबीस मिनटतक), पूर्वाह्न (तत्पश्चात् दो घंटे चौबीस मिनट), मध्याह्न (तत्पश्चात् चार घटे अड़तालीस मिनट), अपराह्न (तत्पश्चात् सूर्यास्त-तक दो घंटे चौबीस मिनट), सायाह्न (सूर्यास्तके बाद दो घटे चौबीस मिनट), प्रदोष (तत्पश्चात् दो घटे चौबीस मिनट), निशा (उसके बाद चार घटे अड़तालीस मिनट)—इन रात-दिनके आठ भागोंमें अष्टकालीन पूजा होती है। श्रीभगवत्पूजा प्रतिमामें, चित्रपटमें या मानसिक की जाती है। पूजा पूर्व या उत्तर मुँह बैठकर करनी चाहिये।

प्रातःस्नान

सूर्योदयके पश्चात् प्रायः ढाई घटेतक प्रातःकालका समय होता है। शौचादिसे निवृत्त होकर हस्त-पादादि-शुद्धि-पूर्वक दन्तधावन-करके आचमन करके प्रतिदिन यत्नपूर्वक प्रातःस्नान करे। 'श्रीहरि-भक्ति-विलास' में लिखा है कि ब्राह्म-मुहूर्त्तमें 'कृष्ण, कृष्ण' कीर्तन करते हुए उठे, फिर हाथ-मुँह आदि धोकर दन्तधावन करे, पश्चात् आचमन करके कपड़े बदलकर प्रातःकालीन स्मरण, कीर्तन और ध्यान करके प्रभुको जगाकर, निर्माल्य आदि उतारकर, श्रीमुख प्रक्षालन कराके, मङ्गल-आरती आदिका कार्य सम्पादन करके अरुणोदयका समय व्यतीत होनेपर प्रातःस्नानके लिये बाहर निकले तथा कृष्ण-नाम कीर्तन करते हुए जलमय तीर्थमें या उसके अभावमें विशुद्ध जलाशयमें जाकर विधिपूर्वक स्नान करे।

पुष्प-चयन-विधि

रात्रिके वस्त्र परित्याग करके पवित्र वस्त्र धारण करके अथवा प्रातःस्नान करके पुष्प-चयन करे। मध्याह्नकालमें स्नान करके पुष्प-चयन करना वर्जित है।

तुलसी-चयन-विधि

बिना स्नान किये तुलसी-चयन न करे। चयन करने-का मन्त्र—

तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया।
केशवार्थे चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने॥
त्वदङ्गसम्भवैः पत्रैः पूजयामि यथा हरिम्।
तथा कुरु पवित्राङ्गि कलौ मलविनाशिनि॥
चयनोद्भवदुःखं ते यद्देवि हृदि वर्तते।
तत क्षमस्व जगन्मातस्तुलसि त्वां नमाम्यहम्॥

यह मन्त्र उच्चारण करके श्रीतुलसीदेवीको नमस्कार करे। दाहिने हाथसे धीरे धीरे [illegible] एक एक पत्र [illegible] द्विदलके साथ मञ्जरी चयन करे [illegible]। कीड़ोंका खाया हुआ अथवा छिन्न पत्र ग्रहण न करे। [illegible] पत्र ही प्रशस्त होता है। इस मन्त्रसे तुलसीचयन करके श्रीकृष्ण-पूजा करनेसे लक्ष-कोटि गुना फल प्राप्त होता है—

मन्त्रेणानेन यः कुर्याद् गृहीत्वा तुलसीदलम्।
पूजनं वासुदेवस्य लक्षकोटिफलं लभेत्॥
(हरिभक्तिविलास)

(श्रीशिव-पूजार्थ)
बिल्वपत्र-चयन-विधि

बिल्वकी बड़ी महिमा है। लिखा है कि [illegible] द्वारा भगवान् शिवजीकी पूजा करनेसे जो फल होता है, वही बिल्वपत्रद्वारा करनेसे होता है। [illegible] पत्र तोड़ते समय नीचे लिखे मन्त्रका उच्चारण करे—

पुण्यवृक्ष महाभाग मालूर श्रीफल प्रभो।
महेशपूजनार्थाय त्वत्पत्राणि चिनोम्यहम्॥

पत्र तोड़नेके पश्चात् नीचे लिखा मन्त्र बोलकर बिल्ववृक्ष-को प्रणाम करना चाहिये—

ॐ नमो बिल्वतरवे सदा शंकररूपिणे।
सफलानि समाङ्गानि कुरुष्व शिवदो भव॥

बिल्वपत्र छः महीनेतक बासी नहीं माना जाता। [illegible] इसको उल्टा चढ़ाना चाहिये।

पूजाके उपकरण

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमनस्नानवसनाभरणानि च॥
गन्धः सुमनसो धूपो दीपो नैवेद्यवन्दने।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश॥
([illegible])

'आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, पुनराचमनीय, स्नान, वसन, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और स्तुति पाठ—ये पूजाके षोडशोपचार हैं।'

पाद्यमर्घ्यं तथाचामो मधुपर्काचमस्तथा।
गन्धादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दशक्रमात्॥

'पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क, पुनः आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—ये दशोपचार हैं।'

गन्धादिभिर्नैवेद्यान्तैः पूजा पञ्चोपचारिका।
सपर्यास्त्रिविधाः प्रोक्तास्तासामेकां समाचरेत्॥

'गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—ये पूजाके पञ्चोपचार हैं। यह तीन प्रकारकी पूजा कही गयी है। इनमेंसे एकका सम्यक् अनुष्ठान करना चाहिये।'

अष्टाङ्ग अर्घ्य

आपः क्षीरं कुशाग्राणि दध्यक्षततिलास्तथा।
यवाः सिद्धार्थकाश्चैवमर्घ्योऽष्टाङ्गः प्रकीर्तितः॥
(भविष्यपुराण)

'अर्घ्य-पात्रमें जल, दुग्ध, कुशाग्र, दधि, अक्षत, तिल, यव और श्वेत सर्षप—इन आठ द्रव्योंका निक्षेप करके व्यवहार करे।'

मधुपर्क

मधुपर्कके पात्रमें घृत, दधि और मधु—इन तीन द्रव्योंकी व्यवस्था करे। मधुके अभावमें गुड़ तथा दधिके अभावमें दुग्धका प्रयोग करे। मधुपर्कको कांस्यपात्रसे ढकनेका विधान है। जैसे—

मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्येनेति।
(कात्यायनसूत्र)

पूजार्थ जल-ग्रहण

याज्ञवल्क्य-संहितामें लिखा है—

न नक्तोदकपुष्पाद्यैरर्चनं स्नानमर्हति।

'रात्रिमें जो जल या पुष्पादि आहरण किया जाय, उससे श्रीहरिका स्नान-पूजन सम्पन्न न करे।' विष्णुस्मृतिमें भी लिखा है—न नक्तं गृहीतोदकेन दैवकर्म कुर्यात्। अर्थात् रात्रिकालमें संगृहीत जलसे दैवकर्म न करे।

जल-शुद्धि

यदि गङ्गा, यमुना, राधा-कुण्ड आदि तीर्थोंके जलके सिवा अन्य जल हो तो—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

—इस मन्त्रके द्वारा जलके ऊपर अङ्कुश-मुद्रा दिखाकर तीर्थोंका आवाहन करे।

पूजोपकरण-स्थापन-प्रणाली

(१) स्नानीय जल—श्रीभगवान्‌के सामने दक्षिण ओर स्थापित करे।
(२) स्नान-पात्र और आचमन-पात्र—उसके निकट रखे।
(३) शङ्ख—अपने सामने वामभागमें आधारपर स्थापित करे।
(४) घण्टा—उसके समीप किसी आधारपर रखे।
(५) नैवेद्य और धूप—अपने वाम पार्श्वमें।
(६) तुलसी और गन्ध-पुष्पादिके पात्र—अपने दक्षिण पार्श्वमें।
(७) घृत-दीप—तुलसी आदिके समीप; परंतु तैल-दीप होनेपर अपने वाम पार्श्वमें स्थापन करे।
(८) पूजाके अन्यान्य द्रव्यादि—अपने सामने जहाँ सुविधा हो, वहाँ रखे।
(९) हस्त-प्रक्षालन-पात्र—अपने पृष्ठ-देशमें रखे।

घण्टा-स्थापन-विधि

'क्लीं' बीजका उच्चारण करके अपने वामपार्श्वमें आधारके ऊपर घण्टा रखकर 'ॐ जगद्ध्वनित मो मन्त्रमातः स्वाहा'—यह मन्त्र पढ़कर 'एतत् पाद्यम्, इदमाचमनीयम्, एते गन्धपुष्पे, घण्टायै नमः' मन्त्र पढ़कर पाद्य आदिके द्वारा घण्टाकी पूजा करे; पश्चात् वामहस्तद्वारा घण्टा बजाते हुए बोले—

सर्ववाद्यमयी घण्टा देवदेवस्य वल्लभा।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन घण्टानादं तु कारयेत्॥

देवताके आवाहन-कार्यमें तथा अर्घ्य, धूप, दीप, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करते तथा स्नान कराते समय घण्टा-वादन अवश्य करना चाहिये।

दिग्बन्धन

ॐ शार्ङ्गाय सशराय हुं फट् नमः—इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए पुष्प और धानका लावा (लाज) चारों ओर छींट करके दिग्बन्धन करना पड़ता है।

विघ्न-निवारण

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

—इस मन्त्रको पढकर, 'अस्त्राय फट्'—इस अस्त्रमन्त्रका उच्चारण करते हुए तीन बार वामपादकी एड़ीसे भूमिपर आघात करके विघ्न दूर करे, फिर पूजा प्रारम्भ करे।

पूजाके लिये आसन

नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है—

वंशादाहुर्दरिद्रत्वं पाषाणे व्याधिसम्भवम्।
धरण्यां दुःखसम्भूतिं दौर्भाग्यं दारवासने॥
तृणासने यशोहानिं पल्लवे चित्तविभ्रमम्।
दर्भासने व्याधिनाशं कम्बलं दुःखमोचनम्॥

'बाँसके आसनपर बैठनेसे दरिद्रता, पाषाणपर रोगोत्पत्ति, पृथ्वीपर दुःख, काष्ठके आसनपर दौर्भाग्य, तृणके आसनपर यशकी हानि, पल्लवपर चित्तका विभ्रम, कुशासनपर रोगनाश तथा कम्बलके आसनपर बैठनेपर दुःखमोचन होता है।'

आसन-शुद्धि

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरुचासनम्॥

—इस मन्त्रसे जल-सिञ्चन करके आसन-शुद्धि करे।

उपवेशन-विधि

भक्तिमार्गमें आसनका कोई विशेष नियम नहीं है। परंतु स्वस्तिकासनसे बैठना ही सर्वापेक्षा आरामप्रद होता है। पिंडली और ऊरुदेश (जाँघ) के मध्यमें दोनों पद-तलोंको स्थापित करके सीधे बैठनेका नाम स्वस्तिकासन है। दिनमें प्रायः पूर्वमुख और रात्रिमें उत्तरमुख होकर बैठना चाहिये। परंतु श्रीमूर्त्ति साक्षात् हो तो उसको सम्मुख लेकर बैठना चाहिये। यथा—

तत्र कृष्णार्चकः प्रायो दिवसे प्राङ्मुखो भवेत्।
उदङ्मुखो रजन्यां तु स्थिरमूर्तिश्च सम्मुखः॥

(श्रीहरि-भक्ति-विलास)

तिलक-धारण-विधि

श्रीराधाकुण्डकी रज या गोपीचन्दन आदि पवित्र मृत्तिकाद्वारा तिलक किया जाता है। ललाट आदिमें तिलक करते समय 'ॐ केशवाय नमः'—मन्त्र बोलना चाहिये।

आचमन-विधि

हाथ-पैर धोकर आचमन करे, [illegible] तनिक जल लेकर—ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः। ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्॥—यह मन्त्र पढ़कर [illegible]। यह जल इतना होना चाहिये कि [illegible], क्षत्रियके कण्ठतक, वैश्यके तालुस्पर्श तथा [illegible] मुखमात्रका स्पर्श कर सके। तत्पश्चात्—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

—यह मन्त्र पढ़कर [illegible] होता है।

पाद्यादि-अर्पणके नियम

श्रीमूर्त्तौ तु शिरस्यर्घ्यं दद्यात् पाद्यं च पादयोः।
मुखे चाचमनीयं त्रिर्मधुपर्कं च तत्र हि॥

'श्रीविग्रहके मस्तकपर अर्घ्य तथा दोनों चरणोंमें पाद्य अर्पण करना चाहिये। आचमनीय—तीन बार—और मधुपर्क श्रीमुखमें प्रदान करने चाहिये।'

श्रीभगवत्स्नानविधि

श्रीहरि-भक्ति-विलासमें लिखा है कि [illegible] 'भगवन्! स्नानभूमिमलङ्कुरु'—यह प्रार्थना करके 'पादुके निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुके सामने पादुका [illegible] करे; पश्चात् स्तोत्र और गीत-वाद्यादिके साथ उनको [illegible] के अभ्यन्तर ईशान कोणमें निर्मित [illegible] स्नानार्थ ताम्रपात्रमें स्थापित करे। [illegible] भगवान्को स्नान करावे।

स्नान-मन्त्र

इस मन्त्रसे पहले शङ्खमें जल [illegible]—

त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
मानितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते॥

'हे पाञ्चजन्य! तुम प्राचीन कालमें [illegible] हुए थे, विष्णुभगवान्ने तुम्हें हाथमें [illegible] देवोंसे मान्य हो, तुम्हें नमस्कार!'

पञ्चामृतसे श्रीभगवदभिषेक

श्रीहरि-भक्ति-विलासमें लिखा है कि [illegible] कराना हो तो दुग्ध, दधि, घृत, मधु और [illegible]—[illegible] क्रमशः शङ्खमें लेकर [illegible] करे।

चन्दन घिसनेका नियम

श्वेत चन्दन ही श्रीभगवदर्चनामें व्यवहृत होता है। दोनों हाथसे चन्दनकी लकड़ी पकड़कर तर्जनी अङ्गुलिका स्पर्श न करते हुए दक्षिण हाथकी ओरसे घुमाकर चन्दन-घर्षण करना चाहिये।

गन्ध-अर्पण-विधि

अँगूठे और कनिष्ठा अङ्गुलिके द्वारा चन्दन आदि गन्ध-द्रव्योंको अर्पण करे।

पुष्प-शुद्धि

पुष्पोंको लेकर—

ॐ पुष्पे महापुष्पे सुपुष्पे पुष्पसम्भवे।
पुष्पचयावकीर्णे च हुं फट् स्वाहा॥

—यह मन्त्र उच्चारण उनके ऊपर जल-सिञ्चन करके उसमें चन्दन तथा अन्य गन्ध-द्रव्य निक्षेप करे।

पत्र-पुष्प आदिके अर्पणकी विधि

पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम्।
दुःखदं तत् समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम्॥

'पत्र-पुष्प अथवा फल कभी भगवान्‌को अधोमुख करके अर्पण नहीं करना चाहिये। यह भगवान्‌को प्रीतिकर नहीं होता, अपितु क्लेशदायक होता है। अतएव ये प्रकृतितः जैसे उत्पन्न होते हैं, उसी रूपमें अर्पण करे।' विहित और सुसंस्कृत वृन्तसहित पुष्पको चन्दन-लिप्त करके अङ्गुष्ठ और मध्यमा अङ्गुलिके द्वारा वृन्तकी ओर धारण करके अर्पण करना चाहिये।

तुलसी-अर्पण-विधि

तुलसीदलको भलीभाँति धोकर जलशून्य करके चन्दन लगाकर अनामिका और अङ्गुष्ठसे धारण करके, उसके पृष्ठ भागको नीचेकी ओर करके, श्रीपाद-पद्ममें एक-एक करके अर्पण करे। तुलसी-पत्र कम-से-कम तीन बार अर्पण करे। किसी-किसीके मतसे कम-से-कम आठ बार अर्पण करना चाहिये।

धूप-अर्पण-विधि

पीतल आदि धातुकी बनी हुई धूपदानीमें काष्ठका अङ्गार रखकर 'एष धूपो नमः' कहकर अङ्गारपर जल प्रक्षेप करते हुए गुग्गुल, अगुरु, चन्दन, घृत और मधुसे बना हुआ धूप उसपर छोड़ दे। पश्चात्—

वनस्पतिरसोत्पन्नो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

—यह मन्त्र पढ़कर, 'इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर वाम हस्तसे घंटी बजाते हुए नाम-कीर्तनके साथ प्रभुके नाभिदेशपर्यन्त धूप-पात्र उठाकर धूपार्पण करे।

दीपार्पण-विधि

दीपाधारमें गौका घृत अथवा असमर्थ होनेपर उत्कृष्ट तेलके साथ रूईकी बत्तीमें अथवा केवल कर्पूरकी बत्तीमें दीप प्रज्वलित करके दीपाधारमें तुलसीके साथ 'एष दीपो नमः' कहकर जल प्रक्षेप करते हुए दीपोत्सर्ग करे। पश्चात्—

सुप्रकाशो महातेजाः सर्वतस्तिमिरापहः।
स बाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

—यह मन्त्रपाठ करके 'इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' बोलकर प्रभुके श्रीपाद-पद्मसे नयन-कमलपर्यन्त उज्ज्वल आलोकित दीप घुमाकर दीपार्पण करे।

षोडशोपचार-पूजा-विधि

षोडशोपचार-पूजामें निम्नलिखित उपचार अर्पित करे—

आसन—

इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः। श्रीकृष्ण ! प्रभो इदमासनं सुखमास्यताम्॥

—यह मन्त्र पढ़कर सुमनोहर आसन अथवा उसके अभावमें पुष्प अर्पण करे।

स्वागत—निम्नलिखित मन्त्रसे स्वागत करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये।
तस्य ते परमेश्वर ! सुस्वागतमिदं वपुः॥

पाद्य—'एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय नमः' कहकर श्रीचरणका लक्ष्य करके पाद्य अर्पण करे।

अर्घ्य—'इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमस्तकपर अर्घ्य प्रदान करे।

आचमनीय—'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुके दक्षिण हाथको लक्ष्य करके आचमनार्थ किंचित् जल दे।

मधुपर्क—'इमं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमुखमें मधुपर्क अर्पण करे।

पुनराचमनीय—'इदं पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमुखमें विशुद्ध सुगन्धित जल अर्पण करे।

स्नान—इसके बाद स्नान कराये । विधि ऊपर दी जा चुकी है ।

वसन—'इदं परिधेयवस्त्रम्, इदमुत्तरीयवासश्च श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' यह कहकर प्रभुको मनोरम सूक्ष्म वसन और उत्तरीय वस्त्र परिधान कराये ।

भूषण—'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुको स्वर्ण-रौप्यादिनिर्मित अलंकार धारण कराये ।

गन्ध—'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर चन्दन-अगुरु-कर्पूर-मिश्रित गन्ध लेकर श्रीअङ्गमें धीरे-धीरे परम यत्नसे लेपन करे ।

पुष्प—'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' यह कहकर श्रीचरणोंमें तीन बार पुष्पाञ्जलि प्रदान करे ।

धूप, दीप—अर्पण करनेकी विधि ऊपर दी जा चुकी है ।

नैवेद्य—तत्पश्चात् बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे घण्टा-नाद एवं जय-शब्दके साथ नैवेद्य अर्पण करना चाहिये । नैवेद्य, स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य या मिट्टीके पात्रमें अथवा कमल या पलाश-पत्रमें अर्पण करना चाहिये । नैवेद्यार्पण करते समय चक्रमुद्रा दिखलानी चाहिये । श्रेष्ठ भक्ष्य, [illegible] नैवेद्यमें अर्पण करे । [illegible] अभक्ष्य पदार्थ नैवेद्यमें न रखे । नैवेद्यके [illegible] कराना चाहिये ।

तत्पश्चात् ताम्बूलादि [illegible] धारण कराकर नीराजन करना चाहिये ।

नीराजन (आरती)—[illegible] घड़ियाल आदि नाना वाद्यों एवं जय-शब्दके [illegible] करना चाहिये । कपूर, घी आदिकी बत्तीसे [illegible] चार बार पदतल, दो बार नाभि, एक बार [illegible] सात बार सभी अङ्गोंमें नीराजन करनेकी विधि है । [illegible] साथ सजल शङ्खसे भी आरती करनी चाहिये । [illegible] भगवान्के मस्तकपर घुमाना चाहिये । तत्पश्चात् [illegible] आदिसे आरती करे । तत्पश्चात् [illegible] प्रणामादि करने चाहिये ।

वन्दना—अन्तमें अपनी रुचिसे [illegible] करके श्रीविग्रहको दण्डवत् प्रणाम करे ।

कृष्ण और गोपी

[लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्० ([illegible])]

मनुष्यके जीवनका सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि परम-तत्त्वका साक्षात्कार उसे कैसे हो और उसका स्वरूप क्या है ।

परम्परागत धारणा यह है कि इन्द्रियोंकी जहाँतक गति है, उससे ऊपर उठकर, इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करके, योगशास्त्रोक्त धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा ही भगवान्का, परम तत्त्वका साक्षात्कार किया जा सकता है ।

यदि ऐसी ही बात हो, तब देखना यह है कि वह साक्षात्कार किस रूपमें होता है । उक्त दृष्टिमें इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध होनेके कारण यह स्पष्ट है कि वह साक्षात्कार ऐन्द्रिय नहीं हो सकता । अपूर्ण भाषाके सहारे उसे किसी प्रकार बुद्धिगम्य या उससे भी ऊपर उठकर स्वरूपावस्थितिके रूपमें ही कहा जा सकता है ।

एक प्रकारसे यह ठीक है । पर प्रश्न उठता है कि जब इन्द्रियाँ उस साक्षात्कारमें बाधक ही हैं, तब क्या आध्यात्मिक दृष्टिसे सृष्टिकी योजनामें इन्द्रियाँ व्यर्थ ही हैं ? क्या वे बाधक होनेके स्थानमें अध्यात्म-दर्शनमें सहायक नहीं हो सकतीं ?

एक दिन प्रातः नैत्यिक भ्रमणके लिये [illegible] समस्या विकटरूपमें मनमें उठी । निश्चय [illegible] समाधान आज ही होना चाहिये ।

नगरके बाहरकी प्राकृतिक [illegible] अनुभव किया—

> प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे [illegible] ।
> लालितः पालितश्चापि सदानन्दो [illegible] ॥ १ ॥
> स्नेहार्द्रं नित्यनं[illegible] तस्या माधुर्य[illegible] ।
> दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो [illegible] ॥ २ ॥
> ([illegible] १६)

अर्थात्—

प्रकृति-माताकी गोदमें
सदा क्रीडा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्दमें मग्न हूँ !
उसके स्नेहसे आर्द्र, नित्य [illegible]
अद्भुत माधुर्यको देखकर,

[illegible]

मैं मग्न आनन्दसे रहता हूँ !

अथवा—

लोकोत्तरेण दिव्येन माधुर्येण समन्विता ।
येयं प्रमादनी शक्तिर्लोके सर्वत्र संस्थिता ॥
सूर्ये चन्द्रे जले वायावुत्फुल्लकुसुमावलौ ।
सैषमाविर्भवेच्छश्वत् तिष्ठतान्मम मानसे ॥
(रश्मिमाला ३४ । १ । ३)

अर्थात्—

लोकोत्तर दिव्य माधुर्यसे समन्वित,

जो प्रमादनी शक्ति

सृष्टिमें सर्वत्र—

सूर्यमें, चन्द्रमामें, जलमें, वायुमें,

प्रफुल्ल कुसुमावलिमें—

संस्थित है, वह आविर्भूत होकर

सर्वदा मेरे मनमें वास करे !

इसी मानसिक पृष्ठभूमिमें भगवद्गीताके निम्न वचन स्मरण हो आये—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।···
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
(गीता ७ । ८-९)

अर्थात् जलोंमें रस, चन्द्र-सूर्यमें प्रभा, पृथिवीमें पवित्र सुगन्ध और अग्निमें प्रकाश—ये सब भगवान्‌के ही रूप हैं।

उस समय यही प्रतीत होने लगा कि विश्वका यावत् सौन्दर्य भगवान्‌का ही सौन्दर्य है। जैसे मांस-मज्जा आदिसे पूर्ण और दुर्गन्धसे पूरित इस शरीरमें जो मनोज्ञता और आकर्षण है, उसके मूलमें चेतन आत्माकी सत्ता है, उसी प्रकार इस विश्वमें तत्तत् पदार्थोंद्वारा जो दिव्य शान्ति, जीवन-प्रेरणा, अनन्तानन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्यकी प्रतीति इन्द्रियोंद्वारा हो रही है, उसके मूलमें मूलतत्त्वस्वरूप भूतभावन भगवान्‌की सत्ता है।

उक्त दृष्टिसे भगवान्‌के स्वरूपके साक्षात्कारमें, अनुभवमें, स्पष्टतः इन्द्रियाँ साधक ही हैं, बाधक नहीं।

उक्त भ्रमणमें उद्भूत विचार उसी समय जिन पद्योंमें ग्रथित कर लिये गये थे, उन्हींको संक्षिप्त व्याख्याके साथ हम नीचे देते हैं—

आनन्दं शाश्वतं तेजो लोकादुद्विग्नचेतसः ।
रुद्धाक्षाः प्रयतन्ते यत् स्वान्ते द्रष्टुं मनीषिणः ॥ १ ॥
तदेतदिन्द्रियैः साक्षात् परितः परमेष्ठिनम् ।
दृष्ट्वा भक्ताः प्रसीदन्तः कीर्तयन्ति दिवानिशम् ॥ २ ॥
कृष्णेत्याकर्षकं तत्त्वमिन्द्रियाणामतो मतम् ।
गोप्यस्तद्वृत्तयस्तस्माद् भक्तानां परिभाषया ॥ ३ ॥

'मनीषी लोग संसारसे उद्विग्न-चित्त होकर जिस आनन्द-स्वरूप शाश्वत तेजको, इन्द्रियोंका निरोध करके, अपने मानस या अन्तःकरणमें देखनेका प्रयत्न करते हैं। सर्वत्र परमेष्ठी (परमे=ऊँची स्थितिमें स्थित, अर्थात् आपाततः उद्भूत अनुभवोंकी अपेक्षा उत्कृष्टतर अनुभवसे गम्य) उसी मूल-तत्त्वको भक्तजन साक्षात् इन्द्रियोंद्वारा देखकर (अनुभव करके) दिन-रात उसका कीर्तन करते हैं। 'इसलिये इन्द्रियोंके लिये आकर्षक होनेसे वह मूल-तत्त्व, भक्तजनोंकी परिभाषामें, 'कृष्ण' इस नामसे कहा जाता है और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको 'गोपी' (गो=इन्द्रियोंको पालने या पुष्ट करनेवाली) कहा जाता है।'

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त दृष्टिसे इस अनन्तानन्त परम विशाल विश्वके माध्यमसे जिसका सुन्दर रूप हमें सदैव इन्द्रिय-गोचर हो रहा है और जो स्वभावतः इन्द्रियोंके लिये 'आकर्षक' है, उसी परम तत्त्वको 'कृष्ण' इस नामसे कहा जाता है।

अपनी वृत्तियोंद्वारा ही इन्द्रियोंको बाह्य दृश्योंका बोध होता है। दूसरे शब्दोंमें, इन्द्रियोंके इन्द्रियत्वको सार्थक करने-वाली या उनको पुष्टकरनेवाली[1] (उनके योग्य अनुभवों-को देनेवाली) इन्द्रिय-वृत्तियाँ ही हैं।

इन्द्रियोंका नाम 'गौ' है। इसलिये उनकी वृत्तियोंको 'गोपी' कहा जाता है। इन वृत्तियों (गोपियों)का स्वाभाविक

---

१. गवाम् इन्द्रियाणां पालन पुष्टिर्वा तद्वृत्तिभिरेव क्रियते। पुष्पेषु भ्रमर्य इव विषयेषु प्रवृत्ता इन्द्रियवृत्तयस्तद्रस गृहीत्वा तेनैवेन्द्रियाणां तृप्तिं पुष्टिं च कुर्वन्ति। अन्यथा तेषां वैयर्थ्यापत्तेः क्षीणत्वसम्भावनोत्पद्यते। अतो वृत्तय एव गोप्यः।

'आकर्षण' (प्रवृत्ति) बाह्य जगत्की ओर है।[1] जैसे मधु-मक्खियाँ नाना प्रकारके पुष्पोंसे मधुको, या सूर्य-रश्मियाँ नाना प्रकारके जल-स्थानोंसे विशुद्ध जलको खींच लेती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक उत्कर्षकी अवस्थामें इन्द्रियोंमें बाह्य जगत्के माध्यमसे ही परम तत्त्वस्वरूप भगवान्के साक्षात्कारकी योग्यता आ जाती है।[2] इन्द्रियोंद्वारा परम तत्त्वके साक्षात्कारका यही अर्थ है।

बाह्य जगत्में भगवान्की [illegible] देती, आध्यात्मिक उत्कर्षकी अवस्थामें ही [illegible] है। इसीलिये परम तत्त्वको 'परमेष्ठी' [illegible] है।

यह आध्यात्मिक दृष्टि [illegible] उन्हींको करना चाहिये। वास्तवमें '[illegible]' शब्द भी उन्हींकी परिभाषाके हैं।

भक्ति-लाभका सहज साधन

(लेखक—राजज्यौतिषी प० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ० उप० १।२।२४)

कठोपनिषद्के इस मन्त्रसे स्पष्ट है कि 'जो पुरुष दुराचारसे विमुख नहीं, जो विक्षिप्त है, जिसका मन एकाग्र नहीं एवं जिसे मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं, वह परमेश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता, जबतक वह प्रज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्याका आश्रय न ले। इस वासनाप्रधान साम्प्रतिक युगमें संसारासक्त अकर्मण्य मनुष्योंकी योगाभ्यासादि कृच्छ्रसाध्य कृत्योंमें प्रवृत्ति एवं सफलता असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। ऐसी परिस्थितिमें प्रभुप्राप्तिके लिये भक्ति-मार्ग अपेक्षाकृत सुगम है। भक्ति भी अन्तःकरणकी परम पुनीत भावना होनेके नाते आन्तर नियन्त्रणके हेतु किसी-न-किसी साधनकी अपेक्षा अवश्य रखती है। बहुधा देखनेमें आता है कि अनेक व्यक्तियोंकी दृढ भक्तिकी तीव्र लालसा ऐहलौकिक नश्वर भोगैश्वर्योंमें संसक्त चित्तवृत्तिद्वारा परास्त हो जाती है। वे आत्मना दृढ भक्तिकी कामना करते हुए भी वातावरणजन्य अननुकूल परिस्थितिवश सांसारिक आकर्षणोंसे आकृष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके लिये भक्तिलाभार्थ एक सद्यः-फलप्रद सहज साधन लिखता हूँ। श्रद्धालुजन इससे लाभ उठायें।

साधन—प्रातः-सायं सूर्यके उदय एवं अस्तसे ठीक आध घंटे पूर्व नगरसे बाहर शान्त एकान्त स्थानमें जाकर शुद्ध होकर आचमन करे। पूर्व या उत्तर मुँह खड़े होकर कर्पूरके समान गौरवर्ण महासुन्दर भगवान् श्रीशंकरका ध्यान करते हुए तीन बार मानसिक प्रणाम करे और नीचे [illegible] महामन्त्रका निश्चल [illegible] १०८ बार [illegible]—

ॐ ह्रीं देवदेव कृपासिन्धो सर्वेशानिन् [illegible]।
संसारासक्तचित्तं मां भक्तिमार्गे [illegible] ह्रीं ॐ॥

जपके अन्तमें मुँह भरकर [illegible] प्लुतस्वरसे उत्तरोत्तर निम्नस्वरकी ओर [illegible] 'ॐ' की ध्वनिको ब्रह्माण्डतक ले जाकर मुँह बंद [illegible] विलीन कर दे। इस प्रकार [illegible] बार करे। इसके साथ-साथ भगवान् श्रीशंकरका उपर्युक्त ध्यान भी करे। इस प्रकार प्रतिदिन नियमितरूपसे [illegible] उपर्युक्त मन्त्रके जप एवं 'ॐ' के उच्चारणसे [illegible] सांसारिक तामस-राजस वृत्तियाँ [illegible] अभिभूत होकर प्रभुचरणोंमें भक्तिभावना [illegible]। यह अनुभवसिद्ध प्रयोग है। [illegible]—[illegible] कैसा ही संसारासक्त व्यक्ति क्यों न हो [illegible] चित्तवृत्ति भौतिक आकर्षणोंसे [illegible] सभी विघ्न दूर होकर हृदयमें भगवान् [illegible] स्वेष्ट श्रीचरणकी भक्तिका [illegible] आनन्दमें फूला नहीं समाता। [illegible] दायिनी दृढ भक्तिकी प्राप्ति होकर [illegible] है।

विशेष—इस [illegible] तिथिको छोड़कर अन्य किसी भी [illegible] प्रारम्भ करना चाहिये।

---

१. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। (कठोपनिषद् २।१।१) [illegible]

२. अदृश्यमपि यत्तत्त्वं लौकिकानामगोचरम्। तदेव परित. स्पष्ट विदुषान्त प्रतीयते। [illegible]

श्रीविष्णु-भक्तिके विविध रूप

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌का अन्वय और व्यतिरेक—

श्रीविष्णुभगवान् जगत्‌में अन्वित हैं और इससे व्यतिरिक्त भी हैं। जगत्‌में भगवान्‌के अन्वय (अनु + इ + अ) से तात्पर्य है जगत्‌में उनकी अन्तर्यामिताका; क्योंकि उपनिषद्‌का वचन है कि—तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। 'अनुप्राविशत्'-में निर्दिष्ट अनुप्रवेश (अनु + प्र + विश् + अ) ही अन्वय है और इसी हेतुसे यह विश्व भगवान्‌की एकपाद्-विभूति कहलाता है। ईश्वरके समग्र भावका जगत्‌में 'अनुप्रवेश' अथवा 'अन्वय' नहीं होता, अपितु अत्यन्त स्वल्पांशका—

यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता।

अतः ईश्वर जगत्‌से व्यतिरिक्त भी हैं। ईश्वरके इस व्यतिरेककी ओर श्रुतिका स्पष्ट संकेत है—

(अ) अतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
(आ) त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(इ) त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः।

ईश्वरको विश्वातिग किंवा विश्वातिक्रान्त बतानेके लिये ही उन्हें 'पर' कहा जाता है—

विश्वं व्याप्यापि यो देव एतस्मात् परतः स्थितः।
परस्मै श्रीमते तस्मै विष्णवेऽस्तु नमो नमः॥

विश्वके कर्ता, भर्ता और हर्ताके रूपमें वे क्रमशः प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण कहलाते हैं। उन्हींका धर्म-संस्थापनार्थ युग-युगमें अवतार होता है। वे ही आवाहन करनेपर मूर्तियोंमें विराजमान होकर भक्तोंकी पूजाको स्वीकार किया करते हैं।

ऐसे महामहिम विष्णुभगवान्‌की भक्ति अनादिकालसे चली आ रही है।

भक्तिमें दो न्याय

भक्ति-मार्गमें दो न्याय प्रसिद्ध हैं—एक तो मर्कट-किशोर-न्याय और दूसरा मार्जार-किशोर-न्याय। पहलेमें उपासक उपास्यदेवकी उपासनामें अपनी ओरसे इस प्रकार प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार बँदरियाका बच्चा अपनी ओरसे अपनी माताको पकड़े रहनेमें प्रवृत्त होता है; और दूसरेमें वह इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे उदासीन रहता हुआ ही भगवान्‌को इस प्रकार बुलाता है, जिस प्रकार बिल्लीका बच्चा अपनी माताको। बँदरियाका बच्चा स्वयं माताको पकड़े रहता है और माता जहाँ जाती है, वहाँ चला जाता है; परंतु बिल्लीके बच्चेको माता स्वयं उसे अपनी इच्छासे मुँहमें पकड़कर जहाँ चाहती है, ले जाती है। पहला स्वेच्छासे मातापर निर्भर है, तो दूसरा माताकी इच्छाके अनुसार।

उपासक अपनी समस्त भावनाओंको एकमात्र उपास्यमें केन्द्रित कर देते हैं, परमात्माको अपने सभी भावोंका आश्रय और आधार बना लेते हैं; जगदीश्वर ही उनके माता, पिता, भ्राता, मित्र, बन्धु-बान्धव, पुत्र हैं। उनकी विद्या, धन आदि समस्त कामनाएँ भी वे ही हैं—

पिता माता सुहृद् बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे।
विद्या धनं च कामश्च नान्यत् किंचित् त्वया विना॥
(ब्रह्मतन्त्र)

सेवामें तीन भाव

सेवामें तीन भाव हैं—(१) बड़ेकी सेवा, (२) बराबरवालेकी सेवा और (३) छोटेकी सेवा। माता, पिता गुरु, पति, स्वामी, सम्राट्‌की जो सेवा पुत्र, शिष्य, पत्नी और सेवक करते हैं—वह पहला भाव है। एक मित्र दूसरे मित्रकी जो सेवा करता है—वह दूसरा भाव है। माता-पिता जो सेवा पुत्रकी करते हैं—वह तीसरा भाव है। उपासक लोग ईश्वरकी सेवा इन तीनों भावोंसे ही करते हैं। पहले भावको 'दास्य', दूसरेको 'सख्य' और तीसरेको 'वात्सल्य' कहते हैं। पत्नीद्वारा पतिकी सेवाके भावको 'माधुर्य' नाम दिया जाता है, जिसे हम प्रथम भावका ही परिष्कृत और चूडान्त रूप मान सकते हैं।

शब्दोंका औपचारिक प्रयोग

जीव अपनेको पुत्र और ईश्वरको पिता मानकर उसकी आराधना करता है। लोकमें जिस प्रकार पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार आराध्यसे आराधकके उत्पन्न न होनेपर भी आराध्य पिता है और आराधक पुत्र है। शब्दोंका यह औपचारिक प्रयोग है। यही बात सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें भी समझनी चाहिये। मधुर भावमें जब जीव ईश्वरको पति कहता है, तब भी 'पति' शब्दका प्रयोग

औपचारिक ही होता है; क्योंकि जीव और ईश्वरमें लौकिक पत्नी-पतिके समान शरीरसम्बन्धकी गन्धका भी अवसर नहीं है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इस न्यायके अनुसार किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं परमात्माको बालक समझकर उसका आराधन करूँ; किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे मित्र कहकर पुकारूँ; और किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे पति कहकर पुकारूँ। किंतु जितनी सहज सेवा ईश्वरको माता, पिता, गुरु, सम्राट् और स्वामी मानकर हो सकती है, उतनी और भावमें नहीं। दास्यभावमें तो सेवा-ही-सेवा है। इसमें उपासक कहता है—

जन्मप्रभृति दासोऽस्मि शिष्योऽस्मि तनयोऽस्मि ते।
त्वं च स्वामी गुरुर्माता पिता च मम माधव॥
(भक्ततन्त्र)

अर्थात् हे माधव! मैं आपका दास हूँ, शिष्य हूँ और पुत्र हूँ एवं आप मेरे स्वामी, गुरु और माता-पिता हैं। यह दास्य ही, यह सेवाभाव ही, साध्या भक्तिका भी स्वरूप है। लौकिक रीतिसे न सही, अलौकिक रीतिसे तो भगवान् विश्वके जनयिता हैं ही—

त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता। (अग्निपुराण)

संवेगकी तीव्रता

सेवाके विविध भावोंमें यह कोई निश्चित नियम नहीं है कि पहले दास्यकी साधना की जाय, फिर सख्यकी, फिर वात्सल्यकी और अन्तमें माधुर्यकी। जिस भावमें रुचि हो, वही अङ्गीकार किया जा सकता है। जिस भावमें भी संवेग तीव्र होगा, उसीसे इष्ट-लाभ हो जायगा। भगवत्प्राप्ति किसी भाव-विशेषकी सापेक्ष न होकर व्यक्तिविशेषके संवेगकी ही अपेक्षा रखती है। संवेगकी बड़ी महिमा है। इसके प्रख्यापनके लिये ही माधुर्यभावके संवेगसे भी अतृप्त भावुकोंने जार-भावकी प्रशंसा की है। व्यभिचारिणी स्त्रीके मनमें उपपतिके दर्शनकी लालसामें जो तीव्रता होती है, वही तीव्रता जब भगवद्-दर्शन-लालसामें आ जाय, तब जार-भाव होता है। इसी संवेगको ध्यानमें रखकर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरित-मानसके अन्तमें अपनी अभिलाषा इस प्रकार प्रकट की है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

सेवाके प्रकार

सेवा कई प्रकारसे होती है। उपास्यकी गुण-कथाओंका श्रवण करना, उनके नामादिका कीर्तन करना, उनकी महिमादिका स्मरण करना, चरण-सेवन, मन्दिरमें उनके श्रीचरणोंमें सपर्याका समर्पण, उनके श्रीविग्रहोंको साष्टाङ्ग प्रणाम, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्तिके ये नौ प्रकार बड़े प्रसिद्ध हैं। इनमें एक-एक प्रकार साधकका उद्धार कर सकता है। यदि साधक एकाधिक अङ्गोंको अपनावे तो कहना ही क्या।

श्रवण

श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका सुनना 'श्रवण' कहलाता है। महाराज परीक्षित् इसके आदर्श हैं, जिन्होंने एक सप्ताहतक श्रीभगवच्चरित्रोंका श्रवण करके मुक्तिलाभ किया था। श्रवणकी फलश्रुतिमें एक वचन है—

संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः॥

अर्थात् 'श्रीकृष्ण' इस वैष्णव मन्त्रका श्रवण करके मनुष्य भव-पाशसे छुटकारा पा जाता है। संसाररूपी सर्पके माया-मोहरूपी विषके प्रभावसे प्रभावित व्यक्तिके लिये यह रामबाण औषधका काम करता है।

कीर्तन

व्याख्यान, प्रवचन, स्तव, स्तोत्रपाठ, कथा—ये सब कीर्तनके ही विविध रूप हैं। भक्तिके इस अङ्गके शुकदेवजी आदर्श हैं, जिनके एक सप्ताहके सत्सङ्गसे महाराज परीक्षित्‌की मुक्ति हो गयी। कीर्तनकी महिमामें एक सूक्ति है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपु० ६।२।१७)

अर्थात् सत्ययुगमें प्राणायाम, प्रत्याहार आदि कठिन अङ्गोंवाले ध्यानके अवलम्बनसे जीवको जो सद्गति प्राप्त होती है, त्रेतामें अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञोंद्वारा यजन करनेसे जो सद्गति प्राप्त होती है एवं द्वापरमें प्रचुर धन-व्यय कर मन्दिर निर्माण और मूर्ति-स्थापनके अनन्तर नानाविध उपचारोंद्वारा पूजा-अर्चासे जो सद्गति प्राप्त होती है, वही सद्गति कलियुगमें श्रीभगवान् केशवके नाम-गुण-कीर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है।

स्मरण

स्मरणके आदर्श प्रह्लादजी हैं, जिन्होंने बाल्यकालमें ही श्रीभगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया था। पुराणका एक वचन है—

[illegible] [illegible]ऽपि तु ।
[illegible] नन्दी ।
[illegible])

[illegible] और [illegible] वह [illegible]भगवान्‌के [illegible] है ।

चरणसेवा

[illegible] आदर्श हैं, जो नित्य निरन्तर [illegible] करती हैं । जिनका [illegible] प्रवाहित हो कर त्रिभुवनको पार [illegible] देता है, उन दिव्य चरणकमलों[illegible] चाहिये ।

अर्चन

[illegible] प्रथा परम प्राचीन है । इसका निर्देश श्रुतिमे इस प्रकार है—

मह‍े शूराय [illegible]ष्णवे चार्चत ।
([illegible]ग्वेद १ । १५५ । १)

अर्थात् आपलोग महान् एव शूरवीर विष्णुभगवान्‌का अर्चन कीजिये । पुराणमें लिखा है—

[illegible]ष्णोः [illegible]पूजनान्नित्यं सर्वपापं प्रणश्यति ।

अर्थात् भगवान् विष्णुकी पूजा करनेसे पूजकके सब पाप दूर हो जाते हैं ।

वन्दन

[illegible] वन्दन-नामक अङ्गमें आदर्श महात्मा श्वफल्कके पुत्र अक्रूर[illegible] हैं, जिन्होंने [illegible]भगवान्‌के चरण-कमलोंको प्रणाम करनेकी सम्भावना मात्रसे ही अपने जीवनको सफल समझा था एव जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके चरणचिह्नोंका दर्शन करके उनमें लोटने लगे थे ।

वन्दनकी महिमामें महाभारतका वचन है—

[illegible]पुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥
([illegible] शान्ति० [illegible])

अर्थात् जो भगवान् [illegible], पीताम्बरधारी, अच्युत [illegible] हैं, उन्हें किसी प्रकारका भय नहीं [illegible] ।

दास्य

[illegible] आदर्श हैं [illegible]नन्दन श्रीहनुमान्‌जी, [illegible]

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
(वाल्मी० रा० सुन्दर० ४२ । ३४)

अर्थात् मैं उन कोसलेन्द्र श्रीरामका दास हूँ, जिनके कार्य-कलाप और लीला-चरित्र लोकाभिराम हैं । श्रुतिने भजनका निरूपण इस प्रकार किया है—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । ३)

अर्थात् हे विष्णो ! हम सब आपके अनुग्रहकी, दया-दृष्टिका भजन करते हैं । भजनका अर्थ है सेवा—भज सेवायाम् । जो सेवा करता है, वही सेवक किंवा दास है; अतएव भक्तिमें दास्यभाव प्रधान है । अन्य सभी भावोंमें, किसी-न किसी अंशमें, सेवाका भाव अवश्य विद्यमान रहता है; फिर दास्यभाव तो सेवा-ही-सेवा है ।

सख्य

सख्यमें अर्जुन आदर्श हैं । श्रुतिने भगवान्‌को मित्र, बन्धु और सखा इस प्रकार कहा है—

(अ) भवा मित्रो न शेव्यः ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । १)

(आ) स हि बन्धुरित्था ।
(ऋग्वेद १ । १५४ । ४)

(इ) व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । ४)

आत्मनिवेदनमें आदर्श विरोचन-तनय महाराज बलि हैं, जिन्होंने भगवान् त्रिविक्रमके चरणोंमें अपना सर्वस्व सहर्ष समर्पण कर दिया था । इसीको प्रपत्ति और शरणागति भी कहते हैं ।

तन्मयता

तन्मयतामें गोपियाँ आदर्श हैं । श्रीकृष्ण वनमें बछड़े चराने जाते तो गोपियाँ दिनभर श्रीकृष्ण-चिन्तनमें लीन रहा करती थीं । इनकी तन्मयताकी पराकाष्ठाका दिग्दर्शन हमें तब होता है, जब श्रीकृष्णके लीलास्थलीमें अन्तर्धान हो जानेपर गोपियाँ अपने परमाराध्यकी लीलाएँ करने लगती हैं—

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।
(श्रीमद्भा० १० । ३० । १४)

वात्सल्य

वात्सल्यमें यशोदाजी आदर्श हैं । नन्दजी पूर्वजन्ममें द्रोण नामक वसु थे और यशोदाजी थीं द्रोणपत्नी धरा । ब्रह्माजीके

आदेशसे श्रीभगवान् नारायणकी कृष्णरूपमें सेवा-सपर्या करनेके लिये ही द्रोण और धरा इस धराधामपर नन्द और यशोदाके रूपमें आये थे। दोनों ही परब्रह्म परमात्माका वात्सल्यभावसे आराधन करते थे—

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत॥
(श्रीमद्भा० १०। ८। ५१)

ध्यान

स्मरण जब अविच्छिन्न और एकतान हो जाता है, तब वह ध्यानरूपमें परिवर्तित हो जाता है। ध्यानके आदर्श हैं उत्तानपादके पुत्र ध्रुव, जिन्होंने बाल्यकालमें ही, देवर्षिके सदुपदेशके प्रभावसे, ऐसी [illegible] की थी कि उन्हें वैकुण्ठधामके [illegible] विराजमान अपने इष्टदेवका भी पता न चला। ध्यानकी महिमामें पुराणका एक वचन है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥
(नृसिंहपु० ६४। [illegible])

अर्थात् समस्त शास्त्रोंका पर्यालोचन करके बार-बार स्थिर बुद्धिसे सोचनेपर यही सार निकला कि निरन्तर सदा-सर्वदा श्रीमन्नारायणका ध्यान करना [illegible]।

श्रीसाम्बकी सूर्य-भक्ति

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

एक बार वसन्त ऋतुमें रुद्रावतार दुर्वासा मुनि तीनों लोकोंमें विचरते हुए द्वारका पहुँचे। उनके जटा-जूटयुक्त जरा-जीर्ण शरीरको देखकर श्रीकृष्ण-पुत्र साम्बने अपने रूपके अभिमानमें आकर उनकी नकल बनायी। मुनिराजसे यह अपमान नहीं देखा गया। क्रोधसे काँपते हुए वे तुरत बोल उठे—'साम्ब! हमको कुरूप और अपनेको अति रूपवान् जानकर जो तुमने हमारा अनुकरण किया है, इस अपराधमें तुम अति शीघ्र कुष्ठी हो जाओ।'

साम्ब अत्यन्त व्याकुल हुए। कुष्ठ-निवारणार्थ उन्होंने अनेक प्रकारके उपचार किये, परंतु किसीसे भी कुष्ठ नहीं दूर हुआ। तब अन्तमें वे अपने पूज्य पिता आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्रके पास गये और उनसे प्रार्थना की—'पिताजी! दुर्वासा-मुनिके शापसे मैं कुष्ठरोगसे पीड़ित हो रहा हूँ, मेरा शरीर गल रहा है, स्वर दबा जाता है, पीडासे प्राण निकले जाते हैं, ओषधियोंसे शान्ति नहीं मिलती; अब क्षणमात्र भी जीवित रहनेकी क्षमता नहीं है। आपकी आज्ञा पाकर अब मैं प्राण-त्याग करना चाहता हूँ। आप मेरे असह्य दुःखकी निवृत्तिके लिये मुझे प्राण-त्याग करनेकी आज्ञा दें।'

महायोगेश्वर श्रीकृष्ण क्षणमात्र शान्त रहे। फिर विचारकर बोले—'पुत्र! धैर्य धारण करो। धैर्य त्यागनेसे रोग अधिक सताता है। मैं तुम्हें सर्वोपरि उपाय बताता हूँ। अब तुम श्रद्धापूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी आराधना करो, जिससे तुम्हारा यह क्लेश निवृत्त हो जाय। यदि विशिष्ट देवताका आराधन विशिष्ट पुरुष करे तो अवश्य ही विशिष्ट फलकी प्राप्ति होती है।'

साम्बके संदेह करनेपर पुनः श्रीकृष्णने कहा—'शास्त्र और अनुमानसे ही हजारों देवताओंका होना सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष देवताओंको ही यदि मानते हो तो सूर्यनारायणसे बढ़कर कोई दूसरा देवता ही नहीं है। सारा जगत् इन्हींसे उत्पन्न हुआ है और इन्हींमें लीन हो जायगा। ग्रह, नक्षत्र, योग, [illegible] राशि, आदित्य, वसु, रुद्र, वायु, अग्नि, अश्विनीकुमार, इन्द्र, ब्रह्मा, दिशाएँ, भूः-भुवः-स्वः आदि सब लोक, पर्वत, नदी-नद, नाग-नग, सागर-सरिताएँ एवं समस्त भूतग्रामकी उत्पत्तिके हेतु श्रीसूर्यनारायण ही हैं। वेद, पुराण, इतिहास सभीमें इनका परमात्मा-अन्तरात्मा आदि शब्दोंसे प्रतिपादन किया गया है। इनके सम्पूर्ण गुणों और प्रभावका सौ वर्षोंमें भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। तुम यदि अपना दुःख दूर कर संसारमें सुख भोगना चाहते और [illegible] रखते हो तो विधिपूर्वक सूर्यनारायणकी आराधना करो, आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःख तुमको स्पर्श न करेंगे।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य कर साम्ब चन्द्रभागा नदीके तटपर जगत्प्रसिद्ध मित्रवन नामक सूर्यक्षेत्रमें गये और वहाँ उपवास करके सूर्यमन्त्रका अखण्ड जप करने लगे। उन्होंने ऐसा घोर तप किया कि उनके शरीरमें अस्थिमात्र शेष रह गयी। वे प्रतिदिन अत्यन्त भक्तिभावसे गद्गद होकर 'यदेतन्मण्डलं शुक्लं दिव्यं चाजरमव्ययम्' इत्यादि [illegible] सूर्यनारायणकी स्तुति करते थे। [illegible] समय वे सहस्रनामसे भी सूर्यका स्तवन करते थे।

एक बार स्वप्नमें दर्शन देकर सूर्यनारायणने इनसे कहा कि

[illegible] नहीं है। [illegible] सबके [illegible] लोककर्ममें [illegible] नीरोग [illegible] आरोग्य, संतान [illegible]।'

[illegible] दृढ भक्ति, कठोर तपस्या, श्रद्धा- [illegible] प्रसन्न होकर सूर्यनारायणने उन्हें [illegible] — [illegible] साम्ब ! तुम्हारे तपसे हम [illegible] हुए हैं, वर माँगो।'

[illegible] भक्तिभावमें अत्यन्त लीन हो गये थे। उन्होंने [illegible] यही वर माँगा—'परमात्मन् ! आपके श्रीचरणोंमें मेरी दृढ भक्ति हो।'

सूर्य बोले—'यह तो होगा ही, और भी वर माँगो।'

तब लज्जित से होकर साम्बने दूसरा वर माँगा—'भगवन् ! यदि आपकी इच्छा है तो मुझे यह वर दीजिये कि मेरे शरीर-का यह कलङ्क निवृत्त हो जाय।'

सूर्यनारायणके 'एवमस्तु' कहते ही साम्बका दिव्यरूप और उत्तम स्वर हो गया। इसके अतिरिक्त सूर्यनारायणने प्रसन्न होकर उन्हें एक वर और भी दिया कि 'यह नगर तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध होगा और लोकमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। हम तुमको नित्य स्वप्नमें दर्शन देते रहेंगे। अब तुम इस चन्द्रभागा नदीके तटपर मन्दिर बनवाकर उसमें हमारी प्रतिमा स्थापित करो।'

साम्बने सूर्यके आदेशानुसार चन्द्रभागा नदीके तटपर मित्रवनमें एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें विधिपूर्वक सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापित करायी।
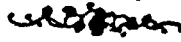
भगवान् शंकरकी भक्तिका प्रत्यक्ष फल

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम्० ए०, एल-एल्० बी०)

भगवान् शंकर आशुतोष हैं। वे थोड़ी ही सेवासे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। पूजासे जितने शीघ्र भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं, उतना शीघ्र प्रसन्न होनेवाला भगवान्‌का अन्य कोई स्वरूप नहीं है। जब कभी किसी व्यक्तिको कोई संकट आता है तब वह उसे दूर करनेके लिये भगवान् शंकरकी शरण लेता है। वह किसी मन्दिरमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करता है या रुद्राभिषेक कराता है। जो भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, उनका संकट शीघ्र ही अवश्य टल जाता है। भगवान् शंकरकी पूजासे कितना लाभ हो सकता है उसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं अपने कुटुम्बसे ही देता हूँ।

मध्यप्रदेशके निमाड़ जिलेके बड़वाह नगरसे करीब पाँच मीलकी दूरीपर श्रीनर्मदाजीके उत्तर तटपर श्रीविमलेश्वर महादेवका प्राचीन मन्दिर है। मेरे पितामह श्रीदीनेश्वरजी दुबे इस मन्दिरसे लगभग तीन मीलकी दूरीपर रतनपुर ग्राममें निवास करते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपने गाँवसे श्रीविमलेश्वर महादेवके मन्दिरके पास आकर नर्मदामें स्नान करके श्रीविमलेश्वर महादेवको नर्मदा-जल अर्पण करते थे। फिर गन्ध लगाकर बेलपत्र और फूल भी चढाते थे। वे पूजाके मन्त्र नहीं जानते थे, इसलिये वे बिना मन्त्रके ही बड़ी भक्ति और श्रद्धासे नियमपूर्वक कई वर्षोंतक भगवान् शंकरकी पूजा करते रहे। उनके पास कोई जीविकाका साधन नहीं था। वे भिक्षाद्वारा अपना और अपने कुटुम्बका पालन करते थे। भगवान् शंकरकी पूजाके प्रभावसे उनको कभी भी अन्न और वस्त्रका कष्ट नहीं हुआ। उसी पूजाके प्रभावसे मेरे पिता श्रीबलरामजी दुबेको होशंगाबादमें करीब बारह वर्षोंतक नर्मदा-सेवनका अवसर मिला और अन्तमें प्रयागराजमें ही उनका स्वर्गवास हुआ। उसी पूजाके प्रभावसे मुझे भी गत तीस वर्षोंसे प्रयागराजमें गङ्गा-सेवनका सुअवसर प्राप्त हुआ है और मेरी तथा मेरे कुटुम्बकी उन्नतिका एकमात्र कारण भगवान् शंकरजीकी सेवा ही है। इसलिये मैं प्रत्येक सज्जनसे आग्रहपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे भगवान् शंकरकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार नियमपूर्वक अवश्य किया करें।

---

* [illegible] —

[illegible] मार्तण्डो भास्करो रविः। लोकप्रकाशकः श्रीमान् लोकचक्षुर्महेश्वरः ॥१॥
[illegible] कर्ता हर्ता तमिस्रहा। तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ॥२॥
[illegible] ब्रह्मा च सर्वदेवनमस्कृतः ॥३॥

श्रीशिवभक्तिके विविध रूप

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०)

यह विषय अब भी विवादास्पद है कि मुख्य शैव-सम्प्रदाय कौन-कौन-से थे; क्योंकि शैवमत अत्यन्त प्राचीन है। बहुत-से विद्वानोंने शैव, नकुलीश अथवा पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है। कई सम्प्रदायोंमें कुछ बीभत्स बातोंके कारण—यथा मनुष्यकी खोपड़ीमें भोजन करना, मद्यपान करना और कहीं-कहीं मुर्दा इत्यादि भक्षण करनेके कारण कुछ लोगोंने शैव-सम्प्रदायोंमें कुछ अवैदिक सम्प्रदाय भी माने हैं। पर मेरा विचार ऐसा नहीं है। मैं समझता हूँ कि सकाम उपासनाके कारण मद्य, मांस, नरबलि इत्यादिका प्रचार इसलिये हुआ कि इन चीजोंमें विशिष्ट शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो अत्यन्त रहस्यमय हैं। इनका कुछ वर्णन मदाम नीलकृत "With Mystics and Magicians in Tibet" में मिलेगा। सिद्धियोंके फेरमें पड़े हुए सकाम उपासक अपनी विजयसे चौंधिया उठते हैं और कभी-कभी बीभत्स कृत्योंपर भी उतर आते हैं। किंतु इस प्रकारकी सिद्धि केवल भ्रममात्र है और केवल थोड़े ही समयके लिये होती है। निष्काम उपासनामें जो प्रसन्नता, हृदयका हल्कापन तथा सांसारिक विषयोंसे मुक्ति मिलती है, उसका तो कहना ही क्या। उसमें केवल भाव ही प्रधान है और उपासनामें जो कुछ कमी होती है, वह इष्टदेव स्वयं ही पूर्ण कर लेते हैं।

शुद्ध शैव-सम्प्रदायका रूप तो वह है, जो काशीके शिवभक्तोंमें है। उसका कुछ वर्णन मैंने एक अन्य लेखमें किया है। इसमें केवल गङ्गाजल, चन्दन, सुगन्धित पुष्प, बिल्वपत्र, आकके फूल, धतूरा, कर्पूर इत्यादि ही सेवन किये जाते हैं और भगवान् शंकरपर नैवेद्यके रूपमें कच्चा दूध चढाया जाता है। भक्त इसी पूजासे प्रसन्न होता है। उसे कुछ भी माँगना नहीं रहता। शुद्ध पूजा ही उसको परम आनन्द देती है।

नकुलीश-सम्प्रदाय, जिसे पाशुपत सम्प्रदाय भी कहते हैं, भारतके पश्चिमी प्रान्तोंमें यथा राजस्थानके कुछ भागों तथा बम्बई प्रदेशमें पाया जाता है। नकुलीशका जन्मस्थान कायावरोहण-तीर्थ कहा जाता है, जो सूरतके निकट है। उनके दाहिने हाथमें मोटा-सा डंडा तथा बायें हाथमें बीजपूरक अथवा जम्बीरी नीबू दिखलाये जाते हैं। इस सम्प्रदायकी विशेष बातें तो अबतक अज्ञात ही हैं; पर [illegible] लेखकने बम्बईके जोगेश्वरी नामक स्थानपर जोगेश्वरी गुफाका दर्शन किया, तब भित्तिमूर्तियोंको देखनेसे यही ज्ञात हुआ कि शिवजीके विविध चरित्र—यथा अन्धकासुर-वध, [illegible]-परिणय, नन्दीक्षोभ इत्यादि दिखलाये गये हैं। इन मूर्तियोंको देखनेसे कोई अश्लील बात नहीं प्रकट होती। अब इस सम्प्रदायके लोग बहुत कम देखे जाते हैं।

कालामुख-सम्प्रदाय मद्रास प्रदेशके अधिक भागोंमें तथा मध्यप्रदेशमें कलचुरि राजाओंके समयमें प्रचलित था। इसमें भी कपालमें भोजन इत्यादि कुछ बातें थीं, जिनका उद्देश्य केवल सकाम सिद्धि ही कहा जा सकता है। बहुत दिनों तक यह सम्प्रदाय खूब फला-फूला। इसके सुन्दर-सुन्दर मठोंके भग्नावशेष ग्वालियर तथा रीवाँ प्रान्तोंमें मिले हैं। इस सम्प्रदायमें अच्छे-अच्छे साधु गुरु हो चुके हैं और [illegible] कलचुरीय राजाओंके समयमें इसकी समृद्धि अपनी [illegible] सीमापर थी। इस सम्प्रदायके लोग भी अब [illegible] मिलते हैं।

कापालिक-सम्प्रदायका प्रचार महाराष्ट्र देशमें [illegible] था और वहीं अब भी भैरवकी उपासना [illegible] पायी जाती है। काशीके महाराष्ट्र [illegible] प्रसिद्ध कालभैरवके मन्दिरको विशेष सम्मान देते हैं। [illegible] हैं इस सम्प्रदायमें मद्यका सेवन होता है [illegible] दी जाती थी। किंतु यदि [illegible] उपासनाकी ही द्योतक हैं। भैरवकी उपासना तो [illegible] रहस्यमय मानी जाती है, पर इसमें [illegible] कोई त्रुटि नहीं होती।

इस समय अघोर-सम्प्रदायके भी [illegible] पड़ते हैं। इस उपासनामें मृत [illegible] उसी प्रकार सेवन किये जाते हैं, [illegible] यह बड़ी कठोर उपासना है, पर [illegible] काशीमें सुप्रसिद्ध [illegible] तथा [illegible] कथा अबतक लोग सुनाते हैं।

वीरशैव अथवा [illegible]-सम्प्रदाय [illegible] छः सौ वर्ष पूर्व प्रादुर्भूत हुआ। इसने भी [illegible]

अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसकी स्तुति करते हैं और उस स्तुतिके द्वारा अपनी वाणीको पवित्र करते हैं।

सबसे पहले पुष्पदन्त कहते हैं कि 'हे प्रभो! यह विश्वका सृजन, पालन और संहार तुम्हारी ही विभूतियाँ हैं। जो लोग इस विषयमें शङ्का करते हैं, नाना प्रकारके कुतर्क उठाते हैं—जैसे, *ईश्वर क्यों सृष्टि आदि करता है, कैसे करता है, क्या उसका आधार है, कौन-से उपादान हैं;* इत्यादि—वे लोग निश्चय ही मन्दमति हैं, हतबुद्धि हैं, जड़मति हैं। ऐसी शङ्काएँ करके वे लोगोंको व्यामोहमें डालते हैं। तुम्हारी महिमा न जाननेके कारण ही वे ऐसी भूल करते हैं।

'हे प्रभो! तुम स्वात्माराम हो, अपने ही आत्मामें—चिदानन्दघन स्वरूपमें रमण करते हो। यह सारा विश्व तुम हो, तुम्हारी लीला है। इसलिये जगत्को जो सत् एवं ध्रुव कहते हैं तथा दूसरे जो उसे अध्रुव, असत् कहते हैं, उन दोनोंकी धृष्टता है, मुखरता है। यह सब तुम्हीं तो हो। यह जो कुछ है, तुम्हारा ही ऐश्वर्य है। तुम्हारे इस अनन्त ऐश्वर्यको देखकर मैं विस्मित हो रहा हूँ। मुझे स्तवन करनेमें लज्जा आ रही है।'

इसके पश्चात् पुष्पदन्त परमेश्वरकी महिमाको मन और वाणीके अगोचर बतलाकर उनके अर्वाचीन पद अर्थात् भक्तोंके अनुग्रहके लिये गृहीत वृषभ, पिनाक, पार्वती आदिसे युक्त सगुण लीलारूपका स्तवन करना प्रारम्भ करते हैं। पहले वे उनके तेजःपुञ्ज रूपकी महिमाका गान करते हैं—

> तवैश्वर्यं यत्नाद् यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
> परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
> ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
> स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति॥१०॥

'हे गिरिश! तुम्हारे तेजःपुञ्ज मूर्तिके ऐश्वर्यकी इयत्ताको जाननेके लिये ऊपरकी ओर ब्रह्मा और नीचेकी ओर श्रीहरि गये, परंतु उसकी थाह पानेमें समर्थ नहीं हुए। तब (असमर्थ) होकर दोनों ही अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक तुम्हारी स्तुति करने लगे। तब हे प्रभो! तुम साक्षात् उनके सामने उपस्थित हो गये। भला, तुम्हारी अनुवृत्ति क्या कभी निष्फल जाती है? अपना अनुवर्तन करनेवालोंको तुम साक्षात्कारतक प्रदान करते हो।

'हे त्रिपुरारि! तुम्हारी भक्तिका अद्भुत प्रभाव है। रावणने अपने सिरको कमलकी तरह तुम्हारे चरणोंपर चढ़ा दिया तो तुम द्रवित हो उठे। तुम्हारी कृपासे वह अनायास ही त्रिभुवनविजयी हो गया। त्रिलोकीमें उसका कोई शत्रु नहीं रहा।

> अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
> दशास्यो यद् बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
> शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
> स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम्॥११॥

तथा—

> यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सतीं-
> मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
> न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
> र्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः॥१२॥

'बाणने जो त्रिभुवनको अपने अधीन करके इन्द्रके परम ऐश्वर्यको भी तिरस्कृत कर दिया था, वह, हे वरद! तुम्हारे चरणोंकी पूजा करनेवालेके लिये कोई आश्चर्यकी बात न थी। तुम्हारे सामने सिर नत करनेवाला कौन उन्नतिको प्राप्त नहीं होता?'

इस प्रकार शिवभक्तिकी महिमा वर्णन करते हुए पुष्पदन्त शिवकी करुणाका उल्लेख करते हैं। जब सिन्धु-मथनके उपरान्त कालकूट नामक महाविष निकला, तब उसकी ज्वालामें अखिल ब्रह्माण्ड संतप्त हो उठा। उसके बढ़ते हुए तापको देखकर देवता और असुर दोनों भयभीत हो उठे; ऐसा जान पड़ता था मानो अकालमें ब्रह्माण्डका नाश हो जायगा। भगवान् शिवने उनके भयसे करुणार्द्रचित्त होकर उस कालकूटको उठाकर पान कर लिया। वह विष पीनेसे शिवका कण्ठ नीला हो गया, वे नीलकण्ठ कहलाने लगे। चतुर्दश भुवनोंके भयको दूर करनेवाले शिवके कण्ठकी वह कालिमा भी शोभा देने लगी और वह स्तुतिकी वस्तु हो गयी—

> अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
> विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
> स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
> विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः॥१४॥

जो जितेन्द्रिय हैं, संयममें रत हैं, उनका तिरस्कार करना अहितकर होता है। कामदेवके बाण जो विश्वविजयी हैं, देवता, असुर और मनुष्य—कोई भी जिनके लक्ष्यसे बचकर नहीं जा सकता, ऐसा शक्तिशाली कामदेव भी तुम्हारी ओर लक्ष्य करके तत्काल भस्म हो गया। अपने इस कार्यके द्वारा हे प्रभु! जगत्को तुमने संयमीका तिरस्कार न करनेकी शिक्षा दी—

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा नहि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥ १५ ॥

[illegible] नहीं हुए शङ्करके [illegible] [illegible] करते हुए कहते हैं—

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥ १७ ॥

'हे प्रभो ! तुम्हारे दिव्य वपुके अनन्त महिमान्वित होनेका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि जो गङ्गाजलका महाप्रवाह आकाशव्यापी हो रहा था और जिसमें उठते हुए बुद्बुदोंकी शोभाको तारागण द्विगुणित कर रहे थे तथा भूतलपर आकर जिसने समुद्ररूपी वलयसे जगत्‌को द्वीपाकार बना दिया, वह गङ्गाजलका महाप्रवाह तुम्हारी विशाल जटाओंमें एक जलबिन्दुके समान दीख पड़ता है ।'

आगे शिवभक्तिके अपूर्व फलका निर्देश करते हुए कहते हैं—

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥ १९ ॥

'हे त्रिपुरारे ! श्रीहरिने सहस्र कमलोंसे तुम्हारी अर्चना प्रारम्भ की और तुमने उनकी भक्तिकी परीक्षाके लिये उनमें एक कमलकी कमी कर दी; तब उन्होंने अपना एक नेत्र-कमल उखाड़कर चरणोंमें भेंट की और वह भक्तिका अत्यन्त प्रकर्ष सुदर्शनचक्रके रूपमें परिणत हुआ, जो सावधानीसे त्रिलोकीकी आज भी रक्षा कर रहा है ।'

'हे शम्भो ! तुम श्मशानोंमें क्रीड़ा करते हो, प्रेत पिशाच तुम्हारे सहचर हैं, चिताभस्म शरीरमें लगाते हो, मनुष्योंके कपालोंकी माला धारण करते हो। इस प्रकार तुम्हारा सारा-का-सारा शील (चरित्र) अमङ्गलमय है। परन्तु हे वरद ! जो तुमको स्मरण करते हैं, उनके लिये तुम परम मङ्गलमय हो—

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥ २४ ॥

'जिसे मुमुक्षु लोग शास्त्रविधि प्राणायामके द्वारा मनको रोककर अपने अन्तःकरणके भीतर जिस तत्त्वका दर्शन करके रोमाञ्चित हो उठते हैं, उनकी आँखोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं और मनमें ऐसा आह्लाद उत्पन्न होता है मानो अमृतके सरोवरमें स्नान करके निकले हों—वह तत्त्व, हे शङ्कर ! तुम्हीं हो ।'

इस प्रकार भगवान् शिवके सगुण निर्गुणरूपका स्तवन करते हुए पुष्पदन्त शिवाद्वैत सिद्धान्तका निर्देश करते हैं—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत् त्वं न भवसि ॥ २६ ॥

'तुम्हीं सूर्य हो, तुम्हीं चन्द्रमा हो, तुम्हीं पवन हो, अग्नि हो, जल हो, व्योम हो, पृथिवी हो और आत्मा तुम्हीं हो—इस प्रकार बुद्धिमान् लोग परिच्छिन्न रूपसे भले ही तुम्हारा गुणानुवाद करें। परंतु हे प्रभो ! हम तो ऐसा कोई तत्त्व नहीं देखते, जो तुम नहीं हो। अर्थात् एकमात्र तुम-ही-तुम हो और कुछ नहीं है।'

शिवकी इस अष्टमूर्तिका निर्देश महाकवि कालिदासने भी अपने अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकके आदिमें 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या०' इस नान्दीपाठमें किया है। और 'आत्मा त्वमिति च' कहकर भगवान् शंकराचार्यने मानसपूजाका सुन्दर उपसंहार किया है।

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

'हे शिव ! मेरे आत्मा तुम हो, बुद्धि पार्वती देवी हैं, प्राण तुम्हारे गण हैं, यह शरीर तुम्हारा मन्दिर है, इन्द्रियोंके द्वारा रूप रस आदि विषयोंका उपभोग तुम्हारी पूजा है, निद्रा समाधिस्थिति है, और चरणोंके द्वारा जो चलता फिरता हूँ, वही तुम्हारी प्रदक्षिणा हो रही है; जो कुछ बोलता हूँ, वह सब तुम्हारी स्तुति है तथा हे शम्भो ! जो-जो कर्म मैं करता हूँ, वह सब तुम्हारी आराधना है ।'

मानवीय जीवन जब इस प्रकार आराधनामय हो जाता है, तब उसकी कृतकार्यता सम्पन्न होती है। परंतु जबतक 'द्रष्टा दृश्य सब अद्वय तत्त्व ही है, परमेश्वर ही सब कुछ है' इस अद्वैत ज्ञानकी अनुभूति नहीं होती, तबतक क्या यह पूर्ण आराधना सम्पन्न हो सकती है ! पुष्पदन्त प्रभुके इस सर्वात्मभावका निर्देश करके उन्हें नमस्कार करते हैं—
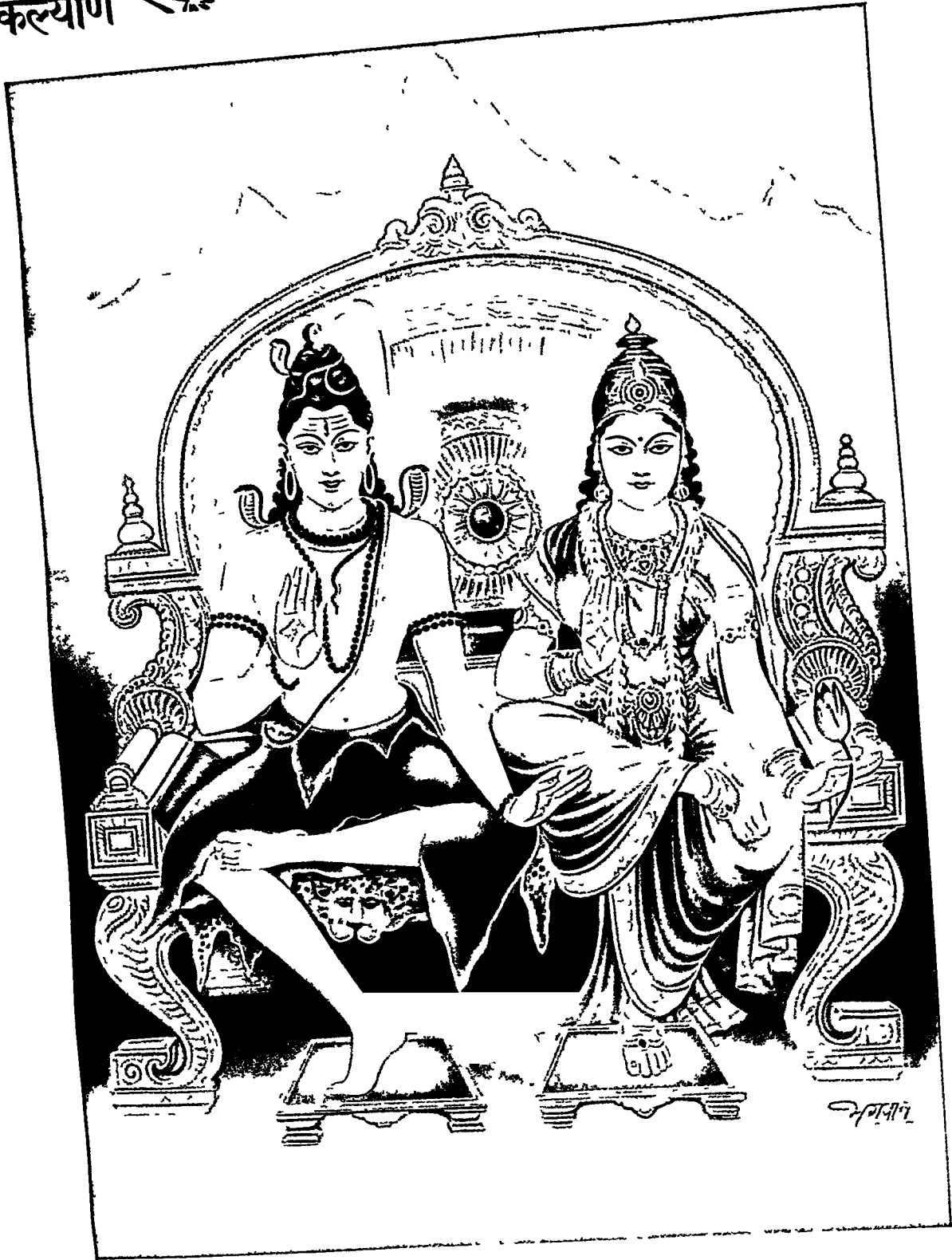
भक्तोंके परमाराध्य श्रीभवानी-शंकर

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नमः॥

'हे प्रियदव (अरण्यप्रिय !) अत्यन्त निकटवर्ती तुझको नमस्कार ! और अत्यन्त दूरवर्ती तुझको नमस्कार ! अत्यन्त लघुरूप तुझको नमस्कार ! अत्यन्त वृहद्रूप तुझको नमस्कार ! अत्यन्त ज्येष्ठरूप तुझको नमस्कार ! अत्यन्त कनिष्ठरूप तुझको नमस्कार ! यह सारा विश्व तुम्हारा ही रूप है, उस सर्वस्वरूप तुझको नमस्कार ! तथा इस सबका संहार करनेवाले तुझको नमस्कार !'

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः॥

'विश्वकी उत्पत्तिके लिये रजोबाहुल्यरूप भवको पुनः-पुनः नमस्कार ! विश्वके संहारके लिये प्रबल तमोरूप हरको बार-बार नमस्कार ! संसारको सुख प्रदान करनेके लिये सत्त्वाधिक्यरूप मृडको बारबार नमस्कार ! त्रिगुणातीत महान् ज्योतिःस्वरूप शिवको नमस्कार और फिर नमस्कार !'

इस प्रकार स्तुति करनेके बाद पुष्पदन्त अपने उपास्य-देवको अन्तिम पुष्पोपहार देते हुए कहते हैं—

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम्॥

'कहाँ तो यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशोंके वशीभूत, स्वल्पविषया मेरी बुद्धि, और कहाँ तुम्हारी त्रिगुणोंकी सीमाको भी अतिक्रान्त करनेवाली शाश्वती ऋद्धि ! तथापि हे वरदायक प्रभो ! इस प्रकार डरकर निरुत्साह हुए मुझमें आपकी भक्तिने ही उत्साहका सञ्चार करके यह वाक्यरूपी पुष्पोंका उपहार तुम्हारे चरणोंमें भेंट कराया है।'

तुम्हारा स्तवन तो मैं क्या कर सकता हूँ प्रभो !

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

'यदि काले पहाड़के समान काजलकी राशि हो और सिन्धु उसको घोलनेका पात्र बने, कल्पवृक्षकी शाखाएँ लेखनी बनें, पृथिवी कागज बने और उस लेखनीको हाथमें लेकर उस कागजपर स्वयं सरस्वती देवी सदा निरन्तर लिखती जायँ, तो भी, हे परमेश्वर ! तुम्हारे गुणोंका पार नहीं पा सकतीं।'

स्तोत्रको समाप्त करते हुए श्रीपुष्पदन्त कहते हैं—

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः।
अर्पिता तेन देवेश प्रीयतां मे सदाशिवः।
प्रीयतां मे सदाशिवः॥

'यह महिम्नस्तोत्ररूपी वाङ्मयी पूजा मैंने भगवान् शङ्करके चरण-कमलोंमें अर्पित की है। इससे वे देवाधिपति सदाशिव मुझपर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों।'

तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर।
यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः॥

'हे महेश्वर ! तुम कैसे हो, तुम्हारा क्या स्वरूप है, यह मैं नहीं जानता। हे महादेव ! तुम जैसे भी हो, वैसेको ही मेरा बार-बार नमस्कार !'

इस स्तोत्रमें शिवके सगुण-निर्गुण दोनों रूपोंकी महिमाका गुण-गान, भक्तोंके ऊपर उनकी अमोघ करुणा और कृपा-दृष्टि, सर्वभूत-सर्वदेवमयता, नाना प्रकारसे नमस्कृति, महिमाकी निस्सीमता, उनके गुणोंके वर्णनमें शारदाकी भी असमर्थता और अन्तमें अपनी प्रणति पुष्पाञ्जलिका वर्णन किया गया है। शिव-तत्त्व, शिवभक्ति, भक्तिका फल, नमस्कृति आदि तत्त्वोंके सुन्दर समावेशके कारण तथा इस स्तुतिके द्वारा पुष्पदन्तपर शिवकी कृपा होनेके कारण यह स्तोत्र सब स्तोत्रोंमें श्रेष्ठ है—ऐसी ख्याति है। फलश्रुतिके अन्तमें कहते हैं—

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः॥

'श्रीपुष्पदन्तके, जो शिवजीके प्रसिद्ध अनुचर थे, मुख-कमलसे यह स्तोत्र निकला है। यह पापोंका नाश करनेवाला है, शिवजीको प्रिय है। जो कोई इसको कण्ठाग्र करके समाहित चित्तसे पाठ करता है, भूतपति श्रीशङ्करजी उसपर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।'

गायत्रीमेव यो ज्ञात्वा सम्यगुच्चारयेत् पुनः।
इहामुत्र च पूज्योऽसौ ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्॥

'समयपर संध्या-वन्दन करनेसे वह स्वर्ग तथा मोक्ष देती है। गायत्रीके जपमें निरत व्यक्ति मोक्षका उपाय जान जाता है—मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जो श्रेष्ठ व्रतधारी व्यक्ति निरन्तर (बिना लाँघा) संध्याकी उपासना करते हैं, उनके सभी पाप धुल जाते हैं और वे अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। गायत्रीके यथार्थ भावको—मन्त्रार्थको जानकर, और उसमें जिस तत्त्वको कहा गया है, उसकी विधिपूर्वक उपासना करके प्राणी ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। जो तीन वर्षोंतक प्रतिदिन सावधान रहकर गायत्रीका जप करता है, वह वायुरूप तथा आकाशरूप होकर मायातीत ब्रह्ममें लीन हो जाता है। जो हृदय-कमलमें गायत्रीका ध्यान करते हुए गायत्री मन्त्रका जप करता है, वह सभी पाप-पुण्योंसे विनिर्मुक्त होकर श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करता है। जो गायत्रीको ठीक-ठीक जानकर उसका उपदेश करता है, वह इस लोक तथा परलोकमें भी पूजित होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।'

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल गायत्री-मन्त्रसे ही होती है। इसीलिये चारों वेदोंमें गायत्री-मन्त्रको सबसे श्रेष्ठ बतलाया गया है। तथा मृत्युलोकका कल्पवृक्ष अथवा कामधेनु केवल गायत्री-मन्त्र ही है।

तदित्यृचः समो नास्ति मन्त्रो वेदचतुष्टये॥
सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च।
समानि कलया प्राहुर्मुनयो न तदित्यृचः॥
सा काले सेविता नित्यं संध्या कामदुघा भवेत्॥
बहुना किमिहोक्तेन यथावत् साधुसाधिता।
द्विजन्मनामियं विद्या सिद्धिकामदुघा मता॥

'चारों वेदोंमें 'तत्सवितुः' इत्यादि गायत्री-मन्त्रके समान और कोई भी मन्त्र नहीं है। सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, दान एवं तपोंको उस गायत्री-मन्त्रके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं कहा गया है। नियत कालपर सेवन करनेसे संध्या सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करती है। अधिक क्या कहा जाय भलीभाँति उपासना करनेपर ब्राह्मणोंको यह गायत्री-मन्त्र सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्रदान करता है।'

स्नेहमयी माताके वात्सल्यपूर्ण अङ्कको त्यागकर गुरुकुलमें जाते समय एक पाँच-सात वर्षकी अवस्थाके ब्रह्मचारीके लिये माताका स्थान गायत्री कैसे ले सकती है? मेरे मनमें एक बार शङ्का हुई। इसपर मुझे निम्नाङ्कित श्लोक मिला—

तत्र तद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

परंतु आज अपनी अनियमित, अल्प, त्रुटिपूर्ण और निम्न प्रकारकी सन्ध्योपासनाके साथ गायत्रीकी कृपाके कई अनुभवोंको तौलनेपर मुझे गायत्रीकी कृपाका पलड़ा ही नीचे जाता हुआ दीखता है। इससे मुझे विश्वास हो गया है कि गायत्री बाल-ब्रह्मचारीकी तो क्या, समग्र विश्वकी माता है।

दयालुः शक्तिसम्पन्ना माता बुद्धिमती यथा।
कल्याणं कुरुते ह्येषा प्रेम्णा बालस्य चात्मनः॥
तथैव माता लोकानां गायत्री भक्तवत्सला।
विदधाति हितं नित्यं भक्तानां ध्रुवमात्मनः॥

'जैसे दयालु बुद्धिमान् एवं शक्तिसम्पन्न माता प्रेमवश अपने बालकका हित करती है, उसी तरह भक्तवत्सला लोकमाता गायत्री निश्चयपूर्वक सदा ही अपने भक्तोंका कल्याण ही करती है।'

भक्तवत्सला गायत्री माताकी कृपाके अनुभवसे प्रभावित और आश्चर्यचकित होकर गायत्री उपासनाके माहात्म्यका गान करते हुए प्राचीन ऋषि-महर्षि कभी थकते नहीं, बल्कि मुक्तकण्ठसे उसका गुणगान करते हैं। गायत्री उपासनाने खुले हाथों ब्रह्मज्ञानका दान किया है—

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादनुष्ठानादिकं तथा।
गायत्रीमात्रनिष्ठस्तु कृतकृत्यो भवेद् द्विजः॥
निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसंध्याकरणात् तत् सर्वं हि प्रणश्यति॥
नित्यनैमित्तिके काम्ये तृतीये तपवर्द्धने।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति इह लोके परत्र च॥
गायत्रीं जपते यस्तु द्वौ कालौ ब्राह्मणः सदा।
असत्प्रतिग्रहीतापि स याति परमां गतिम्॥
संध्यासु चार्घ्यदानं च गायत्रीजपमेव च।
सहस्रत्रितयं कुर्वन् सुरैः पूज्यो भवेन्मुने॥
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे।
तस्मात् तामभ्यसेन्नित्यं ब्राह्मणो नियतः शुचिः॥
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥

[illegible] दः सदा ।
[illegible] ॥
[illegible] प्रोक्तं ब्रह्मत्वं यत्र तिष्ठति ।
[illegible] न स [illegible] उच्यते ॥
[illegible] तदा तु सः ।
[illegible] देव गायत्रीजपमाचरेत् ॥
[illegible] त्रिविधानलघातकम् ।
[illegible] भयानां वारणाय च ॥
[illegible] र्विवर्धते ।
[illegible] सामीप्यं परमात्मनः ॥
[illegible] तु संसिद्धेद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
[illegible] वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
[illegible] यस्तु विप्रो वै जपेत नियतः सदा ।
स याति परमं स्थानं वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
गायत्रीं तु परित्यज्य अन्यमन्त्रमुपासते ।
सिद्धान्नं च परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिः ॥
[illegible] समुत्थाय कृतशौचः समाहितः ।
[illegible] सन्ध्यामुपासीत सर्वकालमतन्द्रितः ॥
एकान्ते सुशुचौ स्थित्वा संध्याविधिमथाचरेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः ।
गायत्रीं तु जपेद् भक्त्या सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥
अतः स्वस्थेन चित्तेन श्रद्धया निष्ठया तथा ।
[illegible] नित्यं गायत्र्युपासना ॥
[illegible] मावनायास्तु साधकः ।
[illegible] गायत्र्याः कृपां प्राप्नोत्यसंशयम् ॥

'ब्राह्मण [illegible] धर्म क्रियाओंका अनुष्ठानादि करे या न [illegible] में निष्ठा रखनेसे वह कृतार्थ हो जाता है । [illegible] अज्ञानवश जो कुछ भी (अनुचित) कर्म [illegible] आचरणसे वे सब नष्ट हो जाते हैं । [illegible] नैमित्तिक तथा काम्य—इन तीनों प्रकारके कृत्यों- [illegible] सर्वार्थक साधन इस लोक तथा परलोक- [illegible] है । जो ब्राह्मण दोनों समय गायत्रीका जप [illegible] प्रतिग्रही (बुरे दान लेनेवाला) होनेपर [illegible] प्राप्त होता है । तीनों सन्ध्याओंमें अर्घ्यदान तथा [illegible] ([illegible]) गायत्रीका जप करने- [illegible] भी [illegible] है । गायत्रीदेवी नरक-समुद्रमें गिरते हुए लोगोंको हाथ पकड़कर उबारनेवाली हैं, इसलिये ब्राह्मणको पवित्र तथा नियमपूर्वक रहकर गायत्रीका अभ्यास करना चाहिये । गायत्री वेदोंकी माता है, गायत्री पापोंका नाश करनेवाली है । इस लोकमें तथा परलोकमें भी गायत्रीसे बढ़कर पवित्र कुछ नहीं है । जो नित्य स्नान करता तथा संध्याका लोप करनेसे डरता है, उसके पास कोई भी दोष उसी तरह नहीं फटकते, जैसे गरुड़के पास सर्प । उपर्युक्त तीनों संध्याएँ ही वह वस्तु हैं, जिसके आधारपर ब्राह्मणत्व टिका रहता है; जिसकी उनमें आस्था—श्रद्धा नहीं, उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता । जब संसारमें मनुष्य विपन्न अवस्थामें हो, तब उसे मौन संध्या एवं गायत्रीका मानसिक जप कर लेना चाहिये । (सभी प्रकारके) भयोंकी निवृत्तिके लिये रोग, शोक, चिन्ता एव दैन्यको भगा देनेवाली गायत्रीका अनुष्ठान—जप करना चाहिये ।

'गायत्रीकी उपासना करनेसे आत्म-शक्ति बढ़ती है और क्रमशः अजन्मा परमात्माकी समीपता प्राप्त होती है । ब्राह्मण गायत्रीके जपमात्रसे सिद्ध (कृतकृत्य) हो जाता है, वह और कुछ करे या न करे; क्योंकि ब्राह्मणको मित्रदैवत (सूर्योपासक) कहा जाता है । जो ब्राह्मण नियमित रूपसे सदा गायत्रीका जप करता है, वह (मृत्युके अनन्तर) वायुरूप तथा आकाशरूप होकर परम गतिको प्राप्त होता है । जो गायत्रीको छोड़कर किसी दूसरे मन्त्रकी उपासना करता है, वह मूर्ख मानो सिद्ध भोजनका परित्याग करके भीख माँगता फिरता है । प्रतिदिन प्रातःकालमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान करके समाहित चित्तसे निरालस्य होकर सदा सन्ध्योपासन करना चाहिये । एकान्त पवित्र स्थलमें स्थिर होकर सन्ध्या-विधिका अनुष्ठान करना चाहिये । इसलिये स्नान करके पवित्र मनसे भक्तिपूर्वक सर्वपापनाशिनी गायत्रीका प्रयत्नपूर्वक जप करना चाहिये । अतः स्वस्थचित्तसे श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक यथासमय नित्य बिना लाँघा गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये । साधक भगवती गायत्रीकी थोड़ी-सी भी साधना—उपासनासे उनकी कृपा प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं ।'

गायत्री-उपासनाका थोड़ा भी प्रचार करनेवाला अक्षय पुण्यका भागी होता है—

प्रसादं ब्रह्मज्ञानस्य येऽन्येभ्यो वितरन्त्यपि ।
आसादयन्ति ते नूनं मानवाः पुण्यमक्षयम् ॥

श्रीनीलकण्ठ दीक्षित और उनका 'आनन्दसागरस्तव'

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते)

श्रीनीलकण्ठ दीक्षित जगत्प्रसिद्ध विद्वान् महान् शैव श्रीअप्पय्य दीक्षितके सगे भाई अच्चा (आचार्य) दीक्षितके पौत्र थे । इनके माता-पिता बाल्यकालमें ही दिवंगत हो गये; अतः इनके पूर्ण पालन-पोषणका भार इनके पितामह अप्पय्य दीक्षितपर ही पड़ा । अप्पय्य दीक्षितका इनपर अत्यधिक स्नेह था । उनकी ही गोदमें बैठकर इनका सारा श्रौत-स्मार्तादि शास्त्रोंका अध्ययन हुआ । ये महान् पण्डित, महान् कवि और जगदम्बा मीनाक्षी देवीके महान् भक्त थे । अप्पय्य दीक्षित इनके दीक्षागुरु भी थे । इन्होंने अपने 'आनन्दसागरस्तव' के द्वारा जगदम्बा मीनाक्षीको जिस प्रकार रिझाया है, वह अत्यन्त दर्शनीय तथा मननीय है । नीचेकी पंक्तियोंमें उन्हीं सूक्तियोंका कुछ चमत्कार दिखाया गया है ।

'आनन्दसागरस्तव'के आरम्भमें श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने जगदम्बासे कहा है—

> आक्रन्दितं रुदितमाहतमानने वा
> कस्यार्द्रमस्तु हृदयं किमतः फलं वा ।
> यस्या मनो द्रवति या जगतां स्वतन्त्रा
> तस्यास्तवाम्ब पुरतः कथयामि खेदम् ॥

'माँ ! मैं चाहे रोऊँ, चिल्लाऊँ, अपने हाथसे अपने मुँहपर थप्पड़ मारूँ, इससे किसका हृदय पसीजेगा ! और इससे फल भी क्या होगा ? जिसका मन सचमुच द्रवित हो जाता है और जो इस जगत्-व्यापारके लिये स्वतन्त्र है, ऐसी तो तुम्हीं हो । अतः तुम्हारे सामने हृदयकी वेदना (खेद) को प्रकट करता हूँ ।'

आगे कहते हैं—

'जब मेरा मन व्याकुल रहे, वाणी लड़खड़ाने लगे, मेरी आँखें जब पथरा जायँ, हे माँ ! उस समय मेरी उस अवस्थाको तुमसे कौन निवेदन करेगा ? जब समय आ जाय, तब मुझपर दया करना—ऐसी आज ही मैं तुमसे प्रार्थना कर रखता हूँ ।'

पुनः कहते हैं—

'जिस प्रकार ग्रामीणजन शहरमें आनेपर शहरके कृत्रिम वातावरणसे प्रभावित हो जाते हैं और वे साधारण जनोंको महान् और मामूली मकानको भी [illegible] हैं, उसी प्रकार अधिकांश जन [illegible] उपासना करते हैं, किंतु हे माँ ! मेरा मन तो [illegible] श्रीचरणोंमें इस प्रकार रमा हुआ है कि कोई [illegible] उसे खींचे, वह तनिक भी [illegible] नहीं होता ।'

नीलकण्ठजी आगे कहते हैं—

'माँ ! तुम मुझे अङ्गीकार करो या न करो, [illegible] या त्याग करो, मैं तो तुम्हारा दास हूँ और 'मैं [illegible] दास' इस वचनसे ही तीनों लोकोंको जीत लिया । [illegible] ही नहीं, अन्तिम समय जब यमराजके दूत [illegible] लेकर सामने आयें, उस समय [illegible] ! हम जगदम्बाके दास हैं—केवल इतने कथन, [illegible] आभाससे—मैं उन यमदूतोंको [illegible] ऐसा मेरा दृढ विश्वास है ।'

आगे देखिये—

'वेदान्त-वाक्योंमें उत्पन्न निर्मल अपरोक्ष [illegible] मनुष्य मुक्ति पाते हैं, इन श्रुति-सिद्धान्तोंके [illegible] मातः ! कितने लोग तर सकते हैं ?'

'एक-एक वेदकी कितनी कितनी शाखाएँ हैं, उन वेदोंके नाना उपनिषद् हैं । उन सबका अर्थज्ञान [illegible] ज्ञान कितने मनुष्योंको [illegible] सकता है ?'

फिर कहते हैं—

'सहस्रों जन्मोंके अनन्तर [illegible] हो जाय; परंतु उसके बाद [illegible] विकल्प-तरङ्गोंसे भरे हुए प्रतिकूल [illegible] कैसे पार किया जायगा !'

आगे देखें—

'पहले ज्ञान हुआ कि ब्रह्म [illegible] समर्थ नहीं है । फिर ज्ञान हुआ कि नहीं, [illegible] समर्थ है । फिर ज्ञान हुआ कि वह [illegible] है—बन्धनसे मुक्त करनेवाली है; फिर अनुभव हुआ कि वह मायामयी है । उसके बाद अनुभव हुआ कि [illegible]

उपासक पूजाके अन्तमें हाथमें जल लेकर 'मां मदीयं च सकलं श्रीजगदम्बाचरणयोः समर्पये ॐ तत्सत् ।' यह कहते हुए स्वात्मार्पण करते हैं । श्रीनीलकण्ठ दीक्षित कहते हैं—

'माँ ! मेरे गुरु अप्पय्य दीक्षितने तुम्हारे चरणोंपर अपने समस्त कुलसहित मेरा अर्पण कर दिया है । उसी अर्पण-जलमें बहते हुए मैं तुम्हारे चरणोंपर आकर गिर पड़ा । अब माँ ! मैं तुम्हारा कुलदास हूँ । मेरी उपेक्षा करनेकी तुम्हारी क्या बिसात है ? और मेरी तुम कुलदेवता हो, मैं तुम्हारी उपासना किये बिना रह नहीं सकता ।

'माँ ! मैं तो 'सरकारी ढोर' के समान हूँ । यदि मैं कभी भूलकर भी किसी दूसरे देवताके मन्दिरमें चला जाऊँ और उसकी उपासना करने लगूँ तो क्या मुझपर उस देवताका अधिकार हो जायगा ? जिस प्रकार किसी खेतमें यदि कोई पशु चरने चला जाय तो उस खेतका मालिक उस पशुको अपना नहीं बता सकता, उसी प्रकार मैं तो तुम्हारा ही दास अपनेको सदा मानूँगा; क्योंकि मुझपर सरकारी छाप पड़ी है ।'

संसारके प्राणियोंको लक्ष्यकर श्रीनीलकण्ठ दीक्षित कहते हैं—

'अरे मूर्खो ! तुमलोग अपने सिरपर इतना बोझा लादे क्यों परीशान हो रहे हो ? क्यों न सारा बोझ जगदम्बाके चरणोंमें अर्पणकर भार-मुक्त हो जाते ? उसके बाद यह संसार तुम्हें सागरके बजाय गड्ढेकी तरह प्रतीत होगा और उसे तुम सुगमतापूर्वक पार कर लोगे ।

'मेरा शरीर कहाँ गिरेगा, उसके बाद मुझे कहाँ जाना होगा और कौन मेरे पाप-पुण्यका लेखा लेकर मुझे कितने समयतक दण्ड देगा और उससे बचनेका साधन क्या है ?—इत्यादि अनन्त चिन्ताएँ मेरे मनमें थीं । उन सबको अपने सिरसे उतारकर मैंने तुम्हारे चरणोंपर रख दिया है ।

'सांख्यमतके अनुसार जड और चेतनका विवेक, पृथ्वीसे लेकर शिवपर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंका परिशोधन—यह सब मेरी दृष्टिमें माताके चरण-युगलमें अपनी आत्माको समर्पण कर देना ही है और यही कोटि-कोटि आगमोंसे प्राप्त होनेवाला शैवागमका ज्ञान है ।

'हे हालास्यनाथदयिते ! उक्त प्रकारके छत्तीस आवरणोंके बीचमें रहनेवाली तुम्हारी पादुकाओंपर मैंने अपनी आत्मा चढ़ा दी है । अब पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल—इन लोकोंमें रहनेवाला कौन ऐसा समर्थ है, जो मेरी ओर आँख उठाकर भी देख सके !

'माँ ! तुम मुझे बन्धन-मुक्त करोगी, सुख दोगी—यह तो निश्चित ही है; किंतु जब मैं अपना सब भार तुम्हारे ऊपर रखकर जो अनन्त शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ, इससे बढ़कर मुक्तिमें भी क्या रक्खा है !

'माँ ! चाहे तुम काशीमें मेरा शरीर गिराओ या डोमके घरमें, चाहे स्वर्गमें ले जाओ अथवा मुक्ति दो या अधोगति दो, आज ही दया करो या कालान्तरमें, मुझे कोई घबराहट नहीं है । अपनी वस्तुपर मालिकका अधिकार रहता है । मुझे कोई घबराहट नहीं है ।

'मैं केवल यही चाहता हूँ कि तुम्हारी कथा सुननेमें कोई विघ्न न हो । 'मोक्ष दो' मेरा यह वचन यदि विरुद्ध न हो तो मोक्ष दो; परन्तु मेरे विचारमें मोक्ष भी एक तरहका उपसर्ग (विघ्न) ही है । तुम्हारी सेवा सदा होती रहे और उसी आनन्दमें मैं डूबता-उतराता रहूँ, यही मैं चाहता हूँ ।'

अब नीलकण्ठ दीक्षित, अपनी स्तुतिका नाम उन्होंने 'आनन्दसागरस्तव' क्यों रक्खा, इस बारेमें कहते हैं—

'अम्ब ! मुझे तुम्हारे सिरसे लेकर चरणोंतक समस्त भुवनोंके लिये मङ्गलकारक अङ्ग प्रत्यङ्गोंको मन ही मन स्मरण करते हुए तथा आनन्द-सागरकी तरङ्गोंमें [illegible] डूबते हुए कितने दिन बीत गये—यह मैं नहीं जानता । इसी कारण स्तोत्रका नाम 'आनन्द-सागर' पड़ा ।

'माँ ! ये श्रुतिके सिर अर्थात् उपनिषद् पत्थरसे भी कठोर हैं । सम्भवतः इन्हींमें सञ्चार करनेसे तुम्हारे ये चरण रक्तवर्ण हो गये हैं । अमृत समुद्रके मन्थनसे [illegible] नवनीतके समान सुकुमार तुम्हारे इन चरणोंको क्या मैं स्पर्श कर सकूँगा ?

'माँ ! इस त्रिलोकीमें जो गुरु हैं, उनसे भी गुरु तुम्हारे 'चरण' मस्तकपर धारणकर हमलोग इस [illegible] समुद्रको सहज पार कर जायँगे । (यहाँ 'गुरु' के दो अर्थ हैं —१. भारी या बोझल और २. पूज्य आचार्य ।)

'माँ ! तुम्हारे चरणोंकी अलौकिक सुकुमारताका विचार न कर मैंने उन्हें [illegible] [illegible] मैं निमज्जनके भयसे त्रस्त हूँ । हे मधुरेश्वरी ! [illegible] बालकृत्य क्षमा करो !

'प्रणयकालमें कुछ [illegible] भी जिनका बहुत धीरे और बड़े [illegible] कोरसे ही स्पर्श करते हैं, तथा [illegible] कुम्हला जाते हैं, सो माँ ! मेरी ये कठोर उक्तियाँ तुम्हारे उन चरणोंको कष्ट तो नहीं देतीं !

'माँ ! अव्याज-सुन्दर, अनुत्तर, अप्रमेय, अप्राकृत और परम मङ्गल अपना चरण-कमल दयार्द्र होकर जब तुम मुझे दिखाओगी, तब मैं किस नेत्रसे उसको देख सकूँगा ?

'मेरे अन्त-समयमें शस्त्रास्त्रोंसे लैस यमदूत जब मुझे घेर लेंगे, माँ ! तब तुम क्या अपने इस बालकके पास स्वयं आओगी ? उस समय तुम्हारे चरणोंमें बजते हुए मणिमय नूपुरोंकी झनकार मैं सुन सकूँगा ?

'माँ ! तुम्हारी गोदमें क्रमशः ब्रह्मा, शिव, केशव प्रभृति कुमार आते हैं और फिर जाते हैं । वह अपनी गोद तुम मुझको कब दोगी ? क्योंकि मैं जड हूँ और जड पुत्रपर माताका विशेष स्नेह होता है ।

'माँ ! अपनी जङ्घापर मेरा मस्तक रखकर अपने अञ्चलसे हवा करते हुए मेरी थकावट दूर कर दो और इसी जन्ममें मुझे अपना उपदेश सुना दो । अन्तमें मणिकर्णिकापर क्या रखा है ?

'त्रिपुरे ! मुक्तजन भी तुम्हारे स्तन-पानकी लालसासे तुम्हारे चारों ओर मँडराते रहते हैं; फिर मैं तो भवज्वरसे ग्रस्त हूँ, मेरा तो मुख सूख रहा है । क्यों न मेरा मुख आर्द्र हो ? (यहाँ 'मुक्त'के दो अर्थ हैं—१. वे जो मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं और २. माँके गलेमें पड़ी मुक्ता-मालाके दाने ।)

'माँके गलेमें जो हीरेका हार प्रतीत होता है, वह हीरेका नहीं है । मेरे खो जानेके बाद जब मैं माँके पास ढूँढ़कर लाया गया, तब माँके वात्सल्यसे झरते हुए दुग्ध-बिन्दुओंकी जो पंक्ति बनी, वही हीरक-हार-सी प्रतीत होती है ।

'माँ ! तुम्हारी दृष्टि कर्णका अतिक्रमण नहीं कर सकी, कर्णके इधर ही सीमित रही । ('कर्ण'के यहाँ दो अर्थ हैं—एक कान और दूसरा सूर्यपुत्र प्रसिद्ध दाता कर्ण ।)

'माँ ! तुम्हीं जगत्का निर्माण करती हो, रक्षा करती हो, संहार भी करती हो और निर्वाह भी करती हो—इस वृत्तान्तको भगवान् शिव कदाचित् जानते भी न हों; फिर भी माँ ! तुम्हारे साहचर्यसे ही शिवजीको श्रुतियोंमें जगज्जनक कहा जाता है ।

'यह भगवान् शिवका अन्तःपुर है । यहाँ सूर्य नहीं तपता, हवा नहीं चलती, इसकी खबर भी दुनियाको नहीं है । तब यह क्या है ? यह शिवजीका अन्तःपुर है । हमारे ऐसे बच्चे यहाँ मौजसे घूमते हैं ।

'मुझे ऐसी जगह न दो, जहाँ तुम्हारा सानिध्य न हो । जिस विद्यामें तुम्हारे तत्त्वोंका बोध नहीं, वह विद्या भी नहीं चाहिये । तुम्हारे चिन्तनसे रहित आयु भी मैं नहीं चाहता ।

'तुम सत्ता हो, अखण्ड सुख-संवित्ति हो, त्रैलोक्यकी सृष्टि, स्थिति और संहारमें स्वतन्त्र हो । तुम्हारे सिवा शिव कुछ नहीं रहता । शिवका अर्द्धाङ्ग तुम हो, यह मूर्खोंकी जल्पना है ।

'देवी ! तुम जैसी हो, वैसी हो । तुम ऐसी ही हो, इस बातको कहने अथवा जाननेके लिये कौन समर्थ है ? मैं तो इतना पामर हूँ कि अपनेको ही नहीं जानता । अपनी बनायी हुई स्तुति तुमको समर्पण करनेमें भी मुझे लज्जा लग रही है । माँ ! मैंने कोई कृति गुम्फित की और तुम्हें समर्पित कर दी—इस बातको लेकर सतोषका एक कण भी मेरे हृदयमें नहीं है; क्योंकि आजतक अपनी मूर्खता मैं ही जानता था, अब सारा जगत् जान जायगा; फिर भी तुम्हारी दीन-शरण्यतापर मेरा विश्वास है ।'

भगवच्चरण-नौका

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५८)

'जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारिके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भवसागर बछड़ेके खुरसे बने हुए गड्ढेके समान है । उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवासस्थान यह संसार नहीं रहता ।'

देवोंकी शरणमें

(लेखक—डा० मुन्शीराम शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

जीवनमें कभी-कभी ऐसे क्षण आ उपस्थित होते हैं, जब हम अन्तर्मुख होकर आत्मपरीक्षणमें संलग्न हो जाते हैं। ये क्षण वस्तुतः अमूल्य होते हैं। इन्हीं क्षणोंमें मानव अपने सत्त्वमें लीन होकर दैवी जगत्का दर्शन करता है। क्षणिक ही सही, पर यह देवत्वकी झाँकी एक बार सबकी अनुभूतिका विषय बनती अवश्य है। इसी अनुभूतिमें मग्न होकर एक ऋषिने कहा है—

त्रातारो देवा अधिवोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।

'हे दिव्य देवो ! तुम्हीं हमारे रक्षक हो; अब ऐसी कृपा करो, ऐसा उपदेश दो, जिससे निद्रा और जल्पि (निरर्थक बकवास) हमपर शासन न कर सकें। निद्रा और प्रमाद तमोगुणके तथा जल्पि रजोगुणका परिणाम है। इन दोनोंसे ही हम दूर रहें। तम और रजके साम्राज्यसे निकलकर हम सत्त्वमें समाविष्ट हों, सत्त्वगुणके शीतल, स्निग्ध एवं आह्लादकारी वातावरणमें विराजमान हों। सत्त्वमें समाविष्ट होना ही मानो देवत्वमें प्रवेश करना है। देवत्वमें यह प्रवेश, दिव्यताका यह वरण, पतन और पापसे असम्पृक्त रहनेके लिये अमोघ ओषधि है। पतन और पाप मरणके द्योतक हैं, पर दिव्यता जीवनकी जननी है। वहाँ जीवन-ही-जीवन है। यह जीवन उत्थान, उन्नति एवं अभ्युदयसे लेकर परम श्रेयतक पहुँचाता है। दिव्यता अथवा सत्त्वमें प्रवेश पानेके लिये यज्ञ, तप और दान करने पड़ते हैं।

योऽस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमां अह।

सत्त्वका तेज सोम—सवनसे ही उत्पन्न होता है। दिन हो या रात्रि, हमें यज्ञकी ही ओर अपना ध्यान ले जाना चाहिये। देव यज्ञकर्ताकी कामना करते है। देवोंको तप भी परम प्रिय है। तपसे देव प्रसन्न होते हैं और तपस्वीके घट (हृदय) को अपनी अमृत-वर्षासे भर देते हैं। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते—जैसे कच्चे घड़ेमें जल नहीं भरा जा सकता; भरा भी जायगा तो उससे घडा गलकर नष्ट हो जायगा और जल उससे निकलकर फैल जायगा। इसी प्रकार जिसने तपकी भट्ठीमें अपनेको डालकर पका नहीं लिया, वह अमृत-रसको धारण नहीं कर सकेगा। मिट्टीका घड़ा कुम्भकारके अवेंमें आँच पाकर जब पक जाता है, तब उसे पानीसे चाहे ऊपर-तक भर दो, वह फूटेगा नहीं और पानी भी उसमें भरा रहेगा। इसी प्रकार तपश्चर्याने जिस [illegible] तपा दिया है, जो सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति [illegible] आदि द्वन्द्वोंको सहन कर चुका है, वही [illegible] स्वाद ले सकता है और वही उसे [illegible] भी [illegible] सकता है। दान भी एक उपयोगी साधन है। [illegible] संकीर्णता दूर होती है, वह विशाल बनता [illegible] और [illegible] संयुक्त होता है।

यज्ञ, तप और दानके लिये हृदयमें दृढ़ [illegible] होना चाहिये। मैं व्रत ले लूँ, पक्का निश्चय [illegible] कि [illegible] इस पथपर चलना ही है। जबतक [illegible] दृढ़ता न होगी, मैं सत्पथपर चलता हुआ भी बार-बार [illegible]। [illegible] संकल्प उत्पन्न करनेके लिये प्रभु-भक्ति भी [illegible] पहुँचाती है। 'मा प्रगाम पथो वयम्'—प्रभो ! हम [illegible] कभी विचलित न हों।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा [illegible]।
मृळा सुक्षत्र मृळय।

'पूज्य महनीय भगवन् ! मेरी दीनता ही मुझे [illegible] पराङ्मुख कर रही है। तुम दया करो, इस दीनताको [illegible] करो और मुझे कर्तव्य-मार्गपर लगा दो।'

इस प्रकारकी प्रार्थनाएँ भक्तके मन तथा [illegible] कर देती हैं। भद्र संकल्प यदि दृढ़ हो जायँ, [illegible] विघ्नोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले बन जायँ, तो [illegible] दुराग्रहोंको दूर कर देते हैं और मानव [illegible] पहुँच जाता है। उसे एक अभेद्य [illegible] जाती है।

फिर भी जीवन उतना [illegible] होने लगता है। ऊँचा [illegible] भी [illegible] कशाघातसे पुनः नीचे गिर [illegible] है। [illegible] अन्तर्हित दानव फुफकार उठे ! [illegible] अपने मन्युका सहारा लेना चाहिये। मन्युका [illegible] क्रोध है, पर वास्तवमें मन्यु और क्रोधमें [illegible] अन्तर है। क्रोधमें विवेक भाग [illegible] शीलता, विनय और [illegible] अनिवार्यरूपसे [illegible] है, पर मन्युमें [illegible] रहती है। क्रोध दूसरेपर होता है, पर मन्यु [illegible]

दुर्वृत्तियोंपर, अपने ही ऊपर । जब-जब स्खलन हो, जब-जब हम पथसे पृथक् हों, जब-जब दानवता देवत्वका दमन करनेपर उतारू हो, तब-तब हमें मन्युकी शरण जाना चाहिये और कहना चाहिये—'मन्यो ! तुम अदम्य इन्द्रके समान ही विजयी और प्रशंसनीय हो ! आओ, आज तुम मेरे अधिपति बनो; इस हृदयपर शासन करो और इसमें जो व्रत-भङ्ग करनेवाले दानव आ घुसे हैं, उन्हें निकाल बाहर करो । तुममें गजबकी सहनशक्ति है—तुम्हारा उत्स, स्रोत, उद्भवस्थान बड़ा गम्भीर है ! तुम्हारे जाग्रत् होते ही ये दैत्य भाग खड़े होंगे ! तुम्हारे आगे इनका बल ही कितना है !'

मन्यु निश्चितरूपसे हमें बचानेवाला है । क्रोधमें हम अपनी तथा दूसरेकी हानि करते हैं, दोनों ही घाटेमें रहते हैं; पर मन्युमें लाभ-ही-लाभ है ।

'मन्यु'में मनन सम्मिलित है । हम अपनी दुर्वृत्तियोंपर सोच-समझकर विचारपूर्वक ही क्रोध करते हैं । बिना विमर्श और विवेकके वे दूर हो ही नहीं सकतीं । इन्हें हटाकर हम पुनः कर्तव्य-पथपर अग्रसर होते हैं । वैदिक ऋषि हमें आदेश देते हैं—'कर्मके तानेको फैलाते जाओ और उसमें ज्ञानका बाना डालते हुए उसे सूर्यतक पहुँचा दो । ज्ञानपूर्वक कर्म करनेसे हम प्रकाशकी स्थितिमें पहुँच जाते हैं । प्रकाश सत्त्वका ही परिणाम है । उसमें प्रवेश करना मानो ज्योतिष्मानोंके पथको पहिचान लेना है । यह जान-पहिचान ही तो हमें उनका साथी बनाती है और यह साथ-साथ रहना ही मानो ज्योतिर्मय देवोंके पथकी रक्षा करना है । कोई भी मार्ग अपने अनुयायियोंके अभावमें ही नष्ट होता है । जब अनुयायी निकल पड़े, तब मार्ग भी चल पड़ा, सुरक्षित हो गया । चलते-चलते उसके बीचमें उगे हुए झाड़-झखाड़ भी अपने-आप ध्वस्त हो जाते हैं । इस प्रकार देवोंने अपनी 'धी'से जो प्रकाशपथ निर्मित किया है, उसकी रक्षा हो जाती है । मार्ग चालू हो जाता है ।

देवोंका यह पथ उल्बणरहित है—इसमें ग्रन्थियाँ नहीं हैं, वक्रता भी नहीं है । यह सरलताका मार्ग है, इसपर चलना कुटिल दुष्कृतियोंके वशका काम नहीं है । इस ऋत-पथका संतरण सुकृति ही कर सकते हैं । क्रान्तद्रष्टा कवियों, ऋषियोंने ही इस पथपर पैर रखा है । मनु अर्थात् मननशील बनकर उन्हींने इस दिव्य सरणिकी रचना की है । यह उन्हींकी दैवी संतति है ।

कवि, ऋषि, ज्ञानी, विप्र अथवा देव अपनी रचनापर अभिमान नहीं करते । वे उसे अपनी भी नहीं मानते । उसका स्रोत उनकी दृष्टिमें देवाधिदेव परब्रह्म हैं, जिन्हें परम विप्र, बृहत्, विपश्चित् आदि नामोंसे सबोधित किया जा सकता है । ये ज्ञानी इसी हेतु उससे प्राप्त वस्तुको उसे ही समर्पित कर देते हैं । यह प्राप्ति ही उनका सर्वस्व थी । जिसने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, वह प्रभुकी अमृतमयी गोदमें बैठकर निश्चिन्त हो गया ।

ज्ञानी अपने मन, अपनी बुद्धि दोनोंको ही प्रभुके साथ संयुक्त कर देते हैं । इस क्रियासे वे स्वय अल्प न रहकर भूमा बन जाते हैं, सकीर्ण न रहकर बृहत्, विशाल अर्थात् ब्रह्म बन जाते हैं । उदारता, महत्ता, ब्रह्मता ब्राह्मणत्व और देवत्वके पर्यायवाची शब्द हैं ।

परम प्रभु वैसे ही जन-जनमें व्याप्त हैं । जिसने जान-बूझकर अपनेको उनके सिपुर्द कर दिया, उसे फिर पुस्तकें पलटने और माथा खरोचनेकी आवश्यकता नहीं रहती । प्रभु स्वयं उसके होत्रको, यज्ञियकर्मको धारण करते और उसके ज्ञानको प्रकाशित करते रहते हैं ।

योगदर्शनके चतुर्थपादमें जिस प्रसख्यान नामके सर्वश्रेष्ठ ज्ञानका वर्णन है, उसे समर्पित कर देनेपर ज्ञानी धर्ममेघ समाधिमें जिस आनन्द-वर्षाका अनुभव करता है, वह सर्वस्व-समर्पणके पश्चात्की ही आनन्दमयी भूमा अवस्था है । इस प्रकार प्रभुने जिसके समर्पणको स्वीकार कर लिया, वे जिसके सवनोंमें रमण करने लगे, वह अटल पर्वतकी भाँति खड़ा हुआ सैकड़ों, सहस्रों दानवी दलोंको चुनौती देता रहता है । बाढ़ें आती हैं, तूफान आते हैं, पर पर्वत वैसे-का-वैसा ही अचल; उसपर जैसे इनका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता । इसी प्रकार प्रभु-समर्पित ज्ञानी भक्तके सामने दानवता, पामरता और पापकी फौजें आती हैं, पर अपना-सा मुँह लिये पराभूत होकर लौट जाती हैं । वे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं पातीं, उलटे स्वय ध्वस्त हो जाती है ।

प्रकाश-सम्पन्न, दिव्यताके धनी देवो ! आज मैं भी तुम्हारी शरण हूँ । तुम जिस प्रज्ञालोकके ज्योतिर्मय पथपर चले थे, उसीपर मुझे भी चला दो । हृदयमें रखे हुए मेरे समस्त सत्सकल्प, मेरी समस्त अभिलाषाएँ आज तुम्हारी दिव्यताको पानेके लिये मचल रही हैं । दिशाएँ मुझे यही आदेश दे रही हैं । इस पथसे बढ़कर सुखदायक पथ और है ही कौन । देवो ! आज मेरी सब कामनाएँ तुम्हींमें केन्द्रित हो रही हैं । ले लो अपनी शरणमें !

विश्व-भक्ति

(लेखक—पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)

वसुधैव कुटुम्बकम् ।

My country is the world.
My countrymen are all mankind
—गैरीसन

'समस्त संसार ही मेरा देश है।
सम्पूर्ण मानव-जाति ही मेरे देशवासी हैं।'

भक्ति भी अनेक प्रकारकी होती है। मानव-स्वभाव, श्रेणी और पात्रताके वैचित्र्यके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी भक्ति विभिन्न व्यक्तियोंके अनुरूप हो सकती है। जिस प्रकार जोड़-बाकी, गुणा-भाग या त्रैराशिक-पञ्चराशिकके हिसाब करनेवाले विद्यार्थीके लिये आइन्स्टीनके सिद्धान्त सर्वथा निरर्थक होंगे, उसी प्रकार उच्चकोटिके आध्यात्मिक सिद्धान्तोंके लिये जिस विशेष प्रकारकी पात्रताकी जरूरत है उसके अभावमें वे सिद्धान्त ऊसरमें बीजके समान ही साबित होंगे। हम यहाँ किसी विशेष प्रकारकी भक्तिकी आलोचना करने नहीं बैठे। धर्मके विषयमें भी पञ्चशीलकी भावना ही युगधर्मानुकूल है। सत्यका ठेका किसी धर्म, जाति या देश-विशेषने नहीं ले लिया, और 'अनेकान्त' की फिलासफी वर्तमान समयमें भी हमारे लिये उपयुक्त होगी।

जो लोग विश्व-नियन्ताके अस्तित्वमें ही शङ्का करते हैं, वे भी विश्व-भक्ति करके अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। आखिर विश्वके प्राणियोंमें—विशेषतः मानव-समूहमें—सौहार्द स्थापित करना भी उसी विश्वम्भरकी सेवा है।

देश-भक्तिकी भावना निस्सन्देह उच्चकोटिकी है; पर सङ्कुचित दृष्टिके लोगोंने उसे विकृत कर दिया है, इसलिये अब वह निम्नकोटिकी समझी जाने लगी है। यातायातके साधनोंद्वारा हमलोग एक दूसरेके बहुत निकट आ गये हैं। जिन देशोंतक पहुँचनेमें पहले महीने लग जाते थे, वहाँ अब घंटोंमें पहुँचा जा सकता है। जब छः-छः सात-सात घंटोंमें हम लोग रूस और चीन पहुँच सकते हैं, तब दूरीका सवाल उठता ही नहीं। वैसे भी अणु-बमोंके आविष्कारके बाद समस्त विश्वके देशोंके भाग्य एक दूसरेसे सम्बद्ध हो गये हैं और यदि हम डूबेंगे तो एक साथ ही डूबेंगे। इस प्रकार विश्व-मैत्री या विश्व-भक्तिकी भावना स्वार्थ तथा परमार्थ दोनोंकी ही दृष्टियोंसे लाभदायक है।

अब प्रश्न यह है कि इस भावनाको [illegible] किया जाय।

सबसे पहले तो यह खयाल दिमागसे [illegible] कि हम किसी चुनी हुई जातिके हैं—भगवान्के [illegible] पात्र। इस प्रकारका व्यर्थाभिमान सदा [illegible] है। 'गुमान गुनिहि नासत नहीं'। विभूति [illegible] शक्तियोंका प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न युगोंमें [illegible] हुआ है और भविष्यमें होता रहेगा। [illegible] की है कि हम उदार दृष्टिसे [illegible] सुसंस्कारों अथवा कुसंस्कारोंकी जड़ [illegible] जाती है, इसलिये प्रारम्भिक पाठ[illegible] ऐसे पाठ रखने चाहिये जो विश्वमैत्रीकी [illegible] करनेमें सहायक हों।

वस्तुतः उपर्युक्त प्रस्ताव [illegible] लेखकोंमें शिरोमणि थे, [illegible] था। हमारे विद्यार्थी एमर्सन और [illegible] एडवर्ड कार्पेंटर तथा [illegible] ([illegible] रसेल) और [illegible] तथा [illegible] कार्योंसे क्यों न परिचित हों? इसी प्रकार [illegible] समाजको भारतीय, चीनी और [illegible] कराया जाना चाहिये।

'कल्याण' के अनेक पाठक [illegible] को नोबुल पुरस्कार मिला था। [illegible] स्वामी विवेकानन्दके [illegible] गांधीजीपर भी उन्होंने एक पुस्तक [illegible] एक भारतीय विद्यार्थी [illegible] ([illegible]) ने उन्हें एक पत्र भेजा था। उस पत्रके [illegible] लिखा था—

'प्रिय पी. पाटे'

[illegible]
स्पर्श किया है। [illegible] मेरी ओर [illegible] तुम्हें मालूम ही है कि [illegible] को कितना [illegible] महान् कलाकारों, विचारकों और [illegible]

का प्रयत्न करो। पूर्व और पश्चिमको एक दूसरेके निकट लानेके कार्यको अपने जीवनका एक आदर्श बना लो। हमें एक विश्वात्माका निर्माण करना है। आज वह विद्यमान नहीं, पर एक-न-एक दिन अवश्य होगी।'

'विश्वात्मा'से रोमाँ रोलॉका अभिप्राय 'विश्वबन्धुत्व' की भावनासे ही रहा होगा।

लाला हरदयाल और विश्वबन्धुत्व

स्व० लाला हरदयालने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Hints for Self-Culture' के अन्तमें लिखा है—

'मैंने विश्व-संघकी बात कही है। आप पूछ सकते हैं कि मैं व्यक्तिगतरूपसे उक्त विश्व-संघकी स्थापनाके लिये क्या कर सकता हूँ। आप उसके लिये बहुत कुछ कर सकते हैं। इस बातको आप न भूलें कि सुशिक्षित और सुशील बुद्धिवादियोंके सत्सङ्गसे विश्व-संघका मार्ग प्रकाशमान होगा'' ...... ''विश्व-संघको पथ-प्रदर्शकोंकी जरूरत है और आप एक पथप्रदर्शक बन सकते हैं।'' ...... ''दूसरी जातियोंके प्रति कोई भी विद्वेष या घृणाकी भावना न रखिये। विश्वका इतिहास पढ़िये; जितनी भी यात्रा कर सकें, कीजिये; किसी विश्व-भाषाका अध्ययन कीजिये। विदेशियों तथा अजनबियोंसे बन्धुत्व स्थापित कीजिये और इस प्रकार अपनेको तथा अपने मित्रोंको विश्व-संघके नागरिक बननेके योग्य सिद्ध कीजिये। अपने घरपर सबका स्वागत कीजिये। अपने नगरमें अन्ताराष्ट्रिय क्लबकी स्थापना कीजिये।'' .... ''आज न सही कल, कल न सही परसों, किसी-न-किसी दिन विश्व-संघकी स्थापना अवश्यम्भावी है। केवल काल-लब्धिकी बात है'' .... सोते-जागते आप उसीकी कल्पना कीजिये। सूर्योदयके प्रथम उषाका आगमन होता है। भले ही आप सूर्योदयके दर्शन न कर सकें, पर उषाके प्रति तो श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर ही सकते हैं।'

उषाके पूर्वका अन्धकार

वर्तमान युगकी उपमा हम उषाके पूर्वके अन्धकारसे दे सकते हैं, पर यह अन्धकार चिरस्थायी नहीं है। आखिर मानव-समाज कबतक एक दूसरेके सिर फोड़नेमें आनन्द लेता रहेगा? कभी-न-कभी तो ये मदान्ध राष्ट्र अपनी हरकतोंसे बाज आयेंगे ही। द्वेष क्या कभी चिरस्थायी हो सकता है? आज भी परस्पर-विरोधी राज्योंमें ऐसे सैकड़ों व्यक्ति विद्यमान हैं, जो विश्व-बन्धुत्वकी भावनासे ओतप्रोत हैं।

सेतुबन्धका प्रोग्राम

भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें बिखरे हुए इन विश्वप्रेमी व्यक्तियोंका सम्मिलन कोई आसान काम नहीं, पर उससे हम निराश क्यों हों? क्या वह गिलहरी, जिसने भगवान् रामचन्द्रको सेतुबन्धके समय रेतीका कण भेंट दिया था, निराश हुई थी? कहते हैं कि गिलहरीकी पीठपर जो लकीरें पायी जाती हैं, वे भगवान्के हाथका प्रेम पानेसे बनी थीं। इसी प्रकार जो भी महानुभाव आज भिन्न-भिन्न जातियोंमें पारस्परिक सद्भाव फैलाकर विश्व-भक्तिके लिये क्षेत्र तैयार कर रहे हैं—दुभाषियेका काम कर रहे हैं, वे आगे चलकर अखिल मानव-समाजके प्रेमपात्र बनेंगे।

विश्व-भक्तिकी भावनाके लिये यूनेस्कोमें जानेकी जरूरत नहीं और न उसके लिये लंदन, मास्को, टोक्यो, पैरिस या दिल्लीके संकुचित घोंसलोंमें (फ्लैटके लिये यही शब्द उपयुक्त है) बैठनेकी आवश्यकता है। जहाँ भी कोई विश्व-प्रेमी बैठ जायगा, वही स्थल किसी दिन केन्द्र बन सकता है। कविवर नजीरके शब्दोंमें—

जा पड़े यादमें उस शोखका जिस बस्तीमें,
वहो गोकुल है हमें और वही बृंदावन;
वही है तख्त वही फर्श, वही सिंघासन।

मानव-समाज एक है और इस एकता-भावको फैलाना ही हमारा युगधर्म है। विश्वात्मा श्रीकृष्णके हजारों वर्ष पहलेके ये शब्द आज भी आकाशमें गूँज रहे हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(गीता १८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान।'

विश्व-भक्तिका यही मूलमन्त्र है।

देशभक्तिका ईश्वर-भक्तिसे सम्बन्ध

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

हमारे देशमे यह नीतिका श्लोक प्रसिद्ध है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

'कुलके कल्याणके लिये (आवश्यकता होनेपर) एक व्यक्तिका त्याग कर दे, गॉवके कल्याणके लिये कुलका त्याग कर दे, जनपदके कल्याणके लिये गॉवका त्याग कर दे और आत्मकल्याणके लिये संसारका त्याग कर दे ।'

यह आत्म-विकासका क्रम है । बचपनमें बच्चा अपनेसे अधिक देखनेमें असमर्थ होता है, फिर भी कुछ बच्चे दूसरे बच्चोंको दिये बिना खाना नहीं चाहते । आगे चलकर उनका स्वार्थ परिवारतक सीमित होता है, वे परिवारके ही हानि-लाभको सोचते हैं । आगे बढनेमें रोक होती है; क्योंकि इससे अधिक व्यापक भावनाकी चर्चा परिवारमें नहीं होती । पर जहॉ यह चर्चा होती है, वहॉ परिवारकी स्वार्थ-भावना क्रमशः ग्राम, जनपद और देशकी भक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है । इसका ही सम्यक् विकास ईश्वर-भक्तिके रूपमें होता है, परंतु इसके लिये भी सत्सङ्गकी परम आवश्यकता है ।

लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द आदि जो महान् देशभक्त हमारे देशमें हो चुके हैं, वे ईश्वर-भक्त भी थे । देशभक्ति ईश्वर-भक्तिमें सहायक, पूरक होती है । वह ईश्वर-भक्तिमें पहुँचनेकी एक सीढ़ी है, उससे अलग नहीं है ।

जीवन टुकड़ोंमें बॉटा नहीं जा सकता । जैसे हाथ-पैर आदि अवयव शरीरके ही अङ्ग हैं, शरीरसे अलग होनेपर बेकार हो जाते हैं, मुर्दा बन जाते हैं, उसी तरह जो ग्राम-भक्ति या देशभक्ति ईश्वर-भक्तिसे अलग हो जाती है, वह बलशालिनी नहीं होती । उसमें तेज, आकर्षण नहीं होता । हिटलरने जर्मनीकी जनताको देशभक्तिका पाठ पढाया, जाति-भक्तिको अपनानेपर खूब आग्रह रखा; पर वह भक्ति एकाङ्गी थी, इस कारण जर्मनीको हानि उठानी पड़ी ।

हर एक चीजकी मर्यादा होती है । दालमें नमक उतना ही डालना चाहिये, जिससे वह दाल बनी रहे; अधिक पड़नेसे वह खाने योग्य नहीं रह जायगी । इसी तरह एकाङ्गी देश-भक्तिका प्रवाह रुक जाता है, वह बँधे हुए पानीकी तरह स्वच्छताके बजाय सड़न पैदा कर सकती है । 'बहता पानी निर्मला, बँधा सो गंदा होय'—का अनुभव इस सकुचित देशभक्ति-में भी होता है । आज पार्टीके नामपर आत्मस्तुति तथा परनिन्दा-का जो बोल-बाला है, वह भी विकृत देशभक्तिकी एक झॉकी कराता है ।

श्रीसमर्थ रामदासजीने कहा था कि 'हलचलमें सामर्थ्य है; जो करेगा सो पावेगा । परंतु उसमें भगवान्का अधिष्ठान होना चाहिये ।' इस सदुक्तिमें श्रीसमर्थ रामदासजीने देशभक्तिके जोशके साथ ईश्वर-भक्तिका होश मिलाकर दोनों-का सुन्दर ढगसे समन्वय किया है ।

देशभक्ति अधिकांश रूपमें भौतिक व्यवहार तथा सुख-सामग्रीके साधनसे सम्बन्धित है—यह माना जाता है । परंतु मनुष्य केवल पाञ्चभौतिक शरीरका पुतला ही नहीं है । उसके भीतर आत्मा भी है, अन्तःकरण भी है । इसलिये आत्मबुद्धि-प्रसाद केवल भौतिक सुख-सुविधामे नहीं होता; यह कोई और ही चीज है, जिसको हम अपनेको खोकर पाते हैं । ईश्वर-भक्तिमें मनुष्य अपने अहकारको भूल जाता है । देशभक्ति-का रूपान्तर जब ईश्वर-भक्तिमें हो जाता है, तब आत्म-प्रसन्नता-का अनुभव सहज हो जाता है, और इससे देशभक्तका बल तथा तेज विशेषरूपसे बढ़ जाता है । महात्मा गाधी तथा श्रीलोकमान्यके चरित्रसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि देशभक्ति उनकी ईश्वर-भक्तिमें बाधक नहीं, साधक थी । यह सबका अनुभव है कि व्रतोंकी रक्षा हम तभी कर पाते हैं, जब उनको नम्रताके धागेमें गूँथते हैं । नम्रताके धागेमें गूँथे बिना निरे व्रत बिखर जाते हैं । अतएव देशभक्तिके साथ नम्रताका सह-योग आवश्यक है, और वह नम्रता ईश-भक्तिके द्वारा सरलतासे प्राप्त होती है । तभी देश-भक्तिके व्रतकी अखण्डता बनी रह सकती है । उसमें अन्य सद्गुणोंका सहयोग होनेसे वह तेजस्विनी बन जाती है, उसमें व्यापकता आ जाती है ।

राष्ट्रपिता महात्मा श्रीगांधीजी तथा उनके अनन्य शिष्य संत श्रीविनोबाजीने अपने कार्य-क्रममें प्रातः-साय दोनों समय ईश-प्रार्थनाको स्थान दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि केवल भौतिक रचनात्मक कार्यकी चर्चामें न भूलकर, जहॉंसे प्रेरणाका स्रोत बहता है, उन श्रीभगवान्के चरणोंमें अपनी

श्रद्धाञ्जलि अर्पणकर उनकी कृपा प्राप्तकर हम अपने दैनिक कार्यको आरम्भ करें, और रातको उनके चरणोंमें आत्म-समर्पण करके उनकी गोदमें सो जावें। हमारे प्राचीन आश्रम-जीवनकी यही विशेषता थी। ईश्वरका आश्रय लेनेके कारण आश्रममें पारिवारिक भावना थी, जिसकी आवश्यकताका अनुभव आज सभी करते हैं।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का अनुभव करानेमें यह ईश्वर-भक्ति बड़ी सहायक होती है। इस अणुयुगमें यातायातका साधन तीव्र होनेके कारण सारा विशाल विश्व छोटा-सा हो गया है, एक बड़ा शहर-जैसा लगता है। अणुका प्रभाव आकाशतत्त्वपर पड़ता है; परंतु आकाशसे परे भगवत्तत्त्व है और उसीकी भक्तिसे हम अणुबमके युगमें निर्भय रह सकते हैं। आज एक देशके पृथक् अस्तित्वका कोई अर्थ नहीं है, सारी मानव-जाति एक कुटुम्ब-जैसी बन गयी है। अतएव आजके इस अणुयुगकी देश-भक्ति ईश्वर-भक्ति ही बन जाती है; क्योंकि देश और कालके संकोचकी दृष्टिसे यह विशाल विश्व एक परिवार बन गया है।

देश-भक्ति—विश्व-भक्ति मानो ईश्वर-भक्तिका ही दूसरा रूप है। आज हम विश्वके नागरिक हैं। संसारकी घटनाओंका हमारे ऊपर असर पड़ता है, हम उससे अपनेको अलग नहीं रख सकते। अतएव देश-कल्याणके लिये हमें विश्व-कल्याण-की कामना करनी पड़ती है, और उसकी पूर्ति विश्वेश्वरकी कृपासे ही हो सकती है। अतएव देश-भक्तिके लिये ईश्वर-भक्ति अनिवार्य है।

भक्ति और समाज-सेवा

(लेखक—श्रीनन्दलालजी दशोरा, एम्० ए० (पू०), सी० टी०, विशारद)

विश्वका प्रत्येक मानव आदि-कालसे शान्ति तथा सुख-की चाहमें भटक रहा है। आजकी सामाजिक स्थिति तो और भी गम्भीर हो गयी है। आज प्रत्येक मानव शान्तिकी खोजमें सुखकी आकाङ्क्षा लिये भटक रहा है। प्रत्येक मानव एवं राष्ट्र उद्जन-बमसे भयभीत है। श्रद्धा-विश्वास लुप्त हो चला है, वर्ण-भेद और जाति-भेदकी समस्या ताण्डव-नृत्य कर रही है, हिंसा और प्रतिहिंसाकी ज्वाला विश्वको विनाशकी चुनौती दे रही है, बुद्धि कुण्ठित हो गयी है, ज्ञानको जंग लग गया है, निष्काम भावना लुप्त हो चली है, कर्मके बन्धन शिथिल हो चुके हैं, समाजकी मर्यादाएँ टूट चुकी हैं, प्रत्येक मानव केवल क्षण-क्षण बदलनेवाली अनिश्चयात्मिका बुद्धिका आश्रय लेकर, वैज्ञानिक प्रमाणोंका राग अलापता हुआ अपनी मनमानी करनेपर उतारू है। शास्त्रोंके प्रमाण उसे मान्य नहीं। यही कारण है कि स्थिति विषमसे विषमतर होती जा रही है।

ऐसी परिस्थितिमें विश्वको शान्तिका संदेश देनेवाला, उसमें छायी हुई विषमताओंको मिटाकर उसे आलोकित करनेवाला यदि कोई मार्ग है तो वह है 'ईश्वर-भक्ति' का। उस परम पिता परमात्माके विधानको हृदयसे स्वीकार करो। उसके कार्यको अपना कर्तव्य समझकर शरीर, मन और वाणी-की पूर्ण लगन, श्रद्धा तथा अनुशासनके साथ सम्पन्न करो। उसके विधानका विरोध तथा आलोचना करनेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। यही उस परमात्माके प्रति सच्ची भक्ति है—ऐसी भक्ति, जिसको अर्जुन, तुलसी, मीराँ, रैदास, सूर आदि भक्तोंने अपनाया था। वह भक्ति थी आत्म-समर्पणकी; अपना सर्वस्व ईश्वरको समर्पितकर उसके कार्यको सम्पन्न करो। अब प्रश्न उठता है—'ईश्वरका कार्य क्या है ?' यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वरकी है। इसको सुचारुरूपसे चलानेका विधान ईश्वरने बना रखा है। वही इसका पालन तथा संहार करनेवाला है। तुमको इसमें कार्य करनेका निमित्त बनाया गया है। तुम इस आज्ञाकी अवहेलना मत करो, न यह समझो कि इस सृष्टिका चलानेवाला मैं हूँ। यों समझनेसे 'अहं'-भाव जाग्रत् होगा, इससे राग-द्वेष पैदा होगा, संघर्ष होगा, अशान्ति होगी तथा ईश्वरीय व्यवस्थामें व्यतिक्रम होगा, जिसका भार तुम्हारेपर रहेगा और तुम दण्डके भागी बनोगे।

संसारमें तुम्हें जो कुछ करना है उसे ईश्वरका कार्य समझकर करो, तथा यह समझो कि मेरे अंदर होनेवाली दैवी प्रेरणा मुझसे ऐसा करवा रही है। इस प्रकार कार्य करनेमें जो लाभ-हानि होगी, वह तुम्हारी नहीं, ईश्वरकी होगी। तुम केवल कार्य करनेवाले हो, लाभ-हानिसे तुम्हें कोई सम्बन्ध नहीं। किंतु यदि तुमने सच्चे दिलसे तथा ईश्वरके आज्ञा-नुसार कार्य नहीं किया तो उसका दण्ड तुम्हें भोगना पड़ेगा, कार्य करनेमें जो कुछ लाभ-हानि हो, वह ईश्वरके समर्पण कर दो। यदि तुमने उस लाभको अपना बनानेका प्रयत्न

किया तो ईश्वरके दरबारमें तुमपर चोरीका मुकदमा चलेगा। तुम उनके लाभमें हिस्सा लेनेवाले कौन ? तुम्हें तो कार्य करनेका अधिकार दिया गया था। गीता तुम्हें डकेकी चोट कह रही है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(२।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं।'

क्या इस ईश्वरीय संदेशकी, ईश्वरीय आज्ञाकी तुम अवहेलना कर सकते हो ? यदि तुमने कार्य करके फलकी चाह की तो उससे मोह पैदा होगा, मोहसे राग-द्वेष होगा, राग-द्वेषसे क्रोध होगा और क्रोधसे क्रमशः बुद्धि-नाश होकर सर्वनाश हो जायगा। ज्यों-ज्यों फलकी इच्छा प्रबल होती जायगी, कार्यमें आसक्ति होगी और आसक्ति होनेसे तुम स्वार्थी बनोगे। यह स्वार्थ ही संघर्षोंका कारण है तथा ईश्वरीय आज्ञाके प्रतिकूल है। सघर्ष होनेसे सामाजिक व्यवस्था विशृङ्खल हो जायगी, अशान्ति बढेगी, कलह होगा, झूठ होगा, प्रपञ्च होगा, चोरी होगी, धोखा होगा—ऐसे कई प्रकारके अनाचार समाजमें व्याप्त हो जायँगे। इन सबका उत्तरदायित्व तुमपर होगा; क्योंकि तुमने ईश्वरीय आज्ञाकी अवहेलना की। इसके लिये तुमको स्वयं तो दण्ड मिलेगा ही, साथ ही समाजकी नौका भी डूबेगी। यह सब होगा तुम्हारी केवल एक त्रुटि—आसक्ति तथा फलेच्छाके कारण। इसलिये इनसे बचो।

अब तुम्हें करना क्या है, इस ओर ध्यान दो। यह सारी सृष्टि ईश्वरद्वारा रची गयी है। प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी सत्ता व्याप्त है। आत्मा, जिसको साक्षात् ईश्वर माना गया है, सभी प्राणियोंमें एक है। शरीर भिन्न-भिन्न हैं। उस आत्माके संदेशके विपरीत कार्य न करो। कोई भी कार्य करनेसे पूर्व आत्मासे पूछो कि 'तुम जो कुछ करने जा रहे हो, वह ईश्वरीय विधानके प्रतिकूल तो नहीं है ?' फिर कार्य करो। याद रखो तुम अकेले इस संसारमें कुछ भी नहीं कर सकते, यहाँतक कि दूसरोंकी सहायताके बिना तुम्हारा अपना जीवन-निर्वाह भी असम्भव है। तुम जो कुछ हो, तुम्हें जो कुछ मिला है और मिलता है, जिसके कारण तुम इस सृष्टिमें मौज उड़ा रहे हो, रँगरेलियाँ कर रहे हो, वह सब अन्य प्राणियोंके सहयोगसे ही प्राप्त हुआ है। प्रकृतिने तुम्हारे उपभोगके लिये विभिन्न पदार्थोंका सृजन किया है, प्राणियोंने उन्हें तुम्हारे लिये सुलभ बनाया है। अब उन्हें प्राप्तकर तुम उस प्रकृतिको तथा उन प्राणियोंको भूल न जाओ। अकेले उनका सेवन मत करो, बल्कि बदलेमें उनको भी कुछ दो। यही ईश्वरीय आज्ञा है, यही मानव-जीवनका उद्देश्य है। यह मानव-जीवन सह-अस्तित्वपर आधारित है। तुम्हारा अस्तित्व दूसरोंसे है तथा दूसरोंका तुमसे। जितना तुमने समाजके विभिन्न वर्गोंकी सहायतासे प्राप्त किया है, उतना ही उनका ऋण तुम्हारेपर है। उसे तुम्हे चुकाना है। अपना जीवन अपने लिये नहीं, बल्कि समाजके लिये समझो, राष्ट्रके लिये समझो तथा मानवमात्रके लिये समझो। यह समाज तथा राष्ट्रके प्रति तुम्हारा अहसान नहीं बल्कि कर्तव्य है—ईश्वरीय आदेश है, जिसकी अवज्ञा तुम नहीं कर सकोगे; ईश्वरने तुम्हें इसलिये पैदा किया है कि तुम कर्म करो; प्रकृतिके नियमानुसार तुम कर्म किये बिना नहीं रह सकते। किंतु कर्म कैसा ? जो समाजके हितमें हो, राष्ट्रके हितमें हो तथा मानवमात्रके कल्याणके लिये हो। समाज-सेवा सबसे बड़ी सेवा है। मनुष्यके लिये इससे बढकर कोई पुण्य नहीं, इससे बढ़कर कोई साधन नहीं एवं इससे बढकर कोई कर्तव्य नहीं; किंतु होनी चाहिये यह निष्काम भावसे।

यदि तुमने समाज-सेवाका व्रत ले लिया—बड़े मनोयोगसे, अनासक्तभावसे एवं फलेच्छाका त्याग करके—तो यह तुम्हारी उस परम पिता परमात्माके प्रति सच्ची भक्ति होगी। यदि तुम उक्त पथके पथिक बनकर मार्गमें कहीं भटक गये तो उस ईश्वरीय आज्ञाका स्मरण करो, जो विभिन्न शास्त्रोंद्वारा तुम्हारे समक्ष तुम्हारा मार्गदर्शन करनेके लिये उपस्थित की गयी है। याद रखो ! तुम ऐसी विषम परिस्थितिमें उससे सही मार्ग प्राप्त करनेकी आशा मत रखो, जो स्वयं भटका हुआ है। वह तुम्हें और गहरे गड्ढेमें गिरा सकता है।

यदि तुम परमात्माके सच्चे भक्त बनना चाहते हो तो समाजके कार्योंको ईश्वरीय कार्य समझकर सच्ची लगनसे किये जाओ, विपत्तियोंसे घबराओ मत; तुम्हारी भक्ति सफल होगी। इसके बदलेमें तुम्हें मिलेगा अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, जिसकी तुम कामना करते हो। भक्तके इन लक्षणों-को याद रखो—

न चलति निजवर्णधर्मतो यः
सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।

न हरति न च हन्ति किंचिदुच्चैः
सितमनस तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥
(विष्णुपुराण ३ । ७ । २०)

'जो पुरुष अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंमें समान भाव रखता है, किसी-का धन हरण नहीं करता न किसी जीवको मारता ही है, उस अत्यन्त रागादिशून्य और निर्मलमन व्यक्तिको भगवान् विष्णुका भक्त जानो ।'

देशभक्तिका यथार्थ स्वरूप और उसका ईश्वर-भक्तिके साथ सम्बन्ध

(लेखक—श्रीप्रद्युम्नप्रसाद त्रिभुवन जोशी)

भारतदेश धर्मप्रधान देश है। धर्म आर्य-संस्कृतिका मूल आधार है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें यह घोषणा की है कि वे अधर्मका नाश करके धर्मकी भलीभाँति सस्थापना करनेके लिये अवतार धारण करते हैं।

ऐसी स्थितिमें देशभक्तिके मूलमें धर्मका स्थान अवश्य होना चाहिये। यदि देशभक्ति इस सत्य धर्मसे रहित है तो वह देशभक्ति निष्फल है, झूठी है। क्योंकि भारत-सरकारने राजचिह्नके रूपमें 'सत्यमेव जयते' के सूत्रको स्वीकार किया है।

अतएव सत्यधर्मयुक्त देशभक्ति सच्ची भक्ति है और वही देशभक्ति ईश्वर-भक्तिके साथ ऐक्य साधन कर सकती है; क्योंकि ईश्वर सत्यस्वरूप है।

परंतु देशभक्तिके नामपर आज जो असत्यका आचरण चल रहा है, उससे किसीका भी कल्याण हो सकेगा, ऐसी आशा मुझे नहीं है।

देशभक्ति और ईश्वर-भक्ति यदि सत्यधर्मसे की जाय तो दोनों एक ही हैं, यह दीपकके समान स्पष्ट है।

परतु इसको आचरणमें लाना सहज नहीं है। परम कृपालु परमात्मा सत्यके आचरणकी शक्ति दें और देशके नागरिकोंमें सत्यका आचरण बढ़े, तभी कल्याणकी आशा की जा सकती है। शेष हरि-इच्छा।

सेवा मेवा है

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

सेवा मेवा है।

सेवा करो, मेवा मिलेगा।

पर कब ?

जब सेवा सेवाके लिये ही करोगे—न कि मेवाके लिये, तब।

× × ×

सेवा मेवाके लिये की, तो मेवा मिलना तो दूर, उल्टे सेवा ही जान-लेवा बन जायगी, दीन-दुनिया—कहींका न छोड़ेगी।

जन-जनकी उँगली उठ जायेगी तब तुमपर और तुम ग्लानिसे गल-गलकर रह जाओगे।

मेवाके लिये की गयी सेवा सेवा ही कहाँ है, वह तो स्वार्थकी टहल-चाकरी है।

और चाकर-टहलुआ—खासकर 'स्वार्थ'-जैसे आप-मतलबी स्वामीका चाकर-टहलुआ स्वामीके सकेतोंपर तिंगनीका नाच नाचता हुआ भी दुद् दुर् ही पाता है, फटकार ही खाता है, चपतियाया—लतियाया ही जाता है, मेवाका कलेवा नहीं उड़ा पाता।

× × ×

पर सेवा सेवाके लिये ही करनेपर मेवाका कलेवा अनायास उड़ेगा—अयाचित ही,

सेवा-हित सर्वस्व लहक-लहककर होमनेपर जीवन-रस स्वयं ललक-ललककर, तुम्हारे ना-ना करनेपर भी छलक-छलककर तुम्हें भीतर-बाहरसे आप्लावित कर देगा, रुक-रह नहीं सकता किये बिना,

अतः सेवा करो, मेवा पावो। सेवा मेवा है।

गुरु-भक्ति और उसका महत्त्व

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

हमारे हिंदू-धर्म, संस्कृति और सभ्यतामें गुरु-भक्तिकी महिमा सचमुच ही सर्वोपरि है। शास्त्रकारोंने भी गुरुके दर्जेको सर्वोच्च एवं महत्त्वपूर्ण बताया है।

गुरु गोविंद दोनूँ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविंद दिया मिलाय॥

—इस दोहेमें गुरुको भगवान्‌से भी ऊँचा बताया गया है। अतः गुरु-भक्ति और गुरु-सेवासे बढ़कर और कुछ भी नहीं। कठोर परिश्रम करके एवं नाना प्रकारके कष्टोंको भोगकर भी जो दुर्लभ ज्ञान, गूढ़ रहस्य, विद्या आदि लोगोंको नहीं प्राप्त हो सकते, वे सहजमें ही गुरु-भक्ति एवं गुरु-सेवाके आशीर्वादसे प्राप्त हो जाते हैं। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि एक बार आयोदधौम्य ऋषिने अपने नवीन शिष्य आरुणिको खेतकी मेंड़ बाँधनेका आदेश दिया था, जिसे आरुणिने अपने प्राणोंकी परवा न करके पूरा किया। आरुणिके जब और सब प्रयत्न विफल हो गये, तब वह स्वयं ही वहाँ लेट गया। इस प्रकार उसके शरीरसे पानीका प्रवाह रुक गया। बादमें आयोद धौम्य ऋषि उसे खोजते-खोजते वहाँ पहुँचे, तो शिष्यकी अद्भुत भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया कि 'समस्त वेद-शास्त्र तुम्हें बिना पढ़े ही आ जायँ। लोक-परलोकमें तुम्हारी गुरु-भक्ति विख्यात होगी एवं तुम उद्दालक ऋषिके नामसे विख्यात होगे।'

इसी प्रकार एक दूसरी कथा है। इन्हीं आयोद धौम्य ऋषिके दूसरे शिष्य उपमन्युने भी अपनी गुरु-भक्तिद्वारा बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। गुरुके आशीर्वादसे उन्हें भी सारे वेद-शास्त्रादि कण्ठस्थ हो गये। इसी प्रकार हिंदू-कुल-सूर्य, हिंदू-धर्म-रक्षक वीर छत्रपति शिवाजीकी अनुपम गुरु-भक्ति प्रसिद्ध है। एक बार वे अपने प्राणोंकी भी परवा न करके अपने गुरु समर्थ योगिराज रामदासजीके शूलकी चिकित्साके हेतु जंगलसे सिंहिनीका दूध लाये थे। इसपर प्रसन्न होकर गुरुजीने उन्हें वह आशीर्वाद दिया, जिसके प्रतापसे वास्तवमें उन्होंने हिंदू-जाति, धर्म एवं संस्कृतिके रक्षक होकर उसका सिर ऊँचा किया। आज भी समस्त हिंदू-जाति उनके नामपर अपना सिर ऊँचा कर सकती है। उनको आज इतना महान् और प्रातःस्मरणीय किसने बनाया? उनके गुरु समर्थ रामदासजीने ही। यही नहीं, एक बार शिवाजीने गुरु-भक्तिके आवेशमें अपना सारा राज्य गुरुजीको अर्पण कर दिया था, जिसे समर्थने शिवाजीको सम्हाल करनेके लिये लौटा दिया था। मेवाड़-कुल-सूर्य बाप्पा रावल भी बहुत ही बड़े गुरु-भक्त थे; अपने गुरु हारीत मुनिके आशीर्वादसे ही वे मेवाड जैसे राज्यके संस्थापक और अधिपति बने एवं हिंदूधर्म और संस्कृतिके परम उद्धारक बन उन्हें गौरवान्वित किया। महाभारतमें एकलव्यकी अनुपम गुरु-भक्ति प्रसिद्ध है, जिसकी द्रोणाचार्यके प्रति इतनी निष्ठा हो गयी कि वह उन्हें मन-ही-मन गुरु मानकर उनकी मिट्टीकी प्रतिमासे सब कुछ सीखकर अर्जुनसे टक्कर लेनेवाला नामी धनुर्धर हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसारकी प्रायः सभी बड़ी-बड़ी विभूतियाँ गुरु-भक्ति एवं गुरु-सेवाके अनोखे प्रभावसे ही इतनी महान् हुई हैं।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि हमारे हिंदू-धर्म, संस्कृति और सभ्यतामें गुरुका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। प्रायः विद्याभ्याससे लेकर सभी प्रमुख संस्कार गुरुद्वारा ही सम्पन्न होते हैं। गुरुके बिना कोई भी काम और ज्ञान नहीं होता। शिक्षामें तो गुरुकी जरूरत है ही, उपनयन आदि संस्कार कराने और उपासनाकी दीक्षा-जैसे गूढ ज्ञान देनेका अधिकारी भी गुरु ही होता है। यहाँतक कि मन्त्र सिद्ध करानेका अधिकार भी गुरुको ही है। इस जीवनको सफल बनानेके लिये पग-पगपर गुरुका होना जरूरी है। यथार्थरूपसे देखा जाय तो गुरुसे कभी मनुष्य उऋण हो नहीं सकता। अतः गुरुका दर्जा सर्वोपरि है। श्रीतुलसीदासजीने भी 'गुर बिनु होइ कि ग्यान' कहकर उनका महत्त्व बढाया है।

खेद इस बातका है कि आजका विद्यार्थी-जगत् गुरु-भक्तिसे बहुत दूर हो रहा है। गुरु-भक्ति-जैसी वस्तु उनमें रह ही नहीं गयी है। वे अपने-आपको बहुत कुछ समझने लगते हैं। गुरुजनोंके साथ प्रायः ठीक बर्ताव भी नहीं करते। यह बहुत ही लज्जाजनक है। इससे हमारे प्राचीन हिंदू-धर्म, सभ्यता तथा संस्कृतिको गहरी ठेस लगी है और हमारे देशका भी मस्तक नत हुआ है। क्या ही अच्छा हो कि हमलोग गुरु-भक्तिकी अनुपम शक्तिसे एक बार फिर भारतको उन्नतिके उच्चतम शिखरपर पहुँचा दें।

मातृभक्ति

(लेखक—श्रीभगवत दवे)

'आदौ सम्बन्धस्थापनम् ।' सम्बन्ध-स्थापन किये बिना भक्तिका प्राकट्य होना असम्भव है। इसलिये भक्तिमार्गमें सर्वप्रथम सम्बन्ध-स्थापनकी आवश्यकता है। शिशुभाव धारण करके माँके ऊपर निर्भर रहनेका नाम मातृभक्ति है।

साधकके हृदयमें शिशुभावके दृढ होनेपर मातृभक्ति प्रगाढरूपमें प्रकट हो जाती है। साधक ठीक-ठीक बालक-जैसा ही सरल, द्वन्द्व-मुक्त, सदा प्रसन्न और केवल माँपर निर्भर रहता है। शिशु-भक्तके हृदयमें भय, शोक या संताप प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि वह महाशक्ति जगदम्बाके अभय अङ्कमें सदा निर्भय होकर खेला करता है। मातृभक्ति—माताके प्रति परम प्रेमरूप भक्तिके प्रकट होनेपर क्रियारूप भक्ति नहीं रहती, उसे जप या पुरश्चरण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि माँका विस्मरण उसको असह्य हो जाता है।

व्याकुल होकर माँका स्मरण करनेसे रोमाञ्च हो आता है, अश्रु-प्रवाह होने लगता है, चित्तवृत्तिका अनायास निरोध हो जाता है, मनका माध्यम लीन होनेपर शरीरका भान नहीं रहता, और इस प्रकारके प्रेमी भक्त-शिशुके हृदयमें माँ अपनी कृपाकी वर्षा करके, उसको साक्षात् दर्शन देकर प्रेमामृतका पयःपान कराकर सदाके लिये तृप्त—पूर्णकाम कर देती है।

बंगालके अद्वितीय संत, प्रातःस्मरणीय पूज्य श्रीरामकृष्ण परमहंस देव 'माँ-माँ' पुकारते समाधिस्थ हो जाते। माँ जगदम्बा काली उनको साक्षात् दर्शन देकर उनसे वार्तालाप करतीं, और वे माँसे कहते थे—'माँ! मैं यन्त्र हूँ और तू यन्त्रको चलानेवाला यन्त्री है।'

गुजरातके परम भक्त श्रीवल्लभ भट्टको भगवान् श्रीनाथजीने साक्षात् माँरूपमें दर्शन दिये थे, उनके लिये श्रीनाथजीकी मूर्ति माँके स्वरूपमें बदल गयी।

गुजरातके अन्तर्गत नडिआदके गरबडनामक भक्त-बालकको आरासूर अम्बाजीके धाममें माँने मध्यरात्रिमें भोजन खिलाकर तृप्त किया था। धन्य है भक्तोंकी मातृभक्ति और माँकी शिशु-वत्सलता!

प्रेमस्वरूपा शिशु-वत्सला करुणामयी माँ! तुम्हारी जय हो, जय हो! जय हो!! मेरे मनरूपी सिंहको वाहन बनाकर उसपर तू विराजमान हो जा। हे सिंहवाहिनी माँ! दयामयी दुर्गे! हे करुणानिधि काली! भवभयभञ्जनि भगवति! हे शिशु-हृदयरञ्जिनी माँ! तेरी जय हो! जय हो!! जय हो!!! 'मैं'-पनको 'तू' में विलीन करके मैं तेरे अंदर खो जाता हूँ, तुझमें मिल जाता हूँ। हे माँ! प्रज्वलित प्रेमाग्निमें मैं अहं-भावकी आहुति देता हूँ, इसको स्वीकार कर। स्वाहा!

अपने दूतोंको यमराजका उपदेश

यमराज कहते हैं—

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः। अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २३-२४)

'प्रिय दूतो! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्यु-पाशसे छुटकारा पा गया। भगवान्‌के गुण, लीला और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है; क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चञ्चल चित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया, इस नामाभासमात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, उसे मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी।'

हरिभक्ति और हरिजन

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

संस्कृत व्याकरणमें 'विष्लृ' धातुसे 'विष्णु' शब्दकी निष्पत्ति होती है। यह धातु 'व्याप्त होने'के अर्थमें आती है। तात्पर्य यह है कि जो सर्वत्र व्याप्त है, वही विष्णु है। अतएव व्याप्त होनेके कारण पृथिवी भी वही है, अन्तरिक्ष भी वही है और द्युलोक भी वही है। जीव वही है, जगत् वही है, ईश्वर वही है। वह अनन्त है, असीम है, अपरिमेय है—उसको ज्ञेयरूपमें जानना सम्भव नहीं। वह स्वयम्भू है, अद्वितीय है—मनुष्य अनादिकालसे उसकी खोजमें है। उसी खोजका परिणाम आज असंख्य भावनाओंके द्वारा असंख्य उपास्यदेवोंके रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। मनुष्य जमात बनाकर, सम्प्रदायोंमें गठित होकर निश्चयपूर्वक 'एतावत्' कहकर एक-एक विशिष्टरूपमें, अपनी-अपनी विशिष्ट कल्पनाओं और भावनाओंके द्वारा उसको पूज रहा है। मानव अपूर्ण है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति सम्पन्न है; यही कारण है कि वह पूर्ण, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्के आगे सिर झुकाता है। उसकी यह उपासना अहैतुकी नहीं कही जा सकती।

उपासना चाहे जहाँ, जिस रूपमें भी हो, उसका कोई-न-कोई हेतु अवश्य होता है। बिना हेतुके मनुष्यकी किसी क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विष्णु-भक्तिका भी हेतु है—पाप और दुःखोंसे त्राण पाना। पाप और दुःख—ये दोनों जीवके पीछे लगे हुए हैं; वह इनसे त्राण पानेके लिये व्याकुल है, इनके कारण उसके प्राणको चैन नहीं है। पाप ही उसको जन्म-मरणके जालमें डालता है, भवसागरके मझधारमें ले जाकर गोते खिलाता है। जीव छटपटाने लगता है, त्राहि-त्राहि कर उठता है। पर उसका अरण्यरुदन सुने कौन? चारों ओर दृष्टि दौड़ानेपर उसको दीनवत्सल विष्णुके सिवा और कोई नहीं दीखता; वह चिल्ला उठता है—'बचाओ'; और तत्काल अपनेको भगवान्की अमृतमयी गोदमें सुरक्षित पाता है। वह पाप-तापसे मुक्त हो जाता है। इसके पश्चात् वह हरि-भक्तिका अधिकारी बनता है।

हरति पापानि दुःखानि च जीवस्येति हरिः।

"जो जीवोंके पाप और दुःखको हर लेता है, उसे 'हरि' कहते हैं।" जब पाप और दुःख दूर हो जाते हैं, तब जीवको हरिसे परिचय प्राप्त होता है, उसका हरिसे नाता जुड़ जाता है। वह अपने रूपको स्मरण करता है और सामने स्थित भगवान्के गुणोंको, उनकी महिमाको देख-देखकर कृतार्थ होता है। अब हरि-स्मरण और हरि-गुण-गान उसके जीवनका आधार बन जाते हैं। वह इनके बिना रह नहीं सकता, पाप-तापसे दूर रहकर हरि-भक्तिमें लीन रहना ही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य हो जाता है।

अतएव यह स्पष्ट हो गया कि भगवान्की पूजा—हरिभक्ति वही कर सकता है, जो भगवान्के शरणापन्न है, जिसको भगवान्का परिचय प्राप्त है। गीताशास्त्रका भी यही रहस्य है। जब कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीचमें भगवान्ने अर्जुनके रथको खड़ा किया, तब अर्जुनको पाप और तापने आ घेरा। वे मोहके वश होकर अत्यन्त तापसे संतप्त हो उठे और विषण्णचित्त हो प्रभुसे कह बैठे—'गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा।' परंतु जब भगवान्ने उनको फटकारा और कहा कि 'तुमको अवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा',—तब अर्जुन घबरा उठे और किंकर्तव्यविमूढ होकर भगवान्के शरणापन्न हुए। आत्म-समर्पणके बाद ही अर्जुनको गीता-ज्ञानकी प्राप्ति हुई। वस्तुतः महाभारतका युद्ध तो आज भी अनेक रूपोंमें चल ही रहा है। इस महाभारतका आदि नहीं, अन्त नहीं। दैवी वृत्तियाँ पाण्डव-पक्ष हैं, आसुरी वृत्तियाँ कौरव-पक्ष हैं; जिस जीवने भगवान्को अपना जीवन-रथ हाँकनेके लिये वरण कर लिया है, वह अर्जुन है। महाभारतके युद्धमें उसको मोह होता है, आसुरी वृत्तियोंके प्रति ममत्व उसको आ घेरता है, उनको आत्म-समर्पण करनेके लिये वह तैयार हो जाता है। परंतु भगवान् जब उसके सारथि हैं, तब वह धर्मच्युत कैसे हो सकता है। उसको गीताज्ञानकी प्राप्ति होगी और वह अहंकारके वशीभूत होकर नहीं, बल्कि निमित्तमात्र बनकर आसुरी वृत्तियोंका संहार करेगा। उसको इस महाभारतमें, जीवन-युद्धमें विजय प्राप्त होगी और साथ ही संसारमें पाण्डवों अर्थात् दैवी वृत्तियोंकी जयका उद्घोष होगा; भगवान्की महिमाका, शरणागतिकी अपूर्व शक्तिका गुण-गान होगा। जीव-जगत् धन्य हो जायगा।

इस जीवन-युद्धमें विजयी होनेके लिये भगवान्की शरणागति एकमात्र उपाय है। अपनी सारी दैवी वृत्तियोंके साथ भगवान्के चरणोंका आश्रय लेकर ही जीव आसुरी वृत्तियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। जीवनकी सफलताका यही एक उपाय

है। शरणागत होनेके बाद ही हरि-भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है, तभी जीव भगवान्‌के निर्देशके अनुसार जीवन-युद्धमें अग्रसर होता है। भगवान्‌को सारथि बनाकर, उनके हाथोंमें बागडोर देकर जीवन-युद्धमे आसुरी वृत्तियोंका सर्वनाश करके कृतार्थ होता है। गीता-शास्त्रका यही लक्ष्य है।

हरि-भक्तिका अधिकारी हो जानेपर जीव हरिजनके रूपमें ही श्रीहरिकी उपासना कर सकता है। कहावत भी है—'देवो भूत्वा यजेद् देवम्'। जो हरिजन हैं, वे हरिरूप ही हैं। इसी कारण वैष्णवलोग शङ्ख-चक्र आदि चिह्न धारण करते हैं, दया-करुणा, क्षमा-संतोष आदि दैवी गुणोंका आश्रय लेते हैं। भगवद्गुणोंके प्रति अतिशय अनुराग हरिजनका लक्षण है। निरभिमान होकर दीनोंके प्रति दया और पतितोंके प्रति प्रेम—यह हरिजनके लिये स्वभावसिद्ध होता है। आजकल जो सहिष्णुता, उदारता, सहानुभूति, दान-दाक्षिण्य आदि—नागरिकताके प्रमुख गुण गिने जाते हैं—हरिजनमें सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव हरिजन एक आदर्श नागरिक होता है। हरिजनके जीवनका एकमात्र आधार हरि होते हैं और अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा हरिकी भक्ति (सेवा) करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। उसके हरिको ही नाना सम्प्रदायवाले नाना नाम-रूपोंसे भजते हैं, अतएव उन सबके प्रति उसका स्वाभाविक प्रेम होता है। उसके हरि ही नाना रूपोंमें, नाना प्रकारके देवी-देवताओंके रूपमें पूजे जाते हैं; अतएव उन सबमे वह हरिभाव ही रखता है। हरिजन साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता आदि संकीर्ण भावोंका शिकार नहीं होता। अपने प्रभुके नाते वह सबसे प्रेमका ही भाव रखता है और प्रेमका ही बर्ताव करता है। वह जीवमात्रको प्रभुमय समझ जन-कल्याणार्थ सेवाधर्मका अनुसरण करता है। यही हरिजनकी पहचान है।

परंतु आजकल 'हरिजन' शब्द एक विशेष अर्थ लेकर भारतमें पिछड़ी हुई जातिका सूचक बन रहा है। विश्ववन्द्य महात्मा गांधीने इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग और प्रचार किया; फलतः 'हरिजन' शब्द इसी विशिष्ट अर्थका द्योतक बन गया। गांधीजी हरिभक्त थे, उनकी दृष्टिमें मानव-समाजकी सेवा हरिभक्तिका ही एक विशिष्ट रूप था। ये पिछड़ी जातियोंके लोग—जो अज्ञान, दारिद्र्य तथा नाना प्रकारकी सामाजिक कुरीतियोंके शिकार बन रहे हैं—भगवान्‌के ही रूप हैं। उनकी उपेक्षा, उनका निरादर सामाजिक पाप है, भगवान्‌का तिरस्कार है; उनकी सेवा, उनकी सहायता भगवान्‌की ही सेवा है। भगवान् पतितोंको उठाते हैं, पापियोंको तारते हैं; अतः इन सामाजिक दृष्टिसे गिरे हुए, कुरीतियोंके दलदलमें फँसे हुए 'हरिजनों'के उत्थानमें, उनके कल्याणके मार्गमें अपनी श्रद्धाञ्जलि, अपनी सत्सेवाएँ अर्पित करना भी हरि-सेवा है। यदि समर्थ होनेपर भी मनुष्य हरिजन-सेवामें योग नहीं देता तो वह हरिभक्त कैसे होगा।

परंतु 'हरिजन' के उद्धारके लिये 'हरिभक्ति' ही सबसे सुगम और सबसे श्रेष्ठ उपाय है। भगवत्-शरणागति प्राप्त करनेपर तथाकथित 'हरिजन' यथार्थ हरिजन बनकर अपना कल्याण तो करता ही है, समाजको भी पवित्र कर देता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
> पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
> मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
> प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

'(शम-दमादि) बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्मणसे, जो भगवान्‌के पादारविन्दसे विमुख है, वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जो भगवान्‌में अपने मन और वाणीको अर्पित कर चुका है; ऐसा भक्त अपने कुलको पवित्र कर देता है, परंतु वह अत्यन्त मान-मर्यादावाला ब्राह्मण नहीं।' श्रीहरि-भक्ति-विलास-में लिखा है कि मुझको (अभक्त) चारो वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण प्रिय नहीं है, मुझे तो अपना भक्त श्वपच भी प्यारा है। उसको देना चाहिये, उससे ग्रहण करना चाहिये; वह मेरे समान ही पूज्य है—

> न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
> तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥
> (पद्मपुराण)

भगवान्‌की दृष्टिमें सारे जीव एक-से हैं, वहाँ न तो कोई छोटा है न बड़ा। सबके साथ एक-सा न्याय है। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जन्म—जाति और अवस्थाविशेष-को प्राप्त करता है। ब्राह्मण अपने दुष्कर्मोंसे चाण्डालत्वको प्राप्त होता है और चाण्डाल अपने सत्कर्मोंसे ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेनेवालेकी अपेक्षा चाण्डाल-कुलमें जन्म लेनेवालेको भगवान् शीघ्र मिल सकते हैं, यदि वह भगवच्चरणोंमें अपनेको निवेदित कर देता है; क्योंकि वे गिरे हुओंको उठाते हैं, उपेक्षितोंको आदर देते हैं। भगवान् असमर्थ और दीन जीवोंके प्रति विशेष कृपालु हैं। वे दीनबन्धु,

पतितपावन और आर्त-त्राण-परायण हैं। अतएव हरिभक्तिके द्वारा ही वास्तविक हरिजनोद्धार हो सकता है।

स्वामी रामानन्दने पहले-पहल इन पिछड़ी जातियोंको कल्याणका मार्ग दिखलाया। उन्होंने रैदासको शिष्य बनाया। रैदास चमार जातिके बालक होनेपर भी हरिभक्तिके बलसे समाजमे पूजित हुए। सच्चा हरिभक्त चाहे छोटी जातिका हो या बड़ी जातिका—यद्यपि वह समाजसे आदर पानेका भूखा नहीं होता, तथापि समाज पीढी-दर-पीढी उसका गुणगान करता जाता है, साल-साल उसको श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता रहता है। समाज कृतघ्न नहीं है; जिस व्यक्तिने हरिभक्तिमें जीवन-यापन किया, समाजको भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलाया, उसने समाजकी सर्वाधिक सेवा की; इस अमूल्य सेवाको भला, समाज क्योंकर भूल सकता है। अतएव हरिभक्त 'हरिजन' ही सच्चा हरिजन है; वह अपने कुल और जातिको तो क्या, सारे संसारको पुनीत कर देता है। जीवन कर्म-प्रधान है, जाति-प्रधान नहीं। क्योंकि जाति स्वयं पुराकृत कर्मपर अवलम्बित है। अतएव जीवनको पुनीत करनेवाली, यम-यातनासे मुक्त करनेवाली हरिभक्तिका आश्रय लेना जीवमात्रका परम कर्तव्य है। हरिभक्तिकी महिमाका वर्णन करते हुए पद्मपुराण कहता है—

चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है और विष्णुभक्ति-विहीन ब्राह्मण श्वपचसे भी अधम है।'

मध्ययुगमें दक्षिण देशके आळ्वार लोग भक्तिमार्गके परम उपदेष्टा हुए हैं। उनमें तिरुप्पन् नामक आळ्वार, जातिके चाण्डाल होनेपर भी ब्राह्मणोंके द्वारा पूजित हुए और हो रहे हैं। हरिभक्ति पारस-मणिके समान है; कोई कितना ही पतित, कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, हरिभक्तिके प्रतापसे उसका जीवन देदीप्यमान हो जाता है। 'हरिजनों'के उद्धारका भी यही एक सरल और निश्चित मार्ग है। हरिभक्तिके द्वारा 'हरिजन' केवल अपनी जातिको ही नहीं, समस्त मानव-समाजको उठाता है, भक्तिके आलोकमें रहकर सारे लोकको आलोकित करता है।

भगवान्ने गीतामे कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

वर्णविभाग मनुष्यकृत नहीं है, सनातन है और स्वयं भगवान्के द्वारा सृष्ट है। अतएव भगवद्विधानमें अड़ंगा लगाकर यदि कोई ऊँचा होना चाहे और 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'—इस भगवद्वाक्यकी अवहेलना करके आगे बढना चाहे तो उसे ठीक रास्ता कैसे मिलेगा। अतएव बवडरमें न पड़कर अपने-अपने जातिगत धर्मोंका पालन करते हुए हरिभक्तिका आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है। हरिभक्ति जीवनको पवित्र कर देती है। सब लोगोंके कल्याणका मार्ग है—एकमात्र हरिभक्ति। अतएव हरिजन होना मनुष्यके लिये परम सौभाग्यकी बात है और वह हरिभक्तिके बिना सम्भव नहीं।

व्रजगोपियोंकी महत्ता

मथुरापुरवासिनी महिलाएं कहती हैं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भा० १०।४४।१५)

'सखी! व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं। निरन्तर श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे तथा आँसुओंके कारण गद्गद कण्ठसे वे इन्हींकी लीलाओंका गान करती रहती हैं। वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—कहाँतक कहें, सारे काम-काज करते समय श्रीकृष्णके गुणोंके गानमें ही मस्त रहती हैं।'

भक्ति भी विदेशियोंकी देन ?

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

धार्मिक तथा राजनीतिक कारणोंसे अधिकांश पाश्चात्त्य विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका सिर-तोड़ प्रयत्न किया है कि 'जीवनके किसी भी क्षेत्रमें, जो भी श्रेष्ठ है, वह भारतका अपना नहीं; भारतने उसे विदेशियोंसे ही सीखा है।' इसमें पाश्चात्योंके अनुयायी पाश्चात्त्य-शिक्षाप्राप्त भारतीय विद्वान् अपने उन ज्ञानदाताओंसे भी चार कदम आगे हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंकी उच्छिष्ट सामग्रीपर उन्होंने जमीन-आसमानके कुलावे भिड़ाये हैं। भक्तिके सम्बन्धमें भी यही बात है। कहा जाता है कि 'भारतने भक्ति भी दूसरोंसे ही सीखी।' इस सम्बन्धमे मुख्यतः तीन मत हैं। पहला मत यह है कि 'भारतमें भक्ति आर्येतर-तत्त्व है।' दूसरा मत यह है कि 'भक्ति भारतको ईसाई मतकी देन है' और तीसरा यह कि 'भारत इसके लिये इस्लामका ऋणी है।' यहाँ क्रमशः हम इन तीनों मतोंपर संक्षेपमें विचार करेंगे।

वेदोंसे लेकर आजतक अपने यहाँ भक्तिकी अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। इसी अङ्कके लेखोंमें वेदों, उपनिषदों, इतिहास-पुराणोंमें भक्ति-सिद्धान्त दिखलाया गया है। पर यह सब इन विद्वानोंके दिमागमें नहीं घुसता। वे कहते हैं कि 'वेद अनादि-अपौरुषेय नहीं हैं, बाहरसे आये आर्योंने उनकी रचना की। रामायण, महाभारत आदि इतिहास तो अपने वर्तमान रूपमें बहुत समय बाद बने। पुराणोंकी रचना तो ईसवी सन्की ८वीं, ९वीं शताब्दियोंमें हुई।' अतः ऐसे लोगोंके लिये अपने यहाँके शास्त्रवचनोंके प्रमाण कोई मूल्य नहीं रखते। उनके तर्कोंका उत्तर तो उनकी विचार-शैलीको ध्यानमें रखते हुए ही देना होगा।

(१) भक्ति आर्येतर-तत्त्व

अपने किसी भी इष्टदेवके प्रति भक्ति हो सकती है। पर अपने यहाँ भक्तिका मुख्यतः सम्बन्ध है भगवान् विष्णु तथा उनके अवतारों—और उनमें भी विशेषतः भगवान् श्रीकृष्णसे। पहले पाश्चात्त्य विद्वानोंकी देखा-देखी कहा जाने लगा था कि 'वेदोंमें भक्तिकी चर्चा नहीं।' किंतु जब मोहन-जो-दरोमे शिव-पूजनके कुछ चिह्न मिले, तबसे यह कहा जाने लगा कि 'भक्ति आर्येतर-तत्त्व है; क्योंकि शिव या रुद्र अनार्य-देव हैं।' यही बात विष्णुभक्तिके सम्बन्धमे भी कही जाने लगी। कारण यह बतलाया गया कि 'आर्य गोरे थे और विष्णु काले, तब फिर वे आर्योंके देवता कैसे हो सकते हैं।' पर विष्णुका नाम आर्योंके ऋग्वेदमें आया है। इसपर कहा जाने लगा कि 'विष्णु' शब्द 'सूर्यके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।' तब प्रश्न उठा कि 'जो देवता सूर्यके समान उज्ज्वल और चमकीला था, वह काला कैसे बन गया?' इसके उत्तरमें डा० सुनीतिकुमार चटर्जीका कहना है कि 'आर्योंके सूर्य-वाचक देवता विष्णु भारतमें आकर द्राविड़ोंके आकाश-देवसे मिल गये, जिनका रंग द्राविड़ोंके अनुसार आकाशके ही सदृश नीला अथवा श्याम था; तमिळ भाषामें आकाशको 'विन्' भी कहते हैं, जिसका 'विष्णु' शब्दसे निकटका सम्बन्ध हो सकता है।'

वैष्णव मतको 'अवैदिक' मानते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेनने लिखा है कि 'जिस भृगुने लिङ्गधारी शिवको शाप दिया था, उसीने विष्णुके वक्षःस्थलपर भी पदाघात किया।' जान पड़ता है कि 'भृगुगण बड़े निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक धर्मके उस पदाघातसे लाञ्छित होकर हमारे देशमें प्रतिष्ठित हुआ।'

काले-गोरे रंगोंके आधारपर ऐसी बातोंका निर्णय करने-वाले विद्वानोंसे पूछा जा सकता है कि "शिव तो बहुत ही गोरे हैं, उनके लिये 'कर्पूरगौरम्' कहा गया है। फिर वे 'अनार्य' देवता कैसे हो गये? द्राविड़ तो काले हैं; यदि रुद्र द्राविड़ देवता हैं, तो उन्हें भी काला होना चाहिये। यदि रंगके आधारपर देवताओंका भी जातिभेद किया जा सकता है तो फिर लाल होनेके कारण ब्रह्मा अमेरिकाके मूल निवासी 'लाल भारतीय' (रेड इंडियन), और पीले होनेके कारण बृहस्पति मंगोल हुए।" 'विन्' शब्दका सम्बन्ध 'विष्णु' से जोड़ देना कितनी निरर्थक खींचातानी है।

इन्हीं सब आधारोंपर श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' 'संस्कृतिके चार अध्याय' नामक अपनी पुस्तकमें लिखते हैं—'सच्ची बात कदाचित् यह है कि अपने मूलरूपमें भक्ति आर्येतर प्रवृत्ति थी और वह आर्यों एवं द्राविड़ोंके भारत-आगमनके पहलेसे ही भारतीय जनतामें विद्यमान थी। चूँकि द्राविड़ भारतमें आर्योंसे पहले आये, इसलिये भक्ति-तत्त्व पहले द्राविड़ धर्ममें समाविष्ट हुआ। वैदिक आर्योंमे भक्तिका प्रस्फुटित रूप नहीं मिलता; क्योंकि उनका धर्म हवन और

यज्ञतक ही सीमित था। जबतक यज्ञवाद लोकप्रिय रहा, आर्य जनताका ध्यान भक्तिकी ओर नहीं गया, जो उस समय द्राविड़ जन-धर्मका अङ्ग समझी जाती थी। पीछे ब्राह्मणोंके कालमे जब यज्ञवाद निर्जीवता धारण करने लगा और ऋषिगण उपनिषदोंमें एक नये धर्मकी खोज करने लगे, तभी आर्य-जनताने भक्तिको अपनाया होगा; क्योंकि यज्ञवाद-की जडतासे उसका मन ऊबने लगा था।'

अपने इस मतके समर्थनमें वे भक्तिके मुखसे कहलाया हुआ यह वचन उद्धृत करते हैं कि 'मैं द्रविड़ देशमें जन्मी, कर्णाटकमें मैंने विकास पाया, महाराष्ट्रमें कुछ दिन ठहरी और गुजरातमे जाकर बूढ़ी हो गयी।'

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥

उनका कहना है कि यह श्लोक भागवत तथा पद्मपुराण-में आया है।

पहले पाश्चात्य विद्वानोंकी यह मान्यता थी कि 'द्राविड़ भारतके मूल निवासी थे, बादमें आर्योंने आकर यहाँ एक नवीन संस्कृतिका प्रचार किया।' अब कहा जाता है कि 'द्राविड़ भी कहीं बाहरसे आये।' श्रीदिनकरजी भी अपनी उक्त पुस्तकमें लिखते हैं कि 'भारतमे बाहरी जातियोंका आरम्भसे ही तॉता लगा रहा है।' अनेक ग्रन्थोंके अध्ययनसे उन्हें पता लगा है कि 'निग्रो (हबशी) जातिके बाद आग्नेय, आग्नेयोंके बाद द्राविड़ और द्राविड़ोके बाद आर्यजातिके लोग यहाँ आये।' क्या विद्वान् लेखकसे यह पूछा जा सकता है कि 'निग्रो जातिके पहले इस देशमें कौन रहते थे, वे किस जातिके थे, क्या वे सर्वथा जंगली ही थे या समस्त भारत मानव-जातिसे शून्य ही था ? अपने यहाँ आर्य नामकी किसी जातिका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि कोई ऐसी जाति रही होती और वह कहीं बाहरसे भारत आयी होती तो प्राचीन साहित्यमें कहीं-न-कहीं उसका कुछ उल्लेख अवश्य मिलता। पर तब भी पाश्चात्य विद्वानोंकी बातको पकड़कर हमारे यहाँके विद्वान् भी तोतेकी तरह यह रट लगाये रहते हैं कि 'भारतमें आरम्भसे ही बाहरी जातियोंका तॉता लगा रहा है।' वस्तुतः बात यह है कि भारतमें ही सर्वप्रथम मानव-सृष्टि हुई और यहींसे विश्वके विभिन्न भूखण्डोंमें जाकर बसी। पाश्चात्य विद्वान् पिछले आठ-दस हजार वर्षोंमें ही सम्पूर्ण इतिहासको ठूँस देना चाहते हैं। अपने यहाँके मतानुसार वर्तमान सृष्टि लगभग दो अरब वर्ष पुरानी है। सृष्टि-प्रलयका चक्र बराबर चलता रहता है। यदि यह बात विद्वानोंकी समझमें आ जाय तो इतिहासकी कितनी ही पहेलियाँ सुलझ जायँ और यह स्पष्ट हो जाय कि किसी समय समस्त संसारमें एक ही धर्म तथा एक ही संस्कृति थी और वह है 'वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति।' विषयान्तरके भयसे इस सम्बन्धमें अधिक न लिखकर संकेतमात्र कर दिया गया है।[1] यदि इसे मान लिया जाता है, तो भक्तिको 'आर्येतर-तत्त्व' कहनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

श्रीदिनकरजीने जो श्लोक उद्धृत किया है, वह भागवतमें नहीं, पद्मपुराणान्तर्गत भागवत-माहात्म्यमें है। उक्त श्लोकके आधारपर भक्तिको 'आर्येतर-तत्त्व' बतलाना केवल बुद्धिका फेर है। ऐसी बात वे ही कह सकते हैं, जो पाश्चात्यों-के कथनानुसार द्राविड़ों, आर्यों आदिका भारतमें बाहरसे आना मानते हैं। पर अपने यहाँ तो ऐसी कोई बात नहीं, द्राविड़ोंमें भी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आदि सब कुछ वैदिक तत्त्व ही है। द्राविड़ों आदिको किसी प्रकार भी 'विदेशी' या 'अनार्य' नहीं कहा जा सकता। द्रविड़, कर्णाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरातमें आज भी भक्तिके प्रति आकर्षण दिखलायी पड़ता है। 'भागवत-माहात्म्य'में जहाँ ऊपरका श्लोक आया है, वहीं यह भी कहा गया है—

वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥

इससे समस्त भारतमें भक्तिकी व्यापकता ही स्पष्ट होती है। भक्ति-शास्त्र विष्णु तथा उनके अवतारोंसे ही सम्बन्ध रखता है और विष्णु वैदिक देवता माने जाते हैं। इस तरह श्रीदिनकरजीकी बात जमती नहीं।

(२) भक्ति ईसाई मतकी देन

जर्मनीके विख्यात मनीषी प्रोफेसर वेबरने अपनी रचना-ओंमें यह सिद्ध किया है कि 'कृष्णका जन्म ईसाके पश्चात् हुआ।' उन्होंने बतलाया है कि 'क्राइस्ट' शब्द, जिसका आज भी फ्रेंच भाषामें 'क्रीस्ट' उच्चारण होता है, 'कृष्ण'का उद्गम-स्थान है। यही 'क्रीस्ट' शब्द काल-विपर्याससे भ्रष्ट होकर 'क्रीष्ट' के रूपमें परिणत हुआ और अन्ततः 'कृष्ण' बन गया।'' तमिळ भाषामें अब भी कृष्णको 'किट्ट' और बँगलामें 'कृष्ट' या 'कृष्टो' कहा जाता है। इससे भी यह सिद्ध किया

१. इसका पूरा विवेचन देखिये 'कल्याण' हिंदू-संस्कृति-अङ्कके 'संस्कृतिकी समस्या' शीर्षक लेखमें।

गया है कि 'भक्ति' ईसाई मतकी देन है; क्योंकि भारतमें भक्तिके आधार कृष्ण ही हैं।

पर पाली-भाषाके बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देस' में वासुदेव, बलदेवकी चर्चा आयी है। यह ग्रन्थ ईसासे चार सौ वर्ष पूर्वका माना जाता है। पाणिनिके भी एक सूत्रमें वासुदेव और अर्जुनके नाम आये हैं। पाणिनिका समय भी उसी शताब्दीके लगभग माना जाता है। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य (ईसा-पूर्व ३२५) के दरबारमें मेगस्थनीज यूनानी राजदूत था। उसने लिखा है कि उस समय 'हरक्यूल' की पूजा शौरसेनी करते थे, जिनके अधिकारमें मथुरा-जैसी विशाल नगरी थी, जहाँ यमुना नदीका प्रवाह था। इस 'हरक्यूल' शब्दने अनेक विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया, जिनमें प्रोफेसर विल्सन, गोल्डस्के, हिग्गिंस, लैसन, अरियन तथा स्ट्रोबो प्रधान थे। यद्यपि इन विद्वानोंकी धारणाओंमें मतभेद रहा, तथापि इतना अवश्य निर्णय हो गया कि 'इस शब्दका प्रयोग श्रीकृष्ण अथवा बलदेवके हेतु किया गया है।' ईसा-पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दीमें हेलियोडोरने वासुदेवकी पूजा-के लिये वेश नगरमें गरुड़ध्वज स्थापित किया था। उसके लेखमें वासुदेवको 'देवाधिदेव' कहा गया है। हेलियोडोर यूनानी था, जो वैष्णवधर्ममें दीक्षित होकर 'भागवत' उपाधि-से विभूषित किया गया था। ईसा-पूर्व कालके घोसुडी, नानाघाट, भीतरीगाँव आदि अनेक स्थानोंके शिलालेखों-द्वारा वासुदेवका ईसा-पूर्व होना सिद्ध होता है।

भारहुतके बौद्ध-स्तूपमें 'गजेन्द्र-मोक्ष' तथा भागवतके अन्य कई दृश्य अङ्कित हैं। यह स्तूप भी ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीके लगभगका माना जाता है। कई बौद्ध जातकों एव अश्वघोषके 'बुद्धचरित' काव्यमें, जिसकी रचना ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दीमें हुई थी, भागवत तथा अन्य पुराणोंके कई आख्यान मिलते हैं। वे बहुत पहलेसे प्रचलित रहे होंगे, तभी उनका उक्त काव्यमें समावेश हो सका। प्रोफेसर गोकुल-दास दे ने इन्हीं आधारोंपर अपनी पुस्तक 'Significance and Importance of Jatakas' (जातकोंका गूढ अभिप्राय और महत्त्व) में लिखा है कि 'इन अवैदिक बौद्ध-प्रमाणोंसे भी स्पष्ट होता है कि भागवत आदि पुराण ईसासे पूर्वके हैं।'

स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकरने भी स्वीकार किया है कि 'वासुदेवका पूजन ईसाके पहलेसे चलता था।' उनके अनुसार प्राचीन कालमें वैष्णवधर्म मुख्यतः तीन तत्त्वोंके योगसे प्रादुर्भूत हुआ। पहला तत्त्व 'विष्णु' नामक है, जिसका उल्लेख वेदमें मिलता है। दूसरा तत्त्व 'नारायण-धर्म' है, जिसका विवरण महाभारतके 'नारायणीय उपाख्यान' में है। तीसरा तत्त्व 'वासुदेव-मत' है, जिसका सम्बन्ध 'वासुदेव' नामक किसी ऐतिहासिक व्यक्तिसे है जो ईसासे लगभग छः सौ वर्ष पूर्व प्रकट हुआ था। पर वासुदेवमें गोपाल कृष्णकी कल्पना उन्हें विदेशी जान पड़ती है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Saivism-Vaishnavism' (शैव और वैष्णव-मत) में वे लिखते हैं कि "वासुदेवमे गोपाल कृष्णका भाव बादमें आया। 'आभीर' जाति कहीं बाहरसे आकर भारतमें आबाद हुई। सम्भवतः उसीके साथ 'क्राइष्ट' नाम आया। गोपियोंके साथ कृष्णकी छेड़-छाड़, रास-लीला आदि 'आर्य मर्यादा' के विरुद्ध थीं। इससे भी गोपाल कृष्णका भाव बाहरी सिद्ध होता है। बादमें उन्हें भी वासुदेवमें आरोपित कर लिया गया।" इसी आधार-पर बौद्ध विद्वान् कोसाम्बीने लिखा है कि 'शकोंके ह्रास-काल-में जिस प्रकार महादेवका रूपान्तर लिङ्गमे हुआ, उसी प्रकार गुप्तोंके अवनति-कालमें वासुदेवका रूपान्तर बहुनायक गोपालमें हुआ।' इसे उद्धृत करते हुए अपनी पुस्तकमें श्रीदिनकरजी लिखते हैं कि 'प्राचीन ग्रन्थोंमें कृष्णकी प्रेम-कथाएँ नहीं मिलतीं। इससे प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और हल्के जीव नहीं, बल्कि देश और धर्मके बड़े नेता थे। अवश्य ही गोपाल-लीला, रास और चीरहरणकी कथाएँ तथा उनका रसिकरूप बादके भ्रान्त कवियों एव आचारच्युत भक्तोंकी कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन लोगोंने कृष्ण-चरितमें जबर्दस्ती ठूँस दिया।'

भला, इस 'जबर्दस्ती' का भी क्या कोई ठिकाना है। वसुदेवके पुत्र होनेसे ही कृष्ण 'वासुदेव' कहलाये। वसुदेवका जन्म 'वृष्णि' वंशमें हुआ था। इस तरह कृष्ण क्षत्रिय थे, आभीर नहीं। अपने बाल्य-कालमें वे नन्द गोपके यहाँ पले अवश्य थे। फिर आभीर कहीं बाहरसे आये, इसीका क्या प्रमाण? कृष्ण-लीलाओंमें, जिनका आध्यात्मिक महत्त्व है, अश्लीलता देखना विकृत दिमागकी ही कल्पना हो सकती है। इस सम्बन्धमें उक्त ऐतिहासिक प्रमाणोंके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी विचारणीय हैं। जब प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्रीबाबा सावरकर वङ्गविच्छेद-आन्दोलनके समय कालापानी (अंडमन द्वीप) में थे, तब उन्होंने 'खिस्तपरिचय' नामक एक पुस्तक मराठीमें लिखी। उसमें उन्होंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'ईसाका जन्म या तो भारतमें हुआ या

फिलिस्तीनमें बसनेवाले किसी हिंदूके घरमें ।' डाक्टर बुकाननि, मेजर विल्फर्ड, फिलसिथ आदिने लिखा है कि फिलिस्तीन, शाम, मिस्र, अबीसीनियॉ आदिमें हिंदू देव-देवियोंके पूजनके चिह्न अब भी पाये जाते हैं[1]। ऐसी दशामें हो सकता है कि ईसाका जन्म फिलिस्तीनमें बसनेवाले किसी हिंदू घरानेमें हुआ हो। बाइबलमें आये हुए शब्द 'गीधा' का अभिप्राय 'गीता' से है। फ्रांसीसी यात्री क्रेक्वोनियरका कहना है 'कि 'तमिळ्नाडके हिंदुओं और फिलिस्तीनके यहूदियोंके रीति-रिवाज बहुत कुछ एक-से हैं।'

पादरी गोपालाचारीका भी ऐसा ही मत है। सबसे आश्चर्यजनक समता तो ईसाकी मूर्तियों तथा चित्रोंमें मिलती हैं। फ्लॉरेंसके एक चित्रमें ईसाकी माता हिंदू रानीके वेषमें दिखलायी गयी है। वह हिंदू आभूषण तथा साड़ी पहने हुए है और उसके मस्तकपर कुङ्कुम लगा है। यह चित्र ईसवी सन्‌की पॉचवीं शताब्दीका बतलाया जाता है। मिलनके एक गिरजाघरमें भी एक ऐसा ही चित्र है, जो उसी समयका बतलाया जाता है। म्यूनिकके एक चित्रमें ईसा संन्यासी-वेषमें हैं और उनके मस्तकपर तिलक भी है। फ्लॉरेंसकी एक मूर्तिमें वे यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं।

अपने जीवनमें १८ वर्षतक ईसा कहॉ रहे, इसका ईसाई ग्रन्थोंमें कोई उल्लेख नहीं। रूसी विद्वान् डाक्टर नोटोविच इस सम्बन्धमें ४५ वर्षतक अनुसंधान करते रहे। अन्तमे वे इस निर्णयपर पहुँचे कि इन वर्षोंमें ईसा भारतमें रहकर हिंदू शास्त्रोंका अध्ययन तथा योगाभ्यास करते रहे। इसका प्रमाण उन्होंने तिब्बतके एक बौद्ध विहारके कुछ प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया। इसके उन्होंने तीन फोटो लिये, जिनमेंसे एक उन्होंने पोपके पास भेजा। पोपने उसे तुरत जला देनेकी आज्ञा दी और डाक्टर नोटोविचको अपनी पुस्तक प्रकाशित न करनेके लिये लिखा; पर उन्होंने उसे छपा ही दिया। उसका नाम है 'The Unknown Life of Jesus' (ईसाका अज्ञात जीवन)। कहा जाता है कि सिकंदरियाके एक व्यक्तिने ईसाके सूली दिये जानेका ऑखों देखा वर्णन अपने एक पत्रमें लिखा था। सिकंदरियाकी खुदाईमे यह प्राप्त हुआ है। एक फ्रांसीसी पुरातत्त्वज्ञ इसे जर्मनी ले गया, जहॉ लातिन भाषासे इसका अग्रेजीमें अनुवाद कराया गया। सर्वप्रथम वह १८७३ में अमेरिकामें प्रकाशित हुआ, पर बादमें जप्त कर लिया गया। उसकी एक प्रति कहींसे बाबा रावके हाथ पड़ गयी। उस पत्रमें बतलाया गया है कि 'ईसाका शरीर मृत समझकर पाइलटने उसे उनके शिष्योंको दे दिया। वास्तवमें वे मरे नहीं थे। वे किसी अज्ञात स्थानको चले गये।' बगालके नाथ-सम्प्रदायमें यह पद बहुत प्रचलित है—'(आवे) आरव आशे ईशोद गेल फिरलो मरि।' अर्थात् ईशनाथ मृत्युके बाद जीवित होकर अरब गये। स्वामी अभेदानन्दका कहना है कि 'नाथ-नामावलीमें यह बतलाया गया है कि 'सूलीपर चढनेके बाद ईसा भारत गये।' श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीने यह पद देखा था। अरबीके 'तारीख आजम' में लिखा है कि 'ईसा कश्मीरकी सीमापर ठहरे थे।' स्व० मौलाना मुहम्मद अलीका, कुरानके अपने अग्रेजी अनुवादमें कहना है कि ईसा सूलीपर मरे नहीं थे। वास्तवमें उनकी मृत्यु कश्मीरमे हुई। वहॉ वे योग सीखते रहे और समाधि-अवस्थामें उनका शरीर छूटा।'

पर इस तरहकी बातोंके लिये ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढनेमें सदा कठिनाइयॉ पड़ेंगी और बराबर सदेह बना रहेगा। सभी प्राचीन धर्मों, संस्कृतियों एवं पवित्र ग्रन्थोंमे एक ही प्राचीन परम्परा किसी-न-किसी रूपमें मिलती है। फ्रांसीसी विद्वान् रेने गेनोने अपनी पुस्तकोंमें इसपर अच्छा प्रकाश डाला है। यह परम्परा वैदिक ही हो सकती है, जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है। विभिन्न परिस्थितियोंके कारण अन्य देशोंमें उसका रूप बदल गया, पर उसकी झलक सबमें मिलती है। यदि यह मान लिया जाय तो ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढ़नेके लिये माथा-पच्ची करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। ईसा चाहे भारतमें पैदा हुए हों या अन्यत्र, वे चाहे कभी भारत आये हों या न आये हों, उनके साथ किसी हिंदू संतका सम्पर्क हुआ हो अथवा न हुआ हो, यह स्पष्ट है कि उनके विचारोंपर हिंदू सिद्धान्तोंकी छाप है।

इस सम्बन्धमें एक बात और है—कहा जाता है कि 'ईसाकी मृत्युके ५२ वर्ष बाद उनके शिष्य संत तामस दक्षिण-भारत आये थे।' पर अब ईसाई पादरी ही इसे केवल कपोल-कल्पना मानने लगे हैं[1]। वस्तुतः भारतमें ईसाई धर्मका प्रचार पुर्तगालियोंद्वारा पद्रहवीं शताब्दीसे आरम्भ हुआ, उस समय भारतमें भक्ति-भावनाका प्रवाह जोरोंसे चल रहा था।

---

१. पादरी हेरासने अपनी पुस्तक "Proto-Indo-Mediterranean Culture" में सप्रमाण सिद्ध किया है कि प्राचीन भारतीय ही जाकर उक्त देशोंमें बसे थे।

1. Father Hupart. "A South Indian Mission"

इस तरह यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि 'भक्ति भारतको ईसाई-मतकी देन है।'

(३) भक्ति इस्लामकी देन

ऐतिहासिक प्रमाणोंद्वारा दिखलाया जा चुका है कि 'ईसाके सैकड़ो वर्ष पूर्व भी भारतमें भक्ति-भावना थी।' तब भी कुछ विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका साहस किया है कि 'भक्ति भारतको इस्लामकी देन है।' सर्वप्रथम सर चार्ल्स इलियटने १९२१ में प्रकाशित 'Hinduism and Buddhism' (हिंदूधर्म और बौद्धधर्म) नामक अपनी पुस्तकमें लिखा कि 'रामानुज, मध्व, लिङ्गायत और वीरशैव सिद्धान्तोंपर कुछ इस्लामी प्रभाव हो सकता है।' इसे लेकर कुछ भारतीय विद्वान् उड़ पडे और 'हिंदू-मुस्लिम-एकता' की धुनमें उन्होंने यह सिद्ध करना आरम्भ कर दिया कि 'भक्ति भी भारतको इस्लामकी ही देन है।' इनमें सबसे प्रमुख हैं—प्रयागके डाक्टर ताराचद, जो भारतके मध्यकालीन इतिहासके प्रकाण्ड पण्डित' माने जाते हैं। पहले वे प्रयाग विश्वविद्यालयमें अध्यापक थे, फिर वहाँके उप-कुलपति(Vice-Chancellor) हुए और बादमें भारत-सरकारके शिक्षा-सचिव तथा ईरानमें राजदूत। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Influence of Islam on Indian Culture' (भारतीय संस्कृतिपर इस्लामका प्रभाव) में यह दिखलानेका प्रयास किया है कि 'निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य और दक्षिणके आळवार सत तथा वीरशैव सम्प्रदाय—ये सब-के-सब इस्लामके प्रभावके कारण आविर्भूत हुए।' वे लिखते हैं कि 'विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्वका चिन्तन नजाम, अशअरी और गजारीके चिन्तनके समान लगता है।' वे यह भी कहते हैं कि 'उन आचार्योंने जो मार्ग चलाया, उसमें जाति-प्रथाकी कठोरता नहीं थी, धर्मके बाहरी उपचार अप्रमुख थे तथा एकेश्वरवाद, आकुल भक्तिभावना, प्रपत्ति और गुरु-भक्तिपर उसमें बहुत जोर दिया गया था। ये सब इस्लामकी ही विशेषताएँ हैं।'

यह दिखलाया जा चुका है कि राम और कृष्णकी उपासनाके साथ भक्तिका उदय भारतमें बहुत पहले हो चुका था। उक्त भारतीय आचार्य एव सतोंके विचारों तथा वचनोंमें सूफी सतोंके विचारोंसे जो समता उपलब्ध होती है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि भारतीय आचार्य सूफी सतोंसे प्रभावित थे। आधुनिक इतिहासकार भी अब यह मानने लग गये हैं कि इस्लामके आविर्भावके पूर्व केवल अरबमें ही नहीं, उन समस्त अफ्रीकी तथा एशियाई देशोंमें, जो आज मुस्लिम हैं, वैदिक तथा बौद्धधर्म विकृतरूपमें चल रहे थे। इस्लामके सूफियोंने उन्हीं धर्मोंके कुछ तत्त्वोंसे 'रहस्यवाद'की प्रेरणा प्राप्त की। भारतमें भारतीय सतोंके सम्पर्कमें आनेपर सूफी सत उनके विचारोंसे भी बहुत प्रभावित हुए। सूफी विचारधारापर वेदान्तकी छाप है, इसे भी आधुनिक विद्वान् स्वीकार करने लगे हैं। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि 'भारत'के वैष्णव आचार्य सूफी विचारोंसे प्रभावित थे।' डाक्टर ताराचंदका यह भी कहना है कि 'दक्षिणके आळवार संतोंपर भी मुसल्मानी प्रभाव है।' डाक्टर श्रीकृष्णस्वामी आयंगारने 'Early History of Vaishnavism in South India' (दक्षिण-भारतमे वैष्णवमतका आरम्भिक इतिहास) नामक अपनी पुस्तकमें यह सिद्ध किया है कि प्वायगई आळवारका समय ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी है। इसी प्रकार उन्होंने एक दूसरे आळवारका समय छठी शताब्दी बतलाया है। प्रमुख आळवारोंका समय सातवींसे नवीं शताब्दीतक है। यदि उनपर मुसल्मानी प्रभाव माना जाता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह प्रभाव मलाबारसे आया होगा। किंतु उस समयतक वहाँ इस्लामका इतना प्राधान्य नहीं हुआ था कि उसके प्रभावसे नये धार्मिक आन्दोलन उठते। फिर आळवार संत आकस्मिक नहीं माने जा सकते। भारतमें उनकी परम्परा उस समय आरम्भ हुई थी, जब अरबमें इस्लामका जन्मतक नहीं हुआ था। आळवार कवियोंके तमिळ पदोंका सम्पादन पहले-पहल नाथमुनिने किया, जो नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें त्रिचनापल्लीके पास श्रीरगम्‌में रहते थे। यह सग्रह 'प्रबन्धम्' के नामसे प्रसिद्ध है। इसमें सगृहीत पदोंमें प्रपत्ति, शरणागति, आत्मसमर्पण और एकान्तनिष्ठाके भाव भरे पडे हैं। प्रपत्तिका अर्थ है—सब कुछ छोडकर भगवान्‌की शरणमें आ पडनेकी भावना। श्रीरामानुजाचार्यने इसपर बहुत जोर दिया है। भक्तिके दर्शनका 'तमिळ-प्रबन्धम्' में बहुत अच्छा विवेचन मिलता है।*

डाक्टर फर्कूहरने, जो भारतके प्रसिद्ध ईसाई-प्रचारक माने जाते हैं, अपनी पुस्तक 'A Primer of Hinduism' मे लिखा है कि 'उत्तर-भारत भक्ति-प्रचारके लिये श्रीरामानन्दका बड़ा ऋणी है। उनका समय पद्रहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, तब भी उनके मत तथा आचरणमें किंचित् भी मुस्लिम प्रभाव नहीं देख पड़ता।'

* इसीसे कुछ विद्वानोंने यहाँतक अनुमान लगा डाला है कि 'भागवत' भी इसी 'प्रबन्धम्'से प्रेरित है।

डाक्टर ताराचंदका यह भी कहना है कि 'वीरशैव-सम्प्रदाय अवश्य उस समय उत्पन्न हुआ होगा, जब मुसल्मान व्यापारीके रूपमे भारत आने तथा काम्बेसे लेकर किलोनतक बसने लगे।' इस सम्प्रदायका पर्याप्त साहित्य तमिळ और तेलुगु भाषाओंमें उपलब्ध है। इस साहित्यमें सभी उद्धरण वेदों अथवा आगमसे लिये हुए हैं। हिंदूधर्मके अतिरिक्त उसमें किसी धर्मका उल्लेख नहीं है। 'अल्लम प्रभु' इस सम्प्रदायके बड़े संत हुए, जो वीरशैव-मतके प्रवर्तक वासवके समसामयिक थे। 'अल्ला' और 'अल्लम' के बीच अक्षरोंकी समानता देखकर कुछ विद्वानोंने वीरशैव-मतपर इस्लामके प्रभावका अनुमान लगाया है। इसकी पुष्टि वे इससे भी करते हैं कि वीरशैवोंमें शवको गाड़नेकी प्रथा है। पर किटेलके 'कन्नड़-कोष' के अनुसार 'अल्लम'का अर्थ 'लिङ्गायत भक्त' है, न कि 'अल्लाका अनुचर'। रही शव गाड़े जानेकी प्रथा, तो इसका प्रचार भारतकी कई जातियों और सम्प्रदायोंमें पहले भी था और अब भी है; इस तरह उनपर इस्लामी प्रभाव सिद्ध नहीं होता। सच बात तो यह है कि जब दक्षिणमें पहले शैव-मत और बादमें वीरशैव-मत फैला, तबतक वहाँ इस्लामका प्रचार ही नहीं हुआ था।

डाक्टर ताराचंद-जैसे विद्वानोंने तो यहाँतक कहनेका साहस किया है कि यदि भारतमें इस्लाम न आता तो शंकराचार्यका आविर्भाव होता या नहीं इसीमें संदेह है। डाक्टर ताराचंदके-जैसे ही विचार रखनेवाले दूसरे विद्वान् प्रोफेसर हुमायूँ कबीरने, जो भारत-सरकारके शिक्षा-विभागके एक उच्च अधिकारी हैं, अपनी पुस्तक 'Our Heritage (हमारी विरासत) में यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि 'आचार्य शंकरने अद्वैतका पाठ इस्लामसे सीखा है।'* वे भक्ति-पर भी इस्लामका प्रभाव मानते हैं। उनका कहना है कि 'भारतकी विचार-धारामें आठवीं शताब्दीके आरम्भके लगभग सहसा क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। भारतीय विचार-धारा-का नेतृत्व उत्तरसे दक्षिणको चला जाता है। शंकर और रामानुज, निम्बादित्य और वल्लभाचार्य—सब दक्षिण भारतके हैं। वहीं वैष्णव तथा शैव-मतोंका उत्थान एवं विकास हुआ।' उत्तर-भारतके राजनीतिक एवं सामाजिक कारणोंसे यह सहसा क्रान्तिकारी परिवर्तन समझमें नहीं आता और इतिहासकार इससे बड़े चक्करमें पड़े हैं। इस रहस्यकी कुंजी हमें तब मिलती है, जब हम इसका सम्बन्ध दक्षिणमें सातवीं शताब्दीके मध्यके लगभग इस्लामके प्रादुर्भाव-से जोड़ देते हैं।' परंतु जो तर्क दिये जा चुके हैं, उनसे इस मतमें कुछ दम नहीं रह जाता। दक्षिणमें उस समय-तक इस्लामका प्रभाव नाममात्र था। उससे भक्तिके आचार्यों-की विचार-धारा प्रभावित नहीं मानी जा सकती। इस तरह 'भक्ति भारतको इस्लामकी देन है', यह बेसिर-पैरकी कल्पना है।*

निष्कर्ष

सच बात तो यह है कि इस प्रकारका विवाद ही निरर्थक है। भक्ति कोई लेन-देनकी वस्तु नहीं। उसकी भावना विश्व-व्यापिनी है; उसका आधार है प्रेम, जो प्राणि-मात्रमें पाया जाता है। हिंसक पशुओंतकमें नर-मादा परस्पर और अपने बच्चोंसे प्रेम करते हैं। भेड़ियोंकी माँद-में मनुष्योंके बच्चे पले पाये गये हैं। पशु-पक्षी भी स्वामिभक्त होते हैं। उनमें बुद्धि, विवेक, विचार अधिक नहीं होता; इसलिये उनमें भक्ति भी इससे आगे नहीं बढ़ पाती, यद्यपि कुछ विशिष्ट पशु-पक्षियोंमें किसी सीमातक भगवद्भक्ति भी देखी गयी है। भगवदर्पित प्रेम ही भक्ति है। इसका ठेका किसी व्यक्ति, देश, जाति, मत, सम्प्रदाय या धर्मके पास नहीं। विश्वके अधिकांश लोग ईश्वरमें विश्वास रखते और किसी-न-किसी रूपमें उसकी भक्ति करते हैं। सभी देशों, सभी जातियों और सभी धर्मोंमें समय-समयपर 'भक्तिके बावरे' पाये जाते हैं। इस दृष्टिसे इसमें कोई देश, जाति या धर्म किसी दूसरेका ऋणी नहीं कहा जा सकता। पर भक्तिके प्रकार और साधनोंमें भिन्नता अवश्य है, जो होनी भी चाहिये; क्योंकि सबके संस्कार, स्वभाव और बुद्धि एक-जैसे नहीं होते। पर इसमें संदेह नहीं कि भक्तिपर जितना सूक्ष्म, गम्भीर और विस्तृत विचार अपने यहाँके ग्रन्थोंमें मिलता है, उतना अन्य किसी देश या जातिके ग्रन्थोंमें नहीं। इस अङ्कके ही लेखोंमें भक्ति-सिद्धान्तके गहन विवेचनका कुछ आभास मिलता है, जिससे उसकी गम्भीरता एवं विशालताका अनुमान लगाया जा सकता है। यदि इस

* इस मतका पूरा खण्डन 'सिद्धान्त' वर्ष ८, अङ्क २—५में प्रकाशित 'शंकराचार्य और इस्लाम' शीर्षक लेखमें देखिये।

* इस विषयपर दिनकरजीकी पुस्तक 'संस्कृतिके चार अध्याय'में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

विवेचनमें अन्य जाति एवं धर्मोंके विचारोंमें समता जान पडती है तो अधिकतर सम्भावना यही है कि 'सबका मूलस्रोत एक ही है, जैसा कि लेखके आरम्भमें संकेत किया जा चुका है। यह बात दूसरी है कि समय-समयपर विभिन्न सम्प्रदायोंके भक्तोंमें परस्पर भावों एवं विचारोंका आदान-प्रदान होता रहा, वे एक दूसरेसे प्रभावित भी होते रहे। पर यह कहना कि 'भारतने भक्तिका पाठ विदेशियों-से सीखा' सर्वथा निराधार और भ्रामक है।

निहोरौ श्रीराधा जू सौं

(रचयिता—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह'

सरल सनेह चित वित के हरनहारे, चरन तिहारे राधे अरुन बरन हैं।
पिय मद छाके, अभिलाखे आस पूरन कौं, दृग अरविंद सुख कारन करन हैं॥
हिय करुना के ठाम अभिराम सुखधाम, घनदाम घनस्याम जीवन मरन हैं।
अभिमत दैन वारे कंजन तैं न्यारे कर वितरत मोद, राधे !, रावरी सरन हैं॥

चरन—नख दुति चरन भरति भावना अनेक, भूले से भ्रमे से दास दासन के चित बीच।
मृदु गदकारे उन पंजनि निरंजनि पै सीस पारिवे की होड़, कैसी परी खींचा खींच॥
अरुनाभा गुलुफ महाउर पै पाइल की, भक्त उर देति महा आँनद सौं सींचि सींचि।
पदतल धूरि भूरि सिद्धि दातार, संत लहत अपार सुख हिय धारि दृग मीचि॥

दृग—सम दीठिवारे दृग पिय नय नीति धारे, भारे करुना के भार बरुना किनारे से।
गोविंद के आनँद के कौतुक की नटसार, चटसार भक्ति, अनुरक्ति छबि धारे से॥
शक्ति वर्णमाला, डोरे रुचिर तमाला पुहे बरुनी दुसाला बीच, कोरन पै कारे से।
राधे! तेरे दृग मृग बँधि करुना की बीन, डठि रहि जात संत संतत सहारे से॥

हृदय—त्रिगुन सनेह सिंधु उमगि रह्यो है हिय, पियवारो, सुतवारो, सखावारो न्यारौ ह्वै।
हीतल महीतल है सुथल मनोरथ कौ, तीरथ है पुन्य कौ सुधन्य धुनिवारौ ह्वै॥
विंवित अनेक भाउ मुकुर मनोरम में, अविलम्ब एक बुंद मध्य नैन तारौ ह्वै।
सारी जगती की जड़ता कौ विथुरौ है बन, रूँदि खूँदि डारौ हिय तेरौ गज कारौ ह्वै॥

कर—मंजु गोरे गोरे भोरे विद्रुम की नौका कर, लहरि रही हैं रेखा ढुरनि मुरनि की।
मृगमद बोरे पोरे, किरन विथोरे नख, देत हलकोरे बाद नाद के सुरनि की॥
हलत चलत हैं न, पलत तऊ हैं जग, गुनत कथा हैं दास जीवनि मरनि की।
चले विनु तारैं, बिन बोले किलकारैं, अहा! न्यारी है कहानी राधे रावरे करनि की॥

चंदवंसी रुचिर कन्हाई की जुन्हाई राधे! आधे दृग खोलि हिय आसन बिराजि जा।
कंस दुरभावना कौ पूतना-प्रधान आजु, छीर बिनु करि, हरि संग कूकि भाजि जा॥
ललिता विसाखा गोपी करि कैं अलोपी, मीचि बनवारी दृग अनुराग राग साजि जा।
जानि पावै कोऊ नाहिं तेरी करतूति राधे! सब कौं समोय धोय सब बीच साजि जा॥

'भूदान' भक्तिका ही काम है

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

"भूदान एक बहुत ही अच्छा कार्य है !' जहाँतक मुझे स्मरण है, श्रीमाँने आजतक ऐसा और किसी कामके बारेमें नहीं कहा । यह है भी ठीक । भूदान, सम्पत्तिदान तथा उसकी कोई भी प्रक्रिया अन्ततः है तो वही चीज, जिसका प्रतिपादन श्रीअरविन्द करते हैं ।"

अरविन्द-विश्वविद्यालयके प्राध्यापक डा० इन्द्रसेन एम्० ए०, पी० एच्० डी० से उस दिन सायंकाल पांडिचेरीमें जब भूदानकी चर्चा छिड़ी तो उन्होंने अरविन्द-आश्रममें संत विनोबाके पधारनेका विस्तारसे वर्णन करते हुए ये बातें कहीं ।

बात है सन् ३०—३२ की । अरविन्दकी ओर मेरा झुकाव हुआ । एक तो उत्कट देश-भक्ति, दूसरे योगी—दोनों ही रूप मेरे लिये आकर्षक थे । सोचा था, जेलसे छूटकर कुछ दिन उनके आश्रममें रहूँगा, साधना करूँगा और फिर आगे जैसा होगा, देखा जायगा । पर—

तेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और ।

अरविन्द-आश्रममें पहुँचनेमें ही पच्चीस साल लग गये । वह तो कहिये पिछली मईमें कालडीके सर्वोदय सम्मेलनमें जानेका सुयोग लग गया, इसलिये लौटते समय इतने दिनों बाद भी वहाँ पहुँच सका । अन्यथा कौन जाने कब वहाँ पहुँच पाता ।

और आज वह महान् विभूति, जिसके चरणोंके सांनिध्यका मैंने स्वप्न देखा था, अनन्तमें विलीन हो चुकी है । कमलके पुष्पोंसे तथा अन्य असंख्य पुष्पोंसे आच्छादित उसकी वह सुगन्धमय दिव्य समाधि, उसका वह साधना-स्थल, उसका आश्रम और श्रीमाँकी झाँकी देखकर ही मैंने संतोष माना ।

अरविन्दके योगका मूल सिद्धान्त है—आत्म-समर्पण । चञ्चल मनको और इन्द्रियोंकी सारी वृत्तियोंको चारों ओरसे खींचकर परब्रह्म परमेश्वरके चरणोंमें समर्पण करना । अपनी खुदीको, अपने अहंकारको, खोद बहाना ।

सारी आशाओं, आकाङ्क्षाओं, अभिलाषाओं, वासनाओं, कामनाओं, इच्छाओंको समातकर प्रभु-चरणोंमें एकान्त-भावसे आत्मसमर्पण करना ही अरविन्दकी साधनाका लक्ष्य था । तन-मन-धन—सर्वस्व अर्पण कर देनेके बाद ही यह भक्ति सधती है । ठीक ही कहा है किसीने—

बेखुदी छा जाय ऐसी, दिलसे मिट जाए खुदी ।
उनसे मिलने का तरीका अपने खो जाने में है ॥

भूदानमें इस आत्मसमर्पण-योगकी ही साधना तो हो रही है । मेरे पास जमीन है तो मैं उसमेंसे कम-से-कम छठा हिस्सा उसे दे दूँ जिसके पास बिल्कुल ही जमीन नहीं है । भूमिहीनके रूपमें जो दरिद्रनारायण भूखों मर रहे हैं, चिथड़े लगाये घूम रहे हैं, भाँति-भाँतिसे कष्ट भोग रहे हैं, उन्हें हम अपनी भूमिका कुछ अंश दें और उनके बहते आँसुओंको पोंछें, भूखसे बिलबिलाते उनके बच्चोंके लिये हम अपनी रोटीमेंसे एक टुकड़ा निकाल दें, अपने कपड़ोंमेंसे एक कपड़ा उनकी लज्जा ढँकनेके लिये उन्हें दे दें । अपनी सम्पत्तिमेंसे कुछ हिस्सा उन्हें दे दें । अपनी बुद्धिमेंसे कुछ बुद्धि उन्हें दान करें, अपने साधनोंमेंसे कुछ साधन उन्हें दे दें । यही तो है—भू-दान, यही तो है—सम्पत्ति-दान, यही तो है—बुद्धि-दान, यही तो है—साधन-दान ।

अपने खो जानेमें और होता क्या है ?

भगवान्ने हमें जो कुछ दिया है—रुपया-पैसा, धन-दौलत, जर-जमीन, विद्या-बुद्धि—वह सारी सम्पत्ति 'मेरी' नहीं, भगवान्की है, समाजकी है । 'समाजाय इदं न मम' । इसे मैं अपनी मिलकियत बनाऊँ, यह गलत है ।

तेरा तुझको सौंपते क्या लगै है मोर ।

तेरी चीज तुझे सौंप दी—यही तो भू-दान है । मेरे पास जो है, उसमें मेरे दूसरे भाइयोंका भी हिस्सा है, उसमें मेरा कुछ नहीं है । समाजने मुझे दिया है, समाजकी चीज, भगवान्की चीज, भगवान्को अर्पित करना ही तो भू-दान है।

और इसीका नाम तो है भक्ति ।

भक्तका अपना कुछ नहीं होता । उसका 'मेरा' मिटकर 'हमारा' बन जाता है; दूसरोंकी, पास-पड़ोसियोंकी, समाजकी, देशकी, संसारकी, प्राणिमात्रकी सेवा करना ही उसका धर्म बन जाता है । तुलसीकी भाँति वह कहता है—

सीय राम मय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

घट-घटमें वह प्रभुके दर्शन करता है। उसका रोम-रोम पुकारता है—

अलख इलाही एक तू, तू ही राम रहीम।
तू ही मालिक मोहना, कैसो नाम करीम ॥
सब घट व्यापक राम है, देही नाना भेष।
राव रंक चंडाल घर 'सहजो' दीपक एक ॥

और जब वह इस प्रकार घट-घटमें प्रभुके दर्शन करता है, प्राणिमात्रमें नारायणकी झाँकी करता है, तब यह स्वाभाविक है कि वह 'जो कछु करैं सो पूजा'। फिर वह जो भी काम करता है, यही सोचकर करता है कि 'मैं जो भी कार्य कर रहा हूँ, उस रूपमें परमेश्वरकी भक्ति ही कर रहा हूँ। खेतमें कुदाल चलाता हूँ तो इसीलिये कि खेतमें जो उपज होगी, वह नारायणकी ही पूजामें लगेगी। फुलवाड़ीमें गुलाब और चम्पा, बेला और चमेली, तुलसी और जूहीके पौधोंको सींचता हूँ तो इसीलिये कि ये पुष्प, ये तुलसीदल प्रभु-चरणोंमें ही अर्पित होंगे। मैं खाना खाता हूँ तो इसीलिये कि यह शरीर प्रभुका मन्दिर है; इसे स्वच्छ रखना, इसे स्वस्थ रखना मेरा धर्म है। कारण, इस शरीरके द्वारा प्रभुकी ही सेवा होनेवाली है। घर हो या खेत हो, दफ्तर हो या कारखाना हो—जहाँ भी, जो भी काम मैं करता हूँ, वह प्रभुकी सेवा ही है।'

इसीका नाम है—'आत्मसमर्पण-योग', इसीका नाम है—भगवद्भक्ति, इसीका नाम है—भूदान।

बाबा (विनोबा) कहते हैं—"भूदान-यज्ञ ईश्वरकी भक्तिका ही मार्ग है। हमारे पास जमीन है, हमारे पड़ोसीके पास नहीं है। उसे थोड़ा हिस्सा देंगे, तो वह भी खायेगा और उसके बच्चे भी खायेंगे; यह भक्तिका मार्ग हो गया।

"पड़ोसीको अपनी सम्पत्ति और शक्तिका थोड़ा हिस्सा देना भक्तिका मार्ग है। पड़ोसीकी सेवा करना भक्तिका ही मार्ग है। हम सब ईश्वरकी संतान हैं; सब मिलकर काम करेंगे, बाँटकर खायेंगे, मिलकर भगवान्‌का नाम लेंगे, तभी पूरी भक्ति होगी।

"सुबह उठे। कुछ हरि-नाम ले लिया, राम-भजन कर लिया; फिर दिनभर काममें रहते हैं तो भगवान्‌का स्मरण नहीं रहता। दिनभर काम तो करना ही चाहिये; लेकिन काम करते हुए भी भगवान्‌की स्मृति होनी चाहिये, धर्मकी भावना होनी चाहिये।

"किसान खेतमें काम तो करता है, लेकिन खेत जोतते-जोतते पड़ोसीकी जमीनमें भी कुछ हाथ बढा देता है। कहता है कि 'दूसरेके खेतमें तो घास है, क्या नुकसान होगा' तो यह अधम हो गया, इससे भगवान् कैसे प्रसन्न होगा?'

"मालिक दिनभर मजदूरसे काम लेता है, परंतु उसे पूरी मजदूरी नहीं देता। मजदूर कहता है—'मुझे एक रुपया चाहिये'; मालिक बारह आने देता है। तो यह अधर्म हो गया, अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा?

"मजदूर मालिकके खेतमें काम करता है। कामका नाम तो लेता है, लेकिन बीच-बीचमें आलस करता है। बैलकी तरह देख-रेख रही तो काम करता है; नहीं तो बैठ जाता है। आठ घंटेमें मुश्किलसे चार घंटे काम करता है। कहता है—'यह तो मालिकका काम है, अपना क्या बिगड़ता है?' तो यह अधर्म हो गया, अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा?

"भगवान्‌ने सुन्दर-से-सुन्दर महुएके फूल दिये, अच्छे चावल दिये; उसका भात बनाकर महुएके फूल खाने चाहिये, वह तो मेवा है। लेकिन चावल और महुएकी शराब बनाते हैं और शराब पीते हैं, तो यह अधर्म हो गया। अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा?

"जमीनके मालिक बनकर बैठते हैं; बोलते हैं कि हम २५ एकड़ जमीनके मालिक हैं। पड़ोसमें दूसरेके पास जमीन नहीं है, बाल-बच्चे हैं, खानेको पूरा नहीं मिलता, और यह मालिक बना देखता है, तो यह अधर्म है। अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा?

"हम भगवान्‌का नाम तो लेते हैं, हममें श्रद्धा भी है, लेकिन वह अधूरी है। सोते समय और उठनेपर भगवान्‌का नाम लेते हैं और दिनभर उसे भूले रहते हैं। दिनभर काम करना चाहिये। खेतमें काम करते हैं तो वह भी भगवान्‌का काम है। उससे हम सारे गाँवकी सेवा कर सकते हैं। अपने कुटुम्बके लिये जितना चाहिये, उतना रखकर बाकीका गाँववालोंको दे दें तो यह काम भगवान्‌की भक्तिका ही काम है।"

× × ×

आज भूदानके द्वारा देशके कोने-कोनेमें भक्तिका प्रसार हो रहा है। भूदानको लेकर देशमें भक्तिकी एक अद्भुत हवा बहने लगी है—प्रेमकी हवा, त्यागकी हवा, उदारताकी हवा। ऐसे अद्भुत पावन प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं कि हृदय गद्गद हो उठता है।

यह लीजिये, एक गाँवमें भूदानमें मिली जमीनका भूमिहीनोंमें वितरण हो रहा है!

सभा शुरू है। 'सबै भूमि गोपालकी, नहीं किसीकी मालिकी' गीत गाया जा रहा है।

जमीन बाँटनी तो है, पर एक टेढ़ा सवाल है। जमीन है कम, भूमिहीन हैं ज्यादा। अब किया क्या जाय? एक-एक भूमिहीनको इतनी जमीन दी जाय, जिससे उसका पूरा काम चल जाय? अथवा जितने भूमिहीन हैं, उनमें थोड़ी-थोड़ी जमीन बाँट दी जाय?

प्रश्न टेढ़ा था। भूमिहीन तो तैयार थे—जैसे चाहे वितरण कर दिया जाय—चाहे वह कम लोगोंको दी जाय, चाहे सबमें बाँट दी जाय। पर बाँटनेवालोंने यह प्रश्न भूमिहीनोंपर ही छोड़ दिया—'तुम जैसे कहो, वैसे करें'।

भूमिहीनोंने सोच-विचारकर कहा—'विठ्ठलनाथ हमारी माँ है। उसीकी कृपासे हम लोग जी रहे हैं। विनोबाजी दूसरी माँ ही हैं, उन्हींके चलते जमीन मिल रही है। घरमें माँके चार बच्चे हैं। इन्हें आठ रोटियाँ चाहिये; पर दो ही रोटियाँ हों तो क्या वह एकको देकर तीनोंको भूखा रखती है? नहीं, जितना होगा, उतनेमेंसे ही टुकड़ा-टुकड़ा सबको बाँट देती है। इसलिये दानकी सारी जमीन सबको बाँट दी जाय।'

जमीन और परिवारके हिसाबसे दो-दो एकड़के टुकड़े भूमिहीनोंमें बाँट दिये गये। पर अन्तमें फिर एक समस्या आ खड़ी हुई। धानकी खेतीका बहुत अच्छा आधी एकड़-का एक टुकड़ा बचा। दो भूमिहीनोंमें उसे बाँटना था। उसे आधा-आधा करके चौथाई-चौथाई एकड़ देना अच्छा नहीं लगा। पानेवालेको भी उससे क्या होता। तब यह सोचा गया कि इन दो भूमिहीनोंमेंसे कोई एक ही इसे ले ले, और ये ही दोनों इसका फैसला करें।

उनमें एक था जवान, जिसपर पाँच आदमी आश्रित थे। दूसरा था जरा बूढ़ा, उसपर नौ आदमी आश्रित थे। लोग सोचने लगे कि अच्छा हो, बूढ़ेको ही यह जमीन मिले। पर किसीके कुछ कहनेके पहले ही बूढ़ा बोल उठा—'दीजिये उसीको। जवान छोकरा है, मन लगाकर खेती करेगा!' आकाश-जैसे विशाल मनवाले इस उदार बूढ़ेकी बात सुनकर लोग चौंक पड़े।

तभी वह युवक बोला—'क्यों दादा, क्या यही न्याय है? तेरे घरमें नौ आदमी, मेरे घरमें पाँच। और मैं ठहरा जवान, पत्थर भी तोड़ लूँगा; पर तू तो बूढ़ा है, तुझे चुपचाप यह जमीन ले लेनी चाहिये।'

बूढ़ेने उसे डाँटा—'बेटा! मैं कहाँ कहता हूँ कि मैं जमीन नहीं लूँगा, फिर जब मिलेगी, तब ले लूँगा। पर तब-तक तू मेरे बच्चे-जैसा; तेरा बाबू और मैं दोनों साथ-साथ कुश्ती खेलनेवाले! बेचारा स्वर्ग पहुँच गया; मैं अपने बच्चेमें और तुझमें भेदभाव करूँ तो वह वहाँसे न मेरे मुँहपर थूकेगा'

बूढ़ा किसी तरह न माना। लाचार, उस नौजवानको ही आधी एकड़का वह टुकड़ा लेना पड़ा।

× × ×

दूसरे भूमिहीन अपने-अपने हिस्सेमेंसे जब बूढ़ेको देने लगे, तब उस बूढ़ेने उन्हें भी डाँट दिया—'तुम्हें ही कौन ज्यादा जमीन मिली है? जितनी मिली है, उसीमें अपने बच्चोंका, यानी मेरे नातियोंका पेट भरो; जब बचे, तब मुझे देने आना। भगवान् मुझे भी कभी देंगे ही।'

विमला ताईका कहना है कि 'बूढ़ेकी यह उदारता देखकर मेरा हृदय भर आया। क्या आकाशसे विशाल मनवाले इस बूढ़ेको भूमिसे वञ्चित ही रह जाना पड़ेगा?' सभामें फिर जमीन माँगी गयी।

तत्काल एक आदमी उठा, उसने अपनी धानकी अत्युत्तम एक एकड़ जमीन देनेकी घोषणा कर दी।

उसी समय दान-पत्र भरा गया और उसी सभामें उस बूढ़ेको जमीन दी गयी।

× × ×

प्रभु यह उदारता, यह विशालता, यह भक्ति-भावना हम सबमें भरें—यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

भगवान्‌को शीघ्र द्रवित करनेवाली भक्ति

भगवान् राम कहते हैं—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

(रामचरित० अरण्य०)

भक्तिमें समर्पण, स्वामित्व-विसर्जन

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

भक्तिमें समर्पण-भावनाका प्राधान्य है। जबतक भक्त अपने इष्टदेवमें अपनेको अर्पण नहीं कर देता, तबतक उसकी भक्ति अधूरी है। प्रश्न उठता है कि इस समर्पणमें बाधक कौन है और यह बात सहज समझमें आती है कि स्वामित्वमें 'मेरा-तेरा' भावका अभिमान मनुष्यको ईश्वरसे दूर ढकेल देता है और समर्पण पूर्ण नहीं होता।

जीवनमें स्वामित्वका होना वैसा ही है, जैसे पानीसे बरफ बन जाना। तरल पानी किसीका सिर नहीं फोड़ता। पर स्थूल बरफ बन जानेसे वह ठोस होनेके कारण चोट पहुँचानेका साधन बन जाता है।

ममत्वकी भावना जब बहुत मोटी हो जाती है, तब बड़ा भय उत्पन्न होता है। इस स्वामित्वकी भावनाको मिटानेके लिये साधनाकी जरूरत है। आज संसारमें स्वामित्व बड़े पैमानेपर है, जिसके परिणामस्वरूप हमने दो बड़े महायुद्ध देखे और सर्वनाशी अणुबम हमारे सामने मानवके नाशकी विकट लीला दिखानेके लिये तैयार है।

ऐसे समयमें, जिस भारतीय राष्ट्रने मानव-समाजको समय-समयपर सर्वस्व-समर्पण करनेवाले अनेक महापुरुषोंको पैदाकर सक्रिय आध्यात्मिक संदेश दिया है, वह भारत इस भौतिक विज्ञानसे उत्पन्न शस्त्रास्त्रोंको देखकर चुप रहे—यह परम्पराके विरुद्ध होगा। आजका यह भौतिक विकास सारे मानव-समाजके लिये एक चुनौती बन रहा है।

पर क्या, हम भी स्वामित्वको अधिक-से-अधिक अपनानेके प्रयत्नमें लगे रहे ? इससे क्या यह प्रश्न हल होगा ? या कोई मार्ग भारतीय परम्पराके अनुरूप अपनाना उचित होगा ? भगवान्‌ने श्रीगीतामें स्पष्ट कहा है—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

(३ । १२)

'जिनके सहयोगसे काम किया, उनको उनका अंश दिये बिना जो भोग करता है, वह चोर है।' यह जो न देनेकी बात है, वही संग्रह-वृत्ति है और उससे स्वामित्व स्थूल होता है। और जो देनेकी बात है, वही असंग्रह है, वही भक्ति है। उससे स्वामित्व शिथिल होगा, पिघलेगा।

श्रीभगवान् शंकराचार्यने दानकी व्याख्या 'दानं संविभागः' की है। दान भिक्षा नहीं, पर सम्यक् विभाजन है। ऐसे संविभाजनमें संग्रह करनेकी व्यवस्था व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं है।

हमारे समाजमें धनका व्यवहार करनेवालेको संरक्षक माना गया है, मालिक नहीं। आश्रम-व्यवस्था टूट जानेसे आज हम जीवनपर्यन्त एक ही आश्रम—गृहस्थाश्रममें रहते हैं, जिससे हमारी स्वामित्व-विसर्जनकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है, उसमें जंग लग गया है। जिस देशमें जीवनके सौ वर्षोंमेंसे ७५ वर्ष स्वामित्व-विहीनताके थे, वह राष्ट्र समर्पण करनेमें समर्थ था और सहज भावसे कह सकता था कि एक देश जो अपनेको खोना जानता है, वही अमर होता है। आज हमें श्रीतुलसीदासजी-ऐसे महापुरुषोंके शरीरके बारेमें कम-से-कम जानकारी मिलती है। यह उनके अपनेको मिटानेका प्रमाण है। इसलिये मानव-हृदयपर उनका अधिकार है। माँ बेटीमें अपनेको भुला देती है, यही उसका बड़प्पन है। भौतिक वैभवके अभिमानी रावण, हिरण्यकशिपु आदि उस विचारके लोग मानवको प्रेरक संदेश नहीं दे पाते। सर्वप्रथम तो वे उसको कीड़े-मकोड़ेकी तरह नगण्य समझते हैं। इसलिये लाखोंकी संख्यामें उनका नाश करनेमें उनको जरा भी संकोच नहीं होता। यह है स्वामित्वकी भावना और उसका भयंकर परिणाम !

इसलिये आज कालपुरुषकी भारतीय राष्ट्रसे माँग है कि 'स्वामित्व-विसर्जन कैसे किया जाय, इसका सक्रिय प्रयोग कर दिखायें। आज श्रीसंत विनोबाजी ग्रामदानमें भूमिके स्वामित्व-जैसा कठिन स्वामित्व छुड़ानेका पावन प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रयोगमें करीब २,५७५ गाँवोंके लोगोंने भू-स्वामित्व विसर्जित किया है। सन् ५७में स्वामित्व-विसर्जनकी इस प्रक्रियामें सक्रिय योग देनेका आह्वान श्रीसंत विनोबाजीने आद्य शंकराचार्यकी जन्मभूमि कालडीमें हुए 'सर्वोदय-सम्मेलन' के अवसरपर किया था। अगर किसी भाईको या भक्तको कोई दूसरा कार्यक्रम इस दिशामें करना उचित जान पड़े तो वह भी किया जाय। मुख्य प्रश्न 'स्वामित्व-विसर्जन' का और उससे संतप्त संसारको सान्त्वना देनेका है।

भक्ति तथा भक्त—दूसरोंके सहारे नहीं रहते। वे तो रहते हैं श्रीभगवान्‌के सहारे। और जब हमने भगवान्‌का

आश्रय ले लिया, तब फिर हमारे लिये स्वामित्व क्यों और संग्रह भी क्यों ? क्या इससे भगवान्‌में हमारे विश्वासकी कमी प्रकट नहीं होती ? आज नास्तिकवादी तो यही दलील देते हैं कि जो श्रीभगवान्‌को मानते हैं, वे ही आज अधिक-से-अधिक संग्रह करते हैं, स्वामित्वका अभिमान करते हैं और फिर कहते हैं कि 'हम भगवान्‌को मानते हैं।' हमें सोचना चाहिये कि 'हमारे ही मित्रोंकी यह शिकायत क्या सही नहीं है ? भगवान्‌के माननेका यही प्रमाण है ?' यह हम अपने हृदयमे स्थित ईश्वरको समक्ष रखकर अपनेसे पूछें।

भगवान्‌के दर्शन तो गरीबोंमें होते हैं। भगवान्‌का नाम है दीनबन्धु, अशरण-शरण, पतित-पावन। इसलिये हमारा अर्पण तो वहाँ होना चाहिये, जहाँ भगवान् हैं। तभी तो अनीश्वरवादियोंको भी हम अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। भौतिक उन्नतिसे जगमगाते इस संसारमें हमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालना है और उसे लोगोंपर प्रकट करना है। हमारे संस्कार, परम्पराएँ इसमें सहायक होंगी—इसका पूरा भरोसा है।

हमारी परम्परा श्रीभगवान्‌को भोग लगाकर प्रसाद पानेकी है। नैवेद्यके पहले वह साधारण भोजन रहता है, पर भोग लगानेपर वह मङ्गलमय 'प्रसाद' हो जाता है। उससे मानसिक प्रसन्नताका अनुभव हम कर सकते हैं। समर्पणकी यह विशेषता है। वह भगवान्‌का प्रसाद बन जाता है। केवल भौतिक सुख या वैभवकी अपेक्षा ईश्वरका प्रसाद हमारे लिये हितप्रद है, श्रेयस्कर है। यह प्रसाद हमको बड़े संकटोंसे भी बचा सकता है। श्रीभगवान्‌की अमृतवाणीमें कहना हो तो कहेंगे—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इस धर्मका थोड़ा साधन भी हमको भयंकर संकटोंसे बचा सकता है।

भक्तोंके भावपूर्ण अनूठे उद्गार

(लेखक—श्रीचेलाराम्जी मोहता मुलतानी)

यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

यद्यपि सभी भगवद्भक्तोंका दृष्टिबिन्दु एक है, उनकी भावाभिव्यञ्जन-शैली, शब्दयोजना सर्वथा भिन्न होती है—तुलनात्मक दृष्टिसे निम्नाङ्कित पद्योंका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेपर यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जायगी।

(१)

आकर्णयाशु कृपणस्य कृपावचांसि
लब्धोऽसि नाथ बहुभिः किल जन्मसंघैः।
अद्य प्रभो यदि दयां कुरुषे न मे त्वं
त्वत्तः परं कथय कं शरणं प्रयामि॥

'नाथ! चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद अत्यन्त दुर्लभ मानवदेह उपलब्ध हुई है। यही आपके दर्शन प्राप्त करनेका सुनहरा मौका है। कृपया अब तो मुझ दीनकी दर्दभरी दास्तान—व्यथाभरी कथा सुनो, मुझे अपनाओ। प्रभो! यदि इस समय आप मेरे ऊपर अनुकम्पा नहीं करेंगे तो आपको छोड़कर किसके द्वारपर जाऊँ ? कोई रास्ता बताइये।'

(२)

नगा दैत्याः कीशा भवजलधिपारं हि गमिता-
स्त्वया चान्ये स्वामिन् किमिति समयेऽस्मिन्शयितवान्।
न हेलां त्वं कुर्यास्त्वयि निहितसर्वे मयि विभो
नहि त्वां हित्वाहं कमपि शरणं चान्यमगमम्॥

'स्वामिन्! आपके कृपा-लेशको पाकर वृक्ष, दैत्य, वानर प्रभृति कई अन्य जीव भी भव-सागरसे पार हो गये; परंतु जब मुझे पार करनेका समय आया, तब आप लंबी तानकर सो गये! प्रभो! मैं तो अपना सर्वस्व आपपर न्योछावर कर चुका हूँ; अतः इस समय आपको उपेक्षाभाव प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। आपको छोड़कर अन्यत्र किसीके शरण नहीं गया हूँ।'

(३)

अनन्ताद्या विज्ञा न गुणजलधेस्तेऽन्तमगमन्
अतः पारं यायात् तव गुणगणानां कथमयम्।
गृणन् यावद्धि त्वां जनिमृतिहरां याति परमां
गतिं योगिप्राप्यामिति मनसि बुद्ध्वाहमनमम्॥

'भुवनेश्वर! जब शेष, महेश, गणेश, शारदा एवं नारदादि भी आपके गुण-सागरका पार नहीं पा सके, तब मेरे-जैसा अधमाधम जीव आपके अगण्य गुण-गणकी गणना कैसे कर सकता है। अतः मनमें यह समझकर कि आपका गुणगान करनेसे ही मनुष्यको जन्म-मरणसे छुड़ानेवाली तथा योगियोंको

प्राप्त होनेवाली परमगति मिल जाती है, मैं आपकी चरण-शरणमें आया हूँ।'

(४)

संसारपाशदृढबन्धनिपीडितस्य
मोहान्धकारमयकूपनिपातितस्य ।
कामाभिलाषविविधोरगदंशितस्य
दीनस्य मे कुरु दयां करुणैकपात्र ॥

'दीनबन्धो! हे कृपासिन्धो! मैं ससार-पाशमें बुरी तरह जकड़ा हुआ हूँ, मोहान्धकारपरिपूर्ण कूपमें गोते खा रहा हूँ, विविध भोग-कामनारूप महाभयकर विषधर सर्प मुझे काट रहे हैं। ऐसी दयनीय अवस्थामें मुझ-सरीखे दीन-हीनपर आपको ही दया करनी चाहिये।'

(५)

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय ।
राधागृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण ॥

'प्रभो! आपका निवासस्थान वह क्षीरसमुद्र है, जो रत्नोंका उद्गमस्थान है; साक्षात् लक्ष्मी आपकी धर्मपत्नी हैं और आप स्वय सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके अधीश्वर हैं। ऐसे महानुभाव आपको कौन-सा पदार्थ दिया जा सकता है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीराधाजीने आपके मनको हर लिया है। अत मनरहित आपको मै अपना मन सादर समर्पित करता हूँ, इसे स्वीकार कीजिये।'

(६)

अज्ञस्तावदहं न मन्दधिषणः कर्तुं मनोहारिणी-
श्चाटूक्तीः प्रभवामि यामि भवतो याभिः कृपापात्रताम् ।
आर्तेनाशरणेन किंतु कृपणेनाक्रन्दितं कर्णयोः
कृत्वा सत्वरमेहि देहि चरणं मूर्धन्यधन्यस्य मे ॥

'हे सर्वज्ञ! मैं महामूर्ख मन्दमति जीव हूँ, आपका कृपा-पात्र बननेके लिये मुझे मीठी-मीठी चापलूसीकी बातें बनानेका ढंग भी नहीं आता। मैं दीन-हीन असहाय कबसे चिल्ला रहा हूँ; कृपया अब तो मेरे करुण-क्रन्दनपर ध्यान देकर—मेरी दुःखभरी टेर सुनकर अतिशीघ्र मुझ भाग्यहीनके सिरपर अपना अशरण-शरण चरण रख दीजिये।'

(७)

गिरि कीजै गोधन मयूर नव कुजन कौ
पसु कीजै महाराज नद के वगर कौ।
नर कीजै तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तट कीजै वर कूल कालिंदी कगर कौ।
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
राखिये न आन फेर 'हठी' के झगर कौ,
गोपी पद पंकज पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर कौ ॥

कुँवर कान्हके आगे भक्त-शिरोमणि श्रीहठीजीका हठपूर्ण उद्गार भी कैसा चित्ताकर्षक है! 'मनुष्य-जीवन भी (यदि अन्य स्थानमें जन्म हो तो) मैं नहीं चाहता। मैं तो व्रजका पशु-पक्षी, कीट-पतग ही होनेमें प्रसन्न हूँ।'

(८)

मानुप हौं तौ वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि कौ जौ धरयौ कर छत्र पुरंदर धारन,
जो खग हौं तो बसेरौ करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ॥

अहा हा! धन्य भूलोकका नयनाभिराम वृन्दावन-धाम, तुझे बारंबार कोटिशः प्रणाम। श्रीमान् रसखान, रसखान पठान सानुनय अभ्यर्थना करते हैं—'न्यायकारी! कर्माधीन जो कोई भी योनि मुझे मिले, वह वृन्दावनधाममें ही मिले—तुम जिस योग्य भी समझो, बस, व्रजमे ही बसा दो।' कैसी लोकोत्तरानन्दपूरित, रसपरिप्लुत, सारगर्भित, भक्तिभरित चित्ताकर्षक उत्कट भावना है!

प्रेमी भक्त रसखानकी ऊपर दी हुई हिंदी-रचनाका अध्ययन करते समय पजावके राज्यपाल परम भागवत श्रीद्रुपद महाराजकी निम्नाङ्कित सूक्ति बरबस पाठकोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है—

कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र ।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात्
त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च ॥

'कीड़े-मकोड़ोंमें, पशु-पक्षियोंमें, साँप आदि रेंगनेवाले जीवोंमें, राक्षस, पिशाच अथवा मनुष्योंमें जहाँ-कहीं भी मेरा जन्म हो, केशव! तुम्हारी कृपासे मेरी तुम्हारे चरणोंमें अडिग एव अनन्य भक्ति बनी रहे।'

(९)

त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ।

नारदने कहा—'भक्ति! तुम्हारे बुलानेसे भगवान्

श्रीकृष्ण नीचके घर भी चले जाते हैं।'

चण्ड भील भगवान् शंकरका अनन्य भक्त था। जल, बेलपत्र, धतूरेके फूल जंगलमें थे ही; एक दिन चिताभस्मके न मिलनेसे पूजामें बाधा उपस्थित हो रही थी। 'आपके भगवान्‌के लिये बहुत दिनोंको चिताभस्म हो जायगी' यह कहकर उसकी पत्नी भीलनी पतिके देखते-देखते प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर गयी। उसके अन्तिम उद्गार अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी हैं—

इच्छामि नाहमपि सर्वधनाधिपत्यं
न स्वर्गभूमिमचलां न पदं विधातुः।
भूयो भवामि यदि जन्मनि नाथ नित्य
त्वत्पादपङ्कजलसन्मकरन्दभृङ्गी ॥

'प्रभो! न तो मैं कुबेरका धन चाहती हूँ न स्वर्ग और ब्रह्मलोककी ही इच्छा मुझे है। मेरे चाहे जितने जन्म हों, मैं सदा आपके चरण-कमलोंके मकरन्दकी भ्रमरी रहूँ, आपके चरणोंमें मेरा नित्य अनुराग बना रहे।'

भीलनीके इस अपूर्व त्यागको देखकर एक विमान आकाशसे उतरा और भगवान् शंकरके पार्षदने भील-दम्पतिसे प्रार्थना की—'आपलोग कैलास पधारें। भगवान् भूतभावन आपका स्मरण कर रहे हैं।'

श्रीराधाकी आराधनामें हिंदी कवि

(लेखक—पं० श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

श्रीकृष्णभक्ति-शाखामें माधुरी उपासनाकी भावमूर्ति वृषभानुनन्दिनीकी कीर्तिका गान भक्ति और रीतिकालके कवियोंने तो विशेषरूपसे किया ही; किंतु आज भी वह काव्य-सौन्दर्यको सँवारनेमें सम्पन्न होता चला जाता है। उपासनामें श्रीराधिकाको कितने ही सम्प्रदायोंमें कृष्णसे अपेक्षाकृत अधिक महत्ता दी गयी है। ब्रजकी गलियोंमें राधाके पावन नामकी मधुर ध्वनि आज भी सब ओर गूँज रही है। उनके बिना श्रीकृष्ण अधूरे हैं। इसीलिये दिलदरयावजीको कहना पड़ा था—

कौन कूख कीरति को कीरति प्रकास देती,
कौतुकी कन्हैया काज दूल्ही काहि कहते।
दान दधि घाटिन में, बृंदावन बाटिन में,
काकौ दधि लूट प्रेम चित्त चाव चहते॥
'दिलदरयाव' स्यामा स्वामिनी सलौनी बिन,
कैसैं घनस्याम रस रास रंग लहते।
आदि में न होती यदि 'राधे' की 'रकार' तो पै,
मेरे जान राधे कृष्ण आधे कृष्ण रहते॥

इस पावन नामकी महिमा अनेक कवियोंने गायी है। नामके स्वर और व्यञ्जनोंसे भी व्यञ्जना लेकर चमत्कार उत्पन्न किया गया है। गदाधरसे ही सुनिये—

'रा' तें होत रिद्धि औ समृद्धि 'आ' कहे ते होत,
संतति प्रसिद्ध प्रेम पूरन पगत में।
गदाधर कहै धाम ध्रुव कौ धरा में देत,
धारना धराधर की धीरता भगत में॥
आपदा बिनासै आपरूपता प्रकासै,
छूट जात जम फाँस आ उचारत लगत में।
बाधा कौ हरैया सिद्धि गावत अगाधा
सुख साधा कौ करैया नाम राधा कौ जगत में॥

किंतु भक्तिकी इस माधुरीका नाम भागवतमें स्पष्टरूपसे वर्णित नहीं है, यद्यपि अन्यान्य पुराणोंमें है। कवियों और भक्तोंने उन पुराणोंमें तथा श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी एक परमप्रिया गोपीके उल्लेखमें राधाका स्वरूप पाकर अपनी वाणीद्वारा उसका विस्तार किया। लोक-गीतों और संस्कृत-काव्योंमें राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाओंके गान होने लगे। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें राधाका स्पष्टरूपसे वर्णन हुआ है। श्रीमद्भागवतमें माधुर्यभावकी प्रधानता होनेपर भी राधाका नामोल्लेख न पाये जानेका जो कारण बतलाया जाता है, उसे भक्त कवि हरिरामव्यासजीके ही मुखसे सुनिये—

परम धन राधा नाम अधार।
जाहि स्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारंबार॥
जंत्र मंत्र अरु वेद तंत्र में सबै तार कौ तार।
श्रीसुक प्रकट कियौ नहिं यातें, जानि सार कौ सार॥
कोटिन रूप धरे नँदनंदन, तौउ न पायौ पार।
'व्यासदास' अब प्रगट बखानत, डारि भार में भार॥

श्रीहितहरिवंशजीका राधावल्लभीय सम्प्रदाय और स्वामी हरिदासजीका हरिदासी सम्प्रदाय श्रीराधाकी कृपा-कामनाके द्वारा भगवत्-प्राप्तिकी प्रतिष्ठा करते हैं।

रहौ कोऊ काहू मनहि दिऐं ।
मेरे प्राननाथ श्रीस्यामा, सपथ करौं तिन छिऐं ॥
जे अवतार कदंब भजत हैं, धरि दृढ़ ब्रत जु हिऐं ।
तेऊ उमगि तजत मरजादा, बन बिहार रस पिऐं ॥
खोऐं रतन फिरत जे घर घर, कौन काज इमि जिऐं ।
हित हरिवंस अनतु सचु नाहीं, बिन या रसहि लिऐं ॥

—हितजी

तुव जस कोटि ब्रह्माड बिराजै राधे !
(श्री) सोभा बरनि न जाय अगाधे,
(बहुतक) जन्म बिचारत ही गए साधे साधे ॥
श्रीहरिदास कहत री प्यारी,
ये दिन मैं क्रम करि करि लाधे ॥

—स्वामी हरिदास

सोलहवीं शताब्दीमें इस हरित्रयी—अर्थात् हरिवंशजी, हरिदासजी एवं हरिरामव्यासजीके द्वारा श्रीराधाकी उपासना और तत्सम्बन्धी काव्यकी सरस रचना अत्यन्त प्रौढ हुई है। श्रीराधाके जन्मोत्सवकी बधाई गाते हुए व्यासजीको देखिये—

आजु बधाई है बरसानैं ।
कुँवरि किसोरी जनम लयौ सब लोक बजे सहदानैं ॥
कहत नंद बृषभानु राय सौं, और बात को जानैं ।
आजु मैया ! हम सब ब्रजबासी तेरेइ हाथ बिकाने ॥
या कन्या के आगैं कोटिक बेटन को अब मानैं ।
तेरे भलें भयो सबही कौ आनँद कौन बखानैं ॥
छैल छबीले ग्वाल रँगीले, हरद दही लपटाने ।
भूषन बसन बिबिध पहिरैं तन, गनत न राजा रानैं ॥
नाचत गावत प्रमुदित ह्वैं, नर नारिनु को पहिचानैं ।
'व्यास' रसिक सब तन मन फूले, नीरस सबै खिसाने ॥

श्रीराधावल्लभीय आदि सम्प्रदायोंमें दीक्षित अनेक भक्त अच्छे कवि हुए हैं। उन्होंने तो श्रीकृष्णकी युगल-प्रेम-लीलाओंके सरस वर्णन प्रस्तुत करनेके अतिरिक्त अपनी लेखनी ही अन्य विषयोंपर नहीं चलायी। फलतः माधुर्य-साहित्यका कलेवर बहुत विशाल है और उसमें श्रीराधाके सजीव और सरस चित्रण चमत्कार एवं अनुभूतिप्रधान ढंगसे गुम्फित हैं। हठीके कवित्त अत्यन्त सरस हैं—

फटिक सिलान के महल महरानी बैठी,
सुरन की रानीं जुरि आईं मन भावतीं ।
कोऊ जलदानी, पानदानी, पीकदानी लिऐं,
कोऊ कर बीनैं लैं सुहाए गीत गावतीं ॥
कोऊ चोर ढारैं चारु चाँदनी से चोज वारे,
'हठी' लैं सुगंधन की अलकैं बनावतीं ।
मोतिन के, मनिन के, पन्नन प्रवालन के,
लालन के, हीरन के हार पहिरावतीं ॥

कल्पनाके पंख लगाकर 'ठाकुर' कविने ब्रह्माकी करतूतको भी पहचाननेकी चेष्टा इस प्रकार की है—

कोमलता कंज तें गुलाब तें सुगंध लैकें,
चंद तें प्रकास कियौ उदित उजेरौ है ।
रूप रस आनन तें, चातुरी सुजानन तें,
नीर लै बिमानन तें, कौतुक निवेरौ है ॥
ठाकुर कहत जौ मसालौ बिधि कारीगर,
रचना निहार को न होत चित चेरौ है ।
कंचन कौ रूप लैं, सवाद लै सुधा कौ,
बसुधा कौ सुख लूटि कैं बनायौ मुख तेरौ है ॥

किंतु गिरधरदासजीने तो स्पष्टरूपसे घोषित कर दिया है—

आनन की उपमा कौं आनन जो चाहैं, तऊ
आन न मिलैगी चतुरानन बिचारे कौं ।
कुसुम-कमानके कमान कौ गुमान गयौ,
करि अनुमान भौंह रूप अति प्यारे कौ ॥
'गिरिधरदास' दोऊ देख नैन वारिजात,
वारिजात वारि जात मानसर वारे कौ ।
राधिका कौ रूप देख रति कौ लजात रूप,
जातरूप जात रूप जातरूपवारे कौ ॥

—महाकवि अयोध्यासिंहजी उपाध्यायने अपने 'प्रियप्रवास'-के अन्तर्गत श्रीराधिकाके रूप-वर्णनमें सादगी, छटा और गम्भीरताका सुन्दर समन्वय किया है—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु-बिम्बानना ।
तन्वङ्गी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली ॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य-लीलामयी ।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृशी माधुर्य-सन्मूर्ति थी ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदीके भक्त कवियोंने श्रीकृष्णप्रिया श्रीराधाके प्रति जो श्रद्धापूर्ण भावना प्रकट की है, उससे शान्त, पवित्र शृङ्गार और वात्सल्य-रसोंकी पुष्टि हुई है। आगे चलकर रीतिकाव्यने जो पूर्ववर्ती साहित्यसे प्रेरणा ग्रहण की, उसमें कविको उपासनाकी परिधिका ज्ञान न होनेसे कहीं-कहीं बड़ी अवाञ्छनीय उच्छृङ्खलता दिखायी दे जाती

कीर्तन-रसाविष्ट भक्त सूरदासजी और उनके इष्टदेव

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥
(पद्म० उत्तर० ९४ । २३)

रामभक्तिके अद्वितीय प्रचारक गोस्वामी तुलसीदासजी

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो ।

—नाभादास
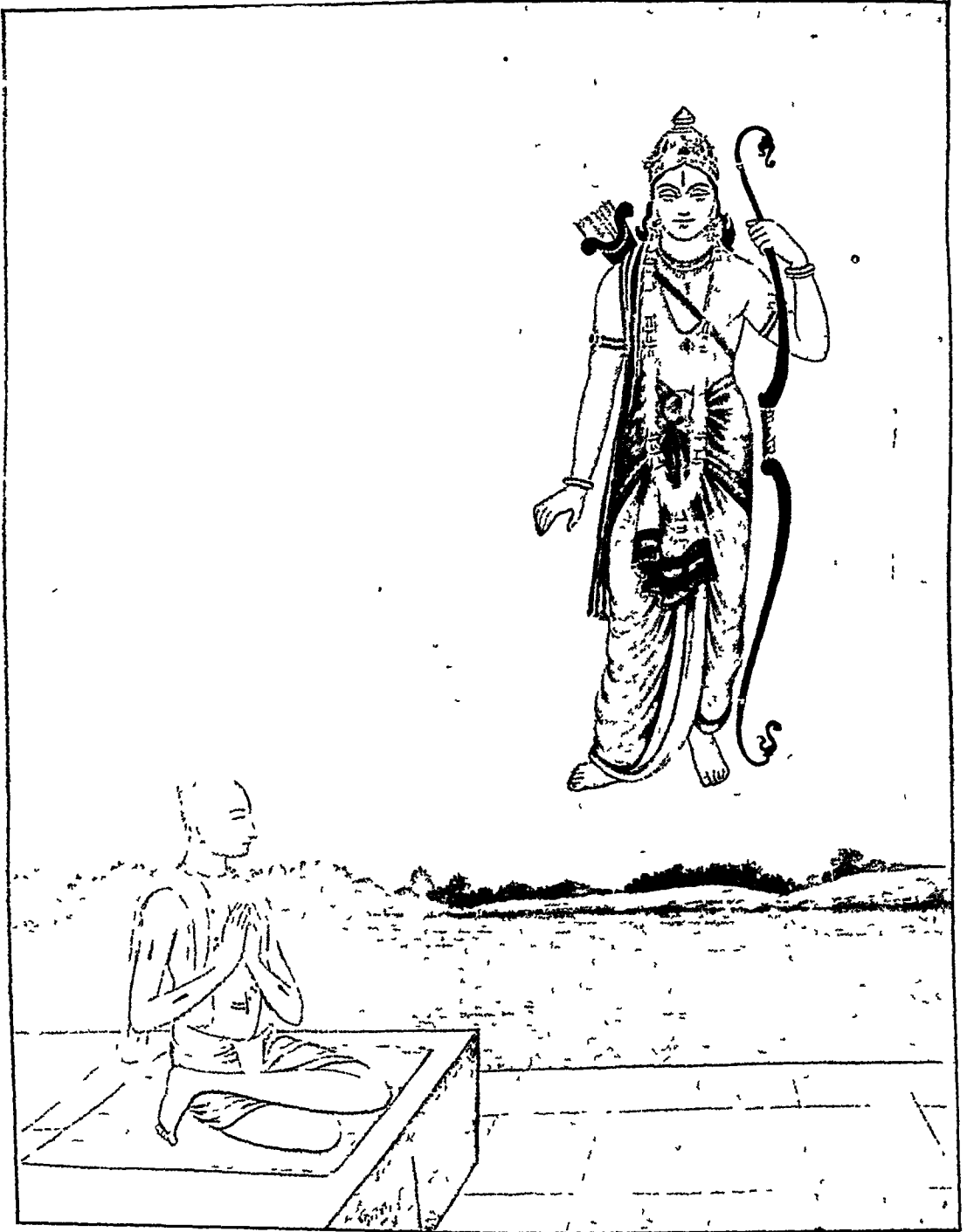
है। फिर भी प्रेमका जो रूप राधिकामें चित्रित चला आता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्रीकृष्णकी विलक्षणताके अनुरूप ही श्रीराधाका चारु चरित्र है। यही कारण है कि कवियोंको जितनी प्रेरणा राधिकाके वर्णन करनेके लिये प्राप्त हुई, उतनी अन्य शक्तिके प्रति नहीं।

श्रीकृष्णकी जन्माष्टमीकी भाँति भादों शुक्ला अष्टमीको प्रतिवर्ष श्रीराधिकाजीके भक्त उनकी जन्म-तिथिपर आनन्दोत्सव मनाते हैं। संगीत और नृत्यका अनुपम आनन्द तो वृन्दावन और बरसानेमें दर्शनीय है। यहाँ रासोत्सवकी योजनाएँ दिन-रात विभिन्न समयोंपर अलग-अलग मन्दिरोंमें होती रहती हैं।

वृन्दावनमें श्रीराधावल्लभजीका मन्दिर, स्वामी हरिदासजीका टट्टी-स्थान आदि मुख्य स्थान है, जहाँ उत्सवकी विशेषता रहती है। बरसानेमें श्रीलाडिलीजीका मन्दिर उत्सवका प्रमुख केन्द्र है।

बरसाना राधाके पिता वृषभानुजीकी राजधानी रही है। राधिकाजीका जन्म उनके ननिहाल रावलमें हुआ था, जो मथुरासे यमुना-पार चार मीलकी दूरीपर है।

व्रजभाषाके सरस काव्यमें राधासम्बन्धी वर्णन अत्यन्त मधुर हैं। हृदयको उल्लाससे परिपूरित करनेके लिये उनमें विभिन्न प्रकारसे प्रभाव डालनेकी शक्ति रही है, तभी महाकवि बिहारीने सतसईके मङ्गलाचरणमें लिखा है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परें स्याम हरित दुति होय॥

भक्तकी भावना

[लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल० (आक्सन)]

अयि ! विश्वभावन विश्वभृत्
करुणानिधान नमोऽस्तु ते।
महिमा महान् मम मानसे
महनीय देव ! विभाति ते॥ १॥

गिरिमूर्ध्नि निर्जनकानने
रमणीयतैकनिकेतने।
तडितां गणैरतिशोभने
परिभाति ते महिमा घने॥ २॥

तपनातपेन विभासिते
गगनाङ्गणे विधुभासिते।
उडुवृन्ददीप्तिविचित्रिते
तव रोचिरेव विरोचते॥ ३॥

१. अयि विश्व-भावन ! विश्वम्भर !
करुणानिधान ! आपको मेरा नमस्कार है।
हे पूजनीय देव ! आपकी बड़ी महिमा
मेरे मनमें भासित हो रही है।

२. पर्वतके शिखरपर, अथवा रमणीयताके
एकमात्र निकेतन निर्जन काननमें,
अथवा बराबर दमकती हुई दामिनी-
से शोभित बादलमें आपकी महिमा भासित हो रही है।

३. सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित,
अथवा चन्द्रमाकी चाँदनीसे शोभायमान,
अथवा तारा-समूहकी दीप्तिसे विचित्रित
गगनके अङ्गणमें आपकी ही छवि चमकती है।

द्विजवृन्दशब्दनिकूजिते
कुसुमावलीपरिशोभिते।
मलयानिलेन सुगन्धिते
मृगसंचयेन निषेविते॥ ४॥

शुभशीतनिर्झरवारिणा
सरसीतटे परिपूरिते।
मुनियोगिवृन्दसमर्चिते
महिमा विभो ! तव भासते॥ ५॥

४. पक्षि-समूहोंके शब्दोंसे शब्दायमान,
पुष्पोंकी पंक्तियोंसे शोभायमान,
मलयानिलसे सुगन्धित,
मृगोंके समूहोंसे निषेवित,

५. झरनोंके स्वच्छ शीतल जलोंसे
परिपूरित झीलोंके तटपर,
जहाँ मुनियों और योगियोंके दर्शन होते हैं,
हे प्रभो ! आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है।

विजितान्तरारिचमूचयाः
शुभशान्तवृत्तिसदाशयाः।
विहिताधिदेवसमाश्रयाः
प्रणिधानजातविनिश्चयाः॥ ६॥

परदुःखतापकदर्थना
मथितुं समाहितभावनाः ।
तव तन्मनस्सु विरोचना
द्युतिरस्ति येऽत्र तपोधनाः ॥ ७ ॥

६. जिन्होंने आभ्यन्तर शत्रुओंकी सेनाओंको जीत लिया है,
जिनकी चित्तवृत्तियाँ पवित्र और शान्त हैं और
जो सदाशय हैं,
जिन्हें एकमात्र भगवान्‌का सहारा है,
जिन्होंने चित्तकी एकाग्रतासे तात्त्विक ज्ञानको पा
लिया है,

७. दूसरोंके दुःखके तापोंकी पीड़ाओंको दूर करनेके
लिये जिन्होंने अपनी भावनाओंको पवित्र बनाया है,
उन तपोधनोंके हृदयोंमें आपकी शोभायमान द्युति
विराजमान है ।

मुनिभिर्भवानिह चिन्त्यते
व्रतिभिर्भवान् परिचीयते ।
निगमस्तथा जगदीश ! ते
ह्युपवर्णनेत्यवसीयते ॥ ८ ॥

निजनीडसंश्रितपक्षिभि-
रुपसीह सायमु राविभिः ।
गुणकीर्तनं तव योगिभिः
क्रियते समाहितबुद्धिभिः ॥ ९ ॥

८. मुनिजन आपका चिन्तन करते हैं;
व्रतीलोग आपका परिचय प्राप्त करते हैं ।
हे जगदीश ! वेद भी निश्चय ही
आपके गुणोंका वर्णन करते हैं ।

९. अपने घोंसलोंमें बैठकर प्रातः
और सायं शब्द करनेवाले पक्षियोंद्वारा
तथा समाहित बुद्धिवाले योगियोंद्वारा
आपके गुणोंका कीर्तन किया जाता है ।

सगुणो भवानिह कर्मठै-
रपि निर्गुणः कथितः कठैः ।
तव चित्रमत्र चरित्रमा-
त्मरतैरवेक्ष्यमसंशयैः ॥ १० ॥

विपिनेऽथवा गिरिगह्वरे
परितो दरेऽपि मनोहरे ।
समुपह्वरे त्वयि सुन्दरे
मुनयो हरे ! निरताः परे ॥ ११ ॥

१०. आप कर्मकाण्डियोंद्वारा सगुण
और उपनिषदोंद्वारा निर्गुण कहे गये हैं ।
आपके विचित्र चरित्रको
संशयसे रहित आत्म-रत लोग ही देख सकते हैं ।

११. हे भगवन् ! चारों ओर भयके होनेपर भी मनोहर
विपिनमें, अथवा पर्वतकी गुफामें, अथवा
एकान्तस्थानमें मुनिजन सौन्दर्यसे युक्त तथा परम-
धाम-स्वरूप आपके ध्यानमें ही निरत रहते हैं ।

यदजं ध्रुवं परितस्ततं
निगमागमैरपि संस्तुतम् ।
तव तत्स्वरूपमहं भजे
शिव ! शान्तिधाम निरन्तरम् ॥ १२ ॥

१२. हे शिव ! हे शान्तिधाम ! भगवन् !
मैं आपके उस स्वरूपको निरन्तर भजता हूँ,
जो अजन्मा, कूटस्थ, सर्वत्र व्यापक
और निगम तथा आगमद्वारा संस्तुत है ।

भगवान् निष्काम प्रेमभक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं

प्रह्लाद कहते हैं—

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः । प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च । प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ७ । ५१-५२)

'दैत्यबालको ! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है । भगवान् केवल निष्काम प्रेमभक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं । और सब तो विडम्बनामात्र है ।'

मानवता-धर्म

(लेखक—श्रीअनिलबरण राय)

भगवान् गीतामें कहते हैं—'परम पुरुषको अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त करना चाहिये' और ये थोड़े-से शक्तिशाली शब्द मानव-जीवनका सम्पूर्ण अर्थ एवं प्रयोजन व्यक्त कर देते हैं। वह प्रयोजन यही है कि मनुष्यको इसी जीवनमें भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये, इस कार्यको भविष्यके लिये नहीं रखना चाहिये। प्राचीन भारतमें प्रत्येक बालक-बालिकाके बचपनमें ही उनके जीवनके भीतर इस दिव्य प्रयोजनका संस्कार बो दिया जाता था। इसीको 'ब्रह्मदीक्षा' या 'परम सत्यमें प्रवेश' कहते थे। जो कोई भी इस दीक्षासे वञ्चित रहता था, ब्राह्मण नहीं माना जाता था। आजकल कोई इस प्रकारकी दीक्षाकी परवा नहीं करता। हमारा शासन, हमारी शिक्षा—सबका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष (Secular) बन गया है। इस-लिये सच्चे ब्राह्मण हमारे समाजमें दुर्लभ हो गये हैं; किंतु प्राचीन परम्परा अब भी मरी नहीं है। हम आधुनिक भारतीयों-का यह कर्तव्य है कि उस दीक्षाको पुनरुज्जीवित करें और यह वस्तु अखिल विश्वको दें जो इसकी प्रतीक्षा कर रहा है, और इस प्रकार 'कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्', सारे जगत्के लोग आर्य बन जायँ—ऋषियोंकी यह अभिलाषा पूर्ण करें।

किंतु दूसरोंको आर्य बनानेके पहले हमें अपनेको ही फिरसे आर्य बनना चाहिये। हमलोग आर्य-संस्कृतिके प्राण एवं सार-तत्त्वसे सम्बन्ध खो बैठे हैं और केवल बाह्य रूपों तथा प्रतीकोंको पकड़े हुए हैं। आध्यात्मिकताका वह सार-तत्त्व भी भगवान्के इन शब्दोंमें आ गया है कि 'भगवान्को अनन्य भक्तिद्वारा प्राप्त करना चाहिये।' यह कहा जा सकता है कि यह कोई नयी बात नहीं है, सभी लोग भक्तिकी चर्चा करते हैं और उससे परिचित भी हैं; किंतु क्या वे सचमुच जानते और अनुभव करते हैं कि भक्ति क्या है, अथवा अधिकांश लोगोंके लिये यह एक शब्दमात्र है? सभी देशों और युगोंमें अत्यधिक शाब्दिक पुनरावृत्तिके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि 'भक्ति' और 'प्रेम' ये दोनों शब्द अपना आध्यात्मिक भाव एवं शक्ति खो बैठे हैं। उनकी 'मन्त्रशक्ति' नष्ट हो गयी है। अतः उन्हें पुनः शक्तिमान् बनाना है। जबतक हृदय आन्दोलित होकर सारे शरीरको अनिर्वचनीय शान्ति और आनन्दसे भर न दे, तबतक भक्ति अथवा प्रेमका अस्तित्व नहीं मानना चाहिये। हृदयको इस भावके लिये प्रस्तुत और विकसित करनेवाले उपाय—जैसे मन्दिरोंमें जाकर प्रतिमा-पूजन, नाम-कीर्तन, तीर्थयात्रा आदि—आजकल अत्यधिक भावविहीन और एक लोकप्रथाके रूपमें आ गये हैं, उनका वास्तविक प्रयोजन आज उनसे सिद्ध नहीं हो रहा है। भावहीन पूजा-प्रणालीको लक्ष्य करके सिखगुरु तेगबहादुरने एक स्मरणीय दोहा कहा है—

> तीरथ व्रत अरु दान करि मन में धरै गुमान।
> नानक निहफल जात तिहि ज्यों कुंजर इस्नान॥

पूजाकी भावरहित प्रणालियाँ मनको केवल इस अभिमान-से भर देती हैं कि हमने एक आध्यात्मिक और पवित्र कर्मका सम्पादन किया है, पर उनसे वास्तवमें कार्यसिद्धि नहीं होती।

फिर प्रश्न होता है कि 'भगवान्को वशमें करनेवाले इस महान् प्रेम तथा भक्तिको हृदयमें कैसे जगाया एवं बढाया जाय।' मनुष्य मनुष्यसे प्रेम कर सकता है; किंतु उस परम पुरुषसे कैसे प्रेम किया जाय, जिसमें—गीताके शब्दोंमें—'सम्पूर्ण भूत अवस्थित हैं और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है' (८। २२)। साधारण जनताके हृदयमें प्रेम जगानेके लिये भगवान्की यह परिभाषा क्या अत्यन्त गहन और अत्यन्त दार्शनिक नहीं है? ठीक इसी कठिनाईका सामना करनेके लिये प्रतिमा-पूजनको भारतमें प्रश्रय दिया गया था और इसने असंख्य लोगोंको उस दिव्य पुरुषको प्राप्त करनेमें सहायता की, मन्दिरमें विराजमान मूर्ति जिसकी प्रतीकमात्र है। किंतु प्रतीक-भावना अब जाती रही और अधिकांश मनुष्य शैली या मृण्मयी प्रतिमाको ही भगवान् मान बैठे और सोचने लगे कि उसे नमस्कार करने तथा उसकी पूजामें कुछ पैसे व्यय कर देनेमें ही धार्मिक कर्तव्यकी इति श्री हो जाती है। वस्तुतः लोगोंके हृदयमें यह विश्वास जीवित नहीं रहा कि भगवान्का साक्षात्कार हो सकता है। इसीलिये वे इस दिशामें प्रयत्नशील नहीं होते। अपनी अधिकांश शक्तिको वे सांसारिक व्यापारोंमें लगाते हैं और धार्मिक कृत्योंमें केवल लेशमात्र। मन्दिरोंमें भी लोग छोटी-छोटी कामनाओंको लेकर जाते हैं और उन्हींकी पूर्तिके लिये प्रार्थना करते हैं; पुजारियोंकी आँख भी पूजकोंके आत्माकी अपेक्षा उनके रुपयोंपर ही अधिक रहती है। इस प्रकार इन पुण्य-

स्थलोंका सम्पूर्ण वातावरण गीतोक्त काम, क्रोध और लोभ-रूप नरकके त्रिविध द्वारोंसे व्याप्त हो गया है।

इसीको 'धर्मस्य ग्लानिः' या धर्मका ह्रास कहते हैं। इस धर्मकी रक्षा करनेके लिये भगवान्‌को स्वय युग-युगमें अवतीर्ण होना पड़ता है। जब वैदिक यज्ञ-यागादिका अपकर्ष होकर उनका निष्प्राण ढाँचामात्र शेष रह गया, तब गीताने 'क्रियाविशेषबहुलाम्' कहकर उनकी भर्त्सना की और एक जीती-जागती साधना प्रस्तुत की, जिसका पालन करके मनुष्य भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। श्रीअरविन्द कहते हैं, 'किसी भी पूजा-पद्धतिमें प्रतीक, अर्थपूर्ण विधि अथवा भावभरी प्रतिमा केवल उद्दीपन करनेवाला, भाववृद्धि करनेवाला तथा रस-संचार करनेवाला ही तत्त्व नहीं है, वर एक ऐसा भौतिक साधन है, जिसको ग्रहण करके मनुष्य अपने हृदयकी भावना तथा आकाङ्क्षाको बाह्यरूपसे एक निश्चित आकार प्रदान करना एव उन्हें दृढ़ और शक्तिसम्पन्न बनाना आरम्भ कर देता है; क्योंकि आध्यात्मिक आकाङ्क्षाके बिना यदि पूजा व्यर्थ तथा निष्प्रयोजन है, तो आकाङ्क्षा भी क्रिया एवं आकारके बिना एक शरीरहीन तथा जीवनके लिये पूर्णतया प्रभावशून्य शक्ति है। पर दुःखकी बात है कि मानव-जीवनमें सभी आचार रूढ़ बन जाते हैं, केवल आचारमात्र रह जाते हैं और फलतः निष्प्राण हो जाते हैं। यद्यपि आचार और पूजा-पद्धति उस मनुष्यके लिये अपनी शक्तिको सदा बनाये रखते हैं, जो उनके अर्थको ग्रहण कर सकता है, तथापि बहुसख्यक जनता तो कर्मकाण्डका यन्त्रतुल्य विधिके रूपमें व्यवहार करती है और प्रतीकको एक प्राणशून्य (चेतना-रहित) चिह्नके रूपमें देखती है। चूँकि ऐसी पूजा-पद्धति तथा आचारसे धर्मके आत्माका हनन होता है, इसलिये अन्तमें इनको या तो पूर्णरूपेण परिवर्तित कर देना चाहिये या सर्वथा त्याग देना ही उचित है।' *

योरपमें जब ईसाई धर्मका ह्रास हुआ, तब १८वीं शताब्दीमें बुद्धिमान् विचारकोंने मानवताधर्म (Religion of Humanity)के रूपमें एक समाधान खोजा। 'मूल सिद्धान्त यह है कि मानव-जाति ही वह देवता है, जिसकी पूजा और सेवा हमें करनी चाहिये। मानव एव मानव-जीवनका आदर, उसकी सेवा और उन्नति ही मानव-आत्माका प्रमुख कर्तव्य और प्रधान उद्देश्य है। जाति, धर्म, रग, देश, स्थिति तथा राजनीतिक किंवा सामाजिक उन्नतिजनित भेदोंका विचार किये बिना मनुष्य मनुष्यके लिये पूज्य होना चाहिये। मानव-देहको हमें आदर देना चाहिये, हिंसा और अत्याचारसे इसे छुड़ाना चाहिये एवं रोग और यथाशक्य मृत्युसे भी इसकी रक्षा करनी चाहिये। मानव-जीवनको पवित्र, सुरक्षित, सबल, उदात्त तथा उन्नत रखना चाहिये। मनुष्यके हृदयको पवित्र, उन्मुक्त रखना चाहिये तथा यन्त्रवत् बननेसे सुरक्षित और हीनता-उत्पादक प्रभावोंसे मुक्त रखना चाहिये। मानव-बुद्धिको भी सब बन्धनोंसे मुक्त करके, उसको स्वतन्त्रता तथा विस्तारके लिये क्षेत्र एवं अवसर देना चाहिये तथा स्वशिक्षण और स्वविकास एवं संगठनके सभी साधन उसके लिये सुलभ कर देने चाहिये, जिससे मानवताकी सेवामें वह सब प्रकारसे अपनी शक्तियोंका उपयोग कर सके।

'एक-दो शताब्दी पूर्वके मानवीय विचार, जीवन और भावनाकी प्रथम महायुद्धके पहलेके मानवीय विचार, जीवन तथा भावनासे तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि मानवता-धर्मने कितना बड़ा प्रभाव डाला है और कितना उपयोगी काम इसके द्वारा हुआ है। इसने अविलम्ब अनेक ऐसे कार्य कर डाले हैं, जिनको पूरा करनेमें पुरातन धर्म असमर्थ रहा। इसका मुख्य कारण यह है कि यह निरन्तर बुद्धि एवं तर्ककी धारसे रूढ़ियोंको काटता रहा, वर्तमानपर निर्दयतासे प्रहार करता रहा और भविष्यके प्रति सदा निष्ठावान् रहा है; जब कि पुरातन धर्म वर्तमान एवं साथ-साथ भूतकालकी शक्तियोंसे भी अपना सम्बन्ध जोड़े रहा, उसने उन दोनोंके मिलनसूत्रमें अपनेको बाँध रखा और अधिक-से-अधिक एक मर्यादाके भीतर रखनेवाली शक्तिके रूपमें काम किया, सस्कारक शक्तिके रूपमें नहीं। इसके अतिरिक्त इस धर्मकी मानवता तथा उसके सासारिक उज्ज्वल भविष्यके प्रति श्रद्धा है और इसी कारण वह उसकी सासारिक उन्नतिमें सहायक बन सकता है। इसके विपरीत पुरातन धर्मोंने मनुष्यके सासारिक जीवनको आँखोंमें पावन शोक एवं विषादके आँसू भरकर देखा और वे उसे यही उपदेश देनेको सदैव प्रस्तुत रहे कि वह इसके संघर्षों, क्रूरताओं, अत्याचारों तथा दुःखोंको शान्ति एव सतोषसे सहता ही नहीं रहे, वर उनका स्वागत भी करता रहे, जिससे वह भविष्यमें प्राप्त होनेवाले भव्यतर जीवनका यथार्थ मूल्याङ्कन करना सीख सके और उसका अधिकारी बन सके।' (श्रीअरविन्दरचित The Ideal of Humanity)

* The Synthesis of Yoga पृ० १८५

यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि प्रत्येक देशमें प्रगतिशील जनता पुरातन धर्मके प्रति श्रद्धा खो बैठी है, और वह मानवता-धर्म अथवा मानवतावाद (Religion of Humanity or Humanism) के प्रति अधिक आकर्षित हो रही है। चूँकि यही आजका युगधर्म प्रतीत हो रहा है, इसलिये इसे स्वीकार करनेमें हमें हिचकना नहीं चाहिये, किंतु साथ-ही-साथ हमें इसकी भयंकर त्रुटियोंको भी ध्यानमें रखना चाहिये, जिसके कारण अभीतक यह अपनी महान् प्रतिश्रुतिको पूरा नहीं कर सका है। पश्चिमकी प्रगतिशील जनता बड़े उच्चस्वरसे जिसकी घोषणा कर रही है, उस मानवतावादकी असफलताके अकाट्य प्रमाण हैं—विगत दोनों महायुद्ध, जिन्होंने मानव-जातिपर वर्णनातीत दुःखोंकी वर्षा की और अब तीसरे महायुद्धकी भी छाया दिखायी पड़ने लगी है, जिसे यदि समय रहते रोका नहीं गया तो उसमें निश्चितरूपसे सामूहिक संहारके भयंकर अस्त्रोंका प्रयोग होगा। मानवता-धर्मकी सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि यह अपने क्षेत्रसे ईश्वरको एकदम बाहर रखता है। किंतु भगवान्‌की ओर मुड़े बिना मानव-स्वभावमें आमूल परिवर्तन नहीं हो सकता; और जबतक इस प्रकारका परिवर्तन नहीं होता, मानव-जीवनकी कोई समस्या हल नहीं हो सकती और मानव-जातिके लिये भव्यतर तथा अधिक सुखपूर्ण जीवनकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इस प्रकार वर्तमान समयमें मनुष्य-जीवनका केन्द्र है—उसका 'अहम्' और इस 'अहम्' में स्थित होकर हम अपनेको अन्य समस्त प्राणियोंसे भिन्न तथा पृथक् समझते हैं और इसीलिये दूसरोंको हानि पहुँचाकर अपना उत्कर्ष-साधन करना न्यायसंगत मानते हैं। संसारमें व्यक्तियोंके अथवा राष्ट्रोंके बीच होनेवाले सभी संघर्षोंके मूलमें यही 'अहम्' है। 'शत्रु' समस्त धर्मोंका शत्रु है मानवका अहम्, व्यक्तिका अहम्, जातिका अहम् तथा राष्ट्रका अहम्। आजका मानवता-धर्म इसको कुछ कालके लिये भले ही नरम कर सका, संस्कृत कर सका, इसके अधिक धृष्ट, उन्मुक्त एवं बर्बर स्वरूपको बलात् दबाकर रख सका, उसके अधिक सुन्दर स्वरूप धारण करनेको बाध्य कर सका, किंतु मानव-जातिके प्रति प्रेमको स्थान देने तथा मनुष्य एवं मनुष्यके बीच वास्तविक एकताको स्वीकार करनेके लिये प्रेरित नहीं कर सका। मानवता-धर्मका ही नहीं, अपितु सभी मानवीय धर्मोंका वास्तवमें उद्देश्य होना चाहिये प्रेम, मानवोंमें परस्पर भ्रातृत्वकी भावना विचार, भाव एवं जीवनमें मानव-जातिके एकत्वकी सजीव धारणा। यही वह आदर्श है, जिसे सर्वप्रथम सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें व्यक्त किया गया था तथा धरतीपर मानव-जीवनके प्रति हमारे अन्तःस्थित आत्माका सदा यही सर्वश्रेष्ठ आदेश होना चाहिये।' (The Ideal of Humanity)

मानवता-धर्मको इस रूपमे पूर्ण बनानेके लिये हमे अपने भीतर उस आत्माकी उपलब्धि करनी होगी, जिसका स्वरूप 'अहम्' नहीं है, अपितु जिसके रूपमें हमलोग समस्त प्राणि-वर्गके साथ तथा स्वयं भगवान्‌के साथ एक हैं। वेदों और उपनिषदोंकी शिक्षाका सार यही है, जिसे गीताके निम्नलिखित शब्दोंमें स्पष्टतया फिरसे दुहराया गया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६। २९–३१)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है; उसकी दृष्टि सर्वत्र सम होती है। और जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे स्थित है। जो योगी अभेदमें स्थित हुआ समस्त प्राणियोंमें मेरी पूजा करता है, मुझसे प्रेम करता है, वह चाहे जिस प्रकार रहता और व्यवहार करता हुआ भी मुझीमें रहता है और मुझीमें व्यवहार करता है।'

पुरातन धर्मोंने लोगोंमे भगवान्‌के प्रति सामान्यतया एक विश्वासकी भावना पैदा की तथा मानव-मस्तिष्कको आध्यात्मिक झुकाव प्रदान किया; किंतु केवल इतनेसे भगवत्साक्षात्कार नहीं प्राप्त हो सकता, जिसकी आधुनिक युगमें परमावश्यकता है। इसके लिये तो हमको योगकी शरण लेनी पड़ेगी, जिसकी कला भारतवर्षमें शताब्दियोंके अभ्याससे पूर्णताको पहुँच गयी है। संसारमें अन्यत्र कहीं भी ऐसा नहीं हो सका है। योगकी प्राचीन सभी पद्धतियोंका अद्वितीय समन्वय गीता उपस्थित करती है और मानवता-धर्मके आधार एवं शास्त्रके रूपमें इसी ग्रन्थको ग्रहण करना पड़ेगा। केवल मानवतावाद (Humanism) पर्याप्त

नहीं है; उपकारकी भावनासे मनुष्यकी सेवा केवल हमारे अहंकार तथा अभिमानकी वृद्धि करती है, जो हमको भगवान्‌से दूर ले जाती है। विवेकानन्दजी कहते हैं, 'शुभ कर्मोंका केवल इसीलिये महत्त्व है कि वे मुक्तिके साधक बनते हैं; वे कर्त्ताका ही कल्याण करते हैं, किसी दूसरेका कभी नहीं।' हमें मनुष्यकी सेवा करनी चाहिये उसे उन भगवान्‌की क्रियात्मक पूजाका रूप मानकर, जो सभी प्राणियोंके हृदयमें आसीन हैं। हमें मनुष्यको ही भगवान्‌का मन्दिर मानना चाहिये। हमें किसी दूसरे मन्दिर अथवा पवित्र स्थलमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। मानवता-धर्मका आचरण इसको योगका अङ्ग मानकर, कर्मके द्वारा भगवान्‌से मिलना अर्थात् कर्मयोग मानकर करना है। गीता कर्मयोगका सर्वोत्तम शास्त्र है और निम्नलिखित व्यापक सूत्र उपस्थित करती है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२७)

'तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है, वह सब मुझको अर्पण कर दे।'

श्रीअरविन्द कहते हैं, 'एक अध्यात्मयुक्त मानवता-धर्म ही भविष्यकी आशा है।' इसकी रूप-रेखाका निर्माण पहले-पहल स्वामी विवेकानन्दजीने इन ओजभरे शब्दोंमें किया था—'मैंने अपनी मुक्तिकी सारी इच्छा समाप्त कर दी है। मेरा बार-बार जन्म हो तथा मैं सहस्रों दुःखोंको झेलता रहूँ—इसलिये कि मैं पूजा कर सकूँ उन एकमात्र सत् भगवान्‌की, जिन्हें मैं मानता हूँ। मेरे वे भगवान् हैं दुखी व्यक्ति, समस्त जातियोंके सभी वर्गोंके दरिद्र व्यक्ति; वे ही मेरी पूजाके विशेष पात्र हैं। जो उच्च और नीच, संत और पापी, देवता और कीट-पतङ्ग बने हुए हैं, जो दिखायी पड़ते हैं, जाननेमे आते हैं, वास्तविक हैं और सर्वव्यापी हैं, उन्हीं भगवान्‌की पूजा करो। जिनमें न तो गत जीवन है न भावी जन्म, न मृत्यु है न गमनागमन, जिनमें हमलोग सदासे एक बने हुए हैं और सदा एक रहेंगे, उन्हीं भगवान्‌की पूजा करो।'

परम श्रद्धा

(लेखक—श्रीप्रतापराय भट्ट बी० एस्-सी०, राष्ट्रभाषारत्न)

मैं नहीं जानता कि आजका दिन मेरे लिये आनन्ददायक होगा या शोकपूर्ण! मैं तो इतना ही जानता हूँ कि हे मङ्गलमय प्रभो! तेरे द्वारसे कल्याण ही मिलता है। कल्याणके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी तेरे यहाँसे नहीं आता।

ससारके अनेकविध क्लेश और सतापसे मेरा हृदय जल रहा है। मेरा चित्त जड, विचारशून्य हो गया है। गहरी निराशा और तीव्र विषादसे हतोत्साह और व्यग्र हुआ मैं एकमात्र तेरी सहायताके लिये ऊपर आकाशकी ओर देख रहा हूँ।

अरे! मैं यह क्या देख रहा हूँ? मेरी अन्धकारमयी निराशा-जैसे भँवर-जैसे काले बादलोंमें वे सुन्दर रुपहली रेखाएँ कैसी चमक रही हैं!

बस, प्रभो! मेरा हृदय फिर आनन्दसे नाच उठा है। मेरी आशाका बुझा दीपक फिर तेजसे प्रकाशित हो गया है। अन्धकारके स्थानपर सामने प्रकाश दिखायी दे रहा है। मेरा मार्ग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मेरी यह टूटती हुई श्रद्धा फिरसे दृढ़ बन रही है।

आज मैं अपनी निद्रासे जाग उठा हूँ। हे प्रेममय परमात्मन्! हे कल्याणनिधे! थोड़े क्षणोंके लिये भूले हुए अपने ध्येय तथा कर्तव्यके मार्गपर मैं फिरसे पूर्ण विश्वास, एकनिष्ठा और अडिग निश्चयसे ैर रखता हूँ।

हे दयासागर! मेरी यह परम श्रद्धा, तेरी अनन्त दया और मेरी पुरुषार्थभरी साधना मुझे अवश्य ही अपने ध्येयके समीप पहुँचायेगी—इसकी आज मुझे निश्चित प्रतीति हो रही है।

बौद्धधर्ममें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

मूलतः बौद्धधर्म आचार-प्रधान है। भगवान् बुद्धने 'आचारः परमो धर्मः' की दुन्दुभि बजायी।* ऐतिहासिकोंका मत है कि जिस समय बुद्धका अवतार हुआ, उस समय तीन मतोंकी विशेष प्रधानता थी। वैदिक मतमें यज्ञोंमें पशु-बलिकी प्रथा बढ़ गयी थी। जैनी लोग केशलुञ्चन आदि कर्मोंके द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाने आदि तपस्यामें रत थे। और नास्तिकलोग इन दोनों मतोंकी खिल्ली उड़ाकर परलोकके अस्तित्वका अपलाप करने तथा इहलोकके ऐश्वर्यको ही जीवनका आदर्श माननेका प्रचार कर रहे थे। इसी प्रकारकी स्थितिमें भगवान् बुद्ध अवतरित हुए। महाकवि जयदेवने गीत-गोविन्दमें लिखा है—

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्,
> सदयहृदयदर्शितपशुघातम्,
> केशव धृतबुद्धशरीर, जय जय देव हरे।

'हे देव, हे हरि! आपकी जय हो, जय हो। अहा! यज्ञका विधान करनेवाली श्रुतियोंकी आप निन्दा करते हैं; क्योंकि हे करुणाके अवतार, आपने धर्मके नामपर होनेवाले पशुवधकी कठोरता दिखायी। इसीलिये हे केशव! आपने बुद्ध-शरीर धारण किया है।'†

यज्ञ-विधिकी निन्दा करनेपर भी भगवान् बुद्धके द्वारा प्रदर्शित मार्ग लोक-कल्याणके लिये था। उन्होंने लोगोंको मध्यम-पथपर चलनेकी शिक्षा दी, सांसारिक जीवनको दुःखमय बतलाया। उनके चार आर्य सत्य ये—दुःख, दुःखका हेतु, दुःखका उपशम और उसका उपाय। जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु आदि सब दुःखमय हैं। इस दुःखका हेतु है भव-चक्र, जो तृष्णामूलक है; इस दुःखका उपशम है निर्वाण-प्राप्ति—तृष्णाका पूर्ण क्षय; और इसका उपाय है अष्टाङ्ग-मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् समाधि। यहाँ सम्यक् शब्दका अर्थ विशुद्ध मान लें, तो अष्टाङ्ग-मार्गका अर्थ होता है आठ प्रकारकी विशुद्धिका मार्ग। परंतु बुद्धने अपने उपदेशोंमें इसकी विशिष्ट व्याख्या की है। यह अष्टाङ्ग-मार्ग बीचका शील-प्रधान मार्ग है। इसने दोनों सीमाओंका त्याग करनेका उपदेश दिया है—अर्थात् यह कि नास्तिक पथ, जो काम-भोग-प्रधान है, सर्वथा त्याज्य है तथा चित्तके दोषोंके लिये शरीरको यातना पहुँचाना भी ठीक नहीं। इसलिये दुर्वासना चाहे दृष्टि-(विचार) गत हो, वाणीमें हो, संकल्प, कर्म अथवा आजीविकामें हो, उसका शमन करके चित्तको विशुद्ध बनाना होगा। संक्षेपमें कहें तो यों कह सकते हैं कि बुद्धका बतलाया हुआ मार्ग निरीश्वर सांख्य-सिद्धान्तके समान है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्यका योगमार्ग व्यक्तिप्रधान है, कैवल्यके लिये है। उसमें प्रकृतिसे वियुक्त होनेकी साधनाका उपदेश है। बुद्धके मध्यम मार्गमें करुणाकी साधना ही प्रमुख है। समस्त जीवोंके प्रति कल्याण-भावनाकी वृद्धिके द्वारा जबतक महाकरुणाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य साधनकी उच्चकोटिमें नहीं पहुँचता। बुद्ध प्रकृति और उसके कार्यको मायात्मक कहते हैं, निस्सार बतलाते हैं और जीवन उनके मतसे केवल पञ्च स्कन्ध—संज्ञा, संस्कार, रूप, वेदना और विज्ञान—के सिवा तत्त्वतः और कुछ नहीं है। वे इन्हींके समूहको आत्मा कहते हैं, आत्माको कोई पृथक् तत्त्व नहीं मानते। पञ्च स्कन्धोंका समावेश भी भवचक्रमें होता है, ये सभी तृष्णा-मूलक हैं। तृष्णाका क्षय होनेपर निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इस निर्वाणके स्वरूपको महाकवि अश्वघोषने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।

---

* सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनम्॥ (धम्मपद)

'सब प्रकारके पापोंसे बचना, पुण्योंका संचय करना तथा अपने चित्तको विशुद्ध रखना—यही बुद्धकी शिक्षा है।'

† इससे यह सिद्ध होता है कि विष्णुभगवान्‌ने ही बुद्धके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। भगवान् बुद्ध पूर्ण आस्तिक थे, उनको नास्तिक कहना बुद्धिका दिवालियापन है। वे सनातन आर्य-धर्मके ही प्रचारक हुए हैं। भगवान् बुद्ध यज्ञोपवीत धारण करते थे। उनकी प्रतिमाओंमें यज्ञोपवीतका चिह्न स्पष्ट लक्षित होता है। बौद्धधर्म भी कोई अलग धर्म नहीं है; वह सनातन धर्मरूप विशाल वट-वृक्षकी ही विश्वमें फैली हुई एक शाखा है। बुद्धभगवान् हिंदूधर्मकी भाँति ही कर्मभेदसे पुनर्जन्म मानते थे। बुद्धका शून्य अजर-अमर अक्षय ब्रह्म ही है। यह उनके शब्दोंसे भलीभाँति प्रमाणित है।

दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित्
कर्मक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

'जैसे दीप जब निर्वाणको प्राप्त होता है, तब उसकी ज्योति न तो पृथ्वीमें जाती है न अन्तरिक्षमें, न दिशाओंमें जाती है और न अवान्तर दिशाओंमें । वह स्नेह (तेल) के समाप्त हो जानेके कारण ही शान्त हो जाती है । इसी प्रकार जब कृती (प्राणी) निर्वाणको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना न तो पृथ्वीमें जाती है न अन्तरिक्षमें, न दिशाओंमें जाती है न किसी अवान्तर दिशामें । कर्म (तृष्णा) का क्षय हो जानेपर ही वह शान्तिको प्राप्त होता है ।'

भगवान् बुद्धने धर्म-चक्र-प्रवर्तनके समय अपने प्रथम शिष्यों (भिक्षुओं) को उपदेश देते हुए कहा था—'चरथ भिक्खवो बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अर्थात् हे भिक्षुओ ! बहुत लोगोंके कल्याणके लिये, सुखके लिये विचरण करो । अतएव भिक्षुसघका जीवन लोक-कल्याणके लिये हो गया । लोक-कल्याणके लिये भिक्षुलोग विश्वमें आगे बढते गये । भयानक जगलों, पर्वतों और समुद्रोंको पारकर उन्होंने भारतीय तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया । बुद्धके निर्वाणके बाद हजार वर्षके अदर विश्वके बहुत बड़े भागमें बौद्धधर्म प्रचलित हो गया ।

यद्यपि बुद्धने किसी प्रवचनमें ईश्वरकी उपासनाका उपदेश नहीं दिया और अपनेको कोई अवतारी पुरुष नहीं बतलाया, तथापि उनको जीवन-कालमें ही लोग देव-तुल्य आदर-सत्कार प्रदान करते थे । साधारण प्रजासे लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा भिक्षुसघके साथ भगवान् बुद्धका सत्कार करके और उनके प्रवचनोंको सुनकर अपनेको कृतार्थ समझते थे । बुद्धके परिनिर्वाणके बाद जो लोकमें पहली पूजा प्रारम्भ हुई, वह थी त्रिरत्न-वन्दना—

बुद्धं सरणं गच्छामि,
धम्मं सरणं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि ।

'मैं बुद्धके शरण जाता हूँ, धर्मके शरण जाता हूँ, सघके शरण जाता हूँ ।' इस त्रिरत्न-वन्दनामें पहले-पहल हमें भक्तिका दर्शन होता है । यह वैधी भक्तिका उज्ज्वल उदाहरण है, शरणागतिका विशुद्ध रूप है । 'शरणं प्रपद्ये'—निहित आत्म-निवेदनने बौद्धधर्मको एक दिन विश्वमें सिरमौर बना दिया । त्रिरत्न-वन्दना सर्वत्र प्रतिध्वनित उठी—ग्राममें, पत्तनमें, नगरमें, उद्यानमें, उप अरण्यमें, स्तूपमें, विहारमें, गिरि-गुहामें, सरमें, स समुद्रमें । यह शरणागतिकी महिमा थी, इसने लोकमें और सेवाधर्मको जाग्रत् किया, दान और दयाक किया, संयम और नियमके मार्गको प्रशस्त किया जिज्ञासु, धर्मानुरागी चल पड़े भारतकी ओर, भूमिकी ओर । फाहियान और हुएन्त्साङ्को, जो चीन प्रान्तसे पश्चिमकी ओर कई हजार मील पै घोड़ोंपर चलकर इस तीर्थभूमिमें पधारे थे, भारतके बीचमें अर्थात् मध्य एशिया (आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) तथा अफगानिस्तानमें सर्वत्र स्तूप एव भिक्षुओंके मठ मिले थे । मध्यवर्ती देशों प्रजा—सभी बौद्ध थे । तथापि उनको बीहड़ जगल पार करने पड़े । यह अद्भुत शक्ति उनको कहाँसे —त्रिरत्न-वन्दना, शरणागतिने ही उनको अपूर्व बनाया था—इसमें सदेह नहीं । धर्मके साथ-साथ आने आयुर्वेद आदि लोकहितकारी शास्त्रोंका भी प्रसार उन देशोंमें किया । भगवान् बुद्धने नीति-धर्मका उपदेश दिया था और धार्मिक जीवनकी व्यावहारिकतापर जोर दिया था । उन्होंने दैवी गुणोंसे युक्त पुरुषको ब्राह्मण और आसुरी गुणोंसे युक्त पुरुषको चाण्डाल बताया । अतएव जातिसे ब्राह्मण न होनेपर भी कोई भी ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिकी साधना कर सकता था तथा आसुरी गुणोंके रहनेपर अपने भीतर चाण्डालत्वको देख सकता था । बौद्धधर्मने त्रिरत्नकी शरणागतिके द्वारा दैवी गुणोंकी साधनाकी ओर मनुष्योंको प्रेरित करके विश्व-का असीम उपकार किया । इसी कारण महाकवि अश्वघोषने अपने बुद्धचरितमें भगवान् बुद्धकी वन्दना करते हुए लिखा है—

श्रियः परार्द्ध्या विदधद् विधातृजित्
तमो निरस्यन्नभिभूतभानुभृत् ।
नुदन्निदाघं जितचारुचन्द्रमाः
स वन्द्यतेऽर्हन्निह यस्य नोपमा ॥

'जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ श्रीकी सृष्टि करते हुए विधाताको जीत लिया, लोगोंके अन्तःकरणके अन्धकारको दूर करते हुए सूर्यको परास्त कर दिया, भवतापको हरते हुए आकाशस्थ चन्द्रमाकी चारुताको पराजित किया, उन [illegible]) भगवान् बुद्धकी मैं वन्दना करता हूँ, जिन् [illegible] उपमा नहीं है ।'

हमारे पुराणोंने बुद्धको साक्षात् विष्णुका अवतार माना है। पुराणोंमें जहाँ दस अवतारोंका वर्णन आता है, वहाँ बुद्धको भी नवम अवतारके रूपमें माना गया है। आद्य श्रीस्वामी शंकराचार्यके गुरु गौडपादाचार्यने भी माण्डूक्योपनिषद्की व्याख्यारूप अपनी एक कारिकामें बुद्धकी वन्दना की है। अतएव बौद्धधर्म सनातनधर्मका ही एक अङ्ग है। भगवान् बुद्धने गो-ब्राह्मणकी रक्षाके विषयमें कहा है—

यथा माता पिता भ्राता अञ्ञे वापि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता यासु जायन्ति ओसधा॥
अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा।
एत वत्थ वसं ञत्वा मास्सु गावो हनिं सुते॥
(सुत्त-निपात)

'माता, पिता, भ्राता तथा अन्य बान्धवके समान गौ भी हमारा परम मित्र है। इससे ओषधि उत्पन्न होती है। यह अन्न, बल, तेज और सुख प्रदान करती है। इसलिये इसको उपकारी समझकर कभी कष्ट नहीं देना चाहिये।'

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धि ब्राह्मणस्स हन्तारं ततोधि यस्स मुञ्चति॥

'ब्राह्मणको न मारे और मारनेवालेपर ब्राह्मण भी हाथ न उठाये। ब्राह्मणपर प्रहार करनेवालेको धिक्कार है और उसपर यदि ब्राह्मण हाथ उठाता है तो उसको भी धिक्कार है।'

इस प्रकार बौद्धधर्मके आदि युगमें केवल शरणागतिके द्वारा शील और आचारके प्रचारकी ही प्रधानता थी। परंतु भगवान् बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् उनके वचनोंका संकलन करनेके लिये राजगृहके पास सप्तपर्णी गुफामें ५०० भिक्षुओंकी एक सभा हुई। उन्होंने बुद्धवचनोंका संकलन करके उनका एक साथ गान किया। वहीं सूत्र-पिटक और विनय-पिटककी रचना हुई। सूत्र-पिटकमें बौद्धधर्मके मुख्य सिद्धान्तोंके विषयमें तथा नाना प्रकारके सदाचरणके सिद्धान्तोंके विषयमें भगवान्से जो प्रश्न किये गये और उन्होंने जो उत्तर दिये, उनका संकलन है और विनय-पिटकमें भिक्षुओंके आचरणके लिये बताये गये नियमोंका संकलन है। इस संगीतके बाद एक साथ त्रिरत्नवन्दना और सूत्रपाठ करनेकी प्रथाका प्रचार हुआ। बुद्धवचनके पाठसे पुण्य-संचय होता है, यह श्रद्धा विकसित हुई।

बुद्धके निर्वाणके बाद उनकी अस्थियोंको लेकर आठ स्तूप विभिन्न स्थानोंमें बनाये गये थे। अशोकने उन स्तूपोंसे अस्थियोंको निकालकर अस्सी हजार विभागोंमें विभाजित किया और उनमेंसे प्रत्येक भागके ऊपर भारत तथा अन्यान्य दूसरे देशोंमें स्तूपोंका निर्माण किया गया। और उन स्तूपोंकी धूप, दीप आदिके द्वारा पूजा होने लगी। लोग इस पूजाके द्वारा पुण्य-संचय करने और अपनी मनोवाञ्छा पूरी करने लगे। इस प्रकार सम्राट् अशोकके पश्चात् ईसाकी प्रथम शताब्दीमें सम्राट् कनिष्कके राज्यकालतक बौद्धधर्ममें भक्तिके ये ही दो मूल तत्त्व—श्रद्धा और शरणागति प्रमुखरूपमें बौद्ध संघको प्रेरणा और शक्ति प्रदान करते रहे। कनिष्कके कालमें पहले पहल बुद्धकी प्रतिमा बनायी गयी और तबसे प्रतिमा-पूजाका प्रचार शुरू हुआ।

ऐतिहासिकोंका मत है कि इसी कालमें बौद्धधर्ममें एक नये प्रस्थानका उद्भव हुआ, जिसे 'महायान' के नामसे पुकारते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावतीव्यूह आदि ग्रन्थ महायानके मूलभूत ग्रन्थ हैं। और नागार्जुन, अश्वघोष, असङ्ग आदि इसके प्रवर्त्तक आचार्य हैं। सद्धर्मपुण्डरीकमें पहले-पहल बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी पूजा और स्तुतिका वर्णन प्राप्त है। सुखावतीव्यूहमें दो बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर और अमिताभकी उपासनाका वर्णन है। ये दोनों सुखावती नामक दिव्य लोकके अधिष्ठातृ देवता हैं। महायानके ग्रन्थ पालीमें न लिखे जाकर संस्कृतमें लिखे गये। सम्भवतः महायान-सिद्धान्तका प्रादुर्भाव कनिष्कके बाद ही हुआ। कनिष्कके पहले ग्रीक सम्राट् मीनाडर बौद्धधर्ममें दीक्षित हुआ था। अतएव उसके साम्राज्यमें बौद्धधर्मका प्रचार हो चुका था, परंतु वह हीनयानमत था। उसमें त्रिरत्न-वन्दना, पञ्चशीलकी प्रतिज्ञा* तथा स्तूपकी पूजा प्रचलित थी। कनिष्कके बाद जब बुद्धकी मूर्तियाँ बनने लगीं, तब उनकी भी पूजाका प्रचार हुआ। महायानका उद्भव मुख्यतः ब्राह्मणोंके द्वारा हुआ और उत्तर-पश्चिमकी दिशासे यह मत चीन, कोरिया और जापानमें पहुँचा। चतुर्थ शताब्दीमें जब फाहियानने भारतकी यात्रा की, तब उसे मार्गके सभी देशोंमें हीनयान और महायान दोनों मतोंके बुद्धमन्दिर और सैकड़ों-सैकड़ों भिक्षु मिले थे। उन दिनों मूर्तियोंको रथपर सजाकर यात्रा-उत्सव बड़े धूमधामसे

* पञ्चशील—

१. मैं प्राणी-हिंसा न करनेका व्रत लेता हूँ। २. मैं बिना दी हुई किसीकी वस्तु न लेनेका व्रत लेता हूँ। ३. मैं मिथ्या-भाषण न करनेका व्रत लेता हूँ। ४. मैं शराब आदि नशीली वस्तुओंका सेवन न करनेका व्रत लेता हूँ। ५. मैं नाच-गान आदि विलासोंसे विरत रहनेका व्रत लेता हूँ।

किया जाता था। खोतान शहरमें एक उत्सवका वर्णन करते हुए फाहियान लिखता है—

'इस देशमें चौदह बड़े विहार हैं। चतुर्थ चान्द्रमासकी प्रतिपदासे नगरकी प्रधान सड़कोंकी सफाई और उनको पानीसे सींचना शुरू कर देते हैं। अगल-बगलकी सड़कें भी सजायी जाती हैं। नगरके फाटकके ऊपर भाँति-भाँतिकी सजावटके साथ एक बड़ा मण्डप बनाते हैं, जिसमें राजा-रानी तथा अन्तःपुरकी स्त्रियाँ बैठती हैं। गोमती विहारके भिक्षुक महायान सम्प्रदायके अनुगामी हैं, राजा उनमें बड़ी श्रद्धा रखता है। वे जुलूसमें आगे-आगे चलते हैं। शहरसे एक मील दूरीपर एक चार पहियेका बड़ा रथ बनाया जाता है, जो तीस फुटसे अधिक ऊँचा होता है और देखनेमें एक बुद्ध-मन्दिर-सा लगता है। रथके बीचमें बुद्धकी प्रतिमा रखी जाती है, उसके पीछे दो बोधिसत्त्वकी मूर्तियाँ और ब्राह्मण-देवताओंकी मूर्तियाँ रहती हैं। जब जुलूस नगरके फाटकसे सौ डगकी दूरीपर आता है, तब राजा अपना राजमुकुट उतार देता है, और हाथमें पुष्प एवं धूप लेकर नौकरोंके साथ नगे पैर आगे बढ़ता है। प्रतिमाके समीप जाकर सिर जमीनपर टेककर प्रणाम करता है, पुष्प चढाता है और धूपदान करता है। जब प्रतिमाएँ नगरमें प्रवेश करती हैं, तब रानी और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ ऊपरसे पुष्पवर्षा करती हैं।' ('फू कुवो ची')

यह खोतान शहर वर्तमान चीनी तुर्किस्तानके पश्चिमी प्रदेशका मुख्य शहर है। इन सब देशोंमें आज मुसल्मान बसते हैं। इनके पूर्वज बुद्ध और विष्णु-शिवके पुजारी थे। चीन और जापानमें मुख्यतः अवलोकितेश्वर और अमिताभ—इन दो बोधिसत्त्वोंकी पूजा प्रचलित है। परंतु बौद्धोंमें प्रतिमाओंकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की जाती। इस बातको समझनेके लिये उनके दार्शनिक सिद्धान्तपर एक दृष्टि डालना आवश्यक है। महायान अजातवाद सिद्धान्तका प्रतिपादक है। लङ्कावतार-सूत्र (३।८)में लिखा है—

'यह सब दृश्यमान-अदृश्यमान जगत् अनुत्पन्न है—न हुआ, न है। ये भाव (पदार्थ) गन्धर्वनगर, स्वप्न और मायारूप हैं। बिना किसी कारणके विद्यमान दीखते हैं।'

समवायाद् विनिर्मुक्तो बुद्ध्या भावो न गृह्यते।
तस्माच्छून्यमनुत्पन्नं निःस्वभावं वदाम्यहम्॥
(३।८८)

'यदि बुद्धिके द्वारा भावोंको समवायसे निर्मुक्त किया जाय तो उनके अस्तित्वका पता ही नहीं चलता। इसलिये उनको मैं शून्य, अनुत्पन्न और निःस्वभाव कहता हूँ।'

चित्तमात्रमिदं सर्वं द्विधा चित्तं प्रवर्तते।
ग्राह्यग्राहकभावेन आत्मात्मीयं न विद्यते॥
(३।१२१)

'यह सब प्रपञ्च चित्तमात्र है। चित्त ही ग्राह्य-ग्राहकभावसे द्विविध रूपमें प्रवर्तित हो रहा है। यहाँ आत्मा और आत्मीय कोई वस्तु नहीं है।'

चित्तमात्रं समारुह्य बाह्यमर्थं न कल्पयेत्।
तथतालम्बने स्थित्वा चित्तमात्रमतिक्रमेत्॥
(१०।२५६)

चित्तमात्रमतिक्रम्य निराभासमतिक्रमेत्।
निराभासस्थितो योगी महायानं स पश्यति॥
(१०।२५७)

'केवल चित्तमें आरूढ होकर बाह्य अर्थोंकी कल्पनाका त्याग करे। उसके बाद चित्तमात्रका अतिक्रमण करके तथताके आलम्बनमें स्थित हो। इस प्रकार चित्तमात्रका अतिक्रमण करते हुए शून्यकी ओर बढ़े। शून्यतामें स्थित योगी महायानको देखता है।'

लङ्कावतार-सूत्रके इन श्लोकोंसे महायानके तत्त्वज्ञानकी एक झलक मिलती है। तत्त्वको शून्य और जगत्को मृगमरीचिकाके समान मानना बौद्धधर्मकी मूल शिक्षा है। क्या हीनयान, क्या महायान और क्या वज्रयान (या तन्त्रयान)—सभी इस मूल सिद्धान्तको मानते हैं। अतएव बौद्धधर्मके तीनों प्रस्थानोंमें मुख्य साधना योग है, भक्ति उस साधनाका अङ्ग है। शील और आचार भी भक्तिके अङ्ग न होकर योगके अङ्ग हो जाते हैं। हीनयानमें तो भक्ति गौणरूपसे शरणागति और श्रद्धा, शील और आचार-सम्पन्न साधनाके अङ्गके रूपमें दीखती है; क्योंकि इसके बिना कोई प्रगति ही नहीं हो सकती। जब शील-आचार-प्रमुख बुद्धोपदिष्ट साधन-मार्गमें चलकर भिक्षु अर्हत् बनता है, तब उसको निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। यही हीनयानकी साधनाका लक्ष्य है। महायानकी साधना यहाँ समाप्त नहीं होती, उसका सिद्ध-साधक अर्हत् नहीं, बोधिसत्त्व है। उसमें यद्यपि निर्वाणप्राप्तिकी योग्यता होती है, फिर भी वह महाकरुणाका साधक लोक-कल्याणके लिये निर्वाणको ठुकरा देता है।

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सम्बोधौ कृतचेतसा।
तन्नास्ति यन्न कर्तव्यं जगदुद्धरणाशयैः॥

साराश यह है कि जगत्के उद्धारके लिये बोधिसत्त्व सब कुछ कर सकते हैं। इसीलिये महायान-सम्प्रदाय

भक्ति हीनयानकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसका लक्ष्य अर्हत् नहीं, बुद्धत्वकी प्राप्ति है। यदि बोधिसत्त्व सहायक हैं तो इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें उनका अनुग्रह क्यों न प्राप्त किया जाय? महायान साधक इसी अनुग्रहके उद्देश्यसे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वकी आराधना करता है। कारण्डव्यूह नामक ग्रन्थमें लिखा है—

'सब प्राणियोंको सब दुःखोंसे मुक्त करनेकी बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी दृढ़ प्रतिज्ञा जबतक पूरी नहीं होती, तबतक वह सम्यक् सम्बुद्धत्वको प्राप्त नहीं करते।'

तिब्बत, चीन और जापानमें जो बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी पूजा प्रचलित है, उसका यही रहस्य है। अतएव स्पष्ट है कि महायान-साधक अर्थार्थी है, वह अनुग्रह प्राप्त करके अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है। परंतु उसका प्रयोजन लौकिक और पारमार्थिक दोनों हो सकता है। भला, अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वकी प्रतिज्ञासे कौन लाभ नहीं उठायेगा? परतु इसके लिये उपासनाकी आवश्यकता है, पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य-स्तवनके उपकरणोंको लेकर ही उपासक अपने उपास्य-देवके सम्मुख पहुँचता है। उपास्यके सम्मुख पहुँचनेपर अनुग्रहकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। महायानमें भक्तिके एक प्रमुख तत्त्व 'अनुग्रह' की उपलब्धि होती है। इसलिये इसका महायान नाम अन्वर्थक ही है। भारतीय वैष्णवोंमें जो स्थान भागवतका है, महायानमें सद्धर्मपुण्डरीकका भी वही स्थान है। ध्यान-सम्प्रदाय, जिसे चीनमें चान और जापानमें ज़ेनके नामसे पुकारते हैं, और जो वहाँका बड़ा प्रभावशाली सम्प्रदाय है, भक्तिको गौण स्थान प्रदान करता है। तेन्दाई एव निचिरेन सम्प्रदाय सद्धर्मपुण्डरीकके अनुयायी हैं। तथापि उन देशोंमें अवलोकितेश्वरकी उपासना सर्वव्यापी है। इसके सिवा बोधिसत्त्व अमिताभकी भी उपासना प्रचलित है।

ऊपर सम्राट् कनिष्कका उल्लेख हो चुका है। कनिष्कके समयमें भी बौद्ध भिक्षुओंकी एक सगीति हुई थी, जिसमें बौद्ध तत्त्वज्ञान, अभिधम्म-सूत्रोंका सकलन हुआ था। यह अभिधम्म-पिटक तीसरा पिटक था। त्रिपिटककी रचनाके बाद योगमार्गकी ओर कुछ साधकोंका ध्यान गया। योगकी साधनाओंद्वारा सहज ही ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती थी, इसी प्रलोभनसे बौद्ध साधक इस मार्गमें प्रवृत्त हुए। और प्रकारान्तरसे उनके इस प्रभावसे बौद्धधर्मके प्रचारमें सहायता मिली; क्योंकि साधारण जनता सिद्धियों और चमत्कारोंसे अधिक प्रभावित होती है। लगभग तीन-चार सौ वर्षोंतक इस योगमार्गकी पद्धति गुप्त रीतिसे प्रचलित रही। परतु अन्तमें गुरु-शिष्य-परम्पराके द्वारा विकसित होकर इस योगमार्गके भीतरसे बौद्धधर्मका तीसरा प्रस्थान वज्रयान (या तन्त्रयान) प्रादुर्भूत हुआ। यह प्रस्थान बौद्धदर्शनके योगाचार या विज्ञानवादके सिद्धान्तपर अवलम्बित है। विज्ञानवाद बोधिसत्त्वको विज्ञान-सतानरूप मानता है। वह शून्यके साथ-साथ विज्ञानको (चैतन्यताको) भी स्वीकार करता है। बोधिसत्त्वावस्थामें यह विज्ञान-सतान निर्वाणके लिये नहीं, बल्कि लोकोद्धारके लिये चेष्टा करता है। इस विज्ञानवादसे उत्पन्न हुआ वज्रयान (तन्त्रयान) एक और नये तत्त्वको स्वीकार करता है, वह है 'महासुख'।

वज्रयानका अर्थ है शून्य-यान। इस मतके अनुगामी भी नागार्जुनकी दो कोटियोंको स्वीकार करते हैं—

निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥

'एक सीमा परनिर्वाण है, और दूसरी सीमा परससरण—इन दोनोंके बीचमें कोई भी तत्त्व नहीं है।' परतु वज्रयान-सिद्धान्तके अनुसार ये दोनों चित्तकी दो अवस्थाएँ मात्र हैं—

अनल्पसंकल्पतमोऽभिभूतं
प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलञ्च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं
चित्तं हि संसारमुवाच वज्री॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं
प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं
तदेव निर्वाणपदं जगाद॥

(प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धिः ४। २२-२३)

'वज्री अर्थात् शून्यवादी कहते हैं कि असख्य सकल्परूपी अन्धकारसे अभिभूत, तूफानमें चमक उठनेवाली तडित्के समान चञ्चल तथा बहुत कठिनाईसे निवृत्त होनेवाले रागादि मलोंसे अवलिप्त चित्त ही संसार है। और जो चित्त पवित्रतासे दीप्यमान है, सकल्प-विकल्पसे विमुक्त है तथा रागादि मलोंसे लिप्त नहीं है, ज्ञाता या ज्ञेय नहीं है, शाश्वत है—वही निर्वाण है।'

वज्रयानकी साधना भी बहुत प्राचीन है। तिब्बत और चीनमें जनश्रुति पायी जाती है कि असङ्गने तुषित नामक देवलोकमें मैत्रेयसे तन्त्रकी शिक्षा प्राप्त की। तन्त्रयानमें भक्तिके दो और नये तत्त्वोंका समावेश हुआ—गुरु और

सिद्धि । अतएव तन्त्रयान-प्रधान नेपाल और तिब्बतके बौद्धोंमें त्रिरत्नके साथ गुरुकी भी वन्दना प्रचलित है । वज्रयानका साधक भावनाके द्वारा अपने चित्तको बोधिचित्तमें परिणत करता है । बोधिचित्त करुणा और शून्यरूप है । शेष जगत्का कोई अस्तित्व नहीं है । साधकके आगे जो उपास्य मूर्ति है, उसका भी कोई अस्तित्व नहीं है । साधक जब बोधिचित्तकी भावनासे अभिभूत होता है, तब बीजमन्त्रके द्वारा शून्यसे ही उपास्य मूर्तिमें शक्तिका आधान करता है । ये सभी तत्त्वतः शून्यरूप हैं । तब साधकको अहङ्कृति होती है—

या भगवती प्रज्ञापारमिता सोऽहम्, योऽहं सा भगवती प्रज्ञापारमिता ।

'जो देवी है, वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वह देवी है ।' इस साधनाके द्वारा साधक नाना शक्तियाँ प्राप्त करता है । नेपालकी पर्वत-कन्दराओं तथा तिब्बतमें मन्त्रयान-सम्प्रदायके सिद्ध अब भी प्राप्त होते हैं । परंतु भारतमें इस मन्त्रयानने जो मार्ग पकड़ा, उससे यहाँ बौद्धधर्मका ही उच्छेद हो गया । बुद्धभगवान्ने कहा था—

मद्यं मांसं पलाण्डुं च न भक्षेयं महामुने ।

(लंकावतार-सूत्र ८ । १)

'भगवान्ने कहा है कि मद्य, मास और प्याज नहीं खाना चाहिये ।' आगे चलकर उसी लङ्कावतार-सूत्रमें कहा गया है—

योऽतिक्रम्य मुनेर्वाक्यं मांसं भक्षति दुर्मतिः ।
लोकद्वयविनाशार्थं दीक्षितः शाक्यशासने ॥
ते यान्ति परमं घोरं नरकं पापकर्मिणः ।
रौरवादिषु रौद्रेषु पच्यन्ते मांसखादकाः ॥

(८ । १०-११)

'बौद्ध धर्ममें दीक्षित जो दुर्मति भगवान् बुद्धके इस वाक्यका उल्लङ्घन करके इस लोक और परलोकका विनाश करनेके लिये मास-भक्षण करता है, वह मांस खानेवाला पापी परम घोर नरकमें जाता है, रौरव आदि भयानक नरकोंमें तड़पता है ।'

इन घोर तान्त्रिकोंने बौद्धधर्मके सदाचारके नियमोंको ताकपर रखकर खुल्लमखुला विद्रोह कर दिया । उन लोगोंने प्रचार किया—

'दुष्कर और तीव्र आचारके नियमोंका पालन करनेसे सिद्धि न होगी । सब कामनाओंका उपभोग करते रहनेसे जल्दी सिद्धि हो जायगी ।' (गुह्यसमाज २७) यही नहीं, इन लोगोंने पञ्चशीलका भी त्याग कर दिया और कहने लगे—

'तुझे प्राणीकी हत्या करनी चाहिये, झूठ बोलना चाहिये, बिना दी हुई वस्तु ले लेनी चाहिये, परस्त्रीसेवन करना चाहिये ।' (गुह्यसमाज १२०)

—इन साक्षात् धर्मविरोधी सिद्धान्तोंने भारतीय जनताके हृदयसे वज्रयानके साथ-साथ बौद्धधर्मको ही निष्कासित कर दिया । फिर भी सात्त्विक भावापन्न वज्रयानी साधकोंने तिब्बत और नेपालके पहाड़ोंमें इसको जाग्रत् रखा । परंतु वे समाजसे दूर हो गये । कारण, उन्होंने बौद्धधर्मके मूल उद्देश्यको ही छोड़ दिया था । वज्रयानमें गुरु और सिद्धिके प्रवेशसे भक्तिका स्वरूप दूषित हो गया ।

बौद्धधर्मके तीनों प्रस्थानोंमें महायानमें भक्तिका सुन्दर स्वरूप मिलता है । उसकी साधना भी सात्त्विक है । तिब्बत, चीन और जापानमें इस भक्ति-साधनाके द्वारा कितने ही महापुरुष उत्पन्न हो चुके हैं । इस लेखमें उनकी भक्ति-साधनापर विशद प्रकाश डालनेका अवसर नहीं है ।

॥ ॐ नमो बुद्धाय ॥

भगवन्नामकी महिमा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् । अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । २ । ४९)

'परीक्षित् ! देखो—अजामिल-जैसे पापीने मृत्युके समय पुत्रके बहाने भगवान्‌के नामका उच्चारण किया, उसे भी वैकुण्ठकी प्राप्ति हो गयी ! फिर जो लोग श्रद्धाके साथ भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनकी तो बात ही क्या है ।'

जैन-शासनमें भक्ति

[लेखक—श्रीसूरजचदजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी)]

'जैनं जयति शासनम् ।'

किसीके प्रति राग होगा तो उसके दोष नहीं दीखेंगे और द्वेष होगा तो गुण नहीं दीखेंगे । गुण-दोषका ठीक-ठीक विवेक करना हो तो राग-द्वेषरहित—वीतराग होना आवश्यक है । इसी वीतरागको ही 'जिन' कहा जाता है । जिन्होंने राग-द्वेषको निर्मूल कर दिया है, उन्हींका शासन निष्पक्ष, न्यायपूर्ण हो सकता है । इसलिये उन्हींकी विजय हो—उन्हींके शासनका जय-जयकार कल्याणकारी है । ऐसे वीतराग महात्माओंके लिये ही गीताके वचन हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
(४ । १०)

"पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ।"

जैन-धर्ममें ऐसे ही वीतराग, जिन या कैवल्यप्राप्त महात्माओंकी भक्ति प्रधानतासे की जाती है । इस भक्तिका मूल और फल है—सम्यग्दर्शन या सद्विवेक ।

जैन-धर्ममें निश्चय-दृष्टि या पारमार्थिक विचारसे भक्तिका अर्थ होता है—ऐसा दर्शन, जिससे हम समझ जायँ कि परमात्मा और हम विभक्त नहीं हैं—व्यवहारदृष्टिसे हमारे आत्मापर अज्ञानका आवरण छा गया है, जिसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है और जिसे हटाते ही हम स्वयं केवल परमात्मा हो जाते हैं। वीतराग बननेके लिये 'मोहनीय कर्म' को हटाना आवश्यक है और संसारका मोह वीतरागकी भक्तिके बिना नहीं हट सकता ।

जैसे दर्पणमें मुँह देखनेसे हम अपने चेहरेकी विकृतिको दूर कर सकते हैं, उसी प्रकार वीतराग-दर्शनसे हम अपने मन-वचन-क्रियाकी विकृति दूर करके अपने वास्तविक स्वरूपमे प्रतिष्ठित हो सकते हैं । यही भक्ति है ।

जैन-शासनमें गुरु-भक्तिका भी यही अर्थ है कि गुरु जो भी उपदेश करें, उनका सेवन—पालन किया जाय । सेवन ही सेवा है । जैन-शासनमें गुरुके पाँव कोई श्रवणोपासक या श्रावक नहीं दबा सकता, उनके लिये कोई भोजन नहीं बनवा सकता, उनका सामान नहीं उठा सकता ।

इसे भक्ति या सेवाका दोष माना जाता है—गुरुकी भक्ति या सेवा यही है कि जिस प्रकारका वे आचरण करें, उसका अंशमात्र भी अपने जीवनमें आये ।

भक्ति-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्गको जैनशासनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके नामसे सम्बोधित किया गया है । मोक्षके मार्गमें भक्तिको या सम्यग्दर्शनको प्रथम साधन माना गया है । वह सम्यग्दर्शन देव, गुरु और धर्मकी भक्तिको कहते हैं । देवकी भक्ति—प्रभुसे हम विभक्त न रहें, इसका प्रयत्न है । गुरुकी भक्ति—गुरुके उपदेशोंका सेवन है और धर्मकी भक्ति 'जिन' के वचनोंको धारण करके चरम सिद्धि प्राप्त करना कहलाती है ।

भगवान्‌के चरण-कमलोंकी स्मृतिका महत्त्व

श्रीसूतजी कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-तापरूपी अमङ्गलोंको नष्ट कर देती और परम शान्तिका विस्तार करती है । उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं परवैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है ।

जैनधर्ममें भक्तिका प्रयोजन

(लेखक—श्रीनरेन्द्रकुमारजी जैन, विशारद)

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थात् मोक्षमार्गके नेता (हितोपदेशी), कर्मरूपी पर्वतोंका भेदन करनेवाले (वीतराग) और विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाले (सर्वज्ञ) आप्त (अर्हत)की भक्ति, उन्हींके गुणों (हितोपदेशिता, वीतरागता, सर्वज्ञता) को पानेके लिये करता हूँ।

विशिष्ट गुणवालों (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं) के गुणोंमें अनुराग करके उनका सान्निध्य प्राप्त करनेकी क्रियाको ही भक्ति कहते हैं। अतः भक्तिका प्रयोजन उन गुणोंकी प्राप्ति है, जिनमें भक्तका अनुराग हो।

भक्ति छः प्रकारकी होती है—

(१) नाम-भक्ति—नामोंका उच्चारण करते हुए गुण-स्मरण करना नाम-भक्ति है।

(२) स्थापना-भक्ति—मूर्तिस्थापनद्वारा जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप-धूप और फलादिसे पूजन करना तथा दर्शन करना।

(३) द्रव्य-भक्ति—अरिहंतके तथा सिद्धके स्वरूपका विचार करना।

(४) भाव-भक्ति—अरिहंत एव सिद्धके भावोंका विचार करना।

(५) क्षेत्र-भक्ति—जिन स्थानोंमें महान् पुरुषोंने जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया, उनके सहारे उन महान् पुरुषोंके गुणोंका स्मरण करना। और—

(६) काल-भक्ति—जिन कालों (समयों)में महान् पुरुषोंने जन्म, तप, ज्ञान एवं निर्वाण प्राप्त किया, उनके स्मरणद्वारा भक्ति।

उपर्युक्त भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) भाव-भक्ति और (२) द्रव्यभक्ति। भक्ति करनेके समय भगवान्‌के गुणोंमें अनुराग प्रधान होता है, सिद्धान्त प्रधान नहीं। अनुरागके बिना भक्ति-भाव एवं स्तवन-पूजनादि नहीं बन सकते। सिद्धान्त यह है कि मुनि आत्म-ध्यानद्वारा राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, ममता और अज्ञानादि विकारोंको नष्टकर आत्माको पूर्ण शुद्ध, सत्-चित्-आनन्दमय करके जिनेन्द्र-प्रभु (वीतराग भगवान्) बन जाते हैं। जिनेन्द्रप्रभु वीतरागी होनेसे किसी भी भक्त या अभक्तपर प्रेम या रोष प्रकट नहीं करते। फिर भी जैनधर्ममें भक्ति की जाती है। इसका कारण यह है कि जैनधर्मकी भक्ति केवल गुणोंके प्रति अनुराग ही नहीं है अपितु गुणोंका साक्षात्कार करना है। अतः भक्तिका स्वरूप यों स्थिर किया गया है।

संसारमे जीवको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है, बल्कि जीवके पूर्वसंचित शुभ-अशुभ कर्मका उदय ही उसे सुख-दुःख देता है और शुभ-अशुभ कर्म जीव बाहरी निमित्त पाकर करता है।

अतः प्राणी यदि किसी कामी, क्रोधी, लोभी, मोही और परिग्रही पुरुषकी प्रतिमाका दर्शन करके उसकी भक्ति करता है, उसके गुणोंका स्तवन करता है अथवा उसकी मूर्तिका ध्यान करता है तो उसके मनमें क्रोध, लोभ, मोह, ममताकी भावना जाग्रत् होगी, जिसके कारण उससे अशुभ कर्म बनेंगे, जो दुःखदायक होते हैं। इसके विपरीत यदि प्राणी वीतरागी भगवान्‌की शान्त, निर्भय, प्रसन्न और निर्विकार प्रतिमाका दर्शन करके भक्ति करता है, उनके शुद्ध गुणोंकी स्तुति करता है अथवा उनकी मूर्तिका ध्यान करता है तो उसके मनमे शान्ति, संतोष, क्षमा एवं वीतरागताकी भावना जाग्रत् होती है और काम-क्रोधादिकी भावनाएँ दब जाती हैं। ऐसा होनेसे उसके द्वारा शुभकर्म ही बनते हैं, जो सुखदायक होते हैं।

अपने भावोंको अशुभकी ओरसे रोककर शुभमें लानेके लिये ही भक्ति की जाती है।

जैन-धर्ममें भक्ति और प्रार्थना

(लेखक—श्रीमागीलालजी नाहर)

मालवपति महाराजा भोजका समय भारतके गौरवका शिखररूप समझा जाता था। उस समय बड़े-बड़े नामी विद्वान्—बाणभट्ट, मयूरभट्ट, धनजय आदि विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी विद्वत्तासे भारत-भूमिका गौरव बढ़ाया था तथा कवित्वशक्ति भी जिनकी अलौकिक थी। संस्कृत-भाषाका उस समय साम्राज्य था।

जैन-समाजमें भी उस समय बड़े-बड़े विद्वान् और कवि हुए, जिनकी प्रतिभा आज भी संसारमें सुप्रसिद्ध है। जब महाराजा भोज पण्डित मयूरभट्टके द्वारा रचे हुए 'सूर्यशतक' और पण्डित बाणभट्टके द्वारा बनाये हुए 'चण्डीशतक' के चमत्कारको देखकर आश्चर्यमुग्ध हो रहे थे और यह जाननेको उत्सुक थे कि 'जैसी चामत्कारिक शक्ति इन विद्वानोंमें है, वैसी शक्ति क्या अन्य विद्वानोंमें भी होगी', उस समय राजा भोजकी सभामें मतिसार नामक मन्त्रीने, जो जैनधर्मी श्रावक थे, राजाको श्रीमान् मानतुङ्गाचार्यका परिचय दिया। फल-स्वरूप महाराजा भोजकी आज्ञासे आचार्यश्रीको सम्मानपूर्वक आमन्त्रित करके राजसभामें बुलाया गया और निवेदन किया गया कि 'आपके जैन-दर्शनमें भी कोई चामत्कारिक शक्ति मौजूद हो तो बतलाइये।' आचार्यश्रीने फरमाया कि 'राजन्! क्या चमत्कार देखना चाहते हो? चमत्कार तो आत्मामें है, केवल शब्दोंमें नहीं है। आत्माका चमत्कार स्थायी है और शब्दोंका अस्थायी।

'शब्दोंमें रहा हुआ चमत्कार भी आत्माकी भावनापर अवलम्बित है। जिनका आत्मा मोह, मत्सर एवं विषया-भिलाषके मैलसे मुक्त होकर जितना ही पवित्र, निर्मल और परमात्म-भक्तिमें तल्लीन होगा, उतना ही उनके शब्दोंमें चमत्कार स्वयं आ बसेगा। इसके विपरीत जिनका आत्मा काम-वासनादि विकारोंसे दूषित तथा लालसाओंसे मलिन होगा, वे चाहे कितने ही बीजाक्षरोंका रटन एव सेवन करें, उनको वह सिद्धि कभी नसीब नहीं होगी, जो पवित्र आत्माको सहज होती है। फिर भी आपको चमत्कार देखना ही अभीष्ट हो तो मुझे बंदी बनाकर गुप्त घरोंमें बैठाकर बंद कर दो।' आचार्य-श्रीके कथनानुसार राजा भोजने उन्हें बंदी बनाकर गुप्त घरोंमें बैठा दिया और छियालीस ताले लगवा दिये।

आचार्यश्रीने उस समय पवित्र हृदयसे परमात्माकी प्रार्थनारूप 'भक्ताम्बरस्तोत्र' की रचना की, जो आज भी समस्त जैन-संसार (श्वेताम्बर, दिगम्बर इत्यादि सभी सम्प्रदायों) में आदर और भक्तिपूर्वक पढ़ा जाता है।

आचार्यश्री जैसे-जैसे एक-एक काव्यकी रचना करते गये, वैसे-वैसे ही एक-एक ताला स्वयं टूटकर गिरता गया। अन्तिम काव्यमें जहाँ—

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥

'हे दयालो! जिनका शरीर पाँवसे लेकर गलेतक बड़ी-बड़ी साँकलोंसे जकड़ा हुआ है तथा बड़ी-बड़ी बेड़ियोंकी नोकसे जिनकी जङ्घाएँ अत्यन्त छिल गयी हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके नामरूपी मन्त्रका स्मरण करके तत्काल ही बन्धनके भयसे छूट जाते हैं अर्थात् बन्धनमुक्त हो जाते हैं।'

—उक्त पदकी रचना हुई, उसी समय उनकी हथकड़ी और बेड़ियाँ भी टूट गयीं और वे बन्धनमुक्त हो गये।

आचार्य श्रीमन्मानतुङ्गाचार्य जब बन्धनमुक्त होकर राज-सभामें पधारे, तब महाराज भोजने साश्चर्य यह लीला देखकर जैन-शासनको सिर झुकाया और आचार्यश्रीके भक्त बन गये।

जैन-समाजमें अनेकों व्यक्ति इस स्तोत्रमें बीजाक्षर और मन्त्राक्षरके भ्रमसे 'भक्ताम्बरस्तोत्र' को महान् प्रभावशाली एवं चामत्कारिक मानकर आस्थापूर्वक इसका पठन-पाठन करते हैं। परंतु उनका हृदय शुद्ध न होनेसे जब उनकी इच्छाकी पूर्ति नहीं होती, तब वे आस्थारहित होकर इसे छोड़ बैठते हैं; किंतु इस स्तोत्रमें बीजाक्षर और मन्त्राक्षरकी अपेक्षा आत्माकी पवित्रताके साथ-साथ भावोंकी विशुद्धि तथा परमात्माकी भक्तिका ही प्रभाव विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होता है।

जिनकी आत्मा जितने अंशमें पवित्र होगी और जो जितने अंशमें परमात्माकी भक्तिमें ओतप्रोत होकर इस स्तोत्रका पठन-पाठन करेंगे, वे उतने ही अंशोंमें अधिकाधिक सफलता प्राप्त करेंगे।

चमत्कारको कहीं खोजनेकी आवश्यकता नहीं है। चित्त-की चञ्चलता मिटाकर उसे स्वच्छ बनानेका प्रयत्न कीजिये तथा परमात्माकी भक्तिमें ओतप्रोत बन जाइये। यही सबसे बड़ा चमत्कार है।

इस्लाम-धर्ममें भक्ति

(लेखक—डा० मुहम्मद हाफ़िज सैयद एम्० ए०, डी० लिट्०, पी० एच्० डी०)

कुछ स्थलोंमें यह भ्रान्त धारणा घर किये हुए है कि प्राचीन एव अर्वाचीन धर्मोंकी भाँति इस्लाममें भगवत्प्रेमको पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है। हमारे विचारसे ऐसी धारणा यथार्थ नहीं है। भ्रमवश इस्लामकी शिक्षाओंको ठीक-ठीक न समझनेके कारण ही ऐसी धारणा बनी है।

जिन्हें विश्वास नहीं है, उनको यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है; किंतु अप्रत्याख्येय सत्य यह है कि इस्लामी जीवनके सम्पूर्ण विधान और इस्लामकी प्रमुख शिक्षाओंका आधार भगवान्‌की सत्ता एव एकतामें तथा भगवत्प्रेममें अचल विश्वास है। भगवत्प्राप्ति तथा आत्म-कल्याणके पथका कोई भी पथिक अपने स्रष्टाके प्रति दिव्य प्रेमका अर्जन किये विना कभी अपने लक्ष्यपर नहीं पहुँच सकता। इस्लामद्वारा उपदिष्ट धार्मिक जीवनकी सम्पूर्ण व्यवस्थामें सारे विधि-निषेधोंद्वारा प्रतिपादित प्रधान महत्त्वकी बात यही है कि मनुष्य अपनी निम्नप्रकृतिकी मलिनताओंको धोकर पूर्ण अनुराग और भक्तिके साथ अपने हृदयकी तन्त्रीको भगवान्‌के स्वरोंमें मिला दे। उद्दाम विचारों एव वासनाओंका शमन करनेके लिये इस्लामने दिनमें पाँच वार अनिवार्य तथा तीन वार इच्छानुसार प्रार्थनाका आदेश दिया है और एक मासके उपवासका विधान बनाया है। मानव-हृदयको पवित्र करके उसे भगवत्कृपा और प्रेमका अधिकारी बनाना ही दिन और रातके निश्चित समयोंपर की जानेवाली इन उपासनाओंका उद्देश्य है। भगवत्प्रेमके सहारे आध्यात्मिक उपलब्धिके सर्वोच्च शिखरपर पहुँचनेका अधिकारी मनुष्य केवल इन्हीं आध्यात्मिक साधनाओंद्वारा वनता है।

जिसका हृदय भाव-शून्य है और उसमे जिसने उपर्युक्त प्रेमका वीज नहीं बोया है, उसे भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

इस्लाम-धर्ममें बहुतसे साधु-सत ऐसे हो गये हैं और अव भी हैं, जिनकी जीवन-गाथासे यह प्रकट होता है कि भगवान्‌के प्रति अपनी ऐकान्तिक भक्ति और प्रेमके ही द्वारा उन्होंने अपना मनोवाञ्छित फल प्राप्त किया। एक रहस्यवादी कविने इस भावको वड़े सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया है—

दौलत मिली है इश्ककी अब और क्या मिले।
वह चीज मिल गयी है, जिससे खुदा मिले॥

प्राचीन हिंदुओंने भगवत्प्राप्तिके जो तीन मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग, धार्मिक जीवनके इस्लामी दृष्टिकोणमे भी इनका निश्चित स्थान है। ज्ञानयोग अर्थात् 'मारिफत' और भगवत्प्राप्तिके लिये भगवान्‌के नामपर भगवदर्पण-कर्मरूप कर्मयोग—इन दोनोंका पर्याप्त उल्लेख मिलता है। पर इन दोनों विषयोंका विवेचन हमें यहाँ अपेक्षित नहीं है। हमें यहाँ केवल भगवत्प्रेमकी ही चर्चा करनी है। इस्लाममें 'इश्क़े इलाही' अर्थात् तीव्र भगवत्प्रेमपर पूरा-पूरा बल दिया गया है और इस्लाम-धर्मके सभी साधु-सतोंने इसे बहुत अधिक महत्त्व दिया है। इब्न-अल-अरबी घोषणा करते हैं कि 'प्रेम-धर्मसे ऊँचा कोई धर्म नहीं है। प्रेम अर्थात् भगवान्‌के लिये लालसा ही सब धर्मोंका सार है।' सच्चा रहस्यवादी इसका—यह जो भी रूप धारण करे—स्वागत ही करता है।

मध्यकालीन अधिकाश सूफियोंने भगवान्‌के नशेमें चूर रहकर भगवान्‌का ही स्वप्न देखते हुए संतोचित जीवन बिताया है। जब उन्होंने अपने स्वप्नोंको कहनेकी चेष्टा की, तव मनुष्य होनेके नाते उन्होंने मनुष्योंकी ही भाषाका प्रयोग किया। यदि वे साहित्यिक कलाकार हुए तो स्वभावतः ही उन्होंने अपने युग और परम्पराकी शैलीमें लिखा। रहस्यवादी कवितामें अरबके लोग ईरानियोंका लोहा मानते हैं। धार्मिक लेखोंके बोझसे मुक्त और आध्यात्मिक सूक्ष्म विवेचनाओंके आवरणसे रहित सूफीमतके हृदयको पढनेकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे अत्तार, जलाल्लुद्दीन रूमी और जामीसे सम्बन्ध स्थापित करें, जिनकी रचनाएँ आंशिकरूपसे अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओंके माध्यमद्वारा प्राप्त हो सकती हैं।

सूफी जितनी मात्रामें भगवान्‌से प्रेम करता है, उसी अनुपातसे वह भगवान्‌को उनके द्वारा सृष्ट जीवोंमें देखता भी है और दया-दानादिके द्वारा उनका सत्कार भी कर सकता है। पुण्य-कार्य बिना प्रेमके नहीं बनते।

भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भक्ति तथा भगवच्चिन्तनके अतिरिक्त मनमें किसी अन्य विचारको न आने देनेके विषयपर फुदायल इब्न अय्यादके जीवनकी एक छोटी-सी घटनासे अच्छा प्रकाश पड़ता है—

एक दिन वे अपनी गोदमें एक चार वर्षके बच्चेको लिये हुए थे और जैसी पिताकी आदत होती है, उन्होंने उसे चूम लिया। बच्चेने पूछा, 'पिताजी! क्या आप मुझे प्यार करते हैं?' फुदायलने कहा, 'हाँ।' पितासे बच्चेने फिर पूछा, 'क्या आप भगवान्‌से प्रेम करते हैं?' और पिताने पुनः स्वीकारात्मक उत्तर दिया। तब बच्चेने फिर पूछा कि 'आपके पास कितने हृदय हैं?' और उन्होंने कहा—'केवल एक।' बच्चेने कहा—'तो फिर एक हृदयसे आप दोको कैसे प्यार कर सकते हैं?' फुदायलने समझ लिया कि बालकके शब्दोंमें दैवी प्रेरणा बोल रही है। तदुपरान्त उन्होंने *केवल भगवान्‌से ही प्रेम किया, किसी अन्य व्यक्तिसे नहीं।* जलालुद्दीन रूमीद्वारा निरूपित उच्च कोटिका सूफी रहस्यवाद इस बातकी शिक्षा देता है कि प्रापञ्चिक सत्ता वास्तविक सत्तातक पहुँचनेके लिये सेतुके समान है। इसीलिये मुसल्मान सूफी महात्मा सबको यह आदेश देते हैं कि वे 'इश्के मजाजी' (मानवके प्रति प्रेम) को 'इश्के हक़ीकी (भगवान्‌के प्रति प्रेम) में परिवर्तित कर दें।

बायज़ीद बुस्तामीने कहा है कि 'जब भगवान् मनुष्यसे प्यार करते हैं, तब वे इस प्रेमके चिह्नस्वरूपमें उसे तीन गुणोंसे युक्त कर देते हैं—सागरकी भाँति उदारता, सूर्यकी-सी सहानुभूति और धरतीके समान नम्रता। सच्चे प्रेमीकी पैनी अन्तर्दृष्टि तथा ज्वलन्त श्रद्धाके आगे कोई भी कष्ट बहुत बड़ा और कोई भी भक्ति बहुत ऊँची नहीं हो सकती।' इब्न-अल-अरबीका दावा है 'कि इस्लाम विशेष रूपसे प्रेमका मजहब है; क्योंकि हमारे पैगम्बर मुहम्मद साहबको भगवान्‌का प्यारा (हबीब) कहा गया है।'

जो भगवान्‌से प्रेम करते हैं, उन्हींसे भगवान् प्रेम करते हैं। भगवत्प्रेम अनिर्वचनीय है, फिर भी इसके लक्षण अप्रकट नहीं रहते। जिन्होंने इसके मर्मको जाना है, उनकी निम्नाङ्कित उक्तियोंसे हमारी व्याख्याकी अपेक्षा अधिक प्रकाश मिलेगा।

'हे प्रभो! इस संसारका जितना अंश आपने मेरे लिये नियत कर रखा है, उसे अपने विरोधियोंको दे दीजिये, और परलोकका जो कुछ अंश मेरे नाम लिख रखा हो, उसे अपने अनुकूल व्यक्तियोंको दे दीजिये। मेरे लिये तो केवल आप ही पर्याप्त हैं।' (रबिया)

'हे प्रभो! यदि मैं आपको नरकके भयसे पूजती होऊँ तो मुझे नरकमें ही जलाते रहिये और यदि मैं आपके ही लिये आपकी पूजा करती होऊँ तो मुझसे अपने सनातन सौन्दर्यको दूर न रखिये।' (राबिया)

उन्स (प्रेम) की परिभाषा करते हुए जुनायद बगदादी कहते हैं कि 'पूर्ण प्रेमका लक्षण है हर्ष और आह्लादपूर्वक हृदयमें भगवान्‌का निरन्तर स्मरण, उनके लिये अदम्य लालसा एवं उनके साथ घनिष्ठता।' प्रेम इन सब लक्षणोंसे युक्त भी है और उन सबसे ऊपर भी। सूफी रहस्यवादीकी दृष्टिमें भक्त प्रेमी है और भगवान् प्रेमास्पद। क्योंकि सभी क्रियाओंके मूल भगवान् हैं, अतः प्रेमके भी प्रदाता वे ही हैं; और अबू तालिब लिखते हैं 'कि अपने संतोंके प्रति भगवान्‌का प्रेम उनमें भगवत्प्रेम जागनेके पहले ही उमड़ पड़ता है।' सूफीमतके एक बहुत प्राचीन लेखक अल-कलाबादी कहते हैं कि 'तफरीद अर्थात् अपनेको अनन्य भावसे भगवान्‌में नियोजित कर देनेका अर्थ है—साधकका प्रापञ्चिक जगत्‌से सम्बन्ध हटा लेना, एकाकीरूपसे तन्मयताकी भूमिकाओंमें स्थित रहना तथा अपने सारे व्यवहारोंका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ जोड़े रखना।'

मुसल्मान संतोंकी उपर्युक्त कुछ उक्तियाँ यह प्रकट करती हैं कि संसारके अन्य धर्मोंकी भाँति इस्लाम भी भक्ति (भगवत्प्रेम) की शिक्षा देता है। यह सत्य है कि इस्लाम अपने अनुयायियोंको भगवान्‌से डरनेकी भी आज्ञा देता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि जो भगवान्‌से डरते हैं, वे उनसे प्रेम नहीं करते। इस बातको सिद्ध करनेके लिये अब और अधिक व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है कि इस्लाम सर्वोपरि प्रेमका धर्म है। इसीलिये 'इस्लाम' शब्दका अर्थ है प्रथमतः शान्ति और भगवदिच्छाके प्रति पूर्ण निर्भरता एवं समर्पणका भाव।

भक्तमें अपनी कोई इच्छा नहीं रह जाती; वह अपनी इच्छाको भगवदिच्छामें मिला देता है। वह न बुराई देखता है, न बुरी बात कहता है, न बुरा करता है और महात्मा गांधीके शब्दोंमें—

'भक्त सर्वत्र भगवदीय सौन्दर्य और महिमाका ही दर्शन करता है, किसीसे द्वेष नहीं करता तथा सभीसे प्रेम करता है। उसकी एकमात्र इच्छा होती है अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करनेकी।'

सूफ़ी साधकोंकी भक्ति

(लेखक—प० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

सूफीमत इस्लाम धर्मका एक अङ्ग है, जिसकी उत्पत्ति अरब देशमें प्रचलित बहुदेववादके विरोधमें हुई थी। अरब-के निवासी अनेक देवी-देवोंमें विश्वास रखते थे और उनके प्रतीकोंकी प्रतिष्ठा एवं पूजनके सम्बन्धमें कुल-परम्परानुसार बहुत मतभेद प्रदर्शित करते थे। हजरत मुहम्मदने उन्हें एकमात्र 'अल्लाह' के ही अस्तित्वमें आस्था रखनेका उपदेश दिया—जो सारे विश्वका रचयिता, पालनकर्ता और नियामक है और जिसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण हमारा परम कर्तव्य है। उनके अनुसार 'अल्लाह' सर्वशक्तिमान् किंतु न्यायशील शासक है, जो अपने मार्गसे विपन्न हो जानेवालेको कठोर दण्ड देता है और जो उसके आदेशोंका अनुसरण करता है तथा उससे प्रतिपल भयभीत रहा करता है, उसपर कृपादृष्टि भी रखता है। अतएव, उसकी दयालुतामें विश्वास करते हुए, उसके प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करना तथा उसकी महत्ता सूचित करनेवाले शब्दोंमें नित्य प्रार्थना करना वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते थे। दार्शनिकदृष्टिसे उस परमात्म-तत्त्वकी सत्ता जगत्से पृथक् समझी जा सकती है, जिसकी सृष्टि उसने 'कुछ नहीं' अर्थात् केवल शून्य-मात्रसे की है और जिसे वह उसी प्रकार फिर विलीन भी कर सकता है। प्रलय वा 'क़यामत' के दिन एक बार सब किसीको उसके सामने इस बातकी परीक्षा देनी पड़ सकती है कि उसने उसके आदेशोंका पालन कहाँतक किया है। यदि वह बराबर उनका अनुसरण करता गया है, तब तो उसे 'अल्लाह' अपना ले सकता है, अन्यथा उसे घोर यातना भी सहनी पड़ सकती है। हजरत मुहम्मदने उन ईश्वरीय आदेशोंको परमात्माकी ओरसे स्वयं संदेशवत् ग्रहण किया था और उन्हें सगृहीतकर इस्लाम-धर्मके पवित्र ग्रन्थ 'कुरान-शरीफ़' की रचना की गयी।

सूफीमतके अनुयायियोंने इस्लाम धर्मकी प्रायः सभी मुख्य बातोंको उनके मूलरूपोंमें स्वीकार किया तथा 'कुरान-शरीफ'से पर्याप्त प्रेरणा भी ग्रहण की; किंतु उस धर्म-ग्रन्थ-के अनेक अंशोंकी उन्होंने कभी-कभी स्वतन्त्र व्याख्या भी कर डाली, जिस कारण उनकी विचारधारामें कुछ-न-कुछ नवीनता दीख पड़ने लगी। इसके सिवा, इस्लाम धर्मका अधिक प्रचार हो जानेपर, जब ये लोग अन्य मतावलम्बियोंके सम्पर्कमें आये, इनपर उनका न्यूनाधिक प्रभाव भी पडता चला गया, जिसके फलस्वरूप सूफीमत क्रमशः एक विशिष्ट सम्प्रदायके रूपमें परिणत हो गया तथा इसके भीतर अनेक उपसम्प्रदायोंतककी सृष्टि हो गयी। परंतु जहाँतक इसके मूल सिद्धान्तों एवं प्रमुख साधनाओंका प्रश्न है, उनमें विशेष मतभेद नहीं आने पाया और इसीलिये इसका एक पृथक् अस्तित्व भी बना रह गया। इन सूफियोंमेंसे कुछका विश्वास था कि परमात्मा इस जगत्से सर्वथा परे है, किंतु उसकी सभी बातें इसमें, दर्पणके भीतर प्रतिबिम्बकी भाँति, दीख पडती हैं। ये लोग 'शुदूदिया' कहलाते थे, जिन्हें हम दूसरे शब्दोंमें 'सर्वात्मवादी' का भी नाम दे सकते हैं। इसी प्रकार इनका एक दूसरा वर्ग 'वुजूदिया' कहलाता था, जिसके लोगोंकी धारणा थी कि परमात्माके अतिरिक्त वस्तुतः अन्य किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं है, जिस कारण उनके लिये 'एकतत्त्ववादी' शब्दका भी प्रयोग किया जाता है। परमात्मा निर्गुण है अथवा सगुण है—इस बातको लेकर भी सूफियोंमें मतभेद था। इब्न-अरबी, हल्लाज एवं जामी-जैसे सूफियोंका कहना था कि वह केवल शुद्धस्वरूप अथवा सत्तामात्र है, जिस कारण उसे निर्गुण वा निर्विशेष माना जा सकता है, जहाँ कालावधि एवं हुज्विरी-जैसे सूफियोंके मतसे वह अनन्त गुणोंसे विभूषित है, यद्यपि इस रूपमें भी वे उसे कोई स्पष्ट आकार प्रदान करते नहीं जान पड़ते।

सूफी लोग परमेश्वरको साधारणतः एक अनिर्वचनीय तेजःपुञ्जके रूपमें समझते प्रतीत होते हैं। प्रसिद्ध सूफी ग़ज़ाली-ने तो एक स्थलपर यह भी लिखा है, 'अल्लाह सत्तर हजार पर्दोंके भीतर है, जिनमेंसे कुछ प्रकाशमय हैं और अन्य अन्धकारमय भी हैं। और यदि वह किसी प्रकार उन आवरणोंको हटाकर अपनेको अनावृत कर ले तो जिस किसीकी भी दृष्टि उसपर पड़ेगी, वह उसके प्रखर प्रकाशके कारण दग्ध हो जायगा।' ग़ज़ालीके अनुसार 'मनुष्य अपना जन्म ग्रहण करते ही उन प्रकाशमय पर्दोंकी ओरसे क्रमशः अन्धकारमय पर्दोंकी ओर बढना आरम्भ कर देता है; किंतु यदि कभी वह सँभल जाता है और एक 'सालिक' वा साधकके रूपमें उधरसे लौट पड़ता है तो वह फिर उस दिव्य आलोककी ओर अग्रसर होने लगता है तथा उसे

परमात्म-तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है। इस यात्रामें उसे सात विभिन्न स्थलों वा दशाओंको पार करना पड़ता है—जो क्रमशः अनुताप, आत्म-संयम आदिके रूपमे हुआ करती हैं और उसे उनके कारण आत्म-बल भी मिलता है तथा अन्तमें वह एक ऐसी स्थितिमें आ जाता है, जहाँ उसमें अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता आ जाती है।' सूफियोंने फिर इस दशाकी भी चार भिन्न-भिन्न कोटियोंकी कल्पना की है और उन्हें क्रमशः 'मारिफत', 'इश्क़', 'वज्द' एवं 'वस्ल' के पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं। इनमेंसे 'मारिफ़त' एक प्रकारका हृदयप्रसूत ज्ञान है, जिसमें गहरी अनुभूतिका अंश बहुत अधिक मात्रामें रहा करता है और 'इश्क़' उसीका वह भावावेगमय रूप है, जिसे सूफियोंने सदा अधिक महत्त्व प्रदान किया है तथा जिसकी स्थितिमें आकर 'सालिक' का अपने-आपको क्रमशः विस्मृत करते जाना भी बतलाया गया है। इस दशाके अनन्तर ही 'वज्द' वा उन्मादनकी स्थिति आती है, जो सालिकोंकी इस यात्राका उच्चतम सोपान है और जहाँसे उन्हें उनके अन्तिम ध्येय 'वस्ल' (ईश्वर-मिलन)-की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार सूफी साधकोंकी उपर्युक्त साधना-पद्धतिके प्रथम सात सोपान यदि हमें बहुत-कुछ नैतिक-से लगते हैं तो उसके दूसरे चारका वास्तविक रूप भी केवल मानवीय मनोदशाकी चार विभिन्न अवस्थाओं-जैसा ही प्रतीत होता है और इनमेंसे किसीके भी प्रसङ्गमें भक्ति-साधनाकी वैधी पद्धतिका वैसा प्रश्न ही नहीं उठता। सूफी अपने इष्टदेव-के अभिमुख प्रयाण अवश्य करता है और वह उसे कोई-न-कोई व्यक्तित्व भी प्रदान करता है; किंतु वह उसे कभी कोई बोधगम्य रूप भी नहीं दे पाता। इस कारण सगुण-वादी समझे जानेवाले सूफी साधकोंकी भी उपासना अधिक-से-अधिक निर्गुण-भक्तिके ही रूपमें परिणत होती जान पड़ती है। इसके लिये न तो किसी उपकरणकी आवश्यकता है और न इसमें किसी बाह्योपचारका ही उपक्रम करना पड़ता है। इस्लाम-धर्मका चरम उद्देश्य ही यह है कि अपनेको परमेश्वरके सम्मुख उपस्थित रखा जाय, उसकी प्रार्थना की जाय तथा उसके प्रति अपनेको समर्पित कर दिया जाय। यह भाव अरबी शब्द 'इस्लाम' के भी व्युत्पत्तिमूलक अर्थमें निहित समझा जाता है और इसी रूपमे उसकी विस्तृत व्याख्या की जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक मुस्लिम जहाँ इस मनोवृत्तिको अल्लाहसे भयभीत होकर स्वीकार करता है, वहाँ एक सूफ़ीको इसके लिये उसके प्रति सच्चे अनुराग वा प्रेम-भावके द्वारा प्रेरणा मिलती है। एक सूफी परमेश्वरको अपना परम आत्मीय समझता है और वह अपनेको उससे वियुक्त वा बिछुडा हुआ भी अनुभव करता है। वह उसके विरहमें तडपा करता है, उसकी उपलब्धिके लिये आतुर बन जाता है और इसी भावनाके साथ वह अपनी उपर्युक्त साधनामे प्रवृत्त भी होता है। उसे इसकी परवा नहीं होती कि मेरा प्रियतम वा इष्ट-देव मुझे किसी स्थूलशरीरमें आकर दर्शन दे और वह न यही चाहता कि मुझे उसके समक्ष सदा उपस्थित रहनेका ही अवसर मिले। वह उसके 'नूर' वा दिव्य प्रकाशमात्रसे ही अपनेको अभिभूत मानता है और उसके आलोकसे सम्पूर्ण विश्वको आलोकित समझता है। परंतु फिर भी उसे तबतक पूरी शान्ति नहीं मिलती और न वह उसके साथ अपने मिलन-का अनुभव ही करता है, जबतक उसके अपने भीतर तज्जन्य आत्मविस्मृतिकी भी दशा नहीं उत्पन्न हो जाती।

अतएव सूफी साधकोंकी भक्ति-भावनाको यदि हम चाहें तो 'रागानुगा' की श्रेणीमें स्थान दे सकते हैं तथा इसके भक्ति-भावको परमेश्वरके प्रति 'परानुरक्ति' की संज्ञा देकर इसके अन्तर्गत प्रेमाभक्तिके प्रमुख लक्षणोंको भी ढूँढ सकते हैं। 'रागा-नुगा' भक्तिके भी दो रूप देखनेमें आते हैं, जिनमेंसे प्रथम वा प्रारम्भिकको 'बाह्य' तथा दूसरे वा अधिक प्रौढको 'अन्तर' की साधनाओंके साथ सम्बन्धित माननेका नियम है। बाह्य साधनाओं-में प्रधानतः 'श्रवण' एव 'कीर्तन' की गणना की जाती है और इनके अभ्यासद्वारा भक्तिभाव प्रकट करनेवालेको प्रायः 'साधक' मात्र भी कह दिया जाता है। किंतु अन्ततः साधनाके अभ्यास-द्वारा स्वयं हमारी मनोवृत्तिमें ही पूरा परिवर्तन आ जाता है और हम अपने इष्टदेवको अपने स्वामी, मित्र, पिता अथवा पतिके रूपमें देखने लग जाते हैं। कहना न होगा कि सूफियोंकी भक्ति-साधनामे भी हमें इन दोनों प्रकारोंके उदाहरण दीख पड़ते हैं। परतु वैधी भक्तिकी वे दूसरी सभी विशिष्ट साधनाएँ, जिनकी गणना बहुधा 'नवधा-भक्ति' का परिचय देते समय की जाती है, इसमें स्वभावतः स्थान नहीं पातीं। इसमे न तो उसका 'पाद-सेवन' आता है, न उसके 'अर्चन', 'वन्दन', 'दास्य' अथवा 'सख्य' का ही प्रयोजन रहता है तथा इसमें 'श्रवण' का भी ठीक वही रूप नहीं रह जाता, जिसकी चर्चा 'रागानुगा' भक्ति वा 'वैधी'-में की जाती है। इसके सिवा सूफी भक्ति-साधनाके

अन्तर्गत जो 'आत्मनिवेदन' का रूप दीख पड़ता है, उसकी भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं; तथा जो रागात्मक सम्बन्ध, 'रागानुगा'के अनुसार, भक्त और उसके इष्टदेवके बीच कई रूपोंमें दीख सकता है, वह सूफीके लिये केवल पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिकाके ही क्षेत्रतक सीमित रह जाता है।

सूफियोंकी भक्ति-साधनाके अन्तर्गत 'श्रवण'का एक रूप उनके 'तिलवत' या 'क़ुरानशरीफ' के नियमित पाठमें मिल सकता है। यह वस्तुतः इष्टदेवके गुणानुवादका दूसरोंसे 'सुनना' नहीं है, अपितु स्वय धर्म-ग्रन्थका पारायण करके उसे कर्णगोचर कर लेनेके रूपमें पाया जाता है। इस 'तिलवत' से ही मिलती-जुलती सूफियोंकी एक अन्य साधना 'अवराद'-के भी रूपमे मिलती है, जिसके अनुसार कतिपय चुने हुए भजनोंका ही दैनिक पाठ किया जाता है। सूफी साधकोंके 'कीर्तन' को 'समा' कहा जा सकता है, जिसका भी शाब्दिक अर्थ 'सुनना' है, किंतु जिसका प्रयोग यहाँ सगीतादिको श्रवण कर तल्लीन होनेके लिये किया जाता है। इस्लाम धर्मकी दृष्टिसे संगीतके प्रति आकृष्ट होना निषिद्ध कहा जा सकता है, किंतु सूफ़ियोंके 'चिश्तिया' व 'कादिरिया' सम्प्रदायोंमें इसे विशेष महत्त्व दिया जाता है। प्रसिद्ध सूफ़ी कवि मौलाना रूम-द्वारा प्रचलित किये गये 'मौलवी' सम्प्रदायने तो इसे अपने लिये प्रमुख साधनाके रूपमें अपनाया है। 'समा' के लिये साधारण गीतके साथ नृत्यतककी आवश्यकता पड़ती है और सूफी साधक उनके द्वारा अपनेको आत्मविभोर कर देता है। चिश्ती-सम्प्रदायके प्रसिद्ध बाबा फरीदने तो 'तिलवत' वाले उक्त 'क़ुरान'का पाठ भी सुन्दर लयमें ही करनेको महत्त्व दिया था। उनके अनुसार वैसा पाठ परमेश्वरके साथ वार्तालाप करना है। 'समा' का आयोजन प्रायः 'उर्स'-के अवसरोंपर भी किया जाता है और सूफी लोग भावावेशमें आकर कमी-कभी बेसुधतक हो जाते दीख पडते हैं। कहते हैं कि 'समा'के अवसरोंपर उठनेवाली मधुर ध्वनिमे लीन हो जानेवालेकी अन्तर्दृष्टि आप-से-आप खुल जा सकती है और वह प्रियतमके निकट भी चला जाता है।

सूफ़ियोंकी भक्ति-साधनामें 'ज़िक्र' या 'स्मरण'को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है। 'नक्श बंदिया' सम्प्रदायके अनुयायियोंके यहाँ इसके लिये एक विशेष प्रकारकी शिक्षा भी दी जाती है, जिसके अनुसार 'सालिक' पहले अपनी दोनों आँखें बद कर लेता है, मुँह भी बद रखता है और अपनी जीभको होठोंसे दबा लेता है। वह अपने हृदयकी ओर पूरा ध्यान रखता है और ऐसा अनुभव करता है कि 'ला' को मैं उसके त्रिकोण रूपके ऊपरकी ओर, 'इलाह' को उसकी दाहिनी ओर तथा सम्पूर्ण 'ला इलाह इल्ल इल्लाह' को उसकी नोकदार छोरके ऊपर केन्द्रित कर रहा हूँ तथा इस प्रकार मेरा मन सासारिक प्रलोभनोंकी ओरसे पूरा खिंच भी गया है। 'जिक्र' की साधनाका एक दूसरा ढंग भी बतलाया गया है, जिसके अनुसार साधकके लिये अपने श्वास-प्रश्वासकी ही ओर विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। इस क्रियामें भी आँखें बद रहती हैं तथा होठ भी बद रहा करते हैं, किंतु अपना ध्यान उतना हृदयकी ओर नहीं जा पाता। यहाँ जब वह अपनी साँस छोड़ता है, तब ऐसा अनुभव करता है कि 'ला इलाह' का उच्चारण कर रहा हूँ और इसी प्रकार जब उसे भीतर लाता है तब 'इल्ल इल्लाह' कहता हुआ-सा अनुभव करता है। 'जिक्र' अथवा स्मरणकी इस जप-साधनाके प्रायः दो रूप देखे जाते हैं, जिनमेंसे एकको 'ज़िक्र जली' और दूसरेको 'जिक्र खफ़ी' कहा करते हैं और इनका मुख्य भेद इस बातमें दीख पड़ता है कि पहलीकी दशामें जहाँ पवित्र वाक्यको उच्च-स्वरके साथ कहा जाता है वहाँ दूसरी दशामें अत्यन्त मन्द स्वरका ही प्रयोग होता है। 'जिक्र जली' के साधकोंके लिये आसनका भी महत्त्व रहता है और वे ऐसे अवसरोंपर कभी दाहिने, कभी बायें मुड़ जाया करते हैं।

परंतु सूफी साधकोंमें साधारणतः 'ज़िक्र खफ़ी' अथवा 'गुप्त जप' को ही अधिक महत्त्व दिया जाना देखा जाता है। इसमें जीभद्वारा किसी मन्त्रका स्पष्ट उच्चारण करना आवश्यक नहीं और न किसी आसन-विशेषपर बैठने अथवा शरीरको मोडनेकी ही आवश्यकता पड़ती है। यह 'जिक्र' वस्तुतः एक अन्य साधना 'फ़िक्र' वा चिन्तन-जैसी होती है, जिसमें साधकका चित्त सदा अपने इष्टदेवकी ओर आकृष्ट रहा करता है। 'ज़िक्र खफी' का साधक अपने पवित्र मन्त्रको ही सभी कुछ समझ उसकी ओर ध्यान दिये रहता है और ऐसा समझता है मानो उसकी विधिवत् आवृत्ति भी करता जा रहा हूँ। 'फ़िक्र' की साधनामें किसी मन्त्रकी आवश्यकता नहीं रहती, किंतु अपने चित्तको परमात्म-तत्त्वके 'नूर' या दिव्यज्योतिकी ओर लगाना पड़ता है। यह क्रिया अपने जीवनमें निरन्तर चल सकती है। और साधक इसे करता हुआ भी अपने दैनिक व्यवहारको कायम रख सकता है। 'फ़िक्र' की विशेषता उसके गुप्तरूपसे चलनेमें ही लक्षित होती है। प्रसिद्ध सूफ़ी कवि जायसीने

अपनी रचना 'पदमावत' के एक स्थलपर कहा है—

परगट लोकचार कहु बाता । गुपुतु लाउ मन जासों राता ॥

एक अन्य सूफी कवि नूरमुहम्मदने भी अपनी रचना 'अनुराग बाँसुरी'के अन्तर्गत इस प्रकारकी साधनाको 'मनकी माला फेरने'का नाम दिया है और बतलाया है कि हृदयद्वारा अपने प्रियतमके नित्य चिन्तन या उसके स्मरणसे 'योग' की साधना पूरी हो जाती है। वे प्रेमी धन्य है, जो ऐसी साधना किया करते हैं। जैसे—

मन के मालै सुमिरै नेही लोग ।
ध्यान और सुमिरन सौं पूरन जोग ॥

तथा—

धनि सनेह के लोभै, जेहि दिन रात ।
सुमिरन बिना न दूसर कछू सुहात ॥

सूफियोंकी 'फिक्र' नामक साधना उनकी 'मुराक़बत' (ध्यान) से भिन्न हुआ करती है, जिसके लिये उनकी दृष्टिमें 'खिलवत' (एकान्त-सेवन) भी नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार सूफी साधकोंकी उक्त सारी क्रियाएँ वस्तुतः अन्तःसाधनाके ही विविध रूप हैं, जिनसे उनकी अन्तर्वृत्तिके एकान्तनिष्ठ बननेमे सहायता मिलती है। जैसे-जैसे इसमें दृढ़ता आती जाती है, साधक एव साध्य अथवा लक्ष्यरूप परमेश्वरके बीचका व्यवधान क्रमशः क्षीणतर होता चला जाता है और इसके फलस्वरूप उसके हृदयरूपी दर्पणके मल भी दूर होते चले जाते हैं, जिनके कारण वह अपने प्रियतमके अलौकिक 'नूर' को भलीभाँति प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता था। हृदयके वे मल वा विकार सासारिक बन्धनोंके कारण उत्पन्न आसक्तियोंके रूपमें रहा करते हैं और वे उसपर मोरचेकी भाँति चिपककर उसे सर्वथा मलिन बना दिया करते हैं; परंतु जब उक्त अन्तस्साधनाके कारण साधककी अन्तर्वृत्ति केवल एक ही ओर केन्द्रित हो जाती है, सारी आसक्तियोंवाले बन्धन आप-से-आप एकत्र होकर उस ओर ही लग जाते हैं, जिसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना रहता है, और इस प्रकार उसका सम्पूर्ण हृदय-पटल आलोकित हो उठता है। 'तिलवत', 'समा', 'जिक्र', 'फिक्र', अथवा अन्य भी ऐसी विविध साधनाएँ सूफियोंकी उस प्रेम-साधनामें केवल सहयोग प्रदान करती हैं—जो स्वभावतः प्रियतमकी एक झलक पानेपर ही आरम्भ हो जाती हैं तथा जिसका रहस्य जानकर हमें उनकी भक्तिके स्वरूपका भी पूरा बोध हो सकता है। प्रेम-साधना ही उनकी प्रमुख और वास्तविक साधना है और अन्य जितनी भी साधनाएँ उसका अङ्ग बनी जान पडती है, वे उसकी मानो प्रारम्भिक दशामें काम आती हैं या उसे न्यूनाधिक पुष्टि प्रदान करती हैं। वैसे सूफियोंकी यह प्रेम-साधना कोई साधारण साधना भी नहीं है; क्योंकि इसमे किसी प्रक्रियाका प्रयोग नहीं किया जाता। यह सारे जीवनमें ही सहजरूपसे चला करती है।

सूफी साधकका प्रेम अपने प्रेमपात्र इष्टदेवके प्रति एक प्रेमीके दर्जेका हुआ करता है और वह उसे किसी प्रेयसीके रूपमें देखा करता है। वह उसके लिये एक विरही-जैसा व्याकुल रहता है। उसकी प्राप्तिके लिये आर्तवत् व्यवहार करता है और उस उद्देश्यसे कठोर-से-कठोर प्रयत्न करनेके लिये भी सदा प्रस्तुत रहा करता है। सूफी कवियोंने इस प्रकारकी प्रेम-साधनाको प्रायः प्रेमाख्यानोंके आधारपर उदाहृत किया है और उनके नायकों एव नायिकाओंके अत्यन्त मनोरम चित्र अङ्कित किये हैं। उन्होंने लौकिक प्रेमगाथाओंके माध्यमसे दिखलाया है कि किस प्रकार ऐसा प्रेमी किसी अनुपम सौन्दर्य-वाली नारीको अपनी आँखों देखकर अथवा केवल उसके गुणश्रवण, चित्रदर्शन वा स्वप्नदर्शनके ही माध्यमसे उसकी ओर आकृष्ट होता है, तथा उसके प्रति विरहातुर बनकर उसकी उपलब्धिके लिये जी-तोड़ परिश्रम करने लग जाता है। उसके आगे किसी बड़े-से-बड़े त्यागको भी वह बराबर तृणवत् समझा करता है और अन्तमें किसी प्रकार उसे अपनाकर ही संतोषकी साँस लेता है। इस प्रेमकहानीके ही प्रसङ्गमें प्रेम-पात्रियोंका वर्णन ऐसे ढगसे किया जाता है, उनके अलौकिक प्रभावका ऐसा चित्रण किया जाता है तथा बीच-बीचमें अनेक ऐसे व्यापक सिद्धान्तोंका वर्णन भी कर दिया जाता है, जिनसे यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसकी नायिका किसका प्रति-निधित्व कर रही है, इसका नायक कोई साधारण प्रेमी न होकर किसी मार्ग-विशेषका पथिक है तथा इसकी घटनाओंके क्रमतकमें किसी आध्यात्मिक साधनाका रूपक उपस्थित किया गया है। कहते हैं कि ऐसे प्रेमाख्यानोंके ही माध्यमसे सूफी कवियोंने प्रेमतत्त्वके गूढ़ रहस्योंका उद्घाटन किया है तथा इनके द्वारा अपने मतका प्रचार भी किया है।

रागानुगा भक्तिके लिये कहा जाता है कि उसके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृङ्गार (अथवा माधुर्य) नामके पाँच भेद होते हैं तथा इनके सम्बन्धमें विशेषज्ञोंका यह भी कहना है कि भक्तिभावमें जैसे-जैसे प्रगाढ़ता आती जाती है, उसी क्रमसे शान्त दास्यमें, दास्य सख्यमें,

सख्य वात्सल्यमें तथा वात्सल्य शृङ्गारमें परिणत होता चला जाता है और इस प्रकार शृङ्गार या माधुर्यका भाव ही भक्तिका सर्वोत्कृष्ट रूप समझा जा सकता है। इस भावके साथ उपासना करनेवाला अपनेको किसी प्रेमिकाके रूपमें स्वीकार कर लेता है और अपने इष्टदेव भगवान्‌को अपने प्रियतमका स्थान प्रदान करता है। तदनुसार यह उसकी अनुपस्थितिका अनुभव होनेपर या तो किसी प्रोषित-पतिका धर्मपत्नीकी भाँति उसके विरहमें बेचैन बना रहता है अथवा किसी प्रेमिका परकीयाके ही रूपमे उसके लिये नित्यशः झूरा करता है। यह उसके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, उसके दुःखमे दुखी और उसके सुखमें सुखी-जैसा भाव हृदयङ्गम करता रहता है और इस बातके लिये सदा सचेष्ट रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि एक बार उसका मिलन हो जानेपर कभी एक क्षणके लिये भी उसका वियोग हो सके। अपने प्रियतमकी स्मृतिमें सदा विभोर रहना, उसीकी प्रतिच्छविको सर्वत्र देखते रहनेकी चेष्टा करना तथा केवल उसीकी अनन्य उपासनामें प्रतिपल निरत रहना आदि उसकी कतिपय प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस मधुर उपासनाको प्रायः 'गोपीभाव' की भी संज्ञा दी जाती है; क्योंकि इसे अपनानेवाले भक्तोके उदाहरणमें हमें व्रजकी गोपियोंसे बढ़कर कोई अन्य उपासिकाएँ नहीं मिलतीं। गोपिकाएँ परमात्माके श्रीकृष्ण-रूपकी प्रेमिकाएँ थीं, जिस प्रकार इधरके भक्तोंमें उसके विग्रह श्रीरङ्गनाथकी उपासिका गोदा (आंडाळ) हुई तथा गिरधरलालकी वैसी ही प्रेमिका मीराँ कहलायीं।

यदि सूफी-मतके ऐसे साधकोंमेंसे भी केवल स्त्री-भक्तोंकी ही चर्चा की जाय तो उस दशामें हमें बसराकी प्रसिद्ध राबियासे बढकर कोई दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण नहीं मिल सकता। राबिया किसी निर्धन माता-पिताकी पुत्री थी, जिसे बचपनमें किसीने केवल छः सिक्कोंमें ही दासीरूपमें बेंच दिया था। वह परमेश्वरके प्रति एकान्तनिष्ठाका भाव रखती थी और यद्यपि, स्पष्ट प्रमाणोंके अभावमें, यह कहना कठिन है कि उसकी उपासनाका रूप ठीक दाम्पत्यभावका ही रहा होगा, इसमें सदेह नहीं कि उसके ईश्वरीय प्रेमकी प्रगाढ़ता बहुत अधिक मात्रातक पहुँच चुकी थी और उसे गोपी-भावकी भी श्रेणीमें स्थान देना कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता। किसी समय सूफी अबू हसनद्वारा पूछे जानेपर कि 'क्या तुम्हें अपना विवाह करनेकी इच्छा है ?' उसने उत्तर दिया था—"क्या शरीरसम्बन्धी विवाह ! 'मेरा' शरीर ही कहाँ रह गया है ? मैंने तो उसे परमेश्वरके प्रति पूर्णतः उत्सर्ग कर दिया है। अब तो वह उसीके अधीन है और एकमात्र उसीके कार्योंमें सदा व्यस्त भी रहा करता है।" इसी प्रकार कहते हैं कि एक बार स्वप्नमे, स्वय हज़रत मुहम्मदद्वारा भी पूछे जानेपर कि 'क्या वह उनके प्रति किसी प्रकारका प्रेमभाव रखती थी,' उसने उन्हे स्पष्ट उत्तर दिया था, 'हे अल्लाहके रसूल ! ऐसा कौन होगा जो आपसे प्रेम न करता हो ? किंतु परमात्माके प्रेमने मुझपर इस प्रकार अधिकार कर लिया है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्यसे प्रेम या घृणातक करनेके लिये मेरे हृदयमें स्थान नहीं है।' राबियाकी प्रेमा-भक्तिमें पूरी अनन्यताका भाव था और वह पूर्ण आत्म-समर्पण भी कर चुकी थी, जिस कारण उसे रागात्मिकाका नाम देना कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता। सूफी मतके ऐसे पुरुष भक्तोंकी यदि चर्चा की जाय तो हम करखी, बायजीद, मंसूर आदि साधकोंके नाम इस प्रसङ्गमें निस्संकोच भावसे ले सकते हैं।

परंतु इन पुरुष भक्तोंने अपने इष्टदेवको किसी प्रियतमाके रूपमें ही देखनेका प्रयास किया है—प्रियतमके रूपमें नहीं, जैसा भारतीय परम्पराके अनुसार दीख पड़ता है। ये उसे किसी अलौकिक 'हिजाब' वा पर्देके कारण आवृत मान-कर साधना आरम्भ करते हैं और उसके केवल एक साधारण-से सकेत वा झलकमात्रसे भी बल ग्रहण करते हैं। इसी कारण इनकी भक्तिका प्रधानतः 'रूपासक्ति' पर आश्रित रहना कहा जाता है। उसमें आरम्भसे ही विरहकी एक मीठी-सी पीर भी निहित रहती है, जो इन्हें सदा उद्विग्न बनाये रहती है। हिंदीके सूफी कवि उसमानने तो रूप, प्रेम एवं विरह—इन तीनोंको 'मूल सृष्टि' के स्तम्भवत् माना है और उन्होंने अपनी प्रेम-गाथा 'चित्रावली' में इस प्रकार कही है—

आदि प्रेम विधिने उपराजा, प्रेमहि लाग जगत सब साजा।
प्रेम किरन ससि रूप जेउँ, पानि प्रेम जिमि हेम।
एहि विधि जहँ जहँ जानियहु, जहाँ रूप तहाँ प्रेम॥
रूप प्रेम मिलि जो सुख पावा, दूनहु मिलि बिरहा उपजावा।
रूप प्रेम बिरहा जगत, मूल सृष्टि के स्यम्भ।
हौं तीनहु के भेद कहुँ, कथा करौं आरंभ॥

प्रेमके साथ ही विरहकी भी अनुभूति क्यों होती है, इसका कारण सूफी कवि जायसीने जीवात्मा एव परमात्माकी प्रारम्भिक 'बिछुड़न' बतलाया है; किंतु यह वियोग ही क्यों अस्तित्वमें आया तथा क्यों न उन दोनोंका साहचर्य

अनन्त कालतक बना रह गया, इसका समाधान वे भी नहीं कर पाते और फलतः उनके हृदयमें अनेक भाव निरन्तर उठा करते हैं। जैसे—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे वीछुरा।
अव जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ कछु॥

अतएव सूफी साधकोंकी भक्तिका स्वरूप रागानुगा अथवा प्रेमा-भक्तिका जैसा है, जिसके प्रेमभावको भी विरहमूलक समझा जा सकता है। इस विरहके कारण वे अपनी साधनामें अधिकतर अपने प्रेम-पात्रकी सुध मात्रमें ही लीन रहा करते हैं और उसे कोई स्पष्ट आकार प्रदान न कर सकनेके कारण उन्मादनकी दशातक पहुँच जाते हैं। परन्तु वास्तवमें उनका यह उन्मादन ही उन्हें उस आत्म-विस्मृतिकी भी अवस्थातक पहुँचा देता है, जहाँ वे अन्तमें फिर एक बार 'वस्ल' या परमके साथ पुनर्मिलनका भी अनुभव कर पाते हैं।

कबीरकी भक्ति-भावना

(लेखक—श्रीराधेश्याम बंका, एम्० ए०, एल्० टी०)

महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार 'ईश्वरमें परम अनुरक्ति' को भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिके लक्षणोंको बतलाते हुए कहा है कि 'सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्‌के प्रति अर्पित कर देना तथा उसके विस्मरणमें परम व्याकुलताका होना' ही भक्तका प्रधान गुण है। वास्तवमें सच्चा भक्त वही है, जिसके सम्पूर्ण कर्मों और चेष्टाओंके आदि, मध्य और अन्तमें उसका आराध्य होता है। और यही बात कबीरके रोम-रोममें व्याप्त है। जो भी कोई वस्तु कबीरको अपनी भक्तिमें सहायक सिद्ध हुई है, उसको वे सौ जानसे स्वीकार करते हैं, सौ कण्ठसे उसके गीत गाते हैं और सौ-सौ बार उसके चरणोंपर सिर झुकाते हैं। इसके विपरीत जो भी वस्तु उनकी भक्तिमें बाधक है, उसका सौ-सौ हाथोंमें सौ-सौ डंडे लिये हुए तिरस्कार और बहिष्कार करनेमें वे थकते नहीं। सहायक वस्तु उन्हें ग्राह्य थी; इसी कारण गुरुसेवा, नामस्मरण, प्रपत्ति, अहिंसा, संत-सेवा, संतोचित सद्गुणोंका सम्पादन, एकनिष्ठ प्रेम आदिका वे भरपूर बखान करते हैं और जो-जो वस्तुएँ उनकी दृष्टिमें बाधक होनेके कारण त्याज्य थीं, उनका वे तीव्र शब्दोंमें विरोध करते हैं। उन्हें यदि कोई भी वस्तु या विचार, विधि या विधान, व्यवस्था या व्यापार प्रिय था तो वह अपने रामके नाते। उनके सम्बन्धका एकमेव आधार था उनका 'राम'।

उनका 'राम' भी अद्भुत है। तीनों लोक दाशरथि रामका बखान करते हैं परंतु उनके मन रामका मर्म कुछ और ही है, जिसको विरले ही जानते हैं। कबीरने अपनी आराधनाके लिये ऐसे आराध्यको चुना जो किसी भी प्रकारके सामाजिक और साम्प्रदायिक विरोधको उठ खड़े होनेका अवसर ही न दे। राम-भक्त और कृष्ण-भक्त, शिव-भक्त और शक्ति-भक्त परस्पर लड़ सकते हैं; परतु कबीरने अपने आराध्यके स्वरूपद्वारा झगड़ेको ही निर्मूल कर दिया। कबीरके रामके मुख नहीं है, माथा नहीं है, रूप नहीं है। वह एक ऐसा अनुपम तत्त्व है, जो पुष्पवाससे भी सूक्ष्म है—

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप।
पुहुप वास थैं पातळा, ऐसा तत्त अनूप॥

वह परब्रह्म अलौकिक ज्योतिःपुञ्ज है, उसका अनुमान कैसे लगाया जा सकता है। वह शब्दसे परे है; पर उसकी ज्योति ऐसी है, मानो सूर्योंकी एक पाँत लगी हो—

पारब्रह्म के तेजका कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्याँ ई परवान॥
कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि॥

कबीरके राम निर्गुण हैं, निराकार हैं। पर निर्गुण-निराकार होकर भी वे अद्वैतवादियोंके निर्गुण-निराकारसे भिन्न हैं। अद्वैतवादियोंका ब्रह्म केवल चिन्तनका विषय है, परंतु कबीरका ब्रह्म भावनाका विषय भी है। ब्रह्मवादियोंके ब्रह्ममें कोई उपाधि या गुण नहीं, इसी कारण वह केवल मस्तिष्ककी वस्तु है। परंतु कबीरका ब्रह्म उपाधि और गुणोंसे—चाहे हों वे सूक्ष्म ही—युक्त है; अतः वह हृदयकी वस्तु है। कबीरका ब्रह्म अद्वैतवादियोंके ब्रह्मकी तरह अनन्त है, जिसको हेरते-हेरते कबीर स्वयं 'हिरा' जाते हैं; परंतु साथ ही वह सर्वसमर्थ है, दयालु है, दीनवत्सल है। समर्थ इतना कि राईसे पर्वत और पर्वतसे राई कर दे और दयालु ऐसा कि प्रपन्नके सम्पूर्ण दोषोंका हरण कर ले। दीनोंकी पुकार सुनना उसका स्वभाव है।

साइं सूँ सब होत है, बंदे थैं कुछ नाहिं।
राई थैं परवत करै परवत राई माहिं॥

इस प्रकार कवीरका ब्रह्म सोपाधि निर्गुण ब्रह्म है। वास्तवमें कवीरके राम निर्गुण और सगुणके संधिस्थल हैं।

इस अरूप रामका कोई *नाम* भी नहीं है। नाम देना मानो उस असीमको *ससीम करना* है। परतु उस *अरूप-अनामकी* ओर सकेत करना भी आवश्यक है। अतः विवश होकर कवीर उसको उसी नामसे पुकारते हैं, जिससे पण्डितों और कर्मकाण्डियोंने, मुल्ला और मौलवियोंने पुकारा था। कवीर निश्शङ्क होकर अपने विशिष्ट 'राम' को रघुनाथ, कृष्ण, केशव, मुरारि, करीम, अल्लाह आदि नामोंसे पुकारते हैं। किंतु ये नाम वास्तवमें सकेत करते हैं उसी अरूप-अनाम तत्त्वकी ओर।

ऐसा है कवीरका राम। अपने इसी आराध्य रामके पीछे-पीछे कवीर लगे फिरते हैं। उसके लिये तड़पते हैं, मरते हैं। पर इस आराध्यका परिचय कौन दे? विना परिचय पाये उसके साथ प्रेम-प्रीत कैसे हो? तभी तो वे गुरुकी वलिहारी जाते हैं, जिसने गोविन्दको वता दिया। सद्गुरुकी महिमा अनन्त है। गुरुके द्वारा किये गये उपकारों-की गणना असम्भव है। गुरुदेवने कृपा की। अनन्त चक्षुओं-को खोल दिया। अनन्त चक्षुओंके खुलते ही उस अनन्त और असीमके दर्शन हो गये—

सतगुरु की महिमा अनॅत, अनॅत किया उपगार।
लोचन अनॅत उघाडिया, अनॅत दिखावणहार॥

कवीरके मनमें बड़ी कसक है कि गुरुके इन उपकारोंको कैसे चुकाऊँ? कवीरकी गुरु-भक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है, वे गुरु-भक्तिमें इतने विह्वल हो जाते हैं कि गोविन्दसे पहले गुरुकी ही वन्दना करते हैं, उन्हींके पॉय लगते हैं। कवीरका रोम-रोम गुरुपर निछावर है—

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाडी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार॥

कवीरका सभी कुछ अपने गुरुपर बलिहार है; परंतु गुरुने ऐसी कौन-सी वस्तु दी, जिसके कारण कवीरको गुरु-भक्तिका उन्माद-सा हो आया? वह वस्तु थी 'राम' का नाम। इसी नामके आधारपर कवीर खड़े है। नामका ही एक-सहारा है। नामके द्वारा ही उस अरूप-अनाम तत्त्वकी प्राप्ति हुई है। नाम-स्मरणका कवीरकी दृष्टिमे अत्यधिक महत्त्व है। नाम-स्मरणकी नौकासे ही भवसागरका पार मिलेगा, मायासे मुक्ति मिलेगी और मिल सकेंगे वे 'पुरबिला भरतार'। जिनकी रसनासे पुनि-पुनि रामका स्फुरण नहीं होता, वे नर इस संसारमें व्यर्थ ही उत्पन्न होते हैं और बिना काम ही नष्ट हो जाते हैं—

कवीर कहता जात है, सुणता है सब कोय।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होय॥
जिहिं घट प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि खए वेकाम॥

जो एक बार भी सच्चे हृदयसे रामका नाम लेता है, अपने आराध्यको पुकारता है, वह सदाके लिये रामका हो जाता है। रामकी शरणमें ही उसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है। वह अपने रामके शरण हो चादर तानकर सोता है। निश्चिन्तता-पर राज्य करता है। रामके द्वारपर पड़े रहना ही उसका कार्य है, भले कुत्ता बनकर रहना पड़े। कवीरको इसमें गर्व है कि वे एक कुत्तेके रूपमें, जिसका नाम मोतिया है, जिसके गलेमें रामकी जेवड़ी (रस्सी) पड़ी है, रामके द्वार-पर खड़े हैं। अपना बस कुछ नहीं। जहॉ राम खींचते हैं, वहीं चले जाते हैं—

कवीर कूता राम का मोतिया मेरा नाउँ।
राम नाम की जेवडी जित खैंचै तित जाउँ॥

जो इतना प्रपन्न है, इतना रामाश्रयी है, वह भला, उन जीवोंकी हत्या कैसे करेगा, जिसमें वही राम बस रहा हो। जगत्में जितने भी रूपधारी और नामधारी हैं, सब उसी अरूप-अनामके परिवर्तित रूप और नाम हैं। इतना जानकर भी जो जीवहत्या करते हैं, उनके इस जीवनका भविष्य और जीवनके उस पारका भविष्य पूर्णतः अन्धकारमे है। जो वकरी केवल घास-पात ही खाती है, उसकी तो खाल उधेड़ी जाती है और जो लोग वकरीको ही खा जाते हैं, उनका भविष्यमें क्या हाल होगा—स्वय सोच लें। अतः भक्त किसीकी भी हिंसा नहीं करता और ऐसा भक्त ही रामका प्रेम पा सकता है। उस भक्तका राम-प्रेम दिन-दूना, रात-चौगुना बढता रहता है। कव? जव घायलको घायल मिले। कवीर जगके कोने-कोनेमें ऐसे घायलको ढूँढ़ते फिरते हैं—

सारा सूरा बहु मिलै घायल मिलै न कोइ।
घायल ही घायल मिलै तव राम भगति दिढ होइ॥

वे यत्र-तत्र—सर्वत्र प्रेमीको ढूँढते फिरते हैं; परंतु कोई मिलता नहीं। प्रेमी मिल जाय तो जीवनका सम्पूर्ण विष स्वतः

अमृतमें परिणत हो जाय। कबीरदास ऐसे प्रेमियोंके, ऐसे राम-रसिकों तथा सच्चे संतोंके दासोंके दास हैं। वे महात्माओं-के चरणतलेकी घास हैं—

कबीर चेरा संत का दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं है रह्या ज्यूँ पाँऊँ तळि घास॥

कबीर संतकी सेवा और उनके सङ्गको जीवनका महान् पुरुषार्थ मानते हैं। संतोंके सहवाससे ही साधकमें सतोचित गुणोंका सचय होता है; सत्सङ्गद्वारा ही सम्भव है कि साधक मननपूर्वक मनको मारे, पञ्चेन्द्रियका निग्रह करे, शील-सत्य-संयमका सम्पादन करे। करनी-कथनीमें एकता हो, जगत्से विरक्ति हो। क्षणभङ्गुर जगत् तथा नाशवान् शरीरकी असारताका पद-पदपर अत्यधिक विस्तारसे दर्शन कराते हुए कबीर भौतिकतासे विमुख तथा 'राम' की ओर अभिमुख होनेका उपदेश देते हैं। वैराग्यकी भूमिपर ही 'राम-प्रेम' के भवनका निर्माण होगा। तभी प्रभुमे आसक्ति होगी।

जिस साधकमें संतोचित गुणोंके साथ-साथ वैराग्यकी स्थिति नहीं, वह कदापि रामप्रेमका भाजन नहीं हो सकता। इन गुणोकी प्राप्तिके बाद ही उस प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, जो जीवनकी अमूल्य निधि है। जो प्रेमका ढाई अक्षर पढ़ लेता है, वही परम पण्डित है। प्रेम वह, जो तन-मनमें समा जाय, जिसका नशा आठों पहर चढ़ा रहे। जो छिनमें चढ़े और छिनमें उतरे, वह प्रेम नहीं कहलाता। सच्चा प्रेम अघटरूपसे पिंजरमें वसता है। परतु जैसे एक म्यानमें दो तलवार एक साथ नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार प्रेम-रस और विषय-रस साथ-साथ नहीं चले जा सकते, दोनोंमेंसे कोई एक मिल सकता है। और यदि प्रेम-रस चाहिये तो उसका मूल्य है जीवन। प्रेमके बाजारमे राजा और प्रजाका कोई अन्तर नहीं। जो शीश देगा, वही प्रेम पायेगा।

ऐसे प्रेमीके लिये ही प्रेमका पथ प्रशस्त है और प्रेम-प्रासादके प्रवेशद्वार खुले पड़े हैं, जहाँ प्रियके साथ होगी प्रेमलीला। ऐसा भक्त ही—जिसने गुरुकी सेवा की है, नाम-का स्मरण किया है, जो रामके शरणागत है, हिंसासे दूर है, संतोंका सेवी एव सहवासी है, जिसमें संतोचित सद्गुणोंका संग्रह है, जो वैराग्यकी मूर्ति है और है जिसमें अतिशय छलछलाता प्रेम, वही उस अरूप-अनामको वरण कर सकता है। ऐसे जीवात्माका ही उस परम पुरुषके साथ हास-विलास सम्भव है।

सद्गुरुने ऐसी सद्गुणसम्पन्ना जीवात्माका परम पुरुषसे परिचय तो करा दिया, किंतु फल उल्टा हुआ। लेने-के-देने पड़ गये। सुखकी जगह दुःख मिला। प्रियका पथ देखते-देखते आँखोंमें झाँई पड़ गयी। अहर्निशि रामको पुकारते-पुकारते जीभमें छाले पड़ गये। पियके वियोगमें रोते-रोते नेत्र आरक्त हो उठे। लोग तो यही समझते हैं कि आँख दुखने-को आ गयी है; पर कौन भाँप सकेगा कि प्रेमकी आगमें आँखें तप रही हैं। वियोगिनी नित्य ही अपने भवनके द्वारपर खड़ी रहती है। प्रियतमका कोई संदेश मिल जाय, यही सतत चाह है। मार्गमें किसी भी पथिकको देखकर दौड़ पड़ती है। उसकी एक ही जिज्ञासा है—'क्या मेरे प्रियतमका सदेश लाये हो! सच-सच कहो, मेरे प्रियतम मुझे कब मिलेंगे?' वियोगने शरीरको कृश बना दिया। दुर्बलता इतनी हो गयी कि खड़े रहना भी कठिन है। दर्शनकी उत्कण्ठा लिये वह ज्यों ही खड़ी होती है, गिर पड़ती है। तब यही कहती है—'मृत्युके उपरान्त यदि दर्शन दिया, वह मेरे किस कामका।' प्रियकी राह देखते-देखते दिन निकल जाता है और रात भी चली जाती है; किंतु प्रियतमको न पाकर विरहिणी अदर-ही-अंदर विसूरा करती है, भीतर-ही-भीतर जियरा तड़फड़ाता रहता है। सारा संसार सुखपूर्वक खाता और सोता है, परतु रामके चरणोंकी दासी रामके विरहमें तड़पती हुई रोती और जागती है। विरहिणीसे आठों पहरका 'दाझणा' (जलना) नहीं सहा जाता। अतः वह या तो दर्शन माँगती है या मौत ही। वह समझ नहीं पाती किस प्रकार अपने सदेशको प्रियके पास भेजे। कभी-कभी तो वह ऐसा भी सोच जाती है कि तनको जलाकर ही मसि तैयार कर लूँ और अपनी अस्थिकी लेखनीसे पत्र लिखकर रामके पास पठा दूँ। और लिखना भी क्या है—'न तो मैं तुमतक आ पाती हूँ और न तुम ही मुझतक आते हो। तो क्या विरहमें तपा-तपाकर ही मेरे प्राण लोगे?'* कितनी

* आखड़ियाँ झाँई पड़ी पथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥
आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणै दुखड़ियाँ।
साईं अपणै कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ॥
विरहनि ऊभी पथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबरे मिलैंगे आइ॥
विरहनि ऊठै भी पड़ै, दरसन कारन रान।
मूवाँ पीछैं देहुगे, सो दरसन किहि काम॥
कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाइ।
बिरहनि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ॥

विवशता है ! परंतु पतिपरायणा प्रोषित-पतिकाकी पागल पुकार कबतक अनसुनी रहती ? प्रिय भी तो पाषाण नहीं है ! अन्तमें राम 'भरतार' के आनेपर मङ्गलाचार गाये जाते हैं और जीवात्मा पुकार उठती है—

हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया ।
राम बड़े मैं छुटक- लहुरिया ॥

भक्तिके आचार्योंने आराध्यसे स्थापित पाँच प्रकारके सम्बन्धोंकी चर्चा अधिकतर की है—दाम्पत्य-भाव, वात्सल्य-भाव, सख्यभाव, दास्यभाव और शान्तभाव । कबीरकी वाणीमें अन्य सम्बन्ध भी दृष्टिगत होते हैं, परंतु प्रबल स्वर दाम्पत्य-भावका ही है । इसके अतिरिक्त कबीर दो-तीन स्थानपर कहते हैं कि मैंने उस 'अलेख' को अपना 'दोसत' (दोस्त) बनाया है ।

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख ।
जाका महल न मुनि लहैं, सों दोसत किया अलेख ॥

वह अलेख दोस्त (मित्र) भी है, साथ ही माता-पिता भी है । सूर और तुलसीके साहित्यमें ब्रह्म पुत्रके रूपमें और साधक माता और पिताके रूपमें हमारे समक्ष आते हैं, परंतु कबीरका भाव इसके विपरीत है । यहाँ कबीर ही पुत्र है और आराध्य माता-पिताके रूपमें वर्णित है । वात्सल्य और सख्य-भावसे अधिक किंतु दाम्पत्य-भावसे न्यून महत्त्व है दास्यभावका । अनेक स्थानोंपर कबीर आराध्यको 'साईं' या 'स्वामी' और अपनेको 'सेवग' और 'दास' कहते हैं और 'चरन कँवल' में पड़े रहनेकी चाहना करते हैं । उसीमें पड़े रहनेमें इनको मौज मिलती है । तुलसीके समान कबीरमें भी मर्यादा-भाव है । यह मर्यादा-भाव कबीरके दाम्पत्य-भावमें भी झलकता है । तुलसीके समान ही कबीर भी अपने रामकी महत्ता और अपनी दीनता प्रकट करते हैं । परंतु कबीरके राम निर्गुण हैं; इस कारण कबीर निर्गुण रामकी महत्ताका उतना गुण-गान न कर सके जितना तुलसी । तुलसीके समक्ष अपने राम-

सुखिया सब ससार है, खायै अरु सोवै ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥
कै बिरहणि कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ ।
आठ पहर का दाझणाँ, मो पै सह्या न जाइ ॥
यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखणि करूँ करक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥
आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूँ न तूज्झ बुलाइ ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥

का सम्पूर्ण जीवन और उस जीवनमें पाये जानेवाले शीला-चरणके अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत थे, जिनका कबीरके सामने अभाव था । इतना होनेपर भी कबीर अपने रामके गुण गाते थकते नहीं और उन्हें पूर्ण विश्वास है कि 'राम' के सांनिध्यसे उनका सम्पूर्ण दैन्य सदाके लिये दूर हो जायगा । दास्य भावके अतिरिक्त कबीरकी शान्त-भाव-प्रधान-भक्तिकी झलक उन स्थलोंपर प्राप्त होती है, जहाँ जगत्‌की असारता और क्षणभंगुरताकी ओर स्पष्ट निर्देश करके वे 'राम' की अनन्तता तथा असीमताका वर्णन करते हैं ।

कबीरको इस बातसे कोई विरोध नहीं कि रामकी उपासना कोई पति या पिताके भावसे करे अथवा सखा या स्वामीके भावसे करे; अवश्य ही भक्ति निष्काम हो, एकनिष्ठ हो । इस भक्तिके लिये जितनी भी बाधक वस्तुएँ हैं—क्या वैयक्तिक जीवनमें और क्या सामाजिक जीवनमें—कबीरने उन सभीका खण्डन किया है और सभीसे वे सावधान भी रहे हैं । वैयक्तिक जीवनमें काञ्चन-कामिनी-कीर्तिका त्याग आवश्यक है । जो इनसे दूर नहीं रहते, उनका नाश उसी प्रकार निश्चित है, जैसे रूईमें लपेटी आगसे रूई नष्ट हो जाती है । काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सरका दमन करना ही पड़ेगा । इन्द्रिय-निग्रहके अभावमें साधकको सफलता मिलनी असम्भव है । बाह्य आचारों और आडम्बरोंके बवंडरसे दूर रहकर ही परम तत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है ।

सामाजिक क्षेत्रमें कबीर उन सभी दोषोंको साफ-साफ कहते हैं, जिनके कारण भक्तिके वास्तविक तत्त्वपर आवरण पड़ गया है । यहीं हमें कबीरकी भक्तिका लोकसंग्रही स्वरूप दिखायी पड़ता है । समाजकी गंदगीको दूर करना कबीरने अपनी भक्तिका एक आवश्यक अङ्ग समझा था । हिंदू और मुसल्मान अपने राम और खुदाको लेकर लड़ते रहते हैं, इसके लिये दोनों जातियोंको कबीरकी फटकार सुननी पड़ी थी । उन्होंने ब्राह्मणोंसे साफ-साफ पूछा—

एक बूँद एकै मल मूतर एक चर्म एक गूदा ।
एक ज्योति थैं सब उतपन्ना को बाम्हन को सूदा ॥

कबीरकी फटकार तीखी और खरी होती थी । उन्होंने सभी प्रकारके बाह्याचारोंका बुरी तरह खण्डन किया है; क्योंकि लोग मूल भावनाको भूलकर बाह्य रूपको ही मूल मानते चले जा रहे थे और फलस्वरूप भक्तिका तत्त्व ढकता चला जा रहा था ।

कबीरकी भक्ति-भावना सहज पथकी थी । कबीरको बाहरी प्रदर्शन तथा ढोंग प्रिय न थे ।

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ ॥

जीवन और जगत्में एक परम तत्त्व व्याप्त है । उसीकी आराधना सहज ढंगसे करनी चाहिये । किसी बहुत बड़ी साधना या दिखावेकी जरूरत नहीं । अपनेमें सद्गुणोंका सम्पादन करते हुए शील-सदाचारपूर्वक भक्ति करनी चाहिये । कबीरकी सहज भावकी भक्तिमें हठयोगका भी वर्णन मिलता है । कबीर हठयोगकी कठिनतासे परिचित थे, अतः हठयोग-का उपदेश उन्होंने नहीं किया । कबीर तनको साधनोचित बनानेके लिये तथा मनको अपने 'राम' में लगानेके लिये कुछ दूरीतक हठयोगकी साधनाको स्वीकार करते हैं, परंतु प्रधानता सदा ही भक्तिको देते हैं, जो सभीके लिये सदा सुलभ है ।

कबीरकी भक्तिके आदर्श हैं 'सती' और 'शूर' । तुलसी-का आदर्श चातक है । उस चातक-जैसे भक्तको एकमात्र भरोसा और बल, आशा और विश्वास अपने मेघसम श्याम रामका है; परतु कबीरको स्फूर्ति और प्रेरणा 'सती' और 'सूर' (शूर) ही देते हैं—

सति सूरा तन साहि करि तन मन कीया घाँण ।
दिया महौला पीव कूँ तब मड़हट करै बखाँण ॥

'सती और शूरवीरने शरीरको सजाकर तन-मनकी घानी पिरवा दी, अपना अह प्रियको अर्पित कर दिया । तब कहीं मरघट उनकी प्रशसा करता है ।'

आत्म-त्याग ही महत्त्व-पूर्ण है । जैसे सती—जो पूर्णतः पतिरत है, एकनिष्ठ है, भूलकर भी अन्य पुरुषका विचार नहीं लाती, और शूर—जो समरभूमिमें चोट-पर-चोट खानेपर भी रण-क्षेत्रसे मुख नहीं मोडता, पीठ नहीं दिखाता, इसी प्रकार कबीरकी दृष्टिमें भक्त अनेक बाधाओं और विपदाओंसे युद्ध करते हुए शूरके समान प्रेमक्षेत्रमे आगे ही बढते जाते हैं तथा प्रियके प्रति उनकी निष्ठा, उनका प्रेम वैसा ही होता है जैसा कि सतीका ।

कबीर नखसे शिखातक भक्त हैं । उनकी वाणीमें हठयोगकी पुट अवश्य है, किंतु फिर भी प्रेम ही उनकी जीवन-साधनाका मूल स्वर है । शान्त और दास्य, सख्य तथा वात्सल्य भावोंकी अनुभूति उन्होंने अवश्य की है; परंतु उनके हृदयके आनन्दकी सहज और गहरी अनुभूति दाम्पत्य-भावमे मिलती है । अगम्य और अलक्ष्य तत्त्वको स्वरूपतः अगम्य और अलक्ष्य स्वीकार करके भी प्रियसे मिलनकी उनकी उत्कट अभिलाषाने अगम्य तथा अलक्ष्यको भी प्रेमके लिये गम्य तथा प्रेमका लक्ष्य बना दिया है । सती और शूर उस अलक्ष्य-पर मर मिटनेका पाठ पढाते हैं । जगत्की नश्वरता उनकी भक्ति-भावनाको अधिकाधिक प्रगाढ बनाती है, परतु भक्त कबीर भक्तिके सागरमें आशिख डूबकर भी बाहर देख रहे हैं । व्यक्तिगत जीवनकी अनीतियों तथा समाजकी कुरीतियोंपर भी उनकी एक वक्र दृष्टि है । जीवनकी दुर्बलताओं तथा समाजके दोषोंसे व्यक्ति और समाज दोनोंको सावधान करते हुए तथा राहके काँटोंको हटाते हुए मंजिलपर पहुँचाकर सभीको प्रेमकी वही, वैसी ही आनन्दानुभूति कराना चाहते हैं, जिसमें वे स्वय निमग्न हैं । यही कबीरके भक्त-हृदयकी विशेषता है ।

इन्द्रियोंका सच्चा लाभ

महाराज परीक्षित् कहते हैं—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८० । ३)

'जिस वाणीसे मनुष्य भगवान्के गुणोंका गान करता है, वही सची वाणी है । वे ही हाथ सच्चे हाथ हैं, जो भगवान्की सेवाका काम करते हैं । वही मन सच्चा मन है, जो चराचर प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्का स्मरण करता है; और वे ही कान वास्तवमें कान कहने योग्य हैं, जो भगवान्की पुण्यमयी कथाओंका श्रवण करते हैं ।'

निर्गुणवादी संतोंका भक्ति-रसास्वादन

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

परमात्माकी अनन्य भक्ति प्रत्येक प्राणीकी सहज माँग है, इसके बिना जीवन किसी भी स्थिति अथवा गतिमें सफल और सार्थक नहीं कहा जा सकता। भगवान्‌की भक्ति वेदोंका परम तत्त्व है। निर्गुणवादी संतोंकी भगवत्-साधनाकी आधार-शिला भक्ति है। संतोंने अपने जीवनको वेदसम्मत भगवद्भक्तिके रंगमें रँगनेका ही निरन्तर प्रयास किया है। महात्मा चरणदासने भक्तिके मूलस्रोतके वर्णनमें कहा है—

चार बेद किए ब्यास ने अरथ बिचार बिचार।
तामें निकसी भक्ति ही, राम नाम ततसार॥

भक्तिका मार्ग निस्सदेह बड़ा ही सूक्ष्म है। अत्यन्त निष्काम भावसे ही उसपर चलनेकी योग्यता मिलती है। परमात्माके चरणदेशमें सर्वस्व समर्पित कर देनेपर ही उनकी भक्तिका दरवाजा खुलता है। संत कबीरने भक्ति-मार्गके सम्बन्धमें जो मत प्रस्तुत किया है, उसका दिग्दर्शन उनके निम्नाङ्कित पदमें मिलता है—

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौलीना रे॥
साधन के रसधार में, रहै निस-दिन भीना रे।
राग में स्रुत ऐसे बसै, जैसे जल मीना रे॥
साँई सेवन में देत सिर, कछु बिलम न कीना रे।
कहै 'कबीर' मत भक्ति का, परगट कर दीना रे॥

निर्गुणवादी संत-परम्परामें कबीरद्वारा निर्दिष्ट भक्ति-मार्गकी मान्यता भक्तमालके प्रणेता परम भागवत नाभादासने स्वीकार की है। भक्तमाल इसका साक्षी है। कबीरके सम्बन्धमें नाभादासकी वाणी है—

भक्ति बिमुख जो धरम सोइ अधरम करि गायो।

संत पीपाने भी अपनी वाणीमें कबीरद्वारा प्रतिपादित भक्तिकी प्रशंसा की है तथा आभार प्रकट किया है। पीपाजीकी उक्ति है—

भगति प्रताप राखबे कारन निज जन आप पठाया।
नाम कबीर साँच परकास्या तहँ पीपै कछु पाया॥

कबीरद्वारा प्रतिपादित भक्ति-पथका अवलम्बन करनेवाले संतोंने अपने जीवनमें विशेषरूपसे निर्गुण परमात्माके ही भजनका अनुभव उतारा और उनमेंसे अधिकांशकी दृष्टि निर्गुण तथा सगुणके चिन्तनके समन्वयकी ओर रही। उन्होंने सहजतत्त्वकी अनुभूति की। मध्यका[illegible] विद्वान् संत सुन्दरदासने सहज निरञ्जनकी [illegible] दी। उन्होंने कहा—

'सुंदर' और कछू नहीं एक बिना भगवंत।
तासों पतिव्रत राखिये टेरि कहैं सब संत॥

संतमतमें निर्गुण-सगुण-तत्त्वमें भेदभावके लिये स्थान नहीं है। अपनी-अपनी दृष्टिसे संतोंने भगवत्तत्त्वको समझनेका यत्न किया है। संतशिरोमणि तुलसीदासने निर्गुणरूपको अतिसुलभ बताया और कहा कि सगुणको कोई नहीं जानता। सूरदासने कहा कि मैंने निर्गुणको अगम मानकर सगुण-लीलाका गान किया। सूरदासकी उक्ति है—

सब बिधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै।

तुलसी और सूर-जैसे सगुण-उपासक संतोंकी ही तरह निर्गुण-उपासक संतोंने अपनी अनुभूतिके प्रकाशमें सगुण-निर्गुण भगवत्तत्त्वका समन्वयात्मक विवेचन किया है। महात्मा चरणदासने अपने भक्ति-पदार्थ-वर्णन ग्रन्थमें संकेत किया है—

वहि निरगुण सरगुण वही, वही दोय से न्यार।
जो था सो जाना नहीं, सोचा वारंवार॥

यह स्पष्ट है कि संतोंने निर्गुण, सगुण, निर्गुण-सगुण और निर्गुण-सगुणसे भी परे भगवत्तत्त्वकी भक्तिका अपने जीवनमें समावेश किया। उनकी पवित्र वाणीमें निर्गुण-सगुण भगवत्तत्त्व, गुरुतत्त्व और संततत्त्वका समीचीन विवेचन मिलता है। निर्गुण रामके भजनके सम्बन्धमें कबीरकी सीख है—

निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई।
अबिगत की गति लखी न जाई॥
चारि बेद जाके सुमृत पुराना।
नौ ब्याकरना मरम न जाना॥
× × ×
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं, निज जन बैठे हरि की छाहीं॥

जिस प्रकार संत कबीरने शुद्ध निर्गुण ब्रह्मके भजनपर जोर दिया, उसी प्रकार संत नामदेवने शुद्ध सगुण ब्रह्मके निर्गुण निर्मल रूपका अनुभव किया। उनकी प्रगाढ रति थी निर्गुणात्मक सगुण ब्रह्ममें। नामदेवका वचन है—

दसरथ राय नंद राजा मेरा रामचद
प्रणवै 'नामा' तत्त्वरस अमृत पीजै ॥

संत कवीर और नामदेवके निर्गुण-सगुणभावका सहज समन्वयात्मक निरूपण सहजोबाईकी वाणीमें देखा जा सकता है। उन्होंने सगुण नन्दनन्दनके रङ्गमय सरस लीलामञ्चपर निर्गुण परमात्माकी मधुर छवि प्रदर्शित की। सहजोबाईकी उक्ति है—

निर्गुन सर्गुन एक प्रभु देख्यौ समझ विचार।
सतगुरु ने आँखी दई, निस्चै कियो निहार ॥

इस निश्चयके अनुरूप ही सहजोबाईने निर्गुण परमात्माका सरस लीला-विहार देखा। सहजोबाईके नयनोंने दर्शन किया—

मुकुट लटक अटकी मन माहीं।
निरतत नटवर मदन मनोहर,
कुंडल झलक अलक बिथुराई ॥
नाक बुलाक हलत मुकताहल,
होठ मटक गति भौंह चलाई।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर,
बाँह उठाइ करत चतुराई ॥
झुनक झुनक नूपुर झनकारत,
तता थेइ थेई रास रिझाई।
चरनदास सहजो हिय अंतर
भवन करौ जित रहौ सदाई ॥

भक्तिके क्षेत्रमें मध्यकालीन निर्गुणवादी संतोंने आदर्श गुरुनिष्ठा निबाही है। कवीर तथा उनके उत्तरवर्ती प्रायः सभी संतोंने गुरुमें परम तत्त्वका दर्शन ही नहीं किया, गुरुको परमेश्वरसे भी महत्तर स्वीकार किया है। गुरुने हरिका स्वरूप समझाया—इसीलिये वे भी परम उपास्य स्वीकार किये गये निर्गुण भक्ति-क्षेत्रमें। गुरुमत अगम और अगाध बतलाया गया। सहजोबाईने घोषणा की है—

परमेसर सूँ गुरु बडे, गावत बेद पुरान।
सहजो हरि के मुक्ति है, गुरु के घर भगवान ॥

हरि-भक्ति और गुरुनिष्ठाकी ही तरह निर्गुणोपासनामें संत-सेवाको भी विशेष मान्यता प्राप्त है। संतजन सदा निरन्तर अमृतरूपी राम-रस पीते रहते हैं। हरि और संत दोनों एक हैं; उनमें तनिक भी अन्तर नहीं है। संतोंके सङ्गसे नीच परमपद पाता है। उनकी सेवा-पूजा साक्षात् भगवान्की ही सेवा-पूजा है। संत रैदासका कथन है—

आज दिवस लेऊँ बलिहारा। मेरे घर आया राम का प्यारा ॥

× × ×

कहै 'रैदास' मिलै निज दासा। जनम जनम के काटै पासा ॥

निस्संदेह हरि-रस परम मादक है। इसको पीनेके पहले परमात्माके चरणदेशमें सिर चढ़ा देना पड़ता है। इसीलिये इस रसका पान सब नहीं कर पाते। यह महारस है—भक्तिरस। कबीरजीके शब्द हैं—

कहै 'कबीर' महारस महँगा कोई पीवैगा पीवणहार।

भक्ति-रसकी प्राप्ति संतोंके सङ्गमें ही हो पाती है। संतजन सदा हरि-भक्ति ही चाहते हैं। मुक्ति, चारों पदार्थ, ऋद्धि-सिद्धि, चमत्कार, स्वर्ग-अपवर्गसे उनकी प्यास शान्त ही नहीं होती। भक्ति-रसके परम पारखी महात्मा पलटू-साहबकी निष्पक्ष स्वीकृति है—

एक भक्ति मैं जानौं, और झूठ सब बात।

भक्ति-मार्ग तलवारकी धार है, इसपर चलना अत्यन्त कठिन है। निर्गुणवादी संतोंने भी भक्तिके नौ रूप स्वीकार किये हैं। संत-मत-प्रतिपादित नवधा भक्तिसे हृदयमें विशुद्ध भगवत्प्रेमका उदय होता है। यह भक्ति योग-ज्ञान-वैराग्यका मूल है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सबका निवास है। महात्मा चरणदासने अपने 'भक्ति-पदार्थ-वर्णन' ग्रन्थमें नवधा-क्रमके विश्लेषणमें कहा है कि श्रवण, चिन्तन, कीर्तन, सुमिरण, वन्दन, ध्यान, दास्य, सेवन और अर्पणमें चित्तको अनुरक्तकर निर्वाण-पथकी ओर बढ़ना चाहिये। चरणदासका कथन है—

नवों अंग के साधते, उपजै प्रेम अनूप।
'रनजीता' यों जानिये, सब धर्मन का भूप ॥

संतोंने निष्काम भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है। तन-मन-धन—सर्वस्व समर्पितकर भगवान्के चरण-चिन्तनमें लगे रहनेकी ही उन्होंने सीख दी है। संत दादूने बड़ी निर्भीकतासे कहा है—

फलकारन सेवा करइ, जाँचइ त्रिभुवन राव।
'दादू' सो सेवक नहीं, खेलइ आपन दाव ॥

राम-रस—भक्ति-अमृतके सामने समस्त रस नीरस हो जाते हैं। इसके सेवनमें—आस्वादनमें सकाम भावना परम बाधक है; सकामता पूर्ण तृप्ति होने ही नहीं देती। निष्कामभावसे भगवन्नाममें अनुरक्त हो जानेपर भक्तिकी

सिद्धि होती है—ऐसा संतोंका अनुभव है। मन, क्रम और वचनको निर्मल करके जो प्राणी भगवान्‌का भजन करते हैं, वे धन्य हैं। सत भीखा साहबने इस विषयमें कड़ी चेतावनी दी है—

प्रीति की यह रीति बखानौ।
कितना दुख सुख परै देह पर, चरन कमल कर ध्यानौ।
हो चैतन्य बिचारि तजौ भ्रम, खाँड धूरि जनि सानौ॥
जैसे चातिक स्वाति बुंद बिन, प्रान समरपन ठानौ।
'भीखा' जेहि तन राम भजन नहिं, कालरूप तेहि जानौ॥

संतोंका यही सर्वसम्मत निर्णय दीख पड़ता है कि निर्गुण, सगुण, निर्गुण-सगुण, निर्गुण-सगुण-अतीत—किसी भी रूपमें गुरुकृपारूप परमाश्रयके सहारे तथा संतोंके सम्पर्कमें स्वस्थ होकर निष्कामभावसे भगवान्‌का भजन करना ही जीवनका परम पुण्य फल है। भगवान् और भक्त—दोनोंकी ही प्रसन्नतासे भक्तिरसका आस्वादन सहज-सुलभ है।

निर्बलके बल भगवान्

(रचयिता—श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ)

सारी शुभाशाओंसे ही होनेको निराश आशु
दुर्वासा-शाप सकल विश्वमें विख्यात है,
कृत्याकी करालताको रोके कौन वीर व्यक्ति?
निगलनेको दौड़ी दिखाती तीक्ष्ण दाँत है;
भक्ति-माँकी गोदीमें सुरक्षित श्रीअम्बरीष
देखते तमाशा, कोई भयकी न बात है,
निर्बलके बल हैं भगवान्,—भक्तद्रोहीपर
होता अविलम्ब वहाँ चक्रि-चक्राघात है॥ १॥

बन बैठा घातक पिता ही प्रह्लादजीका
वञ्चित हुए वे हाय! सहज पितृ-स्नेहसे,
गिरिसे गिराये गये, आगमें जलाये गये
शस्त्र-विष-हस्तीसे गये न प्राण देहसे;
भक्ति-सुधा-सागरमें डूबे कुमार अमर
जीते-जी ही जगमें वे हो गये विदेह-से,
प्रबल प्रताप दुःख-ताप अङ्ग छूता कैसे?
रस बरसाते घनश्याम स्वयं मेह-से॥ २॥

ध्रुव है बनाया जाता अध्रुव स्वपदमें ही
पिता भी विमाता-तुल्य देते हैं दुतकार,
जानता न कुछ भी अजान ज्ञान-शून्य शिशु,
तो भी असह्य होता अपनोंका असत्कार;
'निर्बलके बल हैं भगवान्'—ध्यान ऐसा किये
धीर चला जाता है सुकुमार सो कुमार,
भक्तिसे ही भुक्ति-मुक्ति पाता है अभीष्ट सब,
बोल उठता है 'धन्य!' धन्य!' सारा संसार॥ ३॥

राज्यकी न कामना थी, राजनीति कहनेसे
भाई सहोदरने राज्यसे दिया निकाल,
शत्रु-शिविरमें तो प्रवेश प्राण-संशय था,
वहाँके लिये थे विभीषण विषैला व्याल;
भक्तिकी असीम शक्तिसे ही वहाँ होते प्राप्त,
पाते तुरंत दीनबन्धुकी दया विशाल!
राक्षसकुल-सम्भव भी रावणके भ्राता वे
भक्तिकी कृपासे तत्काल होते हैं निहाल॥ ४॥

दुर्बुद्धि दुष्ट-दुराचारी दुःशासन अधम
नारीपर सारी शक्ति सहसा दिखाने लगा!
वीर बली स्वामियोंका आया बल काम नहीं,
धर्मव्रत-बल भी न जाने कहाँ जाने लगा!
आज लाज गयी यहाँ! कौन हो सहाय? हाय!
वृद्धोंका समाज बोलनेमें सकुचाने लगा!
निर्बलके बल हैं भगवान्, द्रौपदीके लिये
भक्ति-माँका अञ्चल प्रत्यक्ष फहराने लगा॥ ५॥

विदुर-पत्नीका अलौकिक प्रेम

भीष्मका ध्यान करते हुए भगवान्

२६— 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' (गीता ४ । ११)

उर्दू-काव्यमें भक्ति-दर्शन

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

भारतमें शताब्दियोंतक मुस्लिम शासन रहनेके कारण उर्दू-भाषाका प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। उर्दू-शायरीका बाजार गर्म होने लगा और फलतः अनेक शायर उत्पन्न हुए। किंतु उनकी शायरी इश्क, आशिक और माशूककी चर्चासे ही भरी रही। इसलिये उर्दूकी कविताने समाजमें इतना भयानक विष फैलाया, जिससे सर्वसाधारणकी तो बात ही क्या कही जाय, मुस्लिम बादशाहोंतककी महान् क्षति हुई। अवश्य ही उर्दू भाषा निखरी, बनी, सँवरी और भावाभिव्यक्तिकी उसमें अपूर्व क्षमता आ गयी। उर्दू-कवियोंका एक-एक चुना हुआ शब्द हृदयमें तीरकी भाँति चुभता और प्रभावित करता है। उनकी इसी शैलीमें कुछ शायरोंके धार्मिक विचार भी दृष्टिगत होते हैं। वे संसारकी नश्वरता, भगवत्कृपा एवं भगवत्प्रेममें दृढ विश्वास रखते हैं। वे भगवत्प्राप्तिमें जीवनकी सफलता एवं उसके अभावमें जीवनकी असफलता ही नहीं मानते, अपितु जिंदगीको धिक्कारते भी हैं। वे भगवान्‌की भक्तिके लिये सब कुछ स्वाहा करनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टिमें भगवान्‌का निवास मानते हैं। उन्हें नीलाकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एव अग्नि, वायु, जल—सबसे खुदाका नूर झरता दीखता है। और इसी कारण सृष्टिके प्रत्येक प्राणीके प्रति वे दया, प्रेम एव प्राणार्पणकी भावना रखते हैं। यह सच है कि इस्लामका प्रचार तलवारके बलपर हुआ है, इसके लिये अनेक अकथनीय जुल्म एवं अत्याचार किये गये हैं; किंतु वे विचारवान् उर्दू शायर इस अनैतिक क्रूरताके सर्वथा विपरीत विचार व्यक्त करते हैं। वे मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरजामें ही नहीं, पृथ्वीके कण-कणमें अल्लाहकी भुवनमोहिनी मूर्तिके दर्शन करते हैं। यद्यपि इस प्रकारके शायरोंकी सख्या बहुत कम है, फिर भी उन थोड़े-से आदरणीय शायरोंके इन विचारोंने अत्यन्त व्यापक प्रभाव डाल रखा है। उनके इन विचारोंसे भगवान्‌की सर्वव्यापकता एवं मजहबका शुद्धरूप सामने आता है तथा धर्मान्ध समुदायकी असह्य एव अक्षम्य कुप्रवृत्तियों तथा कदाचरणपर नियन्त्रण होता है। वे विचार समाजमें व्याप्त मजहबी विषको तो दूर करते ही हैं, विश्वमें प्रेम एवं सद्भावनाकी दृढ़ आधारशिला स्थापित करते हुए विश्व-नियन्ताकी उपासनाका सच्चा मार्ग-दर्शन कराते हैं।

विश्व-विमोहन प्रभुकी सृष्टि कम मोहक नहीं है। यह भी अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होती है। यहाँ ऐसा जी लगता है कि यहाँसे जानेका मन नहीं करता; पर जिन्हें अल्लाहकी तलब है, या जो अल्लाहके मार्गपर चल चुके हैं, उन्हें यह संसार असार प्रतीत होने लगता है। देखिये, 'जौक' स्पष्ट कहते हैं—

कह रहा है आसमाँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं।
पीस दूगा एक गर्दिशमें जहाँ कुछ भी नहीं॥

'आसमान कहता है कि दुनियाकी ये बहारें और खूबसूरत नज्जारे कुछ भी नहीं हैं। मैं तो इन्हें एक ही चक्करमें पीस दूँगा।'

और 'दबीर' का कहना है कि ससार सर्वथा नश्वर है। यहाँ कोई ऐसा घर नहीं रहा, जो बसा हो और वीरान न बन गया हो। यहाँ कोई ऐसा पुष्प नहीं, जो खिलकर मुरझा न गया हो, मिट्टीमें न मिल गया हो—

घर कौन-सा बसा कि जो वीराँ न हो गया।
गुल कौन-सा हँसा कि परेशाँ न हो गया॥

यही घोषणा 'इकबाल' भी करते हैं—

जिनके हगामोंसे थे आबाद वीराने कभी।
शहर उनके मिट गये, आबादियाँ बन हो गईं॥

'जिनके शौर्यसे जंगल भी कोलाहलमय बना था, आज उनके शहर ध्वस हो चुके हैं और आबादियाँ मिट गयी हैं।'

इसी कारण 'गालिब' दुनियाको सावधान करते हुए कहते हैं—

हाँ, खाइयो मत फरेबे हस्ती,
हरचंद कहै कि है, नहीं है।

'मैं साफ बता देता हूँ, इस जीवनके धोखेमें मत आना। कोई कितना भी कहे कि है, पर विश्वास रखो, यह नहीं है।'

'जौक' तो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि तुम्हें तनिक भी होश है तो इस ससारसे जितना जल्दी भाग सको, दूर भाग जाओ। इस मदिरालयमें होशियारका काम नहीं है—

ऐ जौक! गर है होश तो दुनियासे दूर भाग।
इस मयकदेमें काम नहीं होशियारका॥

'मीर' साहब तो मनुष्यको विचार करनेके लिये कहते

हैं। वे कहते हैं 'जरा अपनी आँख खोलकर उस क्षणपर तो दृष्टि डालो, जब तुम्हें यह पता चलेगा कि यह दुनिया भी स्वप्न थी। फिर तुम्हें कितना खेद एवं पश्चात्ताप होगा।'

टुक देख आँख खोलके उस दमकी हसरतें।
जिस दम य सूझेगी कि य आलम भी ख्वाब था॥

'ज़ौक' तो कहते हैं कि दुनियाकी सरायमें तू बैठा हुआ मुसाफिर है और यह भी जानता है कि अन्ततः तुझे यहाँसे जाना ही होगा, (ऐसी स्थितिमें सजग क्यों नहीं हो जाता?)—

दुनिया है सरा इसमें तू बैठा मुसाफिर है।
औ जानता है याँ से जाना तुझे आखिर है॥

'बेदार' की घोषणा एवं उपदेश उन्हींके मुँहसे सुनिये—

इस हस्तिये मौहूम[1] पै ग़फलतमें न खो उम्र।
'बेदार!' हो आगाह, भरोसा नहीं दमका॥

'इस क्षणिक जीवनकी दुर्लभ आयु गफलतमें मत खो। चेत जा। इस दमका भरोसा नहीं।'

'हाली' साहब अत्यन्त व्यथित मनसे मृत्युके आक्रमणके सम्बन्धमें कहते हैं, यहाँ मृत्यु-पाशसे मुक्तिका कोई मार्ग नहीं। मुझ असहाय पक्षीके लिये कहीं गिद्ध मुँह बाये हैं तो कहीं बड़ा बाज ताकमें है। फिर प्राण-रक्षा कैसे हो?

है ताकमें उकाब[2] तो शहबाज़[3] घातमें।
हमलेसे या अजल[4] के नहीं एकदम फ़राग़[5]॥

क्या कहा जाय, संसारमें एक-से-एक शूरवीर, पराक्रमी एवं वैभवसम्पन्न पुरुष उत्पन्न हुए; कितने दरिद्र, अनाथ एवं असहाय भी यहाँ हुए। दोनोंको ही कालके कराल गालमें जाना पड़ा और खाकमें मिलकर दोनों बराबर हो गये। मृत्युने किसीका लिहाज़ नहीं किया—

कितने मुफ़लिस हो गये, कितने तवंगर हो गये।
खाकमें जब मिल गये, दोनों बराबर हो गये॥

—ज़ौक़

आप लौकिक सम्पत्ति संग्रह करते जायँ, सम्मान-प्रतिष्ठाके लिये अहर्निश यत्नशील रहें, गुरुताकी चोटीपर जानेका प्रयत्न करते रहें, पर इनकी सीमाका संस्पर्श आप नहीं कर पायेंगे और बीचमें मृत्यु आकर आपको दबोच लेगी—

१. क्षणिक जीवन। २. गिद्ध। ३. बड़ा बाज। ४. मृत्यु। ५. चैन। फ़ुरसत।

सेठजीको फ़िक्र थी यक यकके दस दस कीजिये।
मौत आ पहुँची कि हज़रत जान वापिस कीजिये॥

—अकबर

संसार-वाटिकामें वसन्तका आगमन था। मैं सोच रहा था यहाँ कहाँ नीड़ बनाया जाय और कहाँ नहीं कि वसन्त निकल गया। तात्पर्य यह कि देखते-ही-देखते समय तीरकी भाँति निकल जाता है और मनुष्य भगवान्‌को पानेकी दिशामें यत्न करनेका विचार ही करता रह जाता है। अन्ततः उसे पश्चात्ताप हाथ लगता है। इसके सर्वथा विपरीत विचारवान् चतुर पुरुष तत्काल भगवत्प्राप्तिके लिये सचेष्ट हो जाते हैं—

यह सोचते ही रह और बहार खत्म हुई।
कहाँ चमन[1]में नशेमन[2] बने, कहाँ न बने॥

—असर लखनवी

संसार नश्वर है, समय नदीकी तीव्र धाराकी भाँति भागता है; जितने समय रहना होता है, उसमें भी सुखकी अपेक्षा दसगुना दुःख रहता है। भला, ऐसे दुःखमय जगत्‌में मन लगाना कौन बुद्धिमान् चाहेगा—

शादी वो ग़ममें जहाँ एकसे दसका है फ़र्क़।
ईदके दिन हँसिये तो दस दिन मोहर्रम रोइए॥

—मीर

यह देखकर 'दर्द' का मन पीड़ित हो जाता है और वे कहते हैं, हम संसारमें बहुत दिनतक हँसते रहे (हमने अल्लाहके पानेका कोई काम नहीं किया), इसलिये अब तो यही जी चाहता है कि एकान्तमें कहीं बैठकर जी भर रोऊँ—

मुद्दत तलक जहान में हँसता फिरा किए।
जी में है खूब रोइये अब बैठकर कहीं॥

'ज़ौक़' तो सारे जीवनमें ही परवशताका अनुभव करते हैं। उनका कहना है मेरा कहाँ वश था? मेरी इच्छासे क्या हुआ? जिंदगी मुझे ले आयी, चले आये। मृत्यु ले चली, चले गये। मैं तो न अपनी खुशीसे आया और न अपनी खुशीसे जा ही रहा हूँ—

लाई हयात[3] आए क़ज़ा[4] ले चली चले।
अपनी खुशी न आए न अपनी खुशी चले॥

नश्वर संसारमें मृत्युको प्रतिक्षण सिरपर मँडराते देखकर हमें अभ्यास हो गया है। इस कारण हम इस चार दिनकी ज़िंदगीको कुछ समझते ही नहीं और मृत्युकी हमें कोई

१. वाटिका। २. नीड़। ३. जिंदगी। ४. मौत।

चिन्ता तथा भय नहीं रह गया है । जीवित रहनेमें कोई आनन्द नहीं । मृत्युसे तो वे डरें, जो ऐसे मिटनेवाले जीवनको अच्छा मानते हैं—

अजल[1] से वे डरें जीनेको जो अच्छा समझते हैं ।
यहाँ हम चार दिनकी ज़िंदगी को क्या समझते हैं ॥

—अकबर

इधर 'आतिश' तो ख़ुदाको उलाहना भी देते हैं । वे कहते हैं कि तुम्हारी इस महफिल (दुनिया) में कितने व्यक्ति आये, बैठे और चले भी गये । पर (मिटनेवाली दुनियाका रंग-ढंग और मौतकी भयानक छाया देखकर) मैं अपने रहनेके लिये स्थान ही ढूँढ़ता रह गया । मुझे कोई भी ऐसी अच्छी जगह नहीं मिली, जहाँ मैं इत्मीनानसे बैठ सकूँ अर्थात् सुख-शान्तिकी अनुभूति कर सकूँ—

आए भी लोग, बैठे भी, उठ भी खड़े हुए ।
मैं जा ही ढूँढ़ता तेरी महफ़िलमें रह गया ॥

'वली' साहब भी फ़रमाते हैं कि माना कि ज़िंदगी सुखके प्यालेके तुल्य है, पर यह स्थायी नहीं, फिर क्या लाभ—

ज़िंदगी जामे ऐश[2] है लेकिन । फ़ायदा क्या अगर मुदाम[3] नहीं ॥

'हसरत मोहानी' तो सबको मिट्टीमें मिलते, सबको मृत्यु-मुखमें प्रवेश करते देखकर ख़ुदासे पूछते हैं कि 'क्या तुम्हारे घर जानेका यही रास्ता है ?'

देखें जिसे हैं राहे फ़नाकी तरफ रवाँ ।
तेरी महल सराका यही रास्ता है क्या ?

इस मरणशील जगत्‌में मनुष्य-जीवन बड़े भाग्यसे मिलता है, पर मनुष्यको भी मनुष्यता प्राप्त नहीं होती । मनुष्यता प्राप्त होनी अत्यन्त कठिन है—

आदमीको भी मुयस्सर नहीं इन्साँ होना ।

—ग़ालिब

'हाली' का कहना है कि जानवर, आदमी, फ़रिश्ता और ख़ुदा—ये मनुष्यके अनेकों भेद है ।

जानवर, आदमी, फरिश्ता, ख़ुदा ।
आदमी की भी हैं सैकड़ों क़िस्में ॥

मनुष्य अपने कर्तव्योंसे मनुष्य बनता है । कुटिल एवं दुराचारी व्यक्तियोंको नर-पशु, नर-राक्षस, नराधम आदिकी संज्ञा दी जाती है । अपने पावन कर्तव्यसे वही देवपुरुष कहलाता है । 'हाली साहब' कहते हैं कि मनुष्यके हृदयमें दूसरे जीवके प्रति दया एवं प्रेम होना चाहिये । यदि थोड़ा-बहुत दर्द दूसरेके लिये मनमें न हो तो फरिश्ता फरिश्ता तो है, पर उसे 'इन्सान' नहीं कह सकते—

हो फ़रिश्ता भा तो नहीं इन्साँ ।
दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें ॥

दूसरे महानुभावका कथन है कि दूसरोंकी पीड़ाकी अनुभूति एवं उसपर अपने प्राण अर्पित करनेके लिये ही भगवान्‌ने हमें मनुष्ययोनिमें उत्पन्न किया है, अन्यथा उसकी इबादत (उपासना) करनेके लिये आसमानपर फरिश्ते कम नहीं थे—

दर्द दिलके वास्ते पैदा किया इन्सानको ।
वर्ना ताअतके लिये करेंबयाँ कुछ कम न थे ॥

—ज़ौक़

'हाली'ने तो यहाँतक कह दिया कि फरिश्तेसे इन्सान बनना अधिक अच्छा है, किंतु इसमें अधिक मिहनतकी जरूरत पड़ती है—

फ़रिश्ते से बहतर है इन्सान बनना ।
मगर इसमें पड़ती है मिहनत ज़ियादा ॥

'नसीम' ने इसका कारण बताया है । वे कहते हैं कि मनुष्य प्रेमधर्मी है । प्रेमके सामने आसमान भी झुक जाता है, पराजय स्वीकार करता है । इसी प्रेमके कारण फ़रिश्तोंने अनेक बार मनुष्यके चरणोंमें अपना सिर झुका दिया है—

इश्क़ के रुतबे के आगे आसमाँ भी पस्त है ।
सर झुकाया है फरिश्तोंने बसरके सामने ॥

पर आदमीमें दुर्बलताएँ भी होती हैं और इन्हीं दुर्बलताओंके कारण वह मनुष्यकी लिबासमें जानवरकी तरह घूमता है । पशुको क्रोध आया तो उसने तुरत सींग अड़ा दी; लेकिन मनुष्यको क्रोध आया तो वह चुप हो गया । अत्यन्त दम्भसे वह आपसे प्रेमपूर्वक मिलेगा और एकान्तमें ले जाकर आपके कलेजेमें छुरा भोंक देगा, आपका गला काट लेगा । पर यह मनुष्यका धर्म नहीं[1] । 'इन्शा' कहते हैं, मुझे हजरत इन्सानपर हँसी आती है । वे बुरे कर्म स्वयं करते हैं और शैतानपर लानत भेजते हैं—

१. मृत्यु । २. सुखका प्याला । ३. स्थायी ।

१. परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।—रामचरितमानस

क्या हँसी आती है मुझको हजरते इन्सानपर।
फेल बद तो खुद करें, लानत करें शैतानपर[1]॥

ऐसे मनुष्य भला, भगवान्‌की ओर किस प्रकार बढ़ सकेंगे। हृदयको स्वच्छकर प्रत्येक जीवके लिये मनमें करुणा एवं स्नेहकी भावना रखनी चाहिये। मनुष्यको मनुष्यके प्रति प्यार होना चाहिये। 'मीर' कहते हैं कि मनुष्य भी आपको अपने साथ बहुत दूर खींच ले गया है, अर्थात् मनुष्यके स्नेहमें भी आप रच-पच गये हैं, किंतु जरा सोचिये तो सही, कहीं इस पर्देमें भगवान् न छिपा हो[2]—

खींचा है आदमीने बहुत दूर आपको।
इस पर्देमें खयाल तो कर टुक खुदा न हो॥

सच ही तो है। पृथ्वी, आकाश, अग्नि, जल, पवन—सबमें उस करुणामय भगवान्‌की ही तो झाँकी मिलती है। जन-जनमें वही सर्वज्ञ प्रभु तो विद्यमान हैं। सर्वत्र उन्हींके तो दर्शन होते हैं। उनके सिवा निखिल सृष्टिमें और है क्या?

जगमें आके इधर उधर देखा।
तू ही आया नजर जिधर देखा॥
—दर्द

दुनियाके बगीचेका प्रत्येक पुष्प तो भगवान्‌का ही स्वरूप है। उन खिले फूलोंमें वही तो हँसता है। नहीं तो कौन उसका माली है? बगीचा ही किसका है?—

बागे आलमका हरेक गुल है खुदाकी सूरत।
बागवाँ कौन है इसका, यह चमन है किसका॥
—आतिश

फुलवारीमें इधर-उधर भटकती हुई हवा उसे ही ढूँढ़ रही है, बुलबुल उसीके तराने गाती है। प्रत्येक रंगमें उसीकी स्निग्ध किरणें हैं और जिस फूलको भी सूँघिये, उसीकी गन्ध मिलेगी—

गुलशनमें सबा[3] को जुस्तजू[4] तेरी है।
बुलबुलकी जबाँ पर गुफ्तगू तेरी है॥
हर रंगमें जलवा[5] है तेरी कुदरतका।
जिस फूलको सूँघता हूँ बू तेरी है॥
—दबीर

'बेदार' भी खुदाकी सर्वव्यापकतापर विश्वास रखते हैं। वे कहते हैं, इधर-उधर कुछ नहीं, सर्वत्र तू ही है। वह (खुदा) तो प्रत्यक्ष है, तू ही उसके प्रकाशसे असावधान है—

कुछ न एधर[1] है न उधर, तू है।
जिस तरफ कीजिये नजर तू है॥
वह तो 'बेदार' अयाँ[2] लेकिन।
उसके जलवेसे बेखबर तू है॥

'नजीर' तो खुदाकी भक्तिमें तन्मय हैं। उन्हें भी उसके सिवा कहीं कुछ नहीं दीखता। दोजख (नरक) और जन्नत (स्वर्ग)—दोनों उनके लिये बराबर हैं; क्योंकि उन दोनों जगहोंमें उनका अल्लाह ही तो रह रहा है—

जिस सिम्त नजर कर देखे हैं, उस दिलबरकी फुलवारी है।
कहिं सब्जोंकी हरियाली है, कहिं फूलोंकी गुलकारी है॥
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं, और आस उसीकी भारी है।
बस, आप हि वह दातार* है और आप हि वह भंडारी है॥
—नजीर

जब सब जगह वही है, तब फिर चिन्ता एवं विषादकी बात ही क्या है? जब वह स्वयं दाता है तो दूसरेसे क्या माँगें? दुनिया तो स्वयं दरिद्र है—

कोई दुनिया से क्या भला, माँगे। वह तो बेचारी आप नंगी है॥
—इंशा

सच तो यह है कि संसारमें कोई किसीका नहीं। कहनेके लिये कितने ही इष्ट-मित्र होते हैं, पर संकटकी स्थितिमें भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई साथी नहीं साबित होता। फिर इस झूठी मैत्रीको ठोकर मारकर भगवान्‌से क्यों न प्रेम किया जाय?—

कहने को यूँ जहाँ में हजारों हैं यार-दोस्त।
मुश्किल के वक्त एक है परवर्दिगार दोस्त॥
—अमीर मीनाई

इसी कारण 'मीर' कहते हैं—

'मीर' बंदोंसे काम कब निकला। माँगना जो है खुदासे माँग॥

वह सर्वसमर्थ है, तुम्हें प्यार करता है, तुम्हारा भला चाहता है, बिना माँगे दिया करता है; फिर उसके सिवा और किसीके सामने हाथ फैलानेसे क्या फ़ायदा? जिसका खुदाके करम (कृपा) पर विश्वास है, वह किसी मनुष्यके सामने

१. कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।
२. 'तुलसी' या जग आइ कें, सबसे मिलिये धाय।
ना जानूँ किस वेष में, नारायण मिलि जायँ॥
३. वायु। ४. खोज। ५. प्रकाश।

१. इधर। २. प्रकट।
* जान कूँ देत अजान कूँ देत सो तोकूँ हू दैहै।

हाथ क्या पसारे ? वह तो अल्लाहसे भी कुछ नहीं माँगता। वह जानता है कि मेरा मालिक तो हमें हर वक्त देता ही रहता है, हमारी ज़रूरतोंसे आगाह भी है; वह प्रभुपर कभी रोष नहीं करता। उसे उपालम्भ नहीं देता। वह उसे कृपण भी नहीं समझता। अपनेको ही अपराधी समझकर वह संतोष कर लेता है और अपने स्वामीका आभार मानता रहता है—

तेरे करम में कमी कुछ नहीं, करीम है तू।
कुसूर मेरा है, झूठा उमीदवार हूँ मैं॥

'फ़ानी' को भी ख़ुदाकी कृपालुतापर विश्वास है। वे कहते हैं, 'मैं तुम्हारी कृपासे निराश नहीं हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक-न-एक दिन तुम्हारी कृपा होगी ही, अवश्य होगी; किंतु तुम्हारी कृपामें जो विलम्ब हो रहा है, उसीका कारण जानना चाहता हूँ।' वे कहते हैं, इस विलम्बसे मेरा हश्रमें (क़यामतके दिन) क्या होगा ?

या रब ! तेरी रहमतसे मायूस[1] नहीं 'फ़ानी'।
लेकिन तेरी रहमतकी ताख़ीरको[2] क्या कहिए॥

पर 'ग़ालिब' कहते हैं कि कितनी भी आपत्तियाँ आयें, मनमें कितनी ही अशान्ति एवं व्यथा क्यों न हो, किसी प्रकार प्रकट न करे। वह सर्वज्ञ है। सब जानता ही है। उसकी कृपामें विलम्ब होनेका कोई सबब है। हमारी भलाईके लिये ही वह देर कर रहा है—

दिलमें हज़ार ग़म हों, जबीं पर शिकन न हो।

'ज़ौक़' के विचार और अच्छे हैं। वे कहते हैं कि अल्लाहने तुझे यहाँ मिहरबानी करके भेजा, उसकी मिहरबानियाँ तुझपर रात-दिन बरसती रहीं; मगर तूने उसे याद नहीं किया, उसकी इबादतसे जी चुराया। फिर तो तू कामचोर है। पारिश्रमिक कैसा चाहता है ? भगवान्‌की उपासना छोड़कर दुनियामें भटकनेवालोंको वे बहुत फटकार बताते हैं—

दिल इबादत से चुराना और जन्नत की तलब।
कामचोर ! इस कामपर किस मुँहसे उजरतकी तलब॥

—ज़ौक़

'ग़ालिब' साहब फरमाते हैं—माना कि तूने अल्लाहके लिये अपनी जान दे दी, पर क्या अहसान किया तूने ख़ुदापर ? वह जान तो उसीने तुझे दी थी। तूने उसकी चीज उसे लौटा दी। सच्ची बात तो यह है, तूने अपना हक़ अदा नहीं किया—

जान दी, दी हुई उसी की थी।
हक़ तो यह है कि हक़ अदा न हुआ॥

—ग़ालिब

इसीलिये वही दिन दिन है और वही रात रात है, जो अल्लाहकी यादमें बीतती है—

दिन वही दिन है, शब वही शब है।
जो तेरी यादमें गुज़र जाए॥*

—हसरत मोहानी

'ज़फ़र' का तो कहना है कि मनुष्य कितना भी सम्मानित एवं प्रतिष्ठित हो, उसे यदि ऐशमें ख़ुदाकी याद और तैशमें ख़ुदाका भय न हो तो उसे मनुष्य मत समझियेगा। आदमी वही, जिसे सुखमें प्रभुका विस्मरण एवं आवेशमें भगवान्‌से निर्भयता न रहे। मनुष्य वही है, जो प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌को याद रखता है—

'ज़फ़र' आदमी उसको न जानिएगा, वोह हो कैसा ही साहबे फ़हमो ज़का।
जिसे ऐशमें यादे ख़ुदा न रहा, तैशमें ख़ौफ़े ख़ुदा न रहा॥

बड़ोंका अदब, ख़ुदाका ख़ौफ़ और आँखोंमें शर्म—मनुष्यकी ये उत्तम विशेषताएँ हैं और समस्त धर्मोंने इन्हींकी ओर संकेत किया है—

बुज़ुर्गोंका अदब, अल्लाहका डर, शर्म आँखोंमें।
इन्हीं औसाफ़[1]को निस्बत मज़ाहबमें हमारा है॥

—अकबर

'मीर' साहब कहते हैं कि अल्लाह सबका है और सभी अल्लाहके हैं। उसे पानेका, उससे प्रेम करनेका सबको समान अधिकार है। इसमें छोटे-बड़ेका कोई प्रश्न नहीं। शर्त यही है कि उससे प्रेम हो, सच्चा प्रेम—

सैयद हो या चमार हो इस जा वफ़ा है शर्त।
क्या आशिक़ोंमें पूछते हैं ज़ातके तईं॥

—मीर

भगवान्‌में और हममें कोई भेद नहीं था; किंतु क्या

---

[1] निराश। [2] विलम्ब।

* कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई॥

(मानस)

तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं दैवबलं तदेव लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि॥

[1] विशेषताओं।

बतायें, हमारी कामनाओंने हमें तुमसे पृथक् कर दिया। वासनाओंकी कालिमा हममें नहीं होती तो हम स्वयं भगवान् ही थे—

सरापा आरज़ू होने ने बंदा कर दिया हमको।
वगरना हम खुदा थे गर दिले बेमुद्आ होते॥*
मीर—

'ग़ालिब' कहते हैं कि हमारी हज़ारों इच्छाएँ हैं, एक-एक इच्छा ऐसी, जिसकी पूर्तिके लिये प्राण दे दूँ। हमारी बहुत इच्छाएँ पूरी हो गयीं, फिर भी बहुत कम पूरी हो सकीं। अर्थात् अभिलाषाओंका, वासनाओंका अन्त नहीं, उनकी सीमा नहीं—

हज़ारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान, लेकिन फिर भी कम निकले॥

'ज़ौक़' का तो कहना है कि जिसने अपनी वासनाओंका दमन नहीं किया, कामनाओंको भस्म नहीं किया ! उसने कुछ भी नहीं किया। यदि किसीने पारेको मारकर उसका भस्म बना दिया, भयानक मूजीको मार डाला और भयानक शेर और अजगरको भी मार डाला तो क्या किया, यदि उसने अपनी ख्वाहिशोंपर विजय प्राप्त नहीं की तो उसकी वीरताका, उसकी शक्तिका कोई मूल्य नहीं। शूरवीर तो वही है, जिसने अपने आपको, अपने 'अहं' को मिटा दिया—

न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर हो जाता।
अगर पारेको पे अक्सीर गर मारा तो क्या मारा॥
बड़े मूज़ीको मारा नफ्से अम्मारेको गर मारा।
नहंगो, अजदहा औ शेर नर मारा तो क्या मारा॥

'ग़ालिब' साहब इसे स्पष्ट कर देते हैं। अखिल ब्रह्माण्डमें कुछ नहीं था तब परमेश्वर था; कुछ नहीं होता तो परमेश्वर ही रहता। मुझे तो मेरे होनेने ('अहं'ने) डुबो दिया, कहींका नहीं रहने दिया। यदि 'मैं' नहीं रहता तो क्या बिगड़ जाता। ईश्वरके अस्तित्वपर दृढ़ निष्ठा एवं मनुष्यके 'अहं' का इतना प्रज्वलित रूप किसके मनको प्रभावित नहीं करेगा ?

न कुछ था तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।
डुबोया मुझको होनेने, न होता मैं तो क्या होता॥
—ग़ालिब

ईश्वरके अस्तित्वका और प्रबल प्रमाण 'अकबर' देते हैं। ईश्वरके प्रति अगाध श्रद्धा एवं दृढ़ भक्ति इनकी वाणीसे फूट रही है। वे कहते हैं—'भगवान्से पृथक् हो जानेके कारण 'मैं' हो गया। यदि मैं उनसे अलग नहीं हुआ होता तो आज 'मैं' नहीं रहता। मेरे अस्तित्वका ही पता न चलता। मेरे द्वारा 'ईश्वर' का 'ईश्वरत्व' सिद्ध होता है, क्योंकि यदि ईश्वर नहीं रहता तो मैं भी नहीं रहता—

जुदाईने 'मैं' बनाया मुझको, जुदा न होता तो मैं न होता।
खुदाकी हस्ती है मुझसे साबित, खुदा न होता तो मैं न होता॥

दूसरे शायरका कहना है कि हम जिसे जीवनके बन्धनोंमें रहकर प्राप्त नहीं कर सकते थे, उस बेनिशाँ अल्लाहको अपनेको खोकर पा लिया—

न पा सकते जिसे पाबंद रहकर क़ैदे हस्तीमें।
सो हमने बेनिशाँ होकर तुझे आ बेनिशाँ पाया॥*

'अख्तर' कहते हैं—हम जहादका नारा बुलंद करते हैं, किंतु मनुष्यका खून बहाना तो जहाद नहीं है। ग़ाज़ी तो वह है, जो अपनी वासनाओंको मार डाले, जिसका मन विषयोंसे सर्वथा रहित हो जाय—

जहाद[1] उसको नहीं कहते कि होवे खून इन्साँ का।
करे जो क़त्ल अपने नफ्से[2] काफिर को वोह गाज़ी है॥

और 'नासिख' का कहना है कि हमने अपने चित्तको चारों ओरसे हटाकर एकाग्र हो हृदयकी आँखोंसे देखा तो जिस खुदाकी मुझे तलाश थी, वह चतुर्दिक् दृष्टिगोचर होने लगा—

सब तरफसे दीदए बातिन[3] का जब यकसू[4] किया।
जिसकी ख्वाहिश थी, वही हर सू नज़र आने लगा॥

सच तो यह है कि अपनेको मिटा देनेपर, अपना अस्तित्व प्रभुके अस्तित्वमें विलीन कर देनेपर ही प्रभु-मिलन होता है। अन्यथा चतुर्दिक् ढूँढ़नेसे भी वह नहीं मिलता।

---

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीट मर्कट की नाईं॥
(रामचरितमानस)

* कबिरा खड़ा बजारमें, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँकै आपना, चलै हमारे साथ॥

१. धर्मयुद्ध। २. विषय-वासनाओंको। ३. हृदयकी आँखको ४. एकाग्र।

जब वह मिलता है, तब अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। फिर 'मैं' या 'मेरा' नामकी कोई वस्तु नहीं रह जाती—

उसे हमने बहुत ढूढा न पाया।
अगर पाया तो खोज अपना न पाया॥

—ज़ौक़

'ग़ालिब' साहब तो कहते है कि जीव परमात्माको प्राप्त कर ले तो वह स्वय परमात्मा हो जाय। बूँद नदीमें मिल जाय तो वह नदी बन जाय। काम वही अच्छा होता है, जिसका परिणाम भी अच्छा हो।

क़तरा दरियामें जा मिल जाय तो दरिया हो जाय।—*
काम अच्छा है वोह जिसका मआल[1] अच्छा है॥

—ग़ालिब

'दर्द' हमें सावधान करते हैं—ऐ गाफ़िल! खुदाकी याद किसी प्रकार मत भुला। अगर भूल सकता हो तो अपने आपको भूल जा—

गाफ़िल खुदा की याद पर मत भूल ज़ोनहार।
अपने तईं भुला दे अगर तू भुला सके॥

—दर्द

प्रतिष्ठा और सुखका जीवन दुःखोंको आमन्त्रित करता है। सम्मान और प्रतिष्ठा सासारिक बन्धन दृढ़ करते हैं। 'असग़र गोंडवी' कहते हैं, मैंने दर्दभरा नग़मा (संगीत) इस अंदाज़से छेडा कि सैयाद (वधिक) की दृष्टि मुझपर स्वतः पड़ गयी—

नग़मए पुरदर्द छेडा मैंने इस अंदाज़से।
खुद बखुद पड़ने लगी मुझपर नज़र सैयाद की॥

इसके सर्वथा विपरीत, सम्मान-प्रतिष्ठासे दूर रहकर जीवन कितनी सुख-शान्तिसे बीतता है, ससारकी कठिनाइयाँ कैसे कम हो जाती हैं, 'ग़ालिब' से सुनिये। वे कहते हैं कि मैं पींजरेके एक कोनेमें पड़ा हूँ, यहाँ मुझे बड़ा सुख है। यहाँ न तो सैयाद घात लगाये है और न तीर कमानपर चढ़ा हुआ। कितनी निश्चिन्तता है! भगवद्भक्तिके पथपर चलनेवाले साधकोंके लिये यह कितना सरल एव सुगम पाथेय है—

न तीर कमाँमें है न सैयाद कमींमें।
गोशेमें क़फ़सके मुझे आराम बहुत है॥

—ग़ालिब

धन-सम्पत्ति तो मनुष्यको तबाह कर डालती है। परमार्थ-पथके पथिकके लिये इससे बड़ी बाधाओंका सामना करना पड़ता है। 'अमीर मीनाई' कहते हैं कि जमा-माल आदमी ही नहीं, हैवानको भी बर्बाद कर डालता है। देखिये, मधुमक्खियोंने शहद एकत्र किया तो उनके छत्तेमें आग लगा दी गयी*—

जमा-माल इन्साँ तो क्या, है बाँको करता है तबाह।
शहद दिलवाता है आतिश[1], ख़ानए जम्बूर[2]में॥

जगत्‌के इस स्वरूपका हालीने खूब अनुभव किया था। वे कहते हैं कि उपदेशकके हृदयमें यदि दर्द न हो तो उसके उपदेशका कोई प्रभाव पड़नेसे रहा, यह बात हमें उपदेशकको बतानी पड़ेगी। हमने अबतक बहुत ठोकरें खायीं, अब मैं दुनियाको ही ठुकरा दूँगा—

नसीहत बेअसर है, गर न हो दर्द।
यह गुर नासह[3] का बतलाना पड़ेगा॥
बहुत याँ ठोकरें खाई हैं हमने।
बस, अब दुनियाको ठुकराना पड़ेगा॥

—हाली

वे यह भी कहते हैं कि अल्लाहकी सारी दुनिया एक तरफ़ और उसकी मिहरबानी एक तरफ़। एकाकी प्रभुकी कृपाके सम्मुख निखिल सृष्टि हेय है। दयामय प्रभुकी दयाका यह उदाहरण नैष्ठिक शायरके हृदयकी घोषणा है—

सारी खुदाई एक तरफ़।
फ़ज्ले इलाही एक तरफ़॥

—हाली

खुदाके इसी दृढ विश्वासके कारण 'अमीर मीनाई' कहते हैं कि नाविक! मैं अपनी जर्जर नौकाका हाल तुम्हें क्या कहूँ, पर मेरा अल्लाह मुझे किनारेतक पहुँचा देगा—

मुझे साहिल[4] तक खुदा पहुँचायगा ऐ नाख़ुदा[5]।
अपनी किश्ती की बयाँ तुझसे तबाही क्या करूँ॥

—अमीर मीनाई

* बिंदु भो सिंधु समान, को अचरज कासों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन आपुहि आप में॥

१. अन्त।

* चलो चलो सब कोइ कहै, पहुँचै बिरला कोय।
एक कनक औ कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥

—कबीर

१. आग। २. मधुमक्खियोंके छत्ते। ३ उपदेशक। ४. तट। ५ नाविक, मल्लाह।

दूसरे महानुभावकी निर्भरता अद्भुत है। उन्हें भगवान्पर दृढ विश्वास एव पूरा भरोसा है। तभी तो वे कहते हैं कि नाविकका अहसान मेरी बला ले। मैं उसकी कृतज्ञता क्यों स्वीकार करूँ? मैं लंगर तोड़कर अपनी किश्ती खुदापर छोड़ देता हूँ—

अहसाने नाखुदाका उठाए मेरी बला।
किश्ती खुदा पै छोड दूँ, लगर को तोड दूँ॥

पर जिन्हें भगवान्पर विश्वास नहीं है, वे उन्हें ढूँढ़ना भी चाहें तो श्रम ही हाथ लगता है। श्रद्धा-विश्वासहीन व्यक्तिको उनका पता नहीं चलता—

मक्के गया, मदीने गया, करबला गया।
जैसा गया था वैसा ही चल-फिरके आ गया॥
—मीर

'वर्क़' भी कहते हैं, तुम्हारे प्रेमीने तुम्हे कहाँ-कहाँ नहीं पुकारा। उसने क़ाबेमे अज़ान दी, मन्दिरमें शङ्ख फूँका, पर तू कहीं नहीं मिला—

अज़ा दी काबेमें नाकूस[1] दैर[2]में फूका।
कहाँ-कहाँ तेरा आशिक़ तुझे पुकार आया॥
—दर्द

'सौदा' तो उस प्रियतमकी यादमे रोते ही रहते हैं। वे कहते हैं, तू मेरी आँखोंमें रहता है। फिर मुझे क्यों रुलाता है? भला, सोचो तो सही—कोई अपना भी घर नष्ट करता है?

मेरी आँखोंमें रहता है, मुझको क्यों रुलाता है?
समझकर देख लो, अपना भी कोई घर डुबाता है॥
—सौदा

कहते हैं, रुदनसे तू शीघ्र प्रभावित होता है। तेरा दिल आँसूसे पिघल जाता है। पर पता नहीं वह रोना कैसा होता है और उन आँसुओंमें क्या विशेषता होती है। अगर हमारे रोनेका तुझपर तनिक भी प्रभाव पड़ता तो हमारे अश्रु मूल्यवान् मोती बन जाते। जिनका खत तुझतक पहुँचता है, काश, मैं उनका भी पत्रवाहक बन जाता। (तेरे भक्तका भी भक्त हो जाता, तो तेरी कृपामयी दृष्टि मुझपर पड़ जाती।)—

अपने रोनेसे अगर असर होता।
क़त्रए अश्क[3] भी गुहँर[4] होता॥
जिनके नामे पहुँचते हैं तुझतक।
काश, मैं उनका नामावर होता॥
—सोज

१. शङ्ख। २. मन्दिर। ३. आंसू। ४. मोती।

'ग़ालिब' कहते हैं, हमारे-जैसे प्रेम-बंदियोंकी आज तुझे परवा क्यों नहीं है? कलतक तो तेरा हृदय कृपा और स्नेहसे परिपूर्ण था—

आज क्यों परवा नहीं अपने असीरोंकी तुझे।
कल तलक तेरा ही दिल महरो वफ़ा[1] का बाब था॥

यदि तुम्हारा मिलना कठिन होता तो एक बात भी थी, कठिन समझकर निश्चिन्त बैठ जाते। सोचते, मेरे वशकी बात नहीं है। पर कठिनाई तो यह है कि तेरा मिलना कठिन नहीं, आसान है—

मिलना तेरा अगर नहीं आसाँ तो सहल है।
दुश्वार तो यही है कि दुश्वार नहीं॥
—ग़ालिब

प्रियकी प्रतीक्षामें अनुपम सुख होता है। भक्त भगवान्की प्रतीक्षामें भी उनसे मिला ही रहता है। उनके वियोगमें आकुल होकर उनके मिलनकी प्रतीक्षामें वह अद्भुत आनन्दका अनुभव करता है। फिर उन्हें विदित हो जाय कि भगवान्ने मेरी प्रार्थना सुन ली है, तब उनकी क्या दशा हो? अल्लाहके बदे 'हसरत मोहानी'के भाव देखिये—

कहीं वह आके मिटा दें न इन्तजारका लुत्फ़।
कहीं क़बूल न हो जाय इलतजा मेरी॥

'अमीर मीनाई' को अपनी भक्तिपर गर्व है। वे डॉट-कर पूछते हैं—यदि तुम्हे दर्शन नहीं देना है तो स्पष्ट बता दो, मुझे व्यर्थ मन्दिर-मस्जिदमे क्यों दौड़ाते हो?

साफ़ कह दो, नहीं दीदार[2] दिखाना है अगर।
काबा-ओ-दैरमें दौड़ाते हो क्यों तुम मुझको॥

एक भक्त तो सर्वथा निराश-से हो गये हैं। उनकी व्यथा वे ही प्रकट करते हैं। वे कहते हैं, मैं मानता हूँ कि क़यामतके दिन अपराधियोंको उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होगा; किंतु वहाँ भी बड़े-बड़े अपराधी बुलाये जायँगे। मेरी पूछ कहाँ होगी, जो उनके विश्व-विमोहक सौन्दर्यको देख सकूँ—

ऊँचे-ऊँचे मुजरिमोंकी पूछ होगी हश्रमें।
कौन पूछेगा मुझे? मैं किन गुनहगारोंमें हूँ?
(अज्ञात)

दूसरे भक्तकी बात सुनिये। उन्हे उनके प्रियतम प्रभुने खाकमें मिला दिया, पर वे इसमे भी सतुष्ट हैं।

१. कृपा एव प्रेम। २. दर्शन।

उन्हे तनिक भी नाराज़ी नहीं । वे कहते हैं, तुमने खाकमें मिला दिया, बड़ा अच्छा किया । चलो, इस प्रकार तुम्हारे दिलका गुबार तो निकल गया । हृदय तो साफ हो गया—

निकला गबार[1] दिलसे, सफाई तो हो गई ।
अच्छा हुआ जो खाकमें तुमने मिला दिया ॥
—चक्र

मुस्लिम शायरोंमें कितने ही नाम-प्रेमी थे । उनके जीवनका आधार प्रभुका नाम ही था । नामकी अद्भुत महिमा एवं प्रभावसे खूब परिचित थे वे । तभी तो 'अकबर' कहते हैं, खुदाका नाम स्वयं प्रकाशित है; उसका नाम अत्यन्त प्रिय है । उसके नामसे हृदयको शक्ति एवं जिह्वाको सहारा मिलता है—

खुदाका नाम रौशन है, खुदाका नाम प्यारा है ।
दिलोंको इससे कुव्वत है, जबानोंको सहारा है ॥

'ज़ौक' कहते हैं भगवान्‌के सभी नाम महान् हैं । उसके हर नाममें उसकी शक्ति निहित है, किसी विशेष नाममें नहीं—

'ज़ौक' इसमे[1] इलाही है सब इसमे आज़म[2] ।
उसके हर नाममें कुव्वत है न इक नाममें खास ॥

'वासित बिस्वानी' कहते हैं कि राम और रहीम एक ही हैं । धर्म और ईमान दो वस्तुएँ नहीं । मन्दिर और मस्जिद पृथक् नहीं, दोनों ही परमेश्वरके स्थान हैं । तू दोनोंसे लाभ उठा । दुनियामें पराया कोई नहीं, सभी अपने हैं—

राम समझ, रहमान समझ ले, धर्म समझ, ईमान समझ ले ।
मस्जिद कैसी, मंदिर कैसा, ईस्वरका अस्थान समझ ले ॥
कर दोनोंकी सैर । बाबा । कोई नहीं है गैर ॥

कहते हैं हज़रत मूसाने अल्लाहसे अर्ज (प्रार्थना) की कि 'ऐ मेरे मालिक ! मिहरबानी करके तू बता कि अपने बंदों (भक्तों) के सिवा तू किसे क़बूल करता है ?' अल्लाहने जवाब दिया—'हमारा सच्चा बंदा (भक्त) वह है, जो अपनी बुराईका बदला लेनेकी ताक़त रखते हुए भी बदला न ले ।'

मूसाने यही की अर्ज़ कि बारे खुदा ।
मकबूल तेरा कौन बंदोंके सिवा ॥
इरशाद हुआ, बंदा हमारा वह है ।
जो ले सके और न ले बदला बदी का ॥
—हाली

१. नाग । २. महान् ।

भक्तकी भक्तिका यह स्वरूप विश्वमें मङ्गल-विस्तार करनेमें कितना सहायक हो सकता है, यह समझनेके लिये अधिक बुद्धि-की आवश्यकता नहीं । सच तो यह है कि भगवद्भक्त सर्वत्र अपने प्रभुकी ही लीलाके दर्शन करता है, प्रत्येक शुभ-अशुभ कर्ममें उसे अपना मङ्गलमय स्वामी ही सूत्रधार दीखता है, फिर वह बदला किसका किससे ले ?

इसी कारण 'ग़ालिब' सबको समझाते हुए कहते हैं—

न सुनो गर बुरा कहे कोई । न कहो गर बुरा करे कोई ॥
रोक लो गर ग़लत चले कोई । बख्श दो गर ख़ता करे कोई ॥
—ग़ालिब

'ग़ालिब' का यह उपदेश जगत्में मनुष्यताके विस्तार एव कल्याण-भावनाके प्रसारके लिये अमोघ मन्त्र है । उनकी इन पंक्तियोंने उर्दू-काव्यको यशस्वी तो बनाया ही है, जन-समुदायका महान् उपकार किया है । प्रभुके मार्गपर चलने वालेके लिये तो यह आदर्श वाक्य है । अपराधीको क्षमा कर देना कितनी श्रेष्ठ बात है !

उर्दूके कवियोंने जहाँ अल्लाह पाकके प्रेम, भक्तिकी चर्चा की है, वहाँ मज़हबके नामपर लड़नेवालोंकी भर्त्सना भी की है । वे कहते हैं—जिन्हें प्रभुकी उपासना ही अभीष्ट है, वे किसीसे लड़ेंगे ? उपासना-पद्धति पृथक् है, तो रहे—

खुदा ही की इबादत जिनको हो मक़सूद ऐ अकबर ।
वो क्यों बाहम लड़ें गो फ़र्क़ हो तरज़े इबादत में ॥
—अकबर

धर्मके कारण परस्पर युद्ध न हो, इस बातको समझाते हुए 'नज़ीर' फरमाते हैं—

झगड़ा न करे मिल्लतो मजहबका कोई यॉं ।
जिस राहमें जो आन पड़े, खुश रहे हर आं ॥
जुन्नार[1] गले या कि बगल बीच हो कुरआं[2] ।
आखिर वही अल्लाहका यक नाम रहेगा ॥

'जिसने जो मार्ग पकड़ लिया है, प्रसन्नतापूर्वक उसी मार्गसे भगवान्‌की ओर बढ़े । आप यज्ञोपवीतधारी हों या कुरानके प्रेमी, अन्ततः भगवान्‌का नाम ही शेष रहेगा ।'

पारस्परिक द्वेषसे कोई लाभ तो होनेसे रहा । यदि यह द्वेष मनुष्यके मनसे निकल जाय, हिंदू-मुसल्मानोंके समस्त लड़ाई-झगड़े मिट जायँ—इसीमें कल्याण है । परस्परके झगड़ोंसे अबतक कभी किसीको कुछ नहीं मिला । इस प्रकार

१ जनेऊ । २. कुरान ।

धार्मिक कहलाकर भी मनुष्य राग-द्वेषकी मलिन वृत्ति लेकर संसारसे कूच कर जाता है—

दिलके कुदूरतें[1] अगर इन्साँ से दूर हों ।
सारे निफ़ाक[2] गबरू-मुसलमाँसे[3] दूर हों ॥
हासिल हुआ न खाक भी आपसकी नबर्दसे[4] ।
दिलसे गबरे काफिरो दीदार ले चले ॥

—आतिश

'ग़ालिब' साहब तो धर्मके नामपर झगड़नेवालोंको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। वे कहते हैं—ऐ मेरे मालिक ! मैं जहाँ तेरे चरण-चिह्न देखता हूँ, वहीं वाटिका और स्वर्गकी अनुभूति होती है—

जहाँ तेरा नक्शे कदम देखते हैं ।
ख़याबा-ख़याबा[6] अरम[7] देखते हैं ॥

—ग़ालिब

आज विशुद्ध भक्ति तो गौण हो गयी । भारत-विभाजन इसी धर्मान्धताका परिणाम है । पिछले दिनों मिस्र और इजराइलका युद्ध इसी कारण तो हुआ । पर यह बात भगवान्‌के भक्तोंको टूटे काँटेकी तरह करकती है । वे घबराकर कह उठते हैं—

शेख कहता है बिरहमनको, बिरहमन उसको सख्त ।
काब ओ बुर्तखानेमें पत्थर है पत्थरका जवाब ॥

—अमीर मीनाई

ये चाहते हैं भगवान्‌की भक्ति की जाय, भगवान्‌को प्राप्त करके जीवन सफल किया जाय; किंतु जब मनुष्य भगवान्‌के नामपर मरने-मारनेपर उतारू हो जाता है, तब इनसे सहा नहीं जाता । वे चिढ़कर कहते हैं, काज़ीके सिरका साफा उड़ गया है और उपदेशक घायल है । शायद ये शराबी आज अधिक पी गये हैं अर्थात् उन्मत्त हो गये हैं । बुद्धि नामकी वस्तु इनके पास नहीं रह गयी है—

काज़ी बरहना[9] सर है तो जख्मी है मुहतसिब[10] ।
शायद कि पी गए हैं बहुत बादाख़ोर[11] आज ॥

—अमीर मीनाई

'अकबर' भी इस राग-द्वेषके सर्वथा विरोधी हैं । वे प्रत्येक धर्मके गुणोंपर प्रेम-मग्न हो जाते हैं । वे कहते हैं कि मन्दिरमें जब शङ्ख-ध्वनि होती है, तो मैं मस्जिदमें थिरक-थिरककर नाचने लगता हूँ । मैं सोचता हूँ, मन्दिरमें मेरे ही अल्लाहकी पूजा हो रही है—

आता है वज्द[1] मुझको हर दीनकी[2] अदापर ।
मस्जिदमें नाचता हूँ नाकूसकी[3] सदा[4] पर ॥

—अकबर

'अकबर' की इस भावनापर कौन भक्त अर्पित नहीं हो जायगा । वे इससे भी आगे बढकर कहते हैं, मैं पण्डित और मौलवी दोनोंको दूरसे नमस्कार करता हूँ । मुझे मज़हबकी ज़रूरत नहीं । मैं तो केवल ईमान चाहता हूँ, जिससे मेरा मालिक मुझे मिल जाय—

पंडितको भी सलाम है और मौलवीको भी ।
मजहब न चाहिए मुझे ईमान चाहिए ॥*

—अकबर

दूसरे महानुभाव कहते हैं कि मन्दिर, मस्जिद और गिर्जाके चक्करमें पड़नेसे क्या लाभ ? आप खुदाको चाहे जहाँसे पुकार लें । वह वहीं मिल जायगा—

मसजिदमें, बुतखानेमें, कलीसामें, दहरमें ।
दे दीजिए आवाज जहाँ आप कहीं हों ॥

(अज्ञात)

'हाली' ने भी यही बात कही है । वे कहते हैं, हाजियो ! मुझे इस घरमें रहनेवाले (खुदा) की तलाश है । घरके महराबों और खंभोंसे मुझे कुछ नहीं लेना-देना है—

हाजियो ! है हमको घरवालोंसे काम ।
घरके महराबो-सुतूँ[5] से क्या गरज़ ॥

—हाली

ये आगे और व्यङ्गपूर्वक कहते हैं, 'शेख साहब ! जब आपका दिल मन्दिरमें नहीं लग सका, तब मस्जिदमें आकर क्या करेंगे ? (अर्थात् खुदा तो मन्दिरमें भी था)—

शेख ! जब दिल ही दैरमें न लगा ।
आके मस्जिद क्या किया तूने ?

—हाली

भगवान्‌के प्रति प्रेम न हो तो उपासना-गृहमें जानेसे क्या फ़ायदा ? अमीर मीनाई कहते हैं, मदिरा (भगवत्प्रेम) के

१. द्वेषभाव, मैल । २. लड़ाई-झगड़े । ३. मूर्तिपूजक । ४. वैर-भावसे । ५. चरण-चिह्न । ६. बाग । ७. बहिश्त । ८. मन्दिर । ९. नंगे सिर । १०. आचरणका निरीक्षण करनेवाला । ११. शराबी ।

१. प्रेम-निमग्न हो जाना । २. धर्म । ३. शङ्ख । ४. आवाज ।

* ऐ दिल तू कहीं ले चल ये दैरो हरम छूटें ।
इन दोनों मकानोंमें झगड़ा नजर आता है ॥

—स्वामी रामतीर्थ

५. महराब और खंभों ।

बिना मुझे मस्जिदमें ग़श आ गया है। मुझे जल्दी ही मदिरालयके स्वामी (भगवान्) के समीप ले चलो—

> ग़श आया है मुझे मस्जिदमें बे मय[1]।
> चलो लेकर मुझे पीरे मुग़ाँ[2] तक॥
>
> —अमीर मीनाई

'दाग' भी कहते हैं, हिंदुओ और मुसल्मानो! मुझपर क्यों नाराज़ होते हो? मैं न तो मन्दिरके योग्य हूँ और न मस्जिदके ही लायक हूँ। (मुझे भगवत्प्रेमकी तलाश है)—

> मुझमें ऐ गब्रो मुसलमाँ किसलिए इतना तपाक।
> काबिले मसजिद न हरगिज़ लायके बुतख़ाना है॥
>
> —दाग़

'हाली' ने कहा, धर्म भगवत्प्राप्तिके विभिन्न पृथक्-पृथक् पथ हैं, किंतु सभी जहाज़ोंका लंगर एक ही घाट (बंदरगाह) पर है। अर्थात् किसी धर्मका अनुसरण आप करें आपको पहुँचना है एक ही परमेश्वरके पास—

> मिल्लतें रस्तोंके हैं सब हेर-फेर।
> सब जहाज़ोंका है लंगर एक घाट॥
>
> —हाली

अतएव भगवान्‌की भक्तिके अतिरिक्त जिसे और कुछ अभीष्ट नहीं, वह तो स्पष्ट कहता है—प्रभो! मुझे इस लोक और परलोकसे कुछ नहीं लेना है, मुझे किसीकी आवश्यकता नहीं। मुझे आवश्यकता है तो एकमात्र तुम्हारी—

> तुम्हारी बातसे मतलब है दोनों दुनियामें।
> न कुछ यहाँसे गरज़ है न कुछ वहाँसे गरज़॥
>
> —अमीर मीनाई

वह भगवान् सर्वत्र है, धराधामके कण-कणमें है। तुम्हारी उसके प्रति सच्ची प्रीति हो, तुम उसे विशुद्ध अन्तर्मनसे चाहते हो तो वह जहाँ चाहोगे वहीं तुम्हें मिल जायगा। दूर क्यों जाते हो, वह तुम्हारे हृदय-मन्दिरमें भी तो है। यदि तुम चाहो तो उसकी मनोहर मूर्तिके हृदयमें ही दर्शन हो सकते हैं, जो अन्यत्र कठिन है—

> न देखा वह कहीं जल्वा, जो देखा खानए[3] दिलमें।
> बहुत मस्जिदमें सर मारा, बहुत-सा ढूँढा बुतख़ाना[4]॥
>
> —ज़फ़र

परमेश्वर तुम्हारे हृदयमें रहता है तो हृदयको स्वच्छ रखना तुम्हारा पुनीत कर्तव्य है। काम-क्रोधादि मलोंसे उसे बचाना आवश्यक है। उसे धो-पोंछकर निरन्तर पवित्र रखो। तब तुम निरन्तर अपने स्वामीको, दुर्लभ स्वामीको सदा देख सकोगे। तुम्हें कहीं जानेकी जरूरत नहीं रह जायगी। परमेश्वर तुम्हारी आकाङ्क्षाओंको पूरा तो करता ही है, वह स्वयं तुमसे तुम्हारी इच्छा पूछता रहेगा। यह स्थिति बना ली, तो फिर क्या कहना। तुम्हारा जीवन सफल हो गया, तुम धन्य हो गये। अपनी आत्माको इतना ऊँचा उठा लो—

> ख़ुदीको कर बुलंद इतना कि हर तक़दीरसे पहले।
> ख़ुदा बंदेसे ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा[5] क्या है?

मुस्लिम शायरोंमें कितने ही भक्त ऐसे हो गये हैं, जो श्रीकृष्णके प्रेममें उन्मत्त हो गये थे। वे उर्दूके प्रसिद्ध शायर होते हुए भी हिंदीमें श्रीकृष्ण-गुणगानकी चेष्टा करते रहे हैं। 'नज़ीर' ऐसे ही शायरोंमें हैं। उनका एक पद है—

> सब मिलके यारो कृष्ण मुरारीकी बोलो जै।
> गोविंद छैल कुंजबिहारीकी बोलो जै॥
> दधिचोर गोपीनाथ बिहारीकी बोलो जै।
> तुम भी 'नज़ीर' कृष्ण मुरारीकी बोलो जै॥
> ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन।
> क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैयाका बालपन॥
>
> —नज़ीर

उर्दूके शायरोंने भगवत्तत्त्व, भगवत्प्रेम एवं भगवत्प्राप्तिके पथका जिस सरल एवं सरस वाणीमें वर्णन किया है, वह उर्दू-साहित्यकी आशिक़ी कविताओंपर आवरण तो डालना ही है, वह सम्पूर्ण धर्म एवं भगवत्प्रेमियोंके लिये विचारणीय ही नहीं, आदर्श एवं माह्य भी है।

---

१. मदिरा। २. मधुशालाके स्वामी। ३. हृदय-मन्दिर। ४. मन्दिर। ५. रज़ामन्दी।

प्रणामी-धर्ममें प्रेम-लक्षणा भक्ति

(लेखक—साहित्यभूषण पं० श्रीमिश्रीलालजी शास्त्री 'हिंदी प्रभाकर')

परमात्माको सुलभरूपमें प्राप्त करनेके चार साधन—कर्म, उपासना, ज्ञान और विज्ञान भारतीय दर्शनग्रन्थोंने प्रतिपादित किये हैं। प्रणामी-धर्मके प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ (वि० सं० १६७५) ने अपने निजानन्द-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका सम्यक् प्रतिपादन करनेके हेतु जिस 'श्रीमत्तारतम्य-सागर' नामक ग्रन्थकी रचना की, उसकी परम आध्यात्मिक पृष्ठभूमि विज्ञान है। शास्त्रोंने 'नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्' घोषितकर जिस कैवल्य परम-पदका निर्देश किया था, उसीका प्रणामी-धर्मके प्रवर्तक स्वामीप्राणनाथने अपने 'श्रीमत्तारतम्य-सागर' ग्रन्थमें सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त, अखण्ड, शुद्ध, साकार, स्वलीलाद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करके 'अक्षरात् परतः परः' पूर्णात्पूर्ण अक्षरातीत ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की। संसार-सागरका स्पष्ट ज्ञान कराते हुए जगज्जीवोंको काम, क्रोध, लोभ और मोहादिसे पूर्ण मगर-मच्छरूप कराल जीवोंसे बचकर भवसागर पार करनेके लिये आत्मज्ञानके परम मङ्गलमय उपदेशके द्वारा गहन भवरूप भँवरमें उलझे हुए जीवोंको जाग्रत्-अवस्थामें खड़ाकर परब्रह्म परमात्माके सम्यक्रूपका दिग्दर्शन कराया। आत्मा-परमात्माके विच्छेद और उसके अनन्त मिलनके मूल रहस्यका उद्घाटन करके परब्रह्मके अप्राकृत परम दिव्यतम दिव्य ब्रह्मपुर धाम एवं उसकी अखिल दिव्य सामग्रीका पृथक्-पृथक् वर्णन किया। आत्मा और परमात्माकी अनन्त-रसमयी नित्य लीलाओंके गूढतम रहस्योंको स्पष्ट करते हुए उन्हें सरल ढंगसे एवं सुलभरूपमें प्राप्त करनेके लिये सगुण और निर्गुणसे परे पराभक्ति प्रेमलक्षणाको ही परम साधन बतलाया। क्योंकि प्रेमलक्षणा भक्ति क्रिया-मात्रसे साध्य नहीं होती; उसके लिये, उसकी परम सिद्धिके लिये तो आत्म-परात्मज्ञानकी नितान्त आवश्यकता है। प्रेमलक्षणा भक्ति ज्ञान-विज्ञानसे पूर्ण तो है ही, साथ ही 'परम प्रेमरूपा' भी है; क्योंकि 'मैं कौन हूँ' इस प्रकारकी जिज्ञासाका प्रशमन होते ही परात्म-ज्ञानकी जिज्ञासा होती है और परात्मज्ञानके उत्पन्न होते ही हृदयमें प्रेमकी ऐसी पुलक उत्पन्न होती है कि फिर अपने परम प्रियतमसे बिछुड़ी हुई आत्मा एक क्षण भी शरीररूपी पिंजरेमें बद्ध होकर नहीं रह सकती; वह तो फिर श्रीकृष्णकी मुरलीका नाद श्रवण करते ही जिस रूपमें, जिस शृङ्गारमें होती है, उसी रूपमें—यहाँतक कि अपने इस भवरूपको भवको ही सौंपकर दिव्य परात्मरूप धारणकर प्रियतमके रासमण्डलमें पहुँच प्रियतमके आनन्द-रङ्गमें एकाकार हो जाती है। इसमें समय एवं दूरीकी प्रवञ्चना नहीं रहती। स्वामी प्राणनाथने कहा है—

पंथ होवे कोटि कलप, प्रेम पहुँचावें पलमें पलक।

प्रियतम कितनी भी दूर क्यों न हो, प्रेम अपने प्रियतम परमात्माके पास पलमात्रमें पहुँचा देता है। वास्तवमें प्रेमका ज्ञानसे पूर्ण स्वरूप बड़ा ही गहन है, अनन्त है, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार प्रेमलक्षणा भक्तिकी यह पृष्ठ-भूमि भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यदि पतिपरायणा पत्नीकी पतिभक्तिके समान अनन्य रूपसे आत्माके परमपति परमात्माकी भक्ति प्रेमके सम्पूर्ण लक्षणोंसे समन्वित की जाय तो परम प्रभुकी प्राप्ति सबको सुलभ हो सकती है।

भगवान्का परमपवित्र यशगान

श्रीसूतजी कहते हैं—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४९)

'जिस वचनके द्वारा भगवान्के परमपवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है! उससे अनन्तकालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वचनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है।'

श्रीस्वामिनारायणकी भक्ति

(लेखक—शास्त्री श्रीकृष्णस्वरूपजी स्वामिनारायण)

भगवान् श्रीस्वामिनारायणका प्राकट्य सं० १८३७, चैत्र शुक्ला ९ को अयोध्याप्रान्तके छपैया नामक ग्राममें हुआ था। इनके द्वारा प्रचारित 'भक्ति' इनके स्वरचित संस्कृत एवं प्राकृतके सद्ग्रन्थोंमें—जो 'शिक्षापत्री', 'सत्सङ्गी जीवन', 'वचनामृत' आदि नामोंसे प्रचलित हैं—भलीभाँति प्रदर्शित की गयी है। इन्होंने 'भक्ति' शब्दके अर्थका शास्त्रोक्त (पञ्चरात्रादिकी) रीतिसे और जिस भक्तिको शास्त्रोंमें 'ऐकान्तिकी', 'आत्यन्तिकी', 'निष्काम' और 'अनन्या' आदि कहा गया है, उसका भी स्पष्टीकरण किया है। फलेच्छारहित विशुद्ध भक्ति ही भगवान्‌को अति प्रिय है। श्रीस्वामिनारायणने अपने ग्रन्थोंमें यह बतलाया है कि भक्तिसे भक्तको मुक्ति प्राप्त होती है और मुक्तिका फल है—भगवद्धाममें भगवान्‌की सेवा प्राप्त करना।

'भक्ति' शब्दका अर्थ

सामान्यतया शास्त्रोंमें प्रेमपूर्वक किये जानेवाले भगवद्ध्यानको भी 'भक्ति' कहा गया है। प्रेमपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते—यह श्रुतिका वचन है। अतएव भगवान्‌ने गीतामें—

> 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'
> 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'
> 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः', 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'

—आदि वचनोंसे अनन्यभक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। पुराणोंमें भी इसी भावनाके श्लोक सुप्रसिद्ध हैं।

भगवान् स्वामिनारायणने स्वरचित 'सत्सङ्गी जीवन' ग्रन्थमें 'भक्ति' शब्दका अर्थ इस तरह किया है—

> भजधातोस्तु सेवार्थः प्रेमा 'क्तिन्' प्रत्ययस्य च।
> स्नेहेन भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते बुधैः॥

भजते, सेवते, उपास्ते—ये शास्त्रमें पर्यायवाचक क्रियापद माने गये हैं। इसी प्रकार 'भक्ति' शब्द भी उपासनाका पर्याय है। सामान्य-विशेष न्यायसे ज्ञान, उपासना, ध्यान, स्मृति, दर्शन आदि शब्दोंका भक्तिमें ही पर्यवसान है। इसी प्रकार प्रीति, प्रेम, स्नेह, हेतु, अनुराग, आसक्ति आदि शब्द भी भक्तिके ही पर्यायवाचक हैं। यों ज्ञान, ध्यान, उपासना, स्मृति, दर्शन, सेवा, भक्ति आदिको मोक्षोपायरूप बतलानेवाली विभिन्न श्रुति-स्मृतियोंकी अविरोध एकार्थता हो जाती है। अतएव भगवान् स्वामिनारायणने 'शिक्षापत्री'में भक्तिके विषयभूत भगवत्स्वरूपका निरूपण करके—

> तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्तव्या मनुजैर्भुवि।
> निःश्रेयसकरं किंचित् ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम्॥

—इस प्रकार अन्य साधनोंकी निःश्रेयसकारिताका निषेध करते हुए भक्तिको ही निःश्रेयसकारिणी सिद्ध किया है।

भक्तिके प्रकार

श्रवणादि नौ प्रकारकी भक्तिका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है। उनमेंसे एक-एकके अवान्तर भेद भी कहे गये हैं। किंतु भागवतमें 'भक्त्या संजातया भक्त्या'—(११ । ३ । ३१) इस वचनके अनुसार साध्य-साधन-भेदसे भक्तिके दो प्रकार प्रतीत होते हैं। श्रवणादि नौ प्रकारकी भक्ति प्रेमलक्षणा भक्तिको सिद्ध करनेवाली होनेके कारण 'साधन-भक्ति' कहलाती हैं। प्रेमलक्षणा भक्तिको 'साध्य-भक्ति' कहते हैं। यह मुख्यरूपसे गोपीजनोंमें पायी जाती है। जैसे पतिव्रता नारीके लिये पति-सेवा ही एकमात्र परम स्वार्थ है, वैसे ही 'भगवान् ही मेरे एकमात्र परम स्वार्थ हैं'—इस प्रकार मानकर देवतान्तरमें वा फलान्तरका सम्बन्ध जोड़े बिना एक भगवान्‌में ही अनन्यभावसे प्रवर्तित भक्तिको 'ऐकान्तिकी भक्ति' कहते हैं, जो प्रेमभावापन्न निष्काम भक्तोंमें होती है। उनकी भगवान्‌में जो भक्ति होती है, वह साध्य-साधन-भेदसे रहित होती है। अतएव भगवान्‌को ही वे साधनरूप और भगवान्‌को ही फलरूप मानते हैं—प्राप्य-प्रापक भिन्न न मानकर 'प्रापक ही प्राप्य है' ऐसा निश्चय करते हैं। प्राप्य परमात्मासे भिन्न किसी देवतान्तरमें या फलान्तरमें उनकी भक्ति नहीं होती। इसीलिये इस भक्तिको 'ऐकान्तिकी' कहते हैं।

एकमें ही जिसका अन्त—निश्चय हो, वह एकान्त कहलाता है। इस कारणसे प्रवर्तित भक्ति ही 'ऐकान्तिकी' है। निष्काम भक्तको 'अन्यफलेच्छा' होती ही नहीं। सकामी भक्तोंकी परमेश्वरमें जो भक्ति है, वह मुख्य नहीं है; क्योंकि वे तो फलेच्छामें ही आसक्त रहते हैं। इस हेतुसे सकाम नरोंकी कनिष्ठता और निष्कामी भक्तोंकी श्रेष्ठता कही गयी है। उपर्युक्त सममार्थ गीता आदिमें स्पष्ट वर्णित है।

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।'
'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः'
'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।'
'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।'
'अनन्यभक्तिं साध्वीवत् कुर्युरैकान्तिका हि ते।'
'चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः॥'
'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।'
'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्'
'मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति किंचन।'

—इत्यादि उक्तियोंमें नित्ययुक्त, एकभक्ति, अनन्य, अव्यभिचारिणी, ऐकान्तिक, अनन्यदैवत, अहैतुकी, अव्यवहिता, एकान्तमति इत्यादि शब्द भक्तिकी ऐकान्तिकता और आत्यन्तिकताको ही सूचित करते हैं। इस भक्तिको 'पतिव्रताकी भक्ति' कहते हैं। इस भक्तिसे भागवतधर्म पृथक् नहीं है। इसी निष्काम भक्तिको ज्ञानीजन माहात्म्यज्ञान, धर्म, वैराग्यसे सम्पन्न होकर करते हैं और करनी भी चाहिये। इसी हेतुसे भगवान् श्रीस्वामिनारायणने शिक्षापत्री श्लोक ११४ में कहा है—

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत् प ं फलम्।
कृष्णे भक्तिश्च सत्सङ्गोऽन्यथा यान्ति विदोऽप्यधः॥

'विद्यादि गुणोंसे सम्पन्न गुणी पुरुषोंकी गुणवत्ताका यही परम फल है कि वे श्रीकृष्णभगवान्की भक्ति और सत्पुरुषोंका सङ्ग करते हैं; क्योंकि जो भक्ति और सत्सङ्ग नहीं करते, वे तो विद्वान् होनेपर भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार उपर्युक्त गीतादिके वचनानुसार निष्काम भक्ति ही श्रेष्ठ है। इसीको भगवान् स्वामिनारायण स्वरचित ग्रन्थ 'वचनामृत' में भी स्पष्ट करते हैं। 'भगवान्के स्वरूपमें मनकी अखण्ड वृत्ति रखना कठिन साधन है और जिस मनुष्यकी मनोवृत्ति भगवान्के स्वरूपमें अखण्ड रहती है, उसको इससे अधिक अन्य कुछ प्राप्त होना शास्त्रमें नहीं बताया गया है।' (व० प्र० १) इस वचनसे भगवत्स्मृतिकी दुस्साध्यता बतानेके साथ ही उसकी स्वतःफलरूपता बतायी गयी है। अतएव 'जिसकी भगवान्में ही अनन्य निष्ठा हो गयी हो, उसको प्रत्यक्ष भगवान्के बिना अन्य कोई भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये।' (प्र० ९) इस वचनसे भक्तिकी निष्कामता प्रदर्शित की गयी है। 'जिसको भगवान्के बिना अन्य कोई वासना न हो और जो अपनेको ब्रह्मरूप मानकर ही भगवान्की भक्ति कर रहा हो, उसीको ऐकान्तिक भक्त कहना चाहिये।' (प्र० ११) 'सबके लिये भगवान्का भक्त होना बहुत कठिन है; परंतु जो भगवान्के दास बन गये हों, उनके लिये और कुछ भी करना शेष नहीं रहा है।''' ''भगवान्का दासत्व प्राप्त होना बहुत कठिन है।''' ''भगवान्का दास वह है, जो अपने स्वामीके योग्य जो कुछ भी पदार्थ हैं, उनको स्वयं भोगनेकी कभी इच्छा ही नहीं करता और न अपने स्वामीके आज्ञानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले आचरणोंको छोड़कर अन्य आचरण ही कभी करता है। जो ऐसा है, उसीको 'हरिदास' कहना चाहिये।' (इन वचनोंसे दास्य-भक्तिका उत्कर्ष बतलाया है। प्र० १४) 'भगवान्में अनन्य प्रेम करके जो अति रोमाञ्चित-गात्र होकर तथा गद्गदकण्ठ होकर भगवान्की प्रत्यक्ष अथवा मानसी पूजा करते हैं—वे दोनों ही श्रेष्ठ हैं। और जो प्रेमसे रोमाञ्चित-गात्र और गद्गद-कण्ठ न होकर केवल शुष्क मनसे भगवान्की प्रत्यक्ष पूजा और मानसी पूजा करते हैं, वे न्यून हैं।' (इससे प्रेमकी अत्यावश्यकता बतायी है) और 'इस प्रकार भगवान्का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे भगवान्का साक्षात्कार होता है।' (सा० व० ३) 'राधिकाजी तथा लक्ष्मीजीकी तरह भगवान्का प्रेमलक्षणा भक्तिसे ही भजन करना हमारा सिद्धान्त है।' (का० व० १०) 'स्वामी-सेवकभावसे ही भगवान्की दृढ उपासना करे—और भगवान्में श्रवणादि भक्तिको दृढ रखे।' (लो० व० १) 'हेत (प्रेम) बड़ी बात है, और हेतसे ही भगवान्को भजना ठीक है। केवल भगवान्में ही भक्ति करनेको ऐकान्तिकी भक्ति कहते हैं और ऐसा करनेवाला ही ज्ञानी है और यह जो ज्ञानी है, वही सर्वश्रेष्ठ है यह भगवान्ने गीतामें बताया ही है।' (पं० ३) 'इस तरह जो भक्त भगवान्में ही दृढ प्रीतिसे युक्त है, उसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी रक्षा भगवान् स्व ं करते हैं।' (अत्य० १३)

इस प्रकार वचनामृतमें अनेकानेक शास्त्राधारयुक्त श्रीजीके वचन हैं।

उपर्युक्त स्वधर्म ज्ञान-वैराग्यादिकी भी भक्तिमें अत्यावश्यकता है। अतएव 'शिक्षापत्री' में श्रीजीके वचन हैं—

माहात्म्यज्ञानयुग् भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे।

और सत्सङ्गी जीवनमें—

स्वधर्मज्ञानवैराग्ययुजा भक्त्या स सेव्यताम्।

इस तरह भक्तिके स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य और माहात्म्यादिकी अङ्गता सिद्ध होती है। अतएव माहात्म्य-धर्म-ज्ञान-

वैराग्ययुक्त जो भगवान्‌में ही प्रेम है, उसीको ऐकान्तिकी और निष्काम भक्ति कहा जाता है।

भक्तिका फल

भगवद्भक्त इस तरह भगवान्‌की ही भक्ति करते हैं और भगवान्‌को ही प्राप्य-प्रापक मानते हैं। वे भक्त भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी भी अर्थको या मोक्षको भी नहीं चाहते, भगवद्भक्ति—भगवत्सेवाको ही परमा मुक्ति (फल) मानते हैं। अतएव भगवान् स्वामिनारायण (शि० श्लो० १२१ में) 'कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्' मुक्तिका यह लक्षण बतलाते हुए भगवत्सेवाको ही परम मुक्ति मानते हैं। यही सर्वथा उचित है।

इस प्रकार 'मुक्तानां परमा गतिः' इस वचनके अनुसार निष्काम भक्तोंकी भक्तिका फल (प्राप्य) एक श्रीभगवान् ही हैं।

सिख-धर्ममें भक्ति

(लेखक—श्रीगुरांदित्ताजी खन्ना)

सिख-धर्म है ही भक्तिप्रधान। इसमें परमात्माको 'वाहिगुरु' या 'अकालपुरख' कहते हैं। यह वाहिगुरु या अकालपुरख दो स्वरूपोंमें कथन किया गया है। एक तो अपने सम्बन्धमें आप, जो मन और वाणीसे परे है और जिसे निर्गुण भी कहा गया है, और दूसरा सृष्टिके सम्बन्धमें, जिसे सगुण या नामरूप करके पुकारा गया है। जब सृष्टि नहीं बनी थी, तब परमात्माका निर्गुणरूप था और जब उसने रचना करके अपना प्रकाश किया, तब वह सगुणरूप होकर वर्तने लगा। इन दो स्वरूपोंका वृत्त 'आसा दी वार' पौडी पहिलीमें है।

आपनियै आपु सजिओ आपनियै रचिओ नाउ।

अब क्योंकि निर्गुण स्वरूपका कोई भाव हम मनमें नहीं बाँध सकते और इस स्वरूपमें हम परमात्माके साथ कोई सम्बन्ध भी स्थापित नहीं कर सकते, इसलिये धर्ममें वास्तविक रीतिपर सगुण स्वरूपसे ही काम पड़ता है।

यह निर्गुणात्मक और सगुणात्मक परमात्मा सदा सर्वदा सर्वत्र एक है। यह वास्तवमें कैसा है, इस सम्बन्धमें 'आदि गुरुग्रन्थ साहिब' के आदिमें ही आदिगुरु नानकदेवने लिखा है—

> ओंकार, सत्तनामु करता पुरख।
> निरभउ, निरवैरु, अकाल मूरति,
> अजूनी सैभं गुर परसादि जपु।
> आदि सचु जुगादि सचु।
> है भी सचु 'नानक' होसी भी सचु॥ १॥

अर्थात् परमात्मा एक है। उसका नाम सत्य है, अर्थात् वह सदा स्थिर और एकरस है। सृष्टिका कर्ता है, निर्भय और निर्वैर है। उसका स्वरूप कालसे परे है, समयके चक्रमें कभी नहीं आता—मृत्यु, रोग और बुढ़ापा उसके लिये नहीं है। वह अजन्मा है, स्वयम्भू है, पथ-प्रदर्शक है और कृपाकी मूर्ति है। हे मनुष्य! तू उसे जप।

जपका भाव ऐसी याद लगाना है कि जिस गुणको लक्ष्य करके जप किया जाय, उस गुणमें जपनेवाला आप रँग जाय।

प्रभु का सिमरनि हरिगुन बाणी।

अर्थात् प्रभुका स्मरण क्या है, जाप क्या है?—भगवान्‌का गुणानुवाद। उसके नाम-स्मरणमें तल्लीन हो जाना।

जपका आदेश देनेके बाद उस सत्यके गुणको दृढ करनेके लिये पुनः दोहराते हैं कि वह परमात्मा, वह वाहिगुरु कैसा है जो आदिमें भी था, युग युगान्तरमें था, अब भी है और भविष्यमें भी रहेगा।

इसके आगे इस सम्बन्धमें और भी बहुत कुछ आदिगुरुने और उनके बाद हुए शेष गुरुसाहिबोंने कहा है और उसके सगुण स्वरूपकी लीलाओंको याद कराया है। दसवें गुरु साहिबने तो बड़े विस्तारसे चौबीस अवतारोंकी लीलाका वर्णन विविध छन्दोंमें बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंगसे किया और अपने दरबारी कवियोंसे कराया है। वह एक पृथक् ही बृहद् ग्रन्थ है, जिसे कहते हैं—'दशमग्रन्थ'। इस दशमग्रन्थमें महामाया दुर्गाके महिषासुरके साथ किये गये युद्धका वर्णन तो सारे हिंदी-साहित्य-भंडारमें वीररसात्मक एक ही सुन्दर, सरल और प्रभावात्मक प्रबन्ध-काव्य है।

वैसे तो सारा ही 'आदि गुरुग्रन्थ साहिब' भक्ति-विषयक

पदोंसे भरा पड़ा है, पर यहाँ नमूनेके तौरपर—उदाहरणके रूपमें दो-तीन पद नवें गुरु तेगबहादुरजीके दिये जाते हैं—गुरुमुखी-लिपि-अनुसार ।

(१)

गौड़ी महल्ला

साधो रचना राम बनाई ।
इकि बिनसै इक असथिरु मानै अचरजु लखिओ न जाई ।
कामु क्रोधु मोह बसि प्रानी हरि मूरति बिसराई ॥
झूठा तनु साचा करि मानिओ जिउ सुपना रैनाई ।
जो दीसै सो सगर बिनासै जिउ बादर की छाई ॥
जन नानक जगु जानिओ मिथिआ, रहिओ राम सरनाई ॥

(२)

मन रे कहा भइओ तै बउरा ।
अहिनिसि अउध घटै नहीं जानै, भइओ लोभ संगि हउरा ॥
जो तनु तै अपनो करि मानिओ अरु सुंदर गृह नारी ।
इनमैं कछू तेरो नाहिनि, देखो सोच बिचारी ॥
रतन जन्मु अपनो तै हारिओ, गोबिंद गति नहीं जानी ।
निमख न लीन भइओ चरनन सिउ, बिरथा अउध सिरानी ॥
कहु नानक सोई नरु सुखीआ, राम नाम गुन गावै ।
अउर सगरु जगु माइआ मोहिआ निरभै पदु नही पावै ॥

(३)

टोडी महल्ला

कहउ कहा अपनी अधमाई ।
उरझिओ कनक कामिनी के रस नहिं कीरति प्रभ गाई ॥
जग झूठे कउ साच जानकै ता सिउ रुच उपजाई ।
दीनबंध सिमरिओ नहीं कबहू, होत जु संगि सहाई ॥
मगन रहिओ माइआ मैं निसदिनि छुटी न मन की काई ।
कहि नानक अबि नाहि अनत गति बिनु हरि की सरनाई ॥

सिख-धर्म और भक्ति

(लेखक—सत श्रीइन्द्रसिंहजी 'चक्रवर्ती')

ससारके प्रायः सभी धर्मों और मत-मतान्तरोंमें भक्तिको अवश्य स्थान दिया गया है । यह बात और है कि कहीं ज्ञानप्रधाना भक्तिको स्वीकार किया गया है, तो कहीं कर्म-प्रधाना भक्तिको; परंतु एक बात सभीने स्वीकार की है कि बिना साधनके उस परम पुरुषको प्राप्त नहीं किया जा सकता और उन साधनोंमें 'भक्ति' का स्थान प्रमुख है । सिख-धर्म विशेषतया भक्ति-प्रधान धर्म है । सिख मत ही एक ऐसा मत है, जहाँ गुरु-भक्ति और गुरुवाणीके रूपमें साकार और निराकारकी उपासना एक समन्वयात्मक ज्ञान और कर्मकी प्रधानताके रूपमें उपलब्ध होती है । मुख्यता तो निराकार उपासनाको ही दी गयी है, परंतु इसके साथ ही नाम-श्रवण और नाम-कीर्तनका महत्त्व भी माना गया है । नवधा-भक्तिके कुछ सिद्धान्तोंको अपनाते हुए उस परम पुरुषकी प्राप्तिका प्रयत्न ही सिख-मतका लक्ष्य है ।

हिंदू-धर्मरूपी एक विशाल वृक्षकी शाखा होनेके कारण सिख-मतने 'राम' का महत्त्व स्वीकार किया है और सभीसे रामके रूपमें उसी एकमेव अकालपुरुषकी महत्ता स्वीकार करनेका आग्रह किया है । यह काम सबसे उत्तम है, निर्मल है । सिख-मत यह समझता है कि चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेनेके बाद यह मनुष्य जन्म उपलब्ध होता है । इस अनमोल जन्मको पाकर भी यदि राम-नामद्वारा इसे सार्थक न किया तो जन्म लेना ही व्यर्थ है । ऐसा व्यक्ति जैसा ससारमें आया और जैसा न आया । यह ठीक है कि इस उत्तम कर्मके लिये किसी वनमें जानेकी आवश्यकता नहीं, किसी विशेष प्रकारके वेष-भूषाकी आवश्यकता नहीं और सबसे बढ़कर ससार-त्याग करनेकी भी आवश्यकता नहीं, अपितु उस अकालपुरुषका दास बनकर गृहस्थमें रहकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है । यदि जलके न होनेपर ही सूखा रहा जा सकता है तो वह तो कहीं भी रहा जा सकता है; परंतु जलमें रहकर भी कमलपत्रवत् अपनेको निर्लिप्त रखे रहना—यही तो योग है, यही तो कसौटी है उस अकालपुरुषकी प्राप्तिकी । 'गुर-सिख घर ही माँहि उदासी' इसी वचनकी पालना करना प्रत्येक शिष्य (सिख) का धर्म बतलाया गया है । इसकी पालना करनेवालेके लिये उपदेश दिया गया है—

काहे रे बन खोजन जाई ।
सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ॥
पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर मध्य जैसे छाई ।
तैसे ही हरि बसै निरंतर, घटहीं खोजहु भाई ॥
अतर बाहर एको जानो, यह गुरु ज्ञान बताई ।
कहु नानक बिनु आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई ॥

ऊपर हमने रामनामकी महत्ताके विषयमें लिखा है कि रामनामके जपको सबसे उत्तम और ऊँचा कार्य स्वीकार किया गया है। यह बात नहीं है कि इसका केवल महत्त्व ही स्वीकार किया गया हो; अपितु इस कार्यके लिये स्पष्टतया गुरुवाणी संकेत करती है—

संत जना मिलि बोलहु राम।
सम ते निरमल ऊतम काम॥

गुरुवाणीने ऐसे व्यक्तिको बड़ी हीनदृष्टिसे देखा है, जो इतना अमूल्य जन्म पाकर भी उस परम पुरुष 'राम' की भक्तिसे, उसके नामसे, उसके जापसे विमुख रहता है। निश्चय ही वह एक अपराधी है और उसे जीनेका अधिकार नहीं। अच्छा होता, यदि ऐसा व्यक्ति जन्म ही न पाता; क्योंकि उसने केवल माताको कष्ट ही दिया है। गुरुवाणी ऐसे व्यक्तिके जन्म लेनेको यहाँतक धिक्कारती है कि जिस कुलमें कोई ज्ञानवान् रामभक्त पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, उस परिवारकी माता यदि बाल-विधवा हो जाती तो अधिक अच्छा था; क्योंकि ऐसा व्यक्ति केवल भार है पृथ्वीके लिये। अच्छा था यदि ऐसा व्यक्ति जन्म लेते ही मर जाता—

जहिं कुरू पूत न ज्ञान बिचारो।
बिधवा कस न भई महतारी॥
जहिं नर राम भगति नहिं साधी।
जनमति कस न मुइया अपराधी॥

भक्तिके लिये किसी कुल, जाति या वर्ण-विशेषकी आवश्यकता नहीं; अपितु 'हरि का भजै सो हरि का होइ' का सिद्धान्त ही इस विषयमें सर्वोपरि माना गया है। यही कारण है कि जिन्हें हिंदी-साहित्य-ससार निरे कवियोंकी श्रेणीमें गिनता है और जिनकी रचनाओंको केवल साहित्यिक दृष्टिसे देखता-परखता है, उन नामदेव, कबीर, धन्ना, रविदास आदिको सिख-मत आदर-श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता हुआ उनकी वाणीको पवित्र और संसारके लिये परम पुरुष वाहिगुरुके अगम्य मार्गका दर्शक स्वीकार करता है। गुरुवाणीमें इन उपर्युक्त भक्तोंकी सभी भावनाओंको समाविष्ट किया गया है। नामदेवकी समदृष्टि, कबीरकी गुरुभक्ति और हिंदू-मुस्लिम-भेदभावका त्याग, धन्ना भक्तकी तन्मयता और रविदासका सेवक-भाव—सभी गुरुवाणीमें अपना लिये गये हैं। इसीलिये गुरुवाणी इनका आदर करती है—

नामा छींबा कबिर जुलाहा पूरे गुरि ते गति पाई।
सुर नर तिनकी बाणी गावहिं, कोइ न मेटै भाई॥

साधारणतया मीराको गिरिधरगोपालकी परमप्रेमिका मानकर साकार उपासकोंमें गिना जाता है, परन्तु उनके मनमें उठनेवाली भावना तो सभीके लिये स्वीकार्य है। इसीलिये मीराकी प्रेम-भक्ति-भावनाकी झलक भी सिख धर्ममें मिल जाती है। मीराका विश्वास है कि 'घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय' और वह अपने वैद्यसे कह देती है कि वह उसका उपचार नहीं कर सकता; क्योंकि उसे जो रोग है उसकी औषध उसके पास नहीं है। ठीक इसी प्रकार गुरसिख भी विश्वास रखता है और पुकारता है—

बैद बुलाइया बैदजो पकरि ढँढोले बाँह।
भोला बैद न जानई करक कलेजे माँह॥
हम रत्ते सहु आपने तूँ किस दारू देहि।
'नानक' प्रीतम जे मिलै ताँ दुख जावे एहि॥

गुरसिख भी निजको 'बहुरिया' अथवा प्रेमिका मानकर अपने प्रियके समागमकी कामना करता है और उसके विरहमें तड़पनका अनुभव करता है—

अज्ज न सुत्ती कंत स्यों अंग मुड़ मुड़ जाइ।
जाइ पुछो डोहागनी तुम क्यों रैन विहाइ॥

इस प्रकार सिख-मत उन सभी भावनाओंका समादर करता है और उन्हें खुले रूपमें स्वीकार करता है, जो उस अकालपुरुषतक पहुँचाने, उन्हें प्राप्त करनेके साधन हैं। यदि सिख-मतको हम एक समन्वयात्मक मत कहें तो अत्युक्ति न होगी; क्योंकि भक्तिके लिये जिन भी ज्ञान-वैराग्य, चिन्तन-कीर्तन और जाप आदिकी आवश्यकता होती है, वे सभी इस मतमें उपलब्ध होते हैं।

यों सिख-मतमें ज्ञानको अवश्य महत्त्व दिया गया है, परन्तु इसके साथ ही अनन्य भक्तिका साथ होना आवश्यक स्वीकार किया गया है। भक्तिरहित ज्ञानको नीरस और फीका माना गया है। इसके लिये एक उदाहरण विशेष महत्त्व रखता है। भाई मनीसिंहजीने—जो दुःख-सुखरहित, वैरागी, निर्लेप और ब्रह्मज्ञाता थे— अपनी 'भक्तरत्नावली' नामक पुस्तकमें सिख-मतके व्यासरूप भाई गुरदासजीकी 'वार' नामक वाणीकी टीका करते हुए भक्तिकी विशेषता प्रदर्शित की है और लिखा है कि भाई जेतासेठ नामके एक शिष्य थे, जो गुरुके द्वारे रहकर उनकी पर्याप्त सेवा करते थे। एक दिन उन्होंने छठी पातशाही (छठे गुरु) श्रीगुरु हरिगोविन्दजीसे पूछा—'जी सच्चे पातसाह! कई कहँदे हैन जु गिआन इस (जीव) नूँ होवै ताँ

भगति का किआ है ? गिआन ही इसदा उधार करदा है।' इसपर गुरु महाराजका वचन (उत्तर) मिला—"गिआन भगति थीं बिना शोभा नहीं पॉवदा, पिंगला है। जैसे घृत वासन नूँ भी ते शरीर नूँ भी सनिगध करदा है; पर जे निरा घी पींवे तॉ प्रिथमे तॉ मुख फिक्का हो जॉदा है ते बहुरो शरीर विच पित्ती हुदी है ते पेट चलदा है तॉ खॉसी उतपन करदा है, चार औगन होंदे हैन।

'जे मिसरी नाल मिलाके खाईदा है तॉ मुँह भी मिट्ठा हुंदा है ते खॉसी भी नहीं हुंदी ते पेट भी नहीं चलदा ते छाती बोल भी नहीं हुदा। तैसे रुक्खे गिआन कर कहँदा है 'मैं ही ब्रह्म हॉ।' प्रिथमें इह वचन शोभा नहीं पाऊँदा, ते दूसरा जाणीदा है कि सुरग नरक झूठ हैन। जे विषई होंदा है तॉ विषयॉ विच निरभै होकै पाप करम करन लगदा है। ते कच्चा गिआन होंदा है तॉ होरनॉ सभनॉ करमा नूँ हउ मै रूपी खॉसी कर ढाह देंदा है। ते छाती दा बोझ इहु है जो आपणे समान किसे नूँ नहीं जाणदा। पर भगतिरूपी मिसरी नाल मिलेऑ सभे विघन नाश करदा है ते नितप्रति वधदा जॉदा है ते वाहिगुरु नूँ जाइ प्रापत होंदा है।" *

इसलिये सिख-मतमें ज्ञानप्रधाना भक्तिके साथ भक्तिप्रधान ज्ञानको ही अपनाया गया है; क्योंकि अकेला ज्ञान तो अहंवादीकी कोटितक पहुँचा देता है। इसीलिये यहाँ भक्तिपरक ज्ञानकी महत्ता स्वीकार की गयी है और इस भक्तिपरक ज्ञानके लिये सत्सङ्ग, नामजप, समदृष्टि और सेवकत्वकी विशेषता बतलायी गयी है। निन्दा-स्तुति और मान-अपमानको समदृष्टिसे देखने और विचार करनेवाला भक्तिभावसे ओत-प्रोत हृदय ही ब्रह्मज्ञ कहलाता है। ऐसे व्यक्तिको ही सिख-मतमें विशेष महत्त्व दिया गया है। इस तरह ज्ञानप्रधाना भक्तिको कर्म-प्रधाना भक्तिसे भिन्न नहीं माना गया, अपितु दोनोंका समन्वयात्मक रूप ग्रहणकर भक्तिको अपनाया गया है।

सिख-मत 'सिमरन'को महत्त्व देता है; क्योंकि इसके प्रवर्तकों-ने 'नाम' को एक प्रकारका खजाना कहा है और साथ ही यह भी बतलाया है कि भक्तोंके लिये यही पूँजी है, इसे सँभाल-कर रखनेकी आवश्यकता है—' नाम खजाना खरच धन, इया भगतनि की रासि।' परंतु जैसा कि पहले कहा गया है, इस खजानेके संचयके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं, अपितु घरमें रहकर ही इसे सचित किया जा सकता है। आवश्यकता है तो लगनकी, जो थोड़ी-सी एकाग्रतासे ही प्राप्त हो सकती है। चलते-फिरते, उठते-बैठते उस 'राम' का स्मरण ही भक्तको इस योग्य बना देता है कि वह नाम संचयके योग्य हो सके—

राम नाम उर मै गह्यो जाके सम नहिं कोय।
जहिं सिमरत संकट मिटै दरस तिहारो होय॥

इस तरह नाम-स्मरणको उस परम पुरुषकी प्राप्तिका साधन माना गया है।

नाम-स्मरण सदा ही मनुष्यको यह याद दिलाता रहता है कि 'मैं उसी महान् सत्ताका अंश हूँ और मुझे उसीमें मिल जाना है। भले ही इस अवस्थामें मुझे जीव कह लिया जाय, परंतु हूँ मैं उसका ही अंश। मुझे भक्तिद्वारा, स्मरणद्वारा उसकी प्राप्ति होगी।' यही कारण है कि गुरसिख अपनेको निर्भय मानता है—

भै ते निरभय होइ समाना। जिसु तै उपज्या तिसु मॉहि समाना॥

ऐसे गुरुमुख भक्तका विश्वास होता है कि जैसे एक सोनेके कंगन, कड़े और झूमर आदि अनेक आकार बनकर 'आभूषण' नाम धारण कर सकते हैं, उसी प्रकार यह जीव अनेक रूप धारण करता हुआ भी अन्ततः उसका ही अंश है; भेद है तो केवल आकारका, तत्त्वका नहीं।

---

* अजी सच्चे बादशाह! कई कहते हैं कि 'यदि ज्ञान इस (जीव) को हो तो भक्तिका क्या प्रयोजन है? ज्ञान ही इस (जीव) का उद्धार करता है।' इसपर गुरु महाराजने कहा—"ज्ञान भक्तिके बिना शोभा नहीं पाता, लँगड़ा है। जैसे घृत पात्रको भी और शरीर-को भी स्निग्ध करता है; परंतु यदि केवल घी पिये तो प्रथम तो मुख फीका हो जाता है और फिर शरीरमें पित्त प्रकुपित हो उठता है, पेट चलने लगता है तथा वह खाँसी भी उत्पन्न करता है। चार अवगुण (निरा घी खानेसे) होते हैं। उसीको यदि मिश्रीके साथ मिलाकर खाया जाता है तो मुँह भी मीठा होता है, खाँसी भी नहीं होती, पेट भी नहीं चलता तथा छाती भी नहीं बोलती। वैसे ही रूखे (भक्तिहीन) ज्ञानवाला कहता है 'मै ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि)।' प्रथम तो यह वचन शोभा नहीं पाता, दूसरे वह जानने लगता है कि स्वर्ग-नरक झूठ हैं। यदि विषयी होता है तो विषयोंसे निर्भय होकर पाप-कर्म करने लगता है और कच्चा ज्ञान होता है तो अन्य सभी कर्मोंको अहंकाररूप खाँसीद्वारा ढाह (त्याग) देता है। और छातीका बोझ यह है कि वह अपने समान किसीको नहीं समझता। पर भक्तिरूपी मिश्रीके साथ मिल जानेसे वह ज्ञानरूपी घी सभी विघ्नोंका नाश करता है तथा नित्य-प्रति बढ़ता जाता है और परमेश्वरको प्राप्त होता है।

सिख-मत अपने भक्ति-भावमें आर्य-समाज आदि मतों-की भाँति अवतारवादका खण्डन नहीं करता, अपितु उसे स्वीकार करता है। वह गीताके इस सिद्धान्तका—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

'साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

—आदर करता है। विशेषता यह है कि वह सभीमे उस परम पिता परमात्माकी झलक मानता है। यही कारण है कि सिख-मतमें अल्लाह, रहीम, कृष्ण, राम आदि सभीका नाम बिना किसी भेद-भावके लिया गया है।

अकाल पुरुष के हुकम तें संतन हेत सहाय।
मथुरा मंडल के विखै जनम धर्यो हरिराय॥

—इस प्रकारका विश्वास प्रत्येक गुरसिखके लिये आवश्यक है। इसके द्वारा वह सभीमें 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्मका रूप देखता है—

अच्युत पारब्रह्म परमेसर अन्तरजामी।
मधुसूदन दामोदर सुआमी॥
रिषीकेस गोवर्धन धारी मुरली मनोहर हरि रंगा।

—आदिमें कृष्णके इतने नामोंद्वारा उसे स्मरण करते हुए भी उसी परमेश्वरकी झाँकी देखनेका प्रयत्न किया गया है। गुरसिख-का विश्वास है कि जैसे सूर्यकी किरणें बिना किसी भेदभावके श्मशान और मन्दिरमें एक-जैसा प्रकाश करती हैं, ठीक उसी प्रकार वह ब्रह्म सर्वत्र ओतप्रोत है।

जिउँ पसरी सूरज किरन जोति।
तिउँ घट घट रमई आत पोति॥

अथवा—

जल थल बन परवत पाताल।
परमेसर तहँ बसहि दिआल॥
सूखम असथूल सकल भगवान।
नानक गुरमुख ब्रह्म पछान॥

इस तरह सभी जगह वह ब्रह्मकी व्यापकता मानता है। रामरूप हो या कृष्णरूप—सभी उस ब्रह्मके हैं, ब्रह्ममय हैं। इसीलिये वे सभी ग्राह्य हैं, स्तुत्य हैं और पूज्य हैं। इस तरह सिख-मतका सेवक नाम-स्मरण और नाम-कीर्तनद्वारा भेद-भावरहित दृष्टि रखकर अपनी भक्ति-भावनाको व्यक्त करता है और उसे अपनाकर परमपुरुषतक जानेका मार्ग प्रशस्त करता है।

सिख-मतकी 'कूका' शाखाकी भक्तिका वर्णन किये बिना लेख अधूरा रह जायगा, इसलिये उसकी ओर दृष्टिपात आवश्यक है। यह इसलिये भी कि कूका-सम्प्रदायने भारतके उस प्राचीन आदर्शको, जिसे अपनाकर दशमेश श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने भगवतीकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ-हवन आदि किया था, अपनी भक्तिका एक विशेष अङ्ग माना है। यों तो जिस गो-विप्रकी रक्षाके लिये नवम गुरु महाराजको अपना बलिदान देना पड़ा था, उसका पालन महाराज रणजीतसिंहजीके समयतक होता रहा; परंतु फिर भी सिख-मतके कुछ भागमें इस ओरसे उदासीनता आ गयी थी। इसलिये इसके पुनरुद्धारके लिये सतगुरु श्रीरामसिंहजी महाराजको क्षेत्रमें अवतीर्ण होना पड़ा। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'कूका'पंथमें गो-विप्र-रक्षा भी भक्तिका एक अङ्ग माना गया है। श्रीगुरु नानकदेवजीने बाबरके आक्रमणके समय होनेवाली भारतकी दुर्दशापर जिन शब्दोंमें आँसू बहाकर राष्ट्र-भक्तिका परिचय दिया है, निश्चय ही वह प्रशंसनीय है; परंतु वह मर्यादा रणजीतसिंह महाराजके बाद जब स्वार्थकी दीवारोंसे टकराकर ढीली पड़ने लगी, तब उसे गति प्रदान करनेके लिये 'कूका' सम्प्रदायने 'राष्ट्र-भक्ति' को भी अपने धर्मका एक अङ्ग बना लिया और इसके लिये अपने पूर्व-पुरुषोंके पद-चिह्नों—श्रीगुरु तेगबहादुरजीके बलिदान और दशमेश पिताके अनन्य त्याग और बलिदानोंको अपना आदर्श माना। इसके लिये 'कूका' पंथको अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं—जीवित ही तोपोंके आगे उड़ना पड़ा; परंतु उनका विश्वास था कि राष्ट्र-भक्ति भी उसी परमेश्वरकी भक्तिका रूप है; क्योंकि राष्ट्र भी उस परमात्माका ही स्वरूप है।

सतगुरु श्रीरामसिंहजीद्वारा भक्तिके अपनाये हुए अङ्ग—गो-विप्र-रक्षा, राष्ट्र-भक्ति, समानता, यज्ञ-हवन-विधान आदि आज भी श्रीसतगुरु प्रतापसिंहजी महाराजद्वारा उसी प्रकार रक्षित हैं और वे सदा ही इनके लिये समस्त कूकापंथको उपदेश और आदेश देते रहते हैं। सीधा-सादा रहन-सहन, नाम-स्मरण और कीर्तन 'कूका'पथमें भक्तिके विशेष अङ्ग माने गये हैं, जो एक अलग लेखका विषय है।

यहाँ केवल सिख-मतमें भक्तिके महत्त्वपूर्ण अङ्गों और

साधनोंके विषयमें ही दिग्दर्शन कराया गया है । अन्तमें एक बात कहकर इस लेखको समाप्त करें कि सिख-मतमें भक्तिके लिये बहुत कड़े बन्धन नहीं, अपितु हँसते-खेलते, खाते-पीते भी उसे अपनाया जा सकता है और ब्रह्मको प्राप्त किया जा सकता है । स्वयं गुरुवाणीमें संकेत है—

नानक सति गुरु भेटिय पूरी होवै जुगति ।
हसंदिआँ खेलंदिआँ पैनंदिआँ खावंदिआँ विचे हावे मुकति ॥

इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि सिख-मत मुसल्मानोंकी तरह केवल खुदापरस्तोंके लिये मङ्गलकामना नहीं करता और न काफ़रोंके नाश होनेकी दुआ माँगता है या उन्हें दण्ड देता है; अपितु उसकी भक्तिका आदर्श तो उस परम पिताके प्रत्येक जीवसे प्यार करना है, सबका भला सोचना है । उसका विश्वास है कि उसकी भक्तिकी सम्पूर्णता उसी हालतमें समझी जायगी, यदि वह सबसे प्रेम करता है । इस प्रकार सिख-मत अपने अंदर ज्ञानप्रधाना भक्ति, कर्मप्रधाना भक्ति, प्रेमप्रधाना भक्ति और राष्ट्रप्रधाना भक्तिको अपनाते हुए सबको समन्वयात्मक रूपमें एकरूप करके देखता हुआ प्रतिदिन माँग करता है—

नानक नाम चढदी कला, तेरे भाने सरवत्त दी भला । *

अबूका स्वप्न !

(मानव-भक्ति ईश्वर-भक्ति)

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

देदीप्यमान मुख-मण्डल, रोम-रोममें दिव्यता, प्रज्वलित प्रकाश!—देवदूतकी उँगलियाँ पुस्तकके पृष्ठोंपर पता नहीं क्या लिखनेमें संलग्न थीं।

प्रगाढ़ निद्रामें लीन अबू स्वप्नके स्वर्णिम संसारमें विचरण करते हुए सहसा इस दृश्यको देखकर स्तम्भित ही रह गया।

'क्या लिख रहे हैं आप ?' चौकन्ने हुए अबूके स्वरमें विनयका पूर्ण समावेश था।

'ईश्वर-भक्तोंके नाम !'—देवदूतका सरल, संक्षिप्त, शान्तिपूर्ण उत्तर था।

'हरि-भक्तोंके नाम ?'—अबूकी जिज्ञासा द्विगुणित हो चली थी—"क्या हरि-भक्तोंकी श्रेणीमें मेरे नामको भी सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है ?"

'नहीं !'

"नहीं !—तो मानव-भक्तोंकी श्रेणीमें मेरा नाम अवश्य अङ्कित कर लीजियेगा !"

'धन्यवाद !'—कहकर देवदूत अन्तर्धान हो गया।

× × × × × ×

दूसरे दिन देवदूत फिर आया। वही मुख-मण्डल, वही लेखनी, वही संलग्नता ! अहा ! अबूका नाम आज हरि-भक्तोंकी श्रेणीमें सर्वोच्चस्थानकी शोभा बढ़ा रहा था ! कह रहा था मानो गद्गद होकर स्पष्ट वाणीमें—

'मानव-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ ईश्वर-भक्ति है !'

---

* हे प्रभू ! हमारी कला चढ़ती रहे और सब किसीका भला हो ।

ईसाई-धर्ममें भक्ति

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

परमेश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु हैं। वे अपनी अपार सत्तामें स्थित रहते हुए अपनी सृष्टिसे अलग दीख पड़नेकी लीला भले ही कर सकते हैं, पर यह निश्चित है कि किसी भी परिस्थितिमें सृष्टि उनसे अलग नहीं रह सकती; परमात्माका उससे अभिन्न और शाश्वत सम्बन्ध है। समस्त भागवत-धर्म इसी सनातन सिद्धान्तपर अटल हैं। ईसाई-धर्म इसका अपवाद नहीं है; सृष्टिके साथ भगवान्के सम्बन्धमें उसका अमित विश्वास है। ईसाई-धर्मकी यह मान्यता है कि समस्त सृष्टि परमेश्वरकी कृपा-ज्योतिसे परम समुज्ज्वल और कृतार्थ है। भगवान्की कृपाका अनुभव उस व्यक्तिको होता है, जिसका अन्तःकरण निर्मल है; ऐसा ही व्यक्ति दूसरे लोगोंको भी परमेश्वरकी कृपा-ज्योतिसे सम्पन्न करता है। बाइबलका कथन है—

'कोई भी व्यक्ति अपने घरमें दीप जलाकर उसे घड़े या बिस्तरेके नीचे चादरसे ढक नहीं देता, अपितु उसे दीवटपर रख देता है जिससे भीतर आनेवाले प्रकाश प्राप्त करें—देख सकें।'

(नया विधान, संत ल्यूक ८। १६)

परमेश्वरकी भक्ति सार्वदेशिक और अनिवार्य है। जीवका स्वभाव ही है कि वह उनकी भक्ति करे, उनकी कृपासे सम्पन्न और कृतार्थ हो। संत आगस्तीनकी एक स्थलपर उक्ति है—'हे परमेश्वर, आपने हम लोगोंको अपनी सेवाके लिये पैदा किया है; हमारा हृदय तबतक विकल रहता है, जबतक वह आपमें स्वस्थ नहीं हो जाता है।' भगवान् भजन करनेवालोंको चाहते हैं। बाइबलका संकेत है—

'पर वह समय आता है और अब भी है, जिसमें सच्चे भक्त आत्मनिष्ठा और सत्यतासे परमेश्वरका भजन करेंगे; वे ऐसे भजन करनेवालेको चाहते हैं।' (नया विधान, जॉन ४। २३)

भगवद्भजन ईसाई-धर्मकी सनातनता—ऐतिहासिकताका मूलाधार है। अपने आपको भगवान्का पुत्र घोषित करनेवाले ईसाने भगवद्भजनका उपदेश दिया। उनकी पहली उक्ति है—

'मन इधर करो, परमेश्वरका राज्य निकट है।'

(नया विधान, मैथ्यू ४। १७)

ईसाई-धर्ममें भगवान्का स्वरूप परम कृपामय तथा परम प्रेममय निरूपित किया गया है। सब कुछ परम प्रकाशमय ईश्वरसे उत्पन्न, स्वीकार किया गया है। परमेश्वरने अपने पुत्र ईसाको जगत्के उद्धारके लिये भेजा, ईसाई-धर्ममें यह मान्यता प्रचलित है। ईसाई-धर्मके मूल-प्रवर्तक ईसा स्वीकार किये गये हैं। उनकी महत्ताका बाइबलमें वर्णन है—

'तब ईसा ने कहा—मैं जगत्की ज्योति हूँ; जो मेरे पीछे-पीछे चलेगा, वह अन्धकारमें नहीं चलेगा, जीवनकी ज्योति पायेगा।' (नया विधान, जॉन ८। १२)

निस्सन्देह ज्योतिर्मय ईसाके पीछे-पीछे चलकर, उनकी उपासना करके असंख्य प्राणियोंने—बड़े-बड़े संत-महात्माओंने परमेश्वरकी भक्तिके माध्यमसे जीवन-ज्योति पायी। ईसाई-धर्ममें भक्तिके स्वरूपका विवेचन बाइबल तथा संत-महात्माओंके चरित्र-निरूपण और वाणीमें पर्याप्तमात्रामें मिलता है। पन्द्रहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध संत टॉमस० ए० केम्पीका एक स्थलपर कहना है कि 'जो प्रभुको प्राप्त कर लेता है, वह संसारका सर्वोत्कृष्ट धन और वैभव प्राप्त कर लेता है। जो प्रभुको खो देता है, वह सब कुछ खो देता है। प्रभुमें अवस्थित होना ही सच्ची भक्ति है।'

ईसाई-धर्ममें भक्तिकी प्राप्ति (Realization) के आधारपर प्रार्थना, शरणागति—समर्पण, संत-महात्माओंकी सेवा, पापकी स्वीकृति (confession), तपस्या और परमानन्दमय जीवन स्वीकार किये गये हैं। उपर्युक्त भावोंकी सहायतासे परमेश्वरकी भक्ति सुलभ होती है। इनमेंसे विधिवत् एकका भी आश्रय ग्रहण कर लेनेपर कृपामय तथा प्रेममय प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं।

ईसाइयोंका पवित्र धर्म-ग्रन्थ बाइबल परमेश्वरकी भक्तिकी एक मूल्यवान् निधि है, इसके पाठसे मन परमेश्वरके प्रेममें निमग्न हो उठता है। यह धर्म-ग्रन्थ परमात्मासे प्रेम करनेकी सीख देता है। ईसाई-धर्ममें भगवान्, भक्त और भक्तिके प्रति महान् सम्मान प्रकट किया गया है।

ज्ञानदेवकी अकृत्रिम भक्ति-भावना

(लेखक—श्री वी० पी० बहिरट, एम्० ए०)

ज्ञानदेव महाराष्ट्रके एक महान् प्रतिभाशाली पुरुष हो गये हैं, जिनके भीतर काव्य, दर्शन और धर्मकी गम्भीर अनुभूतिका अद्भुत सम्मिश्रण प्राप्त होता है। वे महाराष्ट्रमें भक्ति-मार्गके संस्थापक कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि दूसरी शताब्दीमें होनेवाले महान् संत पुण्डलीकके द्वारा प्रवर्तित वारकरी-सम्प्रदायको इन्होंने एक दृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया।

ज्ञानदेव-कृत ज्ञानेश्वरी भगवद्गीतापर सर्वश्रेष्ठ मराठी टीका है। दार्शनिक दृष्टिकोणसे उनका लिखा हुआ 'अमृतानुभव' नामक ग्रन्थ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें उन्होंने अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट किया है तथा ईश्वर, जीव और जगत्के स्वरूपका वर्णन किया है। उन्होंने अपने प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्तोंकी समालोचना करके 'चिद्विलास' के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। उन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे साख्यके द्वैतवाद, चार्वाकोंके जडवाद तथा बौद्धोंके विज्ञानवाद और शून्यवादका खण्डन किया है। परंतु उनकी समालोचनाका मुख्य विषय अज्ञानवाद है। 'अमृतानुभव' के लगभग एक तृतीयांशमें इस सिद्धान्तका खण्डन किया गया है। उनकी यह मुख्य धारणा है कि अज्ञानका सिद्धान्त प्रमाणहीन है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाणके द्वारा भी यह प्रमाणित नहीं होता। अज्ञानका अनुसधान करनेपर भी हमें उसकी कदापि प्रतीति नहीं होती। अज्ञानकी स्थिति नमककी मछलीके समान है, जो न तो नमकीन पानीमें रह सकती है और न पानीसे बाहर। वह पानीके भीतर गल जायगी; क्योंकि वह पानी नमकरूप ही है और पानीसे बाहर निकलनेपर वह मर जायगी, क्योंकि उसके जीवनके लिये पानी अनिवार्य है।

अज्ञानवादका खण्डन करके ज्ञानदेवने यह दिखलाया है कि संसार अज्ञान या अविद्याका कार्य नहीं है, बल्कि यह प्रभुके प्रेम और शक्तिकी अभिव्यक्ति है। यह आत्मक्रीड़ा या चिद्विलास है। इस धारणासे उनकी अकृत्रिम भक्ति अथवा स्वाभाविक भक्तिकी भावनाका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ईश्वर प्रेमरूप है—यह ज्ञानदेवके तत्त्वज्ञानका मूल-मन्त्र है। चरम प्रेम स्वयं ही द्रष्टा और दृश्यके रूपमें अभिव्यक्त होता है। अतएव ईश्वरका स्वगत प्रेम ही चरम तथ्य है। यह केवल कविकी उक्ति नहीं है, बल्कि मूलतत्त्व है। जो कुछ जगत्के रूपमें भासमान हो रहा है, वह केवल आभासमात्र नहीं है, बल्कि प्रभु-प्रेमकी यथार्थ अभिव्यक्ति है। अभिप्राय यह है कि भक्ति या प्रभुका स्वगत प्रेम अल्प जीवकी भावना नहीं है, बल्कि चरम तत्त्वकी प्रकृति और हृदय है। इस प्रकार वह मानव-जीवन और जगत्का मूल उत्स है। प्रभु अपनेसे प्रेम करते हैं—इसका अर्थ है प्रभु मानव-जाति और जगत्से प्रेम करते हैं, जो उनकी अपनी अभिव्यक्तिके सिवा और कुछ नहीं हैं। इस ईश्वरीय प्रेमको हृदयगम करना, अनुभव करना और उसका आस्वादन करना—यही जीवनका लक्ष्य है। मधुर स्मरणकी यह अनुभूति ही अकृत्रिम या स्वाभाविक भक्ति है, जिसके सामने—ज्ञानदेवके विचारसे—ज्ञान और योगकी समाधिका आनन्द तुच्छ है। इस भक्तिका आस्वादन मुक्तिके आनन्दसे भी अधिक मधुर है। अतएव इसको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं।

इस प्रकार प्रभुका मनुष्यके प्रति प्रेम ही परमार्थ है। ईश्वरानुभूतिका अर्थ यह अनुभव करना है कि किस प्रकार प्रभु हमारे इस अल्प जीवनमें आत्मानुभव करते हैं। प्रभु-प्रेमकी यह मधुर स्मृति, यह अनुभूति हमारे हृदयको परम आनन्दसे भर देती है, हमारी बुद्धिको प्रकाशित करती है और हमको भक्ति-भावनासे कर्त्तव्य-कर्मको करनेकी प्रेरणा प्रदान करती है।

लीला-कथाकी महत्ता

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥

(श्रीमद्भा० १२।४।४०)

'जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं अथवा जो लोग अनेकों प्रकारके दुःख-दावानल-से दग्ध हो रहे हैं, उनके लिये पुरुषोत्तम भगवान्की लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त और कोई साधन, और कोई नौका नहीं है। ये केवल लीला-रसायनका सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं।'

एकनाथकी ऐकान्तिक भक्ति

(लेखक—कीर्तनाचार्य हरिदास श्रीविनायक गणेश भागवत)

एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ।

संत-शिरोमणि श्रीएकनाथ महाराजकी भक्ति एवं मुक्ति, उनका व्यक्तित्व तथा उनकी संसारासक्ति—सभी तत्त्व ऐकान्तिक रहे हैं। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—जैसे ब्रह्म अनिर्वचनीय है, वैसे ही नाथके विचार, वचन और आचार-सभी अनिर्वचनीय हैं। परब्रह्म चल है या अचल, सुखमय है या दुःखमय, बोलनेवाला है या मूक—इसका निर्वचन नहीं हो सकता; अतएव वह अनिर्वचनीय कहा जाता है। ठीक वैसे ही नाथको यदि संन्यासी कहा जाय तो वे पूरे गृहस्थ रहे। वे पत्नीसहित होकर भी अद्वितीय थे—'सद्वितीयोऽद्वितीयो वै'। उनका संसारमें रत्तीभर भी चित्त नहीं था। वे कमल-पत्रके सदृश सर्वथा अलिप्त रहे। वे वीर थे या शान्त—इसका भी पता पाना कठिन है। कारण, अपने गुरुके निकट रहते उन्होंने म्लेच्छोंके साथ युद्ध भी किया था और विजयी हुए थे, जिसके पुरस्कारस्वरूप उन्हें विधर्मी शासकसे ६० हजारकी जागीर मिली थी, जो अभी-अभी—राज्योंके विलयनतक उनके वंशजोंके अधिकारमें बनी रही।

नाथने कहा है कि भगवान्‌की प्राप्तिका मुख्य उपाय सब प्राणियोंमें भगवद्भाव रखना है, भक्तिका पूर्ण गौरव इसी बातमें है। स्वयं भगवान्‌ने भी श्रीमुखसे यही बात कही है। ऐसा सर्वभूतात्मदर्शी कभी किसीके द्वारा किये गये अपकारपर क्रुद्ध नहीं होता। उसमें उस समय भी अटल शान्ति बनी रहती है। नाथकी शान्ति भी लोकप्रसिद्ध है। एक बार एक यवनने पान खाकर १०८ बार उनपर थूका, पर महाराज निर्विकार ही बने रहे। अपनी शान्तिसे उन्होंने उसे भी शान्त ब्रह्म बना दिया। आखिर उनकी शरण आकर वही यवन कहने लगा—

मेहजदमें अल्लाह खडा, और जगह क्या खाली पडा ?

जिधर देखो उधर खुदा
　　नमाजकी दरकार नहीं, बाबा।
तीस दिन तो रोझेंके
　　और दिन क्या चोरोंके।
एका जनार्दन का बंदा
　　जमीन आसमान भरा है खुदा।

नाथके ऐसे कई उदाहरण हैं। अब इन्हें क्या कहा जाय ! एकनाथ महाराज बहुत बड़े पण्डित थे। उन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंपर मराठीमें टीकाएँ लिखी हैं और उनमें 'च' 'वा' 'तु' का भी विश्लेषण करते हुए नई जगह अनूठे भाव व्यक्त किये हैं। फिर भी उनका कोई स्वतन्त्र संस्कृत-ग्रन्थ नहीं। उनके अनिर्वचनीय पाण्डित्यकी यह एक बहुत बड़ी कड़ी है। वामन-पण्डित-जैसे सर्वगात्मज लिखते हैं—

आचार्यत्वाय बहवः सेविता भूतले मया।
आत्मोपदेशसमये गुरुत्वेन न मानिताः ॥
प्राकृतग्रन्थकर्तारो ये तु वर्षशतात् पुरा।
त्यक्तदेहास्त्वैर्यथोक्तं न तथा ज्ञानिनोऽधुना ॥

यहाँ वामन-पण्डितने 'वर्षशतात् पुरा' से नाथ महाराजकी ओर ही सकेत किया है। इस श्लोकके लिखनेके ठीक एक सौ वर्ष पूर्व नाथने 'भागवत' पर टीका पूरी की थी।

श्रीनाथका यही विरद था कि 'जो स्त्री-शूद्रोंके लिये अध्येतव्य नहीं, उस ज्ञानसे वे लोग भी वञ्चित न रहें। वे भी स्वधर्मनिष्ठ बनकर अन्तमें भगवद्रूप बन जायँ।' इसीलिये प्राकृतमें ही उन्होंने सारी रचनाएँ कीं। उनकी सर्वभूतात्मा जनता-जनार्दनकी प्रायोगिक भक्तिका यह कितना बड़ा प्रमाण है ! उनके 'गीता-सार' की समाप्तिके वचनोंसे स्पष्ट है कि वे इस कार्यके करनेसे कितनी तृप्तिका अनुभव करते रहे। वे कहते हैं—'एका (एकनाथ) गुरु जनार्दन (के चरणों) में निज ध्यान लगाकर गीता-सार पूर्ण कर रहा है।' उन्होंने मराठी बोलीमें परब्रह्मज्ञान यहाँ उँड़ेल दिया है। लिङ्गदेहरूप ग्रन्थि खोलकर जनार्दन ही सारे जनों और वनोंमें अब प्रकट हो गया।

नाथकी लालसा ऐसी थी कि छोटे बच्चोंसे बूढ़ेतक, यवनसे लेकर ब्राह्मणतक, सभीको यथायोग्य उनकी बुद्धिके अनुसार ज्ञान प्राप्त हो। इसीलिये उन्होंने कुम्हारी, बाजीगर, कुत्ता, खेलाड़ी आदि विषयोंपर अनेक प्रकारके पद बनाकर सर्व-साधारणको ऐकान्तिक आनन्दका अनुभव करा दिया। आज भी कई मुसल्मान महाराजका दर्शन किये बिना अन्न ग्रहण नहीं करते। उन्होंने उत्सवाङ्ग 'ललित-लीला'के रूपमें मुसल्मान और हिंदूके बीच वार्तालाप कराकर उनसे अल्लाहके चोटीके सिद्धान्त रख दिये और उन दोनोंको एक समय निर्वैर बना दिया था। यह कितनी बड़ी राष्ट्रभक्ति है ! आज जिसके लिये हमारे राष्ट्र-नायकोंको भारी सिरदर्द हो रहा है, उसे नाथ-

ने इस तरह अपनी ऐकात्म्य-भक्तिसे करतलामलकवत् बना दिया। उन्होंने बड़े गर्वसे कहा है कि हमें काल करवाल लेकर काटने आया, पर हमें देख वह परम कृपालु बन गया। आखिर यह किस उपायका जादू है ? कहना पड़ता है कि यह एकमात्र नाथकी ऐकात्म्य-भक्तिका सुपरिणाम है।

श्रीएकनाथको उनके गुरु श्रीजनार्दन पंत महाराजने अध्यात्ममें पूर्ण निष्णात करा दिया। फिर भी सगुणोपासनाके बिना व्यवहारमें प्रकाश नहीं हो पाता, इसलिये गुरु महाराजने उन्हें श्रीकृष्णके मन्त्रकी दीक्षा भी दी और शूलभञ्जन पर्वतपर अनुष्ठानार्थ जानेके लिये कहा। नाथनें वहाँ जाकर कठोर साधना की। एक दिन एक बहुत बडा सर्प उन्हें काटनेके लिये आया। नाथने परम शान्त भावसे उसे स्पर्श कर दिया। फलतः वह एकदम शान्त, साधु बन गया और रोज नाथके शरीरको वेष्टितकर रहने लगा। गुरुके सगुण-निर्गुण अनुग्रहसे नाथका जीवन कितना निखर उठा—यह उनके इस हिंदीपदसे ही स्पष्ट है—

गुरु कृपाञ्जन पायो मेरे भाई
राम बिना कछु जानत नाहीं।
अंदर राम बाहिर राम
जहाँ देखो वहाँ पूरन काम॥
जागत राम सोवत राम
सपनेमें देखे राजाराम।
एका जनार्दनो अनुभव नीका
जहाँ देखो वहाँ राम सरीखा॥

अब नाथ सगुणोपासक थे या निर्गुणोपासक, यह तय कर पाना कठिन है। इतना निश्चित है कि उनकी भक्ति ऐकान्तिकताको अवश्य प्राप्त हो गयी थी। वे एक जगह जहाँ यह कहते हैं कि ''भगवान् जो-जो अवतार धारण करते हैं, उसे तुम 'मैं ही हूँ' ऐसा मानो, हरि-नामका घोष करके जगत्‌को उबारो।', वहीं दूसरी जगह वे कहते हैं कि 'एक जनार्दन गोविन्द ही विश्वरूप धारण किये हैं; जो उनमें भेद माने, वह निन्द्यसे भी अतिनिन्द्य है।'

नाथ नित्य सदावर्त, संतर्पण और ब्राह्मणोंका षोडशोपचार पूजन करके उन्हें ससम्मान भोजन कराते थे। वर्णाश्रमनिष्ठा और ब्राह्मणभक्ति उनमें कूट-कूटकर भरी थी। ब्राह्मण-भोजन और उनका पादोदक ग्रहण करनेके पूर्व वे अन्न ग्रहण नहीं करते थे। उनके विप्र-संतर्पणका विराट् दृश्य आज भी चैत्रकृष्णा षष्ठी (नाथषष्ठी) के दिन उनके पैठनमें देखनेको मिलता है। उन्होंने ब्राह्मणोंकी गालियाँ खायीं, तरह-तरहके उनके दण्ड भुगते, फिर भी 'ब्राह्मणो मामकी तनुः' —इस भगवद्वाक्यपर दृढ निष्ठा बनाये रहे। ब्राह्मणोंके कहनेपर उन्होंने अनेक बार प्रायश्चित्त किया, जब कि वे निस्त्रैगुण्यमें नित्य विचरते रहे। उनकी ऐसी ब्राह्मणभक्ति थी।

एक बार वे मध्याह्नकृत्य सम्पन्नकर गोदासे घर लौट रहे थे कि मार्गमें तपी बालूमें उन्हें मातासे बिछुड़ा हुआ एक अन्त्यज बालक मिला। शुचिताके साकार विग्रह श्रीनाथने तत्काल उसे गोदमें उठा लिया। स्वयं अग्रज (रक्षक) होनेके नाते अन्त्यज (रक्ष्य)-रक्षाकी निष्ठासे वे सीधे अन्त्यजोंकी बस्तीमें जा पहुँचे और बिछुड़े बालककी माताको खोज उसे उसकी गोदमें सुला दिया। 'विद्याविनयसम्पन्ने······' का इससे अच्छा प्रायोगिक भाष्य क्या हो सकता है ? नाथ समदर्शी पण्डित थे, समवर्ती या समभोजी तथाकथित हरिजनोद्धारक नहीं। इससे भी नाथकी सर्वभूतात्मभक्ति स्पष्ट है।

अपनी इस ऐकान्तिक भक्तिके फलस्वरूप ही विश्वपति भगवान्‌को उन्होंने अपने घरका 'पनभरा' बना लिया, जिसका अनुभव आज भी लोगोंको पैठनमें मिलता है। उनकी कॉवर आज भी कौन भर देता है और कितना ही पानी निकालनेपर भी वह कैसे लबालब भरी रहती है, यह भगवान् ही जानता है।

तपी बालूमें तृषासे तड़पते गदहेको, रामेश्वरपर चढ़ानेके लिये गङ्गोत्रीसे लायी हुई कॉवरका पानी पिलानेवाले और 'जय रामेश्वर प्रभुकी' कहकर अन्तमें उसकी तीन प्रदक्षिणा करनेवाले नाथ आजके तथाकथित अन्त्यज-भक्त नहीं, सर्वभूतात्माके एकान्तभक्त ही थे। यही कारण है कि त्रिदेवमूर्ति परम योगेश्वर श्रीदत्तात्रेय इस त्रिगुणातीत महात्माके द्वारपाल बने और परम कर्मयोगी योगेश्वरेश्वर पूर्णावतार श्रीकृष्ण उनके चरणसेवक बनकर उनके चरणतीर्थका प्राशन करते रहे। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का प्रत्यक्ष स्वरूप सिवा ऐसे ऐकान्तिक भक्तके कहाँ दीख सकता है ?

अब उन्हींके एक पदसे उनकी इस एकान्त भक्तिका सरणकर यह लेख पूर्ण किया जाता है। यह पद उनकी ऐकान्तिक भक्तिका जीता-जागता प्रमाण है। वे कहते हैं—

स्वजन जनार्दन, विजन जनार्दन, जनी तो जनार्दन, अन्तर्बाह्य।
जनक जनार्दन, जननि जनार्दन, जीवित जनार्दन, होउनि ठेला॥

भाव जनार्दन, स्वभाव जनार्दन, कर्म जनार्दन, धर्म जनार्दन।
सुख जनार्दन, दुःख जनार्दन, ध्येय जनार्दन, ध्यान जनार्दन
एका जनार्दनी, ध्यान कैंचे ॥

इस तरह ध्येय, ध्याता और ध्यानसे परे, संसारमें रहकर भी संसारातीत, सगुण होकर भी निर्गुणकी अन्तिम कक्षा श्रीएकनाथ महाराजकी यह एकान्त भक्ति अखिल विश्वको विशुद्धकर परमामृतसे आप्लावित करे—यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

वामन-पण्डितकी दृष्टिमें भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीबलिरामजी शास्त्री सराफ, एम्० ए०, आचार्य)

‘गीताका महत्त्व संसारके किसी भी विज्ञ पाठकसे छिपा नहीं है। समय-समयपर विभिन्न आचार्योंने उसका विवेचन बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढगसे किया है। मराठी सत भी इससे नहीं चूके। सत ज्ञानेश्वरकी ‘ज्ञानेश्वरी’ तो भारतीय अध्यात्म-वाङ्मयकी जागती ज्योति है। मराठीके अध्यात्म-परक एव भक्ति-विषयक वाङ्मयमें साहित्यिक धाराका अविरल प्रसाद-गम्भीर प्रवाह बहानेवाले और ‘यमक’में अपना सानी न रखनेवाले शास्त्रज्ञ कवि वामन-पण्डितने भी ‘यथार्थदीपिका’ नामक इसकी विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने भक्तियोगके प्रसङ्गमें प्रौढ एवं मार्मिक युक्तियोंद्वारा सगुण भक्तिकी अनुपेक्षणीयता सिद्ध की है।

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंकी चर्चा करते हुए कहा है कि इनमें ज्ञानी ही सर्वोत्तम भक्त है; क्योंकि स्वय भगवान् ही उसके एकमात्र ध्येय तथा उपास्य होते हैं। यों तो सभी भक्त अध्यात्मदृष्टिसे श्रेष्ठ हैं, उदार हैं; परतु ज्ञानी तो भगवान्‌की आत्मा ही है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

गीताका नवम अध्याय राजविद्या और राजगुह्यरूपी भक्ति-योगका प्रतिपादक होनेसे सभी टीकाकारोंने यहाँ अपनी-अपनी बुद्धिके घोड़े खूब दौड़ाये हैं, पर सगुण-भक्तिके विवेचनमें वामन-पण्डितका स्थान दूसरा कोई ग्रहण न कर सका। सगुण-भक्तिके सारको अग्रिम एक श्लोककी व्याख्यामें ही कविने वर्णित किया है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

उन्होंने लिखा है—‘क्या परमेश्वरकी स्तुतिके लिये विशिष्ट भाषाका प्रयोग होना चाहिये ? नहीं, भक्तियुक्त मनका होना ही पर्याप्त है, फिर भाषा जो भी हो।’ यही भाव बड़े जोशभरे एवं प्रासादिक शब्दोंमें व्यक्त करते हुए वे आगे लिखते हैं—

“गजेन्द्रने किस शास्त्रका अध्ययन किया था ? दुधमुँहे बालक ध्रुवने कौन-सी पण्डिताईसे ‘ध्रुवपद’ प्राप्त किया ! दासी कुब्जाने कौन-सी संस्कृत पढ़कर भगवान्‌को पाया ! सचमुच यही कहना पड़ेगा कि भक्ति बड़ी है, जिसका अवलम्ब लेकर उपर्युक्त भक्तोंने प्रभुपद प्राप्त किया। अतः यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भक्ति चन्द्रमा है, तो भक्त उसे पानेवाले चकोर। भक्ति मेघ है, तो भक्त मयूर। इस तरह प्रभुपदकी प्राप्तिके लिये सच्चा भाव, सच्ची भक्ति आवश्यक है, भाषा कैसी भी हो।” पुनः उसी बातको दुहराते हुए वे कहते हैं—‘भगवन् ! तुम्हारे चरणोंका सानिध्य पानेके लिये भाषा नहीं, प्रेमयुक्त अन्तःकरण चाहिये।’

वामनके शब्दोंमें तो गीतोक्त भक्ति-तत्त्वको वही जान सकेगा, जो श्रीकृष्णका सच्चा भक्त हो। इनके भक्तिके विवेचन तथा प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें की जानेवाली श्रीकृष्णकी स्तुतिसे जान पड़ता है कि ये १५ वीं शतीके श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायके बहुत अंशोंमें अनुयायी थे। इनके मतसे यदि विद्या केवल निर्गुण अद्वैतका ज्ञान करा देती है तो ‘राजविद्या’ जडगत चैतन्यके भी दर्शन कराती है। और भी, वेदान्तशास्त्र अद्वैतप्रतिपादक होनेसे गुह्य है, तो नश्वर तथा जडपदार्थ भी ब्रह्म हैं—इस ज्ञानको ‘राजगुह्य’ कहते हैं।

वामन-पण्डितकी दृष्टिमें गीताका लक्ष्य केवल निर्गुण अद्वैतका प्रतिपादन नहीं, अपितु इससे भी अधिक कुछ और ही बतलाना है। बच्चेको जिस प्रकार चीनी भाती है, उसी प्रकार निर्गुणोपासकको निर्धर्मक ब्रह्म। पर उसी शक्कर-की यदि प्रतिमा बना ली जाय तो उसकी मिठासके साथ-ही-साथ उस कृतिकी कुशलताकी ओर जैसे प्रौढ भी आकृष्ट हो जाता है, ठीक उसी तरह भक्त भी निर्गुण परब्रह्मके सगुण स्वरूप

की प्रौढि जानकर उसकी भक्ति करता है। तात्पर्य यह कि निर्गुणोपासक यदि बाल है, तो सगुणोपासक प्रौढ। इस प्रकार यह सारा विश्व ईश्वरकी मायाद्वारा रचित है और परमेश्वर ही विश्वरूपमें प्रकट होनेसे भक्त उनकी इस माया-रचनाको त्याज्य नहीं मानता। अर्थात् भगवद्रूपसे वह भी सेवनीय है, यही वामनने माना है। अन्न तथा लवण दोनोंकी जैसे उपयोगिता है, वैसे ही निर्गुण परमात्माका ज्ञान तथा विश्वको भगवद्रूप मानना भी आवश्यक है। इसी बातको वामनने मराठीमें इस प्रकार कहा है—

नुसते भक्षिता लवण। तृप्त जाला ऐसा कवण॥
आणि लवणा वाचोनि जेवण। कोण गोडीने जेविला॥

तात्पर्य यह है कि नाम-रूपात्मक मायांग विश्वको त्याज्य न मान, उसे परमात्माका ही स्वरूप समझकर सगुण परमात्माकी भक्ति करना ही गीताका प्रतिपाद्य है। इसीलिये भगवान् विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश देते हैं। ठीक इसके विपरीत संत ज्ञानेश्वरजीने तो नाम-रूपात्मक विश्वके विज्ञानको त्याज्य ही माना है। अर्थात् उनके मतमें मायांश त्याज्य और निर्गुण परमात्मा ही ग्राह्य है।

गीतामें सगुण-भक्तिका ही प्रतिपादन होनेसे वामनने नवम अध्यायके तीसरे श्लोकमें आये 'अस्य धर्मस्य' पदका अर्थ करते हुए कहा है कि 'विश्वका परमेश्वररूपसे जो सगुण-ज्ञान है, उस (सगुण-ज्ञान) की प्राप्तिका सुगम साधन भक्ति ही है।' अन्यत्र भी भक्तिको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हुए वे कहते हैं कि 'कर्मयोगसे श्रेष्ठ ज्ञानयोग और उससे भी श्रेष्ठ यह भक्तियोग है।' इसी प्रकार यहाँ सर्वात्मभक्तिका ही श्रेष्ठरूपमें वर्णन हुआ है। यहीं उपर्युक्त गीताके श्लोककी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं "कि यहाँ यद्यपि 'पवित्रम्' शब्दका 'केवल निर्गुणके मायाविरहित नाम-रूपात्मक सृष्टिसे शून्य ज्ञान' यह अर्थ है तथापि 'उत्तमम्' पदके वहाँ विशेषण होनेसे उन्हें सगुणका भी ज्ञान अपेक्षित जान पड़ता है।" इसी प्रकार स्थावर-जङ्गमात्मक सगुणस्वरूप त्याज्य न होनेसे 'प्रत्यक्षावगमम्' पदका अर्थ 'प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाला' न करके स्थावर-जङ्गमात्मक इस प्रत्यक्ष जगत्का पुरुषोत्तमरूपसे अवगम होना ही वे 'प्रत्यक्षावगम' मानते हैं। इसी प्रकार वे विश्वका वास्तविक नाश न मानकर तिरोभाव होना मानते हैं। तात्पर्य यह है कि ईश्वररूप विश्वका आविर्भाव-तिरोभाव होता है, नाश नहीं। इसीलिये तो ईश्वरका स्वरूप एवं ज्ञान दोनों ही अव्यय हैं। इस प्रकार अद्वैती जिसे भास किंवा माया कहते हैं, उसे ही भक्त भगवान्का रूप समझते हैं और यही भक्तियोग गीताका प्रतिपाद्य है। गीतोक्त भक्तिको 'शुद्धाभक्ति' कहा गया है। शुद्धाभक्तिसे ही प्रेमका उदय होता है।

प्रेमका दूसरा नाम 'रागानुगा भक्ति' है—अर्थात् वह भक्ति, जिसमें भगवान्के प्रति आसक्ति होती है। इसी भक्तिको सामान्यतः 'रति' कहते हैं। वह भगवत्-प्रेमरूपा ही है, जिसमें भगवान्के प्रति ममता होती है। यही उपर्युक्त भक्ति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यके भेदसे कई प्रकारकी कही गयी है। कवि वामनकी भक्ति भी 'दास्यभाव' की ही प्रतीत होती है।

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

इस गीतोक्तिको ध्यानमें रखकर कविकी दृष्टिमें वही भक्त कैवल्य भी पाता है जो सगुण भगवान्में अनन्य भक्ति करता हुआ अपने समस्त कर्मोंको दासकी तरह प्रभुके चरणोंमें अर्पण करता रहता है। अन्तमें वामन-पण्डित इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि समस्त दुर्गतियोंके संतरणका एकमात्र साधन अनन्यभावसे भगवान्की भक्ति करना ही है। अन्यथा जिस प्रकार सुरा-कलशोंको पवित्र नदियाँ शुद्ध नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार भगवान्के चरणोंमें दास्यभावकी भक्तिके बिना सभी कर्म निष्फल हैं।

वालिकी अन्तिम भावना

वानरराज बालि कहते हैं—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

श्रीनरसीकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुवे, साहित्यरत्न)

भूतळ भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोक माँ नाहीं रे।
पुण्य करी अमरापुरी पाम्या, अन्ते चोराशी माहीं रे॥
हरिना जन तो मुक्ति न मागे, मागे जन्मोजन्म अवतार रे।
नित सेवा नित कीर्तन ओच्छव, नीरखवा नंदकुमार रे॥
भरतखंड भूतळमाँ जनमी, जेंणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एना मात पिताने, सफळ करी एणे काया रे॥

'इस पृथ्वीतलपर भक्तिरूपी एक महान् पदार्थ है। वह ब्रह्मलोकमें नहीं है। जिन्होंने पुण्योंके द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया, वे भी अन्तमें (स्वर्गके सुख भोग लेनेपर पुनः कर्मानुसार) चौरासीके चक्करमें गिर पड़े। हरिके भक्त तो मुक्ति न माँगकर वार-वार जन्म ही माँगते हैं, जिससे वे नित्य सेवा, नित्य कीर्तन, नित्य उत्सवमें नन्दकुमारको निरखते रहें। इस पृथ्वीपर जिन्होंने भरतखण्डमें जन्म लेकर गोविन्दके गुणोंका गान किया, उसके माता-पिताको धन्य है और उन्होंने भी अपना जीवन सफल कर लिया।'

यह पद्यांश भक्तवर श्रीनरसी मेहताका है। श्रीनरसी मेहता अद्भुत भक्त थे। इनका भगवत्प्रेम एवं भगवद्-विश्वास अनूठा था। ये जन्मसे गूँगे थे; किंतु हाटकेश्वर महादेवके समीप बैठे हुए एक संतकी दयासे इनके मुखसे सर्वप्रथम निकला था 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' और यही 'राधाकृष्ण' इनके जीवनका आधार बन गया था।

इनके बाल्यकालमें ही इनके माता-पिता स्वर्ग सिधार गये थे। बड़े भाई वशीधर, उनकी धर्मपत्नी तथा उनकी दादी जयकुँवरिने इनका पालन किया था। गृहस्थ-धर्ममें प्रविष्ट होनेपर इन्हें एक कन्या तथा एक बालक भी उत्पन्न हुआ। कन्याका नाम कुँवरबाई तथा बालकका नाम शामलदास था। दादी जयकुँवरि कुँवरबाईका विवाह काठियावाड़के 'ऊना' नामक गाँवके श्रीमन्त नागर श्रीरङ्गधर मेहताके पुत्र वसन्तरायके साथ अपने सम्मुख कराकर कुछ ही दिनों बाद इस असार संसारसे विदा हो गयीं। अब वशीधर तथा उनकी धर्मपत्नी इनके परिवारकी देख-रेख करते। जेठानीका स्वभाव कुछ तेज था। वह नरसीजी तथा उनकी पत्नीको ऐसे विषाक्त वाक्शरोंसे बेधा करतीं, जिसे सह लेना साधारण मनुष्यके वशकी बात नहीं। नरसीजी दिनभर घोड़ेके लिये घास काटते और सायंकाल विषाक्त वाणीके साथ रूखी-सूखी रोटी खाकर भी चुप रहते। 'राधाकृष्ण' मन्त्रका जप चलता रहता। एक दिन इन्हें ऐसी दुत्कार मिली कि घर छोड़कर भागना पड़ा।

वे 'राधा-कृष्ण' जपते हुए निरुद्देश्य बढ़ते गये—बढ़ते गये। लगभग बारह कोस जानेपर एक वनमें पहुँचे। सन्ध्या हो गयी। देखा, समीप एक सरोवर तथा प्राचीन शिव-मन्दिर है। स्नान किया, कुछ फूल तथा बिल्वपत्र तूँट लिये। मन्दिरमें शिवलिङ्गकी पूजा की और शिवलिङ्गको अङ्कस्थकर रोने लगे। भगवान् शशाङ्कशेखरसे अपनी विपदा सुनाने लगे। घंटे-दो-घंटे नहीं, सात दिन और सात रात्रियाँ निर्जल प्रार्थना एवं रुदनमें बीत गयीं। निशि-वासर भक्तकी अश्रुमुक्ताएँ शिवलिङ्गपर पड़ती रहीं। भोलानाथ प्रकट हुए और नरसीको जो दिया, वह विरले भाग्यवान्को मिल पाता है। भगवान् शिव नरसीको श्रीकृष्णके परमधाम द्वारकामें ले गये। भगवान्के दर्शन हुए। भगवान्के दिव्य-रासका साक्षात् दर्शन उन्होंने किया। भगवान्की आज्ञासे ये पुनः अपने गाँव जूनागढ लौट आये।

भाई और भाभीकी कटूक्तियों और उनके असद्-व्यवहारसे भगवान्के विश्वासपर ये पत्नी और पुत्रसहित घरसे निकल पड़े। रहनेको कोई जगह नहीं थी, पर भगवान्पर दृढ विश्वास था। धर्मशालामें ये भगवान्से प्रार्थना करते रहे और दूसरे दिन भगवत्कृपासे इनके निवास और भोजनादिकी सारी व्यवस्था हो गयी।

श्रीनरसीजीका विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता गया। भगवान्को इन्होंने सर्व-समर्पण कर दिया। इनका अपना कुछ नहीं था। जो कुछ था, सब उनके प्राण-प्रियतम श्रीनटनागरका था। श्रीकृष्ण ही इनके सब कुछ थे। वे ही इनके प्राणधन एवं प्राणाराम थे और इनका प्रत्येक कर्म नटवरकी सन्तुष्टिके लिये ही होता था।

इनकी भक्ति अनुपम थी, निशि-वासर भगवान्के स्मरण, चिन्तन एवं भजनमें ये तल्लीन रहते। साधु-सङ्गमें भगवन्नामके कीर्तनमें इन्हें बड़ा रस मिलता। श्रीकृष्णके अतिरिक्त इनका और कोई आश्रय नहीं था। श्रीकृष्ण-चरणोंमें इनकी अनन्य श्रद्धा, अनन्य प्रेम एवं अनन्य भक्ति थी।

इनके जीवनमें अनेक कठिन परिस्थितियाँ आयीं, जिनसे साधारण जनकी तो बात क्या—बुद्धिमान् व्यक्ति भी विचलित हो जाता है; किंतु भक्तराज नरसी मेहता सर्वथा निर्द्वन्द्व रहते और मन-ही-मन कहते—'प्रभुकी जैसी इच्छा हो, करें।' यही कारण था कि भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु दयामय प्रभु सदा इनकी चिन्ता करते रहे।

इनकी परमोज्ज्वल एवं परमोत्तम भक्तिका प्रमाण इनके जीवनमें पद-पदपर देखनेमें आता है। भक्तिप्रिय प्रभु स्वयं इनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये पधारते थे। एक बार, दो बार नहीं—अनेक बार स्वयं भगवान् इनका कार्य करनेके लिये विभिन्न वेषोंमें पधारे थे। कुँवरबाईकी विदाईके समय स्वयं भगवान्ने इन्हें वस्त्राभूषण दिये। धनहीन होनेपर भी इनके पुत्र शामलदासका विवाह धनवान् घरमें सम्पन्न कराया।

इतना होनेपर भी भक्तराजके मनमें किंचित् भी अहंकार उत्पन्न नहीं हुआ। वे तो अपने प्रियतम प्राणाधारके प्यारमें तन्मय रहते थे। जगत्की प्रत्येक क्रियामें भगवान्के मङ्गलमय कर-कमलोंकी कृपाका अनुभव करते थे। सुखमें हर्ष और दुःखमें विषादकी छाया भी उनके जीवनपर नहीं पड़ पाती थी। वे तो सदा-सर्वदा करुणामय प्रभुकी कृपाके दर्शन करके आनन्दनिमग्न रहते थे और यही सच्चे भक्तकी कसौटी है।

भगवान्ने श्रीनरसीजीके पुत्रका विवाह किया—यह भगवान्की कृपा थी; किंतु कुछ ही समय बाद युवक पुत्र (युवती सहधर्मिणीको छोड़कर) इस असार-ससारसे चल बसा। कितनी हृदयवेधक एवं असह्य स्थिति थी। मनुष्य अधीर हो जाता है, चीत्कार कर उठता है ऐसे दारुण समयमें; किंतु मृत पुत्रको देखकर भी नरसीने करताल उठायी और गा उठे—

> भलुं थयु भाँगी जंजाळ,
> सुखे भजीशुं श्रीगोपाळ।

'अच्छा हुआ, जजाल छूटा। अब सुखपूर्वक श्रीगोपालका भजन करूँगा।'

ऐसे भक्त ही भगवान्को प्रिय होते हैं। ऐसे ही निर्भर भक्तोंके लिये भगवान्को चिन्ता करनी पड़ती है और ऐसे ही जीवके लिये प्रभु वैकुण्ठ छोड़कर ही नहीं भागते, छायाकी भाँति उसका योग-क्षेम-वहन करनेके लिये उसके पीछे-पीछे लगे रहते हैं।

नरसीजी यदि कभी कुछ कहते भी तो अपने स्वामीसे ही। जगन्नाथके अतिरिक्त उनका और कोई था भी नहीं, जिससे वे कुछ कहते। वे भगवान्के नाममें ही सब कुछ समझते थे। उन्हींके शब्दोंमें—

> संसारनो भय निकट न आवे,
> श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाळ गातॉं।
> ठगयों परीक्षित श्रवणे सुणतॉं,
> ताळ वेणा विष्णुना गुण गातॉं॥

'श्रीकृष्ण, गोविन्द, गोपाल गानेपर संसारका भय निकट नहीं आता। बिना ही तालके गाये हुए विष्णुके गुण कानोंसे सुनकर परीक्षित् तर गया।'

भगवान्को भक्ति अत्यन्त प्रिय है। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं—

> बाळक ध्रुवने दृढ भक्त जाणी, अविचळ पदवी आपी।
> असुर प्रह्लादने उगारी लीधो, जनम जनमनी जड़ता कापी॥

'बालक ध्रुवको दृढ भक्त जानकर आपने अविचल पदवी दी, असुर प्रह्लादको बचा लिया और उसकी जन्म-जन्मान्तरोंकी जडता काट दी।'

भक्त श्रीनरसी मेहता संसारको दुःखालय मानते और इससे त्राण पानेके लिये भगवच्चरणाश्रयके लिये जगत्को प्रेरित करते। वे कहते—

> समरने श्रीहरि, मेल ममता परी, जोने विचारीने मूळ ताहूँ।
> तुँ अल्या कोणने कोने वळगी रह्यो, वगर समजे कहे मारूँ मारूँ॥

'श्रीहरिका स्मरण कर, ममताको दूर कर, विचार करके देख तेरा मूल क्या है? अरे! तू कौन है और किसमें चिपट रहा है? बिना समझे ही मेरा-मेरा कहता है।'

भक्तराजके मनमें संसारकी ममताके लिये किंचित् भी स्थान नहीं था, उनके हृद्देशमें तो उनके जीवन-सर्वस्व श्रीकृष्ण सतत पीयूषवर्षिणी वंशी फूँका करते थे। नरसीके श्रीकृष्ण थे और श्रीकृष्णके नरसी। इसके अतिरिक्त नरसीको अपने तन-मन अथवा किसी भी वस्तुकी सुधि नहीं थी। आप गये पिताका श्राद्ध करनेके लिये घी लेने और एक दूकानपर बैठकर लगे भजन गाने। भजन जब आरम्भ हुआ, तब तो ससारका स्मरण कुछ इनके वशकी बात नहीं थी। सूर्यदेव अस्ताचल सिधार गये। आपका भजन चलता रहा। रात्रिमें घी लेकर लौटे तो पता चला, सारे ब्राह्मण—जिनकी सख्या शताधिक थी—भोजन करके चले गये। अच्छे-अच्छे मिष्ट पक्वान्न बने थे उनके यहाँ। वे चकित थे। अन्ततः उन्हें पता चला कि

भगवान् ही उनके वेषमें श्राद्ध सम्पन्न कर गये थे। नेत्रोंसे अश्रु झरने लगे। पर उनके श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रहते, जिनपर वे सर्वस्व अर्पित कर चुके थे, जिनके लिये वे रात-दिन रोते रहते और जिनके नामकी वे निरन्तर रट लगाते रहते थे।

हरि हरि रटण कर, कठण कळिकाळ माँ,
दाम बसे नहीं काम सरसे।
भक्त आधीन छे श्यामसुन्दर सदा,
ते तारा कारज सिद्ध करशे॥

"इस कठिन कलिकालमें 'हरि-हरि' रटो, इसमें कुछ भी खर्च नहीं होगा और काम सिद्ध हो जायगा। श्यामसुन्दर सदा ही भक्ताधीन है, वही तुम्हारा कार्य सिद्ध करेगा।"

श्रीनरसीके जीवनकी एक-एक घटना उनके प्रभु-प्रेम, प्रभु-विश्वास एवं दृढ भक्तिकी द्योतक है। उनके भजनका प्रभाव पद-पदपर व्यक्त होता गया। उनकी प्रार्थनापर भगवान्ने द्वारकामें उनकी लिखी हुंडी सिकार ली। भक्त नरसीकी पुत्रीके सतान पेटमें आनेपर उसके सीमन्तोन्नयन संस्कारमें स्वयं पधारे और नगेशोंकी भाँति व्यय किया। द्वेष करनेवालोंको पद-पदपर निराश, हताश और उदास होकर ही नहीं रह जाना पड़ा, उनके मनमें नरसीके लिये श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। श्रीनरसीजीकी दृष्टिमें तो कोई शत्रु था ही नहीं। पर दुष्टोंके कुटिल व्यवहारसे भगवान् भक्तकी रक्षा करते एवं अपने भक्तका यश बढ़ाते हैं। यही बात नरसीजीसे द्रोह करनेवालोंके सम्बन्धमें भी हुई। नरसीके भाई एव उनकी जातिके सैकड़ों नागर-ब्राह्मण उनकी साधुताका मजाक उड़ाते, उन्हें तग करते—यहाँतक कि उन्होंने राजाके सामने भी उनकी निन्दा करके उन्हें अपमानित करनेकी चेष्टा की।

पर नरसीजी तो श्रीकृष्णकी कृपाके अतिरिक्त और कुछ जानते न थे। श्रीकृष्णके भजनका अद्भुत प्रभाव नरेशके साथ द्रोहियोंने भी प्रत्यक्ष देखा। भगवान्के विग्रहसे दिव्य ज्योति प्रकट हुई और उसने भक्तके गलेमें माला पहना दी।

भक्तकी भक्तिके इस प्रभावसे नरेशके भी नेत्र खुल गये। वह नरसीका भक्त हो गया। सभी नरसीको सच्चे भक्तके रूपमें देखने एवं श्रद्धा प्रकट करने लगे। उनकी विधवा पुत्रवधूका तो जीवन ही भगवान्में समर्पित हो गया था। नरसीजी भगवान्की भक्तिमें तन्मय तो रहते ही, जहाँ कोई इन्हें कीर्तन-भजनके लिये आमन्त्रण देता, वहीं आप निस्संकोच पहुँच जाते। अत्यन्त सरल-हृदय नरसीजी सबको भगवन्नाम सुनाते और सबको भजन करनेके लिये प्रेरित करते। वे कहते—

नारायणनुं नामज लेतां, वारे तेने तजिये रे।
मनसा वाचा कर्मणा करीने, लक्ष्मीवरने भजिये रे॥

'नारायणका नाम लेते जो रोकता है, उसे छोड़ देना चाहिये। मन, वचन और कर्मसे श्रीलक्ष्मीपतिको भजना चाहिये।'

श्रीनरसीजी अपनेको भगवन्नामका व्यापारी बताते थे—

संतो हमे रे वेपारिया श्रीराम नामना।
वेपारी आवे छे बधा गाम गामना॥

'संतो! हम तो राम-नामके व्यवसायी हैं। हमारे यहाँ सब गाँवोंके व्यापारी आया करते हैं।'

भक्त श्रीनरसी मेहताके सम्बन्धमे श्रीनाभादासजीने कहा है—

जगत बिदित 'नरसी' भगत, (जिन) 'गुज्जर' धर पावन करी।
महा समारत लोग भक्ति लौलेस न जानैं।
माला मुद्रा देखि तासुकी निंदा ठानैं॥
ऐसे कुल उत्पन्न भयो भागौत सिरोमनि।
ऊसर तें सर कियो, खंड दोषहिं खोयो जिनि॥
बहुत ठौर परचो दियो, रस रीति भक्ति हिरदै धरी।
जगत बिदित 'नरसी' भगत, (जिन) 'गुज्जर' धर पावन करी॥

परम भक्त नरसी मेहताका समग्र जीवन भगवद्विश्वाससे परिपूर्ण था। भगवन्निर्भरता ही उनकी भक्तिका मूलाधार है। उनकी भक्तिका गान गाकर अनतक असंख्य मनुष्य भगवद्रसका आस्वादन करते आ रहे हैं। उनका भक्तिमय जीवन धन्य था।

रामके समान हितैषी कोई नहीं

भगवान् शिव कहते हैं—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

परम भागवत श्रीसूरदासजीकी भक्ति

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

सूरदासकी कृष्ण-भक्ति महाप्रभु वल्लभाचार्यके पुष्टि (अनुग्रह)-मार्ग—शुद्धाद्वैत-दर्शनकी भाष्यरूपा थी। सूरदासकी भक्तिमयी काव्य-गरिमाका बखान करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो है ही। उनका समस्त काव्य श्रीराधा-कृष्णके यशोगानसे समलङ्कृत है और उसका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि वे असाधारण कोटिके भगवद्-भक्त थे। श्रीराम-भक्तिके क्षेत्रमें जितना यश गोस्वामी तुलसी-दासजीने प्राप्त किया उतना ही श्रीकृष्णभक्तिके क्षेत्रमें परम भागवत सूरदासजीको मिला; दोनों एक-दूसरेके उपमेय और उपमान हैं। सूरदासने सदा 'अपनी भगति देहु भगवान'—इसी पवित्र वरदानकी याचना की। उनकी उक्ति है—

सब तजि भजिये नंदकुमार।
और भजे ते काम सरै नहिं, मिटै न भव जंजार॥
× × × × × ×
बेद पुरान भागवत गीता, सब कौ यह मत सार।
भव समुद्र हरिपद नौका बिनु कोउ न उतरै पार॥
यह जिय जानि, रहौ छिन भजि, दिन बीते जात असार।
'सूर' पाइ यह समौ लाहु लहि, दुरलभ फिरि संसार॥

इस कथनका उन्होंने अपने आचरणमें आजीवन पालन किया। यही सूरदासके भक्तिमय जीवनकी ऐति-हासिकता है। वे श्रीकृष्णकी मानसी उपासनाके परम मर्मज्ञ थे। उन्होंने पुष्टि-भक्तिका दार्शनिक महत्त्व भी अच्छी तरह समझा था। उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्यद्वारा सिद्धान्त-मुक्तावलीमें निश्चित—'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता' इस सिद्धान्तका अक्षरशः पालन किया। सूरदासकी सबसे बड़ी मौलिकता यह है कि नवधा भक्तिमें उन्होंने प्रेम-लक्षणा भक्ति सम्मिलितकर उसको दसवीं भक्ति माना। उन्होंने अपने समस्त सूर-सागरको श्रीकृष्णप्रेमामृतसे सम्प्लावित कर दिया। अपने मनको समझाया कि गोविन्दके समर्पित हो जाना चाहिये। उन्हींका हो जाना ही जीवनका परमपुण्यलाभ है।

सूरदासकी भक्तिका मूल स्वात्मगत-प्रेरणा, गुरु-निष्ठा, भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार और भगवद्विश्वासमें संनिहित है। सूरसागरमें उनके विनयसम्बन्धी पदोंके पाठसे पता चलता है कि वे भगवद्भक्तिके लिये कितने समुत्सुक थे। उनके मनकी शक्ति उनको बार-बार प्रेरणा करती रहती थी कि भगवान्‌का भजन ही श्रेयस्कर है। बाल्यावस्थासे ही उनमें वैराग्य और जगत्‌के प्रति अनासक्तिकी भावना थी। उन्होंने घर छोड़ दिया और रेणुकाक्षेत्र—रुनकतामें आकर भजन करने लगे; सूरस्वामीके नामसे उनकी ख्याति बढ़ने लगी। वहाँसे वे व्रजके गोकुल गाँवमें गऊघाटपर चले आये। इस अवधिमें उनका पतित-पावन भगवान्‌से सम्बन्ध बढ़ने लगा। वे अपने आपको पतितोंका नायक घोषितकर भगवान्‌से कृपाकी याचना करने लगे। इस तरहकी भक्तिके लिये वे आप-ही-आप प्रेरित हुए। इस समय भगवान्‌की भक्तिका उनके मनमें प्रवेश हो रहा था। सूरदासका निवेदन है—

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ, मनोरथ दाता, हौ प्रभु दीनदयाल॥
चरननि चित्त निरंतर अनुरत, रसना चरित रसाल।
लोचन सजल, प्रेम पुलकित तन, गर अंचल कर माल॥
इहिं बिधि लखत झुकाय रहैं जम अपनैं ही भय भाल।
'सूर' सुजस रागी न डरत मन, सुनि जातना कराल॥

भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें उनका विश्वास बढ़ने लगा। उनकी विज्ञप्ति है कि श्रीकृष्णके चरण-कमलका भजन करनेसे जन्म-मरणका चक्र समाप्त हो जाता है। महाप्रभु वल्लभाचार्यद्वारा दीक्षित होनेके पहले ही उनकी भक्ति श्रीकृष्ण-चरणमें अवस्थित हो गयी थी। उन्होंने मनको सावधान किया—

भजि मन! नंदनंदन चरन।
परम पंकज अति मनोहर, सकल सुख के करन॥
× × × × × ×
कृष्ण पद मकरंद पावन, और नहिं सरबरन।
'सूर' भजि चरनारबिंदनि, मिटै जीवन मरन॥

पहले-पहल उनमे दास्य-भक्तिका उदय हुआ—ऐसा माननेमें तनिक भी आपत्तिके लिये स्थान नहीं है। दास्य-भक्तिमें शान्त-भावका भी समावेश स्वाभाविक रहता है।

गऊघाटपर ही वे महाप्रभु वल्लभाचार्यसे मिले, उन्होंने महाप्रभुको विनयका एक पद सुनाया। आचार्यने कहा—'इस तरह घिघियाते क्यों हो, भगवान्‌की लीलाके पद सुनाओ।...' उन्होंने सूरदासको दीक्षित किया। श्रीसुबोधिनी सुनाकर

ब्रह्माजीके मनमें मोह उत्पन्न करनेवाले मन-मोहन

वछड़ोंकी खोजमें निकले हुए वक-सूदन
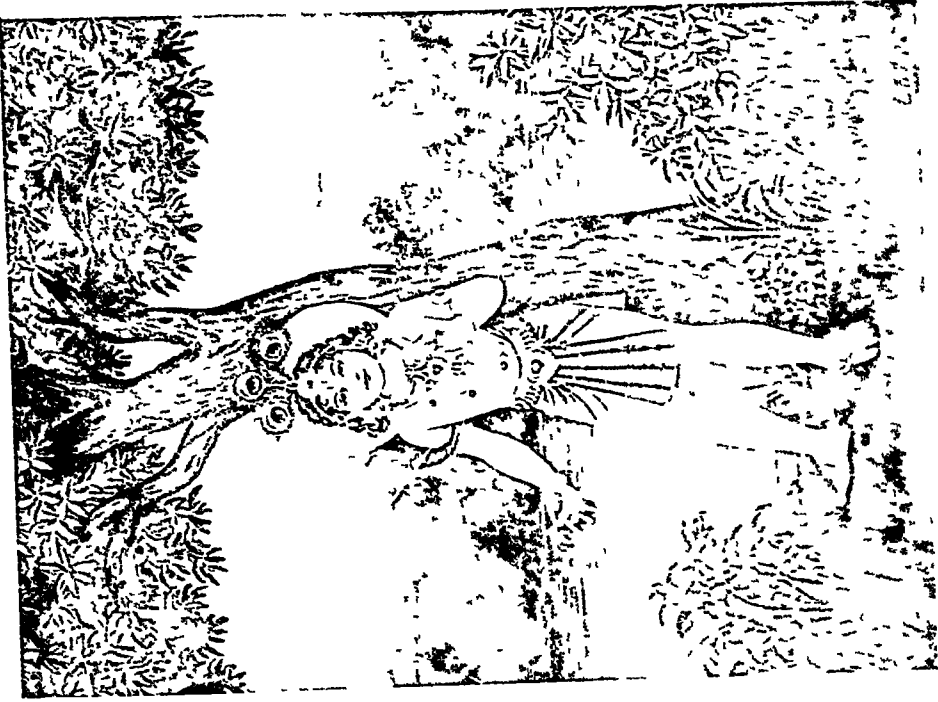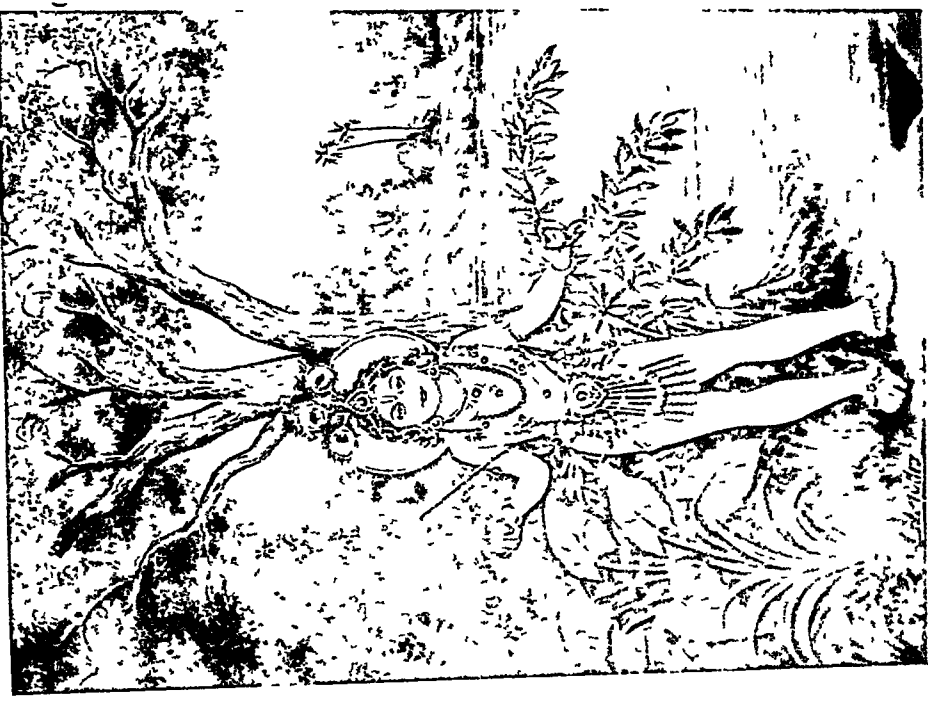
इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १४)

ब्रह्माजीद्वारा वन्दित व्रजराजकुमार

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । १)

गोष्ठमें प्रवेश करते हुए विचित्रवेष वनमाली

बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिर्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ४७)

श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्ण-लीलाका मर्म समझाया। सूरदासकी भक्तिने भगवल्लीला-गानका वरण किया। उन्होंने आचार्यके चरणोंमें अपना जीवन समर्पित कर दिया। सूरदास-की दास्य-भक्ति भगवत्प्रेममें परिणत हो गयी। सूरसागरके षष्ठ स्कन्धमें उनका कथन है, गुरुनिष्ठाका बखान है—

गुरु बिनु ऐसी कौन करै।
माला तिलक मनोहर बानौ, लै सिर छत्र धरै॥
भवसागर तैं बूडत राखै, दीपक हाथ धरै।
'सूरस्याम' गुरु ऐसो समरथ, छिन मैं लै उधरै॥

महाप्रभुने सूरदासको भगवद्-रससे रसमय बना दिया। उनके हृदयमें भगवल्लीलाका स्फुरण हुआ। इस लीला-स्फुरणका उनके एक पदमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है, जो उनके दीक्षित होनेके बाद भगवद्-विश्वासस्वरूप भक्ति-अवस्थाकी ओर सकेत करता है। सूरदासकी सौभाग्यवती वाणी साक्षी है—

सो सुख नंद भाग्य तैं पायौ।
जो सुख ब्रह्मादिक कौं नाहीं, सोई जसुमति गोद खिलायौ॥
सोइ सुख सुरभि बच्छ बृंदावन, सोइ सुख ग्वालनि टेरि बुलायौ।
सोइ सुख जमुना कूल कदँब चढ़ि, कोप कियौ काली गहि ल्यायौ॥
सुख ही सुख डोलत कुंजनि मैं, सब सुख निधि बन तैं ब्रज आयौ।
'सूरदास' प्रभु सुख सागर अति, सोइ सुख सेस सहस मुख गायौ॥

उपर्युक्त पदमें सूरदासने वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्तिका बड़ी चतुराईसे सक्षेपमें निरूपण कर दिया है। उनका मन सगुण-लीला-चिन्तनमें लग गया। उन्होंने सूर-सागरमें श्रीमद्भागवत-गत लीला-क्रमसे भगवान्की विविध लीलाओंका ललित वर्णन किया। उन्होंने भक्तिकी आँखसे श्रीराधा-कृष्णकी छविके मधुर दर्शन किये। श्यामसुन्दरका रूप-निरूपण है सूरदासद्वारा—

ऐसे हम देखे नँदनंदन।
स्याम सुभग तनु पीत बसन जनु नील जलद पर तडित सुछंदन॥
मंद-मंद मुरली रव गरजनि सुधा दृष्टि बरषति आनंदन।
विविध सुमन बनमाला उर मनु सुरपति धनुष नएई छंदन॥
मुक्तावली मनहुँ बग पंगति, सुभग अंग चरचित छबि चंदन।
'सूरदास' प्रभु नीप तरोवर तर ठाढ़े सुर नर मुनि बंदन॥

सूरदासने आजीवन व्रज-रस-माधुरीका आस्वादन किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य-ऐसे परम दार्शनिक गुरुकी कृपाके प्रकाश-में अंधे सूरदासने भगवान् श्यामसुन्दरकी लीलाएँ गायीं। सूरदासकी मानसी उपासना—भक्तिकी पद्धति भगवद्यशोगान, श्रीनाथजी और भगवान् नवनीतप्रियमें आसक्ति तथा व्रज-रस-निष्ठासे प्रभावित और प्राणान्वित थी। उन्होंने बार-बार अपने मनको समझाया कि बिना भक्तिके भगवान् दुर्लभ हैं। उन्होंने उसको सावधान किया कि श्रुति, स्मृति तथा मुनियों-की और मेरी भी मति यही है कि श्यामसुन्दरका भजन करनेसे ही परम कल्याण होता है। उनकी चेतावनी है—

सकल तजि, भजि मन ! चरन मुरारि।
सुनि सुम्रिति मुनिजन सब भाखत, मैं हूँ कहत पुकारि॥

सूरदासने भगवद्यशोगानके प्रतीकस्वरूप जगत्को भक्तिसागर—सूरसागर प्रदान किया। उन्होंने भगवद्यशोगानके स्तरपर कहा कि नरदेह पाकर भगवान्के चरण-कमलोंमें चित्त लगाना चाहिये, विनम्र वाणी बोलनी चाहिये, संतोंका सङ्ग करना चाहिये और उनका दर्शनकर अपना जीवन धन्य बनाना चाहिये; गिरिधरका यशोगान करके ही जीना चाहिये।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीकी कृपासे सूरदासने अपने आराध्य—उपास्य श्रीनाथजी और नवनीतप्रियका सान्निध्य प्राप्त किया। वे गोवर्धनकी तलहटीमें जाकर चन्द्रसरोवरके निकट पारासोली ग्राममें रहने लगे। वे नित्य श्रीनाथजीकी प्रत्येक झाँकीका दर्शन करते थे और नये-नये कीर्तनीय पदोंकी रचना करके उनको समर्पित किया करते थे। वे नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गोकुल भी जाया करते थे। महाप्रभुके निकुञ्ज-लीलामें प्रवेश कर जानेपर गुसाईं विट्ठलनाथजीके वे विशेष-रूपसे कृपापात्र हो गये। उन्होंने सूरदासको 'अष्टछाप' के महाभागवत कवियोंमें प्रमुख स्थान दिया। सूरदास भगवान्के लीला-रस-सागरमें सदा निमग्न रहते थे। वृन्दावनमें उनकी अद्भुत निष्ठा थी। श्रीवल्लभाचार्यने वृन्दावन (रासलीलास्थली) चन्द्रसरोवरके निकट ही माना है। उन्होंने मनको सावधान किया—

अंत के दिन कौं हैं घनस्याम।
× × × × × ×
छाँडि न फरत सूर सब भव डर बृंदाबन सौं ठाम॥

उनके भक्तिमय जीवनका यही संकेत है कि निश्चिन्त होकर भक्ति-मार्गपर चलना चाहिये। भगवान् अपने शरणा-गतके भरण-पोषणका सदा ध्यान रखते हैं।

भक्ति पंथ कौ जो अनुसरै। सुत कलत्र सौं हित परिहरै

असन बसन की चिंत न करै। बिस्वंभर सब जग कौं भरै ॥
× × × × × × ×
तातैं सब चिंता करि त्याग। सूर करौ हरि पद अनुराग ॥

उन्होंने पारासोलीमें शरीर-त्याग किया। उस समय अष्टछापके दिग्गज कवि तथा उनके संरक्षक गुसाईं विट्ठलनाथजी दैवयोगसे उपस्थित थे। सूरदासकी चित्तवृत्ति भगवान् श्रीकृष्ण और राधारानीकी भक्तिमें लगी थी। गुसाईंजीके पूछनेपर उन्होंने कहा—

खंजन नैन सुरग मद माते।

चतुर्भुजदासके यह कहनेपर कि 'आपने असंख्य पदोंकी रचना की पर महाप्रभुजीका वर्णन नहीं किया', सूरदासने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया कि 'मैं महाप्रभुजी और श्रीनाथजीको एक मानता हूँ, मैंने सूरसागरमें महाप्रभुजीका ही यशोगान किया है।' उन्होंने भक्ति-रसके सम्बन्धमें कहा कि 'गोपीजनोंके भावसे भावित भगवान्‌के भजनसे पुष्टि-मार्गमें रसका अनुभव होता है।' सूरसागरके प्रथम स्कन्धमें वर्णन मिलता है—

हरि हरि-भक्त एक, नहिं दोइ, (पै) यह जानत बिरला कोइ ॥

सूरदास भक्तिकी कृपासे भगवन्मय हो गये।

परम रामभक्त श्रीतुलसीदासकी भक्ति

(लेखक—श्रीरेवानन्दजी गौड़, एम्० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न)

प्रातःस्मरणीय जगद्वन्द्य हिंदू-संस्कृतिके संरक्षक गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको कौन हिंदू नहीं जानता। श्रीतुलसी हिंदूजातिके प्राण थे। उनका आविर्भाव ही वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षाके लिये हुआ था। देशमें तत्कालीन विषम परिस्थितियाँ अपना विकराल राज्य सुदृढ कर रही थीं। यवनोंका साम्राज्य सुदूर क्षितिजको स्वर्णिम विहानसे उदीयमान कर रहा था। यवनोंकी धर्मान्धता अंधी बनकर हिंदू-धर्मका विनाश कर रही थी। यह समय हिंदू जनताके लिये महाविपत्तिका था। हिंदूजातिपर बर्बर अत्याचार हो रहे थे; परंतु उसमें प्रतीकारकी भावना तो कहाँ—सिर उठानेकी शक्ति भी नहीं रह गयी थी। यावनी यातना पराकाष्ठापर थी। सनातन वर्णाश्रमको मिटाया जा रहा था। मन्दिरोंकी मर्यादा नष्ट हो रही थी। भगवान् विष्णुके श्रीविग्रह खण्डित किये जा रहे थे। निदान हिंदूजाति उदासीन, पतित तथा संत्रस्त थी। उसे भविष्यमें आशा-तन्तु दिखायी नहीं दे रहा था। वह विवशताकी प्रतिकृति बन सकरुण—वेदनामय स्वरमें पुकार रही थी—

किं करोमि क्व गच्छामि को मे रक्षां करिष्यति।

इसी समय भगवान्‌की अपार कृपासे पूजनीया तुलसीने इस तुलसीको आविर्भूत किया। उन्होंने श्रीरामचरितमानसके द्वारा भारतके कोने-कोनेमें ज्ञानमय भक्तिका सरस स्रोत बहाकर संत्रस्त जनसमुदायको आप्लावित किया। श्रीतुलसीदासजीने अपने मानसमें 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्'—इस निश्चयके अनुसार धर्म-संरक्षणके लिये सभी आवश्यक तत्त्वों—ज्ञान, कर्म, उपासना आदिका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। परंतु भक्तिकी विवेचना तो उसमें अपूर्व है। उनकी भक्ति भक्त और भगवान्‌के बीचकी एक अच्छेद्य कड़ी है। भक्तिका अमोघ कवच भक्तको आत्मविश्वास तथा निर्भयताका पाठ पढ़ाता है।

विनय-पत्रिका तुलसीका सिद्धान्त-ग्रन्थ है। उसके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि तुलसीका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद था। उनका ब्रह्म चिदचिद्-विशिष्ट है; उनके विचारमें ब्रह्म, जीव, माया—इन तीनोंकी ही पृथक् सत्ता है। ब्रह्म और माया दोनों सत्य तथा अनादि हैं। ब्रह्म मायाधिपति, स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र तथा मायावश्य है। माया ब्रह्मवश है—

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी ॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥'
'ब्रह्म तु, हौ जीव हौं, तू ठाकुर, हौं चेरो ॥'

इस प्रकार सर्वत्र विशिष्टाद्वैतवादका सिद्धान्त उनके ग्रन्थोंमें गुम्फित है। संसारकी मोह-माया और भ्रम-जालसे बचनेके लिये वे ज्ञानमार्गियोंकी भाँति केवल ज्ञानका आश्रय नहीं लेते, प्रत्युत उन्होंने स्वयं अपने उद्धारके लिये नहीं, अपितु समस्त विश्वके कल्याणके लिये, विशेषकर कलियुगके प्राणियोंके परित्राणके लिये अमोघ उपाय श्रीराम-भक्तिको अपनाया। भक्तिके बिना मोक्षप्राप्ति भी उन्हें अभीष्ट नहीं। उनकी विचार-स्थिति है कि भक्तिमय नरकका वास भी स्वर्ग-अपवर्गसे कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

तुलसीकी भक्ति राममयी नहीं, अपितु सीताराममयी

है; तभी तो उन्होंने वन्दना-विनय-प्रकरणमें बलात् यह कह ही दिया—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

संत तुलसीदासने अपने समस्त ग्रन्थोंमें ज्ञानमार्ग अथवा कर्ममार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्गको विशिष्ट स्थान दिया। वे सदैव अपने भगवान् श्रीरामसे—

मागत तुलसिदास कर जोरें। बसहुँ राम सिय मानस मोरें॥
'जोरि पानि बर मागउँ एहू। सीय राम पद सहज सनेहू॥'

—यही प्रार्थना करते थे, मोक्षप्राप्तिकी नहीं। भक्तिकी प्रबल सुमनोहर स्रोतस्विनीमें स्नान करना ही उन्हें अभीष्ट था। उसीकी प्राप्तिके लिये उनका भगीरथ-प्रयत्न रहा। उनके अविचल एवं शाश्वत भक्तिके प्रति अनन्य निष्ठामय भावोंका यत्किंचित् दिग्दर्शन निम्न पंक्तियोंमें सुलभ है—

'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥'
'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥'
'राम नाम नव नेह मेह का मन हठि होहि पपीहा।'
'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ, जैसें नीर मीन को।'
'मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।'
'राम चरन अनुराग नीर बिनु अति मल नास न पावै।'
'राम भक्ति बिनु जानिबै जैसें सर सरिता बिनु बारी।'
'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'

इस प्रकार तुलसीके ग्रन्थोंमें उनकी एकान्त साधना सगुण-भक्तिपरक है। भक्ति धर्मकी प्रमुख पोषिका है; भक्ति धर्मरक्षार्थ कवचरूपिणी है। ज्ञान, कर्म, वैराग्य आदि सभी भाव इस भक्तिके अङ्ग हैं।

तुलसीकी भक्ति सेव्य-सेवक-भाव-सम्पन्ना है। राम उनके स्वामी और वे उनके अनन्याश्रय, दीन, हीन, अनाथ सेवक हैं। इसके अतिरिक्त इनकी भक्तिमे एक महान् समन्वयकारिणी भावना है, जो उसके धरातलको दिव्य छवि प्रदान कर रही है। मानसमें शैव-वैष्णवोंका, लोक-परलोकका, आन्तर-बाह्यका, राग-वैराग्यका, ज्ञान-विज्ञानका, चिन्तन-कर्मका, उपासना-योगका, जड और चेतनका महान् मङ्गलकारी, अमङ्गलहारी समन्वय विश्वजनीन साहित्यमें अपूर्व है। तुलसीकी भक्ति ज्ञान-से ओत-प्रोत तो है ही; साथ ही वह कर्म एवं उपासनासे भी सदैव अनुप्राणित है। यही प्रमुख कारण है कि उनकी भक्तिका द्वार सर्वसाधारणके लिये खुला है। उनकी ज्ञानमयी भक्तिके पशु-पक्षीतक अधिकारी हैं—तब शूद्र आदिकी तो बात ही क्या। मानसमें जटायु-प्रसङ्ग तथा काकभुशुण्डि आदिके अनेक प्रसङ्ग हैं, जिनमें अनेक पशु-पक्षी भक्तिके पूर्ण अधिकारी सिद्ध होते हैं। तुलसीकी भक्तिमें राम और कृष्णमें व्यावहारिक भेद है, तात्त्विक नहीं। उन्होंने निर्गुण-सगुणको एकगुणात्मक कहकर अपनी सर्वधर्म-समभाव-भावनाका परिचय दिया है। यदि राम किसी स्थलपर यह कह रहे हैं—

सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।

तो भगवान् शंकर यह कह रहे हैं—

सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।

तुलसीकी भक्ति अपने भक्तको अकर्मण्य तथा निराश बना देनेवाली नहीं है, अपितु कर्मयोगी, सतत उद्योगी, तन मन-वचनसे सदा सावधान राम-सेवक बननेकी सतत प्रेरणा देती है। उनकी भक्तिमें सामाजिक सम्बन्ध मर्यादाओंका आदर्श अक्षुण्ण है। वेद-शास्त्र-पुराण और स्मृतियोंकी मर्यादाओंका पोषण करनेवाली उनकी भक्ति समस्त विश्वमें सदा अमर स्रोत प्रवाहित करनेवाली है।

तुलसीकी भक्तिमें लोक-मङ्गल-साधनाका अभाव नहीं है। यही कारण है कि स्थल-विशेषपर उनकी भक्ति व्यष्टिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ हो उठी है। उनके अन्तस्तलसे लोक-मङ्गल कामनाकी भावना कभी भी तिरोहित नहीं हुई। उनकी भक्ति योग-वैराग्यका पल्ला छोड़कर निर्द्वन्द्व विचरनेवाली नहीं है। योगके यम-नियमादि तो उसके रक्षार्थ कवच हैं। योग और वैराग्यका साधन-अङ्कुश अपने भक्तको पतनोन्मुख या प्रमादी नहीं होने देता।

तुलसीकी भक्ति श्रद्धा तथा विश्वासके धरातलपर आधारित है। अपने प्रधान अङ्ग धर्मके बिना वह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। भक्ति धर्मसञ्चारिणी है, तो धर्म भक्तिका नित्य अनुचर है। यदि धर्मको भक्तिका प्राण ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। उनकी भक्तिमें धर्मकी मर्यादाका संरक्षण सर्वोपरि है। धर्मके प्रसार अनेक अङ्गोंमें भक्ति एक प्रमुख अङ्ग है। ऐसी 'अनपायिनी' भक्तिपर तुलसी न्योछावर है और उसी भक्तिको वे 'अहर्निश कर जोरि' माँगते हैं। भक्ति-परिपूर्ण व्यक्ति तुलसीके आराध्य हैं। ऐसे भक्तको जन्म देनेवाली जननी विरली ही होती है। वे माता-पुत्र दोनोंकी अहोभाग्यतापर प्रसन्न हैं—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

बावरे ! जाग रे, भोर भयो ।
क्यों अजहूँ सोय रह्यो ।
बावरे ! जाग रे भोर भयो............।

संतके इस संगीतको सुनकर बैजू जागता । इस प्रकार बैजूको सुधारनेके लिये स्वामीजी नित्य नये पद गाते थे । बैजू क्या खोज रहा है, इस बातको स्वामीजी भी ताड़ न सके । परंतु दिन-प्रतिदिन उसकी व्याकुलता बढ़ती ही जा रही थी ।

वर्षाके दिन बीत गये । कार्तिक आधा बीतनेको था । संतने बैजूको पुकारा । 'बैजू ! दीवाली आ गयी, फिर भी अबतक तेरी व्याकुलता नहीं गयी ? बावरे ! तू कहाँ भटकता है ? किस वस्तुके पीछे सारी रात घूमता रहता है ? आज धन-तेरसका परम माङ्गलिक दिवस है, अगले दिन चतुर्दशी काली-चौदसका परम दुर्लभ दिन है । बैजू ! तू चाहे तो इस अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण मुरारीके साक्षात् दर्शन कर सकता है । परंतु बावरे ! तेरा चित्त किधर लगा है ?' बैजू अवाक् बन गया । इसलिये स्वामीजीने उसको जो न कहना था, वह कह डाला ।

दीवालीकी रात्रिको साधक लोग मन्त्र-तन्त्रकी साधनामें प्रवृत्त हुए । उस समय स्वामीजी प्रेम-संगीतका गान करते प्रियतम प्रभुके प्रेमानन्दमें बेसुध हो रहे थे । उस समय व्याकुलतापूर्वक बैजू व्रजमें भ्रमण कर रहा था । आज उसके हृदयमें तनिक भी चैन न थी । कई दिनोंसे वह किसी अगम्य वस्तुकी खोजमें था ।

व्रजके वन-वनमें, लताओंमें वह भगवान् श्यामसुन्दर मुरलीधरको खोज रहा था । मनमोहनकी मीठी मुरलीकी तान सुननेको वह आतुर हो रहा था । कुटीरसे संगीतके साथ स्वामीजीकी प्रेमध्वनि दूर-दूरतक सुनायी पड़ रही थी । परंतु मनमोहनकी मुरलीके सुर सुनायी नहीं पडते थे ।

प्रेम-मतवाला बैजू चारों ओर घूम रहा था । परंतु कहीं भी कृष्णमुरारीकी मुरलीका नाद उसे सुनायी नहीं दिया । जीवन-जाल विषमय बन गया, बैजूने आत्म-त्याग करनेका दृढ संकल्प किया—'या तो आज मैं साँवलियाको प्राप्त करूँगा या इस नश्वर शरीरको त्याग दूँगा ।'

कोई भी डर उसको न
करनेके लिये ही निकला
होते वह इस लोकसे प्रया

बावरेको जीवनका
विशेष चिन्ता थी । बैजू
चौथे पहरका प्रारम्भ हे
होते ही बैजू प्राण त्याग दे
व्याकुल हो उठे । उनका
मुरारी स्वस्थ हुए ।

कुञ्जवनमें प्रवेश कर
धुन सुनायी पड़ी । क्षणभर
मानो मङ्गलाचारके रूपमें
मुरली बजानेवालेकी खोज
ध्वनि मन्द पड़ती गयी ।
हुआ एक कदम्बके वृक्ष

मुरलीका सुर कुछ
वृक्षके नीचे बैठा था,
मधुर ध्वनि आ रही थी
देखा और विश्वमोहन मु
प्रेम-मूर्च्छामें लोटता रहा
होकर जल्दीसे नीचे उ
बैजूको उन्होंने 'बैजू ! बै

मूर्च्छा टूटनेपर अ
साँवरे मन-मोहनकी गोदमें
चकित हो बैजूने प्रश्न कि

'बैजू ! अभी तुम
साथ सारी रात व्रजमें भ्र
जिसको तूने अनेक बार

'तो क्या तुम स
प्रश्नको सुनकर भगवान्

'प्रभो ! मैंने आप
बाबाने आपको अच्छी
सचमुच व्रजमोहन हो तो

'प्रभो ! आप मुरलीधर हैं तो मुरलीकी धुन सुनाओ, स्वामीजी स्वय दौड़े आयेंगे !' बैजूके इस उत्तरसे मुसकाते हुए 'बैजू ! तब तू यहीं खड़ा रह' कहकर वशीधरने अपनी बाँसुरीकी तान छेड़ी । इस मधुर मुरलीकी आवाज सुनते ही व्याकुल होकर हरिदासजी कुटियासे बाहर दौड़े । देखते क्या हैं कि बैजूके साथ साक्षात् विश्व-विमोहन खड़े हैं । मनमोहनको निहारते ही व्याकुल होकर स्वामीजी लपके ! प्रेमावेशमें सचमुच ही उनको कुछ भान न रहा । अतएव 'बैजू ! बैजू ! कहकर उन्होंने बैजूको छातीसे लगा लिया ।

'बाबा ! मैं बावरा बनकर जिसको खोज रहा था, उस साँवरेको आप देखें ! उत्तर क्यों नहीं देते ?'—स्वामीजीके देहको हिलाते हुए बैजूने आवाज दी । स्वामी हरिदास अवाक् हो गये, उनका गला रुँध गया । मानो प्रत्युत्तरके रूपमें उनकी आँखोंसे अश्रुधार बह निकली ।

'बाबा ! बाबा ! आप रो क्यों रहे हैं ?'

'बैजू ! जन्म-जन्मान्तर कठिन तपस्या करनेपर भी जिसका दर्शन प्राप्त नहीं होता, उस विश्वविमोहनका दर्शन आज दीपोत्सवके मङ्गल-प्रभातमें पाकर ये आँखें आनन्दाश्रु न गिरायें तो क्या करें ? बैजू ! अबतक तो मैं तुझको बावरा कहता था, पर अब तू बावरा न रहा !'

इस प्रेमालापमें गुरु और शिष्य दोनों भूल गये और आगे खड़े हुए व्रजमोहनका प्रेम-सत्कार करनेकी भी सुधि न रही । स्वस्थ होते ही स्वामीजी 'प्रभु ! प्रभु !' कहते हुए मनमोहनको भेंटने गये, परंतु वहाँ मुरलीधर कहाँ थे ।

व्याकुलतापूर्वक पश्चात्ताप करते हुए स्वामीजीने चारों ओर ढूँढा, परतु व्रजमोहन कहीं भी दीख न पड़े ।

'बाबा ! अब उनको मत ढूँढो ! चलो, दीपोत्सवके मङ्गल-प्रभातमें तुम्हें सेवा-पूजा करनी है या नहीं ?'

'हाँ, बैजू ! सेवा बिना यह साँवरा फिर क्योंकर मिले ?' —कहते हुए बैजूका हाथ पकड़े स्वामीजी अपनी कुटीमें प्रविष्ट हुए ।

जय हो, बैजू बावरेकी प्रेमभक्तिकी जय हो !

प्रेम और भक्तिके अवतार—श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामी असङ्गानन्दजी)

प्राचीन भारतके, विशेषतः पौराणिक युगके, धार्मिक इतिहासके पन्ने असख्य संत-महात्माओंके चित्ताकर्षक एवं प्रभावोत्पादक वृत्तान्तोंसे भरे पड़े हैं, जिनमें उनके जीवन-संघर्ष, अद्भुत साधना तथा ईश्वर-दर्शनके रूपमें प्राप्त होनेवाली सफलता, स्तुति, स्तोत्र, भजन, तिरुप्पुगऴ, तेवारम् आदिके रूपमें उनके द्वारा की गयी ईश्वरकी प्रार्थनाएँ तथा जीवनको उन्नत करनेवाले उनके उपदेश आदि मिलते हैं । इन महान् और शक्तिशाली पुरुषोंने आनेवाली पीढ़ीके महान् कल्याणके लिये अपने आध्यात्मिक अनुभव तथा ध्यानकी अतुल सम्पत्ति रख छोड़ी है । हजारों वर्षतक उनके जीवन और उपदेशसे भारतीय जनता प्रभावित और उत्साहित होती रही है तथा इतनी सहिष्णु, धीर, दृढ एव पराक्रमी बन गयी है कि यहाँके लोगोंने उन विदेशी एवं विजातीय शक्तियोंका डटकर मुकाबला ही नहीं किया है अपितु उनपर विजय पायी है, जो इस पवित्र भूमिकी आध्यात्मिकता और सस्कृतिके गढ़पर आक्रमण करने आयी हैं । यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वे भावुक भगवद्भक्त हमारे सामने आज इहलोक और परलोकके बीच महान् सेतु-निर्माताके रूपमें अवस्थित हैं और उनके इस कार्यके कारण हमारा सिर उनके सामने अवनत है और सदाके लिये हम उनके कृतज्ञ और ऋणी हैं । भगवान् करें कि ऐसे साधक और सिद्ध पुरुष हमारे देशमें सदा ही आविर्भूत हों और अपनी साधना और महान् भूतिसे हमारी इस भक्ति और प्रेमकी भूमिको उर्वरा बनायें ।

भक्तिकी अति सुन्दर परिभाषा नारदभक्तिसूत्रमें दी गयी है—'भगवान्‌में परम प्रेम ही भक्ति है ।' प्रह्लादने प्रभुसे किसी लौकिक लाभ या समृद्धिके लिये प्रार्थना नहीं की, केवल शुद्ध और अहैतुकी भक्तिभावकी याचना की । उन्होंने कहा—

> या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

'जो शाश्वत प्रीति अविवेकी लोगोंकी विषयोंमें [illegible] तुम्हारा स्मरण करते समय मेरे हृदयसे तुम्हारे प्रति [illegible] दृढ प्रीति कभी दूर न हो ।' क्या हम [illegible] (रामकृष्ण परमहंस) के जीवनमें [illegible] मन्दिरमें माँ कालीके दर्शनके लिये इस प्रकारकी [illegible]

का दर्शन नहीं करते और क्या हम नहीं देखते कि अन्तमें जब वे माँ कालीके हाथमें लटकती हुई कृपाणको लेकर आत्मबलिके लिये तैयार होते हैं, तब किस प्रकार माँ काली उनके सामने प्रकट हो जाती हैं ? अहा ! उनको उस समय कैसा अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ होगा । वे अपने भक्तोंसे कहा करते थे कि 'भगवान्‌की प्राप्ति इसी जन्ममें हो सकती है, यदि साधकमें वैसा ही गहरा प्रेम हो, जैसा विषयी लोगोंका अपनी विषय-सम्पत्तिके लिये होता है; वैसा ही श्रद्धा और विश्वास हो, जैसा पतिव्रता स्त्रीको अपने पतिके प्रति होता है तथा वैसा ही स्नेह हो, जैसा स्नेह माताके हृदयमें शिशुके लिये होता है ।'

भक्त स्वयं शक्कर बनना नहीं चाहता, बल्कि शक्करका स्वाद लेना चाहता है—यह कहावत लोगोंमें प्रचलित है । उसे अपने इष्टके साथ पूर्ण अभेद प्राप्त करनेकी चाह नहीं होती, यद्यपि ज्ञानीका लक्ष्य यही होता है । भगवान् असीम प्रेमके वश होकर अपने शिशुओं (भक्तों) के सामने प्रकट होते हैं और उनको वह असीम आनन्द और शान्ति प्रदान करते हैं, जिसकी कल्पना करना भी मानवीय शक्तिके परे है—

निष्कलस्याद्वितीयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

'ब्रह्म जो निष्कल है, अद्वितीय है, निर्गुण है, अशरीरी है, भक्तोंके लिये साकार रूप ग्रहण करता है ।' भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
(१२।५)

'अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त है, उनको अधिक क्लेश होता है; क्योंकि देहधारीके लिये अव्यक्त गतिको प्राप्त करनेमें बहुत कठिनाई होती है ।'

यह देखनेमें आता है कि प्रत्येक भक्त अपने अन्तरात्माकी पुकारके अनुसार अपना लक्ष्य चुनता है एवं तदनुसार विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायोंके प्रवर्तक आचार्योंके दिखलाये हुए मार्गका अनुसरण करके अपने इष्टदेवताका दर्शन प्राप्त करता है। समन्वय और सामञ्जस्यके संदेशवाहक श्रीरामकृष्ण परमहंस-के जीवनमें हम देखते हैं कि उन्होंने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंके साधनपथका अनुसरण किया तथा विभिन्न देवताओं और देवियों-के दर्शन प्राप्त किये । उन्होंने माँ कालीसे प्रार्थना की थी—'माँ ! मैं भक्तराज बनूँगा ।' फिर वे माँसे प्रार्थना करने लगे—'माँ ! मैं किसी भी भौतिक ऐश्वर्यको नहीं चाहता और न मुझे मुक्तिकी ही अभिलाषा है । क्या तुम मुझको शुद्धाभक्ति प्रदान करोगी ?'

यह वह भक्ति नहीं है, जिसको साधारणतः लोग 'भक्ति' समझते हैं । यह पराभक्ति है, जो भगवत्प्राप्तिके पश्चात् ही आविर्भूत होती है । श्रीरामकृष्ण उपदेश देते समय कहा करते थे—'भक्तिमें लग जाओ; तुम जो कुछ चाहते हो, माँ काली तुम्हें प्रदान करेंगी; यही नहीं, वे तुम्हें परा समाधि भी प्रदान करेंगी । बिल्लीके बच्चेके समान बनो और जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चेकी देखभाल करती है और उसे विपत्तिसे बचाती है, उसी प्रकार मेरी माँ काली अपने बच्चोंकी देखभाल करती हैं ।' भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । १०)

'उन सदा संलग्न रहकर प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त होते हैं ।'

पराभक्तिके सम्बन्धमें श्रीरामकृष्णकी धारणा बड़ी मनमोहक और उदात्त है । वैष्णव धर्मके पाँचों महान् भावों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—की उन्होंने साधना की और उनमेंसे प्रत्येकमें अति अल्पकालमें सिद्धि प्राप्त की । मधुरभावकी साधना करते समय उनकी मानसिक स्थितिमें ही नहीं, उनके शारीरिक प्रकृतिमें कल्पनातीत परिवर्तन दीख पड़ा । ऐसा लगता था मानो वे व्रजरानी श्रीमती राधा ही बन गये, और उस समय एकमात्र श्रीकृष्णमय हो गये ।

प्रभुके सच्चे भक्तके रूपमें उन्होंने अपने जीवनमें यह दिखला दिया कि ईश्वर हम सब लोगोंके इतने समीप हैं कि हम उनसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, उन्हें देख सकते हैं और उनसे बातें कर सकते हैं । भगवान्-को भी अपना भक्त प्रिय है, इतना अधिक प्रिय है कि यदि भक्त एक पग उनकी ओर बढता है तो प्रभु स्वयं अपनी ओरसे दो कदम उस भक्तकी ओर बढ़ते हैं । प्रभुका अपने शिशुओंके प्रति असीम प्रेम है और माताके समान उन सबको वे अपनी गोदमें उठा लेते हैं । वर्ण, रंग, धर्म, जाति तथा व्यक्तिगत उत्कर्ष-अपकर्षका विचार नहीं करते ।

श्रीरामकृष्णने भक्तिको बहुत सुगम बना दिया है । 'धर्मका मार्ग सरल है' यह उनके जीवनकी विशिष्ट शिक्षा है; यही विशेष संदेश था, जिसे उन्होंने लोगोंके सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगोंकी निवृत्तिके लिये जगत्‌को प्रदान किया था । ंगालके सुप्रसिद्ध नाटककार एवं अभिनेता

स्व० श्रीगिरीशचन्द्र घोषसे, जो उनके शिष्य थे, एक बार उन्होंने कहा था—'एक बार प्रातः और एक बार साय प्रभुकी वन्दना कर लिया करो—बस, इतना ही पर्याप्त है।' परतु उन्हें इतने अधिक काम रहते थे कि उन्हें भय लगा कि कदाचित् वे उस छोटी-सी आध्यात्मिक साधनाको भी नियमितरूपसे करनेके लिये समय नहीं निकाल पायेंगे; अतः इसके लिये भी उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्तमे श्रीरामकृष्ण परमहसने गिरीशबाबूसे कहा कि 'तुम मुझे आत्म-समर्पण कर दो, मैं तुम्हारा सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये लेता हूँ।' यह घटना हमें उस ऐतिहासिक प्रसङ्गका स्मरण दिलाती है, जब श्रीकृष्णने अर्जुनको निम्नाङ्कित शब्दोंमें आत्मसमर्पण करनेके लिये कहा था—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥

(गीता १२। १०)

'यदि तुम अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो, तो मदर्थ कर्म करनेमें लग जाओ; मेरे लिये कर्मोंको करते हुए भी तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे।'

प्राग्-ऐतिहासिक कालमें किसी अज्ञात ऋषिके द्वारा आविष्कृत 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् एक ही नित्य सत्य वस्तु (परमात्मा) को ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं—इस महान् सिद्धान्तकी ही पुनरावृत्ति गत शताब्दीमें भारतमें प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायोंद्वारा प्रदर्शित तथा प्रचारित बहुसख्यक मार्गोंके अनुसरणसे प्राप्त होनेवाली अपूर्व ईश्वरानुभूतिमें हमे दीख पड़ती है। प्रत्येक सच्चा भक्त जो अपने इष्ट देवताके दर्शनके लिये लालायित हुआ, अन्तमें उसकी कामना पूरी हुई, जिसके फलस्वरूप उसने प्रभुका न केवल अपने भीतर ही दर्शन किया, बल्कि उसको सर्वत्र व्याप्त देखा। अतएव अपने इष्ट देवताकी महिमाका गान उसने अपने ढंगसे किया। सभी भगवत्प्राप्त भक्तोंके बारेमें यही बात है। यहाँ वह समन्वयका सिद्धान्त हमारे सामने आता है, जो हमे यह सिखलाता है कि किसी भी सम्प्रदायके द्वारा परम तत्त्वको प्राप्त किया हुआ भक्त अपने इष्टदेवतामे पूर्णतः लीन हो जाता है, जिसके कारण वह कहता है कि उसका अपना ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी ईश्वर है। निस्सदेह गम्भीरतम ध्यान (समाधि) की अवस्था ही उसे अद्वितीय सत्के रूपमे अपने इष्टदेवकी अनुभूति कराती है। परन्तु दक्षिणेश्वरके इस अवतारी पुरुषको तो समाधिकी विभिन्न अवस्थाओंमे एक-एक देवी या देवताका दर्शन हुआ, जिसके फलस्वरूप उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर एक ही है, यद्यपि विभिन्न उपासकोंके स्वभाव और रुचिके अनुसार उनके (भगवान्के) नाम और रूपमें विभिन्नता आती है। एक ही भगवान् शैवोंको सच्चिदानन्द शिवके रूपमें, वैष्णवोंको सच्चिदानन्द विष्णुके रूपमें और शाक्तोंको सच्चिदानन्दमयी भगवती कालीके रूपमें दर्शन देते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसने देखा कि उनकी माँ काली केवल दक्षिणेश्वर-मन्दिरके गर्भगृहमें ही नहीं हैं, बल्कि वे मानवरूप चलते-फिरते मन्दिरोंमे भी विराजमान हैं। अतएव उन्होंने यह बतलाया कि मनुष्य भगवान्का परम मन्दिर है और इस रूपमे उनका सब प्रकारसे आदर होना चाहिये। इसमें कर्मका वह महान् रहस्य छिपा हुआ है, जो प्रत्येक मनुष्यको ससारमे पूर्ण जीवन बिताने और समय पूरा हो जानेपर भगवद्धाममें प्रवेश करनेके लिये समर्थ बनाता है। इसे समझ लेनेपर मनुष्यको मुक्ति या भगवत्प्राप्तिके लिये वनमें या पहाड़की गुफामे जानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वह जगत्में ही रहेगा, पर जगत्का होकर नहीं।

मेरे विचारसे ससारको श्रीरामकृष्ण परमहंसकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने सामञ्जस्य और समन्वयका सदेश दिया तथा मनुष्यमें भगवान्को देखनेकी बात कुहलायी, जिसपर इस क्रान्तिके युगमे मानव-जातिका संगठन निर्भर करता है। कुछ लोगोंको लगता है कि आणविक शस्त्रोंके आविष्कारसे प्रलयकी वह विभीषिका हमारे सिरपर आ गयी है, जिसमें मनुष्य, पशु तथा पेड़-पौधोंका सर्वथा नाश हो जायगा। परतु मुझे तो ऐसा लगता है कि भगवान् नहीं चाहते कि उनकी संतान इस ससारसे नेस्तनाबूद हो जाय; बल्कि वे यह चाहते हैं कि उनके बच्चे पूर्णता तथा आनन्दमय शाश्वत शान्ति और आनन्दका जीवन व्यतीत करें। वास्तवमें मेरे विचारसे तो बहुत शीघ्र एक महान् और अपूर्व सत्ययुग का आविर्भाव होनेवाला है, जिसमें हम सब लोग यह अनुभव करेंगे कि मानव-आत्मा स्वरूपतः भगवद्रूप ही है तथा परस्पर शान्ति, सौहार्द और चैनसे रह सकेंगे। तब स्वर्ग स्वयं इस भूमण्डलपर अवतरित होगा और बहुतेरे दिव्य देवता हमारे बीच निवास करेंगे। सर्वशक्तिमान् प्रभुसे हमारी प्रार्थना है कि वह दिन शीघ्र हम सबको देखनेको मिले। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीअरविन्द-योगकी साधनामें भक्ति

(लेखक—प० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

जगन्माता भगवती आद्या शक्तिके अनेकानेक रूपोंमेंसे चार महाशक्तियोंका चित्राङ्कन श्रीअरविन्दने अपनी पुस्तक 'माता'-में किया है और आगे कहा है, 'माँ भगवतीके और भी कई महान् रूप हैं, जिनमें इस योगकी सिद्धिके लिये सर्वापेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण वह है, जो माताके परम दिव्य प्रेमसे प्रवाहित होनेवाले रहस्यमय परम उल्लासमय आनन्दका मूर्तरूप है। यह वह आनन्द है, जो विज्ञानचैतन्यके उच्चतम शिखर और जड प्रकृतिके अधस्तम गह्वरके बीचका महदन्तर मिटा सकता और दोनोंको मिला सकता है। अनुपम परम दिव्य जीवनकी कुञ्जी इसी आनन्दमें है और अब भी यही आनन्द अपने अव्यक्त धामसे विश्वकी अन्य सभी महाशक्तियोंके कार्यका आधार बना हुआ है।' बिना नामनिर्देश अथवा नामकरणके श्रीअरविन्दने जिस आनन्दमयी प्रेमा-महाशक्तिका इस रूपमें संकेतमात्र किया है, उसीका कुछ आभास 'माताके साथ संलाप' (Conversations with the Mother)नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। माताजी कहती हैं कि 'प्रेम एक विश्वव्यापक महाशक्ति है; यह स्वतःसिद्ध है; इसका प्रवाह सर्वथा स्वतन्त्र और उन पात्रोंसे सर्वथा स्वतन्त्र है, जिनमें अथवा जिनसे होकर यह प्रकट होता है। साधारणतः लोग जिसे प्रेम कहते और जिसे पुरुषगत या व्यक्तिगत समझते हैं, वह केवल इस विश्वव्यापिनी शक्तिको ग्रहण करने और प्रकाशित करनेकी व्यष्टिगत पात्रता है।⋯ यह एक महान् चिन्मयी शक्ति है, जिसका प्रवाह पौधोंमें है, पत्थरोंतकमें है; पशुओंमें इसकी सत्ता अनायास देखी जा सकती है। इस महान् दैवी शक्तिके जो विकृतरूप देखनेमें आते हैं, वे परिसीमित पात्र-यन्त्रकी तमसाच्छन्नता, अज्ञान और स्वार्थपरतासे उत्पन्न होते हैं। प्रेमरूपा जो सनातनी शक्ति है, उसमें कोई आशा-तृष्णा नहीं, कोई वासना-कामना नहीं—इसकी अपनी विशुद्ध गति भगवान्के साथ आत्म-मिलनकी ओर है। मिलनकी यह खोज इतनी निरपेक्ष है कि उसमें अन्य किसी वस्तुका कोई ध्यान नहीं रहता। भागवत प्रेम आत्मदान करता है और चाहता कुछ नहीं।

'ज्ञान भगवन्मिलनका प्रकाश है और प्रेम उस ज्ञानका हृदय। भगवान्की ओर जीवकी यात्रामें एक स्थान ऐसा आता है, जहाँ दोनों एक होते हैं और इनमेंसे किसीको हम दूसरेसे पृथक् नहीं कर सकते।⋯ भागवत प्रेम जब किसी मनुष्यमें जागता है, तब वह यह जान पाता है कि हम जन्म-जन्मान्तरसे अबतक न जानते हुए भी किस चीजके लिये तरस रहे थे। अज्ञानके सब रूप और विकार उसी क्षणसे नष्ट होने लगते हैं और उनके स्थानपर एक ही अनन्य भागवत प्रेमका उदय होता है, जो भगवान्के लिये होता है।'

श्रीअरविन्दकी सम्पूर्ण योग-साधनामें भगवद्भक्ति या प्रेम ही साधन और साध्य है। श्रीअरविन्दकी उपासना केवल अव्यक्त ब्रह्मकी नहीं, प्रत्युत उन भगवान्की है, जिन्हें गीता समग्र भगवान् कहती है, जो ज्ञानस्वरूप हैं और विज्ञानस्वरूप भी, जो अव्यक्त हैं साथ ही व्यक्त भी। अक्षर ब्रह्मके साधकके लिये चाहे भक्तिका कुछ काम न हो, क्योंकि वह कर्म और भक्तिको अपने ज्ञानमार्गसे पृथक् देखता है; पर समग्र भगवान्की उपासनामें भक्ति और भक्तियुक्त कर्मके बिना एक पग भी आगे बढ़ना सम्भव नहीं। फिर श्रीअरविन्द समग्र भगवान्का केवल साक्षात्कार पाकर, केवल उनके विश्वरूपका दर्शन करके ही बैठ नहीं जाते, प्रत्युत यह जानना चाहते हैं कि इस विश्वके विकासकी निरन्तर होनेवाली इस लीलामें अपना कर्माङ्ग क्या है, और उसे पूरा करना चाहते हैं। जानते हैं, करते हैं, उसीमें लगे रहते हैं। यह आनन्दमयी भक्तिकी ही शक्ति है, जो उनसे यह महाप्रयास कराती है। उनके इस योगको 'पूर्णयोग' कहते हैं। श्रीअरविन्द-योगके इस लक्ष्यकी ओर, श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर गोपियोंकी तरह, जो इस योगके साधन-कुञ्जमें दौड पडते हैं, उन्हींके लिये श्रीअरविन्दकी योग-साधना है।

इस साधनाके तीन रूप हैं—अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण। भगवान्को पाने और भगवान्की जगद्विकासके रूपमें होनेवाली नित्य-निरन्तरकी लीलामें अपना कर्माङ्ग जानकर उसे पूरा करनेकी अदम्य, अमिट लालसा ही अभीप्सा है। ऐहिक विषय-भोग-सम्बन्धी जन्म-जन्मान्तरसे चले आये हुए ज्ञात-अज्ञात, सुप्त-गुप्त असंख्यप्राय निज-आधारगत विकार-दुर्भाव, वासना-कामना—इन सबका त्याग किये चलना ही त्याग है। जिनसे हम अपनी चेतनामें बिछुड़ गये हैं और जिनके साथ फिरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध जोड़ना है, उन परम कारुणिक, परम प्रेमस्वरूप और परम आनन्दमय भगवान्के चरणोंमे अपने-आपको समर्पित कर देना ही आत्मसमर्पण है। यह

आत्मसमर्पण भक्तिकी ही क्रिया है, जो भक्तिके बिना सम्भव नहीं। इतना सर्वाङ्गपूर्ण यह आत्मसमर्पण हो कि हम और हमारा पृथक् रूपसे कुछ रह न जायँ। यह एक दिनमें नहीं होता, क्रमशः ही सम्भव होता है। आरम्भमें केवल एक श्रद्धा होती है। कालान्तरमें यह श्रद्धा भक्तिमें परिणत होती है। जैसे-जैसे अभीप्साके अनुसार त्याग होता चलता है, वैसे-वैसे आधार शुद्ध होता और भक्तिका अधिकाधिक उदय होता है।

'जगत्में जो कुछ भी होता है, उसमें भगवान् अपनी शक्तिका आश्रय किये हुए प्रत्येक कार्यके पीछे रहते हैं।'

इस योगमें भी श्रीअरविन्द कहते हैं, 'भगवान् ही साधक भी हैं और साधना भी; उन्हींकी शक्तियाँ हैं जो अपनी ज्योति, सामर्थ्य, ज्ञान, चैतन्य और आनन्दसे आधार (मन-प्राण-शरीर) के ऊपर कर्म किये चलती हैं और जब यह आधार उनकी ओर उन्मुख होता है, तब ये ही अपनी दिव्य शक्तियाँ उसमें भर देती हैं, जिनसे यह साधना हो पाती है; परंतु जबतक निम्न प्रकृति सक्रिय है तबतक साधकके वैयक्तिक प्रयत्नकी आवश्यकता रहती ही है।' यह समर्पण जितना ही पूर्ण होता है, उसी अनुपातमें साधकको यह अनुभव होता है कि 'भागवती शक्ति ही साधना कर रही है।' इस साधनाकी चरम अवस्थामें श्रीअरविन्द कहते हैं, 'तुम यह अनुभव करोगे कि तुम सचमुच ही माताके शिशु हो, उन्हींकी चेतना और शक्तिके सनातन अंश हो। सदा ही वे तुम्हारे अंदर रहेंगी और तुम उनके अंदर। उन्होंने ही तुम्हें एक व्यक्ति और शक्तिके रूपमें अपने अंशसे निर्माण किया है, अपने अंदरसे लीलाके हेतु बाहर प्रकट किया है और फिर भी सदा ही तुम उन्हींके अंदर सुरक्षित हो, उन्हींकी सत्तासे सत् हो, उन्हींके चैतन्यसे चित् हो, उन्हींके आनन्दसे आनन्द हो।'

इस प्रकार प्रेमका उदय होकर वह निरन्तर वर्धमान होता है। प्रेमकी कोई सीमा नहीं। प्रेमानन्दस्वरूप भगवान् जैसे अनन्त हैं, वैसे ही उनकी प्रेमानन्द-लीला भी अनन्त है। 'योग-समन्वय' ग्रन्थमें श्रीअरविन्दने प्रेमके कुछ भावोंका वर्णन किया है, जो रागानुगा भक्तिके ही भाव हैं।

निर्गुण निराकार परब्रह्मके संस्पर्शसे होनेवाले परम आनन्दमें भी उन्होंने भक्तिके दर्शन किये हैं। योगकी प्रचलित पद्धतियोंमें ऐसी मान्यता है कि अव्यक्त ब्रह्मका अनुसंधान एक ऐसे कैवल्यके लिये किया जाता है, जिसमें न कोई उपासक है न उपास्य, केवल एकता और अनन्तताके अनुभवका ही आनन्द शेष रहता है। परंतु 'आध्यात्मिक चेतनाके चमत्कारोंको ऐसे कठोर तर्कमें नहीं कस देना चाहिये। अनन्तकी सत्ताका जब हम पहले-पहल अनुभव करने लगते हैं, तब उस स्पर्शका ग्रहण एक प्रकारकी आराधनाके ही भावसे होता है; क्योंकि संस्पर्श जिसको हो रहा है, उसका व्यक्तित्व अनन्त नहीं, सान्त ही है। फिर हम अनन्तको एकत्व और आनन्दकी आध्यात्मिक सत्ता ही नहीं, देवाधिदेवकी अनिर्वचनीय सत्ता भी समझ सकते हैं। तब भी प्रेम और उपासनाके लिये अवकाश प्राप्त हो जाता है। जब हमारा व्यक्तित्व इसके साथ एकत्वमें विलीन होता दीखता है, तब भी वहाँ वे एक ऐसे व्यष्टिरूप भगवान् हो सकते हैं और वस्तुतः होते ही हैं, जो विराट या परात्परमें एक प्रकारके मिलनके द्वारा घुले-मिले रहते हैं। उस मिलनमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—यह त्रिपुटी आनन्दोद्रेककी समन्वयात्मक अनुभूतिमें विस्मृत हो जाती है; पर उस एकत्वके भीतर प्रसुप्त-अवस्थामें तीनों ही अब भी विद्यमान रहते हैं।' परंतु श्रीअरविन्दकी अपनी योग-साधनाका यह मार्ग नहीं है।

श्रीअरविन्दकी योग-साधनामें भक्ति व्यक्त भगवान्की है, जो अव्यक्त होनेके साथ ही व्यक्त भी हैं, समग्र हैं। 'यदि कोई भगवान्का सजीवरूप एवं मानसिक शरीर देख सके तो इससे भगवत्प्राप्तिमें बहुत अधिक सामीप्य और माधुर्य आ जाता है। ईश्वरविषयक भावनाको हम विश्वमय बना दें, एक बहुविध और सर्वसम्पृक्त सम्बन्धके द्वारा घनिष्ठ वैयक्तिक रूप दे दें, भगवान्को नित्य-निरन्तर सम्पूर्ण सत्ताके समक्ष उपस्थित रखें और अपनी सारी सत्ता उनपर उत्सर्ग कर दें, जिसमें वे हमारे निकट और हमारे भीतर और हम उनके संग और उनके भीतर निवास करें। सभी वस्तुओंमें अनवरत उन्हींका चिन्तन और सदा-सर्वदा सर्वत्र उन्हींके दर्शन करना इस भक्तियोगका अनिवार्य अङ्ग है। जब हम भौतिक पदार्थोंपर दृष्टिपात करें, तब उनके अंदर हमें अपने परम प्रेमास्पदको देखना होगा; जब हम मनुष्यों और जीवोंपर दृक्पात करें, तब उनके अंदर भी हमें उन्हींको देखना होगा और उनके साथ अपने सम्बन्धमें हमें यह देखना होगा कि हम उन्हींके विविध आकारोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं।' केवल स्थूल जगत्के रूपोंमें ही नहीं, प्रत्युत 'अन्तःस्थ गुप्त देवाधिदेवके प्रति भी चित्तकी वैसी ही वृत्ति बनाये रहें। सभी देवताओंमें हमें उन्हीं एक ईश्वरको देखना होगा, जिन्हें

हम अपने हृदय और अपनी सम्पूर्ण सत्तासे पूजते हैं। वे उन्हींके देवत्वके आकार हैं। अपने आध्यात्मिक आलिङ्गनको इस प्रकार विस्तारित करते हुए हम एक ऐसे बिन्दुपर जा पहुँचते हैं, जहाँ सब कुछ वे ही होते हैं और इस चेतनाका आनन्द हमारे लिये ससारको देखनेका सामान्य अव्याहत ढग बन जाता है। इससे उनके साथ हमारे मिलनमें सार्वभौमिकता आ जाती है।'

आभ्यन्तरिकरूपमें 'प्रियतमकी मूर्ति हमारे अन्तर्नयनके लिये' प्रत्यक्ष होनी चाहिये। 'वे हमारे अंदर ऐसे बस जायँ जैसे अपने ही घरमें हों, और अपनी संनिधिकी मधुरिमासे हमारे हृदयोंको अनुप्राणित करें। सखा, स्वामी और प्रेमीके रूपमें वे हमारी सत्ताके शिखरसे हमारे मन-प्राणकी समस्त चेष्टाओंको अधिशासित करें। उनपरसे वे हमें विश्वके अंदर अपने साथ एकीभूत करें।' यह सब केवल उस समय नहीं जब कि बाह्य व्यवहारोंसे अलग होकर हम 'सर्वथा अपने भीतर चले जाते हैं, न अपने नियत मानवीय कार्योंका त्याग करके ही'; प्रत्युत 'हमें अपने सभी विचारों, आवेगों, भावों और कार्योंको उनकी स्वीकृति या अस्वीकृतिके लिये उनके सामने प्रस्तुत करना होगा, अथवा यदि हम अभी इस बिन्दुतक नहीं पहुँच सकते तो हमें इन्हें अपनी अभीप्साके यज्ञमें उनके प्रति अर्पित करना होगा, जिससे वे हमारे अंदर अधिकाधिक अवतीर्ण होकर इन सबमें उपस्थित रह सकें और इन्हें अपने समस्त सकल्प और बलसे, प्रकाश और ज्ञानसे, प्रेम और आनन्दसे परिव्याप्त कर सकें। अन्तमें हमारे सभी विचार, भाव, आवेग और कर्म उन्हींसे निस्सृत और अपने किसी दिव्य बीज और रूपमें परिवर्तित होने लगेंगे। अपने सम्पूर्ण अन्तर्जीवनमें हम अपनेको उन्हींकी सत्ताके अङ्गरूपमें जान लेंगे और अन्ततोगत्वा हमारे उपास्य भगवान्‌की सत्तामें और हमारे अपने जीवनोंमें कोई भेद ही नहीं रह जायगा।'

ऐहिक जीवनके 'दुःख-ताप और शारीरिक पीडातक', श्रीअरविन्द कहते हैं, उनके वरदान बन जायँ ? 'आनन्दमें परिणत हो जायँ और दिव्य सम्पर्ककी अनुभूतिसे घातित होकर आनन्दमें विलीन हो जायँ।' प्रभु-प्रेमीके लिये दुःख-दर्द उनसे मिलनेके साधन और उनके दबावके चिह्न बन जाते हैं और अन्तमें जैसे ही उनकी प्रकृतिसे हमारा मिलन इतना पूर्ण हो जाता है कि समष्टि विश्व आनन्दके ये आवरण उसे छिपा ही नहीं सकते, वैसे ही ये समाप्त हो जाते हैं, आनन्दमें रूपान्तरित हो जाते हैं।'

गुरु, स्वामी, सखा आदि सभी सम्बन्ध श्रीभगवान्‌के साथ भक्तके हो सकते हैं। पर जो सम्बन्ध इन सब सम्बन्धों-को अपने अंदर समाविष्ट कर लेता और इन सबको एक कर देता है 'वह प्रेमी और प्रियतमका सम्बन्ध है।' गुरु और मार्गदर्शकके रूपमें वे 'हमें ज्ञानकी ओर ले जाते हैं। उत्तरोत्तर वे ही हमारे अदर विचारक और द्रष्टा बनते जाते हैं। हम अपने लिये सोचना और देखना छोड़ देते हैं, केवल वे ही जो कुछ हमारे लिये सोचना चाहते हैं सोचते हैं, वे ही जो कुछ हमारे लिये देखना चाहते हैं देखते हैं। तब गुरु प्रेमीमें पूर्णरूपेण चरितार्थ हो जाते हैं।' स्वामीरूपमें उन्हें जानते हुए हम 'उनकी इच्छाके अनुसार उसी प्रकार चलते हैं, जिस प्रकार तार गायककी अङ्गुलिके संकेतपर सुर निकालता है। यन्त्र बनना आत्मसमर्पण और नमनकी उच्चतर अवस्था ही है। परंतु यह एक सजीव और प्रेमपूर्ण यन्त्र होता है और इसका परिणाम यह होता है कि हमारी सत्ताकी सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वरकी दासी बन जाती है, तथा अपने उल्लासपूर्ण दासत्वमें हर्षका अनुभव करती है। प्रगाढ़ आनन्दके साथ बिना ननु-नच किये यह वह सब करती है, जो वे इससे कराना चाहते हैं और वह सब वहन करती है जो वे इससे वहन कराना चाहते हैं; क्योंकि जो कुछ यह वहन करती है, वह प्रियतम सत्ताका ही भार है।' सखारूपसे वे हमारे 'कष्ट और सकटमें परामर्शदाता, सहायक एवं रक्षक हैं; शत्रुओंसे बचानेवाले शूरवीर योद्धा हैं, जिनकी ढालकी आड़में हम युद्ध करते हैं; वे सारथि हैं, हमारे पथोंके मार्गदर्शक।' इस सम्बन्धको जोड़कर हम 'एकाएक उनकी अधिक निकटता और घनिष्ठता प्राप्त कर लेते हैं; वे हमारे सङ्गी और नित्य-सहचर हो जाते हैं, जीवनके खेलके साथी। पर इतना होनेपर भी अभी एक प्रकारका भेद रहता है।'

भगवान्‌के साथ निकटतम सम्बन्ध प्रियतम और प्रेमीका है। ''प्रियतम हमें चोट पहुँचा सकता, त्याग सकता और हमपर कुपित हो सकता है—यहाँतक प्रतीत हो सकता है कि वह हमारे साथ विश्वासघात कर रहा है; पर फिर भी हमारा प्रेम उसके साथ स्थायी ही नहीं रहता, प्रत्युत इन विरोधोंसे वह बढ़ता है, इन सबके द्वारा भी वह प्रेमी हमारा सखा ही बना रहता है और जो कुछ भी वह करता है, वह सब 'हमें अन्तमें पता चलता है कि हमारी सत्ताके प्रेमी और सहायकने ही हमारी आत्मपूर्णता और हमारे अदर अपने आनन्दके लिये किया। ये विरोध और अधिक समीपताकी ओर ही ले जाते हैं।' भगवान् हमारी सत्ताके माता-पिता भी हैं—'उत्पादक, रक्षक

एवं कृपालु पालक-पोषक' रूपसे और 'शिशु भी', जो हमारी इच्छाके अनुसार उत्पन्न होते और हम जिन्हें पालते-पोसते और बढ़ाते हैं।' ये सब भाव प्रेमी भगवान् अपनाते हैं।"

प्रेम या भक्तिके वर्णनका कोई कहाँतक विस्तार करे। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'दिव्य प्रेमके आनन्दकी सम्पूर्ण चरम एकता और सम्पूर्ण शाश्वत विविधताका वर्णन करना मानवोच्चारित भाषाके लिये सम्भव ही नहीं है।'

'प्रेम और आनन्द सत्ताके अन्तिम शब्द हैं—रहस्योंके रहस्य, गुह्यतम गुह्य।'

'ऐसी कोई चीज नहीं है, जो ईश्वरप्रेमीकी पहुँचके परे हो अथवा जो उसके लिये अदेय हो; क्योंकि वह दिव्य प्रेमी-का प्रेमपात्र और प्रियतमकी आत्मा है।'

एक अलौकिक भक्त श्रीश्रीसिद्धिमाता

[भूमिका]

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज एम्० ए०, डी० लिट्०)

साथमें जो छोटा-सा निबन्ध जा रहा है, वह वर्तमान युगके एक विशिष्ट भक्तके जीवनका संक्षिप्त इतिहास है। किसी कविने कहा है कि लोक-लोचनसे अदृष्टरूपमें कितने सुगन्धित पुष्प प्रस्फुटित होते हैं, इसका पता बहुत ही कम लोगोंको होता है। इस निबन्धमें जिस भक्तकी जीवन-कथा वर्णित है, उनको जन-समाजमें बहुतोंने नहीं पहचाना था; परंतु इस कारणसे उनके महान् जीवनकी विशिष्टतामें तनिक भी कमी नहीं आयी। निबन्ध-लेखिका इस महान् जीवनके वृत्तान्त-को बँगलामें तथा राष्ट्रभाषामें प्रकाशित करके भक्त-समाजमें धन्यवादकी पात्र हो गयी हैं।*

कौतूहली पाठक उससे इस जीवनकी शिक्षा और आदर्श-से बहुत कुछ अवगत हो सकेंगे।

मुझे इन महिमामयी महाप्राणा महिलाका दर्शन करने तथा बहुत दिनोंतक उनका सत्सङ्ग करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके सम्बन्धमें अपनी व्यक्तिगत धारणा, संक्षिप्त-रूपमें होनेपर भी, स्पष्टभावसे उपर्युक्त ग्रन्थकी भूमिकामें मैंने लिपिबद्ध की है। माताजी अति उच्चकोटिकी साधिका थीं—इसमें संदेह नहीं; तथा उन्होंने सिद्धि भी प्राप्त की थी—यह भी सत्य बात है। तथापि जगत्के अनेकों अनुसंधान करनेवाले भक्तोंको भी उनका पता न था। वे गुप्त थीं, और गुप्त रहना ही पसंद करती थीं। अपना प्रचार करना अथवा जगत्में अपनी ख्याति फैलाना उनके आदर्शके प्रतिकूल था। साधन-जीवनके प्रारम्भमें उन्होंने जिस महान् लक्ष्यको सामने रखकर अग्रसर होनेकी चेष्टा की थी, सिद्ध-जीवनकी समाप्तिमें उसी महान् लक्ष्यमें स्थिति प्राप्त की थी। आत्म-साक्षात्कार तथा भगवत्-साक्षात्कारके सिवा मनुष्यके लिये अन्य कुछ भी प्रार्थनीय नहीं—इस बातको वे अपने जीवनके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रदर्शित कर गयी हैं। सरल भावसे भगवान्की ओर लक्ष्य रखकर चलनेपर भगवान् भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और सारा अभाव दूर कर देते हैं।

माताजीको साधु-सङ्ग करनेका अवसर नहीं मिलता था, परंतु फिर भी भगवान्की कृपासे वह अभाव अपने-आप दूर हो गया था। कुलकी प्रथाके अनुसार तथा साधारण धर्म-बुद्धिकी प्रेरणासे जो कुछ करना कर्तव्य था, उसे उन्होंने किया था। उसके बाद भगवान्की अनुग्रह-शक्ति प्रकट हुई और उसने उनको पूर्ण अध्यात्म-मार्ग सरहस्य प्रदर्शित किया। किसी संत या साधुकी सहायता उनको नहीं ग्रहण करनी पड़ी। पर ज्ञान तथा भक्ति-राज्यका कोई भी रहस्य उनसे छिपा न था। उनको साक्षात् श्रीभगवान्के द्वारा समस्त उपदेश प्राप्त होते थे।

वे ज्ञान अथवा योग-पथकी पथिका तो नहीं थीं, तथापि योगका जो मुख्य फल है तथा ज्ञानकी जो चरम परिणति है, वह उनको प्राप्त थी। उनका ज्ञान पुस्तकी विद्या न थी। अति साधारण दैनिक अभावकी निवृत्तिसे लेकर अखण्ड

* 'श्रीश्रीसिद्धिमाताप्रसङ्ग' (बँगला और हिंदी), श्रीराज-बालादेवी प्रणीत, महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डि० लिट्० द्वारा लिखित भूमिकासहित। मूल्य—(बँगला) ढाई रुपये, तथा (हिंदी) दो रुपये चार आने।

दोनों ग्रन्थोंका प्राप्ति-स्थान—

श्रीसदानन्ददास।

१९१ नं० गणेश मुहल्ला, वाराणसी।

मत्ताके निकटवर्ती सारी भूमिका उनको दृष्टिगोचर हो गयी थी। वे वाह्य उपासनाके समय देव-देवीकी जाग्रत्-मूर्तिका दर्शन कर सकती थीं, परंतु अपने हृदयमें उन्हें जो परम प्राप्तिका आभास और संकेत प्राप्त हुआ था, उसको पानेके बाद इस वाह्यरूपमें तल्लीन होना उनके लिये सम्भव नहीं रहा। उनके जीवनमें जिस प्रकार एक असाधारण वैशिष्ट्य था, उसी प्रकार उनके देहका भी एक वैशिष्ट्य था, जिसके फलस्वरूप देह इतना पवित्र हो गया था कि वह भगवत्स्वरूपके प्रतिबिम्बित होनेके एक अद्भुत द्वारके रूपमें परिणत हो गया था। स्थूल देहके ऊपर वैद्युत तेजसे युक्त नाना प्रकारके दिव्यरूप, चरण-कमल, वाणी, उपदेश, मन्त्र, बीज, गायत्री आदि प्रकाशित होते थे। वह सारी प्रकाशित वाणी साहित्यकी एक अतुलनीय सम्पत् है। उसमें भक्ति-साधनाके समस्त मार्ग उत्तम ढंगसे वर्णित हैं। यह वर्णन प्राञ्जल और मधुर भाषामें प्रकाशित हुआ था। इस 'कायाभेदी वाणी'-से जगत्के अनेक साधक अन्धकारमें गन्तव्य पथका क्रम देख सकते हैं। यद्यपि माताजीके द्वारा प्रदर्शित पथ भक्ति-पथके सिवा और कुछ नहीं हैं, क्योंकि भजन ही उसका प्राण है, तथापि इस मार्गपर चलनेवालेके लिये ज्ञान और महाज्ञान बिल्कुल अपरिचित नहीं रहते। श्रीभगवान् गोविन्द मूर्तिमें प्रकट होकर उनको समयानुसार पथ-निर्देश करते हुए उपदेश दिया करते थे, तथा क्रमशः द्वैतभूमिसे अद्वैतभूमिमें आकर्षण करते थे। कुण्डलिनीको जगाकर मध्यवर्ती शून्य-पथमें ऊर्ध्वमुख सञ्चालित करनेसे शिव-शक्तिका मिलन यथासमय अनिवार्यरूपसे हो ही जाता है। इसके बाद तुरत ही ब्रह्मपद प्रकाशित होता है। नित्य-लीला, मिलन-मिश्रण, महामिलन—ये सब ब्रह्मसाक्षात्कारके पूर्वकी अवस्थाएँ हैं।

ब्रह्म-साक्षात्कारके बाद माताजीने पूर्णब्रह्म और परब्रह्मका साक्षात्कार करके महाशून्य अवस्थामें प्रवेश किया; और महाशून्यका भेद करनेके बाद परिपूर्ण ब्रह्मावस्थामें पहुँचकर उन्होंने आत्म-सिद्धि प्राप्त की। तब उन्हें परम-पदका साक्षात्कार हुआ। यहाँ माताजी कहा करती थीं कि परम-पदका साक्षात्कार करके अन्तमें उसमें प्रवेश करना—यही मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है। वे निरक्षर थीं; उन्होंने पण्डितों और साधुओंका सङ्ग भी विशेष नहीं किया था। उन्होंने भगवत्कृपाके फलस्वरूप भीतरसे ही ज्ञान और भक्तिका चरम विकास प्राप्त किया था। यह बुद्धिका व्यापार नहीं है; अपितु आत्माकी स्वाभाविक स्फूर्ति और साधनाके फलस्वरूप श्रीभगवान्के अनुग्रहसे उन्होंने एक ऐसी अद्भुत अवस्था प्राप्त की थी कि समस्त विश्व और गोलोकधाम समय-समयपर उनके देहमें आशिकरूपमें स्फुटित हो उठते थे। मन्त्र, बीज, नाम, देव-देवी, पादुका, नाना प्रकारके उपदेश आदि ज्योतिर्मय आकार ग्रहणकर देहमें प्रस्फुटित होते थे। सुकृति-सम्पन्न भक्त माताके पास उपस्थित होनेपर यह देख भी पाता था। उनके भक्तोंमें कोई-कोई विशेष उच्च अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं।

श्रीश्रीमाताजीके साधनकी धारा स्थूलरूपमें भक्ति-मार्ग कहकर ही वर्णित होने योग्य है; परंतु इस मार्गमें ज्ञान और विज्ञानको भी स्थान है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वे अपने साधनक्रमको जिस भाषामें प्रकट करती थीं, वह यद्यपि ठीक-ठीक शास्त्रीय परिभाषाके अनुरूप नहीं होती थी, फिर भी शास्त्रके किसी सिद्धान्तके साथ उसका विरोध नहीं था। प्रत्येक साधक, शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त न होनेपर, अपनी अलौकिक अनुभूतिको व्यक्तिगत भाषामें ही प्रकट करता है। शास्त्रवेत्ता विद्वान् लोग उसका शास्त्रके साथ समन्वय कर ले सकते हैं।

वर्तमान जगत्में इस प्रकारके एकनिष्ठ, स्वावलम्बी साधक बहुत कम हैं और जो लोग इस साधनाके पथपर अग्रसर होकर पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, उनकी संख्या तो अति विरल है। मेरा विश्वास है कि श्रीश्रीमाताजी इस अति विरल साधक-मण्डलीमें ही उच्च स्थानपर आसीन थीं।

श्रीसिद्धिमाताका जीवन-वृत्तान्त

(लेखिका—श्रीराजवाला देवी)

जिन अलौकिक भक्तके पवित्र जीवनकी कथा लिखनेके लिये मैं उद्यत हुई हूँ और जो भक्तमण्डलीमें सिद्धिमाताके नामसे परिचित थीं, उन्होंने प्रायः चौदह वर्ष पूर्व ३२ वर्षतक काशीवास करके काशीपुरीमें ही मर्त्यदेहका त्याग किया था। उनकी पूर्वावस्थाका नाम था—कात्यायनीदेवी।

वङ्गदेशके (वर्तमान पूर्व-पाकिस्तानके) अन्तर्गत यशोहर (जेसोर) जनपदके अन्तर्गत नराइल सबडिवीजनमें मल्लिकपुर ग्राम-निवासी प्रसन्नकुमार चट्टोपाध्यायकी धर्मपत्नी श्यामासुन्दरी देवीके गर्भसे 'श्रीश्रीसिद्धिमाता'ने अपने मामाके घर नदिया जिलाके अन्तर्गत नैल-जमालपुर गाँवमें अनुमानतः

१२९२ (बँगला) संवत्‌के श्रावण मासकी शुक्लाष्टमी, मङ्गलवारको जन्म ग्रहण किया था।

माँका शुभ नाम था 'कात्यायनी'। पुकारनेका नाम था भुजङ्गिनी। तदनुसार उनकी माता उनको आदरपूर्वक 'भुजबाला' कहकर पुकारती थीं। माँकी माता एक धर्मशीला सात्त्विक प्रकृतिकी महिला थीं। वे प्रतिदिन नियमित पूजा-पाठ किये बिना जल-ग्रहण नहीं करती थीं। उनकी पूजाके आयोजनमें जिन फूलोंकी आवश्यकता होती, माँ वे सब जुटा दिया करती थीं। उस समय माँकी आयु चार वर्षकी थी। एक दिन माँने अपनी मातासे कहा—'माँ! तुम जो पूजा करती हो, उसका मन्त्र मुझे सिखला दो; मैं भी पूजा करूँगी।' उनकी माताने उनको बारबार मना करते हुए कहा—'तुम बच्ची हो, अभी तुम्हारा पूजा करनेका समय नहीं हुआ।' माँने उनकी बातपर ध्यान न देकर बारबार आग्रह करना शुरू किया। बाध्य होकर माताने उनको 'राम-मन्त्र' का उपदेश दिया। इस मन्त्रको प्राप्त करके माँ इसका निरन्तर जप करने लगीं। सुनते हैं कि आठ ही वर्षकी अवस्थामें माँको श्रीभगवान् रामचन्द्रका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ था। वे शैशवसे ही साम्प्रदायिक भेद-भावसे मुक्त थीं। सभी देवताओंकी वे समभावसे भक्ति करती थीं और किसीमें उनका विशेष पक्षपात नहीं था। उनको जैसे श्रीरामचन्द्रका दर्शन प्राप्त हुआ, वैसे ही श्रीश्रीजगदम्बाका दर्शन भी एकाधिक बार प्राप्त हुआ था।

श्रीश्रीमाँने कहा था कि जब उनकी अवस्था दस-ग्यारह वर्षकी थी, उस समय एक अद्भुत घटना घटी थी। उनके गाँवमें देवचरण भट्टाचार्य नामके एक दरिद्र ब्राह्मण वास करते थे। वे माँके चचेरे भाईके शिष्य थे। वे माँ कालीके भक्त थे। प्रतिदिन सन्ध्या करनेके लिये बैठनेपर जबतक माँ कालीका दर्शन नहीं पा जाते, तबतक आसनसे नहीं उठते। एक दिन आसनपर बैठकर उन्होंने देखा कि माँ काली उनकी ओर पीठ करके खड़ी हैं। उन्होंने समझ लिया कि यह किसी महान् अमङ्गलकी सूचना है और घरमें सबको कह दिया कि जान पड़ता है उनकी आयु पूर्ण हो गयी है। इसके कुछ दिनों बाद ही वे हैजेसे आक्रान्त होकर मृत्यु-शय्यापर सो गये। मृत्युके दिन श्रीश्रीमाँ उनके घरके बाहर खड़ी थीं। वहाँ उन्होंने देखा कि माँ काली मैदानमें लट छिटकाये तेजीसे इधर-उधर दौड़ रही हैं। कुछ देरके बाद वे माँके पास आकर मानो उन्हींको लक्ष्य करके बोलीं—'मैंने बहुत चेष्टा की, पर बचा न सकी।'

बचपनसे ही माँका भाव और ही ढंगका था। वे सखी-सहेलियोंको लेकर साधारण ढंगके खेल नहीं खेल सकती थीं। जब खेल खेलतीं, तब पूजा-पाठ तथा ठाकुरको भोग लगाने आदिके खेल ही खेलती थीं। किसी मन्दिरमें या अन्य किसी स्थानमें किसीको पूजा-पाठ करते देखतीं तो माँ वहाँ जाकर चुपचाप बैठकर तन्मय होकर पूजा आदि देखतीं।

अल्प वयसमें ही श्रीश्रीमाँका विवाह यशोहर जनपदके अन्तर्गत ब्राह्मणडांगानिवासी स्व० गिरीशचन्द्र मुखोपाध्यायके पुत्र स्व० कृष्णलोचन मुखोपाध्यायके साथ हो गया। विवाहके बाद भी माँकी प्रकृतिमें अथवा उनकी जीवन-धारामें कोई परिवर्तन नहीं दिखायी दिया। उनकी भक्ति, निष्ठा तथा आचार पूर्वके समान ही अक्षुण्ण रहे। उनके पतिदेव उच्च-शिक्षा-प्राप्त न होनेपर भी सदाशय, विनयी, अध्यात्मानुरागी तथा महान् कलाविद् थे। यदि कहें कि चित्राङ्कनमें वे एक प्रकारसे सिद्धहस्त थे तो अत्युक्ति न होगी। अतएव माँका पारिवारिक जीवन सम्पन्नतापूर्वक शान्तिके साथ बीता। उनमें बाल्यकालसे ही विषय-स्पृहा नहीं थी। अतएव उनका जीवन साधारण गृहस्थके जीवनके समान न था। तथापि उन्हें कभी किसी सांसारिक अथवा पारिवारिक कर्तव्यसे च्युत होते नहीं देखा गया। उनके चिन्तनकी गति स्वभावतः अन्तर्मुखी थी, अतएव वे बहुधा अन्तःकरणसे ही वाणी अथवा दिव्य उपदेश प्राप्त करती थीं। विवाहके पश्चात् पति-पत्नी दोनोंने अपने कुलगुरुसे दीक्षा ग्रहण की। माँका चित्त स्वभावतः ही उन्मुक्त था। अब गुरुशक्तिके प्रभावसे तथा अपने आग्रहकी तीव्रतासे वह और भी निर्मल और अन्तर्मुख होने लगा। कुछ दिनोंके बाद ठाकुरने प्रकट होकर दीक्षाके मन्त्रको बदल दिया। माँ ठाकुरके द्वारा मन्त्र पाकर बहुत आनन्दित हुईं तथा द्विगुण उत्साहके साथ उस मन्त्रका निरन्तर जप करने लगीं।

१३१४ (बँगला) सालमें श्रीश्रीमाँ अपने पिता, माता और स्वामीके साथ काशीधाममें पधारीं और वे लोग अगस्त्यकुण्ड मुहल्लाके एक घरमें ठहरे। उस घरमें वे लोग कितने दिन रहे, इसका ठीक पता नहीं है। वहाँ रहते ही उनके पिता रोगग्रस्त होकर मरणासन्न-अवस्थाको प्राप्त हो गये। तब वे उस मकानको छोड़कर अन्य किसी घरमें जानेके लिये उद्विग्न हो उठे—यहाँतक कि सामान भी बँध गया और एक आदमी कुली लाने बाहर चला गया। उसी समय माँके निकट वाणी हुई—"इस घरसे तुमलोग न जा सकोगे।

इसी घरमें तुम्हारे पिताको 'काशीलाभ' होगा।'' तब जाना स्थगित हो गया तथा सामान जो बँधा था, खोल दिया गया। ठाकुरके द्वारा निर्दिष्ट दिन माँके पिताजीको 'काशीलाभ' प्राप्त हुआ तथा उसी घरमें श्राद्ध आदि कर्मानुष्ठान समाप्त करके माँके घरके लोग अगस्त्यकुण्डका मकान छोड़कर ३३। २३ खालिसपुरके मकानमें चले गये। वह मकान बहुत पुराना और टूटा-फूटा था। माँ बीचके तल्लेपर रहने लगीं। वे जिस कमरेमें रहती थीं, वह सीड़ और अन्धकारसे भरा था। उसमें हवाके यातायातके लिये कोई द्वार न था, केवल एक छोटी खिड़की थी और एक प्रवेशद्वार था, परंतु दोनों ही टूटे थे। इसी मकानमें माँकी गर्भधारिणी माताका 'काशीवास' हुआ और इसी मकानके साथ माँकी सुदीर्घकालीन साधनाकी पूर्वस्मृति जुड़ी हुई है।

माँ काशीमें आनेके बादसे ही नियमितरूपसे प्रतिदिन गङ्गास्नान तथा देवताओंके दर्शन करती थीं। विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, विशालाक्षी, चतुःषष्टि योगिनी एवं केदारनाथ उनके नित्य-दर्शनके स्थान थे। वे जब जिस मन्दिरमें दर्शन करने जातीं, तब वहाँ पूर्ण भक्तिपूर्वक अर्चना तथा स्तव-स्तोत्रादिका पाठ करती थीं तथा एक जगह खड़ी होकर केवल दर्शन ही करतीं; उस समय उन्हें बाह्य चेतना नहीं रह जाती। उनकी दृष्टिमें देवता निरी पाषाण-मूर्ति नहीं थे, बल्कि चिन्मयस्वरूपमें प्रकाशित होते थे। निम्नलिखित कुछ घटनाओंसे उनके उस समयके साधन-जीवनके इतिहासपर कुछ प्रकाश पड़ता है।

एक दिन माँ विश्वनाथके मन्दिरमें क्या देखती हैं कि चारों ओर महादेवकी मूर्ति झूल रही है। इसी प्रकार एक दिन उन्होंने देखा कि विश्वनाथकी ध्वजा आकर उनके मस्तकके ऊपर पड़ रही है और हाथको स्पर्श कर रही है। तथा एक दिन विश्वनाथके मन्दिरमें प्रवेश करते ही एक ब्राह्मणने आकर माँके हाथमें एक चित्र देते हुए कहा—'देखो, इसके भीतर हर-गौरी हैं।' उसने एक बार उस चित्रको खोलकर माँको हर-गौरीके दर्शन कराकर फिर चित्रको बंद कर दिया और उसे माँके हाथमें देते हुए कहा—'तुम विश्वनाथका दर्शन करने जाती हो, इसको विश्वनाथके मस्तकपर चढ़ा देना।' माँने चित्र खोलकर सुन्दर हर-गौरीकी मूर्ति देखी। ब्राह्मणने माँको क्यों यह चित्र दिया, यह पूछनेके लिये माँने जब ब्राह्मणकी ओर देखा, तब वहाँ ब्राह्मण न था, वह अन्तर्धान हो गया था। तत्पश्चात् माँ कुछ देर खड़ी रहकर विश्वनाथ-मन्दिरमें गयीं तथा उसे विश्वनाथजीके मस्तकपर चढ़ा दिया; परंतु उसी क्षण पता नहीं, वह कहाँ छिप गया कि खोजनेपर भी नहीं मिला।

एक दिन माँ कालभैरवका दर्शन करनेके लिये हाथमें फूलकी डलिया लेकर घरसे बाहर निकलीं। दाहिना हाथ छातीपर रखकर जप करती हुई तन्मय होकर जा रही थीं। इस भावमें चलनेके कारण रास्ता भूल गयीं और कालभैरवको छोड़कर किसी निर्जन स्थानमें जा पहुँचीं। उनको यह ज्ञात हो गया कि वह स्थान कालभैरवके पासका कोई स्थान नहीं है तथा अपरिचित स्थान देखकर वे शङ्कित हो उठीं। पास एक कोल्हूकी घानी चलते देखकर, वहाँ जाकर माँको पूछनेपर पता लगा कि वे कालभैरवसे बहुत दूर चली आयी हैं। उस समय बहुत देर हो गयी थी तथा उनके मनमें नाना प्रकारकी चिन्ताएँ उठने लगीं; तब वे वहाँसे हटकर एक जगह खड़ी होकर रोने लगीं। इतनेमें देखती क्या है कि हाथमें शङ्ख लिये लाल किनारीकी साड़ी पहने कोई स्त्री उनकी ओर आ रही है। देखते ही माँने तुरत पूछा—'तुम कहाँ जाओगी, माँ?' उस स्त्रीने उत्तर दिया—'मैं अन्नपूर्णा-मन्दिरमें जाऊँगी।' तब माँने कहा—'मैं विश्वनाथ-मन्दिर जाऊँगी, परतु रास्ता भूल रही हूँ।' उस स्त्रीने कहा—'तब मेरे साथ आओ।'— तब माँ उसके साथ बातें करती हुई चलने लगीं और थोड़े ह समयमें ढुण्ढिराज गणेशके सामने आ गयीं। तब उस स्त्रीने कहा—'ये ही तो ढुण्ढिराज गणेश हैं!' यह बात सुनकर माँ गणेशकी ओर देखने लगीं। उसके बाद यह पूछनेके लिये कि 'इतनी जल्दीसे इतना दूर ढुण्ढिराज कैसे पहुँच गये, उन्होंने जैसे ही पीछेकी ओर ताका तो यह देखकर उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा कि वह स्त्री वहाँ नहीं है, अन्तर्हित हो गयी है। उसके बाद माँने अन्नपूर्णा-मन्दिरमें जाकर बहुत खोज की, पर वह स्त्री न मिली। तब उन्होंने समझा कि माँ अन्नपूर्णाने ही इस प्रकार विपत्के समय उनकी रक्षा की है।

एक दिन-माँ अन्नपूर्णाके मन्दिरमें बैठकर एकाग्रचित्तसे जप कर रही थीं। अचानक देखती क्या हैं कि माँ अन्नपूर्णा स्वयं दोनों हाथों भरकर मणिमुक्ता माँको उपहार देनेके लिये उद्यत हैं। माँ अन्नपूर्णा 'लो न'—कहकर माँको लेनेके लिये बारबार अनुरोध करने लगीं। परतु माँ देवीके रूप और वसन-आभूषणके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर एकटक उनकी ओर देखती रह गयीं। मणि-मुक्ताकी ओर उनकी दृष्टि बिल्कुल ही नहीं थी। जब देवी माँको लेनेके लिये बारंबार

कहने लगीं, तब माँने कहा—'ये लेकर मैं क्या करूँगी ? यह सब यहीं रहने दीजिये ।' यह सब घटना कोई देख रहा है या नहीं—यह जाननेके लिये माँने पीछेकी ओर दृष्टि घुमायी और फिर जब देवीकी ओर देखनेके लिये दृष्टि लौटायी, तब देखती क्या हैं कि देवी अदृश्य हो गयी है । उनको फिर वे वहाँ न देख सकीं ।

माँ एक दिन चतुःषष्टि योगिनीके मन्दिरमे दर्शन करनेके लिये गयीं । वे सामने खड़ी होकर माँका दर्शन करने लगीं । उसी समय चौसठी माँ हिंदीमें माँके साथ बातें करने लगीं । पासमें वेणीमाधव भट्टाचार्य पूजा करते थे । माँने उनसे पूछा कि 'चौसठी माँने हिंदीमें जो बातें की हैं, उन्हें क्या आपने सुना ?' भट्टाचार्य महाशय माँकी ओर देखकर और मनका भाव समझकर अवाक् हो गये, और फिर पीछे माँसे बोले—'माँ ! तुम्हारे समान मेरा भाग्य कहाँ है, जो मै चौसठी माँकी बात सुन पाऊँगा ।' वे माँको 'धन्य-धन्य' कहने लगे ।

एक दिन माँ गङ्गा-स्नानके बाद गङ्गाके तटपर बैठकर सदाकी तरह मिट्टी लेकर पिण्डी बनाकर मृण्मय शिवकी अर्चना करने लगीं । तन्मयतापूर्वक एकाग्रभावसे अर्चना करते-करते अचानक उन्होंने देखा कि सामने उन मृण्मय शिवने उज्ज्वल सुवर्णमय आकार धारण कर लिया है । यह दर्शन करके वे केवल विस्मित ही नहीं हुईं, अपितु इस दर्शनसे और एक गम्भीर-तर रहस्यमय दर्शनका सौभाग्य उनको प्राप्त हुआ । उन्होंने देखा कि केवल वे पार्थिव शिव ही स्वर्णमय हो गये हों, ऐसी बात नहीं है; सारा-का-सारा काशीधाम ही उनके सामने मानो एक सुवर्णमय पुरीके रूपमें प्रतिभात होने लगा । माँने प्रत्यक्ष देखा कि यह शिवनगरी हिरण्मय ज्योति-द्वारा निर्मित है; यहाँ जो देव-देवी प्रतिष्ठित हैं, सभी नित्य-जाग्रत् और चैतन्यमय हैं । वे सभी बातें करते हैं तथा जीवित मनुष्यके समान स्वेच्छानुसार इधर-उधर चलते-फिरते हैं । यह सुवर्णमय काशीदर्शन माँके साधन-जीवनका एक आश्चर्यमय अनुभव था । ज्योतिर्मय काशीका यथार्थ स्वरूप और अवस्थान, विश्वेश्वरके द्वारा मुमूर्षु जीवके दक्षिण कर्णमें तारक ब्रह्मका उपदेश, काशीक्षेत्रमें कालभैरवके द्वारा दण्डदानकी व्यवस्था तथा काशीश्वरी माँ अन्नपूर्णाकी महिमा हिंदू-शास्त्रोंमें, विशेषतः काशीखण्ड आदि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है । माँने कहा था कि उन्होंने ये सब तत्त्व स्वयं प्रत्यक्ष किये थे । उन्होंने अपनी आँखों देखा था कि काशी स्वर्णमयी है तथा शिवके त्रिशूलके ऊपर स्थित है । मणिकर्णिकामें सोनेका घाट तथा अर्द्धचन्द्राकृत गङ्गा हैं । महायोगी काशीपति विश्वनाथ गुरुरूपमें मणिकर्णिकामें उपविष्ट होकर काशीमें मृत्युको प्राप्त हुए जीवोंको तारक ब्रह्मका नाम सुनाते हैं ।

इस प्रकार निरन्तर नाना प्रकारके दर्शन होते थे । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये सब बाह्य दर्शन थे । परन्तु उसी समय साधनाके क्रम-विकासके नियमके अनुसार माँ स्वभावतः नाना प्रकारके अलौकिक दर्शन प्राप्त करती थीं । वे प्रतिदिन विधिपूर्वक अनेकों देव-देवियोंके दर्शन करनेके लिये निकलतीं तथा नाना स्थानोंमें, नाना समय देव-देवियोंके प्रत्यक्ष दर्शन करके ध्यानस्थ हो जातीं तथा कभी-कभी गम्भीर तन्मयताके फलस्वरूप समाधिस्थ हो जातीं ।

इसके बाद माँका अन्तर्मुखी भाव क्रमशः बढ़ने लगा । पहले जैसे वे प्रतिदिन देवमन्दिरोंमें जाकर दर्शन करनेके लिये व्याकुल रहतीं, उनका वह भाव अब क्रमशः घटने लगा । उनकी यह व्याकुलता देखकर भगवान्‌ने उनको अच्छी तरह समझा दिया कि ये सब दर्शन बाहरी दर्शन हैं, वास्तविक दर्शन नहीं हैं । वास्तविक दर्शन करनेके लिये चित्त और इन्द्रिय-वृत्तिको बाहरसे प्रत्याहृत करके भीतर एकाग्र करना पड़ता है । इसके बिना चैतन्यमयी शक्तिका यथार्थ विकास नहीं हो सकता । वस्तुतः इसके बादसे ही धीरे-धीरे उनकी मन्दिर-दर्शनकी आकाङ्क्षा कम होने लगी और वे अधिकांश समय घरमे अपने आसनपर ही बैठकर जप-पूजा आदि साधन करने लगीं ।

इसके बाद दीर्घकालतक एक आसनपर एकचित्त होकर बैठते-बैठते उनमें क्रमशः समाधि-अवस्थाका उदय होने लगा । तब इस प्रकार माँ सोलह घंटे, बीस घंटे—यहाँतक कि चार-चार, पाँच-पाँच दिनोंतक एक आसनपर बैठी रहतीं । माँकी यह समाधि-अवस्था क्रमशः अधिकतर गाढ़ होने लगी तथा बाहरका दर्शन एकबारगी बंद हो गया । इसी समय माँके स्वामी सर्दी-खाँसीसे आक्रान्त हो गये और कुछ दिन रोग-यन्त्रणा भोगनेके बाद उन्होंने 'काशीलाभ' किया । उस समय ग्रीष्म-काल, सम्भवतः रथ-यात्राका दिन था ।

माँ जब भेलूपुराके मकानमें रहती थीं, तब भगवान्‌ने उनकी समाधि भङ्ग कर दी और कहा—'अब समाधि लगानेकी आवश्यकता नहीं है ।' इसके बाद फिर उनकी समाधि नहीं लगी ।

मॉने इस दीर्घकालीन साधनानुष्ठानमें जितना दैहिक कष्ट उठाया तथा दुष्कर साधनाभ्यास किया, उसकी तुलना साधकोंके जीवनके इतिहासमें भी दुर्लभ है। देहकी देख-रेख रखना और उसे आराम पहुँचाना तो दूर रहा, साधारणरूपमें भी देह-रक्षाके लिये जो नितान्त आवश्यक था, उसकी भी वे उपेक्षा करती थीं। वे निर्दिष्ट स्थानमें एकान्तमें बैठकर एकनिष्ठभावसे अनन्य चित्तसे दिन-पर-दिन व्यतीत कर देतीं। वे किसीसे कोई आशा भी नहीं करती थीं, प्रार्थना करना तो दूर रहा; उनका शारीरिक कष्ट सीमाको अतिक्रम कर उठा। इससे भगवान् भी विचलित हो उठे। मॉ जब हरडबागमें थीं, तब एक दिन भगवान्ने तीन बार मिट्टीमें ठोकर मारकर शब्दद्वारा मॉकी भाव-समाधिको भङ्ग कर दिया एव कहा—'और कितना कष्ट उठाओगी ?'

मॉ साधनाके समय नाना प्रकारकी अवस्थाओंको पार कर गयी थीं। कभी श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्तकर तज्जनित आनन्दमें विगलित होकर तन्मय हो जातीं और उनके साथ साक्षात् बातचीत करतीं। मॉ तो उससे मुग्ध हो जातीं, परतु भगवान् उनको सावधान कर देते और कहते—'इस आनन्दमें भूलना मत, यह भी कुछ नहीं है।'

जब मॉकी निरञ्जन समाधि उदित हुई, तब उन्होंने समझा कि यह एक उत्तम अवस्था है, निम्नस्तरके समस्त आकर्षणोंसे मुक्त हुए बिना यह अवस्था प्राप्त नहीं होती। परतु भगवान्का आदर्श बहुत ऊँचा था; इसलिये उन्होंने मॉको इसपर भी मुग्ध होने नहीं दिया, और बोले—'यह तो कुछ नहीं है, आगे बढो।'

मॉने जो सब साधनाएँ की थीं, क्रमशः वे ही सब विषय मॉका कायाभेद करके वाणीरूपमें बाहर निकलने लगे। पहले ओंकार, फिर देवताओंकी मूर्तियॉ, मन्त्र, नाम और बीज तथा गायत्री-मन्त्रके साथ उनकी मूर्ति उभरने लगीं। पहले वे मूर्तियॉ पहचाननेमें नहीं आती थीं। तब उन सब मूर्तियोंके नाम एव बीज अङ्गोंपर प्रस्फुटित होने लगे। अगणित पाद-पद्म निकलने लगे। ये सब प्रकट होकर कुछ क्षण उपरान्त विलीन हो जाते थे। इन सब अक्षरों और मूर्तियोंका तेज इतना तीव्र होता था कि उधर देखनेसे ही ऑखोंसे झरझर जल गिरने लगता। मूर्तियॉ प्रस्फुटित होनेके समय हिलती हुई दिखायी देतीं और उसके बाद भी हिलती रहती थीं। कोई-कोई मूर्तियाँ रंग धारण करके निकलती थीं।

मॉका हरड-बागके मकानमे आनेके पहले १३४० (बँगला) सालके आश्विन मासकी महाष्टमीके दिन भगवान्की नित्य लीलामें प्रवेश हुआ। तीन वर्षतक अर्थात् १३४३ (बँगला) सालके अगहन मासकी चतुर्थी तिथितक वे इस लीलामें निरवच्छिन्न भावसे सम्मिलित रहीं।

इस समय महात्मा तैलङ्ग स्वामी महाराज, आचार्य द्रोणके पुत्र अश्वत्थामा, दुर्वासा मुनि, भगवान् बुद्धदेव, महाप्रभु चैतन्यदेव, परमहस रामकृष्ण, महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी, भगवान् शंकराचार्य, भक्त ध्रुव तथा प्रह्लाद, महर्षि बृहस्पति, भगवान् व्यासदेव, भास्करानन्द स्वामी, द्रौपदीके साथ पॉचों पाण्डव, अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण, महामुनि शुकदेव आदि अनेकों महापुरुष और देवता आकर मॉको दर्शन देते थे तथा उनके साथ वार्तालाप करते थे।

मॉने जब ब्रह्ममें प्रवेश किया, तब अपने-आप शङ्ख बज उठा। मङ्गलघट पंक्तिबद्ध होकर स्वय सुशोभित होने लगे। देव-देवियॉ निर्द्वन्द्वरूपसे मॉके साथ-साथ चलने लगीं।

मॉकी परिस्थितिका रहस्य मानवीय भाषामें समझाना सम्भव नहीं है। वे प्रत्यक्ष देख और समझ सकती थीं कि समस्त विश्व, उनके अन्तर्गत है। जब स्नान करतीं, तब देखतीं कि उनके स्नानके साथ-साथ समस्त विश्वका स्नान हो गया। भोगके समय जब मॉ भोग ग्रहण करतीं, तब देखतीं कि चारों ओर कोटि-कोटि मुख भोग ग्रहण कर रहे हैं। जब मॉ गान करतीं, तब उनको प्रत्यक्ष सुन पड़ता कि उनके अपने कण्ठके साथ-साथ कोटि-कोटि कण्ठ एक ही समय झंकृत हो रहे हैं। जब वे आसनपर बैठकर हिलतीं तब स्पष्ट अनुभव करतीं कि मानो सारा विश्व उनके साथ हल रहा है। जब वे श्वास-प्रश्वास खींचती और छोड़ती थीं, तब उनका मन मानो अनन्तके बीचमें रहता था और अनन्तके साथ ही ताल-तालपर श्वासकी क्रिया चलती थी।

एक दिन मॉंकी अवस्थाके प्रसङ्गमें उनको यह श्रुति मिली—'मैं हूँ, ज्योति है और अनियम है।'

१३४३ (बँगला) सालकी मार्गशीर्ष चतुर्थीके दिन मॉको ब्रह्मप्राप्ति हुई। इसके बाद उनकी पूर्णब्रह्म और परब्रह्मकी साधना चलने लगी। यह १३४५ (बँगला) सालके ज्येष्ठ मासतक चलती रही। इसके बाद १३४६ (बँगला) सालके मार्गशीर्ष मासकी अमावस्या तिथिको मॉ महाशून्यका भेदन करके परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूपमें स्थिति प्राप्त कर गयीं। महाशून्यका भेदन करनेके समय मॉकी पूर्व-जन्मकी सब मूर्तियॉ प्रत्यक्षरूपमें मॉके

पास विदा लेनेके लिये प्रस्तुत हुई थीं। उनमें कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मानव—सभी थे। इसके बाद परमपदका साक्षात्कार हुआ।

माँ पहले कुण्डलिनी-जागरणरूप सिद्धि प्राप्त करके, क्रमशः शिवके साथ शक्तिका मिलन, आत्मदर्शन, महामिलन, महाशून्यावस्था, मिलन-मिश्रण, नित्यलीला, ब्रह्मावस्था, पूर्णब्रह्मावस्था, परिपूर्णब्रह्मावस्था, ज्ञान एवं महाज्ञानके स्वरूपका निर्णय, गोलोक-वैकुण्ठादिकी प्राप्ति, निर्वाण, परमपद या परामुक्तिकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद १३५० (बँगला) संवत्के १२ वें वैशाखको सोमवारके दिन इस मर-देहका त्याग करके स्वधाममें चली गयीं। देह-त्याग करनेके समय माँकी आयु प्रायः ५४ वर्षकी थी। उन्होंने ३२ वर्षतक (अर्थात् १३१४ (बँगला) सालसे १३४६ (बँगला) सालतक) काशीमें साधना की थी।

स्वामी श्रीदयानन्द और भक्ति

(लेखक—श्रीबाबूरामजी गुप्त)

(१) स्वामी श्रीदयानन्दसरस्वतीजी महाराजने जिस भक्ति-रस-परिपूर्ण ग्रन्थकी रचना संवत् १९३२ की चैत्र सुदि १० के दिन की, उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रत्नका नाम है 'आर्याभिविनय'। इसकी भूमिकामें स्वामीजी लिखते हैं—'जो नर इस संसारमें ………… प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परमात्माको स्वीकार करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है। वह मनुष्य दुःखोंसे छूटकर परमानन्द परमात्माको प्राप्त होता है।' इस ग्रन्थसे मनुष्योंके ईश्वरका ज्ञानस्वरूप भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे। श्रीस्वामीजी महाराजने वेद-सागरमें गहरे गोते लगाकर उसमेंसे १०८ मोती निकालकर जपमालाके समान उन्हें मौक्तिक-मालाके रूपमें भक्तोंके लिये पिरोकर उसे नित्य पाठ करनेका आदेश किया है। इन प्रार्थना-मन्त्रोंको पढ़ने और जपनेपर किसका मस्तिष्क झूमने नहीं लगेगा ? उन्हें पढ़िये और अपना जीवन सफल कीजिये।

स्वामी श्रीदयानन्दकी भक्ति-झाँकियाँ

(२) एक दिन एक भक्तने स्वामी दयानन्दसे पूछा—'क्यों महाराज ! नाच-तमाशोंमें तो सारी रात नींद नहीं आती, प्रभु-कीर्तन और करतार-कथामें आँखें बंद क्यों होने लगती हैं ?' स्वामीजीने कहा—'प्रभु-कीर्तन और कथा मखमलका बिछौना है; उसपर नींद न आयेगी तो और कहाँ आयेगी ? नाच-रंग काँटोंकी कँटीली और नुकीली जमीन है, उसपर नींद कहाँ ?'

(३) कलकत्तेमें श्रीहेमचन्द्र चक्रवर्तीके योग-साधनकी विधि पूछनेपर आपने कहा—'अभ्यासीको चाहिये कि तीन घड़ी रात रहते आलस्य त्यागकर उठ बैठे, मुँह-हाथ धोकर पद्मासनसे बैठ दत्तचित्त होकर गायत्रीका जप करे।'

(४) कासगंजमें स्वामीजी एक पहर रात रहे उठते और योगाभ्यासमें लग जाते। दो घड़ी दिन चढ़ जानेतक समाधिमें रहते। बाहर आते तब आँखें लाल होतीं। फिर धीरे-धीरे आँखोंपर जलके छींटे देकर उनकी लाली दूर करते।

(५) स्वामीजी मथुरासे आगरा पधारे, तब वहाँ बाबू सुन्दरलालजीके बागमें ठहरे; यहीं योगाभ्यास चला करता था। देखनेवालोंने बतलाया था कि स्वामी दयानन्दजी अठारह-अठारह घंटे समाधिमें बैठे रहते।

(६) स्वामीजी एक बार प्रयाग पधारे तो पण्डित मोतीलालजी दर्शनार्थ आये। बातचीत करते संध्याका समय हो गया। स्वामीजीने कहा—'संध्याका समय हो गया है। सब काम छोड़कर यह परमकृत्य करना चाहिये। आप भी संध्यासे निवृत्त होकर ही पधारें।'

(७) प्रयागनिवासी बंगाली सज्जन श्रीमाधवचंद्र सुरा-सुन्दरीके स्नेही थे। स्वामी दयानन्दके वहाँ पधारनेपर माधवजी भी एक दिन दयानन्द-दरबारमें पहुँचे। स्वामीजीके सत्सङ्गसे उनका जीवन ही पलट गया, अब नित्य ब्राह्म-मुहूर्तमें संध्या होने लगी। एक दिन उनके मित्र शरत्चन्द्र प्रातःकाल उठे तो क्या देखते हैं कि माधवजीका स्नान, संध्या, अग्निहोत्र हो चुका है, और अब वे खड़े हुए गायत्री-जप कर रहे हैं। समाप्तिपर शरत् बाबूने आश्चर्यसे पूछा—'माधव, खड़े होकर गायत्री-जाप क्यों ?' माधव बोले—'भाई ! यह गुरुवर दयानन्दका आदेश है कि मैं नित्य प्रातः

एक सहस्र गायत्रीका जाप किया करूँ । इससे मेरे पूर्वकृत दुष्कर्मोंका मल नष्ट हो जायगा ।'

(८) जिन दिनों महाराज वेलूनमें थे, गायत्रीपर विशेष उपदेश दिया करते । आप भक्तजनोंसे पूछते—'गायत्री जानते हो ?' इतना ही नहीं, उन्हें स्वयं गायत्री-मन्त्र लिखकर देते तथा उसपर १०००का अङ्क लिख देते, जिसका अभिप्राय यह था कि दिनमें १००० गायत्रीका जाप किया करो ।

(९) जिन दिनों स्वामी दयानन्द मेरठमें थे, एक दिन थियासॉफिकल सोसायटीके संचालक कर्नल आल्कट और मैडम ब्लैवट्स्की भी स्वामीजीके दर्शनार्थ आये । वार्तालापमें कर्नल महोदयने कहा 'मेरी धर्मपत्नीको संदेह है कि श्रीशंकराचार्यजीने एक मृत राजाकी कायामें कैसे प्रवेश किया ।' स्वामीजीने कहा—'देखो, यद्यपि मैं अपनेको उच्च कोटिका योगी नहीं समझता, तब भी मैं अपनी चेतना-शक्तिको एक स्थानपर केन्द्रित कर सकता हूँ । उस भागके अतिरिक्त मेरे शरीरमें आपको कहीं चेतना-शक्ति नहीं मिलेगी । जब इस समय मेरे-जैसा साधारण योगाभ्यासी ऐसा कर सकता है, तब उच्च पदवीपर पहुँचे हुए योगी परकाया-प्रवेश कर सकें—इसमें सदेह क्यों ?'

(१०) स्वामी दयानन्द भोजन करते समय उसमेंसे कुछ चीलों, कुछ श्वानोंके लिये तथा कुछ अग्निकी भेंट भी करते और कहा करते—'बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करना पाप है, ऐसा करनेवाले मानो मांस खाते हैं । एक दिन पास बैठे पण्डित हरिशंकरजीने कहा—'महाराज ! ऐसा न कहिये, यहाँ तो कोई भी ऐसा नहीं करता ।' तब स्वामीजीने गीताके तीसरे अध्यायका १३ वाँ श्लोक पढ़कर अर्थ करते हुए कहा, 'यज्ञशेष अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; किंतु जो केवल अपने लिये पकाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं ।'

(११) सर सैयद अहमदने एक दिन स्वामी दयानन्दसे कहा—'आपकी और सब बातें तो समझमें आती हैं, मगर हवनमें घी-सामग्री वगैरह डालनेसे क्या फायदा है ?' श्रीस्वामीजी बोले—'क्यों सैयद साहिब ! आपके घरमें कितने आदमियोंका भोजन बनता है ?' 'तकरीबन पचासका ।' सर सैयदने कहा । 'तो कभी हींगकी छौंक देनेसे उसकी सुगन्ध भी आती है ?' 'हींगकी खुशबू कैसे न आये, स्वामीजी ?' 'बस, यही भेद है । अग्निमें घृत और सुगन्धित पदार्थ डालनेसे वे सूक्ष्म होकर वायुमें फैल जाते हैं, जिसके कारण बहुत-से रोगोंकी निवृत्ति होती और वायु शुद्ध होती है, स्वामीजीने कहा ।' 'जब ऋषि-महर्षि एवं राजा-महाराजा बहुत होम करते और कराते थे, तब आर्यावर्त देश रोगोंसे रहित और सुखोंसे पूर्ण था । अब भी होमका प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय ।'

(१२) दानापुरके ठाकुरदासने अपनी एक स्त्रीके रहते दूसरा विवाह कर लिया था । एक दिन उसने स्वामी दयानन्दजीसे कहा—'महाराज ! मुझे भी योगकी विधि बतलायें ।' स्वामीजीने कहा—'तुम एक विवाह और कर लो, फिर तुम्हारा योग ठीक हो जायगा ।'

(१३) जिन दिनों स्वामी दयानन्द भड़ौंच विराज रहे थे, उनके एक सेवक कृष्णराम इच्छारामको ज्वर आने लगा । स्वामीजी समाचार पाकर उसके घर गये और उसका पीड़ित सिर अपने हाथोंसे दबाने लगे । उसने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज ! मैं इस योग्य नहीं हूँ ।' स्वामीजीने कहा—'कोई बात नहीं, परस्पर सहायता करना मनुष्यका धर्म है ।'

सेवा भक्तिका आवश्यक अङ्ग है

(१४) कलकत्तेके श्रीअश्विनीकुमार दत्तने एक दिन स्वामी दयानन्दसे पूछा—'क्यों महाराज ! आपको कभी कामने तो नहीं सताया ?' गम्भीर मुद्रासे ऋषि बोले—'काम ? मैं तो सदा ही काममें लगा रहता हूँ, मुझे कामकी बात स्मरण ही नहीं पड़ती ।' उत्तरसे उत्तेजित होकर दत्तजीने पूछा—'आप क्या हाड़-मासके बने हुए नहीं हैं ?' दयानन्द बोले—'दत्तजी ! यहाँ कामके लिये अवकाश ही नहीं है ।' सारांश यह है कि स्वामी दयानन्दका अधिकाश समय प्रभु-भक्ति और योगाभ्यासमें बीतता था । उससे निवृत्त होनेपर वे लोक-कल्याणके कामोंमें लीन हो जाते । दयानन्दके मनो-मन्दिरमें किसी भी मलिन संस्कारका लेश न था । सच है, प्रभु-भक्तोंके पास काम-कुत्सित विचारोंको फटकनेका भी साहस नहीं होता । परमहंस स्वामी दयानन्दका एक-एक पल प्रभु-प्रेरणाद्वारा प्राप्त हुई आज्ञाओंकी पूर्तिके लिये था ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और भक्ति

(लेखक—श्रीविमलकृष्ण विद्यारत्न)

(१)

प्रकृति देवी वन्दना करती हैं नित्य नव-नव साजमें विश्व-देवताकी। पूजा करती हैं अपने प्राण-प्रियतमकी—ईप्सित-तमकी! ऋतुके आवर्तनके मार्गसे उनका यह अभिसार चलता है। अङ्गमें उनके कभी श्यामल शस्यकी हरितिमा है तो कभी नीलकाशकी नीलिमा! विहंगोंकी कल काकलीमें ध्वनित होती है आरती-ध्वनि; फल-फूलसे पूर्ण होता है पूजा-का अर्घ्य! पुजारिणी प्रकृतिदेवीके वक्षःस्थलपर भक्ति-गङ्गा निरन्तर प्रवाहित होती हैं।

भज्+क्ति= भक्ति। अभिधानकार भक्तिके पर्याय-शब्द बतलाते हैं—सेवा, प्रेम, श्रद्धा। प्रेम भी भक्तिका भाव वहन करता है। भक्ति और प्रेममें समप्राणता विद्यमान है। 'पञ्चरात्र' का कथन है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

'अन्यके प्रति ममताका परित्याग करते हुए भगवान्‌में जो प्रेमयुक्त ममता होती है, उसीको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारदने भक्ति कहा है।'

'चैतन्यचरितामृत' में भी इसी सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि सुनायी देती है—

साधन भक्ति हइते रतिर उदय। रति गाढ हइले तारे प्रेम नाम कय॥

प्रेमके सम्बन्धमें 'भक्तिरसामृतसिन्धु' कहता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

'जिससे चित्त परिपूर्णरूपसे स्निग्ध एवं कोमल हो जाता है तथा जो अत्यधिक ममतायुक्त है—इस प्रकारका भाव जब गाढ हो जाता है, तब उसको बुधजन प्रेम कहते हैं।'

प्रेम और भक्ति एक ही हृदयावेगकी दो दिशाएँ हैं। इनका उद्गम एक ही है।

'प्रेम' कविकी मानस-भूमि है। प्रेमकी साधना ही कवि-के जीवनकी साधना है। प्रेमके द्वारा ही आदिकविने प्रेरणा प्राप्त की थी काव्य-रचनाकी—रचित हुआ आदिकाव्य। प्रिय-विरह-कातर क्रौञ्चीके प्रति प्रेमने शोकार्त कर दिया वाल्मीकिको। जहाँ प्रेम होता है, वहीं सम-वेदना जागती है। पहले प्रेम होता है और पश्चात् वेदनाका बोध होता है। कविका क्रौञ्चीपर प्रेम था। इसी कारण उसके दुःखसे वे शोकाभिभूत हुए। शोक परिणत हो गया श्लोकमें—रामायणमें। प्रेम ही काव्यकी आत्मा है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १।५)

(२)

यह प्रेम—यह ससीम स्नेह एक बार असीमके अन्वेषणके लिये चल पड़ता है—अपूर्णसे पूर्णमें प्रवेश करना चाहता है। हृदयका विस्तार होता है। सीमाके भीतर उसे अब आनन्द नहीं मिलता। सीमाके भीतर असीमको पानेकी अभिलाषा जाग उठती है। यही है भागवती पिपासा, इसीको भगवत्प्रेम कहते हैं। कविके कण्ठसे तब झङ्कृत हो उठता है—

सीमार माझे असीम तुमि
बाजाओ आपन सुर,
आमार मध्ये तोमार प्रकाश
ताई एत मधुर।
कत वर्णे, कत गन्धे
कत गाने कत छन्दे—
अरूप, तोमार रूपेर लीलाय
जागे हृदयपुर।
तोमाय आमाय मिलन होले,
सकलि जाय खुले,
विश्वसागर ढेउ खेलाये
उठे तखन दुले।
तोमार आलोय नाई तो छाया
आमार माझे पाय से काया,
हय से आमार अश्रुजले
सुन्दर विधुर।

—रवीन्द्रनाथ

'तुम असीम होकर सीमाके भीतर अपना सुर बजाते हो, इसीसे मेरे भीतर तुम्हारा प्रकाश इतना मधुर लगता है। कितने वर्णोंमें, कितने गन्धोंमें, कितने गानोंमें, कितने छन्दों-में—हे अरूप! तुम्हारे रूपकी लीलामें हृदय-पुर जाग उठता

है। तुम्हारा और मेरा मिलन होनेपर सब भेद खुल जाता है, तब विश्व-सागरकी तरङ्ग-क्रीडा आन्दोलित हो उठती है। तुम्हारे प्रकाशमें छाया नहीं है, वह मेरे भीतर शरीर धारण करती है और मेरे अश्रुजलसे वह सुन्दर विधुर हो जाती है।'

असीमके प्रति यह प्रेम—यह भगवद्भक्ति रवीन्द्रनाथके जीवनमें और काव्यमें सर्वत्र परिव्यास है। रवीन्द्र-काव्य-मन्दाकिनी विश्व-देवताके वन्दना-संगीतसे मुखरित है। उन्होंने कहा है—

> ताँहारे आरति करे चन्द्र तपन
> देव मानव वन्दे चरन,
> आसीन सेई विश्वशरण
> ताँर जगत-मन्दिरे।
> कत कत शत भकत प्राण
> हेरिछे पुलके, गाइछे गान—
> पुण्य किरणे फूटि छे प्रेम
> टूटिछे मोह बन्ध रे।
> (वैतालिक)

'चन्द्र और सूर्य उसकी आरती करते हैं, देव और मानव उसकी चरण-वन्दना करते हैं। वह विश्वको शरण देनेवाला अपने जगत्-मन्दिरमें आसीन है। कितने शत-शत भक्तोंके प्राण पुलकित होकर देख रहे हैं, गान गा रहे हैं। पवित्र किरणोंसे प्रेम स्फुटित हो रहा है और मोहका बन्धन टूट रहा है।'

भक्त प्रार्थना करता है—'हे हरि! अज्ञानान्धकारने मुझको पथ-भ्रान्त कर दिया है। तुम भक्तवत्सल हो, शरणागतकी तुम रक्षा करो। मैंने तुम्हारी शरण ले ली है। तुम मेरे हृदयान्धकारको दूर करो। हरिके बिना दूसरा तो कोई आश्रयदाता है नहीं।' हरिके गुणगानसे जो हृदय द्रवीभूत नहीं होता, श्रीतुलसीदासजीने उसको कुलिशके समान कहा है।

> हृदय सो कुलिस समान जो न द्रवइ हरिगुन सुनत।

कबीरदासजीने गाया है—

> हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

गुरु नानक कहते हैं—

> हरि बिना रहिये दुखु बियापै।

रामदासजी कहते हैं—

> हरि प्रभु मोर बाळा।

गोरखनाथजी कहते हैं—

> जहाँ जोगेसुर हरि कू ध्यावैं।
> चंद सूर तहँ सीस नवावैं॥

नामदेव महाराज कहते हैं—

> कहै नामदेव हम हरि की सेव।

पद्मपुराणमें लिखा है—

> येनार्चितं हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
> रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥

'जिसने हरिकी पूजा की है, उसने त्रिलोकीको तृप्त कर दिया। चराचर जीव उसपर प्रसन्न हो जाते हैं, उससे अनुराग करने लगते हैं।'

उसी भक्तवत्सल हरिके उद्देश्यसे रवीन्द्रनाथ अपनी आर्ति निवेदन करते हैं—

> हरि, तोमाय डाकि, संसारे एकाकी
> आँधार अरण्ये धाइ हे।
> गहन तिमिरे नयनेर नीरे
> पथ खुँजे नाहिं पाइ हे।
> सदा मने हय 'कि करि कि करि
> कखन आसिबे काल-विभावरी?'
> ताइ भये मरि, डाकि हरि हरि,
> हरि बिना केह नाइ हे।
> नयनेर जल हबे ना विफल,
> तोमाय सबे बले भकत-वत्सल।
> सेई आशा मने करेछि सम्बल,
> बेंचे आछि शुधु ताई हे।
> (गीतवितान पृष्ठ ८३१)

'हरि! मैं तुम्हें पुकारता हुआ संसारमें अकेला अँधेरे जंगलमें दौड़ता हूँ। गहरा अन्धकार और नयनोंमें नीर होनेके कारण रास्ता खोज नहीं पा रहा हूँ। सदा सोचता हूँ—'क्या करूँ, क्या करूँ? पता नहीं, कब काल-रात्रि आ जायगी।' इसी भयसे मर रहा हूँ और हरि-हरि पुकार रहा हूँ। हरि बिना मेरा कोई नहीं है। मेरे नयनोंका जल निष्फल नहीं होगा। तुमको सभी भक्त-वत्सल कहते हैं, इसी आशाको मैंने अपना सम्बल समझ लिया है और केवल इसीसे बचा हुआ हूँ।'

'सेवा'ने भक्ति-धर्ममें एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। सेवा भक्तिका अङ्ग है। सेवासे भक्ति प्राप्त होती है। श्रीभगवान् सेवा-प्रियको भक्ति प्रदान करते हैं। आदिपुराण कहता है—

> मम नामसदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा।
> भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न तु मुक्तिः कदाचन॥

'जो सदा मेरा नाम लेता है और मेरी सेवा जिसे प्यारी

लगती है, उसे भक्ति ही देनी चाहिये, मुक्ति कदापि नहीं ।'

सेवाहीन रात, पूजाहीन दिन रवीन्द्रनाथको व्यथित करते हैं । वे गाते हैं—

की देखिछ बँधु मरम माझारे
राखिया नयन दुटी ।
करेछ कि क्षमा जतेक आमार
स्खलन पतन त्रुटि ?
पूजाहीन दिन—सेवाहीन रात
कत बार बार फिरे गेछे नाथ,
अर्घ्य कुसुम झरे पडे गेछे
विजन विपिने लूटि ।
(जीवन-देवता, चित्रा)

'बन्धु ! मेरे अन्तःकरणमें अपने दोनों नेत्रोंको लगाकर क्या देख रहे हो ? क्या तुमने मेरे सारे स्खलन, पतन और त्रुटियोंको क्षमा कर दिया है ? नाथ ! पूजाहीन दिन और सेवाविहीन रात कितनी बार आयीं और चली गयीं, और विजन विपिनमें वे कुसुम झड़कर पड़ गये हैं, जिनसे मैं तुम्हें अर्घ्य दे सकता था !'

(२)

जिस गीति-ग्रन्थने रवीन्द्रनाथको विश्वका सर्वश्रेष्ठ कवि होनेका सम्मान प्रदान किया था, उसी ग्रन्थका यह प्रथम गीत है—

आमार माथा नत करे दाओ हे
तोमार चरन धूलार तले,
सकल अहङ्कार हे आमार
डुबाओ चोखेर जले ।
निजेरे करिते गौरव-दान,
निजेरे केवलई करि अपमान,
आपनारे शुधु घेरिया घेरिया
घूरे मरि पले पले ।
आमार येन ना करि प्रचार
आमार सकल काजे,
तोमारि इच्छा हउक पूर्ण
आमार जीवन माझे ।
याचि हे तोमार चरम शान्ति,
पराणे तोमार परम कान्ति,
आमारे आडाल करिया दाँडाओ
हृदय-पद्म-दले ।

'भगवन् ! अपनी चरण-धूलिके तलमें मेरे सिरको नत कर दो, मेरे सारे अहंकारको इन नयनोंके जलमें डुबा दो । मैं अपनेको गौरव प्रदान करने जाकर अपना केवल अपमान ही करता हूँ । मैं केवल अपनेको ही घेर-घेरकर प्रतिपल मरता फिरता हूँ । हे प्रभो ! अपने कर्मोंमें मैं अपना प्रचार न करूँ; मेरे जीवनमें तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो । मैं चाहता हूँ तुम्हारी चरम शान्ति, मैं चाहता हूँ प्राणोंमें तुम्हारी परम कान्ति । भगवन् ! मेरे हृदयकमल-दलमें मेरी आड़ लेकर तुम खड़े हो जाओ ।'

केवल यह गान ही नहीं—यह सारा ग्रन्थ ही भक्ति-सुधासे परिपूर्ण है । इसका रस-माधुर्य दुर्गम अध्यात्म-पथको सरस करता है—उस दूरतमको निकट ले आता है । इसके आलोकसे भक्तका हृदय-अन्धकार दूर हो जाता है । वह प्रियतमके सान्निध्यका अनुभव करता है । रवीन्द्रनाथके ये खेया, गीतिमाल्य, गीतालि, गान, नैवेद्य आदि ग्रन्थ भी भक्ति-सम्पद्से समृद्ध हैं ।

१९१२ ई० में २७ मईको रवीन्द्रनाथने इंगलैंडकी यात्रा की । उनके साथ पचास गीतोंका अंग्रेजी अनुवाद था । 'इंडिया सोसायटी' ने इन गानोंको तथा अन्य कुछ गानोंको एकत्र करके 'गीताञ्जलि'के नामसे प्रकाशित किया । इस ग्रन्थने रवीन्द्र-नाथको समस्त योरपमें श्रेष्ठ कविके आसनपर प्रतिष्ठित कर दिया । गीताञ्जलिसे ही उन्हें 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त हुआ ।

रवीन्द्र-साहित्यमें भक्ति-रसका अमृत यत्र-तत्र विकीर्ण हो रहा है । इसका वर्जन करनेसे, अथवा 'लोग उन्हें प्रतिमा-पूजक कहेंगे' इस भयसे डरकर इसकी विकृत व्याख्या करनेसे रवीन्द्र-साहित्य पङ्गु हो जायगा, प्राणहीन हो जायगा । रवीन्द्र-काव्य-सिंधु-से कुछ अमृत-बिन्दु आहरण करके 'कल्याण' के सम्माननीय पाठक-पाठिकाओंके अवलोकनार्थ उपस्थित किये गये हैं ।

भगवद्भक्तोंके द्वारा परिप्रेक्षित समस्त रवीन्द्र-साहित्यकी आलोचना इस लघु प्रबन्धमें सम्भव नहीं है ।

महात्मा गांधी और भक्ति

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

अधिकाश शिक्षित व्यक्ति गाधीजीको भारतका एक राजनीतिक नेता मानते रहे हैं और आज भी हममें ऐसे ही लोगोंकी सख्या अधिक है; परंतु वस्तुतः वे हमारे सास्कृतिक नेता थे। भारतीय राजनीतिमें एक-से-एक वाग्मी, प्रतिभाशाली पुरुष हो गये हैं, जिनके सामने गाधीजी कुछ न थे। पर कुछ न होकर भी जो वे सबके ऊपर छा गये थे और उन्होंने भारतीय जनताका हृदय जीत लिया था, भारतके बाहर भी लोग उनकी ओर एक नवीन आशासे देखते थे, उनमें एक नवीन प्रकाश पाते थे, उसका कारण उनकी राजनीति नहीं, उनकी सरलता, उनका त्याग और वैराग्य, उनकी पवित्रता, उनका धर्ममय जीवन था। वे कोटि-कोटि मनुष्योंके जीवनमे समा गये थे।

और उनकी इस सम्पूर्ण शक्तिका स्रोत प्रभुमे उनकी अचल आस्था थी। अपने सृजनकर्ताके प्रति उनकी निष्ठा ही उनके जीवनका मेरुदण्ड है। यह निष्ठा धीरे-धीरे पुष्ट होकर भक्तिमें बदल गयी थी। बचपनसे ही उनमें भगवन्नाम या राम-नाम लेनेका अभ्यास डाला गया था। गृह-परिचारिका रम्भाने भय, कष्टके समय राम-नाम लेनेकी दीक्षा इन्हें बचपनमें दी थी। १३ वर्षकी अवस्थामें लधा महाराजसे रामायणकी कथा सुनकर ये विह्वल हो जाते थे। तुलसीकी रामायणका इनके जीवनपर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वय ही लिखा है कि 'समस्त भक्ति-साहित्यमें मैं तुलसी-रामायणको सबसे महान् ग्रन्थ मानता हूँ।'

किशोरावस्थामें जब-जब उनके जीवनमें विविध प्रकारकी दुश्चिन्ताएँ आयीं, प्रलोभन आये, उन्होंने बराबर राम-नामका सहारा लिया। राम-नाम उनके जीवनका कवच बन गया। उन्होंने लिखा है—'पशुवृत्तियोंपर नियन्त्रण स्थापित करनेमे राम-नाम हमारा सबसे शक्तिशाली साथी रहा है।' उन्होंने बराबर अपने साथियों एव अनुयायियोंको इसका सहारा लेनेकी सलाह दी है—

'The Mantra becomes one's staff of life and carries one through every ordeal.'

अर्थात् 'मन्त्र हमारे लिये जीवनकी लाटी है और हर विपत्तिसे हमें पार करता है।' आगे वे यह भी लिखते हैं कि 'सासारिक कामनाओकी पूर्तिके लिये इन पवित्र मन्त्रोंका उपयोग नहीं करना चाहिये।' एक अनुयायीको उन्होंने लिखा था—

"When your passions threaten to get the better of you, go down on your knees and cry out to God for help. Ram-nama is my Infallible Help."

अर्थात् जब तुम्हारी वासनाएँ तुमपर सवार हो रही हों, तब घुटने टेककर प्रभुको सहायताके लिये पुकारो। राम-नाम मेरा अव्यर्थ—अचूक सहायक है।

अपने जीवनको उच्चतर भूमिकापर प्रतिष्ठित करनेके लिये उन्होंने जितने भी प्रयोग किये, सबसे उनके इस अनुभवकी पुष्टि होती गयी कि राम-नाम ही सार है। वे कहा करते थे कि बुद्धि हमें जीवनकी अनेक स्थितियोंसे पार करती है; पर खतरे और प्रलोभनके अवसरपर वह निष्फल सिद्ध होती है। तब केवल श्रद्धा ही हमें जीवन-दान देती है—वही हमारी रक्षा करती है।

इसीलिये जीवनके अनेक विध कार्योंको करते हुए वे कभी प्रभुको भूलते न थे। मोटरमें हों, रेलमें हों, तूफान हो, वर्षा हो, आवश्यक-से-आवश्यक कार्य हो, उनकी प्रार्थना नियत समयपर होती ही थी। प्रार्थनाको वे अपने प्रियतमके लिये हृदयका रोदन समझते थे। वह उनकी आन्तरिक बुभुक्षाकी तृप्तिका सर्वोत्तम साधन थी।

कुमारावस्थामे असत्याचरणकी निवृत्तिके लिये बार-बार राम-नामका सहारा लेकर उन्होंने देखा। पाप-ग्राहसे भगवान्, हृदयसे पुकारनेपर, किस प्रकार बचाते हैं, इसका उन्होंने अनेक बार अनुभव किया। इसलिये अवस्था और अनुभवके साथ उनकी निष्ठा बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि अपने उपवासोंकी वेदनामे, अन्तःकरणके ऐकान्तिक सघर्षोंमें, राष्ट्रके भाग्यपर प्रभाव डालनेवाले निर्णयोंमें, राजनीतिक समझौतेकी गूढ वार्ताओंमें—सर्वत्र राम-नाम, प्रभुका आश्रय ही उनका एकमात्र सहारा रह गया था।

मानव-व्यथा-निवारणके लिये किये गये अपने प्रयोगोंमे आधुनिक चिकित्सा-विज्ञानकी व्ययसाध्य एव अविश्वसनीय व्यवस्थाओंसे वे दिन-दिन दूर होते गये। प्राकृतिक जीवन-यापनके तो वे प्रारम्भसे ही समर्थक थे। शुद्ध वायु, निर्मल जल,

उपवास, संतुलित आहार, मिट्टी एवं मालिशके साधनोंसे रोग-निवारण तथा स्वास्थ्य-सम्पादनपर वे बराबर बल देते रहते थे । उत्तर जीवनमें तो उन्होंने पूनाके निकट उरूली कांचनमें इसके निमित्त एक आश्रम ही खोला था; परतु उनकी भगवद्भक्तिमें इतनी तीव्र गतिसे विकास हो रहा था कि अन्तमें वे इस निश्चयपर पहुँचे कि राम-नाम ही सब रोगोंकी महौषधि है—और एक इसी दवासे काम चल सकता है ।

आप जानते हैं कि गाधीजीके मित्रों तथा अनुयायियोंमें भारतके एक-से-एक बड़े चिकित्सक थे । उन्होंने तथा उनके अनेक बुद्धिवादी जीवन-साथियोंने इस सीमातक जानेपर उनकी हँसी उड़ायी; पर जीवनकी प्रयोगशालामें तर्कसे नहीं, गहरे आन्तरिक प्रयोगोंसे जो कुछ उन्होंने पाया था, वह हिल न सका । उनका कहना था कि हम शरीरमात्र नहीं हैं; फिर जिसका शरीर है, जिसको लेकर शरीर टिका है, उसके स्वास्थ्यकी क्रिया न अपनानेसे यह शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता । तब जो मूल है, उसे अपनाना चाहिये । और इसके लिये हमें उस महाचिकित्सकके पास जाना होगा, जहाँ सम्पूर्ण व्याधियोंका शमन सम्भव है ।

उनके निम्नलिखित उद्धरणोंपर ध्यान देनेसे उनकी अडिग आस्थाका पता चलता है—

'चाहे जिस भी व्याधिसे मनुष्य पीड़ित हो, हृदयसे राम-नाम-जप एक अव्यर्थ महौषधि है।'

('हरिजन' ३ । ३ । ४६)

'मनुष्यको अपनी चिकित्सामें उन्हीं पञ्चतत्त्वोंका सहारा लेना चाहिये, जिनसे शरीर बना है।'

('हरिजन' ३ । ३ । ४६)

'मेरा यह दावा है कि राम-नाम शारीरिक व्याधियोंके लिये भी महौषधि है।'

('हरिजन' ७ । ४ । ४६)

चरकने भी लिखा है—

विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन् नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ॥

अपनी मृत्युके ठीक एक साल पूर्व, यात्रामें शुद्ध बकरीके दूधकी जगह नारियलका दूध लेनेके कारण उनपर प्रवाहिकाका आक्रमण हुआ । दुर्बलतावश वे लड़खडा पड़े और एक प्रकारकी मूर्च्छा उन्हें आ गयी । उस समय केवल मनू उनके पास थी । वह घबड़ा गयी और पासके गाँवसे डॉ० सुशीलको बुलानेके लिये एक कागजपर उसने सदेश लिखा । इसी समय बापूकी आँख खुल गयी और उन्होंने किसीको भी कोई पत्र भेजनेके लिये मना कर दिया । कहा—'मैं तुमसे आशा करता हूँ कि ऐसे समय और कुछ करनेकी जगह तुम अपने सम्पूर्ण हृदयसे राम-नाम लोगी । जहाँतक मेरा ख्याल है, मैं तो उसीका नाम लेनेमें लीन था । असली डाक्टर तो राम ही हैं । जबतक राम मुझसे सेवा चाहते हैं, मुझे जीवित रखेंगे; जब वे न चाहेंगे, अपने पास बुला लेंगे । ······हमें जीवनके अन्तिम क्षणतक रामका नाम लेते रहना चाहिये; पर वह तोतेकी-सी रटंत न हो, अपितु हनुमान्‌की तरह वह हमारे हृदयसे निकले । जब सीताजीने उन्हें मोतीकी माला दी, तब उन्होंने मोतियोंको तोड़ डाला—यह देखनेके लिये कि उनके अदर राम-नाम अङ्कित है या नहीं । ······ ······ अब तुम समझ गयी होगी कि किसीकी भी बीमारीके सम्बन्धमें—चाहे मैं होऊँ या तुम या कोई और—मेरा क्या रुख है । समस्त ससारमें केवल एक ही महौषधि है और वह राम-नाम है ।'

गांधीजी सचमुच परम भागवत थे । वे एक निश्चित—प्रार्थनाके समयमें ही राम-नाम न लेते थे । वे अजपा-जपके साधक थे और हर घड़ी उनके हृदयमें यह जप चलता रहता था । जीवनके अन्तिम क्षण भी उनके मुँहसे वही निकला—'राम राम रा···'

क्या ही अच्छा होता कि उनके अनुयायी अन्तः-शक्तिके इस स्रोतसे भी अपना सम्बन्ध बनाये रखते ।

राम-नामका बल

नामु अजामिलसे खल तारन, तारन बारन बारबधूको ।
नाम हरे प्रहलाद-बिषाद, पिता-भय-साँसति-सागरु सूको ॥
नामसों प्रीति-प्रतीति-बिहीन गिल्यो कलिकाल कराल, न चूको ।
राखिहैं रामु सो जासु हिएँ तुलसी हुलसै बलु आखर दूको ॥

अवधके भक्तोंका महत्त्व

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

भगवान् श्रीरामजीने श्रीअवध-धाममे ग्यारह हजार वर्षों-तक माधुर्यरूपसे क्रीड़ा करके इस धामको अधिक महत्त्व दिया है। यहाँके निवासियोंपर आपकी बड़ी ममता है।

यथा—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।···अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ॥
··अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुख रासी॥
(श्रीरामचरितमानस उ० ३)

श्रीअवध-धामके सामान्य निवासियोंपर भी आपकी ममता है, जिससे आप उन्हें अपने साथ परधाम भी ले गये हैं—यहाँतक कि श्रीसीताजीके निन्दक मतिमन्द रजक-ऐसे अवधके महापापीको भी आपने अपना धाम दिया है।

यथा—

सिय निदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई॥
(विनय-पत्रिका १६५)

सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए॥
(श्रीरामचरितमानस बा० १५)

फिर जो उनकी भक्ति-निष्ठासे श्रीअवधमें रहनेवाले हैं, उन्हें यदि श्रीरामजी महत्त्व देते हैं तो यह उनके लिये स्वाभाविक ही है। आगे श्रीअवधके भक्तोंके महत्त्वपरक कुछ उदाहरण लिखे जाते हैं—

(१) श्रीअवधके भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीहनुमान्जी हैं। भगवान् श्रीरामजी सपरिवार आपके ऋणी हैं। (वाल्मी० ७ । ४० । २३-२४) में इसका रहस्य कहा गया है। (वाल्मी० ७ । १०८ । २९—३२) के अनुसार स्वामी श्रीरामजीकी आज्ञासे श्रीहनुमान्जी आज दिन भी श्रीअवधमें (अलक्ष्यरूपसे) विराजमान हैं। आपके महत्त्वपरक कुछ प्रमाण—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥
(श्रीरामचरितमानस उ० ४९)

सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।
ताको लिये नाम राम सबको सुढर ढरत॥
(विनय-पत्रिका १३४)

साँची सेवकाई हनुमान की सुजान राय,
रिनियाँ कहाये औ बिकाने ताके हाथ जू॥
(कवितावली उ० १९)

(२) इधर कलियुगमें महर्षि वाल्मीकिजीके अवतार श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी हुए।

यथा—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।
(भक्तमाल-नाभाजी)

श्रीवाल्मीकिरूपसे आपने उल्टे नाम 'मरा' के जपसे सिद्धि प्राप्त की तथा वेदोपबृंहणरूप रामायण प्रकटकर लोकोपकार किया। उसी प्रकार इस तुलसीदासरूपसे आपने सीधे राम-नाम-की निष्ठासे महत्त्व प्राप्त किया। उन्होंने स्वयं कहा भी है—

राम नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रतापु,
तुलसी सो जग मनियत महामुनी सो॥
(कवितावली उ० ७२)

श्रीराम-नाम-निष्ठासे प्रकाश प्राप्तकर आपने श्रीअयोध्याजी-में ही श्रीरामचरितमानसकी रचना की थी। और भी कई ग्रन्थोंका निर्माण आपने श्रीअवधमें ही किया। आज दिन समस्त भारतवर्षमे ही नहीं, अन्य देशोंमें भी आपके गुरुत्वकी धाक है।

(३) स्वामी श्रीरामप्रसादजी 'दीनबन्धु', बड़ा स्थान, श्रीरामकोट—आप श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवोंमें बेंदीवाले संतोंकी गादीके प्रवर्तक प्रथमाचार्य थे। आपने श्रीराम-नाम-निष्ठासे परम सिद्धि प्राप्त की। वैष्णवोंमें आप श्रीगोस्वामी तुलसीदासके अवतार भी कहे जाते हैं। आपके निर्मित वेदान्तपर 'जानकीभाष्य' एव 'शिक्षापत्री' आदि ग्रन्थ हैं। श्रीअवधमें मणिरामजीकी छावनी तथा पयोहारीजीकी प्रसिद्ध गादी आदि आपकी गादीकी ही शाखाएँ हैं।

(४) स्वामी श्रीरघुनाथदासजी, बड़ी छावनी—आप इस बड़ी छावनी गादीके प्रवर्तक प्रथमाचार्य थे। आकस्मिक दैवी घटनासे भगवान्‌की प्रतीति पा आप विरक्त हुए और राम-नाम-निष्ठासे आपने सिद्धि प्राप्त की। संत-सेवा-निष्ठाको भी आपने प्रधानता दी। आपकी गादीकी शाखाके बड़े-बड़े स्थान हैं।

(५) स्वामी श्रीरामचरणदासजी महाराज 'करुणासिन्धु', जानकीघाट—आप 'श्रीरामनवरत्न' आदि कई ग्रन्थोंके रचयिता थे। श्रीरामचरितमानसके आप प्रथम टीकाकार थे। उसीके आधारपर शेष टीकाएँ हुईं। आपने श्रीसीतारामजीकी शृङ्गार-रस-निष्ठाका विशेष प्रचार किया। श्रीयुगलप्रियाजी, श्रीरसिकअलीजी और दार्शनिक श्रीहरिदासाचार्य-प्रभृति बड़े-बड़े आचार्य आपकी शृङ्गार-रस-निष्ठाके अनुयायी हो गये हैं।

(६) पण्डित श्रीउमापतिजी त्रिपाठी, नयाघाट—अपने समयमें आप समस्त भारतवर्षमें बड़े प्रख्यात विद्वान् हुए हैं। विद्वत्तासे कहीं अधिक आपमें भगवान्‌की भक्ति-निष्ठाका गौरव था। आप रसात्मिका भक्ति-निष्ठामें अपनेको वसिष्ठरूपमें मानते हुए और सपरिवार श्रीरामजीको शिष्यरूप मानते हुए उनपर वात्सल्य-निष्ठा रखते थे। आपकी यह भी निष्ठा थी कि जब श्रीराम-लक्ष्मण-ऐसे मेरे शिष्य हैं, तब मैं और किसीके द्वारपर न जाऊँगा। एक समय श्रीअवधस्थित राज-सदनके संस्थापक ददुआ राजाकी इच्छा हुई कि मेरे राज-सदनका शिलान्यास पं० श्रीउमापतिजीके द्वारा सम्पन्न हो। राजा साहबने यह सकल्प कर रखा था कि सवा लाख रुपये मैं नींव दिलानेपर पूजा दूँगा। राजाने मन्त्रियोंके द्वारा प्रार्थना की। फिर भारतके कोने-कोनेके विद्वान् जो आपके यहाँ विद्यार्थीरूपमें रहते थे, उनसे भी कहलाया कि 'महाराज केवल आ जायँ। पूजा विद्यार्थियोंके द्वारा पहुँच जायगी, विद्यार्थियोंकी सेवामें लगेगी।' पर पण्डितजीने उनका निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। यही कहा कि 'मैं अपना नियम-भङ्ग न करूँगा। महाराजाको हृदयसे शुभाशीर्वाद देता हूँ।'

(७) स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी, श्रीलक्ष्मणकिला—आप संस्कृत-फारसी आदि कई भाषाओंके विद्वान् थे। प्रथम की हुई शिवोपासनासे आपकी श्रीरामजीमें निष्ठा हुई। फिर आपने छपरा (चिरान) निवासी स्वामी श्रीजीवाराम (युगलप्रिया) जीसे पञ्चसंस्कारात्मक श्रीसीतारामजीके युगलमन्त्रकी दीक्षा ली। तबसे आप 'श्रीसीताराम'के अतिरिक्त और कुछ न बोलते थे। विभिन्न स्थानोंमें होते हुए आप श्रीअवध आये और फिर बहुत वर्षोंतक आपने श्रीचित्रकूटमें निवास करके नामाराधन किया। श्रीअयोध्याजीमें पहले आप निर्मलीकुण्ड (फैजाबाद) में रहते थे। गत सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोहके समय वहाँ आपके स्थानके पास ही फौजकी छावनी बन गयी थी। आपका सुयश सुनकर फौजके कमांडरने गवर्नमेंटको लिखा। उसपर आपकी रुचिसे श्रीअवधमें श्रीसरयूजीके तटपर श्रीलक्ष्मण किलेके नामपर बावन बीघा भूमि मदाके लिये गवर्नमेंटसे आपको माफी दी गयी। उसी स्थलपर रीवाँ राज्यके दीवानने विशाल मन्दिर बनवाकर उसके साथ गाँव लगा दिये हैं। वहीं आपकी गादी स्थापित हुई।

आपने श्रीराम-नाम-निष्ठासे दिव्य प्रकाश प्राप्तकर ८६ ग्रन्थोंका निर्माण किया। उनमें २०-२२ तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमें श्रीरघुवर-गुण-दर्पण और श्रीसीताराम-नाम-प्रताप-प्रकाश आदि विशेष प्रचलित हो चुके हैं। शेष ग्रन्थोंमें अधिकांश पद्यात्मक हैं।

आपकी गादीके अनुयायी स्थान श्रीसद्गुरु-सदन, गोलाघाट, अयोध्या एवं (साधकीय शाखा-स्थान)श्रीहनुमन्निवास, अयोध्या आदि बड़ी-बड़ी गादियाँ हैं। श्रीसीताराम-नाम-निष्ठाके प्रचारसे आपने बहुतोंका कल्याण किया है।

(८) पं० श्रीजानकीवरशरणजी महाराज, श्रीलक्ष्मण-किला—आप उपर्युक्त स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीके परम कृपापात्र शिष्य थे। आप षड्दर्शनके प्रकाण्ड पण्डित थे। आपने विरक्त हो श्रीचित्रकूटमें गुरुसेवाके साथ भजन किया। फिर गुरु-आज्ञासे आपने बहुत वर्षोंतक पर्यटन करते हुए पूर्ण वैराग्यसे भजन किया। श्रीगुरुजीकी साकेतयात्राके बाद आपने अखण्ड अवधवासका नियम ले लिया। यद्यपि गुरुगादीका विभव आपके ही नाम था, फिर भी आपने वह सब गुरुभाईको देकर स्वय पूर्णत्यागसे भजन किया। श्रीलक्ष्मणकिलेमें आपकी बैठकपर नित्य सत्सङ्ग होता था। आपके सदुपदेशसे बड़े-बड़े विद्वान् कृतार्थ होते थे। अपने गुरुके निर्मित बहुत-से ग्रन्थोंके रहनेसे आपने स्वय कोई ग्रन्थ नहीं रचा। 'श्रीसद्गुरुप्रतापसागरबिन्दु' के नामसे एक ग्रन्थ आपने अपने गुरुजीकी जीवनीपर लिखा था। आप तत्त्वज्ञान, शान्ति और वैराग्यके स्वरूप ही थे।

(९) स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, स्थान श्रीसद्गुरुसदन, गोलाघाट—आप उपर्युक्त महर्षिकल्प पं० श्रीजानकीवरशरणजीके परम कृपापात्र शिष्य थे। श्रीअवधमें आप गुरु-निष्ठाके आदर्श थे।

जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥

—रामचरितमानस (२ । ३) की यह उक्ति आपमें चरितार्थ थी। श्रीगुरुजीकी परधाम-यात्राके बाद स्थान

लक्ष्मणकिलेसे पृथक् हो आपने स्वतन्त्र रहना चाहा। तुरंत शिष्यवर्गोंके उत्साहसे श्रीलक्ष्मणकिलेका-सा विभवयुक्त स्थान श्रीसद्गुरुसदनके नामसे सम्पन्न हो गया। उस स्थानकी नींव आपने पहलेसे एकत्रित करके रखी हुई श्रीगुरु-चरण-रजसे दी थी। आप सदा अपने श्रीगुरुजी (चित्रपट-रूप) की सेवामें ही निमग्न रहा करते थे। गुरु-आज्ञा प्राप्तकर सभी कार्य करते थे। आपने अपने आदर्श आचरणसे ही जगत्को शिक्षा दी है। आपने आजन्म अखण्ड अवधवासका व्रत कर रखा था। आपके सदुपदेश एव आशीर्वादसे बहुत-से शिष्य कृतार्थ हुए। भगवान्के प्रत्येक उत्सवपर आप नवीन पद्य निर्माण कर गाया करते थे। उन्हीं पद्योंका संग्रह 'युगलविहार-पदावली' सञ्ज्ञक ग्रन्थ भी प्रकाशित है।

(१०) पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, जानकी-घाट—आप संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। विशेष भक्ति-निष्ठासे आपने तत्त्वका साक्षात्कार किया था। श्रीहनुमान्जीकी निष्ठासे भी आपने बहुत कुछ सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। श्रीमणिरामजीकी छावनीमें संतोंको कथा सुनानेकी निष्ठाका आपने आजन्म निर्वाह किया था। आपकी कथासे सम्पूर्ण अवधवासी सदा कृतकृत्य रहा करते थे। बहुत-से ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी आपने की थीं। 'श्रीरूपकला-हरिनाम-यश-संकीर्तन-सम्मेलन'के आप आजन्म अध्यक्ष रहे। आपकी विद्वत्ता तथा भक्तिनिष्ठासे प्रभावित होकर भारतके सभी प्रदेशोंमें आपके बहुत-से शिष्य हुए।

आप शुद्धभावसे साधु-सेवा भी करते थे। इससे श्रीजानकीघाटपर स्थित आपके प्रधान स्थानके अतिरिक्त दो और बड़े-बड़े स्थानोंमें भी साधु-सेवा होती थी। दो-ढाई-सौ संतोंकी सेवा आपके यहाँ नित्य होती थी। आपने बृहत् संस्कृत-पाठशाला भी स्थापित की थी, जिसमें आप विद्यार्थियोंको भोजन-वस्त्रसमेत विद्या-दान देते थे।

इस प्रकार आपका जीवन परमार्थमय था। आप शान्त-स्वभाव, सरल-प्रकृति और सर्वप्रिय थे। आपकी सिद्धियोंकी भी बातें लोगोंमें प्रसिद्ध हैं, पर मैंने स्वकीय अनुभूत बातें ही सूक्ष्ममें लिखी हैं।

(११) स्वामी श्रीगोमतीदासजी महाराज, श्री-हनुमन्निवास—आपका शरीर पजाब देशका था। आप बचपनसे ही विरक्त थे। गुरुद्वारा भी आपका उधरका ही था। वहाँसे विचरते हुए आप श्रीचित्रकूट आये। वहाँ बारह वर्षतक अखण्ड वास करके मौन-व्रतके साथ आपने राम-नामाराधन किया था। फिर श्रीअयोध्याजीमें आकर मणि-पर्वतपर रहने लगे। यहाँ भी वैसी ही निष्ठा बहुत वर्षोंतक रही। फिर आप मौन-व्रत भङ्गकर 'संतनिवास' स्थानमें रहने लगे।

आपने उपर्युक्त लक्ष्मणकिला स्थानके महर्षिकल्प पं० श्रीजानकीवरशरणजीसे उपासना-निष्ठाका सम्बन्ध प्राप्त किया था और श्रीलक्ष्मणकिलेके ही महत श्रीदामोदरशरणजीके द्वारा स्थान प्राप्तकर वहाँ रहने लगे। स्थानका नाम आपने 'हनुमन्निवास' रखा। आपको श्रीहनुमान्जी सिद्ध थे। इससे आपका प्रभाव तत्काल फैल गया। बहुत-से लोग आपके द्वारा ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियाँ पाकर कृतार्थ हुए। आप दिन-रात एक आसनपर बैठे केवल जप करते हुए ही देखे जाते थे। शान्तिकी आप साक्षात् मूर्ति थे; किसीने आपको कभी क्रोध करते देखा ही नहीं। आपके सदुपदेश एवं आशीर्वादके फलस्वरूप आपके बड़े-बड़े सिद्ध शिष्य हुए। आपके यहाँ आदर्श साधु-सेवा, गो-सेवा और श्रीठाकुरजीके उत्सव हुआ करते थे।

(१२) स्वामी श्रीरामशोभादासजी महाराज, श्रीमणिरामजी-की छावनी—श्रीमणिरामजीकी छावनीमें कई पीढ़ियोंसे शुद्ध भावसे साधु-सेवा होती चली आयी है; क्योंकि वहाँ चुन करके सुयोग्य महंत बनाये जाते हैं। स्वामी श्रीरामशोभादासजी वहींसे मन्त्र-दीक्षा प्राप्तकर प्रथम श्रीचित्रकूटमें तपोनिष्ठ-वृत्तिसे भगवान्का नामाराधन करते रहे। फिर संतोंने आपको मणिरामजीकी छावनीके महंत-पदके लिये चुना। आपने भी शुद्ध साधु-सेवाका सुन्दर क्षेत्र समझ उस पदको स्वीकार किया। तुरत आपने यह नियम किया कि 'साधुमात्र-को मेरे यहाँसे जवाब नहीं दिया जायगा; चाहे जितने साधु आयें और वे चाहे जबतक रहें, मेरे स्थानद्वारा शुद्धभावसे उनकी सेवा ही की जायगी।' आपके समयसे साधु-सेवामें वृद्धि हुई। ढाई-तीन सौ साधु सदा रहा करते थे। झूला आदि विशेष अवसरोंपर पाँच-छः सौ एवं श्रीरामनौमीपर तो डेढ़ हजारतक साधु रहते और सादर प्रसाद पाते थे।

आप सच्चे सद्धर्मनिष्ठ और सत्यप्रतिज्ञ थे तथा अपने सिद्धान्तमें अचल थे। सबसे बड़ी त्यागकी बात आपमें यह थी कि स्थानमें आये हुए समस्त साधुओंके समान ही आप स्वयं भोजन करते और वैसे ही वस्त्र रखते थे। पहले सस्ते समयमें जब फलाहारी साधुओंको छः पैसे फलाहारके लिये दिये जाते थे, तब

आप भी बहुत वर्षोंतक फलाहार करते हुए छः पैसेमें ही निर्वाह करते थे। छोटी-सी आसनीपर बैठे हुए आपको देखकर कोई नहीं कह सकता था कि आप महंत हैं।

स्थानका इतना भारी व्यय आपके तपोव्रत-प्रभावसे आकाशवृत्तिसे ही चलता आया है। पचासों वर्षोंकी महतीमें आपके यहाँ न तो एक विस्वा जमीन थी और न कोई कहीं माँगने ही जाता था। अपने समयके आप आदर्श महत थे। इनके अतिरिक्त रूपकलाघाटके श्रीरूपकलाजी, सख्यरसके उपासक श्रीरसरङ्गमणिजी एवं लालसाहबके स्थानवाले परमहंस श्रीसीताशरणजी आदि भी श्रीअवधके भक्तोंमें विशेष विभूति हो गये हैं। विस्तार-भयसे इनके विषयमें विशेष नहीं लिखा गया।

उपर्युक्त द्वादश भक्तोंमें श्रीहनुमान्‌जीके अतिरिक्त शेष इधर कलियुगके ही हैं। श्रीगोस्वामीजी चार सौ वर्ष पहलेके और शेष दस तो दो सौ वर्षोंके इधरके ही हैं। इनमें संख्या ७से ११ तकके महात्माओंका विशेष परिचय इनके चित्रोंके साथ कल्याणके 'भक्त-चरिताङ्क' पृष्ठ ७१७-७२५ में देखना चाहिये। यहाँ तो इनके महत्त्वको व्यक्त करनेवाली कुछ ही बातें लिखी गयी हैं।

व्रज-भक्तोंका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी, एम्० ए०)

व्रजभूमिको इस देशमें अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके केन्द्र मथुरा नगरमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट होकर न केवल मथुरा नगरको अपितु इसके निकटवर्ती सम्पूर्ण जनपदको गौरवान्वित किया। श्रीमद्भागवत (१०।३१।१)में भगवान् श्रीकृष्णके लिये ठीक ही कहा गया है—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! यहाँपर तुम्हारे जन्म लेनेके कारण ही इस व्रजभूमिका महत्त्व इतना बढ़ गया है और यहाँ श्रीका चिरन्तन निवास हो गया है।

श्रीकृष्ण-जैसे युगपुरुषकी जन्मभूमि और क्रीडाभूमि होनेके कारण ही शूरसेन या व्रज-जनपदको असाधारण महत्त्व प्राप्त हुआ। श्रीकृष्णके लोक-रञ्जक रूपने जन-मानसपर अमिट छाप लगा दी। उनके द्वारा प्रवर्तित माधुर्य-रस-संवलित भागवत धर्मने कोटि-कोटि भारती प्रजाको कल्याणका मार्ग दिखाया। इतना ही नहीं, इसने विदेशियोंको भी प्रेरणा और शक्ति प्रदान की। भगवान् श्रीकृष्णका गीता-ज्ञान वह उच्च प्रकाश-स्तम्भ है, जो मानवमात्रके लिये सभी देश-कालमें पथ-प्रदर्शक है।

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि होनेके कारण मथुरा नगर भारतके प्रमुख धर्मावलम्बियोंके आकर्षणका केन्द्र बना। जैन तथा बौद्धधर्मके अनुयायियोंने जन्मस्थानके समीप ही अपने स्तूप और मन्दिर बनवाये। जैनियोंका प्राचीनतम स्तूप मथुरामें 'कंकाली टीला' नामक स्थानपर निर्मित हुआ। गत शताब्दीमें इस टीलेकी खुदाईसे सैकड़ों कलावशेष तथा कई दर्जन शिलालेख प्राप्त हुए, जिनसे पता चलता है कि इस स्थानपर ई० पूर्व कई सौ वर्ष पहलेसे लेकर लगभग ११०० ई० तक स्तूपों आदिका निर्माण होता रहा। बौद्ध स्तूपों एवं संघारामोंकी संख्या मथुरामें बहुत बड़ी थी, जिनमें कई हजार भिक्षु रहते थे। सातवीं शताब्दीमें जब प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्-साग मथुरा आया, तब उसने यहाँ बीस बौद्ध संघाराम देखे। उसने पाँच बड़े देव-मन्दिरोंका भी उल्लेख किया है। उस समय मथुराका वातावरण असख्य भक्तोंके घोषसे निनादित रहता था। विभिन्न मतोंके अनुयायी जनोंमें पारस्परिक सौहार्द और सहिष्णुताकी जो भावना विद्यमान थी, उसने मथुराका नाम धार्मिक जगत्में बहुत ऊँचा उठा दिया था।

मुसल्मानोंके शासनकालमें व्रजभूमिका धार्मिक महत्त्व बहुत बढा। सौभाग्यसे उस कालमें ऐसे अनेक सत-महात्मा हुए, जिन्होंने संत्रस्त मानवके कल्याणके लिये भक्तिका सुगम मार्ग निकाला। सगुण भक्तिका जो सीधा-सच्चा रास्ता इन महानुभावोंने दिखाया, उसने जनताके बहुत बड़े भागका उद्धार किया। व्रजकी पावन-भूमि इन महात्माओंके कार्य-क्षेत्रके लिये बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई। भारतके प्रायः सभी स्थानोंसे गण्य-मान्य विचारक और साधु-सत व्रजमें अपनी साधनाको चरितार्थ करनेके हेतु आने लगे। महाप्रभु चैतन्य, उनके अनुयायी रूप-सनातन तथा गोस्वामी हितहरिवंशजी आदि महान् विभूतियोंके द्वारा वृन्दावनका पुनरुद्धार हुआ। वहाँके तथा व्रजके अन्य स्थानोंके अनेक लुप्तप्राय तीर्थोंकी खोज की गयी। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथजीके कारण मथुरा, गोकुल और गोवर्द्धनका महत्त्व बहुत बढ़ा। वल्लभ-सम्प्रदायके अन्तर्गत 'अष्टछाप' की

स्थापना हुई, जिसमें सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास आदि महान् संत कवि थे।

इस कालके व्रजके अधिकांश भक्त कवियोंने शौरसेनी प्राकृतसे उद्भूत व्रजभाषाको अपनी रचना और प्रचारका माध्यम बनाया। यह भाषा सरलता और सरसतामें बेजोड़ थी। संतोंकी वाणी और लेखनीमें निस्सृत व्रजभाषाकाव्यने अपने माधुर्य-रससे व्रज-मण्डल ही नहीं, भारतके एक बड़े भागको आप्लावित कर दिया। व्रजभाषामें जो प्रभूत काव्य रचा गया, वह हिंदीकी अमूल्य निधि है। इस रचनाका श्रेय व्रज तथा उसके बाहरके अगणित कवियोंको है।

व्रजके जिन भक्तोंने सगुण-भक्तिका आश्रय लेकर लोक-जीवनका कल्याण सम्पादित किया, उनकी संख्या बहुत बड़ी है। श्रीवल्लभाचार्यजीके अनुयायी गोस्वामी विट्ठलनाथजी, उनके पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथजी तथा अष्टछापके महानुभावों—कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्ण-दास, गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी तथा चतुर्भुज-दास—के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। अष्टछापके कवियोंकी रचना साहित्यिक उत्कर्षकी दृष्टिसे ही नहीं, परिमाणकी दृष्टिसे भी प्रचुर है। महाकवि सूरके लक्षावधि पद कहे जाते हैं। परमानन्ददास तथा नन्ददासजीकी रचनाएँ भी प्रभूतमात्रामें उपलब्ध हैं। अष्टछापके ये कवि संगीतके भी मर्मज्ञ थे। गोकुलनाथजीने व्रजभाषामें दो गद्य-ग्रन्थोंकी रचना की—'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'। इन ग्रन्थोंसे मुगलकालीन धार्मिक एवं सामाजिक दशापर प्रकाश पड़ता है। दूसरे प्रसिद्ध लेखक हरिरायजीने गद्यमें अनेक वार्ता-ग्रन्थों तथा काव्य-ग्रन्थोंका प्रणयन किया। आचार्य वल्लभाचार्यजीकी आठवीं गद्दीके श्रीलालजी अच्छे कवि हो गये हैं। इनकी परम्परामें मथुरानाथजी, केवलरामजी, मदनमोहनजी, हरिदेवजी, बलदेवजी आदि अनेक साहित्यिक हुए।

व्रजका दूसरा प्रमुख सम्प्रदाय श्रीचैतन्य महाप्रभुका है। चैतन्यजी स्वयं मथुरा पधारे थे और यहाँ उन्होंने केशवके दर्शन किये थे। उन्होंने व्रजके तीर्थोंका पुनरुद्धार करनेके हेतु रूप और सनातनको यहाँ भेजा। रूप-सनातनने व्रज-वास करते हुए यहाँके अनेक लुप्त धार्मिक स्थलोंका अभिज्ञान कराया। ये दोनों महानुभाव सगे भाई थे। उन्होंने तथा उनके भतीजे जीवने संस्कृतमें अनेक रचनाएँ कीं, जो भाषा और भावकी दृष्टिसे परम उच्चकोटिकी हैं। इन तीन महानुभावोंके अतिरिक्त गोपालभट्ट, रघुनाथदास तथा रघुनाथभट्टने भी संस्कृतमें कई ग्रन्थ लिखे। चैतन्य-सम्प्रदायमें व्रजभाषाके भी कई कवि हुए, जिनमें गदाधर-भट्ट, सूरदास मदनमोहन, वल्लभ रसिकजी, वृन्दावनदासजी, ब्रह्मगोपालजी तथा प्रियादासजीके नाम विश्रुत हैं।

निम्बार्क-सम्प्रदाय व्रजका तृतीय मुख्य सम्प्रदाय है। शृङ्गार और वात्सल्यकी दिव्य भाव-धाराओंको इस सम्प्रदाय-के भक्तोंने प्रवाहित किया। इन भक्तोंकी संख्या काफी बड़ी है। प्रमुख महानुभाव ये हुए—श्रीभट्टजी, हरिव्यास-देवजी, परशुरामदेवजी, रूपरसिकजी, तत्त्ववेत्ताजी, वृन्दावन-देवजी, बाँकावलिजी, सुन्दरकुँवरिजी, गोविन्दशरणदेवजी तथा रसिकगोविन्दजी। इन तथा अन्य भक्त कवियोंने दिव्य प्रेमरस, निकुञ्जलीला, नीति, नख-शिख आदि विषयोंपर विशाल साहित्यकी सृष्टि की।

चौथा सम्प्रदाय अनन्य रसिकशिरोमणि स्वामी हरिदासजीका माना जाता है। स्वामीजी स्वर-प्रधान संगीतके महान् आचार्य हुए। बैजू बावरा, तानसेन आदि उच्चकोटिके गायक स्वामीजीके शिष्य हुए। कहा जाता है कि स्वामी-जीका संगीत सुननेके लिये स्वयं सम्राट् अकबर वृन्दावन आये थे। स्वामीजीके केवल थोड़े-से ही पद प्राप्त हैं, पर वे उनकी संगीत-मर्मज्ञताके परिचायक हैं। उनके परवर्ती भक्तोंमें विट्ठलविपुलजी, विहारिनदेवजी, रसिकदेवजी, ललितकिशोरी-देवजी तथा सहचरिशरणजीके नाम उल्लेखनीय हैं। इन तथा अन्य अनेक भक्तोंने व्रजभाषा तथा संस्कृतमें रचनाएँ कीं।

पाँचवें राधावल्लभीय सम्प्रदायके अन्तर्गत भी भक्तोंकी संख्या बहुत बड़ी है। इन्होंने व्रजभाषा-साहित्यकी महान् सेवा की। अनेक भक्त कवियोंकी रचनाएँ रसपरक एवं सिद्धान्तपरक—दोनों प्रकारकी हैं। इस सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीहितहरिवंशजी थे। व्रजभाषामें इनके 'चतुरासी पद' तथा 'स्फुटवाणी' प्राप्त हैं। इनके लिखे दो पत्र भी मिले हैं, जो तत्कालीन पत्र-लेखन-शैलीके जाननेके लिये बड़े महत्त्वके हैं। संस्कृतमें हितहरिवंशजीने 'राधासुधानिधि' तथा 'यमुनाष्टक' की रचना की। व्रजके पुनरुद्धारमें भी हितजीका बड़ा योग रहा। राधावल्लभीय-सम्प्रदायमें हरिरायजी व्यास, सेवकजी, ध्रुवदासजी, नागरीदासजी, हितरूपलालजी, दामोदर-स्वामी, कृष्णदास भावुक, चाचा हितवृन्दावनदास आदि अनेक उच्च कोटिके भक्त तथा साहित्य-प्रणेता हुए। व्यास-

प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु—कीर्तनके आवेशमें

दर्शनानन्दमें उन्मत्त भक्त रसखान

'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदू वारिये।'

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जी, रूपलालजी तथा चाचाजीने तो प्रचुर साहित्यकी सृष्टि की।

विभिन्न सम्प्रदायोंके भक्तोंके अतिरिक्त अन्य कितने ही भक्तजन व्रजमें हुए। नारायण भट्टजी, मीरॉबाई, रसखान, अग्रदासजी, नाभादासजी आदि महानुभावोंके नाम भी चिर-स्मरणीय रहेंगे। इन भक्तोंकी परम्परा व्रजमें बराबर जारी रही। १७वीं, १८वीं तथा १९वीं शताब्दियोंमें भी व्रजभूमि अनेक भक्तजनोंके आवाससे गौरवान्वित रही और आज भी उसका स्थान वैष्णव-भक्तिके एक प्रमुख केन्द्रके रूपमें अक्षुण्ण है।

व्रजके भक्तोंकी हमारे धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य और लोक-वार्तापर अमिट छाप पड़ी है। उन्होंने भारतीय संस्कृतिका अनेक रूपोंमें उद्धार किया। भूले-भटके और सन्त्रस्त मानवको उन्होंने सच्चा मार्ग दिखाया। धर्मके अभ्युत्थानके हेतु उनके द्वारा जो सरल रीति अपनायी गयी, वह हमारे इतिहासमें कभी भुलायी न जा सकेगी। दिव्य माधुर्य-रसके साथ उन्होंने नीति और वैराग्यका समन्वय उपस्थित किया। वर्गगत और जातिगत भेदको मिटाकर इन संतों-ने समानता और सहिष्णुताका जो पाठ पढ़ाया, उसने मानवताको एक नया जीवन-दर्शन प्रदान किया। इन संतोंकी यह महान् देन कभी विस्मृत नहीं की जा सकती।

महाराष्ट्र-भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, एम्० ए०, न्याय-वेदान्ताचार्य)

'भक्ति' और 'भाव'का अविनाभाव-सम्बन्ध है। श्रीज्ञान-देव महाराज लिखते हैं—'गाँठ बाँध लो कि बिना भावके भक्ति नहीं और न बिना भक्तिके मुक्ति ही सम्भव है।' भगवान् स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, पाषाण या और किसी स्थान अथवा वस्तुमें नहीं, भावमें ही विराजमान हैं। 'भावे हि विद्यते देवः' यह एक सुपरिचित सूक्ति है। इसीलिये संत तुकाराम स्पष्ट कहते हैं कि 'जो भाव रखेगा, उसे ही पत्थर उबारेगा। मुख्य वस्तु भाव ही है। भावके निकट भगवान् दौड़े चले आते हैं।' उन्होंने यहाँतक कहा है कि 'भाव ही भगवान् है।' अपने गुरुके इस सूत्रपर भाष्य करती साध्वी बहिणा-बाई कहती हैं कि 'मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि भाव ही भगवान् है। भाव इच्छित फल देनेवाला है, वह निर्वाणतककी प्राप्ति करा देता है।'

सारांश, बिना भावकी भक्ति भक्ति न होकर 'भक्ति-की कवायद'मात्र बन जाती है। नामोच्चारणमात्रसे केवल कायिक या वाचिक तप बन पड़ता है, पर मानस-तपके लिये तो भावकी ही शरण लेनी पड़ेगी, भाव-संशुद्धिका ही पल्ला पकड़ना होगा। आखिर गीता भी तो इसीको 'मानस तप' कहती है—'भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते।' यही कारण है कि एकनाथ महाराज स्पष्ट और दृढ़ताके साथ कहते हैं—

भगवद्भाव सर्वा भूतीं। हेंच ज्ञान हेंचि भक्ति॥

अर्थात् सर्वभूतोंमें भगवद्भाव ही ज्ञान और भक्ति है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस तरह उपासकको अपने उपास्यके विषयमें यह भाव रखना पड़ता है, उसी तरह स्वयंको भी अनिवार्यतया इसी भगवद्भावसे भावित रखना पड़ता है। तभी यह साधना सध पाती है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इस वचनका भी यही रहस्य है। इस तरह एकनाथकी यह भक्तिकी परिभाषा सहज ही उपास्य और उपासक दोनोंको भाव-प्रवण बना देती है। वैसे 'भाव' शब्द गीतामें पदार्थ, श्रद्धा, वृत्ति, स्वरूप, अस्तित्व आदि कई अर्थोंमें प्रयुक्त है; किंतु उसका धात्वर्थ 'अस्तित्व' मात्र है। बात यह है कि भगवान्का अपरोक्ष साक्षात्कार ही मानवका चरम लक्ष्य माना गया है। वही अहैतुकी भक्ति है, जिसे आत्मकाम, पूर्णकाम, निर्ग्रन्थ शुकादि परमहंसतक किया करते हैं। इसकी पहली सीढ़ी प्रतिष्ठित मूर्ति या गुरुमें देवताका अस्तित्व मानना है। मानव जब देव-प्रतिमामें भलीभाँति अपने इष्टदेवके अस्तित्वका भान करने लगता है, तब हृदयस्थ देवको पकड़ना भी उसके लिये सुलभ हो जाता है। जब हृदयस्थ देवका अस्तित्व बुद्धि-वृत्तिमें खेलने लगता है, तब स्थिर-चरात्मक बाह्य सृष्टिमें भी उसका भान (चिद्भान) होने लगता है। इस तरह सर्वात्मभाव प्रकट होता और साधक पूर्णावस्थाको पहुँच जाता है। उस समय उसका व्यवहार बड़ा ही नम्र और मर्यादित हो जाता है।

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस चौपाईसे गोसाईंजी इसीकी ओर संकेत कर रहे हैं।

दूसरी दृष्टिसे देखें, तो साधक अपना यही भाव जब प्रेमी भक्तोंके भावोंकी कसौटीपर कसता है तब उसे अपनी न्यूनता

स्पष्ट हो जाती है, जिससे उसे अपनेमें सुधार करते बनता है। अपनी कमी समझनेपर मन पश्चात्तापसे भर उठता है और वह पश्चात्ताप अभिमानको जलाकर उस सहज सद्भावको प्रकट कर देता है, जो अभिमानके तले दबा रहता है। श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं कि 'एक बार वृत्तिपर यह भाव अङ्कित हो जाय, तो फिर उसे श्रुति-स्मृतियोंका ज्ञान रहे या न रहे, उसके लिये भव-सागर और उसमे डूबना-उतराना मिथ्या हो जाता है। उसमें प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है और उससे संतुष्ट होकर भगवान् सदैव उसकी रक्षा किया करते हैं। यही 'भाव'की महिमा है।

साहित्य-शास्त्रकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो उसका सारा दारोमदार 'भाव'पर ही है। आखिर ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस भी तो स्थायीभावका ही परिणत रूपान्तर है और उसके साधन भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव ही हैं। इस दृष्टिसे 'प्रमुखतम आन्तरिक अभिप्राय विशेष' ही 'भाव' ठहरता है।

महाराष्ट्रके भक्त इस भावप्रवणतामें बहुत आगे बढ़े हुए हैं। सगुणसे निर्गुणतक पहुँचनेमें उन्होंने भावोंका बड़ा ही चमत्कार दिखाया है। आन्तरिक अभिप्राय-विशेषरूप भाव भी उनके वाङ्मयमे जगह-जगह भरे पड़े हैं, अवश्य ही उन्हें खोज निकालना टेढ़ी खीर है। इन्हीं भावोंके माध्यमसे वे जहाँ मानवको सगुणसे निर्गुणतक पहुँचानेमें सहायक होते हैं, वहीं व्यवहार-क्षेत्रमें भी उनका अच्छा पथ-प्रदर्शन करते हैं। प्रस्तुत लेखमें मराठीके आदि संत कवि श्रीमुकुन्दराज (१००० ई०) से श्रीरामजोशी (१८१२) और श्रीसंत विठोवा अण्णा दफ्तरदार (१८७३ ई०) तक प्रमुख भक्त कवियोंके वाङ्मयका विहंगावलोकन करके उनके भावोंको चयन करनेका यत्न किया जा रहा है। उच्चतम आदर्श रखकर चलनेपर 'शते पञ्चाशत्' कुछ हाथ लग ही जाता है। अब पाठक उधर ही चलें।

श्रीमुकुन्दराज

श्रीमुकुन्दराज (१००० ई० के आस-पास) अपने 'विवेक सिन्धु'में कहते हैं कि 'जो सगुण ब्रह्म है, उसे ही परमात्मा जानो। उसे ही परम पुरुष कहो। वह सर्वात्मा, सर्वसाक्षी और सबके कुक्षिगत है। वह कभी भी अपने भक्तकी उपेक्षा नहीं करता।' 'परमामृत' मे वे लिखते हैं—'बड़े प्रयाससे यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान करके जो स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जाता है, वह भी इस ब्रह्मसुखपर न्योछावर है। वह आनन्द लौकिक आनन्दको घोटकर पी जाता है। उसका वर्णन करनेमें 'परा' वाणी भी मूक हो जाती है। भला, गूँगा सुखका क्या बखान कर सकता है। वहाँ मनकी गति भी रुक जाती है। उस सुखका वर्णन कौन कर सकता है। जो इसका अनुभव करता है, वही इसे जान सकता है; यह दूसरेकी समझमें आ ही नहीं सकता।'

श्रीज्ञानदेव

श्रीज्ञानदेव महाराज (१२७५ ई०) साक्षात् विष्णुके अवतार माने जाते हैं। महाराष्ट्रके भक्तिक्षेत्रमें उन्हें ज्ञानको भक्तिके साँचेमें ढालनेवाला आद्य आचार्य कहा जाय तो अनुचित न होगा। वे लिखते हैं—'एकमात्र भगवान् विठ्ठलनाथको जान लेना ही भक्ति और ज्ञान है।' वे भगवान्से कहते हैं—'भगवन्! मैं और कुछ नहीं कहता। बस, आप अपना विरद सँभालें। देखो, ध्वजकी चिंदीका क्या मूल्य? पर राजा बड़े-से-बड़े कष्ट झेलकर भी उसकी रक्षा करता है। मैं भी ऐसा ही पतित हूँ, पर हूँ आपकी मुद्रासे अङ्कित।'

वे साधकोंको सलाह देते हैं कि 'माली जिधर ले जाता है, पानी उधर ही मुड़ता है। आप भी वैसे बन जायँ।' एक जगह वे कहते हैं—'वैष्णवोंको नाम ही मधुर लगता है और योगी तो जीवन-कला ही साधते हैं। नामामृतकी माधुरी और जीवन-कला दो नहीं, एक ही हैं।' फिर उनकी यह महत्त्वाकाङ्क्षा देखिये—'मैं अपना सारा संसार सुखमय बना डालूँगा। तीनों लोकोंको आनन्दसे भर दूँगा। पढरपुर जाऊँगा और अपने माता-पिता—विठ्ठल-रखुमाई (श्रीकृष्ण-रुक्मिणी)से मिलूँगा। सारे सुकृतोंका फल पाऊँगा और परब्रह्मको हाथमें ले लूँगा।'

ज्ञानदेवका सगुण-निष्ठाके साथ-साथ यह सर्वात्मभाव भी देखिये—'एक ही पत्थरको कुरेदकर बनाया हुआ मन्दिर! उसी मन्दिरमें पत्थरकी गढ़ी मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही भक्त, पासमें पत्थरके ही बने फल-पुष्प! ये सब जैसे एक ही पत्थरकी चट्टान खोदकर बनाये जाते हैं, एक ही अखण्ड पत्थर अनेक रूपोंमें प्रतिभात है, भक्तिके व्यवहारमें भी वैसा ही क्यों न हो? स्वामि-सेवक-सम्बन्ध रहकर भी एकता क्यों नहीं हो सकती? यह बाह्य-सृष्टि, ये पूजा-द्रव्य पृथक्-पृथक् होते हुए भी आत्मरूप क्यों न माने जायँ?'

श्रीनामदेव

श्रीनामदेव (लगभग १३२८ ई०) की भक्ति और भाव कुछ और ही हैं। वे कहते हैं—'भगवन्! तुम्हारा

प्रेम-सुख मैं भलीभाँति जानता हूँ । तुम्हारा ध्यान नहीं करता और न ब्रह्मज्ञानके ही फेरमें पड़ता हूँ । मेरी अपनी कुंजी तो निराली ही है । मैं न तो तुम्हारी स्तुति करता हूँ और न कीर्ति ही बखानता हूँ । मैंने तो अपनी अलग ही युक्ति खोज निकाली है । मैं न तो व्यर्थ कायाको कृश करता हूँ और न बलात् इन्द्रियोंका ही निरोध चाहता हूँ । मेरा तो अपना अलग ही बोध है । जब मैं निर्विकल्प बनकर तुम्हारा नाम गाऊँगा, तब तुम हठात् अपने-आप मेरे हाथ लग ही जाओगे ।'

वे स्पष्ट प्रतिज्ञा करते हैं—'यह देह चली जाय या बनी रहे, मेरा भाव तो पाण्डुरङ्गमें ही लगा है । पंढरीनाथ ! आपकी शपथ, दास कभी आपके चरण छोड़ नहीं सकता । मुखमें आपका मङ्गलमय नाम और हृदयमें अखण्ड प्रेम भरा हुआ है । केशवराज ! यह प्रण तो कर बैठा, अब इसे निभाना आपका ही काम है ।

'प्रभो ! बित्ताभर पेट पीठसे सट गया । वह साधुओंसे बातें ही करने नहीं देता । पेट ही मेरी माता, पिता, भ्राता, भगिनी—सब कुछ बन गया है । सदैव उसीकी चिन्ता लगी रहती है । उसने मुझपर बुरी तरह दैन्य छा डाला है । नाथ ! अभी कहाँ-कहाँ इस पापी पेटके लिये दौड़ाओगे ?'

भक्तकी यह खरी-खोटी भी सुन लीजिये—'भगवन् ! मेरा भाव तेरे चरणोंमें जड़ा है और तुम्हारा रूप मेरी आँखोंमें । अब तो जब एक दूसरेसे मिल ही गये, तब जन्म-जन्मान्तरतक छूट कैसे सकते हैं ? नटखट ! मैं तो तुम्हारे चरणोंपर गिर पड़ा, पर तुमने मेरी माया-ममता ही छोड़ दी । मैंने तुम्हे हृदयसे लगाया, तो तुमने मुझे विदेह ही बना डाला । सुजान ! बताओ, तुमने किसे-किसे नहीं ठगा ?'

श्रीएकनाथ

सर्वभूतात्मा श्रीएकनाथ महाराज (१५२४ ई० के आस-पास) विनती करते हैं कि 'यह नरदेह पाकर भगवद्भक्ति तो करो और निजात्म-लाभ तो साध लो । ......मूर्तिका ध्यान करनेपर तन्मयता या एकताके साथ जो निश्चल स्थिति होती है, उसीका नाम 'मुख्य भक्ति' है ।...... यह नरदेह प्राप्त करके भी-जो हरिनामसे विमुख रहते हैं, वे जीवनभर पाप ही बटोरते हैं ।......वाणी वेद-शास्त्रोंसे सम्पन्न होकर भी यदि नाम-संकीर्तनकी निन्दा करती है, तो उससे बढकर कोई पापी नहीं । पृथ्वी उसके कारण बड़ी ही दुखी रहती है ।......कारण व्रत, तप, यज्ञ और ज्ञानसे भी बढकर हरि-नाम है । इससे निमेषमात्रमें समाधान होकर मन अमन बन जाता है ।' इसलिये नाथ कहते हैं—'नित्य हरि-पूजन किया करो । पूजाका विसर्जन करनेपर भी अनुसधानका विसर्जन मत करो । अखण्ड हरिस्मरण चलता ही रहे ।'

नाथने मुक्तिके मतवालोंको भी सचेत कर दिया है—'सगुण-चरित्र बडे आदरके साथ गाया करो । सज्जनोंकी हृदयसे वन्दना करो । भक्ति और ज्ञानसे विरहित बातें कभी न करो । संतोंके पास बैठकर वैराग्यके रहस्योंका विवरण किया करो । संतोंकी कीर्तन-मर्यादा यही है कि किसी तरह भगवान्की मूर्ति हृदयमें बैठ जाय । अद्वयके भजन और उसके अखण्ड स्मरणमें ताली बजाओगे, तो मुक्ति तत्काल हाथ लग जायगी ।'

नाथने दो शब्दोंमें सारा मामला ही तय कर दिया है । ससार सुख-दुःखात्मक ही है, उनसे अलग नहीं । नाथ कहते हैं—'जिन्हें आप महादुःख कहते हैं, भक्त उन्हें भगवान्के रूपमें ही देखते हैं । और जिन्हे आप परमसुख कहते हैं, वह तो साक्षात् भगवान् है ही ।' फिर भक्तोंको गम किस बातकी ?

संत श्रीतुकाराम

सत तुकाराम महाराज (१५८८-१६२८ ई०) ने स्वय ससारमें रहकर परमार्थकी साधना की और दूसरोंको भी यही उपदेश दिया है । 'भगवान्को सबसे अधिक यही भक्ति पसद है कि हम अपना ससार चलाते रहें और भगवान् जैसे रखें, वैसे ही रहें । चित्तमें पूर्ण समाधान रहे । यदि उद्वेग करेंगे, तो दुःख ही हाथ लगेगा, संचित फल तो किसी भी दशामें भुगतना ही पड़ेगा । इसलिये सारा भार उसी प्रभुपर छोड़ दे और यह ससार ही उनके चरणोंपर न्योछावर कर दें ।'

वे आगे कहते हैं—'भगवन् ! मुझे सदैव छुटपन ही दीजिये । कारण, छोटी-सी चींटीको सदैव शक्करके कण ही खानेको मिलते हैं । ऐरावत विश्वके चौदह रत्नोंमें एक माना जाता है—बहुत ही बड़ा है । किंतु उसपर अङ्कुशकी मार ही पड़ती है । जिसमें बड़प्पन होता है, उसे कड़ी-से-कड़ी यातनाओंका सामना करना पड़ता है । इसलिये सदैव छोटे-से छोटा ही बनना चाहिये ।'

श्रीतुकाराम संतकी खरी पहचान बतलाते हैं—'जो अन्तरसे निर्मल और वाणीसे रसभरा है—उसके गलेमें माला

रहे या न रहे; जो आत्माका अनुसंधान करता है और जिसने मोक्षका मार्ग निरापद बना लिया है—उसके सिरपर जटाएँ रहें या न रहें; जो पर-स्त्रीके विषयमें नपुंसक है—उसकी देहमें राख रमी रहे या न रहे। तुकाराम कहता है कि जो परद्रव्यके प्रति अंधा और परनिन्दाके प्रति गूँगा है, उसे ही मैंने सतरूपमें देखा है।'

श्रीसमर्थ रामदास

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी महाराज (१६०८-१६८१ ई०) अपने 'करुणाष्टक' में कहते हैं—'लावण्यके निधान प्रभु राम मेरे बड़े ही समर्थ पिता है। इसीलिये मैं उनसे बड़ी आशा लगाये बैठा हूँ। प्राणोंको कण्ठमें रोककर उँगलियोंसे दिन गिन रहा हूँ। जिस दिन वे अकस्मात् मुझे मिल जायँगे, मैं कसकर उनसे लिपट जाऊँगा।'

वे मनको समझाते हैं—'मनुवा! सदा सावधान रहो, कभी भी दुश्चित्त मत बनो। देखो, एकमात्र भगवान् ही जगत्का कर्ता है। उसीने यह सारा विश्व रचा है। उससे कभी गर्व न करो। यह देह तो भगवान्की है और वित्त है कुबेरका। फिर इस जीवका रहा ही क्या? देने-दिलानेवाला, लेने-लिवानेवाला और करने-करानेवाला एकमात्र देव वही है। प्राणी तो निमित्तमात्र बनता है। निर्वाणमें तो देव एक ही है। लक्ष्मी उसकी दासी है और सारी सत्ता भी उसीकी है, जिसके बिना जीव खड़ा ही नहीं रह सकता।'

आगे एक जगह तो समर्थने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है। "अब किसकी शरण जायँ और सत्य किसे मानें? कारण, इस भूमण्डलपर अनेक पंथ और मत चल रहे हैं। कोई सगुण मानता है तो कोई निर्गुण, किसीने सब कुछ त्याग दिया है तो कोई सब कुछ भोगता हुआ भी उसे 'राजयोग' बतलाता है। रामदास पतेकी बात यही बतलाते हैं कि भक्तिके बिना सारा व्यर्थ है।'''''इसलिये आप संतोंकी शरण जायँ और निर्गुणको ही सच मानें। सत्यका निर्णय करें। ज्ञानपूर्वा भक्तिसे काम लें और उसीको सच्ची भक्ति मानें।''

श्रीमुक्तेश्वर

श्रीमुक्तेश्वर महाराज (१६०९ ई०) लिखते हैं कि 'जो अन्तरसे सच्ची बात जानता हुआ भी बाहर अन्यथा बोलता है, बताओ, उसने कौन-सा कुकर्म करनेसे बाकी रखा? सत्यसे बढ़कर धर्म नहीं, सत्य ही परब्रह्म है। परमेश्वर सदा सत्यके पास ही रहता है।

'यदि लोग सत्य और सत्-मार्गपर चलें, तो परमात्मा ही उसका पक्षपाती बनता है। भगवान् अपनी देहसे, स्वयं उसका सारा काम पूरा कर देता है। यह संसार स्वप्नप्राय और क्षणिक है। सारे साधन झूठे हैं। यदि सत्य कोई वस्तु है तो वह स्वधर्म और सद्विवेक ही हैं। समझदार इन्हें सावधानीसे साध लेते हैं।'

श्रीवामन-पण्डित

वामन-पण्डित (१६७३ ई०) भक्ति-वाङ्मयमें काव्य-सौन्दर्यकी सुगन्ध और पाण्डित्यका लावण्य भर देनेवाले मराठीके अनूठे भक्त-कवि हैं। अलकारोंकी सहज-सुलभ बाढ लानेमें सिद्धहस्त होने और उसमें भी 'यमक'का भूरि प्रयोग करनेसे इन्हे 'यमक्या वामन' कहा जाता है। वे लिखते हैं—'अनजानमें ही जहाँ विष्णुनामरूपी अग्निका स्फुलिङ्ग गिरता है, वहाँ दुरितरूप घासकी झोपड़ी देखते-देखते जलकर राख हो जाती है।'

एक जगह पण्डितजी लिखते हैं—'समुद्रमें मेघका विन्दु मिलता है और गङ्गा भी। पहला उदाहरण जो भक्त नहीं, उनका है और दूसरा ज्ञानी होते हुए जो भक्त हैं, उनका है।''''''ज्ञानी भक्तको भक्तिके सामने मुक्ति फीकी लगती है। भगवान् उसे स्वय ही मुक्ति देते हैं। मुमुक्षुको तो मोक्षकी इच्छा भी रहती है, पर भक्तोंको वह भी नहीं। वे तो नाममें भी मुक्ति देखते हैं। वे जगत्के लोगोंकी निन्दा-स्तुतिकी परवा न करके मुकुन्दको ही भजते हैं। कर्मसमाप्त होनेपर जब उनकी देह गिरती है, तब भगवान् स्वय उन्हें अपने वैकुण्ठधाममें ले जाते हैं।'

'मुमुक्षु भगवान्की सेवा करते हैं, तो मुक्ति माँगते हैं। पर भक्तोंको तो चतुर्विध मुक्तिकी भी अपेक्षा नहीं रहती। फिर भी भगवान् उन्हें भक्तिके साथ मुक्ति भी दे ही देते हैं। मुक्त तो स्वयं अमृत बनकर रहते हैं, सुधाकी मधुरता चख नहीं पाते। पर भक्त तो अमृत होकर भी रसनाके मिससे अमृत चखते भी हैं। यह उनका कितना बड़ा भाग्य है।'

'यथार्थदीपिका' में वे लिखते हैं—''सर्वात्म-भक्तिकी दृढता ही ज्ञानके परिपाकका लक्षण है। इसीका नाम 'निजप्राप्ति' है।''

श्रीश्रीधर

भक्तकवि श्रीधर (१७२८ ई० के आस-पास) लिखते हैं—'बिना सद्गुरुके परमार्थ सम्भव ही नहीं है। क्या कहीं बिना चन्द्रके चन्द्रिका भी हुई है? क्या सूर्यके बिना किरणें भी कहीं सम्भव हैं? बिना पानीके बीजसे अङ्कुर कभी भी फूट

सकते हैं ! बिना आँखोंके पदार्थ दीख सकता है ? या बिना मथे मक्खन निकल सकता है ? यदि नहीं, तो बिना गुरुके परमार्थ भी हाथ नहीं लगता ।'

एक जगह श्रीधरकी करुणाने तो कलम ही तोड दी । 'प्यारे राम ! तुम्हारे नाममें ही विश्राम है । आओ, शीघ्र-से शीघ्र मुझे अपने धाम ले चलो । अकस्मात् पूर्व सुकृतोंसे यह नरदेह मिली; पर मैंने पशु, जाया, पुत्र, धन और धामसे ही प्रेमका नाता जोड़ा । 'मैं-मैं' कहकर उन्हें गले लगाया । बदलेमें उनके पीछे करोड़ों दुःख भोगे । फिर उन्हें छोड़ अपने हितके लिये दसों दिशाओंमें घूमा । माँगता-माँगता शववत् हो गया । कोई कौडी भी नहीं देता, सभी मजाक उड़ाते हैं । जबतक शरीर सुदृढ है, तभीतक उससे प्रेम है । जर्जर होनेपर दूसरे क्या, हम स्वयं भी उसे कोसते हैं । इस दुःखको कितना बखानूँ ? परम करुणासे ही तेरे द्वारपर आया हूँ ।'

श्रीअमृतराव

भक्तकवि श्रीअमृतराव (१७५३ ई० के आस-पास) लिखते हैं—'हरि तो उनके हाथ विकाना, जो प्रेमसे हरिगुन सीख गया । वह दो-चार दिनों बाद सूखे पत्ते चबाकर जीवन बिताता है । लेन-देनसे मुक्त रहता है । यदृच्छालाभसे संतुष्ट रहता है । उसके अन्तरमें आनन्दकी ही पैदावार होती है ।' अमृतेश्वर कहते हैं, 'यह स्थिति उसीकी होती है, जो सर्वप्रथम कनक और कामिनीपर थूक देता है ।'

श्रीमोरोपंत

श्रीमोरोपंत या मयूरकवि (१७२९—१७९४ ई०) मराठी काव्य-जगत्के तुलसी हैं । 'सुश्लोक'के लिये जहाँ वामन प्रसिद्ध हैं, 'अभङ्ग'में तुकारामकी कोई बराबरी नहीं करता, ज्ञानदेव महाराजकी 'ओवी' बेजोड़ है, वैसे ही 'आर्या'में मयूरकवि-सा मयूरकवि ही है । वे लिखते हैं—'मन—यह आवारा पशु है । सदैव पर-धन और पर-कामिनीके खेतोंमें घुसता है । इसलिये विवेकरूप पाशसे उसके गलेमें वैराग्यका काष्ठ बाँध दीजिये ।'

वे लिखते हैं—'हरिकीर्तनमें इस प्रकार सावधान होकर घुसना चाहिये, जिस प्रकार धनिकोंके घरमें चोर घुसता है । वहाँ-से वैसे ही सीधे उठ जाना भी नहीं चाहिये, जैसे आवारा पशु मार खानेपर भी सीधे चला नहीं जाता ।'

सत्सगतिके बारेमें महाकवि मयूरके सुझाव सुनिये—सत्संगतिमें वैसा ही प्रेम होना चहिये; जैसा ग्रीष्मकालमें पंखेसे होता है । रम्य होनेपर भी यदि कोई अभक्त हो तो वह उसी तरह असेव्य है, जिस तरह भ्रमरके लिये चम्पक । कुजनोंकी संगतिसे मन वैसे ही काँपना चाहिये, जैसे बुढौतीमें सिर । सज्जनोंके बीच इस प्रकार घुसना चाहिये, जैसे माताके आँचलमें बालक !'

मयूरकी 'केकावली'के ये स्वर सुनिये—'भगवन् ! मुझे आपने द्विजत्व आदि बहुत कुछ दिया, पर क्या साध्वी सतीको अलंकारोंसे खूब सजा दिये जानेपर भी बिना पति-समागमके सुख मिल सकता है ? फिर अनन्यभावसे तुम्हारी शरणमें आये हुए मुझको बिना तुम्हारे चरणोंके सुख कैसे मिलेगा ? सौभाग्य सिन्दूरके बिना सतीकी शोभा ही क्या !'

कवि एक कदम और आगे बढकर अपनी बात रख देता है—'यदि तुम्हें मुझे दर्शन न देना हो तो ये सारी देनें लौटा लो । पर दयालो ! दान दी हुई वस्तुएँ मेरे लौटाने और तुम्हारे ले लेनेमें तुम्हारी ही अपकीर्ति होगी; इसलिये तुम उन्हें तो वापस मत ही लो, मेरे पास ही रहने दो । हाँ, तुम्हारे पास जब आ ही पहुँचा हूँ, तब इसकी लाज रखते हुए इतना तो करो कि अपने भक्तोंके पास ले जाकर मुझे छोड़ दो ।'

श्रीमहीपति

श्रीमहीपति बाबा (१७७८ ई० के आस-पास) ने तो महाजनीका लंबा-चौड़ा हिसाब ही लाकर रख दिया है । मायामय व्यापारी भगवान् हिसाब-किताब देकर मानवको संसारमें भेज देते हैं । फिर वह सारा हिसाब साफकर, जमा-बाकीका मिलान करके उनके सामने बही रख देता है, तो मालिक प्रसन्न होते हैं । हिसाब मिलानेमें खर्चके अनुपातमें ही रोकड़में-से रकम जमा की जाती है । तभी जमा-खर्चका मिलान हो पाता है । फिर बाकी रोकड़ मालिकके सामने रख देनेपर वह उसे भी साफकर हिसाब बंद कर देता है ।

श्रीमहीपति एकनाथ-चरित्रमें श्रीएकनाथसे कहलवाते हैं—'यह नरदेह इस सालका मूलधन है । पूर्व-संस्कार पिछले सालकी रोकड़ हैं । हृदयरूप पत्रपर प्रेमके अक्षरोंसे यह लिखी गयी है । स्वधर्मका पालन ही खर्च है । फलको ब्रह्मार्पण करते ही हिसाब (जमा) साफ हो गया । विवेकरूप लेखकने इसे ठीक-ठीक लिख दिया । यह सारा हिसाब साफकर, जमा-खर्च मिलाकर सद्गुरुके पास लाकर रख दिया । अब जो शेष रोकड़ अज्ञान है, उसे भी आप साफ कर दें और यह खाता ही बंद कर दें ।'

श्रीरामजोशी

श्रीरामजोशी (१७६२—१८१२ ई०) 'लावनी' गीतके लिये मराठीमें अपना सानी नहीं रखते। वे लिखते हैं—'अच्छा-सा जन्म तुम्हें मिला, फिर हरि-सेवा-सुधाको क्यों नहीं पीते ? पेटके लिये तरह-तरहके प्रपञ्च रचते हो, पर क्या तुम्हें विना भक्तिके कहीं सुख-शान्ति मिल सकेगी ? तुमने तिलक लगाया, हाथमें दण्ड-कमण्डलु लिया, मूँड़ मुँड़ाया, कठोर तप किया। पर सारा-का-सारा व्यर्थका पसारा हुआ। भगवान् तो भावका भूखा और भक्तिका पाहुन है।'

श्रीविठोवा अण्णा दफ्तरदार

श्रीविठोवा अण्णा दफ्तरदार (१८१३–१८७३ ई०) नामदेव-तुकारामकी परम्पराके अन्तिम उज्ज्वल दीप हो गये हैं। उनके संस्कृत-मराठीमें बड़े ही भाव एवं विद्वत्ता भरे पद पाये जाते हैं। पदोंमें भक्ति और भाव कूट-कूटकर भरे हैं। 'पश्चात्ताप' पर वे लिखते हैं—

"प्रभो रामचन्द्र ! उत्तम जन्म पाकर भी मैं व्यर्थ ही मिट्टीमें मिल गया। यह दुष्ट पापी अब तुम्हारे चरणोंके पास आ गया है। पहले तो मैं स्वाध्याय (वेदाध्ययन) से ही चूका। सद्गति देनेवाले श्रौत-स्मार्त कर्म भी हाथोंसे नहीं हुए। पुराणोंको पढकर तुम्हारे यशोगानके लिये भी आगे नहीं बढा। स्वस्थतासे तुम्हारी पूजाके लिये भी समय नहीं मिला। समधी, दामादको तरह-तरहके पकवान खानेके लिये दिये, आरजू-मिन्नत की; पर कभी क्षुधातुर अतिथिको साथ-में प्रेमसे खानेके लिये नहीं बुलाया। एक पैसा भी छोड़नेके लिये हाथने उदारता नहीं दिखायी। नाम तो मुफ्तका था, पर वह भी कभी जिह्वापर नहीं आया।···हाँ, निगम-नगारे तुम्हारे यशका उद्घोष करते हुए तुम्हें 'दीनदयाल' कहते हैं। यही सुनकर सचमुच यह पत्थर विट्ठल तेरे चरणोंके पास आ पहुँचा है। (अब इस दीनातिदीनको उबारना तुम्हारा ही काम है)।"

-महाराष्ट्रकी उर्वरा वसुन्धरासे ऐसे अनेकानेक भक्तरत्न ऊपर उठकर, चमककर उसमें पुनः समा गये, जिनके भावोंकी भावना करता हुआ भावुक मन भी भावातीत बन जाता है। उन सबको इस छोटे-से अवकाशमें जड़ना सम्भव नहीं। यहाँ तो मराठीके आदिकविसे लेकर गत शताब्दीतक ८०० वर्षोंके बीचके प्रमुख भक्तकवियोंके सक्षिप्त भावोंको रखने और इस तरह महाराष्ट्रके भक्तोंके भावोंका एक 'प्रपानक' बनानेका वामन-यत्न किया गया है। मुक्ताबाई, जनाबाई, विटोबा, नरहरि सुनार, सेना नाई, गोरा कुँभार, चोख्या महार आदि कानोंमें आकर कह रहे हैं कि 'क्या इस प्रपानकके लिये हमारे भाव नमककी डली बन जाते, जो तूने उन्हें वर्जित कर दिया ?' नहीं, मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ। लेख बहुत बड़ा हो गया है। जनाबाईके शब्दोंमें पुनः एक बार उन सब भक्तोंका नाम स्मरणकर इस धृष्टताके लिये उनसे बार-बार क्षमा माँगता हूँ।

श्रीजनाबाई कहती हैं—'भई ! हमारा पंढरीनाथ बाल-बच्चोंवाला है। उसके चारों ओर बच्चोंका मेला लगा रहता है। निवृत्तिनाथ उनके कधेपर बैठे हुए हैं। सोपानदेव हाथ पकड़े हुए हैं। ज्ञानेश्वर आगे-आगे चल रहे हैं। उनके पीछे सुन्दरी मुक्ताबाई डग भरती आ रही हैं। गोरा कुम्हार गोदमें हैं, तो चोख्या चमार प्राणोंके साथ !' जनी कहती है कि 'भक्तोंका यह आनन्द-मेला धूम-धामसे मनाइये। वेदान्तीने कहा और सिद्धान्तीने घोषित कर दिया है कि तुम मानव हो। इसलिये भक्तिमार्गपर चलो। निष्ठा रखो। कभी अधर्माचरण न करो।' जनी कहती है कि 'ज्ञानी वही है, जो भगवन्निष्ठ हो गया है।'

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विचार करनेपर पता चलता है कि भाव अपनी शक्तिसे भावोत्पादन करते हैं। इस भाव-शक्तिका प्रेषण जिसका जितना जोरदार होता है, उसके उतना ही भावोत्पादन शीघ्र होता है। मेस्मेरिजम, हिप्नाटिजम करनेवाले प्रयुज्यके अन्तरमें अपनी भाव-शक्तिसे ही अपना इष्टभाव उत्पन्न करते हैं, यह हम बहुतोंको अनुभूत बात है। स्वामी विवेकानन्दने अमेरिकामें जाकर अपनी अलौकिक विद्वत्ता दिखलाते समय 'माई मास्टर' कहकर अपने गुरुका स्मरण किया, तो वे तत्काल अष्टविध सात्त्विक भावोंसे भर गये। उनकी उस अवस्थाका जितना मूलग्राही परिणाम अमेरिकनोंपर हुआ, कदाचित् उतना परिणाम परमाणु-बमसे भी सम्भव नहीं है।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसंशयाः।

—यह जो श्रीदक्षिणामूर्तिका वर्णन आता है, उससे भी भावशक्तिके द्वारा भावोत्पादनकी बात पुष्ट होती है। साहित्य-शास्त्रने 'धृतिभाव' और उसके साधनभूत 'मतिभाव'को समाजका धारक बताया है; यह समाजका धारण भावोत्पादनके माध्यमसे ही सम्भव है।

निर्गुण-पर्यवसायी, सगुण नाम-रूपोंकी विचित्रतासे भरे महाराष्ट्रवासी भक्तोंके उपर्युक्त भाव भी अवश्य ही इसमें वैसे भाव उत्पन्न करेंगे, यह दृढ विश्वास है। कारण, इन भावोंके सर्जक भक्तोंकी भाव-शक्ति बड़ी ही बलवती है। इसी आशासे यह साधारण प्रयास किया गया है।

महाराष्ट्रीय भक्तोंके कुछ 'प्रेम-लपेटे अटपटे' वचन

(लेखक—डा० श्रीनीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, एम्० ए०, बी० टी०)

महाराष्ट्रकी पुण्यस्थली! सह्याद्रिसे संरक्षित तथा गोदा, कृष्णा और कावेरीसे पोषित इसी भूमिने भगवान् परशुरामको अपनी गोदमें बसाया। देशभाषाकी गागरमें अध्यात्मका सागर भरनेवाले, भगवान्की पवित्र गुणगाथाको बालकसे वृद्धतक पहुँचानेवाले और भगवद्भक्तिके अनुष्ठानकी दृढ़ नींवपर राजकीय स्वातन्त्र्यका गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा करनेकी अद्भुत क्षमतावाले संतजन इसी भू-माताके लाड़ले लाल हैं। आइये, इनकी पवित्र वाणी सुनकर अपने तन और मनको पावन करें।

× × ×

यह रहा कीर्तिमान्का कीर्ति-मन्दिर। त्रैलोक्यसुन्दर त्रिभुवनपति सिंहासनपर विराजमान हैं। परंतु नटवरका वास्तविक रूप क्या है, यह कहना असम्भव है। कभी तो वेणुमें अनुरागकी रागिनी भरकर विरागका स्वर निकालनेवाले श्यामसुन्दर दिखलायी पड़ते हैं, कभी करोंमें कोदण्ड और बाण लेकर दीनोंका परित्राण करनेवाले कोसलेन्द्र भगवान् रामभद्र दृष्टिगोचर होते हैं, तो कभी कमरपर हाथ रखकर तटस्थकी तरह अपने ही नाटकको प्रेक्षकके रूपमें देखनेवाले पण्ढरीश पाण्डुरङ्ग ज्ञात होते हैं। विलक्षण झाँकी है आजकी।

सभामण्डपमें तो मेला लगा है! अरे, ये तो सभी भक्त हैं। अपने आराध्यकी लीला निहारकर मस्त हो रहे हैं। यह तो संत-धारा है। इस पुण्यतोयामें स्नान करना, डूबना और उसीमें विलीन हो जाना परम भाग्योदयका लक्षण है। ''हाँ, अब तो इसमेंसे स्वर भी सुनायी पड़ने लगे। मानो वीचियाँ हिलोरें मार रही हों।

संतश्रेष्ठ नामदेव कीर्तन करनेके लिये खड़े हैं। पर आज ऐसा वेष क्यों है? न करताल ही दिखलायी पड़ती है और न वीणाका ही पता है। हाथमें ढिंढोरा लेकर बार-बार उसे पीटनेका अभिनय हो रहा है और मुखसे शब्द भी निकल रहे हैं—

''बहुत सुन चुका प्रभो! पता नहीं, किसने तुम्हारा नाम 'पतितपावन' रख दिया! समझा था, जैसा नाम वैसे ही काम भी होंगे। किंतु यहाँ तो देख रहा हूँ, आँखके अंधे और नाम नयनसुख! सोचा था—पतित हूँ, द्वारपर जा पहुँचूँगा तो पावन ही हो जाऊँगा। पर तुम्हारा तो हिसाब ही निराला है। अपनी गाँठका एक टका भी न देनेवाले परम अनुदार हो। 'जितना और जैसा बोओगे, उतना और वैसा ही पाओगे' कहते हो! वाह-वाह! क्या उदारता है आपकी। तुम तो पूरे सौदागर हो, सौदागर! पतितपावन कहाँ? तुम्हारे जैसे कंजूसकी ड्योढीपर सिर फोड़नेसे मुझे क्या मिलेगा। मेरे पास देनेके लिये तो कुछ है नहीं, इसलिये विमुख ही लौट रहा हूँ। अबतक बहुतोंको धोखा दे चुके प्रभो! पर मेरे लौटनेके उपरान्त यहाँ फिर कोई नहीं आयेगा; क्योंकि मैं तो त्रैलोक्यभरमें ढिंढोरा पीटने निकला हूँ कि तुम पतित पावन नहीं, सौदागर हो। तुम्हारा पतित-पावन होनेका दावा निरा ढोंग है। लो बाबा, मैं चला। मुझे तुम्हारा कुछ नहीं चाहिये। हाँ, अपनी अपकीर्ति बचाना चाहो तो 'नामा' को न भुलाना। उसे नाम-रूपसे पार कर देना। ढम ''ढम '' ढम ''

× × ×

उधर आँगनमें तुलसी-वृन्दावनके पास कौन महिला खड़ी है? सीधे मुँह प्रभुसे बात भी नहीं करती! अहा, यह तो नामदेवकी दासी 'जनाबाई' है—वही जनाबाई, जिसके साथ त्रिभुवनपति चक्की भी पीसा करते थे! पर आजका रंग तो निराला ही है। हाथमें सोंटा लिये खड़ी है।

'दूसरोंको कष्ट देना, उपकार करनेवालेका भी अपकार करना तुम्हारा तो जातिधर्म ही है। तुम्हारे सामने रोनेसे क्या होगा? बेचारे बलिने तो अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया और तुमने उसे पातालमें ढकेल दिया। अपनी माँको ही मृत्युके घाट उतारनेवाले विठोबा (परशुराम)! क्या तुम्हारे हृदयको भी कभी दया छू सकेगी? अरे, जिसने अपने मामा (कंस) को भी नहीं छोड़ा, वह हमारे क्या काम आयेगा? करुणामयी अम्बा कौसल्याको दुःखके सागरमें ढकेलकर तुम निर्मोही वन चले गये। किसलिये? विमाता कैकेयीको सुख देनेके लिये! अरे, यह कैसा न्याय है? जन्मसे ही माँ-बाप (वसुदेव-देवकी) को कैदमें डालनेवाले महाकृतघ्न विट्ठल! इसी वृन्दावनके पास खड़ी होकर मैं आज तुम्हें गालियाँ दे रही हूँ। धीरज धरकर जरा सुन तो लो।'

× × ×

अरे, इस कोनेमें साँवता माली भी तमतमाये हुए दिखलायी पड़ रहे हैं। ''क्यों जी! तुमने अपनेको क्या समझ रखा है? तुमसे यदि आते नहीं बनता था, तो मुझे ही बुला लेते!

आखिर मैंने तुम्हारा ऐसा क्या बिगाड़ा है कि मेरे सामने आनेमें भी श्रीमान्को इतना संकोच हो रहा है ? वह पैठन-वाला 'एकनाथ' क्या तुम्हारा चचा लगता था कि उसके घर धेला भी न लेते हुए घड़ों पानी भरा करते थे ? और काशीके कबीरदास क्या सरकारके मामा थे, जो उनके यहाँ बैठकर कपड़ा बुननेकी कलाबाजी दिखलायी जाती थी ? तब मेरे सामने क्यों नहीं आते ? क्या 'मॉवता' तुम्हारा बाप है कि उसके पेटमें ही तुम समा गये और अब बाहर आनेका नाम भी नहीं ले रहे हो ?''

× × ×

उधर संत तुकाराम कुछ रूठे हुए-से खड़े हैं। वीणाके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर वे भी कुछ बड़बड़ा रहे हैं—

''प्रभो ! समझ नहीं पाता कि मुझसे मिलनेमें तुम्हारी कौन-सी हानि हो रही है। मुझ अकिंचनके सामने आनेमें क्या तुम्हारा कुछ घट जायगा ? सुनते हैं, तुम्हारा सौन्दर्य साक्षात् कामको भी लजा देनेवाला है। ठीक ही है, तुम काम (प्रद्युम्न) के बाप जो ठहरे। तुम्हें यह भय तो नहीं है कि सामने आनेपर तुम्हारे लावण्यको ही मैं चुरा लूँगा ? क्या इसीलिये छिपे बैठे हो ? क्या तुम्हें मुझसे मिलनेमें किसीका डर लग रहा है ? कदाचित् तुम यह सोच रहे होगे कि सामने चले गये और मैं तुम्हारा बैकुण्ठ ही माँग बैठा तो ? मेरे मालिक ! डरो नहीं। तुम्हारी ऋद्धि-सिद्धियाँ तुम्हारे ही पास धरी रहें। यही नहीं, अपनी मुक्ति भी अपने ही पास रख लो। हम तो भक्तिमें ही मस्त हैं। हमें कुछ नहीं चाहिये। इसलिये डरो मत, जरा सामने भर आ जाओ; 'तुकाराम' तो देखकर ही निहाल हो जायगा।''

अहा ! ये हैं, मराठी साहित्याकाशके कलाधर महाकवि मोरोपंत ! मुखपर पाण्डित्यका तेज झलक रहा है, पर अभिमान तो छू भी नहीं पाया है। ये द्विजश्रेष्ठ भगवान्के सामने बड़े ही दीन भावसे बिलख-बिलखकर रो रहे हैं। सचमुच मयूरकी यह केका सुनने और गुनने योग्य है—

'प्रभो ! शरणागतकी ओर देखते हुए आपकी दृष्टि कदापि वक्र नहीं होती, भौंहोंपर बल नहीं पड़ता—यह सत्य है। उसका उद्धार भी तत्काल ही होता है। पर ! पर मुझ पामरमें शरण आनेकी क्षमता भी तो होनी चाहिये। आकाश-से मेघके अविरल वृष्टि करनेपर भी यदि चातक चोंच ही न खोले तो उसकी पिपासा कैसे शान्त हो ? शरणमें आना होगा; पर मुझे यही पता नहीं कि शरण कैसे आया जाता है, केवल इतना ही बतला दो न।

'क्या करूँ ? प्रभु क्यों नहीं आ रहे हैं ? क्या मैं उन्हें दिखलायी नहीं पड़ा ? पर ऐसा सम्भव नहीं। सर्वसाक्षी सविता जिसका नेत्र है, भला, वह मुझे देख न सकेगा ? कदाचित् मुझपर रूठ गये हैं ! पर नहीं, करुणानिधानका रूठना कैसा ? कामधेनुके स्तनसे क्या कभी विष निकल सकता है ? तब ऐसा तो नहीं हुआ कि उनकी कृपाका भंडार ही लुट गया और मेरे लिये अब कुछ भी नहीं बच रहा ! पर नहीं, दया-निधानके पास दया ही न रहे, यह हो नहीं सकता। बस, एक ही बात हो सकती है। कदाचित् मैं पूरा पतित नहीं बन पाया हूँ। तभी तो पतितपावन आप नहीं आ रहे हैं !

'आपका कथन सत्य है, प्रभो ! मैं आपका स्तवन नहीं कर सकता। पर किसी समय ध्रुवकी भी तो यही अवस्था थी। नन्हा-सा शिशु ! चाहता था आपकी स्तुति करना। कैसे करे ? असीमका वर्णन ससीम कैसे करेगा ? आप सामने ही थे; भला, बालहठ कैसे टालते ? हाथमें शङ्ख था, बालकके कपोलसे स्पर्शभर करा दिया उसका। वाणी खुल गयी, प्रतिभा जाग उठी और शब्द-सुमनोंकी मालाएँ गूँथी जाने लगीं। प्रभो ! कीजिये न वैसी ही कृपा मुझपर। शङ्ख न सही, हाथ ही मेरे मस्तकपर रख दीजिये। बस, कृतार्थ हो जाऊँगा।

'दयानिधे ! क्षमा कीजिये। मैं अपनी ध्रुवसे तुलना कर रहा था। पत्थर पड़ गया मेरी बुद्धिपर। सूर्यके उच्चैःश्रवाका मूल्य बनियेके टट्टूसे आँक रहा था ! कहाँ भक्तराज ध्रुव, कहाँ उसकी उत्कट लालसा, कहाँ उसका अनुपम त्याग, कहाँ पृथ्वीको हिला देनेवाली उसकी साधना और क्या उसकी वय ? और उसके सामने मैं ! वृद्धकपि, कामके पंजेका शिकार, दसों इन्द्रियोंका दास, मैं उसकी बराबरी करूँ ? हर ! हर ! हर ! नहीं, प्रभो ! पापके बोझसे लदा मेरा मस्तक आपके करस्पर्शके योग्य नहीं। त्रिभुवनपते ! मत छूइये मुझे, केवल दूरसे ही अपने चरणोंकी धूलभर छिड़क दीजिये। मेरे-ऐसे पतित उतनेसे ही तर जायँगे।

'भगवन् ! आप भी मेरी तुलना ध्रुवसे कदापि न कीजियेगा। ध्रुव अपने निश्चयपर ध्रुव था और अन्तमें आपके पदपर भी ध्रुव हो गया। मैं सदाका चञ्चल, चपलाके चारु चरणों-को चाटनेवाला तुच्छ पशु ! न मेरा निश्चय अटल, न मेरा कार्य स्थिर और न मेरी बुद्धि ही दृढ है। मेरी भला, आप ध्रुवसे तुलना क्यों करने लगे ? मैं तुच्छ हूँ सही, पर आप तो समदृष्टि हैं न ? कृपा-प्रसादवितरण करनेमें पंक्तिभेद न कीजिये, नाथ !

'कृपालो ! तुम कदाचित् यह सोच रहे होगे कि कहीं मैंने मोरोपतका उद्धार कर दिया और इसे देखकर पापियोंकी भीड़-की-भीड़ यदि मेरे पीछे पड़ गयी तो मैं क्या करूँगा ! यदि यही भय हो तो नाथ ! चुपकेसे चले आइये और इस नन्हेसे दासको पीतपटमें छिपाकर ले जाइये ।'

× × × ×

इधर देखिये । चर्मचक्षुसे अन्ध, किंतु ज्ञानचक्षुओंसे परम तेजस्वी श्रीगुलाबराय महाराजकी बातें भी टुक सुन लीजिये—

'भोलानाथ ! जब ज्ञानेश्वरकी यह पापिनी बेटी (गुलाबराय) अब भी जैसी-की-तैसी ही बनी हुई है, तब बताइये, अपने मस्तकपर गङ्गाका बोझ रखनेसे क्या लाभ ? नाथ ! आप अपने नेत्रगत वह्निसे मेरे कर्म-निचयको क्यों नहीं भस्म कर देते ? अन्नपूर्णा आपके अङ्कपर आसीन है; रहे, मैं तो भूखी ही हूँ । आपके त्रिशूल और धनुषसे मुझे क्या ? मेरे छहों शत्रु तो हाथ धोकर मेरे पीछे पड़े हैं । साफ बात तो यह है कि जबतक मेरा उद्धार नहीं हो जाता, तबतक आपका 'आशुतोष' कहलाना और यह भव्य वेष धारण करना व्यर्थ ही है । नाथ ! मैं आपकी हूँ और इसीलिये मेरी उपेक्षा अनुचित है ।'

× × × ×

यह परिवर्तन कैसा ? कोई गालियाँ दे रहा है और कोई रो रहा है; पर सिंहासनाधीश्वरने ठहाका मारकर हँसना प्रारम्भ कर दिया है । अब तो भक्त और भी चिढ़ेंगे । भला, हम तो आप-बीती सुनायें और आप उसे अपना मनोविनोद समझें ! यह भी कोई शिष्टता है ! पर नहीं, भक्तगण चिढ़े नहीं । आनन्दकन्दके उज्ज्वल हास्यको देखकर स्वयं भी हँसने लगे, उछलने लगे, तालियाँ बजाकर नाचने लगे । दुःख-शोक सब भाग गया । धन्य हैं भक्त और उनके भगवान् !

स्पष्टीकरण

प्रस्तुत लेखमें कुछ नाटकीय शैलीका अवलम्बनकर संतवर नामदेव, जनाबाई, तुकाराम, साँवता माली, मोरोपंत और गुलाबरायके प्रेमसे सने हुए भावोंका अनुवाद करनेका प्रयास किया गया है । मूल आधार तो इन संतोंके अभङ्ग, आर्या या पद्य ही हैं; केवल उल्था भर अपना है । क्वचित् रस-परिपोषके लिये थोड़ा-सा न्यूनाधिक अवश्य किया गया है; पर ऐसा नहीं कि मूल भाव ही बदल जाय ।

संदर्भ

नामदेव—पतितपावन नाम ऐकुनि आलो मी द्वारी०

जनाबाई—दान देता झाला वळी, त्यासी घालून पाताळी०

तुकाराम—काय तुझे वेचे मज भेटी देता०

मोरोपन्त—'केकावली'के कुछ श्लोक तथा 'सद्राय-रत्न-माला' की एक आर्या ।

गुलाबराय—कोणासाठी गङ्गा धरिली मस्तकी०

आत्मघातीके सिवा भगवान्‌के गुणानुवाद और कौन नहीं सुनता ?

परीक्षित्‌जी कहते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १ । ४)

'जिनकी तृष्णाकी प्यास सर्वदाके लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके लिये जो भवरोगकी रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिये भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले, गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है, जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे !'

वङ्गीय भक्तोंकी भावधारा

(लेखक—श्रीवंकिमचन्द्र सेन, भक्ति-भारती-भागीरथी)

नारद-पञ्चरात्रके मतसे श्रीभगवान्‌में अनन्य ममता अर्थात् देह-गृह आदि अन्य सारे विषयोंके प्रति ममतासे शून्य, प्रेम-रससे उज्ज्वल जो ममत्व-बुद्धि है, वही भक्ति कहलाती है। भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारदने इस ममताको भक्तिके नामसे ही पुकारा है। यह प्रेमका धर्म है कि वह अभीष्टको सर्वतोभावेन घनिष्ठरूपसे अपनाना चाहता है। प्रेमी प्रेमास्पद-को प्राप्त करनेके लिये मार्गकी किसी बाधाको कुछ नहीं समझता। वस्तुतः उस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। अतएव श्रीभगवान्‌में प्रेम-रससे उज्ज्वल जो ममत्व-बुद्धि है, वह अधिकांशमें साक्षात् सम्पर्कद्वारा, अभीष्टमें गाढानुराग-युक्त अनपेक्ष वस्तु है। इस प्रकारकी भक्तिका विचार विधि-मार्ग-की तुलापर तौलकर करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः हमारी बुद्धि संस्कारात्मिका है। और भक्ति सब प्रकारके संस्कारोंको अतिक्रम करके नित्य सत्यके साधकको समाश्रय प्रदान करती है; वहाँ उदयका राज्य है और सब अवस्थाओंमें अभय है—

'स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।'
(श्रीमद्भा० ४। २९। ५१)

जो पुत्रसे भी प्रिय है, वित्तसे भी प्रिय है, जिससे बढ़कर प्रिय और कोई नहीं, उसको हृदयकी अन्तरतम सत्ता मे, अव्यवहित एकत्वमें उपलब्ध करके साधक आनन्द-सागरमें निमग्न हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि—विधि-मार्गके सम्बन्धमें भक्तकी जो अनपेक्षता, मौनावलम्बन अथवा उदासीनता रहती है, उसके फल-स्वरूप भक्तके आचरणमें, सामाजिक जीवनमे अवैध या निषिद्ध-कर्मके प्रति आसक्ति जाग्रत् हो सकती है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि जो कर्म कामना और वासनासे युक्त हैं, वे ही निषिद्ध कर्म हैं; किंतु जिनकी चित्त-वृत्ति भगवत्प्रेम-रसका आस्वादन करती है, उनका मन कभी निषिद्ध-कर्ममें नहीं जाता। वैष्णवाचार्य श्रीजीव-गोस्वामी प्रेम-भक्तिके स्वरूपका विश्लेषण करते हुए कहते है कि भगवत्प्रेम जब साधकोंके अन्तःकरणको स्पर्श करता है, तब उनके मनकी गहरी तहमे आनन्द-रसके समुद्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। उस सुधासिन्धुसे भगवत्प्रेम उच्छ्वसित होकर साधकके सारे अन्तस्तलको आप्लुत कर देता है। पश्चात् उसके प्रवाहकी आवर्त्त-लीलामें साधकका देहपर्यन्त निमज्जित हो उठता है, और वह प्रवाह अति उज्ज्वल प्रबल तरङ्गोंसे तरङ्गित होते हुए साधकके सारे पार्श्वदेशको ही प्राण-रससे परिप्लावित कर देता है। वस्तुतः वङ्ग-देशमें साधकोंने भक्ति-साधनाके मूलमें, अपनी बुद्धि-वृत्ति या धीशक्तिमें आभ्यन्तर रसकी उद्दीपनासे युक्त एक उदार प्रभावका अनुभव किया है। इस प्रकारकी अनुभूतिके मूलमें कार्य करती है अभीष्टगत आत्ममाधुर्यके विस्तारकी चातुरी। वे लोग अपने मनमें ही अप्राकृत आनन्दकी उपलब्धि करते हों, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि इस आनन्दका अति प्रबल उच्छ्वास सीमित देशमें ही निबद्ध नहीं रहता, इसके रसका उन्मेष सबमें होता है। उस आनन्दका उत्तुङ्ग आकर्षण उनके देहको उजीवित कर देता है। भक्त रूप-सागरमें गोते लगाता है। अन्धकारके उस पार जो आदित्य-वर्ण सत्य है, वही तत्त्व सारी उपाधियोंको लय करके प्रकृष्ट मूर्त्तरूपसे साधककी दृष्टिमें सजीव हो उठता है। साधक अपने जीवनको दीप बनाकर प्राण-देवकी आरती करता है। आरतीके तालपर आलोककी—रोमाञ्चकारी प्रकाशकी क्रीड़ासे जातीय तथा सामाजिक जीवनके सभी स्तरोंमें प्रेमके देवताकी चिद्विभूति प्रकट हो जाती है। बंगालकी भक्ति-साधनाके मूलमें प्रत्यक्षानुभूतिकी ऐसी ही प्रबलता रही है—

'भक्तिरेनं नयति भक्तिरेनं प्रापयति'

—इस श्रुतिवाक्यने बंगालके भक्तोंकी साधनामें सार्थकता प्राप्त की है। भक्त यहाँ केवल अतीतके विचारसे ही संतुष्ट नहीं रह सकते। उन्होंने वर्तमान कालमें श्रीभगवान्‌की सजीव लीलाको प्रत्यक्ष किया है और उस प्रत्यक्षताके परम बलद्वारा उन्होंने सब प्रकारके परिवर्तनके भीतर रहनेवाले अपरिवर्तनीय परम सत्यको प्रतिष्ठा प्रदान की है। वस्तुतः बंगालके भक्तोंके प्रेम-रससे परिषिक्त होकर श्रीभगवान्‌ने युगोचित भावसे आत्मलीलाको अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार बंगालकी भक्ति-साधना असम्मूढभावसे आज भी यह स्वीकार करती है कि श्रुति, पुराण, स्मृति आदि ऋषि-प्रणिहित शास्त्र अभ्रान्त हैं। जिनको इस विषयमें बिल्कुल ही विश्वास नहीं था, उनको भी इस बातमें विश्वास करना पड़ता है। जो उद्धत थे, वे भी भक्तके जीवनादर्शके प्रभावसे विनम्र हो गये, और उनको अन्तमे प्रेमके देवताके चरणोंमें सिर झुकाना पड़ा। बंगालके भक्त साधकोंके जीवनादर्शके सम्बन्धमें विचार करते

समय उनकी अनुभूतिके मूलभूत इस वैशिष्ट्य तथा सब प्रकारके संकीर्ण संस्कारोंके अपनोदनमें समर्थ उदार शौर्यके सम्बन्धमें सचेत रहना आवश्यक है। इस लेखमें बंगालकी भक्ति-साधनाकी इस विशेषता तथा इसके रस-वैचित्र्यका परिचय देनेकी केवल क्षीण चेष्टामात्र की गयी है। भक्तिका माहात्म्य नितान्त अपात्रके भी चित्तके मलको दूर कर सकता है। इस विश्वाससे इस क्षेत्रमें प्रेरणाका संचार हुआ है।

शाक्त और वैष्णव साधना

जहाँतक दृष्टि जाती है, उससे जान पड़ता है कि ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्व बङ्गदेशमें भक्तिवादको रूप धारण करके प्रकट होनेका सुयोग प्राप्त नहीं हुआ था। बौद्ध-युगकी पतनोन्मुख अवस्थामें प्रधानतः शैव-आगमको आधार बनाकर यहाँ एक विशेष शाक्त मतवादका निर्माण होने लगा। बंगालका यह विशिष्ट शाक्तागम बौद्धधर्मके विच्छिन्न मतवाद अथवा अन्यान्य धर्मवादोंके ऊपर अपना प्रभाव डालकर उन सबको अपने अनुकूल बनाकर आत्मसात् करनेमें समर्थ हुआ है। परंतु तत्कालीन तान्त्रिक साधनाकी यह धारा वङ्गदेशके सामाजिक जीवनमें प्राणमय दीप्तिका प्रसार न कर सकी। वस्तुतः वैष्णव-साधनाके रस-सूत्रसे ही यहाँ भक्ति-साधनाने व्यापकरूपमें दीप्ति फैलायी और इस साधनाकी धारा वङ्ग-देशमें आयी दक्षिण भारतसे। बंगालके सेनवंशी राजाओंने दक्षिणापथके कर्णाटक देशसे आकर यहाँ प्रभुत्व जमाया। दक्षिणापथके रामानुज तथा माध्व सम्प्रदायोंके आचार्योंका वङ्गदेशमें संचार इसके पहले ही प्रारम्भ हो गया था। इनका प्रचार-कार्य तथा पवित्र साधनादर्श वङ्गदेशकी अध्यात्म-साधनामें श्रीभगवान्की आत्मभावना उद्दीप्त करनेमें विशेषरूपसे सहायक बने। लक्ष्मण-सेनकी राजसभामें प्रेमके देवताका मधुर सुर पहले-पहल बज उठा। उस सुरके झंकारसे भक्त-हृदयमें प्रेमके देवताका लीला-रस संचारित होता है। वह रस चिन्मय है, प्राणमय है, मनोमय है—उसके स्पर्शसे अध्यात्म-अनुभूतिमें एक चमत्कार जग उठता है। उसी दिव्यानुभूतिकी अप्राकृत अभिव्यक्ति हमें विद्यापति, चण्डीदासके गीतिच्छन्दोंमें देखनेको मिलती है। बंगालकी शक्ति-साधनामें भगवत्प्रेमकी झंकृति—रस-प्राचुर्यमें आत्म-माधुर्यके विस्तारकी दीप्ति परवर्ती कालकी प्रतीक्षा करती है। जिस देवताकी वंशी, हास्यके साथ मिलकर, व्रजाङ्गनाओंके मनमें उदासी भर देती है, उसी वंशीके स्वरसे सना हुआ बंगालका प्रेमास्वाद बंगाली भक्त-साधकोंके चित्तको प्रेमाकुल कर देता है। बंगालकी शाक्त-साधना परवर्ती कालमें, माँके आत्मरसकी वैसी अभिव्यञ्जनाका अनुभव करनेके लिये उपयुक्त परिस्थिति प्राप्त करती है। किशोरी, कलकण्ठी, कलनाद-निनादिनी जननीकी सजीव लीला उनके अन्तःकरणको आन्दोलित करके रूपकी झलक दिखलाती है।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका आविर्भाव

बंगालके महापुरुषोंने गान करते हुए कहा है—

वंगालीर हिया अमिया मथिया निमाई धरेछे काया।

'बंगाली हृदयके अमृत-मन्थनसे निमाई-शरीरका आविर्भाव हुआ।' वस्तुतः बंगालकी प्रकृति जैसी श्यामल और कोमल है, बंगालकी साधना भी उसी प्रकार अपने प्राणोंके देवताको कोमल और मधुर रूपमें प्राप्त करना चाहती है। जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदासके गीतोंने बंगालके भक्त-हृदयका मन्थन करके उसी मधुर देवताके सम्बन्धको सुदृढ़ बनानेमें निगूढभावसे कार्य किया है। सुर तो दूर-दूर बजा, परंतु उससे साधकोंका मन नहीं भरा—मस्त नहीं हुआ। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवमें बंगालके साधकोंने उस सुरके मूर्त प्रकाश तथा विलासको उपलब्ध किया। विश्वकी सर्वसंवेदनाके परिपूर्ण विग्रहस्वरूप प्रेमके देवताको पाकर भक्तके प्राणका आग्रह मिट गया। सारे बंगालमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी। उस बाढ़में सारे भेद-विभेद बह गये। चाण्डाल और ब्राह्मण परस्पर गले लगने लगे। यवन हरिदास श्रीमन्महाप्रभुके अन्यतम अन्तरङ्गस्वरूपोंमें गिने जाने लगे। जेइ जन कृष्ण कहे सेइ गुरु हय—जो ही व्यक्ति कृष्ण-स्मरण करता है, वही गुरु है! स्वयं अद्वैताचार्यने श्राद्धपात्र देकर हरिदासको श्रेष्ठ विप्रकी मर्यादा प्रदान की। सबको बहा देनेवाली, सबको डुबा देनेवाली ऐसी प्रेमकी तरङ्ग न जाने कहाँसे बंगालमें जाह्नवीके तटपर आ लगी।

प्रेमे शान्तिपुर डुबु डुबु, नदिया भासिया गेल (जिसके कारण प्रेममें शान्तिपुर गोते खाने लगा और नदिया बह चला), वही तरङ्ग बंगालको अपनेमें डुबाकर भारतमें उत्तर और दक्षिण फैलने लगी। श्रीमन्महाप्रभुके अन्तरङ्ग भक्तों तथा पार्षदोंने प्रभुकी अन्तरङ्ग-लीलाकी चातुरीको हृदयङ्गम किया। उन्होंने कहा कि 'जो अखिलरसामृत सिन्धु हैं, वे ही वृन्दाविपिनचारी व्रजविहारी श्रीकृष्ण हैं, वे ही गौरहरि हैं। श्रीराधाके भावको स्वीकार करके, उन्होंने गौर-कान्ति धारण करके, कलिके जीवोंका उद्धार करनेके लिये, नामरसके द्वारा

प्रेमका वितरण करनेके लिये ही उन्होंने यह लीला की। नाम और नामी एक ही वस्तु हैं। परतु नामरूपमें प्रेमसचारका आग्रह लीलासे जबतक दीप्त नहीं होता, तबतक आत्माका भाव व्यक्त नहीं होता, गुप्त ही रह जाता है। वह आग्रह नामदाताके रूपमें यहाँ व्यक्त हो गया, अतएव सारी महिमाकी सीमा व्यक्त हो गयी। श्रीरूप, सनातन, भट्ट रघुनाथ, श्रीजीव, गोपालभट्ट, दास रघुनाथ—इन छः गोस्वामियोंने बगालमें वैष्णव-साधनाकी एक विशिष्ट धाराका प्रवर्त्तन किया। उनके द्वारा गौर-लीलामे राधाकृष्ण-लीलाका अनुध्यान, साध्यतत्त्वकी साधना—यही इस धाराकी विशेषता है। इनके मतसे युगल-तत्त्व श्रीराधा-कृष्णकी साधना जीवके लिये कर्तव्य है; क्योंकि इसी मार्गसे परम पुरुषार्थरूप प्रेम प्राप्त होता है।

साध्यतत्त्व श्रीगौराङ्ग

श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके द्वारा प्रवर्तित भक्तिवादका अवलम्बन करके वङ्गदेशमें एक दूसरी वैष्णव साधक-मण्डलीका आविर्भाव हुआ। गौराङ्गदेवके एक प्रमुख पार्षद नरहरि सरकार ठाकुर इस सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। वे लोग कहते हैं कि 'गौरहरि वेदोंके सार हैं', श्रीशचीनन्दन और श्रीयशोदानन्दन तत्त्वतः अभिन्न होनेपर भी श्रीगौराङ्ग ही सर्वसाध्य-शिरोमणि हैं।'

अक्षरात् परतः परः—इस श्रुतिवाक्यके तात्पर्यका आस्वादन ये लोग इस प्रकार करते हैं कि अक्षरका अर्थ है ब्रह्म या आत्मा। इसके परतत्त्व हैं व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके जो परतत्त्व हैं, वे ही गौराङ्गसुन्दर हैं—**केवलो रस एव सः**। वे श्रीराधा भी हैं और श्रीकृष्ण भी। वे नागर और नागरी दोनोंके मिलित प्रेमका सचारी स्वरूप हैं। इस भावकी यह घनिष्ठता जबतक उपलब्ध नहीं होती, जीव अपने स्वरूप-धर्ममें प्रतिष्ठित नहीं होता तबतक—**रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** (तैत्ति० उप० २।७)—यह श्रुतिवाक्य सार्थक नहीं होता।

शक्ति-साधनामें भक्ति-रसकी प्रदीप्ति

साधक रामप्रसादके आविर्भाव-कालमें वङ्गदेशकी शाक्त-साधनामें मातृ-भावनाके अनुपम आत्म-माधुर्यके वैभवका विस्तार हुआ। बगालके अन्तिम नवाब सिराजुद्दौलाके राजत्व-कालमें रामप्रसाद जीवित थे। कलकत्तासे कुछ दूर नैहाटीके निकट हालीशहरमें रामप्रसाद सेनने जन्म ग्रहण किया था। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त मातृ-परायणताका उद्रेक उनके चित्तमें हुआ। उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतिके सारभूत सत्योंको अति सरल भाषामें खोलकर रख दिया। रामप्रसादका सुमधुर मातृ-संगीत बगालमे आज भी घर-घर आदर पा रहा है। रामप्रसाद कहते हैं कि "माँ घट-घटमें विराजती हैं। तुम्हे इतनी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? तुम 'काली-काली' जपते हुए ध्यानमग्न हो जाओ। गया, गङ्गा, वाराणसी, काशी, काञ्ची क्यों जाना चाहते हो? माँकी कृपाका यदि मनमें स्पर्श हो गया तो सब कुछ हो गया!" रामप्रसाद काली और कृष्णमे कोई भेद नहीं मानते। वे माँके समक्ष संतानके समान उलाहना देते हैं। वे कहते हैं, 'यशोदा तुमको नीलमणि कहकर नचाया करती थी। माँ! तुमने वह वेष कहाँ छिपा लिया?' देवीपूजाके नामपर जीव-हत्या देखकर वे भक्त-साधक वेदना अनुभव करते। वे कहते—'माँ ब्रह्माण्ड-जननी है। उनके लिये क्या पर-भावना सम्भव है? तुम क्या बकरीके बच्चेकी हत्या करके माँको तुष्ट करना चाहते हो? काली ही ब्रह्म है, यह सार-तत्त्व जानकर मैंने धर्माधर्म सब छोड़ दिया है।'

ब्राह्म साधकोंका युग

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें वङ्गदेशमें संगठितरूपमें ईसाईधर्मके प्रचारकी चेष्टा प्रारम्भ हुई। पाश्चात्त्य सभ्यताके सम्पर्कसे यहाँके सामाजिक जीवनमें उथल-पुथल मच गयी। अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त बगाली युवकोंमें पाश्चात्त्य देशोंका अनुकरण करनेकी रुचि बढने लगी। वे हिंदू सनातन आध्यात्मिक सस्कृतिके ऊपर आघात-पर-आघात करके उसे चूर्ण-विचूर्ण करनेके लिये मानो पागल हो उठे। शिक्षित युवकोंमें अधिकाशका झुकाव उधर ही हो गया। उस समय जातिको इस संकटसे बचानेके लिये विपुल-शक्तिशाली एक महान् पुरुष आगे आये—वे थे राजा राममोहन राय। उन्होंने बगालियोंके चित्तमें आत्म-सवित्‌को जाग्रत् किया। शाकरभाष्यसहित ब्रह्म-सूत्र, वेदान्तसार तथा कुछ उपनिषदोंका बँगला-अनुवाद प्रकाशित करके वे परानुकरणकी प्रवृत्तिको रोकनेमें लग गये। वे बहुत दिनोंसे जमे हुए कुसस्कारोंको उखाड फेंकने लगे। उसीके साथ-साथ वेदान्तप्रतिपाद्य एकेश्वरवादकी श्रेष्ठतापर वे जोर देने लगे। उनको अनेकों भाषाओंका ज्ञान था और उनकी बुद्धि अति प्रखर थी। हिंदू-समाजमे उनको अनेक प्रकारसे लाञ्छित होना पड़ा तथा उत्पीडन सहन करना पड़ा। परतु इसकी ओर उन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वे शास्त्रनिष्ठ पुरुष थे और उन्होंने शास्त्रीय युक्तिके बलसे

प्रतिपक्षियोंकी युक्तियोंका खण्डन किया। राममोहन रायके आदर्शके आधारपर वङ्गदेशमें एक नवीन साधक-सम्प्रदाय संगठित हो गया। वह ब्रह्मोपासक-सम्प्रदायके रूपमें आविर्भूत हुआ। यह सम्प्रदाय मूर्तिपूजाका विरोधी था।

वेदान्तके आधारपर ही उनकी साधनाका सूत्रपात हुआ। परंतु वे निर्गुण ब्रह्मवादी नहीं थे; उनके ब्रह्म सगुण हैं, वे कृपामय हैं, सब प्रकारके कल्याणमय गुणोंकी खान हैं। उनके मतसे ब्रह्मका रूप है तथा उसका दर्शन होता है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके पिता श्रीमहर्षि देवेन्द्रनाथ इस सम्प्रदायके एक आचार्य हुए हैं। वे श्रीद्वारकानाथ ठाकुरकी संतान थे। महर्षिके चाचा श्रीप्रसन्नकुमार ठाकुरने उनसे कहा था कि 'देवेन्द्र! तुम मेरे पास महीने-महीने आया करना। मैं तुम्हारा पिताके ऋणसे उद्धार करा दूँगा।' एक दिन श्रीप्रसन्नकुमार ठाकुरने श्रीदेवेन्द्र ठाकुरकी भगवत्प्रवणताको लक्ष्य करके कहा, 'देवेन्द्र! क्या ईश्वर-ईश्वर दिन-रात करते हो? ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण दे सकते हो?' महर्षिने स्थिरभावसे कहा—'सामने जो दीवाल है, उसका क्या आप प्रमाण दे सकते हैं?' प्रसन्नकुमारने मुस्कराते हुए कहा—'यह क्या लड़कपन करते हो! दीवालका प्रमाण यही है कि मैं इसे देखता हूँ।' महर्षिने गम्भीरभावसे उत्तर दिया—'मैं भी तो ईश्वरको देखता हूँ, काका!' महर्षिने सत्यको प्रत्यक्ष किया था। उनका जीवन भगवद्भावसे प्रभावित था। ब्राह्मोंके दूसरे नेता श्रीकेशवचन्द्र ब्रह्मानन्दमें माँ-माँ कहकर रुदन करते थे। उपासना-वेदीके ऊपर सिर रखकर सबसे व्याकुलचित्त होकर पूछते—'तुम सच-सच बोलो, मेरी माँको क्या तुमने देखा है?' ब्राह्म साधकोंके जीवनकी सरलता, उनके चरित्रकी पवित्रता तथा असाम्प्रदायिक उदार आदर्शने भारतकी अध्यात्मसाधनाकी विश्वजनीन दिशाको उन्मुक्त किया और इस देशकी संस्कृतिमें उस साधनाकी संजीवनी शक्ति संचारित हुई। भयावह परधर्मके प्रभावसे इस देशकी रक्षा हुई। श्रीरवीन्द्रनाथके जीवनमें इसी साधनाका सार्वभौम सत्य अग्निमय आन्तरिकताके प्रभावसे प्रदीप्त हुआ। मुख्यतः श्रीरवीन्द्रनाथको हम साहित्य-द्रष्टा अथवा कविके रूपमे ही देखते हैं; परतु आत्यन्तिक भावसे वे थे भक्त, वे थे साधक और यही उनका स्वरूपलक्षण था। श्रीरवीन्द्रनाथकी अन्य सब रचनाएँ कालके द्वारा प्रभावित हो सकती हैं। परंतु कविके भक्ति-भावमूलक गीतसमूह भारतकी अन्तःसत्ताके साथ एकीभूत होकर जगत्में चिरकालतक अमृतत्व विकीर्ण करते रहेंगे। श्रीरवीन्द्रनाथके गीत उनके जीवन-देवताके चरणोंमें अपनेको सर्वतोभावसे अर्घ्यदानकी आन्तरिकतासे उज्ज्वल—अनिम्लान पुष्पमाल्य बनाकर प्रेमके सौरभसे जगत्को पवित्र करेंगे।

ठाकुर श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेव

दक्षिणेश्वरके काली मन्दिरमें ठाकुर श्रीश्रीरामकृष्णदेवकी लीला भारतके इतिहासमें एक युगान्तकारी अध्याय खोलती है। भक्तिरेव गरीयसी—एक भगवद्भक्तिसे ही जीवका सारा प्रयोजन सिद्ध होता है। भक्ति ही कर्म, योग, ज्ञान है। ठाकुरने भक्तिके इस स्वरूपको सबकी दृष्टिमें उज्ज्वल सिद्ध करके ग्रहण किया। अकृतविद्य प्रतिमापूजकके अति अद्भुत प्रज्ञाबलका परिचय पाकर देशका शिक्षित समाज विस्मित हो उठा। बार-बार विचार करके बड़े-बड़े पण्डित भी उनकी भूल न निकाल सके। वेद-वेदान्तादि समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्त ठाकुर नित्य ही सहज और सरल भाषामें गण्य-मान्य लोगोंको बात-ही-बातमें समझाने लगे। ठाकुर कहते थे कि कलिमें नारदोक्त भक्ति ही प्रमाण है। भगवान्का नाम लेनेसे मनुष्यका देह-मन सब शुद्ध हो जाता है। केवल ईश्वरका नाम लेना ही उसकी पूजा है। ईश्वरके ऊपर निर्भर करो। उसे आत्मसमर्पण करो। इसकी अपेक्षा दूसरा कोई सहज साधन नहीं है। नाहम्, नाहम्, त्वं हि, त्वं हि, त्वं हि। (मैं कोई नहीं, तुम ही हो।) जो भगवान्को चाहता है, वह एकबार भी उनकी गोदमें कूद पड़ता है। वह फिर कोई हिसाब नहीं रखता; क्या खाऊँगा, क्या पहनूँगा, कैसे दिन बीतेंगे—इस प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं करता। उनके शरणागत हो जाओ। ठाकुरके वचनामृतसे जाति उज्जीवित हो उठी। परानुकरणका भ्रम भङ्ग हो गया। दीन-दरिद्रके भीतर नारायण जाग उठे। विदेशी सभ्यताकी सततताके ऊपर ठाकुरने शुद्धा भक्तिका रस सिञ्चित किया। उसी मिट्टीमें फिर प्रेमके फूल खिलने लगे। 'जितने मत, उतने पथ'—इस सत्यको ठाकुरने जीवनकी साधनासे सत्य सिद्ध करके वास्तविक धर्मकी प्रतिष्ठा की। आचार्य मोक्षमूलर और विद्वान् रोम्याँ रोलाँ भारतके इस प्रतिमापूजक महापुरुषकी अलौकिकताको देखकर इनके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके धन्य हो गये।

साधक वामाक्षेपा

श्रीश्रीरामकृष्णके समसामयिक वीरभूम जिलेके अन्तर्गत तारापीठके महाश्मशानमें प्रसिद्ध तान्त्रिक साधक वामाक्षेपाका

आविर्भाव हुआ। उनके पिताका नाम सर्वानन्द चट्टोपाध्याय था। बचपनसे ही वामा संसार-सम्पर्कसे उदासीन रहे और छोटी ही अवस्थामे ससार-त्याग करके तारापीठके श्मशानमें मातृ-साधनामें निमग्न हो गये। वामा बालब्रह्मचारी थे। नारीमें मातृ-बुद्धि उनके लिये स्वाभाविक थी। वे जाति-भेद नहीं मानते थे।

तन्त्र-साधनामें सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करनेमें वामाको विलम्ब न लगा। बाहरसे इस महासाधकका आचरण अति दुर्ज्ञेय था। जीवमें उनको सुदृढ शिवज्ञान था। महाकौलिक क्षेपा माँका नाम-स्मरण छोड़कर कोई विचार-वितर्क करना पसंद नहीं करते थे। वे कहते थे कि 'भक्तिपूर्वक माँको पुकारो, उससे सब कुछ समझमें आ जायगा। पाप कैसा ? उसका नाम-स्मरण करो, उससे सारा पाप नष्ट हो जायगा। जो दिन-रात काली, तारा या राधा-कृष्णका नाम लेता है, उसका कोई पाप नहीं रह जाता। माँ-माँ कहकर पुकारते जाओ, पीछेकी ओर मत ताको। निर्वाण कैसे प्राप्त होता है, मुक्ति कैसे मिलती है—मुझे इतना तत्त्वज्ञान नहीं मालूम, और न मैं जानना ही चाहता हूँ। केवल तारा-तारा पुकारता हुआ अपनेको खो देना चाहता हूँ। इसमें जो सुख पाता हूँ, तुम्हारा निर्वाण वह सुख नहीं दे सकेगा। माँ-माँ पुकारते हँसते-खेलते जहाँ चाहो चले जाओ, यमका बाप भी तुम्हें छू नहीं सकेगा।'

श्रीमद्विजयकृष्ण गोस्वामी

श्रीमद्विजयकृष्ण गोस्वामीकी दिव्य जीवन-लीलामें भक्ति-साधनाकी वैज्ञानिक धाराका सर्वाङ्गीण विकास दिखायी देता है। साधनाके विभिन्न स्तरोंमें जो अतिसूक्ष्म अनुभूति होती है, उसका सारा गूढ़ रहस्य गोस्वामीजीने पूर्णतः खोल दिया है। वस्तुतः गोस्वामीजीके जीवनमें भक्तियोगका सहज, सरल और सर्वजनसुलभ रूप प्राप्त होता है। विजयकृष्ण बहुत दिनोंतक ब्राह्मसमाजके आचार्यके पदपर अधिष्ठित रहे। ब्राह्मसमाजके प्रचार-कार्यमें उन्होंने जो त्याग, तपस्या तथा तितिक्षा दिखलायी, उसकी तुलना अन्यत्र नहीं मिलती। वस्तुतः उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया था। तथापि उनको शान्ति न मिली। भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कुन्तीदेवीने कहा था कि 'जो परमहंस मुनि हैं, वे तुमको प्राप्त नहीं कर सकते। भक्तियोगका विधान करनेके लिये यदि तुम स्वयं आनेकी कृपा नहीं करते तो जीवके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं।' गुरुरूपमें किसी भाग्यवान्के ही ऊपर श्रीकृष्ण कृपा करते हैं। वस्तुतः सद्गुरुस्वरूपमें उनकी इस कृपाको ग्रहण करना ही भक्तिपथकी साधनामें सिद्धि-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। श्रीश्रीविजयकृष्ण इसी सत्यकी पूर्णतः उपलब्धि करके सद्गुरुकी कृपाप्राप्तिके लिये उन्मत्त हो उठे। दीर्घ तपस्याके फलस्वरूप गयाधाममें कपिलधारा पहाड़पर मानसरोवरवासी ब्रह्मानन्द स्वामी उनके सामने आविर्भूत हुए और उन्होंने गोस्वामीको कृपा प्रदान की। इसके बाद विजयकृष्णके दिव्य जीवनमें सद्गुरुतत्त्व मूर्तिमान् हो उठा। वे नामके प्रेममें पागल हो गये। उन्होंने नाम-साधनाको ही श्रेष्ठ स्थान दिया है। वे मधुरभावके उपासक थे और महाप्रभु गौराङ्गदेवके द्वारा प्रवर्तित मार्गका उन्होंने अनुसरण किया। गोस्वामीजी श्वास-प्रश्वासमें नाम लेनेका उपदेश करते थे, और एतदर्थ श्वास-प्रश्वासको नियमित करनेके लिये योगाङ्गका भी उनके द्वारा उपदिष्ट साधनामें समावेश है। परंतु वह परोक्ष है, प्रत्यक्षभावसे नाम-रसमें मनको डुबा देना ही आवश्यक है। गोस्वामीजीने महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवकी लीलासे ही नामके इस आत्मरसमें दीप्ति उपलब्ध की और इसी कारण उनकी साधना-शक्तिमें श्रीगौराङ्गकी लीलाने ही सर्वतोभावेन आत्ममाधुर्यका विस्तार किया। नाम ही भगवान् है, नाम लेना और भगवान्का सङ्ग करना एक ही बात है। गौर-लीलामें नामरूपमें तथा प्रेमरूपमें प्रेमस्वरूप श्रीभगवान्की सर्वतोव्याप्त कृपाका चातुर्य ही संचारित हुआ है। गोस्वामीजीने नामके द्वारा भगवत्प्रेमके गूढ़ रहस्यके प्रति हमारी दृष्टि आकर्षित की है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि गोस्वामीजीके अत्यन्त अन्तरङ्ग शिष्य भी उनको नहीं समझ पाये। जिस दिन यह रहस्य खुल जायगा, उस दिन भारतकी अध्यात्म-साधनाकी वैज्ञानिक दिशा परिस्फुट हो जायगी। दिव्य जगत्के लिये ही भारतकी साधना है, वह साधना विजयिनी होगी। भारतकी मुक्तिसे विश्वको मुक्ति प्राप्त होगी। सत्यके इस उत्ससे ही गोस्वामीजीके शिष्योंने भारतकी राजनीतिक स्वाधीनताके सग्राममें अनुप्रेरणा प्राप्त की। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त, मनोरञ्जन गुह ठाकुरता, 'डान' सोसाइटीके संस्थापक सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय, बंगालके विप्लव-युगके ये सब नेता गोस्वामीजीके शिष्य थे। गोस्वामीजी विश्वके कल्याणार्थ ही भारतको नियन्त्रित करते हैं तथा भारतसे भगवत्प्रेमके आलोककी रश्मि विकीर्ण होकर अखिल विश्वमें भागवती इच्छाकी पूर्ति करेगी—श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके अनुयायियोंका यही विश्वास है।

प्रभु जगद्बन्धु

श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धुने वङ्गदेशकी भक्ति-साधनामें अभिनव वैष्णवताकी प्रेरणाका संचार किया। मुर्शिदाबाद शहरके उस पार भाटपारा ग्राममें प्रभु जगद्बन्धुका आविर्भाव हुआ। वे एक दरिद्र ब्राह्मणपरिवारकी संतान थे।

हरिनाम उच्चारण हरिपुरुष उदय हरिनाम देह हय।

—अर्थात् हरिनाम उच्चारण करनेके साथ-साथ श्रीहरि पुरुषरूपमें अर्थात् अपनी प्रेयसीवशकारिणी, सर्वचित्तहारिणी प्रेममाधुरीको लेकर आविर्भूत होते हैं। तथा वे ऐसे उदार हैं कि जीव उनकी सेवाके योग्य देह प्राप्त करता है, प्रभुकी उक्तिका यही तात्पर्य है। प्रभु जगद्बन्धु जाति-भेद नहीं मानते थे। उन्होंने सन्थाल जातिके बूनो सम्प्रदायको हरिनामके प्रेम-रसमें निमज्जित करके उसको महान् सम्प्रदायका गौरव प्रदान किया। कलकत्ता शहर-के धनियोंके आमन्त्रणकी उपेक्षा करके डोमोंकी बस्तीमें स्थित अपनी भजन-कुटीमें साधनामें लगे रहे। वस्तुतः महात्मा गांधीके अस्पृश्यता-वर्जन-आन्दोलनके बहुत पहले ही अन्त्यज और अस्पृश्य लोगोंका उन्होंने भगवत्सेवाके उदार क्षेत्रमें आलिङ्गन किया था। प्रभु जगद्बन्धु सत्यनिष्ठा एवं सदाचार—विशेषतः ब्रह्मचर्य-साधनपर विशेष जोर देते थे। उनके विचारसे हरि-नाम-उच्चारण करनेसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है। देशबन्धु चित्तरञ्जनदास, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, नेताजी सुभाषचन्द्र—ये लोग प्रभुके अनुरागी थे। प्रभुका अपूर्व रूप-लावण्य तथा उनके सदा आनन्दमय मुखका मधुर हास्य सबको मुग्ध कर देता था। चौदह वर्षतक प्रभुने फरीदपुरकी गोशालाके समीप एक कुटीमें अपनेको छिपाये रखा। इस कालमें बाहरी जगत्के साथ इनका कोई सम्पर्क न था। इसके बाद जब वे बाहर आये, तब उनको बाह्य ज्ञान नहीं था। इन्होंने प्रसिद्ध नामसाधक श्रीमद्रामदास बाबाजीको बाल्य-जीवनमें ही आकर्षित करके अपना बना लिया था। श्रीश्रीजगद्ब-न्धुके आविर्भावसे वङ्गदेशमें नाम-प्रेमकी एक बहुत बड़ी लहर चल पड़ी। श्रीमत्प्रेमानन्द भारतीने अमेरिकामें जाकर वैष्णव-धर्मका प्रचार किया। भारती महाराजकी अंग्रेजी भाषामें लिखी हुई 'श्रीकृष्ण' नामक पुस्तकने ऋषि टालस्टायको मुग्ध कर दिया था। रूसके इस मानवप्रेमी महापुरुषने इसके लिये भारती महाराजके प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। श्रीमत्-प्रेमानन्द भारती श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धुको 'भाई कान्हाई' कहकर भगवद्बुद्धिसे उनमें श्रद्धा करते थे। वस्तुतः प्र[illegible] श्रीश्रीजगद्बन्धु जगत्में रहते हुए भी यहाँके जड-संस्पर्शसे रूप[illegible] प्रेमावेशमें आविष्ट रहते थे। [illegible] कल्याण—अर्थात् तन-मनसे जीवकी कल्याण-कामना करे[illegible] सबके प्रति उनकी ऐसी ही समदृष्टि थी।

श्रीअरविन्दकी साधना

श्रीअरविन्दकी साधनामें [illegible]गालकी भक्ति-साधना[illegible] विशिष्टता प्रबलरूपमें अभिव्यक्त हुई है। अलीपुर बम[illegible] मामलेमें कारागृहमें बंद श्रीअरविन्दने अपने जीवनमें भगवा[illegible] श्रीकृष्णके आदेशका अनुभव किया। जलमें, स्थलमें—सर्व[illegible] उनको वासुदेव दीखने लगे। उसके बाद श्रीअरविन्द पाडिचेरी जाकर कठोर योग-साधनमें लग गये। उस योगासनसे उठ[illegible] वे फिर बाहर नहीं आये। अतीन्द्रिय सत्यके राज्यमें उन[illegible] व्युत्थान हुआ। श्रीअरविन्दने विश्व-मानवको अमृ[illegible] की वाणी सुनायी। उन्होंने बतलाया कि जैव प्रवृत्ति[illegible] स्तरको अतिक्रम करके सारे बन्धनोंसे मुक्त जीवनको सत[illegible] रूपमें उपलब्ध करना मनुष्यके लिये सम्भव है। अन्नमय[illegible] प्राणमय कोशमें बुभुक्षाकी धारा कहाँ है, मनुष्य इस[illegible] जान चुका है। इस सम्बन्धमें उसको और कुछ कर[illegible] नहीं है। इसके आगे मनोमय कोशके विकासकी धारा[illegible] पकड़नेपर मनुष्यको विज्ञानमय कोशका पता लगेगा[illegible] उसके बाद आनन्दमय कोशमें जीवनकी परिपूर्णता होगी[illegible] भागवती इच्छा ही क्रम-विकासकी धाराके द्वारा मनुष्यको इ[illegible] अवस्थामें ले जायगी। वह इच्छा-शक्ति अविरत कार्य क[illegible] रही है। कृपा सदा कार्य करती रहती है। आवश्यक[illegible] है केवल दिव्यजीवनके लिये सम्यक् स्पृहाकी। जब य[illegible] सम्यक् स्पृहा भीतर जाग्रत् होती है, तब ऊपरसे आद्याशक्ति[illegible] स्वरूपिणी माँका प्रेम मनुष्यको स्पर्श करता रहता है। दान[illegible] दलिनी देवीने पथकी बाधाको दूर कर दिया है। मान[illegible] समाजके मनके मूलमें इस महती शक्तिके अवतरणके नि[illegible] उपयोगी वातावरणकी सृष्टि करना ही सभ्यता और संस्कृति[illegible] लक्ष्य होना चाहिये। भारतकी आत्मामें, नर-नारायणमें इ[illegible] उद्देश्यके साधनार्थ तपस्या चल रही है। हमको उस तपस्या[illegible] योग देना चाहिये। भागवती इच्छाके सामने सर्वतोभावे[illegible] आत्मनिवेदन कर देना चाहिये। वस्तुतः ऐहिक और पारमार्थि[illegible] सत्य दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। जो सत्य और नित्य जीव[illegible] है, वही जीवन सर्वतोभावेन पूर्ण है। मनुष्य जबतक [illegible] पूर्णयोगमें प्रतिष्ठित नहीं होता, तबतक उसको शान्ति न[illegible]

निवृत्ति नहीं। मनुष्यके भीतर भागवती इच्छा विजयिनी होगी ही और उसमें अधिक विलम्ब नहीं है।

बंगालकी भक्ति-साधनाके विभिन्न वैचित्र्यके भीतरसे अमृतत्वकी यह वाणी उद्गीत हो रही है। हिंसा-विद्वेषकी वृद्धिके साथ विश्वके मारणास्त्रोंके प्रबल सघर्षसे उत्पन्न कोलाहलको शुद्ध करके किस दिन यह उदार आकाशमें ध्वनित होगी, कौन जानता है।

अन्य बोल गण्डगोल, नाहि शुन उतरोल, लह प्रेम हृदये धरिया।

अर्थात् दूसरी सारी गोलमाल बातें हैं, कोलाहल मत सुनो, भगवत्प्रेम हृदयमें धारण करो। यदि हम भक्त साधकोंके इस प्रेमको हृदयसे ग्रहण नहीं कर सके तो क्या ऐहिक और क्या पारमार्थिक—किसी ओरसे हमारा कल्याण नहीं है।

उत्तरप्रदेशीय भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

देवता लोग भी इस भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करनेके लिये लालायित रहते हैं और भारतभूमिका हृदय यह उत्तर-प्रदेश है। इसका शुद्ध नाम आर्यावर्त्त होना चाहिये, जैसा कि यहाँके वर्तमान मुख्य मन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्दजीने पहले ही प्रस्तावित किया था। क्योंकि कहा है—

आर्यावर्त्तः पुण्यभूमिर्मध्ये विन्ध्यहिमालयोः।

इस प्रदेशमें तरह-तरहके अन्न, फल तथा सब्जियाँ होती हैं। इस समय इस प्रदेशमें लगभग सात करोड़ मनुष्य रहते हैं और मुख्य बात इस प्रान्तके विषयमें यह देखी जाती है कि यहाँके लोगोंमें प्रान्तीयता नहीं है। अपवाद तो हर जगह होते ही हैं। इसी निश्छल भावके कारण यहाँके लोग 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भावको चरितार्थ करके तरह-तरहसे भगवान्की अधिकतर निष्काम उपासना करते हैं।

मनुष्यके हृदयमें भक्तिका होना कोई साधारण बात नहीं। यथार्थमें इस विषयमें मनुष्यपर उसके माता-पिताके निश्छल तथा निर्मल भावोंका असर पड़ता है और कहीं-कहीं भगवत्कृपासे घोर आपत्ति अथवा इष्ट-वियोगके कारण भी मनुष्यमें इस भावकी जाग्रति होती है। भक्तको संसार दूसरा ही दीखता है। गङ्गाजीके दर्शन होनेपर उसे महान् हर्ष होता है तथा विनीत भाव जाग्रत् होते हैं, जब कि साधारण मनुष्यको यह केवल नदीरूपमें दिखलायी पडती है। भक्तका हृदय अत्यन्त कोमल होता है और दूसरेके दुःखको देखकर सद्यः द्रवित हो उठता है। भक्त निश्चिन्त रहता है। उसे ऐसी कोई चिन्ता नहीं रहती कि कब क्या होगा। वह तो प्रभुको ही अपना भाग्य-नियन्ता मान लेता है। वह सबसे प्रेम करता है और चोर-बाजारी अथवा धोखाधड़ी आदिका विचार भी उसके चित्तमें नहीं आता। भगवत्कृपासे प्राप्त धनमें वह संतोष मानता है और निरन्तर भगवान्की कृपाका ही ध्यान करता रहता है।

इस उत्तर-प्रदेशमें ही तरह-तरहकी जड़ी-बूटियाँ प्राप्य हैं, जिनकी अलौकिक शक्तियाँ देखकर आजकल लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं। मध्ययुगमें इन्हीं जड़ी-बूटियोंकी शक्तियाँ देखकर अरबके लोग बहुत चकित हुए और जड़ी-बूटीके अभावमें वे स्वर्ण बनानेके लिये नेवले, साँप, मयूर इत्यादि पशुओंका प्रयोग करने लगे। अरबसे यह विद्या पाश्चात्त्य देशोंमें गयी। वहाँ भी पारद, गन्धक, अभ्रक इत्यादि रहस्यमय वस्तुओंका तथा पशुओंके अङ्गोंका सोना बनानेमें प्रयोग होने लगा। ये जड़ी-बूटियाँ विन्ध्यपृष्ठपर आग्नेय तथा हिमालयपर हैम कही जाती हैं। औषधके निर्माणमें यथासम्भव हैम ओषधियाँ ही काममें ली जाती हैं। भगवान्की उपासना भी इस प्रान्तके भक्तलोग विविध भावोंसे विविध स्थानोंपर करते हैं।

सबसे प्रथम काशीमें अद्वैत ब्रह्मकी चर्चा अतीत कालसे चली आ रही है और अब भी मिलती है। यहींपर महात्मा रामानन्द तथा उनके शिष्य कबीर इत्यादि भी हुए हैं। इस समय कुछ अपवादोंको छोड़कर काशीके लोग प्रायः समस्त उत्तर-प्रदेशमें सबसे मस्त कहे जा सकते हैं। इनकी शुद्ध उपासना अधिकतर निष्काम शिवभक्ति है। यह देखने और अनुभव करने-का विषय ही है। जिसके हृदयमें भगवान्ने रत्तीभर भी प्रकाश दिया है, वह काशीवासियोंके शुद्ध भावको देखकर तथा उनकी निश्छल शिवभक्तिका अवलोकन करके मुग्ध हो जाता है और परम शान्तिको प्राप्त करता है। यहाँके निम्नश्रेणीके लोग तो प्रायः इतने शुद्धहृदय हैं कि उनको बाबा विश्वनाथके प्रकट अस्तित्वमें जरा-सा भी संदेह नहीं है। यहाँके लोग

प्रकृतिके उपासक हैं और बाग-बगीचे इत्यादि स्थानोंमें घूमने जाया करते हैं। कहीं भी बाहर आप बनारसीको देखेंगे तो झट पहचान लेंगे। यहाँकी एक विशेषता और यह है कि लोग एक ही प्रकारकी विशुद्ध भक्तिसे गङ्गाजी, विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, भगवान् विष्णु, गणेश, सूर्य, भैरव इत्यादिकी वन्दना करते हैं। यह बहुत बड़ी बात है।

बनारसके समीप ही मिर्जापुर जिलेमें भगवती विन्ध्यवासिनी-का स्थान है। यहाँ भी अनेकानेक सिद्ध भक्त हो गये हैं और उनकी कथाएँ हृदयको गद्गद कर देती हैं। भगवतीकी उपासना यथार्थमें मातारूपमें ही होती है और जो स्नेह इस भावमें टपकता है, वह साधारणतः सब लोगोंमें और मुख्यतः 'झाँझिया' लोगोंमें दीखता है। ये झाँझिया लोग, काशीके खत्री वर्गके लोग हैं, जो पैदल ही प्रायः बीस मीलकी यात्रा भगवतीका भजन करते हुए और झाँझ बजाते हुए श्रावणके महीनेमें करते हैं। ये लोग स्वच्छताकी मूर्त्ति कहे जा सकते हैं; क्योंकि ये लोग बड़े मौजी और प्रकृति-प्रेमी होते हैं। अष्टभुजा देवीकी पहाड़ीपर ये लोग बड़ी मस्तीसे घूम-घूमकर भगवतीके विभिन्न स्थानोंका दर्शन करते हैं तथा झरनोंका जल पीते हैं। यह पहाड़ी प्रायः चार-पाँच मील लम्बी तथा दो मील चौड़ी है। इसपर अनेकानेक अमूल्य जड़ी-बूटियाँ वर्तमान हैं, जिनको यहाँके वनवासी मुसहर लोग बहुत अच्छी तरह जानते हैं। यहाँके झरनोंमें भी कहीं लोहेका अंश, कहीं गन्धकका अंश इत्यादि मिलते हैं। इस पहाड़ीपर स्वर्ण तथा रजत भी बनाये जाते थे और सम्भव है कि इस समय भी बनाये जाते हों। इसी विन्ध्यपृष्ठपर विन्ध्याचलसे तीस-पैंतीस मील पूर्व चकिया नामक स्थान है, जहाँ बड़े-बड़े जलप्रपात, गुफाएँ तथा शेरके शिकारके स्थान बने हुए हैं। बीचका प्रदेश भी, विशेषतः बेलन नदीके किनारे, टेढ़ी-मेढ़ी नदी तथा जलप्रपातोंके कारण अत्यन्त सुन्दर है। काशीवासी इन स्थानोंका आनन्द अब भी लेते हैं तथा गद्गद हृदयसे भगवतीका अभिवादन करते हैं।

अयोध्यामें भगवान् मारुतिके प्रभावका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यह भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी राजधानी थी और प्रारम्भिक यवनकालमें यवनोंके उत्पातके कारण यहाँके भक्त वैरागी लोग योद्धारूपमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा उनके अनन्य भक्त श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना करने लगे। तथा अब भी करते हैं। रामभक्तिका प्रचार अधिकतर महात्मा तुलसीदासजीके साथ-ही-साथ हुआ है और तभीसे अयोध्याके आस-पास प्रायः प्रत्येक ग्राममें हनुमान्‌जीकी मूर्त्ति है तथा आश्विनमासमें रामलीला होती है। अयोध्यामें अनेकानेक भक्त हो गये हैं, जिनपर भगवती जानकीजीका विशेष अनुग्रह रहा है, जिनके कारण उन्हें अनेक चमत्कार भी दिखलायी दिये हैं।

मथुरामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाभूमिकी छटा ही निराली है। यहाँ ऐसे-ऐसे भक्त हो गये हैं, जिन्होंने लाखों क्या, करोड़ोंकी सम्पत्तिको ठुकराकर इस व्रजभूमिमें मधुकरी माँगकर तथा मिट्टीके करवेसे अधिक कोई संग्रह न रखते हुए आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया है। इन भक्तोंका भाव विरही गोपियोंका-सा है। वे भगवान् कृष्णका नाम सुनकर तथा उनकी लीलाओंका वर्णन सुनकर प्रेमाश्रु बहाने लगते हैं और अनेक बार भगवान्‌ने कृपापूर्वक ऐसे भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन दिये हैं। यहाँके भक्तोंकी मनोभावना 'विरह-व्यथा' शब्दसे ही वर्णित हो सकती है। यह काशी, विन्ध्याचल तथा अयोध्याके भावोंसे भिन्न है। यहाँके भक्त भगवान्‌को बालरूपमें ही सखावत् मानते हैं। काशीके लोग बाबा विश्वनाथको वृद्ध दादाके रूपमें देखते हैं, जिनके कंधेपर बालरूप भक्त चढ़ा है और उनके बालों तथा दाढ़ीमें हाथ डाल रहा है और बाबा केवल मुस्करा रहे हैं। विन्ध्याचलमें जिस प्रकार बालक निस्संकोच माताके पास जाता तथा प्रसन्न होता है, वह भाव दिखायी पड़ता है और अयोध्यामें दासभावका दर्शन होता है—जैसे राजदरबार-में सेवक विनीतरूपमें उपस्थित होता है।

इस प्रान्तमें बड़े-बड़े ऋषियोंके स्थान भी जगह-जगहपर पाये जाते हैं—मुख्यतः प्रयाग, नैमिषारण्य, हरिद्वार तथा उत्तराखण्डमें। प्रयाग अपना विशेष स्थान रखता है। मुझे अपने जीवनमें जितनी शान्ति इस पुण्यक्षेत्रमें दिखलायी पड़ी, उतनी बहुत कम स्थानोंमें मिली। सुप्रसिद्ध भरद्वाज-आश्रम-का स्थान तो अब भी दिखलाया जाता है। यहींपर श्रीभरद्वाज जीके जामाता याज्ञवल्क्यजी रहते थे। अतरसुइया नामक स्थानपर अत्रिमुनि तथा उनकी धर्मपत्नी अनसूयाजी रहती थीं। सरस्वतीकुण्डके पास किलेके नीचे परशुरामजीने तपस्या की थी। इनके अतिरिक्त विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा वसिष्ठ इत्यादि महर्षियोंके आश्रम भी यहाँ हैं। इन स्थानोंका प्रभाव अब भी विद्यमान है और यहाँके लोग मुझे अन्य स्थानों-की अपेक्षा अधिक शान्त लगते हैं। नैमिषारण्यमें तो अठासी हजार ऋषि रहते थे और इसी स्थानके पास भगवान् रामचन्द्रने गोमती-तटपर यज्ञ किया था। नैमिषारण्यमें स्थित बड़े-बड़े पेड़ोंके झुरमुट अब भी उस अतीतकालकी याद

दिलाते हैं तथा भगवती ललितादेवीका सिद्धपीठ इस क्षेत्रके बीचमें है। हरिद्वार, ऋषिकेश तथा बदरिकाश्रममें नर-नारायण तथा व्यास इत्यादि महान् ऋषियोंने तपस्या की है तथा अब भी कर रहे हैं। इन स्थानोंका स्मरण करके हृदय शुद्ध होता है तथा सांसारिक वासनाएँ छूटने लगती हैं। वह समय याद आता है जब इस शरीरमे स्थित आत्मा शुभ्र तथा उत्तुङ्ग हिमालय-शिखरों तथा उसके उत्तरमें स्थित मानस-सरोवर तथा कैलास पर्वतपर स्वच्छन्द घूमता था। हिमालय अत्यन्त विस्मयकारी पर्वत है और इसके उत्तरका प्रदेश (क्वीनलन पर्वत) तो अब भी प्रायः अज्ञात तथा रहस्यपूर्ण है।

इन स्थानोंके अतिरिक्त एक परम रमणीय स्थान चित्रकूट है। प्रयाग इत्यादि ऋषिक्षेत्रोंपर शुद्ध सात्त्विक भाव जाग्रत् होते हैं। पर यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कई वर्षतक जानकीजीके साथ कामदगिरिपर निवास किया था। भक्तलोग बड़े भक्ति-भावसे इस पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और कभी इसके ऊपर पैर रखकर नहीं चढ़ते। इसके आस-पास भी महर्षियोंके स्थान हैं—यथा अनसूयाजी इत्यादि। यहाँकी वन्यछवि विशेषरूपसे द्रष्टव्य है। कहा जाता है कि अनेकानेक भक्तोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन इस पुण्यक्षेत्रमे हुए हैं। भक्तको दर्शन होनेसे यह अर्थ नहीं कि उसकी कोई कामना पूर्ण होती है। उसकी अभिलाषा तो सदा यही रहती है कि अपने इष्टदेवकी शुभ मूर्तिका दर्शन करता रहे। इसीमे उसे परम आनन्द मिलता है। यदि भगवान् वर माँगनेको कहते हैं तो उसे एक प्रकारका दुःख होता है और वह केवल यही माँगता है कि इसी प्रकार उसे सदा परम छविके दर्शन होते रहें। उसे तो संसारसे कुछ मतलब ही नहीं। वह तो प्रायः विदेह (देहरहित) होता है और स्त्री-पुत्रादिका पालन केवल लोक-संग्रहकी भावनासे करता है। धन्य हैं वे लोग, जिनका अनेकानेक जन्मोंमें उपार्जित पुण्योंके फलस्वरूप इस परम पवित्र प्रान्तमें जन्म होता है। ब्रह्मद्रवसे पूर्ण भगवती भागीरथी इस प्रान्तको एक छोरसे दूसरे छोरतक सींचती हैं।

मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव

(लेखक—डा० श्रीबल्देवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्)

मध्यप्रदेशकी सीमाओंका इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। क्षेत्र तो था परंतु सीमाएँ दूसरी थीं। अंग्रेजी राज्यमें इसका निर्माण हुआ। किंतु उसमें भी फेर-फार होते रहे। कभी संबलपुर अलग हुआ और झारखण्डका अंश जुड़ा। कभी मराठी भाषाभाषी जिले और कुछ देशी राज्योंके भू-भाग जुड़े। अब तो गत वर्षसे इसका कायाकल्प ही हो गया है और मराठी जिले अलग किये जाकर उनके स्थानपर मध्य-भारत, भोपाल और विन्ध्य-प्रदेशके क्षेत्र जोड़ दिये गये हैं। इस वृद्धिके कारण उज्जैन और ओंकारेश्वरके समान तीर्थ इसके अन्तर्गत हो गये और ह्रासके कारण रामटेक तथा अमरावती-जैसे स्थल यहाँसे अलग हो गये।

परंतु भौगोलिक सीमाओंकी इस प्रकारकी अस्थिरता रहते हुए भी मध्यप्रदेशकी सांस्कृतिक सीमाओंकी अपनी विशेषता रही है और वह है समन्वय-भावनाकी। इस प्रदेश-में उत्तर और दक्षिण भारतका ही मेल नहीं हुआ; किंतु आर्य और अनार्य सभ्यताओंका भी यहाँ अच्छा मेल है। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव—सभी तो यहाँ मिले। मुस्लिम-साम्राज्य भी यहाँ इस प्रकारका नहीं रह पाया, जो भारतकी सांस्कृतिक परम्पराको किसी विशेष प्रकारसे क्षति पहुँचाये या छिन्न-भिन्न करे। अतएव यहाँकी समन्वय-भावना अबाध गतिसे बढ़ी और उसने मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव भी इसी रंगमें रँग दिये।

हमारे निवासस्थान राजनाँदगाँवके पास ही एक पुरातन कालका मन्दिर है, जो है तो शिव-मन्दिर किंतु उसमें वैष्णव अवतारोंकी लीलाओंके साथ जैनमूर्तियाँ भी अङ्कित हैं। देवीकी मूर्तियाँ हैं ही। कुछ दूर बसे हुए श्रीपुरकी खुदाईमें भव्य बौद्धविहार निकले हैं, जो वज्रयानियोंके प्रधान आश्रयस्थल थे। परंतु वहाँ भी बड़ी सुन्दर शैव एव वैष्णव-मूर्तियाँ तथा जैन-मूर्तियाँ भी मिली हैं। इसी प्रदेशके एक मुसल्मान कविने श्रीजगन्नाथ स्वामीके लीला-विग्रहके दर्शनोंकी इच्छासे उन्हे पत्र लिखा—'प्रभो! यदि आप हिंदुओंके ही नाथ हैं, तब तो दर्शनोंके लिये मेरा कोई दावा नहीं हो सकता; परतु यदि आप वस्तुतः जगन्नाथ हैं—जगत्के नाथ हैं, तो मेरा साग्रह निवेदन है कि आप मुझे भी अपनानेकी कृपा करें।'

वर्तमान कालमें भी यहाँ नरसिंहपुर साईंखेड़ाके धूनीवाले दादाजी सदृश ब्राह्मण संत और नागपुरके ताजुद्दीन बाबा सदृश मुसल्मान औलिया हो गये हैं जिनके दरबारमें

सभी सम्प्रदायोंके लोग समानरूपसे पहुँचा करते और उनकी कृपा प्राप्त किया करते थे।

अनार्योंकी उपासना तामसी ढंगकी होती है; क्योंकि उसमें मास-मदिराका सम्बन्ध रहता है। आर्योंकी उपासनामें वामाचारकी परम्परा कुछ दिनोंके लिये यहाँके भी कुछ क्षेत्रोंमें रही; परंतु अब पारस्परिक सहयोगका कुछ ऐसा वातावरण निर्मित हो चुका है कि गुह्य साधनाओंकी आड़में भ्रष्टाचार यहाँ नामशेष ही समझिये। आचारहीनता न आर्य भक्तोंमें है न अनार्य भक्तोंमें; ढोंगियोंकी बात जाने दीजिये।

महात्मा कबीर और रैदासका इस ओर पर्याप्त प्रभाव है। शिव और महामायाके अनेक मन्दिर एवं उपासक इधर मिलेंगे; परतु सर्वोपरि प्रभाव श्रीकृष्ण एवं श्रीरामकी लीलाओं-का है। देहात-देहातमें लोग कृष्ण और रामके गुणगान करते मिलेंगे। रामचरितमानसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है और देहात-देहातमें मानस-यज्ञके आयोजन हुआ करते हैं। ऐसा कोई मानस-यज्ञ न होगा, जिसमें हजारोंकी भीड़ न इकट्ठी होती हो और प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदायके लोग स्वच्छन्दतापूर्वक भाग न लेते हों।

यहाँके भक्तोंने अपनेको प्रधानतः प्रभुका दास ही माना है। उनसे सौहार्द अथवा दाम्पत्यका सम्बन्ध जोड़नेवाले भक्त यदि हुए भी हैं तो वे विशेष प्रकाशमें नहीं आये। इसीलिये यहाँके भक्तोंके भाव विशेषतः नैतिकता लिये हुए ही आगे बढ़े हैं और उन्होंने समाजके मङ्गल-विधानमें सहयोग ही दिया है।

गुजराती भक्तोंके भाव

(लेखक—प० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री, सद्विद्यालंकार)

यों तो सारी ही भारत-भूमि भक्तोंकी जननी है; भारत-माताने जिस प्रकारके उदार, ज्ञानी और सहृदय प्रेमी भक्तों-को जन्म दिया है, प्रायः किसी देशने उस प्रकारके भक्तोंको जन्म नहीं दिया। उसमें भी भारतवर्षान्तर्गत गुजरातके भक्तोंने प्रेम, भक्ति और ज्ञानकी जो त्रिवेणी बहायी है, वह तो सर्वथा अवर्णनीय है।

भक्तोंके भावकी बात आते ही हमारी दृष्टि गुजरातके आदर्श भक्त नरसिंह (नरसी) मेहताके ऊपर जाती है। सौराष्ट्रके जूनागढ शहरमें उनका जन्म सं० १४७० में हुआ था। प्रायः पन्द्रहवीं शताब्दीसे लेकर सत्रहवीं शताब्दीतक सारे देशमें भक्ति-गङ्गाका प्रवाह बहता रहा। इस युगके गुजरातके आद्यकवि होनेका मानद गौरव भी इन्हींको प्राप्त है।

हमारे भक्त नरसिंह मेहता लड़कपनमें बहुत तेजस्वी या विद्वान् नहीं थे। भाभीके रूखे वचनोंसे मातृ-पितृ-विहीन बालक नरसिंहको वैराग्य हो आया और वे कहीं जगलमें चले गये। उन्होंने एक निर्जन शिवालयमें बैठकर भगवान् शंकरकी आराधना की। कहते हैं भगवान् भूतभावनने प्रसन्न होकर नरसीको अभीष्ट वर माँगनेके लिये कहा। तब नरसीजी बोले—'भगवन्! मुझे कुछ माँगना नहीं आता; आपको जो सर्वाधिक प्रिय वस्तु हो, वही मुझे दे दीजिये।'

बस, फिर क्या था! भगवान् शकर उन्हें गोलोक-धाममें ले गये और अखण्ड रासलीलाका दर्शन कराया। जिसके ऊपर भगवान् शंकर कृपा करते हैं, उसके लिये क्या दुर्लभ है। नरसीकी तन्मयता देखकर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपने मोरमुकुट एवं मूर्त्ति आदि देकर मर्त्यभूमिमें भेज दिया और वे फिर भगवान्की आज्ञा पाकर जूनागढमें आ गये। उसी समयसे उनमें भावोंका उदय होने लगा। विवाह हुआ, पर गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी उनका ससारसे कोई आसक्ति या ममताका सम्बन्ध नहीं था; वे तो बस, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णके कीर्तन, स्मरण और भावावेशमें ही निमग्न रहते थे।

सौराष्ट्रके प्रायः सभी भक्तोंमें तीन भाव प्रधानतया दिखायी पड़ते हैं—(१) प्रेमलक्षणा भक्ति, (२) अनन्य भाव और (३) आतिथ्य। इन तीनों भावोंसे हमारे भक्त-राज नरसिंह मेहता भी विभूषित थे। उनके यहाँ साधु-संत और भक्तोंका अड्डा बना रहता था। रूखा-सूखा जो भी मिलता, भगवान्को समर्पित करके वे संतों, भक्तों और अतिथियोंका स्वागत करते थे। गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी किसी भी विरक्त संतके साथ उनके जीवनकी तुलना की जा सकती है।

भक्त नरसी मेहता प्रेमभक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए थे। ज्ञानकी दृष्टिसे भी वे स्थितप्रज्ञ थे। गरीबीमें पत्नी, पुत्र और पुत्रीके साथ गृहस्थाश्रमको निभानेमें उन्हें अनन्त कठिनाइयाँ आती थीं; परतु भगवान्के प्यारे भक्त कठिनाइयोंसे कब घबराते हैं। उनकी निष्ठामें श्रीमद्भगवद्गीताका वह प्रसिद्ध श्लोक चरितार्थ होता था—

...न्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
... नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

इसीमें श्रद्धा रखकर वे श्रीकृष्णका नाम-स्मरण करते हुए निश्चिन्त जीवन व्यतीत करते थे । इस अनन्याश्रयका प्रत्यक्ष फल यह था कि भगवान्‌ने अलौकिक ढंगसे उनके पुत्र-पुत्रीके विवाहमें, पुत्रीके मायरेमें, पिताके श्राद्धमें एवं अन्यान्य प्रसङ्गोंमें उनकी प्रचुरतम विलक्षण सहायता की । ये सब कथाएँ इतिहासप्रसिद्ध हैं ।

गुजरातके भक्तोंकी भावनाओंमें एकनिष्ठ भक्तिके उपरान्त चिन्तनात्मक ज्ञानका स्रोत भी बहता हुआ दीख पड़ता है । नरसी मेहताका ज्ञान भी उच्चकोटिका था, उनके पदोंमें आत्म-ज्ञान और वेदान्तके गूढ़ रहस्य प्रस्फुटित होते हैं । वे एक पदमें कहते हैं—

'तू अल्या ! कोण ने कोने वळगी रह्यो। वगर समज्ये कहे मारुँ मारुँ॥'
'हुँ करूँ, मैं कर्युं एम मिथ्या बके । शकट नो भार ज्यम श्वान ताणे ॥'

वे कहते हैं—"तू कौन है ? जो शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य होनेपर भी बिना समझे-बूझे मेरा-मेरा कह रहा है, और 'यह कार्य मैं ही कर सकता हूँ, अमुक कार्य मैंने ही किया है' इस प्रकार झूठ बक रहा है, जैसे गाड़ीके नीचे चलता हुआ कुत्ता गाड़ीका सारा भार अपने ऊपर समझता है ।"

वेदान्तका सरल शब्दोंमें कैसा सुन्दर अमृतमय प्रवाह बहा है उनके मुखसे ! क्यों न हो, ज्ञानके अधीश्वर योगीश्वर भगवान् शंकरजीकी कृपा जो हुई थी उनके ऊपर ।

इन सभीसे यह मालूम होता है कि सुन्दर शरीर, उत्तम कुल एवं पर्याप्त धन आत्माकी मुक्तिके लिये पर्याप्त नहीं हैं । उसके लिये तो भगवान्‌की एकनिष्ठ निष्काम भक्तिरूप कर्तव्य, शुद्ध भावना एवं भगवान्‌की असीम कृपा आवश्यक है । हमारे भक्तराज नरसी मेहताके पदोंकी सफलता देखकर यही मानना पड़ेगा कि आत्ममुक्तिके लिये मानुषी प्रयत्न मिथ्या हैं—

प्रभोः कृपा हि केवलम् ।

भक्त नरसीजीने हजारों पदोंकी रचना की है और उनके प्रत्येक पदमें अखण्ड प्रेमलक्षणा भक्ति, ज्ञान और ब्रह्मतत्त्व निरन्तर प्रवाहित हो रहे हैं ।

उनके जीवनके भाव, दृढ़ भगवद्विश्वासको भी देखिये । एक दिन घरपर अतिथि आ गये । सदा आते ही रहते थे । पर उस दिन उन्हें भोजन करानेके लिये घरमें न अन्न था न पैसा-टका । किसी उदार व्यापारीसे उधार लेकर अतिथि-सत्कार करनेकी इच्छासे वे बाजारमें जा रहे थे । इतनेमें ही द्वारका जानेवाले कुछ यात्रियोंका एक दल उन्हें मिल गया और उसने भक्तराजके हाथमें सात सौ रुपये रखकर द्वारकापर हुंडी लिख देनेकी प्रार्थना की । भक्तराजने बहुत समझाया, पर यात्रियोंने एक भी न मानी । आखिर भक्तराजने भगवत्-इच्छा समझकर द्वारकाके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र विश्वम्भर सेठ शामलसाहके नामपर हुंडी लिख दी तथा बड़े विश्वास-के साथ उनसे कहने लगे—

नकार करे तो बेशजो अडो रे । रुपैया न मूकशो लेजो लडी रे ॥
रुपैया मळशे ते घडी रे । न जडे तो आवजो पाछा फरी रे ॥
व्याज सुधो आपशुं गणी रे । तमे रुपियाना छो धणी रे ॥

"शामलसाह हुंडी सिकारनेसे इन्कार करे तो अड़कर बैठ जाइयेगा, रुपये छोड़ियेगा नहीं, लड़कर ले लीजियेगा । आपको उसी समय रुपये मिल जायँगे । इसपर भी कदाचित् न मिलें तो लौट आइयेगा, मैं व्याजसमेत आपको गिन दूँगा । आप रुपयोंके मालिक हैं ।" कितना अटल विश्वास है !

तदनन्तर सात सौ रुपये लेकर उन्होंने बड़े ही प्रेमसे भगवान्‌को नैवेद्य चढ़ाया और साधु-संतोंको संतुष्ट किया ।

साधु-संत भक्त नरसीकी जयध्वनि करते हुए चले गये और इधर भक्तराज सोचने लगे—

अरे ! मैंने यह क्या किया ? भगवान्‌को केवल थोड़े-से चाँदीके टुकड़ोंके लिये कष्ट दिया ! अब क्या होगा ? यदि भगवान्‌ने हुंडीकी रकम न चुकायी तो ?

फिर क्या था ? स्वयं भोजनका परित्याग करके वे भगवद्-भजनमें लीन हो गये । उन्हींके पदके भावको देखनेसे पता चलेगा कि भक्तराज कितने निश्चिन्त और श्रद्धासम्पन्न थे—

मारी हुंडी स्वीकारी महाराज रे
शामळा गिरधारी ।
मारे एक तमारो आधार रे
शामळा गिरधारी ॥
× × ×
नहिं तो जाशे तमारी लाज रे
शामळा गिरधारी ॥

भजन गाते-गाते भक्तराज तन्मय बन गये । भाव-समाधिसे जाग्रत् होनेसे पूर्व ही उनको भावावेशमें दिखायी दिया कि स्वयं भगवान् शामलसाहके रूपमें यात्रियोंको रुपये चुका रहे हैं ।

यही तो भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप शास्त्रकारोंने कहा है—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृत्सु च ।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम् ॥
(गरुड० उत्तर० २८ । ११)

भावके सिवा भगवान् रहते भी किस स्थानपर हैं ? भक्त नरसीजीके भावसे भगवान्‌ने सचमुच उनके ऐसे-ऐसे साधारण सांसारिक कार्य भी किये, जिन्हें सुनकर आजके बुद्धिवादी लोग चकरा जाते हैं।

वैसे ही गुजरात प्रान्तके डभोई गाँवमें एक भावमूर्ति भक्त-कवि दयारामजी हो गये हैं। आप बड़े ही प्रेमी भक्त थे। सखीभावसे इन्होंने सहस्रों पदोंकी रचना की है। इनके भक्तिपर पद आज भी गुजरातके घर-घर गाये जाते हैं। भक्तोंको आडम्बरहीनताके लिये उपदेश देते हुए उन्होंने बड़े ही भावात्मक एवं रोचक दृष्टान्तयुक्त पद रचे हैं। गुजरातमें इन्हें 'रास'के नामसे पुकारते हैं।

इन भक्त-कविका जन्म विक्रम संवत् १८४६ के लगभग हुआ था। आप एक अच्छे भक्त थे और गोपीभावकी पुष्टिके लिये इन्होंने अच्छा प्रयत्न किया था।

सौराष्ट्र-गुजरातमें ऐसे अनेकों भावप्रधान भक्त हो गये हैं। उन सभीके जीवनके अभ्याससे यह मालूम होता है कि वे सभी भगवान् शंकराचार्यजीके इस उपदेशके अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत कर गये हैं—

> गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
> नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥

इसीको कबीरके शब्दोंमें यों कह सकते हैं—

> कबिरा यह तन पाय के, कर लीजे दो काम।
> देनेको टुकड़ा भला, लेनेको हरिनाम॥

मनसे भजन और भूखोंको भोजन देनेका भाव गुजरात-सौराष्ट्रके भक्तोंमें विशेष पाया जाता है। भक्त नरसीसे लेकर आजतक ऐसे अनेकों भक्तोंमें भक्त लालजी और भक्त जालारामजी आदिके नाम भी उल्लेखनीय हैं। सांसारिक दृष्टिसे अनपढ़ होते हुए भी उनका मार्ग हमलोगोंके लिये आजपर्यन्त आदर्श बन रहा है।

अन्तमें हम भारतके सभी भक्तोंको प्रणाम करके इस लेखको समाप्त करते हैं।

उत्कलीय भक्तोंके भाव

(लेखक—पं० श्रीसदाशिवरथ शर्मा 'गवेषक')

धर्म ही भारतका प्राण है। पुरातन कालसे भारतीयोंके धार्मिक चिन्तनने ऐसी एक भावधाराकी सृष्टि की, जिससे समग्र देशमें धर्मका एक महोदधि प्रकट हो गया। वही विस्तृत महोदधि इस विपुल कालके बीच लाखों गिरि-नदियोंके समान धर्म-भावनाके विभिन्न प्रवाहोंसे क्रमशः परिपुष्ट होता हुआ अक्षय भावसे लहरा रहा है।

समयके प्रवाहके अनुरूप ही धर्मके प्रवाहको भी विविध चिन्तनोंसे भक्तोंने जिस प्रकार परिपुष्ट तथा परिवर्द्धित किया है, उसको देखनेसे पता लगता है कि उनमेंसे बहुत-से अपने वंशधरोंके कल्याणार्थ विभिन्न सुन्दर मार्ग एवं सम्प्रदाय निर्माण कर गये हैं। भारतका प्रत्येक प्रान्त ऐसे भक्तोंको पाकर पवित्र हुआ है तथा होता है। भक्तोंके विभिन्न भावोंके आदान-प्रदानसे भी प्रान्तोंमें परस्पर भ्रातृभाव उत्पन्न होता रहा है। अतः भारतके भक्तोंका यह अवदान ही अखण्ड मैत्री-भावका प्रतीक है। अब देखना होगा कि उन्हीं मार्गप्रवर्तक भक्तोंने पवित्र उड्र देश या उत्कल प्रान्तमें क्या और कैसे भावोंका अवदान किया है।

अष्टादश पुराणोंमेंसे द्वादश पुराणोंने उत्कल देशकी प्रशंसा गायी है। वायुपुराण तथा अन्य पुराणोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें केवल कलामें ही नहीं, आध्यात्मिक चिन्तनमें भी उत्कल देश बहुत उन्नत माना जाता था। उत्कल देशके अधिवासी आध्यात्मिक चिन्तन तथा कलाके प्रति अधिक श्रद्धा तथा ममता रखते थे। धार्मिक जगत्‌में उत्कलकी प्रतिष्ठाके बारेमें विशेष न कहकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उत्कल देश 'अन्तर्वेदी' या 'पुरुषोत्तम-क्षेत्र' के नामसे अनादिकालसे प्रसिद्ध है। इस प्रबन्धमें यद्यपि पुरुषोत्तम-क्षेत्रके माहात्म्य तथा कीर्तिका वर्णन करना हमारा अभिप्राय नहीं है, तो भी प्रसङ्गवश सामान्य आलोचना न करनेसे भूमिका पूर्णाङ्ग न होगी। महर्षि कपिल-रचित 'कपिलसंहिता' मे इस क्षेत्रको समस्त क्षेत्रोंका राजा (श्रेष्ठ) बताया गया है। दक्षिण महोदधिके निकटस्थ इस पवित्रतम क्षेत्रराज उत्कल देशमें अनेकों भक्तोंका समागम शताब्दियोंसे होता रहा है तथा धर्मभावके प्रतीकस्वरूप मत-मतान्तरोंद्वारा प्रतिष्ठित केन्द्रोंसे धर्मका प्रचार भी होता रहा है। इसके मूक साक्षिस्वरूप पवित्रतम गोवर्द्धनपीठ, रामानुज-कोट, चैतन्यगम्भीरा, कबीरगादी और नानकमठ प्रभृति है। इन प्रभावशाली प्रवर्तकों तथा धर्म-गुरुओंका प्रचारकेन्द्र रहनेपर भी उत्कलीय धर्मकी स्वतन्त्र धारा इस देशमें रही है, यही लक्ष्य करनेकी बात है। यही उत्कलीय भक्तोंके चिन्तनका

उत्कर्ष है। अब भारतीय पवित्र धर्म-प्रवाहमें उत्कलीय सतोंके अवदानकी संक्षिप्तभावसे आलोचना करना समीचीन होगा।

दुर्गा-माधव-उपासना—दुर्गा समग्र भारतकी शक्तिरूपिणी हैं। नाना रूपोंसे तथा पद्धतियोंसे दुर्गाजीकी उपासना समग्र भारतमें अनादिकालसे प्रचलित है। किंतु उसी दुर्गा-पूजाकी परम्पराके बीच उत्कल देशने एक अभिनव पद्धतिकी सृष्टि की है; वह है—दुर्गाजीके साथ माधवजीकी पूजा या उपासना। वनदुर्गाजीके विग्रहके साथ नीलमाधव या जगन्नाथजीकी उपासना भारतीय धर्म-जगत्में एक विलक्षण अवदान है। दुर्गाजी भारतके शाक्त-जगत्की सर्वश्रेष्ठ उपास्या हैं और श्रीजगन्नाथजी समस्त वैष्णवोंके उपास्य श्रीनारायणस्वरूप हैं। दुर्गाजीके साथ पुरुषरूपमें जगन्नाथजीकी पूजा तत्त्वदृष्टिसे अत्यन्त दुरूह है, किंतु ऐतिहासिक परम्पराके मध्य यह पूजा-पद्धति जगन्नाथ-धर्मका एक प्रधान अङ्ग है। लिङ्गपुराण तथा देवीपुराणमें चौसठ शक्तिपीठोंके विषयमें उल्लेख है तथा शक्तिके अङ्गपातको लेकर विभिन्न देशोंमें जो शक्तिपीठोंका नामकरण हुआ है, उसके अनुसार पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें ऊरुपात होनेसे यहाँ 'विमला देवी' तथा 'जगन्नाथजी' भैरवरूपसे प्रतिष्ठित हुए। विमलाजीके साथ जगन्नाथजीके सम्बन्धका कालिकापुराणमे भी उल्लेख है। इस सम्बन्धका कारण यह है कि उत्कल सर्वदा तान्त्रिक भूमि रहा है, यहाँ तान्त्रिक शबर-समूह निवास करते थे। इसीलिये बौधायन-स्मृति (१।३१-३४)में उत्कलको निषाददेश मानकर तीर्थ-यात्राके लिये अपवित्र बताया गया है। अस्तु, उन्हीं शबरोंके राजा 'गाल' यहाँकी शक्ति विमलाजीको वर्तमान जगन्नाथ-मन्दिरस्थित स्थानमें रखकर उनकी पूजा किया करते थे। आगे चलकर उन्हींके वशज विश्वावसुने भासमान तथा अपौरुषेय दारुब्रह्मको पाकर 'मार्येध' नामसे उनकी पूजा की। उसी अपौरुषेय दारुको ब्रह्म जानकर 'आयदय' या 'इन्द्रद्युम्न' ने उसे प्राप्त करनेके लिये अनेकों चेष्टाएँ कीं। अन्तमें इन्द्रद्युम्न और विश्वावसुका मिलन हुआ। इन्द्रद्युम्न और विश्वावसुके मिलनके प्रतीक-स्वरूप जगन्नाथ-धर्मकी प्रतिष्ठा हुई। संधिमें दोनोंका अस्तित्व रहा। मूर्तिके ऊपर शबरजातिका पूर्ण अधिकार स्वीकृत हुआ। केवल मूर्तिकी पूजा-पद्धति आर्योंके मतानुसार स्वीकृत हुई। तभीसे विमला तथा जगन्नाथजीकी मिश्रित पूजा उत्कल प्रान्तमें चली। विमला भैरवीरूपमें पुनः समस्त अधिकारसहित पूजित हुईं। तभीसे आश्विन मासमें विमलाजीके साथ जगन्नाथजीकी पूजा होती है। यह पूजा समस्त उत्कलमें व्याप्त है एव समस्त माङ्गलिक कार्योंमें सर्वप्रथम दुर्गा-माधवजीकी पूजा उत्कल देशमें प्रचलित है। यह ऐतिहासिक अवदान धर्म-जगत्में जैसे नूतन है, वैसे ही रहस्यात्मक भी है। यह अभिनव धर्म राजर्षि इन्द्रद्युम्न तथा शबरराज महात्मा विश्वावसुजीके मिलनसे प्रादुर्भूत है। साम्य नैत्यपीठके सर्व-धर्म-समन्वयमूलक धर्मभावकी प्रतीकरूप इस घटनाका प्राचीन प्रस्तर-चित्र १००० वर्ष पूर्वसे जगन्नाथ-मन्दिरके भोगमण्डपमें तथा कोणार्क-मन्दिरमें उत्कीर्ण है। इस दुर्गा-माधवजीकी पूजाका चित्र इसके साथ है। यह उत्कलीय भक्तोंका सर्वप्रथम अवदान है।

तदुपरान्त तान्त्रिकोंके साथ जैनाचार्योंने प्राचीतटमें योग दिया। मुद्गलनामक एक महात्मा वहाँ पूर्वोक्त माधवजीकी उपासना करते थे। माधवोपासना कुछ दिनोंतक अत्यन्त प्रबलरूपसे प्राची-सरस्वतीकी तटवर्तिनी भूमिमें चली। उसके बाद ललितमाधव, मुद्गलमाधव, नीआलीमाधव आदिकी स्थापनाके पश्चात् वहाँ जिनचन्द्र प्रभृति जैनाचार्योंने प्रवेश किया। उन्होंने माधवजीको जिनासन कहकर जैनधर्मके अनुसार पूजा की। इसलिये विशाल जैनसभा माहेन्द्रपर्वत तथा प्राचीके तटपर हुई। वही स्थान कोटिशिला नामसे प्रसिद्ध हुआ तथा वहाँ जिनासनविग्रह नामसे जगन्नाथ प्रतिष्ठित हुए। जगन्नाथजीकी मौलिक माधवमूर्ति जैनोंकी कालिङ्गजिन मूर्तिमें परिणत हो गयी। इस जिनासन-मूर्तिको, जो १११ वर्ष मगधमें रही, महामेघवाहन खारवेल मगधसे यहाँ लाये तथा मिट्टीमें दबे हुए जिनासन-भवनका संस्कार किया। यह उत्कलीय जैनाचार्योंका अत्यन्त गौरवमय अवदान है। यह रहस्य कुछ पण्डितवर्ग व्यक्त करते हैं, यद्यपि यह सिद्धान्त ऐतिहासिक प्रमाणरूपसे अभीतक स्वीकृत नहीं है।

उत्कलने तन्त्रको सर्वदा श्रेष्ठ माना है। शुद्ध सौगतवादके प्रचारकी दृष्टिसे उत्कलके पद्मसम्भव तथा इन्द्रभूति आदिके द्वारा सुदूर भोट देशमें धर्मप्रचार किये जानेकी बात लिखी मिलती है। इसी समय उत्कलके काह्नप्प, शबरीप्पा, मीनप्पा और कृष्णाचारी प्रभृति बहुत-से सतोंने कटक जिलेकी बडाम्बा सिद्धगुफाको केन्द्र बनाकर उत्कलमें प्रसिद्ध सरलयोग मार्गका प्रचार किया था। सरलरूपसे योगतत्त्वका प्रचार करनेके लिये उन्होंने जो धार्मिक उद्यम किया था तथा जो मतवाद 'बोधगान दुहा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें प्रकाशित है, वही उत्कलका परम्परागत सदाचार है। उसका तत्त्व यह है कि ससारकी समस्त माया-ममताके बीच अपने कर्तव्यका पालन करते हुए सदाचारके द्वारा यौगिक बुद्धिको प्राप्त करना तथा उसके द्वारा गहन अवस्थाका लाभ करना ही धर्म है। यह मतवाद प्राचीनकालसे ही उत्कलके मौलिक धर्मरूपमें चला आता है। बहुत-से सत-महात्माओंने इसी मतवादका प्रचार करके उत्कलके धर्मचिन्तनमें विशिष्टताका प्रतिपादन किया है। इस पारम्परिक धर्मके प्रथम प्रवर्तक सिद्धराज शबरीप्पा, काह्नप्पा और हाड़िप्पा हैं; तदुपरान्त पुनः धार्मिक चिन्तनमें परिवर्तन हुआ है अग्निहोत्री ययातिजीके द्वारा। बौद्धयुगमें नाना कारणोंसे जगन्नाथजीकी पूजा शृङ्खलितरूपमें नहीं रही। नाना मत-मतान्तरोंके बीच जगन्नाथजी शोणपुरनामक स्थानमें थे। इसी समय महाभवगुप्त ययातिजीका राजत्व आरम्भ होता है। उन्होंने याजपुरमें सोमयागादि चार महायाग किये तथा जगन्नाथजीकी पुनः प्रतिष्ठा की। इतना ही नहीं, पुण्यात्मा ययातिने जगन्नाथजीके मन्दिरमें अग्निपूजाका विधान उसी दिनसे जारी कर दिया। साथ ही यह नियम भी बना दिया कि उसी पवित्र यज्ञाग्निमें श्रीजगन्नाथजीका नैवेद्य पक्क होगा तथा नित्य सर्वप्रथम अग्निपूजा एवं सूर्यपूजा होगी। उसी दिनसे यज्ञाग्निमें ही जगन्नाथ-जीके मन्दिरमें नित्य हवन किया जाता है। इस अग्निपूजाको ययातिने अत्यन्त निष्ठाके साथ प्रचारित किया, जिसके फलस्वरूप समग्र उत्कलमें असख्य यज्ञ अनुष्ठित हुए। प्राची, ऋषिकुल्या, वैतरणी, चित्रोत्पला तथा महानदीकी तटभूमिमें प्रतिवर्ष यज्ञ होने लगे। दो सौ वर्षतक यज्ञ ही उपासनाका एकमात्र मार्ग रहा। यह प्रचार उपतकेसरी महात्मा ययाति, वसुकल्पकेसरी प्रभृति राजाओंने किया। ययातिने बहुत-से अग्निहोत्री ब्राह्मणों-को कान्यकुब्जसे बुलाया और उनको समस्त देशमें यज्ञ-पूजाके निमित्त रखा। यह पूजा पड़ोसी राज्योंमें भी फैली। यज्ञनगर नामक एक स्थान उत्कलमें प्रतिष्ठित हुआ। याजपुरका शुभस्तम्भ इसी आध्यात्मिक अवदानका मूक साक्षी है। महात्मा ययातिके अनुग्रहसे मूल जगन्नाथ-मन्दिरका पाक यज्ञाग्निमें ही सम्पन्न होता है। उस पवित्र यज्ञाग्निकी सतर्कतासे रक्षा की जाती है। ययातिने उत्कल तथा अन्यान्य प्रान्तोंमें भी 'अग्निपूजा मोक्षका एकमात्र साधन है' यह बात केवल कही ही नहीं बल्कि अपने आचरणसे भी सिद्ध की। ययाति तथा पादपद्माचार्यजीकी प्रेरणासे अनेकों प्रचारक अग्नि-धारण करके समग्र उत्कलमें प्रचार करते रहे। वे सब 'भट्ट' नामसे उत्कलमें परिचित हैं। अग्न्युपासक ययातिके समयमें प्रतिवर्ष माघपूर्णिमाको 'अग्न्युत्सव' नामक एक उत्सव समग्र देशमें अनुष्ठित होता था। अब भी उस दिन उत्कलमें अग्न्युत्सव होता है। उक्त मार्गके प्रवर्तकोंमें परमभट्टारक सिंहनादका नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। उक्त मतवादके उपरान्त जगन्नाथजीका भी यज्ञावताररूपमें प्रचार हुआ।

उसी प्रचारका अवलम्बन करके एक पारम्परिक चित्रके द्वारा यज्ञस्वरूप जगन्नाथजीका लक्ष्य कराया गया है। इस प्रकार उत्कलीय भक्तोंकी भावना जगन्नाथजीको केन्द्र बनाकर तेरहवीं शताब्दीपर्यन्त चलती रही। इसके बाद गौरवादके श्रेष्ठ प्रचारक निरञ्जन और लाङ्गुलानरसिंह आदिने सौरधर्मका विशेषतया प्रचार किया तथा कोणार्कका जगद्विख्यात सूर्यमन्दिर उसी समय बना। किंतु जगन्नाथजीके सामने वह सिर न रह सका। इसके बाद १६ वीं शताब्दीमें उत्कलीय भक्तोंमें

प्रवल प्रेमोन्माद जाग्रत् हुआ। इस शताब्दीको उत्कलीय भक्त-भावनाओंका 'सुवर्णयुग' कहा जा सकता है, कारण उत्कलीय भक्तोंकी भावनाओंका पूर्ण विकास इसी समय हुआ। षोडशशताब्दीके मध्यभागमें श्रीचैतन्य उत्कलमें आये। उनके आनेके समय उत्कलमें ज्ञानचर्चा अतिप्रवलभावसे जाग्रत् थी। योगिश्रेष्ठ अच्युतानन्द, मत्तभक्त वलरामदास, अतिवडी जगन्नाथदास, शिशु अनन्तदास और महात्मा यशोवन्तदास उस समय अपने ज्ञानमिश्रित भक्तिभावकी चर्चा चला रहे थे।

अच्युतानन्दजीकी विचारधाराका रूप यह था कि यह शरीर मुख्य है; जो इस शरीरमे न हो सका, वह परजन्ममें भी न होगा। परात्पर भगवान्का उत्स इसी देहमें पञ्चव्योमके ऊपर जल-ज्योतिके रूपमें विराजित है, अतः इसी शरीरमें अद्वयतारकसे तारकब्रह्मका दर्शन करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष योग-मार्गसे अत्यन्त सहज है, केवल भ्रू-मध्यस्थित भ्रमर-गुफामें उस ज्योतिके देखनेसे मनुष्य अमृतत्वको प्राप्त करता है, चिरतृप्ति उसकी सहचरी हो जाती है।

> एहि जन्म एहि देहे भोग नुहे परापर काळ भेद।
> चिदाकाशु पराकाश भेदि रहि गोळाहाटर शबद॥
> ऊर्मिज्योति धूम्र परे पुणि ज्वाळा तेज तहिं प्रकाशई।
> भ्रुकुटि मध्यरे बिलपथे जाइ भ्रमर गुफ भेटई॥
> भ्रमरगुम्फारे वइंदिवाद्युदिज्योति कले दरशन।
> इह काळ परकाळ ज्ञान नाश जाए अणाकार धरे मन॥
> धरे अणाकार रूप कु देखिले मिळई सुआद तहिं।
> सुआद चाखिले छाडि न हुअई ठिके अच्युत कहई॥

वलराम और जगन्नाथदासजीके मतानुसार यह पुरुषोत्तम-क्षेत्र ही नित्य गोलोक है। पुरुषोत्तम-क्षेत्रके अतिरिक्त कोई और पवित्र भूमि नहीं है। पुरुषोत्तमको छोड़कर अन्य कोई यौगिक देवता भी नहीं है। यह जगन्नाथ-मूर्ति यन्त्र-मूर्ति, अणाकार तत्त्व, निराकार रूप है; इनका अनुग्रह ही मोक्ष है। जगन्नाथजी अवतारी हैं। उनका सतोषविधायक महामन्त्र 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे' है।

शिशु अनन्त और यशोवन्तजीके मतमें—जगन्नाथजी अमानव पुरुष यौगिक मूर्ति हैं। शरीरमें उनका रूपदर्शन करनेसे मोक्ष होता है। नादानुसंधान वा शिशुवेदकी चर्चाके बिना यन्त्र-मन्त्रादिकी साधनाओंसे कोई फल नहीं होता।

यही पञ्चसखा-मार्गका मुख्य विचार है। वे सब स्वदेह अथवा इसी शरीरमें मुक्त होनेकी बातको ऐसे दृढ़भावसे उपस्थापित करते हैं कि विश्वके प्रतीकस्वरूप प्रणवको भी भिन्न रूपसे लिखते हैं। इसी शरीरमें ब्रह्मकी स्थिति स्वीकार करनेसे 'नाद-विन्दु'-रूपक दोनों चिह्नोंको बाहर निकालना नहीं चाहते। फिर अकार, उकार और मकाररूप वर्णात्मक आकारको भी अक्षुण्ण रखकर प्रणव-तत्त्वका प्रकाश करते हैं। उनके मतमें प्रणव-स्वरूप इस प्रकार है—

शिशु अनन्तने अपने शिशुवेदमें इस प्रणवको मनुष्य-गर्भस्थित शिशुसे आरम्भकर मोक्षतक वर्णन किया है तथा प्रत्येक अवस्थाका स्मारक माना है। इस प्रकार नाना भेदोंसे धर्मतत्त्वकी आलोचना करके षोडश शताब्दीसे आजतक उत्कलमें एक बलवान् सतमतका प्रचार करनेवाले अनेकों संत हुए हैं। इतना ही नहीं, श्रीचैतन्य भी उक्त मार्गसे बहुत प्रभावित हुए हैं तथा उन्होंने भी जगन्नाथदासजीको 'अतिवडी' कहकर स्वीकार किया है। इसीके साथ-साथ पञ्चसखाओंने चैतन्य-मतवादको कैसा समझा है, यह उनके षड्भुज चैतन्यकी कल्पनासे ही ज्ञात होता है। श्रीजीव-गोस्वामी-विरचित 'सुधात्रय' ग्रन्थसे ज्ञात होता है कि

पञ्चसखा तथा उत्कलवासी अतिवडी जगन्नाथदासजीको अष्टभुज और चैतन्यदेवको षड्भुज रूपमें ग्रहण करते हैं।

उत्कलमें तत्त्वमय चैतन्य-मूर्तिकी उपासना की जाती है। इस मूर्तिका रहस्य यह है कि 'हरे राम कृष्ण' सन्यासीका एकमात्र अवलम्बन है। 'हरे राम' का स्मारक ऊर्ध्व हस्तद्वय, मध्य हस्तद्वय कृष्णतत्त्वका स्मारक तथा निम्न हस्तद्वय संन्यास या यौगिक न्यासका प्रतीक है। इस प्रकार ज्ञानमिश्रित भक्ति उत्कलमें प्रतिष्ठित तथा अभिमत है, यह अनेकों ग्रन्थोंसे प्रमाणित है।

इसके बाद विश्वम्भरदासजीसे लेकर—जिन्होंने अपने दृढ़ भक्तिभावके उपाख्यानमें भगवान्‌को आत्मीय मानकर इसी शरीरमें वायव्य शरीरका सम्बन्धलाभ करनेकी बात कही है—कृष्ण महापात्र, दाढ़िया बाउरी प्रभृति २४ विशिष्ट भक्तोंने 'दृढ़भक्तिसे ईश्वरशक्ति मनुष्यके आयत्त हो सकती है', इसका जोरदार शब्दोंमें प्रतिपादन किया है। इस विषयमें अनेकों वस्तुएँ प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से तान्त्रिक आचार्योंने तान्त्रिक साधनोंद्वारा सिद्धि-लाभ करके दूसरोंको भी करवायी है।

उत्कलमें तन्त्र-साधना—तन्त्र भारतका अन्यतम साधन है। विभिन्न तान्त्रिक साधनोंसे सिद्धिलाभ करनेके लिये तन्त्राचार्य पद्मसम्भव, नितेई धोबिन, पितेई गउरिणी, राहुल प्रभृति भक्तोंने तन्त्र-साधनाकी पराकाष्ठा दिखायी है। हीरापुर, हरीपुर, चउरासी प्रभृति केन्द्रोंमें तान्त्रिक साधनाका मार्ग विधिवद्धभावसे प्रचारित होता था। उत्कलके तान्त्रिक भक्तोंने ऐसी साधना की, जिससे तन्त्रका प्रचार क्रमशः अन्यान्य देशोंमें भी फैल गया। जगन्नाथ-मन्दिरके सदृश परम वैष्णव-पीठमें विमलाजीकी स्थिति ही इसका प्रमाण है।

स्थूलतः उत्कलका धर्म सर्वदा त्यागमूलक ही रहा है। वर्तमानकालके महिमा धर्म, अलेख धर्म आदि सभी धर्म उत्कलीय अणाकार धर्मके अनुवर्ती हैं। उत्कल सर्वदा निराकारवादका उपासक रहा है। उसके मुख्य देवता जगन्नाथजी भी भगवान् रूप उत्कलका अमृतमय प्रतीक है। वही शून्यरूपी ज्योतिर्मय तत्त्व जगत्‌का मङ्गल करे—यही उत्कलकी श्रेष्ठ प्रार्थना है—

अणाकार रूप निर मध्ये तेज
ज्योति दरशन पङ्कज भेद ।
त्रिवेणी रू सुधा उछाइ लागि
से पथ जाणिले जीव ब्रह्म जागि ॥

चराचर भूतमात्रमें भगवान्‌को प्रणाम करो

योगीश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

'राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट है। यों समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है।'

मैथिल-सम्प्रदायमें विष्णुभक्ति

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी झा)

मिथिला उस आदि सनातन वैदिक भूखण्डका नाम है, जिसकी चर्चा वैदिक वाङ्मयके शतपथ, जैमिनीय आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों तथा रामायण-महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थोंमें भरी पड़ी है। वेदमें विशेषतया 'विदेह' शब्दसे ही इस देशकी प्रसिद्धि है—'इमे विदेहा' (बृ० उ० ४। ३। ४), 'सोऽहं विदेहान् ददामि' (बृ० उ० ४। ४। २३) इत्यादि। विदेहका पर्यायवाची 'मिथिला' शब्द विशेषतया नगरवाचक होते हुए भी सामान्यतया देशवाची है, जैसा कि 'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः' (या० स्मृ० १)—इस स्मृतिवाक्यमें प्रसिद्ध है। 'विदेह'शब्दके देशवाचक तथा 'मिथिला' शब्दके विशेषतया नगरवाचक होनेके कारण ही परमभागवत विप्रवर श्रुतदेवके उपाख्यानमें श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके 'स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी' इस वाक्यमें मिथिलाके अधिकरणरूपमें 'विदेह' शब्दका प्रयोग किया गया है। इस देशके बीजीपुरुष राजर्षि निमिके पुत्र सम्राट् मिथिलके द्वारा निर्मित होनेके कारण इस देशका नाम 'मिथिला' पड़ा।

इसके उत्तरमें हिमालय तथा दक्षिणमें गङ्गा, पश्चिममें गण्डकी एवं पूर्वमें कौशिकी नदियाँ इसकी सीमाका विभाजन करती हैं। इसका विस्तार पूर्वसे पश्चिमतक ९६ तथा उत्तरसे दक्षिणतक ६४ कोस है।* इसके मध्यमें गङ्गा, नारायणी, कौशिकी, लक्ष्मणा, त्रियुगा तथा कमला आदि पवित्र नदियाँ इसकी स्वभावसिद्ध पावनताको और भी पावनतम बनाती हैं।

इस देशकी यह अतुलनीय विशेषता रही है कि यहाँके समस्त क्षत्रियनरेश ब्रह्मज्ञानसम्पन्न होते तथा देह रहते 'विदेह' कहलाते थे। गृहस्थाश्रममें रहकर भी वे परमभागवत तथा गीतोक्त कर्म, ज्ञान एवं भक्तियोगके परम मर्मज्ञ तथा तदनुकूल आचरण करनेवाले थे—

एते वै मैथिलाः सर्वे ब्रह्मविद्याविशारदाः।
(भा० १० स्क०)

तत्त्वज्ञो जनको राजा इति लोकेषु गीयते।
(म० शा० राजधर्म)

यह सौभाग्य भी इसी भूमिको प्राप्त है कि यहाँकी भूमिसे साक्षाज्जगज्जननी जानकी प्रकट होती हैं। परम ज्ञानकी दृष्टिसे इस देशको सर्वमूर्धन्य कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सर्वोच्च ज्ञानके परमादर्श बृहदारण्यक उपनिषद्-जैसे सद्ग्रन्थका प्रवचन यहीं, जनक-याज्ञवल्क्यकी सभामें हुआ था। मैत्रेयी-कात्यायनी आदि प्राचीन एव लखिमा, सरस्वती आदि अर्वाचीन ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न नारियाँ यहींकी पावन रजमें प्रकट हुई थीं। विद्याकी दृष्टिसे प्राचीनकालसे अद्यावधि यह पावन प्रदेश सर्वमूर्धन्य रहा है। प्राचीन न्यायके परमाचार्य महर्षि गोतम तथा नव्यन्यायके आद्याचार्य गङ्गेश यहींकी विभूतियाँ थे। दार्शनिक जगत्के देदीप्यमान रत्न षड्दर्शनोंके टीकाकार वाचस्पति, प्रसिद्ध शास्त्रार्थी मण्डन तथा पक्षधर यहींके आलोक थे। संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वानोंकी संख्या आज भी यहाँ अपेक्षाकृत बढ़ी-चढ़ी है। गाँव-गाँवमें संस्कृत-पाठशालाएँ यहाँकी संस्कृत-विद्यानुरागिताकी द्योतक हैं।

इस देशमें निवास करनेवाले सभी मैथिल होते हुए भी विशेषतया ब्राह्मणवर्ग ही आज मैथिल कहलाता है। इस प्रकार 'मैथिल' शब्द आज मैथिल ब्राह्मणमें योगारूढ हो चुका है। वैष्णवोंके चार मुख्य सम्प्रदायोंकी तरह मैथिल-सम्प्रदाय भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। ब्राह्मणोंके पञ्चगौड़ात्मक विभागमें भी मैथिलोंका एक अन्यतम स्थान है।

इस मैथिल-सम्प्रदायके कर्मकाण्ड, सदाचार तथा उपासनाकी प्रणाली वेदमूलक होते हुए भी कई विशेषताओं एवं विभिन्नताओंके कारण स्वतन्त्र है। यहाँके लोग न केवल शाक्त हैं, न शैव हैं, न किसी एक सम्प्रदायके वैष्णव होते हैं; बल्कि स्मार्त होते हुए भी उन्हें विष्णुप्रधान स्मार्तवाद ही यहाँके परमादर्शरूपेण ग्राह्य है। घर-घर तुलसी तथा श्रीशालिग्रामकी पूजा यहाँकी महती विशेषता है। यहाँके प्रत्येक ब्राह्मणके घरमें श्रीशालिग्रामकी पूजा नित्य नियमतः होती थी और

---

* गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्।
विस्तारः षोडश प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन ॥ १ ॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंशद् व्यायामः परिकीर्तितः ॥ २ ॥
(बृहद्विष्णुपु० मिथिलामा०)

अब भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। यहाँके प्रत्येक कर्म-काण्डमें विष्णुस्मरणका ही विधान है।

मिथिलाके परमाचार्य विदेहराज जनकके ज्ञानगुरु महर्षि याज्ञवल्क्यने अपनी संहितामें भगवान् विष्णुको ही मोक्षप्रद सर्वोच्च तत्त्व मानकर उन्हींकी उपासनाको परम कर्तव्य बतलाया है। इतना ही नहीं, द्विजमात्रके परमाराध्य गायत्री-मन्त्रकी व्याख्या करते हुए उन्होंने गायत्रीका प्रतिपाद्य भगवान् विष्णुको ही माना है। जैसे—

विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च विष्णुर्देवो दिवाकरः।
तस्मात् पूज्यतमं नान्यमहं मन्ये जनार्दनात्॥
दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
अर्चितं स्याज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम्॥
यं हि व्रतानां वेदानां यमस्य नियमस्य च।
ओंकारं यज्ञतपसां ध्यायिनं ध्येयमेव च॥
ध्यायेन्नारायणं देवं नित्यं स्नानादि कर्मसु।
प्रायश्चित्त्यपि सर्वस्माद् दुष्कृतान्मुच्यते पुमान्॥
प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः॥
स एव भगवान् विष्णुर्वेदान्तैरुपगीयते।
ईश्वरं पुरुषाख्यं तु सत्यधर्माणमच्युतम्॥
भर्गाख्यं विष्णुसंज्ञं तु यं ज्ञात्वामृतमश्नुते।

(बृहद् योगियाज्ञवल्क्यसंहिता ७।१८, १७, ३२—३४; ९।२२—२३)

'भगवान् विष्णु ही ब्रह्मा, रुद्र तथा सूर्य हैं; उन जनार्दन भगवान् विष्णुसे बढ़कर मैं किसीको पूज्य नहीं मानता। जो कोई उन भगवान् विष्णुको पुरुषसूक्तके द्वारा जल अथवा पुष्प समर्पण करता है, उसके द्वारा यह समस्त चराचर जगत् पूजित हो जाता है। स्नान आदि समस्त शुभ कर्मोंमें उन्हीं भगवान् विष्णुका ध्यान करना चाहिये; क्योंकि वे ही सम्पूर्ण व्रतों, यमों, नियमों, यज्ञों तथा समस्त तपस्याओंके फलभोक्ता तथ (प्राणिमात्रके) ध्येय हैं। उनके ध्यानसे महान् पापी भी समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। यज्ञ आदि शुभ कर्मोंमें (मानव-सुलभ) प्रमादसे होनेवाली त्रुटियाँ भी उन भगवान् विष्णुके स्मरणमात्रसे दूर हो जाती हैं और समग्र कर्म साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हो जाता है—ऐसा श्रुति-वाक्य है। सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्योंके प्रतिपाद्य तथा गायत्री-घटक 'भर्ग' शब्दके वाच्य भी वे ही सत्यस्वरूप परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं, जो कभी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते। उनको ही जानकर, उन्हींकी अनन्य शरणागतिके द्वारा मनुष्य मोक्षपदको पाता है।'

इसी प्रकार महर्षि गोतमने भी, जो मिथिलाके ही परमाचार्य थे, अपनी वृद्धगौतमस्मृतिके २२ वें अध्यायमें विस्तार-पूर्वक भगवान् विष्णुकी भक्तिका वर्णन करके युधिष्ठिरके प्रति भगवान्‌के वाक्यका अनुवाद करते हुए कहा है—

रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः।
ब्रह्मा ममाश्रितो राजन् नाहं किंचिदुपाश्रितः॥
ममाश्रयो न किंचित् तु सर्वेषामाश्रयोऽस्म्यहम्।

(२८-२९)

'सभी देवता रुद्रके आश्रित हैं। रुद्र ब्रह्माके आश्रित हैं और ब्रह्मा मेरे आश्रित हैं; परंतु राजन्! मैं किसीके आश्रित नहीं हूँ। मेरा कोई आश्रय नहीं है, बल्कि मैं ही सबका आश्रय हूँ।'

इस प्रकार उन्होंने भी भगवान् विष्णुको ही मोक्षप्रद सर्वातिशायी देवताके रूपमें मानकर उनकी ही उपासनाका विधान किया है। इस तरह याज्ञवल्क्य तथा गोतमके अनुयायी समस्त मैथिल-सम्प्रदाय उपर्युक्त प्रकारसे स्मार्त होते हुए भी मोक्षप्रद देवताके रूपमें भगवान् विष्णुकी उपासना करते हैं और यही प्रथा आजतक मिथिलामें चली आ रही है। चाहे किसी भी देवताके भक्त क्यों न हों, मृत्युके समय यहाँके लोग तुलसी, गोपीचन्दन, गङ्गाकी मृत्तिका एवं गीताका ही आश्रय ग्रहण करते हैं, जो वैष्णव-धर्मके प्रधान चिह्न हैं। चाहे वे जीवनभर सप्तशतीका ही पाठ क्यों न करते हों, अन्त-समयमें गीता तथा गीता-गायक गोविन्दका ही स्मरण करते हैं। इससे यहाँकी वैष्णवता स्पष्ट है।

श्रीवाचस्पति मिश्र, श्रीरुद्रधरोपाध्याय तथा दत्तोपाध्याय आदि मिथिलाके प्रकाण्ड विद्वान् थे और वे यहाँके प्रधान आह्निक-कार माने जाते हैं। उन लोगोंके रचित आह्निकके अनुसार ही यहाँकी संस्कृति, सदाचार तथा समस्त व्यवहार नियमित हैं। उन लोगोंने भी अपने-अपने आह्निक-ग्रन्थमें भगवान् विष्णुकी ही उपासनाका विधान किया है। मिश्र महोदयने अपने 'द्वैतनिर्णय' नामक निबन्ध-ग्रन्थमे विष्णूपासनाको ही परम कर्तव्य बतलाया है। जैसे—

व्रतोपवासादिना ब्राह्मणैर्विष्णुरेवाराध्यः। 'सर्वधर्मान्‌ परित्यज्य' इति गीतावाक्यात्॥ (द्वैत निर्णय, पृ० ४५)

''व्रत-उपवास आदिके द्वारा ब्राह्मणोंको भगवान् विष्णुकी ही आराधना करनी चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि 'समस्त धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें चले आओ, मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा।''

उपर्युक्त मिथिलाके प्राचीन आर्षग्रन्थों एवं यहाँके परम्परागत प्राचीन व्यवहारोंको पक्षपातहीन होकर देखनेसे पावनभूमि मिथिला विष्णुभक्तिमें ही ओत-प्रोत दीखती है।

यद्यपि कुछ शताब्दी पूर्व पड़ोसी प्रदेश बंगाल तथा आसामके सम्पर्कसे यहाँ वाममार्गी शाक्तोंका प्रभाव कुछ अंशोंमें अवश्य पड़ा, तथापि वह मिथिलाका स्वाभाविक रूप नहीं है; उसे आगन्तुक ही मानना चाहिये। जनक-जानकी-याज्ञवल्क्यकी मिथिला तो विशुद्ध विष्णु-प्रधान पावन प्रदेश है।

विष्णुभक्तिमें भी यहाँ श्रीकृष्णभक्तिकी प्रधानता रही है, यह भी एक विलक्षण बात है। यहाँ होनेवाले संतोंमें अधिकांश वैष्णव संत ही हुए हैं और उनमें भी श्रीराधा-कृष्णके आराधक ही अधिक हुए हैं। उदाहरणके लिये मिथिलाके प्रसिद्ध संत विद्यापति, गोविन्ददास, गोविन्द ठाकुर, श्रीरोहिणीदत्त गोस्वामी, श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी, श्रीकमलादत्त गोस्वामी, मैयाराम झा आदि वैष्णव संत श्रीराधा-माधवके ही उपासक थे। मिथिलाके समस्त लोकगीत—तिरहुत, सोहर, मलार, बटगवनी, चौमासा, छमासा, बारहमासा आदि, जो विवाहादि माङ्गलिक अवसरों तथा अन्यान्य धार्मिक अवसरोंपर यहाँकी स्त्रियोंद्वारा गाये जाते हैं—वे सभी यहाँके आविर्भूत हुए उच्चकोटिके संतोंकी ही रचनाएँ हैं। इन गीतोंमें ९० प्रतिशत भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णसे ही सम्बद्ध हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इनमें भी अधिकांश गीत श्रीराधा-कृष्णके मधुरभाव, श्रीवृन्दावनधाम तथा श्रीगोपीजनोंकी प्रेमभक्तिसे ही सम्बन्धित हैं। यहाँ जनक-याज्ञवल्क्यके आदर्शका अधिक आदर होनेके कारण गृहस्थाश्रममें रहकर ही भजन करनेकी परिपाटी रही है। यही कारण है कि यहाँके उपर्युक्त तथा अन्यान्य संतोंने गृहस्थाश्रममें रहकर ही भगवान्का भजन किया और पद बनाये हैं। उपर्युक्त संतोंमें हमारे प्रातःस्मरणीय 'रसिकशेखर' कवि-कोकिल विद्यापति तथा उनकी रसमय पदावली आज प्रेमी-जगत्में प्रसिद्ध ही हैं। विद्यापतिके सम्बन्धमें आजतक विभिन्न प्रकारकी आलोचनाएँ लोगोंके द्वारा हुई हैं और आज भी होती हैं, जिनमें कुछ लोगोंने उनकी आलोचना करते हुए उनकी पदावली एवं उनकी आत्मिक भावनाके साथ बहुत बड़ा अत्याचार करके अपनी बहिर्मुखता तथा कामुकताका ही परिचय दिया है; क्योंकि जिस विद्यापति-पदावलीको पढकर प्रेमावतार महाप्रभु चैतन्य रोया करते थे, जिनके भक्ति-भावसे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उनकी दासता स्वीकार की थी, उन संत-शिरोमणिकी पदावलीमें लौकिक कामकी कल्पना करना अपनी मूर्खता तथा विषय-लोलुपताका ही परिचय देना है। अस्तु, यहाँ इस विषयमें अधिक लिखना अप्रासङ्गिक नहीं तो अनावश्यक अवश्य होगा; क्योंकि विद्यापतिकी आलोचना प्रस्तुत लेखका मुख्य विषय नहीं है। इस विषयमें अधिक जानकारीके लिये हमारे पूज्य गुरुदेव पं० श्रीभगीरथझाजी महाराजद्वारा निर्मित 'श्रीश्यामसुधानिधि' नामक मिथिलाभाषाके प्रेम-रसमय पद्यात्मक निबन्धकी विस्तृत भूमिका देखनी चाहिये, जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण विद्यापति-साहित्यकी, उपक्रम-उपसंहार आदिका विवेचन करते हुए, विद्वत्तापूर्ण आलोचना की है। सत्य तो यह है कि—

'…माधव बहुत मिनति करि तोय।
दय तुलसी तिल देह समर्पिनु दय जनि छाडबि मोय……।'
'माधव हम परिनाम निरासा।'
'देख देख राधा रूप अपार………।'
करु अभिलाष मनहि पद पंकज अहोनिस कोर अगोरि॥'

—इत्यादि पदोंके द्वारा उनकी हार्दिक भावना सर्वथा स्पष्ट है, जिसे देखते हुए किसी भी दूसरे प्रकारकी भावनाके लिये गुंजाइश नहीं रह जाती। ऐसा पद उन्होंने किसी भी दूसरे देवताके लिये नहीं कहा। ऐसी दशामें दूसरे प्रकारकी कल्पना करना उनके साथ अन्याय करना ही नहीं, महान् भगवदपराध भी है। विद्यापतिकी तरह यहाँ और भी अनेकों—गोविन्ददास, उमापति, रामदास, रमापति, मनबोध, नन्दीपति, लोचन, हर्षनाथ, चन्दा झा आदि परम विरक्त संत हो चुके हैं। ये सभी वैष्णव-संत श्रीराधा-कृष्णके आराधक एवं परम भावुक थे। इनकी रचनाओंका 'मिथिला-गीत-संग्रह' नामसे कई भागोंमें प्रकाशन भी हो चुका है; पर आवश्यकता इस बातकी है कि इन सभी संतोंके जीवन-चरित्र, काल, परम्परा, उपासना आदि विषयोंका गवेषणा-पूर्ण अध्ययन करके एक विस्तृत साहित्यका निर्माण किया जाय, जो मैथिल-साहित्यके लिये भी अपूर्व देन होगी। मैंने तो जहाँतक इन साहित्योंका अध्ययन किया है, मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि कोई समय यहाँ ऐसा था, जिसमें वैष्णव-संतों तथा श्रीराधा-माधवकी मधुर-भक्तिका महान् प्रचार था और इस मधुर परम्पराके मूल आधार विद्यापति थे; क्योंकि विद्यापतिसे अर्वाचीन सभी संतोंपर उनकी मधुर प्रेरणाका आभास प्रतीत होता है। अस्तु, जो कुछ भी हो, इतना तो सत्य है कि यहाँके स्वाभाविक प्राचीन व्यवहारों, आर्षग्रन्थों तथा यहाँके आह्निक-ग्रन्थोंको देखनेसे विष्णु-प्रधान स्मार्तवाद ही यहाँका मूल आदर्श प्रतीत होता है। 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'।

मिथिलामें श्रीकृष्ण-भक्ति

(लेखक—प्रो० श्रीजयमन्त मिश्र, एम्० ए०, व्याकरण-साहित्याचार्य)

साधारणतः लोगोंकी यह धारणा है कि मिथिला शक्ति-प्रधान स्थान होनेके कारण वहाँके लोग शाक्त ही होते हैं तथा तन्त्र-मन्त्र आदिके द्वारा ऐहलौकिक फल पाना ही उनका अभीष्ट होता है; किंतु सत्य बात कुछ दूसरी ही है। लौकिक फलप्राप्तिके लिये तन्त्र-मन्त्रका प्रयोग तो मिथिलामें ही क्यों, उन जगहोंमें भी पाया जाता है, जो वैष्णवोंके प्रसिद्ध स्थान माने जाते हैं। मिथिलामें आज भी प्रत्येक घरमें काली, दुर्गा आदि महाशक्तियोंके पूजनके साथ-साथ भगवान् विष्णुकी पूजा होती है। आज भी बहुत-से लोग 'यत् करोषि यदश्नासि······तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥' के अनुसार भगवदर्पण करनेके बाद ही स्वयं अन्नादि ग्रहण करते हैं।

मिथिलाका प्राचीन इतिहास इस बातका साक्षी है कि निमिसे लेकर बहुलाश्वपर्यन्त जनकवंशमें जितने महाराज हुए हैं, वे सभी गृहस्थ होकर भी आत्मविद्याविशारद एवं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रसादसे सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा विनिर्मुक्त हुए हैं। (देखिये श्रीमद्भागवत स्क० ९, अ० १३, १–२७) जनक-याज्ञवल्क्यके संवाद-रूपमें जो ब्रह्मविद्याका सूक्ष्म विवेचन मिथिलामें हुआ है, वह उपनिषद्के मर्मज्ञोंसे छिपा नहीं है। तभी तो महर्षि शुक-जैसे ब्रह्मज्ञानी भी आत्म-ज्ञानोपदेशके लिये जनकके यहाँ आते थे। जनककी आत्मविद्याकी देदीप्यमान ज्योति चारों ओर इस तरह फैल गयी थी कि ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु चारों ओरसे उनके पास दौड़े आते थे, जिसे देखकर काशिराजने भी 'जनको वै जनक इति जना धावन्ति' कहकर अपनी असहिष्णुताका परिचय दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि आरम्भमें मिथिला ब्रह्मविद्याकी केन्द्र-भूमि रही है।

श्रीकृष्ण-भक्तिकी उत्पत्ति आत्मज्ञानीके सरस मानसमें ही हुई है, यह निर्विवाद है। इसीलिये शंकराचार्य-जैसे ब्रह्मज्ञानी भी 'सच्चिन्मयो नीलिमा' के लिये ही अन्तमें बेचैन दीख पड़ते हैं। क्षराक्षरातीत भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें भक्तिका अरुणोदय अज्ञान-तिमिरको नाशकर क्षर-अक्षर ब्रह्मके ज्ञानके बाद ही तो होता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानके लिये अत्यन्त उर्वरा सिद्ध होनेवाली मिथिलाकी भूमिमें श्रीकृष्ण-भक्तिका जन्म स्वाभाविक ही है।

मिथिलामें जो भक्तोंकी प्राचीन परम्परा है, उसपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वहाँ श्रीकृष्ण-भक्तिकी धारा अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होती चली आ रही है। श्रीराधा-कृष्णके परम उपासक भक्त-शिरोमणि महाकवि विद्यापतिके सम्प्रदायमें अनेक संत-महात्मा मिथिलामें प्रादुर्भूत हुए हैं। यहाँ विद्यापतिकी मान्यताके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। कुछ लोगोंकी अब भी यह भ्रान्त धारणा है कि विद्यापति शैव थे न कि वैष्णव। विद्यापति-पदावलीमें वर्णित पद्य प्राकृत नायक-नायिकाकी ओर ही संकेत करते हैं, न कि अप्राकृत श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी ओर।' उन महानुभावोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि वे कृपया पदावलीके उपक्रम, उपसंहार एवं अभ्यास आदिवाले पद्योंपर ध्यान दें और पदावलीके तात्पर्यका निर्णय करें। पदावलीका उपक्रम निम्नलिखित पद्यसे होता है—

नन्दक नन्दन कदमक तरु तर धिरे धिरे मुरलि बजाव।
· · ··· बन्दह नन्द किसोर॥

इसका उपसंहार होता है अधोलिखित पद्योंमें—

'माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतय तोहर बिसवासा।
·· · · · · ··· ·
आदि अनादि नाथ कहाओसि अब तारन भार तोहारा॥
'माधव बहुत मिनति करि तोय।
दय तुलसी तिल देह समर्पिनु दया जनि छाड़बि मोय॥'

पदावलीके लगभग २१९ पद्योंमें १२१ पद्य तो परम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण तथा परमाह्लादिनी परमा रमा श्रीराधासे सम्बद्ध ही हैं। अवशिष्ट पद्योंको भी तन्मध्यपतित न्यायसे श्रीराधा-कृष्ण-युगलपरत्वेन ही लेना चाहिये। जब उपक्रमोपसंहार आदिसे श्रीकृष्ण युगल ही विद्यापतिके आराध्य होते हैं, तब उनको 'शैव' कहना कहाँतक उचित है—यह विज्ञ समालोचक ही समझ सकते हैं। वे तो श्रीकृष्णके मधुरभावके सच्चे उपासक थे। और इस भावके उपासकके गुरु तो भगवान् शंकर ही होते हैं। अतः विद्यापतिकी गुरुभक्ति भी स्वाभाविक ही है। बात सही तो यह है कि सच्चे भक्तके लिये सब बराबर ही होते हैं। इसीलिये भक्त-शिरोमणि विद्यापतिने भी कहा है—

भल हरि भल हर भल तुअ कला।

इसी परम्परामें गोविन्द-गीतावलीके रचयिता परम वैष्णव गोविन्ददास झा आते हैं। इनका भी विद्यापतिके सम्बन्धमें यही सिद्धान्त है। इनके अतिरिक्त रोहिणीदत्त गोस्वामी, लक्ष्मीनाथ गोस्वामी, कमलादत्त गोस्वामी आदिके पद्य तो श्रीकृष्णमय ही हैं।

मिथिलामें प्रचलित तिरहुत, मलार, बटगवनी, चौमासा,

छमासा, बारहमासा,
तो श्रीकृष्ण-भक्तिकी
गीतोंमें श्रीराधा-कृष्ण
मिथिलाके प्रत्येक घर
सुमधुर कण्ठोंसे गान

दक्षिण-भारतके संतोंकी भक्ति-भा

(लेखक—कवि योगी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

१—संत युद्ध-निवारण कर सकते हैं

भक्ति एक काया-पलट कर देनेवाली यौगिक शक्ति है। यह जीवनका हृदय-स्पन्दन है। राजनीतिक एवं भौगोलिक भारतवर्षपर चाहे जो कुछ भी बीते, आध्यात्मिक भारतकी शक्ति अजेय है। इसका कारण यह है कि हमारा देश योगका मूर्तिमान् स्वरूप है, यह भगवत्साक्षात्कार तथा सच्चिदानन्दका प्रतीक है। यह सम्पूर्ण विश्वका आध्यात्मिक गुरु है। भारतवर्ष योगशक्तिका स्रोत है। हम इसको 'भारत-शक्ति' कहते हैं; क्योंकि यह भारतवर्षके योगियोंका अनुपम आविष्कार है। जिसे हम भारत-शक्तिके नामसे पुकारते हैं, उस आध्यात्मिक शक्तिकी धारा कभी सूखी नहीं। आज भी भारत-शक्ति मायिक जगत्के भौतिक दर्पको चुनौती देती है। वैज्ञानिक बुद्धिवाद भगवान्के द्वारा आविर्भूत पञ्च-तत्त्वोंसे विलक्षण आविष्कार कर सकता है। तापमापक यन्त्र तापका मान बता सकता है, किंतु तापकी मात्राको बदल नहीं सकता। वायुदाब-मापक यन्त्र पहाड़ोंकी ऊँचाई बता सकता है, किंतु पहाड़ों-की ऊँचाईको न्यूनाधिक नहीं कर सकता। वैज्ञानिक रेडियो, टेलीविजन (चित्रप्रेषण) और अब 'बाल-चन्द्र'का आविष्कार कर सकते हैं। पर आकाशके वास्तविक चन्द्रमाके आगे यह बालचन्द्र क्या है ? राकेटके द्वारा ढकेला हुआ यह बाल-चन्द्र अपने ही शब्दको कुछ दिनोंतक अङ्कित कर सकता है तथा उतनी बार पृथ्वीकी परिक्रमा कर सकता है, जितनी इसकी शक्ति-से सम्भव होगा; किंतु एक दिन इसे नीचे गिरकर चूर-चूर होना ही है। वे वैज्ञानिक आणविक तथा उज्जन बमोंका बड़ा ढोल पीट रहे हैं। [illegible]

भी उत्तम केन्द्रिय वि
तथा विषाक्त कर दे
स्रोतमें परिवर्तित हो
भारतकी योग-शक्ति
है। शक्तिके दुर्ग-धा
अणुबम गिर पड़े त
प्राणित भस्मका ऐस
उससे निश्चय ही नष्ट
अव्यक्त शक्तिका
संचालन करती है।
खिलवाड़ कर रही है
सम्पत्तिको जोड़ने
इस छोटे-से भङ्गुर
एकत्र करनेमें एक

इन दयाके पा
संतोंका हृदय करुण
मानव-जीवनको प्राण
वासनाओं एवं क्रूर
खो रहे हैं। मानवके
दमन संतके स्पर्शसे
बाजी लगाकर मा
जरथुस्त्र, बुद्ध,
मध्व, नानक, चैत
अरविन्द, गांधी,
मानवताको नव-ज्यो

संतका हृदय एक-सा और निराला होता है। संतोंका जीवन भगवद्भक्तिका एक अनवरत प्रवाह है, सर्वशक्तिमान्‌की विशुद्ध करुणाके साथ निरन्तर आन्तरिक संयोग है। कबीर, मीराँ, तुलसीदास, रैदास, सूरदास, नानक तथा उत्तर-भारतके अन्य संतोंने प्राणोंको स्पन्दित करनेवाले अपने गीतों एवं योग तथा भक्तिमय जीवनसे भगवान्‌की आराधना की है। वे यथार्थमें भक्तियोगी थे, जिनके आविर्भावने भगवान्‌की सत्ता एवं शक्तिमत्ताको प्रमाणित कर दिया है। दक्षिण-भारतके संतोंने अपने जीवनको भगवान्‌का एक स्तवन बना दिया और अपने चमत्कारोंद्वारा मानव-जीवनके नाटकको भगवान्‌की सत्तासे अनुप्राणित सिद्ध कर दिया। तिरसठ शैव संत, बारह आळ्वार संत, आळवन्दार (यामुनाचार्य), रामानुज, पिळ्ळै लोकाचारियर, कूरत्ताळ्वार, नीलकण्ठ शिवाचार्य, सदाशिव ब्रह्म, तायुमानवर, अरुणगिरि, पट्टिणत्तार तथा बहुत-से अन्य आचार्य, जिनकी संख्या लगभग एक सौके हो जाती है—इस प्रकार कुल मिलाकर दक्षिण-भारतमें लगभग दो सौ ऐसे संतोंकी नक्षत्रमाला अपनी ज्योति बिखेर रही है, जिन्होंने मानवताको सनातन संदेश दिया है।

इनमेंसे सर्वाधिक लोकप्रिय नाम ये हैं—

१. संत वळ्ळुवर—इन्होंने जगत्‌को एक सार्वभौम धर्म-ग्रन्थ प्रदान किया, जिसे 'तिरुक्कुरळ' कहते हैं।

२. संत माणिक्यवाचकर—उनका तिरुवाचकम् प्राणोंको हिला देनेवाले भजनोंका संग्रह है। ये भजन प्रत्येक घरमें गाये जाते हैं।

३. संत वागीश—इनके सुमधुर भजनोंमें वैदिक ओज तथा काव्यगत सौन्दर्य भरा है। 'नमः शिवाय' मन्त्रपर मनको एकाग्र करके उन्होंने जीवनकी समस्त कठिन परीक्षाओंको सहा।

४. ज्ञानसम्बन्ध—इन्होंने तीन वर्षकी ही अवस्थामें ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा दैवी प्रेरणासे आत्माको ज्ञानका प्रकाश देनेवाले गीतोंकी झड़ी लगा दी। उनके भजनोंने चमत्कार कर दिखाये हैं।

५. सुन्दर—ये भगवान्‌को अपना अन्तरङ्ग सखा मानते थे। लौकिक कार्योंमें भी इन्हें दैवी सहायता मिलती थी।

६. संत नन्दनर—ये एक हरिजन संत थे, जिनके उत्कट भगवद्भावके कारण चिदम्बरम्‌में इनपर भगवत्कृपाकी वर्षा हुई थी। सभी भक्तगण तथा साधारण जनता भी इनका जीवन-चरित गाती है। गांधीजी इनके चरित्र एवं उपदेशोंका आदर करते थे।

७. संत कारैक्काल अम्मै—एक सती [illegible] इनकी गाढ़ भक्ति एवं हृदयद्रावी गीतोंके कारण भगवान्‌की प्रिय पात्रा बन गयी थीं।

८. संत तिरुमूलर—संसारके सबसे बड़े योगी। इन्होंने एक मन्त्रमाला नामक ग्रन्थ बनाया है जिसमें योगकी सभी पद्धतियोंके गुप्त रहस्योंका विवेचन किया गया है।

९. संत नक्कीरर—स्कन्दके भक्त और निर्भीक कवि, जिनकी वाणीसे राक्षसगण तथा दुष्ट शक्तियाँ काँपती थीं।

१०. संत मेयकंडार—इन्होंने 'शिवज्ञानबोधम्' नामक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें अपने सिद्धान्तका बारह सूत्रोंमें वर्णन किया है।

११. संत कम्बन्—तमिळ रामायणके लेखक। यह ग्रन्थ काव्य-कौशलका उत्कृष्ट उदाहरण है।

१२. संत विल्लि—तमिळ महाभारतके लेखक। उच्चकोटिके विद्वान् एवं सामान्य जनता—दोनों प्रकारके समाजमें ये अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

१३. संत नम्माळ्वार—सबसे बड़े वैष्णव संत, जिनके भजन सामवेदका सार हैं। ये एक इमली वृक्षके खोड़रमें वर्षोंतक समाधिस्थ रहे।

१४. संत आंडाळ—दक्षिण भारतकी मीरा, जिनके हृदयग्राही भजन सबकी जबानपर रहते हैं। इनकी 'तिरुप्पावै'को उल्लास और भक्तिसे भरकर सभी गाते हैं।

१५. संत नीलन्—आध्यात्मिक साम्यवादी, जिन्होंने उद्दण्ड धनवानोंकी सम्पत्ति लेकर दीन-दरिद्रोंमें बाँट दी।

१६. संत विप्रनारायण—भगवत्कृपासे ये एक वेश्याके फंदेसे बचे। ये अपनेको भगवद्भक्तोंका दास मानते थे तथा बड़ी उमंगसे उनकी सेवा करते थे। इनके गीत हृदयद्रावी हैं।

१७. संत कुळशेखर—श्रीरङ्गनाथ तथा [illegible] मन्दिरोंमें कीर्तन-सेवा करनेके लिये इन्होंने अपना [illegible] छोड़ दिया।

१८. संत पट्टिणत्तार—[illegible], जिन्होंने अतुल सम्पत्तिको त्यागकर जीवनको उन्नत करनेवाले भजनोंका गायन करनेमें अपनेको नियुक्त कर दिया।

१९. भद्रगिरि—[illegible] संत। इन्होंने अपने भिक्षा-पात्र एवं वस्त्रोंतकको त्याग दिया। [illegible] कुत्ता भी इनकी आसक्तिका पात्र नहीं बन सका।

२०. संत तायुमानवर—एक सच्चे [illegible] इनके

गीत उपनिषद् हैं। रानी मीनाक्षी इन संतको बहुत चाहती थीं। उन्होंने इनको अपना मन्त्री बनाना चाहा, किंतु इन्होंने अस्वीकार कर दिया। रानीके जालसे बचकर ये ध्यानमग्न रहने लगे तथा मानव-जातिके कल्याणके लिये इन्होंने हृदय-स्पर्शी भजनोंकी रचना की।

२१. संत अरुणगिरि—अपने यौवनकालके दुराचारोंसे इन्हें घृणा हो गयी। आत्महत्याके उद्देश्यसे ये एक ऊँची मीनारसे कूद पड़े। भगवान् स्कन्दने उनकी रक्षा की तथा उनमें कवित्व-शक्ति जाग्रत् कर दी। इन्होंने अपना सारा जीवन लोकसेवामें व्यतीत किया। इनकी 'तिरुप्पुगळ' नामक रचना दिव्य संगीत एवं काव्य-कलाकी निधि है।

२२. संत औवैयार—योगद्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाली एक प्राज्ञ महिला; ये गणपतिकी भक्त थीं तथा अद्भुत शक्तियोंसे सम्पन्न थीं। राजालोग भी इनकी पूजा करते थे।

२३. संत रामलिङ्गम्—इनकी 'अरुलपा' नामक रचना दिव्य भावोंकी स्रोतस्विनी है।

२४. आचार्य शंकर—संसारके अद्वैतवादके सबसे बड़े उपदेशक, जिन्होंने गद्य-पद्य दोनोंमें ज्ञानका समुद्र संसारके सामने बहा दिया है। पूर्व तथा पश्चिममें सभी ओर उनके अद्वैतवादकी प्रशंसा है। विवेकानन्द, रामतीर्थ और रमण महर्षिने इनके वेदान्तका बिगुल बजाया।

२५. आळवन्दार—गम्भीर वैदिक ज्ञानसम्पन्न एक महान् वैष्णव संत।

२६. आचार्य रामानुज—वैष्णव-दर्शनके जन्मदाता तथा श्रीभाष्यके लेखक। इनके अनुयायी स्वामी रामानन्दने उत्तर-भारतमें वैष्णवधर्मका प्रचार किया।

२७. आचार्य मध्व—द्वैतवादके प्रवर्तक। इनके द्वैतवादके तथा समर्पणके सिद्धान्तको चैतन्यदेवने अपनाया। महर्षि दयानन्दने भी इनके विचारोंका अनुसरण किया है।

२८. संत ज्ञानानन्द—एक अद्भुत अध्यात्म-साधक।

२९. संत पूर्णानन्द—एक प्रकाण्ड वैदिक विद्वान्। इनकी साधना थी वैदिक-मन्त्रोंका जप करना तथा ध्यान करना। अभिमन्त्रित विभूति देकर ये रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंको दूर कर दिया करते थे।

३०. संत सत्यार्क—शुकब्रह्मकी भाँति एक जन्मजात शुद्ध संत। ये वेदों तथा दर्शनशास्त्रके पारंगत विद्वान् थे तथा संसारकी कठिनाइयों एवं परीक्षाओंके उपरान्त भी इन्होंने अपना जीवन वेद-शास्त्रोंके अनुसार ही बिताया।

३१. संत रमण महर्षि—ये जीवनभर सहज समाधिमें स्थित रहे। ये दूर-दूरतक अपना आध्यात्मिक प्रभाव विकीर्ण किया करते थे।

३२. संत शेषाद्रि—आत्मामें सर्वथा डूबे हुए ये स्वाप्न प्रतिमाकी भाँति संसारमें विचरते थे।

[अन्तके पाँच संत मेरे घनिष्ठ मित्र तथा पथ-प्रदर्शक थे।]

(३)

३३. संत वेमना—आन्ध्रप्रदेशके ज्ञानी और पहुँचे हुए संत। इनके पदोंमें गम्भीर जागतिक एवं आन्तरिक अनुभव भरे हैं।

३४. संत पुरन्दर—शास्त्रीय पद्धतिके गायककलाकारोंमें इनके कीर्तन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

३५. संत रामदास—एक रामभक्त, जिन्होंने भद्राचलम्में राममन्दिर बनानेके लिये अपना सर्वस्व तथा हैदराबादके नवाबका कोष भी खर्च कर डाला। राज्यकी ओरसे ये बंदी बना लिये गये, किंतु चमत्कारोंद्वारा वे विपत्तियोंसे बचते गये।

३६. संत त्यागराज—प्रसिद्ध कवि और गायक, जिनके प्राण रामभक्तिमें तर रहते थे।

३७. संत कनक—उडुपीके हरिजन संत और कृष्णभक्त।

३८. संत एळुत्तच्चन—मळयालम्में रामायण तथा भागवतकी रचना करनेवाले।

३९. संत बोदना—तेलुगु भागवतके रचयिता।

४०. संत अप्पय्य दीक्षितर—महान् शैव तथा वेदान्तके प्रकाण्ड पण्डित।

४१. संत सदाशिव ब्रह्म—विश्वविख्यात वेदान्ती।

इन संतोंकी गणना नहीं की जा सकती। इनमेंसे अनेक संतोंकी जीवनी तथा उपदेश मैंने अंग्रेजी 'कल्पतरु' एवं तमिळ पत्रोंमें प्रकाशित कराये हैं।

दक्षिण-भारतीय संतोंकी भक्ति-भावना

[आन्ध्र]

(लेखक—श्री वाई० जगन्नाथम्, बी० ए०)

संत वे हैं, जो अपने नित्य-प्रतिके जीवनमें इस बातको स्मरण रखते हैं तथा इसका नित्य अनुभव करते रहते हैं कि सब कुछ भगवान्का है तथा इस संसारमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे हम सूईकी नोक बराबर भी अपनी कह सकें। वे वही बात कहते हैं, जो बाइबलमें लिखी है कि 'हम स्वयं भी अपने नहीं हैं, वर भगवान्रूपी अंगूरकी बेलकी शाखाएँ हैं और उनके बिना हम कुछ नहीं कर सकते।' चारों ओर कष्टोंसे घिरे रहनेपर भी वे दुखी नहीं होते; वे उलझनमें पड़ते हैं, किंतु निराश नहीं होते; यन्त्रणा पाते हैं, किंतु त्याग नहीं दिये जाते; नीचे गिराये जाते हैं, किंतु नष्ट नहीं किये जाते। वे हमको यह शिक्षा देते हैं कि 'जो हमें शाप दें, उनको भी हम वरदान देनेकी आदत डालें; जो हमसे घृणा करें, उनका भी भला करना सीखें और जो हमसे द्वेषपूर्ण व्यवहार करते हैं तथा हमें यन्त्रणा पहुँचाते हैं, उनकी भी मङ्गल-कामना करें। वस्तुतः वे भगवदीय पुरुष हैं; क्योंकि वे सदा भगवान्में उसी प्रकार निवास करते हैं, जैसे जलमें मछली। जिस प्रकार जलसे बाहर निकाल लिये जानेपर मछलीके प्राण छटपटाने लगते हैं, उसी प्रकार वे भी भगवान्से एक क्षणका भी वियोग सहन नहीं कर सकते और व्याकुल हो जाते हैं।

यदि कहा जाय कि भारतमें ऐसे संतोंकी गणना नहीं की जा सकती तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी तथा दक्षिण-भारतके आन्ध्र प्रदेशका इस दृष्टिसे भारतमें अपना एक गौरवपूर्ण स्थान है कि उन संतोंमेंसे कुछको यह भूमि भी अपने लाल कह सकती है। यह मेरा सौभाग्य है कि प्रस्तुत लेखमें मुझे उनमेंसे कुछकी भक्ति-भावनाका वर्णन करनेके बहाने उनकी चर्चा करनेका सुअवसर मिलेगा, जिस भक्ति-भावनाने उनके अनुयायियोंको धर्म एवं भक्तिके राज्यमें ले जानेवाली निसेनीका काम दिया है और सामान्यरूपसे समस्त मानव-जातिके लिये तथा विशेषरूपसे आन्ध्रवासियोंके लिये उनकी प्रकृतिको भगवदुन्मुख बनानेमें चिरन्तनरूपसे पथ-प्रदर्शनका काम किया है।

पोतना

मैं अपना वर्णन पोतनासे आरम्भ करता हूँ। व्यासदेवकी अमर-वाणी भागवत-महापुराणका उत्कृष्टकोटिकी तेलुगु कवितामें अनुवाद करनेके कारण ये आन्ध्र-संत प्रत्येक आन्ध्रवासीके हृदयमें घर कर गये हैं। ये भक्तकवि पन्द्रहवीं शताब्दीमें हुए थे। ये कुडपा जिलेकी एकशिलानगरीमें, जिसका आधुनिक नाम 'ओंटमित्ता' है, रहते थे। किशोरावस्थामें एक दिन, जब ये अपने गाँवके पास एक पहाड़ीकी तलहटीमें गायें चरा रहे थे, चिदानन्द योगी नामक एक सन्यासी इनके समीप आये। पोतना बचपनसे ही भगवान्में आस्था रखनेवाले थे। स्वाभाविक ही योगीके चरणोंपर गिरकर उन्होंने बड़े आदरसे उनको प्रणाम किया। योगिराज उनकी विनय एवं श्रद्धालु स्वभावसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनको राम-मन्त्रकी, जिसे दक्षिण-भारतमें 'तारकमन्त्र' कहते हैं, दीक्षा दी। वह मन्त्र इतना शक्तिशाली सिद्ध हुआ कि उसके अनवरत जपसे वे महान् भक्त ही नहीं वरं एक प्रकाण्ड विद्वान् भी हो गये।

पोतना एक बार तीर्थयात्रा करने उत्तर-भारतको गये। वहाँ चन्द्रग्रहणके समय गङ्गास्नान करके वे जब गाढ ध्यानावस्थामें बैठे थे, भगवान् श्रीरामचन्द्र उनके ध्यान-नेत्रोंके सम्मुख प्रकट हो गये और उन्हें श्रीमद्भागवतका तेलुगुमें उल्था करके उन्हींको समर्पित करनेकी आज्ञा दी। पोतनाके आनन्दकी उस समय कोई सीमा न रही। वे घर लौट आये और उन्होंने भगवान्की इच्छा पूरी करनेकी योजना बना ली। श्रीकृष्णकी कथाको उन्हींके दूसरे रूप श्रीरामको समर्पण करनेसे उनके मनमें भगवान्के सभी रूपोंकी एकताकी छाप तो पड़ी ही, साथ ही उनके अंदर आत्मसमर्पणका भाव भी इतना बढ़ गया कि भागवत-महाकाव्यका तेलुगुमें भाषान्तर करनेमें वे अपनेको भगवान् श्रीरामचन्द्रके स्नेहभरे कर-कमलोंका एक यन्त्रमात्र मानने लगे। अपने अनुवादके आरम्भमें ही वे लिखते हैं—

'मैं भागवतकी कथाको फिरसे कहने चला हूँ और इस विषयमें मैं श्रीरामभद्रका यन्त्रमात्र हूँ। लोग कहते हैं कि मैं यदि इस कथाको कहूँगा तो इसके द्वारा मनुष्य जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जायँगे। इसलिये सांसारिक विषयोंकी चर्चामें समय नष्ट न करके मैं कथाका ही आरम्भ करता हूँ।'

पोतनाकी आजीविकाका प्रधान साधन खेती था। उनके खेतोंकी भूमि ऊसर होनेके कारण एवं उनके गाँवमें सिंचाईकी सुविधाका नितान्त अभाव होनेके कारण पैदावार बहुत ही कम होती थी। फलतः पोतनाको सदा ही घोर दारिद्र्य एव अर्द्ध-बुभुक्षित अवस्थाका सामना करना पड़ता। किंतु श्रीरामचन्द्रके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना उनमे इतनी प्रबल थी कि उन्होंने धनिकोंके पास अथवा अपनी काव्य-प्रतिभाकी सराहना करनेवालोंके पास जाकर उनके सामने हाथ पसारनेकी बात भी कभी नहीं सोची। वे सदा अपनी चिन्ताओंको भगवान्पर छोड़ते रहे।

कोंडवीडुके रेड्डी-वंशज शासकोंके राजकवि श्रीनाथ, जो वैभवपूर्ण और विलासमय जीवन विता रहे थे, पोतनाके साले थे। अपने बहनोईके परिवारको घोर दरिद्रताकी चक्कीमें पिसते देखकर उन्हें बहुत चिन्ता होती थी। उन्हें खेतीसे—विशेषकर अपनी उदर-पूर्तिके लिये की जानेवाली खेतीसे बड़ी घृणा थी। एक बार जब वे अपनी बहिनके यहाँ ओंटमिट्टा गये हुए थे, उन्होंने पोतनाको कुछ दूरपर अपने खेतोंको जोतते देखा। निकट जाकर उन्होंने पोतनासे पूछा, 'धरती जोतनेवाले क्या सुखी होते हैं?' पोतनाने तुरत उनको मुँहतोड़ उत्तर दिया, 'कविता-कामिनीके हृदयहारी सौन्दर्यको भगवद्विमुख तथा अनधिकारी पुरुषोंके भेंट चढ़ाकर वेश्यावृत्तिके द्वारा प्राप्त धनसे जीविका-निर्वाह करनेकी अपेक्षा भक्तिके ऊपर कलम चलानेवालोंके लिये भूमि जोतकर अथवा कन्द-मूल उखाड़कर अपने बाल-बच्चोंका पालन-पोषण करना अच्छा है।'

पोतना जानते थे कि श्रीनाथ आन्ध्र-प्रदेशके विभिन्न भागोंके धनी एव सम्पन्न व्यक्तियोंको अपनी भक्तिपरक रचनाएँ भेंट करके ऐश्वर्यका सुख लूट रहे थे। उन्हें भगवान्को छोड़कर मनुष्यकी स्तुतिसे अत्यन्त घृणा थी।

इस उत्तरको सुनकर भी श्रीनाथने फिर अनुरोध किया। 'आप मेरे बहनोई हैं, इस नाते आपपर मेरा एक अधिकार है। क्या आपको अब भी अपनी घोर दरिद्रता तथा अकिंचनतासे निर्वेद नहीं हुआ? आप निरे महान् भक्त ही नहीं, वरं एक श्रेष्ठ कवि भी हैं। श्रीमद्भागवतका आप जो तेलुगु अनुवाद कर रहे हैं, उसे कर्णाटक-नरेशको समर्पण कर देनेमे आपको क्या आपत्ति है? राजा आपको मालामाल कर देंगे। फिर आप भी मेरे समान सम्पन्न जीवन बिताइयेगा।' इसपर पोतना कोई उत्तर न देकर चुप रहे। श्रीनाथने उनके मौनका अर्थ स्वीकृति मान लिया। वे अविलम्ब कर्णाटक-नरेशके पास गये और उनसे कहा, 'महाराज! आप बड़े भाग्यवान् हैं। श्रेष्ठ भक्त-कवि एव लेखक पोतना श्रीमद्भागवतका तेलुगु-भाषान्तर करनेमें लगे हुए हैं और इस महाग्रन्थको उन्होंने आपको समर्पण करना स्वीकार कर लिया है।' राजाने यह बात सुनी तथा पवित्र भागवत-ग्रन्थ उनको समर्पित होगा, इस सम्भावनासे उनके आनन्दकी सीमा न रही।

श्रीनाथके प्रस्तावको स्पष्टशब्दोंमें अस्वीकार न करके जो भूल पोतनाने की थी, इसका उनको बड़ा दुःख हो रहा था। उनका यह सोचना ठीक ही था कि उनके मौनका उल्टा अर्थ लगाकर उनकी स्वीकृति मान ली जायगी। वे मन-ही-मन विचार करने लगे—'कदाचित् श्रीनाथने मेरे मौनका अर्थ मेरी स्वीकृति मानकर राजाको भी सूचना दे दी हो। सम्भवतः राजा मेरे पवित्र भागवतके अनुवादको मँगायेंगे और यदि मैं उसे उन्हें भेंट करना अस्वीकार कर दूँगा तो वे मुझसे क्रुद्ध होंगे। फिर भी मेरा वे क्या बिगाड़ लेंगे? मनुष्यकी सहायताका मूल्य ही क्या है। वास्तवमें भगवान् ही मनुष्यके लिये मोक्ष, कीर्ति एव शक्तिके अक्षय भडार तथा शरण्य हैं। भगवान् जिसके पक्षमें हों, उसका मनुष्य क्या अहित कर सकता है? यदि सारा ससार विरोधमे खड़ा हो जाय तो भी भगवदाश्रितको कोई डर नहीं है।'

शास्त्रोंके इन आश्वासनपूर्ण वचनोंसे पोतनाको बड़ा बल मिला और सदाकी भाँति वे भागवतका तेलुगु-भाषान्तर करनेमें लग गये। कहा जाता है कि विद्याकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती एक दिन उनके मानसिक चक्षुओंके सामने रोती-बिलखती आ खड़ी हुई। तब पोतनाने उनको यह कहकर सान्त्वना दी, "माँ, रोओ मत। मैं चाहे दरिद्र रहूँ, भूखा रहूँ अथवा भूखों मर जाऊँ, किंतु विश्वास करो, कर्णाटकके दुष्ट एवं दुराचारी नरेशकी सम्पत्तिके मूल्यपर मैं तुम्हें कभी बेचने नहीं जाऊँगा।"

इधर कर्णाटक-नरेश, जो श्रीनाथसे यह सुनकर कि पोतना अपने भागवतका पवित्र अनुवाद मुझे समर्पित करेंगे, बड़े लालायित हो रहे थे; अब इसके लिये आतुर और अधीर हो उठे। उन्होंने पोतनाके गाँवमें जाकर बलपूर्वक उसका समर्पण माँगनेकी ठानी। आखेटके बहाने एक बड़ी सेना लिये राजधानीसे चलकर वे ओंटमिट्टा गाँवकी सीमापर पहुँचे। पोतनाको लानेके लिये एक नौकरको गाँवमें भेजा गया। पोतना उस समय भगवान्के वाराहावतारके कथा-प्रसङ्गका अनुवाद
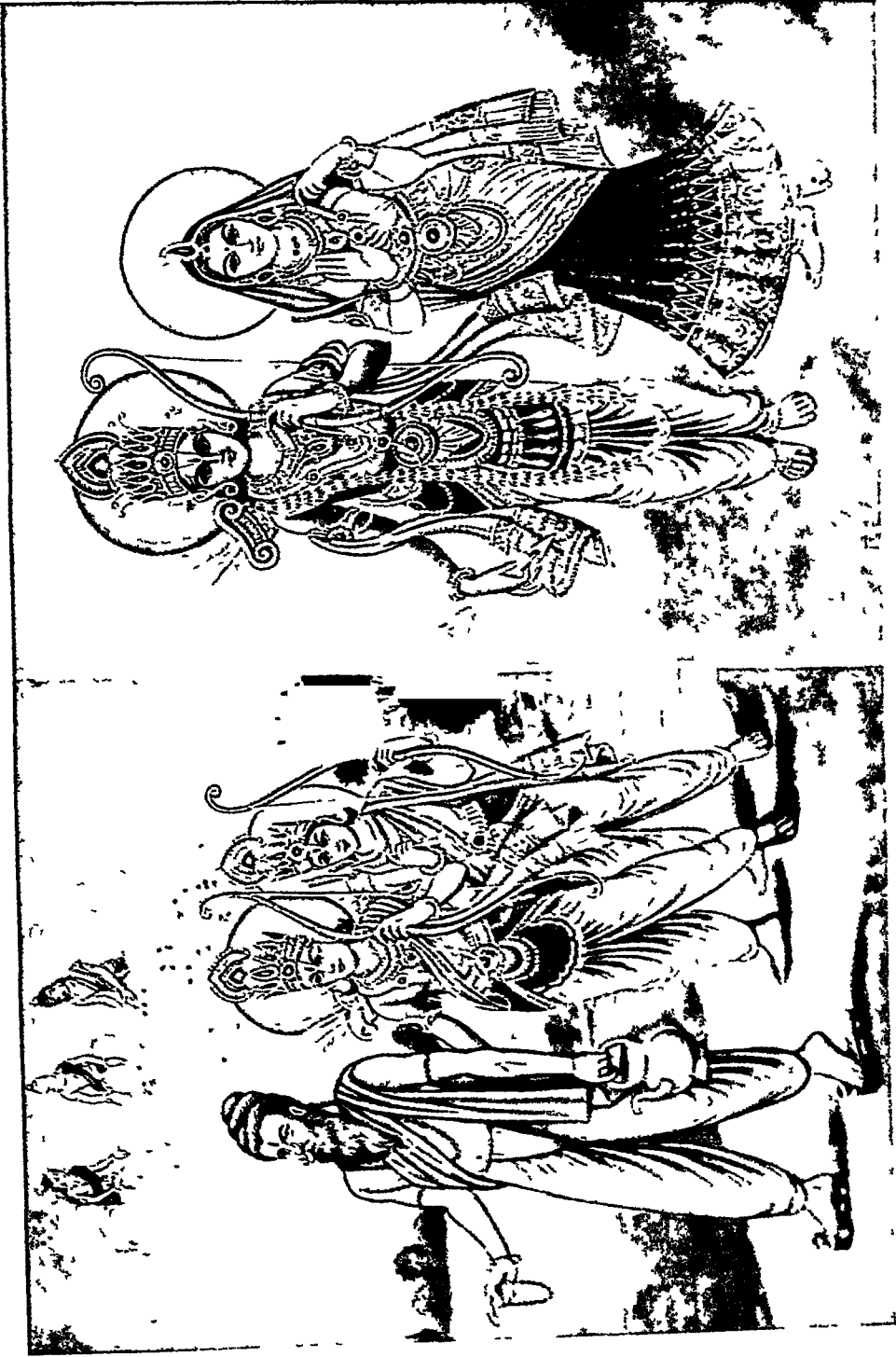
भक्ताधीन रघुवीर

'दूलह राम सीय दुलही री'

करनेमें लगे हुए थे। जब राजभृत्य पोतनाके घरपर पहुँचा, उसने एक भीमकाय शूकरको उनके द्वारपर क्रीडा करते तथा घरकी रक्षा करते हुए पाया। जो कोई भी घरमे घुसनेकी चेष्टा करता, उसीपर वह आक्रमण करता। भृत्य भयभीत हो गया और वापस आकर राजासे बोला कि 'घरके बाहर खड़े भयंकर वन्य शूकरके कारण वह पोतनासे नहीं मिल सका।' राजाको इसपर हँसी आयी और उसने अपनी सेना-के कुछ और शूरवीरोंको भेजा; किंतु शूकरके द्वारा क्षत एवं आहत होकर वे भी शीघ्र लौट आये। तब राजा स्वयं सारी सेना लेकर गाँवमें गया और पोतनाके घरके सामने जाकर उसने उस शूकरको देखा। जब सिपाहियोंने उसपर आक्रमण किया, तब वह सेनापर इतनी विकरालतासे टूट पड़ा कि सब-के-सब सैनिक सहसा भाग खड़े हुए; उनमें कुछ तो प्रायः मृत्युके गालमे पहुँच गये तथा कुछ बहुत बुरी तरह घायल हुए। तब राजाने स्वय अपनी तलवार सँभाली; किंतु प्रबल बलशाली शूकरने उसे भी घायल करके छोड़ दिया।

पोतनाने जब घरके सामने ही शस्त्रोंकी खनखनाहट सुनी, तब उसका ध्यानभङ्ग हुआ। वे बाहर सड़कपर आकर क्या देखते हैं कि स्वय कर्णाटक-नरेश उनके चरणोंपर घुटने टेके कह रहा है—'महाराज! मैंने आपका अपराध किया है। मेरी रक्षा कीजिये।' उस समय भगवान् वाराह एकाएक अन्तर्धान हो गये। राजा फिर भी इस प्रकार विनय करता रहा—'मैंने मूर्खतावश आपकी आध्यात्मिक शक्तियोंकी अवहेलना की और आपको एक श्रेष्ठ कविमात्र समझा। इसीलिये आपके द्वारा अनूदित तेलुगु भागवत अपने-जैसे अनधिकारीको जबर्दस्ती समर्पित करानेके लिये मै यहाँ आया। अब मुझे इस धृष्टताका उचित दण्ड मिल गया है। महाराज! दया करके मेरी और मेरी सेनाकी रक्षा कीजिये। मै आपसे और अधिक कुछ नहीं माँगता।' पोतनाको राजा तथा उसके सैनिकों-की विपन्न अवस्थापर दया आ गयी और वे बोले—'राजन्! बस, एक बार अपने सम्पूर्ण हृदयसे श्रीहरिको पुकारकर उनसे प्रेमकी भिक्षा माँगो। इससे तुम्हारे सैनिकगण तुरत स्वस्थ हो उठेंगे।' राजाने वैसा ही किया और अपनी अतिमानिता तथा दर्पका उचित दण्ड पाकर सेनासहित राजधानीको लौट आया।

ऐसे थे भक्त कवि पोतना, जो सदा भगवान्में लीन रहते थे तथा सासारिक सम्पत्तिको, जो उन्हें केवल माँगने मात्रसे मिल सकती थी, लात मारकर दरिद्रताका अपनी प्रिय पत्नीके समान मुक्तकरसे स्वागत करनेको तैयार रहते थे। एक और प्रसिद्धि है कि उनके साले श्रीनाथको अपने राजाके अपमानकी बात सुनकर बड़ा क्रोध आया और वे अपने अनुगतोंकी एक बड़ी टोली लेकर पोतनाके घर पहुँचे—यह देखनेके लिये कि अपनी परम निर्धन अवस्थामें वे किस प्रकार सबका आतिथ्य कर पाते हैं। श्रीनाथके मनकी बात जानकर पोतनाने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रसे कृपाके लिये प्रार्थना की। श्रीरामचन्द्रजी सत्वर पोतनाके घर श्रीसरस्वतीके रूपमें जा पहुँचे और अपने भक्तके अतिथियोंके सत्कारके लिये क्षणभरमें उन्होंने सब प्रकारके व्यञ्जन प्रस्तुत कर दिये। जब श्रीनाथने सरस्वती देवीको अपनी बहन समझकर कहा—'बहिन! परसनेमें देर क्यों हो रही है', देवीने स्वय स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट व्यञ्जन पुष्कलमात्रामें परसकर रख दिये। श्रीनाथ और उनके दलके सब लोग चकित एव स्तम्भित रह गये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा ही है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> (९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योग-क्षेम मैं स्वय प्राप्त कर देता हूँ।'

गोपना

अब मैं गोपनाकी चर्चा करूँगा। वे भगवान् श्रीरामचन्द्र-जीके परम भक्त थे। अपने इष्टदेवकी सेवामें उन्होंने अपनेको मिटा दिया। पूर्व गोदावरी जिलेके भद्राचलम् नामक तीर्थस्थानमें अपने इष्टदेवके इच्छानुसार उनके प्रसिद्ध मन्दिरका जीर्णोद्धार करनेमे गोपनाने असहनीय दुःख उठाये।

भक्त गोपना सतरहवीं शताब्दीमें हुए थे और वे आन्ध्र प्रदेशके तिलङ्गाना प्रान्तके नेलकोंडपल्ली गाँवमें उत्पन्न हुए थे। उनके पिता एक पाठशालामें अध्यापक थे। वे गोपनाको गोदमें बैठाकर अपने गाँवके थोड़े-से लोगोंको नित्य रामायण सुनाया करते थे। इसका गोपनाके संस्कारी मनपर अद्भुत प्रभाव पड़ा। वे बचपनसे ही पिताके मुँहसे सुने हुए भगवानके वीरता-पूर्ण चरित्रोंका निरन्तर ध्यान किया करते। गोपनाके पिताकी असमयमें ही मृत्यु हो गयी; उनकी अनुपस्थितिमें उनकी माताने उन्हें समुचित शिक्षा दी तथा श्रीरामचन्द्रकी भक्तिके संस्कारोंको बढ़ाया, जो उनमें बचपनसे ही अङ्कुरित हो चले थे।

गोपनाने आध्यात्मिक शिक्षा अपने गुरु श्रीरघुनाथ भट्टाचार्यसे प्राप्त की। उनसे उन्होंने ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, कर्म, बन्ध, मोक्ष, संन्यास आदिके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त किया। उन्हींसे उन्होंने राम-मन्त्रकी दीक्षा भी ग्रहण की। मैं ऊपर लिख ही चुका हूँ कि सम्पूर्ण दक्षिण-भारतके लोग इसे तारक-मन्त्रके नामसे जानते हैं। अपनी मॉकी प्रसन्नताके लिये उन्होंने आदेम्मा नामक एक कन्यासे विवाह कर लिया तथा उससे उन्हें एक पुत्र भी हुआ। माताकी मृत्युके वाद वे भद्राचलम् चले गये। वहाँ उन्होंने एक मन्दिरमें, जो सर्वथा भग्नावस्थामें था, श्रीरामचन्द्रका श्रीविग्रह देखा। उन्होंने अनुभव किया कि गॉवमें जबतक मान-प्रतिष्ठा नहीं हो जायगी, तबतक वे मन्दिरके लिये कुछ भी न कर सकेंगे। वह गॉव तानशाह अर्थात् 'भले राजा' के नामसे विख्यात मुसल्मान शासक अबू हसन कुतुवशाहके राज्यमें था। तानशाह जनतामें तानिशाके नामसे प्रसिद्ध थे। वे तिलगानामें गोलकुडाके शासक थे। तानिशाके मन्त्री हिंदू थे, वे बड़े चतुर थे। उनका नाम था मदन। गोपना मन्त्रीके पास पहुँचे और उनकी सच्चेष्टासे गोलकुडाके नवाबकी ओरसे भद्राचलम्‌के तहसीलदार नियुक्त हो गये।

गोपना शीघ्र अपने कामपर चले गये, जिससे भगवत्सेवाके उद्देश्यसे लोगोंपर प्रभाव जमा लें। अपने तथा आस-पासके गॉवके लोगोंके सहयोग एवं सद्भावनासे अपने स्थानके धनी-मानी लोगोंसे चंदा लेकर गोपनाने वहाँ एक विशाल मन्दिरका निर्माण कराया। मन्दिरके सीता, राम तथा लक्ष्मणके विग्रहोंको बहुमूल्य रत्नाभूषणोंसे सजानेकी आतुरतामें उन्होंने दो लाखके लगभग सरकारी रुपये भी इस भरोसे काममें बरत लिये कि समृद्धिशाली भक्तोंसे और भी चदा करके सरकारी खजानेका रुपया भर देंगे।

तानिशाकी पत्नी सितारा देवोपम सुन्दरी थी। उसको अपनी एक दासीसे गोपनाके इस अनुचित कार्यका पता चला। हिंदू-जातिके प्रति उसके मनमें जन्मजात विद्वेष था और उसे अपने पतिका हिंदू मन्त्रियों तथा अधिकारियोंको नियुक्त करना बिल्कुल पसद नहीं था। गोपनाके अनुचित कार्यकी अपने पतिसे चर्चा करके उसने उनको तुरत दण्ड देनेकी मॉग की। किंतु अपने पति 'भले राजा' की अनिच्छा देखकर उसने गोपनाके लिये बुरी-से-बुरी परिस्थिति उत्पन्न करनेकी ठानी। उसने कुछ डाकुओंको भद्राचलम् भेजा, जिन्होंने सरकारी खजानेमें लगभग डेढ लाखकी चोरी की। अन्तमें उसने अधिकतर अपने मनोहर रूप एवं मायासे अपने पतिको अपने अनुकूल बना लिया; और उसकी बातोंमें आकर तानिशाने कुछ सशस्त्र हलकारोंको भद्राचलम् भेजा, जो गोपनाको सॉकलमें बॉधकर नवाबके पास ले आये। तब गोपनाको पता लगा कि सरकारी छः लाख रुपये उनके नाम पड़ते हैं—काममें शिथिलताके कारण ढाई लाख तो करके वसूल नहीं हुए, डेढ़ लाख लूटमें चला गया और दो लाख उन्होंने भगवान्‌की सेवामें लगा दिया है। तानिशाने गोपनाको उनके इन अनुचित कर्मोंके कारण जेलमें डाल दिया और सभी प्रकारकी यातनाएँ उनको दी गयीं।

किंतु गोपना कभी विचलित नहीं हुए। वे राम-नामरूपी आध्यात्मिक ह्रदमें गोते लगाकर अमृतका सदा उसी प्रकार आस्वादन करते रहे जैसे जलमें पड़ी हुई मछली जलका। अतएव जो भी यन्त्रणाएँ उनको दी गयीं, उनका उनपर कुछ भी असर नहीं हुआ। सितारा भोजन बनानेके लिये नित्य उन्हें केवल चावल और नमक भेज देती थी। किंतु गोपनाके स्पर्श करते ही उनके खाने योग्य वह अमृतमय व्यञ्जन बन जाता था। उनपर कोड़ोंकी मार पड़ी, पैरोंमें बेडी डाल दी गयी। उनको बेतोंसे पीटा गया, कॉटों तथा तलवारोंकी धारपर चलाया गया और अपने दुर्बल कधोंपर उन्हें एक विशाल लोहखण्डको ढोना पड़ा। किंतु उनके रक्षकके रूपमें उन्हें दिये हुए दण्डोंको श्रीराम स्वयं सह लेते थे। अतः उनका बाल भी बॉका नहीं होता था। तब गोल डाके लोग गोपनाको आधुनिक युगका प्रह्लाद कहने लगे। चाहे जेलमें, चाहे दण्डकी यन्त्रणा भोगते समय गोपना रामसे सदा यही प्रार्थना करते—'मेरे नेत्रोंके सम्मुख आकर मेरी सेवा स्वीकार करें', किंतु किसी सासारिक लाभके लिये उनसे कभी प्रार्थना नहीं करते थे। दृढ़ विश्वासकी स्थितिमें तथा श्रीरामके प्रति गाढ भक्तिभावके प्रवाहमें एक दिन वास्तवमें वे अपने इष्टदेवको आज्ञा दे बैठे कि 'आप तानिशाको, जो छः लाख रुपये मेरे नाम निकलते हैं, चुका दें।' प्रसिद्धि है कि रामवल्लभा श्रीसीताके अनुरोधसे राम-लक्ष्मण दोनों भाई मुसल्मान सेवकोंका वेष धारण करके तानिशाके अन्तःपुरमें एक दिन आधी रातको घुस गये और उसे तत्क्षण सामने बुलाकर गोपनाका सारा पावना चुकाकर उससे रसीद ले ली।

किंतु गोपना, जिनके आत्मसमर्पणकी भावना पूर्णताके अन्तिम छोरतक पहुँच चुकी थी, उस समय श्रीरामचन्द्रसे इस प्रकार विनय कर रहे थे—

'हे राम! तुम्हीं मेरे पिता, माता और स्वामी हो; तुम्हीं मेरे लिये सब कुछ हो। अतएव इस कारागारसे मुक्ति

पानेके लिये प्रार्थना करना मेरे लिये मूर्खता है । इस दुर्बल और मर्त्य शरीरको इस कारावासमें ही छूट जाने दें । आपके मधुर एवं अमृतोपम नामका कीर्तन करनेमें कारागार कभी मेरे लिये बाधक नहीं हुआ । वे मुझे हाथसे पैरतक बाँध सकते हैं; किंतु क्या वे मेरे हृदयको बंदी बना सकते हैं । हे राम ! मेरे मनमें किसी वस्तुकी कामना न रहे । आप चाहे मेरी रक्षा करें, चाहे मुझे दण्ड दें । बस, आपकी इच्छा पूर्ण हो । पिता ! मैं आपसे कोई वस्तु नहीं चाहता । तानिशाको मुझसे जो कुछ पाना है, उसे उसको चुका देनेकी आपसे प्रार्थना करके मैंने कैसी मूर्खता की । तात ! आपका पावन नाम ही मेरे जीवनका आधार बने । आपके चरण-कमल ही मेरे एकमात्र आश्रय हों और मेरा मन बिना विघ्न-बाधाके उनके चिन्तनमें सदा रत रहे । हे राम ! मै आपका सर्वत्र दर्शन करता हूँ । सब कुछ राम ही हैं, सब कुछ चिन्मय है । मुझे और कुछ नहीं दीखता ।'

जिस समय गोपना इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना और बातचीत कर रहे थे, श्रीरामने स्वय आकर नवाबके हाथकी रसीद उनको दी और अन्तर्धान हो गये । जब दूसरे दिन तानिशाकी आँख खुली और उसकी समझमें आया कि रातमें स्वयं भगवान्‌के दर्शन उसे हुए और उन्हींके हाथसे उसने रुपये पाये, तब तो उसके पैरोंके नीचेकी धरती सरक गयी । उसने तुरंत गोपनाको जेलसे मुक्त कर दिया; उनके चरणोंपर गिरकर जो यातनाएँ उन्हें दी थीं, उनके लिये उसने क्षमा माँगी तथा गोपनाके विरोध करनेपर भी भगवान्‌से रातमें जो छः लाख रुपये मिले थे, वे उन्हें वापस कर दिये । इतना ही नहीं; उसने अत्यन्त सम्मानके साथ भद्राचलम् ताल्लुकको उसके मन्दिर, कोष एव अन्य उपकरणोंके सहित गोपनके भेंट कर दिया ।

गोपना ८५ वर्षकी अवस्थातक जीवित रहे । तबतक मन्दिरकी व्यवस्था करके वे श्रीरामचन्द्रकी सेवा करते रहे । यह भी कहा जाता है कि वे इसी शरीरसे श्रीरामके चरण-कमलोंमें पहुँच गये । भद्राचलम्‌का मन्दिर अब भी वैभवसे पूर्ण एव सम्पन्न अवस्थामें है । सभी ऋतुओंमें भक्तगण वहाँ जाते हैं और गोपनाकी भी पूजा करते हैं जिनकी श्रीमूर्तिको तत्कालीन निजाम सरकारने वहाँ स्थापित करवा दिया था ।

क्षेत्रय्या

अब हम क्षेत्रय्याकी भक्ति-भावनाओंका चित्रण करेंगे । आन्ध्रके ये महान् संत श्रीकृष्णकी मधुर-भावनासे सेवा-भक्ति करते थे । पिछले दिनोंतक किसी इतिहासकारने क्षेत्रय्या अथवा उनकी जीवनचर्याके विषयमें कोई प्रामाणिक बात नहीं लिखी ।

क्षेत्रय्याका वास्तविक नाम था 'मोव्वा वरदय्या' । सोलहवीं शताब्दीके वे एक प्रमुख कृष्णभक्त थे । उनका जन्म कृष्णा जिलेमें दिवि ताल्लुकके मोव्वा गाँवमें हुआ था । मोव्वा कूचिपूडि ग्रामसे केवल दो मील है—जो संगीत, चित्रकारी, नृत्य एव नाट्यकलाके लिये प्रसिद्ध है । यहाँके सभी निवासी केवल संस्कृत तथा तेलुगुके विद्वान् ही नहीं हैं, वरं नृत्य एव नाट्यकलामें भी प्रवीण हैं । इन लोगोंने सन् १५०२ में ही विजयनगरके अधिपति नरसिंहरायने अपनी नाट्यकलामें प्रवीणताके लिये प्रशंसा तथा पुरस्कार प्राप्त किये थे । क्षेत्रय्याका गाँव इनके निकट ही था; अतएव जिन ललित कलाओंमें वे लोग निपुण थे, वे सब उन्होंने उनसे सीख लीं । अपने ग्राम-देवता श्रीगोपालस्वामीको जो भावपूर्ण पद लिखकर उन्होंने समर्पित किये हैं, उनसे उनकी प्रतिभा, श्रेष्ठ भाषाज्ञान, अनुपम विद्वत्ता, सांसारिक अनुभव तथा सगीत एव साहित्य-शास्त्रके ज्ञानका प्रचुर प्रमाण मिलता है ।

मोव्वा गाँवकी एक बस्तीका नाम था शनिपेटा । उसमें देवदासियाँ रहती थीं, जिनका मुख्य काम था भगवान् गोपाल-स्वामीके मन्दिरमें भगवान्‌के सम्मुख नाचना-गाना । देवदासियाँ कूचिपूडि गाँवके कलाविदोंसे शिक्षा प्राप्त करती थीं । क्षेत्रय्याकी पदावलीसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने भी मन्दिरमें देवदासियोंके साथ ही शिक्षा प्राप्त की थी तथा उनमेंसे एकके साथ उनकी घनिष्ठता भी हो गयी थी । साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि संगीत एवं साहित्यमें क्षेत्रय्या तथा उनकी सङ्गिनी दोनों ही निष्णात थे । दोनों साथ गाते, एक दूसरेके गुणोंकी सराहना करते और एक दूसरेसे विलग होना नहीं चाहते थे । इस बातमें क्षेत्रय्या लीलाशुकके समकक्ष दिखायी देते हैं, जिनकी सङ्गिनी थी देवदासी चिन्तामणि ।

कालान्तरमें ऐसा लगता है क्षेत्रय्याकी सङ्गिनीने उनको छोड़ दिया । आध्यात्मिक विकासके कारण उनका प्रत्येक क्षण इधर श्रीगोपालके प्रति तन्मयतामें ही बीतने लगा था और उसने यह लक्ष्य कर लिया कि गुणसम्पन्न होते हुए भी क्षेत्रय्याका मन तबतक सांसारिक सुखोंमें ही रमा हुआ था । तब क्षेत्रय्या अपना गाँव छोड़कर तीर्थाटनके लिये निकल पड़े और, जैसा कि उनके पदोंसे विदित होता है, दक्षिण-भारतके १८ क्षेत्रोंका भ्रमण करके अन्तमें काञ्चीपुरीमें जाकर बस गये । समय पाकर उनकी आध्यात्मिक साधना अपनी पहलेकी सङ्गिनीसे कहीं अधिक आगे बढ़ गयी । अब वे श्रीकृष्णकी मधुर-भावसे

उपासना करने लगे। उन्होंने यह समझ लिया कि जीव श्रीकृष्णकी शक्तिका ही एक क्षुद्रतम अंश है, तथा अपनेमें गोपीत्वका आरोप करके प्रत्येक जीव परमात्मा श्रीकृष्णके चिन्मय परिरम्भणका सुख लूट सकता है और जीवके लिये इससे बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है।

गोपीभावके आवेशमें क्षेत्रय्या श्रीकृष्णके साहचर्यके लिये तड़पते हैं और एक पदमें अपनी विरह-वेदनाका निम्नलिखित शब्दोंमें बड़ा मनोहारी वर्णन करते हैं—

'हे मेरे प्रियतम! अब अधिक विलम्ब न करो। तुमने मुझसे वचन दिया था कि तुम वहाँ विलमोगे नहीं, वरं शीघ्र ही वापस आ जाओगे। यदि तुम शीघ्र नहीं आओगे तो मेरे उमँड़ते हुए आँसुओंकी धारा बहकर कावेरीतक पहुँच जायगी।''सुनो कमललोचन! तुम्हारे आलिङ्गनके बिना ज्योत्स्ना भी मुझे आतपके समान जलाने लगती है।''हे मुग्धा गोपाल! मैं तुम्हारे शरण हूँ।''मेरे प्रियतम! अब देर न करो; आज रातको ही दर्शन दो।'

प्रेम-मतवाले क्षेत्रय्याने काञ्चीपुरीके श्रीवरदराज-मन्दिरमे एक दिन भगवान्‌की रात्रि-पूजाका दर्शन किया। मन्दिरके पुजारी श्रीवरदराजके शयनके लिये एक कोमल शय्या सजाकर उनकी प्रियाके श्रीविग्रहको उनके मन्दिरसे लाये और उन्हें भगवान्‌के समीप पधराकर गर्भगृहको बंद करके घर चले गये। प्रेममें पागल हुए क्षेत्रय्या उस समय मन्दिरके किसी अँधेरे कोनेमें समाधिस्थ बैठे थे। किसीने उन्हें भीतर देखा नहीं। उनकी चिन्मय दृष्टि दिव्य-दम्पतिकी अप्राकृत प्रेमलीलाका रसास्वादन करने लगी। प्रातःकाल उनकी समाधि टूटी और कहा जाता है कि उन्होंने ज्योतिर्मय वस्त्र पहने एक देवीको मन्दिरकी सीढ़ियोंसे जल्दी-जल्दी उतरते देखा। ऐसा लगता है उसी समय क्षेत्रय्याके मुखसे एक गीत निकल पड़ा, जिसका भाव यह है—

'भगवती लक्ष्मी अभी-अभी अपने विहार-कक्षसे यह कहते हुए निकली है कि मेरे प्रियतम काञ्ची-वरद! अब प्रातःकाल हो गया है।'

गोपी एवं श्रीकृष्ण, जीवात्मा तथा परमात्माके सम्बन्धका पूर्ण ज्ञान क्षेत्रय्याको था। अपने एक पदमें वे कहते हैं—

'प्रियतम गोविन्द एवं उनकी मनोहारिणी प्रिया—दोनों एक दूसरेको समानरूपसे प्यार करते हैं। उनके पारस्परिक प्रेमका वर्णन कौन कर सकता है। भगवान् तो पञ्चविध रसके अधिष्ठाता—रसराज हैं और उनकी प्रिया महाभावस्वरूपा—उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं। तरुणियो! हम इन दोनोंके हृदय तथा उनके भीतर रहनेवाली अनुरक्तिको जानती भी हैं और नहीं भी जानतीं। क्या तुमने उनके चिन्मय मिलनको कभी देखा अथवा सुना है''?'

उनका एक दूसरा पद इस प्रकारसे प्रारम्भ होता है—

'यह कौन युवती है जो तुम्हारे और हमारे बीचमें आकर लेट गयी है! मेरे प्रियतम मुग्धा गोपाल! मैंने उसकी चूड़ियोंकी खनखनाहट सुनी है।'

इस पदका अर्थ यह है कि हम सबको भरमानेवाली श्रीकृष्ण-की मायाशक्ति जीवात्मा एवं परमात्मा श्रीकृष्णके बीच आ जाती है, तथा बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाकर तथा भ्रम उत्पन्न करके वह जीवको श्रीकृष्णके साथ प्रणय-मिलनसे वञ्चित कर देती है। मायाके सङ्गसे जीवात्मा अन्तमें अपने जीवनको इस संसारमें नीरस अनुभव करने लगता है और मायासे मुँह फिराकर सत्यका साक्षात्कार करता है तथा अन्तमें श्रीकृष्णका आलिङ्गन प्राप्त करता है।

इस प्रकार क्षेत्रय्या कोई साधारण भक्त नहीं हैं। वे चिन्मय रसके रसिक हैं। श्रीकृष्णके साथ उनका सम्बन्ध मधुर-रतिका है। इस प्रकारके सम्बन्धसे ही जीव श्रीकृष्णकी सबसे ऊँची सेवा कर सकता है। अच्छा तो, जैसा हम पहले कह चुके हैं, क्षेत्रय्या दक्षिण-भारतके अनेक क्षेत्रोंमें भ्रमण करते रहे। फलतः इनके वास्तविक नामको भूलकर लोग इन्हें क्षेत्रय्याके नामसे पुकारने लगे। सिद्ध भक्त हो जानेके बाद फिर वे अपने गाँवपर कभी नहीं गये। दक्षिणके बहुत-से राजाओंसे मिलने तथा अनेक मन्दिरोंका दर्शन करनेके बाद वे कदाचित् किसी मन्दिरमें अलक्षितरूपसे रहने लग गये हों तथा श्रीकृष्णके साथ अपना प्रणय-मिलन अक्षुण्ण एवं स्थिर बनाये हुए किसी निर्जन स्थानमें उन्होंने अपना भौतिक देह विसर्जन कर दिया हो।

कुछ लोग कहते हैं कि क्षेत्रय्याने लगभग ५०० पदोंकी रचना की थी, किंतु आन्ध्रप्रदेश तथा तमिळनाडके कुशल संगीतज्ञोंद्वारा उनके बनाये हुए लगभग तीन सौ पद ही गाये जाते हैं। तमिळनाडमें क्षेत्रय्या क्षेत्रज्ञके नामसे प्रसिद्ध हैं और वहाँके संगीतज्ञ उनके भजनोंको, जिन्हें क्षेत्रय्याके पदमुलु अथवा पदुलु कहते हैं, सबसे अधिक आदर देते हैं।

इस महान् कृष्णभक्तके सम्बन्धमें इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। यहाँतक कि उनके निधनकाल और निधन-स्थलका भी पता नहीं है।

वेमना

अब मैं आन्ध्रप्रदेशके योगी और भक्त वेमनाकी भक्ति-भावनाओंका उल्लेख करूँगा। वेमना पंद्रहवीं शताब्दीके एक महान् लेखक थे। वे आगोल तालुकके मूँगचिंतपल्ली नामक

गाँवमें उत्पन्न हुए थे, परंतु बादमें वे गुंतूर जिलेके कोंडवीडु नामक स्थानमें जाकर रहने लगे। वेमना कोंडवीडुके रेड्डी राजाओंके वंशके हैं। कोंडवीडुके राजा राच वेमारेड्डीके छोटे भाई थे हमारे वेमना रेड्डी। राच वेमारेड्डीके राज्यको विजयनगर-नरेशोंने छीन लिया। फलतः अपने भाईके राज्यके उत्तराधिकारी वेमनाने कुछ कालतक अकिंचनताकी अवस्थामें रहनेके बाद पूर्ण वैराग्य हो जानेपर ससारको छोड़ दिया और साधु बन गये। ऐसा प्रतीत होता है कि कोंडवीडुकी गद्दीके उत्तराधिकारी युवराजके रूपमें उनका जीवन बहुत दिनोंतक वासनामय एव उच्छृङ्खल रहा। इनके रचित अनेक तेलुगु पदोंमें रमणियोंके रूप एव हाव-भावोंका वर्णन है, इसी बातसे ऐसा अनुमान होता है। इसमें सदेह नहीं कि वेमना एक योगी—राजयोगी थे। उनकी योगावस्थाका आलकारिक भाषामें वर्णन करें तो हम यह कहेंगे कि वेमनारूपी गजराजने योगकी खड़ी पहाड़ीपर चढकर ब्रह्मानन्द-सुधाका पान किया और खूब छक चुकनेके बाद वेदान्तसूत्रों तथा अद्वैतज्ञानके शब्दों एव वाक्योंके रूपमें गर्जना करने लगे।

भक्त वेमना मानवताकी सेवाको भगवत्सेवाके समान ही समझते थे। उनका कहना था कि भगवत्प्रेम मानव-हृदयको शुद्ध करके मनुष्यको मानव-जातिके दुःख-दर्दके साथ सहानुभूतिका भाव रखते हुए उसका आध्यात्मिक सुधार करनेमें सहायता प्रदान करता है।

वेमनाने तेलुगुके सहस्रों पद लिखे, जिनमे मुख्यतया उन्होंने मनुष्यके प्रमादों तथा दुर्बलताओंका ही चित्रण किया है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि संसारको सदाके लिये त्यागकर इसके बन्धनोंसे ऊपर उठ जानेवाले वेमनाके मुखसे निकले हुए बहुमूल्य उपदेश एवं चेतावनीके शब्द समस्त मानव-जातिके लिये नीति एव सदाचारका एक पूरा शास्त्र ही बन गये हैं। कौपीनधारी योगी वेमनाको ससारसे डरनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं थी, किंतु उसके असत्स्वरूपकी धज्जी उडा देनेवाली उनकी आलोचनाके बाणोंसे बचनेके लिये संसारको ही उनसे डरनेकी पूरी-पूरी आवश्यकता है। वेमना शास्त्रार्थ तथा उसके दावँ-पेंचोंसे दूर रहते थे। वे ऊँचे-से-ऊँचे दार्शनिक तत्त्वोंको स्वाभाविक तथा सीधे-सादे ढगसे कह डालते हैं और कभी-कभी एक झक्की व्यक्तिकी तरह बात करते हुए लगते हैं। वे जीवनके सत्यतत्त्वोंपर प्रकाश डालते हैं और लोग उनकी शिक्षाओंको शीघ्रता तथा अनुकूल मनसे मान लेते हैं।

वेमना एक कुशल कवि थे। उनकी रचनाएँ तत्कालीन नर-नारियोंके हृद्गत भावोंका सजीव चित्र खड़ा कर देती हैं। प्रत्येक आन्ध्रवासी वेमनाका केवल आदर ही नहीं करता है वरं अपने सम्पूर्ण हृदयसे उन्हें प्यार भी करता है। उनके शब्द मानव-हृदयपर सीधे चोट करते हैं। ऐसा लगता है मानो वे समस्त मानव-हृदयोंको सीधे स्पर्श करके उन्हें अपने दृष्टिकोणसे ससारको देखनेके लिये राजी कर लेते हैं। वेमनाकी महत्ता इसी बातमें है कि वे दार्शनिक तत्त्वोंकी यथार्थ और निर्भीक ढगसे व्याख्या करते हैं। भले ही कुछ विद्वान् वेमनाकी भाषा तथा शब्द-योजनाको साधारण कोटिकी बतायें, वेमना निश्चय ही अत्यन्त लोकप्रिय कवि है तथा साधारण जनताके बड़े ही आदर-पात्र हैं। वे एक आध्यात्मिक गुरुमात्र नहीं हैं वर वे जनताके उपयोगी कवि हैं। अपने समसामयिक विद्वानोंकी कूट, दुरूह एवं कठिन शैलीसे उन्हें घृणा थी। उन्होंने अपनी कविताएँ सरल एवं सरस भाषामें लिखी हैं। आन्ध्रमें एक भ्रान्त धारणा अबतक फैली हुई है कि वेमनाको वेदों एवं उपनिषदोंका ज्ञान नहीं था तथा वे संस्कृतभाषा भी नहीं जानते थे। किंतु उनके रचित कई पद ऐसे हैं, जिनमें उपनिषदोंके विचारोंकी स्पष्ट झलक मिलती है। इस बातकी पुष्टिमें उनके पदोंसे मैं निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

'ब्रह्म सर्वरूप और अनन्त है। सभी प्राणियोंमें वह साक्षीचैतन्यरूपसे उपस्थित है। सबमें स्थित होते हुए भी वह अपरिणामी और निर्विकार है।'

'ज्ञान और अज्ञान परस्पर-सापेक्षी शब्द हैं। उनसे जिस वस्तुका बोध होता है, वह सत्यसे बहुत दूर है। सत्यको सभी प्राकृत गुणोंसे अतीत रूपमें देखना चाहिये।'

'यदि तुम आत्माका ध्यान करो और उसपर अपनी दृष्टि स्थिर कर लो तो निश्चय ही तुम जान जाओगे कि तुम वही हो—तत्त्वमसि।'

'तुमको शोकके प्रहारोंसे रहित आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त हो जायगी, यदि तुम जान सको कि संसारके विकारी एवं अविकारी सभी पदार्थ वास्तवमें ब्रह्म ही हैं।'

वेमनाकी रचनाओंमें कावेरी, श्रीरङ्गम् आदि नामोंका उल्लेख देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारतमें उन्होंने दूर-दूरतक भ्रमण किया था। वेमनाके पदोंके कुछ भाव तमिळनाडके 'तिरुक्कुरळ'में भी मिलते हैं। इससे हम निर्विवादरूपमें यह मान सकते हैं कि वेमना तमिळ भाषासे भी परिचित थे।

वेङ्कम्मा

अपने इस लेखको समाप्त करनेके पहले तरिगोंड वेङ्कम्मा नाम्नी आन्ध्रप्रदेशकी स्त्री-भक्तकी भक्ति-भावनापर प्रकाश डालनेके लिये मैं अपने उदारहृदय पाठकोंसे

अनुमति चाहता हूँ । वे पहली आन्ध्र-महिला हैं, जो रातभरमें निरक्षरसे विदुषी बन गयीं और जिन्होंने भगवान्को भेंट करनेके लिये अत्यन्त उच्चकोटिके सर्वसम्मत काव्यकी रचना की।

तरिगोंड वेङ्कम्माका जीवन-काल ईसवी सन्की उन्नीसवीं शताब्दी है । उन्होंने एक भक्त-परिवारमें जन्म लिया था, जो अनन्तपुर जनपदके रायदुर्गम् ग्राममें रहता था । अपने गाँवमें अकाल तथा अनावृष्टिके कारण बहुत दिनोंतक सब प्रकारके अभावोंसे कष्ट पाकर उनके पूर्वजोंमेंसे एक परिवार गाँवको छोड़कर प्रत्तिमित्ता नामके स्थानमें चला आया । वेङ्कम्माकी एक भक्तिमती पूर्वजाने, जिनका नाम था लक्ष्मीनरसम्मा, एक दिन मिट्टीके बर्तनमें दही बिलोते समय अपने मूल गाँवके देवता नरसिंहदेवजीसे करुण प्रार्थना की कि अकाल तथा अनावृष्टिसे उनकी रक्षा करें । और मानो उनके सरल-हृदयकी प्रार्थनाका उत्तर देनेके लिये नरसिंहदेव एक छोटेसे अर्चा-विग्रहका रूप धारण करके उनके बर्तनमें जा घुसे । उनकी रईसे प्रस्तरमयी उस छोटी-सी मूर्तिके बार-बार टकरानेपर लक्ष्मीनरसम्माको दही मथना बंद करना पड़ा । अन्ततः बर्तनमेंसे उन्होंने मूर्तिको बाहर निकाला और जब वे उनकी पूजा करने लगीं, तब अकालकी स्थिति जाती रही तथा कुछ गाँववालोंकी सहायतासे उन्होने उन भगवान् नरसिंहदेवके लिये एक मन्दिर बनवा दिया । तरि (मन्थन) के कुण्ड (पात्र) में मिलनेके कारण ही वे भगवान् 'तरिकुण्ड' कहलाये । मन्दिरके चारों ओर जो गाँव बस गया, उसका नाम भी तरिकुण्ड पडा । बादमें उसका रूप बिगाड़कर लोग उसे तरिगोंड कहने लगे ।

इसी गाँवकी निवासिनी थीं वेङ्कम्मा । वे कृष्णय्या नामक ब्राह्मणकी एकमात्र सतान थीं और आठवें वर्षमे एक भक्त एव सम्पन्न परिवारमें उनका विवाह कर दिया गया । विवाहके एक ही वर्ष बाद वे विधवा हो गयीं । यद्यपि उनके माता-पिताको इस घटनासे बड़ा धक्का पहुँचा । किंतु वेङ्कम्माको बचपनसे ही ससारसे वैराग्य हो चला था, इसलिये उन्होंने तो यही सोचा कि वैधव्य प्रदानकर विधाताने उनके आध्यात्मिक विकासके मार्गका अन्तिम रोड़ा भी दूर कर दिया । त्यागकी भावनासे भरी होनेपर भी वेङ्कम्मा थीं—एकदम निरक्षर । किशोरावस्थामें होते हुए भी वेङ्कम्माने साहसपूर्वक मदनपल्ली नामक एक दूरवर्ती स्थानमें कुछ दिन रहकर वहाँके विख्यात वेदान्ती रूपावतारम् सुब्रह्मण्य शास्त्रीसे वेदान्तके मूल-तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त किया । इससे उनके वैराग्य और भक्ति-भावनाको बड़ा प्रोत्साहन मिला । तत्पश्चात् वे बड़ी लगनके साथ श्रीनरसिंह-देवसे प्रार्थना करने लगीं कि वे अपनी कीर्तिको लिपिबद्ध करने एवं गानेकी शक्ति उन्हें दें । आश्चर्यकी बात है कि भगवान्की अहैतुकी कृपासे रात-रातमें वे सस्कृत एव तेलुगुकी सच्चे अर्थमें विदुषी बन गयीं तथा भगवान्के प्रति उनकी प्रीति और भक्ति असीम रूपमें बढ़ने लगी ।

वेङ्कम्माने तुरंत श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया और सम्पूर्ण ग्रन्थको, उसके बारहों स्कन्धोंको तेलुगु पद्यमें सरल किंतु उदात्त शैलीमें श्लोकबद्ध कर डाला । अपने 'वेङ्कटाचल-माहात्म्यम्'नामक दूसरे परवर्ती काव्य-ग्रन्थमें उन्होंने स्व घोषित किया है कि 'छन्द, अलकार एवं प्राचीन उच्चकोटिके काव्योंका ज्ञान तो दूर रहा, बचपनमें वे तेलुगु वर्णमालासे भी परिचित नहीं थीं । बस, श्रीनरसिंहदेवने उसको अपना यन्त्र बनाकर अपनी कीर्तिका उनसे उसी प्रकार गान करवाया जैसे कोई निपुण कलाविद् काठकी सितारसे मीठे स्वर निकाल लेता है ।' उसी ग्रन्थमें उन्होंने फिर लिखा है कि उन्होंने केवल अपने प्रभुके आदेशका पालन किया है तथा अपनी रचनाओंके सम्बन्धमें वे किसी गुण अथवा मौलिकताका दावा नहीं करतीं; क्योंकि उन रचनाओंमें कहीं भी उनके अपने शब्द अथवा भाव नहीं हैं ।

ऊपरके कथनसे हम स्पष्ट देख सकते हैं कि तरिगोंड वेङ्कम्माकी समर्पण-भावना शत-प्रतिशत पूर्णताको प्राप्त हो चुकी थी और भगवान्की सेवामें वे अपने 'अहं'को सर्वथा भुला चुकी थीं । उनके ग्रन्थोंमे यत्र-तत्र ऐसे पद मिलते हैं, जिनमे श्रीकृष्णके प्रति प्रेमभक्ति अथवा मधुर-भावका वर्णन है । इस भावके उद्गार उनकी प्रकृतिके अनुकूल कदाचित् नहीं थे; क्योंकि वे बडी ही लज्जाशील एवं संकोची स्वभावकी महिला थीं । पर वास्तवमें वे अवश थीं । उन्हे उन बातोंको बाध्य होकर लिखना पड़ा । इसीलिये वे अपने एक पदमें कहती हैं कि जब उन्होंने उन भावोंको व्यक्त करनेमे असमर्थता प्रकट की, तब श्रीकृष्णने स्वयं उन मधुर-भावोंको उनसे लिखवाया ही नहीं, वर अपने मन्मथ-मन्मथरूपमें उनके चिन्मय नेत्रोंके सम्मुख प्रकट होकर उनके इस धृष्टतापूर्ण उत्तरको सुनकर वास्तवमें उनपर कुपित हुए । इस वर्णनको पढ़कर हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वे इन रचनाओंको अपनी कृति नहीं मानतीं और सबका कर्तृत्व सौंप देती हैं श्रीकृष्ण अथवा उनके महिमामय नरसिंह और वेङ्कटेश्वर रूपोंको, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं । पोतनाकी भाँति उन्होंने सब कुछ भगवान्के विषयमें ही लिखा और पोतनाकी ही भाँति उन्होंने सब कुछ भगवान्को ही अर्पित कर दिया ।

तरिगोंड गाँव कडपा जिलेके वायलपद ग्रामसे चार मील दूर है तथा वेङ्कम्माके आध्यात्मिक गुरुके स्थान मदनपल्लीसे तो और भी दूर है । मदनपल्लीसे अपने गाँव लौटनेके थोड़े ही दिनों बाद वेङ्कम्मा नरसिंहदेवके मन्दिरमें जाकर योगाभ्यास करने लगीं । इसके लिये वे उसी मन्दिरमें स्थित हनुमान्जीके

श्रीविग्रहके पीछे एकान्तमें बैठ जातीं। वे योग-साधनके लिये वहाँ घंटों बिना गाँवके किसी व्यक्तिकी दृष्टिमें आये बैठी रह जातीं। इस प्रकार गाँवमे या घरमें विशेष अवसरोंपर भी वे लंबे समयतक नहीं मिलती थीं; इसलिये उनके आध्यात्मिक उत्कर्ष-को न जाननेवाले लोग उनके चरित्रपर संदेह करने लगे।

एक दिन मन्दिरके पुजारीने उनको हनुमान्‌जीके श्री-विग्रहके पीछे बैठे देख लिया। उस समय वे प्रगाढ़ योग-निद्रामें थीं। श्रीकृष्णके मधुर चिन्मय रूपके ध्यानमें उन-का चित्त एकदम डूबा हुआ था। पुजारीने सोचा कि श्रीविग्रहोंके आभूषण चुरा ले जानेके लिये अवसरकी प्रतीक्षामें वे मन्दिरमें ध्यानका बहाना करके बैठी हैं। पुजारी उन्हें अपशब्द कहता हुआ बाल पकड़कर मन्दिरके बाहर घसीट लाया। मन्दिरके पुजारीके उद्दण्ड व्यवहारसे उनकी योग-निद्रा भङ्ग हो गयी और उन्होंने आँखें खोलकर पुजारीकी ओर देखा। उसी क्षण पुजारीका प्रत्येक अवयव जकड़ गया, मानो उसे लकवा मार गया हो, यहाँतक कि उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह पत्थरका बन गया है। वेङ्कम्माको उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसकी व्याधि तुरंत हर ली; किंतु वह इनके पैरोंपर गिरे, इसके पूर्व ही उन्होंने उस स्थान और गाँवतकको छोड़ दिया और तुरंत ही वेङ्कटाचलम् (तिरुमल) को इस विचारसे चल पड़ीं कि श्रीवेङ्कटाचलपतिके सानिध्यमें उस पवित्र पहाड़ीपर ही अपने अन्तिम दिन बितायेंगी। उसी पहाड़ीपर 'थुंबुरु कोन' नामक पवित्र सरोवरके पास ही एक निर्जन स्थानमें वे बैठा करतीं। अन्तमें अपना पार्थिव देह त्यागकर वे श्रीवेङ्कटेश्वरदेवके चरण-कमलोंमें पहुँच गयीं।

उस पहाड़ीपर रहते हुए जिस श्लोकद्वारा वे भगवान्‌की नित्य प्रार्थना किया करती थीं उसको उद्धृत करनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

> श्रीकान्तास्मसरोजचन्द्रकिरणं शीतांशुबिम्बाननं
> श्रीकण्ठाब्जजसंनुताङ्घ्रिकमलं चिन्मात्रमप्राकृतम्।
> लोकातीतमनेकगोपयुवतीलोलं परं सर्वगं
> स्वाकारं तरिकुण्डशेषकुधराध्यक्षं भजेऽहं सदा॥

दक्षिणके नायनार संतोंकी शिवनिष्ठा

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

दक्षिण-भारत भगवद्भक्तिकी उत्पत्ति-भूमि है। इस पवित्र भूमि-भागमें तिरसठ नायनार संतोंने भगवान् शिवके प्रति जिस अविचल निष्ठाका परिचय दिया है, वह एक इतिहास-सिद्ध पवित्र गाथा है। तमिळ भाषामें रचित पेरिय-पुराणमें इन तिरसठ शैव-संतोंकी विलक्षण शिव-भक्तिका वर्णन किया गया है। उनके चरित्रके अध्ययनसे पता चलता है कि भगवान् शिव और उनके भक्तोंकी सेवामें नायनारोंने किस प्रकार अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने भक्तिपूर्ण जीवनमे शिव-निष्ठा, शिव-भक्त अतिथियोंकी निष्काम सेवा, भगवद्विश्वास, भगवत्पूजा-उपासना, तथा भगवच्चिन्तन आदिके उज्ज्वल आदर्श स्थापित किये थे। शिव-भक्तिके ही प्रचारके लिये उन्होंने जन्म लिया था।

नायनार संतोंकी शिव-नाममें बड़ी भक्ति थी। तिरुनील-कण्ठ नायनारने शिव-नामकी शपथसे गृहस्थाश्रमको त्यागकर परम वैराग्यपूर्ण जीवन अपनाया था। वे बहुत बड़े शिव-भक्त थे और उनकी शिव-भक्ति उच्च कोटिकी थी। उनकी पत्नी तो पवित्रता और सतीत्वकी प्रतीक ही थी। एक समयकी बात है—उनकी यौवनावस्था थी; बात-ही-बातमें कोई ऐसा प्रसङ्ग आ पड़ा कि वे अपनी स्त्रीका स्पर्श करना चाहते थे। पत्नीने कहा कि 'आपको शिव नीलकण्ठकी शपथ है, मेरा स्पर्श मत कीजियेगा।' तिरुनीलकण्ठको शिव-नामकी शपथ दिलायी गयी थी, वे क्षणमात्रमें ही सचेत हो गये, उन्होंने मनमें विचार किया कि यह शपथ केवल अपनी पत्नीके ही लिये नहीं है, समस्त नारीमात्रके लिये है। उन्होंने भविष्यमें किसी भी स्त्रीका स्पर्श न करनेका संकल्प कर लिया और जीवनमें शिव-नामकी भक्ति चरितार्थ की। उनकी नाम निष्ठा अद्भुत थी।

नायनार संतोंमें शिव-भक्तोंके प्रति निष्काम सेवाका भाव था। उनमेंसे कई-एकने अपना सर्वस्व समर्पणकर शिव भक्तोंका आतिथ्य किया और भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त की। वे भगवान् शिव और उनके भक्तमें तनिक भी भेद नहीं मानते थे। उनका दृढ विश्वास था कि भक्तकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। इळयांकुडिमार नायनारके जीवनकी एक घटना है। वे बहुत बड़े धनी थे; पर भगवान् शिवके भक्तोंकी इच्छापूर्ति और आतिथ्यमें उन्होंने अपना समस्त धन लगा दिया और स्वयं दाने-दानेके लिये भूखों मरने लगे। एक दिन अधिक रात बीतनेपर एक तपस्वीने आकर उनके घरपर शरण ली। उस समय मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। चारों ओर अन्धकार था। नायनार शिव-भक्तने अतिथिका

स्वागत किया; घरमें खानेका सामान नहीं था और इतनी रातको दूसरेके घरसे माँगना उचित नहीं दीख पड़ा। पत्नीने स्मरण दिलाया कि अभी उस दिन हमलोगोंने खेतमें धान बोया है, यदि किसी प्रकार बीज निकाल लिये जायँ तो भोजन बन सकता है। यह बात पति महोदयको अच्छी लगी। वे वर्षा और अन्धकारसे लड़कर खेतमेंसे बीज निकाल लाये और भोजन बन जानेपर अतिथिसे प्रसाद पानेके लिये कहने आये और अतिथिके बदले भगवान् शिव और पार्वतीके दर्शनकर धन्य हो गये। दिव्य-दम्पति पति और पत्नीको परमानन्द-सागरमें निमग्नकर अन्तर्धान हो गये। भक्तका यश बढ़ानेके लिये ही महादेवने उनकी इतनी कड़ी परीक्षा ली थी।

नायनार संतोंका भगवद्विश्वास उच्च कोटिका था। वे शिवकी परम कृपाके आश्रयमें अपने-आपको पूर्ण सुरक्षित और अभय समझते थे। शिवकी कृपामें अमिट विश्वास होनेके नाते उन्होंने अपने जीवनमें बड़े-बड़े आश्चर्यपूर्ण कार्य किये। नामिनन्दि अडिगळ नायनारकी जीवन-कथा है। वे भगवान्‌की विभूति (भस्म) में बड़ी निष्ठा रखते थे और भगवत्कृपासे उनका जीवन परम सुखमय था। वे नित्य अपने गाँव तिरुवारूरसे अरनेरिके मन्दिरमें अपने उपास्य-देव भगवान् शिवका दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन शामको वे मन्दिरसे लौट रहे थे। अचानक उनके मनमें यह बात आयी कि मन्दिरमें दीप जलाते चलें। उन्होंने निकट रहनेवालोंसे दीप जलानेके लिये घी माँगा; शाम हो गयी थी, इसलिये गाँवसे जाकर लानेमें विलम्ब होता। लोगोंने घी तो दिया ही नहीं, उल्टे ताना मारा कि यदि तुममें विश्वास हो तो पानीसे ही दीप जल सकते हैं। संत अडिगळ सीधे मन्दिरमें गये और महादेवके सामने फूट-फूटकर रोने लगे। आशुतोष भक्तकी सच्ची निष्ठासे प्रसन्न हो गये; आकाशवाणी सुन पड़ी कि पानीसे दीपक अवश्य जलेंगे। संतने निकटस्थ तालाबसे पानी लाकर दीप जलाये और उनके विश्वास और सच्चे भावसे सारा मन्दिर दिव्य प्रकाशसे आलोकित हो उठा। भगवद्भक्ति और विश्वाससे क्या नहीं हो सकता, मनका सङ्कल्प पक्का होना चाहिये।

नायनार संतोंकी भगवद्-विग्रह-निष्ठाकी भी जितनी सराहना की जाय वह थोड़ी है। भगवान् और भगवद्विग्रहमें भेदभाव रखना महापातक है, दोनोंकी चिन्मय एकरूपतामें संशयके लिये तिलमात्र भी स्थान नहीं है। दक्षिण-भारतके शिव-भक्तोंके इतिहासमें परम शिव-भक्त कण्णप्पकी भक्ति-गाथा अमर है। वे नायनारोंमें ही परिगणित हैं। वे मृगयाद्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। एक समय उन्होंने काळहस्तीके वनमें एक शिव-विग्रह देखा। उसके प्रति उनका हृदय भक्तिसे परिपूर्ण हो उठा। वे मृगयामें प्राप्त सब कुछ नित्य शिव-विग्रहके सम्मुख समर्पित कर दिया करते थे। वे उसे अपने हृदयका देवता समझते थे। एक दिन उन्होंने शिव-विग्रहकी एक आँखसे रक्त बहते देखा; जड़ी-बूटी लाकर खूनका बहना बंद करना चाहा, पर असफल रहे। अन्तमें अपनी एक आँख निकालकर उन्होंने शिव-विग्रहकी उस आँखपर रख दी; खूनका बहना बंद हो गया। वे आनन्दसे नाच उठे और अपनी पीड़ाका उन्हें भान ही नहीं रहा; पर थोड़ी ही देरमें शिव-विग्रहकी दूसरी आँखसे खून बहने लगा; कण्णप्पका हृदय विह्वल हो उठा, शिवकी व्यथा सोचकर; जो व्यथातीत हैं, उन शिवकी लीलासे विमुग्ध होकर वे अपनी दूसरी आँख निकालनेवाले ही थे कि साक्षात् शिव उनके सामने प्रकट हो गये, उनके उत्कृष्ट आत्मत्यागसे और कण्णप्पको उन्होंने पुनः नेत्र-ज्योति प्रदान की। कण्णप्पकी शिव-विग्रह-निष्ठा धन्य है।

भगवान् शिवको सुख पहुँचानेके लिये नायनार संत अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी प्रसन्नतापूर्वक बलि चढ़ानेके लिये प्रस्तुत रहते थे। वे अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर देनेमें अपना सौभाग्य समझते थे। संत कलिय नायनार अपने समयके बहुत बड़े शिवयोगी थे। उनकी अनुपम भक्ति और निष्ठा दूर-दूरतक प्रसिद्ध थी। एक समय वे तिरुवोत्तियूरके शिव-मन्दिरमें थे। उस समय मन्दिरमें जलते दीपकोंका प्रकाश तेलके अभावमें कम होने लगा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि दीपक मेरे खूनसे जलेंगे, भावावेशमें अपना गला काटने-वाले ही थे कि भगवान् शिव उनके सामने प्रकट हो गये और इस कामसे उन्हें रोका तथा भक्तिका वरदान दिया।

नायनार संतोंकी मानसी उपासना बड़ी उच्चकोटिकी थी। पुसलार नायनारने अपने हृदयमें शिवके मन्दिरका निर्माण किया। वे तिरुवारूरके एक पवित्र ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए थे। भगवान् शिवमें उनकी अद्भुत निष्ठा थी। शिवके प्रेममें वे रात-दिन सराबोर रहते थे। शिव-मन्दिर बनवानेकी उनकी बड़ी इच्छा थी; उन्होंने इस पवित्र कार्यके लिये धन एकत्र करनेकी बड़ी चेष्टा की, पर असफल रहे। उन्होंने लौकिक धनके अभावमें दिव्य सम्पत्तिके सहारे अपने हृदयमें ही एक शिव-मन्दिरके निर्माणकी योजना कार्यान्वित की। शुभ मुहूर्तमें मन्दिरका शिलान्यास किया। धीरे-धीरे मानस-जगत्‌में मन्दिरके आकार-प्रकारमें वृद्धि होने लगी। मन्दिर

बन गया। प्रतिष्ठा और कुम्भाभिषेकका समय आ पहुँचा। इसी समय पल्लव-नरेशद्वारा अपार धनकी लागतसे निर्मित काञ्चीपुरम्‌के विशाल कैलासनाथ-मन्दिरमें देवस्थापना होनेवाली थी। भगवान् शिवने पल्लव-नरेशको स्वप्नमें दर्शन देकर बतलाया कि आज तो मेरी स्थापना संत पुशलारके मन्दिरमें होगी, आप अपना कार्यक्रम किसी दूसरी तिथिको निश्चित कीजिये। पल्लव-नरेश बड़ी उत्सुकतासे महान् शिव-भक्तके मन्दिरका स्थापना-उत्सव देखने चल पड़े। उन्होंने संतके स्थानपर जाकर मन्दिरका पता पूछा। पर मन्दिर तो कहीं था नहीं। वे पुशलारके पास गये। उन्होंने उनसे अपने स्वप्नकी बात कही; संतका रोम-रोम पुलकित हो उठा; भगवान् शंकरकी अपने ऐसे असहाय और निर्धनपर महती कृपा देखकर उनका कण्ठ प्रेमावेशमें अवरुद्ध हो गया, नयनोंसे अश्रुकी धारा बह चली। प्रभुने उनका हृदय-मन्दिर धन्य कर दिया। उनकी मानसी-उपासना असाधारण थी।

भगवान् शिवका यशोगान करना नायनार संतोंकी भक्तिका एक प्रधान अङ्ग था। तिरुनीलकण्ठ याळपन नायनार भगवान् शिवके यशोगानमें इतने अनुरक्त थे कि वे वीणा बजाकर मन्दिरोंमें घूम-घूमकर अपनी संगीत माधुरीसे महादेवको रिझाया करते थे। एक समयकी बात है, मदुराके मन्दिरमें वे भगवान्‌के सम्मुख वीणापर कीर्तन कर रहे थे। इतनेमें उन्हें आकाशवाणी सुन पड़ी कि तिरुनीलकण्ठकी वीणाके लिये सोनेका आसन प्रस्तुत किया जाय। भगवान् उनके कीर्तनसे बहुत प्रसन्न थे।

नायनार संतोंके परम धन भगवान् शिव थे। उनका समस्त जीवन शंकरके चरणोंमें समर्पित था। वे शिवके पूर्ण शरणागत थे। उन्होंने जगत्‌में भगवान् शिवकी भक्तिका प्रसार किया। नायनार शिव-भक्तोंका जीवन शिवके कृपा-साम्राज्यमें धन्य और सफल था।

राजस्थानमें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, साहित्यरत्न)

वर्तमान राजस्थानमें पौराणिक युगके जाङ्गल, मत्स्य, शिवि, मालव, मरु और अर्बुद आदि प्राचीन देशोंका समावेश होता है। महाभारतकालमें द्वारकासे इन्द्रप्रस्थकी यात्रा करते समय भगवान् श्रीकृष्ण इसी भूभागसे होकर जाते थे। महाभारत-कालके पश्चात् बौद्धयुगके आदिकालतक यहाँकी सांस्कृतिक दशापर प्रकाश डालनेवाली कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती। भारतमें हीनयान बौद्धयुगके बाद महायानका जब उदय और विकास होता है, तब उससे काल-क्रमानुसार बौद्धतन्त्रका आविर्भाव होता है। परंतु उसके साथ ही वैष्णवतन्त्र, शाक्ततन्त्र और शैवतन्त्रको भी हम प्रचलित पाते हैं। इन सभी तन्त्रोंमें शक्ति और शक्तिमान्‌की जोड़ी उपास्य देवताके रूपमें पायी जाती है। साधक एक विशिष्ट साधनाके द्वारा अपने उपास्यदेवको प्रसन्न करके विविध प्रकारकी आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त करता है। परंतु उन शक्तियोंके द्वारा वह आधिभौतिक प्रयोजनकी सिद्धि करता है। इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करनेकी विधियाँ सब सम्प्रदायोंके तन्त्र-ग्रन्थोंमें प्राप्त होती हैं। यह तान्त्रिक पूजा एक प्रकारसे सकाम भक्तिका ही स्वरूप है। गुण-क्रमानुसार यह पूजा भी सात्त्विक, राजस और तामस—त्रिविध रूप धारण करती है। राजस्थानमें मुख्यतः राजसी तान्त्रिक पूजाका ही प्राबल्य रहा। हिंसामयी तामसी पूजाका यहाँ विशेष विकास नहीं हुआ। यह भूमि भारतके सभी प्रदेशोंकी अपेक्षा अधिक अहिंसा धर्म-सम्पन्न रही है। यही कारण है कि यहाँ जैन-धर्मका अधिक प्रचार हुआ। पहलेसे ही जैन-धर्मके विशेषरूपसे जाग्रत् रहनेके कारण यहाँ बौद्धधर्मके विकासमें बाधा पहुँची है, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि बौद्धयात्री फाहियान और हुएन्त्सांगके यात्रा-विवरणोंसे राजस्थानमें बौद्धधर्मके प्रसारपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

बौद्धयुगके अवसानकालमें भारतमें सर्वत्र तान्त्रिक पूजाका प्रचार और पौराणिक सात्त्विक पूजाका उदय देखनेमें आता है। इसके सिवा सिद्धोंका एक सम्प्रदाय सर्वत्र प्रचलित होता दीख पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ और उनके सुप्रसिद्ध शिष्यका भारतव्यापी प्रभाव इस युगकी प्रमुख घटना है। इस सम्प्रदायमें योग-साधनके द्वारा कैवल्यकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका लक्ष्य माना गया है। भगवान् शंकर इसके आदि-गुरु माने जाते हैं। सम्प्रदायवाले उनको आदिनाथके नामसे पुकारते हैं—

> आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः।
> मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्॥

अतएव आदिनाथ स्वयं शंकरजीके शिष्य मत्स्येन्द्र-(मच्छेन्द्र) नाथ हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ। इसी

सिद्ध-परम्परामें बीकानेर जनपदके कातरियासर स्थानमें जसनाथजी एक परम सिद्ध पुरुष हो चुके हैं। इनके नामपर जसनाथी नामका एक सिद्ध-सम्प्रदाय प्रचलित हो गया। ये लोग योग-साधन करते हुए जनतामें भक्ति और सदाचारका उपदेश देते थे।* सिद्धाचार्य जसनाथजी कहते हैं—

जत सत रैणा कूड न कैणा, जोग तणी सहनाणी।
मन कर लेखण तन कर पोथी, हर गुण लिखो पिराणी॥
अमी चवै मुख इमरत बोलो, हालो गुरु फरमाणी॥

अर्थात् सत्य और संयमसे रहना तथा मिथ्या-भाषण न करना ही योगका चिह्न है। अरे प्राणी! मनको लेखनी बना और शरीरको पोथी और उसमें भगवान्‌के गुणोंको अङ्कित कर। मुखसे ऐसा मधुर बोलो मानो अमृत चूता हो और गुरुजनके आदेशानुसार चलो। इन सिद्धोंने सभी सम्प्रदायोंकी एकताका प्रचार किया। सिद्धनाथजी कहते हैं—

गेलै होय र ईसर बावै, घणी घणी बरताई।
टू लटियाले कान गिवालो, जिण आ सिष्ट उपाई॥

अर्थात् 'मेरे उपास्यदेव सदा भोले भंडारी शंकर हैं और उन्होंने बहुत-बहुत कृपा की है। श्रीकृष्णकी महिमाका क्या पूछना; वह सुन्दर घुँघराले बालोंवाला कृष्ण गोपालक है और वह इस सृष्टिका रचयिता है।'

इन सिद्धोंके चमत्कारोंसे दिल्लीके पठान बादशाह भी प्रभावित हुए थे। जनतामें भी इनका अच्छा प्रभाव था। वस्तुतः यह स्थली अति प्राचीनकालसे योग-साधनका केन्द्र रह चुकी है। बीकानेरसे पश्चिम कौलायत नामक गाँवमें सांख्य-दर्शनके प्रणेता कपिलमुनिका आश्रम प्रसिद्ध है। उसके पास ही कपिलमुनिकी माताके नामपर एक 'देवहूति' नामका गाँव है। जनश्रुति है कि महर्षि याज्ञवल्क्य एवं च्यवन तथा भगवान् दत्तात्रेयने भी इस तपःस्थलीमें तपस्या की थी। इनके नामपर क्रमशः 'जागीरी' तालाब, 'च्यिमनगुफा' तथा कौलायतसे पश्चिममें 'दियात्रा' नामक गाँव इस तथ्यका समर्थन करते हैं।

इसी सिद्ध-सम्प्रदायकी परम्परामें आधुनिक कालमें एक परम विद्वान् महात्मा मङ्गलनाथजी हो गये हैं, जो ऋषिकेशकी ओर हिमालयके अञ्चलमें साधना करते थे। उनका मठ रतनगढमें आज भी विद्यमान है। बीकानेर प्रान्तके इस अञ्चलमें महात्मा मङ्गलनाथजीके व्यक्तित्वका बहुत प्रभाव पड़ा है और प्रकारान्तरसे गीताप्रेस (गोरखपुर) के द्वारा प्रचारित साधना-पद्धतिमें उसका प्रभाव मौजूद है।

(२)

सिद्ध-लोगोंका योग-सिद्धिके कारण जनताके मनपर अच्छा प्रभाव था। परंतु भक्ति-साधनाकी ओर विशेषरूपसे आकृष्ट करनेका कार्य संत-साधकोंने किया। इनमें सहजोबाई और दादूजीके नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। इनकी भक्ति-साधनामें नाम-स्मरणपर विशेष जोर दिया गया है। सहजोबाई कहती हैं—

सहजो सुमिरण कीजिये, हिरदै माहिं दुराय।
ओठ ओठ सूना मिलै, सकै नहीं कोउ पाय॥
राम नाम यों लीजिये, जाणै सुमिरणहार।
सहजो कै करतार ही, जाणै ना संसार॥

'नाम-स्मरण मन-ही-मन छिपाकर करना चाहिये। यहाँतक सावधान रहना चाहिये कि ओठोंकी गति देखकर कोई पता न लगा ले कि स्मरण हो रहा है। सहजोबाईकी साखी है कि नाम-स्मरण इस प्रकार करना चाहिये कि उसका पता केवल नाम लेनेवालेको हो और भगवान्‌को हो, तीसरा कोई न जानने पाये।' आगे वे फिर कहती हैं—

जाग्रत में सुमिरण करै, सोवत में लव लाय।
सहजो इकरस हो रहै, तार टूटि ना जाय॥

'जबतक जगा रहे, भगवान्‌का नाम-स्मरण करता रहे और सोते समय ध्यानमें लीन हो जाय। इस प्रकार एकरस साधनामें लगा रहे, तार टूटने न पाये।' मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय बतलाती हुई सहजो कहती हैं—

शील क्षमा संतोष गह, पाँच इंद्रिय जीत।
राम नाम ले सहजिया, मुक्त होण की रीत॥

'जीवनमें शील, क्षमा और संतोष ग्रहण करो तथा पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखो। राम-नामका स्मरण करते रहो—मुक्ति प्राप्त करनेका यही मार्ग है।' सहजोबाई चेतावनी देती हैं—

सहजो नौबत श्वास की बाजत है दिन-रैन।
मूरख सोवत है कहा, चेतन को नहिं चैन॥

'दिन-रात साँसका नगारा बजता रहता है। अरे मूर्ख! तू मोह-निद्रामें पड़ा है? जागे हुएको चैन कहाँ।'

इस प्रकार सहजोबाईने संसारकी असारतापर जोर देते हुए लोगोंको संयमशील जीवन बिताने और भगवत्स्मरणके द्वारा जीवनको सार्थक करनेका उपदेश दिया। परंतु सहजोबाईकी अपेक्षा संत-मतका अधिक प्रभाव दादूके शब्दोंद्वारा पड़ा।

* जसनाथी सम्प्रदायके सिद्धोंके 'शब्दों' (वाणियों) का संग्रह सिद्ध 'साहित्य-शोध-संस्थान' नामक संस्था रतनगढ (चूरू) से प्रकाशित कर रही है। इनकी 'सिद्ध-चरित्र' नामक प्रथम पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। मूल्य १०) है। उपर्युक्त पतेपर मिलती है।

दादूदयाल बड़े सिद्ध संत थे। उनके नामपर प्रचलित दादू-पंथ आज भी राजस्थानका एक प्रमुख संत-सम्प्रदाय है। दादूजीकी वाणीसे जान पडता है कि उनका अध्ययन गहरा था। उनको भारतीय भक्तिमार्गके साथ-साथ इस्लामी भक्ति-सिद्धान्तकी भी जानकारी थी। शैवोंके पाशुपत-सम्प्रदायके अनुसार जीव पशु है, और शंकर पशुपति हैं। जीवके गलेमें पड़ी मोहरूपी रस्सीको खोलकर उसे मुक्त करना शिवकी इच्छा, उनकी कृपापर ही निर्भर है। उनकी इस कृपाकी प्राप्तिका मार्ग है—उनकी आराधना करना। मानो इसी तथ्यको लेकर गोसाईंजी कहते हैं—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥

और दादू भी यही बात कहते हैं—

डोरी हरि के हाथ है, गळ माहैं मेरै।
बाजीगर का बंदरा, भावै तहँ फेरै॥

दादूजी परम तत्त्वज्ञानी थे। वेदान्तके सार-सिद्धान्तको किस खूबीसे उन्होंने इस दोहेमें व्यक्त किया है—

जो नाहीं सो ऊपजै, है सो उपजै नाहिं।
अलख आदि अनादि है, उपजै माया माहिं॥

'जो है नहीं (अर्थात् माया), वह तो उपजती है और जो है (अर्थात् ब्रह्म), वह उपजता नहीं। अलख (अर्थात् ब्रह्म) आदि और अनादि है—सबका मूल कारण है और शाश्वत है तथा जगत्मे जो कुछ उपजता और विलीन हो जाता है, वह सब मायात्मक है, मायामें ही होता है। इस मायासे छुटकारा पाना कठिन है।'

बहु बंधन सौं बाँधिया, एक बेचारा जीव।
अपणे बळ छूटै नहीं, छोडणहारा पीव॥

'बेचारा जीव मायाकृत अनेकों बन्धनोंसे बँधा हुआ है। अपने बलसे छुटकारा पाना उसके लिये कठिन है। प्रियतम प्रभुकी कृपा हो, तभी इस मायाके बन्धनसे मुक्ति मिल सकती है।'

कोई नहिं करतार विन, प्राण उधारणहार।
जियरा दुखिया राम विन दादू इहि संसार॥

'भगवान्‌के बिना प्राण बचानेवाला कोई नहीं है। दादूजी कहते हैं कि बेचारा यह जीव इस संसारमें रामकी प्राप्तिके विना दुःख पा रहा है।' कब मिलेंगे प्रभु आकर?

सखी सुहागिन सब कहैं, प्रगट न खेलै पीव।
सेज सुहाग न पाइये, दुखिया मेरा जीव॥

प्रेमा-भक्तिका यह भाव अनुभूति-गम्य है, शब्दोंके द्वारा इसको व्यक्त करना कठिन है। दादूजी उच्चकोटिके संत थे, पहुँचे हुए महात्मा थे। उनकी प्रेम-विह्वल व्याकुलताकी एक झाँकी उपर्युक्त दोहेमें मिलती है।

हरि-भक्ति भक्तके हृदयको सरस और सुकोमल बना देती है। दादू कहते हैं—

काहे कौं दुख दीजिये, घटि घटि आतमराम।
दादू सब संतोषिये, यहु साधु का काम॥

यह साधु-जीवनका सहज और व्यावहारिक आदर्श है। घट-घटमें आत्मरूप भगवान् वास करते हैं, किसीको दुःख क्यों दिया जाय? सबको सन्तुष्ट करना चाहिये। साधुजन ऐसा ही व्यवहार रखते हैं। सार सिद्धान्त यह है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सब जीव सौं दादू यहु मत सार॥

'दादूजी कहते हैं कि अहंकार त्यागकर हरि-भक्ति करो, तन-मनके सारे दोषोंका त्याग करो और सब जीवोंके प्रति प्रीति रखो—यही सार मत है।'

(३)

नाम-स्मरण, ध्यान आदिकी साधनाके द्वारा जहाँ दादू-सम्प्रदायने प्रेमा-भक्तिके उच्च आदर्शको साधनका लक्ष्य बनाया, वहाँ राजस्थानमें रागानुगा-भक्तिका प्रवाह पुष्टिमार्गके अनुयायियों, विशेषतः दाक्षिणात्य गोस्वामी लोगोंने श्रीराधा-कृष्णके श्रीविग्रहकी उपासनाके द्वारा प्रवाहित किया। नाथ-द्वाराके श्रीनाथजीका मन्दिर इस भक्ति-भावनाका एक ज्वलन्त आदर्श है। दक्षिणके आचार्योंद्वारा प्रचारित सम्प्रदायोंमें पुष्टि-मार्ग ही राजस्थानकी भूमिके लिये अधिक उपयुक्त बना। परंतु राजस्थानकी भक्तिमें एक मौलिक विशेषता थी, जिसने राजस्थानके नामको केवल भारतके इतिहासमें ही नहीं, बल्कि विश्वके इतिहासमें अमर कर दिया। वह था प्रेमका एक अजस्र प्रवाह और भक्तिका एक अपूर्व ज्वार। प्रेमके इस उत्सका पता हमें 'ढोला-मारूके दोहों' से मिलता है। इन दोहोंमें वर्णित प्रेम-कहानीमें राजस्थानी आत्माकी अनुभूति सहज ही सहृदय पाठकोंको मिल जाती है। मारू कह रही है—

अकथ कहाणी प्रेमकी किणसूँ कही न जाय।
गूँगाका सुपना भया सुमर सुमर पिछताय॥

और प्रेमका स्वरूप विरह-वेदनामें निखर जाता है। प्रियतमके स्मरणका जब तार नहीं टूटता, दिन-रात हृदयमें केवल वही—उसीकी याद घर कर लेती है, नींद हराम हो जाती है—

रात सखी इण ताल में काइजु कुरळी पखि।
उवैं सर हूँ घर आपणें विहूँ न मेळी आँखि॥

मारू कहती है कि 'हे सखि! रातको इस तालमें किसी चकवीकी और अपने घरमें मेरी—दोनोंकी ही आँखें नहीं लगीं, प्रिय-विरहमें दोनों-की-दोनों जगी ही रह गयीं।'

श्रीकृष्णके प्रेममें रुक्मिणीजीकी व्याकुलता तथा अन्ततः रुक्मिणी-हरणके कथानकका सजीव वर्णन, जो बीकानेरके महाराज पृथ्वीराजके 'किसन रुकमणी री वेल' नामक प्रेम-काव्यमें प्राप्त होता है, प्रेम-प्रवाहकी एक दूसरी धारा है। इसी प्रेमकी पराकाष्ठा मीराकी कृष्ण-भक्तिमें होती है। यही क्यों, राजस्थानी संस्कृतिमें बहता हुआ यह प्रेम-प्रवाह सारे समाजको एक दिन आप्लावित कर देता है। महाराणा प्रतापका देश-प्रेम, महारानी पद्मिनीका जौहर-व्रत (पति-प्रेम), भामाशाहका प्रभु-प्रेम और अन्ततोगत्वा मीराका कृष्ण-प्रेम—ऐसा लगता है मानो विभिन्न प्रेम-स्रोत जाकर प्रेम-सिन्धुमें विलीन हो जाते हैं। इस प्रकारका अपने आदर्शके लिये सर्वस्व-त्यागका चतुर्मुखी उदाहरण विश्वके इतिहासमें अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। यह प्रेम-प्रवाह अपने प्रभावसे समस्त भारतको प्रभावित करता है और उत्तर-कालीन स्वातन्त्र्य-आन्दोलन तथा धर्म-रक्षाके आन्दोलनमें राजस्थानके बहुमुखी प्रेमका आदर्श सारे हिंदू-समाजको देश और धर्मके हेतु सर्वस्व-त्यागकी प्रेरणा प्रदान करता है।

× × ×

भगवद्भक्तिके मार्गमें मीराका कृष्ण-प्रेम अद्वितीय है। भक्तप्रवर ध्रुवदासजीने स्वरचित 'भक्त-नामावली' नामक ग्रन्थमें मीराके सम्बन्धमें ठीक ही लिखा है—

लाज छाँडि गिरिधर भजे, करी न कछु कुल कान।
सोई मीरा जग बिदित, प्रगट भक्ति की खान॥
ललितहु लाई बोलि कै, तासौं हो अति हेत।
आनँद सौं निरखत फिरत, बृंदाबन रस खेत॥
नृत्तति नूपुर बाँधि कै, गावति लै करताल।
बिमल हियें भक्तनि मिली, त्रिन सम गनि संसार॥

भक्तमालमें श्रीनाभादासजी भी कहते हैं—

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहि दिखायो।
निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥

वस्तुतः गोपिका-प्रेमको; जो प्रेमकी पराकाष्ठा है, प्रत्यक्ष-रूपसे जीवनमें उतारकर दिखलाना बहुत कठिन है। कलियुगमें इस परमोच्च आदर्शको मीराने अपने जीवनके द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। आज राजस्थानके मरुस्थलके अन्तस्तलमें मीराके द्वारा प्रवाहित गिरधर-गोपालके प्रेमका स्रोत अन्तःसलिला फल्गुके समान अजस्र बहता हुआ राजस्थानकी संस्कृतिको जीवन प्रदान कर रहा है। यही नहीं, इस प्रेमके अमृत-रसका आस्वादन करके सारा भारतीय समाज आज गद्गद और कृतकृत्य हो उठता है। मीराकी प्रेम-भक्ति इतनी सात्त्विक और इतनी सच्ची एवं स्वाभाविक थी कि आज भी मीराके पदोंको सुनकर पत्थरका कलेजा भी पसीज उठता है, भक्तिकी भावनासे कुछ क्षणके लिये सराबोर हो उठता है। भक्तिका महत्त्व उसकी अनन्यतामें है और इस दृष्टिसे मीराका भक्तिमय जीवन बेजोड़ है, उसकी कोई तुलना नहीं। मीराके पदोंमें भक्ति-भावको जाग्रत् करनेकी जो अद्भुत शक्ति है, तत्काल प्रभुसे नाता जोड़नेकी विद्युत्-प्रेरणा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कोई भी—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।

—पद गाकर प्रभुसे अपना सीधा सम्बन्ध जोडकर क्षणभर उनके साथ आत्मीयताका अनुभव कर सकता है। प्रेमा-भक्तिमें विरहकी अनुभूति एक परमोच्च दशा है। एक अद्भुत वेदना प्रेमीके जीवनको आत्मसात् कर लेती है। मीरा कहती है—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ दरद न जाणं मेरो कोय॥
घायल की गति घायल जाणै कि जिण घायल होय।
जौहरि की गति जौहरी जाणै की जिण जौहर होय॥
सूळी ऊपर सेज हमारी, सोणा किस विध होय।
गगन मँडळ पर सेज पिया की किस विध मिलणा होय॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहि कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जद बैद सॉवलिया होय॥

मीराके प्रभु-प्रेममय जीवनकी एक झाँकी इससे मिलती है। मिलनके लिये जो आतुरता, जो व्याकुलता और दीवाना-पन मीराके जीवनमें है, वह व्रज-गोपाङ्गनाओंके सिवा अन्यत्र दुर्लभ है। राजस्थानी भक्तिका चरम आदर्श है यही मीराकी प्रेमा-भक्ति। मीराके पदोंके द्वारा हमको इसका रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त है।

परंतु जिस प्रकार नारायणीके प्रवाहमें पड़कर शिला-खण्ड सुन्दर शालग्रामका रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार राजस्थानी साधकोंकी समन्वयात्मिका प्रवृत्तिने भक्तिके स्वरूप-विकासमें आज भक्तिको पूर्णा-भक्तिके रूपमें ग्रहण किया है। गीताप्रेसके द्वारा इसी पूर्णा-भक्तिका आदर्श उपस्थित किया जाता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुयायी भक्तिकी अनन्यताकी रक्षाके लिये 'ज्ञानकर्माद्यनावृत' विशेषणसे उसे विभूषित करते हैं।

परतु गीताप्रेसके द्वारा समर्थित अनन्या-भक्तिमें ज्ञान और कर्म भक्तिके अङ्ग हैं; वे बाधक नहीं हैं, साधक हैं। गीताके—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

तथा—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

[illegible] है। यह [illegible] पूर्णा-भक्तिका [illegible] यह भागवीन [illegible] करेगा—ऐसी [illegible]

पर्वतीय भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीत्रिलोचनजी पाण्डेय)

हिमालय प्रागैतिहासिक कालसे ऋषि-मुनियों और साधक परिव्राजकोंको आकर्षित करता आ रहा है। हिमाच्छादित शिखर, कल-कल-नादिनी सरिताएँ, शस्य-श्यामला प्रकृति संतोंके अन्तश्चक्षु खोलनेमें निरन्तर सहायक रहे हैं। प्रकृति-सौन्दर्यने जहाँ उन लोगोंको उच्च मानवीय आदर्शोंकी खोजमे संलग्न रखा है, वहाँ निभृत एकान्तद्वारा जीवन, जगत्, ईश्वर आदि-सम्बन्धी जटिल समस्याओंपर मनन करनेका अवसर भी दिया है। उत्तरप्रदेशके पर्वतीय जिले—नैनीताल, अल्मोड़ा और गढवाल हिमालयकी इसी पर्वत-श्रृङ्खलाके अन्तर्गत हैं।

यह भूभाग, जिसे हम सामान्यतया कूर्माचल या कुमाऊँ कहते हैं, प्राचीन कालसे ही पुराण और इतिहासोंमे उल्लेखनीय रहा है। वायुपुराण, स्कन्दपुराणमें इसका गुण-गान है; भागवतमें सरयू-कौशिकी नदियों तथा पञ्चचूली और त्रिशूल पर्वत-श्रृङ्खलाओंका नामोल्लेख है और महाभारतके 'वनपर्व' (१६३। १२, २६) में इसका माहात्म्य वर्णित है—

उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्यवान्।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः॥

× × ×

स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम्।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत् प्रणमात्र युधिष्ठिर॥

'यह देखो सुमेरु पर्वत उत्तर दिशाको प्रकाशित कर रहा है, जो ब्रह्मज्ञानियोंका गन्तव्य स्थान है। ... 'यह स्थान सनातन है—न कभी बनता है, न बिगडता है, न छोटा-बड़ा होता है। हे युधिष्ठिर! तुम इस स्थानको प्रणाम करो।'

तब आश्चर्य नहीं कि यह पर्वतीय प्रान्त चमत्कारी संतोंके उपदेश-माहात्म्यसे मण्डित हो। यहाँ अनेक संत-भक्तोंने अपनी साधना एव उपदेशोंद्वारा जन-साधारणका पथ-प्रदर्शन किया है। कुछ सत आज्ञा या दृष्टान्त या विचित्र वेष-भूषा, भाव-भङ्गिमाद्वारा लोगोको सन्मार्ग प्रदर्शित करते रहे हैं। यहाँ ऐसे ही कुछ सत-भक्तोंकी विशेषताओं तथा विचार-धारापर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है।

'चंद' शासकोंके [illegible] गोसाई, हर्षदेव पुरी आदि संतोंका [illegible] जिन्होंने उन शासकोंको उपदेश [illegible] किया था। उनके विषयमें अब सामन्ती [illegible] गयी हैं, जिनसे उनके विचारोंका अनुमान किया [illegible] ऋद्धिगिरि गोसाई बड़े त्यागी संत थे। [illegible] जब उन्हें जाड़ेमें ठिठुरता देख एक बढ़िया दुशाला [illegible] किया, तब वे बोले—'यह तो राजाओंके ओढ़नेका है, मैं राख मलनेवाला फकीर इस दुशालेका क्या करूँगा?' [illegible] करनेपर उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और उसके [illegible] धूनीमें झोंक दिया। राजाको समाचार मिला तो दर्शन करने आया। बाबा उसके मनका भाव ताड़ गये। धूनीमें पड़ा हुआ दुशाला वैसा ही निकालकर सामने रख दिया!

(२)

आधुनिक कालमें अधिक प्रसिद्धि श्रीसौम्यारी महात्मा-जीकी रही है—जो हलद्वानी, काकडीघाट एव पदम बोरी स्थानोंमें निवास करते थे। नित्य सोमवारके दिन यज्ञ हवन करानेसे उनका नाम ही सौम्यारी (सोमवारी) महात्मा हो गया। बड़े निर्द्वन्द्व, दूरदर्शी और दो-टूक बात कहनेवाले सत थे। दूसरोंके भावोंका उतार-चढाव समझ लेनेकी उनमें अद्भुत शक्ति थी। परोक्षकी बातें वे पहले ही कह देते थे।

घमंड एवं बाह्याचारोंके वे कट्टर विरोधी थे। कहा करते थे—'थोड़ा पढ़ने-लिखनेसे गर्व नहीं करना चाहिये।' स्नान आदि-द्वारा शरीर-शुद्धिपर जोर देते थे। वृद्ध और ब्राह्मण उनकी दृष्टिमें पूज्य रहे। ईश्वरतक पहुँचनेके वे अनेक मार्ग मानते थे। एक बार किसी अंग्रेजी पढनेवाले विद्यार्थीका कोरा माथा देखकर बोले—'चन्दन क्यों नहीं लगाया! बड़े घरके लडके हो न।'

'महाराज! रास्तेमे चन्दन मिलना कहाँ जो लगाता!' —उसने कहा। बाबाजी तुरत बोले—'[illegible] है। अगर लगानेवाले होते तो [illegible] भी [illegible]। [illegible] चन्दन लगाना चाहिये, अपनी वेष-भूषामें दृढ रहना चाहिये।'

झूठ बोलने और छल-कपटसे उन्हें चिढ़ थी। एक ग्वाला दूधमें पानी मिलाकर हवनके दिन भेंट करने आया—यह सोचकर कि इन्हें क्या पता चलेगा। इसके पहले कि वह आश्रममें पैर रखता, बाबाजीने सारा दूध सामने नहरमें फेंकवा दिया। ऐसी लताड़ बतायी कि ग्वाला क्षमा-याचना ही करता रह गया। ऐसी अनेक घटनाएँ उनके विचारोंको स्पष्ट करती हैं। वे असमयमें वैराग्य धारण करनेवालोंको भी पसंद नहीं करते थे। जब कोई इच्छा-पूर्तिके लिये उनके पास आता तो कहते, 'मैं तो प्रारब्ध ही बता सकता हूँ, बाकी कुछ नहीं कर सकता।' क्रोधका तिरस्कार, शान्तिका पालन उनकी दृष्टिमें साधुओंके गुण थे। ईश्वरकी सर्वव्यापकता एवं रक्षकतापर उनका अखण्ड विश्वास था। अहिंसापर इतना जोर देते थे कि गाय, बंदर, साँपोंतकको लकड़ीसे भगाना उनके आश्रममें वर्जित था। इन पंक्तियोंके लेखकने अपने पिताजीसे इस सम्बन्धकी अनेक मनोरञ्जक कथाएँ सुनी हैं। एक बार एक भयंकर सर्प कहींसे निकलकर धूनीके पास आ बैठा; एक भक्तने उसे मारनेको चिमटा उठाया तो महात्माजी बोले, 'शिवका गण है, धूनी रमाने दो।' तीन दिन लगातार एक ही कुण्डलीपर बैठा रहा, तब उन्होंने पानीके छींटे फेंकते हुए साँपसे कहा 'अब कैलास जाओ'—और हँसने लगे। साँप सीधे लौटकर अदृश्य हो गया।

प्रत्यक्ष उपदेश तो उन्होंने कम ही दिये; फिर भी उनके नियम-पालन, व्यवहार, वार्तालापद्वारा उनके विचारोंकी कुछ झलक मिलती है—जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं—संकल्प न करना; अपना कार्य निष्काम होकर करना; किसी बातका अभिमान न करना; लज्जाकी रक्षा ईश्वरके हाथ होती है; एक वर्ण अथवा आश्रमवालेको दूसरेसे घृणा नहीं करनी चाहिये; आचारके अनुसार चलना चाहिये; कुत्तेका ग्रास गायको देनेमें पाप नहीं है; योगी ब्राह्मणोंको बहुत अधिक न देकर मुट्ठीभर देना उचित है; शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये; देश-कालकी उपेक्षा उचित नहीं है। साहस, पौरुषसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये; भले ही होगा वही जो ईश्वरने रचा है। ब्राह्मणके पुत्रको सेठोंका साथ नहीं करना चाहिये; प्रेम संसारका सार है; संसारमें निर्मोही होकर रहना चाहिये; खान-पानका विचार रखना चाहिये; दुःख सुनानेके लिये योगी-तपस्वियोंके पास नहीं जाना चाहिये; भगवान्‌के सामने हाथ जोड़कर खड़े रहनेकी अपेक्षा उसके भक्तोंकी सेवा करना अधिक लाभप्रद है; स्तोत्र-पाठ चिल्लाकर नहीं करना चाहिये, ईश्वर बहरा नहीं होता; पाण्डित्य दिखानेवाली रामायणादिकी कथा भक्तोंके लिये उपयुक्त नहीं है; प्रतिकूल समयमें योगी-तपस्वियोंको वनमें चला जाना चाहिये! ('अचल'—अप्रैल १९३९)

(३)

इसी प्रकारके रौखड़िया बाबा कालाढूँगीके पास एक रौखड़ (नदी-तट) में रहते थे। जाड़ा, गरमी, बरसात वहीं साधना करते थे; न कोई आश्रम, न कोई कुटी! अवधूत थे—शिखा-सूत्ररहित! सर्वज्ञानी होनेपर भी निर्लिप्त! अहिंसाका उपदेश प्रत्यक्ष न देनेपर भी उनके उदारता आदि गुणोंका स्पष्टीकरण एक घटनासे होता है। वह यह कि एक बार चोरीके अपराधमें इन्हें पकड़ लिया गया जब कि ये निर्दोष थे; सिपाही चोटें मारता गया और ये खिल-खिलाकर जोरसे हँसते रहे।

(४)

मोहनदास बाबा पिछले वर्षतक जीवित थे। अल्मोड़ाके खकमरा कोटमें आश्रम बना लिया था। शुद्धि, पवित्रतापर इतना जोर देते थे कि आश्रममें प्रवेश करते समय जूते दूर ही उतारने होते थे। एक बार किसी थानेदारके साथ उसका कुत्ता आ गया। बाबाजीने पहले कुत्तेको बाहर कराया, तब बात की। गोरखे सिपाहियोंसे भी एक बार उनका संघर्ष हो गया था। कहते हैं उन्हें हनूमान्‌जी सिद्ध थे। बड़े दूरदर्शी और दूसरोंके भाव ताड़ जानेवाले संत थे। तुलसीकृत रामायण उनकी प्रिय पुस्तक थी। इस लेखकने ही दो-तीन बार उनके यहाँ सुन्दरकाण्डका पाठ किया था। बोलते कम थे; किंतु अन्तर्भेदिनी दृष्टिसे लगता था न जाने किस भूल-चूकपर डाँट-फटकार दें। उनकी करनी-रहनी ही सात्त्विकी, परोपकारी भावनाओंकी परिचायक थी।

(५)

हल्द्वानीके श्रीलटोरिया बाबाको कुछ लोग इन्हीं मोहनदास बाबाका गुरुभाई बताते हैं। उन्होंने विन्ध्याचल अथवा सतपुड़ामें कहीं घोर तपस्या की थी—यहाँतक कि उनकी जीभ उलट गयी थी! एड़ीतक लंबी जटाएँ, शरीर भस्मावृत, केवल मूँजकी रस्सी और लँगोट; चाहे शीत हो या ग्रीष्म—त्रिकाल-स्नान; सुबह-शाम दस-पाँच भक्तोंसे घिरे हुए—इस रूपमें अनेक लोगोंने चलते हुए उन्हें सड़कपरसे देखा है। वे कुछ हठयोगी-से प्रतीत होते थे; न जाने कितनी बार श्रोताओंने उनके श्रीमुखसे कुण्डलिनी, षट्चक्र, इडा-पिङ्गलाका रहस्य घंटों बैठकर सुना है! वे त्यागका उपदेश ही नहीं देते थे; आश्रममें जो भी वस्तु आती, उसे वे भक्तगणोंमें बाँट देते! कहते थे, 'संग्रहकी वृत्ति ही पापका मूल है और मनुष्यको आसक्तिमें डाला करती है।' उनके मुखसे प्रायः गीताके विचार व्यक्त होते थे। कुछ वर्ष हुए उन्होंने जीवित समाधि ले

ली; किंतु उनका आश्रम इसके वाद भी समृद्ध होता गया और आज अनेक साधु-संत उनकी वाणीका अनुसरण करते हुए वहाँ ज्ञान-चर्चा किया करते हैं।

सामान्यरूपसे इन संतोंने त्याग, मनकी शुद्धि, अहिंसा, सत्य वचन, अन्तःसाधना, जगत्मे जल-कमलवत् जीवन-यापन, निर्वैरता, मन-वाणीकी एकरूपता आदि महान् आदर्शोंपर जोर दिया है, जो प्रत्येक युगमें प्रत्येक मानवके लिये अनुकरणीय हो सकते हैं। इन संतोंकी वाणी सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखायकी भावनासे प्रेरित होती है। इनके चरित्रसे यह भी स्पष्ट होता है कि संतगण भले ही अपने वैयक्तिक जीवनमें निवृत्तिमार्गी हों, भले ही जन-साधारणसे उनकी जीवन-शैली कुछ भिन्न हो, किंतु उनकी दृष्टि निरन्तर रहती समाज-कल्याणपर ही है। इस तथ्यमें विरोधका आभास चाहे हो, किंतु यह सत्य है कि विरक्त होनेपर भी वे मानवमात्रपर अनुरक्त रहते हैं और उनकी उदात्त वाणीमें सम्पूर्ण मानव-जातिका कल्याण-संदेश निहित रहता है।

वैष्णवका व्यक्तित्व

(लेखक—डा० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० फिल्०)

वैष्णव-धर्ममें वैष्णवोंके व्यक्तित्वको विष्णुके व्यक्तित्वके अनुरूप विकसित करनेकी सुन्दर योजना बनायी गयी है। उसके लिये सभी प्राणियोंके प्रति दया तथा सेवा-भावनाकी आवश्यकता इसलिये बतायी गयी है कि भगवान् सभी प्राणियोंमें आत्मारूपसे विराजमान हैं। प्राणियोंका अनादर इस दृष्टिसे विष्णुका अनादर हो जाता है। नियम है कि प्राणियोंसे वैर रखकर मन शान्त नहीं किया जा सकता। भक्त सभी प्राणियोंमे स्थित भगवान्को अपने हृदयमे देखते हुए सबके साथ अपनी एकात्मता स्थापित कर ले।[1]

भगवान्की दृष्टिमें आदर्श मानव श्रद्धालु, भक्त, विनयी, दूसरोंके प्रति दोष-दृष्टि न रखनेवाला, सभी प्राणियोंका मित्र, सेवक, आधिभौतिक वस्तुओंके प्रति विरक्त, शान्तचित्त, मत्सररहित, शुचि और भगवान्को प्रिय माननेवाला होता है[2]। ऐसे ही व्यक्तिको उच्च भगवत्तत्त्वकी बात सुननेका अधिकार होता है। उसके लिये सम्पत्ति और विपत्तिमें निर्विकार होना और उत्तम, मध्यम और अधमको समान मानकर सबके प्रति समभाव रखना आवश्यक है। भगवान् समचित्तवर्ती हैं।[3]

श्रीमद्भागवतके अनुसार वैष्णवको काम और अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियोंसे अलग रहना चाहिये। इनके चिन्तनसे मनुष्यके सभी पुरुषार्थोंका नाश हो जाता है, वह ज्ञान-विज्ञानसे च्युत हो जाता है।[4]

मनमें विषय-कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति

१. भागवत ३ । २९ । २१—२७

२. भागवत ३ । २२ । ३९—४३

३. भागवत ४ । २० । १२, १३, १६

४. भागवत ४ । २२ । २३—३४

और सत्यकी हानि होती है[1]। शरीर, स्त्री, पुत्र आदिके प्रति आसक्तिका त्याग, देह और गेहका आवश्यकतानुसार सेवन, आवश्यकताकी पूर्तिमात्रके लिये अपेक्षित धनको अपना मानना, पशु-पक्षियोंको पुत्रवत् समझना, धर्म, अर्थ और कामके लिये अधिक कष्ट न उठाना, अपनी भोग्य सामग्रीको सभी प्राणियोंमें बाँटकर उसका उपभोग करना आदि भागवत-धर्मानुयायी गृहस्थकी प्रगति-दिशामें प्रकाशस्तम्भ हैं[2]। वैष्णवकी लोकोपकार-वृत्ति ही उसकी सर्वोच्च आराधना है[3]। रन्तिदेव नामक वैष्णव राजाके व्यक्तित्व आदर्श है। उसने कामना की है—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
> (श्रीमद्भा० ९ । २१ । १२)

'मैं ईश्वरसे आठों ऋद्धियोंसे युक्त परमगतिकी कामना नहीं करता और न मैं मोक्षकी ही कामना करता हूँ। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि सभी प्राणियोंके अन्तरमें प्रतिष्ठित होकर उन सबके दुःखको अपना लूँ, जिससे वे दुःखरहित हो जायँ।'

विष्णुभगवान्के अवतार श्रीकृष्णकी उस योजनाका निर्देश भागवतमें मिलता है, जिसके द्वारा वे वैष्णवोंके

१. भागवत ७ । १० । ८

२. भागवत ७ । १४ । ११—१३

३. तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥
(श्रीमद्भाग० ८ । ७ । ४४)

व्यक्तित्वका विकास करते हैं। जिस व्यक्तिपर श्रीकृष्णका अनुग्रह होता है, उसका सर्वस्व वे शनैः-शनैः अपहरण कर लेते हैं। ऐसे दुखी व्यक्तिको उसके स्वजन भी छोड देते हैं। भगवत्कृपासे अपने उद्योगोमे विफल होकर वह व्यक्ति श्रीकृष्णके अधिक अनुग्रहका पात्र बन जाता है। परिणामस्वरूप उसे प्रेमी भक्तकी प्रीतिके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। श्रीकृष्णने स्वय अपनी योजनाकी सार्थकता व्यक्त करते हुए कहा है—

'जो पुरुष मेरी उपासनाको कठिन समझकर अन्य देवोंकी उपासना करते हैं, उनसे उनके आराध्यदेव शीघ्र प्रसन्न होकर उन्हे राज्यश्री प्रदान करते हैं। उस राज्यश्रीसे आराधक प्रमत्त होकर अपने आराध्य वरदाताको भूल जाते हैं और पुनः उन्हींका तिरस्कार करने लगते हैं।'[1]

वैष्णवका परम कर्तव्य है कि वह अपने सभी कार्मोको नारायणके लिये समर्पित कर दे। ऐसी परिस्थितिमें उसे जब नारायणके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ताकी प्रतीति नहीं रह जाती, तब वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। भय द्वितीयाभिनिवेश (मुझसे भिन्न भी कुछ है—इस भावना)से होता है। वह इसे छोड़ देता है।[2]

ऐन्द्रिय सुखों या दुःखोकी अनुभूति करते हुए भी विष्णुका भक्त हर्ष और विषाद नहीं करता। वह इन्द्रियके विषयोंको विष्णुकी माया समझता है। उसके चित्तमें काम-कर्मोंके बीज उत्पन्न ही नहीं होते। उसे जन्म, कर्म, वर्णाश्रम तथा जाति आदिके आधारपर अहंभाव नहीं होता।[3]

वैष्णवके व्यक्तित्वके सोपानोंका भागवतमें इस प्रकार आकलन किया गया है—उसे सर्वप्रथम ब्रह्मज्ञ गुरुकी शरण लेकर अनासक्ति, दया, मैत्री, विनय, शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, समता, एकान्त-सेवन, घरके प्रति ममता न रखना, वस्त्रके प्रति उपेक्षा तथा जिस किसी वस्तुसे सतोष आदि गुणोंको अपनाना चाहिये; उसे मन और वाणीपर संयम रखना तथा सत्य, शम, दम, हरिके पराक्रमोंके श्रवण, कीर्तन और ध्यान आदिका अभ्यास करना चाहिये। यज्ञ-दान, तप-जप, अपना जीवन तथा अपनेको प्रिय, लगनेवाले स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण—सबको भगवान्‌के लिये समर्पित कर देना चाहिये। उसे सभी मानवों-के प्रति सौहार्द और महात्माओंके प्रति सेवाभाव रखना चाहिये।[1]

व्यक्तित्वके विकासकी दिशामे भागवत-धर्ममे वेदान्तके आध्यात्मिक दर्शनको भी अपनाया गया है। इसके अनुसार मुक्ति विद्याके द्वारा सम्भव होती है। विद्यासे ज्ञान होता है कि आत्मा (मैं) कुछ भी नहीं करता। ऐसी मनःस्थितिमें साधक शरीरके किसी व्यापारको न तो अपना मानता है और न उनसे बद्ध होता है। उसे शरीरके सुख या दुःखसे सुख या दुःख नहीं होता। वह स्वयं कुछ करता नहीं, बोलता नहीं। भला-बुरा नहीं सोचता। केवल आत्मामे ही उसे आनन्द मिलता है। वह आत्माराम है। उसका पथ प्रशस्त है। यदि उपर्युक्त पद न प्राप्त हो सके तो भगवान्‌में सभी कर्मोंको निरपेक्ष होकर अर्पित करते हुए भगवान्‌की कथाओं-को सुनना, उनके पराक्रमोंका स्मरण करना, सज्जनोंके द्वारा बतलाये हुए भक्ति-पथपर चलना आदि उपायोंसे ही वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[2]

वैष्णवका व्यक्तित्व एक विशिष्ट साँचेमें ढला हुआ होता है। वह भगवान्‌की मूर्ति और भक्तजनोंका दर्शन करता है, भगवान्‌के जन्म और कर्मोंका वर्णन करता है, भगवान्‌से सम्बद्ध पर्वोंमें उत्सवका आयोजन करता है और ऐसे समयमें गीत, नृत्य, वादित्र तथा गोष्ठीसे घरमे प्रमुदित वातावरणका सर्जन करता है। मूर्ति-स्थापनामें वैष्णवकी श्रद्धा होती है। वह स्वय या अनेक लोगोंके साथ मिलकर भगवान्‌के नामपर उपवन, आक्रीड, मन्दिर आदिका निर्माण कराता है।[3]

वैष्णवका समग्र जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। वह उन्हीं स्थानोंमें रहता है, जहाँ भगवान्‌के भक्त रहते हैं। वह चाण्डाल-चोर, सूर्य-चिनगारी, निर्दय-दयावान् आदिके सम्बन्धमे समदृष्टि रखता है। वह घोड़े, चाण्डाल, गौ और गदहेतकको साष्टाङ्ग प्रणाम करता है। उसके मानसमें सभी प्राणियोंके प्रति भगवद्भावनाका उत्पन्न होना आवश्यक है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १९)

१. भागवत १०। ८८। ८–११
२. भागवत ११। २। ३६-३७
३. भागवत ११। २। ४५—५२

१. भागवत ११। ३। २०–३०। भक्तोंके लक्षण—अकिंचनता, षड्गुणों (भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म, मृत्यु) को जीतना, कर्मनिष्ठता, मैत्री-भावनाके लिये देखिये भागवत ११। ११। २९–३४
२. भागवत ११। ११। १–२५
३. भागवत ११। ११। ३४–४९

नारदपुराणमें वैष्णवमें लोकोपकारी वृत्तियोंकी आवश्यकता बतलाते हुए कहा गया है 'जो व्यक्ति दरिद्र अथवा रोगी मनुष्यकी सेवा-रक्षा करता है, उसकी सभी कामनाएँ विष्णु पूर्ण कर देते हैं। विद्यादान करनेसे मनुष्यको विष्णुका सायुज्य प्राप्त होता है।'[1]

वैष्णवके लिये भोज्याभोज्यका भी विधान बना है—जैसे द्विजातियोंको दिनमें दो ही बार भोजन करना चाहिये, गोल लौकी, लहसुन, प्याज, ताड़का फल और भाँटा उसे नहीं खाना चाहिये।[2]

वैष्णवी भावना अतिशय उदात्त है और इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि व्यावहारिक जगत्की परिधिसे प्रायः बाहर है। इसके अनुसार विष्णु ही देव, यक्ष, असुर, सिद्ध, नाग, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, राक्षस, मनुष्य, पशु-पक्षी, स्थावर (वृक्ष आदि), चींटी, सर्प आदि रेंगनेवाले जीव, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, आत्मा, काल, गुण—इन सबके पारमार्थिक रूप हैं। वे ही विद्या-अविद्या, सत्य-असत्य और विष-अमृत हैं तथा वेदोक्त प्रवृत्ति और निवृत्तिपरक कर्म भी वे हैं। विष्णु सभी कर्मोंके भोक्ता, उनकी सामग्री और फल हैं। योगी विष्णुका ध्यान करते हैं, याज्ञिक उन्हींका यजन करते हैं और पितृगण तथा देवगणके रूपमें विष्णु ही हव्य और कव्यके भोक्ता हैं। ऐसी दार्शनिकता में भक्तकी भावना हो सकती है—भगवान् अनन्त और सर्वगामी हैं। वे ही मेरे रूपमें स्थित हैं। अतएव यह सम्पूर्ण जगत् मुझसे ही हुआ है। मैं ही यह सब कुछ हूँ और मुझ सनातनमें ही यह सब स्थित है। मैं ही अक्षय, नित्य और आत्माधार परमात्मा हूँ तथा मैं ही जगत्के आदि और अन्तमें स्थित ब्रह्मसंज्ञक परमपुरुष हूँ।[3]

भगवद्भक्तिका मूल ब्राह्मण-भक्ति

(लेखक—प० श्रीश्रीलालजी पाठक)

निस्सन्देह भगवद्भक्ति अत्युत्कृष्ट साधन तथा सर्वोपरि फल है; तथापि इसका मूल क्या है, इसे जाने बिना उसकी प्राप्ति दुर्घट ही है। इस सम्बन्धमें भगवान्की श्रीमुखकी वाणीको ही प्रमाणरूपमें उपन्यस्त करना अनुचित न होगा। स्वयं भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणजीको तत्त्वोपदेश करते समय बतलाया था कि 'भैया! मेरी कृपा-प्राप्तिका मूल-मन्त्र है भगवद्भक्ति; ज्ञान-विज्ञान आदि सब इसीके अधीन हैं; पर भक्ति-प्राप्तिकी साधना है पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम और स्वधर्म-प्रतिपालन। इससे विषयोंमें वैराग्य होकर मेरे चरणोंमें प्रीति—भक्ति उत्पन्न होती है—

प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥

इसी प्रकार अयोध्यावासियोंकी सभामें आपने बतलाया था कि 'भक्ति सभी सुखोंकी खान है, पर यह सत्सङ्गतिके बिना नहीं मिलती। सत्सङ्गति भी पुण्य-राशिसे ही मिलती है और पुण्य संसारमें एक ही है, दूसरा नहीं। वह है—मन, वचन और क्रियासे ब्राह्मणोंके चरणकी पूजा—

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥

इसका मूल रहस्य यह है कि भगवान् धर्मविग्रह, सत्त्वराशि हैं और ब्राह्मणोंमें भी सत्त्वगुणकी तथा धर्मकी प्रधानता होती है; इसीलिये भगवान्को 'ब्रह्मण्यदेव' कहा गया है। शंकराचार्यने गीता-भाष्यकी भूमिकामें पहले-पहल यही लिखा है कि 'भगवान्का अवतार ब्राह्मणोंकी रक्षा—स्थापनाके लिये ही होता है, क्योंकि ब्राह्मणोंके रक्षित—स्थापित होनेपर ही वैदिक धर्म स्थापित होकर विश्वकी रक्षा तथा स्थापना होती है। यही नहीं, स्वयं भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम हृदयसे ब्राह्मणोंके अनन्य भक्त तथा हितचिन्तक हैं। यहाँ इस बातकी पुष्टिके लिये कतिपय उदाहरण देना प्रसङ्ग-विरुद्ध न होगा।

वाल्मीकीय रामायणमें आता है कि भगवान् श्रीराम स्वयं तो सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करते ही हैं, वन-गमनके समय वे अपनी मातासे भी यही कहते हैं—'हे देवि! मेरी मङ्गल-कामनाके हेतु तुम नित्य देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करना।' (२।२८।२९) गुरुपुत्र सुयश नामक ब्राह्मणकुमारको आते देख भगवान् श्रीजानकीसहित हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं। (२।३२।८)

त्रिजट नामके एक गरीब अरद् ब्राह्मणको, जो खन-वृत्ति (खोदने-काटनेका काम) करता था, भगवान्

---

१. पूर्वभाग, प्रथमपादके १३वें अध्यायसे। २. पद्मपुराण, पातालखण्ड, ७९ वें अध्यायसे। ३. भारतके विविध सांस्कृतिक वर्गोंको एक सूत्रमें गूँथनेके लिये यही वैष्णवी भावना नितान्त उपयोगी है। उपर्युक्त उद्धरणके लिये देखिये विष्णुपुराण १।१९। ६७–७२, ८१, ८५, ८६।

श्रीरामने अनेक गायों तथा धनका दान देते हुए कहा—'मैं सत्य कहता हूँ कि यह मेरा धन ब्राह्मणोंके लिये ही है। यदि यह सुचारुरूपसे आप-जैसे (गरीब और अपढ) ब्राह्मणोंकी सेवामें लग जाय तो मुझे यशकी प्राप्ति हो जाय।' (२। ३२। ४३)

वन-गमनके समय अपने रथके पीछे ब्राह्मणोंको पैदल आते देख भगवान् श्रीराम यह सह न सके और रथसे नीचे उतरकर खड़े हो गये। (२। ४५। ५९) श्रीरामने भगवती जानकीसे कहा था—'ऋषियों और विशेषकर ब्राह्मणोंकी रक्षा करना मेरा परम धर्म है।' (३। १०। १८)

कबन्धको उपदेश देते हुए आपने कहा था कि 'शाप देते, ताड़न करते तथा कठोर बोलते समय भी ब्राह्मण पूजने योग्य ही होते हैं।' (३। १०। १८) इसीका अनुवाद करते हुए गोस्वामीजीने भी कहा है—

सापत ताडत परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥

अञ्जनीनन्दन हनुमान्ने अशोक-वाटिकामें भगवती सीतासे कहा था, 'माता! श्रीरामचन्द्रजी नीतिमान्, विनयी, ब्राह्मण-भक्त, ज्ञानवान्, शीलवान् और शत्रुतापन हैं।' (५। ३५। १३) अयोध्यामें समागत ऋषियोंसे भगवान् श्रीरामने ब्राह्मणोंके प्रति अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा था—'मुनीश्वरो! यह सम्पूर्ण राज्य तथा मेरे प्राण आदि सभी कुछ ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये ही है—यह मैं सत्य कहता हूँ।' (७। ६०। १४)।

भगवती सीताने अपनी ब्राह्मण-भक्ति ऋषि-मण्डलीमें इस प्रकार प्रकट की थी—'ऋषियो! किशोरावस्थामें जब मैं अपने पिताके घर थी, एक ब्राह्मण अतिथि मेरे पिताके पास आये। उन्होंने वर्षाके चार मास पिताके यहाँ व्यतीत करनेकी इच्छा प्रकट की। ब्राह्मणोंके अनन्य भक्त मेरे पिताने उन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक अपने घर रखना स्वीकार किया और ब्राह्मणदेवके भोजनके लिये विविध प्रकारके पदार्थोंकी नियमित व्यवस्था कर दी। मेरे धर्मज्ञ पिताने ब्राह्मण-देवताकी अन्य सेवाओंके लिये मुझे नियुक्त कर दिया। परमार्थके ज्ञाता ब्राह्मणदेव मुझे दिन या रात्रिमें, जब, जो भी आज्ञा प्रदान करते, मैं आलस्य छोड़कर उसी क्षण उनकी उस आज्ञाका पालन करती थी।' (अद्भु० रामा० १७। २८–३१)

सिंहासनारूढ़ होनेके बाद भगवान् रामचन्द्रजी गुरुकी आज्ञा लेकर रावण-वधके प्रायश्चित्तके निमित्त तीर्थाटनके लिये निकले। तीर्थोंमें घूमते जब वे धर्मारण्य पहुँचे, तब वहाँकी भूमि ब्राह्मण-शून्य देखकर अत्यन्त चकित हुए। राक्षसोंसे त्रस्त ब्राह्मणोंको उन्होंने दूर-दूरसे बुलाया और उनके स्वागतार्थ पैदल दौड़ते हुए उनके चरणोंमें गिरकर प्रणाम किया तथा बोले—''ब्राह्मणो! आपलोगोंके प्रसादसे ही मैं लक्ष्मीपति हुआ हूँ, ब्राह्मणोंके ही प्रसादसे मैं धरणी धारण किये हूँ। ब्राह्मणोंके प्रसादसे ही मैं विश्वपति हूँ और विप्रोंकी ही आशिषसे मुझे 'राम' यह नाम प्राप्त हुआ है।'' (स्कन्द० ब्रा० खं० धर्मा०)

महर्षि मनु कहते हैं, 'ब्राह्मण-शरीरकी सृष्टि धर्मकी शाश्वत मूर्ति है। धर्मके रक्षार्थ ही उन्हें ब्रह्माजीने रचा है। वे मनुष्योंको मोक्ष प्राप्त करानेकी क्षमता रखते हैं। ब्राह्मण-वंशमें जन्म लेनेवाला सम्पूर्ण प्राणियोंमें श्रेष्ठ माना जाता है। वह अकेले ही सब जीवोंके धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है। इस संसारकी सभी वस्तुएँ ब्राह्मणोंकी हैं। सब वर्णोंका गुरु तथा सबसे बड़ा होनेके कारण ब्राह्मण ही सबका प्रभु है। यद्यपि ब्राह्मण दूसरोंके दिये अन्न-वस्त्र तथा धनादिसे अपनी नित्य-क्रिया करता है तथापि वह सबका प्रभु है; क्योंकि ब्राह्मणोंकी अनुकम्पासे ही संसारके समस्त प्राणी सब प्रकारके भोग प्राप्त करते हैं।' (मनुस्मृ० १। ९३–१०१)

एक बार सनकादिक भगवान्के दर्शनार्थ वैकुण्ठ पहुँचे। पार्षदोंने उन्हें भीतर नहीं जाने दिया। ऋषियोंने शाप दे दिया। सुनते ही भगवान् दौड़ पड़े और क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने कहा—'ब्राह्मण मेरे परमदेवता हैं। मेरा मन सदा ब्राह्मणोंके चरणोंमें लगा रहता है। मेरे पार्षदोंने आपका अपराध किया है। अतएव मैं ही अपराधी हूँ। मेरी कथाके श्रवणमात्रसे अधम प्राणी भी क्षणभरमें पवित्र हो जाते हैं, मेरा यह पराक्रम ब्राह्मण-सेवाका ही परिणाम है। यह वैकुण्ठका अधिकार मुझे ब्राह्मणोंके पुनीत चरणोंके प्रतापसे ही प्राप्त हुआ है, अतएव आपकी इच्छाके विपरीत आचरण करनेपर इन्द्रादिक देव भी मेरेद्वारा दण्डनीय हो जाते हैं। जितना मैं ब्राह्मण-भोजनसे तृप्त होता हूँ, उतना अग्निमें हवन करनेसे नहीं होता। मेरे चरणोंसे गङ्गा निकलकर संसारके पापोंका नाश करती हैं; वह इसीलिये कि मैं ब्राह्मणोंके चरणोंकी धूल अपने मुकुटपर धारण करता हूँ। मेरे शरीरके सर्वकामपूरक ब्राह्मण हैं। जो मुझमें और ब्राह्मणोंमें भेदबुद्धि रखता है, वह पापी है; उसे यमालयमें सर्पतुल्य गीध अपनी तीक्ष्ण चोंचसे छेद देते हैं। जो मनुष्य ब्राह्मणके कटु वचन सुनकर दुखी होनेके बदले प्रसन्न होता है और उनकी पूजा करता है, मैं ऐसे महात्माके वशमें हो

जाता हूँ। ब्राह्मण मेरा शरीर ही है। विज्ञ पुरुष इसमें अन्तर नहीं देखते। और जो मूर्ख मुझमें और ब्राह्मणोंमें अन्तर देखता है, वह मरणोपरान्त नरकगामी होता है। (श्रीमद्भा० ३।१६)

आदिराज महाराज पृथु भगवान् विष्णुके ही अवतार थे। उनके नामसे ही भूलोकका 'पृथ्वी' नाम पड़ा; क्योंकि वह उनकी पुत्री समझी जाती है। उन्होंने सौ अश्वमेधयज्ञ किये थे। अन्तिम यज्ञकी सभामें उन्होंने कहा था—'ब्राह्मणोंकी भक्ति करनी चाहिये। ब्रह्मण्यदेव और महापुरुषोंमें प्रधान पुरुष भगवान् जिन ब्राह्मणोंके पादारविन्दकी वन्दना करनेसे अखण्डित लक्ष्मी-के पति और देवाग्रगण्य हुए हैं, पतितपावन हुए हैं, ऐसे ब्राह्मणोंका कभी भी तिरस्कार नहीं होना चाहिये। भगवान्को ब्राह्मण और ब्राह्मणोंको भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं। ऐसे ब्राह्मणोंकी सेवा करनेसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। अतएव ब्राह्मणकुलकी सेवा करना सर्वथा उचित है। सब देवताओंके मुख ब्राह्मण हैं, उनकी नित्यप्रति सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्तमें समता आती है, सुख मिलता है और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। ब्राह्मणकी सेवा करनेवालोंको परमहंसोंकी गति मिलती है। मैं ब्राह्मणोंके चरणोंकी रज सदा मस्तकपर धारण करूँ, यह मेरा मनोरथ है और आप सब लोग भी ऐसा ही करें। जो ब्राह्मणोंकी चरण-रज मस्तकपर चढ़ाते हैं, उनके अनेक जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं और उन्हें सब गुण प्राप्त होते हैं। सभी गुणवान्, शीलवान्, धनवान् और वृद्ध पुरुष ब्राह्मण-भक्तकी बड़ाई करते हैं; उन ब्राह्मणोंका कुल, गौओंका कुल और अपने पार्षदोंसहित भगवान् मुझपर प्रसन्न रहें।' (श्रीमद्भा० ४।२१।३७–४४)

ऋषभदेवके रूपमें अवतरित होकर भी भगवान्ने अपने पुत्रोंसे कहा था—'ब्राह्मण हम सबसे बड़े और हमारे पूज्य हैं। ब्राह्मणसे श्रेष्ठ हम किसीको नहीं देखते। ब्राह्मणोंको श्रद्धा-पूर्वक सुमिष्ट एवं सुस्वादु भोजन करानेसे मेरी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अग्निमें हवन करनेसे भी नहीं होती। जो ब्राह्मण वेद पढ़ते हैं, सत्त्वगुणी हैं, शम-दमादिसे युक्त एवं तपस्यारत हैं, उनसे बड़ा मैं किसे मानूँ? ब्राह्मणोंके संतोषकी क्या प्रशंसा करूँ? वे मुझसे भी कुछ नहीं माँगते तो दूसरोंसे क्या माँगेंगे?' (श्रीमद्भा० ५।५)

नाभि नरेशके यज्ञमें भी प्रकट होकर भगवान्ने कहा था—'ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं होता। ब्राह्मण देवता हैं। वे हमारे मुख हैं।' (श्रीमद्भा० ५।५।२२–२५)

राजा रहूगण जडभरतसे कहते हैं, 'मैं देवराज इन्द्रके वज्र, शिवके त्रिशूल, यमके दण्ड, अग्निके कोप, सूर्यके ताप, पवनके वेग, कुबेरके पाश और सोमके अस्त्रसे भी उतना नहीं डरता, जितना ब्राह्मणोंके अपमानसे डरता हूँ।' (श्रीमद्भा० ५।१०।१७)

गृहस्थोंके लिये ब्राह्मण सदा पूज्य हैं और उनकी पूजासे परम सुखकी प्राप्ति एवं परम मङ्गल होता है। गृहस्थ धर्मकी व्याख्या करते हुए महर्षि नारदने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा था, 'मनुष्योंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण देवता हैं। वे सब कामनाओंको सिद्ध करनेवाले हैं। इनको भगवान् ही जानो और इनकी पूजा करो। पुरुषोंमें वेदपाठी, तपस्वी, विद्यावान्, संतोषी ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणोंमें अपनी चरण-रजसे त्रैलोक्यको पवित्र कर देनेकी शक्ति है।' (श्रीमद्भा० ७।१४)

ब्राह्मणकी आजीविका हरण करनेवालेके लिये भयानक दण्डका विधान है। एक ब्राह्मणकी गौ दूसरे ब्राह्मणको दान करनेकी भूलसे राजा नृगको गिरगिट होना पड़ा था। भगवान्ने स्वयं कहा है, 'विष तो खानेवालेको ही मारता है किंतु ब्राह्मण-का धन हरण करनेवालेका तो कुलसहित नाश हो जाता है। अग्निसे जले वृक्षकी जड़ें शेष रह जाती हैं, पर ब्राह्मणकी क्रोधाग्निसे जड़ें भी भस्म हो जाती हैं। बिना पूछे ब्राह्मणका धन लेनेवालेकी तीन पीढ़ियाँ नरकमें पड़ती हैं।'

बलपूर्वक या किसी प्रकार भी ब्राह्मणकी सम्पत्ति ग्रहण करनेकी अत्यन्त निन्दा की गयी है। ब्राह्मणोंको पीड़ित करना भयानक पाप है। भगवान्ने कहा है—'दुखी होकर जब ब्राह्मणके अश्रु गिरते हैं और उनसे जितने धूलिकण भीगते होते हैं, पीड़कको उतने वर्षोंतक कुम्भीपाककी भयानक यातना सहनी पड़ती है। ब्राह्मणको तो प्रत्येक परिस्थितिमें आदर ही देना श्रेयस्कर है।' (श्रीमद्भा० १०।६४।३३–४३) युधिष्ठिर-के यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णने आगत ब्राह्मणोंके चरण धोनेका भार स्वयं लिया था। दरिद्र सुदामाका सम्मान भगवान्ने किस प्रकार किया, यह तो प्रायः सभी जानते हैं। सुदामाको देखते ही श्यामसुन्दरके नेत्र झरने लगे थे और उन्होंने सुदामाकी सम्पूर्ण दरिद्रता सदाके लिये समाप्त कर दी।

अपने प्राणप्रिय भक्त श्रुतदेवसे श्रीकृष्णने कहा था—'प्राणियोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मण यदि विद्या और तपसे युक्त हों, तब तो कुछ कहना ही नहीं; क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और सर्वदेवमय मैं हूँ;........। मुझे अपना

चतुर्भुजस्वरूप भी ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं।' (श्रीमद्भा० १० । ८६ । ५३-५४)

ब्राह्मण सबका पूज्य एवं आदरणीय है। भृगुकी लात सहकर भी विष्णुने उनके चरणोंको सहलाया और उनसे क्षमा-याचना की। भगवान्‌की स्पष्ट घोषणा है—'ब्राह्मण मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।' भक्ति-प्राप्तिके लिये ब्राह्मणोंकी सेवा एव उत्तम तीर्थोंका सेवन—ये दो ही साधन भगवान्‌ने बताये हैं (श्रीमद्भा१०।८९)। भगवान् श्रीरामने कहा है—

सानुकूल तेहि पर सब देवा। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥

'ब्राह्मणकी निष्कपट सेवा करनेसे सम्पूर्ण देवता अनुकूल रहते हैं।'

अमृत-घट लेनेके लिये गरुडके प्रस्थान करते समय उनकी माता विनताने उन्हें समझाया था—'तुम कभी ब्राह्मणको मारनेका विचार मत करना। ब्राह्मण सबके लिये अवध्य है। वह अग्निके समान दाहक होता है। ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंका गुरु है। वह सत्पुरुषोंके लिये आदरणीय है। तुम क्रोधमें आकर भी ब्राह्मणकी हत्या मत करना। ब्राह्मण चतुर्वर्णोंमें अग्रणी, श्रेष्ठ, पिता और गुरु है।' (महाभा० १। २८। ३–७)

वासनाओंपर विजयी, सांसारिक आकाङ्क्षा-कामनाओंसे शून्य, अहर्निश तपस्यारत एवं संसारका मङ्गल चाहनेवाला ब्राह्मण अवश्य ही पूज्य है। मार्कण्डेयजीने युधिष्ठिरसे ब्राह्मणोंकी महिमा इस प्रकार कही थी—'जो ब्राह्मणोंको संतुष्ट करता है, उसपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं। ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे मनुष्योंको स्वर्गलोककी प्राप्ति हो जाती है। अतएव मरण-समय जब कण्ठ कफसे रुँध गया हो, यदि मनुष्य वैकुण्ठ पानेकी अभिलाषा रखता हो तो ब्राह्मणोंकी पूजा करे।'

ब्राह्मणको तीर्थकी सज्ञा दी गयी है। बृहद्धर्मपुराणमें कहा गया है—'ब्राह्मणोंके दोनों चरण और गौओंकी पीठ तीर्थ हैं और ये जहाँ रहते हैं, वह स्थान तीर्थ बन जाता है। ...ब्राह्मण संसारमें चलते-फिरते तीर्थ हैं। इनके सद्वाक्यरूपी जलसे पापीके हृदयके भी मल धुल जाते हैं।' (शातातपस्मृति)

पाराशरस्मृतिमें शीलहीन तथा अजितेन्द्रिय ब्राह्मणको भी पूज्य कहा है। (८। ३२) शुक्रने पतित ब्राह्मणको भी पूज्य कहा है, पर विद्वान् शूद्रको नहीं*। (शुक्रनी०) महाभारत अनुशासनपर्वमें आता है कि 'ब्राह्मण चाहें तो देवताओंको देवत्वसे भी भ्रष्ट कर सकते हैं। उनके शापसे समुद्रका पानी पीने योग्य नहीं रहा। उनकी क्रोधाग्नि दण्डकारण्यमें आजतक शान्त नहीं हुई। वे देवताओंके भी देवता, कारणके भी कारण और प्रमाणके भी प्रमाण† हैं। ब्राह्मणोंमें कोई बूढा हो या बालक—सभी सम्मानके योग्य हैं। ब्राह्मण अविद्वान् हो या विद्वान्, वह परमदेवता है उसी प्रकार जैसे अग्नि प्रणीत हो या अप्रणीत, वह परमदेवता है।' (महा० अनुशासन०, दानधर्म० १५१। १५–२३)

जैसे तुलसी, अश्वत्थ आदि वृक्ष जडयोनि होनेपर भी पूजा तथा नमस्कार करनेसे पर-कल्याणमें सर्वथा सक्षम हैं, गौ पशु होनेपर भी परकल्याणमें समर्थ है, उसी प्रकार सत्त्वनिधि ब्राह्मण दरिद्र तथा गुणहीन होनेपर भी परकल्याण तो कर ही सकता है।

इस तरह ब्राह्मणकी अर्चा-सम्मान आदिसे परमश्रेय तथा भगवद्भक्ति प्राप्त होनेकी बात सिद्ध होती है। अधिक क्या, शास्त्रोंके 'ब्राह्मणो मामकी तनुः' तथा 'मम मूरति महिदेवमयी है'' 'सर्ववेदमयो विप्रः' आदि वचनोंसे तो भगवान् तथा ब्राह्मणोंकी अभिन्नता ही सिद्ध होती है। इसलिये अध्यात्म रामायणमें बतलाये भक्तिके साधनों 'मत्सेवा' (३।४।४८)में भी इनका अन्तर्भाव हो जाता है। अन्तमें हम परम ब्रह्मण्यदेव गो-ब्राह्मण-हितकारी प्रभुको नमस्कार करते हुए इस लेखको समाप्तकर पाठकोंसे विदा लेते हैं—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥

---

* श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा गोस्वामीजीने भी 'पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥' कहलाकर इसे आदर्श तथा श्रेयस्कर समझा है।

† ब्राह्मणोंकी तपःशक्ति आदिके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये लिङ्गपुराण पूर्वा० २९। २५—३४; विष्णुधर्मोत्तर २। ३२। २५—२९; वामनपुराण ९५। ८; वायुपुरा०माघ० २८। ५४ तथा मनुस्मृति ९। ३१३-३२१ देखना चाहिये। यह तो हुई शास्त्रोंकी बात। यों भी देखा जाय तो वास्तवमें ब्राह्मणोंने सृष्टिके आरम्भसे ही निस्स्वार्थ-भावसे स्वयं त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञानार्जन और ज्ञान-वितरणका जो महान् कार्य किया है, उसकी तुलना कहीं नहीं है। यह जगत्पर उनका स्वाभाविक उपकार है, अतः उनकी सतान अब भी सम्मानकी अधिकारिणी है, इस नाते भी ब्राह्मण सर्वथा पूज्य हैं। —सम्पादक

आत्मोद्धारका उपाय

(लेखक—श्रीगणपतरायजी लोहिया)

मनुष्य-शरीर श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। श्रीरामायणमें कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।

'यह मनुष्य-शरीर साधनका घर और मोक्षका दरवाजा है।' श्रीगीतामें भी कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३)

'इस सुखरहित क्षणभङ्गुर मनुष्य-शरीरको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।' महापुरुष और शास्त्र भी चेतावनी दे रहे हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनोप० २। ५)

'यदि इस मनुष्य-जन्ममें ही परमात्माको जान लिया, तब तो ठीक है; और यदि इस जन्ममें उसे नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है।'

मनुष्यको जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक उसे बारबार जन्म लेना और मरना पड़ता है। इस प्रकार जो जन्म-मरणके चक्रमें भ्रमण करना है, यही बड़ी भारी हानि है। एक दिन इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, मृत्यु अवश्य आयेगी और मर जानेपर इस संसारकी कोई भी वस्तु साथ जायगी नहीं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यका कर्तव्य है कि वह परमात्माकी प्राप्तिके कार्यको सबसे पहले और अवश्य करने-योग्य समझकर इसीके लिये प्रयत्न करे; नहीं तो बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीरामायणमें कहा गया है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

'जो इस मनुष्य-जन्ममे भगवत्प्राप्ति नहीं कर लेता अथवा परमात्माकी प्राप्तिके कार्यमें ही जो मुख्यरूपसे अपना जीवन नहीं लगा देता, वह मरनेपर परलोकमें महान् दुःख पाता है, सिर धुन-धुनकर पछताता है और अपना दोष न समझकर काल (समय), कर्म (प्रारब्ध) और ईश्वरपर झूठा दोष लगाता है।'

इसलिये मनुष्यको शरीर रहते-रहते या वृद्धावस्था आनेके पहले-पहले चेतकर अपने आत्माके कल्याणके साधनमें तत्पर हो जाना चाहिये, यही उसका परम कर्तव्य है।

आत्माके कल्याणके लिये महापुरुषोंने तथा शास्त्रोंमें भी बहुत-से साधन बतलाये हैं। मेरी समझमें इस समय सबके लिये सुलभ और उपयोगी साधन ये दस हैं—

१. निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।
२. भोजनका संयम (सात्त्विक आहार)।
३. कम बोलना।
४. विषयों और विषयी पुरुषोंका सङ्ग न करना।
५. नियमपूर्वक एकान्त-सेवन।
६. प्रत्येक कर्म श्रीभगवान्‌के अर्पण करना।
७. निष्कामभावसे नित्य निरन्तर श्रीभगवान्‌के नामका जप।
८. श्रद्धा-विश्वाससहित महापुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय।
९. विवेक-वैराग्ययुक्त चित्तद्वारा श्रीपरमात्माका ध्यान।
१०. निरन्तर साधन-परायण रहना।

अब इनको कुछ विस्तारसे समझना चाहिये।

(१) निषिद्ध कर्मोंका तो मनुष्यको सर्वथा त्याग कर ही देना चाहिये। जबतक मनुष्यसे पाप बनते रहते हैं, तबतक वह साधनमें कभी अग्रसर नहीं हो सकता। श्रीगीतामें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(१६। २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६। २२)

'हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये पापकर्मोंका त्याग तो सर्वथा कर ही देना चाहिये।

(२) भोजनमें संयम करना भी बहुत आवश्यक है। भोजन शुद्ध सात्त्विक तो होना ही चाहिये, साथ ही हल्का, परिमित और सीधा-सादा, कम खर्चीला भी होना

चाहिये, जिससे उसके समय और धनका अपव्यय न हो और वृत्तियोंके सात्त्विक होनेमें सहायता मिले।

(३) साधकको वाणीका भी संयम रखना चाहिये। कम-से-कम—जहाँ आवश्यक हो, वहीं बोले। नहीं तो सांसारिक बातचीतमें हमलोगोंका बहुत-सा समय यों ही चला जाता है। इसलिये सावधान रहकर कम-से-कम बोले और नामके जप तथा ध्यानमें ही लगा रहे।

(४) विषयोंके सेवनसे और विषयी पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यका विवेक शिथिल हो जाता है। यह बहुत ही बुरी आदत है। इसलिये इसका त्याग करे। विषयोंका तो चिन्तन ही खराब है। विषयोंमें सुखबुद्धि एवं रमणीय-बुद्धि होनेसे ही उनका चिन्तन होता है। अतः उनमें जो सुख-बुद्धि, रमणीय बुद्धि हो रही है, उसको अत्यन्त हानिकर समझकर उसका त्याग कर दे, और विषयी पुरुषोंका सङ्ग भी न करे। इन दोनोंसे ही खूब बचना चाहिये।

(५) साधनके लिये साधकको नित्य नियमपूर्वक एकान्त-सेवनका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। एकान्तमें आसनसे बैठकर निष्कामभावपूर्वक परमात्माके नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान करना ही असली साधन है। ध्यान चाहे साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण किसी भी स्वरूपका हो; पर होना चाहिये एकतार और निष्कामभाव एवं आदरपूर्वक।

एकान्तमें आलस्य और विक्षेप—ये दो बड़े ही बाधक हैं। इनको अपने पास न आने दे। मन-ही-मन ध्येय स्वरूपकी बारबार विवेक-वैराग्यपूर्वक आवृत्ति करता रहे। इस प्रकार निरन्तर जागृति रखे। एकान्तमें विवेकपूर्वक साधन करनेसे जल्दी उन्नति हो सकती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
(६ । १०)

'मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगाये।'

(६) मन-वाणी शरीरद्वारा जो भी क्रिया करे, वह श्रीपरमात्माको अर्पण करके ही करे। अर्पण कर देनेसे वह क्रिया पवित्र हो जाती है। फिर उसके द्वारा कोई भी धर्मविरुद्ध क्रिया नहीं हो सकती, बल्कि उसकी सारी क्रियाएँ शास्त्रविहित और भगवदर्पणबुद्धिसे ही होने लगती हैं। श्री-भगवान्‌ने भी अर्जुनसे कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९ । २७)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर दे।'

अथवा सांख्ययोगकी दृष्टिके अनुसार गुणोंसे असङ्ग हो जाय, अपना उनसे कोई सम्बन्ध न समझे। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
(३ । २८)

"हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' यों समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।"

(७) श्रीभगवान्‌के नामका जप भगवत्प्राप्तिमें बहुत ही सहायक है। ॐ, राम, कृष्ण या और कोई-सा भी शास्त्रोक्त नाम हो, साधक अपनी रुचिके अनुसार उसका जप कर सकता है। इससे शीघ्र अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। पर नामका जप होना चाहिये निष्कामभावसे और नित्य-निरन्तर। जपका तार हृदयसे टूटे ही नहीं, निरन्तर बना रहे और किसी भी प्रकारकी कामना न हो। श्रीगीताजीमें कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२ । ७१)

'जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकार-रहित और स्पृहारहित होकर विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

नाना प्रकारकी सांसारिक कामनाओंके कारण ही मनुष्य सच्चे लाभसे वञ्चित रह जाता है; क्योंकि ये कामनाएँ मनुष्य-के विवेकका हरण कर लेती हैं और विवेक नष्ट होनेपर मनुष्यका अपने मार्गसे पतन हो जाता है। गीतामें भी कहा है—'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः' (७ । २०)—'भोगोंकी कामनाओंके द्वारा ही मनुष्यका ज्ञान हर लिया जाता है।' अतएव सब प्रकारकी कामनाओंका सर्वथा त्याग कर दे। वैसे तो भगवत्प्राप्तिकी कामना भी कामना ही है; किंतु वह कामना अन्य सांसारिक कामनाओंकी निवृत्ति करके भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त करानेमें हेतु होनेके कारण कामना नहीं कही जा सकती, वह तो निष्कामके ही तुल्य है।

(८) साधककी महापुरुषसे भेंट हो जाय तो उनका सङ्ग करना बहुत आवश्यक है। साधनके आरम्भसे लेकर अन्ततक—भगवत्प्राप्तिपर्यन्त महापुरुषोंका सङ्ग करते ही रहना चाहिये। सङ्ग करनेका अर्थ उनके पास बैठे रहना मात्र नहीं है। वस्तुतः उनके हृदयका जो उच्चतम अनुभवपूर्ण भाव है, उस भावमे अपने हृदयको मिला देना, उनके भावसे भावित हो जाना ही असली सङ्ग है। महापुरुषोंका सङ्ग श्रद्धा-विश्वासपूर्वक होना चाहिये। श्रद्धा-विश्वास ही प्रधान वस्तु हैं। श्रद्धा-विश्वास होनेसे ही मनुष्य विशेष लाभ उठा सकता है। भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके अनुभवयुक्त वचनोंमे बडा भारी प्रभाव होता है। जब श्रद्धालु साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनका सङ्ग करके उनके वचनोंको हृदयगम करता है, तब तत्काल उनके हृदयके भाव उस साधकके हृदयमें प्रविष्ट हो जाते हैं और वह भी वैसा ही बन जाता है। जब वह किसी महापुरुषसे सुनता है कि 'परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है' तो श्रद्धालु साधक उनके वचनोंमें परम श्रद्धा होनेके कारण उसी प्रकारकी स्थितिमें स्वय स्थित होकर वैसा ही भाव बना लेता है। ऐसे उच्च कोटिके श्रद्धालु साधकके हृदयमें महापुरुषोंके एक वचनसे ही बड़ा भारी काम हो जाता है, जिससे उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। महापुरुषोंके हृदयमें जो परमात्माका भाव है, वह श्रद्धा होनेसे ही पकड़में आता है और स्थिर होता है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(४ । ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह विना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको पा लेता है।'

श्रद्धाकी कसौटी है तत्परता और तत्परताकी कसौटी है जितेन्द्रियता। जिसमे जितनी श्रद्धा होगी, उतनी ही साधनमें तत्परता होगी और जितनी तत्परता होगी, उतनी ही उसकी इन्द्रियॉ वशमें रहेंगी। श्रद्धा अपने-अपने अन्तःकरणके अनुसार होती है। भगवान्ने कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७ । ३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वय भी वही है।'

परमात्मा नित्य सत्य, चेतन आनन्दमय और सर्वत्र विद्यमान हैं—इस प्रकारकी दृढ मान्यता होना ही असली श्रद्धा है। जिसे यह विश्वास हो जाता है, उसे तत्क्षण भगवत्प्राप्ति हो जाती है। जहाँ उच्च कोटिकी श्रद्धा हुई कि तुरत काम बना। यदि महापुरुषोंके वचनोंमें भी प्रत्यक्षकी भाँति श्रद्धा-विश्वास हो जाय तो उनके यह कहते ही कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वव्यापक हैं, उसका भाव पलट जाता है और वह उसी भावसे भावित हो जाता है। जब कभी भी वह उन महापुरुषोंकी उस अनुभव-वाणीको याद करता है, तब उसे याद करते ही उसके रोमाञ्च हो जाता है और वह उसी भावमें मग्न हो जाता है।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक महापुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा होनेके उपाय हैं—श्रद्धाविषयक पुस्तकें पढना, श्रद्धा होनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करना, श्रद्धालु मनुष्योंका सङ्ग करना, भगवन्नामका जप और ध्यान तथा महापुरुषोंका सङ्ग करना। किंतु अश्रद्धालु मनुष्योंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। एवं जब भी महापुरुषका सङ्ग करे, उस समय उनके व्यवहारमें यदि कोई बात उनकी निष्ठासे विपरीत लगे तो उसे अपने मनमें स्थान न दे, उसी समय भुला दे; क्योंकि उनमें तो कोई दोष है नहीं; अपनी श्रद्धा उनके प्रति हट गयी तो अपना महान् पतन हो गया।

महापुरुषोंके सङ्गके अभावमे गीता, रामायण आदि सत्-शास्त्रोंका मननपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये; क्योंकि यह भी सत्सङ्ग ही है।

(९) महापुरुषोंका सङ्ग करनेसे मनुष्यके हृदयमें विवेक जाग उठता है। विवेकका अर्थ है—सत् और असत् वस्तुका तत्त्व जान लेना। सत् एक परमात्मा है और वह अविनाशी नित्य सत्य चेतन है तथा जो विनाशशील अनित्य जड वस्तु है, वही असत् है। इन दोनोंका अन्तर समझकर असत्को छोड़कर सत्को दृढतापूर्वक पकड़ लेना ही विवेक है। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव

नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों-द्वारा देखा गया है।'

जबतक विवेक नहीं होता, तबतक पदार्थोंमें राग बना रहता है और बिना वैराग्यके परमात्मामें चित्तकी स्थिरता नहीं होती। विवेक-वैराग्य होनेसे ही साधन करनेकी शैली समझमें आकर पकडी जाती है। इसलिये विवेक-वैराग्यको शास्त्र-विचार एवं महापुरुषोंके सङ्गसे जाग्रत् करना चाहिये एव विवेक-वैराग्यपूर्वक परमात्माका ध्यान करना चाहिये। श्रीपरमात्माका ध्यान बहुत ही उत्तम साधन है। ध्यानके समान और कुछ नहीं। अतः परमात्माके ध्यानमें हर समय निमग्न रहना चाहिये। अपनी वृत्तियोंको परमात्माके ध्यानसे कभी नहीं हटने देना चाहिये। ध्यान ही अमृत है। वह परमात्माका अमरपद प्रदान करनेवाला है। इसलिये अमृतके समान समझकर उसका सेवन करना चाहिये।

(१०) हर समय सावधान रहे और सदा अपने कल्याणके साधनके परायण हो जाय, उसीमें कटिबद्ध होकर तत्परतासे लगा रहे। सार बात यही है कि हर समय श्रीपरमात्माकी स्मृति रखे, एक क्षण भी उसमें त्रुटि न होने दे।

रूसी रामचरित-मानसके प्रणेता अलैक्सेइ पेत्रोविच बरान्निकोव

(लेखक—पं० श्रीबालमुकुन्दजी मिश्र)

'रामचरित-मानस' के महान् कवि संत तुलसीदासजीसे कौन भारतीय ऐसा होगा, जो अपरिचित हो! ठीक इसी भाँति सोवियत-भूमिमें सम्भवतः एक जन भी ऐसा न होगा, जो अकादमीशियन अलैक्सइ पेत्रोविच बरान्निकोवके नामसे परिचित न हो।

स्वर्गीय अ० प० बरान्निकोवके सम्बन्धमें बहुत समयसे मेरी इच्छा थी कि विस्तारके साथ उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्वसे परिचित हो पाऊँ—पर भारतीय-सोवियत विद्याविदों-ने उनपर कुछ नहीं लिखा, यह जानकर आश्चर्यका ठिकाना न रहा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, वीर राजेन्द्र ऋषि, डा० रामविलास शर्मा और डा० केसरी-नारायण शुक्लने अपनी फुटकर रचनाओंमें बरान्निकोवकी जो कुछ भी चर्चा की है, वह पर्याप्त कहाँ है? कुछ मास पूर्व अलैक्सेइ पेत्रोविचके आत्मज प्योत्र अलैक्सेविच बरान्निकोवसे जब मेरा परिचय हुआ, तब कहीं बरान्निकोवके विषयमें मेरी चिर-जिज्ञासाको समाधान मिला।

सोवियत-भारतीय तत्त्व-ज्ञानके भडार, महान् लेखक अकादमीशियन बरान्निकोवने यूक्रेनियाके जौलोतो नोगामें एक बढ़ईके घर १८९०ई०में जन्म लिया था। अपना जीवन-निर्माण उन्होंने स्वय अपने परिश्रमसे किया। घरेलू स्थिति ऐसी न थी कि वे सरलतासे कुछ बन जाते। संघर्षमेंसे जूझकर उन्हें आगे बढ़कर आना पड़ा। किएव विश्वविद्यालयमें चार वर्षमें उन्होंने तीन कोर्स पूरे किये। वे महान् प्रतिभाके धनी थे। उन्होंने प्राच्य भाषाओं तथा रूसीस्लाव एवं जर्मन भाषाओंमें दक्षता प्राप्त की, और साथ ही वैदिक-भाषा, संस्कृत और जिन्दावस्ताकी भाषाका भी गहरा अध्ययन करके भाषाओंके 'पाण्डित्य' को प्राप्त किया था।

भारत और यूरोपकी आर्य-भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरणपर डिप्लोमाके लिये उन्होंने कार्य किया। बरान्निकोव-को, उनकी रचनापर सोवियत संघका महान् पदक प्रदान किया गया। अब उनका उत्कर्ष-काल आरम्भ हुआ। वे प्रोफेसर-पदकी तैयारीके लिये यूनिवर्सिटीमें रख लिये गये। फिर उन्हें पैत्रोग्राद (वर्तमानमें लेनिनग्राद) विश्वविद्यालयमें भेज दिया गया—जहाँ सर्वश्री ओल्दनबुर्ग और श्चैरबात्स्की-की देख-रेखमें अलैक्सेइ पेत्रोविच बरान्निकोवने संस्कृत और प्राकृत भाषाओंका विशेष अध्ययन किया।

अक्तूबर १९१७ की समाजवादी क्रान्तिके अनन्तर बरान्निकोवको सोवियत-संघकी विज्ञान-अकादमीके प्राच्य-इन्स्टीट्यूट और लेनिनग्राद विश्वविद्यालयमें प्राच्य (भारतीय) भाषाओंके विज्ञान-विषयक विभागका प्रधान-पद दिया गया। भारतीय विद्या-विज्ञानके लिये की गयी आपकी अपूर्व सेवाओंके उपहारस्वरूप १९३९ में उन्हें, सोवियत-संघकी अकादमीके लिये चुनकर, श्रीबरान्निकोवको विद्वत्-परिषद्का सर्वोच्च सदस्य-पद प्रदान किया गया।

सोवियत-विद्वत्परिषद्के सम्मानित सदस्य बरान्निकोवने रूसके भारतीय विद्याध्ययनके दृष्टिकोणको एक नया मोड़ दिया। उन्होंने अपनी चेष्टाओंद्वारा इस बातको प्रमाणित किया कि भारतकी वास्तविक अवस्थाको जाननेके लिये प्रथमतः भारतकी वर्तमान विविध भाषाओंके स्वरूप, साहित्य और इतिहासकी वैज्ञानिक रूप-रेखाकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।

श्रीवरान्निकोवने सोवियत जनताको भारतीय-वाङ्मय-से परिचित करानेके लिये अनवरत, अथक और आजीवन गौरव-पूर्ण एवं निष्ठापूर्वक प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय आधुनिक भाषाओंपर मौलिक विचार प्रकट किये, रूसी जनताके लिये भारतीय भाषाओंकी शिक्षा-पाठावलियाँ लिखीं और अनेक भारतीय कृतियोंका रूसी भाषामें रूपान्तर किया। उनका भाषा-विषयक शोध-कार्य तो बहुत ही महान् और गौरवास्पद है।

अनुचित न होगा यदि संत तुलसीदासकी भाँति रूसी पण्डित वरान्निकोवके नामके पूर्व भी 'संत' शब्दका प्रयोग करनेकी धृष्टता करूँ। वे साधु प्रकृतिके लज्जालु महापुरुष थे। तुलसी यदि रामके लिये संसारसे विमुख हो गये थे तो वरान्निकोव तुलसीदासकी रामायणके पीछे पूरे दीवाने हो गये थे।

पण्डित वरान्निकोवने १९३६ में 'रामचरितमानस'का पहले रूसी गद्यमे रूपान्तर किया। फिर रामायणके अपने रूसी गद्य रूपान्तरको, तुलसीदासकी मूल कृतिको सम्मुख रखकर, पद्यमे परिवर्तित किया। संत तुलसीदासके प्रति उनकी इतनी अनन्य श्रद्धा थी कि 'रामायण'मे प्रयुक्त भारतीय उपमाओं और कलात्मक तत्त्वोंके सौन्दर्यको अपनी रचनामें कहीं भी तिरोहित नहीं होने दिया। भारतीय संस्कृतिकी सौन्दर्य-चेतनाको रूप देनेमें उन्होंने अपनेको खपा दिया। मानसमें आयी अन्तर-कथाओं एवं भारतीय काव्यकी मौलिक विशेषताओंका निर्वाह आपने, विना उपेक्षा किये, एक अतिकुशल कलाकारकी भाँति नैसर्गिकरूपमें किया है—यह उनका कितना बडा और महत्त्वपूर्ण कार्य है! मन इसके लिये उनके प्रति स्वयं श्रद्धावनत हो जाता है।

श्रीवरान्निकोवको तुलसीकृत रामायणको रूसी रामायण बनानेमें कितने धैर्यसे काम लेना पड़ा था—यह बात सोच-कर ही मन अधीर हो उठता है। रामायणके अनुवादका कार्य, दस वर्षमें जाकर, राम-राम करके कहीं समाप्त हो पाया। अभी वे रामायणका अपना कार्य सम्पूर्ण कर ही न पाये थे कि द्वितीय विश्वव्यापी फासिस्ती महासमरका विस्फोट-घोष लेनिनग्रादतक जा पहुँचा। ऐसे भीषण समयमें सोवियतका कम्युनिस्ट दल और सोवियतकी समाज-प्रजातन्त्रवादी सरकारने, संस्कृतिकी साकार प्रतिमा महापण्डित अलैक्सेइ पेत्रोविच वरान्निकोवकी सुरक्षाको अपना प्रमुख कर्त्तव्य मान, उन्हें यूरोपीय सोवियत-भूमिसे मध्य-एशियामें स्थित उत्तरी कज़ाकि-स्तानमें बोरोवोयेके स्वास्थ्य-स्थलमें पहुँचा दिया। वरान्निकोव अद्वितीय जीवटके प्राणी थे। रूसी रामायणकी रचनाके गहरे पानी-में तो वे बहुत पहले ही उतर चुके थे—अथक श्रम करके उन्होंने अपनी निर्दोष कृतिको रूसी जनता, नहीं-नहीं संसारकी कोटि-कोटि जनताके चरणोंमें प्रस्तुत कर अन्तिम विश्राम लिया था।

सोवियत-जनता और वहाँकी समाजवादी सरकार जनता-की बुद्धिजीवी श्रेष्ठ नैसर्गिक प्रतिभाओंको भलीभाँति पहचाननेमें दीर्घसूत्रीपनसे नहीं, अपितु आँख खोलकर निष्ठासे अपने कर्त्तव्यकी पूर्ति करती रही है। वरान्निकोवद्वारा भारतीय धर्म-सभ्यता-संस्कृतिकी अमर रचना संत तुलसीदासकृत रामायणके अविकल रूसी रूपान्तरको पाकर रूसी साहित्य निहाल हुआ। वहाँकी जनताने मर्यादा-पुरुषोत्तमकी शील मर्यादामें मानव-जातिकी गरिमाकी यथार्थताको मुक्तकण्ठसे सराहा। वीतरागी श्रीवरान्निकोवकी 'रूसी रामायण'को सोवियत-संघ-का उच्चतम पुरस्कार 'लेनिन-पदक' प्रदानकर सम्मानित किया गया। १९४१–४५ के देश-रक्षाके महान् युद्धमें प्रतिभा-शाली सांस्कृतिक श्रमके लिये, उस रूसी विद्वान्को एक अन्य गौरवमय पदक भी भेंट किया गया था। कितना अच्छा होता यदि हम भारतीय भी उस रूसी महान् प्रतिभाके भारतीय संस्कृति-प्रसारके अभूतपूर्व विशाल कार्यके अनुरूप अपनी विनम्र श्रद्धा प्रकट करते।

सोवियत-भारतीय तत्त्वज्ञ अलैक्सेइ पेत्रोविच वरान्निकोवने ४ सितम्बर १९५२ को वसुन्धरासे विमुक्त हो राम-शरणागति ली। लेनिनग्रादके समीर कोमारोवोमें चीड़-उपवनके आँगनमें उनकी समाधि है—जिसपर एक शिला-फलकपर साँपकी मूर्ति उत्कीर्ण की गयी है, उनका शुभ नाम, जन्म और राम-शरण-गतिकी तिथियाँ अङ्कित हुई हैं; और देवनागरीमें तुलसीकृत रामायणसे उनकी सर्वप्रिय दोहेकी एक पंक्ति—'भलो भलाइहि पै लहै०'—सदा उस पर पड़ती हुई प्रत्यक्षदर्शी आगन्तुकोंको उस अमर कलाकारका स्वयं परिचय करवाती रहती है और बतलाती रहती है कि यहाँ किस प्रतिभाने विश्राम लिया है।

धर्मप्राण भारतका कुत्ता भी भक्ति करता है

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

[एक आर्य-संन्यासीकी जबानी, आँखों-देखी बिल्कुल सत्य कहानी]

एक मांस-मछलीसे दूर रहनेवाला एकादशीका व्रत रखनेवाला और भक्त कुत्ता

अभी कुछ दिन हुए पिलखुवामें हमारे स्थानपर विश्व-विख्यात आर्यनेता और उत्तरकाशीके सुप्रसिद्ध आर्य-संन्यासी महात्मा आनन्दस्वामी सरस्वतीजी महाराज पधारे थे, जो पहले महाशय खुशालचन्दजी (सम्पादक 'मिलाप') के नामसे विख्यात थे। एक दिन हमने उनको एक अखबारकी कतरन दिखायी और उसे आपने पढा। उसमें लिखा था—

'गौहाटीमें एक सरकारी अफसरके पास भोल्टू नामका एक कुत्ता है, जो उपवास रखता है। कुत्तेके मालिकका कहना है कि भोल्टूमें कुछ अजीब शक्ति है। वह प्रति पूर्णिमा, एकादशी और अमावस्याको खाना नहीं खाता। व्रत रखता है। कुटुम्बके लोग इन पूर्णिमा, एकादशी, अमावस्याके दिनोंको भले ही भूल जायँ; पर यह भोल्टू कुत्ता उन्हें कभी भी नहीं भूलता और इन दिनोंमें वह बिल्कुल भोजन नहीं करता, व्रत-उपवास रखता है। इसे देखकर सभी आश्चर्य करते हैं और दाँतोंतले उँगली दबाते हैं।'

यह पढ़कर आर्य-सन्यासी श्रीमहात्मा आनन्दस्वामी सरस्वतीजी महाराजने कहा कि 'रामशरणदासजी! यह बात गप नहीं है, बल्कि यह अक्षरशः सत्य है। मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे एक कुत्तेको एकादशीका व्रत रखते, मास-मछलीसे दूर रहते देखा है। यह एक बिल्कुल अपनी आँखों-देखी सत्य घटना है, जिसे मैं सुनाता हूँ—

'देहरादूनमें एक तपोवन आश्रम है, जिसे श्रीगुरुमुखसिंहजीने बनवाया है। उसी तपोवन आश्रममें एक कुत्ता है, जो हर एकादशीके दिन व्रत रखता है। वह कुत्ता नालापानी-निवासी ठाकुर श्रीरामसिंहजीका है, जो एकादशीके दिन निराहार व्रत रखता है। एकादशीके दिन यदि उस कुत्तेके सामने खानेको रोटी डाली जाती है तो वह उस दिन एकादशी होनेके कारण उसे खाता नहीं, एकदम पीछे हट जाता है; और यदि उसे रोटी खानेके लिये बाध्य किया जाता है तो वह रोटी खाता तो नहीं पर उसे मुँहसे उठाकर एक ओर किसी वृक्षके नीचे छिपा आता है और उसपर पत्थर आदि कुछ रखकर ढक आता है, जिससे कोई उस रोटीको देखे नहीं और ले नहीं; दूसरे दिन द्वादशीको व्रत खुलनेपर वहाँ जाता है और उस छिपायी हुई रोटीको निकालकर खा लेता है। लाख चीज सामने पड़ी रहे, वह एकादशीके दिन उनपर मुँहतक नहीं लगाता। ऐसा परम संतोषी और व्रतका पक्का है। यह देखकर सभीको बड़ा आश्चर्य होता है। उसे कैसे पता लग जाता है कि आज ही एकादशी है। यह कैसे होता है—इसे तो भगवान् ही जानते हैं, कोई क्या बता सकता है। एक ही एकादशीके दिन नहीं, कितनी ही एकादशियोंके दिन उस कुत्तेको इस प्रकार व्रत-उपवास रखते देखा गया है। तब कर्मगतिके सिद्धान्तानुसार ही यह अनुमान लगाया गया कि किसी पिछले जन्ममें वह कोई मनुष्य था और उस समय भी एकादशीका व्रत-उपवास रखता था। किसी अपराधके कारण उसे इस जन्ममें कुत्तेका चोला धारण करना पड़ा। परतु कुत्तेके इस चोलेमें भी सूक्ष्मशरीर तो पहलेवाला ही है, जिसपर एकादशीके दिन व्रत रखनेका संस्कार पड़ा हुआ है। वही संस्कार उस दिन जाग्रत् हो जाता है। पर वास्तवमें यह महान् आश्चर्य है कि आज ही एकादशी है, इसका उसे कैसे पता चल जाता है। इस कुत्तेकी एक और भी विशेषता है कि यह कभी भूलकर भी किसी भी जानवरका मास नहीं खाता। जब इसके सामने कभी मांस डाला जाता है, तब वह मास खाता तो है ही नहीं, वहाँसे अपना मुँह हटा लेता है, घृणा प्रदर्शित करता है। वह तो बस, रूखी-सूखी रोटी, जैसी भी मिल गयी, खाकर सतोषका जीवन बिताता है। इन सब बातोंका क्या रहस्य है, इसे तो भगवान् ही जानते हैं; पर यह हमारी आँखों-देखी सत्य घटना है।'

सम्मान्य आर्य-संन्यासीके द्वारा कुत्तेके एकादशी व्रत रखनेकी उपर्युक्त आश्चर्यजनक सत्य घटना सुनकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। ऐसी ही बातें जब पुराणोंमे आती हैं, तब लोग उन्हें गप बताने लगते हैं। हमने इस घटनाकी सत्यता जाननेके लिये और उस एकादशीका व्रत रखनेवाले पुण्यात्मा कुत्तेका छाया-चित्र प्राप्त करनेके लिये देहरादूनमें स्थित अपने भतीजे बाबू सीताराम गोयल बी० काम० को

पत्र लिखा था, जिसके उत्तरमें उन्होंने बताया कि 'मैं आश्रममें गया था। मालूम किया तो पता लगा कि एकादशीका व्रत रखनेवाला वह कुत्ता बाघद्वारा मार दिया गया है। अब वह इस संसारमें नहीं है। पर घटना बिल्कुल सत्य है।'

इस अद्भुत घटनासे शिक्षा लेकर हिंदूमात्रको एकादशीका व्रत रखने, भगवद्भक्ति करने, मांस-मछली, अंडो-मुर्गोंसे बचनेका निश्चय करना चाहिये। वस्तुतः आजके हम मनुष्योंसे तो यह नीच कहा जानेवाला कुत्ता ही लाखगुना श्रेष्ठ था, जिसने दिन-रात झूठ, फरेब, दगेबाजीमें बचकर, मांस-मछली न खाकर, रूखा-सूखा टुकड़ा खाकर और एकादशीका व्रत रखकर अपना जन्म सफल कर लिया। याद रखो, हमें यह मनुष्य-जन्म केवल खाने-पीनेके लिये और दूसरोंको सतानेके लिये तथा विषय-भोगोंके लिये ही नहीं मिला है। इसका उद्देश्य कुछ दूसरा ही है, जिसे पूज्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज इस प्रकार बतलाते हैं—

भजिअ राम सब काम बिहाई।

श्रीभरतकी भक्ति

(रचयिता—श्रीमदनसिंहजी बघेल, एम्० ए०, बी० टी०)

अवध भरत श्रीराम बिनु नहीं सुहावनि लागि।
बिनु पनहीं प्यादे चले, करी-तुरी सब त्यागि॥

चले जात सुमिरत हरी कानन सहित समाज।
प्रेम भरे बन खोजते सीय लखन रघुराज॥

चरन-चिह्न जो लखि परैं, लोटैं प्रेम अघाइ।
सीस चढ़ावैं, तनु घिसैं, अंजन लेहिं लगाइ॥

जौन सिला बैठे अहा! लख सीय रघुनाथ।
भरत दंडवत करत तेहि बार बार धरि माथ॥

बसे लखन प्रभु जानकी जिन तरुवर की छाँह।
पुलक गात तिन भरतजी भेंटत भरि भरि बाँह॥

जड़ नहिं चेतन वे निरे, सुखी किए जिन नाथ।
हौं चेतन बन का कियौ, परे चरन धुनि माथ॥

नयन मिचे, मूर्छित भए, तऊ रटैं रघुनाथ।
घड़ियन यों रटते रहे 'पाहि नाथ! हे नाथ!'॥

राम मातु मुख चूमतीं, कर परसैं बहु भाल।
'धरहु धीर', पुनि पुनि कहैं, तात, वत्स, हे लाल!॥

ग्यान भयो, कहते भए, हौं पापी अति नीच।
क्यों रघुबंसिन ऊपज्यौ, धसौं धरा के बीच॥

स्वामी हैं असरन सरन, अरु हैं दीनदयाल।
जन मन रंजन बिरद है, सोचत होहिं निहाल॥

प्रेम सिथिल आगे बढ़ैं, बार-बार उसकात।
कहौ सखा! रघुनाथजी केतिक दूरि लगात॥

जहँ तरुवर पुहुपन लदे, बिचरैं मृग मृगराज।
बाज न पंछी मारहीं, तहाँ बसे रघुराज॥

सरन, सरन, स्वामी! सरन, सरन, सरन, हे नाथ।
गिरे पछारी खाइ कै, परयौ चरन महँ माथ॥

बिकल उठे, खैंचे अहा! उर मेले रघुराज।
अंगनि पै कर फेरते, मनि पाई फनिराज॥

प्रभु गोदी में धरि लए, माता जैसे लाल।
कर कमलन सौं पोंछते, मोतिन बिंदु भाल॥

अहा! सम्हारत प्रेम सौं घुँघरारे सिर बाल।
लखन निकारत पगन सौं कुस-कंटक के जाल॥

नयन भरे कहते प्रभू, तुम पायौ अति लाल।
अवधपुरी हौं आवतौ, सुनते ही ततकाल॥

जनक वचन हौं टारतौ, जननिहु के लाल!
अवधपुरी हौं आवतौ, सुनते ही ततकाल॥

मरजादा मिटती भलें, हँसी होत जग लाल।
सुनते ही हौं आवतौ, अवधपुरी ततकाल॥

पुन्य छीन होते सकल, नहीं हानि कछु लाल!
सुनते ही हौं आवतौ, अवधपुरी ततकाल॥

सम्पादककी क्षमा-प्रार्थना

'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी सेवामें 'भक्ति-अङ्क' प्रस्तुत है। यों तो इसके पूर्व 'भक्ताङ्क' एवं 'भक्त-चरिताङ्क'-के नामसे दो भक्तिपरक विशेषाङ्क और निकल चुके हैं, परंतु भक्तिके विभिन्न पहलुओं तथा विशेषताओंका विशद एवं विस्तृत विवेचन करनेवाला कोई विशेषाङ्क अबतक नहीं निकल पाया था। इस अभावकी पूर्तिके लिये अनेकों महानुभावोंके सुझाव बहुत दिनोंसे हमारे पास आ रहे थे। इस बार भगवान्‌की अनुकम्पासे यह सम्भव हो सका है और इसकी हमें प्रसन्नता है। यद्यपि अपनी ओरसे इस अङ्कको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेकी भरसक चेष्टा की गयी, फिर भी जैसा सुन्दर और सर्वाङ्गपूर्ण इसे हम देखना चाहते थे, वैसा यह नहीं हो पाया—इसका हमे खेद है। इसका प्रधान हेतु हमारी अयोग्यताके अतिरिक्त हमारे श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी अस्वस्थता ही है। इसकी रूप-रेखा उन्होंने तैयार की थी और जिन दिनों भक्ति-अङ्क निकालनेका निश्चय किया गया था, उस समय यह आशा हो चली थी कि वे एक वर्षकी लंबी बीमारीके बाद पूर्ण स्वस्थ होकर शीघ्र ही गोरखपुर लौट आयेंगे और अपने गुरुतर कार्यभारको सँभाल लेंगे। परंतु 'तेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और!' विषय-सूची तैयार करनेके बाद ही वे पुनः अस्वस्थ हो गये और इस योग्य नहीं रह गये कि गोरखपुर लौटकर पूर्ववत् सम्पादन-कार्यमें जुट जाते। यद्यपि अस्वस्थताकी दशामें तथा दूर रहते हुए भी विशेषाङ्ककी सामग्री प्रायः सारी-की-सारी उन्होंने ही सजायी और सँवारी, और वहींसे सारी देख-रेख करते रहे, फिर भी जितना और जैसा सहयोग उनका मिलना चाहिये था, वैसा नहीं मिल पाया; (फलतः इस अङ्कमें कई त्रुटियाँ रह गयीं, यद्यपि यह निर्विवाद है कि भक्तिविषयक ऐसी सामग्री हिंदीमें इसके पूर्व एक जगह कदाचित् संग्रह नहीं हो पायी थी।) अतः इस अङ्कमें जो कुछ अच्छाई है, वह इसके सतहृदय एवं विद्वान् लेखकों एवं कवियोंकी तथा हमारे भाईजीकी है और जितनी भूलें अथवा त्रुटियाँ हैं, वे सब मेरी हैं—यह कहनेमें मुझे तनिक भी झिझक नहीं है और इसके लिये मैं हाथ जोड़कर सच्चे हृदयसे एवं दीनभावसे कृपालु लेखकों एवं कवियोंसे तथा इसके हजारों-लाखों पाठक-पाठिकाओंसे क्षमा-याचना करता हूँ। जिन्होंने 'कल्याण'में प्रकाशित हमारी प्रार्थनापर कृपापूर्वक सहयोग-भावनासे प्रेरित होकर तथा 'कल्याण'को अपना समझकर (जो उनका है ही—) लेख अथवा कविताएँ भेजीं, किंतु जिनकी उन रचनाओंको हम स्थानाभाव अथवा अन्य अनिवार्य कारणोंसे नहीं छाप पाये, उनसे हमारी विशेषरूपसे प्रार्थना है कि वे हमारी परिस्थिति एवं विवशताको समझकर हमपर रोष एवं आक्रोश न करें और हृदयसे हमे क्षमा कर दें। जिनकी रचनाएँ इस अङ्कमें छपी हैं, उनसे भी हमारी प्रार्थना है कि स्थान-संकोच अथवा और किसी कारणसे बाध्य होकर हमे यदि उनकी रचनामें कहीं कुछ काट-छाँट करनी पड़ी है, संक्षेप करना पड़ा है, उसके लिये वे हमें क्षमा करें। जिन्होंने भी प्रस्तुत अङ्कको उपादेय बनानेके लिये कृपापूर्वक बहुमूल्य सामग्री भेजी-भिजवायी, चित्र भेजे अथवा अन्य प्रकारसे हमारी सहायता की, उन सबके प्रति हम सादर आभार प्रकट करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे इसी प्रकार भविष्यमें भी 'कल्याण'को अपना मानते हुए हमें अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान करते रहें। 'कल्याण' के द्वारा समाजकी जो कुछ भी सेवा हो रही है, वह उसके कृपालु लेखकोंके कृपा-प्रसादसे ही हो रही है और इसके लिये हम उनके सदा कृतज्ञ हैं और रहेंगे।

मैं अपने साथियोंका भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने दत्तचित्त होकर पूर्ण तत्परताके साथ एवं बड़े परिश्रमसे लेखोंके सम्पादन तथा प्रूफ-संशोधन आदिमें मेरा हाथ बँटाया और मेरी बहुमूल्य सहायता की है। उनके सहयोगके बिना तो मैं अपने कर्तव्य-पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता। मेरी प्रभुसे विनय है कि वे हम सबको अपनी ओर खींचें और ऐसी कृपा करें कि हम सभी उनके अनुगत होकर उनके कृपापात्र बन सकें और अपने लिये कुछ न चाहकर उन्हींकी सेवामें जीवनके शेष क्षण बितायें। अन्तमें हम भक्तराज वृत्रासुरके स्वरमें स्वर मिलाकर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२४)

हे हरि जो तव पद अनुरागी। अहै अनन्य दास बड़भागी॥
तासु दास जे तिन कर दासा। मोहि तासु पद पंकज आसा॥
जनम जनम मैं किंकर तासू। होउँ नाथ दीजे बर आसू॥
प्राननाथ मम, मन सब काला। सुमिरै तव गुन दीनदयाला॥
बानी तव गुन कहै बनाई। बपु तव कर्म करै मन लाई॥
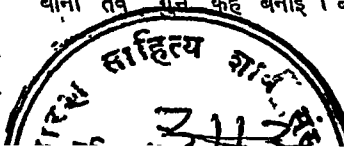
क्षमाप्रार्थी—
चिम्मनलाल गोस्वामी
सम्पादक

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरके प्रकाशन पढ़िये

इनसे आपका चरित्र उज्ज्वल हो सकेगा।
इनसे आप देशके उत्तम नागरिक बन सकेंगे।
इनसे आप अपने वास्तविक स्वरूपको जान सकेंगे।
इनसे आप सच्ची शान्ति प्राप्त कर सकेंगे।

इनके विषयमें दूसरे लोग क्या कहते हैं—

१—प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू—

...Well acquainted with these publications...Specially appreciate the low price...for books which are attractive.

२—रेलवे-मन्त्री श्रीजगजीवनराम—

गीताप्रेसने आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रमें अनेक मौलिक, चिन्तनशील तथा रोचक प्रकाशन जनताको दिये हैं। गीताप्रेसके प्रकाशन जनोपयोगी तो हैं ही, साथ ही जन-सुलभ भी हैं···गीताप्रेसने प्रकाशन-जगत्‌का मार्ग-दर्शन किया है और उसके प्रकाशन जन-प्रिय हैं।

३—उत्तरप्रदेशके राज्यपाल श्री वी० वी० गिरि—

...I very much appreciate the selfless activities of this institution...Popularizes healthy literature on a cheap basis.

४—श्रीविन्ध्यवासिनीप्रसाद (तत्कालीन) जज, हाईकोर्ट—

It is an institution of its own kind, the like of which does not exist anywhere.

दिसम्बर १९५६ तक प्रकाशित कुल पुस्तकें—३, ५०, २६, १५०

प्रकाशनोंका वर्तमान वार्षिक औसत—३६ लाखसे अधिक

दैनिक औसत—१० हजारसे अधिक

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित गीता, रामायण, उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र, महाभारत, श्रीमद्भागवतादि पुराण, भजन-संग्रह, भक्त-गाथाएँ, संत-वाणी आदि सरल, सुन्दर तथा सस्ती, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभीके लिये उपयोगी पुस्तकोंका व्यापकरूपमें प्रचार कीजिये।

इनके अतिरिक्त 'कल्याण' (हिंदीमें), 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजीमें) तथा 'महाभारत' (संस्कृत-हिंदीमें)–इन मासिक पत्रोंके आप स्वयं ग्राहक बनिये और अपने इष्ट-मित्रोंको ग्राहक बनाकर इनके प्रचारमें सहायक बनिये।

भारतके प्रायः सभी प्रतिष्ठित हिंदी पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँ गीताप्रेसकी पुस्तकें मिल सकती हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

भक्तोंकी महिमा

श्रीभगवान् कपिलदेवजी माता देवहूतिसे कहते हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

चौ०—अग जग माँझ भक्त जे मेरे । नहि साजुज्य मुक्ति दिसि हेरे ॥
मम पद परिचरजा दिन राती । मम हित करहिं क्रिया श्रुतिख्याती ॥
उज्ज्वल जस कीरति मम रूरी । गान परसपर कर गुन भूरी ॥

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥

चौ०—मम प्रसन्न मुख अदभुत सोहन । अरुन कंज दल नयन विमोहन ॥
सकल अंग मम दिव्य अनूपा । दिव्य बिभूषन जुत सुखरूपा ॥
ताहि बिलोकत रहत निरंतर । नहि एक छन तिहि होत पटंतर ॥
प्रनत कामतरु लखि मम रूपा । ते नहि चाहहिं मुक्ति सरूपा ॥
हरि स्वरूप अनुभव सुख सारू । मुक्ति तुच्छ तेहि अधिक निहारू ॥

दो०—अवसि आतमानंद सुख निगम कहत जेहि गाइ ।
मम भक्तन कहँ अवसि सोइ होइ सहज सत भाइ ॥

तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥

सो०—दरसनीय मम रूप मंद हास जुत बदन वर ।
सुभग बिसाल अनूप नयन रसीले रसभरे ॥

[चौ]०—मधुर मधुर बोलनि सुख सारू । ता करि बसीभूत मैं सारू ॥
[इंद्री] प्रान क्रिया सब तासू । मम पारायन गति मति जासू ॥
मुक्ति [चाह] जिन कै नहि कबहू । दउँ तिन्हहि बिनु चाहें सबहू ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५ । ३४–३६)